भू-आकृति विज्ञान

(GEOMORPHOLOGY)

[कें० यन० माल विज्ञान विशिष्ट पुरस्कार के अन्तर्गत]

उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत

लेखक

डॉ० सविन्द्र सिंह

एम० ए०, डी० फिल्० (इलाहाबाद विश्वविद्यालय)

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, भूगोल विभाग,

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद



वसुन्धरा प्रकाशन

दाउदपुर, गोरखपुर

लेखक-परिचय

जन्म—10 जुलाई 1944 गाजीपुर जनपद मे। **शिक्षा**—प्रारम्भिक कक्षाओ से लेकर एम० ए० तक सतत उच्च प्रथम श्रेणी। **पदक**—दो रजत तथा एक स्वर्ण पदक बी० ए० तथा एम० ए० (भूगोल) में प्रथम स्थान प्राप्त होने के उपलक्ष्य में। **छात्रवृत्ति**—भारत सरकार की सर्वोच्च राष्ट्रीय छात्रवृत्ति। **नियुक्ति**—1965 मे प्रवक्ता रविशंकर विश्वविद्यालय, रायपुर 1966 मे प्रवक्ता तथा 1981 मे रीडर, इलाहाबाद विश्वविद्यालय। **प्रकाशन**—दो पुस्तकें भू-आकृति विज्ञान तथा भौतिक भूगोल। सम्पादित—इन्वार्मेण्टल मैनेजमेण्ट, **पुरस्कार**—उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा 1971 मे के० एन० भार विज्ञान विशिष्ट पुरस्कार (2000 रु०) 'भू-आकृति विज्ञान' पर तथा पुन यही पुरस्कार 1976 मे 'भौतिक भूगोल' पर। **शोध**—1971 मे शोध सुपरवाइजर। डी० फिल्० थीसिस का विषय—रांची पठार की लघु प्रवाह बेसिन का स्थाकृतिक अध्ययन। **विशिष्टीकरण**—क्वाण्टिटेटिव तथा जलीय एवं संरचनात्मक जियोमार्फोलाजी। **शोधपत्र**—प्रकाशित 45 (1985 तक) अधिकाश शोधपत्र मार्फोमेट्री तथा प्रवाह बेसिन के विभिन्न पहलुओ मे सम्बन्धित। शोध निर्देशन मे स्वीकृत डॉक्टोरल थीसिस—(i) बेलन बेसिन का आकारमितीय अध्ययन (डॉ रेनु श्रीवास्तव), (ii) पलामू उच्चभाग की लघु प्रवाह-बेसिन का आकारमितीय अध्ययन (डॉ शिव सागर ओझा), (iii) द०पू० छोटा नागपुर पठार की लघु प्रवाह-बेसिन का स्थाकृतिक अध्ययन (डॉ० देवी प्रसाद उपाध्याय) (iv) ऊपरी दामोदर बेसिन का आकारमितीय अध्ययन (कु० भारती पाल), (v) खारकाई बेसिन का आकारमितीय अध्ययन (डॉ० शिवराज सिंह), (vi) छोटानागपुर पठार के पाट-प्रदेश का आकारमितीय अध्ययन (डॉ० विजयेन्द्र प्रताप सिंह), (vii) रोहतास पठार की स्थलाकृति का आकारमितीय अध्ययन (डॉ० देवकी रंगानी), (viii) उत्तरी अरावली प्रदेश की लघु प्रवाह बेसिन का आकारमितिक अध्ययन (डॉ० सत्यदेव शर्मा), (ix) भाण्डेर पठार का स्थाकृतिक अध्ययन (डॉ० राम शिरोमणि पाण्डेय) तथा (x) इलाहाबाद जनपद के ट्रान्स यमुना प्रदेश की पर्यावरणिकी भू-आकारिकी (आलोक दुबे, सबमिटेड)।

प्रथम आवृत्ति 1969
चतुर्थ संशोधित आवृत्ति 1982
पंचम परिवर्धित आवृत्ति, 198
पुनर्मुद्रण 1994
पुनर्मुद्रण [illegible]
पुनर्मुद्रण 1999

मूल्य रु० 160.00

प्रकाशक : वसुन्धरा प्रकाशन, दाउदपुर, गोरखपुर

मुद्रक : लोमस आफसेट प्रेस, 3428, गली बजरंग बली, चावडी बाजार, दिल्ली – 6

आवरण पृष्ठ – द० पू० छोटानागपुर, पठार के हल्दीपोखर के पास, ग्रेनाइट टार का एक दृश्य

पंचम संस्करण की भूमिका

आज से 16 वर्ष पूर्व भू-आकृति विज्ञान का प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ था । विगत चार संस्करणों में संशोधन, परिमार्जन तथा सम्बर्द्धन में लेखक सतत प्रयत्नशील रहा है जिस कारण पुस्तक का कलेवर सवरता गया । प्रस्तुत संस्करण में आद्योपान्त परिवर्तन तथा परिमार्जन किया गया है । स्थलरूपों के विकास के सिद्धान्तों को पहली बार एक स्वतंत्र अध्याय (द्वितीय) में प्रस्तुत किया गया है जिसमें अभिनव सिद्धान्तों की आलोचनात्मक व्याख्या की गई है । पृथ्वी की उत्पत्ति तथा पृथ्वी की आयु, दृढ़ भूखण्ड तथा भूसन्नति एवं भूकम्प से सम्बन्धित तीन अध्यायों को निरस्त कर दिया गया है (इन विषयों से सम्बन्धित विवरण लेखक की पुस्तक 'भौतिक भूगोल', प्रकाशक-वसुन्धरा प्रकाशन, गोरखपुर, से प्राप्त किये जा सकते हैं) । 'ज्वालामुखी-क्रिया तथा स्थलाकृतिक अभिव्यक्ति' नामक अध्याय को अभिनव साहित्य के आधार पर नये रूप में प्रस्तुत किया गया है । स्थलरूपों की व्याख्या के समय लेखक ने अपने *शोध कार्यों के आधार पर अधिकाधिक भारतीय उदाहरण प्रस्तुत किया है ।* आशा ही नहीं अपितु पूर्ण विश्वास है कि पुस्तक का यह पंचम संशोधित तथा परिमार्जित संस्करण- विद्वत समाज में विगत संस्करणों के समान ही लोक प्रिय होगा ।

विजया दशमी, सविन्द्र सिंह

बी 4, टीचर्स फ्लैट्स

चैथम लाइन्स कैम्पस,

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद-211002

द्वितीय संस्करण की भूमिका

'भू-आकृति विज्ञान' का द्वितीय संशोधित तथा परिमार्जित संस्करण विद्वत्समाज में प्रस्तुत करते हुए अपार हर्ष की अनुभूति हो रही है । भूगोल के जिज्ञासुओं ने जिस तत्परता के साथ लेखक की इस कृति को अंगीकृत किया है उससे निश्चय ही लेखक को अधिकाधिक बल मिला है । समस्त भारत के हिन्दी प्रेमियों ने पुस्तक की मुक्त कण्ठ से सराहना करके लेखक के शैक्षिक मनोबल को ऊँचा उठाया है । विद्यार्थी समाज में पुस्तक की लोकप्रियता का प्रमाण इस बात से मिल जाता है कि स्नातकोत्तर स्तर की पुस्तक होने पर भी मात्र दो वर्ष के अन्दर ही प्रथम संस्करण समाप्त हो गया तथा लेखक को पुस्तक को निखारने का सुअवसर शीघ्र ही मिल गया । विभिन्न विश्वविद्यालयों ने अपने एम० ए० के पाठ्यक्रम में 'भू-आकृति विज्ञान' को एक पाठ्य पुस्तक के रूप में सम्मिलित करके पुस्तक की उपादेयता को प्रमाणित किया है । उत्तर प्रदेश सरकार ने 'भू-आकृति विज्ञान' को हिन्दी जगत में विज्ञान की सर्वोत्तम पुस्तक निश्चित करके तथा लेखक को 'के० एन० भाल विज्ञान विशिष्ट पुरस्कार' (2000 रुपय का नगद पुरस्कार) से अलंकृत करके इस कृति की उपादेयता को स्वीकृति प्रदान की है । लेखक ने पुस्तक के कलेवर को पूर्णतया परिमार्जित करने का भरसक प्रयास किया है । प्रारम्भ में 'विषय-प्रवेश' अध्याय के अन्तर्गत स्थलरूपों के अध्ययन की विधियाँ' तथा 'आकारमिति' (मार्फोमेट्री) को सम्मिलित किया गया है । 'पठार', 'मैदान' तथा झील' अध्यायों को निरस्त कर दिया है ताकि पुस्तक का आकार बढ़ने न पाये । परम्परागत 'अपरदन-चक्र' के सिद्धान्त के विरोध में प्रतिपादित अभिनव 'गतिक सतुलन सिद्धान्त' के समावेश द्वारा विषय को नूतन बना दिया गया है । 'ढाल-विश्लेषण, अपरदन-सतह तथा कालानुक्रम अनाच्छादन' तथा 'परिहिमानी स्थलाकृति' आदि अध्यायों को पुस्तक में सम्मिलित करने अध्येताओं की इच्छा को पूरा करने का प्रयास किया गया है । कई विद्वानों द्वारा सुझाये गये 'प्रायद्वीपीय भारत का कालानुक्रम अनाच्छादन के अभाव को पूर्ण करने का भरसक प्रयास किया गया है । लेखक ने पुस्तक में (मुख्य रूप से आकारमिति में) स्वकीय शोध-कार्य तथा अन्य भारतीय विद्वानों के शोध-कार्यों को सम्मिलित करने का प्रयास किया है । लेखक ने परिहिमानी स्थलरूपों को जननिक रूप से वर्गीकृत किया है । भू-आकारिकी के अध्येता इन अध्यायों से युक्त 'भू-आकृति विज्ञान' के द्वितीय संस्करण का और अधिक रुचि से अनुशीलन करेंगे ।

गुरु प्रवर डॉ० आर० एन० तिवारी, एम० ए०, डी० लिट् का लेखक कृतज्ञ है, जिन्होंने लेखक को एम० ए० में बेहतरीन ढंग से भू-आकारिकी पढ़ाकर इस विषय में अभिरुचि पैदा की तथा लेखक के प्रवक्ता हो जाने पर इस विषय को एम० ए० के विद्यार्थियों को पढ़ाने का भार सौंप कर और अध्ययन का सुअवसर प्रदान किया । लेखक ने आपके गूढ़ विचारों का पुस्तक में धड़ल्ले से समावेश किया है । *अभिन्न मित्र तथा सहयोगी श्री* रामनगीना सिंह,

भूगोल विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, जिन्होने पुस्तक लिखने की सलाह दी तथा प्रत्येक तरह का सहयोग सदा देते रहे, के प्रति आभार प्रदर्शित करना मात्र औपचारिकता ही होगी। घनिष्ठ मित्र तथा सहयोगी श्री रामचन्द्र तिवारी, जिन्होने पुस्तक की प्रूफ रीडिंग मे अपार सहयोग दिया, को भूल जाना भूल ही होगी। गुरु तथा सहयोगी डॉ० लेख-राज सिंह का भी लेखक हृदय से आभारी है, जिन्होने पुस्तक मे प्रयुक्त गणितीय परिकलन मे पर्याप्त सहायता की है। विभागाध्यक्ष तथा गुरु डॉ० आर० एन० द्विवेदी, जो कि रचनात्मक कार्य के लिए प्रेरणा देते रहे हैं, के प्रति आभार प्रदर्शित करना लेखक अपना पुनीत कर्तव्य समझता है। प्रो० आर० पी० सिंह, अध्यक्ष भूगोल विभाग, मगध विश्वविद्यालय, डॉ० जगदीश सिंह, गोरखपुर विश्वविद्यालय पुस्तक की समीक्षा करके लेखक को अमूल्य सुझाव दिये हैं, का लेखक आभारी है।

होली, 1973
भूगोल विभाग, इलाहाबाद युनिवर्सिटी सविन्द्र सिंह

प्रथम संस्करण की भूमिका

राष्ट्र भाषा हिन्दी के सम्वर्द्धन हेतु लेखक का यह ग्रन्थ एक प्रयास मात्र है। विश्वविद्यालयो मे बढ़ती शिक्षा की प्रगति तथा विद्यार्थियो के हिन्दी के प्रति अनुराग ने इस पुस्तक के लेखन के लिये प्रेरणा प्रदान की। देश के अधिकाश विश्वविद्यालयो मे विद्यार्थियो ने उच्च कक्षाओ मे हिन्दी को शिक्षा के माध्यम रूप मे अंगीकृत किया है, परन्तु खेद का विषय है कि अब तक भूगोल के कुछ विषयो, खासकर भौतिक भूगोल पर हिन्दी भाषा में स्नातकोत्तर कक्षाओं के स्तर की पाठ्य तथा संदर्भ पुस्तको (रेफरेन्स बुक) का पूर्णतया अभाव है। भू-आकृति विज्ञान (ज्योमा-फॉलाजी), जो कि भौतिक भूगोल की प्रधान शाखा है, हिन्दी माध्यम का स्नेहभाजन नहीं बन सका है। यह विषय प्रत्येक विश्वविद्यालय मे स्नातक तथा स्नातकोत्तर कक्षाओ मे अनिवार्य है। इन तथ्यो को ध्यान मे रखकर लेखक ने इस विषय को हिन्दी भाषा मे प्रस्तुत करने का प्रथम प्रयास किया है। विद्यार्थी जीवन तथा कई वर्षों के स्नातकोत्तर कक्षाओ के अध्यापन-काल के दौरान भू-आकृति विज्ञान को हिन्दी भाषा मे एक पूर्ण तथा समर्थ ग्रन्थ के रूप मे प्रस्तुत करने की ललक थी। विषय को प्रस्तुत रूप देने मे कठिनाइयो की एक सरणियो से होकर गुजरना पडता है। सबसे बडी समस्या एक वैज्ञानिक विषय को हिन्दी के माध्यम से प्रस्तुत करने की थी। सामग्री अनेक ग्रन्थो, पत्र-पत्रिकाओ तथा जर्नल्स मे बिखरी पडी थी। उनके चयन तथा प्रस्तुतीकरण की समस्या दीवार के समान खडी थी। लेखक ने स्वतन्त्र रूप मे कई रूपो मे बिखरे हुये तथ्यो को एकत्रित करके उन्हे नवीन रूप देने मे संकोच नही किया है। लेखक को यह सहर्ष स्वीकार्य है कि अनेक ग्रन्थो तथा जर्नल्स से विषय का समावेश इस पुस्तक मे किया गया है, परन्तु लेखक ने उन सभी सूचनाओ तथा विवरणो को नये ढग से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। विषय को आद्यो-पान्त सरस तथा रोचक बनाये रखने का हर सम्भव प्रयास किया गया है। विषय का विश्लेषण सुस्पष्ट, रोचक तथा सरल रूप मे किया गया है। टेक्निकल शब्दो के पारिभाषिक शब्दो का चयन भारतीय केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रकाशित "साइन्स ग्लासरी" से किया गया है। स्पष्टता, सरलता तथा सुविधा के लिये पारिभाषित शब्दो के साथ उनके आग्ल भाषा के पर्यायवाची शब्दो को भी कोष्ठक मे आद्योपान्त दिया गया है। किसी भी विषय का प्रस्तुतीकरण सरल ढग से किया गया है, इस सिलसिले मे विषय सम्बन्धी कुछ पुनरावृत्ति अवश्य हो गई है। स्थलरूपो के अध्ययन पर विशेष ध्यान दिया गया है। विशेषकर स्थलरूपो के वर्गीकरण, उनकी उत्पत्ति तथा उससे सम्बन्धित परिकल्पनाओ तथा सिद्धान्तो की आलोचनात्मक व्याख्या बडे पैमाने पर की गई है। अध्ययन की सुविधा के लिये पुस्तक को तीन खण्डो मे विभक्त किया गया है। विशेष अध्ययन के लिये पुस्तक के अन्त मे एक विस्तृत सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची प्रस्तुत की गई है। विषय को सुबोध तथा ग्राह्य बनाने के लिये सरल रेखा-चित्रो, ब्लाक डायग्राम, पार्श्वचित्रो तथा मानचित्रो का प्रयोग किया गया है। यथासम्भव भारतीय उदाहरणो द्वारा विषय का स्पष्टीकरण किया गया है।

लेखक उन समस्त विद्वानो का आभारी है, जिनकी रचनाओ से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप मे इस पुस्तक के प्रस्तुतीकरण में सहायता मिली है। आशा ही नही पूर्ण विश्वास है कि विश्वविद्यालय स्तर के अध्येता इस पुस्तक से लाभान्वित होगें। हो सकता है, पुस्तक मे मुद्रण तथा विषय-सम्बन्धी कुछ गलतियाँ रह गई हो, क्योंकि विद्यार्थियो की माँग पर प्रकाशन शीघ्र करना पडा है। पूर्ण विश्वास है कि सहृदय पाठक पुस्तक के कमजोर स्थलो को न केवल इंगित करेंगे, अपितु निष्पक्ष भाव से अपने सुझाव को प्रेषित करने का कष्ट करेंगे। अगली आवृत्ति मे उन सुझावों पर पूर्ण ध्यान दिया जायेगा।

जन्माष्टमी, 1969
भूगोल विभाग, इलाहाबाद युनिवर्सिटी सविन्द्र सिंह

विषय-सूची

परिभाषा, विषय-क्षेत्र, स्थलाकृतिक इतिहास तथा अध्ययन की विधियाँ

भू-आकृति विज्ञान की परिभाषा तथा तात्पर्य

भौतिक भूगोल, भूतल के विज्ञान स्वरूप भूगोल की दो प्रमुख शाखाओं में से एक प्रमुख शाखा है जिसका अध्ययन भूगोल के केन्द्र को प्रदर्शित करता है। यद्यपि सम्प्रति भूगोल की द्वितीय शाखा अर्थात् मानव-भूगोल पर कहीं-कहीं अधिक बल दिया जा रहा है तथापि भौतिक भूगोल का महत्व इस समय भी अक्षुण्ण है क्योंकि भूगोल की किसी भी अन्य शाखा के अध्ययन के लिये इसका प्रारम्भिक ज्ञान आवश्यक हो जाता है। भौतिक भूगोल का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। इस विषय के अन्तर्गत स्थलमण्डल, जलमण्डल तथा वायुमण्डल के व्यवस्थित और क्रमबद्ध अध्ययन को सम्मिलित किया जाता है। भौतिक भूगोल को प्रदर्शित करने के लिए आंग्लभाषा की "Physical Geography" शब्दावलि का प्रयोग किया जाता है। प्रस्तुत विषय अर्थात् "भू-आकृति विज्ञान" इसी भौतिक भूगोल की एक महत्वपूर्ण शाखा है जिसके अन्तर्गत स्थलमण्डल का अध्ययन किया जाता है। इसके पहले कि भू-आकृति विज्ञान का स्पष्टीकरण किया जाय, भौतिक भूगोल का स्पष्टीकरण कर देना अधिक समीचीन जान पड़ता है। भौतिक भूगोल वह विज्ञान है जिसमें भौतिक वातावरण का अध्ययन किया जाता है। आर्थर होम्स के अनुसार "भौतिक वातावरण का अध्ययन ही भौतिक भूगोल है जो कि ग्लोब के धरातलीय उच्चावच्च (भू-आकृति-विज्ञान), सागर तथा महासागरों (सागर-विज्ञान) तथा पवन (जलवायु-विज्ञान) के विवरणों का अध्ययन करता है।[1]" इस तरह यह स्पष्ट हो गया है कि भौतिक भूगोल पृथ्वी-सम्बन्धी आवरण-स्थलमण्डल, जलमण्डल तथा वायुमण्डल के विभिन्न रूपों का अध्ययन करता है। स्ट्राहलर महोदय ने बताया है कि "भौतिक भूगोल सामान्य रूप में कई भू-विज्ञानों का अध्ययन एवं समन्वय है, जो कि मानवीय वातावरण पर सामान्य रूप में प्रकाश डालते हैं।[2]" भौतिक भूगोल, भू-विज्ञानों के आधारभूत सिद्धान्तों का विषय है। स्थलमण्डल, जलमण्डल एवं वायुमण्डल के अध्ययन के अलावा भौतिक भूगोल के अन्तर्गत 'ज्योडेसी' (Geodesy), खगोल विज्ञान (Astronomy), अन्तरिक्ष विज्ञान (Meteorology), मानचित्र विज्ञान (Cartography), जीव विज्ञान (Zoology), भू-गर्भशास्त्र (Geology) तथा वनस्पति भूगोल (Plant Geography) के सामान्य रूपों का भी अध्ययन सम्मिलित किया जाता है परन्तु इनका अध्ययन उसी सीमा तक होता है जहाँ तक उनका सम्बन्ध भौतिक वातावरण तथा मानव से होता है।

भौतिक भूगोल के प्रमुख तीन तत्वों के अध्ययन करने वाले विषय को अलग-अलग विज्ञान (स्थलमण्डल-भू-आकृति विज्ञान, सागर तथा महासागर-समुद्र विज्ञान तथा वायुमण्डल-जलवायु विज्ञान) के नाम से सम्बोधित किया जाता है। भू-आकृति विज्ञान एक सजीव तथा व्यापक विषय है जिसके अन्तर्गत स्थलमण्डल के दृश्य भागों का अध्ययन किया जाता है। वास्तव में इस विज्ञान (भू-आकृति विज्ञान) के अन्तर्गत स्थलरूपों का ही अध्ययन किया जाता है। इसी आधार पर प्राय यह कहा जाता है कि—"भू-आकृति विज्ञान स्थलरूपों का विज्ञान है"। भू-आकृति विज्ञान अर्थात् 'ज्योमारफालाजी' (Geomorphology) का विन्यास ग्रीक भाषा के 'ge' (पृथ्वी- earth), 'marphi' (रूप-form) तथा 'logos' (वर्णन-discourse) शब्दों से हुआ है। यदि शाब्दिक अर्थ पर दृष्टिपात किया जाय तो भू-आकृति विज्ञान मात्र स्थलरूपों का ही अध्ययन ठहरता है परन्तु इस विज्ञान

1. The study of physical environment by itself is physical geography, which includes consideration of the surface relief of the globe [Geomorphology], of the seas and the oceans [Oceanography], and of the air [Meteorology and climatology]. —Arthur Holmes

2. ".. physical geography is simply the study and unification of a number of earth sciences which give us a general insight into the nature of man's environment. Not in itself a distinct branch of science, physical geography is a body of basic principles of earth science selected with a view to include primarily the environmental influences that vary from place to place over the earth's surface."—Strahler, A. N., Physical Geography John Wiley & Sons, Inc., New York and London, 1960, pp. 1-2.

को इस संकुचित सीमा से ऊपर उठाना होगा। अर्थात् यह कहा जा सकता है कि भू-आकृति विज्ञान न केवल स्थलरूपों का अध्ययन करता है अपितु भूपटल के विभिन्न रूपों का भी अध्ययन करता है। उपर्युक्त आधार पर भू-आकृति विज्ञान की एक परिभाषा प्रस्तुत की जा सकती है— भू-आकृति विज्ञान वह विज्ञान है जो कि स्थलमण्डल के विभिन्न उच्चावच्चों का अध्ययन करता है" —"Geomorphology studies various relief features of lithosphere" इस विज्ञान के अन्तर्गत सामान्य स्थलरूपों जैसे—घाटियाँ, गार्ज, प्रपात, कन्दरायें, बालुका स्तूप, मर्म, रोधिका, पुलिन, क्लिफ आदि के अलावा भूपटल के प्रमुख उच्चावच्चों जैसे—महाद्वीप, महासागर-नितल पर्वत, पठार, मैदान, झील आदि बड़ी इकाइयों को भी समाविष्ट किया जाता है। सवाल उठता है, इस विज्ञान के अन्तर्गत स्थलरूपों के अध्ययन को ही प्राथमिकता क्यों दी जाती है? हल आसान है। स्थल-रूपों का निर्माण मानव-दृग के सामने होता है। मानव या तो उनका प्रत्यक्ष रूप में अवलोकन कर लेता है या अनुभवों के आधार पर उनका आभास पा लेता है। यही कारण है कि स्थलरूपों का अध्ययन अत्यधिक दिलचस्प होता है। इसके विपरीत महाद्वीप, महासागर-नितल, पर्वत, पठार आदि का आविर्भाव, निर्माण विकास एवं विरूपण मन्द गति से दीर्घकाल में सम्पादित हो पाता है। इन क्रियाओं का प्रत्यक्ष अवलोकन नहीं हो पाता है।

वारसेस्टर महोदय ने भी भू-आकृति विज्ञान को स्थलरूपों का ही विज्ञान बताया है परन्तु इस संकुचित परिभाषा से स्वयं असन्तुष्ट होकर इन्होंने इसके क्षेत्र को विस्तृत करना ही श्रेयस्कर समझा है। वारसेस्टर के अनुसार 'भू-आकृति विज्ञान पृथ्वी के उच्चावच्चों का व्याख्यात्मक वर्णन है"— "Geomorphology is the interpretative description of the relief features"[1] भू-आकृति विज्ञान वह विज्ञान है जो कि भूपटल के विभिन्न रूप, उनकी उत्पत्ति तथा इतिहास एवं विकास की व्याख्या करता है। इस प्रकार उच्चा-वच्चों के रूप, उत्पत्ति तथा विकास के इतिहास को समझने के लिए भूपटल की संरचना (चट्टान) तथा उस पर परिवर्तन लाने वाले आन्तरिक (ज्वालामुखी-क्रिया, पटल विरूपणी बल आदि) तथा वाह्य बलों (अपक्षय तथा अपरदन) आदि प्रक्रियाओं का अध्ययन भी आवश्यक हो जाता है।

प्रोफेसर थार्नबरी के अनुसार "भू-आकृति विज्ञान स्थलरूपों का विज्ञान है परन्तु इसमें अन्त सागरीय रूपों (Submarine forms) को भी सम्मिलित किया जाता है।"[2] *इस तरह भू-आकृति विज्ञान स्थलरूपों के अध्य*-यन से बढ़कर है क्योंकि इसके अन्तर्गत यदि महासागर-नितल, महाद्वीप, पर्वत आदि का अध्ययन किया जाता है तो छोटे-छोटे रचनात्मक स्थलरूपों (पर्वत, पठार, मैदान आदि) का भी अध्ययन किया जाता है। भू-आकृति विज्ञान के अन्तर्गत इन्हीं प्रमुख उच्चावच्चों पर निर्मित तथा विकसित स्थलरूपों को अधिक महत्त्व प्रदान किया जाता है।

स्ट्राहलर महोदय[3] के अनुसार "भू-आकृति विज्ञान सभी प्रकार के स्थलरूपों की उत्पत्ति तथा उनके व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध विकास की व्याख्या करता है तथा यह भौतिक भूगोल का एक प्रमुख अंग है।" मानव के लिए भूपटल की स्थलाकृतियों तथा स्थलरूपों का सर्वाधिक महत्त्व होता है क्योंकि यातायात के साधन, नगर की स्थिति तथा कृषिभूमि, प्रत्यक्ष रूप से इन स्थलरूपों से प्रभावित होती है।

ज्योमार्फोलाजी तथा फिजिओग्रैफी - ज्योमार्फोलाजी (Geomorphology) तथा फिजिओग्रैफी (Physiography) में अन्तर स्थापित करना आवश्यक है। अनेक

1 Worcester, P. G., A Textbook of Geomorphology, D Van Nostrand Co., Inc 1949 pp 3-4.

2. Generally, it is thought of as "the science of land forms" and it will be so used, although we shall extend it to include submarine forms So defined, it is considerably more comprehensive *than the science of land forms such as the ocean basins and continental plat*-forms as well as lesser structural forms such as mountains, plains and plateaus. Thornbury' W D, Principles of Geomorphology. John Wiley & Sons, Inc 1954, p. 1.
The science of geomorphology treats the origin and systematic development of all types of land forms and is a major part of physical geography."

3 Strahler, A N, Physical Geography, John Wiley & Sons, Inc 1960, p 2.

विद्वानो द्वारा दोनो शब्दावलियों का प्रयोग समान अर्थो मे किया जाता है। हिन्दी भाषा मे भी दोनो शब्दावलियो के लिए 'भू-आकृति विज्ञान' शब्द[1] का ही प्रयोग किया जाता है। यूरोप के अधिकाश देशो मे फिजिओग्रैफी का प्रयोग व्यापक अर्थो मे किया जाता है। इस विज्ञान के अन्तर्गत स्थलमण्डल, वायुमण्डल तथा जलमण्डल के अध्ययनो का समावेश किया जाता है। जलवायु-विज्ञान (वायुमण्डल) तथा सागर-विज्ञान (जलमण्डल मे सम्बन्धित) के स्वतन्त्र रूप मे विकसित हो जाने पर फिजिओग्रैफी नामावली अत्यधिक संकुचित हो गई है तथा इसका प्रयोग केवल स्थलरूपो के अध्ययन (स्थल-मण्डल, ज्योमार्फोलाजी) के लिए किया जाने लगा है। इस तरह यदि 'फिजिओग्रैफी' का प्रयोग मौलिक तथा व्यापक रूप मे किया जाता है तो निश्चय ही ज्योमार्फोलाजी, फिजिओग्रैफी के तीन प्रमुख अगो (भू-आकृति विज्ञान, सागर विज्ञान तथा जलवायु-विज्ञान) मे से एक प्रमुख भाग है, परन्तु जब उसका सकुचित अर्थो मे प्रयोग किया जाता है तो दोनो (फिजिओग्रैफी तथा ज्योमार्फोलाजी) समानार्थी हो जाते है। इसके होते हुए भी फिजिओग्रैफी शब्द भ्रामक है। यदि किसी देश की भौतिक आकृतियो का उल्लेख किया जाता है तो आग्लभाषा मे उसके लिए "फिजिओग्रैफी" शीर्षक का ही प्रयोग किया जाता है। भौतिक आकृतियो के आधार पर वर्गीकृत 'भौतिक विभाजन" के लिए "Physiographic Region" शीर्षक का ही प्रयोग होता है। इस तरह के प्रदेश मे जलवायु का उल्लेख नही किया जाता है। किसी भी क्षेत्र की जलवायु, भौतिक दशाओ, वनस्पतियो आदि के सम्मिलित विवरण को "प्राकृतिक प्रदेश" (Natural Regions) के अन्तर्गत रखा जाता है। लेखक के मतानुसार भ्रान्तियो मे बचने के लिए स्थलरूप का अध्ययन करने वाले विज्ञानो को "ज्योमार्फोलाजी" नामावली से ही सम्बोधित करने चाहिए।

2 भू-आकृति विज्ञान का क्षेत्र तथा विषय-सामग्री

भू-आकृति विज्ञान का अध्ययन-क्षेत्र अत्यधिक सुनिश्चित है। पृथ्वी की स्थलीय सतह का उल्लेख ही इसका प्रमुख विषय है। परन्तु यह अवधारणा भी भ्रामक है। क्योकि यहाँ पर भूगर्भशास्त्र का भी आगमन हो जाता है। और अधिक स्पष्टता के लिये यह कहा जा सकता है कि भू-आकृति विज्ञान के अध्ययन का प्रमुख विषय पृथ्वी के उच्चावचों का क्रमबद्ध अध्ययन है। इस विज्ञान के अन्तर्गत विभिन्न उच्चावचो की उत्पत्ति, विकास तथा वर्तमान रूप का ब्योरेवार विवरण प्रस्तुत किया जाता है। यद्यपि भू-आकृति विज्ञान, भूगोल का एक अभिन्न अंग है तथापि इसका आरम्भ भूगर्भशास्त्र (Geology) से ही होता है। इसी आधार पर भू-आकृति विज्ञान को कभी-कभी भूगर्भशास्त्र का एक अग माना जाता है। प्रोफेसर थार्नबरी ने तो यहाँ तक कह डाला है — "भू-आकृति विज्ञान मुख्य रूप से भू-गर्भशास्त्र है।"[2] लोबेक महोदय के अनुसार "भू-आकृति विज्ञान या स्थलरूपो के अध्ययन का विज्ञान भूगर्भशास्त्र की एक शाखा है।" भू-आकृति विज्ञान का सम्बन्ध भूगर्भशास्त्र के केवल उस अश से है जो भूपटल की सतह की सरचना से सम्बन्धित है। भू-आकृति विज्ञान तथा सरचनात्मक एवं गत्यात्मक भूगर्भशास्त्र (Structural and Dynamic Geology) मे गहरा सम्बन्ध है। चट्टानो की सरचना तथा सगठन के आधार पर स्थलरूपो के निर्माण तथा विकास को समझने मे पर्याप्त सुविधा होती है। इस कारण भूगर्भशास्त्र के उस भाग, जिसका सम्बन्ध पृथ्वी की सतह की सरचना मे होता है का अध्ययन वाछनीय

1. [A]—Science Glossary, Central Hindi Directorate, Ministry of Education; Govt of India, 1964, pp 216 & 370

   [B]—Through custom, Physiography has come to be applied to the three major physical divisions of the globe the lands, the atmosphere and the oceans The study of lands constitutes Geomorphology; the study of atmosphere constitutes Meteorology; and the study of the oceans is Oceanography

   Lobeck, A. K , Geomorphology, McGraw-Hill Book Company, Inc 1939, p 3
2. Geomorphology is primarily geology ..Thornbury, W. D , Principles of Geomorphology, John Wiley & Sons, Inc. 1954, p. 1.
3. Geomorphology, or the study of land forms is a branch of geology, some times considered coordinate with mineralogy and petrology, and some times with palaeontology and stratigraphy.

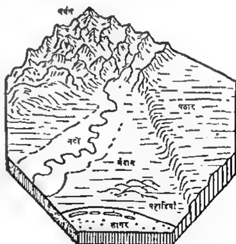
   Lobeck, A K., Geomorphology, McGraw-Hill Book Company, Inc. 1939, p 3

ही नही आवश्यक-सा हो जाता है। इस तथ्य को ध्यान मे रखते हुए भूपृष्ठ की रचना-सामग्री (चट्टान) का वर्णन भू-आकृति विज्ञान मे किया जाता है।

स्थलरूपो के स्वभाव को समझने के लिये कभी-कभी सैद्धान्तिक भूगर्भशास्त्र (Theoretical geology) का भी अध्ययन आवश्यक हो जाता है। उदाहरण के लिए पर्वत निर्माण की क्रिया का पृथ्वी के आन्तरिक भाग से गहरा सम्बन्ध है। इसलिये पृथ्वी की आन्तरिक सरचना को जानना भी अनिवार्य होता है। जब तक भूपटल के प्रमुख उच्चावच्चो (महाद्वीप, महासागर-नितल, पर्वत, पठार आदि) का विधिवत ज्ञान प्राप्त नही हो जाता तब तक उन पर निर्मित तथा विकसित होने वाले स्थलरूपो का वैज्ञानिक अध्ययन नही किया जा सकता है। इस दृष्टि-कोण से पृथ्वी के प्रमुख उच्चावच्चो के वर्तमान रूप, प्रकार सरचना तथा उनके निर्माण से सम्बन्धित विभिन्न सिद्धान्तो की व्याख्या करना अत्यावश्यक हो जाता है। भूपटल पर स्थलरूपो का विकास आन्तरिक तथा बाह्य बलो (Forces) द्वारा होता है। आन्तरिक बलो मे पटलविरूपणी बल तथा आकस्मिक बल (ज्वालामुखी-क्रिया तथा भूकम्प) महत्वपूर्ण होते है। यद्यपि इन बलो का सम्बन्ध भौतिक भूगर्भशास्त्र से है तथापि इन बलो के सभी रूपो का उल्लेख भू-आकृति विज्ञान मे आवश्यक होता है। यद्यपि भू-आकृति विज्ञान का प्रमुख विषय इन बलों द्वारा उत्पन्न स्थलरूप ही है तथापि उनकी (स्थलरूप) ब्योरेवार व्याख्या के लिए इन बलो के कार्य करने के विभिन्न रूपो का भी उल्लेख इस विज्ञान के अन्तर्गत होना चाहिए। बाह्य बलों मे अपक्षय (Weathering) तथा अपरदन के विभिन्न साधन (नदी पवन, हिमानी, सागरीय तरग आदि) अधिक महत्वपूर्ण है। भूपटल पर इन्ही बाह्य बलों द्वारा ही अधिकाश स्थलरूपों का विन्यास होता है। भू-आकृति विज्ञान के अन्तर्गत अन्त सागरीय स्थलरूपो (Submarine forms) का भी अध्ययन किया जाता है।

भू-आकृति विज्ञान के अध्ययन का प्रधान विषय पृथ्वी के विभिन्न उच्चावच्च है। स्थलमण्डल की सतह पर उर्ध्वाकार स्थलीय विषमताओ (Vertical irregularities) को उच्चावच्च की सज्ञा प्रदान की जाती है। यदि उच्चावच्च विशाल पर्वतो के रूप मे ऊँचे हो सकते है तो पहाड़ियो या टीलो (Mounds) के रूप मे कम ऊँचे और घाटियो के रूप मे गहरे हो सकते हैं। भूपटल पर उच्चावच्चो मे इतनी अधिक विषमता होती है कि उनको निश्चित क्रम मे श्रेणीबद्ध करना कठिन हो जाता है। साधारणतौर पर भूतल के उच्चावच्चो को तीन वर्गों मे रखा जाता है।

(i) प्रथम श्रेणी के उच्चावच्च (Relief features of the first order)—इस वर्ग के अन्तर्गत भूतल के उन उच्चावच्चो को सम्मिलित किया जाता है जो कि प्रमुख हुआ करते है। उदाहरण के लिए महाद्वीप तथा महासागर नितल इस श्रेणी के अन्तर्गत आते है। इन दो विशाल स्थलरूपो के वर्तमान रूप तथा वितरण, उत्पत्ति एवं विकास की समुचित व्याख्या वांछित होती है। समस्त ग्लोब के 70 8 प्रतिशत भाग पर जलमण्डल (सागर एवं महासागर) तथा 29.2 प्रतिशत भाग पर स्थलमण्डल का विस्तार है। इन्हे भूतल के प्रारम्भिक उच्चावच्च के नाम से भी अभिहीत किया जाता है। महाद्वीपो तथा सागरो की उत्पत्ति, वर्तमान रूप तथा सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया गया है। इनकी आलोचनात्मक व्याख्या "महाद्वीपो तथा महासागरो की उत्पत्ति" नामक अध्याय 7 मे की गई है। इन दो प्रमुख उच्चावच्चों की उत्पत्ति के पहले पृथ्वी की उत्पत्ति तथा उसके भूगर्भिक इतिहास की जानकारी प्राप्त करना आवश्यक होता है। देखिये लेखक की पुस्तक **'भौतिक भूगोल'** का प्रथम अध्याय।



चित्र 1—द्वितीय श्रेणी के उच्चावच्च।

(ii) द्वितीय श्रेणी के उच्चावच्च (Relief feature of the second order)—पर्वत, पठार, मैदान तथा झीलो को द्वितीय श्रेणी के उच्चावच्चो के अन्तर्गत रखा

जाता है। इनको संरचनात्मक स्थलरूप (Structural landforms) भी कहा जाता है। इन उच्चावच्चों का निर्माण मुख्य रूप से पृथ्वी के आन्तरिक बलों (Endogenetic forces) द्वारा प्रथम श्रेणी के उच्चावच्चों पर होता है। पटलविरूपणी बल (Diastrophic force महादेश जनक तथा पर्वतन बल) इसमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण होते है। भूतल पर दो तरह के बल कार्य करते है—रचनात्मक बल (Constructive force) तथा विनाशात्मक बल (Destructive force)। चूंकि पर्वत, पठार, मैदान का (केवल द्वितीय वर्ग के स्थलरूप क्योंकि कुछ पर्वतों, पठारों तथा मैदानों का निर्माण अपक्षय तथा अपरदन द्वारा भी होता है) निर्माण पृथ्वी के आन्तरिक बल (रचनात्मक) द्वारा होता है अतः उन्हें रचनात्मक स्थलरूप कहते है। इनमें से प्रत्येक प्रकार के उच्चावच्च के सामान्य रूप, उनके निर्माण की प्रक्रिया तथा सम्बन्धित सिद्धान्त एवं विकास का अध्ययन किया जाता है। यद्यपि ज्वालामुखी-क्रिया पृथ्वी के आन्तरिक बल के अन्तर्गत आती है परन्तु इसका उल्लेख पहले ही इसलिए कर दिया गया है कि इस क्रिया का पृथ्वी के आन्तरिक भाग से अधिक सम्बन्ध है। ज्वालामुखी-क्रिया द्वारा बने स्थलरूप मुख्य रूप से रचनात्मक ही होते हैं परन्तु अध्ययन की सुविधा के लिए इनकी व्याख्या भी ज्वालामुखी-क्रिया की व्याख्या के साथ ही कर दी गई है (अध्याय 11)।

(iii) तृतीय श्रेणी के उच्चावच्च (Relief features of the third order)—द्वितीय श्रेणी के उच्चावच्चों पर निर्मित तथा विकसित स्थलरूपों को तृतीय श्रेणी के उच्चावच्चों के अन्तर्गत सम्मिलित किया जाता है। पर्वत, पठार, मैदान आदि प्रमुख उच्चावच्चों पर पृथ्वी के वाह्य बलों (अपक्षय तथा अपरदन) द्वारा अनेक स्थलरूपों की रचना होती है। चूंकि ये वाह्य बल विनाशकारी होते है अतः इनके द्वारा निर्मित स्थलरूपों को 'विनाशात्मक स्थलरूप' (Destructional landforms) कहते हैं। इन बलों में बहता हुआ जल (नदी), पवन, हिमानी तथा सागरीय तरंग अधिक महत्वपूर्ण होते है। नदियों द्वारा निर्मित स्थलरूप तीन तरह के होते हैं—अपरदनात्मक स्थलरूप (घाटियाँ, कैनियन, गार्ज, प्रपात, सोपान आदि), अवशिष्ट स्थलरूप—Residual landforms (चोटियाँ, मोनाडनाक आदि) तथा निक्षेपात्मक स्थलरूप—Depositional landforms (जलोढ पंख, प्राकृतिक तटबन्ध, बाढ़ का मैदान, डेल्टा आदि)। हिमानी द्वारा निर्मित अपरदनात्मक स्थलरूपों में सर्क, U आकार की घाटी आदि, अवशिष्ट स्थलरूपों में एरेटी, मैटरहार्न, रॉशमुटोने तथा निक्षेपात्मक आकारों में हिमोढ, एस्कर, ड्रमलिन, केम आदि महत्वपूर्ण होते हैं। इसी तरह पवन तथा सागरीय तरंगें भी अपरदन तथा निक्षेपण द्वारा विभिन्न प्रकार के स्थलरूपों का निर्माण करती है। भू-आकृति विज्ञान में तृतीय श्रेणी के इन्हीं स्थलरूपों को अधिक महत्व प्रदान किया जाता है।

3. भ्याकृतिक विचारों के विकास का इतिहास

भ्याकृतिक विचारों के इतिहास का महत्व—भूतल का कोई भी वर्तमान अंश प्रारम्भ से ही ऐसा नहीं रहा है। परिवर्तन प्रकृति का नियम है। स्वयं मानव भी विकास की विभिन्न सरणियों से गुजरने के बाद ही अपने वर्तमान स्वरूप को प्राप्त हुआ है। प्रत्येक वस्तु अपने विकास के प्रारम्भिक चरण में सामान्य होती है, परन्तु समय के साथ-साथ उसमें सुधार, सम्वर्द्धन तथा निखार होता रहता है। उसका स्वरूप शनैः शनैः पुष्ट होता जाता है और एक दिन ऐसा आता है कि वह परिपक्व हो जाती है, परन्तु यह कथन भी तर्कसंगत नहीं है क्योंकि भविष्य में भी उसमें सुधार, परिवर्तन तथा परिमार्जन की सम्भावनायें निहित होती है। भू-आकृति विज्ञान के विकास में भी कुछ ऐसा ही हुआ है। प्रत्येक विज्ञान का अपना एक अलग सुनिश्चित इतिहास होता है, जिसके विभिन्न कालों में उसका अलग-अलग रूप होता है, परन्तु झुकाव एक सुनिश्चित रूप की ओर ही रहता है। भू-आकृति विज्ञान का वर्तमान स्वरूप भी विगत युगों में प्रतिपादित अनेकानेक भ्याकृतिक विचारों में क्रमशः विकास तथा समायोजन के परिणामस्वरूप प्राप्त हो सका है। किसी भी विषय के वर्तमान स्वरूप की झलक पाने के लिये उसके विकास के पिछले इतिहास का सिंहावलोकन न केवल श्लाघ्य होता है अपितु अनिवार्य हो जाता है। इस कारण भू-आकृतिक विज्ञान के विकास का इतिहास प्रस्तुत करना आवश्यक सा लग रहा है परन्तु स्थानाभाव के कारण इसका वृहद् उल्लेख न करके संक्षिप्त किन्तु संगठित तथा सुनियोजित विवरण ही प्रस्तुत किया जा सकेगा। भ्याकृतिक विचारों के विकास का यह सोद्देश्य इतिहास कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण होगा। इस विवरण से यह स्पष्ट हो जायेगा कि यह विषय स्थायी नहीं है अपितु परिवर्तनशील है। जिसे हम आज सत्य मानते है वही आगे चलकर गलत भी हो

सकता है और जिस तथ्य को हम इस समय संदेहास्पद दृगों से देखते हैं वह निकट भविष्य में समय की कठोर शिला पर सत्य हो सकता है। वर्तमान समय में जितने तथ्य एवं सिद्धान्त हैं वे अपने प्रतिपादन के समय सर्वमान्य नहीं थे। उन्हें कटु आलोचनाओं का शिकार होना पड़ा है। परन्तु समय ने आगे चलकर उनकी पुष्टि के लिये अनेक प्रमाण प्रस्तुत किये; विद्वानों ने उन प्रमाणों को अपने विचारों की माला में पिरो कर, उनमें निखार लाकर वर्तमान रूप प्रदान किया। इस इतिहास का सर्वाधिक प्रभाव जिज्ञासुओं पर यह होगा कि वे नूतन संकल्पनाओं, सिद्धान्तों तथा तथ्यों के प्रतिपादन में सतत प्रयत्नशील रहेंगे, जिसमें भू-आकृति विज्ञान की गोद सदैव नवीन तथ्यों से भरती रहेगी एवं विषय जीता-जागता और चिरनूतन बना रहेगा। जब कोई विषय स्थायी हो जाता है तो उनके अध्येता अपने को वहीं तक सीमित कर लेते हैं। उनकी जिज्ञासा हतप्रभ हो जाती है और रुक जाती है विकास की गति। विषय एक नीरस कहानी बन कर रह जाता है। परन्तु भू-आकृति विज्ञान का विषय एवं क्षेत्र सीमित नहीं है। उसमें सदैव नवीन विचारों के समावेश के लिये यथेष्ट स्थान रहता है। इस विज्ञान के विचारों के विकास के अनेकानेक रूपों तथा उनके क्रमिक इतिहास का परिशीलन करके जिज्ञासु आशावान हो उठते हैं। उनका दृष्टिकोण व्यापक हो जाता है। इन तथ्यों को ध्यान में रख कर अगली पंक्तियों में स्थलाकृतिक विचारों के विकास का क्रमबद्ध इतिहास कुछ शीर्षकों के अन्तर्गत प्रस्तुत किया जा रहा है। अध्याय 2 भी देखिये।

(1) स्थलाकृतिक विचारधारा का प्रारम्भिक युग—न केवल भू-आकृति विज्ञान वरन् भूगोल का भी व्यवस्थित रूप 19वीं शताब्दी से ही प्रारम्भ होता है। यद्यपि इस विज्ञान की कुछ छिट-पुट विचारधाराओं का प्रतिपादन प्राचीन काल में ही हो गया था परन्तु भू-आकृति विज्ञान के रंगमंच से स्वस्थ स्थलाकृतिक विचारों की यवनिका 'हटन' के साथ ही उठती है। प्राचीन काल में (ईसा पूर्व) स्थलरूपों के विषय में कुछ विचारों का प्रतिपादन किया जा चुका था परन्तु उनके प्रतिपादकों को यह जानकारी नहीं थी कि वे भू-आकृति विज्ञान के विचारों का सम्पादन कर रहे हैं, क्योंकि प्राचीन काल के विद्वान इतिहासकार पहले थे, भूगोलवेत्ता बाद में। सचमुच देखा जाय तो इस क्षेत्र में उल्लेखनीय तथा सराहनीय कार्य हटन (1726-1797) के समय से प्रारम्भ होता है। भू-आकृति विज्ञान का भूगोल से एक स्वतन्त्र विषय के रूप में अलगाव 19वीं शती के बाद से हुआ माना जाता है। परन्तु प्राचीनकाल में भी इस विज्ञान से सम्बन्धित विचारों का प्रतिपादन यूनान (ग्रीस), मिस्र तथा रोम में किया गया था।

यूनान, मिस्र तथा रोम, जहाँ पर सर्वप्रथम स्थलाकृतिक विचारों का प्रस्फुटन हुआ था, प्राचीन सभ्यता के केन्द्र रह चुके हैं। हर क्षेत्र में बौद्धिक विकास के फलस्वरूप इस क्षेत्र में कुछ स्थलाकृतिक विचारों का प्रतिपादन अवश्यम्भावी ही था। यूनान के लब्धप्रतिष्ठ इतिहासकार हेराडोटस, जिसका समय, 485 से 425 ई० पू० बताया जाता है, का योगदान इतिहास तथा दर्शन के क्षेत्र में अधिक महत्वपूर्ण रहा है, परन्तु उसने कुछ भौगोलिक तथ्यों का भी पर्यवेक्षण किया था। इसने मिस्र के अधिक भाग का पर्यटन किया तथा कई स्थलों के रचनात्मक रूपों का उल्लेख किया है। नदियों के निक्षेपात्मक कार्य का पर्यवेक्षण करने के बाद उसने इस तथ्य का प्रतिपादन किया कि "मिस्र नील की देन है"। नील नदी द्वारा निर्मित डेल्टा के विकास का कई वर्षों तक अध्ययन करने के बाद उसने बताया कि नदी-डेल्टा के आकार में प्रतिवर्ष विस्तार होता है और यह विस्तार सागर की ओर होता है। उसने सागरतल का भी दीर्घकाल तक पर्यवेक्षण किया तथा स्थलीय भाग में मिले कुछ सागरीय जीवावशेषों के आधार पर यह बताया कि सागर का तल स्थिर नहीं रहता है। उसमें आये दिन उतार-चढ़ाव हुआ करता है, जिससे सागर का स्थल पर आक्रमण होता रहता है। इस विचार को यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो इसमें (सागर-तल से सम्बन्धित विचार) "सागरीय अतिक्रमण काल" (Phase of transgressional sea) तथा "सागरीय अनतिक्रमण काल" (Phase of regressional sea) का परोक्ष रूप से आभास मिलता है।

यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू (384 से 322 ई० पू०) ने जलस्रोत, सरिता तथा सागर से सम्बन्धित अपने विचारों का प्रतिपादन किया है। सरिताओं के विषय में अरस्तू का विवरण उल्लेखनीय है। उसने बताया कि सरिताओं का आविर्भाव जलस्रोतों द्वारा होता है, और ऐसी नदियाँ स्थायी तथा सतत वाहिनी होती हैं। अरस्तू ने ग्रीस के चूनापत्थर से युक्त स्थलीय भाग में नदियों के स्वभाव का अवलोकन भली प्रकार किया है। ऐसे

स्थलों पर नदियाँ सतह से लुप्त हो जाती हैं तथा भूमिगत सरिता (underground streams) का रूप धारण कर लेती हैं। जलवृष्टि से प्राप्त जल से यद्यपि सरिताओं का आविर्भाव हो सकता है परन्तु ऐसी नदियाँ केवल अस्थायी धारा के रूप में ही हो सकती हैं। नदियों द्वारा होने वाले अपरदन का भी अरस्तू ने उल्लेख किया है। उसने बताया है कि नदियाँ अपरदन द्वारा स्थल से पदार्थ प्राप्त करती हैं तथा उनका सागरों या झीलों में निक्षेपण करती हैं। नदियों द्वारा निक्षेपित पदार्थ काँप के रूप में होता है। जलस्रोतों की उत्पत्ति से सम्बन्धित अरस्तू का विवरण अधिक दिलचस्प है। जल-स्रोत (Springs) का धरातल पर प्रकट होने वाला जल तीन स्रोतों से प्राप्त होता है। (i) वर्षा के समय अधिकांश जल शैलों में रिसकर धरातल के नीचे चला जाता है। (ii) वायुमण्डल की कुछ वायु सुराखों द्वारा धरातल के भीतर पहुँच जाती है। इस पवन के घनीभवन (Condensation) से कुछ जल प्राप्त होता है। (iii) धरातल के नीचे स्थित कुछ जल वाष्पों (Vapour) से कुछ जल प्राप्त होता है। इन स्रोतों से प्राप्त जल का पर्वतों में सचयन होता है, जहाँ से जलस्रोतों का आविर्भाव होता है। अरस्तू ने सागर-तट में उतार-चढ़ाव (fall and rise in sea level) का भी पर्यवेक्षण किया है। उसने बताया कि जहाँ पर आज सागर हैं वहाँ पर पहले शुष्क स्थलीय भाग रहा होगा। इतना ही नहीं वर्तमान (अरस्तू के समय) सागरों से स्थलीय भाग (जो कि जलमग्न हो गये हैं) का पुन आविर्भाव हो सकता है। इस तरह अरस्तू ने सागर-तल की अस्थिरता को स्वीकृति प्रदान की।

स्ट्रैबो (54 ई०पू० से 25 ई०पू०) नामक इतिहास-कार का सरिताओं के सम्बन्ध में योगदान सराहनीय है। उसने बताया कि नदियाँ स्थलीय भाग का अपरदन करके अवसाद प्राप्त करती हैं तथा उन्हें काँप के रूप में सागर में जमा कर देती हैं। नदियों द्वारा निर्मित डेल्टा का आकार भिन्न-भिन्न हुआ करता है। उसमें विकास, विस्तार तथा ह्रास भी होता रहता है। डेल्टा का आकार उस भाग पर आधारित होता है जिससे होकर सरिता प्रवाहित होती है। यदि वह भाग अत्यधिक विस्तृत है और उस भाग की चट्टानें कोमल हैं तो अपरदन द्वारा अवसाद अधिक प्राप्त होगा। परिणामस्वरूप डेल्टा का आकार अधिक विस्तृत होता है। इस विवरण से यह स्पष्ट आभास हो जाता है कि नदियों का अपरदनात्मक कार्य कोमल चट्टानों पर अधिक होता है। इस विवरण से परोक्ष रूप में विभेदात्मक अपरदन (differential erosion) की भी झीनी झलक मिलती है। स्थलीय भागों में स्थानीय उत्थान एवं अवतलन होता रहता है। विसूवियस पर्वत की संरचना का अवलोकन करने के बाद स्ट्रैबो ने बताया कि इसकी उत्पत्ति ज्वालामुखी क्रिया द्वारा हुई है। सेनेका नामक विद्वान ने अरस्तू के उस मत का समर्थन किया कि जलवृष्टि द्वारा सरिताओं का आविर्भाव नहीं हो सकता है। उसने नदियों के अपरदनात्मक कार्य का भी भली प्रकार अवलोकन किया है। उसने बताया कि नदियाँ अपघर्षण (Abrasion) द्वारा अपनी घाटी को गहरा करती हैं। उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो गया है कि नदियों के विषय में प्राचीन काल में ही पर्याप्त जानकारी प्राप्त हो गयी थी। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि प्राचीन काल के विचारकों ने यद्यपि भूगोल खासकर भू-आकृति विज्ञान सम्बन्धी कुछ छिटपुट विचारों का प्रतिपादन तो किया परन्तु वे किसी भी सुनियोजित तथा स्वस्थ विचारधारा का सम्पादन नहीं कर सके।

(ii) **अन्धयुग**—रोमन साम्राज्य के पतन के बाद भू-आकृति विज्ञान के रंगमंच में उठी यवनिका पुन. गिर पड़ती है। समस्त दृश्य ओझल-सा होने लगता है। विज्ञान के क्षेत्र में अस्पष्टता तथा अस्त-व्यस्तता का साम्राज्य हो जाता है। यह क्रम कई शदियों तक चलता रहता है। प्रथम शती ई० से चौदहवीं शती तक न केवल भू-आकृति विज्ञान में वरन् भूगोल के क्षेत्र में भी प्रगति के आगे पूर्ण विराम लग जाता है। इस दीर्घकाल को अन्धयुग कहा जाता है। क्योंकि लगभग चौदह सौ वर्षों तक स्थिरता का घना कुहरा छाया रहता है। इसके बावजूद कहीं-कहीं पर छिटपुट विचारों का सम्पादन अवश्य हुआ। अरब में **अवीसेना** (Avicenna—980 to 1037 A D) ने पर्वतों से सम्बन्धित विचारों का प्रतिपादन किया। उत्पत्ति के आधार पर उसने पर्वतों को दो वर्गों में विभाजित किया। प्रथम वर्ग के अन्तर्गत वे पर्वत आते हैं जिनका आविर्भाव स्थलखण्ड में उत्थान के कारण होता है। द्वितीय वर्ग के पर्वतों का निर्माण बहते हुए जल तथा पवन द्वारा कोमल शैल में अपरदन द्वारा घाटी के निर्माण से होता है। इस तरह अवीसेना के विचारों में **"विभेदात्मक अपरदन"** (differential erosion) का संकेत मिलता है। उसने यह भी बताया कि अपरदनात्मक कार्य लम्बे समय के दौरान सम्पादित होता है, परन्तु उसकी दर अत्यन्त मन्द होती है। इस तरह

प्राकृतिक विचारों का विकास मन्थर गति से चलता है परन्तु इस युग की कोई बहुमूल्य देन नही है।

(iii) आकस्मिकवाद या प्रलयवादिता (Catastrophism)—भू-आकृति विज्ञान मे चौदह सौ वर्षों के मौन वातावरण के बाद एकाएक जागरण होता है। चौदहवी शती से सोलहवी शती तक भू आकृति विज्ञान के इतिहास मे नवीन पृष्ठो का सकलन होता है, जिनमे आकस्मिकवाद का स्पष्ट अकन रहता है। पृथ्वी की आयु का परिकलन कुछ सहस्र वर्षों मे ही किया गया, जिस कारण मानव ने केवल उन्ही भूगर्भिक घटनाओ को महत्त्व प्रदान किया जिनका पर्यवेक्षण एव अवलोकन वे अपने जीवन-काल मे कर सकते थे। विद्वानो ने यह बताया कि भू-पटल पर विभिन्न आकृतियो का सृजन अचानक तथा आकस्मिक रूप मे होता है। ज्वालामुखी की अचानक क्रिया तथा भूकम्प की सेकण्डो मे दिल दहला देने वाली हृदय-विदारक घटनाओ ने आकस्मिकवाद की विचार-धारा के प्रतिपादन पर बल प्रदान किया। इन घटनाओ द्वारा मानव दृग के सामने त्वरित रूप मे अनेकानेक स्थलरूपो का सृजन हो जाता है। परिणामस्वरूप वह मन्थर गति से सम्पादित होने वाली घटनाओ की ओर दृष्टिपात नही कर सका। पृथ्वी की आयु भी इतनी कम परिकल्पित की गई थी कि उस लघु समय के अन्तर्गत केवल प्रलयकारी तथा आकस्मिक घटनाओ को ही स्थान दिया जा सकता था। इस विचारधारा के समर्थको को 'प्रलयवादी' या 'आकस्मिकवादी' (Catastrophist) की सज्ञा प्रदान की गई। यह विचारधारा इतनी तीव्र गति से आगे बढी की क्यूवियर (Cuvier) जो कि एक प्रकृति वैज्ञानिक (Naturalist) था, इससे अप्रभावित नही रह सका। उसने बताया कि प्राचीन काल मे प्रारम्भिक पर्वत-निर्माणकारी घटनाये इतनी आकस्मिक थी कि उसमे प्रकृति के सचालन मे व्यवधान उपस्थित हो गया था। आकस्मिकवाद की विचारधारा का प्रभाव केवल भूगर्भ-शास्त्र तथा भू-आकृति विज्ञान तक ही सीमित नही था वरन् उसने जीव-विज्ञान (Biology) मे भी प्रवेश किया। यह माना गया है कि कई जीवो का आविर्भाव अचानक हुआ तथा कुछ समय बाद उनका शीघ्रता से लोप एव अवसान भी हो गया।

(iv) सरिता-अपरदन की विचारधारा का उदय-काल—सोलहवी शती के प्रथम चरण से भू-आकृति विज्ञान में वैज्ञानिक विचारो का प्रतिपादन प्रारम्भ होता है। इस युग के पहले के विद्वानो ने स्थलरूपो को मुख्य रूप से स्थायी रूप मे लिया था परन्तु अब उनकी नश्वरता का आभास विद्वानो को पूर्णतया मिल गया था। अपक्षय तथा अपरदन द्वारा स्थलीय भागो मे विनाश तथा परिवर्तन होता रहता है। यदि कुछ स्थलरूप अपरदित होकर समाप्त हो जाते हैं तो कुछ नवीन स्थलरूपो का आविर्भाव होता है। इस युग मे अपरदन के साधनो खासकर सरिता द्वारा स्थलीय भाग के अनाच्छादन का भली-भाँति अवलोकन तथा अध्ययन किया गया।

भू-आकृति विज्ञान मे नवीन विचारो का सूत्रपात **लिओनार्दो (Leonardo da Vinci–1452 to 1519)** के साथ होता है। लिओनार्दो पहला व्यक्ति था जिसने बताया कि नदियाँ अपरदन करके अपनी घाटी का स्वयं निर्माण करती हैं। अपरदन के दौरान नदियाँ स्थल के एक भाग का अपरदन करके मलवा प्राप्त करती है तथा उनका अन्यत्र निक्षेपण करती है। प्रमुख फ्रान्सीसी विद्वान बफन ने आकस्मिकवाद के युग के समय पृथ्वी की परि-कल्पित लघु आयु का खण्डन किया। उसने बताया कि पृथ्वी की आयु कुछ सहस्र वर्षों तक ही नही आँकी जा सकती है। बफन के अनुसार अपरदन के साधनो मे नदियाँ सर्वाधिक क्रियाशील एवं शक्तिशाली होती है। कोई भी ऊपर उठा भाग (स्थलभाग) अपरदित होकर इतना नीचा हो सकता है कि वह सागर-तल को प्राप्त हो जाय। इटली के प्रमुख विद्वान Targioni Tozetti (1712 to 1784) ने नदियो की घाटियो का अध्ययन करने के बाद बताया कि उनका मार्ग असमान हुआ करता है। कही पर वह तग तथा सकरी घाटी से होकर प्रवाहित होती है तो कही पर विस्तृत चौडी घाटी या घुमावदार विसर्पों से। उसने यह बताया कि नदियो का यह असमान मार्ग चट्टानो के स्वभाव मे अन्तर के कारण हुआ करता है। कोमल शैल वाले भाग मे अपरदन अधिक होने से चौडी तथा विस्तृत घाटियो का निर्माण होता है, जबकि कठोर तथा प्रतिरोधी चट्टानें अपरदित होने के कारण तंग तथा सकरी घाटियो को जन्म देती हैं। इस तरह इन्होने सर्वप्रथम प्रत्यक्ष रूप मे **'विभेदात्मक अपरदन'** (differential erosion) की संकल्पना का सूत्रपात किया।

फ्रेंच विचारक Guettard (1715 to 1786) ने बताया कि पर्वतो का अपरदन सरिताओ द्वारा होता रहता है तथा वह शनै. शनैः नीचा होता जाता है।

निक्षेप के सम्बन्ध में उसने अति महत्वपूर्ण विचारों का प्रतिपादन किया। नदी द्वारा अपरदन से प्राप्त सभी पदार्थों का निक्षेपण केवल सागर में ही नहीं होता है वरन् उसका कुछ अंश नदी के मार्ग में भी जमा होता है, खासकर बाढ़ के मैदान के रूप में। उसने बताया कि सागर, अपरदन का सर्वाधिक सक्रिय साधन है। पर्यवेक्षण के आधार पर उसने बताया कि मध्य फ्रान्स की कई पहाड़ियों की उत्पत्ति ज्वालामुखी क्रिया द्वारा हुई है। फ्रान्स के दूसरे विद्वान् **दिमारेस्त** (Dimarest—1725 to 1815) ने नदियों की घाटी के सूक्ष्म अध्ययन के बाद बताया (1774) कि मध्य फ्रान्स में जिन घाटियों से होकर नदियाँ प्रवाहित हो रही है उन घाटियों का निर्माण उन्होंने स्वयं किया है। स्थलरूपों के विकास के विषय में दिमारेस्त के विचार अधिक दिलचस्प हैं। सबसे पहले उसी ने बताया कि स्थलरूपों का विकास विभिन्न क्रमिक अवस्थाओं से होकर होता है। Swiss De Saussure (1740-1799) ने सरिता-अपरदन (1786) के अलावा हिमानी द्वारा होने वाले अपरदन पर भी प्रकाश डाला है। इस तरह अठारहवीं शती के अन्त तक सरिता-अपरदन से सम्बन्धित अनेक महत्वपूर्ण तथ्यों का प्रतिपादन किया गया। आगे चलकर जेम्स हटन ने इन तथ्यों से लाभ उठाया तथा इन आधारों पर अपनी संकल्पना (वर्तमान भूतकाल की कुञ्जी है) का प्रतिपादन किया।

(v) **एकरूपता वाद** (Uniformitarianism) **का उदयकाल**—भू-आकृति विज्ञान के प्रांगण में अठारहवीं शती एक नवीन लहर के साथ आती है जो 'आकस्मिकवाद' पर तीखा प्रहार करती है और भू-आकृति विज्ञान के आँचल पर नवीन विचारों के छोटे टाँक जाती है। 'आकस्मिकवाद' आलोचनाओं के सामने टिक नहीं पाता है क्योंकि उसके लिये भरपूर प्रमाण मिल नहीं पाते। भ्याकृतिक विचारों के इतिहास में 'एकरूपतावाद' का एक नवीन पृष्ठ लग जाता है। प्रमुख स्काटिश विद्वान जेम्स हटन अपनी इस 'एकरूपतावाद की विचारधारा' के साथ भू-आकृति विज्ञान के रंगमंच पर आते हैं। इनका जन्म 1726 ई० में स्काटलैण्ड के एडिनबर्ग नगर में हुआ था। इन्होंने 1797 ई० तक इस विषय को संवारा। उन्होंने बताया कि "वर्तमान भूत की कुञ्जी है" (Present is key to the past), अर्थात् वर्तमान समय के स्थलरूपों की बनावट, आकार तथा रूप को देखकर पिछले इतिहास को संजोया जा सकता है। स्थलरूपों का निर्माण तथा विकास निश्चित दशाओं में प्रायः समान रूप से होता रहता है। जिन दशाओं में वर्तमान समय में किसी स्थलरूप विशेष का निर्माण हो रहा है, ऐसी ही दशाओं में अतीत में भी उसका निर्माण अवश्य हुआ होगा। उसने बताया कि जो अपरदनात्मक प्रक्रम इस समय सक्रिय हैं, पिछले युगों में भी सक्रिय थे। भूगर्भिक इतिहास चक्रीय रूप में सम्पादित होता है। हटन प्रथम विचारक थे जिन्होंने सर्वप्रथम पृथ्वी के इतिहास में चक्रीय व्यवस्था (Cyclic nature of the earth history) का प्रतिपादन किया था। इस चक्र की पुनरावृत्ति होती रहती है। तभी तो यह विद्वान कह उठता है—"न तो आदि का पता है न अन्त का भविष्य'—No vestige of a beginning, no prospect of an end." यद्यपि प्रारम्भिक इतिहास (भूगर्भिक) गहनता में तिरोहित हो गया है परन्तु वर्तमान के आधार पर उसे संवारा जा सकता है। हटन ने बताया कि अतीत में जो भूगर्भिक परिवर्तन हुए, हैं, वे न तो आकस्मिक तथा त्वरित थे और न वर्तमान समय में होने वाले परिवर्तनों से सर्वथा भिन्न बल्कि आये दिन घटित होने वाले परिवर्तनों के समरूप थे। हटन की इस संकल्पना को 'एकरूपतावाद' कहते हैं।

हटन ने सर्वप्रथम अपने विचारों को एक 'पेपर' के रूप में सन् 1785 ई० में 'रायल सोसायटी आफ एडिनबर्ग' के समक्ष प्रस्तुत किया था। इन विचारों का प्रकाशन सर्वप्रथम "Theory of the earth,or an Investigation of Laws Observable in the Composition, Dissolution and Restoration of Land upon the Globe" नामक शीर्षक के अन्तर्गत 'रायल सोसायटी आफ एडिनबर्ग के Transaction' में 1788 में किया गया। आगे चलकर इन विचारों को एक पुस्तक (Theory of Earth with Proofs and Illustrations) के रूप में प्रकाशित किया गया। हटन के विचारों का सबसे अधिक प्रचार तथा सम्वर्द्धन जॉन **प्लेफेयर** (John Playfair—1748-1819) ने किया, जिसने 1802 ई० में इन्हें 'Illustration of the Huttonian Theory of the Earth'[1] के रूप में प्रकाशित किया।

1 Playfair, John—1802, Illustration of the Huttonian Theory of the Earth, William Creech, Edinburgh

इस पुस्तक मे प्लेफेयर ने हटन के विचारो में सम्वर्द्धन तथा परिमार्जन करके उन्हें वैज्ञानिक रूप प्रदान किया। परिणामस्वरूप हटन के विचारो में और अधिक निखार आ गया।

हटन ने अपने समय में आगे बढ़कर प्रगत सकल्पनाओ (Advanced concepts) का प्रतिपादन किया था। इसी कारण प्राय: यह कहा जाता है कि हटन अपने युग से आगे था। उसने जलीय और सागरीय दोनो तरह के अपरदनात्मक कार्यों का अवलोकन किया परन्तु उसने सरिता-अपरदन तथा नदी-घाटी के विकास पर अधिक बल दिया। ग्रेनाइट के निर्माण के विषय मे उसने नूतन तथा विश्वसनीय सकल्पना का प्रतिपादन किया। ग्रेनाइट शैल के निर्माण के विषय मे उस समय दो मत प्रचलित किये गये थे। 'नेपुटनिस्ट स्कूल' के अगुआ वर्नर (Werner, Saxony, Germany) ने बताया कि ग्रेनाइट का निर्माण रासायनिक अवक्षेप (Oceanic chemical precipitate) से हुआ है अर्थात् इसका निर्माण आद्य सागर के जल के रासायनिक घोल के रवीकरण (Crystallization) से हुआ है। इसके विपरीत 'प्लूटोनिस्ट स्कूल' (Plutonist School) के सस्थापक जेम्स हटन ने बताया कि ग्रेनाइट का निर्माण तप्त एव तरल मैगमा के शीतल होकर ठोस होने से होता है। हटन को इस तथ्य का भी आभास मिल चुका था कि नदियां अपनी घाटियो का निर्माण स्वय करती हैं तथा स्थलाकृति का निर्माण नही होता है वरन् कटाव से आविर्भाव होता है—Topography is carved out and not built up जोन प्लेफेयर ने इन तथ्यो को आगे चलकर सकल्पना के रूप मे प्रस्तुत किया। चार्ल्स लॉयल, हटन के समर्थक के रूप मे इस दुनिया मे 1797 मे आये। बचपन मे ही ल्येल का ध्यान वनस्पति एव जीवो के प्रति था और यही कारण है कि ल्येल ने आगे चलकर जीव विज्ञान सम्बन्धी प्रगत विचारो का प्रतिपादन किया जो कि आगे चलकर चार्ल्स डार्विन की पुस्तक 'Origin of Species' की आधारशिला बने। डार्विन ने स्वय स्वीकार किया है कि उनकी पुस्तक का आधा भाग ल्येल के मस्तिष्क की देन है (I feel as if my books came half out of Sir Charles Lyell's brain—Darwin)। चार्ल्स ल्येल का ध्यान भू-विज्ञान की ओर उस समय गया जब कि उन्होने अपने माता-पिता के साथ यूरोप महाद्वीप का भ्रमण 1818 मे किया। ल्येल एक धनाढ्य पिता की सन्तान थे, अत: उन्हें भ्रमण के लिये पर्याप्त सुविधा थी। अपनी विशद खोजो के बाद ल्येल ने 'आधुनिक ऐतिहासिक भू-विज्ञान (Historical Geology) की नीव डाली तथा भू-विज्ञान की सुसंगठित परिभाषा प्रस्तुत की—He defined geology as that science which investigates the successive changes that have taken place in the organic and inorganic kingdoms of nature ल्येल को लोग 'Armchair geologist' कहते थे परन्तु यह सत्य नही है क्योकि उन्होने क्षेत्रो का पर्याप्त भ्रमण किया है। ल्येल ने अपने अभिभावको के साथ 1818 मे यूरोप मे कई देशो का भ्रमण किया तथा आल्प्स का पर्यवेक्षण किया। 1840 मे इन्होने अमेरिका का भ्रमण किया। 1863 मे ल्येल ने अपनी पुस्तक *'प्रिन्सिपल्स ऑफ ज्योलाजी' (दो खण्ड)* प्रकाशित की तथा 1863 मे दूसरी पुस्तक "दी ज्योलाजिकल इविडेन्सेस ऑफ दी एण्टीक्विटी ऑफ मैन" का भी प्रकाशन हो गया। ल्येल इस तरह 1875 तक भू-विज्ञान का खजाना भरते रहे। कहते हैं कि ल्येल को इतना महनीय कार्य करने की प्रेरणा उनकी खूबसूरत, शिष्ट, करुणामयी तथा बुद्धिमान पत्नी से मिलती रही। यही कारण है कि अपनी पत्नी की मृत्यु (1873) के पश्चात् ल्येल अधिक दिन तक जीवित नही रह सके।

(iv) आधुनिक विचारधाराओं का प्रस्फुटन काल— उन्नीसवी शती के प्रथम चरण के साथ ही भ्वाकृतिक विचारो का सम्वर्द्धन प्रादेशिक रूप मे प्रारम्भ होता है। नूतन सकल्पनाओ से इस विज्ञान का खजाना भरता जाता है। इस काल मे यूरोप तथा उत्तरी अमेरिका मे भू-आकृति विज्ञान का सर्वाधिक विकास हुआ। खासकर सयुक्त राज्य अमेरिका, ग्रेटब्रिटेन, जर्मनी आदि मे इस विज्ञान के क्षेत्र मे उल्लेखनीय कार्य हुए। इस काल की सबसे बडी विशेषता यह है कि विद्वानो के विचारो मे प्रादेशिक स्तर पर पर्याप्त समता दृष्टिगत होती है। इस तथ्य को ध्यान मे रखकर भ्वाकृतिक विचारो को दो 'स्कूलो' के अन्तर्गत रखा जाता है—यूरोपियन तथा अमेरिकन स्कूल।

अ—यूरोपियन स्कूल—यूरोप मे कई विषयो पर स्वतन्त्र विचारो का सम्पादन किया गया। उदाहरण के लिये प्लीस्टोसीन हिमकाल तथा हिमानी-अपरदन, सागरीय अपरदन, सरिता अपरदन तथा 'कार्स्ट-चक्र' के सम्बन्ध मे अत्यधिक प्रगत विचारो (Advanced ideas) का प्रतिपादन किया गया। इस स्कूल के अन्तर्गत जोन प्लेफेयर, चार्ल्स ल्येल, आगासीज, वेनेज (Venetz) एस्मार्क

(Esmark[1], Bernhardi, Jean de Charpentier, पेन्क, ब्रुकनर, वाल्टर पेन्क, रैमसे, वेगनर, स्वीजिक (Cvijic) आदि के कार्य उल्लेखनीय है। प्लेफेयर के बाद चार्ल्स ल्येल ने हटन के 'एकरूपतावाद' के सिद्धान्त का धडल्ले के साथ प्रचार किया। यूरोप मे विकसित आधुनिक विचारो को अगले शीर्षको मे प्रस्तुत किया जा रहा है।

(i) **हिमकाल तथा हिमानी अपरदन**—यूरोपियन स्कूल का महत्वपूर्ण योगदान हिमकाल की पहचान तथा स्वीकरण के रूप मे है। प्लीस्टोसीन हिमकाल के समय उत्तरी यूरोप के हिमानीकरण को पुष्टि के लिये आवश्यक उदाहरणो तथा प्रमाणो को प्रस्तुत करने का भरसक प्रयास किया गया। इस क्षेत्र मे प्रथम उल्लेखनीय प्रयास लुई आगासीज का माना जाता है। उसने स्वीकार किया कि एक समय ऐसा था जब कि अल्पाइन हिमानी वर्तमान समय (आगासीज का समय) की अपेक्षा अधिक विस्तृत थे। 1815 ई० मे जॉन प्लेफेयर ने भी जूरा पर्वत पर स्थित बाउल्डर के आधार पर हिमानी प्रसार का अनुमोदन किया। प्रमुख स्विस विद्वान वेनेज (Venetz) ने 1821 तथा नार्वेजियन विद्वान एस्मार्क ने 1824 ई० मे प्रारम्भिक विस्तृत हिमानी की विचारधारा को स्वीकृति प्रदान की। शोध तथा पर्यवेक्षण का दौर चलता रहा। Jean de Charpentier ने आगे चलकर 'महाद्वीपी हिमानी' (Continental Glacier) को मान्यता प्रदान की। 1840 ई० मे आगासीज ने 'महान हिमकाल' (Great Ice Age) की सकल्पना प्रस्तुत की। सन् 1841 मे 'Charpentier' ने भी उपर्युक्त सकल्पना को एक 'पेपर' के रूप मे प्रकाशित किया परन्तु "महाद्वीपीय हिमानीकरण की सकल्पना के पिता" की खिताब आगासीज के ही हाथ लगी। स्काटिश भूगर्भवेत्ता जेम्स गीकी (James Geikie) ने हिमकाल के विभिन्न पहलुओ पर दृष्टिपात किया। उसने बताया कि महाहिमकाल के समय कई हिमकाल (Distinct glacial episodes) तथा गर्म अन्तर्हिमकाल (Warm Interglacial periods) हुआ करते हैं। दो हिमकालो के मध्य एक गर्म अन्तर्हिमकाल होता है, जिस समय हिमचादर पिघल जाती है। जेम्स गीकी ने अपने इन विचारो को "The Great Ice Age" नामक पुस्तक के रूप मे 1894 ई० मे प्रकाशित किया।[1] आगे चलकर पेन्क (Penk, Albrecht) तथा ब्रुकनर ने आल्प्स पर्वत मे हिमानीकरण के विषय मे अपने किये गये शोध के आधार पर चार मुख्य हिमकालो (गुन्ज, मिण्डेल, रिस तथा वर्म) का प्रतिपादन किया।

(ii) **सरिता-अपरदन**—सरिता-अपरदन का विषय ऐसा रहा है, जिस पर हर युग मे शोधकार्य किया गया। यूरोपियन स्कूल इससे वचित नहीं रह सका। सरिता-अपरदन की सामान्य दशाओं के अलावा कुछ विशिष्ट तथ्यों का भी प्रतिपादन किया गया। Jukes नामक विद्वान ने 1862 ई० मे नदियो की घाटियो के विकास के सम्बन्ध मे नवीन मत का प्रतिपादन किया। उसने बताया कि सरचना (भूगर्भिक) के आधार पर नदियाँ दो तरह की होती हैं। सरचना के आर-पार या अनुप्रस्थ दिशा (Across the geological structure) मे प्रवाहित होने वाली नदियाँ, 'अनुप्रस्थ सरिता' (Transverse streams) तथा सरचना की दिशा मे या उसके समानान्तर बहने वाली नदियाँ अनुदैर्घ्य सरिता (Longitudinal streams) होती है उसने प्रतिपादित किया कि अनुप्रस्थ नदियों का आविर्भाव अनुदैर्घ्य की अपेक्षा पहले होता है। आगे चलकर जर्मनी मे अपरदन-चक्र' (Cycle of erosion) के विषय मे पर्याप्त विकास हुआ। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान वाल्टर पेन्क (Walther Penck) ने अमेरिकी विद्वान डेविस द्वारा प्रतिपादित "भौगोलिक चक्र" की आलोचना की तथा डेविस द्वारा कल्पित अपरदन-रहित त्वरित उत्थान को निराधार बताया। उसने यह दर्शाया कि यह कदापि सम्भव नही है कि उत्थान की पूर्ण समाप्ति के बाद ही अपरदन प्रारम्भ होगा। इसके विपरीत अपरदन तथा उत्थान साथ-साथ प्रारम्भ होते है। प्रारम्भ में उत्थान मन्द गति से होता है, परन्तु कुछ समय बाद त्वरित गति से होता है। और आगे चलकर उत्थान समाप्त होता है, परन्तु अपरदन, चक्र के अन्त तक चलता रहता है। पेन्क ने डेविस द्वारा वर्णित अपरदन-चक्र की तीन अवस्थाओ (तरुणावस्था, प्रौढावस्था तथा जीर्णावस्था) का भी खण्डन किया।

वास्तव मे पेन्क को समझने मे लोगो ने पर्याप्त भूल की है। इसके दो कारण बताये जा सकते है—(i) पेन्क ने अपने विचारो को दुरूह जर्मन भाषा मे सजोया है तथा (ii) पेन्क की मृत्यु के समय तक उनकी पुस्तक अधूरी रह गयी थी। जो प्रारम्भिक रूपान्तर अंग्रेजी भाषा मे हुए वे भ्रामक थे। पेन्क के ढाल से सम्बन्धित विचारो के विषय मे लोगो मे यही धारणा रही है कि पेन्क ढालो के समानान्तर निवर्तन मे विश्वास करते थे, जो सही

1. Geikie, J. (1894), "The Great Ice Age", Newyork, p. 850.

नहीं है। इस पुस्तक के पिछले संस्करणों में भी यही अवधारणा व्यक्त की गयी थी। उनकी मान्य यह अवधारणा थी कि तीव्र ढाल में मन्द ढाल की, अपेक्षा तेजी से निवर्तन होता है। उन्होंने उदाहरण के लिये एक ऐसे तीव्र ढाल को लिया जो घाटी तल में सीधे ऊपर खड़ा होता है। इस तीव्र ढाल पर चारों ओर से अपक्षय का प्रभाव होता है जिस कारण उसमें इस तरह निवर्तन होता है कि ढाल के कोणों में अन्तर नहीं होता है। इस मुक्तपृष्ठ ढाल (Free Face) की पदस्थली पर एक ढलुआ सतह का आविर्भाव होता है जिसे पेन्क ने 'हाल्डेनहैंग' नाम दिया है। इस ढलुआ सतह से ऊपर स्थित मुक्तपृष्ठ के अपक्षय से प्राप्त मलवा का परिवहन नदी से होता रहता है। इस द्वितीय मन्द ढाल इकाई की नीचे और अधिक मन्द ढाल इकाई के सृजन से प्रतिस्थापना (Replacement) हो जाती है। परिणाम यह होता है कि एक अवतल ढाल परिच्छेदिका निर्माण होता है जो घाटी-तल से दूर हटती जाती है तथा ऊपर बढ़ती जाती है। अन्ततः अवतल ढाल परिच्छेदिका का साम्राज्य हो जाता है। देखिये अध्याय 17

(iii) सागरीय अपरदन—सागरीय अपरदन के क्षेत्र में यूरोपियन स्कूल द्वारा किया गया योगदान भी सराहनीय है। मुख्य रूप से सागरीय तरंगों द्वारा होने वाले अपघर्षण (Abrasion) पर अधिक ध्यान दिया गया। सर रैमसे (Sir Andrew Ramsay) तथा रिक्तोफेन (Baron Ferdinand Von Richthofen) ने इस क्षेत्र में सराहनीय कार्य किये। रैमसे ने वेल्स तथा दक्षिण-पश्चिमी इंगलैंड के तटीय भागों में सागरीय अपघर्षण तथा रिक्तोफेन ने चीन के उदाहरणों के आधार पर अपने मतों का प्रतिपादन किया। रैमसे को यह विश्वास था कि सागरीय अपरदन इतना समर्थ होता है कि वह स्थल भाग को नीचा करके समतल कर दे। झीलों की बेसिन के निर्माण में उसने हिमनद के कार्य की स्वीकृति दी। वर्तमान समय में प्रोफेसर स्टीयर्स ने 'प्रवालभित्ति' तथा 'प्रवाल द्वीप' के विषय में सराहनीय कार्य किया है।[1]

उपर्युक्त विषयों में महत्वपूर्ण कार्यों के अलावा भू-आकृति विज्ञान के अन्य क्षेत्र में भी छिटपुट रूप में कार्य किये गये। मरुस्थली भागों में पवन द्वारा होने वाले अपरदनात्मक कार्यों का भी उल्लेख कई विद्वानों ने किया है। जर्मनी के प्रमुख विद्वान वाल्टर (J Walther,[2] तथा पसर्गे (Passarge)[3] ने अपने सराहनीय मतों का प्रतिपादन किया है। पसर्गे ने कालाहारी मरुस्थल में इन्सेलबर्ग का अध्ययन किया तथा उन्हें अपरदन-चक्र की अन्तिम स्थिति बताया। स्काटलैण्ड के आधुनिक विद्वान किंग महोदय (King, L C.,[4] ने दक्षिणी अफ्रीका के स्थलरूपों का अध्ययन किया है। इन्होंने शुष्क तथा अर्द्धशुष्क दशाओं में विभेद स्थापित किया है। यूरोप में भू-आकृति विज्ञान पर पुस्तकों का लेखन तथा प्रकाशन उन्नीसवीं शती के अन्तिम दशक में प्रारम्भ होता है। सर्वप्रथम 'Paschel' महोदय ने 1869 ई० में "स्थलरूपों के विकास के सिद्धान्तों" के सकलन का प्रयास किया। रिक्तोफेन ने Paschel के कार्य को आगे बढ़ाया। उन्होंने 1894 ई० में 'Morphologie de Erdoberlache" नामक अपनी पुस्तक का प्रकाशन किया। प्रोफेसर स्टीयर्स ने 'The Unstable Earth" को 1932 तथा ऊलरिज एवं मार्गन् ने "The Physical Basis of Geography An Outline of Geomorphology" को 1937 ई० में प्रकाशित किया।

ब—अमेरिकन स्कूल—भू-आकृति विज्ञान के क्षेत्र में अमेरिकन स्कूल का योगदान सर्वाधिक माना जाता है। अकेले डेविस महोदय ने ही इतना कार्य किया है कि किसी अन्य स्कूल का सम्मिलित कार्य उतना नहीं हो पाता है। उन्नीसवीं शती के अन्तिम चरण और बीसवीं शती के प्रथम दो दशक के दौरान इस विज्ञान का सर्वाधिक विकास हुआ है। वास्तव में यह काल न केवल भू-आकृति विज्ञान में अमेरिकन स्कूल का ही वरन् समस्त विश्व में स्थलाकृतिक विचारों के 'चरम विकास' का युग माना जाता है। इसी समय भू-आकृति विज्ञान के मूलभूत विषय-स्थलरूपों के विकास को निश्चित रूप प्रदान किया गया तथा उनके विकास में चक्रीय व्यवस्था का अवलोकन किया गया। इसी समय भूगर्भवेत्ताओं के संरक्षण में पश्चिमी संयुक्तराज्य अमेरिका का वृहद सर्वेक्षण किया गया, जिससे विभिन्न स्थलाकृतिक संकल्पनाओं की पुष्टि

1. Steers J.A., A—The Queensland Coast and the Great Barrier Reef G J. 1929 [Vol 73].
 B —The Coral Islands and Associated Features of the Great Barrier Reef, Geog.Jorn.89,1970.
2. Walther, J. Das Genetzder Wustenbidung [Berline 1900].
3. Passarge, S. Die Kalahari [Berlin 1904]
4. King L C, South African Scenery [Edinburgh 1951].

के लिए उदाहरण प्राप्त हुए। अमेरिकन स्कूल मे पावेल, गिलबर्ट तथा डटन को अग्रणी माना जाता है। आगे चलकर डेविस ने विभिन्न संकल्पनाओं का समेकन करके तथा उन्हें सुनियोजित करके इस विज्ञान को स्वस्थ रूप प्रदान किया। डेविस को, इस तरह, भू आकृति विज्ञान का संरक्षक (Patron) माना जाना चाहिए।

(i) पावेल (Powell, J. W.)—अमेरिकी स्थल सेना के मेजर पावेल का जन्म 1834 ई० में हुआ था। इन्होंने देश सेवा के साथ ही साथ मृत्यु पर्यन्त (1902 ई०) इस विज्ञान का सम्वर्द्धन तथा परिमार्जन किया। पावेल ने कोलोरैडो पठार और Uinta Mountain[1] पर पर्यवेक्षण तथा शोध किया। उन्होंने सरिता-अपरदन के विषय में अधिक महत्वपूर्ण योगदान दिया है। 'Uinta Mountain' की संरचनाओं का पर्यवेक्षण एवं अध्ययन करने के बाद उन्होंने (सर्वप्रथम) बताया कि स्थलरूपों का वर्गीकरण भूगर्भिक संरचना के आधार पर किया जाना चाहिए। नदियों की घाटियों के वर्गीकरण के लिए उन्होंने दो आधार बताये—संरचना तथा उत्पत्ति का आधार। उत्पत्ति के आधार पर उन्होंने नदियों की घाटियों को पूर्वारोपित घाटी (Superimposed Valley), अनुवर्ती घाटी (Consequent Valley), पूर्ववर्ती घाटी (Antecedent Valley) आदि प्रकारों में विभाजित किया। पावेल प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने बताया कि नदियों द्वारा होने वाले अधिकतम अपरदन की अन्तिम सीमा होती है, जिसके आगे अपरदन नहीं होता है। इस सीमा की प्राप्ति के बाद स्थलखण्ड समप्राय हो जाता है। अपरदन की इस अन्तिम सीमा को उन्होंने आधार तल या चरम तल (Base level) की संज्ञा प्रदान की। अपरदन की अन्तिम सीमा सागर-तल द्वारा निर्धारित होती है। अपरदन की अन्तिम सीमा के प्राप्त हो जाने पर स्थलभाग एवं आकृतिविहीन समतल मैदान में परिवर्तित हो जाता है। परन्तु इस अन्तिम स्थलरूप के लिए पावेल किसी नामावली का प्रयोग नहीं कर सके। आगे चलकर डेविस ने ऐसी स्थलाकृति को 'पेनीप्लेन' की संज्ञा प्रदान की। उन्होंने पार्श्विक अपरदन (Lateral erosion) द्वारा जल विभाजकों के खिसकने तथा सँकरे होने की प्रवृत्ति का भी अवलोकन किया, परन्तु इस पर वे किन्हीं व्यवस्थित विचारों का प्रतिपादन नहीं कर सके। अपरदन के आधारतल (Base-level of erosion) के विषय में पावेल की निम्न पंक्तियाँ उल्लेखनीय हैं

We may consider the level of the sea to be a grand base-level, below which the dry lands cannot be eroded, but we may also have, for local and temporary purposes, other base-levels of erosion, which are the levels of the beds of the principal streams which carry away the products of erosion. What I have called base-level would, in fact, be an imaginary surface, inclining slightly in all its parts toward the lower end of the principal stream draining the area through which the level is supposed to extend, or having the inclination of its parts varied in direction as determined by tributary streams"

आगे चलकर मैलाट (Malott-1928) ने बताया कि पावेल के उपर्युक्त कथन में तीन तरह के आधार-तलों (Ultimate, local तथा temporary) का आभास मिलता है।[2]

(ii) गिलबर्ट (Gilbert, G K., 1843 to 1918)—गिलबर्ट को अमेरिका का प्रथम वास्तविक भू-आकृति विज्ञानवेत्ता (Geomorphologist) माना जाता है। इन्होंने सरिता द्वारा होने वाले पार्श्विक अपरदन (Lateral erosion) का अधिक अध्ययन किया तथा बताया कि उपर्युक्त क्रिया द्वारा नदी अपनी घाटी का विस्तार करती है। उन्होंने (सबसे पहले) नदी-बोझ (Load, तथा उसके (नदी) आयतन (Volume), गति (Velocity) तथा ढाल-प्रवणता (Slope gradient) में सम्बन्ध स्थापित किया। नदी-वेदिकाओं (River terraces,[3] के विषय में उन्होंने बताया कि वे नदी-अपरदन का परिणाम होती हैं न कि निक्षेप का। नियाग्रा प्रपात[4] के इतिहास तथा उत्पत्ति के विषय में गिलबर्ट

1. Powell, J W, [1876], Exploration of Colorado River of the West, p. 203, Smithonian Institution, Washington
2. Malott, C A. [1928]-Base level and its Varieties, Indiana University Studies, 82, pp. 37-59
3. Gilbert, G.K. [1877]-Report on Gealogy of the Henery Mountains, pp 170-172.
4. Gilbert, G K. [1895]-Niagra Falls and their history, Natl Geog. Mag, 1, pp. 203-236

के विवरण अधिक दिलचस्प हैं। गिलबर्ट ने हेनरी पर्वत के अध्ययन के बाद बताया कि असगत कटक (Asymmetrical ridge) के तीव्र ढाल पर प्रवाहित होने वाली सरिता मन्द ढाल पर बहने वाली सरिता की अपेक्षा अधिक अपरदन करती है। परिणामस्वरूप जल-विभाजक अधिक सक्रिय नदी की ओर से कम सक्रिय नदी की ओर खिसकता जाता है। गिलबर्ट के इस सिद्धान्त को "Law of unequal slope" के नाम से जाना जाता है।

(iii) डटन (Dutton, C.E. 1841-1912)—सतुलन के सिद्धान्त के क्षेत्र में डटन का योगदान महत्वपूर्ण है। डटन प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने, Isostasy' शब्द का प्रयोग सबसे पहले (1880 ई०) किया था। इन्होंने अलग-अलग स्थलरूपो का अध्ययन किया। उन्होंने एक ऐसे काल का प्रतिपादन किया जिस समय कोलोरैडो पठार मे सर्वाधिक निम्नीकरण (Degradation) हुआ। इसे इन्होंने "The Great Denudation" के नाम से सम्बोधित किया।

(iv) डेविस (Davis, W. M 1850-1940)—भू-आकृति विज्ञान के क्षेत्र में डेविस महोदय बहुचर्चित विद्वान रहे है। इस विज्ञान का कोई ऐसा कोना नही बचा है, जहाँ पर इस विद्वान की पैनी दृष्टि न पहुँची हो। स्थाकृतिक विचारो तथा सकल्पनाओं के विषय मे जितना डेविस ने लिखा है उतना आज तक कोई विद्वान् नही लिख सका है। इसके पहले अमेरिकन स्कूल के विद्वानों के विचार बिखरे हुए थे परन्तु डेविस ने उन्हे संजोकर एक व्यवस्थित तथा क्रमबद्ध विज्ञान का रूप दिया जिसमे भू-आकृति विज्ञान को एक नई दिशा मिली। इसी कारण से अमेरिकन स्कूल को 'डेविसियन स्कूल' (Davisian School) के नाम से भी माना जाता है। वास्तव मे डेविस मौलिक विचारक परिभाषाकार, व्याख्याकार तथा किसी भी वस्तु को व्यवस्थित तथा क्रमबद्ध रूप देने वाले विद्वान् थे। उन्होंने अपने प्रथम 'पेपर' का प्रकाशन 1880 ई० मे किया तथा अन्तिम दिन तक कुल मिलाकर 400 'पेपर' तथा पुस्तको का प्रकाशन किया। इनका सर्वाधिक समय स्थलरूपो के अध्ययन तथा व्याख्या में व्यतीत हुआ।

स्थलरूपो के विकास के सम्बन्ध मे डेविस ने 'चक्रीय व्यवस्था' का प्रतिपादन किया। उन्होंने बताया कि किसी स्थलरूप का विकास विभिन्न अवस्थाओ से होकर होता है। भू-आकृति विज्ञान के क्षेत्र मे डेविस ने 'अपरदन-चक्र' (Cycle of erosion) तथा 'स्थाकृतिक चक्र' (Geomorphic Cycle) की सकल्पना का प्रतिपादन किया। अपरदन-चक्र को 'भौगोलिक चक्र' की सज्ञा प्रदान की। डेविस ने बताया कि 'भौगोलिक चक्र वह अवधि होता है जिसके दौरान कोई ऊपर उठा हुआ स्थलखण्ड अपरदन के प्रक्रमो से प्रभावित होकर, अन्तत आकृति विहीन निम्न मैदान म बदल जाता है।"[1] अपरदन-चक्र के अन्त मे निर्मित स्थलाकृति के लिए उन्होंने 'पेनीप्लेन' (Peneplain) शब्द का प्रयोग किया। अपरदन-चक्र[2] के समय इन्होंने त्वरित उत्थान माना है। उत्थान की समाप्ति के बाद ही अपरदन प्रारम्भ होता है। तरुणावस्था, प्रौढावस्था तथा जीर्णावस्था से गुजरने के बाद स्थलखण्ड अपरदन के आधार-तल (Base level) को प्राप्त हो जाता है तथा पेनीप्लेन में बदल जाता है जिसके प्रमुख लक्षण मोनाडनाक होते है। जर्मन विद्वान वाल्टर पेन्क ने डेविस के अपरदन-चक्र के सिद्धान्त का विरोध करते हुए बताया कि अपरदन तथा उत्थान साथ-साथ चलते है। उसने डेविस द्वारा बतायी गई अपरदन-चक्र की तीन अवस्थाओ का भी विरोध किया। डेविस ने आगे चलकर नदी-अपरदन-चक्र के आधार पर[3] शुष्क अपरदन चक्र (Arid cycle of erosion),[4] सागरीय अपरदन-चक्र, हिमानी अपरदन-चक्र आदि सकल्पनाओ का उल्लेख किया। डेविस ने बताया कि स्थलरूपो के विकास मे सरचना, प्रक्रम तथा अवस्था का पर्याप्त महत्व होता है। इस आधार पर

1. The Geographic cycle is a period of time during which an uplifted landmass undergoes its transformation by the process of land sculpture ending into low featureless plain—Davis, W.M.
2. Davis W.M [1899]—The Geographical cycle, Geog J, 14. pp 411-504 and also in Geographical Essays, pp 249-278, Ginn & Co., New York.
3. Davis, W M [1902] A—Base level, Grade and Peneplain, J. Geol., 10 pp 77-111 and also in Geog Essays pp. 381-412, Ginn and Co. New York. B—[1923] The Scheme of Erosion Cycle, J. Geol., 31. pp. 10-25
4. Davis, W M. [1905]—The Geographical cycle in an arid climate. J. Geol., 13, pp. 381-407, and also in Geographical Essays, 296-322. Ginn & Co, New York

उसने एक नवीन संकल्पना को जन्म दिया—"स्थलरूप, संरचना, प्रक्रम तथा अवस्था का प्रतिफल होता है"—Landscape is a function of structure, process and stages"; डेविस ने 1909 ई० में अपने विचारों को "Geographical Essay" नामक पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया। इस पुस्तक के अन्तर्गत डेविस के अधिकांश पेपर का समेकन किया गया है।

डेविस के बाद भी अमेरिकन स्कूल में नवीन भ्वाकृतिक विचारों का सम्पादन चलता रहा। इस अगली पीढ़ी ने भू-आकृति विज्ञान को एक स्वतन्त्र विषय के रूप में विकसित किया तथा उस पर पुस्तकें भी लिखी। अमेरिकन स्कूल के अन्य विद्वानों में जानसन (Johnson, D. W.), मैलाट (Malott, C A), मेयरहोफ (Mayerhoff, H. A.), ओमस्टेड (Olmsted, E W.), टामसन (Thompson, H. D), काटन (Cotton, C. A), शार्प (Sharp R. P), शार्प (Sharp, C. F. S), लोबेक (Lobeck, A. K.) थार्नबरी (Thornbury, W. D) आदि प्रमुख हैं।

भ्वाकृतिक विचारों के इतिहास की उपर्युक्त व्याख्या से यह स्पष्ट हो गया है कि भू-आकृति विज्ञान को विकास की कई अवस्थाओं से होकर गुजरना पड़ा है। स्थलरूपों का अध्ययन ही भ्वाकृतिक विज्ञान का प्रधान विषय है। अतः स्थलरूपों के आधार पर भू-आकृति विज्ञान के ऐतिहासिक विकास में निम्न अवस्थाओं का प्रतिपादन किया जा सकता है—(1) सर्वप्रथम स्थलरूपों को स्थिर तथा अपरिवर्तनशील एवं शाश्वत (Everlasting) माना गया था। (2) इसके बाद स्थलरूपों की स्थिरता से कई विद्वानों का विश्वास उठ गया। परिणामस्वरूप अस्थिर तथा परिवर्तनशील स्थलरूपों को मान्यता दी गई। अपरदन को व्यापक स्वीकृति मिली। निम्नीकरण (Degradation) की विचारधारा का सूत्रपात हुआ। यद्यपि इस विचारधारा का प्रस्फुटन प्राचीन काल में ही हो गया था परन्तु इसका चरम विकास हटन के समय हुआ। (3) इसके पहले ही हटन के विचारों का सूत्रपात होता, भू-आकृति विज्ञान को "आकस्मिकवादिता" (Catastrophism) के भी युग से होकर गुजरना पड़ा। इस युग में स्थलरूपों का निर्माण आकस्मिक तथा त्वरित रूप में माना गया (4) इस विचारधारा के विरोध में 'एकरूपवादिता' (Uniformitarianism) का आविर्भाव हुआ। "नदियाँ अपनी घाटियों का स्वयं निर्माण करती हैं" की विचारधारा को पूर्ण समर्थन प्राप्त हुआ। (5) अन्त में यह मान लिया गया (प्रमाणों के आधार पर) कि प्रवाही जल (Running water) सोद्देश्य कार्य करता है। उसका कार्य एक निश्चित प्रणाली के अन्तर्गत सम्पादित होता है। इसी समय 'अपरदन-चक्र" तथा "भ्वाकृतिक चक्रों" (Geomorphic cycles) का व्यापक प्रयोग किया गया। यदि तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि वर्तमान समय में भू-आकृति-विज्ञान के विकास में कुछ शिथिलता सी आ गई है।

आधुनिक भू-आकृति विज्ञान (Modern Geomorphology)—पिछले कुछ दशकों से भू-आकृति विज्ञान के क्षेत्र में जो कुछ हो रहा है उसके आधार पर इस विज्ञान का भविष्य उज्ज्वल नहीं बताया जा सकता। क्योंकि विषय को जानबूझ कर दुरूह तथा अबोधगम्य बनाया जा रहा है। इस विज्ञान में भी गणित के नियमों तथा समीकरणों का समावेश किया जा रहा है। यद्यपि इससे एक लाभ यह हो रहा है कि प्रस्तुत विज्ञान '**मात्रात्मक**' (Quantitative) होता जा रहा है, जो कि निःसंदेह एक अच्छी दिशा है, परन्तु गणित का प्रयोग उसी सीमा तक होना चाहिये जहाँ तक कि विषय सुरुचिपूर्ण तथा बोधगम्य बना रहे। भू-आकृति विज्ञान निश्चित रूप से स्थलरूपों का अध्ययन है, अतः इसमें गणित, भौतिकी तथा रसायनशास्त्र का इतना समावेश न कर दिया जाय कि विषय अपनी वास्तविक दिशा को ही छोड़ बैठे। सर्वाधिक प्रख्यात भू-आकृति विज्ञान-वेत्ता, डेविस एक महान गणितज्ञ भी थे परन्तु उन्होंने स्थलरूपों के अध्ययन तथा व्याख्या में कहीं भी गणित के नियमों तथा समीकरणों का प्रयोग नहीं किया। उन्होंने अपने विचारों को कभी भी मात्रात्मक रूप में प्रकट करना नहीं चाहा। डेविस महोदय ने भू-आकृति विज्ञान को भूगोल की एक महत्वपूर्ण शाखा के रूप में लिया था परन्तु आज उन्हीं के देश में इस विज्ञान को भूगर्भशास्त्र के अन्तर्गत समाविष्ट किया जा रहा है। परिवर्तन का महत्वपूर्ण कारण भू-आकृति विज्ञान से भूगोलवेत्ताओं की दिलचस्पी का उठ जाना ही बताया जा सकता है।

वर्तमान भू-आकृति विज्ञान की विशेषता उसके 'प्रादेशिक रूप' में है। आज इस विज्ञान के क्षेत्र में भी '**प्रादेशिक संकल्पना**' (Regional Concept) का समावेश हो रहा है। इस आधार पर भू-आकृति विज्ञान का अध्ययन कई रूपों में किया जाता है। **विश्व**

भू-आकृति विज्ञान[1] (World Geomorphology) के अन्तर्गत समस्त ग्लोब का अध्ययन लघु मापक पर किया जाता है। स्थल तथा जल के वितरण एवं महाद्वीपीय प्रवाह पर अधिक बल दिया जाता है। 'विश्व व्यापक अपरदन सतह" (Worldwide erosion surface) का अध्ययन प्रधान हुआ करता है। किंग महोदय (King L C) इसी तरह के अध्ययन मे व्यस्त हैं। अध्ययन की सुविधा के लिए प्रत्येक महाद्वीप की स्थलाकृतियों का अलग-अलग अध्ययन किया जाता है। इसे महाद्वीपीय भू-आकृति विज्ञान (Continental Geomorphology) कहते हैं। महाद्वीपों के आकृतिक प्रकारों (Morphological types) पर अधिक बल दिया जाता है। इसके अन्तर्गत पर्वतीय मेखलाओं (Orogenic belts), प्राचीन दृढ़ भूखण्ड, बेसिन, हॉर्स्ट, भू-भ्रंश घाटियों (Rift Valleys) आदि प्रकारो को सम्मिलित किया जाता है। इस तरह के विवरण किंग (King L C) महोदय की पुस्तक (1962) "Morphology of the Earth" मे मिलते है। सागर समस्त ग्लोब के 70 8 प्रतिशत भाग को प्रदर्शित करते है। इस आधार पर पिछले दो दशकों से सागर-तली के स्थलरूपो के अध्ययन पर भी बल दिया जा रहा है। इसे "सागर-नितल-भू-आकृति विज्ञान" (Geomorphology of the Ocean floor) कहते हैं। अध्ययन की सुविधा के लिए पुन महाद्वीपो को भी छोटे-छोटे भागो में विभक्त कर लिया जाता है तथा इन छोटे भागो के स्थलरूपो का सामूहिक अध्ययन किया जाता है। इसे लघु क्षेत्रों का भू-आकृति विज्ञान" (Geomorphology of .areas of lesser dimension) कहते है। इसके अन्तर्गत खासकर 'अनाच्छादन कालानुक्रम' (Denudation Chronology) का अध्ययन ग्रेट ब्रिटेन[2] तथा न्यूजीलैण्ड मे किया जाता रहा है। इस प्रणाली के अन्तर्गत स्थलरूपो के ऐतिहासिक विकास को महत्ता दी जाती है। इस अध्ययन के लिए डेविस की "चक्रीय सकल्पना' (Cycle Concept) को आधार बनाया जाता है।

आधुनिक भू-आकृति विज्ञान की अगली विशेषता प्रयोगशालाओ मे किये जाने वाले प्रयोग के रूप मे है। कई देशों (खासकर संयुक्त राज्य अमेरिका तथा ग्रेट ब्रिटेन) मे इस उद्देश्य के लिए प्रयोगशालाओं की स्थापना की गई है जिनमें तरंगो (Waves), धाराओं (Currents) तथा नदियों के "जलीय नियमो" (Hydraulic Laws) का प्रयोग तथा परीक्षण किया जाता है। परन्तु यह शोक का विषय है कि यह कार्य भूगर्भवेत्ताओं द्वारा सम्पादित न होकर अभियन्ताओं द्वारा किया जा रहा है, जिस कारण परिणाम कठिन तथा अबोधगम्य होते है। यही कारण है कि ऐसे प्रयोगो की ओर भू-आकृति विज्ञान के विद्वानों (कुछ अपवादो को छोडकर) का झुकाव नही हो पा रहा है।

मोटे तौर पर भू-आकृति विज्ञान के आधुनिक विचारको को तीन वर्गों मे विभाजित किया जाता है। इस आधार पर वर्तमान समय मे स्थाकृतिक विचारो के तीन विभिन्न 'स्कूलों" का प्रतिपादन किया जा सकता है। प्रथमवर्ग के अन्तर्गत 'गतिशील' (Mobilistic Concept) को सम्मिलित किया जाता है। इस 'स्कूल' का विकास जर्मन विद्वान वाल्टर पेन्क के विचारो के आधार पर किया गया है। इस स्कूल के अन्तर्गत स्थलीय भागों की स्थिरता को मान्यता नही दी जाती है। भूपटल अत्यन्त अस्थिर (Unstable) है, अत विस्तृत अपरदनात्मक सतहों (Wide erosion surface) का निर्माण नामुमकिन है। वर्तमान समय मे पेन्क के वास्तविक अनुयायी कम रह गये है। उनके विचारों मे कुछ सशोधन किया गया है। इसके अनुसार सामान्य प्रकार के स्थलरूपों का विकास उस समय होता है जब कि भू-पटलीय उत्थान तथा अनाच्छादन (Denudation) समान गति से सम्पादित होते है। ऐसी स्थलकृति मे उच्चावच्च साधारण होते है। इस तरह के विचारो का विकास जर्मनी फ्रास,[3] सोवियत रूस आदि देशों मे हो रहा है। द्वितीय वर्ग के अन्तर्गत स्थलरूपो के विकास तथा उनके विभिन्न प्रकारो मे अन्तर के कारण को जलवायु बताया

1. King Cuchlaine A. M 1967—Techniques in Geomorphology. Edward Arnold [Publishers] Ltd. London, Chapter I, pp. 1-17.
2. A—Brown, E H 1960—The relief and drainage of Wales Cardiff.
   B – Wooldridge, S W. 1950—The upland plains of Britain Adv, Sci. 7, pp 162-175.
   C Wooldridge, S W & Linton, D L, 1955—Structure surface and drainage in South East England, London.
3 Cailleux, A. and Tricart, J. 1954—Lemodele des chaines plisses. G. D. U.

जाता है। विशिष्ट प्रकार की जलवायु विभिन्न प्रकार की स्थलाकृति का सृजन करती है। पेल्टियर महोदय[1] ने इस प्रणाली का प्रयोग जमकर किया है। किंग महोदय[2] ने डेविस द्वारा बताये गये स्थलरूपों को प्रभावित करने वाले तीन कारकों (संरचना, प्रक्रम तथा अवस्था) में प्रक्रम (Process) को प्रथम स्थान देते हुए उसे सर्वाधिक महत्वपूर्ण बताया है। चूँकि प्रक्रम विशेषकर जलवायु पर आधारित होता है, अतः किंग के अनुसार स्थलाकृति के प्रकारों के निर्धारण में जलवायु का महत्वपूर्ण हाथ होता है। ढाल का विकास तथा रूप जलवायु पर आधारित होता है। इस तरह जलवायु नदी तथा उसकी घाटी के विकास में सहायक होती है। किंग महोदय (King L C) ने अपरदन-चक्र के अन्त में डेविस द्वारा बताई गई पेनीप्लेन की स्थिति को अस्वीकार कर दिया है परन्तु यह अवधारणा निश्चय ही भ्रान्तिपूर्ण है। अधिकांश विद्वान यह मानते है कि विभिन्न प्रकार की जलवायु में अपरदन-चक्र (दीर्घकालीन) के अन्त में उत्पन्न स्थलाकृति भिन्न-भिन्न होगी। तीसरे वर्ग को **सुस्थैतिक विचारधारा** (Eustatic concept) के अन्तर्गत रखा जाता है। इस विचारधारा का प्रचलन सर्वप्रथम स्वेस ने 1888 में किया था। उसने बताया कि पर्वतीय मेखलाओं को छोड़कर अधिकांश महाद्वीपीय भाग स्थिर रहे है। केवल सागर-तल में सुस्थैतिक परिवर्तन (Eustatic changes) हुआ करते है। इस सिद्धान्त के आधार पर विस्तृत क्षेत्रों में ऊँचाई के आधार पर अपरदनात्मक सतहों में सह-सम्बन्ध (Correlation) स्थापित किया जा सकता है। इस विचारधारा के समर्थक कम हो गये है।

अभिनव प्रवृत्तियाँ (Recent trends)

पिछले तीन दशकों में तथाकथित भू-आकृति विज्ञानवेत्ताओं ने विषय को जीवन्त स्वरूप प्रदान करने का भगीरथ प्रयास किया है। 1930-40 के दशक के उत्तरार्ध में क्रुम्बीन द्वारा भूविज्ञान (Geology) में साख्यकीय तकनीकों के प्रयोग से प्रेरित होकर **हार्टन** ने प्रवाह-बेसिन की भू-आकारिकी के विश्लेषण के लिए साख्यकीय तथा गणितीय विधियों पर आधारित आकारमितिक उपागम (Morphometric approach) का प्रयोग किया (1945)। 1950 में स्ट्रालर का कार्य इस दिशा में अग्रसर हुआ। इन्होंने भू-आकारिकी में 'रेखीय साख्यकीय तकनीक' (Linear statistical techniques) का प्रयोग किया, मुख्यरूप से प्रतीपगमन तथा प्रसरण विश्लेषण (Regression and Variance analysis) को महत्ता प्रदान की। 1950-60 दशक के अन्त तक बहुगुणी प्रतीपगमन विधि (Multiple regression methods) का प्रचलन प्रारम्भ हो चुका था। 1960 से एलेक्ट्रानिक कम्प्यूटर की सहायता से भू-आकृतिक समकों (Data) का विश्लेषण प्रारम्भ हुआ। परिणामस्वरूप रेखीय विश्लेषण' (Linear analysis) के अलावा 'स्थानिक विश्लेषण' (Spatial analysis) का दौर प्रारम्भ हो गया। इस तरह पिछले दशक के प्रथम वर्ष (1971) से भू-आकारिकी में आधुनिक साख्यकीय तकनीक का प्रयोग व्यापक स्तर पर प्रारम्भ हो गया।

वर्तमान समय में भू-आकारिकी के 'स्थानिक निर्देशाक' (Spatial coordinates) के विश्लेषण के लिए बहुगुणी साख्यकीय तकनीक', 'अनुक्रमिक बहुगुणी प्रतीपगमन (Sequential multiple regression), 'बहुपद प्रवृत्ति सतह विश्लेषण' (Polynomial trend surface analysis), हारमोनिक तथा प्रसरण (Variance) स्पेक्ट्रा विश्लेषण' (सरिता-जलमार्ग प्रारूप के लिए), हारमोनिक विश्लेषण (विस्तृत धरातल के लिए), फैक्टर विश्लेषण (स्थलाकृति के वर्गीकरण के लिए), मार्कोव-तुल्य विश्लेषण (सरिता-जलमार्ग के लिए), स्थानिक साइमुलेशन (सरिता-जाल Network के लिए) आदि विधियों का प्रयोग किया जा रहा है।

भू-आकृतिक समकों, उपागों तथा स्थानिक निर्देशाकों के विश्लेषण में उपर्युक्त साख्यकीय विधियों का प्रयोग वैयक्तिक स्तर तक ही सीमित रहा है। इन विधियों के प्रयोग में विद्वानों की अन्यमनस्कता, विधियों की दुरूहता तथा अबोधगम्यता, विद्वानों में गणितीय आधार (Mathematical base) का अभाव, कुछ लोगों में इनके प्रयोग में तटस्थ मनोभाव आदि कारणों के फलस्वरूप इन विधियों का प्रयोग मन्थर गति से हुआ है। वास्तव में डेविस के चक्रीय तथा अनाच्छादन कालानुक्रम उपागम के

1 Peltier, J C. 1950—The geographical cycle in periglacial regions An Assoc Am Geog. 40, pp. 213-236.

2. King, L C 1953—Canons of landscape evolution Bull Geol Soc Amer 64 pp.721-752.

बाद भू-आकारिकी के प्रांगण में जनित 'संकल्पनात्मक अन्तराल' (Conceptual vacuum) की पूर्ति के लिये, यद्यपि छिटपुट एवं वैयक्तिक स्तर पर ही, कुछ भू-आकृति विज्ञान वेत्ताओं, अभियन्ताओं, भू-विज्ञान वेत्ताओं तथा जलविज्ञान वेत्ताओं ने आवश्यकता से अधिक तत्परता दिखायी। परिणामस्वरूप विषय को अमूर्त रूप (Abstract form) प्रदान कर दिया, जिस कारण इस सांख्यकीय/गणितीय उपागम के न केवल आलोचक वरन् विरोधी भी उत्पन्न हो गये। होवार्ड (1971) ने इन तकनीकों के अमूर्त प्रयोग के विरोध में लोगों को आगाह करते हुए बताया है—"कम्प्यूटर साइमुलेशन के आधार पर जननिक प्रक्रमों का साधारणीकरण करना खतरनाक है— 'It is dangerous to generalize about genetic processes from computer simulations". कई भू-आकृति विज्ञानवेत्ताओं द्वारा यह महसूस किया जाता है कि परिमाणात्मक जलीय भू-आकारिकी की तकनीक प्रवाह-जाल (Drainage network) का खूबसूरत विवरण तो प्रस्तुत कर सकती है परन्तु उसकी व्याख्या (Explanation) नहीं कर सकती।

सिस्टम संकल्पना (System Concept)—**बर्टेलनफी** (Von Bertalanffy 1950) की 'जनरल सिस्टम थियरी' की संकल्पना का अनुकूलन (Adaptation) भू-आकृति विज्ञान में किया गया है। वस्तुओं के समुच्चय को 'सिस्टम' कहते हैं, जिसके अन्तर्गत एक वस्तु का दूसरे वस्तु से सम्बन्ध तथा (उनके) वस्तु से सम्बन्ध तथा उनके (वस्तुओं) वैयक्तिक गुणों का अध्ययन करते हैं।[1] स्थलाकृतिक सिस्टम स्थलरूपों का एक समाकलित सम्मिश्रण रूप (Integrated Complex) होता है जिसका कार्यान्वयन एक निश्चित प्रणाली के अन्तर्गत होता है। सिस्टम के सफल एवं सतत कार्यान्वयन के लिये ऊर्जा-निवेश (Energy input) यथा सूर्यातप उत्थान आदि तथा पदार्थ-निर्गम (Matter output) के बीच सामंजस्य का होना अत्यावश्यक है। सिस्टम की तात्कालिक अवस्था या दशा को **सिस्टम स्थिति या अवस्था** (System 'State') कहते हैं। 'सिस्टम दशा' के अन्तर्गत उसके संघटन (Composition), संगठन (Organization) तथा ऊर्जा एवं पदार्थ-प्रवाह को सम्मिलित करते हैं। इस तरह के सिस्टम का कार्यान्वयन समय के परिवेश में अचर या स्थायी (Steady) हो सकता है या परिवर्तनशील। सिस्टम के अन्तर्गत कई उप सिस्टम होते हैं। यदि पृथ्वी-सतह को सुपर सिस्टम मान लिया जाय तो उसके अन्तर्गत अनेकानेक उपसिस्टम होंगे। इस तरह स्थलाकृतिक सिस्टम समस्त स्थलरूप-समूहों से युक्त 'सुपर-सिस्टम' का एक भाग है तथा कई 'उपसिस्टम' से मिल कर बना माना जा सकता है। एक उपसिस्टम दूसरे उपसिस्टम से निवेश-निर्गम (Input-output) सहलग्नता (Linkage) से आबद्ध होते हैं। उदाहरण के लिये एक पहाड़ी की अनुदैर्ध्य परिच्छेदिका के उपसिस्टम में वर्षा के रूप में निवेश (Input) की ऊर्जा मिलती है तथा अपरदन द्वारा पदार्थ (Debris matter) जनित होता है। यह पदार्थ जो ढाल परिच्छेदिका का निर्गम (Output) है, ढाल की पदस्थली पर स्थित सरिता के लिए निवेश (Input) बनता है।

स्थलाकृतिक सिस्टम को संवृत (Closed, बन्द) तथा विवृत (Open खुला) सिस्टम में विभाजित किया जा सकता है। संवृत सिस्टम उसे कहते हैं जिसकी सीमा सुनिश्चित होती है तथा न तो पदार्थ, न ऊर्जा इसकी सीमा का अतिक्रमण कर सकती है। डेविस का 'भौगोलिक चक्र' संवृत सिस्टम का उदाहरण है। अपरदन के पहले उत्थान के कारण जनित अधिकतम ऊँचाई में प्राप्त स्थितिज ऊर्जा (potential energy) के साथ चक्र प्रारम्भ होता है। समय के साथ चक्र के अग्रसर होने पर (अनाच्छादन के कारण) ऊँचाई तथा ऊर्जा दोनों में ह्रास होता है। चक्र के अन्त में समप्राय मैदान के निर्माण के समय ऊर्जा न्यूनतम हो जाती है। जैसे-जैसे निम्नवर्ती अपरदन (Down wearing) द्वारा उच्चावच्च घटता जाता है, ऊर्जा भी घटती जाती है। चक्र की अन्तिम अवस्था में उच्चावच्च न्यूनतम रह जाता है, अतः ऊर्जा भी न्यूनतम हो जाती है। यह सम्भाव्य है कि चक्र के बीच में नवोन्मेष द्वारा (या तो स्थलखण्ड के उत्थान द्वारा या सागर-तल में ऋणात्मक परिवर्तन होने से) ऊर्जा में अल्पकालिक वृद्धि हो सकती है। केवल चक्र के अन्त में ही साम्यावस्था की वास्तविक स्थिति आ पाती है। इस तरह संवृत सिस्टम स्थलरूपों के अध्ययन के ऐतिहासिक उपागम का परिचायक है। विवृत सिस्टम में ऊर्जा का सतत

---

1. 'A system may be defined as a set of objects that are considered together by studying their relationship to each other and their individual attributes' —C. A. M. King, 1966, Techniques in Geomorphology, Edward Arnold (Publishers) Ltd., London.

नवीनीकरण तथा पदार्थ का निष्कासन होता रहता है जिस कारण सिस्टम का कार्यान्वियन इस तरह होता रहता है कि स्थायी अवस्था (Steady state) प्राप्त हो जाती है। प्रवाह-बेसिन विवृत सिस्टम का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करती है जिसमे वर्षा के रूप मे ऊर्जा प्राप्त होती है तथा अतिरिक्त जल एवं पदार्थ का निष्कासन उसके (नदी) मुहाने से होता रहता है।

सिस्टम का आन्तरिक सगठन पुन **निविष्टता** (Feedback) द्वारा नियन्त्रित होता है। सरिता-सिस्टम के कार्यान्वयन मे नदी-विमर्जन (Stream discharge) तथा अवसाद की विशेषतायें बाह्य नियन्त्रक विचर (Variables) होती है। जब बाह्य नियन्त्रक विचर द्वारा निवेश (Input) मे परिवर्तन द्वारा सिस्टम मे उसी दिशा मे परिवर्तन होता है जिस रूप मे निवेश मे होता है तो इसे **'धनात्मक पुन निविष्टता'** (Positive feedback) कहते है। इस प्रणाली के अन्तर्गत सिस्टम मे क्रमिक परिवर्तन होता है जिस कारण **समय-निर्भर** (Time bound) अवस्था का सूत्रपात होता है। जब सिस्टम-निवेश मे परिवर्तन दूसरे सिस्टम-उपागो (Components) मे परिवर्तन प्रस्तुत करता है जो कि परिवर्तित निवेश के प्रभाव को नियन्त्रित करके **समय स्वतन्त्र** (Timeless or Time independent) साम्यावस्था या स्थायी अवस्था का सूत्रपात करता है तो उसे **ऋणात्मक पुनः निविष्टता** (Negative feedback) कहते है। इस तरह स्पष्ट है कि ऋणात्मक पुन निवेष्टिता वाला विवृत सिस्टम अपने आप मे स्वय नियन्त्रित होता रहता है।

पृथ्वी का समस्त भूपृष्ठीय भाग एक विवृत सिस्टम का प्रारूप है जिसमे पदार्थ की आपूर्ति पटलविरूपण (Diastraphism) या ज्वालामुखी क्रिया उल्कापात आदि से होती है। ऊर्जा, सौर्यिक विकिरण, गुरुत्वाकर्षण, पृथ्वी के घूर्णात्मक जडत्व (Rotational inertia), आन्तरिक उष्मा, जलवृष्टि आदि से प्राप्त होती है। विवृत्त सिस्टम के कार्यान्वयन के समय, जबकि अनाच्छादनात्मक प्रक्रम चट्टानो का अपरदन करते है तथा प्राप्त पदार्थों को कही अन्यत्र निक्षेपित करते है, **स्थिर अवस्था** (Steady state) बनी रहती है, परिणामस्वरूप स्थलरूपो मे परिवर्तन नही होता है यद्यपि भूभाग मे अपरदन द्वारा अन्तर आता जाता है तथा ऊर्जा भी खर्च होती है। वास्तव मे भू-आकारिकी मे स्थलरूपो के जननिक पहलू के सामने अब दो समस्यायें आ गयी है—(i) क्या स्थलरूपो मे समय के साथ क्रमिक परिवर्तन होता है ? या (ii) स्थलरूप समय स्वतन्त्र होते है। उनमे स्थिर-अवस्था (Steady state) के कारण परिवर्तन नही होता है या होता है तो क्या मन्द गति से होता है ? वास्तव मे अभी तक दूसरी विचारधारा के समर्थक अपने विचारो की पुष्टि के लिये समुचित तर्क तथा प्रमाण नहीं जुटा पाये हैं। हो सकता है, वर्तमान दशक मे इन समस्याओ का समाधान हो जाये।

स्थाकृतिक मॉडल—पिछले तीन दशको से स्थाकृतिक समस्याओ के अध्ययन तथा समाधान के लिये मॉडल का प्रयोग किया जा रहा है। भू-आकारिकी के क्रमबद्ध विचारो का तीन परस्पर आबद्ध प्रारूपो में अध्ययन किया जा सकता है—(i) प्राकृतिक अनुरूप सिस्टम (Natural analogue system), (ii) भौतिक सिस्टम तथा (iii) सामान्य (General) सिस्टम।

(i) प्राकृतिक अनुरूप सिस्टम के अन्तर्गत हम भू-आकारिकी की किसी भी घटना को निरूपण उसके समान या अनुरूप किसी ऐसे प्राकृतिक सिस्टम के सन्दर्भ मे करते है जो साधारण तथा अधिक चिरपरिचित हो। इसे दो वर्गों मे विभाजित किया जाता है—(1) ऐतिहासिक प्राकृतिक अनुरूप सिस्टम तथा (2) स्थानिक प्राकृतिक अनुरूप सिस्टम। प्रथम प्रकार के अन्तर्गत यह अवधारणा बनायी जाती है कि स्थाकृतिक घटना का समय-नियन्त्रण अनुक्रम (Time controlled sequence) मे अपना निश्चित स्थान होता है। यह अवधारणा इस सकल्पना पर आधारित है कि जो घटनायें अतीत मे घटित हुई है वे फिर घटित होगी या पिछली घटनाओ का वर्तमान प्रारूप से सम्बन्ध अवश्य है। हटन की "वर्तमान भूत की कुञ्जी है" की सकल्पना (वर्तमान के आधार पर अतीत को सँजोया जा सकता है अर्थात् वर्तमान प्रक्रमो तथा स्थलाकृतियो के आधार पर विगत स्थलरूपो को भलीभाँति समझा जा सकता है) इस तरह के प्राकृतिक अनुरूप माडल का उदाहरण है।

स्थानिक अनुरूप माडल का निर्माण एक क्षेत्र की दूसरे क्षेत्र की तुलना के आधार पर इस अवधारणा के साथ किया जाता है कि जिस मौलिक वस्तु का स्थान विशेष पर विश्लेषण किया जाना है उसके अनुरूप दूसरे क्षेत्र की वस्तु के विषय मे अधिक तथा विश्वस्त जानकारी प्राप्त है। **जानसन** का तट तथा किनारे का वर्गीकरण, **फेनमन** का भौतिक प्रदेशो की सकल्पना, स्थलाकृतिक प्रकार, आकारजनक प्रदेश आदि इस तरह के मॉडल के उदाहरण हैं।

(ii) **भौतिक सिस्टम**—इस उपागम के अन्तर्गत समस्त भाग को कई उपागों में विभक्त करके प्रत्येक उपाग के कार्यान्वियन तथा पारस्परिक क्रिया (Interaction) का अलग-अलग अध्ययन करके सभी उपागों को संश्लिष्ट (Synthesise) करके समस्त भाग का अध्ययन किया जाता है। यह वैज्ञानिक पद्धति परिमाणात्मक समको (Quantitative data) पर आधारित है। इसके अन्तर्गत 3 मॉडल आते हैं—(1) हार्डवेयर मॉडल, (2) गणितीय मॉडल, तथा (3) प्रायोगिक डिजाइन मॉडल।

भू आकारिकी मे हार्डवेयर मॉडल का प्रयोग अत्यधिक सीमित रहा है क्योंकि धरातल पर स्थलाकृतियों मे विविधता तथा जटिलतायें इतनी अधिक हैं कि प्रयोगशालाओं में इन जटिलताओं का समुच्चय (Simulation of natural complex) कठिन कार्य है। **बंगलाल्ड का सिकता संचलन** (Sand movement) पर **पवन-सुरग-पर्यवेक्षण** (Wind tunnel observation) का मॉडल तथा शूम (Schumm) का **पर्य अम्वाय उत्खात स्थलाकृति** (Badland topography) के अपरदनात्मक आकार (Forms) तथा रूपान्तरण (Transformation) सम्बन्धी मॉडल इस तरह के हार्डवेयर मॉडल के कतिपय उदाहरण है।

गणितीय मॉडल समीकरणों का एक अमूर्त रूप (Abstract form) होता है जिसमे वस्तुओं, बलों (Forces), घटनाओं आदि के स्थान पर गणितीय विचर (Variables), प्राचल (Parameters) तथा स्थिरांको (Constants) का प्रयोग किया जाता है। गणितीय मॉडल दो तरह के होते है—(i) डिटरमिनिस्टिक (निश्चयवादी) तथा (ii) स्टोकैस्टिक (यादृच्छिक) मॉडल। निश्चयवादी मॉडल स्वतन्त्र तथा परतन्त्र विचर (Independent and dependent variables) के ठीक पूर्वकथनीय (Exact predictable) सम्बन्धो के गणितीय अवधारणा के आधार पर तैयार किया जाता है। डिटरमिनिस्टिक मॉडल का भू-आकारिकी मे सर्वाधिक प्रयोग ढाल-परिच्छेदिकाओं के रूपान्तरण (Transformation) के सम्बन्ध मे किया गया है। यद्यपि निश्चयवादी मॉडल मे जटिल प्राकृतिक परिस्थिति मे प्राय सभी विचर को सम्मिलित कर लिया जाता है तथापि प्राकृतिक प्रक्रमों के कुछ ऐसे अनियमित अपूर्वकथनीय (Random unpredictable) प्रभाव होते है जो सामान्य निश्चयवादी सम्बन्धों को निरोहित कर देते है। इस कमी को दूर करने के लिए स्टोकैस्टिक मॉडल की रचना की जाती है जिसमे गणितीय विचर, प्राचल (Parameters) तथा स्थिरांकों के अलावा प्राकृतिक प्रक्रमों के एक या अधिक अनियमित यादृच्छिक उपागों को सम्मिलित कर लिया जाता है। **मार्कोवतुल्य मॉडल** तथा **माण्टे कार्लो मॉडल** इसके प्रमुख उदाहरण हैं।

प्रयोगात्मक/परीक्षणात्मक डिजाइन मॉडल की रचना इस अवधारणा के आधार पर की जाती है कि किसी निश्चित पर्यवेक्षणात्मक (Observational) समको (Data) के परिसर मे कुछ ऐसे युक्तियुक्त/अर्थयुक्त उपाग होते हैं जिनका समुचित प्रयोगात्मक/परीक्षणात्मक डिजाइन के आधार पर अभिनिर्धारण (Identification) किया जा सकता है। इस तरह के परीक्षणात्मक डिजाइन की रचना विगत अनुभव तथा पर्यवेक्षण, युक्तियुक्त अनुमान, अन्तर्बोध के आधार पर समाकलित समको तथा उनके विश्लेषण के आधार पर की जाती है। इस तरह के मॉडल में सांख्यिकीय प्रतीपगमन (Regression) का अधिकाधिक प्रयोग किया जाता है। उदाहरण के लिए जलमार्ग ढाल एवं घाटी पार्श्व-ढाल के बीच रेखीय सम्बन्धों के आधार पर 'Power Function Model,' सरिता श्रेणी (Stream Order) तथा सरितासंख्या, सरिताश्रेणी तथा सरिताखण्ड की औसत मध्यी लम्बाई, सरिता-श्रेणी तथा औसत-प्रवाह-बेसिन क्षेत्र से सम्बन्धित 'Exponential Function Model' आदि को प्रस्तुत किया जा सकता है।

(ii) **अनरल सिस्टम**—अनरल सिस्टम के विषय मे पहले बताया जा चुका है। इसे तीन वर्गों मे विभाजित किया जाता है—(1) संश्लिष्ट (कृत्रिम) सिस्टम (Synthetic System), (2) आंशिक सिस्टम (Partial System) तथा (3) ब्लैकबाक्स सिस्टम।

मॉडल-रचना के प्रारम्भिक चरण मे संश्लिष्ट सिस्टम, प्रायोगिक डिजाइन मॉडल के प्राय समरूप होता है परन्तु प्राकृतिक घटनाओं की सरचना, विश्लेषण एवं निष्कर्ष के आधार पर प्रक्रम-अनुक्रिया (Process Response) मॉडल की रचना की जाती है। इस मॉडल की रचना किसी प्राकृतिक पुंज (Geomorphic complex) के प्रमुख सरचनात्मक तत्त्व की पहचान के साथ प्रारम्भ होती है। तदन्तर इन तत्त्वों मे सम्भाव्य सम्बन्ध परिवर्तनशील आबद्ध विचर (Variables), प्रभाव से अनुमानित कारण मे पुन निवेश्ठिता (Feed back), विचरों की आपसी आबद्धता की शक्ति आदि के विश्लेषण

के आधार पर मॉडल निर्मित किया जाता है। अर्थात् मॉडल-निर्माण के समय यह देखा जाता है कि जिस भ्वाकृतिक पहलू पर माडल बनाना है उस पहलू के विभिन्न तत्वों मे कितने सम्भावी सम्बन्ध हो सकते है, इन विचरों, जो बदलते रहते हैं, ये कितने एक दूसरे से आबद्ध हैं, प्रक्रमों के जो प्रभाव होते है उनके अनुमानित कारणो मे किस तरह का सम्बन्ध है तथा इन प्रभावो का अनुमानित कारणो में पुन निवेष्ठिता और विभिन्न तत्वों में जो संयोजन है है उसकी शक्ति कितनी और कैसी है। इस हेतु किसी परिवर्तन शील सिस्टम के विभिन्न विचरों (Variables) के बीच सह सम्बन्ध के लिए प्रतीपगमन समीकरण (Regression Equation) का सहारा लिया जाता है। प्रक्रम-अनुक्रिया (Process-Response) मॉडल, इसका प्रमुख उदाहरण है।

आंशिक सिस्टम मॉडल का निर्माण उपसिस्टम के समुच्चयों (Sets) के बीच व्यवहार्य सम्बन्धो (Workable relationships) के आधार पर किया जाता है। स्मरणीय है कि इन उपसिस्टमों के आन्तरिक कार्यान्वियन की विशद जानकारी आवश्यक नहीं होती है परन्तु इन उपसिस्टमो के बीच अन्तर्सम्बन्धों की सूचना आवश्यक होती है ताकि विभिन्न निवेश-दशाओं (Input Conditions) मे समग्र सिस्टम के व्यवहार की भविष्यवाणी की जा सके। सिस्टम के अन्तर्गत निवेश तथा निर्गम (Input and Output) के बीच गणितीय सम्बन्ध स्थापित किये जाते हैं। इससे प्रत्येक सिस्टम के व्यवहार प्रारूप द्वारा भावीकथन किया जा सकता है तथा दूसरे समरूप सिस्टमों या उसी सिस्टम के विभिन्न समयों मे व्यवहार-प्रारूप को समझा जा सकता है। Amorocho तथा Hart का एक प्रवाह-बेसिन म विभिन्न तूफानों (Storms) के समय वाही-जल प्रारूप (Runoff pattern) की भविष्यवाणी का मॉडल आंशिक सिस्टम मॉडल का एक उदाहरण है।

ब्लैक बाक्स सिस्टम के अन्तर्गत सिस्टम के उपांगों (Components) की जानकारी आवश्यक नहीं होती है। विभिन्न निवेशों (Inputs) द्वारा जनित निर्गम (Output) के स्वभाव पर सर्वाधिक ध्यान दिया जाता है। इस तरह यह सिस्टम मॉडल-निर्माता के अन्तर्बोध (Intuition) पर आधारित होता है। मॉडल की रचना स्थलरूप-समुदायो की प्रमुख विशेषताओं पर की जाती है। इन स्थलरूपों के जनक प्रक्रमों के स्वभाव, कार्य प्रणाली तथा कार्यान्वियन की दर मात्र अनुमानों पर आधारित होते है। गिलबर्ट का 'गतिक सतुलन मॉडल' 'जलवायु भू-आकारकी का मॉडल,' डेविस का भौगोलिक चक्र मॉडल, आदि इसके प्रमुख उदाहरण हैं। ये मॉडल निश्चय ही यह भ्रामक अवधारणा प्रस्तुत करते हैं कि इनकी रचना भ्वाकृतिक प्रक्रमो की विशद जानकारी के आधार पर की गई है जबकि स्थलरूप समुदायो के प्रमुख व्यवहार-प्रारूप (Behavioural Patterns) भी मात्र अनुमान तथा अन्तर्बोध पर आधारित होते है। गिलबर्ट की स्थलरूपो की व्याख्या 'ऋणात्मक पुन निवेष्टिता ब्लैक बाक्स मॉडल' का ज्वलत उदाहरण है जिसके अन्तर्गत उन्होने आकार (Form) से प्रक्रम तथा आकार का आकार के साथ समायोजन (Adjustment) प्रस्तुत किया है। गिलबर्ट के स्थलरूपों के अध्ययन के इस 'विवृत सिस्टम उपागम' (Open System Approach) ने गतिक भू-आकारिकी मे शोध के लिये लोगो को अधिकाधिक प्रेरणा दी है। इसके विपरीत डेविस का 'भौगोलिक चक्र मॉडल' 'समय-आधारित (Time Bound) ब्लैक बाक्स मॉडल,' धनात्मक पुन निवेष्टिता मॉडल' का उदाहरण है, जिसके अन्तर्गत समय के साथ निवेश में परिवर्तन द्वारा स्थलरूपों में क्रमिक परिवर्तन की कल्पना की गयी है।

इस तरह गिलबर्ट के विचारों पर आधारित 'ऋणात्मक पुन निवेष्टिता ब्लैक बाक्स मॉडल' तथा डेविस द्वारा अंगीकृत 'धनात्मक पुन निवेष्टिता ब्लैक बाक्स मॉडल का प्रयोग समानान्तर रूप से कुछ दिनों तक चलता रहा परन्तु वर्तमान समय मे स्थलरूपो के अध्ययन के इन दोनो उपागमो की खुलकर आलोचना प्रारम्भ हो गयी है। शोर्ले (1966), होम्स (1964), हावार्ड (1965) आदि ने दोनो उपागमों के बीच का रास्ता अपनाया है तथा भू-आकारकी के नये मॉडल की रचना का सुझाव दिया है जिसके अन्तर्गत इन उपागमो (समय-आधारित तथा समय-स्वतन्त्र मॉडल) के प्रमुख उभय तत्वों को सम्मिलित करने का सुझाव दिया है। शूम तथा लिटी Lichty) ने इस विचारधारा को आगे बढाते हुए बताया है कि स्थलरूपो का प्रभावित करने वाले कार्य-कारण का सम्बन्ध समय पर अवश्य आधारित होता है। इनके अनुसार चक्र के कार्यान्वियन के दीर्घ समय के दौरान स्थलरूप समुदाय के आकारों या व्यक्तिगत आकारमितिक रूपो मे, अपरदन द्वारा स्थैतिज ऊर्जा (Potential Energy) के ह्रास के साथ, सतत परिवर्तन होता जाता है तथा अधिकाश स्वतत्र तथा

परतत्र विचरों (Independent and Dependent Variables) में कोई भी समय-आधारित सम्बन्ध नहीं होता है यद्यपि लघु समय के लिए आकार एवं प्रक्रम के बीच साम्यावस्था की स्थिति आ सकती है जबकि सिस्टम समय-स्वतंत्र हो जाता है तथा 'ऋणात्मक पुन निवेष्टिता प्रक्रिया' प्रारम्भ हो जाती है।

भू-आकृति विज्ञान में भारतीय योगदान

भारत में भू-आकारिकी का अध्ययन विदेशों की तुलना में बहुत बाद में प्रारम्भ हुआ जिसका प्रमुख कारण भारतीय विश्वविद्यालयों में स्नातकोत्तर स्तर पर भूगोल के अध्ययन-अध्यापन का विलम्ब से प्रारम्भ होना है। सर्वप्रथम अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में भूगोल का स्नातकोत्तर स्तर पर अध्यापन 1931 में प्रारम्भ हुआ। तदन्तर कलकत्ता विश्वविद्यालय में 1941 में, इलाहाबाद विश्वविद्यालय तथा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, में एक साथ 1946 में भूगोल का अध्यापन स्नातकोत्तर स्तर पर प्रारम्भ हुआ। स्पष्ट है कि जब तक भारतीय विश्वविद्यालयों में भूगोल विषय का प्रादुर्भाव हुआ तब तक विदेशों में भू-आकारिकी में शोध बहुत आगे बढ़ गया था। परिणामस्वरूप स्वदेश में इस विषय का पिछड़ जाना आश्चर्यजनक नहीं है।

प्रारम्भ में भू-आकारिकी का छिट-पुट रूप में सम्वर्द्धन प्रशासकों, अन्वेषण कर्ताओं (जिनमें स्वामी प्रणवानन्द प्रमुख है) तथा भू-विज्ञानवेत्ताओं द्वारा किया गया। विदेशों के समान भारत में भू-आकारिकी को एक प्रमुख स्थान देने का श्रेय भू-विज्ञानवेत्ताओं को ही है जिनमें हेरन, वाडिया, डन वेस्ट, यस० सी० चटर्जी, आदेन, आरोग्यस्वामी राधाकृष्ण आदि का योगदान सराहनीय है। विषय को प्रारम्भिक चरण में अग्रसर करने का श्रेय छिब्बर, यस० पी० चटर्जी, यस० सी० बोस, आर० पी० सिंह, इनायत अहमद, के० बागची आदि भूगोलवेत्ताओं को जाता है। इन विद्वानों के कार्य डेविस की 'अनाच्छादन कालानुक्रम उपागम' की सकल्पना पर आधारित थे तथा ये लोग भू-विज्ञान के विवरणों से अधिक प्रेरणा लेते रहे।

1950 में इस विषय के स्वरूप में निखार आना प्रारम्भ हुआ तथा भू-आकारिकी की विभिन्न शाखाओं जैसे प्रादेशिक भू-आकारिकी तटीय भू-आकारिकी, सरचनात्मक भू-आकारिकी, जलवायु भू-आकारिकी, जलीय भू आकारिकी व्यावहारिक भू-आकारिकी आदि में व्यापक स्तर पर तो नहीं परन्तु छिट-पुट रूप में कार्य अवश्य प्रारम्भ हो गया। आर० पी० सिंह ने 1956 में सम्भवत सर्वप्रथम छोटा नागपुर उच्च प्रदेशों के 'स्वाकृतिक विकास' विषय पर पी० यच० डी० थीसिस प्रस्तुत करके भारत में स्वाकृतिक शोध-कार्य का मार्ग प्रशस्त किया। इन्होंने प्रायद्वीपीय भारत तथा छोटा नागपुर प्रदेश की स्वाकृतिक समस्याओं पर दर्जन से अधिक शोध पत्र प्रकाशित करके भू-आकारिकी को भूगोल की अन्य शाखाओं के समकक्ष लाने का सराहनीय भगीरथ प्रयास किया है।

सर्वाधिक शोध-कार्य प्रायद्वीप भारत के विभिन्न भौतिक प्रदेशों तथा छोटा नागपुर प्रदेश के प्रादेशिक स्वाकृतिक विश्लेषण से ही सम्बन्धित रहा है। इनमें यस० पी० चटर्जी (1940, राँची पठार की नीस स्थलाकृति), यन० के० बोस (1940, राँची पठार की स्थलाकृति पर एक टिप्पणी), यस० सी० चटर्जी (1945, राँची पठार की भू-आकारिकी के कुछ पहलू, 1946, छोटानागपुर का भौतिक विकास, 1966, दकन ट्रैप), छिब्बर (1953), ए० के० सेन गुप्ता (1957, पश्चिमी राँची पठार के पाट प्रदेश की भू-आकारिकी), इनायत अहमद (1958, छोटा नागपुर का स्वाकृतिक स्वरूप), यस० सी० बोस० (1962, पिण्डारी हिमनद के स्वाकृतिक आकार, 1967, पश्चिमी हिमालय के हिमानीकृत प्रदेश की भू-आकारिकी), डब्ल्यू० डी० वेस्ट तथा बी० डी० चौबे (1964, सागर एवं कटगी के समीपी क्षेत्र की भू-आकारिकी), आर० यन भट्टाचार्या (1964, बाम्पावेसिन पर स्वाकृतिक टिप्पणी), आर० वैद्यनाथन (1964, वेतरनी प्रदेश के अर्द्ध शुष्क क्षेत्र के भू-आकार), बी० के० पाण्डेय तथा आई० सी० पाण्डेय (1964, अलमोड़ा जनपद के चौखुटिया क्षेत्र की भू-आकारिकी के कुछ पहलू), बी० घोष तथा यस० पाण्डेय (1965, अहोर ब्लाक की भू-आकारिकी), बी० वेकटेश (1965, महाराष्ट्र के लोनार क्रेटर की उत्पत्ति के भू-रासायनिक प्रमाण), यस० सिंह, यस० पाण्डेय तथा बी० घोष (1966, बारमेर जनपद के सिवाना ब्लाक की भू-आकारिकी), बी० डी० चौबे (1967, सागर, दमोह, जबलपुर तथा नरसिंहपुर जनपद में अपरदन-सतह का अध्ययन), जी० बी० राव (1967, सोन घाटी क्षेत्र का भू-विज्ञान तथा भू-आकारिकी) आदि के योगदान सराहनीय है।

1968 में भारत में आयोजित *'अन्तर्राष्ट्रीय भौगोलिक कांग्रेस' के अधिवेशन से भारतीय भू-आकृतिविज्ञान'*

वेत्ताओं में भ्वाकृतिक अध्ययन के प्रति दिलचस्पी जागरूक हुई। परिणामस्वरूप भारतीय भू-आकारिकी के प्रागण में एक नयी लहर आ गयी, जिस कारण विषय का अध्ययन नये जोश-खरोश के साथ प्रारम्भ हुआ। वास्तव में इस वर्ष को भारतीय भू-आकारिकी में नवोन्मेष का युग कहा जा सकता है। 1968 में प्रस्तुत तथा प्रकाशित शोध पत्रों में बी० सी० आचार्य (महानदी तथा उसकी बाढ़), जी० के० दत्त (निचली सोन घाटी के स्थलरूपों की उत्पत्ति तथा विकास) यस० के० मुखोपाध्याय (कश्मीर की निचली सिन्धु घाटी में जलीय तथा हिमानी स्थलरूप) डी० गुजा (गोवा में प्रवाह प्रणाली का विकास), आर० यन० माथुर (मेरठ जनपद का जियोमार्फोलाजी), यच० यस० शर्मा (निचली चम्बल घाटी के बीहड़ों की उत्पत्ति), ए० के० सेन गुप्ता (मध्य राँची पठार में अनाच्छादन), डी० नियोगी यस० के० सरकार तथा यस० मलिक (पश्चिमी बंगाल के मैदान में भ्वाकृतिक मानचित्रण), सुब्बा राव (गिरनार पहाड़ी के भौतिक रूप), यस० बी० कयरकर तथा यस० के० वधावन (धरातल का भ्वाकृतिक वर्गीकरण) डी० नियोगी (सुवर्णरेखा नदी की वेदिकाओं की भू आकारिकी), यस० सी० बोस (हिमालय में डोलकृत बेसिन), यस० सेन०, (विसर्पित नदी के बाह्य तट के ढाल की तीव्रता), यस० वी० राव (दक्कन ट्रैप के स्थलरूप), यस० सी० बोस (हिमालय में हिमनदी में अभिनव निवर्तन), यस० पाण्डेय तथा यस० सिंह (पश्चिमी राजस्थान के पाली जनपद के सुमेर ब्लाक की भू-आकारिकी), आर० यस० दुबे (रीवा पठार की अपरदन सतह) आदि के कार्य महत्त्वपूर्ण हैं।

इनके अलावा यस० सी० मुखोपाध्याय (1968, स्वर्णरेखा घाटी में अपरदन सतह, 1966, स्वर्णरेखा बेसिन के एक भाग की भू-आकारिकी के कुछ पहलू), इनायत अहमद (1969, राँची में गजरूपा), यस० सी० चक्रवर्ती (1970, पश्चिमी बंगाल की भू-आकारिकी के विकास के कुछ कथन) स्वामी प्रणवानन्द (1970, मानसरोवर तथा कैलाश से चार नदियों के उद्गम), जे० पी० सिंह (1970 मेघालय का भ्वाकृतिक विकास), मनपली (1970 सिंहभूमि की भू-आकारिकी के प्रमुख रूप) के० आर० दीक्षित (1970 दक्कन ट्रैप प्रदेश की अपरदन-सतह तथा बहुचक्रीय स्थलाकृति), यस० सी० बोस (1972, दक्कन पठार के पश्चिमी तथा पूर्वी तट का अनाच्छादन कालानुक्रम), के० आर० दीक्षित, यस० यन० राजगुरु, यन० यस० गुप्त तथा ज० पी० जोग (1972, दक्षिणी कोनकन में कुछ भ्वाकृतिक पर्यवेक्षण), यस० सी० मुखोपाध्याय (1973, स्वर्णरेखा बेसिन की नदी-वेदिकायें), आर० भट्टाचार्या तथा पी० दास (1973, कालीघई नदी-बेसिन का भ्वाकृतिक विवरण), मुखोपाध्याय (1973, स्वर्णरेखा बेसिन की भू-आकारिकी, निचली खरकाई बेसिन के एक भाग की भू-आकारिकी), ए० प्रसाद (1973, बराकर बेसिन के भ्वाकृतिक उपप्रदेश), अनिल कुमार (1974, द० प० राँची पठार के स्थलरूपों का आकृतिक विभाजन), यन० पी० सिंह (1975, बिहार के पश्चिमी उच्च पठार की भू-आकारिकी—पी-यच० डी० थीसिस), जी० एन० सिंह (1977 राजमहल उच्च प्रदेश की भू-आकारिकी), सविन्द्र सिंह तथा रेनु श्रीवास्तव (1976, बलन बेसिन का अनाच्छादन कालानुक्रम तथा अपरदन-सतह), सविन्द्र सिंह (1977 राँची पठार के टार तथा स्पर की उत्पत्ति), सविन्द्र सिंह (1978, राँची पठार के भ्वाकृतिक प्रदेश, स्थलरूप तथा अपरदन-सतह) के कार्य प्रादेशिक भू-आकारिकी में प्रमुख हैं।

गणितीय तथा आकारमितिक विश्लेषण—भारतीय भू-आकारिकी में आकारमितिक तकनीक के *प्रयोग का* श्रेय आर० यल० सिंह (1967, स्थलाकृति का आकारमितिक विश्लेषण) को जाता है जिन्होंने भारतीय युवा भू-आकृति विज्ञानवेत्ताओं में उक्त तकनीक के प्रयोग की चेतना जागृत की तथा 'नगरीय भूगोल' एवं 'अधिवास भूगोल' में दिलचस्पी के बावजूद काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में भू-आकारिकी के 'वाराणसी स्कूल' की स्थापना की। आर० यन० सिंह के परिनिरीक्षण में कैलाशनाथ सिंह (1967), वी० के० अस्थाना (1968) यस० सी० खर्कवाल (1969), मीरा अग्रवाल (1970) ओ० पी० सिंह तथा मन-बहादुर सिंह (1977) ने 'अधिवास तथा भू-आकारिकी' (विभिन्न प्रदेश) पर पी-यच० डी० उपाधि हासिल की।

आकारमितिक तकनीकों का प्रयोग प्रवाह-बेसिन के विभिन्न पहलुओं के विश्लेषण तथा स्थलकृति के विश्लेषण (अपरदन-सतह का निर्धारण ढाल-विश्लेषण, स्थलाकृतिक प्रारूप आकार-प्रदेश नदी-वेदिका आदि) के लिये व्यापक स्तर पर किया जा रहा है। आकारमिति पर आधारित भ्वाकृतिक शोध की व्यापकता, गहनता तथा सक्रियता के आधार पर इलाहाबाद विश्वविद्यालय के भूगोल विभाग (इलाहाबाद स्कूल), 'एरिड रिसर्च

इन्स्टीच्यूट', जोधपुर को विशिष्टता क्रम मे रखा जा सकता है। भागलपुर विश्वविद्यालय मे अनिलकुमार का प्रयास भी इस दिशा मे अग्रसर हो रहा है। प्रवाह-बेसिन के समस्त उपागो तथा पहलुओ (रेखीय पहलू, क्षेत्रीय पहलू एव उच्चावच्च पहलू) के विशद अध्ययन के दृष्टिकोण से इलाहाबाद विश्वविद्यालय के भूगोल विभाग का कार्य सराहनीय कहा जा सकता है। रेनु श्रीवास्तव ने सम्भावत सर्वप्रथम एक प्रवाह-बेसिन पर शोध प्रबन्ध (1976, बेलन नदी की प्रवाह-बेसिन की विशेषतायें) प्रस्तुत किया। छोटानागपुर के विभिन्न प्रदेशो की प्रवाह-बेसिनो के आकारमितिक अध्ययन का कार्य चल रहा है (सविन्द्र सिंह 1978 राँची पठार की लघु प्रवाह-बेसिनो का स्वाकृतिक अध्ययन (डी० फिल्० उपाधि के लिये स्वीकृत शोध प्रबन्ध, शिवसागर ओझा, 1981, पालामऊ उच्च प्रदेश की लघु प्रवाह-बेसिन का स्वाकृतिक अध्ययन, देवीप्रसाद उपाध्याय, 1981, द० पू० छोटा नागपुर प्रदेश की लघु प्रवाह-बेसिन का आकारमितीय अध्ययन, डी० फिल्० उपाधि के लिये स्वीकृत शोध प्रबन्ध आदि) तथा तत्सम्बन्धी दर्जनो शोध पत्र प्रकाशित हो चुके है।

सैद्धान्तिक तथा सकल्पनात्मक पहलू पर कतिपय प्रयास किये गये है। (*यस० के० पाल, 1972, विश्लेषण* के आकारमितिक विधि का वर्गीकरण, सविन्द्र सिंह, 1972, उच्चतामितिक विश्लेषण स्थलरूप-अध्ययन की एक आकारमितिक तकनीक, 1974, अपरदन चक्र इसे बदलते सन्दर्भ 1974, अपरदन-चक्र तथा गतिक सन्तुलन सिद्धान्त एक सकल्पनात्मक विश्लेषण, 1975 स्थलरूपो के अध्ययन की विधियाँ तथा उपागम, सविन्द्र सिंह तथा रेनु श्रीवास्तव, 1975, अपरदन-चक्र की *अवस्थाओ के आकारमितिक निर्धारक, सविन्द्र सिंह,* 1978, प्रवाह-गठन के परिकलन के परिमाणात्मक प्राचल—देखिये अध्याय पाँच मे शीर्षक 'प्रवाह-गठन', ओ० पी० सिंह 1976, आकार-इकाई के वर्गीकरण का पारिमाणात्मक उपागम आदि)।

भारतीय युवा भू-आकृति विज्ञानवेत्ताओं का सर्वाधिक योगदान प्रवाह-बेसिन के विभिन्न उपागो के आकारमितिक अध्ययन के क्षेत्र मे है। आकारमितिक विचरो (*Morphometric variables*) के विश्लेषण मे साख्यकीय के विभिन्न साधनो तथा केन्द्रीय प्रवृत्ति (माध्य, *मध्यका, भूयिष्ठक*), *अपकिरण तथा विषमता* (**Dispersion and skewnees**), परिघात एवं पृथु-शीर्षत्व (**Moments and kurtosis**), सहसम्बन्ध (**Correlation**), प्रतीपगमन (**Regresion**), सम्भावना सिद्धान्त (**Probability**), प्रसरण (**Variance**), प्रतिचयन (**Sampling**) आदि का प्रयोग किया गया है। इस क्षेत्र मे ए० बी० मुकर्जी (1963), आर० एल० सिंह (*1967*), बी० घोष, यस० सिंह, यस० पाण्डेय तथा जी० लाल (*1967*), यस० के० पाल (*1968*), डी० के० सिंह तथा यच० यन० शर्मा (1968), यस० सिंह तथा बी० घोष (1969), यम० सिंह, बी० घोष तथा डी० यस० कैथ (19 9), आर० पी० सिंह तथा ए० कुमार (1969), यस० सी० खर्कवाल (1970), यल० *सिंह (1970), ए० के०* घोष तथा ए० ई० सौडगर (1970), यस० सिंह तथा बी० घोष (1973), ए० कुमार (1973), यस० के० पाल (1973), जी० यस० सिंधु तथा आई० सी० पाण्डेय (1974), बी० घोष, यस० सिंह तथा डी० यस० कैथ (1974), सविन्द्र *सिंह तथा रेनु श्रीवास्तव (1974)*, ए० कुमार (*1975*), जी० पधजा (1975), यस० सिंह (1976), के० आर० दीक्षित (1976), रेनु श्रीवास्तव (1976), सविन्द्र सिंह तथा रेनु श्रीवास्तव (*1976*), यस० सिंह, बी० यस० गुप्त तथा डी० यस० कैथ (1976), सविन्द्र सिंह (1976), सविन्द्र सिंह तथा रेनु श्रीवास्तव (1977), सविन्द्र सिंह (1978 A, B and C), आर० कुमार तथा बी० के० वर्मा (1978), यन० बेदी (*1978*), *यस० के० सुब्रमण्यम तथा बी० सुब्रमण्यम* (1978), रेनु श्रीवास्तव (1978), के० नागेश्वरा राव तथा आर० वैद्यनाथन (1978), जी० पधजा राव तथा यच० *यम० शर्मा (1978)*, यस० यन० पाण्डेय (1978), आर० यन० मशे तथा डी० बी० पेशवा (1978), यम० आर० शाह (1978), सविन्द्र सिंह (1979) आदि के कार्य उल्लेखनीय है।

इसके अलावा प्रवाह-बेसिन की भू-आकारिकी के विश्लेषण मे यम० सिंह, बी० घोष तथा डी० यस० कैथ (1969-71), यस० सिंह तथा बी० घोष (*1969*), यम० सिंह तथा बी० घोष (1969) आदि ने 'एयर फोटोग्राफ' *का प्रयोग किया है। ढालों के अध्ययन मे* यस० सी० खर्कवाल (1971), ए० कुमार (1976),

1 इन विद्वानो के शोध-विषय के लिए देखिये पुस्तक के अन्त मे सन्दर्भ ग्रन्थ सूची।

सविन्द्र सिंह तथा रेनु श्रीवास्तव (1977), ए० कुमार (1978), यच० यम० शर्मा (1978), सविन्द्र सिंह (1979), आदि ने प्रयास किये है। भ्वाकृतिक विचर तथा अधिवास के अन्तंसम्बन्धों का अध्ययन पी० सी० वैट्स तथा यस० सिंह (1976), एव सविन्द्र सिंह तथा ओ० पी० सिंह (1976) ने किया है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय युवा भू-आकृतिविज्ञान वेत्ता अब गणितीय तथा साख्यकीय विधियो के आधार पर स्थलाकृति तथा प्रवाह-बेसिन के विश्लेषण के लिए कमर कस कर तैयार हो चुके हैं। आवश्यकता है उन्हे समुचित साधनो से सुसज्जित करने की (लैण्डसैट इमैजरी, एयर-फोटोग्राफ, क्षेत्र मे प्रक्रमो के परिमापन के लिये पर्याप्त सुविधा, प्रोत्साहन आदि)। दु ख का विषय है कि अब भी एयर फोटोग्राफ आसानी से सुलभ नही हो पा रहे हैं। सरकारी स्तर पर नदी के विसर्जन, प्रवाह-गति, अवसाद-सचलन आदि के परिमापन तथा आकडा-सचयन के योजनाबद्ध प्रयास नही हो रहे हैं।

4. स्थलरूपों के अध्ययन की विधियाँ (Methods of the study of landforms)

स्थलरूपो के अध्ययन के समय भू-आकृति विज्ञान-वेत्ता के सामने स्थलरूपो से सम्बन्धित मुख्य तीन समस्याएँ होती है—स्थलरूपो का क्षेत्र मे जाकर सामान्य विवरण प्राप्त करके उनका वर्णन करना। अलग-अलग विशेषताओ के आधार पर उनका वर्गीकरण करना तथा वितरण-प्रणाली का विवरण उपस्थित करना और अन्त मे उनके निर्माण सम्बन्धी कारणो का पता लगाना एव आवश्यकतानुसार परिकल्पनाओं, सिद्धान्तो एव नियमो का प्रतिपादन करना। यदि भ्वाकृतिक इतिहास पर दृष्टिपात किया जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि प्रारम्भिक विद्वानो ने (डेविस, पेंक आदि) स्थलरूपो की उत्पत्ति पर ही अधिक बल दिया था और मापन एव सर्वेक्षण सम्बन्धी विवरणो के अभाव मे भी कई परिकल्पनाओं का प्रतिपादन कर डाला था, जो कि अब मान्य नही हैं। सम्प्रति स्थलरूपो के अध्ययन मे उपर्युक्त तीनो सरणियो का सहारा लिया जाता है।

1—स्थलरूपो का वर्णन

स्थलरूपो का वर्णन कई विधियो से किया जा सकता है। यह इस बात पर निर्भर करता है कि वर्णन के समय विवरण कैसा होना चाहिये। सामान्यरूप से स्थलरूपो का वर्णन दो तरह से किया जा सकता है (i) व्यक्तिनिष्ठ वर्णन और (ii) वस्तुनिष्ठ या वैज्ञानिक या मात्रात्मक वर्णन (Quantitative description)।

(i) व्यक्तिनिष्ठ वर्णन (Subjective description)—इसके अन्तर्गत कोई व्यक्ति विशेष किसी क्षेत्र के भौतिक स्थलरूपो का आँखो देखा हाल इस तरह चित्ताकर्षक साहित्यिक रूप मे प्रस्तुत करता है कि भू-आकृति विज्ञान न जानने वाला साधारण व्यक्ति भी उस क्षेत्र की भौतिक दृश्यावली की झलक पा लेता है। उदाहरण के लिये मध्य एव निचली गंगा घाटी का वर्णन इस विधि के अन्तर्गत इस तरह किया जा सकता है—समस्त भाग एक सपाट मैदान के रूप मे है, जिसमे से होकर सहायक सरिताओं को अपने मे आत्मसात करके गंगा नदी बल खाती हुई मन्थर गति से विसर्पों (Meanders) से होकर प्रवाहित होती है। समस्त मैदान परतदार शैल का बना है, जिसकी छाती को चीरकर कृपको ने खाद्यान्न फसलो के गोटे से उसे अलकृत कर रखा है। सुदूर तक फैले पतझड वाले वृक्ष हवा के साथ झकोरे लेते हुए प्रकृति वधू को मानो हवा कर रहे हो। स्थान-स्थान पर नदी ने अपने वक्षस्थल को विस्तृत करके दोनो ओर सिकताकणो का साम्राज्य एकत्र कर लिया है तथा कई स्थानो पर वह कई धाराओं में गुम्फित (Braided) हो चली है। स्पष्ट है कि इस तरह का वर्णन भू-आकृति विज्ञान मे महत्त्वहीन है।

जननिक वर्णन के अन्तर्गत स्थलरूपो के सामान्य विवरण के साथ उनके उत्पत्ति सम्बन्धी कारणो का भी उल्लेख किया जाता है। उदाहरण के लिये यदि किसी स्थान मे ढालो मे पतन हो गया है तथा जलविभाजक सकुचित हो गये है तो यह भी बताया जाता है कि किन प्रक्रियाओ द्वारा ऐसा हुआ है तथा वहाँ का स्थलरूप अपने विकास की किस अवस्था से होकर गुजर रहा है। *डेविस ने वर्णन की जननिक विधि का ही प्रयोग किया था। यदि इस आधार पर मध्य एव निचली गगाघाटी* का वर्णन करना हो तो उसमे मिलने वाले विसर्पो (Meanders), चौडी-चौडी घाटियो, मन्द ढाल आदि के कारणो को बताना होगा (पार्श्ववर्ती अपरदन Lateral erosion तथा अपक्षय) तथा यह भी बताना होगा कि उस क्षेत्र के स्थलरूप अपने विकास की किस अवस्था मे हैं। इस जननिक विधि के आधार पर स्थलरूपो को तरुण, प्रौढ तथा जीर्ण—तीन प्रकारो मे विभक्त किया जाता है परन्तु स्मरणीय है कि स्थलरूपो के

विकास के समय उनके स्वरूपों में इतनी अधिक श्रेणियाँ (Gradations) होती है कि उनको मात्र तीन श्रेणियों (विकासीय Developmental) में रखना उचित नहीं है क्योंकि इससे स्थलरूप के निर्माण का कभी-कभी सही ज्ञान नही प्राप्त हो पाता है। यही कारण है कि इस विधि (अवस्था सकल्पना) की मान्यता अब समाप्त हो रही है।

(ii) वस्तुनिष्ठ वर्णन (Objective description)—इस विधि को वैज्ञानिक वर्णन, मात्रात्मक वर्णन (Quantitative description) आदि नामो से भी अभिहीत किया जाता है। इस विधि के अन्तर्गत गणितीय एवं सांख्यिकीय विधियों को सम्मिलित किया जाता है। पहले क्षेत्र में स्थलरूपों का सर्वेक्षण तथा मापन करके वास्तविक आंकड़े प्राप्त किये जाते है तथा उनके विश्लेषण के बाद उनका वर्णन किया जाता है। उदाहरण के लिये शुष्क प्रदेशीय कठोर रवेदार शैल वाले ढालों का वैज्ञानिक वर्णन इस तरह किया जा सकता है—सबसे ऊपर तीव्र ढाल (मुक्त पृष्ठ Free face) होता है जो कि 40° से अधिक कोण वाला होता है, मध्य में सरलरेखीय ढाल (Rectilinear slope) होता है जिसका कोण 25° से अधिक होता है तथा इस पर मलवा का हल्का आवरण होता है। निचला भाग अवतल (पेडीमेण्ट) होता है जो कि $\frac{1}{2}$° से 7° कोण वाला होता है। इसी तरह यदि किसी प्रवाह बेसिन (Drainage Basin) का वैज्ञानिक वर्णन करना होगा तो सबसे पहले स्थलाकृतिक मानचित्र पर अथवा क्षेत्र में सर्वेक्षण द्वारा सबसे छोटी सरिताओ का पता लगाया जाता है तथा उन्हे प्रथम 'आर्डर' की सरिता कहते है। जहाँ पर दो प्रथम आर्डर' की सरितायें मिलती हैं वहाँ पर द्वितीय आर्डर की सरिता हो जाती है। इस तरह आर्डर बढता जाता है तथा अन्त मे सबसे बडी सरिता के आधार पर सर्वोच्च आर्डर तय किया जाता है। प्रत्येक आर्डर की सभी सरिताओं की संख्या, उनकी लम्बाई प्रत्येक आर्डर की बेसिन का क्षेत्रफल ज्ञात करके उनके मात्रात्मक विवरण प्राप्त किये जाते हैं।

द्विशाखन अनुपात (Bifurcation ratio) R_b

$$R_b = \frac{N_u}{N_{u+1}} \qquad (Nu = \text{सरिता की संख्या})$$

सरिता की संख्या Nu (किसी निश्चित आर्डर की)

$$Nu = R_b^{(k-u)}$$

k = मुख्य सरिता का आर्डर

u = वांछित आर्डर

समस्त बेसिन की सरिता संख्या ΣNu

$$\Sigma Nu = \frac{Rb^{k} - 1}{R_b - 1}$$

लम्बाई अनुपात (Length Ratio) $= R_L$

$$R_L = \frac{\bar{L}u}{\bar{L}_{u-1}}$$

$\bar{L}u$ = किसी आर्डर की सरिताओ की औसत लम्बाई

क्षेत्रफल अनुपात Ra

$$Ra = \frac{\bar{A}u}{\bar{A}_{u-1}}$$

$\bar{A}u$ = किसी आर्डर की बेसिन का औसत क्षेत्रफल

प्रवाह घनत्व (Drainage density) = D

$$D = \frac{\Sigma Lk}{Ak}$$

(सम्पूर्ण सरिताओं की कुल लम्बाई)
(समस्त बेसिन का कुल क्षे०)

इस तरह के वर्णन को मात्रात्मक वर्णन (Quantitative description) कहा जाता है। भू-आकृति विज्ञान मे इस तरह परिमाणन (Quantification) अधिक प्रचलित हो गया है और उससे सम्बन्धित आकारमिति (Morphometry, की एक अलग शाखा का विकास हो गया है। परिमाणन का प्रयोग न केवल स्थलरूपों के आकार में ही सम्बन्धित है वरन् उनको निर्मित करने वाले प्रक्रमों (Processes) के अध्ययन में भी होता है।

2—स्थलरूपों का वर्गीकरण

स्थलरूपों के वर्णन के बाद क्षेत्रों मे उनके वितरण का अध्ययन करने के बाद प्राप्त आकृतिक मापन (Morphological mapping and measurement) के विवरण के आधार पर उनका वर्गीकरण दो प्रकार से किया जाता है।

(i) अ-जननिक वर्गीकरण (Non-genetic Classification)—जब वर्गीकरण के मुख्य आधार सांख्यिकीय आँकड़े ही होते हैं तो उन्हे वर्णनात्मक वर्गीकरण कहते हैं। इस वर्गीकरण से स्थलरूप के आकार-प्रकार का मात्रात्मक ज्ञान तो हो जाता है, परन्तु उसकी उत्पत्ति का आभास नहीं मिल पाता है। किसी पहाड़ी ढाल के

चित्र 2

मापन के बाद उसे कोणों के आधार पर ऊपर से नीचे चार भागों में विभक्त किया जा सकता है—उत्तल (Convex) ढाल, मुक्त पृष्ठ (Free face) ढाल, सरलरेखी (Rectilinear) ढाल तथा अवतल (Concave) ढाल। निश्चय ही यह वर्गीकरण कोणों में अन्तर के आधार पर किया गया है। इसी तरह प्रवाह बेसिन का (प्रथम, द्वितीय, तृतीय आदि आर्डर की बेसिन), ऊँचाई, लम्बाई और समय के आधार पर सागरीय तरंगों का (लघु तरंगें, अल्पकालिक तथा दीर्घकालिक तरंगें आदि), (बहाव) समय के आधार पर सरिताओं का (अल्पकालिक, अान्तरायिक— Intermittent, सतत वाहिनी—Perennial आदि) वर्गीकरण किया जा सकता है।

(ii) **जननिक वर्गीकरण** (Genetic classification)—जब वर्गीकरण का आधार स्थलरूप की उत्पत्ति की प्रक्रिया से सम्बन्धित होता है तो उसे जननिक वर्गीकरण कहते हैं। उदाहरण के लिये ढाल को विवर्तनिक (Tectonic), अपरदनात्मक (Erosional), सचयनात्मक (Slope of accumulation) आदि प्रकारों में रखा जा सकता है। घाटियों को अनुवर्ती (Consequent), परवर्ती (Subsequent) प्रत्यनुवर्ती (Obsequent), नवानुवर्ती (Resequent), अक्रमवर्ती (Insequent) आदि प्रकारों में विभक्त किया जा सकता है। पर्वतों के वलित, अवरोधी (Block), गुम्बदाकार, संग्रहीत, अवशिष्ट आदि प्रकार हो सकते है। एकाकी स्थलरूपों के अलावा उनको सामूहिक रूप में भी वर्गीकृत किया जाता है, जैसे कि तरुण, प्रौढ तथा जीर्ण स्थलरूप अथवा एकचक्रीय बहुचक्रीय, अनावृत्त या पुनर्जीवित (Exhumed or Resurrected) स्थलरूप आदि। एक ही प्रकार के स्थलरूपों के आधार पर भूतल के सभी स्थलरूपों को **आकारजनक प्रदेशों** (Morphogenetic regions) में विभक्त किया जाता है। यह विभाजन जलवायु प्रकारों के आधार पर किया जाता है क्योंकि यह विश्वास किया जाता है कि प्रत्येक जलवायु प्रकार से अपने ढग की अपक्षय, अपरदन आदि की दशायें होती हैं जिनके द्वारा विशेष प्रकार के स्थलरूपों का विन्यास होता है। इस प्रकार एक जलवायु प्रदेश के स्थलरूप दूसरे जलवायु प्रदेश से इतने भिन्न तो अवश्य होते हैं कि उनको अलग किया जा सके। पेंक ने इस आधार पर स्थलरूपों को (i) आर्द्र, (ii) अर्द्ध-आर्द्र, (iii) अर्द्ध-शुष्क तथा (iv) हिमानीय प्रकारों में विभक्त किया है। 1950 में पेल्टियर ने भूतल को 9 **आकारजनक प्रदेशों** में विभक्त किया है—(i) हिमानीय, (ii) परिहिमानीय, (iii) बोरियल (Boreal), (iv) सागरीय (Maritime), (v) सेल्वा (Selva), (vi) माडरेट (Moderate), (vii) सवाना, (viii) अर्द्धशुष्क तथा (ix) शुष्क।

3—स्थलरूपों की व्याख्या

स्थलरूपों के वर्णन तथा वर्गीकरण से उपलब्ध विवरण के आधार पर उनकी उत्पत्ति की व्याख्या की जाती है। इस सम्बन्ध में आवश्यकतानुसार उनकी उत्पत्ति से सबन्धित परिकल्पना तथा सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन किया जाता है। स्थलरूपों के निर्माण की प्रक्रिया की व्याख्या के लिए **विकास उपागमन** (Genetic approaches) प्रयोग में लाये जा सकते हैं। स्मरणीय है कि एकाकी स्थलरूप तथा स्थलरूप समूह दोनों की जननिक व्याख्या की जाती है।

(i) **विकास उपागमन** (Evolution approach)—डेविस के अनुसार स्थलरूप संरचना, प्रक्रम और अवस्था का प्रतिफल होता है। इस त्रिकट को सम्यक् रूप से सभी लोगों ने स्वीकार नहीं किया है। परन्तु इतना तो मानना ही होगा कि स्थलरूपों के निर्माण में भू-वैज्ञानिक संरचना तथा जलवायु प्रकार का अधिक हाथ रहता है। यदि भूपटल और स्थलरूपों के प्रादेशिक वितरण तथा जलवायु प्रकारों पर दृष्टिपात किया जाय तो जलवायु प्रकार और स्थलरूपों में घनिष्ठ सम्बन्ध अवश्य ठहरता है। इस तरह जब हम किसी स्थान के स्थलरूपों का अध्ययन करते हैं तो यह पता लगाना होता है कि उनकी उत्पत्ति में जलवायु का क्या हाथ रहा है। सामान्य वर्षा वाले आर्द्र प्रदेश के चूने के पत्थर वाले भाग में कार्स्ट स्थलाकृति का निर्माण होता है। पेडीमेंट के निर्माण में शुष्क तथा अर्द्ध-शुष्क जलवायु का हाथ रहता है। इसी तरह ढालों के विकास में जलवायु का हाथ अवश्य होता है। उदाहरण के लिए आर्द्र प्रदेशों में उत्तल-अवतल ढाल का विकास होता है। इस तरह के अध्ययन के बाद ही संकल्पना का प्रतिपादन किया जाता है—"प्रत्येक जलवायु प्रकार अपना विशिष्ट स्थलरूप निर्मित करता है।" स्थलरूप के निर्माण में भूवैज्ञानिक संरचना का महत्व कम नहीं होता है। संरचना में यह देखा जाता है कि चट्टान के प्रकार ने या उसकी कठोरता

ने या उसके नति (Dip) कोण ने स्थलरूप को अधिक प्रभावित किया है। आर्द्र प्रदेशों के मृत्तिका (Clay) वाले भाग में अवतल ढाल का विकास होता है जबकि चूने के पत्थर पर उत्तल ढाल का निर्माण होता है। स्पष्ट है कि प्रत्येक शैल अपना विशिष्ट स्थलरूप बनाती है। इसी आधार पर सकल्पना का प्रतिपादन किया गया है—'स्थलरूपों के निर्माण में भू-वैज्ञानिक संरचना सबसे महत्वपूर्ण नियंत्रण कारक होती है।'

(ii) **कालानुक्रम उपगमन** (Chronological approach)—यह उपगमन 'पुनर्लिखित हस्तलिपि' (Palimpsest) की सकल्पना पर आधारित है। जिस तरह कोई हस्तलिपि तैयार होती है तथा उसे मिटाकर पुन दूसरी लिखावट की जाती है तो प्रारम्भिक लिखावट के कुछ अंश परिलक्षित होते हैं। उसी प्रकार भ्वाकृतिक इतिहास रूपी पुस्तक के विभिन्न अध्यायों (भ्वाकृतिक घटनाओं के विभिन्न काल) में प्रारम्भिक प्रक्रमों द्वारा जिस स्थलाकृति का सृजन हुआ आगे आने वाले समय में दूसरे प्रक्रमों ने उन स्थलाकृतियों के अधिक भाग को मिटाकर (अपरदित करके) नये स्थलरूपों का सृजन किया है परन्तु प्रारम्भिक स्थलरूपों के कुछ अवशिष्ट भाग आज भी परिलक्षित होते हैं। इन अवशेषों के आधार पर भ्वाकृतिक इतिहासरूपी पुस्तक के प्रारम्भिक रूप को सँवारा जा सकता है। इस विधि के अन्तर्गत स्थलरूपों की **विकासीय सरणियों** (Developmental stages) का अध्ययन समय (अवस्था) के परिवेश में किया जाता है। इस ऐतिहासिक उपगमन में यह देखा जाता है कि **स्थलरूप विशेष या समूह** का वर्तमान रूप कैसे प्राप्त हुआ है। उसका प्रारम्भिक रूप क्या था तथा वर्तमान रूप को प्राप्त करने में उसे अपने विकास की कितनी सरणियों से होकर गुजरना पड़ा है। इस उपगमन में किसी क्षेत्र विशेष को चुना जाता है तथा उसके **अनाच्छादन कालानुक्रम** (Denudation Chronology) का अध्ययन किया जाता है। निश्चय ही कालानुक्रम उपगमन **प्रादेशिक भू-आकारिकी** (Regional Geomorphology) से सम्बन्धित है। इस अध्ययन का प्रमुख आधार प्रारम्भिक अवशिष्ट **अपरदन सतह** (Erosional surfaces) है। अध्ययन के दौरान पहले इन **समप्राय सतहों** (Planation surfaces) की पहचान (Identification), उनका तिथिकरण (Dating) तथा व्याख्या (Interpretation) की जाती है। इसके बाद उस क्षेत्र में प्रवाह-प्रणाली के विकास का ऐतिहासिक अध्ययन किया जाता है ताकि यह विदित हो सके कि वर्तमान-प्रवाह-प्रणाली का रूप कैसे प्राप्त हुआ है। कालानुक्रम उपगमन में भू-विज्ञान (संरचना तथा अश्मविज्ञान-lithology), सागर-तल में परिवर्तन, जलवायु सम्बन्धी परिवर्तन, वनस्पति तथा मानव-क्रिया कलाप का पर्याप्त महत्व होता है।

यदि किसी क्षेत्र के तटीय भाग में वर्तमान सागर-तल के विकास का अध्ययन करना हो तो यह देखना होगा कि उसमें कितने बार परिवर्तन हुए हैं तथा प्रारम्भिक सागर तल की ऊँचाई क्या थी? इसके लिये निकप्वाइण्ट (Knick points) प्रारम्भिक नदी वेदिकाओं के अवशेष तथा प्रवणित नदी (Graded river) के अवशिष्ट किन्तु सुरक्षित भागों की सहायता से नदी को प्रारम्भिक **साम्यावस्था की परिच्छेदिका** (profile of equilibrium) तथा प्रवणित वक्र का पता लगाकर प्रारम्भिक सागर-तल को जाना जा सकता है। इस कार्य हेतु प्रवणित वक्र के अवशेष भागों की **गणितीय बहिर्वेशन** (Mathematical extrapolation) की विधि द्वारा पुनर्रचना (Reconstruction) करके प्रारम्भिक प्रवणित वक्र का पता लगाया जाता है और निम्न नियम (ग्रीन 1934) के आधार पर वर्तमान सागर-तल तथा प्रारम्भिक सागर तल के बीच की ऊँचाई ज्ञात की जा सकती है—

$$y = a - k \log (p - x)$$

y = सागर-तल से नदी की ऊँचाई।

a,k = नदी के कान्स्टेण्ट।

p = नदी की लम्बाई।

x = नदी के मुहाने से दूरी।

कालानुक्रम उपगमन में दो कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं—(1) समप्राय सतह भू-भाग का आंशिक भाग ही प्रदर्शित करती है, अत वर्तमान स्थलरूपों में केवल कुछ का ही अध्ययन इस उपगमन में सम्भव है। (2) यह उपगमन कल्पना पर अधिक आधारित है क्योंकि अपरदनात्मक प्रक्रमों द्वारा ये स्थलरूप इतने परिवर्तित हो चुके हैं कि उनके प्रारम्भिक रूप की पुनर्रचना कठिन हो जाती है।

(iii) **प्रक्रम रूप उपगमन** (Process form approach)—इस उपगमन के अन्तर्गत स्थलरूप तथा प्रक्रम के बीच सम्बन्ध का अध्ययन किया जाता है तथा यह

इस बात पर आधारित है कि प्रत्येक प्रक्रम अपना स्वयं का स्थलरूप निर्मित करता है। इस अध्ययन के दो पहलू है—(1) यह देखना है कि वर्तमान स्थलरूप के निर्माण मे किस प्रक्रम का हाथ रहा है। उदाहरण के लिए उन क्षेत्रो मे, जहाँ इस समय शीतोष्ण जलवायु पाई जाती है, यदि परमाफ्रास्ट से सम्बन्धित स्थलरूप मिलते हैं तो इतना तो निश्चित हो जाता है कि वर्तमान जलवायु से सम्बन्धित जलीय प्रक्रम (Fluvial process) का उनके निर्माण मे कोई हाथ नहीं रहा है। ऐसी हालत मे **परिहिमानी प्रक्रम** (Periglacial process) का प्रभाव अमिट हो जाता है। (2) यदि किसी क्षेत्र मे वर्तमान समय मे कोई प्रक्रम कार्यरत है तो उससे निर्मित होने वाले भावी स्थलरूप की रूप रेखा तैयार की जा सकती है।

वास्तव मे यह उपगमन अधिक वैज्ञानिक है तथा गणितीय विधियों से ओत-प्रोत है। सबसे पहले प्रक्रमो का विश्लेषण आवश्यक होता है। प्रक्रम दो प्रकार के होते हैं—अन्तर्जात प्रक्रम, जिसके द्वारा भू-सचलन (Earth movements) होने से विवर्तनिक स्थलरूपो (Tectonic landforms) का निर्माण होता है तथा बहिर्जात प्रक्रम, जिनके अन्तर्गत नदी, भूमिगत जल, सागरीय तरङ्ग, हिम तथा हिमानी, परिहिमानी, पवन (अपरदनात्मक प्रक्रम) तथा अपक्षय (भूमि स्खलन, मृदासर्पण, पक वाह, वृष्टि धुलन (Rain wash)। इन प्रक्रमो की क्रिया विधि (Mechanism), प्रचालन का स्वभाव तथा दर (Nature and rate of operation) का अलग-अलग तथा पारस्परिक विश्लेषण आवश्यक हो जाता है। परन्तु यह ध्यान मे रखना होगा कि विश्लेषण इतना गणितीय न हो जाय कि वह भू-आकृति विज्ञान-वेत्ता की परिधि से बाहर चला जाय। इन प्रक्रमो द्वारा होने वाले अपरदन, परिवहन तथा निक्षेप से सम्बन्धित मॉडल प्रयोगशालाओ मे तैयार किये जा सकते हैं और उनसे प्राप्त परिणामो का क्षेत्र मे वास्तविक वस्तुस्थिति से परीक्षण किया जा सकता है।

इस उपगमन मे कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ सकता है। (i) सभी प्रक्रमो की क्रिया विधि (Mechanism) समान नही है। कुछ इतनी मन्द गति (रासायनिक अपक्षय, मृदासर्पण आदि) से कार्यरत होते हैं कि उनका सूक्ष्म मापन आवश्यक हो जाता है। इसी तरह कुछ प्रक्रम (वृष्टि-धुलन—rain wash) रुक-रुक कर कार्य करते हैं। इनकी क्रिया-विधि का सही ज्ञान प्राप्त करना दुष्कर हो जाता है। परन्तु वर्तमान समय मे कई ऐसे यंत्र बना लिए गये हैं जिनसे इन प्रक्रमो की क्रिया विधि का मापन आसानी से हो जाता है। **करेण्ट-मीटर** से नदी का वेग ज्ञात कर लिया जाता है। नदी वेग (V) एवं क्रास सेक्सनल क्षेत्र के मापन के आधार पर **नदी-विसर्जन** (River discharge) मालूम किया जा सकता है—

विसर्जन D = V (औसत नदी वेग) × A (क्रास सेक्शनल क्षेत्रफल) = घन फिट प्रति सेकेण्ड (क्यूसेक)।

इसी तरह सागर-तल (Bed) पर रेत की गति का **प्रति-दीप्ति ट्रेसर** (Fluorescent tracer) से मापन कर लिया जाता है। हिमानी की गति का मापन इनक्लाइनोमीटर से किया जाता है। (ii) कुछ स्थलरूपो मे परिवर्तन इतनी मन्द गति से होता है कि एक मानव-जीवनकाल के अन्तर्गत उनका अवलोकन तथा मापन सम्भव नहीं हो पाता है। (iii) एक प्रक्रम का एक स्थलरूप से सम्बन्ध स्थापित करना त्रुटिपूर्ण है क्योंकि किसी भी स्थलरूप के निर्माण मे कई प्रक्रम मिलकर साथ-साथ कार्य करते हैं। ऐसी स्थिति मे प्रयोगशाला मे मॉडल के प्रयोग से कुछ सही निष्कर्ष निकाला जा सकता है।

(iv) **संयुक्त उपगमन** (Composite approach)—प्रादेशिक भू-आकारिकी के अध्ययन के समय उपर्युक्त उपगमन का सामूहिक रूप वांछित हो जाता है। इतना ही नही किसी स्थलरूप विशेष के अध्ययन मे भी कई उपगमन का सहारा नितान्त आवश्यक होता है।

निष्कर्ष

यदि स्थलरूपो के अध्ययन की विधियों और उपगमनो का विश्लेषण किया जाय तो यह तथ्य उभर कर सामने आता है कि प्रत्येक उपगमन स्थलरूप के निर्माण से सम्बन्धित किसी एक कारक से सम्बन्धित हैं। विकास उपगमन मे संरचना तथा जलवायु (डेविस-structure), कालानुक्रम उपगमन मे विकासीय शृंखलायें (Developmental series डेविस-stage) तथा प्रक्रम-रूप उपगमन मे प्रक्रम (डेविस-Process) को आधार माना जाता है। इस तरह स्पष्ट है कि स्थलरूपो के अध्ययन मे गणित का चाहे कितना ही प्रवेश क्यो न हो, विषय कितना ही मात्रात्मक (Quantitative) क्यो न हो गया हो परन्तु वह डेविस द्वारा प्रतिपादित "स्थलरूप,

संरचना, प्रक्रम और अवस्था का प्रतिफल है" से आगे नहीं जा सका है।

यद्यपि संरचना, प्रक्रम तथा समय (अवस्था) के परिवेष में स्थलरूपों का क्रमबद्ध तथा व्योरेवार अध्ययन व्यक्ति विशेष के अन्तर्बोध (Intuition) पर आधारित है तथापि यदि यह मान लिया जाय कि स्थलरूप अपरिवर्तनशील नहीं हैं तो निश्चय ही यह अवधारणा बनती है कि यदि परिवर्तन होता है तो "कुछ का (संरचना का) कुछ द्वारा (प्रक्रम द्वारा) कुछ निश्चित समय तक (अवस्था) परिवर्तन अवश्य होता है"—(that if change is in progress, some thing (structure) is being altered by some thing (process) to a definable extent (stage) or for a definite interval (time). A L Bloom). स्थलरूपों के अध्ययन से सम्बन्धित संकल्पनाओं तथा सिद्धान्तों के लिए देखिये अध्याय दो तथा तीन।

अध्याय 2

स्थलरूपों के विकास के सिद्धान्त

(Theories of Landform Development)

सर्वमान्य सिद्धान्त का अभाव

स्थलरूपो की उत्पत्ति एवं विकास की समस्या आज भी अनुत्तरित एवं विवादास्पद बनी हुई है। यद्यपि भू-आकृति विज्ञान के विकास के प्रत्येक प्रमुख चरण मे स्थलरूपो की उत्पत्ति तथा विकास से सम्बन्धित सामान्य एव विशिष्ट सिद्धान्तो का प्रतिपादन सम्बन्धित युग की दार्शनिक एव वैज्ञानिक विचारधारा के अनुरूप किया गया है तथापि कोई भी सिद्धान्त सर्वमान्य नही हो पाया है। भूपटल के विभिन्न क्षेत्रो मे विशिष्ट स्थलरूपो के विकास का सम्बन्ध विभिन्न कारको मे जोडा गया है एव उनके अध्ययन की विभिन्न विधाओ एव उपागमो का प्रतिपादन किया गया है परन्तु इन स्थलरूपो की समस्या कि (1) 'स्थलरूपो मे समय के साथ विकासीय प्रावस्थाये होती हैं एव उनमे क्रमिक परिवर्तन होता है' (समय-निर्भर स्थलरूप सकल्पना, Time dependent landform concept), या (2) 'स्थलरूप समय-स्वतन्त्र होते हैं एव उनमे समय के साथ परिवर्तन नही होता है वरन् वे साम्यावस्था की स्थिति मे होते हैं' (गतिक सतुलन सकल्पना, dynamic equilibrium or time independent concept), या (3) 'प्रत्येक प्रक्रम स्थलरूपो का विशिष्ट एव निश्चित समूह उत्पन्न करता है तथा स्थलरूपों की उत्पत्ति एव विकास प्रक्रम पर आधारित होता है' (प्रक्रम रूप सकल्पना, process form approach), या (4) 'विभिन्न जलवायु प्रदेशो में विभिन्न प्रकार के स्थलरूप समूह उत्पन्न होते हैं' (जलवायु भू-आकारिकी सकल्पना, climato-genetic concept), या (5) 'स्थलरूपो की उत्पत्ति एव विकास मे भू-वैज्ञानिक सरचना प्रमुख नियत्रक कारक होती है' (सरचना-रूप सकल्पना, structure form concept), या (6) 'स्थलरूपो की उत्पत्ति एव विकास मे विवर्तनिक (tectonic) क्रियायें सर्वाधिक महत्वपूर्ण होती हैं' (विवर्तन भू-आकृतिक संकल्पना, tectono-geomorphic concept) आदि का वर्तमान समय तक समाधान नही हो पाया है।

प्रश्न उठता है, क्या कारण है कि आज तक किसी भी सर्वमान्य सामान्य सिद्धान्त का प्रतिपादन नही किया जा सका? हिगिन्स का कहना है कि इस तरह के सर्वमान्य सिद्धान्त के अभाव का एक कारण यह है कि संरचना, प्रक्रम एवं रूप (form) के विषय मे विचारो मे जितना वैषम्य है उतना ही वैषम्य सरचना, प्रक्रमो एवं स्थलरूपो मे भी है—'It would seam that one *reason we lack an acceptable theory of landscape* development is that there is as much diversity of opinion about structure, process and form as there is diversity among structures, process and landforms themselves' (C. G Higgins). स्पष्ट है कि स्थलरूपो के नियत्रक कारको (सरचना, जलवायु, वनस्पति, मिट्टी, मानव हस्तक्षेप आदि) मे भूपटल पर क्षेत्रीय एव कालिक (spatial and temporal) दोनो स्तरो पर पर्याप्त अन्तर एवं विषमता होती है तथा स्थलरूपो मे सरलता की अपेक्षा जटिलतायें अधिक होती हैं तथापि इनके विकास का सम्बन्ध अलग-अलग विद्वानो द्वारा एकाकी कारक से जोडा गया है और अलग-अलग सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया गया है। हिगिन्स के अनुसार स्थलरूपो की उत्पत्ति से सम्बन्धित सिद्धान्तो मे विवाद इसलिये उत्पन्न हो गया कि सिद्धान्त या सिद्धान्तों का आवश्यकता से अधिक साधारणीकरण (Simplification) कर दिया गया है। हिगिन्स का कहना है कि **'कोई भी ऐसा निर्णयात्मक सिद्धान्त या भू-आकृतिक तंत्र नहीं हो सकता जो सभी स्थलरूपो को समाविष्ट कर सके'** (There may be no difinitive theory or geomorphic system that can fit all landscapes).

ज्ञातव्य है कि अमुक सिद्धान्त के प्रतिपादक ने अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन भूपटल के किसी लघु क्षेत्र के पर्यवेक्षण के आधार पर ही कर डाला है जो कि सार्वत्रिक एव सर्वमान्य नही हो पाया है। यह कहना अनुचित नही होगा कि स्थलरूपो एव उनके नियत्रक कारको मे इतना अधिक वैषम्य, जटिलता एवं परिवर्तनशीलता होती है कि भूपटल के सभी क्षेत्रो एव पर्यावरण मे उत्पन्न स्थलरूपो के विकास की समस्या का समाधान एकल सिद्धात से नही किया जा सकता है। अपितु इसके लिये कई सिद्धातो का होना या यो कहें कि मिश्र

सिद्धांत का प्रतिपादन न केवल औचित्यपूर्ण है वरन् अपरिहार्य भी है। हिगिन्स के अनुसार बहुसिद्धांत की आवश्यकता है या विभिन्न उद्देश्यों के लिये विभिन्न सिद्धान्त होने चाहिये। अर्थात् या तो उभयनिष्ठ मिश्र सिद्धान्त हो या उद्देश्य-परक अलग-अलग सिद्धान्त हो। 'एक वैज्ञानिक के रूप में स्थलरूपों की उत्पत्ति का हम यथोचित या पूर्ण युक्तियुक्त उत्तर चाहते हैं, परन्तु यदि प्राकृतिक विश्व युक्तिहीन (irrational) है तो कोई आन्तरिक ढंग से पूर्ण एवं सारभूत सिद्धान्त या तंत्र सम्भव नहीं हो सकता'—'We need multiple theories or different theories for different purposes ......as scientists we may all be seeking a 'correct' or *complete rational answer to landform origins,* but if the natural world is irrational, no internally complete and substantive theory or system would work'.

पुनश्च, अब तक प्रतिपादित सिद्धान्तों में लोचकता का अभाव रहा है जिस कारण किसी एक 'सामान्य तंत्र' (general system) में विभिन्न दृष्टिकोणों एवं दशाओं का समावेश नहीं हो पाया है। पिछले दशकों में प्रक्रम तथा रूप से सम्बन्धित किये गये गहन शोध कार्यों के परिणामों से भी यही इंगित होता है कि किसी भी समस्या (स्थलरूपों सम्बन्धी) के समाधान के लिये एकाकी हल के बजाय बहुल हल *(multiple solutions)* की आवश्यकता है। उदाहरण के लिये ढालों में अधःक्षय (down wearing) द्वारा पतन हो सकता है या समानान्तर निवर्तन द्वारा ढाल कोण स्थिर रह सकते हैं। ये सम्भावनायें स्थानीय दशाओं पर निर्भर करती हैं। सर्वमान्य सिद्धांत के अभाव का एक यह भी कारण रहा है कि अधिकांश लोगों ने प्रक्रम एवं रूप के सम्बन्धों की व्याख्या सही ढंग से नहीं की है। इसका प्रमुख कारण यह रहा है कि वर्तमान समय में प्राप्य स्थलरूपों का सम्बन्ध वर्तमान प्रक्रमों से जोड़ा गया है जबकि अधिकांश स्थलरूप अवशिष्ट हैं तथा उनका निर्माण वर्तमान से भिन्न प्रक्रमों से भी हुआ होगा *(ऐसा सम्भव है)।*

स्थाकृतिक सिद्धान्त का महत्व तथा उद्देश्य

किसी भी विज्ञान में नवीन संकल्पना एवं अध्ययन के लिये प्रेरणा प्रदान करने के लिये सिद्धान्त की आवश्यकता होती है। भू-आकृति विज्ञान में भी स्थलरूपों के वर्णन एवं व्याख्या के लिए सामान्य या सार्विक सिद्धान्त (general theory) की आवश्यकता है। स्थाकृतिक सिद्धान्त की प्रमुख भूमिका भू-आकारिकी के तीन प्रमुख पहलुओं—वर्णनात्मक, जननिक-ऐतिहासिक एवं प्रक्रम परक (process-oriented)—में समन्वय एवं एकीकरण करने की है। स्थाकृतिक सिद्धान्त के प्रारूप अनेक हो सकते हैं यथा—आकार या प्रक्रम का आनुभाविक साधारणीकरण (empirical generalisation) या पर्यवेक्षित तत्व की व्याख्या। इस तरह के साधारणीकरण (या व्याख्या) अल्पकालिक या दीर्घकालिक प्रभावों तथा परिवर्तनों से सम्बन्धित हो सकते हैं, वास्तविक स्थलरूपों एवं प्रक्रमों के अध्ययन पर आधारित हो सकते हैं, प्रतिरूपों (models) पर आधारित हो सकते हैं आदि। सबसे महत्वपूर्ण वे सिद्धान्त होते हैं जो सर्वाधिक साधारण (most general) होते हैं ताकि वे सामान्य दशाओं में उद्भव से लेकर अन्तिम रूप तक स्थलरूपों के विकास की व्याख्या सामान्य रूप में कर सकें। हिगिन्स के अनुसार किसी भी सिद्धान्त में स्थलरूपों एवं स्थलाकृतियों (landforms and landscapes) से सम्बन्धित निम्न तीन तहकीकात (inquiry) का हल मिलना चाहिये—

(i) स्थलरूपों का किस तरह सर्वोत्तम वर्णन किया जा सकता है?

(ii) इनका निर्माण कैसे हुआ है? तथा समय के साथ इनमें परिवर्तन कैसे हुआ है?

(iii) इनका निर्माण किन प्रक्रमों से हुआ है? तथा ये प्रक्रम कैसे कार्य करते हैं।

अतः किसी भी आदर्श सिद्धान्त में निम्न गुण होने चाहिये—

(i) स्थलरूपों के वर्णन के लिये सुगम एवं आसानी से ग्राह्य शब्दावली का प्रयोग होना चाहिये।

(ii) वह प्रचलित/वर्तमान भू-वैज्ञानिक एवं स्थाकृतिक विचारधारा के अनुरूप हो।

(iii) वह ऐतिहासिक व्याख्या एवं स्थलरूपों के परिवर्तन की पूर्व सूचना (future prediction) के लिये आधार प्रस्तुत कर सके।

स्थाकृतिक सिद्धान्त : ऐतिहासिक परिवेश

यद्यपि स्थलरूपों के विकास से सम्बन्धित व्यवस्थित एवं सामान्य सिद्धान्त का प्रतिपादन **विलियम मोरिस डेविस** द्वारा 1889 एवं 1899 में **'सरिता-जीवन का पूर्ण चक्र'** तथा **'भौगोलिक चक्र'** के रूप में किया गया तथापि इसके पहले भी भूतल की भौतिक आकृतियों के उद्भव, विकास एवं विनाश से सम्बन्धित 'प्रलयवादिता

की संकल्पना' (concept of catastrophism) एवं जेम्स हटन की 'एकरूपतावाद की संकल्पना' (concept of uniformitarianism) का प्रतिपादन किया गया था। वास्तव में स्थाकृतिक सिद्धान्त (geomorphic theory) का प्रारम्भ ग्रोव कार्ल गिलबर्ट द्वारा हुआ है यद्यपि उन्होंने अपने को 'सिद्धान्तकार' (theorist) के बजाय 'अन्वेषक' (investigator) कहना अधिक समीचीन समझा। इन्होंने स्थलरूपों के विकास से सम्बन्धित कुछ व्यापक सामान्यीकरण (broad generalisation) किया तथा कतिपय नियमों का प्रतिपादन भी किया (यथा—समान ढाल का नियम-law of uniform Slope, संरचना का नियम-law of structure, जलविभाजकों का नियम-law of divides कार्य की समता की प्रवृत्ति-tendency to equality of action या गतिक संतुलन की स्थापना, अंगों के परस्परावलम्बन का नियम-law of inter-dependence of parts) आदि।

स्थलरूपों के विकास के प्रथम वास्तविक एवं सार्विक सिद्धान्त का प्रतिपादन डेविस द्वारा 'भौगोलिक चक्र' (geographical cycle) के रूप में 1899 में किया गया। प्रारम्भ में डेविस ने अपने 'भौगोलिक चक्र' का प्रतिपादन आर्द्र शीतोष्ण प्रदेशों के स्थलरूपों के विकास की व्याख्या के लिए किया था परन्तु आगे चलकर इस चक्रीय संकल्पना का प्रयोग शुष्क प्रदेशों (डेविस, 1903 1905 एवं 1930), हिमानी क्षेत्रों (डेविस, 1900 1906), सागर तटीय प्रदेशों (डेविस, 1912 जानसन, 1919), कार्स्ट प्रदेश (बीदो, 1911, स्वीजिक, 1948) तथा परिहिमानी क्षेत्रों (पेल्टियर, 1950) में स्थलरूपों के विकास की व्याख्या के लिए भी किया गया। इस चक्रीय संकल्पना के व्यापक प्रयोग ने इसे कमजोर बना दिया तथा न केवल इसकी आलोचनायें हुईं संशोधन प्रस्तुत किये गये वरन् इसके अस्वीकरण एवं परित्याग के लिये भी आवाज बुलन्द की गई। परिणामस्वरूप पेंक का 'स्थाकृतिक सिस्टम' (1924), क्रिकमे का 'पेनप्लेनेशन चक्र' (1933, आगे चलकर असमान क्रियाशीलता की परिकल्पना, 1959,1975), एल० सी० किंग का 'पेडीप्लेनेशन चक्र' (1948), 'स्थाकृतिक सिस्टम' (1953, 1962, 1963, एवं 1967), पुध (Pugh) का 'सवाना अपरदन-चक्र (1966) आदि सिद्धान्त डेविस के भौगोलिक चक्र के विरोध एवं संशोधन के रूप में प्रकाश में आये।

1930-40 दशक में भू-विज्ञान में क्रम्बीन द्वारा तथा भू-आकारिकी में हार्टन (1932, 1945) द्वारा प्रक्रम एवं स्थलरूपों के अध्ययन में परिमाणन (quantification) का प्रारम्भ तथा स्ट्राहलर द्वारा उनका सम्वर्द्धन (1950, 1952 एवं 1958) स्थाकृतिक सिद्धान्तों में नये मोड का कारण बना। विद्वानों की रुझान स्थलरूपों के विकास के सामान्य सिद्धान्त के प्रतिपादन, उसकी वाछनीयता एवं आवश्यकता में कम, स्थलरूपों की जानकारी एवं अध्ययन के परिणाम में अधिक थी। यही कारण है कि जब एल० सी० किंग की पुस्तक 'Canons of Landscape Development' का प्रकाशन 1953 में हुआ और उनका सिद्धान्त 'Landscape cycle', 'Epigene cycle', 'Pediplanation cycle' के रूप में प्रकाश में आया तो लोगों का ध्यान आकर्षित नहीं हो पाया क्योंकि अब सिद्धान्त में दिलचस्पी नहीं रह गयी थी। आगे चलकर 'समय के परिवेश में स्थलरूपों के विकास की क्रमिक विकासीय प्रावस्थाओं' के विपरीत 'गतिक संतुलन सिद्धान्त' (स्ट्राहलर 1950, 1952, हैक 1960, 1965, 1975, कोर्ले 1962) का प्रतिपादन किया गया। इसके अलावा 'स्थाकृतिक सीमान्त सिद्धान्त' (geomorphic threshold theory) 'विवर्तन-स्थलरूप सिद्धान्त' (tectono-landform theory), 'खण्ड कालिक अपरदन सिद्धान्त' (episodic erosion theory) आदि डेविस के 'भौगोलिक चक्र' के अस्वीकरण (?) में उत्पन्न संकल्पनात्मक अन्तराल (conceptual-vacuum) की पूर्ति के लिए किये गये प्रयासों के प्रतिफल हैं।

स्थाकृतिक सिद्धान्तों के आधार
(Bases of Geomorphic Theories)

पिछले दो सौ वर्षों में स्थाकृतिक विचारों के विकास के इतिहास (अध्याय 1) के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि स्थाकृतिक सिद्धान्तों के आधार एवं उद्देश्य काल विशेष की दार्शनिक विचारधाराओं एवं संकल्पनात्मक प्रवृत्ति से ओत-प्रोत रहे हैं। ऐतिहासिक परिवेश में स्थाकृतिक सिद्धान्तों के आधार (प्रारम्भ से वर्तमान) उद्देश्यमूलक/प्रयोजन परक (teleological), सर्वव्यापी (immanent), ऐतिहासिक, वर्गीकरणात्मक

(taxonomic), कार्य-कार्यात्मक (functional), यथार्थवादी (realist), परम्परावादी (conventionalist) एवं व्यवहारवादी / प्रमाणवादी (positivist) रहे हैं।

(i) उद्देश्यमूलक/प्रयोजन परक सिद्धान्त—भू-आकारिकी के विकास के प्रारम्भिक चरण में प्राकृतिक पर्यवेक्षण प्रचलित अन्धविश्वासी विचारधारा से पूर्णरूपेण आबद्ध था। इस तरह के अध्ययन का मुख्य उद्देश्य ईश्वर के मनुष्य के प्रति आदेशों की सार्थकता को प्रमाणित करना था। अठारहवीं शती के उत्तरार्द्ध तक प्राकृतिक अध्ययन का मुख्य विषय स्वयं स्थलरूप ही नहीं था अपितु वह ईश्वर की दृश्य अभिव्यक्ति के रूप में लिया जाता रहा। प्रलयवादिता का सिद्धान्त (theory of catastrophism) इसका प्रमुख उदाहरण है। 1820 में डीन बकलैण्ड द्वारा प्रकाशित 'Vindicate Geological' (Dean Buckland) उद्देश्यमूलक सिद्धान्तों पर आधारित प्राकृतिक विवरण का खूबसूरत उदाहरण है। स्मरणीय है कि इस तरह के सिद्धान्त के मुख्य आधार वे घटनायें थी जो त्वरित एव व्यापक थी (समय एवं क्षेत्र, दोनों परिवेष में), अल्पकालिक एव सीमित क्षेत्रीय घटनाओं पर ध्यान नही दिया गया। अतः इस आधार एव सिद्धान्त को न केवल ख्याति कम हुई अपितु इसका अवसान भी हो गया।

(ii) सर्वव्यापी/अन्तर्निहित सिद्धान्त (Immanent Theory)—उद्देश्यमूलक सिद्धान्त के अवसान के साथ ही लोगों का ध्यान समय एव स्थान के सन्दर्भ में लघु परिमाण वाली घटनाओं की ओर उन्मुख हुआ। स्थलरूपों की विशेषताओं की व्याख्या उनकी आन्तरिक प्रकृति के आधार पर प्रारम्भ हुई। इस तरह उद्देश्यमूलक सिद्धान्त वहिर्जात एवं अन्तर्जात प्रक्रमो के कल्पित आन्तरिक लक्षणों पर आधारित है। जेम्स हटन एव जॉन प्लेफेयर के कार्य इसका प्रमुख उदाहरण हैं। इनकी यह धारणा रही है कि अपरदन एव निक्षेपण के स्थानिक प्रारूप (Spatial patterns) स्वतः सह-सम्बन्धित (autocorrelated) हैं। इस तरह अपरदन और निक्षेपण मे, उत्थान एव अवतलन में, आकार एव-प्रक्रम मे अन्तर्निहित / स्वभावज सम्बन्ध की अवधारणा का सिलसिला प्रारम्भ हुआ। उन्नीसवी शती में उद्देश्यमूलक सिद्धान्त की एक और अभिव्यक्ति स्थलरूप एवं भूविज्ञान के सम्बन्ध के रूप मे हुई। इस तरह की अवधारणा पश्चिमी यूरोप एव उत्तरी-पूर्वी उत्तरी अमेरिका मे प्रचलित शैल एवं उच्चावच्च मे सम्बन्ध तथा शैल-संस्तर भू-विज्ञान (bedrock geology) के भूमापन/मानचित्रण और स्थलरूपों की व्याख्या मे प्रतीकात्मक सम्बन्ध (Symboitic relationships) की विचारधारा पर आधारित थी। स्मिथ (W. Smith), लेस्ले (J. P Lesley) तथा पवेल (J. W. Powell) ने स्थलरूप-उच्चावच्च सम्बन्धों का सफलतापूर्वक अध्ययन किया तथा इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि स्थलरूपों मे सरचना की पूर्ण अभिव्यक्ति होती है। इस सरचना-रूप (Structure-form) सिद्धान्त का प्रभाव आज भी वर्तमान है। ज्ञातव्य है कि स्थलरूपों तथा सरचना एव अश्मविज्ञान / शैलिकी (lithology) मे सम्बन्धों को इतना गहरा मान लिया गया कि शैल एवं उच्चावच्चो के बीच कार्य-कारण के अध्ययन की आवश्यकता ही नही समझी गयी। आगे चलकर संरचना के सूक्ष्मस्तरीय अध्ययन से यह आभास हो चला कि सरचना मे पर्याप्त अन्तर होता है। उसकी बारीकियों का अध्ययन होना चाहिए। परिणामस्वरूप उद्देश्यमूलक सिद्धान्त मे पुन परिमार्जन तथा सम्वर्द्धन हुआ। यह विश्वास हो गया कि बृहद् क्षेत्र मे ही शैल एव उच्चावच्च के मध्य गहरा सम्बन्ध हो सकता है। उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध मे गहन क्षेत्रीय अध्ययन से स्पष्ट हो गया कि सूक्ष्म स्तर पर स्थलरूपो पर संरचनात्मक नियंत्रण का प्रभाव नगण्य है। परिणामस्वरूप उद्देश्यमूलक सिद्धान्त के स्थान पर ऐतिहासिक सिद्धान्त का प्रतिपादन प्रारम्भ हो गया।

(iii) ऐतिहासिक सिद्धान्त—ऐतिहासिक सिद्धान्त का मुख्य आधार एकाकी घटनाओं का ऐतिहासिक अनुक्रम (historical succession) है जिसके अन्तर्गत स्थलरूपों की व्याख्या विकासीय रूप (evolutionary manner) में की जाती है। अत स्थलरूपों की ऐतिहासिक व्याख्या का मुख्य उद्देश्य पूर्वकथन (Prediction) न हो कर पश्चानयन (retroduction) होता है। ऐतिहासिक सिद्धान्त 'विकास (क्रम विकास) के नियम' (*law of evolution*) से आबद्ध है। इस सन्दर्भ मे 'अपरदन-चक्र सिद्धान्त', 'अनाच्छादन कालक्रम' तथा 'विवर्तनिक सिद्धान्त' उल्लेखनीय हैं। इन्हे वैज्ञानिक स्तर पर वास्तविक सिद्धान्त का रूप नही दिया जा सकता क्योंकि 'वैज्ञानिक नियम' एकाकी तथ्यों से परे रहकर तथ्य समूह के अमूर्त रूप होते हैं जबकि इतिहास का सम्बन्ध अनोखी घटनाओं एवं पुनरावृत्ति-योग्य

रहित (non-repeatable) प्रक्रमों से होता है। वास्तव में सिद्धान्त की संरचना के विकास में तीन अवस्थायें होती हैं—आध्यात्मिक (theological), तात्त्विक (metaphysical) तथा व्यावहारवादी (positivist)। डेविस का अपरदन-चक्र द्वितीय अवस्था का प्रतीक है जबकि गिलबर्ट का सिद्धान्त अन्तिम अवस्था का द्योतक है।

डेविस का 'अपरदन-चक्र' (भौगोलिक चक्र) भू-आकारिकी में सैद्धान्तिक प्रतिरूप (theoretical model) की रचना में प्रथम सफल प्रयास है। इस सिद्धान्त का प्रमुख उद्देश्य प्रादेशिक क्षेत्रीय मापक पर भू-वैज्ञानिक समय-मापक के परिवेश में स्थलरूपों का जननिक वर्गीकरण एवं उनकी व्याख्या करना है। अपरदन चक्र सिद्धान्त के साथ ही ऐतिहासिक अनुक्रम की अवधारणा पर 'अनाच्छादन कालक्रम' का प्रतिपादन किया गया। यद्यपि प्रारम्भ में इन दोनों प्रतिरूपों (Models) का प्रतिपादन अलग-अलग हुआ परन्तु आगे चलकर दोनों प्रतिरूपों का आपस में विलय हो गया। अनाच्छादन कालक्रम के अन्तर्गत पृथ्वी के इतिहास की क्रमिक अवस्थाओं की पुनर्रचना की जाती है। इस तरह की पुनर्रचना में अध्ययन का मुख्य लक्ष्य यद्यपि स्थलरूप ही था परन्तु वास्तविक अर्थ में यह भू-नभिक अध्ययन का रूप ही रहा। डेविस के सिद्धान्त पर यह दोषारोपण किया जाता है कि इनका सिद्धान्त मानचित्रों से प्राप्त विवरणों पर आधारित अग्रिम निष्कर्ष (initial conclusion) से प्रारम्भ होता है तथा तर्कों एवं सावधानी पूर्ण चुने हुए न्यूनतम क्षेत्र पर्यवेक्षण द्वारा इस अग्रिम निष्कर्ष को प्रमाणित करने का प्रयास किया गया है। इनका सिद्धान्त तथ्य के अभाव में तर्कयुक्त सम्भावना (logical likelihood) पर आधारित है।

पेंक का विवर्तनिक सिद्धान्त' सैद्धान्तिक स्तर पर अनाच्छादन कालक्रम सिद्धान्त के अनुरूप ही है परन्तु इसे कम ख्याति एवं मान्यता मिली क्योंकि दुरुह भाषा (जर्मन), राजनैतिक कारण एवं सशक्त तर्कों की मान्यताओं के अभाव ने इसे तिरोहित कर दिया। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् ऐतिहासिक सिद्धान्त की ख्याति एवं मान्यता में पर्याप्त ह्रास हुआ है। इसका प्रमुख कारण दीर्घ कालिक मापक (long temporal scale) रहा है। अर्थात् समय की अवधि इतनी लम्बी ली गयी कि जो भी अनुमान-परक सिद्धान्त एवं परिकल्पनायें बनायी गयी वे न तो परीक्षण योग्य रही और न ही नियंत्रण में रही। परिणामस्वरूप अनुमान एवं अटकलबाजी को मान्यता नहीं मिल सकी।

(iv) **वर्गीकरणात्मक आधार**—भू-आकारिकी में प्रादेशिक वर्गीकरणात्मक अध्ययन (regional taxonomic studies) का मुख्य आधार प्रस्तुत विषय का भूगोल से गहरा सम्बन्ध रहा है। 1890 से भू-आकारिकी में स्थलरूपों से सम्बन्धित शोध एवं अध्ययन के फलस्वरूप प्राप्त विवरण, सूचनायें एवं आँकड़े इतने अधिक हो गये कि वर्गीकरण अपरिहार्य हो गया। मानव भूगोल के समान ही भू-आकारिकी में भी द्वैतवाद (dualism/binality) का प्रचलन हुआ। यथा—ऐतिहासिक/चक्रीय, कार्य-कार्यात्मक/जलवायु-सम्बन्धी (climatic), परस्पर क्रियात्मक/पारिस्थितिक (interactive/ecological) आदि। स्वाकृतिक सिद्धान्तों के इन वर्गीकरणात्मक आधारों का बीजारोपण वर्तमान शदी के प्रारम्भ में दो स्वाकृतिक विचारधाराओं पर हुआ—(i) जलवायु भू-आकारिकी तथा (ii) आकृतिक भू-आकारिकी (morphological geomorphology)। जलवायु के सर्वोपरि नियंत्रण की मान्यता के आधार पर ग्लोब को आकारजनक प्रदेशों (morphogenetic regions) में विभाजन इस तरह के वर्गीकरणात्मक सिद्धान्त का प्रमुख विषय रहा है। ज्ञातव्य है कि प्रारम्भ में चक्रीय संकल्पना जलवायु भू-आकारिकी से भी जुटी थी परन्तु आगे चलकर इसे जलवायु भू-आकारिकी से मुक्त कर दिया गया।

(vi) **कार्य-कार्यात्मक सिद्धान्त**—द्वितीय विश्वयुद्धोपरान्त भू-आकारिकी में विधितन्त्रात्मक (methodological) परिवर्तन सामने आया सांख्यिकीय एवं गणितीय विधियों के व्यापक प्रयोग के फलस्वरूप 'नवीन भू-आकारिकी', 'वैज्ञानिक भू-आकारिकी' या 'परिमाणात्मक भू-आकारिकी' का अभ्युदय हुआ। इस तरह की विचारधारा का मुख्य उद्देश्य आकृतिक रूपों (morphological forms) का उन्हें नियंत्रित करने वाले प्रक्रमों से सम्बन्ध स्थापित करना है। प्रत्यक्षरूप से 'प्रक्रम' के स्थान पर 'कार्य' (function) का प्रयोग किया गया। ज्ञातव्य है कि स्वाकृतिक सिद्धान्त के इस 'कार्य-कार्यात्मक आधार' का प्रयोग गिलबर्ट द्वारा भी किया गया था। वास्तव में स्वाकृतिक सिद्धान्त के कार्यात्मक आधार की आवश्यकता ऐतिहासिक एवं वर्गीकरणात्मक सिद्धान्तों

की कमियों को दूर करने एवं लघु क्षेत्र में स्थलरूपों के अध्ययन एवं लघु समय में उनमें (स्थलरूपों) परिवर्तनों के अध्ययन के लिये हुई। गिलबर्ट के अलावा इस दिशा में सर्वप्रथम प्रयास हार्टन (1945) द्वारा किया गया जिन्होंने अपरदनात्मक आकार एवं सकल जलीय स्थानान्तरण (gross hydrological transfers) के बीच सम्बन्ध एवं अपरदनात्मक प्रक्रमों के विशद अध्ययन पर बल दिया, यद्यपि हार्टन अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो पाये क्योंकि वे वृहद् प्रवाह-जाल के विकास के 'जननिक मॉडल' का निर्माण नहीं कर पाये। स्ट्राहलर ने इस कार्य को पूर्ण किया। 1950-60 दशक में 'कार्यात्मक विज्ञान' (classic function science) का अभ्युदय हुआ तथा मध्य स्तरीय (meso-scale) स्थलरूप अध्ययन के मुख्य केन्द्र बने। इस तरह आकार (forms) को प्रक्रम के कार्य-रूप (function) के रूप में लिया गया तथा दोनों में सम्बन्धों के अध्ययन को सांख्यिकीय सह-सम्बन्ध तकनीक से सम्वर्द्धित किया गया।

ज्ञातव्य है कि प्रक्रमों का अध्ययन कम से कम उन मध्य एवं लघु स्तरीय (of medium to small spatial scale) आकृतिक रूपों (morphological forms) जिनमें अपेक्षाकृत त्वरित कालिक परिवर्तन होता है से सम्बन्धित हो सकता है। परिणामस्वरूप संयुक्त राज्य अमेरिका के न्यूजर्सी प्रान्त में स्थित पर्थ अम्बाय की उत्खात् स्थलाकृति (badland topograhpy) से प्राप्त उदाहरणों के आधार पर आकार एवं प्रक्रम के मध्य कार्यात्मक सम्बन्ध (funtional relationships) स्थापित किये गये। परन्तु पर्यवेक्षित कार्य-कार्यात्मक सह-सम्बन्ध की पुष्टि के लिये जितने त्वरित परिवर्तन की आवश्यकता हो सकती है उतना प्रमाण स्पष्ट रूप में नहीं आ पाया। इस तरह कार्य-कार्यात्मक सिद्धान्त सांख्यिकीय तकनीकों की सक्षमता पर ही आधारित हो सका। इस सिद्धान्त के सामने सबसे बड़ी समस्या वर्तमान स्थलरूपों का वर्तमान कार्यरत प्रक्रमों से सम्बन्ध स्थापित करने की है। ज्ञातव्य है कि अधिकांश स्थलरूप अवशिष्ट (relict) हैं तथा समस्त स्थलरूप समूह 'पुनर्लिखित हस्तलिपि' (palimpsest) के समान हैं। पुनश्च, स्थलरूपों में नियमितता (regularity) का तात्पर्य यह नहीं होता कि प्रक्रमों में भी नियमितता हो। अतः प्रक्रम एवं आकार में वास्तविक सम्बन्ध तभी स्थापित किया जा सकता है जबकि उनमें परिवर्तन की दर का सही ज्ञान हो। इसके लिए प्रक्रमों के कार्य-दर का मापन होना आवश्यक है। इस तरह के क्रमित विवरण (ordered information) के अभाव में कार्य-कार्यात्मक सिद्धान्त अपूर्ण रह गया है।

(vi) यथार्थवादी सिद्धान्त—यथार्थवादी सिद्धान्त वास्तव में कार्य-कार्यात्मक सिद्धान्त का ही अग्रसारित एवं परिमार्जित रूप है। कार्य-कार्यात्मक सिद्धान्त में लघु स्तरीय मापक पर प्रक्रमों की क्रियाविधि एवं पूर्वानुमान (prediction) पर सर्वाधिक जोर दिया जाता है जबकि यथार्थवादी सिद्धान्त की मान्यता है कि पर्यवेक्षित नियमितता (observed regularities) के आधार पर प्रक्रमों की क्रियाविधि एवं उसके परिणामों के पूर्वानुमान तक की ही व्याख्या अपेक्षित नहीं है अपितु दृश्य स्थलरूपों के बाह्य आकार के अध्ययन के साथ उन सामग्रियों (structure) का भी अध्ययन होना चाहिए जिन पर इन स्थलरूपों का निर्माण हुआ है। अतः प्रक्रमों की विशद कारणात्मक क्रियाविधि (detailed causal mechanisms) तथा बाह्य दृश्य स्थलरूपों में संलग्न संरचना का अध्ययन तथा दोनों के पारस्परिक सम्बन्धों का भी अध्ययन यथार्थवादी सिद्धान्त की आधारशिला है। इस तरह सूक्ष्म स्तरीय मापक पर स्थलरूपों के दृश्य बाह्य आकारों के नीचे स्थित संरचना के भौतिक एवं रासायनिक क्रियाविधि (physical and chemical mechanisms) का अध्ययन होना चाहिए क्योंकि इन्हीं के द्वारा स्थलरूपों का निर्माण एवं उनमें परिवर्तन होता है। परिणामस्वरूप यथार्थवादी सिद्धान्त का प्रारम्भ 1960 के बाद से प्रारम्भ होता है तथा भू-आकारिकी के विधितंत्र (methodology) में अन्तर आता है। मध्य स्तरीय स्थलरूपों (mesoscale landforms) के स्थान पर सूक्ष्मस्तरीय प्रक्रमों (microscale processes) का अध्ययन प्रारम्भ होता है। यद्यपि यथार्थवादी सिद्धान्त खासकर 'प्रक्रम यथार्थता' (process realism) का बीजारोपण गिलबर्ट (1909,1914), सण्डबार्ग (A Sundberg, 1956) हार्टन (1945) शूम (Schumm, 1956) आदि के कार्यों के रूप में ही हो गया था परन्तु इसका पूर्णरूपेण प्रतिपादन शीडगर (A E Scheidegger, 1961) द्वारा 1961 में किया गया तथा ड्यूरी (G H. Dury, 1972) ने इसका सम्वर्द्धन किया। इस तरह 1960-70 में भू-आकारिकी में

'यथार्थता' की ओर झुकाव रहा। ज्ञातव्य है कि इस 'यथार्थता' ने यथार्थवादी सिद्धान्त के समर्थकों को इस हद तक प्रेरित किया कि उनका अध्ययन अत्यन्त सूक्ष्म-स्तरीय मापक पर *रासायनिक एवं भौतिक अपक्षय के* प्रक्रमो की क्रियाविधि पर केन्द्रित हो गया जहाँ पर दो समस्यायें सामने आती है—(i) अत्यन्त सूक्ष्म स्तरीय मापक पर प्रक्रमो की क्रियाविधि इतनी जटिल होती है कि उसका अध्ययन कोई सक्षम जीव-रसायनविद् (biochemist) भी नहीं कर सकता है। यहाँ पर भू-आकृति वैज्ञानिक सफल नहीं हो सकता। (ii) अत्यन्त सूक्ष्मस्तरीय मापक पर प्रक्रमो की क्रियाविधि के अध्ययन के परिणामो को मध्यस्तरीय मापक पर प्रक्रमों की क्रियाविधि के साधारणीकरण (generalisation) के लिए प्रयुक्त नही किया जा सकता।

(vii) **परम्परावादी सिद्धान्त (Conventionalist Theory)**—परम्परावादी सिद्धान्त वास्तव मे विभिन्न *सिद्धान्तो का मिश्रित रूप या यो कहे 'खिचड़ी' है।* इस विचारधारा की दार्शनिक आधारशिला यह है कि 'पर्यवेक्षण (observation) एवं सिद्धान्त मे कोई न्यायोचित एवं उपयोगी अन्तर स्थापित नही किया जा सकता है क्योंकि पर्यवेक्षण के आधार पर ही सिद्धान्त का प्रति-*पादन किया जाता है।' अर्थात् सिद्धान्त के प्रतिपादन के* पहले पर्यवेक्षण आवश्यक होता है। दूसरे शब्दो मे न पर्यवेक्षण के बिना 'सिद्धान्त बनाया जा सकता है और न ही बिना सिद्धान्त के बाह्य वास्तविकता (पर्यवेक्षण से प्राप्त) को सही ढग मे आंका एव व्यक्त किया जा सकता है। सक्षेप मे कहा जा सकता है कि मानव-हितोन्मुख लघुस्तरीय मापक पर स्थलरूपो एव प्रक्रमो का अध्ययन (यथार्थवादी भू-आकारिकी—realist geomorphology का मुख्य आधार) तथा उसमे उपयोगितावादी निरूपण (utilitarian consideration) का पुट ही परम्परावादी सिद्धान्त का मुख्य आधार है। स्पष्ट है 'ग्वाकृतिक चक्रीय सिद्धान्त' के समान ही 'ग्वाकृतिक सिद्धान्तो के चक्र' का भी एक दौर पूर्ण हुआ लगता है। लगता है सिद्धान्तो के प्रतिपादन के प्रारम्भिक चरण मे प्रतिपादित उद्देश्यमूलक / प्रयोजनपरक (teleological) सिद्धान्त का समय पुनः आ गया है।

(•) गिलबर्ट का ग्वाकृतिक सिद्धान्त

ग्रोव कार्ल गिलबर्ट ने किसी भी सुनिश्चित ग्वाकृतिक सिद्धान्त का प्रतिपादन नही किया है। वास्तव मे गिलबर्ट ने अपने को सिद्धान्तकार (theorist) के बजाय 'अन्वेषक' (investigator) के रूप मे लिया। उनकी *मान्यता थी कि सिद्धान्तकार अपनी परिकल्पनाओं का* परीक्षण नही कर पाते हैं जबकि अन्वेषक सदैव नये तथ्यों की खोज करता है जिस आधार पर 'परीक्षात्मक सिद्धान्त' (tentative theory) प्रमाणित नही हो पाते हैं। यही कारण है कि गिलबर्ट ने संयुक्त राज्य अमे-*रिका के विभिन्न क्षेत्रों (ग्रेट बेसिन, बोनविली झील,* उच्च मैदान के उत्स्रुतकूप artesian wells, अलास्का, बेसिन रेंज, हेनरी पर्वत, कैलिफोर्निया, सियरा पर्वत आदि) मे स्थलरूपों तथा प्रक्रमो का अध्ययन किया परन्तु उनसे सम्बन्धित किसी सामान्य सिद्धान्त का *प्रतिपादन नही किया।* इन्होंने जलीय प्रक्रम की क्रिया-विधि एव उनसे उत्पन्न स्थलरूपो के अध्ययन के आधार पर कुछ 'नियमों' (laws) का प्रतिपादन अवश्य किया। उदाहरणार्थ—'समान ढाल का नियम' (law of uniform slope,) 'संरचना का नियम' (law of structure), 'जलविभाजकों का नियम' (law of divides) जिसे आगे चलकर वर्द्धमान ऊर्ध्वगामिता का नियम' (law of increasing acclivity) का नाम दिया, 'कार्य की समता की प्रवृत्ति' (tendency to equality of action) या 'गतिक सतुलन' (dynamic equilibrium), 'अगो के परस्परावलम्बन का नियम' (law of the interdependence of parts) आदि।

गिलबर्ट ने स्थलरूपो एव प्रक्रमो के विश्लेषण मे वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग किया जिसके अन्तर्गत *'गुण' (quality) के स्थान पर 'मात्रा' (quantity) पर जोर* दिया जाता है। इन्होने भू-वैज्ञानिक प्रक्रमो (geological processes) के विश्लेषण मे 'ऊष्मागतिकी' (thermodynamics) प्रतिरूप (model) का प्रयोग किया। *(ऊष्मागतिकी के प्रथम नियम के अनुसार ऊर्जा की कुल* मात्रा स्थिर रहती है जबकि द्वितीय नियम के अनुसार समय के साथ तन्त्र (system) सर्वाधिक 'उत्क्रम-माप' *(maximum entropy) की दशा को प्राप्त हो जाता है अर्थात् तन्त्र मे न्यूनतम ऊर्जा तथा अधिकतम अव्यवस्था* (maximum disorder = maximum entropy) होती है)।

गिलबर्ट ने प्रकृति (nature) को वर्तमान काल (present tense) मे लिया। अर्थात् उनका झुकाव

विगत घटनाओं के बजाय वर्तमान दशा की ओर था। गिलबर्ट की प्रकृति सम्बन्धी विचारधारा प्राकृतिक दर्शन-शास्त्र (natural philosophy) के अध्ययन से प्राप्त दो सकल्पनाओ पर आधारित है—(i) साम्यावस्था की संकल्पना (concept of equilibrium) तथा (ii) लयानुगत/लयात्मक समय की सकल्पना (concept of rhythmic time)।

साम्यावस्था के अन्तर्गत गिलबर्ट ने प्रतिपादित किया कि किसी भी आकृति के अन्तिम रूप पर क्रियाशील बल का कुल योग शून्य होता है (*the sum of the forces acting on the final form equalled zero*)। इन्होंने इस संकल्पना का प्रयोग लैकोलिथ के निर्माण की प्रक्रिया के विश्लेषण के दौरान किया। लैकोलिथ के निर्माण के समय आरोही मैगमा (rising magma) का चालन बल (driving force) तब तक चलता रहता है जब तक कि वह (चालन बल) समान परिमाण वाले प्रतिरोधी (resisting) बल द्वारा प्रतिचालित (countered) नहीं हो जाता। अर्थात् जब तक प्रतिरोधी बल से चालन बल अधिक रहता है तब तक मैगमा ऊपर उठता रहता है और लैकोलिथ में विस्तार होता जाता है परन्तु जब प्रतिरोधी बल चालन बल के बराबर हो जाता है तो साम्यावस्था की स्थिति आ जाती है और लैकोलिथ का विस्तार स्थिर हो जाता है। इस तरह न्यूनतम बल का सिद्धान्त/नियम कार्य करने लगता है (अर्थात् बल का सकल योग शून्य हो जाता है)। गिलबर्ट ने इसी नियम का प्रयोग नदी के कार्य के सन्दर्भ में भी किया है। नदी का जल-प्रवाह नीचे की ओर (*down stream*) गुरुत्व द्वारा होता है। इस तरह नदी तल की ऊर्जा प्रवाह-वेग के रूप में होती है। इस प्रवाह-वेग से जलमार्ग की रगड से उत्पन्न प्रतिरोध (resistance) से व्यवधान होता है। जब तल की ऊर्जा (प्रवाह-वेग) एवं रगड-जनित प्रतिरोध बराबर होते हैं तो साम्यावस्था की स्थिति आ जाती है और न्यूनतम बल (*least force*) का नियम कार्य करता है। इस तरह की स्थिति को प्राप्त नदी की परिच्छेदिका को गिलबर्ट ने 'साम्यावस्था की परिच्छेदिका' कहा है (कार्यों की साम्यावस्था—equilibrium of actions—चालन बल (नदी के सन्दर्भ में गुरुत्व द्वारा चालित प्रवाह वेग) एवं प्रतिरोधी बल के बीच साम्यावस्था) एवं इस अवस्था को प्राप्त नदी को 'प्रवणित नदी/क्रमबद्ध नदी (graded river) बताया है। गिलबर्ट ने इस साम्यावस्था के नियम एवं 'प्रवणित' की संकल्पना का प्रयोग उन सभी स्थलरूपों एवं प्रक्रमों के लिये किया जिनका उन्होंने अध्ययन एवं विश्लेषण किया है। यथा—बोनविली झील के सन्दर्भ में 'प्रवणित पुलिन' (graded-beach), सियरा पर्वत के सन्दर्भ में 'प्रवणित पहाड़ी-ढाल' (graded hillslope)। गिलबर्ट ने स्थलरूपों के निर्माण की दो प्रतिद्वन्दी प्रवृत्तियों (competing tendencies) का प्रतिफल बताया है—(i) विविधता के निर्माण की प्रवृत्ति तथा (ii) एकरूपता/समरूपता की प्रवृत्ति।

'समय' के सन्दर्भ में भी गिलबर्ट की अवधारणा भू-वैज्ञानिकों से सर्वथा भिन्न है। उन्होंने बताया कि 'भू-गर्भिक समय' (*geologic time*) लयबद्ध/लयात्मक (rhythmic) होता है। कोई भी घटना (event) लयों (rhythms) की नाड़ीजाल (plexus) का प्रतिनिधित्व करती है (any event represents a plexus of particular rhythms)। पृथ्वी की गति आधारभूत लय होती है (motion of the earth is the basic rhy-*thm*)। *इस लय (पृथ्वी की गति) से जलवायु प्रभावित होती है और जलवायु भू-गर्भिक प्रक्रमों को प्रभावित करती है। गिलबर्ट ने इस अवधारणा एवं 'विकास'* (evolution) *या 'उत्क्रम-माप'* (entropy) *सदृश प्रगामी प्रक्रिया (progressive process) में प्राप्त अवधा*रणा में अन्तर स्थापित किया। 'विकास अवधारणा' के समर्थक भौतिकशास्त्री (physicists) एवं भू-गर्भविद् (geologists) के 'सतत विनाश' एवं 'सतत विकास' (continual decay or growth) की सकल्पना की आलोचना की क्योंकि इन लोगों को विश्वास था कि समय के साथ क्रमिक अवस्थाओं में या तो विनाश होता जाता है या विकास। इस तरह भू-वैज्ञानिकों की अवधारणा (conception) समय-निर्भर' (time dependent) सकल्पना पर आधारित होती है जबकि गिलबर्ट 'समय-रहित' (timeless) या 'समय-स्वतन्त्र (time-independent) अवधारणा के पोषक थे। गिलबर्ट ने प्रकृति को सस्मृति (स्मृतियुक्त घटनाओं का आकलन—reminiscence, अर्थात् विगत घटनाओं का सिलसिलेवार विवरण) के रूप में न लेकर 'अनवरत वर्तमान' (continual present) के रूप में स्वीकार किया।

इस तरह गिलबर्ट ने 'साम्यावस्था' (*equilibrium*) 'प्रकृति की वर्तमान स्थिति' तथा 'समय रहित' आदि अवधारणाओं पर 'गतिक साम्यावस्था' (dynamic equilibrium) की सकल्पना का प्रतिपादन किया। इनके अनुसार स्थलरूप गतिक साम्यावस्था की स्थिति में होते हैं।

अर्थात् समय के परिवेष में उनमें विनाश या विकास नहीं होता है। गिल्बर्ट के स्थाकृतिक सिद्धान्त को यों व्यक्त किया जा सकता है—"स्थलरूप साम्यावस्था की स्थिति में होते हैं, उनका इतिहास लयात्मक होता है तथा इनका आकार तरंगित होता है (बल एवं प्रतिरोध की क्रिया से रगड़ जनित होती हैं, इस रगड़ से लय का सृजन होता है और इस लय से धरातलीय स्थलरूप तरंगित होता है)। इस तरह के बल (frictional rhythms) अर्थात् प्रक्रमों की शिनाख्त/पहिचान, उनका परिमाणन (quantification) एवं उनकी गतिक प्रतिस्पर्धा (dynamic competition) का निर्धारण ही स्थाकृतिक समस्या है।'

(2) डेविस का स्थाकृतिक सिद्धान्त / मॉडल

विलियम मोरिस डेविस ने स्थलरूपों के विकास से सम्बन्धित सर्वप्रथम वास्तविक सामान्य सिद्धान्त (general theory) का प्रतिपादन किया। वास्तव में इनका स्थाकृतिक सिद्धान्त कई सिद्धान्तों का एक समूह है। इनमें तीन प्रमुख हैं—(i) 'सरिता-जीवन का पूर्ण चक्र' (complete cycle of river cycle, जिसका प्रतिपादन 1889 में किया गया—The Rivers and Valleys of Pennsylvania), (ii) 'भौगोलिक चक्र', (geographical cycle जिसका प्रतिपादन 1899 में किया गया) तथा (iii) 'ढाल का विकास'। प्रथम (सरिता-जीवन का पूर्ण चक्र) के अन्तर्गत अपरदनात्मक नदी-घाटी के प्रगामी / क्रमिक विकास'(progressive development of erosional stream valleys) की चक्रीय संकल्पना का प्रतिपादन किया गया है जबकि दूसरे (भौगोलिक चक्र) के द्वारा समय स्थलरूप के विकास की व्याख्या की गई है। इसके अन्तर्गत आर्द्र शीतोष्ण प्रदेशों में अपरदन के लिए समान प्रतिरोध (uniform resistance) एवं अपेक्षाकृत त्वरित दर से उत्थित भू-भाग के बहते जल एवं सामूहिक विनाश (mass wasting) द्वारा प्रगामी / क्रमिक विनाश की व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। आगे चलकर इस चक्रीय संकल्पना का प्रयोग अन्य जलवायु प्रदेशों में स्थलाकृतियों के विकास के लिए भी किया गया। यथा—शुष्क अपरदन चक्र (डेविस, 1903 1905 तथा 1930), हिमानी अपरदन-चक्र (डेविस, 1900, 1906), सागरीय अपरदन-चक्र (डेविस, 1912, जानसन, 1919), कार्स्ट चक्र (बीदी Beede, 1911, स्वीजिक Cvijic,1918), परिहिमानी अपरदन चक्र (पेल्टियर, 1950) आदि। पुन. डेविस के समर्थकों ने डेविस के "भौगोलिक चक्र' को अन्य रूपों में व्यक्त किया। यथा—'सामान्य चक्र' (Normal cycle), 'अपरदन चक्र' (Erosion cycle), 'स्थाकृतिक चक्र' (Geomorphic cycle) तथा 'आर्द्र चक्र' (Humid cycle)। डेविस द्वारा स्थलरूपों के नियंत्रक तीन कारकों (संरचना, प्रक्रम एवं समय) में 'समय' (*time*) के स्थान पर 'अवस्था' (stage) का प्रयोग किया गया।

डेविस के सिद्धान्त या मॉडल को 'भौगोलिक चक्र' के रूप में लिया जाता है जो कि न्यायसंगत नहीं है। यदि उनके तीन सिद्धान्तों 'सरिता-जीवन का पूर्ण चक्र,' 'भौगोलिक चक्र' एवं 'ढाल विकास' को एक साथ मिलाकर देखा जाय तो स्पष्ट होता है कि डेविस का सामान्य सिद्धान्त (जो समग्र स्थलाकृतियों के विकास से सम्बन्धित है) 'भौगोलिक चक्र' नहीं है। उनके सामान्य सिद्धान्त को निम्न रूप में व्यक्त किया जा सकता—

'स्थलरूपों में समय के साथ क्रमिक परिवर्तन (क्रमिक अवस्थाओं में) होता है तथा यह परिवर्तन एक सुनिश्चित दिशा में सुनिश्चित लक्ष्य (आकृति विहीन समप्राय मैदान) की ओर उन्मुख होता है।

सिद्धान्त का उद्देश्य

डेविस ने अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन स्थलरूपों के व्यवस्थित वर्णन एवं जननिक वर्गीकरण के लिए किया था।

सिद्धान्त का सन्दर्भ तंत्र (Reference system)

डेविस के सिद्धान्त का मुख्य आधार यह है कि 'स्थलरूप समय के परिवेष में विकसित होते हैं' (*landforms evolve through time*)। अर्थात् समय के साथ जैसे-जैसे प्रक्रम कार्य करते हैं, स्थलरूपों में एक क्रमानुगत / क्रमबद्ध (orderly) रूप में परिवर्तन इस तरह होता जाता है कि समान बाह्य पर्यावरण दशाओं में स्थलरूपों का एक व्यवस्थित क्रम (orderly sequence) विकसित होता है।

'The reference system is that the land forms change in an orderly manner as processes operate through time such that under uniform external environmental conditions an orderly sequence of landforms develop."—

Robert C. Palmaquist.

इस तरह डेविस का सिद्धान्त 'विकासीय तंत्र' (evolutionary system) का प्रतिरूप है। स्थलरूपों के समय के परिवेष में होने वाले क्रमिक परिवर्तनों की व्याख्या के लिए डेविस ने 'भौगोलिक चक्र' के मॉडल

का प्रयोग किया। यही कारण है कि अधिकांश लोगों ने 'भौगोलिक चक्र' को ही डेविस का सिद्धान्त माना। सत्य तो यह है कि स्थलरूपों की क्रमिक विकासीय प्रावस्थाओं (orderly developmental phases) की व्याख्या के लिए सम्भावित प्रतिरूपों में से 'भौगोलिक चक्र' एक प्रतिरूप (model) है। यद्यपि यह सही है कि डेविस के स्वाभाविक सिद्धान्त की व्याख्या के लिए आर्द्र शीतोष्ण जलवायु में स्थलरूपों के विकास से सम्बन्धित 'सामान्य भौगोलिक चक्र' का ही सहारा लिया जाता है। डेविस ने 'सामान्य भौगोलिक चक्र' की दो दशाओं का उल्लेख किया है। प्रथम—त्वरित उत्थान (अल्प काल) तथा उसके बाद दीर्घकाल तक धरातलीय स्थिरता। द्वितीय—दीर्घकालिक मन्द उत्थान। प्रथम दशा में तरुणावस्था का समय लम्बा होता है जबकि द्वितीय दशा में तरुणावस्था का समय कम होता है परन्तु प्रौढावस्था अपेक्षाकृत दीर्घकालिक होती है

सिद्धान्त की मान्यतायें (Premises of the Theory)

डेविस का सिद्धान्त 6 मान्यताओं पर आधारित है। (i) स्थलरूप आन्तरिक एवं वाह्य कारकों की पारस्परिक क्रिया का विकसित प्रतिफल होता है (landforms are the evolved product of the interactions of internal and external agencies)। (ii) स्थलरूपों का विकास इस तरह क्रमिक (orderly) रूप में होता है कि पर्यावरण दशाओं में परिवर्तन के अनुरूप धरातलीय रूपों का व्यवस्थित क्रम (systematic sequence) उत्पन्न होता है। ये दोनों मान्यतायें 'चक्रीय सन्दर्भ तंत्र' (cyclic reference system) से सम्बन्धित हैं। (iii) नदियाँ तब तक निम्नवर्ती अपरदन करती हैं जब तक प्रवणित / क्रमबद्ध दशा स्थापित न हो जाय। इस स्थिति की प्राप्ति के बाद नदियों द्वारा पार्श्विक अपरदन (lateral erosion) महत्त्वपूर्ण हो जाता है। (iv) पहाड़ी-ढाल की क्रमबद्धता (grading) आधार से प्रारम्भ होकर ऊपर की ओर उन्मुख / अग्रसर होती है तथा पहाड़ी-ढाल की प्रवणता (gradient) मृदा-गठन (soil texture) से नियमित होती है। (v) जलवायु में परिवर्तन नहीं होते हैं। उपर्युक्त तीन मान्यतायें डेविस के भौगोलिक चक्र के 'सामान्य प्रतिरूप' (general model) से सम्बन्धित हैं। (vi) अन्तिम मान्यता उत्थान की दर एवं अवधि से सम्बन्धित है जो अलग-अलग मॉडल में अलग होती है। सामान्य मॉडल में उत्थान अल्पकाल में त्वरित गति से होता है तथा उत्थान के बाद दीर्घकाल तक स्थिर दशा होती है। अन्य मॉडल के लिये उत्थान की दर मन्द परन्तु दीर्घकालिक होती है।

इस तरह डेविस का मॉडल समय-नियंत्रित अथवा समय-निर्भर (time-controlled or time-dependent) है जिसके अन्तर्गत जैसे-जैसे समय बढ़ता जाता है, स्थलरूपों में क्रमिक परिवर्तन होता जाता है। स्थलरूपों की विकास की पूर्ण अवधि को सामान्यीकरण के लिए डेविस ने तीन प्रमुख अवस्थाओं—तरुण, प्रौढ तथा जीर्ण / अन्तिम—में विभक्त किया है। तरुणावस्था में अधिकतम निरपेक्ष उच्चावच्च (absolute relief) एवं अधिकतम उच्चावच्च (relief) होता है क्योंकि नदी-घाटी का अधःकर्तन/निम्नवर्ती अपरदन अधिक होता है जबकि जल-विभाजक/अन्तरसरिता क्षेत्र (interfluves/interstream areas) शीर्ष अपरदन से प्रभावित नहीं होता है। अन्तिम तरुणावस्था के बाद निरपेक्ष ऊँचाई एवं उच्चावच दोनों में क्रमिक/प्रगामी अवनयन (progresisve lowering) होता जाता है तथा अन्तिम/जीर्ण अवस्था में निरपेक्ष ऊँचाई एवं उच्चावच्च न्यूनतम होते हैं। पूर्ण गतिक साम्यावस्था की दशा चक्र के केवल अन्त में ही सम्भव हो पाती है। (डेविस के भौगोलिक चक्र की व्याख्या अध्याय 14, 'अपरदन-चक्र की संकल्पना एवं गतिक सन्तुलन सिद्धान्त' में की गई है)।

यद्यपि डेविस ने अपने मॉडल/सिद्धान्त में 'संरचना, प्रक्रम तथा समय' (structure, process and time) तीनों कारकों (trio of Davis) का उल्लेख किया है परन्तु इन्होंने सर्वाधिक बल 'समय' पर दिया है। प्रक्रमों का उल्लेख आनुभविक स्तर (empirical level) से ऊपर नहीं उठ पाया है। इन्होंने संरचना के नियंत्रण की बात तो की है परन्तु 'स्थलरूपों के शैलकीय समायोजन' (lithological adjustment of landforms) के मॉडल का निर्माण नहीं किया है। डेविस के लेखों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि उनके वर्णनों एवं व्याख्याओं में स्थलरूपों के संरचना एवं शैलकीय समायोजन की झलक अवश्य मिलती है।

सिद्धान्त का प्रभावी पक्ष (Positive Side)

डेविस के स्थलरूप में विकास के सामान्य सिद्धान्त को विश्व स्तर पर व्यापक समर्थन एवं ख्याति मिली। प्रतिपादन काल (1889 तथा 1899) से लेकर 1950 ई० तक इस सिद्धान्त का नशा छाया रहा। यद्यपि

वर्तमान समय में इस सिद्धान्त के आलोचकों की संख्या इतनी अधिक हो गयी है कि समर्थक अल्पसंख्यक हो गये हैं तथापि आलोचक भी अपने विवरणों में डेविस के उद्धरण को व्यक्त किये बिना नहीं रह पाते। इस सन्दर्भ में जडसन का कथन उल्लेखनीय है क्योंकि इन्होंने 1975 में भी डेविस को महान् माना है।

'His grasp of time, space and change; his command of detail; and his ability to order his information and frame his argument remind us again that we are in the presence of a giant'.—Sheldon Judson, (1975, p. 30)[1]

हिगिन्स की भी मान्यता है कि डेविस के दोषपूर्ण सिद्धान्त को यदि एक लम्बे समय तक भू-आकृतिक समाज में इतनी अधिक मान्यता एवं ख्याति मिली तो उसके सशक्त कारण अवश्य होने चाहिए।

'Davis' system came to dominate both teaching and research in the descriptive and genetic—historical aspects of geomorphology Its continued viability is attested in part by continuing objections to it by recent critics, such as R. C. Flemal (1971) and C R Twidale (1975) That such an obviously *flawed doctrine could have enjoyed such* prolonged popularity among large segment of the geomorphic community suggests that there must be compelling reasons for its appeal.'—Charles G. Higgins (1975, p. 7).

डेविस के मॉडल के निम्न गुणों एवं विशेषताओं ने इसे सर्वाधिक ख्याति एव मान्यता दिलायी।

(*i*) डेविस का मॉडल/सिद्धान्त अत्यन्त सरल तथा व्यवहार्य (applicable) है। डेविस ने अपने मॉडल की रचना इतने सरल रूप में की है कि वह आसानी से ग्राह्य है। यथा—भौगोलिक चक्र के अन्तर्गत स्थलखण्ड में सागर-तल के सन्दर्भ में उत्थान होता है। आर्द्र जलवायु के कारण सततवाहिनी सरिताओं का आविर्भाव होता है। संरचना समांग (homogeneous) होती है। त्वरित दर में अल्पकाल में उत्थान होता है तथा उसकी समाप्ति पर दीर्घकाल तक स्थलखण्ड में स्थिरता रहती है। जलवायु तथा सरिता-प्रवृत्ति (river regime) में परिवर्तन नहीं होता है। इस धरातलीय स्थिरता (crustal stability) की दीर्घ अवधि के दौरान सरिता द्वारा स्थलखण्ड में क्रमिक अवस्थाओं (तरुण, प्रौढ़ तथा जीर्ण) में अवनयन होता जाता है। ज्ञातव्य है कि इस आदर्श स्थिति वाले मॉडल में यदि कुछ स्वाभाविक जटिलता भी आ जाती है (यथा—यदि शैल संरचना समांग न होकर जटिल हो, या उत्थान या जलवायु-परिवर्तन में पुनरावृत्ति हो) तो डेविस के मौलिक मॉडल में कतिपय सामान्य समायोजन करके सरिता-अपरदित स्थलरूपों के विकास की सुचारु रूप से व्याख्या की जा सकती है। इस तरह स्थलरूपों में विविधता के अभाव में यह मॉडल ग्राह्य हो जाता है। अपरदनात्मक स्थलाकृति के घर्षण की मात्रा को इंगित करने के लिये डेविस के इस मॉडल में सुस्पष्ट एवं उपयोगी नामावली (तरुण, प्रौढ़ तथा जीर्ण) सुलभ हो जाती है जो विद्यार्थियों को अत्यधिक रुचिकर होती है।

(ii) डेविस ने अपने मॉडल को सुव्यक्त/रोचक एवं सशक्त शैली में प्रस्तुत किया जिसने लोगों का ध्यान शीघ्र आकर्षित कर लिया। चावन का कहना है कि डेविस की निर्मल एवं सुस्पष्ट भाषा के नशे से लोग अभिभूत हो गये।

'Davis' rhetorical style is justly admired and several generations of readers became 'slightly bemused by long though mild intoxication on the limpid prose of Davis' remarkable essays'—Quoted by C. G. Higgins.

(iii) डेविस ने अपने मॉडल की व्याख्या के दौरान जो निष्कर्ष प्रस्तुत किये उनकी पुष्टि समुचित उदाहरणों से की है। उन्होंने व्यापक स्तर पर क्षेत्र-पर्यवेक्षण किया है। ज्ञातव्य है कि डेविस के कार्यों में जो त्रुटियाँ बतायी जाती हैं वे डेविस द्वारा स्थलरूपों के क्षेत्र में गलत पर्यवेक्षण के कारण न होकर पर्यवेक्षण के दौरान दृश्य आकृतियों की गलत एवं भ्रामक व्याख्या के कारण हैं।

(iv) डेविस के सिद्धान्त ने तात्कालिक भू-विज्ञान में प्रचलित विचारधारा को भरपूर समर्थन प्रदान किया ज्ञातव्य है कि भू-वैज्ञानिक जेम्स हटन ने भू-विज्ञान में 'एकरूपतावाद' की संकल्पना का प्रतिपादन किया था।

1. 'Theories of Land form Development' edited by W. N. Melhorn and R. C. Flemal 1975 (1980), George Allen and Unwin (Publisher), London.

हटन के बाद स्थलरूपो के विकास से सम्बन्धित सामान्य सिद्धान्त का प्रतिपादन या सम्बर्द्धन नही हो पाया था। इस तरह डेविस के सिद्धान्त ने इस अन्तराल की पूर्ति की। भू-वैज्ञानिको ने डेविस के इस सिद्धान्त का सहर्ष स्वागत किया। इस तरह डेविस का सिद्धान्त उस समय की प्रचलित भू-वैज्ञानिक विचारधारा के अनुरूप था। डेविस ने एकरूपतावाद एव जलीय सिद्धान्त से सम्बन्धित अलग-अलग रूप मे प्रतिपादित नियमो (यथा—आधार-तल की संकल्पना, नदी-घाटियो का जननिक वर्गीकरण, प्रवणित/क्रमबद्ध परिच्छेदिका तथा क्रमबद्ध सरिता आदि) को एक माला मे पिरोकर एक सामान्य सिद्धान्त के रूप मे प्रस्तुत किया।

(v) डेविस के सिद्धान्त मे स्थलरूपो के विकास से सम्बन्धित भावी कथन (prediction) तथा पिछली घटनाओ की पुनर्रचना, दोनो की सामर्थ्य है। डेविस के मॉडल के अनुसार स्थलरूपो के समयानुगत विकास की प्रावस्थाओ के आधार पर प्रत्येक अगली अवस्था मे स्थलरूपो की स्थिति एवं प्रारूप की भविष्यवाणी की जा सकती है। इसी तरह समय विशेष को प्राप्त अवस्था मे विकसित स्थलरूपो की विशेषताओं के अध्ययन के आधार पर स्थलरूपो के विकास की विगत अवस्थाओ एव ऐतिहासिक अनुक्रम की पुनर्रचना की जा सकती है। इस प्रकार डेविस ने सिद्धान्त ने भू-वैज्ञानिको द्वारा विगत स्थलाकृतिक अवस्थाओ एवं भू-गर्भिक घटनाओ के अध्ययन की प्रवृति मे सहयोग प्रदान किया। यही कारण है कि भूगोल के अलावा भू-विज्ञान मे डेविस के सिद्धान्त को शीघ्र ही व्यापक मान्यता मिल गयी।

इन विशेषताओ एव गुणो के अलावा डेविस के सिद्धान्त को शैक्षिक एव बौद्धिक महत्ता भी प्रदान की जाती है। डेविस के सिद्धान्त को युक्तियुक्त (rational) बताया गया है। क्योकि उन्नीसवी शदी के उत्तरार्द्ध एव प्रारम्भिक बीसवी शदी मे प्रचलित मान्यता, 'प्राकृतिक नियम साधारण/सरल एवं युक्तियुक्त होते हैं' को इस सिद्धान्त द्वारा समर्थन मिलता है। इस सिद्धान्त का 'विकासीय सकल्पना' का आधार उस समय प्रचलित 'जीवीय विकास की संकल्पना' के अनुरूप था। इस प्रकार डेविस के सिद्धान्त द्वारा जीवविज्ञान को विकास की संकल्पना को भी समर्थन प्राप्त हुआ। इसी तरह शैलविज्ञान मे प्रचलित त्वरित पटलविरूपण (rapid diastrophism) तथा उसके बाद दीर्घकाल तक भू-पटलीय स्थिरता (crustal stability) अर्थात् पर्वतीकरण (त्वरित उत्थान) एवं असमविन्यास (भू-पटलीय स्थिरता के समय) की सकल्पना का भी डेविस द्वारा प्रतिपादित उत्थान एव दीर्घकालिक स्थिरता (भौगोलिक चक्र के प्रारम्भ की स्थिति) की सकल्पना द्वारा अनुमोदन हो गया।

डेविस के सिद्धान्त के 'चक्रीय आधार' ने उसे इतना सशक्त बना दिया था कि डेविस के समय चक्रीय आधार से रहित स्थलरूपो के विकास मे सम्बन्धित किसी भी सिद्धान्त को मान्यता नही मिल सकी। यही कारण है कि पेंक के 'समय-रहित स्थलाकृतिक सिद्धान्त' को अमेरिका मे लेश मात्र भी स्वीकृति नही मिल सकी। यद्यपि किंग के स्थलाकृतिक सिद्धान्त मे भी चक्रीय सकल्पना का आधार था परन्तु ढालो के विकास मे पेंक के समान ही पृष्ठ अपरदन (back wasting) द्वारा समानान्तर निवर्तन की सकल्पना के समावेश के कारण उनके सिद्धान्त को डेविस की तुलना मे आंशिक समर्थन ही मिल सका। वास्तव मे उन्नीसवी शदी के उत्तरार्द्ध एव बीसवी शदी के प्रथम चरण मे स्तरविज्ञान (stratigraphy) की प्रचलित विचारधारा कि 'भू-प्रक्रियायें (earth processes), इतिहास एव घटनायें सरल होती हैं तथा उनका कार्यान्वयन चक्रीय पद्धति मे होता है' इतनी प्रबल एवं सशक्त हो चली थी कि 'अचक्रीय संकल्पना' (non-cyclic concept) के लिये कोई स्थान न रहा। यही कारण है कि गिलबर्ट एव आगे चलकर (1962) हैक की अचक्रीय संकल्पनाओ (गतिक संतुलन सिद्धान्त) तथा 'विवृत्त तंत्र' (open system) को समुचित स्थान एव स्वीकृति नही मिल सकी है। इस सन्दर्भ मे हिगिन्स की टीका उल्लेखनीय है—'If the desire for cyclic, time-dependent model stems from an unacknowledged fundamental postulate that the history of the Earth itself is cyclic, then no non-cyclic theory of landscape development can win general acceptance until this postulate is unearthed, examined and possibly rejected.' —Charles G. Higgins (1975, 1980, p 17)

सिद्धान्त के कमजोर पक्ष (Weaknesses of the Theory)

(i) विकासीय प्रावस्थाओं के पारवष मे स्थलरूपो के क्रमिक श्रेणीकरण (ordering of landscape,

तरुण, प्रौढ तथा जीर्ण) की प्रमाणिकता संदिग्ध बतायी जाती है। डेविस ने अपनी उक्त संकल्पना को 'आधार-तल' (base-level) की सकल्पना के आधार पर पुष्ट करने का प्रयास किया है। अर्थात् कोई भी नदी आधार-तल के नीचे अपनी घाटी की तली (valley-floor) का अपरदन नही कर सकती। डेविस ने अपनी आधार-तल की संकल्पना का प्रवणता / क्रमबद्धता' ('grade') की संल्कपना के साथ समन्वय किया है। डेविस के अनुसार स्थलखण्ड के उत्थान के बाद उसके अपरदनात्मक इतिहास मे दो प्रावस्थाये होती है। प्रारम्भ मे नदी की घाटी का तेज गति से अध अपरदन होता है जिस कारण तंग एवं गहरी घाटी का निर्माण होता है तथा घाटी का पार्श्व-ढाल अत्यन्त तीव्र होता है। तत्पश्चात् घाटी का अध कर्त्तन अचानक स्थगित हो जाता है तथा पार्श्विक अपरदन (lateral erosion) द्वारा घाटी चौडी होने लगती है, घाटी की तली जो पहले सकीर्ण एव संकरी थी, अब विस्तृत होकर चौडी हो जाती है। घाटी-पार्श्व ढाल मन्द हो जाता है एव विस्तृत बाढ़-मैदान का निर्माण होता है। इस तरह तरुणावस्था (तग एवं संकरी घाटी, तीव्र पार्श्व-ढाल) एवं प्रौढ़ावस्था (चौडी एवं विस्तृत घाटी) के मध्य आवान्तर (transition) को 'प्रवणता' (grade) की दशा के रूप मे व्यक्त किया है। डेविस ने अपनी 'प्रवणता की संकल्पना' को 'अपरदन तथा निक्षेपण' या 'कार्य करने की क्षमता एवं कार्य किये जाने की आवश्यकता' (ability to work and the work that needs to be done) के मध्य 'समस्थिति' (balance) के रूप मे व्यक्त किया है। डेविस के लेखो से विदित होता है कि स्थलरूपो के विकास की प्रारम्भिक अवस्था मे पदार्थों के परिवहन के लिए निवेशित ऊर्जा से अधिक ऊर्जा सुलभ होती है। इस तरह अतिरिक्त ऊर्जा का घाटी-तल के अपरदन मे उपयोग होता है। जैसे-जैसे घाटी-तली का अपरदन होता रहता है, अपरदन से प्राप्त मलवा (परिवहन के लिए) की मात्रा बढ़ती जाती है तथा सुलभ (प्राप्य) ऊर्जा घटती जाती है। अन्तत परिवहन की वांछित एवं निवेशित ऊर्जा बराबर हो जाती है अर्थात् दोनो मे समस्थिति हो जाती है।

इस तरह, आलोचकों का कहना है, सुलभ / प्राप्य ऊर्जा तथा किये जाने वाले कार्य मे समस्थिति (balance between available energy and the work to be done) की सकल्पना सुस्पष्ट नहीं है (भ्रामक है)। वास्तव मे, जैसा कि डेविस के लिखित साहित्य से प्रकट होता है, कार्य-सम्पादन का सन्दर्भ मलवा-परिवहन मे है एवं ऊर्जा दो रूपो मे निवेशित (खर्च) होती है—मलवा के परिवहन मे एवं घाटी की तली के अपरदन मे। ऊर्जा-खर्च का इस तरह का विभाजन तर्कसंगत एव सत्यपरक नही है। इस प्रकार इस संकल्पना मे निम्न त्रुटियाँ बतायी जाती हैं—(i) अपरदन स्वयं अवसादों की गतिशीलता पर आधारित होता है न कि अवसादों (अपरदन के यत्र) के अभाव मे सर्वाधिक अपरदन होता है। (ii) ऐसी दशा, जबकि सम्पूर्ण / सकल ऊर्जा केवल परिवहन मे खर्च होती हो तथा अपरदन पूर्णतया स्थगित हो जाता हो (जैसा डेविस ने प्रतिपादित किया) का होना असम्भव है। ज्ञातव्य है कि इतना तो अब स्वीकार किया जाता है कि जब घाटी-तली का निम्नवर्ती अपरदन होता है तो स्थितिज ऊर्जा (potential energy) मे ह्रास होता है। परिणामस्वरूप निम्नवर्ती अपरदन मे भी कमी आती है। इस प्रकार निम्नवर्ती अपरदन के स्थान पर पार्श्ववर्ती अपरदन की शुरुआत त्वरित (अचानक) न होकर क्रमश होती है। ज्ञातव्य है कि डेविस की आधारभूत मान्यता (कि निम्नवर्ती अपरदन के स्थगन के बाद पार्श्ववर्ती अपरदन होता है तथा तीव्र घाटी-पार्श्व (steep valley sides) का चौडी एव विस्तृत तथा मन्द पार्श्व ढाल वाली घाटी के रूप में परिवर्तन हो जाता है) तो तर्कसंगत एवं स्वीकार्य है परन्तु इसकी व्याख्या की प्रक्रिया भ्रामक है।

(ii) डेविस की मान्यता (कि यदि दीर्घकाल तक भू-पटलीय स्थिरता (crustal stability) की दशा बनी रहे तो उच्चावच्च मे इतना ह्रास हो जाता है कि अन्त मे आकृतिविहीन समप्राय मैदान का निर्माण होता है) का मौलिक आधार (दीर्घकालिक भू-पटलीय स्थिरता की दशा मे उच्चावच्च मे पर्याप्त ह्रास) तो स्वीकार्य है परन्तु समप्राय मैदान की स्थिति संदिग्ध है।

(iii) डेविस ने अपने 'भौगोलिक चक्र' की व्याख्या के समय उत्थान एव अपरदन की प्रावस्थाओ को अलग रूप मे लिया था। प्रारम्भ मे अल्पकाल मे त्वरित उत्थान होता है तथा अपरदन की क्रिया महत्वपूर्ण नही होती है। उत्थान के बाद दीर्घकालिक विवर्तनिक स्थिरता (prolonged tectonic stability) की दशा मे अपरदन होता है। डेविस की यह अवधारणा आलोचना की सर्वाधिक शिकार हुई है। परन्तु आगे चलकर डेविस ने स त्रुटि को महसूस किया तथा बताया कि उन्होंने

ऐसा चक्र के सरलीकरण (simplification) के लिये किया है। उन्होंने अपने चक्रोपरान्त कार्यों में उत्थान के साथ ही अपरदन की क्रिया का भी उल्लेख किया है। ज्ञातव्य है कि डेविस के सिद्धान्त का यह सबसे कमजोर पक्ष रहा है। वास्तव में उत्थान तथा अपरदन में सीधा सम्बन्ध होता है। अर्थात् जिस गति से उत्थान होता है उतनी ही तीव्रता से अपरदन भी होता है। इस आलोचना में भी उतनी ही यथार्थता का अभाव है जितना डेविस द्वारा कल्पित उत्थान एवं अपरदन के बीच। यह अवश्य सत्य लगता है कि दीर्घकाल तक भू-पटलीय स्थिरता की दशा सम्भाव्य नहीं है। सत्य तो यह है कि इतने लम्बे समय तक भू-पटल गतिविहीन स्थिर दशा में रहे कि उच्चावच्च के ह्रास द्वारा समप्राय मैदान का निर्माण हो सके की अवधारणा मान्य नहीं है। वास्तव में भू-पटलीय क्रिया की निरन्तरता (persistent crustal activity) स्थलरूपों के विकास में महत्त्वपूर्ण कारक होती है। प्लेट विवर्तनिकी (plate tectonics) के आधार पर तो यह पूर्णरूपेण सत्यापित हो गया है कि भू-पटल में पूर्ण स्थिरता (complete crustal stability) सम्भव नहीं है।

(iv) डेविस की *'पहाड़ी-ढाल'* एवं *'घाटी-पार्श्व-ढाल'* (Valleyside slopes) के विकास की अवधारणा भी एक सामान्य विवरण ही है। डेविस ने बताया कि तरुणावस्था में घाटी पार्श्व-ढाल (जो तीव्र होता है) का विकास नदी द्वारा घाटी-तल के अधःकर्तन एवं घाटी-पार्श्व के ढाल-प्रक्रमों द्वारा पृष्ठ अपरदन (back wearing) के सापेक्ष दर (relative rates) द्वारा नियन्त्रित होता है। जब नदी द्वारा घाटी-तल का अधःकर्तन (incision) समाप्त हो जाता है तो ढाल का आकार मात्र ढाल-प्रक्रमों द्वारा ही नियन्त्रित होता है तथा ढाल कोण में निरन्तर कमी होती जाती है। डेविस ने इस प्रकार प्रक्रम एवं रूप (process and form) के मध्य केवल सामान्य दशाओं एवं सम्बन्धों का ही वर्णन किया, जटिल सम्बन्धों (जिसकी अधिक सम्भावना होती है) की ओर ध्यान नहीं दिया है।

(v) डेविस अपने भौगोलिक चक्र के दौरान स्थलरूपों के विकास में पुनरावृत्त लघुस्तरीय उत्थानों (repeated minor uplifts) का भी विशद उल्लेख किया है। डेविस के अनुसार इस क्रिया द्वारा स्थलरूप बहुचक्रीय होते हैं। ज्ञातव्य है कि डेविस ने पुनरावृत्त उत्थान के द्वारा घाटी की तली में परिवर्तन (पुनरावृत्त अधःकर्तन—repeated incision द्वारा) पर ही बल दिया है। घाटी-पार्श्व ढाल पर होने वाले प्रभाव पर कम ध्यान दिया है। डेविस के अनुसार आधार-तल (base-level) में ऋणात्मक संचलन द्वारा नवोन्मेष होता है तथा निकप्वाइण्ट का निर्माण होता है, जो समय के साथ नदी की अनुदैर्ध्य घाटी (long profile) में ऊपर की ओर खिसकता जाता है। इस क्रिया के दौरान घाटी-तली (valley floor) का अपरदन होता है तथा प्रारम्भिक बाढ़-मैदान का भाग नदी के दोनों ओर उत्थित वेदिका के रूप में स्थित होता है। इस तरह डेविस की इस व्याख्या (नवोन्मेष की क्रिया) से नदी-घाटी की अनुदैर्ध्य परिच्छेदिका (*longitudinal profile of a river valley*) की व्याख्या तथा घाटी-तल के विकास का व्याख्या तो होती है परन्तु नदी-घाटी के समग्र रूप (अनुदैर्ध्य तथा अनुप्रस्थ दोनों) के विकास की व्याख्या नहीं हो पाती है।

3 पेंक का स्वाकृतिक सिद्धान्त/मॉडल

पेंक के स्वाकृतिक विचारों का प्रकाशन उनके मरणोपरान्त 1924 में 'Die Morphologische Analyse' के रूप में जर्मन भाषा में हुआ। दुरूह भाषा में प्रकाशन के कारण पेंक के स्वाकृतिक विचारों को सही ढंग से नहीं समझा जा सका है। परिणामस्वरूप कई भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो गयी हैं। (Penck is the most misunderstood *geomorphologist*)/पेंक के स्थलरूपों के विकास से सम्बन्धित विचारों को सामूहिक रूप में 'आकृतिक विश्लेषण' (Morphological Analysis) या 'स्वाकृतिक तंत्र' (Morphological System) की संज्ञा दी जा सकती है।

सिद्धान्त का उद्देश्य

पेंक के *'स्वाकृतिक तंत्र'* या स्थलरूपों के अध्ययन की योजना का मुख्य उद्देश्य बहिर्जात प्रक्रमों तथा आकृतिक विशेषताओं के आधार पर धरातलीय सचलन (crustal movement) के विकास एवं उसके कारणों की कल्पना करना था। इस प्रक्रिया को पेंक ने 'आकृतिक विश्लेषण' की संज्ञा प्रदान की। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये पेंक ने उच्चावच्च प्रकार या 'स्थलरूप संयोजन' (landform associations) की संकल्पना का प्रतिपादन किया। प्रारम्भ में 'ढाल के समानान्तर निवर्तन' को पेंक की मौलिक संकल्पना माना गया था, जो एक गलत व्याख्या थी। ढालों से सम्बन्धित पेंक की मुख्य संकल्पना 'ढाल प्रतिस्थापन' (slope replacement) की है।

सिद्धान्त का सन्दर्भ तंत्र (Reference System)

पेंक के अनुसार किसी भी क्षेत्र मे स्थलरूप का आकार वहाँ की विवर्तनिक क्रिया से सम्बन्धित होता है। अत क्षेत्र विशेष की स्थलाकृतिक विशेषताओ के आधार पर उस क्षेत्र मे विवर्तनिक संचलन के विकास एवं उसके कारणो की व्याख्या की जा सकती है। स्थलरूपों का विकास समय-निर्भर न होकर समय-रहित या समय-स्वतंत्र होता है।[1]

सिद्धान्त की मान्यतायें

किसी भूतल के किसी क्षेत्र की आकृतिक विशेषतायें (morphological characteristics) धरातलीय संचलन एवं अनाच्छादनात्मक प्रक्रमो के बीच प्रतिस्पर्धा (competition) की प्रतिफल होती हैं। अर्थात् आकृतिक विशेषतायें अन्तर्जात प्रक्रमो की तीव्रता (intensity) एवं पदार्थों के बहिर्जात प्रक्रमों द्वारा विस्थापन के अनुपात की द्योतक होती हैं। इस प्रकार पेंक ने डेविस के 'समय-निर्भर सिद्धान्त' (time-dependent theory of landform development) के विपरीत 'समय-रहित सिद्धान्त' (time-independent theory) का प्रतिपादन किया है। पेंक के अनुसार स्थलरूपो के विकास का मुख्य नियंत्रण (control) विवर्तनिक उत्थान की दर एव नदी द्वारा निम्नवर्ती अपरदन की दर के बीच सम्बन्ध होता है। और यह सम्बन्ध नदी-घाटी के ढाल को प्रभावित करता है।

पेंक ने ढाल-विकास के मॉडल का निर्माण किया है। ढाल-विकास के इस मॉडल का मुख्य सन्दर्भ तंत्र यह है कि पहाडी-ढाल का आकार नदी द्वारा निम्नवर्ती अपरदन तथा पहाडी-ढाल के अनाच्छादन[2] के सापेक्षिक दरो (relative rates) पर निर्भर होता है। पेंक ने तीन धरातलीय दशाओ (crustal states) का उल्लेख किया है। (i) धरातलीय स्थिरता (crustal stability) की दशा जिसमें सक्रिय विस्थापन नही होता है। यह दशा वर्तमान समय के महाद्वीपीय क्षेत्रो की स्थिति की द्योतक है। (ii) द्वितीय दशा मे धरातल मे प्रारम्भ मे सीमित क्षेत्र मे गुम्बदीय उत्थान (domed uplift) होता है लेकिन बाद मे इसका प्रभाव वृहद् क्षेत्रो मे भी होता है। (iii) तृतीय दशा मे विस्तृत रूप मे धरातलीय उत्थान होता है। इसके अन्तर्गत पर्वतीय क्षेत्रो को सम्मिलित करते हैं। पेंक की एक महत्त्वपूर्ण मान्यता यह रही है कि धरातलीय संचलन की दर मे कालिक परिवर्तन होता रहता है। पेंक ने धरातलीय संचलन एवं नदी द्वारा निम्नवर्ती अपरदन की दरो मे समायोजन की तीन दशाओ का उल्लेख किया है। (i) यदि धरातलीय उत्थान की दर लम्बे समय तक समान/स्थिर रहती है तो नदी द्वारा निम्नवर्ती अपरदन की दर इस तरह होती है कि अन्त मे दोनो मे साम्यावस्था स्थापित हो जाती है। (ii) यदि नदी द्वारा निम्नवर्ती अपरदन की दर की तुलना मे उत्थान की दर अधिक होती है तो नदी की प्रवणता तब तक बढ़ती जायेगी जब तक निम्नवर्ती अपरदन की दर उत्थान की दर के बराबर न हो जाय। दोनो के समान हो जाने पर साम्यावस्था की स्थिति स्थापित हो जाती है। (iii) यदि नदी द्वारा निम्नवर्ती अपरदन की दर उत्थान की दर से तेज होती है तो नदी की प्रवणता मे इतना अवनयन/ह्रास हो जाता है कि अपरदन एव उत्थान की दर समान हो जाय। इन तीनो दशाओ मे एक निश्चित समय के बाद साम्यावस्था की दशा स्थापित हो जाती है। यदि विवर्तनिक संचलन की दर मे बार-बार अन्तर होता है तो असन्तुलन (disequilibrium, वैपम्यावस्था) की दशा होती है।

पेंक के ढाल-विकास मॉडल के सन्दर्भ तंत्र (reference systems) की मान्यतायें (assumptions/premises) इस प्रकार है—(i) मुख्य मान्यता यह है कि पहाडी-ढाल के सबसे निचले खण्ड/भाग की प्रवणता इतनी होती है कि इस भाग पर अनाच्छादन नदी द्वारा निम्नवर्ती अपरदन के बराबर होता है। (ii) शैल का अपक्षय समान होता है। अर्थात् समस्त भाग का समान दर से अपक्षय होता है। (iii) जैसे ही अपक्षय द्वारा ढाल-प्रवणता के मुताबिक वांछित गतिशीलता (molility) उत्पन्न होती है, अनाच्छादन[2] (denudaion) प्रारम्भ हो जाता है तथा यह अपक्षय की दर के बराबर होता है। (iii) नदी-अपरदन की तीव्रता द्वारा ढाल की प्रवणता (gradient) निर्धारित होती है। ढाल के सूक्ष्म आकार चट्टान की विशेषता पर आधारित होते हैं। (iv) ढाल-प्रवणता के विच्छेद (breaks of gradient) आधार-तल होते है तथा प्रत्येक आधार तल के ऊपर के ढाल-खण्ड (slope segment) की प्रवणता का विकास

1. पेंक के अपरदन-चक्र के मॉडल का विश्लेषण अध्याय—'अपरदन-चक्र की संकल्पना एवं गतिक संतुलन सिद्धान्त' मे किया गया है।
2. पेंक ने 'अनाच्छादन' (denudation) का प्रयोग मलवा के निष्कासन (removal) के लिये किया है।

निचले आधार-तल मे स्वतंत्र रूप मे होता है। (v) एक बार निर्मित हो जाने के बाद ढाल की इकाई नदी से पीछे हटती जाती है तथा ढाल कोण स्थिर रहता है। ढाल का यह निवर्तन अनाच्छादन के दर के अनुरूप होता है। पेंक के ढाल-विकास के मॉडल का अध्याय 17 (ढाल-विश्लेषण) मे विशद उल्लेख किया गया है।

पेंक की मान्यता है कि साम्यावस्था एवं वैषम्यावस्था (equilibrium and disequilibrium) की दशाओ में ढालो के विभिन्न रूपो का विकास होता है। (i) जब उत्थान एवं नदी द्वारा निम्नवर्ती अपरदन की दर बराबर होती है तो सरलरेखी (rectilinear slope) ढाल का निर्माण होता है। (साम्यावस्था की दशा)/ (ii) यदि निम्नवर्ती अपरदन की दर उत्थान की दर मे तेज होती है तो तीव्र ढाल वाली उत्तल ढाल-परिच्छेदिका का विकास होता है (वैषम्यावस्था की दशा)। (iii) यदि उत्थान की अपेक्षा निम्नवर्ती अपरदन की दर घटती जाती है तो अवतल ढाल-परिच्छेदिका का निर्माण होता है (वैषम्यावस्था की दशा)। (iv) जब विवर्तनिक स्थिरता होती है तो ढाल-पतन होता है तथा अवतल ढाल परिच्छेदिका का विकास होता है। पेंक द्वारा प्रस्तुत ढाल-निवर्तन की प्रक्रिया के सम्बन्ध मे लोगो मे सर्वाधिक भ्रान्ति है। पेंक की इस सकल्पना की व्याख्या लोगों ने गलत ढंग से की है। पेंक की इस ढाल-निवर्तन की प्रक्रिया को समानान्तर निवर्तन के रूप मे व्यक्त किया गया है, जो सत्य नही है। पेंक ने इस सन्दर्भ मे घाटी-तली के ऊपर तीव्र ढाल वाली सरलरेखी परिच्छेदिका का एक उदाहरण प्रस्तुत किया है। उनकी मान्यता है कि तीव्र ढाल का निवर्तन मन्द ढाल की अपेक्षा तेज गति से होता है। तीव्र सरलरेखी ढाल के समस्त खुले भाग (नदी की ओर उन्मुख) के सम्पूर्ण क्षेत्र पर समान दर से अपक्षय होता है, परिणामस्वरूप इसमे निवर्तन इस तरह होता है कि ढाल कोण मे अन्तर नही होता है। इस ढाल परिच्छेदिका की पदस्थली पर ढलुआ सतह (अपेक्षाकृत कम कोण वाली) का विकास होता है जिसे पेंक ने 'हाल्डेनहाग' (Haldenhag) नाम दिया है। इस हाल्डेनहाग मे मलवा का परिवहन होता है तथा मलवा सरक कर नदी मे जाता है। इस हाल्डेनहाग के नीचे और मन्द ढाल वाली ढाल-इकाई का निर्माण होता है। अन्त मे एक विस्तृत अवतल ढाल परिच्छेदिका का विकास होता है।

पेंक ने स्थलखण्ड मे उत्थान एवं अपरदन को सहगामी बताया है। अर्थात् जैसे ही उत्थान प्रारम्भ होता है, अपरदन भी होने लगता है।। पेंक ने स्थलरूपो एवं शैलिकी (lithology) मे सह-सम्बन्ध की बात कही है। विभिन्न शैलो में रासायनिक एवं यांत्रिक विनाश के लिए प्रतिरोध (resistance) की मात्रा अलग-अलग होती है। अत्यधिक प्रतिरोधी शैल द्वारा ढाल परिच्छेदिका मे प्रवणता भंग/विच्छेद (breaks in gradient) का निर्माण होता है, अर्थात् सरचनात्मक आधार तल का विकास होता है। यह प्रवणता विच्छेद सामान्य ढाल इकाई के समान न तो पीछे हटता है और न ही समाप्त होता है। वरन् शैल सीमा के खिसकाव का अनुसरण करता है। यदि कोई कठोर शैल वाली ढाल इकाई है तो उसके ऊपर उत्तल ढाल विच्छेद एवं निचले भाग पर अवतल ढाल विच्छेद अवश्य होते हैं। जैसे-जैसे इस कठोर शैल वाली ढाल इकाई का अपरदन द्वारा अवनयन होता जाता है, ऊपरी भाग मे चपटे ढाल (कम कोण वाले) का विकास होता है। शैलो मे जितना ही अधिक अन्तर होता है उतना ही अधिक अन्तर ढाल-प्रवणता मे होता है। सामान्य रूप मे अधिक कठोर शैल पर तीव्र ढाल का निर्माण होता है, उसका निवर्तन अत्यन्त मन्द होता है, घाटी सकरी एवं तग होती है तथा सापेक्षिक ऊँचाई अधिक होती है। कमजोर शैल के साथ मन्द ढाल का निर्माण होता है, निवर्तन अधिक होता है, घाटी चौडी होती है एवं सापेक्षिक ऊँचाई कम होती है।

4 किंग का स्थलाकृतिक सिद्धान्त

किंग का स्थलरूपो के विकास से सम्बन्धित सिद्धान्त उनके द्वारा दक्षिणी अफ्रीका की स्थलाकृतियो के अध्ययन से सम्बन्धित तथ्यो के ब्योरेवार विवरण पर आधारित है। यद्यपि किंग ने डेविस के स्थलाकृतिक सिद्धान्त (भौगोलिक चक्र) का जोरदार खण्डन किया है परन्तु इनके सिद्धान्त का भी मुख्य आधार चक्रीय सकल्पना की ही मान्यता है। इस प्रकार किंग का स्थलाकृतिक सिस्टम भी मूलरूप मे विकासीय एवं चक्रीय ही है जैसा कि इनके 'स्थलाकृति चक्र' (the landscape cycle), 'अपरदन का भूतलज चक्र' (the epigene cycle of erosion), 'पेडीप्लेनेशन चक्र' (the pediplanation cycle) एवं पहाड़ी ढाल चक्र' (Hillslope cycle) से प्रकट होता है। यद्यपि किंग ने डेविस से अलग तथा पेंक की कुछ मान्यताओ पर अपने स्थलाकृतिक सिस्टम को विकसित करने का प्रयास किया है परन्तु इनका मॉडल पेंक की तुलना मे डेविस के अधिक करीब है।

किंग के सिद्धान्त की प्रमुख मान्यता यह है कि 'स्थलरूपों का विकास विभिन्न पर्यावरण दशाओं में समान होता है, जल अपरदित स्थलरूपों के विकास में जलवायु परिवर्तनों का महत्त्व नगण्य होता है।' सभी महाद्वीपों में प्रमुख स्थलाकृतियों का विकास लयात्मक व्यापक विवर्तनिक (rhythemic global tectonies) घटनाओं से नियंत्रित हुआ है। ढालों में सतत खिसकाव (migration) होता है तथा इस तरह का निवर्तन (retreat) समानान्तर होता है। यह निवर्तन ढाल पर क्रियाशील प्रक्रमों द्वारा नियंत्रित होता है तथा उसी के अनुरूप (निवर्तन की प्रक्रिया) ढालों का रूप बनता है।

किंग की मान्यता है कि पहाड़ी-ढाल में चार तत्त्व होते है—*शिखर, कगार, मलवा ढाल तथा पेडीमेण्ट।* किंग ने अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन दक्षिणी अफ्रीका के अर्द्ध-शुष्क क्षेत्रों में स्थलाकृतिक विशेषताओं के आधार पर किया है तथा बाद में अपने सिद्धान्त को अन्य प्रदेशों में भी प्रयोज्य (practicable) बताया है। इनकी मान्यता है कि चार तत्त्वों (उपर्युक्त) से युक्त पहाड़ी ढाल आधारभूत स्थलरूप होता है जो उन सभी प्रदेशों में तथा सभी प्रकार के जलवायु में विकसित होता है जहाँ पर पर्याप्त उच्चावच्च होते हैं तथा जल-प्रवाह अनाच्छादन का प्रमुख प्रक्रम होता है।

किंग के अनुसार प्रत्येक चक्र त्वरित उत्थान के साथ प्रारम्भ होता है तथा उत्थान के बाद दीर्घकाल तक विवर्तनिक स्थिरता होती है (स्थलखण्ड स्थिर रहते है)। किंग की यह मान्यता डेविस की मान्यता के अनुरूप है। इस त्वरित उत्थान के कारण नदियों द्वारा निम्नवर्ती अपरदन तेज हो जाता है तथा नदी के मार्ग में निकप्वाइण्ट बन जाते हैं जो नदी के ऊपरी मार्ग की ओर खिसकते जाते हैं। स्थलाकृतिक चक्र की तरुणावस्था में नदी द्वारा तीव्र निम्नवर्ती अपरदन के कारण गार्ज का निर्माण होता है। जब निम्नवर्ती अपरदन शिथिल हो जाता है तो घाटी-पार्श्वढाल (valley side slopes) स्थिर कोण वाले हो जाते हैं तथा ढाल का यह रूप उस पर (ढाल पर) क्रियाशील भौतिक कारकों एवं शैलिकी (lithology) द्वारा निर्धारित होता है। प्रौढावस्था के समय निम्नवर्ती अपरदन समाप्त हो जाता है तथा पार्श्विक अपरदन (lateral erosion) प्रमुख हो जाता है। घाटी पार्श्व ढाल का नदी से खिसकाव। निवर्तन (अर्थात् घाटी चौड़ी होती जाती है एवं घाटी पार्श्वढाल नदी के जलमार्ग-channel-से दूर हटता जाता है) होता है परन्तु इस प्रक्रिया के दौरान घाटी-पार्श्व ढाल के कोण में कोई महत्वपूर्ण अन्तर नहीं होता है। इस घाटी-पार्श्व ढाल के आधार (base, पदस्थली) पर अपेक्षाकृत समतल एवं सपाट स्थलरूप का निर्माण होता है जिसका ढाल अधिकतम रूप में 10° होता है, परन्तु सामान्य रूप में यह 5° से अधिक नहीं हो पाता है। इस स्थलरूप को किंग ने **पेडीमेण्ट** नामावली दी है। इनकी परिच्छेदिका अवतल होती है। इस पेडीमेण्ट का शनैः-शनैः विस्तार होता है (घाटी पार्श्व के कगार के समानान्तर निवर्तन द्वारा) तथा अन्त में कई पेडीमेण्ट मिल जाते हैं और विस्तृत **पेडीप्लेन** का निर्माण होता है। इस तरह निर्मित पेडीप्लेन की सामान्य सतह निम्न उच्चावच्च वाली होती है तथा इसकी रचना कई निम्न प्रतिच्छेदी अवतल सतहों (subdued intersecting concavities) द्वारा होती है। इस सतह के ऊपर कुछ छिट-पुट तीव्र ढाल वाले अवशिष्ट टीले मौजूद रहते हैं। चक्र की अन्तिम अवस्था में दीर्घकाल तक अपक्षय के कारण जलविभाजकों का विस्तृत उतलता में परिवर्तन हो जाता है।

किंग की मान्यता है कि निवर्तमान ढाल (migrating or retreating slope) का रूप उस पर क्रियाशील प्रक्रमों द्वारा निर्धारित होता है। पहाड़ी-ढाल का शीर्ष (सबसे ऊपर का भाग) उत्तल होता है जो मृदा-सर्पण (soil creep) द्वारा निर्मित होता है। कगार शैल दृश्यांश (rock outcrops) का बना होता है तथा उसमें निवर्तन होता है। यह निवर्तन शैल के टूट कर अधः पतन (नीचे की ओर गिरना), भूस्खलन (landslide) तथा अवनलिका अपरदन (gullying) द्वारा होता है। समस्त पहाड़ी-ढाल का सबसे सक्रिय तत्त्व कगार ही होता है। मलवा-ढाल (debris slope) का निर्माण ऊपर से आने वाले मलवा के द्वारा होता है तथा इसकी प्रवणता-(gradient) मलवा/पदार्थों के ठहराव (repose) के कोण द्वारा नियंत्रित होती है। पेडीमेण्ट पहाड़ी-ढाल की परिच्छेदिका की सबसे निचली इकाई होती है तथा इसका निर्माण ठोस शैल के तीव्र चादरी-बाढ़ (turbulent sheet flood) द्वारा अपरदन के कारण होता है।

यदि डेविस एवं किंग के प्रतिरूपों की तुलनात्मक व्याख्या की जाय तो स्पष्ट होता है कि दोनों प्रतिरूपों में कुछ हद तक अनुरूपता अवश्य है। दोनों स्थलाकृति के चक्रीय विकास में विश्वास करते हैं जिसके अन्तर्गत अपरदन-चक्र स्थलखण्ड में तीव्र उत्थान के साथ प्रारम्भ होता है तथा उत्थान के बाद दीर्घकालिक विवर्तनिक निष्क्रियता (विवर्तनिक स्थिरता) होती है। इस अवधि के दौरान पेनीप्लेन (डेविस) या पेडीप्लेन (किंग) का निर्माण

होता है। दोनो स्थलरूपो मे सामान्य अनुरूपता होती है क्योंकि ये प्राचीन होते है। उच्चावच्च निम्न होते है एव विस्तृत क्षेत्र को प्रदर्शित करते है। दोनों प्रतिरूप अपरदन चक्र के पूर्णकाल की तरुण, प्रौढ तथा जीर्ण अवस्थाओ की मान्यता पर आधारित है। इन दोनो प्रतिरूपों मे अन्तर भी है। डेविस के पेनीप्लेन का निर्माण अध क्षय (down wasting) द्वारा होता है जबकि किंग का पेडीप्लेन कई पेडीमेण्ट के संमेलन एव सम्वर्द्धन से निर्मित होता है। इन पेडीमेण्ट मे शीर्षवर्ती निवर्तन द्वारा विस्तार होता है। डेविस का पेनोप्लेन जब निर्मित हो जाता है तो उसमे पुन विकास नही होता है तथा जब नवीन उत्थान होने से नया चक्र प्रारम्भ होता है तो उसमें नवोन्मेष हो जाता है। इसके विपरीत किंग का पेडीप्लेन अपने निर्माण के बाद भी शीर्ष की ओर बढ़ता जाता है। यद्यपि इस पेडीप्लेन के दूरस्थ छोर पर नये कगार का निर्माण हो जाता है। इस नये कगार के निवर्तन द्वारा दूसरे पेडीमेण्ट (पूर्व निर्मित पेडीप्लेन के दूरस्थ भाग पर) का निर्माण होता है जिसमें निवर्तन के कारण प्रारम्भिक पेडीप्लेन के विस्तार मे ह्रास होता है। स्पष्ट है कि उत्पन्न स्थलाकृति ऐसी होती है कि उसमें कई पेडीप्लेन होते है जो शीर्ष की ओर बढते जाते है। किंग का इस तरह का पेडीप्लेन पेंक के गिरिपद ट्रेपन (piedmont treppen) के अनुरूप होता है।

किंग के स्वाकृतिक मॉडल की कुछ मान्यतायें विवादास्पद है। यथा—(i) किंग के स्वाकृतिक मॉडल की रचना दक्षिणी अफ्रीका के अर्द्ध-शुष्क प्रदेशों की स्थलाकृतिक विशेषताओ के आधार पर की गई है परन्तु किंग ने अपने विचारो को अन्य क्षेत्रों के स्थलरूपों की व्याख्या के लिये भी प्रयुक्त किया है। यह मान्यता सन्तोषजनक नहीं है। (ii) किंग की मान्यता है कि स्थलरूपों का विकास विभिन्न पर्यावरण दशाओ मे समान रूप से होता है, सन्देहास्पद है। ज्ञातव्य है कि किंग के स्वाकृतिक सिस्टम को उतनी मान्यता एव समर्थन नही मिला जितना मिलना चाहिये था। इसका प्रमुख कारण यह है कि किंग का सिद्धात उस समय (1953, Canons of landscape evolution) आया जबकि लोगो की दिलचस्पी स्वाकृतिक सिद्धान्तों की आवश्यकता, वाछनीयता एव उपादेयता मे उठ चुकी थी। किंग के 'पहाडी ढाल चक्र' की व्याख्या के लिये देखिये अध्याय 17, 'ढाल विश्लेषण'।

5 हैक का स्वाकृतिक मॉडल-सिद्धान्त

जे० टी० हैक का स्वाकृतिक सिद्धान्त 'गतिक सतुलन' (dynamic equilibrium) के नाम से जाना जाता है। इनका गतिक सतुलन सिद्धान्त डेविस के 'भौगोलिक चक्र' एव पेंक के 'आकृतिक तंत्र' (morphological system) की आलोचना एव अस्वीकरण से उत्पन्न स्वाकृतिक अन्तराल (conceptual vacuum) को भरने का एक प्रयास है। हैक के अनुसार 'बहुअपरदन चक्र' (multiple erosion cycles) के आधार पर बहुतलीय स्थालाकृति (multilevel landscape) की व्याख्या नही हो सकती है। हां, अपरदनात्मक स्थलाकृति की व्याख्या 'गतिक सतुलन के नियमों' के आधार पर अवश्य की जा सकती है। हैक ने दावा किया है कि 'सतुलन (समस्थिति) सकल्पना अपने मे स्वय कोई मॉडल नहीं है।' हैक का स्वाकृतिक सिद्धान्त 'विवृत्त तंत्र' (open system) की सकल्पना पर आधारित है। 'जब तक विवृत्त तत्र मे ऊर्जा स्थिर रहती है, स्थलरूप भी स्थिर रहते है यद्यपि अपरदन द्वारा स्थलखण्ड मे अवनयन होता रहता है।' इस तरह हैक का सिद्धान्त स्थलरूपो के समय-रहित (timeless or time independent) विकास की अवधारणा पर आधारित है जिसके अन्तर्गत स्थलरूप समवत / सुस्थिर दशा' (steady state) में रहता है। हैक की यह भी मान्यता रही है कि 'स्थलाकृतिक आकार एव प्रक्रम शैल वैभिन्य एव उन पर कार्यरत प्रक्रमों स सम्बन्धित होते है' (...topographic forms and processes are closely related to differences in the rocks and the processes acting on them— (*J T* Hack)।

सिद्धान्त का उद्देश्य

हैक के सिद्धान्त का मुख्य उद्देश्य किसी भी प्रदेश मे स्थलरूपो की वर्तमान समय मे सक्रिय प्रक्रमो के आधार पर व्याख्या करना है। साथ ही साथ हैक ने स्थलरूपों एव सरचना म समायोजन स्थापित करने का भी प्रयास किया है जिसके लिए अप्लेशियन प्रदेश की शेननडोह घाटी से उदाहरण प्रस्तुत किये गये है।

सिद्धान्त के सन्दर्भ तत्र

हैक के सिद्धान्त का मुख्य सन्दर्भ तत्र (reference system) यह है कि स्वाकृतिक तत्र विवृत्त तत्र होता है जो समस्थिति की ओर उन्मुख होता है।' हैक का स्थलरूपो के विकास का मॉडल इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है, 'स्थलरूपों का आकार अपरदन के लिये प्राप्य सरचना की प्रतिरोधिता तथा कार्यरत प्रक्रमों की अपरदनात्मक ऊर्जा के मध्य सतुलन (समायोजन) पर आधारित होता है'-the shape of landforms reflects

the balance between the resistance of the underlying material to erosion and the erosive energy of the active processes.

सिद्धान्त की मान्यतायें

हैक के सिद्धान्त का मुख्य आधार या मान्यता यह है कि 'स्थलाकृति एवं उसके निर्माणक प्रक्रम विवृत्त तन्त्र के भाग होते हैं तथा विवृत्त तन्त्र समस्थिति की स्थिर दशा में होता है'— the landscape and the processes that form it are part of an open system which is in a steady state of balance' —(Hack, 1960)। इस मान्यता के आधार पर निम्न सन्दर्भ सोचे जा सकते हैं— (i) अपरदन के प्रक्रमों एवं शैल की प्रतिरोधिता के मध्य सतुलन (balance) होता है। (ii) स्थलाकृति के सभी अंगों में समान दर से अधःक्षय (down wasting) होता है। (iii) स्थलाकृतिक विशेषतायें एवं स्थलरूपों में अन्तर / विविधता स्थानिक सम्बन्धों के सन्दर्भ में व्याख्येय होती है— 'differences and characteristics of form are explicable in terms of spatial relations in which geologic patterns are the primary consideration '—(Hack, 1960). (iv) जो प्रक्रम आज कार्यरत है उन्होंने ही स्थलाकृति का निर्माण किया है।

यद्यपि हैक ने 'विकासीय मॉडल' (evolutionary model) का निर्माण नहीं किया है तथापि उनकी मान्यता है कि विकास भी प्रकृति का एक तथ्य है तथा रूप (स्थलरूप) की विरासत की सदा सम्भावना रहती है'— 'that evolution is also a fact of nature and that the inheritance of form is always a possibility ' -(Hack). हैक ने यद्यपि बदलती पर्यावरण दशाओं के तहत समय के परिवेश में स्थलरूपों में परिवर्तन के आदर्श मॉडल का निर्माण नहीं किया है परन्तु उन्होंने यह माना है कि जब समस्थिति की दशाओं में परिवर्तन होता है तो स्थलरूपों में भी परिवर्तन होता है परन्तु यह परिवर्तन डेविस द्वारा प्रतिपादित विकासीय परिवर्तन (evolutionary change) के सदृश नहीं होता है। हैक ने उत्थान एवं अपरदन की दरों में सतुलन (balance) की विभिन्न दशाओं के सन्दर्भ में स्थलरूपों में विविधता की अवधारणा व्यक्त की है— (i) उत्थान की दर अपरदन की दर से सतुलित होती है अर्थात् यदि उत्थान एवं अपरदन की दर तेज होती है तो उच्च स्थलाकृति का निर्माण होता है। यह स्थिति तब तक बनी रहती है (उच्च स्थलाकृति की) जब तक उत्थान एवं अपरदन की तेज दर स्थिर रहती है। (ii) जब उत्थान की दर शून्य हो जाती है तो उच्चावच्च में भी ह्रास हो जाता है। यद्यपि इस दशा में भी कटक एवं बीहड़ स्थलाकृति (ridge and ravine topography) बनी रहती है, कटक के शीर्ष का गोलन (rounding) हो जाता है। (iii) जब उत्थान की दर बढ़ने लगती है तो उच्चावच्च भी बढ़ता है ताकि अपरदन की बढ़ती दर बनी रह सके। हैक की मान्यता है कि यदि पटलविरूपणी सचलन (diastrophic movements) क्रमश (gradual) होता है तथा इसका सतुलन अपरदनात्मक क्रिया द्वारा हो जाता है, तो स्थलाकृति में, जब वह एक रूप से दूसरे रूप में विकसित होती है, समस्थिति की दशा कायम रहती है। यदि पटलविरूपणी सचलन त्वरित रूप में होता है तो अवशिष्ट स्थलरूप तब तक परिरक्षित (preserved) रहते है, जब तक नयी समस्थिति की दशा प्राप्त नहीं हो जाती है। पामक्विस्ट के शब्दों में— 'हैक ने डेविस के आदर्श भौगोलिक चक्र की सतुलन की सकल्पना के सन्दर्भ में व्याख्या की है तथा समरूप 'विकासीय योजना' का प्रतिपादन किया है' —Hack (1965) paraphrases Davis' ideal geographical cycle in terms of the equilibrium concept and develops a similar evolutionary scheme. An initial disequilibrium stage (youth) of rapid stream incision is followed by an equilibrium stage (mature) wherein the rounded interfluves are lowered as potential energy decreases though they do not change in form— Robert C. Palmquist.

हैक ने 'सतत अधःक्षय मॉडल' (continuous downwasting model) का भी निर्माण किया है। इस मॉडल में यद्यपि गतिक सतुलन के लिये प्रवृत्ति (tendency for dynamic equilibrium) की कल्पना की जाती है परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि गतिक सतुलन 'स्थिर दशा' (steady state) में हो। उन्होंने पुन. बताया है कि यद्यपि 'स्थिर दशा' की सम्भावना रहती है परन्तु वास्तविकता में यह स्थिति दुर्लभ होती है।

हैक के अनुसार आधार-तल के सन्दर्भ में 'विकासीय मॉडल' (evolutionary models) की भी कल्पना की जा सकती है। इस सन्दर्भ में आधार-तल की तीन दशाओं

को लिया जा सकता है—(i) स्थिर आधार-तल, (ii) आधार-तल मे वृद्धि तथा (iii) आधार-तल मे अवनयन / ह्रास। इस तरह प्रथम दशा के सन्दर्भ मे यदि कोई भाग उत्थित होता है तथा उत्थान के बाद वह दीर्घकाल तक स्थिर रहता है (अत स्थिर आधार-तल) तो अपक्षय एवं अपरदन द्वारा इस स्थलखण्ड का अन्तत आधार तल के बराबर अवनयन हो जाता है। प्रारम्भ मे अन्त तक अवनयन की दशा मे स्थलरूपों मे जो परिवर्तन होते हैं वे 'विकासीय अनुक्रम' (evolutionary sequence) मे होते है। हैक के अनुसार स्थिर आधार-तल की दशा मे अन्तिम स्थलाकृति कटक एव बीहड का क्रमिक जाल (orderly network of ridges and ravines) होता है जो निम्न उच्चावच्च वाले होते है। इस तरह स्थिर आधार-तल की दशा मे उच्चावच्च मे क्रमश. एव क्रमिक अवनयन एव ह्रास होता जाता है। (ii) यदि आधार-तल मे वृद्धि होती है (आधार-तल का धनात्मक सचलन) तो निचली घाटी जलमग्न हो जाती है लेकिन उसके ऊपरी भाग (upstream) मे इसका (आधार-तल मे वृद्धि) का प्रभाव नगण्य होता है परन्तु स्थलाकृति मे अवनयन होता है। इस तरह हैक ने बताया है कि नदी की परिच्छेदिका एव नदी के सामान्य कार्य, जिनके द्वारा ढालो का विकास होता है, नदी के ऊपरी भाग (upstream) की दशाओ से प्रभावित होते हैं न कि उसके (नदी) निचले भाग की दशाओ द्वारा। हैक ने अपनी इस अवधारणा के आधार पर हार्टन द्वारा प्रस्तावित नदी के श्रेणीकरण (ordering of streams and stream segments) की योजना की सार्थकता को सत्यापित किया है (हार्टन ने नदी एवं प्रवाह-जाल का श्रेणीकरण नदी के ऊपरी भाग से प्रारम्भ किया है, (देखिये इस पुस्तक का अध्याय 5, **'आकारमिति'**)। (iii) यदि आधार-तल मे अवनयन (आधार-तल का ऋणात्मक सचलन) होता है तो नदी के नये आधार-तल के पास तीव्र गति से अपरदन होता है तथा इसका प्रभाव वृहद क्षेत्र पर पडता है। इस प्रक्रिया (तीव्र अपरदन) के साथ ही साथ ढाल एव शैल प्रतिरोधिता मे नया सामजस्य स्थापित होता है।

सिद्धान्त का मूल्याकन

हैक के इस अवधारणा कि 'अधिकाश स्थलरूप कार्य के लिए सुलभ ऊर्जा तथा जो कार्य (अपरदन) हो रहा है वे मध्य अस्थिर गतिक सतुलन (uneasy dynamic equilibrium) की दशा मे होते हैं' का सत्यापन नही हो पाता है क्योकि जब प्रादेशिक ऊँचाई (regional elevation) मे सतत ह्रास (अत भ्वाकृतिक परिवर्तन के लिए सुलभ-ऊर्जा मे ह्रास) होता जाता है तो कोई भी स्थलरूप 'स्थिर दशा' वाले 'विवृत्त तत्र' (open system in steady state) का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता।

इसी प्रकार हैक कि अवधारणा कि 'स्थलरूप बदलती पर्यावरण दशाओ का अनुशीलन करते हैं' भी सदिग्ध है। ज्ञातव्य है कि पर्यावरण दशाओ मे सतत परिवर्तन होता रहता है तथा बहुत कम ही ऐसे स्थलरूप होते है जो नयी दशाओ के साथ तात्कालिक समायोजन / अनुशीलन (instantaneous adjustment-adaptation) कर पाते हैं। वास्तव मे 'कुछ सीमा तक सभी स्थलरूप अपने विकासीय इतिहास के कैदी होते है'—'to a extent all landforms are prisoners of their own evolutionary history—R. J Rice, 1977, p. 244)। गतिक सतुलन सिद्धान्त के कुछ सूत्रवाक्य (precepts) तथा मान्यतायें मात्र कल्पित विवरण है, उनका परीक्षण सम्भव नही है। हैक की यह अवधारणा कि वर्तमान समय मे कार्यरत प्रक्रमो एव वर्तमान स्थलरूपो मे पूर्ण सम्बन्ध होता है' सदैव चरितार्थ नही होती। हैक के सिद्धान्त की सार्थकता (निश्चित दशाओं) को ब्लूम के निम्न वक्तव्य से प्रदर्शित किया जा सकता है—

'If, however, tectonics and climatic change invalidate the assumption of initial uplift or other constructional process followed by still stand and landscape evolution, then the dynamic equilibrium model, changing only from disequilibrium to equilibrium, is most suitable as a basis for interpreting the present landscape, —Arthur L. Bloom, 1978, pp 303-304)

डेविस, पेंक तथा हैक के प्रतिरूपो की अनुरूपता (Compatibility of Davisian Penckian and Hackian Models)

यद्यपि डेविस, पेंक तथा हैक के भ्वाकृतिक सिद्धान्त एक दूसरे से भिन्न हैं तथापि उनमे कुछ सीमा तक समरूपता अवश्य है। तीनो प्रतिरूपो मे स्थलरूपो तथा सरचना एव शैलिको मे समायोजन (adjustment) की उभयनिष्ठ अवधारणा है। इस तरह जहाँ तक

स्थलरूपों के सरचना एवं शैलिकी के साथ समायोजन का मत है। डेविस, पेंक तथा हैक के स्थलाकृतिक विकास के स्वाकृतिक मॉडल (प्रतिरूप) अनुरूप है। तीनों प्रतिरूपों में निम्न तथ्य उभयनिष्ठ है—

(i) प्रतिरोधी शैल पर उच्च उच्चावच्च एवं तीव्र ढाल वाले स्थलरूपों का निर्माण एवं विकास होता है। (ii) पहाड़ी-ढाल के समस्त या उसके एक भाग में समस्थिति होती है यदि पहाड़ी-ढाल की पदस्थली पर सरिता की स्थिति रहती है। (iii) यदि नदी द्वारा निम्नवर्ती अपरदन (down cutting) तीव्र गति से होता है तो तीव्र ढाल का निर्माण होता है तथा यदि निम्नवर्ती अपरदन मन्द गति से होता है तो मन्द ढाल (gentle slope) का विकास होता है। *(iv) तीव्र निम्नवर्ती* अपरदन से जनित तीव्र ढाल की परिच्छेदिका सरलरेखी होती है जबकि मन्द/धीमी गति से निम्नवर्ती अपरदन द्वारा विकसित ढाल की परिच्छेदिका नतोदर होती है। (v) यदि दीर्घ काल तक पर्यावरणीय स्थिरता (environmental stability) का विस्तृत अन्तराल होता है अर्थात् दीर्घकाल तक पर्यावरणीय दशायें समरूप होती हैं तो उच्चावच्च में इस तरह क्रमिक/प्रगामी अवनयन (progressive lowering) होता जाता है कि सम्पूर्ण प्रदेश पर अत्यन्त निम्न उच्चावच्च वाली स्थलाकृति का विकास हो जाता है।

ज्ञातव्य है कि पेंक का स्वाकृतिक मॉडल गतिक सतुलन मॉडल में पूर्णरूपेण सत्य नहीं माना है। पेंक के मॉडल के अनुसार प्रत्येक ढाल-इकाई के निर्माण के समय उसमें समस्थिति होती है— सरिता-अपरदन की तीव्रता एवं पहाड़ी ढाल के अनाच्छादन (denudation पेंक के अनुसार मलवा-निष्कासन debris removal) के मध्य समस्थिति। इस तरह की विकसित पहाड़ी-ढाल की प्रवणता मृदा एवं शैल की विशेषताओं से समायोजित होती है। इस तरह अपने निर्माण के समय प्रत्येक ढाल-इकाई अपने पर्यावरण के सन्दर्भ में गतिक समस्थिति में होती है। जब इस तरह से निर्मित ढाल इकाई के नीचे दूसरी नई ढाल-इकाई का निर्माण होता है तो पहले निर्मित एवं (अब) ऊपर स्थित ढाल-इकाई अवशिष्ट ढाल इकाई हो जाती है तथा मात्र निचली नवीन ढाल-इकाई ही गतिक समस्थिति में होती है। इसी तरह जब तीसरी नवीन ढाल इकाई (ढाल-परिच्छेदिका के सबसे निचले भाग में) का निर्माण होता है तो पूर्व निर्मित ऊपरी दो ढाल-इकाईयाँ नदी से अलग हो जाती हैं एवं अवशिष्ट ढाल-इकाई (relict slope units) हो जाती हैं तथा केवल सबसे निचली नवीन ढाल-इकाई ही गतिक समस्थिति में होती है। स्पष्ट है कि पेंक के मॉडल के अनुसार एक पहाड़ी-ढाल परिच्छेदिका में अवशिष्ट ढाल-इकाईयों का क्रम होता है तथा प्रत्येक ढाल-इकाई अपने निर्माण-काल में गतिक समस्थिति में होती है। इस तरह समस्त स्थलाकृति गतिक समस्थिति में नहीं होती है, केवल सबसे निचली ढाल-इकाई ही गतिक समस्थिति में होती है।

पामक्विस्ट (Robert C Palmquist) ने प्रतिपादित किया है कि पेंक के मॉडल में समस्त स्थलाकृति की गतिक समस्थिति दो दशाओं में सम्भव हो सकती है। प्रथम दशा—जब पहाड़ी-ढाल के अनाच्छादन की दर सरिता-अपरदन की दर के बराबर होती है एवं प्रत्युत्पन्न सरलरेखी ढाल-इकाई का नदी से जलविभाजक तक विस्तार हो जाता है। इस दशा में क्षेत्र विशेष की ऊँचाई घटती है तथा गतिक समस्थिति स्थापित हो जाती है परन्तु ढाल-रूप एवं सापेक्षिक उच्चावच्च स्थिर रहते हैं। द्वितीय दशा—जब क्षीयमाण विकास के दीर्घकालिक अन्तराल (prolonged interval of waning development) के समय न्यूनतम प्रवणता वाले ढाल का विस्तार नदी से जलविभाजक तक होता है एवं अनाच्छादन समाप्त हो जाता है तो स्थिर समस्थिति की दशा (state of static equilibrium) की प्राप्ति होती है। इस तरह पेंक का मॉडल गतिक समस्थिति के मॉडल' (हैक) के समकक्ष उस समय होता है जब ढाल का समान विकास (uniform development) होता है अर्थात् उत्थान एवं अपरदन की दर समान होती है। पेंक का मॉडल डेविस के मॉडल के समकक्ष उस समय होता है जबकि ढाल का क्षीयमाण विकास होता है अर्थात् जब सरिता द्वारा अपरदन-घटती दर से होता है।

पामक्विस्ट ने पुनः व्यक्त किया है कि यदि डेविस के मॉडल में स्थलाकृति की सरचना एवं शैलिकी के साथ समायोजन की अवधारणा मान ली जाय तो डेविस के मॉडल एवं हैक के गतिक समस्थिति के मॉडल के मध्य कई विभिन्नतायें समाप्त हो सकती हैं। दोनों प्रतिरूपों (मॉडल) में सैद्धान्तिक स्तर पर अनुरूपता हो सकती है परन्तु प्रायोगिक रूप में नहीं। यदि हैक के मॉडल में गतिक समस्थिति की दशा को लघु क्षेत्र में लघु समय के

लिए लिया जाय और डेविस के मॉडल के अनुसार स्थलरूपों के विकास की व्याख्या स्थिर वाह्य दशाओं एवं आन्तरिक दशाओं में क्रमिक परिवर्तन वाले दीर्घकालिक समय अन्तराल के परिवेश में की जाय तो दोनों प्रतिरूपों का अन्तर समाप्त हो जाता है। इस तरह डेविस का मॉडल गतिक समस्थिति की दशाओं का एक क्रम या अनुक्रम है। समस्थिति की विभिन्न क्रमिक दशाओं का विकास गतिक स्थिरांक (equilibrium constant) के समय के साथ क्रमिक परिवर्तन के अनुरूप होता है।

ज्ञातव्य है कि यदि यह मान लिया जाय कि विवृत तंत्र कई विचरों (Variates/variables) का सम्मिश्रण होता है तथा इस तरह का विवृत तंत्र विभिन्न वाह्य विचर के साथ विभिन्न दरों से इस प्रकार प्रतिक्रिया करता है कि उसका (विवृत-तंत्र) सभी विचरों के साथ एक ही साथ समस्थिति में होना आवश्यक न हो तो डेविस के मॉडल का गतिक समस्थिति मॉडल के साथ विलय हो जाता है।

राइस (R J Rice) का कथन है कि स्थलरूपों के विकास की व्याख्या में सम्बन्धित 'समय-रहित' (time less, गतिक समस्थिति, विवृत-तंत्र) एवं 'समय-निर्भर' की संकल्पना को एक दूसरे से अलग रखने का एक तरह से फैशन हो गया है। कार्सन एवं किर्कबाय (Carson M A. and Kirkby M J 1972) के अनुसार कोई भी स्थलाकृतिक तंत्र पूर्णतया संवृत (closed) नहीं होता है तथा डेविस का मॉडल संवृत तंत्र है की अवधारणा पूर्णतया सत्य नहीं है। यदि दीर्घकाल तक विवर्तनिक स्थिरता कायम रहती है तो स्थलाकृतिक तंत्र आंशिक रूप से संवृत होता है क्योंकि पदार्थों की आपूर्ति रुक जाती है तथा आधार-तल के ऊपर प्रारम्भिक पदार्थों (उत्थान से जनित) की मात्रा निर्धारित एवं स्थिर हो जाती है। इस स्थिति में तंत्र का स्वभाव पूर्वकथनीय/पूर्वानुमेय (predictable) हो जाता है अर्थात् उच्चावच्च में सतत ह्रास होता जाता है। इस तरह के तथाकथित संवृत्त तंत्र में भी कुछ विचरों के मध्य समस्थिति हो सकती है। कहने का तात्पर्य है कि यह आवश्यक नहीं है कि तंत्र के सभी विचरों (जैसा कि विवृत तंत्र के विषय में लोगों की अवधारणा है) में एक साथ पूर्ण समस्थिति हो।

तीनों प्रतिरूपों में स्थलरूप एवं संरचना के बीच समायोजन सम्बन्धी निम्न तथ्य उद्भूत किये जा सकते हैं—यद्यपि डेविस ने स्थलरूपों का संरचना के साथ समायोजन के मॉडल का निर्माण नहीं किया है तथापि उनके लेखों में इस तरह के समायोजन का पर्याप्त विवरण मिलता है। डेविस की मौलिक संकल्पना 'स्थलाकृति संरचना, प्रक्रम एवं समय का प्रतिफल होती है' (Landscape is a function of structure, process and time) में स्थलरूपों के विकास में संरचना का प्रभाव परिलक्षित होता है। स्थलरूप-संरचना की समायोजना की संकल्पना को डेविस के लेखों में प्रकारान्तर से पायः महसूस की जा सकती है। प्रौढ़ स्थलाकृति में प्रमुख नदियाँ संरचनात्मक/शैलिकी की कमजोर दिशा (lines of structural/lithologic weakness) का अनुसरण करती हैं। जलविभाजकों की स्थिति प्रतिरोधी शैल के सहारे होती है। प्रवणित नदी का ढाल जल निस्सर्जन (water discharge) एवं बोझ (load) के आयतन तथा गठन से समायोजित होता है यद्यपि जल-विसर्जन तथा बोझ का प्रभाव बोझ के गठन से अधिक होता है। पहाड़ी-ढाल उसके (ढाल) आधार पर स्थित सरिता के सन्दर्भ में प्रवणित होता है परन्तु ढाल की प्रवणता मिट्टी की स्थूलता (coarseness) से प्रभावित होती है। यदि किसी प्रदेश में कई सरितायें प्रवणित अवस्था में हैं (उनकी विकासीय अवस्था एवं आयतन समान है) तो भी उनकी प्रवणता में अन्तर हो सकता है तथा एक बेसिन का उच्चावच्च दूसरे से भिन्न हो सकता है और यह भिन्नता शैल की प्रतिरोधिता में भिन्नता के कारण होती है।

स्थलरूप-संरचना के समायोजन की झलक पेंक के मॉडल में और अधिक मिलती है। विभिन्न स्वभाव वाली शैलों में रासायनिक एवं यांत्रिक विनाश के लिए प्रतिरोधिता की मात्रा भिन्न-भिन्न होती है। अधिक प्रतिरोधी शैल के कारण ढाल परिच्छेदिका में विभंग (breaks) बन जाते हैं जो संरचनात्मक आधार-तल होते हैं। अधिक प्रतिरोधी शैल वाली ढाल-इकाई के ऊपर सदा ढाल का उत्तल विभंग (convex break) होता है तथा उसके (प्रतिरोधी शैल सीमा) नीचे अवतल विभंग (concave break) होता है। जैसे-जैसे प्रतिरोधी शैल वाली ढाल-इकाई का अवनयन होता है इस ढाल इकाई के ऊपर स्थित ढाल-इकाई चपटी होती जाती है तथा ढाल-प्रवणता घटती जाती है। शैल के स्वभाव में जितना ही अधिक अन्तर होता है उतना ही अधिक अन्तर ढाल-प्रवणता में होता है। अर्थात् यदि और दशायें समान

हो तो अधिक प्रतिरोधी शैल पर तीव्र प्रवणता वाली ढाल-इकाई का निर्माण होता है तथा उसका निवर्तन कम होता है। इस स्थिति में घाटी सकरी एवं तंग होती है तथा सापेक्षिक ऊँचाई अधिक होती है। इसके विपरीत कम प्रतिरोधी शैल पर मन्द प्रवणता वाली ढाल-इकाई विकसित होती है, घाटी चौड़ी होती है एवं सापेक्षिक ऊँचाई कम होती है।

हैक ने डेविस तथा पेंक की तुलना में स्थलरूप-सरचना समायोजन के मॉडल का विकास सम्भवत एव विशद रूप से किया है। हैक के अनुसार स्थलाकृतिक रूप एव प्रक्रम, शैल में विभिन्नता एव उसपर क्रियाशील प्रक्रमों से पूर्णतया सम्बन्धित होते हैं। हैक ने शेननडोह घाटी में इस तरह के स्थलरूप-सरचना समायोजन के निम्न प्रमाण तथा उदाहरण प्रस्तुत किये हैं (Hack, J T, 1975)—

(i) प्रवाह-बेसिन की विशिष्ट ज्यामिति शैल प्रकार, शैल के अनावरण की दशा एव अन्य पर्यावरण दशाओं से निकट से सम्बन्धित है। हैक ने ज्यामिति के अन्तर्गत गर्त के आकार एव रूप, घाटी का घनत्व, कटक-शीर्ष की वक्रता (curvature of ridge tops) तथा जलमार्ग-ढाल को सम्मिलित किया है।

(ii) प्रमुख स्थलाकृतिक रूप जैसे वृहद् पर्वतीय कटक भू-गर्भिक सरचना से निकट से सम्बन्धित हैं।

(iii) प्रमुख नदियों ने प्रतिरोधी शैलों को बचाकर अपने मार्ग तथा घाटी का निर्माण किया है। अर्थात् प्रमुख नदियाँ कमजोर शैलों से होकर प्रवाहित होती हैं।

(iv) शेननडोह नदी की अनुदैर्ध्य परिच्छेदिका तथा पहाड़ियों की सामान्य ऊँचाई सरचना एव शैलिकी से सम्बन्धित है।

(v) शेननडोह घाटी के निचले तल पर स्थित ढीले (unconsolidated) अवशिष्ट पदार्थों की मोटाई उनके नीचे स्थित शैल से निर्धारित हुई है।

(vi) बजरी युक्त वेदिकाओं (gravel terraces) तथा घाटी के निम्नस्थलों के मलवा वितान (aprons) का वितरण वृहद् प्रवाह बेसिन में प्रतिरोधी शैलों के सन्दर्भ में हुआ है। इस तरह हैक का दावा है कि शेननडोह घाटी में स्थलाकृतिक रूप एव उनकी विशेषतायें उस क्षेत्र में भू-गर्भिक सरचना एवं विभिन्न भौतिक एव रासायनिक गुणों वाली शैलों के वितरण के ऊपर आधारित है अर्थात् उनसे पूर्णरूपेण प्रभावित एवं नियंत्रित है।

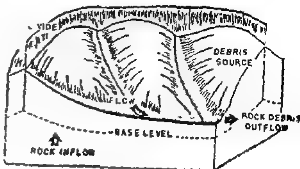
इस प्रकार स्पष्ट है कि जहाँ तक स्थलरूपों का सरचना एव शैलिकी के साथ समायोजन का सम्बन्ध है, डेविस, पेंक तथा हैक के स्थलरूपों के विकास से सम्बन्धित मॉडल अनुरूप हैं यद्यपि अन्य पहलुओं में इनमें पर्याप्त अन्तर है।

6 पामक्विस्ट का संमिश्र मॉडल
(Composite Model of Robert C Palmquist)

पामक्विस्ट ने डेविस, पेंक तथा हैक के स्थलरूपों के विकास से सम्बन्धित प्रतिरूपों को एक दूसरे के साथ विलय करके एक समिश्र/संयुक्त प्रतिरूप के निर्माण का प्रयास किया है। पामक्विस्ट के अनुसार मात्र दो मान्यताओं (premises) के आधार पर 'स्थलरूप विकास' एव 'गतिक समस्थिति' प्रतिरूपों के लिए उभयनिष्ठ सन्दर्भ तन्त्र (reference system) विकसित किया जा सकता है—(i) स्थलाकृतिक तन्त्र बहुविचर विवृत्त तन्त्र (multivariate open system) होता है जो स्थिर समस्थिति की दशा की ओर उन्मुख होता है। (ii) आधार तन्त्र के ऊपर स्थित शैल-राशि वाह्य विचर (external variable) होती है जिसके सन्दर्भ में तन्त्र सदा असमस्थिति (disequilibrium) में होता है। प्रथम मान्यता से तन्त्र के सम्बन्ध में निम्न कल्पनायें की जा सकती हैं—(i) तंत्र के आन्तरिक रूप (स्थलरूपों के आकार) तथा प्रक्रम वाह्य कारकों (पटलविरूपण, जलवायु आदि) से नियंत्रित होते हैं। (ii) प्रत्येक आन्तरिक विचर असमस्थितिक दशाओं के प्रति विशिष्ट प्रतिक्रिया करता है। (iii) प्रत्येक आन्तरिक विचर समस्थिति की प्राप्ति की ओर अग्रसर होगा। विचर के समस्थिति की प्राप्ति की दर उसके (विचर) समस्थिति के मान से दूरी के समानुपातिक होगी। (iv) तन्त्र में अधिकाश आन्तरिक विचर वाह्य विचरों में होने वाले गौण परिमाण वाले मन्द परिवर्तनों के सन्दर्भ में समस्थिति दशा के करीब होंगे तथा तन्त्र में अवशिष्ट आकृतियाँ कम ही होंगी। इसी तरह कई आन्तरिक विचर वाह्य विचरों में होने वाले वृहद् परिमाण वाले तीव्र परिवर्तनों के सन्दर्भ में असमस्थिति की दशा में होंगे तथा तन्त्र में अवशिष्ट आकृतियाँ (relict features) बहुतायत में होती हैं। अर्थात् यदि तंत्र के वाह्य विचरों में परिवर्तन मन्द गति से होते हैं तो इन विचरों के सन्दर्भ में तंत्र के अधिकाश आन्तरिक विचर

(स्थलाकृति आकृतियाँ) समस्थिति में होते हैं। ऐसी दशा में अवशिष्ट (प्राचीन) स्थलाकृतिक आकृतियाँ नाम मात्र की ही होती हैं। परन्तु जब तंत्र के वाह्य विचरों (उत्थान, अवतलन, जलवायु आदि) में परिवर्तन तीव्र गति से होता है तो उनके सन्दर्भ में कई आन्तरिक विचर समस्थिति में नहीं होंगे। ऐसी स्थिति में अधिकांश अवशिष्ट स्थलाकृतिक आकृतियाँ सुरक्षित रहेंगी।

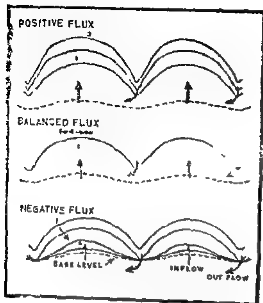
शैल का जितना भाग आधार तल के ऊपर होता है वह असमस्थिति की दशा उत्पन्न करता है। यह असमस्थिति स्थितिज ऊर्जा तथा पदार्थों के निस्सरण (material flux) के सन्दर्भ में होती है। पामक्विस्ट ने आधार-तल की प्रचलित अवधारणा को ही अपनाया है। उदाहरण के लिए आधार-तल सागर-तल के सन्दर्भ में स्थल के नीचे ऊपर की ओर इस तरह उठता जाता है कि ऐसी सतह (स्थल की) की स्थिति होती है कि उसके भाग में इतनी प्रवणता होती है कि नदी मलवा का परिवहन कर सके। इसी तरह जलविभाजकों के नीचे भी आधार-तल नदी-तल से जलविभाजकों की ओर इतना उठता जाता है कि उसकी इतनी प्रवणता होती है कि ढाल पर क्रियाशील प्रक्रम मलवा का नीचे की ओर स्थानान्तरण कर सके। आधार-तल पर स्थलखण्ड की स्थितिज ऊर्जा (potential energy) गतिज ऊर्जा (kinetic energy) में नहीं बदल पाती है, अतः अपरदन नहीं हो पाता है। इसके विपरीत आधार-तल के ऊपर स्थित शैल राशि की स्थितिज ऊर्जा गतिज ऊर्जा में परिवर्तनीय होती है तथा अपरदन होता है। स्पष्ट है कि यदि आधार-तल से ऊपर स्थित शैल राशि का अपरदन होता है तो उच्चावच्च में अवनयन की स्थिर प्रवृत्ति होती है, अर्थात् उच्चावच्च में लगातार अवनयन/न्यूनीकरण होता रहता है। पामक्विस्ट ने प्रवाह-बेसिन को एक विवृत्त तंत्र के रूप में लिया है जिसकी बाहरी सीमा जलविभाजकों की ऊँचाई, तली की सीमा आधार-तल द्वारा तथा ऊपरी सीमा स्थलखण्ड की सतह द्वारा निर्धारित होती है। इस तरह के तंत्र से पदार्थों एवं ऊर्जा का गमन होता है। पामक्विस्ट ने प्रवाह-बेसिन में चट्टानी पदार्थों के निस्सरण (flux) का ही उदाहरण लिया है, जल, हिम, वायु, धूल आदि को नजरअन्दाज कर दिया है। प्रवाह-बेसिन में शैल-पदार्थों का प्रवेश (अन्तःप्रवाह, inflow) पटलविरूपणी उत्थान के माध्यम से ही होता है। शैल-मलवा (अनाच्छादन से प्राप्त) का निष्कासन (वाह्य प्रवाह, out flow) जलीय अपरदन तथा परिवहन द्वारा प्रवाह-बेसिन के मुहाने से बाहर की ओर होता है (चित्र 3)।



चित्र 3—विवृत्त तंत्र के सन्दर्भ में प्रवाह-बेसिन के उदाहरण (पामक्विस्ट)।

यदि प्रवाह-बेसिन में इस तरह की गतिक समस्थिति की दशा होनी हो कि प्रवाह-बेसिन की ज्यामिति स्थिर बनी रहे तो अन्तः प्रवाह को वाह्य-प्रवाह के बराबर होना चाहिए। अर्थात् उत्थान होने से आधार-तल के ऊपर जितनी शैल-राशि में वृद्धि होती है उतनी ही मात्रा में शैल-राशि का अपरदन हो तथा अपरदन से प्राप्त मलवा का बेसिन से निष्कासन हो जाय। यदि यह पदार्थ—निस्सरण (material flux, पदार्थों का अन्तः एवं वाह्य प्रवाह) सन्तुलित रहता है तो तंत्र गतिक समस्थिति में होता है एवं स्थलाकृतिक आकार में अन्तर नहीं होता है, वरन् वे स्थिर रहते हैं। जब कभी भी इस पदार्थ-निस्सरण में असन्तुलन होता है, बेसिन के उच्चावच्च में परिवर्तन होने लगता है तथा स्थलाकृतिक आकारों में भी परिवर्तन होता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रवाह-बेसिन को पदार्थ बजट स्थलरूपों के विकास को नियंत्रित करता है। यदि यह बजट धनात्मक होती है अर्थात् पटलविरूपणी बलों द्वारा स्थलखण्ड में उत्थान द्वारा पदार्थों का अन्तःप्रवाह पदार्थों के वाह्य-प्रवाह से अधिक होता है तो स्थितिज ऊर्जा बढ़ती जाती है जिस कारण नदी द्वारा अधःकर्तन होता है तथा परिणामस्वरूप उच्चावच्च एवं ढाल-प्रवणता में वृद्धि होती है। यदि यह बजट ऋणात्मक होती है अर्थात् पदार्थों के अन्तःप्रवाह से पदार्थों का वाह्य प्रवाह अधिक होता है तो स्थितिज ऊर्जा कम हो जाती है, नदी द्वारा अधःकर्तन (incision) स्थगित हो जाता है, उच्चावच्च एवं ढाल-प्रवणता कम होती जाती है। इन तीन स्थितियों

(क्रमश धनात्मक बजट, सतुलित बजट एव ऋणात्मक बजट) को चित्र 4 मे प्रदर्शित किया गया है ।



चित्र 4—एक प्रवाह-बेसिन मे विभिन्न सकल (mass) बजट के अन्तर्गत उच्चावच्च एवं आकार मे परिवर्तन का काल्पनिक पार्श्व चित्र (पामक्विस्ट) ।

पामक्विस्ट ने दावा किया है इस तरह के समिश्र मॉडल की मौलिक मान्यतायें डेविस, पेक तथा हैक के प्रतिरूपो के सन्दर्भ तत्वो की आधारभूत मान्यताओ का प्रतिनिधित्व करती है । यथा—स्थाकृतिक तल की विवृत तत्र के रूप मे मान्यता हैक के मॉडल के सन्दर्भ तत्र की सभी मान्यताओं एव डेविस तथा पेक की कई मान्यताओ को सम्मिलित कर लेती है । आधार-तल के ऊपर स्थित शैल-राशि द्वारा असमस्थिति की दशा का उद्भव तथा उस कारण स्थलरूपो मे सतत परिवर्तन की मान्यता डेविस द्वारा प्रस्तावित स्थलरूपो के विकास की मान्यता को प्रदर्शित करती है तथा पेक की इस मान्यता, कि सरिता-अपरदन की तीव्रता नदी-तल के ऊपर स्थित ढाल की प्रवणता को निर्धारित करती है, का समावेश भी इस समिश्र मॉडल म हो जाता है । 'विभिन्न आन्तरिक विचरो के समायोजन (वाह्य विचरो के साथ) की दर समान नही होती है' की मान्यता से विभिन्न समय तक अवशिष्ट स्थलरूपो के परिरक्षण/संरक्षण (preservation) की मान्यता भी इस समिश्र मॉडल मे समाविष्ट हो जाती है।

तत्र सन्दर्भ के अन्तर्गत भी डेविस के मॉडल (आदर्श चक्र) के समान ही स्थलरूपो के विकास से सम्बन्धित 'विकासीय योजना' (evolutionary scheme) की रचना की जा सकती है, यदि त्वरित उत्थान के बाद दीर्घकाल तक पटलविरूपणी एवं जलवायु की स्थिरता (अर्थात् उत्थान रहित, धरातल एव समवत जलवायु की दशा) की कल्पना कर ली जाय । हैक ने भी इस दशा मे स्थलरूपो के विकास (स्थलरूपो मे सतत अवनयन) के मॉडल की रचना की है । इस तरह पामक्विस्ट के समिश्र मॉडल के तहत कल्पित असमस्थिति की दशाओं (वाह्य एव आन्तरिक विचरो के मध्य असमस्थिति) मे विकसित होने वाले स्थलरूपों के आकार तत्र मे क्रियाशील प्रक्रमो तथा शैल की विशेषताओं के प्रतिफल होते है । स्थलरूपो मे जलवायु का महत्त्व उस सीमा तक होता है जहां तक वह विभिन्न बहिर्जात प्रक्रमो की प्रभाविता (effectiveness) को एव तत्र की कुल बजट (mass budget) को प्रभावित करती है । इस प्रकार स्पष्ट है कि कुछ दशाओ म स्थलरूपो क आकारो मे समस्थिति होती (जब कि वाह्य एव आन्तरिक विचरो मे समस्थिति होती है) और कुछ दशाओ मे (विवर्तनिक एव जलवायु की स्थिरता) मे स्थलरूपो मे क्रमिक परिवर्तन भी होता है (डेविस के मॉडल के अनुरूप) ।

7 विवर्तन-स्थाकृतिक मॉडल (मेरी मोरिसावा, 1975) (Tectono Geomorphic Models)

प्लेट-विवर्तनिकी (plate tectonics) के सन्दर्भ मे कई भू-आकृतिविज्ञानवेत्ताओ ने भूतल के स्थलाकृतिक आकारो एव उनकी विशेषताओं की व्याख्या का प्रयास किया है । इस सन्दर्भ मे **मेरी मोरिसावा** (Marie Morisawa) का 'विवर्तन-स्थाकृतिक मॉडल' उल्लेखनीय है । मोरिसावा (1975,1980) की निम्न मान्यताएँ है—

(i) स्थलरूप बल की असमानता (inequality of force) या प्रतिरोधिता की असमानता (inequality of resistance) या दोनों स्थितियो के प्रतिफल होते है । भूतल के विभिन्न पदार्थों (विभिन्न शैल) पर क्रियाशील बहिर्जात एव अन्तर्जात प्रक्रमो के कार्य-दरो मे असमानता के कारण स्थलरूपो मे विषमता होती है ।

(ii) प्रकृति, बल तथा प्रतिरोधिता की समस्थिति की प्राप्ति का प्रयास करती है परन्तु यह स्थिति सदा सम्भव नही हो पाती है क्योकि पृथ्वी गतिशील है । अर्थात् दीर्घकालीन स्थिरता नही हो पाती है । इस प्रकार भूतल मे सदा परिवर्तन होता रहता है । अतः

स्थिर समस्थिति (static equilibrium) न होकर समस्थिति की प्रवृत्ति होती है । गतिक पृथ्वी तंत्र (dynamic earth system) का महत्त्वपूर्ण तथ्य **'संतुलन सम्बन्धी प्रतिपुष्टि'** (isostatic feed-back) होता है । इस **'संतुलन प्रतिपुष्टि'** द्वारा उत्थान और अपरदन, निक्षेपण और अवतलन की दरें प्रभावित होती हैं । भूतल पर वर्तमान समय में दृश्य स्थलरूप अन्तर्जात एवं बहिर्जात प्रक्रमों की क्रियाशीलता के अनुपात में अन्तर के प्रतिफल हैं । यह अनुपात एक समय से दूसरे समय एवं एक स्थान से दूसरे स्थान में बदलता रहता है । परिणामस्वरूप स्थलरूपों में कालिक एवं स्थानिक अन्तर होते हैं । इस तरह स्थलरूप समिश्र (composite) एवं जटिल (complex) होते हैं । परिणामस्वरूप उनकी उत्पत्ति तथा विकास की जानकारी प्राप्त करना कठिन हो जाता है।

(iii) प्लेट विवर्तनिकी के आधार पर पृथ्वी की कुछ स्थलाकृतिक आकृतियों की व्याख्या की जा सकती है।

(iv) जब नये स्थल का निर्माण होता है या उसमें उत्थान होता है तो उसमें बहिर्जात् प्रक्रमों द्वारा शीघ्र रूप परिवर्तन होता है । रूप-परिवर्तन की दर बल तथा प्रतिरोधिता पर आधारित होती है ।

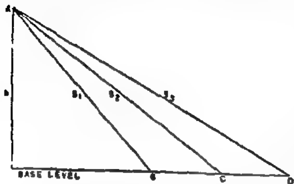
मोरिसावा ने विभिन्न क्षेत्रों में किये गये स्थलाकृतिक शोध कार्यों के परिणामों (विभिन्न विद्वानों द्वारा) के के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि उत्थान से जनित उच्च भाग पर अपरदन तीव्र गति से होता है क्योंकि ऊँचाई के कारण अपरदन के लिए प्रेरक स्थितिज ऊर्जा (potential energy) अधिक होती है । इन्होंने मध्य अक्षांशों में सरिताओं द्वारा होने वाले अपरदन से सम्बन्धित अहनर्ट (Ahnert F., 1970) द्वारा प्राप्त किये गये परिणामों को उद्धृत करते हुए बताया है कि अनाच्छादन की दर एवं बेसिन उच्चावच्च में सीधा (धनात्मक) सह-सम्बन्ध होता है, अनाच्छादन की दरों में जो विभिन्नतायें होती हैं उनका 96% बेसिन के औसत उच्चावच्च के कारण है । इसी प्रकार पपुआ में ज्वालामुखियों के अपरदन के सम्बन्ध में **रक्सटन एवं मैकडोगल** (Ruxton, B P. तथा McDougall, I., 1967) द्वारा किये गये अध्ययन के अनुसार 760 मीटर ऊँचाई वाले भाग पर अनाच्छादन की दर 75 सेमी० प्रति हजार वर्ष एवं 60 मीटर ऊँचाई वाले भाग पर 8 सेमी० प्रति हजार वर्ष है । इसी तरह **योशिकावा** (Yoshikawa T., 1974) के अनुसार जापान में अनाच्छादन की दर उत्थान की दर से सम्बन्धित है । इन्होंने बताया है कि क्वाटरनरी युगीन अधिकतम उत्थान के कारण अनाच्छादन की दर अधिक हुई है परन्तु अधिकांश प्रवाह-बेसिनों में उत्थान की दर अनाच्छादन की दर से अधिक रही है । इन्होंने पुनः बताया है कि जापान के उच्चस्थ पर्वतीय क्षेत्रों में अनाच्छादन की दर विवर्तनिक उत्थान की दर से अधिक है । योशिकावा के अनुसार अनाच्छादन की वर्तमान दर 0 840 मीटर प्रति हजार वर्ष है जो वर्तमान समय में उत्थान की औसत दर (0 863 मीटर प्रति हजार वर्ष) के लगभग समान है । इसी तरह **आइजक** (Isacks, B तथा अन्य, 1973) ने हिमालय के औसत उत्थान को 0 3 मिलीमीटर प्रति हजार वर्ष की दर का आकलन किया है जो कि दक्षिणी एशिया की नदियों द्वारा होने वाले अपरदन से सम्बन्धित **होलमैन** (Holeman J N, 1968) द्वारा आकलित अपरदन की दर (0 3 मिलीमीटर प्रति हजार वर्ष) के समान है (ज्ञातव्य है कि यह आकलन उन नदियों से सम्बन्धित है जो हिमालय से प्रवाहित होती हैं) । इन उदाहरणों के आधार पर **मोरिसावा** ने यह प्रतिपादित किया है कि उत्थान की दर एवं अपरदन की दर में सीधा सम्बन्ध होता है ।

मोरिसावा के मॉडल की प्रमुख मान्यता यह है कि स्थलरूप एवं उनके विकास में जो विभिन्नता होती है वह बल या प्रतिरोधिता में असमानता के कारण होती है । इन्होंने इस अवधारणा की व्याख्या आरेख द्वारा की है (चित्र 5) ।



चित्र 5—दो विभिन्न ऊँचाईयों वाली दो सरिताओं की स्थितिज ऊर्जा में अन्तर का प्रदर्शन । यद्यपि दोनों का आधार-तल एक ही है तो भी सुलभ ऊर्जा में अन्तर होता है (मोरिसावा) ।

यदि किसी क्षेत्र में दो ऐसी नदियाँ हैं जिनका आधार तल तो समान है परन्तु उनकी ऊँचाईयाँ भिन्न है (चित्र 5 में S_1 सरिता की ऊँचाई S_2 सरिता की आधी है) तो दोनों की स्थितिज ऊर्जा (potential energy) मे अन्तर होगा। पुन मोरिसावा ने तीन ऐसी नदी-परिच्छेदिकाओ का उदाहरण लिया है जिनकी ऊँचाईयाँ एव आधार-तल समान हैं परन्तु उनके ढाल में अन्तर है। इन तीनो सरिताओ का जल विसर्जन (water discharge) भी समान है। ऐसी स्थिति मे तीनो दशाओ (चित्र 6 मे S_1, S_2 तथा S_3 सरितायें)



चित्र 6—प्रवाह-बेसिन मे गतिज ऊर्जा मे अन्तर का प्रदर्शन जब कि विभिन्न नदियो की ऊँचाई, उच्चावच्च तथा आधार-तल समान है परन्तु ढाल-प्रवणता मे अन्तर है (मोरिसावा)।

मे स्थितिज ऊर्जा समान है तथा उनकी गतिज ऊर्जा (kinetic energy) मे परिवर्तन भी बराबर है परन्तु कार्य के लिए सुलभ अन्तिम गतिज ऊर्जा अलग-अलग होगी क्योकि कार्य (अपरदन एव परिवहन) के लिए प्राप्य गतिज ऊर्जा, ऊर्जा रूपान्तरण (स्थितिज मे गतिज मे) के समय तय की गई दूरी या लम्बाई (जलमार्ग की लम्बाई) पर आधारित होती है। मन्द ढाल पर यह दूरी या लम्बाई अधिक होती है (चित्र 6 मे S_3 सरिता की लम्बाई A D) जबकि तीव्र ढाल पर यह लम्बाई (चित्र 6, S_1 नदी की A B लम्बाई) कम होती है। यह लम्बाई जितनी ही अधिक होगी उस पर अपरदन एवं परिवहन के लिए प्राप्य गतिज ऊर्जा उतनी ही कम होगी क्योंकि अधिक दूरी या लम्बाई के कारण गतिज उर्जा मे (सतह की प्रतिरोधिता के कारण रगड से) क्षति भी अधिक होती है। इस तरह S_1 सरिता के अपरदनात्मक एवं परिवहनात्मक कार्य के लिए प्राप्य कुल गतिज ऊर्जा सर्वाधिक है जबकि S_3 सरिता मे न्यूनतम है (तीनो सरिताओं के तुलनात्मक रूप में)। स्पष्ट है कि समान ऊँचाई, समान आधार तल एवं समान जल विसर्जन के होने पर भी असमान ढाल के कारण बल मे असमानता है। इसी तरह यदि ऊँचाई एवं ढाल बराबर हो परन्तु जल विसर्जन मे भिन्नता हो तो भी गतिजऊर्जा मे विभिन्नता होगी क्योंकि गतिज उर्जा $= 1/2\ M V^2$ (M = Mass यहाँ पर विसर्जन तथ, V = Velocity, प्रवाह वेग)। इस दशा मे ऊँचाई, ढाल एवं उच्चावच्च के समान होने पर भी बलो मे असमानता होती है।

स्थितिज उर्जा $= M \times G \times H$,

M = Mass, G = gravity एवं H = height

इस प्रकार जनित असमान बल या समान बलो के लिए असमान प्रतिरोधिता के कारण अनाच्छादन की दरो मे विभिन्नता होती है। अर्थात् यदि सरिताओ मे ऊँचाई, आधार तल एवं जल विसर्जन समान हैं परन्तु ढाल मे अन्तर है तो मन्द ढाल वाली सरिता मे यात्रा दूरी अधिक होने से अधिक समय तक (लम्बी दूरी के कारण) प्रतिरोधिता के कारण गतिज ऊर्जा कम हो जायेगी। परिणामस्वरूप अपरदन की दर भी कम होगी। तीव्र ढाल वाली सरिता मे यात्रा-दूरी कम होने से प्रतिरोधिता द्वारा बल मे ह्रास कम होगा, गतिज ऊर्जा अपेक्षाकृत अधिक होगी, परिणामस्वरूप अपरदन की दर अधिक होगी। इस प्रकार मोरिसावा द्वारा कल्पित मॉडल को उन्ही के शब्दो मे उद्धृत किया जा रहा है—

'That unequal forces or unequal resistance to the same force will result in different rates of denudation Unequal forces at work. or unequal resistance to the same force results in individuality and variety of landforms.'—Marie Morisawa, 1975, 1980.

मोरिसावा ने विवर्तनिक बल एवं अनाच्छादन बल के मध्य सम्बन्ध स्थापित किया है। जब विवर्तनिक बल तथा अनाच्छादन बल समान होते हैं तब समस्थिति होती है परतु जब विवर्तनिक बल अनाच्छादन बल मे अधिक या कम होता है तो असमस्थिति होती है। इन्होंने पुन बताया है कि असमस्थिति की दशा अस्थायी होती है क्योंकि इन दो परस्पर विरोधी बलो (विवर्तनिक एवं अनाच्छादन बल) मे समस्थिति की मात्र प्रवृत्ति होती है। यदि उत्थान त्वरित गति मे होता है, अनाच्छादन उस दर से नही हो पाता है तो उच्चावच्च मे तेजी से वृद्धि होती है। इस तरह वर्द्धमान उच्चावच्च (growing reliefs) के कारण अनाच्छादन

बल में तब तक वृद्धि होती जाती है जब तक अनाच्छादन एवं विवर्तनिक बल बराबर न हो जायें (अर्थात् उत्थान एवं अपरदन बराबर हो जायें)। इसके विपरीत यदि अनाच्छादनात्मक बल विवर्तनिक बल से अधिक है तो उच्चावच्च एवं ऊर्जा के ह्रास होने के कारण स्थल का विनाश धीरे-धीरे मन्द पड़ता जायेगा और अन्ततः अनाच्छादन एवं विवर्तन (उत्थान) में समस्थिति हो जायेगी।

मोरिसावा ने पुनः स्पष्ट किया है कि उपर्युक्त समस्थिति की दशा मात्र उसी समय हो सकती है जब विवर्तन में ह्रास तथा अनाच्छादन द्वारा निम्नीकरण में वृद्धि हो अथवा विवर्तन में वृद्धि एवं निम्नीकरण में ह्रास हो। स्पष्ट है कि समस्थिति की दशा स्थायी नहीं हो सकती। जब उत्थान होता है तो अपरदन द्वारा स्थलखण्ड में अवनयन होता है तथा अपरदन से प्राप्त मलवा का निम्न क्षेत्रों में निक्षेपण होता है। इस प्रक्रिया द्वारा धनात्मक प्रतिपुष्टि (positive feed back) होती है। अर्थात् निम्नीकरण (अपरदन द्वारा) एवं अभिवृद्धि (निक्षेप द्वारा) के दौरान संतुलन सम्बन्धी पुनर्समायोजन (readjustment) होता है। परिणामस्वरूप जिस स्थलखण्ड का अनाच्छादन द्वारा अवनयन होता है उसमें उभार होता है एवं निक्षेपण-क्षेत्र में अवतलन होता जाता है। इस तरह का संतुलन सम्बन्धी पुनर्समायोजन तत्कालिक हो सकता है या देर से/यदि पुनर्समायोजन में समय-शिथिलता (time-lag) होती है अर्थात् उत्थान के साथ ही संतुलन प्रतिपुष्टि प्रारम्भ न होकर देर से होती है तो अपरदन में नवीनीकरण होता रहता है। परिणामस्वरूप स्थलखण्ड में सविराम उपरिमुखी संचलन (intermittent upward movement) होने से विभिन्न ऊँचाईयों पर अपरदन तलों (erosion-levels) का निर्माण होता है। इस तरह की स्थिति में डेविस के मॉडल का सत्यापन होता है। सतत संतुलन की प्रतिपुष्टि (continuous isostatic feed-back) की स्थिति से पेंक के मॉडल को समर्थन मिलता है (उत्थान एवं अनाच्छादन की दरों में सतत परिवर्तन)। **मोरिसावा** का दावा है कि किसी भी प्रदेश के स्थाकृतिक इतिहास में इन दोनों प्रतिरूपों (मॉडल) की सम्भावना रहती है।

उपर्युक्त अवधारणा पर **मोरिसावा** ने प्रतिपादित किया है कि जब विभिन्न प्रतिरोधिता वाली शैलों पर अपरदनात्मक बल कार्य करते हैं तो कार्य (अपरदन) एवं आकार (स्थलाकृतिक रूप) में सम्बन्धित अस्थायी असमस्थिति की दशायें होती हैं। परन्तु बल एवं प्रतिरोधिता के परिवेश में समस्थिति (आकार की समस्थिति) की स्थापना की प्रवृत्ति होती है। यथा-कोई भी सरिता इतने ढाल की प्राप्ति करने का प्रयास करती है कि अपरदन से प्राप्त पदार्थों का परिवहन करने के लिए वांछित ऊर्जा प्राप्त हो जाय। अर्थात् जब भूपटलीय पदार्थ प्रतिरोधी होते हैं तो अस्थायी रूप से ऊर्जा में वृद्धि होती है। ऊर्जा में इस वृद्धि के कारण बल में वृद्धि होती है ताकि वह (बल) उच्च प्रतिरोधिता के बराबर हो जाय। इसके विपरीत जब भूपटलीय पदार्थों में कम प्रतिरोधिता होती है तो ऊर्जा में शीघ्रता से कमी आती है ताकि वह निम्न प्रतिरोधिता के बराबर हो जाती है।

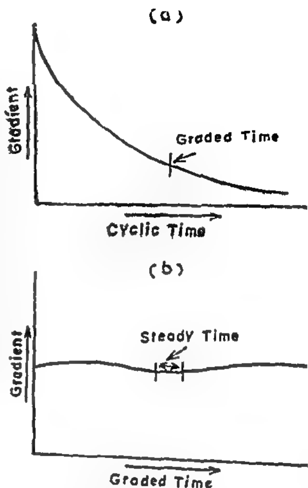
मोरिसावा ने प्लेट-विवर्तनिकी के सिद्धान्त के आधार पर भूपटल के स्थलरूपों के उद्भव एवं विकास की व्याख्या करने का प्रयास किया है। "रचनात्मक प्लेट किनारों (constructive plate margins) पर खण्ड भ्रंशन (block faulting) एवं बेसाल्टिक प्रवाह होता है। जो नदियाँ भ्रंश खण्ड (fault block) के उत्थित किनारों के आर-पार प्रवाहित होती हैं वे निम्नवर्ती अपरदन द्वारा अपनी घाटी को गहरा करती हैं तथा गहरे गार्ज का निर्माण होता है। जैसे-जैसे अपरदन होता जाता है, प्रवाह-प्रणाली में व्युत्क्रम (reversal), सरिता-अपहरण एवं जल-द्वार (water gaps) आदि स्थाकृतिक क्रियायें होती हैं एवं विशिष्ट आकृतियाँ निर्मित होती हैं। विनाशात्मक प्लेट किनारों (destructive plate margins) के सहारे एक प्लेट के अग्रभाग (अपेक्षाकृत भारी घनत्व वाले) के दूसरे प्लेट (अपेक्षाकृत कम घनत्व वाले) के नीचे क्षेपण (subduction) होने से पर्वतीय श्रेणियाँ निर्मित होती हैं। इस तरह उत्थित भाग पर नदियाँ तीव्रता से निम्नवर्ती अपरदन (गतिज ऊर्जा में वृद्धि के कारण) करती हैं, उच्च तलीय वेदिकायें तथा गहरे गार्ज तथा कैनियन निर्मित होते हैं। लगातार उत्थान के कारण नदी-वेदिकाओं के रूप विकृत हो जाते हैं तथा नदी की अनुदैर्घ्य परिच्छेदिकाओं में निकप्वाइण्ट बन जाते हैं। यदि उत्थान की प्रक्रिया जारी रहती है तो सोपानाकार आकृतियाँ (जैसे वेदिकाओं, सोपान (benches) तथा निकप्वाइण्ट की श्रृंखलायें) बन जाती हैं। इस तरह **मोरिसावा** ने बताया है कि नूतन व्यापक विवर्तनिक घटनाओं के माध्यम से

भूतल के कुछ सामान्य स्थलाकृतिक आकृतियों की व्याख्या की जा सकती है।

3 शूम का खण्डकालिक अपरदन सिद्धान्त (Episodic Erosion Theory)

शूम का 'खण्डकालिक अपरदन मॉडल' वास्तव में स्थलाकृतिक चक्र का ही संशोधित रूप है। इन्होंने अपने मॉडल की रचना इस मान्यता पर की है कि अधिकांश स्थलाकृतिक मॉडल आवश्यकता से अधिक साधारणीकृत हैं तथा इनके द्वारा स्थलरूपों में लघु समय में होने वाले परिवर्तनों की व्याख्या नहीं की जा सकती है। नदी की प्रवणता (gradient) एवं घाटी-तली की ऊँचाई में भूगर्भिक काल (दीर्घकाल) के दौरान क्रमिक/प्रगामी परिवर्तन नहीं होता है बल्कि अस्थिरता (instability) एवं अधःकर्तन (incision) के अल्पकाल होते हैं जिनका अलगाव सापेक्षिक स्थिरता के दीर्घकाल में होता है। स्थलाकृति का अत्यन्त जटिल स्थलाकृतिक इतिहास होता है। अनाच्छादन क्रमिक न होकर खण्डकालिक (episodic) होता है। अर्थात् तीव्र अपरदन-काल के पश्चात् निक्षेपण-काल होता है तथा इन दो घटनाओं (अपरदन तथा निक्षेपण) की पुनरावृत्ति होती रहती है एवं स्थलरूपों के विकास में जटिलतायें आ जाती हैं।

लिटी तथा शूम (R. W. Lichty and S. A. Schumm, 1965) ने सर्वप्रथम डेविस, पेंक तथा हैक के स्थलाकृतिक प्रतिरूपों में निहित विवादों के निवारण का प्रयास किया है। इसके लिए इन्होंने स्थलरूपों के विकास के विभिन्न अवधि वाले कालों (different spans of time) के उदाहरण दिये हैं यथा चक्रीय काल प्रवणित काल (graded time) तथा स्थिर दशा-काल, (steady state time)। चक्रीय काल दीर्घकाल (भू-गर्भिक काल) होता है जिसके दौरान नदियों की प्रवणता में घातीय ह्रास (exponential decrease) होता है (चित्र 7)। एक चक्रीय काल में कई प्रवणित काल एवं स्थिर दशा-काल हो सकते हैं। प्रवणित काल के दौरान औसत प्रवणता प्रायः स्थिर रहती है परन्तु समय के परिवेश में इस औसत प्रवणता में परिवर्तन या उतार-चढ़ाव होता रहेगा। स्थिर दशा-काल लघु अवधि वाला होता है जिस समय कोई परिवर्तन नहीं होता है (चित्र 7 b)।



चित्र 7—विभिन्न समय-अन्तराल (time spans) के अन्तर्गत जलमार्ग-प्रवणता में अन्तर का आरेख द्वारा प्रदर्शन (शूम तथा लिटी, 1965)।

a—चक्रीय समय के अन्तर्गत जलमार्ग-प्रवणता में क्रमिक ह्रास। चक्रीय समय के आंशिक समय के दौरान, जो प्रवणित समय (graded time) होता है, जलमार्ग-ढाल स्थिर रहता है।

b—प्रवणित समय के दौरान जलमार्ग-ढाल में औसत मान के ऊपर तथा नीचे उतार-चढ़ाव (fluctuation)। लघु स्थित समय-अन्तराल के अन्तर्गत जलमार्ग-ढाल स्थिर रहता है।

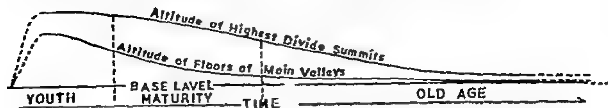
शूम के मॉडल का मुख्य आधार यह है कि नदी की घाटी की तली एवं सरिता प्रवणता (stream gradient) में प्रगामी/क्रमिक (progressive) अवनयन (reduction) नहीं होता है क्योंकि जलीय तंत्र (fluvial

system) के कार्यान्वयन में इस तरह के प्रगामी अवनयन (घाटी-तली तथा जलमार्ग की प्रवणता में) में व्यवधान हो जाता है। शूम की अवधारणा है कि स्थाकृतिक चक्र प्रतिरूप (जैसा कि डेविस ने प्रतिपादित किया है) में प्रवणता तथा घाटी-तली दोनों में प्रगामी अवनयन को समाविष्ट नहीं किया जा सकता। उदाहरणार्थ—प्रवणता में प्रगामी अवनयन की अवधारणा तर्कयुक्त तो लगती है परन्तु इससे प्रवणित दशा का विकास तरुण एवं प्रौढ अवस्थाओं में नहीं हो पाता है। यह स्थिति मात्र जीर्णावस्था में ही सम्भव होती है। इसके विपरीत यदि प्रवणित दशा की स्थिति होती है तो घाटी-तली एवं सरिता प्रवणता में प्रगामी अवनयन का होना असम्भव हो जाता है। इस समस्या के निवारण के लिये शूम का सुझाव है कि प्रगामी अपरदन तथा प्रगामी प्रवणता में अवनयन की सकल्पनाओं में से एक को निरस्त कर देना चाहिए। इन दोनों सकल्पनाओं को एक मॉडल में समाहित करने के लिए ऐसे वैकल्पिक मॉडल की रचना का सुझाव दिया है जिसमें घाटी-तली तथा सरिता प्रवणता में प्रगामी विकास (progressive evolution) न होकर त्वरित परिवर्तन होता है तथा इस तरह के त्वरित परिवर्तन वाले अल्पकालों द्वारा प्रवणता के दीर्घकालों का अलगाव होता है। अर्थात् प्रवणता के दो दीर्घकालों के मध्य त्वरित परिवर्तन (खण्डकालिक अपरदन द्वारा) का अल्पकाल होता है।

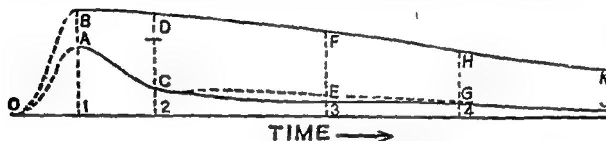
शूम ने (1975) स्थलाकृतिक जटिलता की व्याख्या के लिए दो स्थाकृतिक सकल्पनाये विकसित की है—(i) **स्थाकृतिक सीमान्त की संकल्पना** (concept of geomorphic thresholds) तथा (ii) **जटिल अनुक्रिया की सकल्पना** (concept of complex response)। स्थाकृतिक सीमान्त की संकल्पना के अनुसार जलीय सिस्टम के अन्तर्गत परिवर्तन हो सकते हैं और ये परिवर्तन वाह्य प्रभावों (समस्थितिक उत्थान-isostatic upliftment आदि) के कारण न होकर अपरदनशील सिस्टम (eroding system) में निहित स्थाकृतिक नियन्त्रण के कारण होते हैं। उदाहरणार्थ—जब किसी जलीय सिस्टम में अवसादों का सचयन होता है तो ये (निक्षेपित अवसाद) एक चरम सीमान्त ढाल (critical threshold slope) पर अस्थिर हो जाते हैं। परिणामस्वरूप (निक्षेपण के कारण ढाल-प्रवणता बढ़ने पर) अपरदन प्रारम्भ हो जाता है। स्पष्ट है कि इस तरह जो परिवर्तन होता है वह जलीय सिस्टम के वाह्य विचरों (external variables) के कारण न होकर सिस्टम के आन्तरिक स्थाकृतिक नियन्त्रण के कारण होता है। जटिल अनुक्रिया की सकल्पना के अनुसार जब प्रवाह बेसिन में नवोन्मेष होता है तो सिस्टम का प्रत्युत्तर/अनुक्रिया (response) मात्र घाटी के अध कर्तन के रूप में ही नहीं होता है परन्तु यह प्रत्युत्तर अध कर्तन, अभिवृद्धि (aggradation) तथा नवीनीकृत अपरदन (renewed erosion) के द्वारा नयी समस्थिति (equilibrium) की स्थापना के रूप में होता है। यदि जलीय सिस्टम के वाह्य विचरों के प्रभाव (यथा समस्थितिक उत्थान) को जटिल अनुक्रिया एवं स्थाकृतिक सीमान्त के साथ सम्मिलित कर लिया जाय तो क्रम से कम स्थाकृतिक चक्र की प्रारम्भिक अवस्था के समय अनाच्छादन प्रगामी/क्रमिक नहीं हो सकता बल्कि इस प्रारम्भिक अवस्था में सापेक्षिक स्थिरता कालों (relative periods of stability) के मध्य खण्डकालिक अपरदन कालों की दशाओं से युक्त घटनाओं का जटिल अनुक्रम होता है। अर्थात् अपरदन-काल तथा अपरदन रहित काल (स्थिरता काल) की पुनरावृत्ति होती रहती है जिस कारण जलीय सिस्टम एवं प्रत्युत्पन्न स्थलाकृति अत्यन्त जटिल हो जाती है। इस जटिलता का मुख्य कारण यह है कि यदि नदी के किसी भाग में किसी निश्चित समय में जो घटना होती है उसका प्रभाव पूरे जलमार्ग पर तात्कालिक नहीं हो पाता है। उदाहरण के लिए यदि उत्थान होने से प्रवाह-बेसिन में नवोन्मेष होता है तो जलमार्ग में मुहाने के पास जो परिवर्तन होता है अर्थात् अध कर्तन होता है वह नदी के जलमार्ग में एक निश्चित स्थान (मुहाने पर) पर एक निश्चित समय की दशाओं (नवोन्मेष) का प्रत्युत्तर (response) है। इस अध कर्तन द्वारा जो परिवर्तन मुहाने के पास होता है उसका प्रभाव नदी के ऊपरी भाग (upstream) में शीघ्र नहीं हो पाता है। जब इसका प्रभाव नदी के ऊपरी भाग में होता है (अर्थात् जब नदी के मुहाने पर नवोन्मेष के कारण अध कर्तन के रूप में जो परिवर्तन होता है उसका प्रत्युत्तर नदी के ऊपरी भाग में होता है) तो अध कर्तन के बाद निक्षेपण होने लगता है।

इस प्रकार 'स्थाकृतिक सीमान्त' एवं 'जटिल अनुक्रिया' की सकल्पनाओं के आधार पर शूम ने स्थलाकृतिक विकास के निम्न मॉडल का निर्माण किया है—

सर्वप्रथम शूम ने डेविस के मॉडल मे परिमार्जन एवं संशोधन प्रस्तुत किया है। चित्र 8 (डेविस के मॉडल का अन्य लोगो द्वारा प्रदर्शन) तथा 9 डेविस द्वारा प्रस्तुत मौलिक मॉडल को प्रदर्शित करता है। चित्र 10 शूम के मॉडल को प्रदर्शित करता है। तीनो आरेखों में ऊपरी रेखा जलविभाजको की ऊँचाई तथा उनके शीर्ष को प्रदर्शित करती है जबकि निचली रेखा घाटी की ऊँचाई का प्रतिनिधित्व करती है।



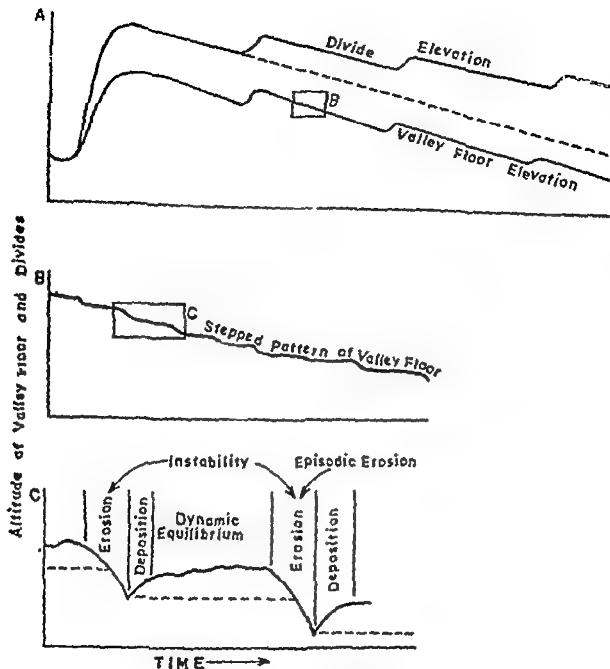
चित्र 8—डेविस के स्थलाकृतिक चक्र का सामान्य प्रदर्शन।



चित्र 9—डेविस द्वारा प्रस्तुत भौगोलिक चक्र का प्रदर्शन (डेविस, 1899)।

आरेख 10 का A भाग डेविस के मॉडल के आरेख (चित्र 9) की तरुणावस्था एवं प्रारम्भिक प्रौढावस्था को प्रदर्शित करता है परन्तु अनाच्छादन प्रगामी नही है वरन् इसमें समस्थितिक समायोजन (isostatic adjustment) के कारण व्यवधान होता रहता है, । डेविस के मॉडल के आरेख (चित्र 9) मे बिन्दुदार रेखा (CEG) घाटी की तली मे निक्षेपण की प्रतीक है। ज्ञातव्य है कि डेविस के मॉडल (चित्र 9) में ऊपरी वक्र (जलविभाजक शीर्ष BFHK) तथा निचला वक्र (घाटी-तल, (CEGJ) निष्कोण वक्र (smooth curves) है जबकि शूम के मॉडल (चित्र 10) में दोनो वक्र सोपानाकार है जो समस्थितिक समायोजन (उत्थान) द्वारा उत्पन्न व्यवधान के प्रतीक हैं। चित्र 10 A मे विन्दुदार रेखा डेविस द्वारा ऊँचाई मे प्रगामी अवनयन को प्रदर्शित करती है।

शूम के अनुसार जलविभाजको के शीर्ष पर वर्षा द्वारा सीमित अध क्षय होने से सामान्य परिवर्तन (ऊँचाई मे अवनयन) होता है परन्तु अध क्षय (down wearing) अपेक्षाकृत समान होता है (सभी उच्चस्थ भागो पर)। घाटी-तलो मे लघु समय के अन्तर्गत जो न्यूनीकरण (reduction) होता है उसके परिणामस्वरूप घाटी की तली का प्राख्य सोपानाकार (stepped pattern) हो जाता है। यह सोपानाकार प्राख्य घाटी मे अवसाद के सग्रह (storage) एवं बहाव (flushing) के कारण होता है। चित्र 10A मे B द्वारा प्रदर्शित भाग जलमार्ग मे घाटी-तली के प्राख्य को सामान्य रूप मे इगित करता है (जो सरलरेखा द्वारा प्रदर्शित है) परन्तु यदि उसी भाग का सूक्ष्म अवलोकन किया जाय तो वह वास्तव मे सोपानाकार होता है। चित्र 10 B मे चित्र 10 A के B भाग का सूक्ष्म रूप विस्तृत रूप मे दिखाया गया है। सामान्य रूप मे इस तरह के सोपानाकार प्राख्य (घाटी-तली के) को जलीय सिस्टम के वाह्य प्रभावो (उत्थान, जलवायु परिवर्तन आदि) का प्रतिफल बताया जाता है परन्तु शूम के अनुसार यह सिस्टम के वाह्य प्रभावो के कारण न होकर सिस्टम के आन्तरिक स्थलाकृतिक नियन्त्रणो का प्रतिफल है। इस तरह का प्रस्तावित मॉडल **गतिक मितस्थायी समस्थिति** (dynamic metastable equilibrium) वाले सिस्टम को प्रदर्शित करता है। ज्ञातव्य है कि **'स्थिर दशा समस्थिति'** (steady state equilibrium) मे एक औसत मान के सन्दर्भ मे उतार-चढ़ाव (fluctuations about



चित्र 10—भ्वाकृतिक चक्र की परिमार्जित संकल्पना।

A—डेविस द्वारा प्रस्तुत अपरदन चक्र (बिन्दुदार रेखा द्वारा प्रदर्शित)।

B—चित्र 10 A में प्रदर्शित घाटी-तल का अंश जो घाटी-तलों में ह्रास की खण्डकालिक प्रकृति को प्रदर्शित करता है।

C—चित्र 10 B में घाटी-तली का अंश जो अस्थिरता की लघु अवधि के मध्य गतिक संतुलन की दीर्घ अवधि को प्रदर्शित करता है (शुम, 1980)।

an average) होता रहता है जबकि 'मितस्थायी समस्थिति' उस समय होती है जबकि वाह्य प्रभाव (external influence) के द्वारा सिस्टम सीमान्त (system threshold) मान से होकर नयी समस्थिति की दशा मे प्रविष्ट होता है। शूम की मान्यता है कि वाह्य विचारो (external varialeles) के समस्थिति सिस्टम पर प्रभाव की सम्भावना रहती है परन्तु स्थलाकृति के अनाच्छादन के सन्दर्भ मे गतिक मितस्थायी समस्थिति सिस्टम मे निहित स्थाकृतिक सीमान्त (inherent geomorphic thresholds) के उत्तर / अनुक्रिया (response) को प्रतिबिम्बित करती हैं। अर्थात् सिस्टम के आन्तरिक स्थाकृतिक नियंत्रणों का प्रभाव गतिक मितस्थायी समस्थिति पर अवश्य होता है। उदाहरण के लिए घाटी-तली मे अवसाद के जमाव के कारण उक्त समस्थिति में अस्थिर दशा उत्पन्न हो जाती है। जब यह परिवर्तन निश्चित स्थाकृतिक सीमान्त (geomorphic_threshold) को पार कर जाता है या परिवर्तन स्थाकृतिक सीमान्त से अधिक हो जाता है तो प्रवाह तन्त्र (drainage system) मे नवोन्मेष हो जाता है। इस कारण खण्डकालिक अपरदन (episodic erosion) का काल प्रारम्भ हो जाता है। तदन्तर निक्षेपण का काल प्रारम्भ होता है। इस प्रकार अपरदन काल के बाद निक्षेपण काल के कारण घाटी का शैल सस्तर वाला तलागार (bedrock_valley floor) सोपानाकार हो जाता है जो अस्थिरता काल (अपरदन काल) एवं स्थिरता काल को प्रदर्शित करता है। ज्ञातव्य है कि अस्थिरता या अपरदन काल लघु अवधि वाला होता है तथा स्थिरता काल (या गतिक समस्थिति काल या प्रवणता काल) दीर्घ अवधि वाला होता है। अस्थिरता काल अपरदन का द्योतक है जबकि स्थिरता काल निक्षेपण का प्रतीक है। चित्र 10 C मे इन तथ्यो को स्पष्ट किया गया है। शूम का पुन कथन है कि स्थिरता कालों के समय जलमार्ग से गुजरने वाले अवसादो के स्वभाव मे परिवर्तन होने के कारण जलमार्ग प्रारूप मे भी परिवर्तन हो सकता है। अर्थात् सीधे (straight) जलमार्ग का अत्यधिक घुमावदार (sinuons) रूप मे परिवर्तन हो सकता है। इस तरह की वक्रता (sinuosity, जलमार्ग की) मे आरम्भिक अस्थिरता (incipient instability) मे वृद्धि भी हो सकती है। इस दशा मे वृहद् बाढ के समय नदी अपने मार्ग को छोटा कर लेती है। मार्ग के छोटा होने के कारण घाटी-अपरदन-काल की स्थापना हो जाती है अर्थात् घाटी-तली का पुन अध कर्तन प्रारम्भ हो जाता है।

स्पष्ट है कि यदि इस प्रकार **खण्डकालिक अपरदन** (episodic erosion) होता है अर्थात् अपरदन-काल (असमस्थिति) एव निक्षेपण काल (समस्थिति) के रूप मे असमस्थिति के लघु काल तथा स्थिरता के दीर्घ कालो (चित्र 10 C मे खण्डित रेखाओ मे प्रदर्शित) की पुनरावृत्ति होती है तो स्थलाकृति की कई सूक्ष्म आकृतियो जैसे लघु वेदिकायें तथा अभिनव जलोढ भराव (alluvial fills) आदि की व्याख्या के लिए जलीय सिस्टम के वाह्य विचरों के प्रभावों (उत्थान, जलवायु-परिवर्तन आदि) की आवश्यकता नही रह जाती है क्योंकि इन सूक्ष्म आकृतियो का विकास सिस्टम विकास के अन्तरंग भाग के रूप में होता है।

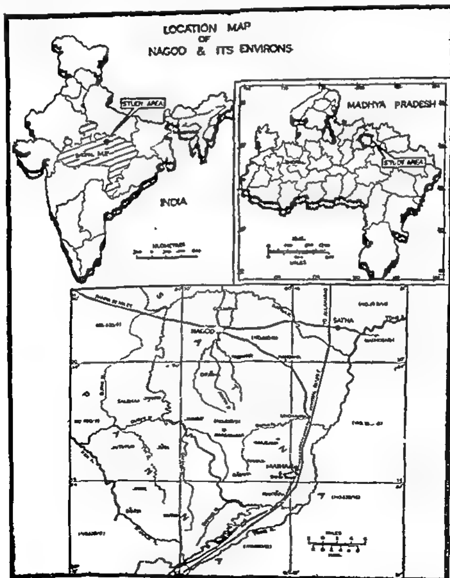
शूम ने एक वृहत् जलीय चक्र के दौरान कई उप चक्रो की कल्पना की है। प्रमुख चक्र उत्थान के साथ अनाच्छादन की क्रिया से प्रारम्भ होता है। प्रारम्भ मे सर्वाधिक अवसाद (अपरदन के कारण) का जनन होता है तथा समय के साथ इसकी मात्रा एव आकार मे ह्रास होता जाता है। इस प्राथमिक चक्र के अन्तर्गत द्वितीय पदानुक्रम के चक्र (second order cycles) होते हैं। इनका आविर्भाव उस समय होता है जबकि प्राथमिक चक्र मे समस्थितिक समायोजन (isostatic adjustment) तथा जलवायु मे बड़े पैमाने पर परिवर्तन होता है। इस तरह की घटना वाले (समस्थितिक समायोजन तथा जलवायु परिवर्तन) द्वितीय श्रेणी के चक्रों के मध्य तृतीय श्रेणी के चक्र होते हैं जबकि जलीय सिस्टम से स्थाकृतिक सीमान्त का अतिक्रमण होता है। ये चक्र कम परिमाण वाले होते हैं परन्तु इनके अन्तर्गत निक्षेपित भागो का अपरदन होता है एव निक्षेपो से होकर जलधारायें विकसित होती हैं। चतुर्थ श्रेणी के चक्रो का आविर्भाव जटिल स्थाकृतिक अनुक्रिया (complex geomorphic response of fluvial system) के फलस्वरूप होता है। जलीय सिस्टम मे इस तरह की अनुक्रिया (प्रत्युत्तर response) सिस्टम मे विवर्तनिक घटनाओं समस्थितिक समायोजन जलवायु मे परिवर्तन तथा स्थाकृतिक सीमान्त मे से किसी एक मे भी परिवर्तन होने मे हो सकती है। इस तरह के लघु परिमाण वाले चतुर्थ श्रेणी के लघु चक्रों का आविर्भाव सिस्टम द्वारा प्राथमिक, द्वितीय एव तृतीय चक्रो मे परिवर्तनों के साथ समायोजन के प्रयास के प्रतिफल स्वरूप होता है। अन्तिम पाँचवें चक्र का आविर्भाव सिस्टम मे जलीय घटनाओ के मौसमीपन (seasonality of hydrologic events)

या बड़ी बाढ की घटनाओ के परिणामस्वरूप होता है। इस अन्तिम अवस्था मे नदी के ऊपरी भाग मे जमाव होता जाता है।

निष्कर्ष के रूप मे कहा जा सकता है कि शूम का दावा है कि नदियो के जलमार्ग की प्रवणता एव घाटियो की तली की ऊँचाई मे समय के साथ प्रगामी या क्रमिक परिवर्तन नही होता है। वरन् अस्थिरता अत अध-कर्त्तन के दो लघुकालो के बीच सापेक्षिक स्थिरता (अत प्रवणता / क्रमबद्धता—grade) का दीर्घकाल होता है। इस तरह किसी भी प्रदेश का अत्यन्त जटिल अनाच्छादनात्मक इतिहास भी स्थलाकृतिक दृष्टि से **'सामान्य'** (normal) हो सकता है।

स्थलाकृतिक सिद्धान्त—भारतीय परिवेश मे

निष्कर्ष के रूप मे यह कहा जा सकता है कि स्थलरूपो के विकास की व्याख्या एकल सिद्धान्त से सम्भव नही हो सकती। किसी भी प्रदेश मे स्थलरूपो का प्रभाव एक से अधिक कारको द्वारा सम्पन्न होता है। यह भी सम्भाव्य है कि किसी एक ही प्रदेश मे अध क्षय (down wasting, डेविस का मॉडल) द्वारा स्थलरूपो मे अवनयन (lowering) तथा विनाश हो सकता है तथा



चित्र 11—भाण्डेर पठार की अवस्थिति (सविन्द्र सिह तथा आर० यस० पाण्डेय, 1983)।

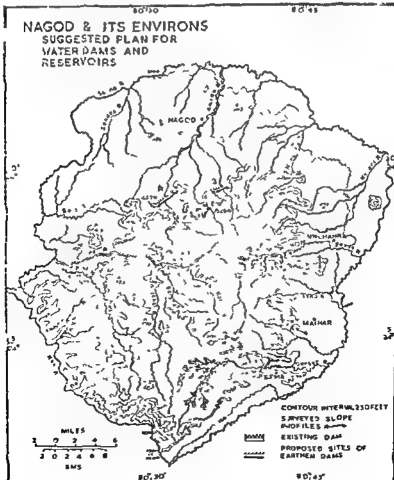
पृष्ठ अपरदन (back wasting, गतिक संतुलन सिद्धान्त) द्वारा समानान्तर निवर्तन होने से स्थलरूप यथावत स्थिति मे भी रह सकते हैं। यदि प्रायद्वीपीय भारत के उत्तरी अग्रप्रदेश का पूर्व मे छोटा नागपुर पठार से पश्चिम मे पन्ना पठार तक अवलोकन किया जाय तो स्पष्ट होता है कि स्थलरूपो के विकास मे सरचना एवं शैलिकी का सर्वाधिक प्रभाव है। रीवा एव रोहतास पठार के कगारो का निर्माण ऊपर स्थित अपेक्षाकृत प्रतिरोधी विन्ध्यन युगीन बालुकाप्रस्तर तथा उनके नीचे कमजोर शेल (shale) एव चूना प्रस्तर की स्थिति के कारण हुआ है। छोटा नागपुर पठार के **पाट प्रदेश** (Patland) के तीव्र कगारो का निर्माण ग्रेनाइट-नीस शैल के ऊपर स्थित क्रीटैसियस युगीन वेसाल्ट की आवरण/छत्रक शैल (cap rock) के कारण हुआ है। इसी तरह दामोदर (हजारी बाग पठार) मे लुगू, मोरचर, महुदी आदि मेसा के आकार की पहाड़ियो के कगारो का निर्माण निचली कमजोर (shales) शैल के ऊपर गोण्डवाना युग के बालुकाप्रस्तर के आवरण के कारण हुआ है। इस तरह स्पष्ट है कि स्थलरूपो के विकास के लिये मिश्र/संयुक्त सिद्धान्त की सार्थकता का सत्यापन हो जाता है। इस परिवेष म लेखक प्रायद्वीपीय पठार के उत्तरी अग्रप्रदेश (northern foreland) की स्थलाकृतिक समस्याओं का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कर रहा है।

भाण्डेर पठार (24°, 3′, 29″ उ०—24°, 39′, 1″ उ० अक्षांश तथा 80°, 16′, 30″ पू०—80°, 53′, 15″ पू० देशान्तर) जो कि उ० प० मे **पन्ना पठार** तथा पूर्व मे **रीवा पठार** के मध्य स्थित है (चित्र 11), प्रायद्वीपीय भारत के उत्तरी अग्रप्रदेश के एक लघुभाग को प्रदर्शित करता है। इस प्रदेश की रचना विन्ध्यन युग (चित्र 12) की बालुकाप्रस्तर, शेल (shale) तथा चूनाप्रस्तर की चट्टानो से हुई है। सबसे ऊपर बालुकाप्रस्तर की 500 फीट (152 4 मीटर) की मोटी परत है तथा सभी प्रकार की चट्टानों के स्तर प्राय अपनी मौलिक अवस्था अर्थात् क्षैतिज रूप में है। यह पठार अपने समीपी निम्न समतल भू-भाग से लगभग 350 मीटर ऊपर है तथा इसके किनारे तीव्र ढाल वाले कगारों (scarps) से मण्डित है। प्रमुख नदियाँ टोंस (तमसा), केन तथा सतना की सहायक हैं जो पठार के ऊपर से निकल कर इन नदियो मे मिलती हैं (चित्र 13)। औसत वार्षिक वर्षा 1137 मिमी० तथा औसत मासिक उच्चतम तापमान जनवरी मे 30 5° सेण्टीग्रेड तथा जून मे 45 3° सें० रहता है। जबकि इन महीनों का औसत न्यूनतम तापक्रम क्रमशः 20 4° सें० एवं 23 1° सें० रहता है। पठार के ऊपर सामान्य से घने वन पाये जाते हैं जबकि निचले समतल भू-भाग पर झाड़ियाँ पायी जाती हैं।



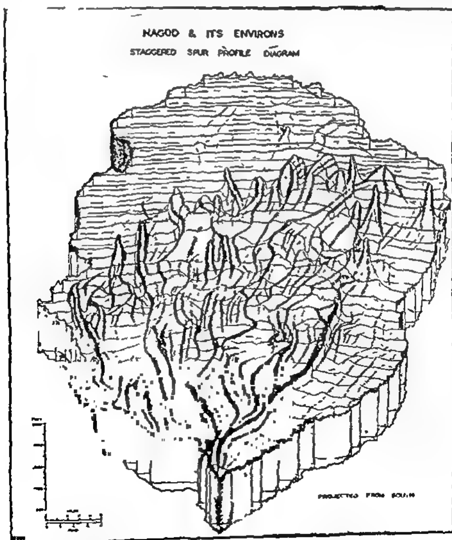
चित्र 12—भाण्डेर पठार की भूवैज्ञानिक सरचना (सविन्द्र सिंह तथा आर० एस० पाण्डेय, 1983)।

इस पठार प्रदेश मे पठार के शीर्ष भाग मे लेकर उत्तर-पश्चिम एव उत्तर मे मवना नदी की घाटी तक, पूर्व एव द० पू० मे टोस नदी की घाटी तक तथा द० प० मे वेन नदी की घाटी तक विशिष्ट स्थलाकृतिक रूपो के तीन स्पष्ट मण्डल पाये जाते है (चित्र 14, 15 एवं 16 । (i) मुख्य पठार का वाह्य भाग उर्मिल पृष्ठ वाला निम्न उच्च भाग (1000 फीट/305 मीटर) है जिसका निर्माण विन्ध्यन युग की आधारभूत शैलो (खास कर शेल) पर हुआ है जिसके ऊपर आयातित मिट्टी का आवरण (जलोढ मिट्टी) 4 मीटर (पठार के पदस्थली के पास) मे 18 मीटर (टोस नदी की घाटी एव सतना नदी की घाटी के पास) की गहराई तक पाया जाता है। इस निम्न उच्च भाग का नदियो द्वारा सामान्य अपरदन (निम्नवर्ती) हुआ है। इस निम्न किन्तु समतल-प्राय उच्च भू-भाग की सामान्य सतह पर चौरस एव सपाट शीर्ष वाली (मेसा तुल्य) कई बिखरी पहाडियाँ पायी जाती हैं जिनके शिखर प्राय सगत (accordant) है (चित्र 15), जैसे—कुशला पहाडी, शकरगढ पहाडी (547 मी०), मिन्दुरिया पहाड (545 मी०), लाल पहाड (570 मी०), पिथौराबाद पहाडी (523 मी०), सुरन्हा पहाड (529 मी०), घडकना पहाड (567 मी०), पटना पहाडी (512 मी०), बन्धौरा पहाडी (504 मी०), सतनी पहाडी (423 मी०), मुखारी पहाडी (425मी०) आदि। इन अवशिष्ट पहाडियो का आकार मेसा तुल्य (चौरस एव सपाट विस्तृत शीर्ष भाग एव चारो तरफ तीव्र कगार युक्त) है जिनके ऊपरी भाग मे बालुकाप्रस्तर की मोटी परत है जिसके नीचे शेल तथा बालुकाप्रस्तर के क्षैतिज स्तर एकान्तर रूप मे पाये जाते है। इन मेसा तथा बुटी तुल्य पहाडियो के चारो तरफ सबसे ऊपरी भाग मे मुक्त-पृष्ठ (free-face) तत्व वाले; तीव्र कगार

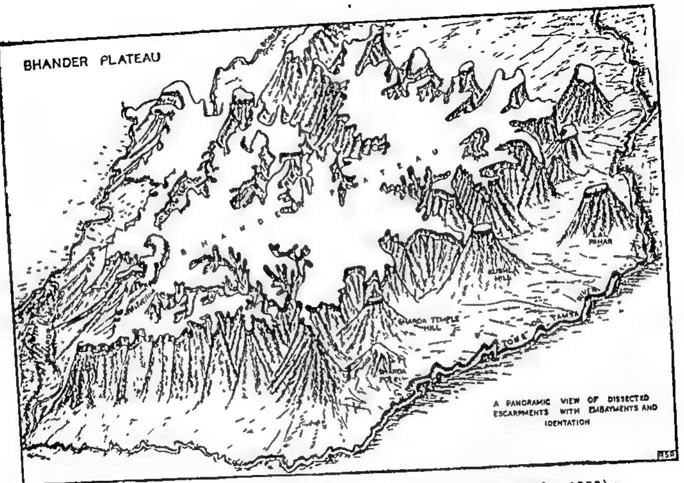


चित्र 13—भाण्डेर पठार का अपवाह प्रारूप (सविन्द्र सिंह तथा आर० एस० पाण्डेय, 1983)।

हैं, उनके नीचे 30°-40° ढाल वाला सरलरेखी तत्त्व (rectilinear element) है तथा सबसे निचले भाग (पदस्थली) में 3° से 4° कोण वाला अवतल ढाल है। (ii) स्थलाकृतिक आकृतियों का द्वितीय मण्डल तीव्र कगारों को प्रदर्शित करता है जो कि मुख्य पठार को तीन तरफ से घेरे हुए है। इस कगार वाले मण्डल में आदर्श ढाल के चारों तत्त्व मिलते हैं—शिखरीय उत्तलता (summital convexity), तीव्र कगार का मुक्त पृष्ठ ढाल, मध्य में स्थित सरलरेखात्मकता (rectilinearity) तथा सबसे निचले भाग में आधारीय अवतलता (basal concavity)। पठार के ऊपर से आने वाली नदियों (गुरमेरी, पयना, बरुआ आदि—टोंस की सहायक, करारी, नदहा, अमरान आदि—सतना की सहायक — चित्र 13) ने इन कगारों को निम्नवर्ती अपरदन द्वारा विच्छेदित कर रखा है जिस कारण ये कगार घुमावदार (crenulated) हो गये हैं तथा अनेक **घाटी खाड़ियाँ** (valley embayments) निर्मित हो गयी हैं (चित्र 15 एवं 16)। इस मण्डल का पृष्ठवर्ती अपरदन (back wasting) तथा नदियों द्वारा निम्नवर्ती अपरदन (down cutting) द्वारा अधिकतम विच्छेदन (dissection) हो रहा है परन्तु कगारों के समानान्तर निवर्तन द्वारा उनकी तीव्रता एवं ढाल यथावत् है। (iii) तीसरा मण्डल भाण्डेर पठार के शीर्ष-सतह (top-surface) द्वारा प्रदर्शित होता है। यह भू-भाग 500 मी० से 600 मी०



चित्र 14—भाण्डेर पठार के उच्चावच्च का ब्लाक आरेख द्वारा प्रदर्शन (सविन्द्र सिंह तथा आर० एस० पाण्डेय, 1983)।



चित्र 15- भाण्डेर पठार के कगार तथा स्थलाकृतिक प्रदेश (सविन्द्र सिंह तथा आर० एस० पाण्डेय, 1983)।

की ऊँचाई वाला है तथा इसकी सतह प्रायः सपाट है जिसपर निम्न सापेक्षिक उच्चावच्च पाये जाते हैं। कुछ असमान, लम्बे एवं सकीर्ण निम्न ऊँचाई वाले कटक (ridges), टेकरी (knolls), असमान एवं असममित गर्तियाँ आदि पायी जाती है। प्रमुख नदियों का जल-मार्ग पठार के ऊपर तथा निचले उच्चभाग (1000 फीट/305 मीटर) पर सतुलित या क्रमित (graded) है परन्तु जब ये नदियाँ (चित्र 13) कगार से होकर नीचे उतरती हैं तो उनकी अनुदैर्घ्य परिच्छेदिका (longitudinal porfiles) में अचानक तीव्र ढाल भग (breaks in slope) पाया जाता है। इस तरह इन ढाल भगो के सहारे 10 मीटर से 70 मीटर तक के कई जलप्रपात मिलते है। इस प्रकार जलप्रपातो की स्थिति के कारण इस प्रदेश के स्थलाकृतिक इतिहास की पहेली अत्यन्त जटिल हो जाती है।

यद्यपि सम्पूर्ण भाण्डेर पठार एक प्रौढावस्था वाला पर्वित पठार का उदाहरण है परन्तु डेविस के भौगोलिक चक्र के मॉडल के अन्तर्गत इन जलप्रपातो को समाहित नही किया जा सकता। दूसरी तरफ इस प्रदेश मे क्षेत्रीय उत्थान की सम्भावना भी नही हो सकती क्योकि निचले उच्च प्रदेश (1000 फीट/305 मीटर) पर स्थित सगत शिखर (accordant summits) वाली अवशिष्ट पहाड़ियो (जैसा कि ऊपर व्यक्त किया गया है) की ऊँचाईयाँ (500 से 550 मीटर) मुख्य भाण्डेर पठार की ऊँचाई (500 से 550 मीटर) के समकक्ष है तथा अवशिष्ट पहाड़ियों एव भाण्डेर पठार के ऊपरी भाग पर 500 फीट (152 4 मीटर) मोटे बालुकाप्रस्तर का आवरण है। इस आवरण के नीचे स्थित शैल चट्टान का तल दोनो पर बराबर ऊँचाई पर है। सम्पूर्ण पठार का भूगर्भिक इतिहास तथा शैलिकी समान है। इस तरह सम्भावित उत्थान के अभाव मे नवोन्मेष की भी कल्पना नही की जा सकती जिसके आधार पर इन जलप्रपातो को निक्प्वाइण्ट के रूप मे स्वीकार किया जा सके। इस प्रदेश मे अध क्षय (down wasting) की प्रक्रिया भी सक्रिय नही है। ऐसी स्थिति मे डेविस के मॉडल के आधार पर इस प्रदेश के स्थलाकृतिक विकास की व्याख्या सम्भव नही है।

यदि जलप्रपातो की स्थितियों पर दृष्टिपात किया जाय तो थोड़े समय के लिये समस्या का निदान हो सकता है। इन जलप्रपातो की दो सुनिश्चित स्थितियाँ है तथा ये शृंखला मे मुद्रिका के रूप मे पाये जाते है, (i) तीव्र तथा ऊँचे प्रपात (60 मीटर तक) पठार के वाह्य किनारे के सहारे पाये जाते है। मुख्य रूप से ये प्रपात घाटी खाड़ी (Valley embayments) के शीर्ष पर तथा अत्यन्त लघु सरिताओ पर अवस्थित हैं। (ii) जलप्रपातो की दूसरी शृंखला पठार के अन्दर पायी जाती है तथा इनकी ऊँचाई 10 मीटर से 30 मीटर के मध्य है। इन प्रपातो के नीचे सरिताओ मे लम्बे, गहरे तथा सकीर्ण गार्ज पाये जाते है। इस तरह यह व्यक्त किया जा सकता है कि प्रथम श्रेणी के प्रपात या तो घाटी-खाड़ी के शीर्ष है या कगार के शीर्ष है जिनसे होकर वर्षा के समय जल नीचे की ओर गिरता है, शेष समय ये जलविहीन रहते है। अत ये प्रपात नवोन्मेष को इगित करने वाले वास्तविक प्रपात नही है। इस तरह ये प्रपात वास्तविक प्रपात न होकर कगार से गिरने वाले जल के स्थान है। यदि इसे मान भी लिया जाय तो भी उच्च पठार के ऊपरी भाग तथा निचले उच्च प्रदेश पर नदियो की प्रवणित परिच्छेदिकाओ की साथ-साथ अवस्थिति, नदियो की अनुदैर्ध्य परिच्छेदिकाओ के मध्य भाग में महत्त्वपूर्ण ढाल-भग तथा खड़े तथा तीव्र ढाल वाले कगारो की स्थिति की डेविस के मॉडल के आधार पर व्याख्या नही की जा सकती। स्पष्ट है कि डेविस का मॉडल इस प्रदेश की स्थलाकृतियो की व्याख्या मे असफल है।

भाण्डेर प्रदेश साम्यावस्था (equilibrium stage) की स्थिति मे हो सकता है क्योकि कगार मे समानान्तर निवर्तन (parallel retreat) हो रहा है जिस कारण स्थलाकृति मे (कगार के प्रारूप मे) कोई महत्त्वपूर्ण अन्तर नही आ रहा है। पृष्ठ अपरदन (back wasting) सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थलाकृतिक प्रक्रम है जिसके द्वारा कगारो मे समानान्तर निवर्तन हो रहा है। निचले उच्च प्रदेश पर बिखरी सगत शिखर वाली मेसा तुल्य पहाड़ियाँ अवशिष्ट रूप है। प्रारम्भ मे ये मुख्य पठार के ही भाग थी परन्तु नदियो द्वारा पठार के सम्भवत अपरदन एवं समानान्तर निवर्तन की प्रक्रिया के कारण इस समय मुख्य पठार स अलग हो गयी है। अत इनका निर्माण पार्श्विक अपरदन (lateral erosion) के कारण नही हुआ है क्योकि ये पहाड़ियाँ भी तीव्र कगार युक्त है। इस तरह की व्याख्या से गतिक सतुलन सिद्धान्त (dynamic equilibrium theory) को बल मिलता है परन्तु मुख्य पठार के नकटारा कगार से मात्र एक किलोमीटर दूर निचले उच्च प्रदेश मे स्थित गोल शिखर

तथा उत्तल-अवतल ढाल वाली शारदापोल (488 मीटर) की पहाड़ी की अवस्थिति (चित्र 15) द्वारा सतिक संतुलन सिद्धान्त के सामने समस्या पैदा हो जाती है। क्योंकि इस पहाड़ी पर अध क्षय (down wasting) की प्रक्रिया कार्यरत है। कगार की स्थिति समानान्तर निवर्तन द्वारा समाप्त हो गयी है तथा बालुकाप्रस्तर की छत्रक शैल (cap rock) का आवरण हट गया है। अतः अध क्षय के कारण इस पहाड़ी की ऊँचाई का अवनयन (lowering) हो रहा है, शीर्ष का गोलन (rounding) तथा चपटीकरण (flattening) हो गया है जिस कारण उत्तल-अवतल ढाल का विकास हुआ है। बालुकाप्रस्तर के आवरण के हट जाने से शेल (shale) चट्टान खुल गयी है जिसका अपरदन शीघ्रता से हो रहा है। इस प्रकार प्रतिरोधी शैल के अभाव में तीव्र अध क्षय होने से न केवल इस पहाड़ी की ऊँचाई में ह्रास हो रहा है वरन् ढाल-विनाश (slope decline) भी हो रहा है। यह तथ्य डेविस के मॉडल के पक्ष में जाता है। इस प्रदेश के समान अपरदनात्मक इतिहास के दौरान शारदापोल की पहाड़ी पर अध क्षय द्वारा कम से कम 72 मीटर का अवनयन हुआ है जबकि मुख्य पठार की शीर्ष सपाट सतह तथा सपाट शीर्ष वाली निचले उच्च प्रदेश पर स्थित पहाड़ियों (500 से 550 मीटर) के ऊपरी भाग पर अध क्षय न्यूनतम है। यद्यपि इस पर समानान्तर निवर्तन के कारण इनके क्षेत्रीय विस्तार में ह्रास अवश्य हुआ है। इस प्रकार शारदापोल के उदाहरण से डेविस के मॉडल को समर्थन मिलता है, कगारों के समानान्तर निवर्तन द्वारा

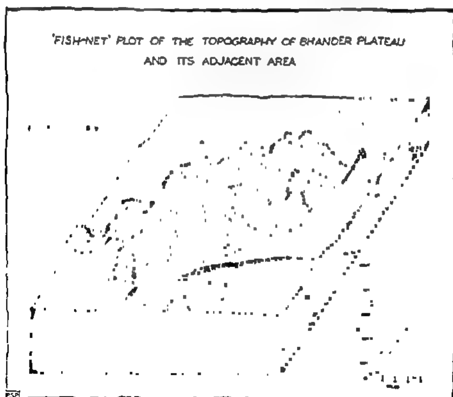


चित्र 16—भाण्डेर पठार के उच्चावच्च का बहुखण्ड विधि द्वारा प्रदर्शन
(सविन्द्र सिंह तथा आर० एस० पाण्डेय, 1983)

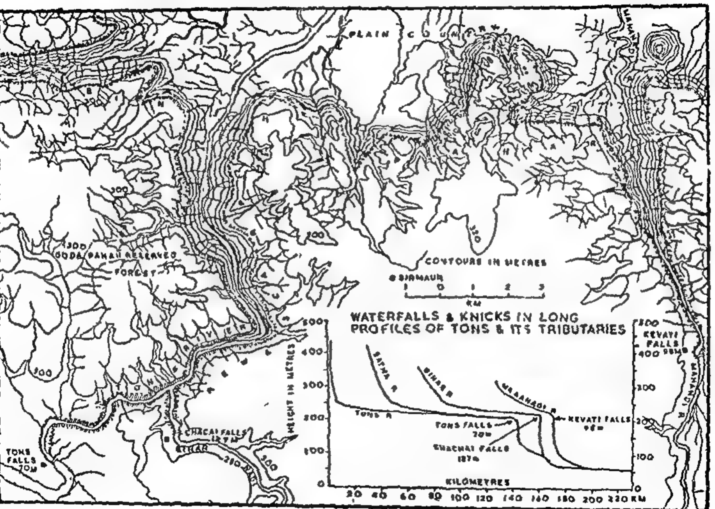
कगारों के यथावत रूप में गतिक सतुलन सिद्धात चरितार्थ होता है, पेंक के ढाल विकास के 'ढाल प्रतिस्थापन मॉडल' (slope replacement model) तथा एल० सी० किंग के 'पहाड़ी ढाल चक्र मॉडल' (hill slope cycle model) के उदाहरण भी प्राप्त होते हैं।

स्पष्ट है कि एक ही प्रदेश में (जिसका भूगर्भिक इतिहास एवं भूवैज्ञानिक सरचना समान है क्रीटेसियस युग से आज तक एक ही प्रकार की जलवायु रही है) गतिक संतुलन सिद्धात के कार्यान्वयन (स्थलाकृतिक आकारों में समग्र के परिवेश में परिवर्तन का अभाव) तथा डेविस के मॉडल के तहत उच्चावच्च में प्रभावी अवतलन (effective lowering of relief) एवं स्थलाकृति में क्रमिक परिवर्तन (मुक्त पृष्ठ सरलरेखी ढाल से उत्तल-अवतल ढाल में परिवर्तन—शारदापोल पर) के उदाहरणों का पाया जाना यह स्पष्ट इंगित करता है कि स्थलाकृति के विकास के लिए एकल सिद्धात की कल्पना सारहीन है। अतः मिश्र या सयुक्त सिद्धात ही हल प्रस्तुत कर सकता है।

यदि भाण्डेर पठार से पुनः पूर्व एवं उ० पू० की ओर चला जाय (रीवा पठार) तो **मोरिसावा** का **'विवर्तनिक-स्थलाकृतिक मॉडल'** (tectono-geomorphic model) स्थलाकृतिक विशेषताओं की व्याख्या में चरितार्थ होता है। रीवा पठार का उत्तरी किनारा (चित्र 18) उत्तर में स्थित यमुना-पार मैदान से 160 मीटर से 200 मीटर तक क्रमशः ऊपर उठता है। 200 मीटर की ऊँचाई के बाद यह अचानक ऊपर उठता है तथा 200 मीटर एवं 280 मीटर के मध्य लम्बवत एवं तीव्र मुक्त-पृष्ठ ढाल वाले कगार की स्थिति है। यह कगार भी भाण्डेर पठार के कगार के समान अत्यन्त घुमावदार, सूक्ष्मदती (crenulated) तथा घाटी-खाड़ी (valley embayments) से युक्त है। टोंस नदी, जिसका ऊपरी भाग भाण्डेर पठार के निचले उच्च प्रदेश पर प्रवणित (graded) है, इस भाग में अचानक नीचे उतरती है तथा 70 मीटर ऊँचाई वाले **टोंस (पुरवा) प्रपात** (24° 47′ उ० अ० एवं 81°, 15.′ 56″ पू० दे०) का निर्माण करती है जिसके नीचे 6 किमी० लम्बे, सकरे



चित्र 17—भाण्डेर पठार के उच्चावच्च का मत्स्यजाल आरेख द्वारा प्रदर्शन (सविन्द्र सिंह तथा आर० यस० पाण्डेय, 1983)।



चित्र 18 - रीवा पठार के कगार का एक भाग (सविन्द्र सिंह, 1985)।

गार्ज में होकर प्रवाहित होती है। ज्ञातव्य है कि रीवापठार की संरचना भी विन्ध्यन युग के बालुकाप्रस्तर, शेल तथा चूनाप्रस्तर में हुई है। इस गार्ज का निर्माण प्रतिरोधी बालुकाप्रस्तर शैल संरचना में हुआ है। टोंस (पुरवा) प्रपात से 6 किमी० (नदी मार्ग के निचले भाग में—downstream) की दूरी पर टोंस में **बीहर नदी** मिलती है तथा यह संगम से 1 5 किमी० ऊपर (upstream) 127 मीटर ऊँचे प्रसिद्ध **चचाई प्रपात** का निर्माण करती है। बीहर नदी का यह गार्ज संगम तक 1 5 किमी० की दूरी तक विस्तृत है जिसमें घाटी-पार्श्व ढाल खड़ी दीवाल के समान है। गार्ज के दोनों पार्श्व वृहदाकार बालुकाप्रस्तर के हैं। और आगे चलने पर (पूर्व की ओर) टोंस की सहायक **महा** नदी 98 मीटर **केवटी जलप्रपात** (सिरमोर से 9 किमी० पूर्व) का निर्माण करके सीधे बिन्दु सकरे एवं गहरे 4 किमी० लम्बे गार्ज में होकर प्रवाहित होती है। घाटी-पार्श्व (valley-sides) खड़े ढाल वाले हैं जो नदी-तल से 80 मीटर खड़ी दीवाल सदृश ऊँचे हैं। और पूर्व चलने पर रीवा पठार के उत्तरी किनारे के सहारे पूर्वी छोर तक एक प्रपात रेखा सी बन गयी है। उत्तर की ओर बहने वाली सभी प्रमुख नदियाँ उत्तरी कगार में उतरते हुए कई जलप्रपातों का [illegible] करती हैं जो 20 मीटर से 145 मीटर तक ऊँचाई वाले हैं। इनमें सबसे महत्वपूर्ण **ओड़ा प्रपात** (145 मीटर) है जो बेलन की सहायक **ओड़ा नदी** पर स्थित है। जलप्रपातों की यह श्रृंखला पूर्व में रोहतास पठार (इसकी संरचना भी विन्ध्यन युग की बालुकाप्रस्तर शेल तथा चूना प्रस्तर की शैलों में हुई है) के पूर्वी छोर (सासाराम) तक व्याप्त है। रोहतास पठार भी उत्तर, पूर्व एवं दक्षिण में तीव्र एवं खड़े ढाल वाले कगारों से युक्त है। दक्षिणी कगार सोन घाटी से मात्र 4 से 10 किमी० दूर है जबकि उत्तरी कगार गंगा मैदान (कर्मनाशा मैदान का भाग) से अचानक खड़ी दीवार सदृश्य ऊपर उठा है। उत्तर की ओर प्रवाहित होने वाली नदियाँ कगार को पार करते समय श्रृंखलाबद्ध रूप में जलप्रपात बनाती हैं। पश्चिम से पूर्व इन प्रपातों का सिलसिला इस प्रकार है—**कर्मनाशा नदी** पर 58 मीटर **देवदरी प्रपात**, **पश्चिमी सुरा नदी** पर 80 मीटर **तेल्हार कुण्ड प्रपात**, पूर्वी सुरा नदी पर 120 मीटर प्रपात, **दुर्गावती नदी** पर 80 मीटर के दो प्रपात, **गोपथ नदी** पर 90 मीटर **ओखरोधन कुण्ड प्रपात**, **घोवा नदी** पर 30 मीटर **धुँआ कुण्ड प्रपात** आदि। दक्षिणी कगार के सहारे **औसाने नदी** पर 180 मीटर **कुआरोडाह प्रपात** एवं उसकी सहायक **गयघाट नदी** पर 168 मीटर **रकीमकुण्ड प्रपात** प्रमुख हैं। भाण्डेर पठार के समान ही रोहतास पठार के [illegible] चले सपाट उर्मिल पृष्ठ वाले धरातल पर बालुकाप्रस्तर वाली छत्रक शैल युक्त सपाट सतह वाली मेसा तुल्य पहाड़ियाँ (जैसे अर्जुन पहाड़) मिलती हैं। दक्षिणी कगार के निकट ही मुरली पहाड़ भाण्डेर पठार की शारदापोल पहाड़ी के समान कगार विहीन (समानान्तर निवर्तन के कारण बालुकाप्रस्तर की छत्रक शैल के आवरण का अनावरण हो जाने से) उत्तल-अवतल ढाल वाली पहाड़ी है तथा अब क्षय से उच्चावच्च में अवनयन हो रहा है। अन्तर मात्र इतना है कि शारदापोल में शैल चट्टान है जबकि मुरली पहाड़ में चूना प्रस्तर है। रोहतास पठार के कगारों में भी पृष्ठवर्ती क्षय होने से समानान्तर निवर्तन हो रहा है।

इस प्रकार रीवा पठार के पश्चिमी छोर से रोहतास पठार के पूर्वी किनारे तक नदियों की अनुदैर्घ्य परिच्छेदिकाओं में निकप्वाइण्ट तथा ऊँचे जलप्रपातों की स्थितियों से प्रायद्वीपीय भारत के उत्तरी अग्रप्रदेश में नवोन्मेष का आभास होता है। भारतीय प्लेट के एशिया प्लेट के नीचे क्षेपण (subduction) द्वारा टर्शियरी युग में हिमालय का निर्माण हुआ। इस पर्वतीकरण का प्रभाव प्रायद्वीपीय भारत के अग्रप्रदेश में हुआ जिस कारण उसमें गंगा-यमुना मैदान के सन्दर्भ में सापेक्षिक उत्थान हो गया। इस विवर्तनिक क्रिया के कारण अनाच्छादनात्मक प्रक्रमों में तीव्रता आने से नवोन्मेष हो जाने से असमस्थिति (disequilibrium of action) उत्पन्न हो गयी। ज्ञातव्य है कि स्थलरूप विवर्तनिक बलों तथा अपरदनात्मक बलों की तीव्रता के दरों के मध्य एवं पदार्थों की प्रतिरोधिता के बल (force of resistance of materials) और ऊर्जा के मध्य सम्बन्धों का प्रतिफल होता है। जब इन दोनों में अन्तर होता है तो असाम्यावस्था (disequilibrium) उत्पन्न होती है तथा जब ये दोनों बराबर होते हैं तो साम्यावस्था (equilibrium) होती है। यदि **मोरिसावा** के इस वक्तव्य कि 'जापान तथा हिमालय प्रदेश में अनाच्छादनात्मक एवं विवर्तनिक बल वर्तमान समय में कार्य की समस्थिति को प्राप्त हो गये हैं' को यदि स्वीकार किया जाता है (आवश्यक नहीं है) तो यह 'समस्थिति मॉडल' उक्त प्रदेशों (रीवा पठार एवं रोह

ताम पठार) मे भी चरितार्थ होता है क्योंकि वर्तमान समय मे भारतीय प्लेट के एशियाटिक प्लेट के नीचे क्षेपण होनेसे प्रायद्वीपीय भारत के अग्रप्रदेश मे जितना उत्थान हो रहा है उसके बराबर निम्नीकरण भी हो रहा है। यही कारण है कि नवोन्मेष के बावजूद प्रमुख नदियो मे निक्प्वाइन्ट होने पर भी नदी वेदिकायें नही पायी जाती है। नगारो मे समानान्तर निवर्तन होने मे उनका रूप सम्भव है ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि किसी भी प्रदेश मे स्थलरूप समूह जटिल होते हैं तथा उनकी व्याख्या एकल कारक या एकल मॉडल या सिद्धात द्वारा सम्भव नही है। अतः सयुक्त या मिश्र सिद्धात न केवल वाछनीय अपितु अपरिहार्य हो जाता है।

अध्याय 3

भ्वाकृतिक संकल्पनायें

(Geomorphic Concepts)

संकल्पना 1

"वर्तमान समय में जो भूगर्भिक प्रक्रम तथा नियम कार्यरत हैं, वे ही समस्त भूगर्भिक इतिहास में कार्यरत थे परन्तु उनकी सक्रियता में अन्तर था।" [The same physical processes and laws that operate to day, operated throughout geologic time, although not necessarily always with the same intensity as now]

संकल्पना का सूत्रपात

प्रस्तुत संकल्पना वर्तमान समय में 'मॉडर्न ज्यॉलजी' का आधारभूत सिद्धान्त है, जिसे एकरूपतावाद' (Uniformitarianism) के नाम से जाना जाता है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन सर्वप्रथम स्कॉटिश भूगर्भवेत्ता जेम्स हटन द्वारा 1785 में किया गया। प्लेफेयर ने 1802 में उसका परिमार्जित रूप प्रस्तुत किया और आगे चलकर चार्ल्स लयेल ने उसे अपनी पुस्तक 'प्रिंसिपुल्स ऑव ज्यॉलजी' में भरपूर स्थान दिया। परन्तु हटन की संकल्पना उपर्युक्त संकल्पना से कुछ भिन्न थी तथा उसमें कुछ मौलिक त्रुटियाँ भी थी। उदाहरण के लिए, उन्होंने बताया कि भूगर्भिक प्रक्रम, भूगर्भिक इतिहास के प्रत्येक काल में समान रूप से सक्रिय थे" तथा इसी आधार पर प्रतिपादित किया की 'वर्तमान भूत की कुन्जी है'—The present is key to the past, अर्थात् वर्तमान समय में भूपटल को प्रभावित करने वाले जो प्रक्रम कार्यरत हैं, वे ही भूत में भी कार्यरत थे। अत वर्तमान समय के प्रक्रमों तथा स्थलाकृतियों के आधार पर भूत के इतिहास को सँवारा जा सकता है। सर्वप्रथम हटन की संकल्पना का आलोचनात्मक विश्लेषण आवश्यक है।

संकल्पना तथा हटन महोदय

हटन का यह दावा कि भूगर्भिक प्रक्रम सदैव समान रूप से सक्रिय थे, भ्रामक है। इस तरह यह स्पष्ट होता है कि हटन ने अपने सिद्धान्त को काफी संकुचित अर्थों में प्रयुक्त किया है। प्रमाण के लिए हिमानी को लिया जा सकता है। कार्बोनिफरस तथा प्लीस्टोसीन युगों में हिमकाल के कारण हिमानी अपरदन के अन्य कारकों की अपेक्षा अधिक सक्रिय थे। साथ ही साथ आज के हिमानी की तुलना में भी उक्त दो युगों में हिमनद अधिक सक्रिय थे। इसका कारण जलवायु का स्थायी न होना ही है। जैसा वर्तमान समय में जलवायु का वितरण है, वैसा ही वितरण भू-पटल पर सदैव नहीं था। जहाँ पर आज आर्द्र जलवायु है और जलीय प्रक्रम सक्रिय है, वहाँ पर पहले शुष्क मरुस्थलीय जलवायु रह चुकी है, जहाँ पर पवन क्रियाशील था। इसी तरह वर्तमान रेगिस्तानी भाग कभी आर्द्र प्रदेश भी रह चुके हैं। गर्म शुष्क भाग शीतल तथा शीतल प्रदेश गर्म प्रदेश रह चुके हैं। उदाहरण के लिए इग्लैण्ड में खुदाई करने पर कोयले में भूमध्यरेखीय जलवायु वाली वनस्पतियाँ मिली हैं। इससे प्रकट होता है कि ये भाग कभी उष्णार्द्र रहे थे। भारत के उड़ीसा प्रान्त में भी इस तरह के कई जलवायु चक्र के परिवर्तन के उदाहरण प्राप्त किये जा चुके हैं। तालचीर कोयले की परत के नीचे गोलाश्म मृत्तिका (Boulder clay) का जमाव मिला है। कोयले की परत का जमाव गोंडवाना युग में हुआ था। इससे प्रकट होता है कि गोंडवाना क्रम की चट्टानों के पहले उक्त स्थान पर हिमाच्छादन हुआ होगा। इसके बाद कोयले का पाया जाना उष्णार्द्र जलवायु को प्रदर्शित करता है। इसी तरह भूगर्भिक इतिहास के प्रत्येक युग में ज्वालामुखी-क्रिया समान रूप से सक्रिय नहीं थी। वर्तमान की अपेक्षा टर्शियरी तथा क्रीटेसियस युगों में ज्वालामुखी सर्वाधिक सक्रिय थे जिस कारण प्रत्येक महाद्वीप पर लावा का जमाव कई रूपों में हुआ। इस तरह कई ऐसे प्रमाण उपस्थित किये जा सकते हैं जिनसे स्पष्ट हो जाता है कि भूगर्भिक इतिहास के विभिन्न युगों में प्रक्रम सक्रिय तो थे परन्तु एक ही मात्रा में नहीं। लगता है हटन सरिताओं द्वारा अधिक प्रभावित हुए थे क्योंकि सरितायें प्राय प्रत्येक काल में अधिक सक्रिय रही हैं।

प्रक्रम का स्वरूप

यद्यपि प्रक्रमों के कार्य की मात्रा में अन्तर हो सकता है परन्तु उनके कार्य करने के सामान्य स्वभाव

में समरूपता ही मिलती है। उदाहरण के लिए यह कोई नहीं कह सकता है कि नदियों ने वर्तमान समय की तरह भूतकाल में घाटियों का निर्माण नहीं किया। यदि नील नदी ने ईसा पूर्व डेल्टा का निर्माण किया तो वर्तमान समय में भी नदियाँ डेल्टा का निर्माण कर रही हैं। यदि प्लीस्टोसीन हिमकाल के समय विस्तृत घाटी हिमनद ने अनेक प्रकार के अपरदनात्मक तथा निक्षेपात्मक स्थलरूपों का निर्माण किया तो वर्तमान समय में भी उच्च पर्वतों पर स्थित घाटी हिमनद उसी तरह के कार्य में सक्रिय हैं। यदि भूमिगत जल ने भूपटल र चूना-प्रस्तर वाले भागों में पर्मियन तथा पेन्सिलवेनियन युगों में अपने घुलनकार्य (Solution) द्वारा मिल होल, डोलाइन युवाला तथा कार्स्ट स्थलाकृति का निर्माण किया तो वे वर्तमान समय में भी संयुक्त राज्य अमेरिका (इण्डियाना, केण्टुकी आदि), युगोस्लाविया प्रदेश (चाक भेत्र) जूरा पर्वत, भारत के रोहतास चूना प्रस्तर क्षेत्र आदि पर उसी तरह से कार्यरत है। इसी तरह सभी प्रक्रमों के विषय में उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

भूगर्भिक प्रक्रमों का चक्रीय रूप

भूपटल को प्रभावित करने वाले प्रक्रम प्रायः चक्रीय रूप में कार्य करते हैं। हटन ने बताया कि 'प्रकृति का स्वभाव क्रमित' (orderliness of nature) होता है। अर्थात् प्रकृति का विकास क्रमित रूप (*orderly course*) में सम्पादित होता है। उन्होंने बताया कि प्रकृति अत्यधिक व्यवस्थित (systematic), आनुपातिक (coherent) तथा युक्तियुक्त (reasonable) होती है। विध्वंस का प्रतिफल रचना तथा रचना का प्रतिफल विध्वंस हुआ करता है। हटन प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने बताया कि पृथ्वी का भूगर्भिक इतिहास चक्रीय रूप में सम्पादित होता है। चट्टानों का निर्माण उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है (देखिये सकल्पना 2)। प्रत्येक भूगर्भिक प्रक्रम अपने पिछले इतिहास में कई चक्र पूर्ण कर चुके हैं, परन्तु यह बताना कि अमुक भूगर्भिक प्रक्रम कब पहली बार कार्यरत हुआ था तथा जो प्रक्रम इस समय कार्यरत हैं उनका अन्त कब होगा, नितान्त कठिन कार्य है। इसी तथ्य के आधार पर भूगर्भिक प्रक्रमों के विषय में हटन ने अपने अमूल्य सिद्धान्त—'न तो **प्रारम्भ का कोई लक्षण है, न तो अन्त होने की कोई आशा है'**—No vestige of a beginning, no prospect of an end' का प्रतिपादन किया।

पर्यवेक्षण (Observation)

प्रस्तुत सकल्पना का पर्यवेक्षण भूपटल के अप्लेशियन प्रदेश में किया जा सकता है। अप्लेशियन का प्रथम उत्थान पर्मियन युग में अप्लेशियन हलचल के रूप में हुआ। इसके बाद ही उसपर अनाच्छादन के प्रक्रम (सरिताये) क्रियाशील हो गये। वर्तमान समय में अप्लेशियन एक अपरदित अवशिष्ट पर्वत का उदाहरण है। नदियाँ प्रौढावस्था को प्राप्त कर चुकी हैं तथा अपरदन अपने नये चक्र की ओर अग्रसर है। इसी तरह से कई चक्र अप्लेशियन के भूगर्भिक इतिहास में पूर्ण हो चुके हैं। वर्तमान समय में अप्लेशियन में अपरदन की तीन सतह क्रम से स्कूली पेनीप्लेन, शेननडोह पेनीप्लेन, तथा हैरिसबर्ग पेनीप्लेन द्वारा इंगित होती है। इससे आभास मिलता है कि अप्लेशियन पर जो प्रक्रम इस समय कार्यरत हैं वे पर्मियन या जुरैसिक युगों में भी उसी रूप में सक्रिय थे।

सकल्पना 2

चट्टान भूगर्भिक इतिहास की पुस्तकें हैं तथा जीवावशेष उनके पृष्ठ हैं।" [Rocks are the books of earth history and fossils are the pages.]

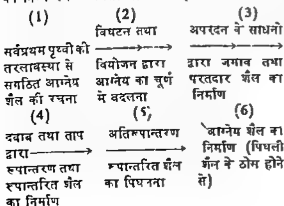
अगर हम चट्टानों के वर्तमान रूप का, चाहे उनका निर्माण किसी भी रूप में किसी भी समय हुआ हो, भूगर्भिक अध्ययन करें तो यह आसानी से ज्ञात हो जाता है कि किसी चट्टान विशेष का कब और किस परिस्थिति में किस रूप में निर्माण हुआ। इस आधार पर भूगर्भिक इतिहास का पता लगाया जा सकता है। इसी कारण यह कहा जाता है कि "चट्टान भूगर्भिक इतिहास की पुस्तकें हैं तथा जीवावशेष उनके पृष्ठ हैं"। दूसरे रूप में कहा जा सकता है कि "चट्टानें पृथ्वी के इतिहास की पुस्तक के पृष्ठ हैं तथा जीवावशेष उसके अक्षर हैं।" सर्वप्रथम हम चट्टानों के निर्माण की **'चक्रीय प्रक्रिया'** (cyclic process) का संक्षिप्त अध्ययन करेंगे।

अनेक पर्यवेक्षणों के आधार पर यह प्रमाणित सा हो चला है कि चट्टानों के निर्माण की क्रिया एक पूर्ण चक्र (*cycle*) के रूप में घटित हुई है तथा होती भी है। पृथ्वी के ऊपरी भाग के निर्माण एवं विनाशकारी भूगर्भिक क्रियाओं में भी प्रायः चक्रीय क्रिया का आभास होता है। उदाहरण के लिए यदि किसी वर्तमान घर्षित पर्वत को लिया जाय जो कि अपने पेनीप्लेन (Peneplain) की अवस्था में पहुँच चुका है तो उसके अध्ययन से पता

चलेगा कि प्रारम्भ मे वह समतल भाग रहा होगा तथा बाद मे भूगर्भिक उत्थान के कारण उसमे उभार आ गया होगा जिस कारण सतह से उसकी ऊँचाई अधिक होगी। बाद मे अपरदन की शक्तियों ने उसे काट-छाँट कर नीचा कर दिया होगा। इस तरह का उभार तथा कटाव द्वारा नीचा होना कई चक्र के रूप मे घटित हुआ होगा। इस तरह का उदाहरण अप्लेशियन पर्वत-श्रेणी से दिया जा सकता है जहाँ पर इस प्रकार के चार चक्र पूरे हो चुके हैं।

(i) आग्नेय शैल का चक्रीय निर्माण

चट्टानो की निर्माण-क्रिया मे भी चक्रीय सिद्धान्त लागू होता है। जब पृथ्वी की उत्पत्ति हुई तो पृथ्वी तप्त एव तरल अवस्था मे थी। उसके धीरे-धीरे ठडा होने से प्रथम आग्नेय शैल का निर्माण हुआ। बाद मे इस चट्टान के विघटन तथा वियोजन से प्राप्त अवसाद नदी, वायु, ग्लेशियर तथा सागरीय तरंगो द्वारा उपयुक्त स्थानो पर जमा कर दिये गये। फलस्वरूप परतदार चट्टानो का निर्माण हुआ। पर्वत-निर्माणकारी क्रिया के समय अत्यधिक दबाव के कारण तथा ज्वालामुखी-उद्गार के समय गर्म मैगमा के सम्पर्क के कारण परतदार शैल का रूपान्तरण हो गया तथा रूपान्तरित शैल (Metamorphic rock) का निर्माण हुआ। वर्तमान पर्यवेक्षणो के आधार पर यह प्रमाणित हो चुका है कि जब दबाव का प्रभाव अत्यधिक होता है तो अत्यधिक ताप के कारण रूपान्तरित शैल का पुन 'अति रूपान्तरण' (Ultra metamorphism) होता है। इस कारण मौलिक रूपान्तरित शैल पिघल कर लावा का रूप धारण कर लेती है जो कि शीतल होने पर जमकर ठोस रूप धारण कर पुन आग्नेय शैल बन जाती है। इस प्रकार आग्नेय शैल का एक पूर्ण निर्माण-चक्र पूरा हो जाता है। इस प्रक्रिया को निम्न रूप मे समझा जा सकता है।



(ii) परतदार शैल का चक्रीय निर्माण

आग्नेय शैल के निर्माण के बाद उसके पुन विघटन तथा वियोजन से प्राप्त चट्टान-चूर्ण के जमाव से प्रथम परतदार शैल का निर्माण होता है। ताप एव दबाव के कारण इसका रूपान्तरण होकर रूपान्तरित शैल का निर्माण होता है। इसके बाद दो सम्भावनायें हो सकती हैं। प्रथम या तो रूपान्तरित शैल के विघटन तथा वियोजन से प्राप्त मलवा के जमाव से पुन. परतदार शैल का रूप हो सकता है तथा निर्माण का चक्र शीघ्र पूर्ण हो सकता है। दूसरा रूपान्तरित शैल का पुन रूपान्तरण के कारण द्रव रूप हो सकता है जो ठोस होकर आग्नेय बन जायेगी। आग्नेय के विघटन से प्राप्त अवसाद के जमाव से पुन परतदार शैल का निर्माण हो जायेगा।

1 आग्नेय से प्राप्त परतदार शैल →रूपान्तरित शैल→परतदार शैल

2 आग्नेय से प्राप्त परतदार शैल →रूपान्तरित शैल→आग्नेय शैल →परतदार शैल।

(iii) रूपान्तरित शैल का चक्रीय निर्माण

रूपान्तरण आग्नेय तथा परतदार शैल, दोनो का होता है। इस प्रकार इसका चक्र भी दो रूपो मे हो सकता है—

1 परतदार शैल से रूपान्तरित शैल →परतदार शैल→रूपान्तरण।

2 रूपान्तरित शैल→अति रूपान्तरण के कारण आग्नेय शैल → परतदार शैल→रूपान्तरित शैल।

यह प्रमाणित हो चुका है कि आग्नेय शैल पृथ्वी की सबसे प्राचीनतम शैल है परन्तु वर्तमान समय मे जिन प्राचीनतम आग्नेय शैलों का पता लग सका है उनका भी प्रवेश या अतिक्रमण (Intrusion) प्राचीन परतदार चट्टानो मे पाया जाता है। इससे यह प्रकट होता है कि वर्तमान समय की ज्ञात प्राचीनतम आग्नेय शैल ही प्रथम आग्नेय शैल नही है वरन् उसके पहले की भी परतदार शैल मिलती है। इस आधार पर यह निर्णय लिया जा सकता है कि प्राचीनतम आग्नेय शैल का पता अब तक नही लग सका है। हो सकता है, उसका रूप बदल गया हो। इसी कारण स्काटलैण्ड के प्रमुख भूगर्भवेत्ता हटन (Hutton) ने 1785 ई० मे यह व्यक्त किया था कि **"न तो प्रारम्भ का कोई चिह्न है न अन्त होने की कोई आशा है"—No vestige of a beginning, no prospect of an end."** (Hutton, 1785.)

यद्यपि चट्टानो के निर्माण के प्रारम्भिक चक्र का आभास नही हो पाता है तथापि वर्तमान दृश्य चट्टानो के लक्षणो के आधार पर उनके चक्रीय निर्माण-क्रिया की विचारधारा सत्य जान पडती है। यदि हम आग्नेय शैल को ही लें तो स्पष्ट होता है कि इसका निर्माण सदैव होता रहा है। वर्तमान समय में ज्वालामुखी-उद्गार के समय इनका निर्माण होता है। इनका उद्गम-स्थल चाहे जो भी हो, परन्तु आग्नेय शैल का निर्माण भूगर्भिक इतिहास के हर युग मे हुआ तथा होता भी है।[1]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि "चट्टानें, चाहे आग्नेय हो, या परतदार, एक तरफ पृथ्वी के इतिहास की हस्तलिपि तैयार करती हैं, दूसरी तरफ समकालीन दृश्यावली के लिये आधार प्रस्तुत करती हैं"—"Rocks, whether igneous or sedimentary constitute on the one hand the manuscripts of the past earth-history, on the other, the basis for contemporary scenery."[2] स्काटलैण्ड के प्रमुख भूगर्भवेत्ता हटन (Hutton) ने चट्टानो के सहारे भूगर्भिक इतिहास की जानकारी प्राप्त करने के लिए अनेक पर्यवेक्षण करके भगीरथ प्रयास किया तथा सन् 1785 ई० मे अपने प्रमुख सिद्धान्त "वर्तमान भूत की कुञ्जी है" 'The present is the key to the past" का प्रतिपादन किया।

वर्तमान समय में किसी चट्टान विशेष का निर्माण विशेष प्रकार के भौगोलिक पर्यावरण तथा जलवायु सम्बन्धी दशाओं मे होता है। अगर इसी प्रकार के गुणो से सम्पन्न प्राचीन चट्टान पायी जाती है तो यह बताया जा सकता है कि उस चट्टान का निर्माण वर्तमान जलवायु सम्बन्धी दशाओ एव भौगोलिक पर्यावरण के समान ही दशाओ मे हुआ होगा। इस प्रकार विभिन्न समय का पता लगाया जा सकता है। उदाहरण के लिये वर्तमान समय मे चूने के पत्थर (Limestone) का निर्माण सागरीय जल मे चूनेदार जीवो के अवशेष के सगठन से होता है। इसमे खासकर मूगा (Corals) पाया जाता है जो कि सागरीय जीव होता है। इस प्रकार यदि स्थल भाग पर कही पर चूने का पत्थर मिलता है तो यह प्रमाणित होता है कि उक्त स्थान कभी सागरीय जल मे निमज्जित था। भारत मे 'विन्ध्यन क्रम' (Vindhyan system) की चट्टानो मे पर्याप्त मात्रा मे लाइमस्टोन पाया जाता है जिसका जमाव सागर मे हुआ माना जाता है। इस प्रकार बताया जा सकता है कि उस स्थान पर जहाँ आजकल स्थल पाया जाता है, कभी सागर का विस्तार था। यदि चूने के पत्थर के बाद लम्बवत् रूप मे शेल, बालुका पत्थर तथा काग्लोमरेट पाये जाते हैं तो जहाँ पर काग्लोमरेट है वहाँ पर पहले सागर तथा स्थल का सगम रहा होगा क्योंकि काग्लोमरेट (बडे-बडे गोल कंकड) का जमाव सागर तथा स्थल के मिलन स्थल पर होता है।

इसी प्रकार जहाँ पर लावा का विस्तार पाया जाता है तो यह प्रकट होता है कि किसी न किसी समय उक्त स्थान पर ज्वालामुखी का उद्गार हुआ होगा। प्रायद्वीपीय भारत की काली मिट्टी का क्षेत्र यह प्रकट करता है कि यहाँ पर भूतकाल (Cretaceous) मे ज्वालामुखी-उद्गार के कारण वृहत् लावा-प्रवाह हुआ था जिस कारण लावा की एक मोटी परत 3 लाख वर्ग मील क्षेत्र मे बिछा दी गई। नमक की चट्टान का निर्माण सागरीय खारे जल के वाष्पीकरण के कारण होता है। यदि कही पर नमक की चट्टान पायी जाती है या नमकीन जल की झील पाई जाती है तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उक्त स्थान पर पहले सागर का स्थान था तथा बाद मे सागर का या तो वाष्पीकरण या पीछे हटने के कारण लोप हो गया। भारत के थार रेगिस्तान मे नमक की चट्टानें तथा खारे जल की झीले पायी जाती है। इससे यह साफ स्पष्ट होता है कि प्रारम्भ मे राजस्थान सागर की गोद मे था तथा कुमायूं के पास लाइमस्टोन का पाया जाना प्रमाणित करता है कि सागर का विस्तार वर्तमान गढवाल तथा कुमायूं तक था तथा शिवालिक नदी सिन्धु की खाडी, जो कि गढवाल के पास थी, में गिरती थी। बाद मे सागर के पीछे हटने के कारण राजस्थान का आविर्भाव हुआ है। यही कारण है कि वहाँ पर नमक की चट्टान (Rock-salt) तथा खारे जल की झीलें (सांभर, पचभद्रा आदि) पाई जाती हैं।

कोयले का निर्माण वनस्पति के नीचे दब जाने से होता है। अगर कहीं पर कोयले की तहें (Coal seams) पाई जाती हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उक्त स्थान पर प्रारम्भ मे विस्तृत जगल तथा दलदल भाग रहा होगा, जो कि भू-हलचल के कारण दब कर नीचे चला गया, जहाँ पर दबाव के कारण वह पीट (Peat) एव कोयले मे बदल गया। अन्टार्कटिका महाद्वीप मे कोयले

1. Wooldridge & Morgan, An Outline of Geomorphology, p. 116.
2. वही, पृ० 116

का पता चला है। दक्षिणी ध्रुव के करीब वर्तमान समय में यह भाग बर्फ से आच्छादित है। परन्तु कोयले की स्थिति से यह पता चलता है कि प्रारम्भ में वहाँ पर घनी वनस्पति रही होगी।

हिमानी द्वारा जमाव किये जाने वाले भागों में गोलाश्म (boulder) मृत्तिका प्रमुख है। अगर किसी स्थान पर चट्टानों के बीच अथवा नीचे गोलाश्म मृत्तिका के अवशेष पाये जाते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उक्त स्थान पर कभी हिमानी का फैलाव हुआ होगा जो कि वर्तमान समय में हट गया है परन्तु उसका अवशेष अब भी चट्टानों के बीच वर्तमान है। उदाहरण के लिये भारत के प्रायद्वीपीय भाग की चट्टानों के निचले स्तर में कई स्थानों पर हिमाच्छादन द्वारा प्राप्त होने वाले गोलाश्म पाये जाते हैं। दूसरी तरफ हिमानी अपरदन द्वारा चट्टानों को कुतरता है, जिस कारण चट्टानों पर खरोंचें पड़ जाती हैं। यदि इस तरह का चिह्न चट्टानों पर मिलता है तो हिमानीकरण का प्रभाव स्पष्ट हो जाता है। प्रायद्वीपीय भारत में कालदुग में प्राप्त होने वाली कांग्लोमेरेट शैल, उड़ीसा में सालचीर की चट्टानों तथा गोदावरी-घाटी में पाये जाने वाले बालुका पत्थर (sand stone) की चट्टानों पर हिमनद के अनेक खरोंच (scratches) पायी जाती हैं जिससे यह प्रमाणित होता है कि प्रायद्वीपीय भारत में किसी समय हिमाच्छादन हुआ था। अगर हम उन चट्टानों का अवलोकन करें जिन पर खरोंचें पाई जाती हैं तो उनका निर्माण-काल भी बताया जा सकता है। भारत की चट्टानों के मुख्य चार वर्ग (groups) माने जाते हैं (1 आर्कियन वर्ग, 2 पुराना वर्ग, 3 द्रवीदियन वर्ग 4 आर्यन वर्ग। इनमें आर्कियन वर्ग में दो क्रम (systems) पाये जाते हैं—(i) आर्कियन क्रम तथा (ii) धारवाड़ क्रम तथा आर्यन वर्ग में गोंडवाना क्रम प्रमुख है)। इनमें धारवाड़ क्रम तथा गोंडवाना क्रम की चट्टानों पर हिमानीकरण का प्रभाव नजर आता है। इससे प्रमाणित होता है कि जैसे उत्तरी गोलार्द्ध में प्लीस्टोसीन युग में एक विस्तृत हिमचादर का विस्तार हुआ था उसी प्रकार कार्बोनिफरस युग में दक्षिणी-गोलार्द्ध में हिमाच्छादन हुआ था, जिसका प्रभाव प्रायद्वीपीय भारत पर पाया जाता है। हिमानी का विस्तृत जमाव उत्तरी अमेरिका के अधिकांश भाग तथा यूरेशिया के उत्तरी भाग में पाया जाता है जो कि हिमाच्छादन का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

चट्टानों के अवशेष, जिनसे चट्टान की निर्माण क्रिया तथा निर्माण-काल का पता लगाया जाता है, को 'चट्टान अवशेष' (Rock fossils) कहा जाता है। इसी प्रकार मौसम तथा जलवायु सम्बन्धी अनेक लक्षण चट्टानों पर विद्यमान रहते हैं जिनके आधार पर यह बताया जा सकता है कि उस समय जलवायु एवं मौसम सम्बन्धी दशाएँ कैसी थीं। इस प्रकार के चिह्न अथवा अवशेष भाग को **'मौसम अवशेष'** (Fossil weather) कहते हैं। उदाहरण के लिये दक्षिणी अमेरिका, दक्षिणी अफ्रीका, प्रायद्वीपीय भारत, अन्टार्कटिका तथा आस्ट्रेलिया में हिमाच्छादन के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं। हिमाच्छादन केवल ठण्डी जलवायु में ही सम्भव हो सकता है। इस आधार पर यह स्पष्ट होता है कि उक्त स्थानों (अन्टार्कटिका को छोड़ कर) पर यद्यपि इस समय उष्ण जलवायु पायी जाती है परन्तु प्राचीन काल में जब कि हिमानी का विस्तार हुआ होगा, शीतल जलवायु रही होगी। इतना ही नहीं, यह समस्या स्थलरूपों के वितरण पर भी प्रकाश डालती है।

वर्तमान समय में उपर्युक्त स्थान (अन्टार्कटिक को छोड़कर) दक्षिणी ध्रुव से पर्याप्त दूर हैं। फिर यह कैसे सम्भव हो सकता था कि हिमानी का विस्तार राजस्थान तक हो जाता। इस समस्या का समाधान "वेगनर" ने किया है। प्रारम्भ में सभी स्थल-भाग एक रूप में संलग्न थे जिसे पैंजिया (Pangaea) कहा गया। यह एक ही सागर 'पैन्थालासा' (Panthalasa) से घिरा था। वर्तमान दक्षिणी ध्रुव कार्बोनिफरस युग में दक्षिणी अफ्रीका के नेटाल में स्थित डर्बन के पास था तथा भूमध्य रेखा उत्तरी यूरोप से होकर गुजरती थी। इस प्रकार कार्बोनिफरस युग में आसानी से हिमावरण का विस्तार उक्त स्थानों पर हो गया। बाद में **'महाद्वीपीय प्रवाह'** (continental drift) के कारण स्थल-भाग एक दूसरे से अलग हो गये तथा इस हिमानी का प्रभाव आज दूरस्थ भागों में पाया जाता है।

चट्टानों के आधार पर एक ही स्थान पर हुए जलवायु-परिवर्तनों का भी आभास होता है। उदाहरण के लिए ग्रेट ब्रिटेन में प्लीस्टोसीन युग के हिमानीकरण (आज से 20,000 वर्ष पहले जब कि हिमावरण हटने लगा था) के अनेक जमाव पाये जाते हैं। बोरिंग द्वारा पता चला है कि इसके पहले की अत्यधिक प्राचीन मृत्तिका (older clay) अधिक गहराई पर वर्तमान है, जिसमें ऐसी वनस्पतियों के अवशेष तथा जीवावशेष पाये गये हैं जो कि वर्तमान समय में उष्ण कटिबन्ध में पाये जाते हैं।

इसमें प्रकट होता है कि शीतल जलवायु के पूर्व ग्रेट ब्रिटेन की जलवायु उष्णार्द्र रही होगी और अधिक गहराई तक बोरिंग करने पर पता चला है कि प्राचीन मृत्तिका के नीचे ऐसी चट्टानें हैं जिनकी रचना रेगिस्तानी चट्टानों में मिलती है। अतः उस समय यहाँ की जलवायु उष्ण एवं शुष्क रही होगी। इस प्रकार एक स्थान पर हुए जलवायु सम्बन्धी परिवर्तनों का आभास, वहाँ की चट्टान विशेष द्वारा लग जाता है।

इस समय भारत एवं ग्रेट ब्रिटेन की जलवायु में उल्टा सम्बन्ध है। प्रथम की जलवायु उष्णार्द्र तथा दूसरे की शीतल है। चट्टानों के अध्ययन से पता चला है कि कार्बोनिफरस युग में ठीक इसके विपरीत दशा थी। उस समय ग्रेट ब्रिटेन में कोयले का जमाव हुआ था। कोयले का जमाव दलदली वनस्पति तथा जंगलों में होता है। इससे प्रकट होता है कि कार्बोनिफरस युग में, जब कि प्रायद्वीपीय भारत हिमावरण से आच्छादित था, ग्रेट ब्रिटेन की जलवायु उष्णार्द्र रही होगी। ग्रीनलैंड में भी प्राचीन चट्टानों में वनस्पतियों के ऐसे अवशेष मिले हैं जो कि उष्णार्द्र जलवायु में ही पनप सकती है। अतः ग्रीनलैंड की जलवायु भी उष्णार्द्र रही होगी। इसी प्रकार 'कप्तान स्काट" (Captain Scott) ने दक्षिणी ध्रुव तथा अन्टार्कटिका के पास कोयले की स्थिति का पता लगाया है। वर्तमान समय में दक्षिणी ध्रुव तथा अन्टार्कटिका सतत बर्फ से ढके रहते हैं परन्तु वहाँ पर कोयले की प्राप्ति से यह स्पष्ट होता है कि कभी वहाँ पर उष्णार्द्र जलवायु रही होगी।

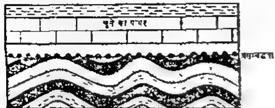
यदि जलवायु-चक्र के परिवर्तन को प्रमाणित करने के लिये भारत में उदाहरण लिया जाय तो बात और स्पष्ट हो जाती है। इस तरह का परिवर्तन गोंडवाना क्रम की चट्टानों में पाया जाता है। बिहार एवं उड़ीसा में गोंडवाना क्रम की कोयले की सतहें पायी जाती हैं। तालचीर-कोयले की सतह के नीचे गोलाश्म मृत्तिका (Boulder clay) पाई जाती है। तालचीर कोल-सीम गोंडवाना क्रम का प्राचीनतम जमाव है। इससे प्रकट होता है कि गोंडवाना क्रम की चट्टान के निर्माण के पूर्व हिमाच्छादन हुआ था तथा जलवायु ठंडी थी। इसके बाद कोयले का पाया जाना उष्ण एवं आर्द्र जलवायु को प्रदर्शित करता है। इस कोयले की सतह के बाद "Iron stone shale" चट्टान की परत पायी जाती है। इस प्रकार का जमाव उष्ण एवं शुष्क जलवायु में होता है। इससे प्रकट होता है कि उष्णार्द्र जलवायु के बाद शुष्क जलवायु का आगमन हुआ होगा। कहीं-कहीं पर कोयले की सतह के ऊपर बालुका पत्थर तथा लाल बालुका पत्थर पाये जाते हैं। इनकी रचना अत्यधिक शुष्क जलवायु में होती है, अतः शुष्क जलवायु के बाद अति शुष्क जलवायु रही होगी। बालुका पत्थर के बाद पुनः कोयले की सतह पाई जाती है, जिससे प्रकट होता है कि जलवायु पुनः उष्णार्द्र हो गई होगी। इस प्रकार विभिन्न चट्टान के आधार पर जलवायु की विभिन्न अवस्थाओं का ज्ञान होता है।

(गोंडवाना क्रम की चट्टान→शीतल→उष्णार्द्र→ शुष्क→और शुष्क→पुनः उष्णार्द्र जलवायु)।

महीन कणों वाली चट्टानों पर जब वर्षा की जल की बूँदें पड़ती हैं तो चट्टान पर छोटे-छोटे चिह्न बन जाते हैं जिन्हें "वृष्टि छाप" (Rain prints) कहते हैं। यदि पुरानी शैलों पर इस तरह के छाप मिलते हैं जो यह बताया जा सकता है कि उस चट्टान के निर्माण के समय वर्तमान समय की ही दशा रही होगी। इसी प्रकार नदियों द्वारा बाढ़ के समय बिछाई गई कांप मिट्टी में सूर्य की प्रखर किरणों द्वारा बहुभुजी दरारें (*Polygonal* cracks) पड़ जाती हैं। बाद में रेत आदि से दरारें भर जाती हैं तथा उन पर अगली बाढ़ के समय नयी कांप का आच्छादन हो जाता है तथा पहले का आकार सुरक्षित रहता है। यदि इस प्रकार का **'मौसम अवशेष'** (*Fossil* weather) पुरानी चट्टानों में मिलता है तो प्रकट होता है कि उस समय वायु, वर्षा तथा धूप की दशा वर्तमान समय के अनुरूप ही रही होगी।

इतना ही नहीं चट्टान की विभिन्न सतहों (Beds) द्वारा भी भूगर्भिक इतिहास का पता चलता है। यदि कहीं पर परत के ऊपर परत का क्रमिक जमाव होता रहा है तथा वलन की क्रिया द्वारा अगर उनमें परिवर्तन नहीं हुआ है तो यह साफ स्पष्ट है कि निचली तह सबसे अधिक पुरानी होगी तथा ऊपरी तह सबसे नवीन। परन्तु प्रायः ऐसा होता नहीं है। यदि विभिन्न तहों में वलन पड़ गये हों या झुकाव हो गया हो तो उनका वास्तविक क्रम बताना कठिन होता है। कभी-कभी ऊपर का वलन (Folds) कटाव द्वारा कट जाता है तथा वहाँ पर पुनः दूसरा जमाव होने लगता है परन्तु दोनों सतहों में असम्बद्धता पाई जाती है। इस प्रकार की असम्बद्धता को **असमविन्यास** (Unconformity, Conformity means

likeness अनुरूपता) कहते हैं। इस असम्बद्धता से चट्टानों के इतिहास का कुछ हद तक पता लगाया जा सकता है। वास्तव में इन दो प्रकार के जमावों की असम्बद्धता का तात्पर्य होता है भूगर्भिक समय में एक लम्बा अवकाश।



चित्र 19 —असम्बद्धता (Unconformity) का आविर्भाव

यदि उपर्युक्त आधार पर भारतीय भूगर्भिक इतिहास पर दृष्टिपात किया जाय तो स्पष्ट होता है कि धारवाड़ क्रम की चट्टानों तथा कुडापा क्रम की चट्टानों के बीच असम्बद्धता (Unconformity) पाई जाती है। अर्थात् इस लम्बे भूगर्भिक अवकाश (Geological interval) के समय चट्टानों का कटाव होता रहा तथा बाद में धारवाड क्रम की चट्टानों के बाद कुडापा क्रम की शैल तथा स्लेट आदि चट्टानों का निक्षेप हुआ। वास्तव में प्रत्येक असम्बद्धता किसी न किसी रूप में एक अपरदन-तल होती है जो कि भूगर्भिक अवकाश का द्योतक है, जिस समय अपरदन, निक्षेप से अधिक होता है—'In general terms, every unconformity is an erosion surface of one kind or another, representing a lapse of time during which denudation [including erosion by sea] exceeded deposition at that place "[1]

परतदार चट्टानों के आधार पर उसके प्रथम जमाव तथा पृथ्वी के इतिहास का पता लगाया जा सकता है।

अंग्रेज विद्वान विलियम स्मिथ ने एक लम्बे सर्वेक्षण के बाद सन् 799 ई० में इस बात का प्रतिपादन किया कि एक प्रकार की चट्टान की बनावट में एक ही प्रकार के जीवावशेष '(Fossils) पाये जाते हैं। इस प्रकार किसी समय विशेष में पाये जाने वाले जीव, जिनका अवशेष उस समय की चट्टान में पाया जाता है, न कभी पहले प्रकट हुए थे न पुनः प्रकट हुए। इस प्रकार प्रत्येक युग में निश्चित जीव का अविर्भाव हुआ था जिनके अवशेष उस युग की शैल में देखे जाते हैं। इस आधार पर चट्टान का निर्माणकाल उसमें पाये जाने वाले जीवावशेष के आधार पर निश्चित किया जा सकता है। यदि एक ही प्रकार की चट्टान की बनावट दो महाद्वीपों में पायी जाती है तथा उनके जीवावशेष एक ही प्रकार के हो तो दोनों चट्टानें समकालीन होंगी। इस प्रकार विभिन्न समय के जीव एवं जीवावशेषों के आधार पर जीवावशेष युक्त परतवाली शैल को विभिन्न युगों में विभाजित किया जा सकता है। पृथ्वी के इतिहास को सरलता के लिए पुस्तक की तरह कई भागों में विभाजित किया जाता है। यह विभाजन निम्न तालिका में स्पष्ट हो जाता है।

(1) पुस्तक का विभाग

पुस्तक	भाग	अध्याय	पैराग्राफ
	(Volume)	(Chapter)	(Paragraph)

(2) समकालीन भूगर्भिक समय

कल्प	युग	शक	अवधि
(Era)	(Epoch)	(Period)	(Duration)

(3) जमाव या परत का विभाग

वर्ग	क्रम	श्रेणी	संरचना
(Group)	(System)	(Series)	(Structure)

उदाहरण—

आर्कियन वर्ग धारवाड क्रम, सासर श्रेणी (भारत में)

संकल्पना 3

"स्थलरूपों के विकास में भूगर्भिक संरचना एक महत्त्वपूर्ण नियंत्रक कारक होती है तथा उनमें (स्थलरूपों) प्रतिबिम्बित होती है।" [Geologic structure is a dominant control factor in the evolution of landfroms and is reflected in them]

सामान्य परिचय

सामान्य रूप में यह प्रतिपादित किया जाता है कि स्थलरूपों को प्रभावित करने वाले कारकों में भूगर्भिक संरचना एक महत्त्वपूर्ण कारक होती है परन्तु यह तथ्य सदैव चरितार्थ नहीं होता है क्योंकि कभी-कभी अनाच्छादनात्मक प्रक्रम (Denudational processes) इतने अधिक सक्रिय हो जाते हैं कि वे भूगर्भिक संरचना पर हावी हो जाते हैं तथा समस्त भाग एक समतल सतह (Planatation surface) में बदल जाता है जिसमें कड़ी व कोमल चट्टान का महत्त्व जाता रहता है। इसी आधार

1. A Holmes, Principles of Physical Geology, p. 99.

पर कहा जाता है कि '**कभी-कभी भूगर्भिक संरचना स्थलरूपों के निर्माण में निष्क्रिय तत्त्व होती है**'। इसी आधार पर ई० एच० ब्राउन ने कहा है—"**स्थलरूपों के विकास में भूगर्भिक संरचना को एक महत्त्वपूर्ण नियंत्रक कारक मान लेना एक प्रवृत्ति है और निश्चय ही यह तथ्य कई बार सत्य भी होता है परन्तु संरचना ही सदैव मुख्य नियंत्रक कारक नहीं होती है और वह भी अकेले ही।**"

भू-विज्ञान तथा भू-आकृति विज्ञान में संरचना शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थों में किया जाता है। संरचना का तात्पर्य चट्टान की स्थिति तथा प्रकृति दोनों से है। सर्वप्रथम यह देखा जाता है कि चट्टान का आकार वलन, भ्रंश या असमविन्यासों (Unconformity) आदि म म किस रूप में है। संरचना की यह विचारधारा निश्चय ही संकीर्ण है। इसे और व्यापक बनाने के लिए चट्टान की संरचना में उन सभी पदार्थों (रासायनिक या भौतिक) का अध्ययन करते हैं जिनसे मिलकर चट्टान बनी है। इस प्रकार संरचना के अन्तर्गत हम चट्टान की स्थिति जैसे संधियों की मात्रा (कम या अधिक अथवा पूर्ण अनुपस्थिति), संस्तरण सतह (Bedding planes), भ्रंश, वलन, नति तथा नतिलम्ब (Dip and strike), चट्टान की कठोरता, उसके अन्तर्गत वर्तमान खनिजों आदि को सम्मिलित करते हैं। संक्षेप में हम संरचना के अन्तर्गत निम्न तथ्यों का समावेश करते हैं। 1 प्रथम यह कि चट्टान की बनावट किस प्रकार की स्थिति में हुई है। इसका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। 2 चट्टान का संगठन—चट्टान संधियुक्त है या संधि-रहित है। संधियाँ बड़ी-बड़ी है या छोटी-छोटी, चट्टान प्रवेश्य है या अप्रवेश्य, चट्टान पारगम्य है या अपारगम्य, चट्टान संगठित है या ढीली और चट्टान कठोर है, प्रतिरोधी है या कमजोर। यहाँ पर स्मरणीय है कि चट्टान की कठोरता का तात्पर्य सापेक्षित अर्थ (Relative sense) में है क्योंकि प्रत्येक शैल सभी दशाओं में कठोर तथा प्रतिरोधी या कमजोर एवं मुलायम नहीं होती है। उदाहरण के लिए चूने का पत्थर आर्द्र प्रदेशों में शीघ्र घुलनशील तथा मुलायम चट्टान होती है परन्तु यहीं चूने का पत्थर उष्ण एवं शुष्क मरुस्थलीय भागों में पवन द्वारा अपरदन के लिए कठोर तथा प्रतिरोधी शैल होता है। इस प्रकार एक ही प्रकार की चट्टान विभिन्न प्रकार की जलवायु में विभिन्न प्रकार के प्रतिरोधी स्वभाव को प्रदर्शित कर सकती है। 3 चट्टान की परतों का रूप—इसमें हम देखते हैं कि चट्टान की विभिन्न परतें समानान्तर तथा क्षैतिज अवस्था में हैं अथवा कुछ कोण पर झुकी हुई हैं। उनके साथ लम्बवत् स्तर हैं अथवा भ्रंशित अवस्था में हैं। उपर्युक्त विवरण से संरचना का तात्पर्य स्पष्ट हो गया है। भ्वाकृतिक अध्ययन के लिये संरचना को दो प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है तथा विभाजन का मुख्य आधार अपरदन में विभिन्नता उत्पन्न करने वाली संरचनात्मक विभिन्नताओं को माना जा सकता है। 1 क्षैतिज संरचना (Horizontal structure—इसमें चट्टान की विभिन्न परतें क्षैतिज अवस्था में एक दूसरे के ऊपर सदी होती हैं)। 2 विषमगत संरचना [Discordant structure—इसमें चट्टानों की परतों का रूप किसी भी अवस्था (क्षैतिज अवस्था को छोड़कर) में हो सकता है]।

इस तरह संरचना के अन्तर्गत उसके तीन पहलुओं को सम्मिलित किया जाता है—

1 चट्टान की प्रकृति (चट्टान के प्रकार)।

2 चट्टान के स्तरों की व्यवस्था तथा स्थिति।

3 चट्टान का संघटन तथा अश्मविज्ञान (lithology)।

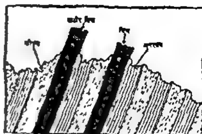
1 चट्टान की प्रकृति (Nature of the rocks)

इसके अन्तर्गत यह देखा जाता है कि स्थान विशेष में चट्टान कौन-सी है (आग्नेय या अवसादी या रूपान्तरित)। भू-आकारिकी में चट्टान के प्रकारों का अत्यन्त महत्त्व है क्योंकि वे स्थलरूपों के विकास को प्रभावित करती है स्थलाकृति के स्वभाव का निर्धारण करती है तथा मिट्टी के स्वभाव को निश्चित करती है। इसी आधार पर कहा गया है कि '**चट्टान चाहे आग्नेय हो या अवसादी, एक तरफ तो पृथ्वी के इतिहास की हस्तलिपि प्रस्तुत करती है तो दूसरी तरफ समकालीन दृश्यावली के लिए आधार प्रस्तुत करती है**'। चट्टानों के विभिन्न प्रकार कठोरता (Hardness) की दृष्टि से पर्याप्त भिन्न होते हैं। अतः उन पर अपक्षय तथा अपरदन की क्रियायें भी विभिन्न दर से कार्य करती हैं जिस कारण नाना प्रकार के स्थलरूपों का निर्माण होता है। मोटे तौर पर आग्नेय तथा रूपान्तरित चट्टानें (ग्रेनाइट, गैब्रो क्वार्टजाइट) तथा कुछ अवसादी चट्टानें (बालुका प्रस्तर) पर्याप्त कठोर होती हैं। परिणामस्वरूप अनाच्छादन के बाद उन पर ऊपर उठी दृढ़स्थलाकृति (Bold topography) का निर्माण होता है। कुछ विशिष्ट चट्टानों का तो स्थलरूपों के निर्माण में इतना अधिक प्रभुत्व तथा नियंत्रण होता है कि समूची स्थलाकृति का नामकरण ही

उनके आधार पर कर दिया जाता है, जैसे **ग्रेनाइट स्थलाकृति, कार्स्ट या लाइमस्टोन स्थलाकृति, चाक स्थलाकृति** आदि। कोमल चट्टानों पर (शेल, मृत्तिका) घाटियों एवं निम्न स्थलरूपों का निर्माण होता है। इस तरह स्थलरूपों के निर्माण में चट्टानों के महत्त्व को देखते हुए ही 'किसी क्षेत्र के स्थलाकृतिक मानचित्र तथा भूगर्भिक मानचित्र (Geological map) से तुलना कर ली जाती है क्योंकि उच्चावच्च (Relief) तथा उसके नीचे स्थित चट्टान में पर्याप्त सम्बन्ध होता है। यहां पर आग्नेय शैल (खासकर ग्रेनाइट) पर निर्मित स्थलाकृतिक का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

आग्नेय शैल एवं स्थलाकृति (Resultant Topographic Forms)

खनिज तथा कणों के रूप में आग्नेय शैल में पर्याप्त विषमता पाई जाती है। यह विषमता चट्टानों की बनावट से सीधा सम्बन्ध रखती है। आग्नेय चट्टान मोटे तौर पर कठोर होती है। परन्तु यह सर्वदा आवश्यक नहीं है। कभी-कभी चट्टान आस-पास की शैल से अत्यन्त मुलायम भी होती है। आग्नेय शैल की बनावट (Structure and Composition) की विषमता का प्रभाव किसी स्थान, जहां पर वे पायी जाती हैं, के स्थलरूप की उत्पत्ति, विकास तथा स्वरूप पर पर्याप्त होता है। पश्चिमी संयुक्त राज्य अमेरिका में लावा के पठार में **यलोस्टोन नदी** ने एक बड़ा कैन्यन (खड़ी दीवाल से घिरी नदी की सँकरी घाटी) बना रखा है। कैन्यन अथवा गार्ज के लिये कड़ी चट्टानों का होना आवश्यक होता है तभी घाटी सकरी हो पाती है। इसी प्रकार यदि सिल (Sill) का विस्तार झुके हुए परतदार शैल की परतों में पाया जाता है तथा सिल समीपवर्ती चट्टान से कठोर होती है तो अपरदन के बाद सिल का कठोर भाग निकला रहता है। राँची पठार के दक्षिणी भाग में धारवार क्रम की चट्टानों में आर्कियन युग में 'डाल्मा' लावा-प्रदेश के कारण कई सिल तथा डाइक का निर्माण हुआ है जो ऊपरी धारवार के आवरण के हट जाने से दृष्टिगत होती है। परन्तु लम्बे समय तक अपरदन के कारण इनका रूप बदल गया है। ऊपरी दामोदर बेसिन (हजारी बाग पठार) में आर्कियन युग एवं राजमहल लावा-प्रवाह के समय कई बैथोलिथ तथा डाइक का प्रवेश हुआ है। नदियों की घाटियों में राजमहल युग की डाइक गोण्डवाना क्रम की अवसादी चट्टानों में आज भी निकली हुई दृष्टिगत होती है।



चित्र 20—अपरदन के बाद सिल का निकला हुआ भाग

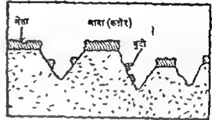
जब ग्रेनाइट आग्नेय शैल के वृहद् समूह पर लगातार अपरदन होता रहता है अथवा अपक्षय का प्रभाव लम्बे समय तक चलता रहता है तो अगल-बगल की परत उखड़ कर हट जाती है तथा बीच का भाग उभड़ा-सा नजर आता है। इस प्रकार की आकृति को "एक्सफोलियेशन,[1] गुम्बद" (Exfoliation Dome) कहते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका की "योसेमाइट घाटी" (Yosemite Valley) के बड़े-बड़े गुम्बद (Dome), रायो डि जनैरो (ब्राजील) के "सुगर लोफ" (Sugar Loaf) तथा जार्जिया (सं० रा० अमेरिका) के "स्टोन पर्वत" इस तरह के गुम्बदों के प्रमुख उदाहरण हैं। मध्य राँची पठार-में इस तरह के ग्रेनाइट एक्सफोलियेशन गुम्बद देखने को मिलते हैं। उदाहरण के लिये राँची शहर के पास 'काके' के समीप इस तरह के गुम्बद का खूबसूरत स्वरूप देखने को मिलता है।

कभी-कभी धरातल के नीचे मैगमा का जमाव वृहद् गुम्बद के रूप में हो जाता है। परन्तु ये गुम्बद ऊपर से अन्य चट्टानों से ढंके रहते हैं। ऐसा प्रायः ग्रेनाइट शैल के साथ होता है। अत्यधिक अपरदन के बाद ये गुम्बद सतह पर दिखाई पड़ते हैं। परन्तु अत्यधिक अपरदन में गुम्बद के ऊपर से मलवा का अत्यधिक भाग हट जाता है। इस प्रकार दवाव में कमी के कारण गुम्बद फैलने लगता है। फलस्वरूप उसके ऊपरी भाग पर गोल-गोल जोड़ (Joints) पड़ जाते हैं। इन्हीं जोड़ों के कारण Exfoliation (पर्त का उखड़ना) भी होने लगता है। मध्य राँची पठार पर पिर्थोरिया ग्राम के पास 'मुड़ा पहाड़' इसका प्रमुख उदाहरण है। इसी तरह के गुम्बद बुटी ग्राम के समीप देखने को मिलते हैं।

---

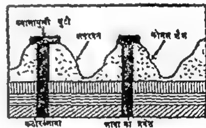
1 'Exfoliation' का अर्थ होता है वायु द्वारा चट्टान की परतों का फल के छिलके की तरह उघड़ना।

बाह्य आग्नेय शैल का भी स्थलरूप के निर्माण मे पर्याप्त हाथ होता है। जब लावा का प्रवाह सतह पर होता है तो लावा की एक मोटी परत धरातल पर बिछ जाती है। अपरदन के बाद इसमे पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। ऐसे क्षेत्रो मे नदियाँ कटाव द्वारा अपनी घाटियो का निर्माण करती है। परन्तु जहाँ पर लावा की परत कठोर होती है वह अपरदन मे वंचित रह जाती है। इस प्रकार घाटियो के बीच का भाग अपरदन म अछूता रह जाता है। प्राचीन चट्टान के ऊपर स्थित बेसाल्ट (लावा) शैल टोपी क समान दिखाई पड़ती है। इस प्रकार की आकृति को "मेसा" (Lava capped mesa) कहते हैं। मेसा एक स्पेनिश शब्द है जिसका शाब्दिक अर्थ टेबुल अथवा मेज होता है। यह मेज के आकार की एक ऐसी आकृति होती है जिसका निर्माण लावा से पुरानी चट्टान के ऊपर होता है। इसके किनारे चारो तरफ से काफी खडे (Steep slopes) होते हैं। इस तरह की मेसा सयुक्त राज्य अमेरिका के कोलोरैडो, वायोमिंग तथा न्यूमेक्सिको प्रान्तो मे लावा क्षेत्र मे सर्वाधिक पायी जाती है। कभी-कभी मेसा का आकार इतना विस्तृत होता है कि ये छोटे-मोटे पठार सो लगते है। कोलोरैडो प्रान्त की 'ग्राण्ड मेसा' (Grand Mesa) इस प्रकार की एक विस्तृत मेसा है जिसका ऊपरी भाग कोलोरैडो तथा गन्नीसन (Gunnison) नदियो की घाटी से 5000 फीट (1524 मीटर) ऊँचा है। इसी प्रान्त की बेसाल्ट निर्मित 'राटन मेसा' (Raton Mesa) है, जिसमे लावा की गहराई 1000 फीट (305 मीटर) है तथा इस भाग की ऊँचाई समीपवर्ती नदी की घाटी से 6000 फीट (1830 मीटर) है। राँची पठार के पश्चिम 'पाट प्रदेश' (Patland) मे क्रीटेसियस युग मे लावा-प्रवाह के कारण निर्मित लावा पठार (लावा की गहराई 152 4 मीटर है जो नीस शैल के ऊपरी तल 915 मीटर पर स्थित है) मे अपरदन द्वारा कई मेसा तथा बुटी का निर्माण हुआ है (खमार पाट, रडनी पाट रल्डामी पाट, बांगड़ पाट, नेतरहाट पाट, जमीरा पाट आदि, स्थानीय भाषा मे इन सपाट शिखर वाले छोटे-छोटे पठार/मेसा को 'पाट' कहते हैं)। इन मेसा के शीर्ष चौरस हैं परन्तु कगार तीव्र ढाल वाले है। महाबलेश्वर का पठार (महाराष्ट्र मे) एक विस्तृत मेसा का खूबसूरत उदाहरण है। कृष्णा, सरस्वती तथा कोयना नदियो की उद्गम सरिताओं (source streams) ने इसे विच्छेदित कर रखा है। बेसाल्ट मे सरचनात्मक अन्तर होने के कारण सरचनात्मक सोपान निर्मित हुये है। देखने मे यहाँ की स्थलाकृति संयुक्त राज्य अमेरिका के ग्रैण्ड कैनियन (कोलोरैडो नदी) मे समता रखती है। रासायनिक अपक्षय द्वारा बेसाल्ट के ऊपरी भाग का लेटराइट मे परिवर्तन हो गया है।



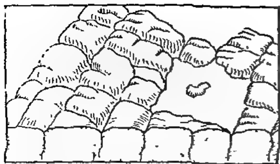
चित्र 21—लावा युक्त मेसा तथा बुटी
(Lava Capped Mesa & Butte)

जब अपरदन के कारण मेसा का अधिकाश भाग कट जाता है तो उसका आकार छोटा होने लगता है। अत्यन्त छोटी आकार वाली मेसा को बुटी (Butte) कहते हैं। कभी-कभी ऊपर स्थित कमजोर चट्टान मे लावा प्रवेश एक सँकरे स्तम्भ के रूप मे हो जाता है। बाद मे अपरदन के कारण स्तम्भ रूप मे स्थित लावा का ऊपरी भाग 'बुटी' के रूप मे दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार की 'बुटी' को ज्वालामुखी बुटी कहते हैं।



चित्र 22—ज्वालामुखी बुटी (Volcanic Butte)

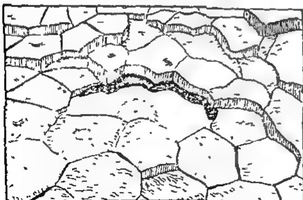
स० रा० अमेरिका की शिपराक (Ship Rock) इसी तरह की ज्वालामुखी बुटी की उदाहरण है। कभी-कभी ग्रेनाइट चट्टान मे जोड चौकोर आकार के हो जाते हैं तो आयताकार स्थलाकृति का निर्माण होता है। ऐसी स्थलाकृति पर आयताकार प्रवाह-प्रणाली का आविर्भाव होता है। यह तथ्य चित्र 23 मे प्रकट हो जाता है।



चित्र 23—चौकोर जोड़ वाली आग्नेय शैल पर अपरदन के बाद स्थलाकृति (आयताकार) का आविर्भाव

जब आग्नेय शैल की सन्धियाँ स्तम्भ के रूप मे (Columnar jointing) होती हैं तो सतह पर षट्भुज (Hexagonal) के आकार की आकृतियाँ बन जाती हैं। यह चित्र 24 से स्पष्ट हो जाता है।

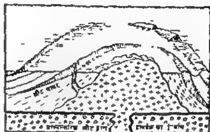
जब परतदार कमजोर शैल मे लावा-गुम्बद का प्रवेश होता है तो अपरदन के बाद मुलायम शैल कट जाती है तथा अपेक्षाकृत अवरोधक (Resistant) शैल भाग सकरे एवं लम्बे कटक (Ridge) मे बदल जाता है। इस प्रकार से बने स्थलरूप को "हागबैक" (Hogback) कहते हैं। हागबैक एक लम्बी एवं पतली श्रेणी (Ridge) के रूप मे होता है जिसका डिप (Dip) एवं ढाल दोनों खड़े (Steep) होते हैं। इसी प्रकार क्वेस्टा (Questa) का भी निर्माण



चित्र 24—स्तम्भाकार संधि वाली आग्नेय शैल पर षट्भुज के आकार वाले स्थलरूप का आविर्भाव।

होता है। क्वेस्टा एवं हागबैक मे अन्तर यह होता है कि क्वेस्टा का ढाल एवं डिप (Dip) खड़े ढाल वाला नही होता है वरन् झुका होता है। क्वेस्टा एक स्पेनिश शब्द है जिसका तात्पर्य होता है पहाड़ी श्रेणी।

लैकोलिथ के साथ परतदार शैल की परतो के बीच लावा की चादर (Sheet) का प्रवेश हो जाता है। ये चादर परतदार शैल से कठोर होती हैं तथा अपरदन के बाद ये अवरोधक चादर (Resistant Sheets) छोटे-छोटे हागबैग मे बदल जाती है, जैसा कि चित्र 25 से स्पष्ट है। इस प्रकार विभिन्न आग्नेय शैल पर विभिन्न परिस्थितियो मे तरह-तरह के स्थलरूपो का सृजन होता है।



चित्र 25—आभ्यान्तरिक लावा-चादर द्वारा (अपरदन के बाद) हागबैक का निर्माण।

ग्रेनाइट स्थलाकृति

सामान्य रूप मे ग्रेनाइट अपेक्षाकृत कठोर शैल होती है, जिससे 'स्थूल स्थलाकृति' (Bold topography) का निर्माण होता है। संधियो के कारण उच्च ताप पर उसमे बड़े-बड़े टुकड़ो मे विघटन (Block disintegration) तथा उष्णार्द्र जलवायु मे गहराई तक रासायनिक अपक्षय होता है। रासायनिक अपक्षय का प्रभाव जलविभाजको के नीचे अधिक तथा घाटियो के नीचे नगण्य होता है। स्मरणीय है कि ग्रेनाइट के भौतिक अपक्षय मे प्राप्त मलवा महीन आकार का होता है, परिणामस्वरूप उसमे अपरदन-सामर्थ्य (Erosional capacity) कम होती है, जिस कारण ग्रेनाइट का अपरदन कम हो पाता है, और यदि होता भी है तो वह विशेषात्मक अपरदन (Differential erosion) के रूप मे सम्पादित होता है। वास्तव मे ग्रेनाइट की सन्धियों तथा उनके फासले (Spacing) का अपरदन एवं अपक्षय पर महती प्रभाव होता है। ग्रेनाइट की संधियो की आयताकार प्रणाली के फलस्वरूप आयताकार प्रवाह-प्रणाली का विकास होता है। स्थलरूपो में टार्स (Tors) सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होते है, जिनकी उत्पत्ति की समस्या रहस्यमय बनी हुई है।

ग्रेनाइट शैल के अनाच्छादन (Denudation) के फलस्वरूप छोड़े गये टुकड़ों के समूह को, जो कि सामान्य सतह से ऊपर उठे इस तरह दृष्टिगत होते है, जैसे कि

उन्हे किसी ने सजा दिया हो, टार कहते है। दूर से देखने पर ये टार महल जैसे दीखते है। उल्लेखनीय है कि टार न केवल ग्रेनाइट शैल पर ही निर्मित होते हैं, अपितु अन्य शैलो पर भी इनका निर्माण हो जाया करता है (क्वार्ट-जाइट, डोलेराइट, ग्रिट, लाइमस्टोन आदि)। टार के रूप एवं आकार तथा स्थिति मे पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। कुछ टार शिखरो पर मिलते है जिनको गगनरेखी टार (Skyline tor) कहते है तथा कुछ टार घाटियो के पार्श्वभाग मे मिलते हैं जिनको घाटी पार्श्व टार (Valley side tor) कहते है। आकार की दृष्टि से टार दो तरह के होते है—(i) घनाभ या आंशिक गोलाकार (Cuboidal or partly rounded) टुकडो से निर्मित टार तथा (ii) गोलाकार या गुम्बदाकार टुकडो से निर्मित टार। ग्रेनाइट गुम्बदो के ऊपर मिलने वाले टार का खूबसूरत उदाहरण मध्य रांची पठार पर 'बुटी' ग्राम के पास स्थित गुम्बद के ऊपर तथा उसके पार्श्व पर देखा जा सकता है। गगनरेखी टार तथा स्थलस्थित टार पियोरिया ग्राम (मध्य रांची पठार) के पास 'मुडा पहाड' पर देखे जा सकते है जो घनाभ तथा गोलाकार ग्रेनाइट-ब्लाक के बने है। रांची शहर के समीप 'काके गुम्बद' के ऊपर लट्ठे के समान लम्बे-लम्बे ग्रेनाइट-ब्लाक के टार निर्मित है। हुण्डरु घाघ प्रपात के नीचे स्वर्णरेखा नदी की घाटी के सहारे घाटी-पार्श्व टार का निर्माण हुआ है।

टार के निर्माण सम्बन्धी सिद्धान्त

टार के निर्माण के विषय मे पर्याप्त मतभेद है, परन्तु इतना तो निश्चित है कि इनके निर्माण मे प्रमुख हाथ अनाच्छादन तथा शैल की सन्धियो के रूप एव पासने का होता है। मतभेद केवल उनके निर्माण-सम्बन्धी प्रक्रमो के विषय मे ही है। इग्लैण्ड के डार्टमूर के टार की उत्पत्ति के विषय मे निम्न सिद्धान्त उल्लेखनीय हैं।

(i) **पेडीप्लेनेशन सिद्धान्त** (Pedeplanation Theory)—किंग[1] ने टार की तुलना अफ्रीका के अर्द्ध-शुष्क प्रदेशो मे निर्मित पेडीप्लेन पर पाये जाने वाले गोलाकार इन्सेलबर्ग या कॅसिल कापीज (Castle Koppies) से की है तथा बताया है कि टार का निर्माण डेविस द्वारा प्रतिपादित सामान्य अपरदन-चक्र के दौरान होने वाले सरिता-अध कर्तन (Stream incision) तथा जल विभाजको के नष्ट होने के कारण नही होता है, बल्कि इनका निर्माण लम्बे समय तक होने वाले अपक्षय के कारण होता है। किंग के इस वक्तव्य मे कुछ तथ्य स्वीकृति योग्य नही है।

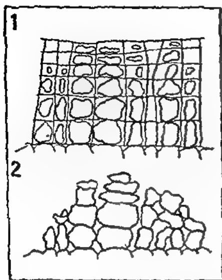
(i) पेडीप्लेन की परिच्छेदिका अवतल होती है, जबकि डार्टमूर के जिन भागो के ऊपर टार दृष्टिगत होते है, उत्तल ढाल वाले है। (ii) अफ्रीका की स्थलाकृति को ही पेडीप्लेनेशन का प्रतिफल सभी लोग नही मानते है। वास्तव मे अफ्रीकी विशिष्ट स्थलाकृति का निर्माण ही अपक्षय तथा परिवहन के विशिष्ट प्रक्रमो द्वारा हुआ माना जाता है।

(ii) **अधः अपक्षय सिद्धान्त** (Deep Weathering Theory) – **लिन्टन**[2] ने *1955* मे टार के निर्माण मे अपक्षय को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बताया। लिंटन के अनुसार टार के निर्माण मे दो अवस्थाये होती है। (i) प्रारम्भिक अवस्था मे उष्णार्द्र जलवायु-दशा मे ग्रेनाइट का गहराई तक अपक्षय होता है जिस कारण चट्टान का विघटन एव वियोजन होता है। यह विघटन चट्टान के जोडो (सधियो) के फासले पर आधारित होता है। जब सधियाँ पास-पास होती हैं तो समस्त चट्टान का जल-स्तर तक नाश हो जाता है, परन्तु जब सधियाँ दूर-दूर होती है तो विघटन के कारण **घनाभ प्रस्तर खण्ड** (Cuboidal blocks) का निर्माण होता है। उनके बीच मे बारीक पदार्थ निहित होते हैं। (ii) द्वितीय अवस्था मे इन बारीक पदार्थो का परिवहन परिहिमानी प्रक्रमो (Periglacial processes) द्वारा हो जाता है। परिणामस्वरूप ये **घनाभ प्रस्तर खण्ड** सतह के ऊपर **टार** के रूप मे दृष्टिगत होते हैं।

(iii) **परिहिमानी सिद्धान्त** (*Periglacial* Theory)—**पामर तथा नेल्सन**[3] ने टार के निर्माण के विषय मे परिहिमानी जलवायु तथा प्रक्रमो को सर्वप्रमुख बताया है। प्रारम्भ मे ग्रेनाइट सतह पर स्थित मृदा (Soil) का **मृदासर्पण** (Solifluction) की क्रिया द्वारा परिवहन हो जाता है और ग्रेनाइट सतह नग्न हो जाता है, जिस पर **हिमीकरण हिमद्रवण** (Freeze

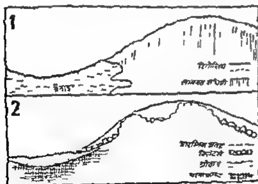
1 King, L. C, 1958 "Correspondence on the problem of tors , Geogr, J. 124, pp 389-91
2 Linton D L, 1955 : "The problem of tors", Geogr. J., pp. 470-87.
3. Palmer, J. and Neilson, R. A., 1962 "The origin of granite tors, Dartmoor, Devonshine", Proc, Yorks Geol. Soc., 33, pp 315-40

thaw) के कारण तुषार अपक्षय (Frost weathering) प्रारम्भ हो जाता है। तुषार अपक्षय ऊँचे



चित्र 26—लिण्टन के अनुसार टार का निर्माण।

भागों खासकर पहाड़ियों के ऊपर अधिक होता है तथा घाटियों में अपेक्षाकृत कम होता है। तुषार अपक्षय की मात्रा तथा सक्रियता पर ग्रेनाइट की संधियों का भी असर होता है। जहाँ पर ग्रेनाइट विभिन्न शक्ति वाली होता है, वहाँ पर विभेदात्मक अपक्षय (Differental



चित्र 27—पामर तथा नेल्सन के अनुसार टार का निर्माण।

weathering) होता है। मृदासर्पण के कारण विघटित पदार्थों का परिवहन हो जाता है तथा शेष प्रस्तर खण्ड टार का रूप ले लेते हैं। जहाँ पर ग्रेनाइट समान शक्ति वाली होती है वहाँ पर टार का निर्माण सम्भव नहीं हो पाता है। कगार निवर्तन (Scarp retreat) के कारण भी टार का नाश हो जाता है।

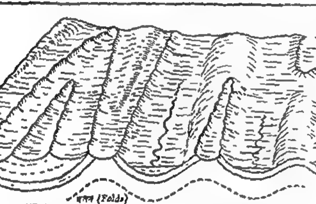
राँची-टार की उत्पत्ति—राँची पठार पर ग्रेनाइट-नीस संरचना पर अनेकों टार का निर्माण हुआ है जिनकी उत्पत्ति के विषय में सविन्द्र सिंह (1977) ने अपनी संकल्पना का प्रतिपादन किया है। **प्रथम अवस्था**—धारवार क्रम की चट्टानों में ग्रेनाइट बैथोलिथ (फेल्सपार युक्त) का जब प्रवेश हुआ तो शीतलन के कारण जनित संकुचन के फलस्वरूप उत्पन्न तनन-विकृति (Tensile stress) के कारण प्रारम्भिक संधियों का निर्माण हुआ। **द्वितीय अवस्था**—अनवरत अपक्षय तथा अपरदन के कारण ऊपरी धारवार आवरण हट गया जिस कारण ग्रेनाइट बैथोलिथ सतह पर प्रकट हो गये। इन बैथोलिथ के अनावरण में गहराई तक अधः अपक्षय (Deep basal weathering) का भी हाथ रहा होगा। ऊपर के आवरण के हट जाने के कारण जनित दाब-मुक्ति के फलस्वरूप ग्रेनाइट शैल में विस्फारण (Dilation) होने से बैथोलिथ के ऊपर की ओर प्रतिक्षेपण (Recoil) होने के कारण संधियाँ और अधिक विस्तृत हो गयीं। **तृतीय अवस्था**—टशियरी युग में उत्थान के कारण बैथोलिथिक गुम्बदों की पूर्व स्थित संधियों में और अधिक विस्तार हो गया। परिणामस्वरूप चट्टान बड़े-बड़े टुकड़ों में विखण्डित हो गयी। वृष्टि धुलन के कारण भौतिक तथा रासायनिक अपक्षय से जनित पदार्थ हटा लिए गये जिस कारण ग्रेनाइट के टुकड़े एक दूसरे के ऊपर टार के आकार में एकत्रित हो गये।

2 चट्टान के स्तरों की व्यवस्था तथा स्थिति (Arrangement and disposition of rockbeds)

इस पहलू के अन्तर्गत यह देखा जाता है कि चट्टान की परतों का क्रम कैसा है, अर्थात् चट्टान के स्तर वलित अवस्था में हैं, भ्रंशित अवस्था में हैं, गुम्बदीय अवस्था में हैं, या एकदिनत अवस्था में हैं आदि। इस तरह चट्टान की स्थिति द्वारा उच्चावच का सामान्य प्रारूप (General pattern) निश्चित होता है।

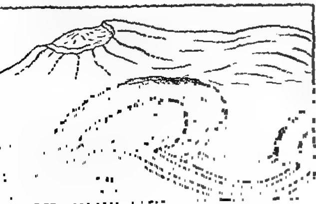
वलित संरचना (*Folded structure*)- सम्पीडनात्मक बल के कारण अवसादी शैल की परतें वलित होकर अपनति (Anticlines) तथा अभिनति में बदल जाती हैं। परन्तु कभी-कभी वलन में जटिलता के कारण संरचना अत्यन्त जटिल हो जाती है। सामान्य रूप में प्रारम्भ में वलित संरचना पर **जालीनुमा प्रवाह प्रणाली (Trellis drainage pattern)** का आविर्भाव होता है, जिसके अन्तर्गत अनुवर्ती (Consequent), परवर्ती

(*Subsequent*), प्रत्यनुवर्ती (*Obesquent*), नवानुवर्ती (Resequent), आदि सरिताओं का आविर्भाव होता है। लम्बे समय तक अपरदन के कारण **उच्चावच्च प्रतिलोमन** (Inversion of Relief) हो जाता है, जिस कारण अपनति के स्थान पर अभिनति तथा अभिनति के स्थान पर अपनति का निर्माण होता है। चक्र के अन्त में **अपनतीय कटक** (Anticlinal ridges), **अपनतीय घाटियाँ** (Anticlinal valleys), **अभिनतीय कटक** (Synclinal ridges), **अभिनतीय घाटियाँ** (Synclinal valleys) **एकदिग्नत कटक** (Homoclinal ridges) तथा **एकदिग्नत घाटियों** (Homoclinal valleys) का निर्माण होता है इस तरह की स्थलाकृति का विकास जूरा पर्वत तथा द० अप्लेशियन पर्वत पर हुआ है। विशेष अध्ययन के लिए



चित्र 28—वलित संरचना पर स्थलाकृति का विकास। देखिये अध्याय 21 का 'वलित पर्वत पर स्थलाकृतिक चक्र' शीर्षक।

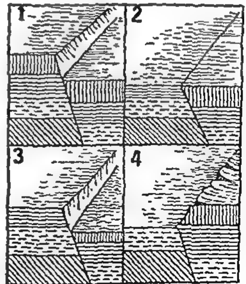
गुम्बदीय संरचना (Domal structure)—गुम्बदीय संरचना का आविर्भाव प्रायः दो रूपों में होता है—प्रथम



चित्र 29—गुम्बदाकार संरचना पर स्थलाकृति का विकास।

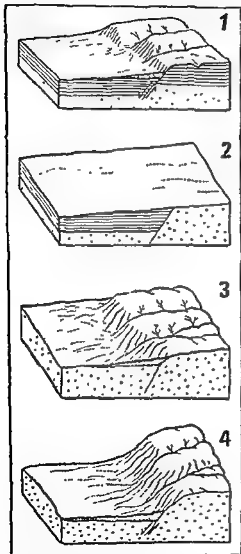
पटल विरूपण (*Diastraphism*) के कारण धरातलीय भाग में **उत्संवलन** (Upwarping) के कारण उभार होने से तथा द्वितीय, आग्नेय शैल के धरातल के नीचे प्रवेश के कारण। लम्बे समय तक अनाच्छादन के चलते रहने से निचली संरचना खुल जाती है, जिस पर **हागबैक, क्वेस्टा** तथा **कटक** का निर्माण होता है। उत्संवलन के कारण उत्पन्न गुम्बदीय संरचना पर **अरीय या केन्द्रत्यागी प्रवाह-प्रणाली** (Radial or Centrifugal drainage Pattern) का विकास होता है जिसके अन्तर्गत ढाल के अनुसार प्रवाहित होने वाली अनुवर्ती, परवर्ती, प्रत्यनुवर्ती तथा नवानुवर्ती सरिताओं का निर्माण होता है। अपरदन के कारण **हागबैक** तथा **क्वेस्टा** का निर्माण होता है। विशेष अध्ययन के लिए देखिये अध्याय 21 का शीर्षक 'गुम्बदाकार पर्वत पर नदीय अपरदन चक्र'।

भ्रंशित संरचना (Fault-structure)—भ्रंशन की प्रक्रिया के अन्तर्गत **भ्रंश रेखा** (Fault Plane) के सहारे चट्टानी स्तर के विभिन्न गति से संचलन के कारण कई प्रकार के भ्रंश का निर्माण होता है। यहाँ पर सामान्य भ्रंश तथा ग्राबेन का उदाहरण लिया जा रहा है। सामान्य भ्रंश के अन्तर्गत भ्रंश रेखा के सहारे एक खण्ड नीचे सरक जाता है जिस कारण **भ्रंश कगार** (Fault Scarp) का निर्माण होता है। यह स्थलरूप निश्चय ही **संरचनात्मक**



चित्र 30—भ्रंश रेखा कगार के प्रकार तथा उनकी उत्पत्ति। 1. सामान्य या अनुवर्ती, 2 अपरदन कगार, 3 नवानुवर्ती, 4 प्रत्यानुवर्ती भ्रंश रेखा कगार।

(Structural) है। इस पर अपरदन होने से विभिन्न प्रकार के अपरदनात्मक स्थलरूपों का निर्माण होता है। इनमें प्रमुख है—1. सामान्य या अनुवर्ती भ्रंश रेखा कगार (Consequent fault line scarp)—भ्रंश निर्माण के बाद अधःक्षेपित खण्ड (Down thrown block) पर अपरदन के कारण कमजोर शैल के कट जाने से सामान्य भ्रंश रेखा कगार का निर्माण होता है।



चित्र 31 मिश्र कगार के निर्माण की अवस्थायें 1 भ्रंश कगार का निर्माण, 2 अपरदन द्वारा भ्रंश कगार का विलयन 3. अपरदन से नवीनीकरण *(Renewal)* के कारण नवानुवर्ती कगार का निर्माण तथा 4 भ्रंशन के कारण भ्रंश कगार का निर्माण।

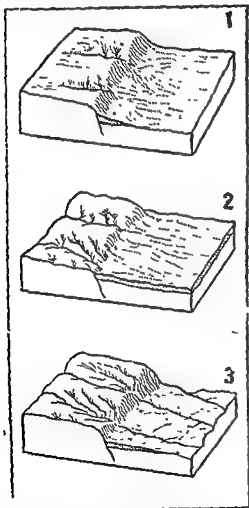
इस अपरदनात्मक कगार की दिशा मौलिक भ्रंश कगार के अनुरूप ही होती है 2 प्रत्यनुवर्ती (Obsequent) भ्रंश रेखा कगार —इसकी स्थिति मौलिक भ्रंश कगार की विपरीत दिशा में होती है। इसका निर्माण उत्क्षेपित खंड (Upthrown block) पर कोमल चट्टान के कट जाने से होता है। इसका निर्माण बाद में होता है जिस कारण ऊँचाई में गिरावट आ जाती है। 3 नवानुवर्ती (Resequent) भ्रंश रेखा कगार का निर्माण और बाद में उस समय होता है जबकि अपरदन होने से प्रत्यनुवर्ती कगार की दिशा में पूर्ण विलोम (Reversal) स्थिति आ जाती है। इसका निर्माण तभी हो सकता है जबकि आधार-तल (Base level) में गिरावट आ जाय तथा निम्नवर्ती अपरदन (Downward erosion) सक्रिय हो जाय। इसकी दिशा वही होती है जो कि अनुवर्ती कगार की तथा दोनों देखने में एक से लगते हैं तथा उनमें अन्तर स्थापित करना कठिन हो जाता है। 4. मिश्रित (Composite) भ्रंश रेखा कगार– जब कोई एकाकी कगार का कुछ भाग भ्रंश सतह (Fault surface) वाला होता है तथा शेष भाग अपरदनात्मक सतह वाला होता है तो उसे लाबेन (1917) ने मिश्रित भ्रंश रेखा कगार की संज्ञा प्रदान की है। इस तरह के कगार का निर्माण उस समय होता है जबकि भ्रंशन के कारण भ्रंश कगार (Fault scarp) के बन जाने के बाद भ्रंशन की क्रिया स्थापित हो जाती है तथा अधःक्षेपित खण्ड में काफी नीचे तक कोमल शैल होती है, परिणामस्वरूप लम्बे समय तक अपरदन के कारण कगार का नीचे की ओर विस्तार हो जाता है और ऊपरी भाग भ्रंशन जनित (Faulted) होता है तथा निचला भाग अपरदन जनित (Eroded) होता है। मिश्रित कगार का निर्माण दूसरी तरह भी हो सकता है। भ्रंशन के कारण भ्रंश कगार का निर्माण होता है। बाद में अपरदन के कारण भ्रंश कगार का लोप हो जाता है। पुन अपरदन के जारी रहने से नवानुवर्ती (Resequent) भ्रंश रेखा कगार का निर्माण होता है। इसी बीच भ्रंशन पुन. प्रारम्भ हो जाती है जिस कारण पहले वाली दिशा में ही अधःक्षेपित खण्ड और नीचे सरक जाता है जिस कारण मिश्र कगार का निर्माण होता है जिसमें ऊपर अपरदन जनित कगार तथा नीचे भ्रंश जनित कगार होते हैं।

5 पुनर्जीवित (Resurrected) या अनावृत (Exhumed) भ्रंश रेखा कगार - कुछ विशेष परिस्थितियों में भ्रंश-कगार के निर्मित हो जाने के बाद

उत्क्षेपित खण्ड (Upthrown block) के सामान्य अपरदन से प्राप्त अवसाद के कारण कगार (Scarp) ढक जाने के कारण तिरोहित हो जाता है, परन्तु बाद में अपरदन के कारण मलवा के आवरण के हटा लिये जाने के कारण पूर्व निर्मित कगार पुन: दृष्टिगत होने लगता है। इस तरह के कगार को पुनरुज्जीवित या अनावृत्त कगार कहते हैं।

समनत या एकदिग्नत संरचना (Uniclinal Structure)

समनत (Homoclinal) या एकदिग्नत संरचना उसे कहते हैं जिसमें सामान्य प्रादेशिक झुकाव (General regional tilt) के कारण चट्टानों के स्तरों में समान कोण पर झुकाव हो गया हो। इस संरचना का अस्तित्व अत्यधिक गहराई तक रहता है तथा कई प्रकार की चट्टानें इससे प्रभावित होती है। कठोर तथा कोमल शैलें समान रूप से इस संरचना में पायी जाती है तथा कभी-कभी इनकी स्थितियाँ एकान्तर (Alternate) रूप में पायी जाती हैं। ऐसी स्थिति में विशेषक अपरदन (Differential erosion) अधिक होता है, परिणामस्वरूप कोमल शैल के सहारे नदियाँ अपना मार्ग बनाती हैं (जैसे यदि कोमल मृत्तिका—Clay तथा असंगठित रेत—incoherent sand के साथ बालुका-प्रस्तर, चूनाप्रस्तर आदि क्रम में पाये जायें) तथा नतिलम्ब घाटियाँ (Strike vales) बन जाती है और कठोर चट्टानें अपरदन से कम प्रभावित होने के कारण ऊपर उठी रहती है, जिससे हागबैक, क्वेस्टा तथा कटक (Ridge) बन जाते हैं। प्रवाह प्रणाली का रूप जालीनुमा (Trellis) हो जाता है।



चित्र 32—पुनरुज्जीवित कगार के निर्माण की अवस्थायें 1. भ्रंश कगार का निर्माण, 2 मलवा के कारण भ्रंश कगार का तिरोहित होना तथा 3. अपरदन के कारण मलवा के अनावरण से कगार का पुन: दृश्य होना।

3 चट्टान का संगठन या स्तर शैल विज्ञान सम्बन्धी विशेषताएँ (Composition and lithological Characteristics)

इस पहलू के अन्तर्गत चट्टान की रासायनिक बनावट, कठोरता (मसेद्यम), प्रवेश्यता, रंध्रता, आदि का अध्ययन किया जाता है। वास्तव में यदि शैल का स्वभाव उच्चावचन के सामान्य रूप को निर्मित करता है तो शैल संगठन या स्तर शैल विज्ञान सम्बन्धी विशेषतायें स्थलाकृतिक बारीकियों (Topographic details) का निर्माण करती हैं।

चट्टान की कठोरता—चट्टान की कठोरता सापेक्ष (Relative) होती है। कोई चट्टान किसी परिस्थिति में कठोर (Resistant) हो सकती है और वही दूसरी परिस्थितियों में कोमल हो सकती है। जैसे चूना प्रस्तर (Limestone) उष्णार्द्र प्रदेश में जल के कारण (घुलन क्रिया) कमजोर हो जाता है, परन्तु उष्ण शुष्क प्रदेश में जल के अभाव में अपेक्षाकृत कठोर होता है। सामान्य रूप में कोमल शैल का अपरदन कठोर शैल में अधिक होता है। मृत्तिका (clay) का शीघ्र अपरदन हो जाने से निम्न भाग या बेसिन का निर्माण होता है परन्तु यह स्थिति तभी सम्भव हो सकती है जबकि मृत्तिका की स्थिति कठोर चट्टानों के बीच होती है। खरिया शैल पर ऊर्मिल पृष्ठ (Rolling surface) वाली स्थलाकृति का निर्माण होता है। इतना ही नहीं, इस पर धरातलीय जल के लुप्त हो जाने के कारण विचित्र स्थलाकृति का निर्माण

होता है। इसके विपरीत अपेक्षाकृत कठोर शैल पर दृढ़ स्थलाकृति (Bold Topography) का निर्माण होता है। यदि सभी स्थितियाँ समान रहें तो कठोर शैल पर उच्च स्थलरूपों का निर्माण होता है परन्तु लम्बी अवधि तक अपरदन के कारण इसका भी नाश हो जाता है तथा समतलप्राय सतह का निर्माण होता है।

रासायनिक संरचना—चूना प्रस्तर में कैल्शियम कार्बोनेट की अधिकता के कारण घुलनशीलता अधिक हो जाती है जिस कारण उस पर जल का प्रभाव शीघ्र हो जाता है। धरातलीय सतह पर सिंक होल के जरिये जल नीचे चला जाता है और इस तरह से ऊपर तथा नीचे विशिष्ट प्रकार की स्थलाकृति का निर्माण हो जाता है, जिसे कार्स्ट स्थलाकृति कहते हैं।

भेद्यता-अभेद्यता—(Permeability Impermeability)—भेद्य या प्रवेश्य शैल पर सतह पर जल कम रह पाता है क्योंकि जल रिस कर नीचे चला जाता है और सतह पर वाही जल (Run off) की न्यूनता हो जाने से अपरदन कम हो पाता है, उदाहरण के लिए चूना प्रस्तर, डोलोमाइट तथा खड़िया शैल। इसके विपरीत अभेद्य या अप्रवेश्य शैल में जल के कम रिसने के कारण सतह पर वाही जल की अधिकता होने से अपरदन का कार्य बढ़ जाता है।

स्तरीकरण (Stratification)—यदि शैल में स्तरों (Beds) का विकास हो गया है और स्तर कठोर तथा क्षैतिज हैं, जैसे कि बालुका प्रस्तर, तो उस पर मेज के आकार वाली स्थलाकृति (Tabular topography) बन जाती है। यदि बालुका प्रस्तर तथा शैल (Shale) क्रम से ऊपर-नीचे स्तरीकृत अवस्था में मिलते हैं तो सोपानाकार स्थलाकृति (Step like-scarp and bench topography) का निर्माण होता है। यदि शैल कठोर, अभेद्य तथा अघुलनशील है तो उस पर गोलाकार स्थलाकृति (Rounded Topography) बन जाती है। कठोर क्वार्टजाइट पर दंताकार स्थलाकृति (Tooth-like topography) का निर्माण होता है।

यदि मुलायम शैल के ऊपर प्रतिरोधी शैल का आवरण छत्रक शैल (caprock) के रूप में होता है तो तीव्र ढाल वाले कगारों का निर्माण होता है। भाण्डेर पठार (चित्र 15, अध्याय 2), रीवा पठार तथा रोहतास पठार के ऊपरी भाग पर विन्ध्यन युग के बालुका प्रस्तर का मोटा आवरण पाया जाता है जिसके नीचे शैल (shale) तथा चूना प्रस्तर का जमाव मिलता है। परिणामस्वरूप इन प्रदेशों में वृहत् खड़े ढाल वाले कगारों का निर्माण हुआ है। दामोदर बेसिन में लुगु पहाड़ी, मोरचा तथा महुदी पहाड़ियों के शीर्ष भाग सपाट तथा चौरस हैं जो गोण्डवाना युग के बालुका प्रस्तर का बना है। इस आवरण के नीचे कमजोर शैल पायी जाती है। परिणामस्वरूप इन पहाड़ियों के चारों ओर तीव्र ढाल वाले कगारों का निर्माण हुआ है। जहाँ पर ग्रेनाइट-नीस के ऊपर बेसाल्ट का आवरण है वहाँ पर तीव्र ढाल (90°) वाले कगारों का निर्माण हुआ है। छोटानागपुर के पाट प्रदेश में इस तरह के कगार जमीरा पाट, नेतरहाट पाट, खमार पाट आदि मेसा के किनारों पर निर्मित हुए हैं।

शैल संधि (Rock jointing)—सामान्य रूप से यह माना जाता है कि स्थल रूपों के लघु तथा वृहत् (micro and macro) रूपों को प्रभावित करने वाली शैल सम्बन्धी विशेषताओं में शैल संधि सर्वाधिक महत्वपूर्ण होती है। शैल संधि का प्रभाव भौतिक तथा रासायनिक दोनों तरह के अपक्षय पर होता है। अपरदन पर भी शैल संधि का प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दोनों तरह से प्रभाव होता है। पूर्ण विकसित संधियों वाली शैल प्रायः भेद्य होती है जिस कारण उसकी सतह पर जल की न्यूनता के कारण अपरदन कम हो जाता है। धरातलीय नदियाँ निश्चय ही संधि रेखा (joint-lines) से प्रभावित ही नहीं नियन्त्रित भी होती हैं। आयताकार प्रवाह-प्रणाली के विकास पर संधियों का प्रभाव सर्वाधिक परिलक्षित होता है जहाँ पर संधियों के सहारे अनेक सँकरे तीव्र पार्श्व वाले प्रवेश द्वार (Inlets) या ज्यो (Geo) बन जाते हैं।

संकल्पना 4

स्थलाकृतिक प्रक्रम स्थलरूपों पर अपनी विशेष छाप छोड़ते हैं तथा प्रत्येक स्थलाकृतिक प्रक्रम स्वयं का स्थलरूपों का विशिष्ट समुदाय विकसित करता है। [Geomorphic processes leave their distinctive imprints upon landforms and each geomorphic process develops its own characteristic assemblage of landforms]

स्थलाकृतिक प्रक्रम (Geomorphic process)

कुछ भू-आकृति विज्ञानवेत्ता स्थलाकृतिक प्रक्रम तथा स्थलाकृतिक कारक (Geomorphic agent) को अलग-अलग अर्थों में प्रयुक्त करते हैं। थार्नबरी के अनुसार स्थलाकृतिक प्रक्रिया (Geomorphic process) उन सभी भौतिक तथा रासायनिक परिवर्तनों को कहते हैं, जिनके द्वारा धरातलीय सतह प्रभावित होती है। स्थलाकृतिक

कारक वह प्राकृतिक माध्यम (Medium) होता है जो कि सतह से पदार्थ प्राप्त करके उन्हे परिवहन करने में समर्थ होता है। लेखक के विचार मे भ्वाकृतिक प्रक्रम तथा कारक को समानार्थी समझना चाहिए। जिन प्रक्रियाओ या तरीकों से ये प्रक्रम भूतल पर परिवर्तन लाते है उन्हे **कार्य विधि** (Method of operation) नामावली दी जा सकती है। इन भ्वाकृतिक प्रक्रमो को उत्पत्ति-स्थल के आधार पर तीन वर्गो मे विभाजित किया जाता है। 1. पृथ्वी की सतह पर उसके वायुमण्डल मे उत्पन्न होने वाले प्रक्रमो को **बहिर्जात प्रक्रम** (Epigene—लासन द्वारा, Exogenous—पेंक द्वारा) कहा जाता है। इनके अन्तर्गत सरिता, भूमिगत जल, हिमानी, परिहिमानी, पवन तथा स्थायी जलभण्डारों (झील, सागर तथा महासागर) की गतियों (तरंग, धारा, ज्वार-भाटा तथा सुनामिस) को सम्मिलित किया जाता है। इन्हे **गतिशील प्रक्रम** (Mobile process) भी कहा जाता है। क्योंकि ये एक स्थान से पदार्थों को प्राप्त करके उन्हे अन्यत्र जमा करते है। ये बहिर्जात प्रक्रम कुछ सीमा तक गुरुत्व द्वारा प्रभावित होते है। 2 पृथ्वी के अन्दर उत्पन्न होने वाले प्रक्रमो को **अन्तर्जात प्रक्रम** (Hypogene—लासन महोदय, Endogeneous—पेंक) कहा जाता है। इनके अन्तर्गत **पटलविरूपण** (Diastraphism) तथा **ज्वालामुखी-क्रिया** (Vulcanism) को सम्मिलित किया जाता है। 3 कुछ ऐसे प्रक्रम है जिनका सम्बन्ध न तो पृथ्वी के बाह्य भाग से है और न ही उसके आन्तरिक भाग से। इनमे प्रमुख है **उल्का** (Meteorites)। इसे **पृथ्वेतर प्रक्रम** (Extraterrestrial process) कहते है। इनमे से बहिर्जात प्रक्रम धरातल पर **समतलीकरण** (Planation) का काम करते है। अर्थात् अन्तर्जात बलों द्वारा धरातल पर उत्पन्न विषमताओ को दूर कर सतह को समतल बनाने का कार्य करते है। इस दौरान ये प्रक्रम दो विधियो से समतलीकरण करते है— 1 **निम्नीकरण** (Degradation) की क्रिया—अपक्षय तथा अपरदन क्रियाओं द्वारा। इसके अन्तर्गत भ्वाकृतिक प्रक्रम अपक्षय तथा अपरदन द्वारा ऊपर उठे भागों को काट कर निचली ऊँचाई पर समतल (Level down) करने का कार्य करते है। इस प्रक्रिया द्वारा प्रदेश की सामान्य ऊँचाई कम हो जाती है। 2 **निक्षेपण** (Aggradation) द्वारा **ऊँचाई पर समतलीकरण** (Level up) का कार्य होता है तथा प्रदेश की सामान्य ऊँचाई पर कोई अन्तर नही पडता है।

भ्वाकृतिक प्रक्रम

अ. बहिर्जात प्रक्रम (Epigene or Exogenous), समतलीकरण प्रक्रम (Gradational *or planation* Process) या अनाच्छादनात्मक (Denudational) प्रक्रम

1 निम्नीकरण (Degradation)
- (i) अपक्षय
- (ii) सामूहिक स्थानान्तरण (mass movement of rock waste)
- (iii) अपरदन
  - बहता जल
  - भूमिगत जल
  - तरंग, धारा, ज्वार-भाटा तथा सुनामिस
  - वायु
  - हिमानी
  - परिहिमानी

2 निक्षेपण (Aggradation)
- बहता जल
- भूमिगत जल
- तरंग, धारा आदि
- वायु
- हिमानी

ब. अन्तर्जात प्रक्रम (Hypogene or Endogeneous)

1 पटलविरूपण (Diastraphism)
- (i) महादेशजनक प्रक्रम (Epeirogenetic)
- (ii) पर्वतन प्रक्रम (Orogenetic)

स पृथ्वेतर (Extra terrestrial process)
- उल्का पात

प्रक्रमो की कार्य विधि (Mechanism *of the* processes) -बहिर्जात प्रक्रमो मे अपरदन करने वाले कारकों को **अपरदनात्मक प्रक्रम** (Erosional process) कहा जाता है तथा स्थलरूपों के निर्माण मे इनका महत्त्व सर्वाधिक होता है। अपक्षय तथा सामूहिक स्थानान्तरण के अन्तर्गत प्रक्रमो की कार्य-विधि का पूर्ण विवरण अध्याय **अपक्षय तथा सामूहिक स्थानान्तरण** के अन्तर्गत किया जायेगा। अपरदनात्मक प्रक्रमों को क्रिया-विधि का सारिणीबद्ध प्रदर्शन नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है—

प्रक्रम तथा स्थलरूप

उपर्युक्त विवरण से प्रक्रम का स्थलरूप के निर्माण के विषय मे प्रभाव तो प्रमाणित हो चुका है परन्तु उसके दो पहलुओ—प्रक्रम के कार्य करने की विधि तथा उसमे

प्राप्त सफलता का उल्लेख आवश्यक है। दूसरे शब्दों में प्रत्येक प्रक्रम के विषय में यह जानकारी होनी चाहिये कि कोई प्रक्रम विशेष किस रूप में कार्य करता है तथा वह कौन-कौन परिणाम उत्पन्न करता है अर्थात् किस प्रकार के स्थलरूप निर्मित होते हैं। उदाहरण के लिए नदी द्वारा विच्छेदित, वायु द्वारा अपरदित, हिमनद द्वारा हिमानीकृत आदि विवरण प्रत्येक प्रक्रम के कार्य के स्वभाव को इंगित करता है। प्राचीन काल में प्रक्रमों के सामूहिक कार्य तथा परिणामों पर ध्यान दिया जाता था परन्तु वर्तमान समय में प्रत्येक प्रक्रम का स्थलरूप के निर्माण में अलग-अलग अध्ययन किया जाता है। अर्थात् प्रत्येक प्रक्रम अपने अलग-अलग स्थलरूपों का निर्माण करता है। किसी प्रक्रम विशेष द्वारा निर्मित प्रत्येक स्थलरूप अपनी अलग-अलग विशेषतायें रखते है तथा एक प्रक्रम द्वारा उत्पन्न स्थलरूपों को अन्य प्रक्रमों द्वारा निर्मित स्थलरूपों से अलग किया जा सकता है। उदाहरण के लिए जलोढ पंख, बाढ के मैदान, डेल्टा, प्राकृतिक भित्ति (Natural levees), नदी विसर्प (River meanders) आदि नदी के कार्य के प्रतिफल हैं, घोल-रन्ध्र (Sink holes), डोलाइन, गुफायें, स्टैलेक्टाइट एवं स्टैलेग्माइट आदि भूमिगत जल द्वारा निर्मित स्थलरूप हैं। बालुका-स्तूप (Sand dunes), लोयस आदि वायु के कार्य को इंगित करते हैं और हिमोढ (Moraines) ड्रमलिन, एस्कर आदि हिमानीकृत स्थलाकृतियों के परिचायक हैं। इस तरह प्रत्येक प्रक्रम द्वारा अलग-अलग उत्पन्न स्थलरूपों तथा उनकी निश्चित वरन् एक दूसरे से अलग विशेषताओं द्वारा स्थलरूपों के आनुवंशिक वर्गीकरण (Genetic classification) में पर्याप्त सहायता मिलती है। भू-आकृति विज्ञान के क्षेत्र में इस पद्धति तथा विचार-धारा का सूत्रपात डेविस महोदय के द्वारा किया गया है। सामान्य रूप से भूपटल के स्थलरूपों को कुछ विशिष्ट नामावलियों (Terms) द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है। उदाहरण के लिए मैदान कटक (Ridge), गार्ज, ढाल, कगार (Scarp), स्तम्भ (Column), ढेर (Mound), टेबुल गर्तिका या गर्त, घाटी नाद या खड्ड (Troughs), छिद्र या रन्ध्र, गुफायें, स्तूप (Dune), सोपान, वेदिकायें। ये शब्द सामान्य रूप में स्थलरूपों का बोध कराते हैं परन्तु इनसे उनकी उत्पत्ति या भू-गर्भिक इतिहास का पता नहीं चल पाता है। अर्थात् इनका किस प्रक्रम द्वारा निर्माण हुआ? कब हुआ तथा किस अवस्था में हुआ? आदि प्रश्नों का समाधान नहीं हो पाता है। यदि इन स्थलरूपों के साथ उनके प्रक्रम का उल्लेख कर दिया जाय तो उनका विवरण साफ स्पष्ट हो जाता है। उदाहरण के लिए मैदान के साथ अगर बाढ लगा दिया जाय तो बाढ के मैदान (Flood plain) द्वारा ज्ञात होता है कि इस स्थलरूप का निर्माण तथा विकास नदी द्वारा बाढ के समय मलवा के जमाव या निक्षेप से हुआ है। इस तरह की नामावली प्रायः वर्णनात्मक हो जाती है जिससे स्थलरूप की उत्पत्ति तथा भू-गर्भिक इतिहास का पूर्णतया बोध हो जाता है। इसे ही आनुवंशिक (जननिक) वर्गीकरण कहा जाता है। इसी प्रकार अन्य उपर्युक्त स्थलरूपों के साथ उनके निर्माणक प्रक्रम को जोड़कर उन्हें निम्नरूपों में उपस्थित किया जा सकता है—बाढ का मैदान, शूकर कटक

अपरदनात्मक प्रक्रम-कार्य विधि

	प्रक्रम	मार्ग में पदार्थ की प्राप्ति विधि	मार्ग में अपरदनात्मक पदार्थों द्वारा अपरदन विधि	मार्ग में पदार्थों को आपस में टकराकर टूटन विधि	परिवहन विधि
1.	बहता जल	जलगति क्रिया	अपघर्षण, घुलन	सन्निघर्षण	ट्रैक्शन, साल्टेशन निलम्बन, घोल, तैराव
1.	भूमिगत जल		घुलन		घुलन
3	तरंग	जलगति क्रिया	अपघर्षण, घुलन	सन्निघर्षण	बहते जल की सभी विधि
4	पवन	उडाव (डिफ्लेशन)	अपघर्षण	सन्निघर्षण	ट्रैक्शन, साल्टेशन निलम्बन
5	हिमानी	Scouring	अपघर्षण	सन्निघर्षण	ट्रैक्शन, निलम्बन

नोट : अपरदनात्मक कार्य-विधि के विस्तरण के लिए अध्याय 20, 22, 23, 24, तथा 25 से विवरण प्राप्त किया जाय।

(Hogback ridge), नदी गार्ज, भ्रंश भ्रंश (Fault scarp), V आकार की घाटी घोल-रन्ध्र, बालुका स्तूप (Sand dunes), तरंगकृत सोपान (Wave-cut benches), दैत्याकार सोपान (Giant benches-Glaciated), नदी वेदिकायें जलज गर्तिका (Pot holes) आदि। स्थलाकृतिक प्रक्रमों की क्रिया विधि एवं उत्पन्न स्थलाकृतिक विशेषताओं के विशद विवरण के लिए देखिये इसी पुस्तक के अध्याय 20 22 23, 24 25 तथा 26

यह उल्लेखनीय है कि स्थलरूपों में उपर्युक्त प्रक्रमों (नदी, हिमनद, परिहिमानी, पवन, सागरीय तरंग) का निम्नीकरण-कार्य (Degradational work) ही अधिक प्रभावशाली होता है परन्तु प्रत्येक प्रक्रम के क्रियाशील होने अथवा अपरदन करने की एक सीमा होती है। इस सीमा को निम्नतम रेखा या आधार-तल कहा जाता है। विभिन्न प्रक्रमों का आधार-तल भिन्न-भिन्न होता है। नदी तथा सागरीय लहरों का आधार-तल, सागर-तल या सागर की ऊपरी सतह होती है। यद्यपि एक ही नदी में कई उप आधार-तल या स्थायनीय आधार-तल होते हैं परन्तु प्रत्येक नदी का एक स्थायी आधार-तल होता है, जो सागर-तल द्वारा ही निर्धारित होता है। अन्य प्रक्रमों के आधार-तल का निश्चयता के साथ निर्धारण करना कठिन कार्य है।

सकल्पना 5

जैसे ही भूतल पर विभिन्न अपरदनात्मक कारक कार्यरत होते हैं, क्रमिक स्थलरूपों, जिनके विकास की क्रमिक अवस्थाओं में विशिष्ट विशेषतायें होती हैं, का निर्माण होता है [As the different erosional *agencies act upon* the earth s surface there is produced a sequence of landforms having distinctive characteristics at the successive stages of their development— Thornbury]

अब हम देखेंगे कि कोई प्रक्रम किसी स्थलाकृतिक यूनिट पर किस अवस्था में कार्य कर रहा है? अर्थात् किसी स्थल-खण्ड पर प्रक्रम के कार्य की अवधि क्या रही है? यद्यपि अवधि का सही निर्धारण नितान्त कठिन कार्य है तथापि सन्निकरण के लिए उसका Radio active dating द्वारा पता लगाया जा सकता है। विभिन्न प्रकार के प्रक्रम किसी स्थलखण्ड पर विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न प्रकार के स्थलरूपों का सृजन करते हैं। डेविस महोदय ने इस विचारधारा का प्रतिपादन किया है कि स्थलरूप अपने विकास की विभिन्न अवस्थाओं में अलग-अलग विशेषतायें रखते हैं। इस तरह स्थलरूपों का विकास, प्रक्रम विशेष द्वारा विभिन्न अवस्थाओं में एक निश्चित प्रणाली (System) के अनुसार होता है। विकास की ये अवस्थाएँ क्रमिक या उत्तरोत्तर (Successive stages) होती हैं तथा डेविस महोदय ने इन्हें क्रमानुसार तीन अवस्थाओं में विभाजित किया है—1 युवावस्था या तरुणावस्था, 2 प्रौढ़ावस्था तथा 3 जीर्णावस्था या वृद्धावस्था। डेविस की इस नामावली पर पर्याप्त आलोचनायें हुई हैं। मानव-जीवन के साथ स्थलरूप के विकास-काल की तुलना नहीं की जा सकती है क्योंकि मानव-जीवन की तीन अवस्थाओं (तरुण प्रौढ़ तथा जीर्ण) का समय प्रायः निश्चित सा होता है तथा एक निश्चित अवधि के बाद एक अवस्था दूसरी अवस्था में परिणित होती जाती है। परन्तु स्थलरूप के साथ ऐसा सम्भव नहीं है, क्योंकि अगर कोई स्थलखण्ड कमजोर एवं कम प्रतिरोधी चट्टानों का बना हुआ है तो उस पर अपरदन शीघ्र हो जायेगा तथा प्रक्रम युवावस्था को शीघ्र ही पार करके प्रौढ़ावस्था में चला जायेगा। इसी प्रकार कोई प्रक्रम अधिक समय तक युवावस्था एवं प्रौढ़ावस्था में रह सकता है। इन्हीं कठिनाइयों के कारण वाल्टर पेंक महोदय ने अवस्था द्वारा अपरदन-चक्र के पूर्ण होने की क्रिया का विरोध किया है तथा स्थलरूप को संरचना, प्रक्रम एवं अवस्था का प्रतिफल न बताकर उसे स्थलखण्ड के उत्थान की दर एवं निम्नीकरण (Degradation) की दर के बीच के सम्बन्धों का प्रतिफल बताया है। इन आपत्तियों तथा आलोचनाओं के होते हुये भी अवस्था की विचारधारा को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है क्योंकि अवस्था का तात्पर्य किसी निश्चित समय की अवधि से नहीं है वरन् स्थलरूप के विकास-काल से है। अतः अवस्था का "अपरदन-चक्र" में या स्थलरूप के विकास में सापेक्षिक अर्थ में प्रयोग होता है न कि निरपेक्ष अर्थ में।

प्रत्येक अवस्था का समय एक-सा नहीं हुआ करता है। इसी प्रकार यदि कई स्थलखण्डों पर स्थलरूप अपने विकास की एक-सी अवस्था में है तो यह आवश्यक नहीं है कि सभी स्थलखण्डों पर चल रही एक-सी अवस्थाओं का समय समान होगा। पुनः दो स्थलखण्ड पर एक ही अवस्था में उनके स्थलरूप यद्यपि समान हो सकते हैं परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि एक से हों। यह तभी सम्भव हो सकता है जब कि उपर्युक्त दो स्थलखण्डों में प्रायः

म्भिक धरातल (Initial surface), चट्टानों की सरचना, प्रक्रम तथा जलवायु सम्बन्धी एवं स्थलविरूपण (Diastrophism) की दशाएँ पूर्णतया एक-सी हों। स्थानाभाव के कारण यहाँ तीन अवस्थाओं की विशद विवेचना सम्भव नहीं है परन्तु अपरदन के सामान्य चक्र (Normal cycle of erosion) के समय इनका वृहद् उल्लेख किया जायेगा। यहाँ पर सरचना, प्रक्रम तथा अवस्था की पूर्ण व्याख्या के पश्चात् इस सकल्पना की स्थापना की जा सकती है कि—**किसी स्थलखण्ड की सरचना पर क्रियाशील प्रक्रम (अपरदन के कारक) द्वारा एक अवस्था से या कई अवस्थाओं में विशेष प्रकार के स्थलरूपों का निर्माण तथा विकास होता है।** उदाहरण द्वारा इस तथ्य को प्रमाणित किया जा सकता है—

स्थलाकृतिक यूनिट के लिये एक ऐसे प्रतिवलित पर्वत को लिया जा सकता है जिसकी परतदार शैल विभिन्न सरचना वाली है उदाहरण के लिये बालुका पत्थर, शैल तथा चूने का पत्थर। यह क्षेत्र, उष्णार्द्र जलवायु वाले प्रदेश में है तथा अपरदन का प्रमुख प्रक्रम नदी है एवं चक्र अपनी युवावस्था में है तो डेविस महोदय के अनुसार जटिल सरचना वाले पर्वतीय भागों में नदी द्वारा (प्रक्रम) युवावस्था में विशिष्ट स्थलरूपों (गार्ज V आकार की घाटी, प्रपात) का निर्माण होगा। यदि उपर्युक्त विशेषता वाले दो अलग-अलग स्थलखण्ड हैं तो उन पर उत्पन्न उच्चावच्च (समान सरचना पर एक ही प्रक्रम द्वारा युवावस्था में) समान होंगे। इनमें से किसी भी एक कारक में परिवर्तन करने पर स्थलरूपों में परिवर्तन आ जायेगा। यदि दो स्थलखण्डों में सरचना तथा प्रक्रम समान है परन्तु प्रथम स्थलखण्ड में निम्नीकरण (Degradation) द्वितीय की अपेक्षा अधिक समय तक हुआ है (अर्थात् अवस्था में परिवर्तन हो गया है) तो प्रथम स्थलखण्ड का उच्चावच्च द्वितीय की अपेक्षा अधिक प्रौढ़ होगा। इस आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि समान सरचना पर समान प्रक्रम द्वारा प्रथम अवस्था में उत्पन्न स्थलरूप युवा या तरुण होता है तथा अपरदन के इतिहास या समय के साथ-साथ वह प्रौढ़ तथा जीर्ण होता जाता है। इस विवरण के आधार पर डेविस की यह विचारधारा कि स्थलरूप, सरचना, प्रक्रम तथा अवस्था का परिणाम होता है, प्रमाणित हो जाती है।

संकल्पना 6

स्थलरूपों के विकास में सरलीकरण की अपेक्षा जटिलताएँ अधिक होती है [Complexity of Geomorphic evolution is more common than simplicity Thornbury.]

सामान्य परिचय—"सरचना, प्रक्रम तथा अवस्था" की व्याख्या के समय स्थलरूप के निर्माण तथा विकास पर सामान्य रूप से प्रकाश डाला गया है। यहाँ पर इस तथ्य 'कि स्थलरूप के विकास में साधारणीकरण की अपेक्षा जटिलताएँ अधिक होती हैं,"[1] की ओर प्रोफेसर थार्नबरी ने इंगित किया है।[2] सैद्धान्तिक रूप से प्रत्येक प्रक्रम द्वारा अलग-अलग विशेषता वाले स्थलरूपों के विकास का उल्लेख तथा अध्ययन किया जाता है परन्तु प्रयोग में यह सत्य सिद्ध नहीं हो पाता है, क्योंकि किसी भी स्थलखण्ड पर केवल एक प्रक्रम ही सक्रिय नहीं होता है वरन् एक से अधिक होते हैं। यह अवश्य होता है कि एक ऐसा प्रभावशाली तथा प्रधान प्रक्रम (Process) होता है जो कि अन्य प्रक्रमों के ऊपर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेता है एवं स्थलरूप के विकास में अपनी विशिष्ट छाप छोड़ देता है। इसी तरह स्थलरूपों का विकास केवल एक ही अपरदन-चक्र का प्रतिफल या परिणाम नहीं होता है, वरन् कई चक्रों का प्रतिफल होता है क्योंकि बहुत कम ही ऐसे स्थलखण्ड हैं, जहाँ पर एक ही चक्र चल रहा हो। परन्तु यह भी तो हो सकता है कि कुछ अवधि के बाद वर्तमान चक्र पूर्ण हो जाय एवं निकट भविष्य में उसी स्थलखण्ड पर द्वितीय चक्र प्रारम्भ हो जाय। फलस्वरूप उत्पन्न स्थलरूपों में विषमताओं एवं जटिलताओं का होना आवश्यक है। यह सत्य है कि वर्तमान समय में अधिकांश स्थलाकृतियों का सृजन, वर्तमान अपरदन-चक्र द्वारा हुआ है परन्तु प्राचीन चक्रों से उत्पन्न स्थलरूपों के अवशेष भी इन स्थलाकृतियों में वर्तमान होते हैं। ये अवशेष अगले चक्र द्वारा परिवर्धित तथा परिमार्जित होकर अपने वास्तविक रूप में न होकर केवल चक्र के अवशिष्ट लक्षण के रूप में ही होते हैं। इस प्रकार स्थलरूपों में जटिलता का आविर्भाव मुख्य रूप से दो कारणों से होता है। प्रथम रूप में जटिलतायें एक ही स्थलखण्ड पर चक्र के दौरान कई प्रक्रमों के क्रियाशील होने से आती हैं। उदाहरण के लिये शुष्क मरुस्थलीय भागों में यद्यपि पवन अपरदन का प्रमुख साधन या

1:- Evolution of landscapes is more complex than simple

2. Complexity of geomorphic evolution is more common than simplicity.

कारक (Erosive agent) है तथापि थोड़ी भी वर्षा हो जाने पर बहते जल का कार्य सक्रिय हो जाता है। फलस्वरूप मरुस्थलीय पवनकृत स्थलरूपों (बालुकास्तूप, ज्युजेन, इन्सेलबर्ग) आदि के साथ ही साथ जलकृत स्थलरूप पेडीमेन्ट, बजाडा तथा प्लेया झील का भी निर्माण होता है। इसी तरह यदि हिमनद के क्षेत्र मे हिमानीकृत स्थलरूपों का विकास होता है तो हिम के पिघल जाने पर जलकृत स्थलरूपों (Fluvial landforms) का भी निर्माण होता है। द्वितीय रूप मे स्थलरूपों मे जटिलताओं का सूत्रपात कई उत्तरोत्तर चक्रों (Successive cycles) के कारण हो जाता है। उपर्युक्त आधार पर स्थलरूपों को सामान्य, मिश्रित आदि कई भागों मे विभाजित किया जा सकता है। हारवर्ग महोदय ने स्थलरूपों के विकास के आधार पर पाँच भागों मे विभक्त किया है—

1 साधारण भूदृश्य (Simple Landscapes)
2 मिश्रित भूदृश्य (Compound Landscapes)
3 एक चक्रीय भूदृश्य (Monocyclic Landscapes)
4 बहुचक्रीय भूदृश्य (Multi-cyclic Landscapes)
5 अनावृत्त या पुनर्जीवित भूदृश्य (Exhumed or Resurrected Landscapes)

1 **साधारण भूदृश्य**—साधारण भूदृश्य या स्थलरूप वह होता है, जिसमे जटिलतायें अनुपस्थित होती हैं एव जिनका निर्माण तथा विकास एक चक्र के दौरान केवल एक ही प्रक्रम द्वारा होता है। उदाहरण के लिये यदि परतदार शैल वाली संरचना को लिया जाय, जिसमे चट्टान के स्तर साधारण कोण पर झुकते हों तथा उस पर यदि नदी द्वारा अपरदन कार्य प्रारम्भ हो तो उस पर सामान्य सोपानाकार स्थलरूप का विकास होगा। वास्तव मे साधारण स्थलरूप का विकास (केवल एक प्रक्रम द्वारा) सम्भव नहीं है। परन्तु साधारणीकरण के लिये उस स्थान विशेष पर सर्वप्रधान प्रक्रम के प्रभुत्व के आधार पर स्थलरूप के विकास का अध्ययन किया जाता है। उदाहरण के लिये यदि बहते हुये जल द्वारा किसी स्थलरूप का निर्माण होता है तो उसमे यद्यपि जल का कार्य सर्वप्रधान होता है तथापि उनमे अपक्षय तथा भग्न चट्टान चूर्ण के सामूहिक स्थानान्तरण तथा पवन द्वारा विघटित पदार्थों को अलग करने के कार्य भी सहयोग प्रदान करते हैं। इसी तरह चूने की चट्टान वाले क्षेत्र मे स्थलरूप के निर्माण मे भूमिगत जल द्वारा घोलीकरण का सर्वाधिक योगदान होता है परन्तु धरातलीय जल (Surface water) तथा अपक्षय का भी स्थलरूप के निर्माण मे सहयोग रहता है। उपर्युक्त आधारों पर यह कहना उचित ही है कि स्थलरूप का विकास केवल एक प्रक्रम द्वारा नहीं होता है वरन् कई प्रक्रमों के सामूहिक कार्य का परिणाम होता है।

2 **मिश्रित स्थलरूप**—जब किसी स्थलरूप का निर्माण एव विकास एक से अधिक प्रक्रमों के सहयोग मे होता है तो स्थलरूप को मिश्रित स्थलरूप कहा जाता है। वास्तव मे प्रयोग मे मिश्रित स्थलरूप ही अधिक पाये जाते हैं। हिमानीकरण के समय हिमानीकृत स्थलखण्डों पर मिश्रित स्थलरूपों की अधिकता होती है। ऐसे स्थलों पर ऊपरी भागों मे हिमानीकृत जमाव तथा अपरदन वाले स्थलरूपों का विकास होता है, साथ ही साथ नदियों की घाटियों मे नदीकृत स्थलरूपों का निर्माण होता है। स्थान-स्थान पर पवन विघटित पदार्थों को उड़ा ले जाती है तथा उन्हें अन्यत्र जमा कर देती है। फलस्वरूप पवनकृत स्थलरूप भी दृष्टिगत होते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका के ऊटा, न्यूमेक्सिको, एरिजोना एव नवादा प्रान्तों म मिश्रित स्थलरूपों के कई उदाहरण मिलते हैं। नदियों द्वारा निर्मित स्थलाकृतियों के अन्दर ज्वालामुखी-शकु तथा लावा-प्रवाह से निर्मित आकार मिलते हैं। इसके साथ ही साथ स्थान-स्थान पर धरातलीय भागों मे भ्रंशन के कारण कगार (Scarp) पाये जाते हैं जो कि मिश्रित स्थलरूप के ही उदाहरण हैं।

3 **एक चक्रीय स्थलरूप**—एक ही अपरदन-चक्र द्वारा उत्पन्न स्थलाकृति को एक चक्रीय स्थलरूप कहा जाता है। साधारण स्थलरूप के समान ही इस प्रकार के स्थलरूप का प्रायोगिक दृष्टि मे बहुत ही कम महत्त्व है क्योंकि भूपटल पर अधिकांश स्थलरूप कई चक्रों के ही परिणाम हैं। सागरीय तटीय भागों (Coastal plains) मे एक चक्रीय स्थलाकृति देखने को मिल सकती है, बशर्ते कि उस तटीय मैदान मे तट रेखा के कई बार निर्गमन (Emergence) तथा अधोगमन (Submergence) द्वारा पर्याप्त परिवर्तन उपस्थित हो गये हों। ज्वालामुखी के उद्गार से निसृत लावा-प्रवाह के कारण लावा मैदान तथा पठार ज्वालामुखी शकु, हाल ही मे उठे हुए गुम्बद आदि स्थलखण्डों मे एक चक्रीय स्थलाकृति देखने को मिल सकती है। एक चक्रीय स्थलरूप साधारण भी हो सकता है तथा मिश्रित भी।

4 **बहुचक्रीय स्थलरूप**—कई अपरदन चक्रों द्वारा बने हुए स्थलरूपों को बहुचक्रीय स्थलरूप कहते हैं।

भूपटल पर अधिकाश स्थलरूप एक से अधिक चक्र के ही परिणाम है। यह उल्लेखनीय है कि प्राचीन चक्रो के स्थलरूप अपनी मौलिक स्थिति मे नहीं मिलते हैं वरन उनके अवशेष मात्र ही दृष्टिगत होते है। कई ऐसे लक्षण होते है जिनके सहारे बहु-चक्रीय स्थलरूपो की पहचान हो जाती है। उदाहरण के लिए कई स्थानो पर घाटी के अन्दर घाटी मिलती है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि प्रथम चक्र की अन्तिम अवस्था मे क्षैतिज कटाव से घाटी अत्यन्त चौडी हो गई थी परन्तु उत्थान के कारण नवोन्मेष होने से नदियो के निम्नकटाव की शक्ति बढ गयी होगी तथा निम्नीकरण (Degradation) द्वारा चौड़ी घाटी के अन्दर नयी सकरी घाटी का निर्माण हो गया होगा। इस प्रकार की घाटी को द्विचक्रीय घाटी (Two cyclic valley) कहा जाता है। इसी प्रकार कई चक्रो के सम्पादन के कारण नदियो मे क्रमिक नदी वेदिकाये (Successive river terraces) का निर्माण होता है तथा ये वेदिकायें प्रतिरोधी चट्टानो द्वारा बनी सरचनात्मक वेदिकाओ या सोपानो (Structural benches) से भिन्न होती हैं। कई अपरदन-चक्रो के कारण ऊपर से नीचे अर्थात् प्राचीन से अर्वाचीन कई समप्राय मैदानो का निर्माण होता है। अप्लेशियन क्षेत्र मे लगभग चार अपरदन-चक्र पूर्ण हो चुके हैं तथा यहां के स्थलरूप एव उच्चावच्च बहु-चक्रीय स्थलरूप के प्रमुख उदाहरण हैं। प्रारम्भिक समय से लेकर अब तक स्कूली पेनीप्लेन, हैरिसबर्ग पेनीप्लेन तथा सामरविली पेनीप्लेन का अध्ययन किया जा चुका है। वर्तमान सागरीय किनारो पर ऊपर स्थित तरग-कृत वेदिकायें बहुचक्रीय स्थलरूप को प्रकट करती है। रांची पठार पर बहु-चक्रीय स्थलाकृति का निर्माण हुआ है। हजारीबाग पठार पर राजरप्पा के पास जहां पर भेड़ा नदी जल-प्रपात बनाती दामोदर नदी मे गिरती है वहां पर दामोदर घाटी पुनर्युवनित घाटी का उदाहरण प्रस्तुत करती है। दामोदर नदी ने अपनी पुरानी विस्तृत घाटी के अन्दर नवीन संकरी घाटी का निर्माण किया है। इस प्रकार घाटी के अन्दर घाटी स्थलाकृति का निर्माण हुआ है तथा दोनो किनारो पर वेदिकायें पायी जाती हैं। यही पर आर्कियन युग की आग्नेय शैलो (ग्रेनाइट-ग्रीस) तथा गोण्डवाना युग की अवसादी शैलो (बालुका प्रस्तर, शेल, कोयला आदि) का सम्मिश्रण भी मिलता है। इसी तरह जबलपुर के पास नर्मदा नदी ने धुंआधार प्रपात (घाटी के अन्दर) के नीचे पुरानी घाटी (संगमरमर शैल पर) के अन्दर नवीन सकरी घाटी के रूप में भेड़ाघाट गार्ज का निर्माण किया। यहां पर, इस तरह, दो चक्रीय स्थलाकृति मिलती है।

5 पुनर्जीवित स्थलरूप—जब प्राचीन स्थलरूप पर आवरण हो जाता है तथा वह ढक जाता है परन्तु अपरदन या अन्य कारणो से जब यह आवरण हट जाता है तो पूर्व निर्मित स्थलरूप प्रकट हो जाते हैं। इन्हें पुनर्जीवित स्थलरूप कहा जाता है। प्लीस्टोसीन हिम-युग मे अधिकाश स्थलरूपो का हिमचादर से आच्छादन हो गया था तथा हिम के पिघलने के बाद प्राचीन स्थलरूपो का बाहर आना हुआ। इस संकल्पना के विस्तरण के लिए देखिये अध्याय 2 का अन्तिम शीर्षक एवं अध्याय 14 का शीर्षक—नवोन्मेष द्वारा उत्पन्न स्थलाकृति।

अध्याय 4

जलवायु भू-आकारिकी तथा आकारजनक प्रदेश

(Climatic Geomorphology and Morphogenetic Regions)

सामान्य परिचय

यद्यपि 'जलवायु भू-आकारिकी' की संकल्पना का सूत्रपात जर्मनी तथा फ्रांस में उन्नीसवीं शदी के अन्तिम भाग में ही हो गया था तथापि वर्तमान समय तक इसके विषय में कुछ मूलभूत समस्याओं का निराकरण अभी तक नहीं किया जा सका है। इस संकल्पना की पृष्ठभूमि चीन में बॉन रिक्तो फेन, अफ्रीका में पसर्ग जेसेन, वाल्टर तथा थोरबेक (Thorbecke) और मध्य अमरिका तथा मलेशिया में सेपर (Sapper) आदि भू-आकृति विज्ञानवेत्ताओ के कार्यों पर तैयार हो पायी थी। आगे चलकर डेविस ने भी शीतोष्ण जलवायु प्रदेश तथा शीतोष्णेतर प्रदेश के स्थलरूपों में अन्तर की पहचान की। परिणामस्वरूप जर्मन विद्वानों न यह प्रतिपादित किया कि जर्मनी में प्रत्येक जलवायु प्रदेश में विशेष प्रकार के स्थलरूपो का समुदाय विकसित होता है तथा एक जलवायु-प्रदेश के स्थलरूप दूसरे जलवायु प्रदेश के स्थलरूपो से भिन्न होते हैं। फ्रांस में भी स्थलरूपों के निर्माण तथा विकास में जलवायु को एक प्रमुख नियन्त्रक कारक के रूप में मान्यता मिली। इस तरह अनेक प्रमाणों तथा स्थलाकृतिक पर्यवेक्षणों (विभिन्न जलवायु प्रदेश में) के आधार पर यह प्रतिपादित किया गया है कि 'स्थलाकृतिक प्रक्रम जलवायु से प्रभावित तथा नियंत्रित होते हैं तथा प्रत्येक प्रकार की जलवायु अपना स्वयं का विशिष्ट स्थलरूपो का समुदाय उत्पन्न करती है'। विभिन्न प्रकार के जलवायु प्रदेशो में अपक्षय के प्रक्रम तथा उनके कार्य करने की दर, वनस्पति-प्रकार, वाही-जल (runoff) अपरदन का स्वरूप तथा दर तथा स्थलरूप के विकास सम्बन्धी प्रक्रियायें भिन्न-भिन्न होती हैं परन्तु इस संकल्पना को अभी तक पूर्ण मान्यता नहीं मिल सकी है। इस संकल्पना की पृष्ठ-भूमि निम्न आधारो पर केन्द्रित है।

1 विभिन्न जलवायु प्रदेशो में स्थलरूप एक दूसरे से पूर्णतया भिन्न होते हैं।

2. स्थलरूपो में यह विभिन्नता जलवायु के विभिन्न प्राचल (parameters) में क्षेत्रीय विचरण (areal variation) तथा उनके (जलवायु प्राचल) अपक्षय, अपरदन एवं वाही-जल पर प्रभाव के कारण होती है।

3 क्वाटरनरी में हुए महान जलवायु परिवर्तन के बावजूद जलवायु-स्थलरूप में सम्बन्ध के प्रमाण नष्ट नहीं हो पाये हैं।

जलवायु-जनित स्थलरूप जलवायु भू-आकारिकी की प्रमुख पहचान

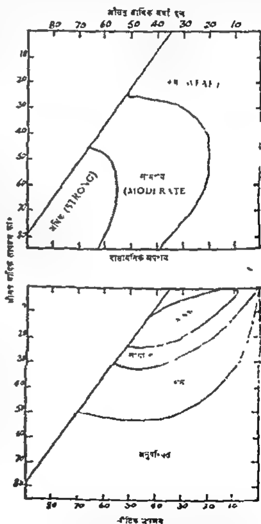
जलवायु भू-आकृति विज्ञानवेत्ताओ (climatic geomorphologists) ने ऐसे स्थलरूपों के चयन करने का प्रयास किया है जो खास प्रकार की जलवायु में ही निर्मित होते हैं। इनके आधार पर अन्य क्षेत्रों में जलवायु-स्थलरूप संबंध का अध्ययन किया जाता है। अतः ये स्थलरूप अपनी-अपनी जलवायु तथा जलवायु-प्रदेशों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन जलवायु-जनित नियन्त्रित (climatogenetic or climatically controlled) स्थलरूपों की पहचान दो रूपों में की जाती है—1 पूर्ण स्थलाकृति का सामान्य पर्यवेक्षण एवं ज्ञान तथा 2 विशिष्ट प्रकार के स्थलरूपो-अंगो (landform components) की पहचान। इनमें से विशिष्ट स्थलरूप-अंग ही जलवायु-भू-आकृति विज्ञानवेत्ता का प्रधान यत्न होता है जिनके आधार पर वह जलवायु-स्थलरूप के सम्बन्धो की पहचान करने में समर्थ हो पाता है। इस तरह के स्थलरूपो (diagnostic landforms) में लेटराइट सतह, इन्सेलबर्ग पेडीमेण्ट टार आदि को सम्मिलित किया जाता है। सामान्य रूप में लेटराइट का निर्माण उष्णार्द्र जलवायु में होता है। परन्तु कुछ लेटराइट सतह उपोष्ण कटिबन्धीय जलवायु-प्रदेशों में भी मिलती है। इन्सेलबर्ग को उष्ण कटिबन्धीय अर्द्ध शुष्क जलवायु का प्रतिनिधि माना जाता है परन्तु वर्तमान समय में इन्सेलबर्ग विभिन्न प्रकार के जलवायु-प्रदेश में पाये जाते हैं, जैसे उपोष्ण-आर्द्र (जार्जिया), उष्णार्द्र (गायना तट, द० भारत तथा ब्राजील), रेगिस्तानी क्षेत्र (प० उ० अमेरिका, द० प० अफ्रीका)। इस कारण इन्सेलबर्ग के उष्ण अर्द्ध शुष्क जलवायु के प्रतिनिधि होने में संदेह होने लगता है परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि जहाँ पर वर्तमान समय में इन्सेलबर्ग मिलते हैं उनका वर्तमान जल-

वायु से सम्बन्ध हो हो। हो सकता है कि वर्तमान जलवायु के पहले उनका निर्माण हुआ हो। पेडीमेण्ट को मरुस्थली स्थलाकृति का प्रमुख लक्षण माना जाता है परन्तु इस विषय पर भी अब पर्याप्त वैषम्य हो गया है। पेडीमेण्ट के निर्माण मे ढाल-निवर्तन (Slope retreat) तथा विवर्तनिक कारण (Tectonic cause) को जलवायु की अपेक्षा महत्व दिया जाता है। एल सी किंग ने भी बताया है कि पेडीमेण्टेशन की प्रक्रिया सार्वत्रिक है। कुछ का तो कहना है कि वर्तमान जलवायु (जिसमे पेडीमेण्ट मिलते हैं) ने पेडीमेण्ट को निर्मित करने के बजाय उन्हें नष्ट करने मे अधिक सहयोग दिया है। टार को पामर तथा नेलसन ने परिहिमानी जलवायु का प्रतिनिधि माना है परन्तु वर्तमान समय मे इङ्गलैण्ड के डार्टमूर क्षेत्र तथा निकारागुआ एवं रोडेशिया मे टार की उपस्थिति ने समस्या को सुलझाने की अपेक्षा उलझा दिया है।

सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि उपयुक्त-प्रतिनिधि स्थलरूप (representative landform/diagnostic landforms) प्लीस्टोसीन युग मे हुए जलवायु-परिवर्तनो से पुराने हैं, अतः जहाँ पर आज वे मिलते हैं, वहाँ की जलवायु से उनका सम्बन्ध नही जोड़ा जा सकता है। हिमानी तथा शुष्क स्थलाकृतियो का सम्बन्ध उनकी जलवायु से लगभग निश्चित हो गया है परन्तु अन्य जलवायु प्रकारों तथा प्रतिनिधि स्थलरूपो मे सहसम्बन्ध की स्थापना के लिए (आकारमितिक morphometric) प्रमाण पर्याप्त नही है।

भ्वाकृतिक प्रक्रम और जलवायु-नियंत्रण
(Geomorphic processes & climatic controls)

विभिन्न प्रकार की जलवायु मे विभिन्न प्रक्रम कार्यरत होते हैं तथा जलवायु मे विभिन्नता के साथ अपक्षय तथा अपरदन (परिवहन सहित) को प्रभावित करने वाले जलवायु के तत्वो की कार्य-विधि तथा प्रभावन मे भी अन्तर होता रहता है। जलवायु के तत्वों मे अब तक तापक्रम तथा वर्षा (व्यापक अर्थ मे आर्द्रता) को भ्वाकृतिक प्रक्रमों के नियंत्रक कारक के रूप मे मान्यता मिलती रही है। उच्च वार्षिक तापक्रम तथा वर्षा के कारण उष्णार्द्र क्षेत्रो मे अधिक गहराई तक रासायनिक अपक्षय अधिक सक्रिय होता है। लेकिन इन्हीं उष्ण कटिबन्धीय आर्द्र भागो मे तीव्र ढाल वाली अवनलिकाओ (gullies) तथा कैनियन का पाया जाना उपर्युक्त प्रक्रिया का विरोधाभास ही है। उष्णार्द्र भागों मे वनस्पति का नियंत्रण भी कम महत्वपूर्ण नही होता है। उच्च तापमान तथा वर्षा के कारण अत्यन्त तीव्र ढालो (70° से भी अधिक) पर भी वनस्पतियो का घना आवरण हो जाता है, जिस कारण भौतिक अपक्षय, चादर धुलन (Sheet wash) तथा मृदा-क्षरण (Soil erosion) की क्रियायें अत्यन्त शिथिल पड़ जाती हैं। वनस्पतियाँ नदियो की घाटियो के निचले भाग तक पहुँच कर नदी द्वारा होने वाले पार्श्विक अपरदन (lateral erosion) को कम कर देती हैं जिस कारण घाटी का चौड़ा होना शिथिल पड़ जाता है, परन्तु जहाँ कहीं भी वनस्पतियो का अनावरण हो

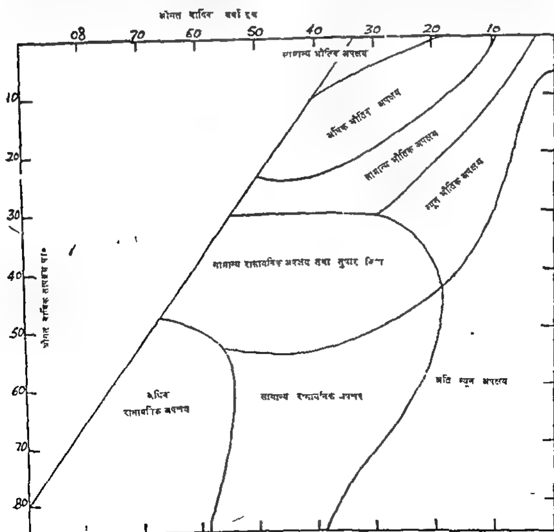


चित्र 33--(1) रासायनिक तथा (2) भौतिक अपक्षय पर वर्षा तथा तापक्रम सम्बन्धी विषमताओ का प्रभाव (पेल्टियर के अनुसार)

गया है, निम्नवर्ती अपरदन (Vertical erosion) अधिक होने लगता है। सेपर (1935), फ्रीस (1935) तथा वेन्टवर्थ (1928) ने भी उष्णार्द्र जलवायु में उच्च तापमान तथा वर्षा के कारण तीव्र रासायनिक अपक्षय तथा निम्न अपरदन को मान्यता दी है। अत्यधिक आर्द्रता के कारण मिट्टी अधिक गहराई तक सम्पृक्त हो जाती है, जिस कारण भूमि स्खलन, अवालांश, अवपात (Slumping) अधिक सक्रिय हो जाता है। चेम्बरलिन, टी० सी० तथा चेम्बरलिन आर० टी० (1910) ने उष्णार्द्र स्थलरूप तथा मध्य अक्षांशीय शीतोष्ण स्थलरूपों के बीच पर्याप्त अन्तर स्थापित किया है। उष्णार्द्र भागों में घाटी-पार्श्व घाटी-तली से अचानक ऊपर उठते हैं तथा उनके पदस्थली पर चट्टानों का ढेर या टालस नहीं होता है।

जल और तापक्रम के संयोग चूना प्रस्तर के अपक्षय को विभिन्न जलवायु में अलग-अलग प्रभावित तथा नियंत्रित करते हैं। उष्णार्द्र जलवायु में जल की अधिकता के कारण चूना प्रस्तर अपक्षय तथा अपरदन की दृष्टि से अत्यन्त कमजोर होता है क्योंकि रासायनिक अपक्षय अधिक सक्रिय होता है परन्तु उष्ण-शुष्क जलवायु में जल की अल्पता के कारण वही चूना प्रस्तर रासायनिक अपक्षय के अभाव में कठोर हो जाता है। शुष्क प्रदेशों में जल की कमी (परिणामस्वरूप मिट्टी की असम्पृक्तता के कारण मृदामर्पण Soil creep) आदि का अभाव होता है।

इतना ही नहीं, यहाँ तक कि किसी खास जलवायु प्रदेश में भी जलवायु के कारकों में इतना स्थानीय वैषम्य



चित्र 34—तापक्रम एवं वर्षा की विभिन्न दशाओं में अपक्षय के रूप (पेल्टियर के अनुसार)।

होता है कि उनका प्रभाव प्रक्रमों पर अवश्य पड़ता है। इनमें से ऊँचाई, दिशा तथा सूर्यातप महत्त्वपूर्ण प्रभावी कारक हैं। उत्तरी गोलार्द्ध में पूर्व-पश्चिम विस्तृत घाटी का दक्षिणी-दिशोन्मुख ढाल (अधिक सूर्यातप) उत्तरोन्मुख ढाल की अपेक्षा अधिक तीव्र होता है क्योंकि उत्तरोन्मुख ढाल पर कम सूर्यातप के कारण हिमावरण अधिक समय तक रहता है, हिमीकरण-हिमद्रवण (Freeze-thaw) कम होता है, वनस्पति आवरण अधिक होता है, परिणाम-स्वरूप अपक्षय तथा अपरदन कम होता है जबकि दक्षिणोन्मुख ढाल का अपक्षय तथा अपरदन अधिक होता है।

जल तथा तापक्रम अपक्षय को बड़े पैमाने पर प्रभावित करते हैं। उष्णार्द्र भाग में रासायनिक अपक्षय अधिकतम होता है जबकि शुष्क भागों में न्यूनतम। शीत भागों में भी रासायनिक अपक्षय न्यून होता है यद्यपि भौतिक अपक्षय में भी जल का सहयोग रहता है परन्तु यह वहीं पर अधिक सक्रिय होता है जहाँ पर या तो तापक्रम के कारण प्रसार एवं संकुचन होता रहता है या तुषार के कारण हिमीकरण-हिमद्रवण होता रहता है। इस तरह भौतिक अपक्षय उन क्षेत्रों में न्यूनतम होता है जहाँ पर तापक्रम इतना अधिक होता है कि जल का हिमीकरण सम्भव नहीं है और वहां पर जहाँ कि तापक्रम इतना नीचा होता है कि हिमद्रवण सम्भव नहीं है।

इसी तरह तापक्रम एवं वर्षा के विभिन्न संयोग अपरदन के प्रक्रमों तथा उनकी कार्य-विधि को प्रभावित करते हैं। अपरदन के प्रकार तथा उनकी सक्रियता मुख्य रूप से मिट्टी तथा शैल संस्तर (Bedrock) की भेद्यता एवं प्रवेश्यता शैल संस्तर (Rockbeds) की उघाड़, वनस्पति के प्रकार तथा मात्रा वाष्पीकरण तथा वाष्पोत्सर्जन की दर, वर्षा की मात्रा तथा तीव्रता व वर्षा देयक तूफान की आवृत्ति (Frequency) द्वारा प्रभावित एवं नियन्त्रित होते हैं।

इस तरह स्पष्ट है कि पेल्टियर तथा अधिकांश विद्वानों ने स्थलरूपों के नियन्त्रक कारक के रूप में जलवायु के दो प्राचल (Parameter), औसत वार्षिक तापक्रम तथा औसत वार्षिक जलवर्षा का चयन किया है। डॉ० आर० स्टोडार्ट[1] ने इस पुरानी पद्धति में परिमार्जन तथा संशोधन प्रस्तुत किया है। स्टोडार्ट ने बताया कि औसत वार्षिक जल वर्षा के स्थान पर स्थलाकृतिक कार्य के लिए सुलभ जल की मात्रा को महत्त्व दिया जाना चाहिए। अर्थात् वाष्पीकरण-वाष्पोत्सर्जन के बाद प्राप्त जल वर्षा की मात्रा ही स्थलाकृतिक प्रक्रमों को सुलभ हो पाती है, जिसका उपयोग वह अपने कार्य के सम्पादन के समय करता है। इस दिशा में शोर्ले तथा टैनर ने सराहनीय कार्य किये हैं।

जलवायु का आकारजनक प्रक्रमों पर प्रत्यक्ष प्रभाव

विभिन्न प्रकार की जलवायु में विभिन्न प्रक्रम कार्यरत होते हैं तथा जलवायु में विभिन्नता के साथ अपक्षय तथा अपरदन (परिवहन सहित) को प्रभावित करने वाले जलवायु के तत्त्वों की कार्य-विधि तथा प्रचालन (Operation) में भी अन्तर होता रहता है। जलवायु का अपक्षय पर प्रत्यक्ष प्रभाव तो होता ही है परिवहन तथा निक्षेप के प्रक्रम तथा प्रक्रियाएँ भी, यद्यपि स्वल्प मात्रा में ही सही प्रभावित होती हैं। कुछ विद्वानों द्वारा आकारजनक जलवायु की क्रियाविधि (Morphoclimatic mechanisms) का अध्ययन कुछ जलवायु प्रदेशों में किया गया है—

सर्वप्रथम तापक्रम का उदाहरण प्रस्तुत है। हिमांक (Freezing point) से उच्चतम तापक्रम में विभिन्न जलवायु प्रदेशों में महती अन्तर होता है। यदि तापक्रम 0° से० या 32° फा० होता है तो उसका परिणाम तुषार (Frost) होता है। वायुमण्डलीय तापमान तथा भौमिक विकिरण के सम्बन्धों पर तुषार निर्भर करता है। यदि रात्रि में तुषार के कारण जल का हिमीकरण (Freeze) तथा दिन में तापमान में वृद्धि के कारण हिमद्रवण (Thaw) होता है तो इस दैनिक हिमीकरण हिमद्रवण चक्र (Diurnal freeze and thaw cycle) के कारण क्रमशः प्रसार तथा संकुचन (दोनों स्थितियों में 10 प्रतिशत का अन्तर) होने से चट्टानों के छिद्रों में दबाव तथा तनाव की स्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जिस कारण ठोस चट्टानें तुषार अपक्षय (Frost weathering) के फलस्वरूप टूट जाती हैं।

जहां पर जमाव असंगठित होते हैं, इस क्रमिक हिमीकरण-हिमद्रवण का प्रभाव अत्यन्त दिलचस्प होता है। उदाहरण के लिए यदि मृत्तिका (Clay) में यह क्रिया होती है तो मृदासर्पण (Solifluction) प्रारम्भ

1. Stoddart, D. R., 1969 : Climatic Geomorphology in 'Water Earth and Man'. edited by R. J. Chorley, Methuen and Co Ltd., p. 478

हो जाता है। उदाहरणस्वरूप यदि किसी ढाल पर मृत्तिका में यह क्रिया होती है तो तुषार के कारण जमाव चिकने तथा ढीले हो जाते हैं। पिघलने पर मलवा ढाल के निचले भाग की ओर सरकने लगता है।

वाही-जल (Run-off) तथा भूमिगत अपवाह के नियन्त्रण में भी तुषार का प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिये उष्णार्द्र जलवायु में नदी के जल-प्रवाह में नियमितता होती है परन्तु तुषार बहुल जलवायु में नदी का प्रवाह तुषार में नियन्त्रित होकर अनियमित हो जाता है। शरद काल में हिमीकरण के फलस्वरूप न्यूनतम प्रवाह परन्तु ग्रीष्मकाल में हिमद्रवण के कारण अधिकतम प्रवाह होने से मौसमी परिवर्तन बढ़ जाता है। परिहिमानी जलवायु में शरद काल में परमाफास्ट की ऊपरी सक्रिय सतह (Active layer) भी जम जाती है परन्तु ग्रीष्मकाल में ऊपरी भाग पिघल जाता है परन्तु हिमद्रवित जल (Melt water) सक्रिय सतह में बहुत कम गहराई तक ही पहुँच पाता है। परिणामस्वरूप जल तीव्र वाही-जल के रूप में प्रवाहित होने लगता है जिस कारण मन्द ढाल पर भी नदी बड़े-बड़े पदार्थों का परिवहन करने में समर्थ हो जाती है।

वायु के कार्य पर भी तुषार का प्रभाव होता है। तुषार बहुल जलवायु में हिम के कारण पदार्थ संगठित होकर चिपक जाते हैं जिन्हें तीव्र पवन जैसे ब्लिजर्ड उड़ा ले जाती है परन्तु इस स्थिति के कारण वायु के अपघर्षण क्रियाविधि में परिवर्तन हो जाता है। गर्म शुष्क रेगिस्तानी भागों में वायु के अपवाहन (Deflation), अपघर्षण (abrasion), गर्तन (Pitting) आदि द्वारा जिस वेन्टीफैक्ट (तिपहल) का निर्माण होता है उस तरह की स्थलाकृति तुषार जलवायु में नहीं बन पाती है। जहाँ पर जमाव में श्रेणीकरण (Sorting) नहीं होता है अतः उष्ण शुष्क रेगिस्तानी जमाव तथा बालुकास्तूप वहाँ पर सम्भव नहीं हो पाते हैं। वहाँ पर निर्मित जमाव को नेवेशन-वायु निक्षेप (Niveo-eolian deposits) कहते हैं।

तुषार का प्रभाव तटीय प्रक्रमों पर भी होता है। तुषार के कारण (शरद काल) तटीय भाग की चट्टानें जम कर ठोस हो जाती हैं, परिणामस्वरूप वे तट की सागरीय तरंगों से रक्षा करती हैं। परन्तु क्लिफ पर हिमीकरण-हिमद्रवण के कारण तुषार अपक्षय होता है जिस कारण क्लिफ टूटता रहता है। नानसेन ने नार्वे तट पर सागरीय हिम द्वारा अपघर्षण की क्रिया का अवलोकन किया है तथा तज्जनित तरंग घर्षित उत्थित तटवेदिका (Strandflat) का उदाहरण प्रस्तुत किया है।

यदि तुषार अत्यधिक सक्रिय होता है तो उसका आकारजनक प्रक्रमों (Morphogenic processes) पर गहरा प्रभाव पड़ता है। निश्चय ही तुषार द्वारा धरातल पर एक ऐसे मण्डल का निर्माण होता है जहाँ तरल जलीय अवस्था के स्थान पर ठोस जलीय दशा का प्रभुत्व होता है।

ऊपर तापक्रम की उस स्थिति के अपक्षय तथा क्रम पर प्रभाव का वर्णन किया गया है जब कि तापमान हिमांक के नीचे चला जाता है। हिमांक के ऊपर भी तापमान में परिवर्तन अपक्षय तथा अपरदन एवं तत्सम्बन्धित प्रक्रमों को प्रभावित करता है। उष्णकटिबन्धीय शुष्क प्रदेशों में दिन और रात के तापमान में 33° से० (90° फा०) तक अन्तर हो जाता है। दैनिक तापान्तर के कारण चट्टानों का प्रसार तथा संकुचन गुणांक (Expansion and contraction coefficient) अधिक हो जाता है जिस कारण चट्टानों में सन्धियों के निर्माण में व्यवधान हो जाता है। प्रसार तथा संकुचन के कारण चट्टानों में विघटन तथा वियोजन होने से टूटन प्रारम्भ हो जाती है। ग्रेनाइट शैल में विभिन्न रंगों के रवे (Crystals) होते हैं, जो विभिन्न मात्रा में ऊष्मा ग्रहण करते हैं। परिणामस्वरूप उनमें प्रसार तथा संकुचन विभिन्न दरों में सम्पन्न होता है। जिस कारण चट्टान रवों के सम्पर्क के सहारे टूट जाती है और चट्टान का छोटे-छोटे कणों में विघटन (Granular disintegration) होने लगता है। दैनिक तापान्तर के कारण चट्टानों से परतें उधड़ने (Flanking) लगती हैं। सामान्य चट्टानों में तापीय संचालकता (Thermal conductivity) कम होती है। परिणामस्वरूप चट्टान की ऊपरी परत तो अत्यधिक गर्म होकर फैल जाती है परन्तु ऊष्मा का संचालन कुछ सेण्टीमीटर तक ही होने से निचली शैल अपेक्षाकृत शीतल होने से फैल नहीं पाती है। इस तरह विभेदक प्रसार (Differential expansion) के कारण चट्टान की ऊपरी परत उधड़ जाती है (Flaking process)। छोटानागपुर पठार, मुख्य रूप से राँची पठार पर (जो कि उपोष्ण आर्द्र जलवायु में है) इस क्रिया के कारण एक्सफोलियेशन अपक्षय के कारण नग्न शैल वाले गुम्बदों का निर्माण हुआ है।

किसी भी प्रदेश में जहाँ पर शुष्क तथा आर्द्र दशाओं में पर्याप्त अन्तर होता है, विभिन्न प्रकार की अपक्षय

तथा प्रक्रम सम्बन्धी दशायें जनित हो जाती हैं। यहाँ पर वर्षा की मात्रा तथा उसकी सक्रियता का प्रभाव अधिक होता है। उदाहरण के लिये मृत्तिका शैल शुष्क दशा मे उच्च तापमान के कारण शुष्क होने पर विभिन्न बहुभुजों मे विभक्त हो जाती है। माण्टमोरिलोनाइट (Montmorillonite—मृत्तिका का एक प्रकार) मे आर्द्रता मे अन्तर का प्रभाव सर्वाधिक होता है। शुष्कता के कारण इसमे दरारें पड जाती हैं। वर्षा होने पर जल इन दरारों से होकर 2 मे 3 मीटर (6 से 10 फीट) की गहराई तक चला जाता है जहाँ पर शैल अपेक्षाकृत कम शुष्क तथा कम भेद्य होती है जिस कारण वहाँ पर जल एकत्रित होने लगता है। इस तरह यह सतह फिसलन तल (Sliding plane) मे परिवर्तित हो जाती है और ऊपर स्थित मलवा भूमि-प्रवाह (Earth flow) के रूप मे सरकने लगता है। यह क्रिया रूमसागरीय जलवायु प्रदेश मे अधिक होती है क्योंकि यहाँ पर आर्द्र शरदकाल तथा शुष्क ग्रीष्मकाल की आर्द्रता मे अत्यधिक अन्तर होता है। इसके विपरीत मृत्तिका के अन्य प्रकारों खासकर क्योलिनाइट (Kaolinite) मे सकुचन गुणांक (Contraction coefficient) न्यून होता है। वर्षा के समय जलबूंदों के कारण कण चिपक जाते हैं तथा शुष्कता के कारण कठोर हो जाते है। परिणामस्वरूप चट्टान की अभेद्यता बढ जाती है और वाही जल (Run off) अधिक हो जाता है।

जलवायु का अप्रत्यक्ष प्रभाव

जलवायु-वनस्पति-आकारजनक प्रक्रम

वनस्पति तथा मिट्टी के सहारे जलवायु का आकार-जनक प्रक्रमों पर अप्रत्यक्ष प्रभाव होता है। भूमण्डल पर वनस्पति प्रकार मण्डलीय (Zonal) प्रारूपो मे पाये जाते है जिनका सम्बन्ध जलवायु से है। वास्तव मे जलवायु तथा वनस्पति एव जलवायु तथा मिट्टी मे अन्तर्सम्बन्ध होते है तथा वे एक दूसरे को पारस्परिक रूप मे प्रभावित तथा नियंत्रित करते हैं। वनस्पति मिट्टी-निर्माण की प्रक्रिया को प्रभावित करती है तथा मिट्टी वनस्पति प्रारूपों को निश्चित करती है और इस पारस्परिक क्रिया (Interaction) का प्रभाव आकारजनक प्रक्रमो पर पडता है।

जलवर्षा के समय जल सीकरो के गिरने तथा उनकी धरातल को प्रभावित करने वाली सामर्थ्य पर वनस्पति द्वारा अन्तरारोधन (Interception) के माध्यम से अत्यन्त प्रभाव होता है। ऊँचाई से नीचे गिरने वाली जलसीकरो (Rain drops) की काइनेटिक ऊर्जा (स्थितिज ऊर्जा) गिरने की गति के वर्ग के अनुपात मे बढती है। जब धरातल-वनस्पति विहीन होता है तो ये जलसीकर तेज गति से नीचे गिरती हैं जिस कारण ढीले कण छिटक जाते हैं, परिणामस्वरूप आस्फालन अपरदन (Splash erosion) होता है। परंतु जहाँ पर वनस्पति का आवरण होता है वहाँ पर जलवर्षा के कुछ भाग का अन्तरारोधन (Interception) हो जाता है एवं शेष जल मन्द गति से नीचे आता है। परिणामस्वरूप आस्फालन अपरदन शून्य हो जाता है। जहाँ पर वृक्ष ऊँचे होते हैं तथा उनके तने चिकनी छाल वाले होते हैं वहाँ पर अन्तरारोधित जल (Intercepted water) तने के सहारे नीचे प्रवाहित होता है। इसे हवाई सरिता (Aerial stream) कहते है। इस हवाई सरिता का जल धरातल पर आकर या तो रिसकर नीचे चला जाता है (यदि चट्टान प्रवेश्य होती है या चट्टानी सतह के ऊपर रिगोलिथ का आवरण होता है) या वाही जल (Run-off) के रूप मे बह निकलता है (यदि चट्टान अप्रवेश्य होती है या रिगोलिथ का अभाव होता है)।

वनस्पतियों द्वारा जल वर्षा के अन्तरारोधन की मात्रा एक मौसम से दूसरे मौसम तथा एक वनस्पति प्रकार से दूसरे वनस्पति प्रकार मे बदलती रहती है। इस अन्तरारोधन के कारण धरातल पर जल की कमी हो जाती है। गुणात्मक रूप मे (क्योंकि विश्वस्तर पर विभिन्न जलवायु प्रदेशों एव वनस्पति प्रदेशों मे जलवर्षा के अन्तरारोधन की मात्रा का मापन नहीं किया जा सका है) पर्यवेक्षण के आधार वनस्पति द्वारा जलवर्षा के अन्तरारोधन की निम्न प्रवृत्तियों का उल्लेख किया जा सकता है—

(i) भूमध्यरेखीय सदाबहार जगलों मे जलवर्षा का वनस्पति द्वारा अन्तरारोधन सर्वाधिक होता है। हवाई सरिताओं (Aerial streams) का महत्व अधिक होता है। रोजरी (Rougerie 1960) ने वाही-जल के कार्य को भी महत्ता प्रदान की है।

(ii) उष्ण तथा उपोष्ण कटिबन्धीय पतझड वाले वनों मे अन्तरारोधन की सक्रियता मौसम पर आधारित होती है। शुष्क मौसम के अन्तिम समय मे (जबकि वृक्षों से पत्तियाँ झड जाती हैं) जलवर्षा का अन्तरारोधन न्यूनतम होता है तथा आस्फालन अपरदन (Splash erosion) अधिक होता है परन्तु आर्द्र मौसम मे (जबकि वृक्ष पत्तियों से भरे होते हैं) अन्तरारोधन अधिकतम हो

ाता है। राँची पठार के पश्चिमी पाट प्रदेश पर वानस्पतिक आवरण के फलस्वरूप अन्तरारोधन की अपेक्षाकृत सक्रियता के कारण आस्फालन अपरदन न्यून होता है परन्तु वनस्पति विहीन मध्य राँची पठार के नग्न ग्रेनाइट आवरण पर आस्फालन अपरदन अधिक होता है।

(iii) शुष्क प्रदेशों में वानस्पतिक आवरण के अभाव में जलवर्षा का अन्तरारोधन शून्य होता है तथा आस्फालन अपरदन सर्वाधिक होता है।

(iv) शीतोष्ण कटिबन्धीय वनों तथा स्टेपी घास-प्रदेश में **स्थल प्रवाह** (Overland flow) कम होता है। यहाँ पर घास का आवरण संरक्षण प्रदान करता है।

(v) शुष्क एवं अर्द्ध शुष्क प्रदेशों में छिट-पुट झाड़ियों द्वारा न्यूनतम अन्तरारोधन होता है तथा संरक्षण नहीं मिलता है।

जलवर्षा के समान ही वनस्पति हिमपात को भी प्रभावित करती है। वनों में हिम का अन्तरारोधन (interception) अधिक होता है तथा धरातल पर हिम खुले भागों की तुलना में कम सुलभ हो पाती है।

वनस्पति का प्रभाव मिट्टी के तापक्रम पर भी पड़ता है। मिट्टियों में तापक्रम की विभिन्नता (रात एवं दिन, शरद एवं ग्रीष्मकाल) वानस्पतिक आवरण के कारण कम हो जाती है। घने वनों में धरातल पर प्राप्त सूर्यातप (insolation) की मात्रा कम हो जाती है क्योंकि औसतन प्राप्त सूर्यातप का एक तिहाई भाग पौधों द्वारा **रासायनिक संश्लेषण** तथा **वाष्पोत्सर्जन** (chemical synthesis and evapo-transpiration) के रूप में खर्च हो जाता है, जिस कारण धरातल का तापमान कम हो जाता है। खुले भागों की तुलना में वनाच्छादित भागों म रात्रि का तापमान अपेक्षाकृत अधिक होता है। इस तरह खुले भागों में दैनिक तापान्तर अधिक होने के कारण मिट्टियों के तापक्रम में परिवर्तन अधिक होता है जबकि वनाच्छादित भागों में कम दैनिक तापान्तर के कारण मिट्टियों के तापमान में परिवर्तन कम होता है। इस विभिन्नता के कारण अपक्षय के प्रारूप स्वभाव तथा सक्रियता में पर्याप्त अन्तर होता है (खुले तथा वनाच्छादित भागों में)।

वनाच्छादन मृदा-आर्द्रता (soil moisture) में परिवर्तन को कम करता है क्योंकि वनाच्छादन के कारण कम ऊष्मा मिलती है परिणामस्वरूप मिट्टी के सूखने की क्रिया मन्द पड़ जाती है। दक्षिणी वियतनाम के ट्रैंगबाम (Trangbom) केन्द्र पर वनाच्छादित भागों की तुलना में वनस्पति विहीन भागों में 2 5 गुना अधिक वाष्पीकरण का अभिलेखन किया गया है। इस तरह वनाच्छादित भागों में मिट्टियों के निर्जलीकरण (शुष्कन desication) का प्रभाव नगण्य होता है जबकि खुले भागों में इसका प्रभाव मिट्टियों के चटकन, वाही जल तथा भूमिगत जल (मिट्टियों के प्रकार तथा स्वभाव के आधार पर) पर अधिक प्रभाव होता है।

उपर्युक्त विवरणों के आधार पर यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया जा सकता है कि वानस्पतिक आवरण वायुमण्डलीय कारकों को शिथिल कर देता है जिस कारण आकारजनक प्रक्रम मन्द पड़ जाते हैं।

जलवायु वनस्पति के माध्यम से परिवहन के कारकों को भी प्रभावित करती है। वनस्पति जलवर्षा में अवरोधन करती है जिस कारण वनाच्छादित भागों के धरातल पर कम जल मिलने से **थल प्रवाह** (overland flow) कम हो जाता है। वनावरण मिट्टियों में जल के अन्तःस्पन्दन (infiltration) को अधिक सक्रिय कर देता है। इसके विपरीत वनरहित या वनस्पतिविहीन खुले भाग में जब जल वृष्टि अत्यधिक तीव्र होती है तो वर्षा की मात्रा धरातल में जल के अवशोषण की मात्रा से अधिक हो जाती है तथा शीघ्र तीव्र स्थल प्रवाह((Overland flow) प्रारम्भ हो जाता है और निचली मृदा परत (Subsoil layer) शुष्क ही रह जाती है। उदाहरण स्वरूप राँची पठार के पश्चिमी उच्च 'पाट प्रदेश' में जो कि साल वृक्ष से आवृत्त है, स्थल-प्रवाह की लम्बाई न्यूनतम होती है (सेन प्रवाह बेसिन = 0 16 मील, घाघरा प्रवाह बेसिन = 0 13 मील तथा धोपद प्रवाह बेसिन = 0 11 मील) जबकि न्यूनतम वनाच्छादित मध्य राँची पठार पर स्थल-प्रवाह की लम्बाई अधिकतम होती है (कांकें प्रवाह बेसिन = 0 22 मील बिरगोरा प्रवाह बेसिन = 0 34 मील जुमर प्रवाह बेसिन = 0 28 मील)।

वनावरण का प्रभाव एक तरफ वाही-जल (run off) की मात्रा, स्वभाव तथा सक्रियता को प्रभावित करता है (कम करता है) तो दूसरी तरफ वाही-जल के स्थानिक प्रभाव को भी प्रभावित करता है (कम करता है)। घने वनों की तुलना में घनी घास की चादर वाही-जल तथा उसके परिवहन एवं अपरदन को अधिक कम करती है। वास्तव में घास का आवरण भू-क्षरण (Soil erosion) को कम करता है तथा धरातल को संरक्षण प्रदान करता

है। संयुक्त राज्य अमरिका में घास के आवरण तथा वनावरण में वाही-जल तथा स्थल-प्रवाह के तुलनात्मक अध्ययन से ज्ञात हुआ है कि घास-आवरण से युक्त भागों की तुलना में वनावरण वाले भागों में चादर-अपरदन (sheet erosion) चार से छः गुना अधिक होता है। इससे प्रमाणित होता है कि वनस्पति स्थलाकृतिक प्रक्रमों के कार्यों को शिथिल कर देती है। पौधे वायु की गति को भी मन्द कर देते हैं जिस कारण वायु के परिवहन तथा अपरदनात्मक कार्य शिथिल हो जाते हैं।

ट्रिकार्ट (Tricart) तथा कैल्यू (Cailleaux) ने इस मत का प्रतिपादन किया है कि जलवायु प्रकारों की भाँति वनस्पति प्रकार भी अपना स्वयं का विशिष्ट स्थाकृतिक वातावरण प्रस्तुत करता है।

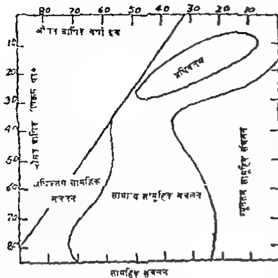
जलवायु-वनस्पति-मृदा तथा आकार जनक प्रक्रम

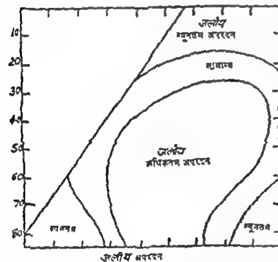
जलवायु का प्रभाव वनस्पति पर तथा वनस्पति का प्रभाव मिट्टियों पर होता है, अतः आकारजनक प्रक्रमों तथा मिट्टियों में पारस्परिक क्रिया (interaction) होती है। मृदा-उत्पत्ति (Pedogenesis) तथा रासायनिक अपरदन में गहरा सम्बन्ध होता है। मिट्टियों में जल के अन्तःस्पन्दन (infiltration) तथा मिट्टियों में ह्यूमस के वियोजन (decomposition) द्वारा रासायनिक अपरदन की क्रिया तीव्र हो जाती है। उदाहरण के लिए जल मिट्टी की ऊपरी सतह में (A मण्डल) प्रविष्ट होता है तो अपवहन (eluviation) द्वारा A मण्डल (A horizon or eluviated horizon) से पदार्थों को अलग करके विनिक्षेपण मण्डल (illuviation zone या B horizon) में पहुँचता है जहाँ से घुलनशील पदार्थों को लेकर नीचे पहुँचता है (C horizon)। इस तरह C मण्डल के ऊपर का भाग रासायनिक अपरदन से प्रभावित हो जाता है। निक्षालन (leaching) की क्रिया को तापमान तथा अन्तःस्पन्दित जल (infiltrated water) नियंत्रित करते हैं। शीतोष्ण कटिबन्धीय जलवायु में शरदकाल में औसत सामान्य तापमान तथा जैविक क्रियाओं में ह्रास के कारण निक्षालन सामान्य होता है। उष्णार्द्र जलवायु में वर्ष भर उच्च तापमान, उच्च जलवर्षा तथा पर्याप्त वानस्पतिक अवशेषों के कारण निक्षालन सर्वाधिक होता है। मानसूनी जलवायु में (जहाँ पर शुष्क तथा आर्द्र मौसम होते हैं) लम्बे शुष्क मौसम के कारण निक्षालन में ह्रास हो जाता है तथा शुष्क जलवायु में तो स्थगित ही हो जाता है।

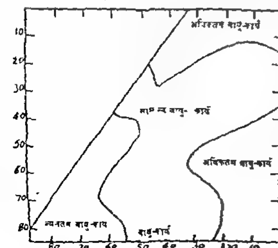
मृदा-मण्डल (soil horizon) में रासायनिक अपरदन तथा अपक्षय के कारण आवरण प्रस्तर (regolith) में कई तरह के यांत्रिक परिवर्तन होते हैं। उदाहरणतः कठोर शैल इस परिवर्तन के कारण सुचूर्ण्य (friable) हो जाती है तथा सुचूर्ण्य मण्डल (friable horizon) संगठित होकर कवच (cuirasse) बन जाता है। लसदार (चिपचिपा colloidal) ह्यूमस जब मृत्तिका (clay) के ऊपर आवरण के रूप में होता है तो वह मृत्तिका के कणों को संगठित करके उन्हें एकत्रित (Aggregate) कर देता है जिससे मृत्तिका में सश्लिष्टता (cohesion) आ जाती है। यदि चूना की मात्रा होती है तो वह ह्यूमस को वियोजित होने से बचाता है तथा स्थायी सश्लिष्टता प्रदान करता है। इस तरह ह्यूमस युक्त चूनेदार (calcareous) मृदा यांत्रिक अपक्षय के लिए अवरोधक होती है। स्पष्ट है कि मृदा की भेद्यता एवं प्रवेश्यता तथा कणों की सश्लिष्टता उसको यांत्रिक अपरदन से रक्षा प्रदान करती है। भेद्यता एवं प्रवेश्यता के कारण जल का अन्तःस्पन्दन (infiltration) हो जाने से स्थल-प्रवाह (overland flow) कम हो जाता है तथा कणों के एकत्रीकरण (aggregation) एवं सश्लिष्टता (cohesion) के कारण कणों में प्रतिरोधकता (resistance) बढ़ जाने से मृदा की अपरदनात्मकता (erodibility) घट जाती है।

जब विनिक्षेपण मण्डल (illuviation horizon) मोटा तथा संगठित हो जाता है तो उसकी अपरदनात्मकता घट जाती है। परन्तु यह संगठित मण्डल जल के अन्तःस्पन्दन (B horizon or illuviation horizon के नीचे) को रोकता है जिस कारण मृदा के ऊपरी मण्डल के सिक्त हो जाने के कारण वाही-जल(run off) बढ़ जाता है और सतह का यांत्रिक अपरदन बढ़ जाता है। स्मरणीय है कि ऊपरी पपड़ी (crust मिट्टी की) प्रायः क्षारीय (saline) घुलनशील पदार्थों की होती है अतः वह कम अवरोधक होती है जबकि कवच (cuirasses) घुलनशील पदार्थों से निर्मित नहीं होते हैं वरन् अघुलनशील तथा पृथक न किये जाने वाले अवशिष्ट पदार्थों के बने होते है, अतः यांत्रिक अपरदन के लिए अवरोधक होते हैं। इसी कारण से उष्णार्द्र प्रदेश में ये कवच उच्चावच्च की रक्षा करते हैं तथा प्राचीन अपरदन सतह को सुरक्षित रखने में सहायक होते हैं।

मिट्टियाँ, उच्चावच्च, जलवायु तथा वनस्पति में







समस्थिति की पोषक होती है। ट्रिकार्ट तथा कैल्यू के शब्दों मे यदि मानव वनस्पतियों को नष्ट कर देता है तो मिट्टियाँ, जिनका निर्माण हजारों वर्षों मे हुआ है, शीघ्र ही अत्यधिक अपरदन के कारण कुछ ही वर्षों मे नष्ट हो जाती है। यदि उच्चावच्च का निर्माण शीघ्र हो जाता है तो मृदा-निर्माण के लिए समय ही नही मिल पाता है। यदि जलवायु मे परिवर्तन होता है तो नयी मृदा का सृजन होता है। इस तरह मृदा के अध्ययन द्वारा उच्चावच्च के परिवर्तनो तथा विगत आकारजनक प्रक्रमो की पुनर्रचना की जा सकती है।

सक्षेप मे ट्रिकार्ट तथा कैल्यू के पर्यवेक्षणो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि स्थलरूप-निर्माणक प्रक्रम मुख्य रूप से विवर्तनिक बल (tectonic forces), जलवायु तथा जैविक कारको पर निर्भर करते है। जलवायु-नियन्त्रित वानस्पतिक आवरण स्थलमण्डल के ऊपर मृदा-जनन (pedogenesis) की प्रक्रिया द्वारा परिवर्तन प्रस्तुत करता है। यदि एक ओर उपर्युक्त प्रक्रियाओ के माध्यम से वानस्पतिक आवरण रासायनिक अपरदन को प्रभावित करता है तो दूसरी तरफ यान्त्रिक अपरदन को रोकता है।

जलवायु परिवर्तन की समस्या

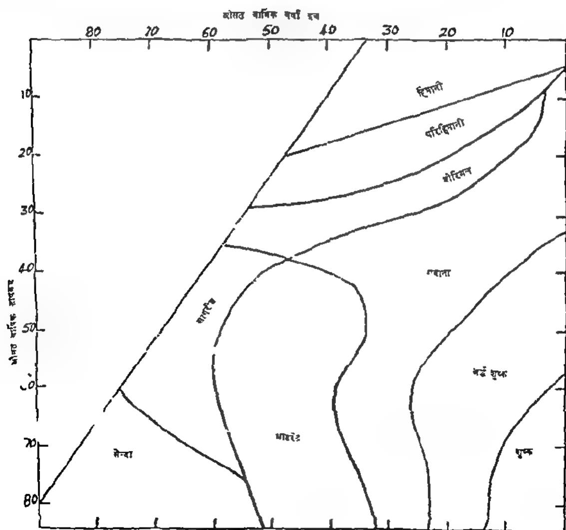
भूगर्भिक काल मे ग्लोब पर जलवायु-परिवर्तनो के विषय मे अब कोई सन्देह नही रह गया है। **जलवायु-भूआकृति विज्ञानवेत्ताओं** के अनुसार यद्यपि **क्वाटरनरी** काल मे महान जलवायु-परिवर्तन हुए है तथापि इन परिवर्तनो मे जलवायु-स्थलरूप सम्बन्ध' नष्ट नही होने पाये हैं। परन्तु यह आत्मतुष्टि का सरल साधन सर्वमान्य नही है। वास्तव मे जलवायु मे हुए परिवर्तन जलवायु भूआकारिकी के सामने एक व्यापक समस्या प्रस्तुत करते है जिस कारण यह सन्देह होने लगता है कि जिस जलवायु मे जो स्थलरूप आज मिलते है, क्या वास्तव मे ये उसी जलवायु के प्रतिफल है ? या उनका सम्बन्ध किसी अन्य जलवायु से है ? इस तरह जलवायु तथा स्थलरूप के बीच वास्तविक कडी की पहचान तथा खोज करना कठिन हो जाता है। वर्तमान स्थलाकृति तथा क्वाटरनरी जलवायु-परिवर्तन के विषय मे इन विद्वानों का कहना है कि यद्यपि क्वाटरनरी जलवायु-परिवर्तन तीव्र था परन्तु

चित्र 35

विभिन्न जलवायु दशाओं मे (1) सामूहिक स्थानान्तरण, (2) सरिता-अपरदन तथा (3) पवन अपरदन का सापेक्षिक महत्व (पेल्टियर के अनुसार)।

इसका कार्यकाल सीमित था, अत इसका स्थलनिर्माणक कारक के रूप में महत्त्व नगण्य था। स्ट्रारवोव (1967) ने टर्शियरी तथा क्वाटरनरी जलवायु-परिवर्त्तनो तथा उनके स्थलरूपों के ऊपर प्रभाव के अध्ययन के बाद बताया है कि **"अधिकांश क्षेत्रों में वर्तमान स्थलरूप 'जटिल मोजेक' (Mosaics) हैं जो लघु क्षेत्रों मे टर्शियरी तथा विस्तृत क्षेत्रों में क्वाटरनरी जटिल जलवायु दशाओं के प्रतिफल हैं ।"**

जलवायु-भू-आकारिकी की मान्यताएँ अभी तक सर्वमान्य नहीं हो पायी हैं। डगलस ने बताया है कि स्थलरूप के निर्माण मे जलवायु का महत्त्व कम ही होता है। वास्तव मे जब तक विभिन्न जलवायु-प्रदेशो मे स्थलरूपों के आकारमितिक आंकड़े (Morphometric data) नहीं मिल जाते तथा इन आंकड़ो के आधार पर एक जलवायु प्रदेश के स्थलरूपो की दूसरे प्रदेश के स्थलरूपों से वैषम्य को निश्चित नही कर लिया जाता, जब तक जलवायु-भू आकारिकी की संकल्पनाओ को स्वीकार नही किया जा सकता। स्टोडार्ट के अनुसार भी स्थलरूपो को नियंत्रित करने वाले अन्य कारको खासकर संरचना की तुलना में जलवायु का महत्त्व नगण्य है।



चित्र 36 : पेल्टियर के आकारजनक प्रदेश की जलवायु का सीमांकन (पेल्टियर के अनुसार)।

आकारजनक प्रदेश (Morphogenetic Regions)

आकार जनक प्रदेश, या आकार-जलवायु प्रदेश (Morphoclimatic zones) की संकल्पना वास्तव मे जलवायु-भू-आकारिकी की इस मूलभूत संकल्पना पर आधारित है कि "**प्रत्येक प्राकृतिक प्रक्रम अपना अलग स्थलरूप निर्मित करता है और प्रत्येक प्रक्रम विशेष जलवायु का प्रतिफल है।**" अर्थात् खास प्रकार की जलवायु मे खास तरह के प्रक्रम सक्रिय होते हैं, जिनसे खास तरह के स्थलरूप निर्मित होते हैं। 1925 मे सायर (Sauer) ने बताया कि "**विशेष प्रकार की जलवायु मे विशेष प्रकार के स्थलरूप निर्मित होते हैं।**" वास्तव मे **सायर** की भी यह राय थी कि किसी प्रक्रम तथा स्थलरूप का सम्बन्ध न जोडकर जलवायु-प्रदेश तथा स्थलरूप का सम्बन्ध जोडना अधिक श्रेयस्कर होगा। **बुदेल** तथा **पेल्टियर** के पहले भी आकारजनक प्रदेश के विषय मे **सेपर** (1935) तथा **फ्रीस** (Friese 1935) ने अपने मत दिये हैं। इन लोगो को यह जानकारी हो गयी थी कि उष्णार्द्र जलवायु (सेल्वा) मे रासायनिक अपक्षय आर्द्र मध्य अक्षांशो की तुलना मे अधिक होता है।

यूरोप मे बुदेल ने (1944—48) **फार्मक्रीजन** (Formkreisen) अथवा आकारजनक प्रदेश की संकल्पना का प्रतिपादन किया। बुदेल ने स्थलरूपो को—1. आर्द्र, 2. अर्द्ध-आर्द्र 3 शुष्क, 4. अर्द्ध-शुष्क तथा 5. हिमानीय पाँच प्रकारो मे विभक्त किया। 1950 मे **पेल्टियर** ने आकारजनक प्रदेश की संकल्पना को व्यवस्थित रूप दिया तथा इनका वर्गीकरण आकारमितिक उपकरणो के आधार पर करने का प्रयास किया। इस हेतु इन्होंने दो जलवायु प्राचल (Climatic parameters) का चयन किया—औसत वार्षिक तापक्रम तथा 2. औसत वार्षिक जलवर्षा। इस तरह पेल्टियर ने आकार जनक प्रदेश का निर्धारण महत्वपूर्ण प्रक्रम के आधार पर किया न कि स्थलरूपो की ज्यामिति के आधार पर। इन्होंने ग्लोब पर नौ आकारजनक प्रदेशों (1 हिमानी 2. परिहिमानी, 3 बोरियल, 4 सागरीय, 5 सेल्वा, 6. मॉडरेट, 7. सवाना, 8 अर्द्ध शुष्क तथा 9. शुष्क) निर्धारण किया है। इनका अलगाव तापक्रम तथा वर्षा के आँकडो के आधार पर किया गया है।

पेल्टियर का आकारजनक प्रदेश

आकारजनक प्रदेश	औसत (अनुमानित) वार्षिक ताप० (फा०)	औसत (अनुमानित) वार्षिक वर्षा (इंच)	आकृतिक विशेषताएँ
1 हिमानी	0—20	0—45	हिमानी अपरदन, निवेशन, वायु-कार्य।
2 परिहिमानी	5—30	5—55	तीव्र सामूहिक संचलन, सामान्य से तीव्र वायु-कार्य, प्रवाही जल का न्यून कार्य।
3. बोरियल	15—38	10—60	सामान्य तुषार-क्रिया, सामान्य से न्यून वायु-कार्य, प्रवाही जल का सामान्य कार्य
4. सागरीय	35—70	50—75	तीव्र सामूहिक संचलन, सामान्य से तीव्र जल का कार्य।
5. सेल्वा	60—85	55—90	तीव्र सामूहिक संचलन, न्यून ढाल धुलन, वायु-कार्य अनुपस्थित।
6. मॉडरेट	38—85	35—60	प्रवाही जल का अधिकतम कार्य, सामान्य सामूहिक संचलन, शीत भागो मे सामान्य तुषार क्रिया, तट के अलावा वायु-कार्य कम महत्वपूर्ण।
7. सवाना	10—85	25—50	तीव्र से न्यून प्रवाही जल का कार्य, सामान्य वायु-कार्य।
8. अर्द्ध-शुष्क	38—85	10—25	तीव्र पवन-कार्य, सामान्य से तीव्र जल-कार्य।
9. शुष्क	55—85	0—15	तीव्र पवन-कार्य, जल-कार्य न्यून।

ट्रिकार्ट तथा कैल्यू के आकार-जलवायु प्रदेश

ट्रिकार्ट तथा कैल्यू ने यह स्वीकार किया है कि अभी तक जलवायु-प्रक्रम स्थलरूप से सम्बन्धित विवरण तथा शोध कार्य पर्याप्त नहीं हैं। चूँकि जलवायु का उच्चावच्च पर प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष दोनों रूपों में प्रभाव पड़ता है, अत स्थलरूपों का आकार-जलवायु वर्गीकरण (morpho climatic classification) मात्र जलवायु के सनंकों (आंकड़ों) पर ही नहीं किया जा सकता है। अत इन्होंने निम्न आधारों पर विश्व को आकार-जलवायु प्रदेशों में विभक्त किया है—

(i) प्रमुख जलवायु तथा प्राणिभौगोलिक मण्डल के आधार पर प्रमुख आकार-जलवायु प्रदेशों का विभाजन।

(ii) प्रत्येक प्रमुख आकार-जलवायु प्रदेश का जलवायु एवं प्राणिभौगोलिक एव पुराजलवायु कारकों के आधार पर उप प्रदेशों में विभाजन।

इन दो आधारों पर इन्होंने भूमण्डल को निम्न आकार जलवायु प्रदेशों में (जहाँ पर निम्न उच्चावच्च होते हैं, सम्भवत मण्डलीकरण को ध्यान में नहीं रखा गया है) विभक्त किया है—

1 शीत आकार-जलवायु प्रदेश

तुषार की प्रमुखता तथा प्रभुत्व के आधार पर इसे निम्न उप विभागों में विभक्त किया गया है—

(अ) **हिमानी मण्डल** (glacial zone)—जहाँ पर वाह (run-off) ठोस रूप में हिमनद के रूप में होता है।

(ब) **परिहिमानी मण्डल** (periglacial zone)—जहाँ पर ग्रीष्म काल में तरल वाही-जल अवश्य हो जाता है।

2 वनाच्छादित मध्य अक्षांशीय मण्डल

शरद कालीन तुषार की सक्रियता में अन्तर तथा पुराजलवायु (palaeoclimate) प्रभावों के आधार पर इसे निम्न उपभागों में विभक्त किया गया है

(अ) **सागरीय मण्डल**—शरद काल सामान्य होता है, तुषार का कार्य महत्वपूर्ण नहीं होता, प्लीस्टोसीन हिमानी एवं परिहिमानी अवशिष्ट आकारों का प्रभाव अधिक होता है।

(ब) **महाद्वीपीय मण्डल**—शरदकाल अत्यधिक सर्द, प्लीस्टोसीन एवं वर्तमान तुषार का अत्यधिक प्रभाव।

(न) **रूम सागरीय मण्डल**—ग्रीष्म काल शुष्क। क्वाटरनरी युगीन परिहिमानी अवशिष्ट आकारों का प्रभाव नगण्य।

3 शुष्क एवं अर्द्ध शुष्क मण्डल

निम्न एवं मध्य अक्षांश। स्टेपी न्यून वनस्पति, जेरोफाइट झाड़ियाँ, रेगिस्तान, न्यून वर्षा, स्थानीय वाहीजल। इसके दो उप विभाग हैं।

(अ) शुष्कता के आधार पर (i) स्टेपी प्रदेश, (ii) जेरोफाइटिक प्रदेश तथा (iii) रेगिस्तानी प्रदेश।

(ब) शरद कालीन तापमान के आधार पर (i) मध्य अक्षांशीय प्रदेश, (ii) उपोष्ण कटिबन्धीय प्रदेश तथा (iii) उष्ण कटिबन्धीय प्रदेश।

4 आर्द्र उष्ण कटिबन्धीय मण्डल

वर्ष भर उच्च तापमान तथा इतनी वृष्टि कि सरिताओं में वर्ष भर जल प्रवाह बना रहता है। वर्षा के मौसमी वितरण, वार्षिक मात्रा एवं वनस्पति के घनत्व के आधार पर इसके दो उप विभाग हैं।

(अ) **सवाना प्रदेश**—शुष्क तथा आर्द्र मौसम। मौसमी वर्षा तथा सामान्य वानस्पतिक आवरण। स्थल-प्रवाह प्रचुर तथा सक्रिय रासायनिक अपक्षय (वर्षा काल में)।

(ब) **वन प्रदेश**—आर्द्र उष्ण कटिबन्ध। वर्षा वर्ष भर। अधिकतम वानस्पतिक आवरण। रासायनिक तथा जैविक अपक्षय अधिकतम।

1 शीत आकार-जलवायु प्रदेश

शीत आकार-जलवायु प्रदेश की सीमा का निर्धारण तुषार के आधार पर किया जाता है। तुषार ही प्रमुख आकार जनक प्रक्रम होता है जो कि न केवल विशिष्ट प्रक्रियाओं को जन्म देता है वरन् अप्रादेशिक कारकों[1] (azonal processes तरंग, पवन तथा नदियाँ) के

---

1. zonal processes (प्रादेशिक प्रक्रम) वे प्रक्रम तथा क्रियायें होती हैं जो किसी खास जलवायु प्रदेश में ही सक्रिय होती हैं। Azonal processes (अप्रादेशिक प्रक्रम) उन्हें कहते हैं जो प्राय सभी जलवायु-प्रदेशों में कमोबेश मात्रा में सक्रिय होते हैं जैसे सरिता, पवन, तरंग आदि। Extrazonal processes (प्रदेशेतर प्रक्रम) उन्हें कहते हैं जो किसी खास जलवायु-प्रदेश में सक्रिय तो होते ही हैं परन्तु कुछ खास परिस्थितियों में अन्य एकाध जलवायु प्रदेश में भी कम सक्रियता के साथ सक्रिय हो जाते हैं जैसे हिमनद हिमानी जलवायु के प्रक्रम हैं परन्तु उष्ण कटिबन्धीय भागों में उच्च पर्वतों पर भी सक्रिय हो जाते हैं। Polyzonal processes (बहु मण्डलीय प्रक्रम) उन्हें कहते हैं जो कई जलवायु प्रदेश में उभय (common) होते हैं लेकिन सार्वत्रिक नहीं होते हैं। बहता जल इसका प्रमुख उदाहरण है।

कार्यों को भी प्रभावित करता है (उनमे परिमार्जन तथा परिवर्तन लाता है)।

(अ) **हिमानी मण्डल**—इस आकार-जनक प्रदेश मे वर्ष भर तापमान इतना न्यून होता है कि हिमद्रवण नही हो पाता है। वाह (run off) ठोस रूप (हिम) मे होता है। इनकी सीमा हिमनद सीमा मे सामजस्य रखती है। हिमनद अपरदन तथा परिवहन का प्रमुख कारक होता है।

(ब) **परिहिमानी मण्डल**—इस मण्डल का सीमाकन उस तापमान के आधार पर होता है जिसके कारण मौसमी हिमीकरण-हिमद्रवण (freeze thaw) तथा दैनिक हिमीकरण-हिमद्रवण होता है। वर्ष भर हिमाच्छादन नही रहता है। ग्रीष्मकाल मे वाह (run off) जल के रूप मे होता है। तुषार की कालिकता (periodicity) वनस्पति के अवरोध तथा कुल वार्षिक वर्षा (precipitation) के आधार पर इसके कई उप विभाग किये गये है। (i) **अति परि हिमानी प्रदेश** (hyper periglacial province)—के उदाहरण अन्टार्कटिका तथा पियरी लैण्ड प्रदेश है। (ii) **मध्य परिहिमानी प्रदेश** (meso periglacial province) के अन्तर्गत उत्तरी अमेरिका तथा यूरेशिया के बन्जर प्रदेश को सम्मिलित करते है। यूरोप को छोड़ कर परमाफ्रास्ट सर्वत्र विद्यमान रहता है। ग्रीष्मकाल मे हिमद्रवण होता है। वनावरण नगण्य होता है। प्रमुख प्रक्रम तुषार अपक्षय (frost weathering or congelifraction), मृदा सर्पण (congelifluction) तथा तुषार अपरदन (congeliturbation) होते है। जलवायु महाद्वीपीय होती है, शुष्कता रहती है, शरदकाल तीव्र होता है, ग्रीष्मकाल कुहरा युक्त होता है, वायु का कार्य नगण्य होता है। प्रणालीकृत धरातल (patterned ground), मृदासर्पण ढाल (solifluction slope), ब्लाक फील्ड, प्रस्तर सरिता, तुङ्ग सपाटीकृत वेदिका (altiplanation terraces) आदि प्रमुख प्रारूप है। (iii) **टुण्ड्रा प्रदेश** मे वनस्पति वाह (run off), गहरी सक्रिय सतह (active layer) के विकास, मृदा सर्पण तथा वायु के कार्य एवं प्रभाव मे अवरोधन प्रस्तुत करती है। कई बार हिमीकरण-हिमद्रवण होता है। (iv) **स्टेपी परिहिमानी प्रदेश** मे वायु सर्वाधिक सक्रिय होती है। शुष्कता के कारण तुषार अपक्षय कम होता है। यह प्रदेश अलबर्टा, मगोलिया तथा उत्तरी आइसलैण्ड मे पाया जाता है। (v) **टैगा प्रदेश**—प्लीस्टोसीन युगीन अवशिष्ट परमाफ्रास्ट मे सम्बन्धित है। वसतकाल मे हिमद्रवण की तीव्रता के कारण तुषारसर्पण (gelifluction) मे स्थगन हो जाता है। इस प्रदेश का विकास (अ) सतत् परमाफ्रास्ट तथा (ब) अविछिन्न परमाफ्रास्ट पर होता है।

2 वनाच्छादित मध्य अक्षाशीय मण्डल

इस आकार-जलवायु या आकारजनक प्रदेश का विस्तार दोनो गोलार्द्धों मे मध्य अक्षाशीय प्रदेशो मे पाया जाता है परन्तु उत्तरी गोलार्द्ध मे यह अधिक विस्तृत है। यूरेशिया मे इसका विस्तार एक लम्बी पट्टी के सहारे पाया जाता है जो अटलाटिक तट से प्रारम्भ होकर बैकाल झील तक फैला है। इसके आगे यह आमूर बेसिन, कोरिया तथा जापान मे भी विस्तृत है। उत्तरी अमेरिका मे इसका विस्तार टक्सास से लैब्राडोर तक पूर्वार्द्ध भाग मे तथा फ्लोरिडा मे युकान घाटी तक है। पश्चिमी भाग मे यह उत्तरी कैलिफोर्निया मे अलास्का प्रायद्वीप तक विस्तृत है। दक्षिणी गोलार्द्ध मे दक्षिणी अमेरिका मे प्रशान्त तट के सहारे सेण्टियागो द चिली के दक्षिण, नैटाल तट, आस्ट्रेलिया के पूर्वी तट, तस्मानिया तथा न्यूजीलैण्ड मे यह प्रदेश विस्तृत है। गर्म एव आर्द्र ग्रीष्मकाल के कारण धरातल पर मोटा आवरण-प्रस्तर (deep regolith) विकसित हुआ है। इस प्रदेश मे आकारजनक तीव्रता (morphogenetic intensity) न्यून होती है। उच्चावच्च का जनन एव विकास मन्द गति से सम्पन्न होता है। घने वनावरण के कारण पत्तियो के गिरने से **तृण-बिछावन** (litter) की मोटी परत बन जाती है क्योंकि ह्यूमस का खनिजीकरण कम हो पाता है। इस **तृण-बिछावन** के कारण स्थलप्रवाह (overland flow) कम हो जाता है जिस कारण यान्त्रिक अपरदन न्यून हो जाता है। कुल मिलाकर इस प्रदेश मे भौतिक और यान्त्रिक, रासायनिक और जैविक आकारजनक प्रक्रमो की सक्रियता अत्यधिक न्यून होती है। जिस कारण प्लीस्टोसीन अपरदन-सतहे प्राय सुरक्षित है। इस मण्डल के अधिकाश उच्चावच्च अवशिष्ट (relict) है। जलवायु मे स्थानीय परिवर्तन के कारण आकारजनक प्रक्रमो मे स्थानीय परिवर्तन होते है। इस आधार पर इस मण्डल को निम्न 3 उपप्रदेशो मे विभक्त किया गया है।

(अ) *सागरीय मण्डल* (Maritime zone)) —यह मण्डल आर्द्र होता है, तापान्तर तथा आर्द्रता विचरण (variation) न्यून होता है। इसका सबसे अधिक विकास पश्चिमी यूरोप मे नार्वे से पेरेनीज तक हुआ है परन्तु पोलैण्ड तक भी इसका विस्तार पाया जाता है। इसके

अलावा ब्रिटिश कोलम्बिया, चिली, तस्मानिया तथा न्यूजीलैण्ड में इसका विकास हुआ है। तुषार सामान्य होता है तथा इसकी अवधि कम होती है। शैलस्तर (bed-rock) तक इसका प्रभाव नहीं हो पाता है। ग्रीष्मकाल में भी वृष्टि होने से मिट्टी का शुष्कन (desication) नहीं हो पाता है। यान्त्रिक प्रक्रम सामान्य होते हैं परन्तु रासायनिक अपरदन सर्वाधिक होता है। ह्यूमस में अम्ल की मात्रा होने से ग्रेनाइट शैल का वियोजन अधिक होता है।

(ब) महाद्वीपीय मण्डल—इसका विकास एशिया तथा उत्तरी अमेरिका के पूर्वी भाग पर हुआ है। वर्ष में मौसम सम्बन्धी विभिन्नता अधिक होती है। शरदकाल तीव्र होता है। वर्षा तेज होती है। परिणामस्वरूप यान्त्रिक प्रक्रम अधिक सक्रिय होते हैं। तुषार अधिक तीव्र होता है तथा शैलस्तर तक पहुँच जाता है। वसन्तकाल में हिमद्रवण जल (melt water) तथा जलवृष्टि के कारण स्थलप्रवाह (overland flow) अधिक होने से चादरी-अपरदन (sheet erosion) होता है तथा अवनालिकीकरण (gullying) होता है। शरदकाल में तुषार के आधिक्य एवं ग्रीष्मकाल में अत्यधिक स्थलप्रवाह के कारण जल के अन्तःस्पन्दन (infiltration) के न्यून होने से रासायनिक अपक्षय तथा अपरदन न्यून होता है।

(स) गर्म शीतोष्ण या उपोष्ण मण्डल—इसका सर्वाधिक विकास रूम सागरीय जलवायु में हुआ है। तुषार प्रायः अनुपस्थित रहता है। वर्ष में क्रम से शुष्क (ग्रीष्मकाल) एवं तर (शरदकाल) मौसम के कारण जलज शैल के आयतन में क्रमशः विस्तार (शरदकाल) एवं संकुचन (ग्रीष्मकाल) के कारण भू-स्खलन अधिक होता है। तीव्र वृष्टि के कारण अत्यधिक स्थलप्रवाह एवं सरिताओं में तीव्र जल प्रवाह के कारण अपरदनात्मक कार्य अधिक सक्रिय होता है।

3. शुष्क मण्डल

यह मण्डल मध्य अक्षांशीय वनाच्छादित मण्डल तथा आर्द्र उष्ण कटिबन्धीय मण्डल के मध्य पाया जाता है। वनस्पति स्टेपी से रेगिस्तानी प्रकार की होती है। वानस्पतिक आवरण न्यून होता है। शुष्कता अधिक होती है। वर्षा अत्यधिक अनियमित होती है। जब कभी भी तीव्र वर्षा होती है वानस्पतिक आवरण के अभाव तथा पतले मृदा आवरण के कारण जल के अन्तःस्पन्दन (infiltration) न होने के कारण वाही-जल (run off, water) अधिक सक्रिय हो जाता है। बजाडा तथा पेडीमेण्ट प्रमुख स्थलरूप होते हैं। वायु का कार्य अधिक सक्रिय होता है। बालुकास्तूप (sand dunes) निर्मित होते हैं। इस मण्डल को तीन उपभागों में विभक्त किया जाता है।

(अ) उपार्द्र स्टेपी प्रदेश—इसका विस्तार सहारा के उत्तर तथा दक्षिण, पूर्वी अफ्रीका, कालाहारी के चतुर्दिक, एशिया माइनर, मध्य एशिया, आस्ट्रेलिया, संयुक्त राज्य अमेरिका के उच्च मैदान, कनाडा के प्रेयरी प्रदेश, मेक्सिको के पठार तथा अर्जेनटाइना के पम्पाज में पाया जाता है। जहाँ पर घास का आवरण अधिक है, वहाँ पर यान्त्रिक अपरदन में शिथिलता आ जाती है। वायु का अपवाहन कार्य नदियों की शुष्क तली में ही परिवेष्ठित होता है। वायु का प्रमुख कार्य लोयस का निर्माण होता है। इसका प्रमुख उदाहरण चीन में पाया जाता है। जहाँ पर अचानक तीव्र जलवृष्टि हो जाती है, वाही जल सक्रिय हो जाता है तथा लम्बवत अपरदन होने से अवनलिकाओं (gullies) का निर्माण होता है। शुष्कता के कारण निक्षालन (leaching) नहीं हो पाता है।

(ब) अर्द्ध शुष्क प्रदेश—इसमें स्टेपी वनस्पति अविच्छिन्न रूप में पायी जाती है। जलवृष्टि सामान्य होती है (प्रायः न्यून) परन्तु आकस्मिक तीव्र वृष्टि के कारण स्थानीय वाही जल विकसित हो जाता है। इस प्रदेश में पेडीमेण्ट तथा इन्सेलबर्ग का सर्वाधिक विकास होता है। वर्षा इतनी नहीं हो पाती है कि क्रमबद्ध प्रवाह-जाल का विकास हो सके। वनस्पति के अभाव में धरातल को संरक्षण नहीं मिल पाता है। आवरण-प्रस्तर (regolith) पतला होता है। स्थलप्रवाह (overland flow) पर्याप्त होता है। अपरदन का मुख्य प्रक्रम जल है। वायु का कार्य नगण्य होता है।

(स) शुष्क प्रदेश—ये उष्ण शुष्क रेगिस्तानी भाग होते हैं जहाँ वर्षा का अभाव होता है। वाही-जल तो पूर्णतया अनुपस्थित ही रहता है। धरातल रेतीला तथा चट्टानी होता है, तथापि वह पारगम्य होता जिस कारण जल का अन्तःस्पन्दन हो जाने से वाही जल नहीं हो पाता है। सहारा का रेगिस्तान इसका प्रमुख उदाहरण है। जल-वर्षा के अभाव में उच्चावच्च का विकास अत्यन्त मन्द गति से सम्पादित होता है। वायु यद्यपि सक्रिय होती है परन्तु उसकी सामर्थ्य मात्र ढीले कणों वाले जमाव (रेत) को एक जगह से उठाकर दूसरी जगह तक ले जाने में ही लगी रहती है। इसका आकारजनक कार्य नगण्य होता है। वास्तव में जल तथा वायु अपरदन के

कारक न होकर परिवहन के कारक ही बनकर रह जाते हैं। तापमान में विभिन्नता के कारण चट्टानों का विघटन अधिक सक्रिय होता है। ग्रेनाइट पर इसका प्रभाव सबसे अधिक होता है।

4 आर्द्र उष्ण कटिबन्धीय मण्डल

इस मण्डल में आर्द्रता के आधार पर सवाना तथा वन प्रदेश दो उपमण्डल होते हैं। जहाँ पर वार्षिक जल-वर्षा 600 से 800 मि० मी० (24 से 23 इंच) होती है और शुष्क तथा आर्द्र मौसम स्पष्ट रूप से परिलक्षित होते हैं, सवाना प्रदेश का विकास हुआ है। उष्णार्द्र वन-प्रदेश का विस्तार 1500 मि० मी० (60 इंच) से अधिक वार्षिक जलवर्षा वाले भागों में पाया जाता है बशर्ते कि शुष्क मौसम न तो अधिक लम्बा हो और न ही अत्यधिक शुष्क हो। दोनों प्रदेशों में वर्ष भर उच्च तापमान रहता है, तुषार का अभाव होता है अतः चट्टानों का विघटन (यात्रिक) नगण्य होता है तापमान का अन्तर कम होता है। वायुमण्डल में नमी अधिक रहती है तथा आकाश प्राय मेघाच्छादित रहता है। इस प्रकार उच्च तापमान एवं अधिक वर्षा के कारण रासायनिक अपक्षय तथा अपरदन अधिक होता है।

(अ) सवाना प्रदेश—आर्द्र तथा शुष्क मौसम का आधार जनक प्रक्रमों पर महती प्रभाव होता है। कठोर तथा शुष्क धरातल पर जब अचानक तीव्र जलवृष्टि होती है तो अस्फालन अपरदन (*splash erosion*) तथा नलिका घुलन (rill wash) अधिक होता है। जहाँ पर वानस्पतिक आवरण सघन होता है वहाँ पर नलिका घुलन का स्थान चादरी बाढ़ (sheet flood) ले लेती है। ऊँचाई से जब जल नीचे की ओर चलता है तो वह मिट्टी तथा घुलाकर अलग किये गये पदार्थों से भारित हो जाता है, परिणामस्वरूप उन्हें निम्न भागों में निक्षेपित कर देता है, जिस कारण उच्चावच्च का अन्तर घटने लगता है और समतलीकरण (planation) प्रारम्भ हो जाता है। कवच (cuirasses) का जहाँ पर निर्माण हो जाता है वहाँ पर वह निचले भाग को संरक्षण प्रदान करता है तथा तीव्र कम ढाल वाले छोटे-छोटे पठारों का निर्माण करता है। इन कवच के कारण वाही जल (run off) तथा स्थल प्रवाह (overland flow) अधिक तो होता है परन्तु भौतिक अपक्षय के अभाव में निष्क्रिय ही रहता है।

(ब) उष्णार्द्र वन प्रदेश—इस प्रदेश में वर्ष भर उच्च तापमान तथा अत्यधिक वृष्टि के कारण सर्वप्रमुख प्रक्रम रासायनिक अपक्षय होता है जिसके कारण मोटे आवरण-प्रस्तर (regolith) का निर्माण होता है। चट्टानों में चूना घुल जाता है। ग्रेनाइट नीस तथा उनसे सम्बन्धित शैलों पर अनवरत अपक्षय होने से 10 मीटर तक मोटे प्रस्तर-आवरण का निर्माण हो जाता है। जलवर्षा का 98 से 99 प्रतिशत भाग इस आवरण-प्रस्तर में स्पंज के समान प्रविष्ट हो जाता है जिस कारण रासायनिक अपक्षय की गहराई बढ़ती जाती है। यांत्रिक अपक्षय के अभाव में नदियों में ठोस बोझ (load) की कमी होती है। इसी कारण से नदियों के मार्ग में जहाँ पर ऐसी शैल वाला भाग आता है जो रासायनिक अपक्षय के लिए अवरोधक होता है, उच्छलिकाओं (*rapids*) तथा प्रपातों (*falls*) का निर्माण हो जाता है, नदी की अनुदैर्ध्य परिच्छेदिका (longitudinal profiles) में ढाल भग (breaks in slopes) पाये जाते हैं तथा वह सीढ़ीनुमा (Step like) हो जाती है।

इस तरह स्पष्ट है कि 'आकारजनक प्रदेश' की सकल्पना कोई नयी नहीं है। समतल स्थापक प्रक्रमों (gradational/planational processes) के ऊपर जलवायु-नियन्त्रण के और अधिक विश्वसनीय प्रमाणों के सकलन की आवश्यकता है।

अध्याय 5

आकारमिति

(Morphometry)

परिभाषा

किसी भी वस्तु चाहे वह पौधा हो, जीव हो या भौतिक स्थलरूप हो के आकार के मापन तथा गणितीय विश्लेषण को **आकारमिति** कहा जाता है।[1] भौतिक उच्चावच्च (स्थलरूप) तथा पृथ्वी की सतह के ज्यामितीय मापन को **भौतिक आकारमिति** (Physical morphometry) की संज्ञा प्रदान की जा सकती है परन्तु सामान्य रूप में इसे 'आकारमिति' के नाम से ही जाना जाता है। आकारमिति के अन्तर्गत किसी भी क्षेत्र के स्थलरूपों के क्षेत्रफल, ऊँचाई विस्तार, ढाल आदि का मापन किया जाता है। आकारमिति के लिए आवश्यक आँकड़े या तो क्षेत्र में वास्तविक मापन द्वारा या मानचित्र (भू-पत्रक) से प्राप्त किये जाते हैं। नदियों तथा प्रवाह-बेसिन (Drainage basin) के विभिन्न पहलुओं (नदियों तथा उनकी शाखाओं की लम्बाई, उनकी संख्या, सेगमेण्ट, क्रम-आर्डर तथा उनमें विभिन्न अनुपात) का अध्ययन आकारमिति में सर्वाधिक महत्वपूर्ण हो चला है। इन मापनों (Measurements) से प्राप्त आँकड़ों को रेखाचित्र, मानचित्र, आरेख तथा सांख्यिकी की विभिन्न विधियों से प्रदर्शित करके स्थान विशेष के स्थलरूपों की सम्यक जानकारी प्राप्त की जाती है साथ ही साथ उनके समय विकास के सह-सम्बन्धों तथा उत्पत्ति का भी ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इस कार्य हेतु अब आकार-जनक प्रक्रमों (Morphogenetic processes) तथा उस स्थान की जलवायु का भी मात्रात्मक अध्ययन आवश्यक हो गया है और यही कारण है कि आकारमिति मूलरूप से गतिक भू-आकारिकी (Dynamic Geomorphology) से सम्बन्धित हो गई है।[2] वर्तमान समय में आकारमिति का प्रयोग अपरदन-सतह, ढाल, उच्चावच्च, घाटी, प्रवाह-बेसिन आदि के विश्लेषण के लिये अधिक किया जा रहा है।

भू-आकारिकी के जिज्ञासुओं के लिए आकारमिति का प्रयोग नूतन लग सकता है, परन्तु यदि पिछले इतिहास के पन्नों को पलटा जाय तो प्रतीत होने लगता है कि आकारमिति का प्रचलन डेविस के पहले भी था, परन्तु उसका आधार **गुणात्मक विश्लेषण** (Qualitative analysis) ही था। सम्प्रति उसका स्थान मात्रात्मक विश्लेषण ने ले लिया है। आकारमिति के विकास का स्वकीय इतिहास है। प्रारम्भ में उच्चावच्च का आकार-मापन उनके तुलनात्मक वर्णन के लिये किया जाता था। इसके बाद आकारमिति का प्रयोग कुछ विशेष स्थलरूपों के वैज्ञानिक (मात्रात्मक) वर्णन के लिये किया गया (अपरदन-सतह), जिसके अन्तर्गत क्षेत्रफल, ऊँचाई, ढाल आदि का गणितीय मापन तथा विभिन्न प्रकार के रेखा चित्रों (उच्चतादर्शी वक्र-Hypsographic/metric curve) प्रवणतादर्शी वक्र—(Clinographic curve), उच्चता-प्रवणतादर्शी वक्र (Hypso-clinographic curve), तुंगता आवृत्ति वक्र (Altimetric frequency curve आदि) का प्रयोग किया गया है तथा अब भी किया जा रहा है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से आकारमिति में और बारीकी आ गई है तथा अब लघु क्षेत्रों की आकारमिति पर अधिक बल दिया जाने लगा है। इसे **लघु आकारमिति** (Micromorphometry) की संज्ञा प्रदान की जाती है। इसके अन्तर्गत प्रवाह-बेसिन की आकारमिति का अध्ययन किया जाता है ताकि उस क्षेत्र में अपरदन के स्वभाव, ढाल के निर्माण एवं विकास से सम्बन्धित कुछ सिद्धान्तों

---

1. Measurement of the shape, or geometry of any natural form—be it plant, animal or relief feature—is termed morphometry —Strahler, A N 1969 Physical Geography, 3rd Edition John Wiley and Sons, Inc New York, p 482

1. b. Morphometry may be defined as the measurement and mathematical analysis of the configuration of the earth's surface and of the shape and dimensions of its landforms—[John I Clarke]—Dury, G H., 1970, Essays in Geomorphology, Heinemann, London, p. 236

2. वही।

तथा नियमों का प्रतिपादन किया जा सके। आकारमिति के विकास में दी मार्तोनी (1934), जोवा नोविक (1940), पेग्वे (Peguy—1942 47, 48), डी स्मेट (1951, 54), स्ट्रालर (1950, 54, 58) Birot (1955), वालिग (1957, 59), हार्टन, क्लार्क, ओरेल (Orell), मेल्टन (1958, 1959), ग्रम (1956, 1963) मैक्सवेल (1955, 1960), एण्डरसन (1957) कोट्स (1958), ब्रास्को (1959), मोन्मिाचा (1959), कार्ल्स्टन (1960, 1963, 1965), ब्रश (1961) शोर्ले (1962, 1969, 1972) लियोपोल्ड तथा लैंगवीन (1962) बाउडन तथा वालिग (1964), थ्वायस तथा क्लार्क (1964) जियुन्ती और स्नीडर (1965), गीडगर (1965), बाउडन और बार्निस (1965) आकरमैन (1966), किंग (1966), आर० एल० सिंह (1967), मिल्टन (1966), श्रीव (1966) ग्रेगरी (1968), ग्रेगरी और वालिग (1968), वी०टी० चो (1969), कॉमर और जिम्मरमैन (1969), ड्यूरी (1969), फेनिग्न (1969), हण्ट और शोर्ले (1969) लियोपाल्ड, उल्मन और मिलर (1969), अब्राहम्स (1970), डैनियल (1970), घोष और गीडगर (1970), ब्लैक (1970), गार्डिनर (1971), वालिग (1971) गार्डिनर (1977), स्मार्ट (1972), ग्रेगरी और वालिग (1973), ग्रेगरी (1976), सविन्द्र सिंह (1976, 1978 *तथा* 1981) आदि ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

दोष

स्मरणीय है कि आकारमिति को सर्वसम्मति से स्वीकार नहीं किया गया है। प्रारम्भ से ही इसका विरोध होता रहा है। पेन्क ने 1894 में आकारमिति का विरोध करते हुए बताया कि मापन का कार्य सरल नहीं है। 1921 में **हेटनर** ने बताया कि स्थलरूपों की जननिक व्याख्या में आकारमिति से कोई सहायता नहीं मिलती है। क्लार्क ओरेल तथा वालिग ने इसका प्रयोग कुछ विशेष स्थलरूपों के लिये ही वांछित बताया है। वास्तव में कहीं-कहीं पर आकारमिति से भ्रामक निष्कर्ष भी निकल आते हैं। उदाहरण के लिये 'प्राचीन अपरदन-सतह' के निर्धारण के लिए **तुंगता आवृत्ति वक्र** के प्रयोग द्वारा जिन उच्चस्थ स्थलों का अंकन किया जाता है, यह आवश्यक नहीं है कि वे प्राचीन अपरदन-सतह के अवशेष हो ही। हो सकता है कि वे उच्चस्थ भाग सवलन (Warping) के कारण बन गये हों। इसके अलावा आकारमिति का प्रयोग सगाग लघु क्षेत्र (Small homogeneous region) में किया जाता है। उससे प्राप्त परिणाम किसी विस्तृत क्षेत्र में, जहाँ पर जटिलता हो, लागू नहीं हो सकते है। आकारमिति प्रतिचयन (Sampling) पर आधारित है अतः इससे सही निष्कर्ष नहीं निकल सकते, साथ ही साथ यह कठिन कार्य है और समय अधिक लगता है जब कि फल कम प्राप्त होता है। ड्यूरी (Dury)[1] महोदय भी जो कि आकारमिति के घोर समर्थक हैं भू-आकारिकी में क्षेत्र कार्य (Field work) को सर्वोपरि मानते हैं। केवल उन्हीं मानचित्रों से आकारमिति द्वारा सही परिणाम निकल सकते है, जिनको 'क्षेत्र-कार्य' के आधार पर तैयार किया गया है। 'क्षेत्र-कार्य' को बेकर तथा स्ट्रालर[2] भी महत्वपूर्ण मानते हैं। वालिग[3] ने भी इस बात पर सन्देह प्रकट किया है कि बिना गणित के प्रयोग के भू-आकारिकी में सही परिणाम नहीं निकाले जा सकते।' क्लार्क तथा ओरेल[4] ने भी आकारमिति की विभिन्न विधियों का अध्ययन करने तथा उनका Gozo और Guernsy द्वीपों पर प्रयोग करने के बाद निष्कर्ष दिया कि यह आवश्यक नहीं है कि विभिन्न

---

1 Dury G. H 1952 : 'Methods of cartographical analysis in geomorphological research', Indian Geographical Society Silver Jubilee Souvenir V p 136 [Madras]

2. Baker, J. P. & Strahler, A N. 1956 Report on Quantitative Treatment of Slope Recession Problems'. Premier Report de la Commission Pourl' Etube des versants, p 30 [Amsterdam].

3. Baulig. H, 1950 'William Morris Davis Master of methods Annals of the Association of American Geographers, Vol 40 p. 195. [Lancaster]

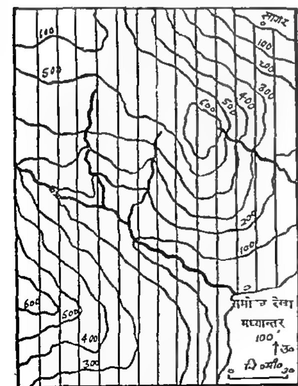
4. Clarke, J I & Orrele K., 1958 : 'An assessment of some morphometric methods', Department of Geography, Occassional paper series No 2. Durhum College

आकारमितीय विधियों (एक ही उद्देश्य के लिये) मे परिणाम एक सा ही हो। उनमे पर्याप्त अन्तर होता है। उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि सविन्द्र सिंह (1972) द्वारा बिलासपुर क्षेत्र के आकारमितीय अध्ययन मे प्राप्त परिणामों द्वारा भी होती है।

इन आपत्तियों के होते हुए भी आकारमिति का प्रयोग कुछ स्थलरूपों के अध्ययन मे वाछनीय है। यहाँ पर अपरदन-सतह के निर्धारण तथा प्रवाह बेसिन की विभिन्न आकारमितीय विधियों का विश्लेषण किया जायगा।

उच्चावच्च आकारमिति
(Morphometry of relief features)

इसके अन्तर्गत उच्चावच्च की ऊँचाई आकार विस्तार, ढाल आदि का मापन (Measurement) किया जाता है तथा उनका प्रदर्शन उच्चातादर्शी वक्र, प्रवणतादर्शी वक्र तुगता आवृत्ति वक्र साधारणीकृत समोच्च रेखाओं (Generalised contours), प्रक्षेपित परिच्छेदिका अध्यारोपित परिच्छेदिका, सयुक्त परिच्छेदिका ऊँचाई-परिसर आरेख (Height-range diagram) आदि द्वारा किया जाता है। इन विधियों से किसी क्षेत्र मे प्राचीन अपरदन-सतह के निर्धारण तथा घर्षण (Dissection) की मात्रा का अध्ययन किया जाता है तथा साथ ही साथ ढाल के विभिन्न पहलुओं का भी विवरण प्राप्त किया जाता है।



चित्र 37 — समोच्चरेखा मानचित्र। क्षेत्रफल के अनुमान के लिये अन्तर्खण्ड (Intercepts) का प्रयोग।

1 उच्चतामिति (Hypsometry)

इसके अन्तर्गत किसी क्षेत्र विशेष के क्षेत्रफल तथा उसकी ऊँचाई के विभिन्न अनुपातो तथा सह-सम्बन्धों का अध्ययन किया जाता है। इस विधि मे निम्न तीन तरह के वक्रो की सहायता से उच्चावच्च का अध्ययन किया जाता है।

(i) क्षेत्र-ऊँचाई वक्र (Area-height Curve)—किसी भी प्रदेश का क्षेत्र-ऊँचाई वक्र तैयार करने के लिये दो तरह के आँकडे चाहिए—1-प्रत्येक दो क्रमिक

सारणी—1

समोच्च रेखा	सभी अन्तर्खण्डों का योग	योग का वास्तविक प्रतिशत	प्रतिशत सचयी
600′ से ऊपर	8 5″	6 55%	6 55
600′-500′	17 5″	13 35%	19 90
500′-400′	20 5″	15 25%	35.15
400′-300′	22 0″	16 75%	51.90
300′-200″	26 0″	20 00%	71.90
200′-100′	21 0″	15 55%	87 45
100′-0′	16 5″	16 55%	100 00
	132 0″	100 00%	

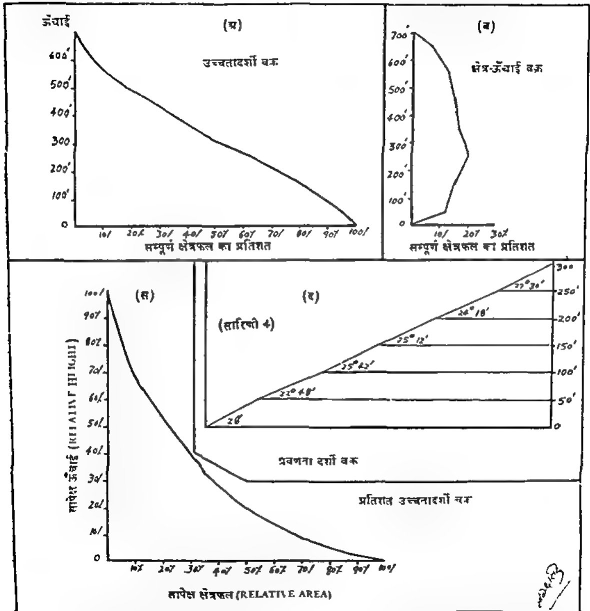
आँकडा—लेखक (चित्र—37 पर आधारित)

सारिणी—2 (चित्र 37 पर आधारित)

समोच्च रेखा	सापेक्षिक ऊँचाई का प्रतिशत $h \times 100$ / H	सचयी प्रतिशत (Cumulative)	सापेक्षिक क्षेत्रफल का प्रतिशत $a \times 100$ / A	सचयी प्रतिशत
0′-100′	2 08	2 08	12 55	100 00
100′-200′	6 29	8 37	15 55	87 45
200′-300′	10 41	18 78	20 00	71 80
300′-400′	14 56	33 34	16 75	51.90
400′-500′	18 75	52 09	15 25	35.15
500′-600′	22 91	75 00	13 35	19 90
600′-से ऊपर	25 00	100 00	6 55	6 55

(आँकडा-लेखक)

समोच्च रेखाओं के बीच का वास्तविक क्षेत्रफल तथा 2—ऊँचाई। क्षेत्रफल प्लेनीमीटर की सहायता से प्राप्त कर लिया जाता है, जबकि ऊँचाई **समोच्चरेखा मानचित्र** (Contour map) से सुलभ हो जाती है। क्षैतिज अक्ष (Axis) के सहारे क्षेत्रफल को तथा लम्बवत अक्ष के सहारे ऊँचाई को × द्वारा प्रदर्शित किया जाता है और अन्त में सभी × को सीधी रेखा से मिलाकर वक्र तैयार कर लिया जाता है। प्लेनीमीटर से क्षेत्रफल निकालने में कठिनाई अधिक होती है। इससे बचने के लिये मिलर (1935) ने एक सरल विधि तैयार की है। समोच्च रेखा मानचित्र को समदूरी समानान्तर रेखाओं से विभाजित कर लिया जाता है। प्रत्येक दो क्रमिक समोच्च



चित्र 38 अ—उच्चतादर्शी वक्र (Hypsometric Curve), ब—क्षेत्र-ऊँचाई वक्र (Area-height Curve) स—प्रतिशत उच्चतादर्शी वक्र (Percentage Hypsometric Curve)—चित्र 37 पर आधारित। द—प्रवणतादर्शी वक्र (Clinographic Curve)—चित्र 39 पर आधारित।

आँकड़ा तथा चित्रांकन—सविन्द्रसिंह, 1972

रेखाओं के बीच पड़ने वाले समानान्तर रेखाओं के अन्तर्खण्डों (Intercepts) की लम्बाई ज्ञात कर ली जाती है तथा उनका योग कर लिया जाता है। इस योग का उन दो क्रमिक समोच्च रेखाओं के बीच के सम्बन्धित क्षेत्रफल के समानुपातिक (Propo tional) मान लिया जाता है। पूरे समोच्च रेखा मानचित्र के सभी अन्तर्खण्डों के योग द्वारा पूरे क्षेत्र का क्षेत्रफल ज्ञात किया जाता है तथा प्रत्येक दो क्रमिक समोच्च रेखाओं के बीच के क्षेत्रफल का प्रतिशत निकाल लिया जाता है। इस प्रतिशत को क्षैतिज रेखा के सहारे प्रदर्शित किया जाता है। क्षेत्र-ऊँचाई के आँकड़े से क्षेत्र-ऊँचाई आयात चित्र (Area hight Histog am) भी तैयार किया जा सकता है। इस वक्र का प्रयोग सतर्कता से किया जाना चाहिए क्योंकि इससे ढाल भंग (Break in slope) समतल शिखर (Accordant summits) आदि का प्रदर्शन नहीं हो पाता है। परन्तु किसी भी प्रदेश के क्षेत्र-ऊँचाई के सह-सम्बन्धों के अध्ययन के लिए यह उच्चतादर्शी वक्र (Hypsometric curve) से बेहतर माना जाता है।

(ii) **उच्चतादर्शी वक्र** (Hypsometric / graphic Curve)—उच्चतादर्शी वक्र द्वारा किसी निश्चित डेटम रेखा (Datum line) के ऊपर या नीचे विभिन्न ऊँचाई पर धरातलीय सतह के क्षेत्रफल के अनुपात को प्रदर्शित किया जाता है। ग्लोब का उच्चतादर्शी वक्र पहले लैपरेण्ट (Lapparent) द्वारा 1883 में तैयार किया गया। इसके बाद मरे (Munas 1888) टिल्लो (1889) पेंक (1894) आदि ने इस तरह के वक्र तैयार किये। आगे चलकर कोसिना (1933) तथा आर्लिक (Orlicz 1931-35) ने इसमें पर्याप्त संशोधन किए। वर्तमान समय में उच्चतादर्शी वक्र का प्रयोग लघु क्षेत्रों के लम्बवत वितरण के लिये किया जाता है। उच्चतादर्शी वक्र तैयार करने के लिये क्षेत्र विशेष के क्षेत्रफल तथा ऊँचाई सम्बन्धी आँकड़े प्राप्त करने होते हैं। इसके लिए दो विधियाँ प्रचलित हैं।

(i) पहले समस्त क्षेत्र का क्षेत्रफल प्लेनीमीटर से ज्ञात किया जाता है इसके बाद दो क्रमिक समोच्च रेखाओं (समोच्च रेखा का मध्यान्तर 25′, 50′, 100′ या 10 मी०, 20 मी०, 30 मी० हो सकता है) के बीच क्षेत्र का क्षेत्रफल निकाला जाता है। ऊँचाई समोच्च रेखा मानचित्र से मिल जाती है।

(ii) प्लेनीमीटर का प्रयोग कठिन होता है, अतः उपर्युक्त (क्षेत्र ऊँचाई वक्र में) अन्तर्खण्ड विधि (Intercept method) से समानुपातिक क्षेत्रफल ज्ञात किया जाता है।

क्षेत्रफल (*संचयी मान—Cumulative value*) को क्षैतिज रेखा के सहारे प्रदर्शित (प्रायः प्रतिशत में) किया जाता है तथा लम्बवत रेखा के सहारे ऊँचाई को प्रदर्शित किया जाता है। प्रत्येक दो क्रमिक समोच्च रेखाओं की ऊँचाई के सामने उसका क्षेत्रफल (प्रतिशत में) × द्वारा दर्शाया जाता है। अन्त में सभी × को निष्कोण रेखा (Smooth line) से मिलाकर वक्र तैयार कर लिया जाता है। देखिये चित्र 38 में अ (द्वितीय विधि)। उच्चतादर्शी वक्र का प्रयोग ऐसे क्षेत्रों के लिये किया जाना चाहिये जिनमें भौतिक समता हो जैसे द्वीप ज्वालामुखी शंकु, पहाड़ी क्षेत्र, अपरदन सतह आदि। इस वक्र के प्रयोग में कुछ सतर्कता की आवश्यकता होती है, क्योंकि इस वक्र में ढाल वाले क्षेत्र स्थान की वास्तविक परिच्छेदिका में ढाल में अन्तर वाले क्षेत्र में सामंजस्य नहीं रखते। अतः इनका प्रयोग अपरदन सतह के निर्धारण के लिये कदापि नहीं करना चाहिये। इस वक्र का प्रयोग मात्र समोच्च रेखाओं के बीच के क्षेत्रफल तथा औसत ऊँचाई के सह-सम्बन्धों को प्रदर्शित करने के लिये ही करना चाहिये।

(iii) **प्रतिशत उच्चतादर्शी वक्र** (The Percentage Hypsometric Curve)—इस वक्र में क्षैतिज अक्ष के सहारे दो क्रमिक समोच्च रेखाओं के बीच के क्षेत्रफल के प्रतिशत को प्रदर्शित किया जाता है।

$$\left[\frac{\text{दो समोच्च रेखाओं के बीच का क्षे०} \times 100}{\text{समस्त क्षेत्रफल}} = \frac{a \times 100}{A}\right]$$

तथा लम्बवत अक्ष के सहारे ऊँचाई के प्रतिशत को दर्शाया जाता है।

$$\left[\frac{\text{दो समोच्च रेखाओं के बीच की ऊ०} \times 100}{\text{समस्त ऊँचाई}} = \frac{h \times 100}{H}\right]$$

स्ट्रालर ने इस वक्र का प्रयोग अपरदन की अवस्थाओं (Stages) के निर्धारण के लिये किया है।

उच्चतादर्शी समाकल (Hyposmetric integral)

प्रतिशत उच्चतादर्शी वक्र के नीचे का क्षेत्रफल सम्पूर्ण क्षेत्र के अनुपात में उच्चतादर्शी समाकल कहा जाता है जिसे प्रायः प्रतिशत में व्यक्त किया जाता है। वक्र के ऊपर वाला भाग सम्पूर्ण क्षेत्र के अनुपात के रूप में **अपरदन समाकल** (erosion integral) होता है। उच्चतादर्शी समाकल का अर्थ होता है कि सम्पूर्ण क्षेत्र (ऊँचाई के परिवेश में) का कितना भाग अपरदित होना शेष है।

सारणी—3

रांची पठार की लघु प्रवाह बेसिन के उच्चतादर्शी समाकल

प्रवाह बेसिन	उच्चतादर्शी समाकल %	प्रवाह बेसिन	उच्चतादर्शी समाकल %	प्रवाह बेसिन	उच्चतादर्शी समाकल %
1 सेन बेसिन	30 32	9 कांची II बेसिन	42.26	17. गंगा बेसिन	43 22
2 घाघरा बेसिन	39 67	10 अम्बाझरिया बेसिन	28 38	18. उनगटा बेसिन	25 48
3. सेख बेसिन	15.80	11 जमजोर बेसिन	51 93	19 रसमा बेसिन	21 93
4. कांची I बेसिन	20.32	12 डोमाजोर बेसिन	38 38	20 बाम बेसिन	19 03
5. लोहागरा बेसिन	41.61	13 धोपद बेसिन	35.48	21 डमरा बेसिन	16 13
6 नलकारी बेसिन	29 30	14 वर्षा बेसिन	24 84	22 सुवर्णराजर बेसिन	57 74
7 छाता बेसिन	32 58	15 बिरगोरा बेसिन	37 74		
8 उदियारा बेसिन	40 97	16 जुमर बेसिन	43 87		

आधार—सविन्द्र सिंह 1978

उच्चतादर्शी समाकल के आधार पर किसी भी क्षेत्र के अपरदन की अवस्थाओं का निर्धारण निम्न मापक के आधार पर किया जा सकता है

उच्चतादर्शी समाकल	अपरदन की अवस्था
(i) >60%	तरुण
(ii) 60%—30%	प्रौढ़ या साम्यावस्था
(iii) <30%	अन्तिम या जीर्ण

स्मरणीय है कि उच्चतादर्शी समाकल एक नाजुक आकारमितिक प्राचल (Variable) है तथा अपरदन-चक्र की अवस्थाओं के निर्धारण में इसका उपयोग सतर्कता के साथ किया जाना चाहिये। कभी-कभी यह भ्रामक परिणाम भी प्रस्तुत करता है। 30% से कम उच्चतादर्शी समाकल तभी सम्भव हो सकता है जब कि क्षेत्र विशेष में, जो कि जीर्णावस्था में है, कुछ मोनाडनाक अवशिष्ट हों ताकि उच्चस्थ एवं निम्नस्थ भागों का अन्तराल बना रहे अन्यथा जीर्णावस्था में (जबकि सभी मोनाडनाक नष्ट हो गये हों) भी उच्चतादर्शी समाकल 40% से 60% के बीच पहुँच जाता है। रांची पठार की सुवर्णराजर (57 74%), जमजोर (51 93%), कांची II (42 26%), उदियागारा (42 97%), घाघरा (39 67), डोमाजोर (38 38%), धोपद (35 8%) तथा सन (30 32%) बेसिन के उच्चतादर्शी समाकल इन नदियों की साम्यावस्था को इंगित करते हैं जबकि गंगा (43 22%) जुमर (43 87%), लोहागरा (41 61%), बिरगोरा (37 74%) तथा छाता (32 58%) बेसिन के उच्चतादर्शी समाकल भ्रामक हैं क्योंकि ये नदियाँ अपने विकास (गंगा को छोड़कर) की अन्तिम अवस्था में हैं। इन नदियों के वांछित उच्चतादर्शी समाकल से अधिक मान इसलिये है कि उच्चस्थ तथा निम्नस्थ भागों का अन्तर मात्र 200 फीट तक ही है। मध्य रांची पठार की सेख तथा कांची I नदियों के उच्चतादर्शी समाकल (क्रमश 15 8% तथा 20 32%) इन नदियों की वास्तविक अवस्था (जीर्ण) का आभास कराते हैं क्योंकि ये नदियाँ पश्चिमी पाट-क्षेत्र के शीर्ष पर 900 मीटर की ऊँचाई से निकलती हैं परन्तु उनका अधिकांश भाग लोहारदागा समप्राय-मैदान (610 मीटर) के ऊपर है। परिणामस्वरूप उच्चस्थ तथा निम्नस्थ भागों के बीच का अन्तर पर्याप्त है। अतः उच्चतादर्शी समाकल आदर्श स्थिति में है।

(iv) **प्रक्षेपित एवं वास्तविक क्षेत्रफल (Projected and Real Area)**—उच्चतादर्शी एवं क्षेत्र ऊँचाई वक्रों में मानचित्र पर अंकित प्रक्षेपित क्षेत्रफल को ही प्रयोग में लाया गया है परन्तु यह क्षेत्र का वास्तविक क्षेत्रफल तो हुआ नहीं, क्योंकि ढाल कोणों को ध्यान में नहीं रखा गया है। दो क्रमिक समोच्च रेखाओं के बीच के वास्तविक क्षेत्रफल का परिकलन निम्न सूत्र के आधार पर आसानी से किया जा सकता है।

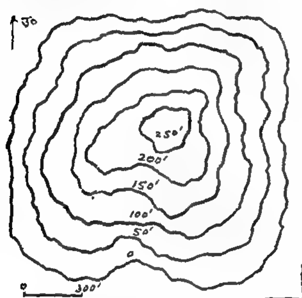
वास्तविक क्षेत्रफल = प्रक्षेपित क्षेत्रफल × औसत ढाल कोण का सीकेण्ट (sec)

$$\text{औसत ढाल} = \frac{CI \text{ (in feet)}}{AW \text{ (in feet)}} \text{ या } \frac{CI \text{ (in m)}}{AW \text{ (in m)}}$$

किसी भी प्रदेश के घर्षीकृत (Dissected) क्षेत्र के अध्ययन के लिए वास्तविक क्षेत्रफल का होना अति आवश्यक होता है। वास्तविक क्षेत्रफल एवं प्रक्षेपित क्षेत्रफल के सम्बन्धों के आधार पर घर्षण की मात्रा एवं स्वभाव का अध्ययन किया जाता है। परन्तु वास्तविक क्षेत्रफल की आवश्यकता उसी समय होती है, जबकि ढाल तीव्र होता है। मन्द ढाल होने पर दोनों में अन्तर बहुत कम आता है। अतः प्रक्षेपित क्षेत्रफल से काम चल जाता है।

घर्षण सूचकांक

Slaucitajs ने 1936 में प्रक्षेपित क्षेत्रफल एवं



चित्र 39—एक द्वीप का समोच्च रेखा मानचित्र

वास्तविक क्षेत्रफल के सम्बन्धों के आधार पर घर्षण सूचकांक (Dissection-index) तैयार की है जिसको निम्न गुर के आधार पर तैयार किया जाता है।

$$\frac{RA - PA}{RA} \times 100$$

RA = वास्तविक क्षेत्रफल
PA = प्रक्षेपित क्षेत्रफल

$$\text{डी स्मेट का घर्षण सूचकांक} = \frac{RA\text{-}PA \times \text{Averagge slope}}{\text{Volume}}$$

इन सूचकांकों से घर्षीकरण की दृष्टि से विषम क्षेत्रों के तुलनात्मक अध्ययन में ही सहायता मिलती है। किसी समान क्षेत्र के घर्षीकरण के विषय में इनसे कोई महत्त्वपूर्ण सहायता नहीं मिल पाती है। घर्षण सूचकांक मात्र दो क्रमिक समोच्च रेखाओं के मध्य ही ज्ञात हो पाता है परन्तु इससे ऊँचाई के परिवेष में घर्षण का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है।

डॉव मीर (1957) ने निरपेक्ष उच्चावच्च (absolute relief) तथा सापेक्ष उच्चावच्च (relative relief) के आधार पर घर्षण-सूचकांक का निम्न गुर प्रतिपादित किया है—

$$\text{घर्षण सूचकांक } DI = \frac{R_R}{A_R}$$

जबकि R_R = Relative relief
A_R = Absolute relief

आवृत्ति-विश्लेषण (frequency analysis) तथा क्षेत्रीय विविधता के अध्ययन के लिये ग्रिड-विधि (एक मील × एक मील या एक किमी० × एक किमी०) द्वारा घर्षण सूचकांक का मान परिकलित किया जाना चाहिए तथा उन मानों को निम्न रूप में वर्गीकृत करना चाहिए—

घर्षण सूचकांक	घर्षण सूचकांक प्रकार	
(1) 0—0 1	अति निम्न घर्षण सूचकांक	DI_{EL}
(2) 0 1—0 2	निम्न घर्षण सूचकांक	DI_L
(3) 0 2 -0 3	मध्यम घर्षण सूचकांक	DI_M
(4) 0 3 —0 4	उच्च घर्षण सूचकांक	DI_H
(5) > 0 4	अति उच्च घर्षण सूचकांक	DI_{VH}

राँची पठार की चार प्रवाह बेसिन के घर्षण सूचकांक ग्रिड-विधि (एक मील × एक मील) से परिकलित किये गये है तथा उन्हे सारिणी 4 मे (आवृत्ति) मे प्रदर्शित किया गया है—

सारणी—4

प्रवाह-बेसिन (राँची पठार)	घर्षण—वर्ग 0—0 1 F	%	0 1—0 2 F	%	0 2—0 3 F	%	0 3—0 4 F	%	> 0.4 F	%	आवृत्ति का योग
1. मेन बेसिन	30	41 67	34	47.22	8	11 11	—	—	—	—	72
2 घाघरा बेसिन	25	28.74	24	27.59	27	31.03	11	12 64	—	—	87
3. मम्र बेसिन	43	70.49	6	9 84	9	14.75	3	4 92	—	—	61
लोहागरा बेसिन	71	71.00	27	27.00	2	2 00	—	—	—	—	100

सारणी—5
घर्षण सूचकांक के सांख्यकीय मान

प्रवाह-बेसिन (रांची पठार)	औसत $\bar{x}$	मानक विचलन (SD)	विवरण गुणाक % (v)
1. सेन बेसिन	0.119	0 066	55.46
2 घाघरा बेसिन	0.177	0.101	57 06
3 सख बसिन	0 104	0.091	85 50
4 लोहागरा बेसिन	0 081	0.044	54 42

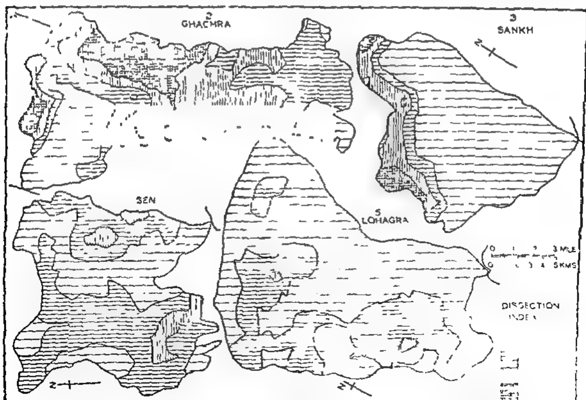
आंकड़ा सविन्द्र सिंह, 1978

प्रवाह-बेसिन म घर्षण-सूचकाक के क्षेत्रीय विश्लेषण (spatial analysis) के लिये ग्रिड मे घर्षण-सूचकाक मान के आधार पर समरेखा मानचित्र (isopleth maps) तैयार किये जाते है तथा सभी वर्गों के अन्तर्गत क्षेत्रफल का परिकलन प्लेनीमीटर की सहायता से किया जाता है। सारिणी 6 मे रांची पठार की चार प्रवाह-बेसिन के घर्षण-सूचकाक का क्षेत्रीय-विचरण (spatial variation) प्रस्तुत किया गया है—

सख तथा लोहागरा बेसिन मध्य रांची पठार की ग्रेनाइट तथा नीस शैलो पर प्रवाहित है तथा अपने विकास की जीर्णावस्था मे है जिस कारण अति निम्न घर्षण-सूचकाक के अन्तर्गत कुल क्षेत्रफल का क्रमश, 76 15% तथा 67.48% क्षेत्रफल परिवेष्ठित है जबकि 'पाटक्षेत्र' की सेन तथा घाघरा नदियो मे, जो कि अन्तिम तरुणावस्था म है अति निम्न सूचकाक के अन्तर्गत कुल क्षेत्रफल का क्रमश 39 77% तथा 21.27% भाग ही है।

2 प्रवणतादर्शी वक्र (Clinographic Curve)

प्रवणतादर्शी वक्र द्वारा ढाल म परिवर्तन का अध्ययन किया जाता है। इस वक्र का निर्माण दो क्रमिक समोच्च रेखाओ के बीच के क्षेत्रफल उनकी लम्बाई तथा ऊँचाई



चित्र 40—घर्षण सूचकाक का क्षेत्रीय वितरण (राची पठार की लघु प्रवाह—बेसिन)
मानचित्र-सविन्द्र सिंह, 1978

सारणी—6

घर्षण-सूचकांक का क्षेत्रीय वितरण (वर्ग कि०मी०)

प्रवाह-बेसिन (राँची पठार)	घर्षण सूचकांक वर्गीकरण										सम्पूर्ण क्षेत्रफल का योग
	0-0.1		0.1-0 2		0 2-0 3		0 3-0 4		>0 4		
	क्षे०	%	क्षे०	%	क्षे०	%	क्षे०	%	क्षे०	%	
1 सेन बेसिन	68 50	39 77	91 05	52 86	12 69	7 37	—	—	—	—	172 24
2. घाघरा बेसिन	43 64	21 27	62 68	30 56	66 95	32 64	31 86	15 53	—	—	205 13
3 सख बेसिन	120 31	76 15	12 82	8 11	18 39	11.64	6 47	4 10	—	—	157 99
4 सोहागरा बेसिन	175 48	67 48	83 01	31 92	1 55	0 60	—	—	—	—	260 04

आकड़ा—सविन्द्र सिंह, 1978

आदि आँकड़ों के आधार पर किया जाता है। दो क्रमिक समोच्च रेखाओं के बीच ढाल के कोण को ज्ञात किया जाता है। लम्बवत् अक्ष के सहारे समोच्च रेखा-मध्यान्तर को दर्शाया जाता है तथा प्रत्येक दो क्रमिक समोच्च रेखाओं के बीच के कोण को चांदे की सहायता से अंकित किया जाता है। कोणों का अंकन सबसे ऊपर से प्रारम्भ होकर नीचे की ओर होता है। डेवेनहम के अनुसार प्रत्येक समोच्च रेखा की वास्तविक लम्बाई ज्ञात की जाती है तथा उसे क्षैतिज अक्ष के सहारे अंकित किया जाता है। प्रत्येक समोच्च रेखा के सामने उसकी ऊँचाई लम्बवत् अक्ष के सहारे अंकित की जाती है। अब प्रत्येक समोच्च रेखा के सामने उसकी लम्बाई अंकित करके उनके सिरों को सीधी रेखा से मिलाने पर वक्र तैयार हो जाता है। प्रवणतादर्शी वक्र के निर्माण के लिये कई लोगों ने निम्न विभिन्न विधियों का प्रयोग किया है।

सारणी—7 (चित्र 39 पर आधारित)

समोच्च रेखा	औसत ढाल कोण	सीकेण्ट (sec)	प्रक्षेपित क्षेत्रफल PA (वर्ग फीट में)	वास्तविक क्षेत्रफल RA—PA × sec mean slope angle	अन्तर (वर्ग फीट)	घर्षण सूची $\frac{RA-PA}{PA} \times 100$
0′—50′	28°	1 132	4 10,000	4,64,120	54,120	13 2
50′—100′	22°48′	1 084	4,30,000	4,66,120	36 120	8 4
100′—150′	25°42′	1 109	3,30,000	3,65,370	35,370	10 7
150′—200′	25°12′	1 105	2,40,000	2,65,200	25,200	10 5
200′—250′	24°18′	1 097	1,50,000	1,64,550	14,550	9 7
250′ से ऊपर	28°	1 132	40,000	45,280	5,280	13 2
			16,00,000	17,70,640	1,70,640	$\bar{x}$ 10 6

(आँकड़ा-लेखक)

(i) स्ट्रालर का औसत ढाल वक्र (Mean Slope Curve)—दो क्रमिक समोच्च रेखाओं के बीच का क्षेत्रफल प्लेनीमीटर की सहायता से परिकलित किया जाता है। ओपिसोमीटर (Opisometer) की सहायता से उन समोच्च रेखाओं की लम्बाई की गणना की जाती है। तत्पश्चात् क्षेत्रफल को औसत लम्बाई से भाग देकर दो समोच्च रेखाओं के बीच की औसत चौड़ाई (Mean intercontour width) ज्ञात की जाती है। समोच्च रेखा मध्यान्तर को औसत चौड़ाई से विभाजित करने पर ढाल का टैन्जेन्ट (tangent) ज्ञात हो जाता है। पुन गणितीय

सारिणी (Mathematical table) से वास्तविक ढाल का कोण ज्ञात कर लिया जाता है। (देखिये सारणी 7 तथा चित्र 38 द)।

$$AW = \frac{A}{\frac{L_1 + L_2}{2}}$$

AW = औसत चौड़ाई, A = क्षेत्रफल

$L_1 L_2 ..$ = दो क्रमिक समोच्च रेखाओं की लम्बाई।

$$\tan \phi = \frac{CI \text{ (in feet)}}{(AW \text{ in feet})}$$

CI = समोच्च रेखा मध्यान्तर

(ii) **फिन्स्टेरवाल्डर का प्रवणतादर्शी वक्र**—सबसे पहले मानचित्र पर ओपिसोमीटर से समोच्च रेखाओं की वास्तविक लम्बाई ज्ञात की जाती है। क्षैतिज रेखा के सहारे लम्बाई को तथा लम्बवत अक्ष के सहारे ऊँचाई को प्रदर्शित किया जाता है। प्रत्येक समोच्च रेखा की लम्बाई के सामने उसकी लम्बाई समानान्तर रेखाओं से अंकित की जाती हैं तथा उनके अन्तिम सिरों को सीधी रेखा से मिला दिया जाता है। इस वक्र से अधिक वांछित भाग का वास्तविक ज्ञान नहीं हो पाता है क्योंकि कभी-कभी मध्य में समोच्च रेखाओं की लम्बाई सर्वाधिक हो जाने से भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। देखिये चित्र 41 ब।

(iii) **फिन्स्टेरवाल्डर का उच्चता-प्रवणतादर्शी वक्र (Hypso/Clinographic Curve of Finsterwalder)** इस वक्र के निर्माण के लिए उच्चतामिति (Hypsometry) के आँकड़े प्राप्त किये जाते हैं तथा समोच्च रेखाओं की लम्बाइयाँ भी ज्ञात की जाती हैं। क्षैतिज रेखा के सहारे **'सचयी क्षेत्रफल'** (Cumulative area) को प्रदर्शित किया जाता है और उसे प्रत्येक दो क्रमिक समोच्च रेखाओं के बीच के क्षेत्रफल के हिसाब से खण्डित कर लिया जाता है। लम्बवत् अक्ष के सहारे समोच्च रेखाओं की सचयी लम्बाई (सभी समोच्च रेखाओं की लम्बाई को समोच्च रेखा मध्यान्तर से गुणा करने पर प्राप्त लम्बाई को पूर्ण लम्बाई के रूप में रखा जाता है) को प्रदर्शित किया जाता है। पुनः प्रत्येक समोच्च रेखा की लम्बाई (वास्तविक लम्बाई × समोच्च रेखा मध्यान्तर) के हिसाब से लम्बवत् अक्ष को खण्डित कर लिया जाता है। प्रत्येक समोच्च रेखा की लम्बाई एवं क्षेत्रफल के कटान बिन्दुओं (×) को विकर्ण रेखा से मिला दिया जाता है तथा वक्र तैयार हो जाता है। लम्बवत् तथा क्षैतिज अक्षों को सीधी रेखा से मिलाया जाता है जो कि औसत ढाल को प्रदर्शित करती है। देखिये सारणी 9 तथा चित्र 41 अ।

$$\tan\phi = \left[\frac{h \times L_1}{A_1}\right]$$

h—ऊँचाई।
L_1—निचली समोच्च रेखा की लम्बाई।
A_1—दो क्रमिक समोच्च रेखाओं के बीच का क्षेत्रफल।

सारणी 8 (चित्र 39 पर आधारित)

समोच्च रेखा	क्षेत्रफल† (वर्गफीट)	लम्बाई* (फीट)	औसत ल० (फीट)	औसत चौ० (फीट)	tan value	ढाल का कोण
0-50′	4,10,000	4700 } 4000 }	4350	94 24	0 53	28°
50′-150′	4,30,000	4000 } 3250 }	3625	118 6	0 42	22°, 48′
100′-150′	3,00,000	3250 } 2600 }	2925	102.56	0 48	25°, 42′
150′-200′	2,4?,000	2600 } 1900 }	2250	106.66	0 47	25°, 12′
200′-250′	1,50,000	1900 } 850 }	1375	109 09	0 45	24° 18′
250′ से ऊपर	40,000	850	425	94.11	0 53	28°

(आँकड़ा लेखक)

† क्षेत्रफल वर्ग विधि से परिकलित किया गया है।

* समोच्च रेखाओं की लम्बाई धागे (Thread) की सहायता से मापी गई है।

स्मेट (De Smet 1954) ने फिन्स्टरवाल्डर के 'उच्चताप्रवणतादर्शी वक्र मे कई दोष बताये है। इनके अनुसार लम्बवत् अक्ष को विभाजित करने की फिन्स्टर-वाल्डर की विधि त्रुटिपूर्ण है। उसे निम्न गुर से विभाजित करना चाहिए।

$$h\left[\frac{L_1+L_2}{2}\right]$$

$$h\left[\frac{L_1+L_2}{2}+\frac{L_2+L_3}{2}\right]$$

$$h\left[\frac{L_1+L_2}{2}+\frac{L_2+L_3}{2}+\frac{L_3+L_4}{2}\right]\ldots\ldots$$

औसत ढाल के परिकलन के लिये डी स्मेट ने निम्न गुण अधिक उपयोगी बताया है।

$$\tan\phi=\left[\frac{h\times(L_1+L_2)/2}{A_1}\right]$$

या $\frac{\text{height}\times\text{mean length of two contours}}{\text{Inter contour area}}$

(iv) हानसन-लोव का प्रवणतादर्शी वक्र (Clinographic curve of Hanson Lowe)—हानसन लोव ने 1935 मे किसी भी क्षेत्र की 'औसत परिच्छेदिका' (Average profile) के प्रदर्शन के लिए एक विशिष्ट 'प्रवणतादर्शी वक्र' का निर्माण किया। इन्होंने यह माना कि समोच्च रेखायें संकेन्द्रीय वृत्त होती हैं। इस तरह प्रत्येक समोच्च रेखा के ऊपर स्थित क्षेत्र की त्रिज्या का परिकलन निम्न गुर से किया जाता है—

[i] $r=\frac{\sqrt{\text{समोच्च रेखा के ऊपर का क्षेत्रफल}=a}}{\pi}$

[ii] दो समोच्च रेखाओ के बीच की औसत दूरी $=rl-ru=Ad$

Ad = Average distance, r = त्रिज्या, l = निचली समोच्च रेखा, u = ऊपरी समोच्च रेखा।

[iii] प्रत्येक दो क्रमिक समोच्च रेखाओ के बीच का ढाल

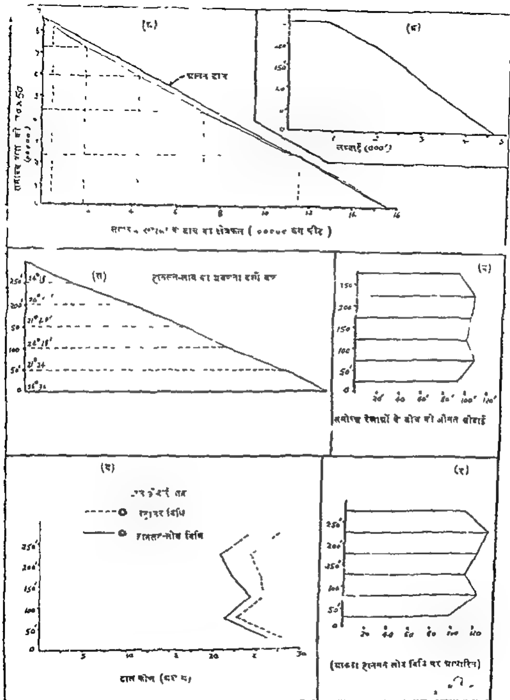
$\tan\phi=\frac{\text{CI (in feet)}}{\text{Ad(infeet)}}$ CI = समोच्च रेखा मध्यातर Ad = औसत दूरी

इस तरह से प्राप्त समोच्च रेखाओ के बीच के ढाल के कोण को लम्बवत् रेखा के सहारे अंकित किया जाता है तथा अंकन सबसे ऊपर से प्रारम्भ होता है। जब कोण बहुत कम होते है तो उन्हे स्थिराक (Constant) से गुणा करके बडा कर लिया जाता है ताकि वक्र ठीक ढग से बन जाय। इस विधि का दोष यह है कि इसमे समोच्च रेखाओ की लम्बाई को ढाल के कोण के परिकलन मे सम्मिलित नही किया जाता है। इस कारण समोच्च रेखाओ के बीच की दूरी तो बढ जाती है पर उनके बीच का ढाल कोण कम हो जाता है (देखिये सारिणी 10)। अत: जहां पर घर्षण की क्रिया अधिक हुई है और वह क्षेत्र अत्यधिक विच्छेदित हो गया है तो उस क्षेत्र के उच्चावच्च के प्रदर्शन के लिये यह वक्र अनुपयुक्त है। सारिणी 10 मे स्ट्रालर तथा हानसन-लोव विधियो का तुलनात्मक विवरण प्राप्य है।

सारणी—9

समोच्च रेखा (फीट)	लम्बाई फीट	लम्बाई × 50 (फीट)	सचयी लम्बाई (फीट)	समोच्च रेखा	क्षेत्रफल* (वर्ग फीट)	सचयी क्षेत्रफल (वर्ग फीट)
0	4700	2,35,000	2,35,000	250′	40,000	40,000
50	4000	2,00,000	4,35,000	250′ — 200′	1,50,000	1,90,000
100	3250	1,62,500	5,97,000	200′ — 150′	2,40,000	4,30,000
150	2600	1,30,000	7,27,000	150′ — 100′	3,00,000	7,30,000
200	1900	95,000	8,22,000	100′—55′	4,30,000	11,60,000
250	850	42,500	8,64,000	50′—0′	4,10,000	15,70,000

* क्षेत्रफल उच्च समोच्च रेखा से 0 फुट की समोच्च रेखा के क्रम मे रखा गया है। (आकडा—लेखक)



चित्र 41

अ—फिन्स्टरवाल्डर का उच्चता-प्रवणतादर्शी वक्र (Hypso-clinographic curve of Finsterwalder), —फिन्स्टरवाल्डर का प्रवणतादर्शी वक्र (Clinographic curve), स—हानसन लोव का प्रवणतादर्शी वक्र (Hanson owe's clinographic curve), द—डी स्मेट का औसत अन्तर्समोच्च रेखा वक्र (Average intercontour width ırve of De Smet), य—ढाल-ऊँचाई वक्र (Slope-height curve) तथा र—औसत अन्तर्समोच्च रेखा चौडाई क।

आँकडा तथा चित्राकन—सविन्द्र सिंह, 1972

सारणी—10

समोच्च रेखा	मचयी क्षेत्रफल वर्ग फीट	त्रिज्या $\frac{\sqrt{a}}{\pi}$	दो समोच्च रेखाओ के बीच की औसत दूरी हामन-लोव	स्ट्रालर विधि	ढाल-कोण हानसन-लोव	स्ट्रालर विधि
250′—200′	40,000	112 8	112.8	94 11	24°18′	28°
250′— 200′ 150′	1,90,000	245.8	133.0	109.09	20°54′	24°18′
200′— 150′ 100′	4,30,000	769.8	124 0	106 66	21°48′	25°12′
150′ — 100′ 50′	7 30 000	481 9	112 1	102 56	24°18′	25°42′
100′— 50′ 0′	11 60 000	607 5	125 6	118 6	21°24′	22°48′
50′— 0′	15 70 000	706 7	99 1	94 25	26°37′	28°

(आंकड़ा लेखक)

(v) स्मेट का **'औसत अन्तर समोच्च रेखा चौड़ाई' वक्र (The curve of average inter-contour widths of De Smet)**—स्मेट ने लम्बवत् अक्ष के सहारे ऊँचाई तथा क्षैतिज अक्ष के सहारे दो क्रमिक समोच्च रेखाओं के मध्य की औसत चौड़ाई को अंकित करके एक वक्र तैयार (1954) किया है। प्रत्येक दो समोच्च रेखाओ के बीच की चौड़ाई को उनके (समोच्च रेखाओं) के सामने अंकित किया जाता है तथा क्षैतिज अक्ष के समानान्तर रेखायें खींची जाती हैं। वास्तविक चौड़ाई को सुविधा के लिये दो ऊँचाइयों के मध्य में प्रदर्शित किया जाता है। अन्त में समानान्तर रेखाओं के बाहरी सिरों को सीधी रेखा से मिलाकर वक्र तैयार किया जाता है। देखिये चित्र 41 द।

(vi) मोसेली (Moseley) का **ढाल-ऊँचाई वक्र (The Slope-Height Curve)**—दो समोच्च रेखाओं के बीच ढाल के कोण को क्षैतिज अक्ष के सहारे तथा ऊँचाई को लम्बवत् अक्ष के सहारे अंकित करके 'ढाल-ऊँचाई वक्र' तैयार किया जाता है। इसमें ढाल-कोण को या तो 'हानसनलोव विधि' या 'स्ट्रालर विधि' से प्राप्त किया जाता है। इस तरह से यह ढाल दो समोच्च रेखाओं के बीच के क्षेत्र में औसत ढाल को प्रदर्शित करता है। यदि वक्र की रेखायें सीधी तथा लम्बवत् अक्ष के समानान्तर होती हैं तो उसमें सम ढाल का आभास मिलता है। जब अवतल तथा उत्तल ढालों में समान दर से अन्तर होता है तो पहला सीधी रेखा में दाहिनी ओर तथा दूसरा बायीं ओर झुक जाता है। चित्र 41 य से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है। इस वक्र से अपरदन सतह के अध्ययन तथा दो या अधिक क्षेत्रों के तुलनात्मक अध्ययन में पर्याप्त सहायता मिलती है।

3 तुंगतामिति (Altimetry)

प्रारम्भिक 'अपरदन-सतह' (Erosion-Surface) के निर्धारण के लिये क्षेत्र विशेष के उच्चस्थ भागों का अध्ययन तुंगतामिति के अन्तर्गत आता है। यह विश्वास किया जाता है कि सबसे ऊँचे क्षेत्र प्रारम्भिक अपरदन की सतहों के अवशेषों को सुरक्षित रखते हैं, और ये तब तक नष्ट नहीं हो सकते जब तक कि ये उच्चस्थ शिखर तल नष्ट नहीं हो जाते। अतः 'अपरदन सतह' के निर्धारण के लिये क्षेत्र विशेष के उच्चस्थ भागों का 'मात्रात्मक' अध्ययन किया जाता है। स्मरणीय है कि तुंगतामिति की विभिन्न तकनीकों से प्राप्त आँकड़े को आयत चित्र (Histogram) तथा रेखा चित्र (Graph) द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। आयत चित्र द्वारा निम्न को प्रदर्शित किया जाता है।

(i) स्थानिक ऊँचाई की बारम्बारता (Frequency of spot-heights)।

(ii) ग्रिड के उच्चतम बिन्दुओं की बारम्बारता (Frequency of highest points of grid square)।

(iii) शिखर-तल की बारम्बारता (Frequency of summit levels)।

(iv) शिखर-तल का क्षेत्रफल (Area of summit levels)।

(v) शिखर स्कन्ध तथा कॉल (Frequency of summits, shoulder and cols)।

(i) **स्थानिक ऊँचाई की बारम्बारता**—भू-पत्रक (Toposheets) में सभी स्थानिक ऊँचाइयों की संख्या को गिन लिया जाता है। उनका विभिन्न वर्ग-अन्तराल (Class intervals) में सारणीयन (Tabulation) कर लिया जाता है। वर्ग-अन्तराल 5′, 10′ 20′ 50′ 100′… हो सकता है। वास्तव में वर्ग अन्तराल भू-पत्रक में अंकित स्थानिक ऊँचाई की संख्या तथा स्वभाव पर आधारित होते हैं। भारतीय भू-पत्रकों पर अंकित स्थानिक ऊँचाई पर अधिक छोटा वर्ग-अन्तराल रखने पर कई वर्ग-अन्तराल रिक्त रह जाते हैं, अत वर्ग-अन्तराल 50′, 100′, 150′, 200′,…. रखना पड़ता है यद्यपि इससे सूक्ष्मता में कमी आ जाती है। लम्बवत् अक्ष के सहारे ऊँचाई मापक तथा क्षैतिज अक्ष के सहारे स्थानिक ऊँचाई को अंकित करके 'आयत चित्र' तथा रेखा चित्र' तैयार किया जाता है। वर्ग-अन्तराल बढ़ाते जाने पर आयत चित्र' में अन्तर आने लगता है तथा परिणाम भी बदलते नजर आते हैं। लेखक ने भू-पत्रक संख्या 64F/15 बिलासपुर जनपद—22°, 15′ उत्तर से 22° 30′ उत्तर तथा 81°45′ पूर्व से 82° पूर्व) के आधार पर स्थानिक ऊँचाई का आयत चित्र (42 अ) तैयार किया है। यद्यपि स्थानिक ऊँचाइयां कम संख्या में अंकित हैं परन्तु उनका वितरण समान है। स्थानिक ऊँचाइयाँ प्राय शिखरों पर या उनके समीपस्थ क्षेत्रों पर अंकित हैं।* वर्ग-अन्तराल 50′, 100′, 150′, तथा 200′ का रखा गया है। बारम्बारता आयत चित्र' से यह विचित्र तथ्य निकलता है कि आयत का शिखर विभिन्न वर्ग-अन्तराल के बावजूद बदलता नहीं है। अन्तिम वर्ग-अन्तराल पर दो शिखर अवश्य बन जाते हैं। अधिकांश उच्चस्थ भाग 1700′ 2100′ के बीच स्थित है। चित्र 42 ब में 'बारम्बारता वक्र' (Frequency Curve) निर्मित किया गया है। इसमें बदलते वर्ग-अन्तराल के साथ ग्राफ के शिखर में मामूली सा अन्तर होता है। परन्तु इनमें भी दो शिखर बनते हैं।

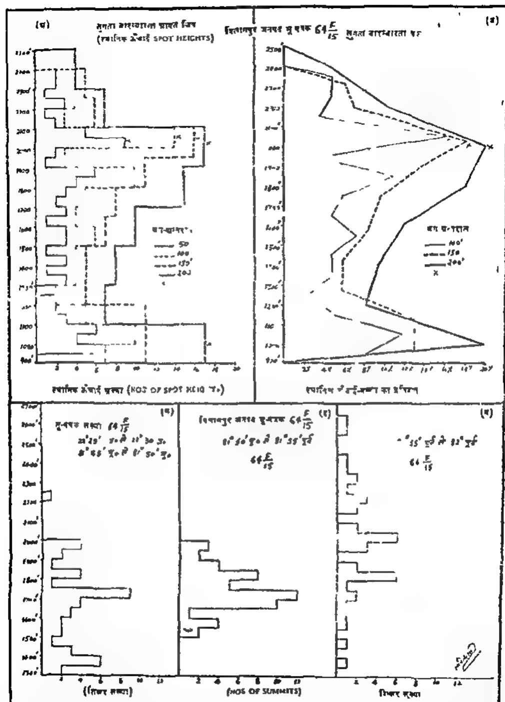
बालिग महोदय[1] ने इस विधि का प्रयोग सबसे पहले 1926 में किया। परन्तु इस विधि के प्रायोगिक महत्त्व की कड़ी आलोचना की गई है। डी स्मट (1954)[2] ने बताया है कि यह विधि क्षेत्रफल ऊँचाई आरेख (Area-Height Diagram) का मात्र संशोधन एवं परिवर्तित रूप ही है। इसका प्रयोग अपरदन-सतह' के निर्धारण के लिए नहीं किया जाना चाहिए। वास्तव में सभी स्थानिक ऊँचाइयों स्वाकृतिक महत्त्व की नहीं हैं। कई भू-पत्रकों पर इनका अंकन रेल मार्ग, सड़क, नहर आदि के सहारे किया जाता है, जो निश्चित रूप से स्थलरूप के विद्यार्थी के लिये महत्त्वहीन है। चित्र 42 अ में यह तथ्य स्पष्ट रूप से उभर कर सामने आया है। 42 अ में भू-पत्रक 64 F/15 के 'बारम्बारता आयत चित्र' में 200 के वर्ग अन्तराल पर ग्राफ में दो शिखर बने हैं जिनमें 900-1100 के बीच का शिखर निश्चय ही उन स्थानिक ऊँचाइयों की अधिकता के कारण बन गया है, जो कि मैदानी भागों में बस्तियों, सड़कों आदि के सहारे अंकित हैं।

(ii) ग्रिडविधि (Grid Method)—बालिग ने अपने स्थानिक ऊँचाई बारम्बारता आयत चित्र' की कमियों को दूर करने के लिये उसमें 1935 और 1939 में संशोधन किया तथा क्षेत्र (मानचित्र पर) को कई मापक के ग्रिड वर्ग में विभक्त कर दिया तथा प्रत्येक ग्रिड के

*भू-पत्रक का यह भाग एक पूर्ण घर्षित पठार है जिसको नदियों ने काट कर चौड़ी घाटियाँ बना डाली है। पत्रक का दक्षिणी पूर्वी भाग मैदानी है जिस पर स्थान-स्थान पर 900—1100′ ऊँची पहाड़ियां फैली हैं।

1 Baulig, H , 1926 Sur une method altimetrique d'analyse morphologique applique a la Bretagne Peninsulair', Bull. Assoc. Geog. Francais 10, pp 7-9.

2. Smet, R. de, 1954 Courbe hypsographique et profil moyen de l' Ardenne, Bull Soc. Belge d', Etudes Geog, 23, pp 143-67



42—अ (स्थानिक ऊँचाई) तुंगता बारम्बारता आयत चित्र (Altimetric frequency histogram)—बिलासपुर जनपद, भू-पत्रक संख्या 64F/15 पर आधारित। ब—तुंगता बारम्बारता वक्र (स्थानिक ऊँचाई)। स, द; य,—तुंगता बारम्बारता आयत चित्र (शिखर Summits), भू-पत्रक 64F/15

आँकड़ा तथा चित्रांकन सविन्द्र सिंह, 1972.

सारणी– 11

(स्थानिक ऊँचाई—भू-पत्रक 64 F/15 बिलासपुर जनपद)

वर्ग-अन्तराल 50′	संख्या (स्थानिक ऊँचाई)	वर्ग-अन्तराल 100′	संख्या स्थानिक ऊँचाई	वर्ग-अन्तराल 150′	संख्या-स्थानिक ऊँचाई	वर्ग-अन्तराल 200′	संख्या स्थानिक ऊँचाई
900—950	—	900—1000	7	900—1050	11	900—1100	17
950—1000	7	1000—1100	10	1050—1200	11	1100—1300	7
1000—1050	4	1100—1200	5	1200—1350	5	1300—1500	8
1050—1100	6	1200—1300	2	1350—1500	5	1500—1700	10
1100—1150	3	1300—1400	4	1500—1650	7	1700—1900	15
1150—1200	2	1400—1500	4	1650—1800	8	1900—2100	17
1200—1250	2	1500—1600	6	1800—1950	11	2100—2300	7
1250—1300	—	1600—1700	4	1950—2100	16	2300—2400	4
1300—1350	3	1700—1800	5	2100—2250	6		
1350—1400	1	1800—1900	10	2250—2400	5		
1400—1450	3	1900—2000	3				
1450—1500	1	2000—2100	14				
1500—1550	3	2100—2200	3				
1550—1600	3	2200—2300	4				
1600—1650	1	2300—2400	4				
1650—1700	3						
1700—1750	2						
1750—1800	3						
1800—1850	4						
1850—1900	6						
1900—1950	1						
1950—2000	2						
2000—2050	9						
2050—2100	5						
2100—2150	2						
2150—2200	1						
2200—2250	3						
2250—2300	1						
2300—2350	2						
2350—2400	2						

(आँकड़ा लेखक)

उच्चतम बिन्दु की बारम्बारता को आयत चित्र द्वारा प्रदर्शित किया। इस विधि के लिये बड़े क्षेत्र का चुनाव करना चाहिए ताकि कम से कम 5000 वर्ग उपलब्ध हो सके, जिनमे आवश्यक सांख्यिकीय आकड़े प्राप्त हो सके। परन्तु इसका दुष्परिणाम यह हो सकता है कि बारम्बारता उच्चिष्ठ (Frequency maxima) में अन्तर हो जाता है। इस विधि मे कई दोष है। प्रत्येक ग्रिड वर्ग के उच्चतम बिन्दु को लिया जाता है। अत कभी-कभी उच्चतम बिन्दु के लिये अन्य अपरदनात्मक महत्व वाले (अपेक्षाकृत कम ऊँचे) स्थलों का त्यागना पड़ता है। अधिकाश भारतीय भू-पत्रकों पर स्थानिक ऊंचाइयाँ इतनी कम होती है कि प्रत्येक ग्रिड मे उनका होना सन्दिग्ध होता है। ऐसी स्थिति मे उच्चतम बिन्दु का चयन अदाज से करना होता है। इस विधि का प्रयोग केवल उन स्थानो के अध्ययन के लिये किया जा सकता है जहाँ पर एक से अधिक 'सामान्य अपरदन-चक्र' पूरे हो चुके हो। जहाँ पर बड़े पैमाने पर वलन, संवलन, उत्थान तथा विरुपण (Deformation) की क्रियायें घटित हुई है वहाँ पर यह विधि उपयुक्त नही होती है (बालिग 1948)। कोरमेरियर तथा मकार (1948) ने बालिग के उपर्युक्त कथन का खण्डन किया है तथा बताया है कि 'सामान्य अपरदन-चक्र' से प्रभावित सतह अवतल ढाल वाली होती है अत उच्च भाग ढालो के रूप में होते है न कि सपाट भाग के रूप मे। इन विद्वानो ने उच्चतम बिन्दु के स्थान पर निम्नतम बिन्दुओं की उच्चता की बार-

चित्र—43 अ—तुलना बारम्बारता आयत चित्र [ग्रिड विधि 1″ (एक वर्ग मील) तथा 2″ (4 वर्ग मील) के ग्रिड में उच्चतम बिन्दुओं का प्रदर्शन किया गया है] ब—तुलना बारम्बारता वक्र—भू-पत्रक 64F/15 पर आधारित।
आंकड़ा तथा चित्रांकन - सविन्द्र सिंह, 1972

म्बारता आयत चित्र में अंकित करने की सलाह दी है। परन्तु यह सुझाव भी आलोचना रहित नहीं है।

इस विधि का प्रयोग कुछ संशोधन के साथ किया जा सकता है। समस्त क्षेत्र का बारम्बारता आयत चित्र न बनाकर इस क्षेत्र को कई उप-क्षेत्रों में विभक्त करके उनका अलग-अलग 'बारम्बारता आयत चित्र' बनाना चाहिए ताकि ढाल के स्वभाव का बोध हो सके। चित्र 43 अ, ब में भू-पत्रक 64F/15 (मिर्जापुर) के 1 वर्ग इंच तथा 2 वर्ग इंच के ग्रिड (क्रमशः 1 तथा 4 वर्गमील के ग्रिड वर्ग) के उच्चतम बिन्दुओं को बारम्बारता आयत चित्र तथा आरेख द्वारा प्रदर्शित किया गया है। यहाँ भी दो 'बारम्बारता अधिकतम' (Frequency maxima) बन गये हैं, अतः स्थानिक ऊंचाई के बारम्बारता आयत चित्र' के दोष यहाँ भी परिलक्षित हैं। वास्तव में इस भू-पत्रक के दक्षिणी भाग मैदानी है। प्रत्येक ग्रिड वर्ग में उच्चतम बिन्दु लेने पर कम ऊंचाई वाले मैदानी भाग में अपेक्षाकृत उच्चतम बिन्दुओं (जो कि अपरदनात्मक महत्त्व के नहीं हैं) का होना अनिवार्य हो जाता है, और यदि क्षेत्र में जाकर पर्यवेक्षण न किया

सारणी 12

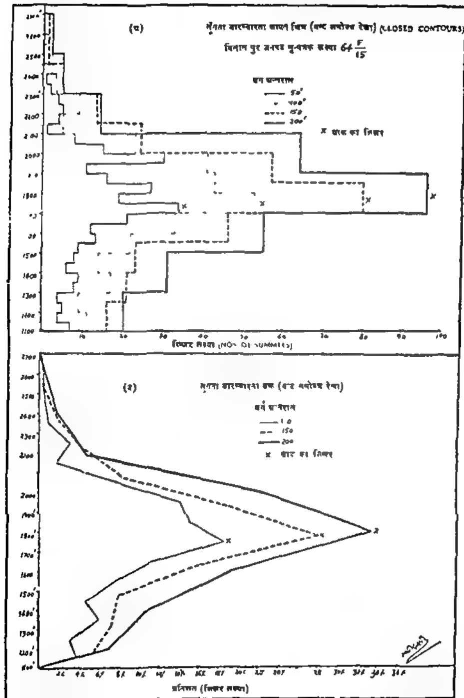
प्रत्येक ग्रिड-वर्ग के उच्चतम बिन्दु भू पत्रक 64F/15

वर्ग-अन्तराल 100′	1″ का ग्रिड उच्चतम बिन्दुओं की संख्या	2″ का वर्ग उच्चतम बिन्दुओं की संख्या
1000—1100	39	4
1100—1200	21	2
1200—1300	12	4
1300—1400	6	1
1400—1500	13	3
1500—1600	15	4
1600—1700	16	1
1700—1800	39	8
1800—1900	30	8
1900—2000	20	7
2000—2100	26	11
2100—2200	6	2
2200—2300	6	4
2300—2400	5	3
2400—2500	0	0
2500—2600	2	1
2600—2700	योग 256	योग 64

निम्न ऊंचाई के 1″ के ग्रिड में 16 बिन्दुओं को छोड़ दिया गया है।

(आंकड़ा-लेखक)

जाय तो उस क्षेत्र के उच्चावच्च के विषय में भ्रामक विवरण मिलने लगते हैं। चित्र 42, म, द तथा य में भू-पत्रक 64F/15 के 3 उपक्षेत्रों (प्रत्येक का अक्षांशीय तथा देशान्तरीय विस्तार 5′—5′ है) का बारम्बारता आयत चित्र तैयार किया गया है। प्रत्येक क्षेत्र की बारम्बारता-अधिकता प्राय एक सी है, जिससे स्पष्ट रूप से



चित्र—44 अ—तुंगता बारम्बारता आयत चित्र (Altimetric frequency histogram—बन्द समोच्च रेखाओं पर आधारित) ब—तुंगता बारम्बारता वक्र—भू-पत्रक 64F/15 पर आधारित।

आरेखन तथा चित्रांकन सविन्द्र सिंह 1972.

सारणी —13
शिखर-संख्या (बन्द समोच्च रेखा) भू-पत्रक 64F/15

वर्ग-अन्तराल 50′	शिखर संख्या	वर्ग-अन्तराल 100′	शिखर संख्या	वर्ग-अन्तराल 150′	शिखर संख्या	वर्ग-अन्तराल 200′	शिखर संख्या
1100—1150	7	1100—1200	11	1100—1250	16	1100—1300	20
1150—1200	4	1200—1300	9	1250—1400	21	1300—1500	31
1200—1250	5	1300—1400	17	1400—1550	23	1500—1700	55
1250—1300	4	1400—1500	14	1550—1700	46	1700—1900	96
1300—1350	8	1500—1600	22	1700—1850	80	1900—2100	64
1350—1400	9	1600—1700	33	1850—2000	57	2100—2300	14
1400—1450	6	1700—1800	53	2000—2150	24	2300—2500	5
1450—1500	8	1800—1900	43	2150—2300	13	2500—2700	2
1500—1550	9	1900—2000	41	2300—2450	[illegible]		
1550—1600	13	2000—2100	23	2450—2600	1		
1600—1650	12	2100—2200	5	2600—2750	1		
1650—1700	21	2200—2300	9				
1700—1750	34	2300—2400	3				
1750—1800	19	2400—2500	2				
1800—1850	27	2500—2600	1				
1850—1900	16	2600—2700	1				
1900—1950	11						
1950—2000	30						
2000—2050	15						
2050—2100	8						
2100—2150	1						
2150—2200	4						
2200—2250	5						
2250—2300	4						
2300—2350	2						
2350—2400	1						
2400—2450	2						
2450—2500	0						
2500—2550	0						
2550—2600	1						

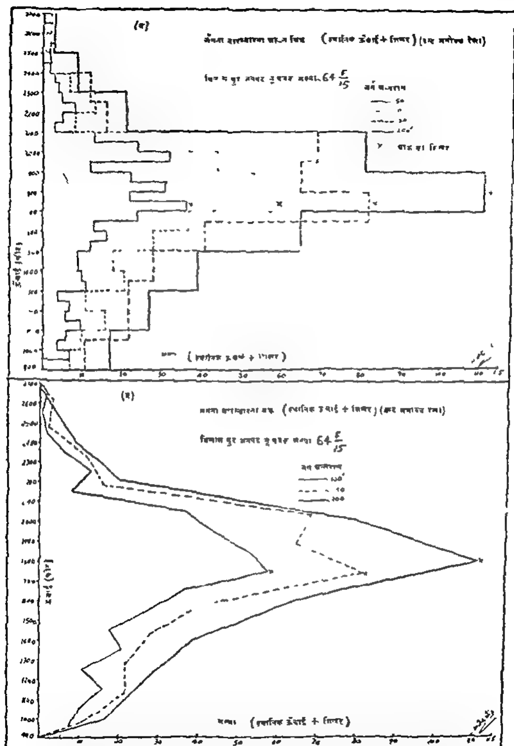
प्रमाणित हो जाता है कि ढाल में किसी दशा में अचानक गिरावट नहीं होती है और न ही इस क्षेत्र में मरोड़न (Warping) एवं विभ्रंशण हुआ है। परन्तु समस्त भाग एवं घर्षित प्रौढ़ पठारी भाग का चित्र प्रस्तुत करता है।

(iii) **शिखर तल की बारम्बारता (Frequency of summit levels)**—ऐसा विश्वास किया जाता है कि संगत शिखर (Accordant summits) प्रारम्भिक अपरदन-सतह के अवशेष होते हैं। अतः भू-पत्रकों में शिखरों को परिकलित करके उस क्षेत्र के अपरदन सम्बन्धी विवरण प्राप्त किए जाते हैं। इस विधि में शिखरों का निर्धारण अन्तिम समोच्च रेखाओं (Closed contours) द्वारा किया जाता है। स्मरणीय है कि सभी शिखरों का क्षेत्रफल समान नहीं होता है परन्तु उनको इस विधि में समान मूल्य प्रदान किया जाता है क्योंकि यहाँ पर शिखरों की संख्या में ही अन्तर रहता है। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि सभी शिखर प्रारम्भिक अपरदन-सतह के अवशेष होते हैं। इस विधि का प्रयोग सबसे पहले टामसन (1936)[1] ने हडसन गार्ज के अध्ययन के समय किया। तत्पश्चात् हॉलिंगवर्थ (1938)[2] ने इसका प्रयोग किया। क्लार्क[3] ने इस विधि का प्रयोग अरान, एन्जेल्सी तथा मान द्वीपों के आकारमितीय अध्ययन के समय किया। लेखक ने भू-पत्रक 64 F/15

1 Thompson. H. D, 1936 'Hudson Gorge in the Highlands, Bull Geol Soc Amer., 47 pp. 1831-48.

2 Hollingworth, S. E. 1938 : 'The recognition and correlation of high level erosion surfaces in Britain : a statistical study *Qurat Journ. Geol Soc Lond., 94, pp55-84.*

3 Clark. J. I, 1966 Marphometry from maps, in Essays in Geomorphology, ed. G H Durv Heinemann, London



चित्र—45 अ—तुलना बारम्बारता आयत चित्र (स्थानिक ऊँचाई तथा शिखर पर आधारित), ब—तुलना बारम्बारता वक्र—भू-पत्रक 64F/15 पर आधारित। आँकड़ा तथा चित्रांकन—सविन्द्रसिंह, 1972

(बिलासपुर) के शिखरों को चित्र 45 अ में 'बारम्बारता आयत चित्र' में प्रदर्शित किया है। यदि इस आयत चित्र को 42 अ तथा 43 अ (जिनमें क्रमशः सभी स्थानिक ऊँचाइयों तथा ग्रिड के उच्चतम बिन्दुओं को दर्शाया गया है) से तुलना की जाय तो यह आयत चित्र अधिक विश्वसनीय लगता है क्योंकि बारम्बारता अधिकतम (Frequency maxima) एक ही बनता है। निम्न ऊँचाई अर्थात् मैदानी भाग का प्रतिनिधित्व नहीं हो पाता है।

यदि स्थानिक ऊँचाई, ग्रिड के उच्चतम बिन्दु तथा शिखरों की संख्या के आँकड़ों को मिलाकर बारम्बारता आयत चित्र तैयार किया जाय तो परिणाम कुछ और सही आ सकता है। चित्र 45 अ में सभी स्थानिक ऊंचाई तथा शिखर (सन्द समोच्च रेखा) को मिलाकर बारम्बारता आयत चित्र (64 F/15) तैयार किया गया है। इसमें भी बारम्बारता अधिकतम एक ही बनता है। लेखक द्वारा तैयार किए गए सभी प्रकार के बारम्बारता आयत चित्रों तथा रेखा चित्रों में वर्ग-अन्तराल (Class interval) के बदलने पर ग्राफ के शिखर में अन्तर नगण्य है। यदि शिखर के क्षेत्रफल को भी परिगणित किया जाय तो क्षेत्रविशेष की घर्षण की मात्रा (Degree of dissection) के विषय में विश्वसनीय जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

(iv) स्कन्ध, शिखर तथा कॉल की बारम्बारता (Frequency of shoulders, summits and cols)— 1961 में गैल महोदय ने आकारमितीय विश्लेषण में स्कन्ध, शिखर तथा दर्रा (दर्रों) की बारम्बारता का प्रयोग किया। इस विधि में शिखर के क्षेत्रफल तथा स्कन्ध एवं कॉल की लम्बाई ज्ञात की जाती है। क्षेत्रफल तथा लम्बाई के आंकड़े प्राप्त करने के बाद अनुमापक के मापक के आधार पर मापक का चयन करके इन तीनों के लिए अंक प्रदान किये जाते हैं। गैल के अनुसार 1 50,000 तथा 1 63 360 के मापक पर बने मानचित्र पर अंकित 25 वर्ग मिली मीटर वाले शिखर का एक अंक तथा उसके बाद वाले प्रत्येक 25 वर्ग मि० मि० या उसके भाग को एक अतिरिक्त अंक प्रदान किया जाता है। इसी तरह प्रत्येक 5 मि० मी० लम्बे स्कन्ध या कॉल के लिये एक अंक प्रदान किया जाता है। इस तरह से प्राप्त आँकड़े का सारणीयन करके 'मिश्रित बारम्बारता आयत चित्र' तैयार किया जाता है। निश्चय ही यह विधि कठिन तथा श्रमकारी है। गैल तथा मकार ने स्वयं यह स्वीकार किया है कि इस विधि का प्रयोग साधारण घर्षित क्षेत्र के लिए किया जा सकता है।

4 परिच्छेदिका (Profiles)

किसी धरातलीय सतह के एक निश्चित तल के सहारे उच्चावच की रूपरेखा को परिच्छेदिका कहा जाता है। प्रायः परिच्छेदिका तथा काट (Section) का प्रयोग समानार्थी रूप में किया जाता है, परन्तु काट का प्रयोग भू-वैज्ञानिक संरचना के लिए किया जाना चाहिए। नदी की परिच्छेदिका दो तरह की होती हैं। जब नदी के मुहाने से उद्गम तक अनुदैर्घ्य घाटी की रूपरेखा को लिया जाता है तो वह अनुदैर्घ्य परिच्छेदिका (Longitudinal profile) होती है, और जब अनुदैर्घ्य घाटी के किसी एक बिन्दु पर समकोण पर घाटी के आर-पार की रूपरेखा को लिया जाता है तो यह अनुप्रस्थ परिच्छेदिका (Transverse profile) होती है। इसी तरह किसी क्षेत्र के समान उच्चावच्च की भी परिच्छेदिकाएँ हो सकती हैं। भू-आकारिकी में परिच्छेदिका का अत्यन्त महत्त्व होता है क्योंकि इसमें क्षेत्र विशेष के उच्चावच्च की प्राकृतिक तथा विभिन्न ढाल वाली सतहों का स्पष्ट बोध हो जाता है। कई प्रकार की क्रमिक परिच्छेदिकाओं द्वारा स्थान विशेष के उच्चावच्च तथा स्थलरूप का विशद विवरण प्राप्त किया जा सकता है।

(i) अध्यारोपित परिच्छेदिका (Superimposed profile)— पहले मानचित्र पर क्षेत्र का चयन किया जाता है। तत्पश्चात् समान दूरी पर उस पर समानान्तर रेखायें खींची जाती हैं। प्रत्येक रेखा के सहारे कागज रखकर प्रत्येक समोच्च रेखा के कटान बिन्दुओं तथा स्थानीय ऊंचाइयों को अंकित कर लिया जाता है। पुनः उनको ग्राफ कागज पर क्षैतिज तथा लम्बवत् मापक के सहारे बिन्दुओं द्वारा अंकित कर लिया जाता है। एक रेखा के सहारे अंकित सभी बिन्दुओं को निष्कोण रेखा (Smooth line) से मिलाकर एक परिच्छेदिका तैयार कर ली जाती है। इसी तरह प्रत्येक रेखा के सहारे अंकित बिन्दुओं को मिलाकर परिच्छेदिकाएँ खींच ली जाती हैं।

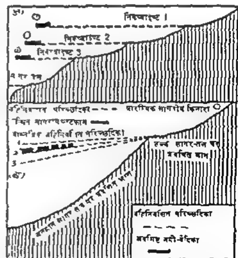
अध्यारोपित परिच्छेदिका का प्रयोग केवल उस समय वाञ्छनीय होता है, जबकि क्षेत्र विशेष के स्थलरूपों में आकृतिक समता (Morphological Unity) हो उदाहरण के लिए अपरदन-सतह, घाटीस्पर आदि, अन्यथा सभी परिच्छेदिकायें मिलकर परिणाम को और अधिक

चित्र 46—अध्यारोपित, प्रक्षेपित तथा संयुक्त परिच्छेदिकायें (रांची पठार की लघु प्रवाह बेसिन) सविन्द्र सिंह

जटिल बना देती है। देखिए चित्र 46 का प्रथम कालम।

(ii) संयुक्त परिच्छेदिका (Composite pofiles) — किसी भी क्षेत्र के उच्चावच्च के प्रदर्शन के लिए संयुक्त परिच्छेदिका का प्रयोग किया जाता है जिसमें केवल उच्चस्थ शिखर ही प्रदर्शित किए जाते हैं जैसा कि उस क्षेत्र के उच्चावच्च में अनिच्छिन्न दृश्य में समानान्तर तल के सहारे देखने से प्रकट होता है। पहले क्रमिक अध्यारोपित परिच्छेदिकायें पेन्सिल की सहायता से खींची जाती हैं। तत्पश्चात् उच्चस्थ भागों को मिलाने वाली रेखाओं के अलावा अन्य रेखाओं को मिटाकर संयुक्त परिच्छेदिका निर्मित कर ली जाती है। देखिए चित्र 46 का अन्तिम कालम।

(iii) प्रक्षेपित परिच्छेदिका (projected profiles)— इस परिच्छेदिका में क्षेत्र विशेष के उच्चावच्च की वास्तविक झलक (सर्वदिग्दृश्य panoramic) मिलती है क्योंकि इसमें सभी ऊँचाइयों के शिखर-तल (Summit levels) को प्रदर्शित किया जाता है। सबसे पहले क्षेत्र विशेष की



चित्र 47—अ-उत्थित सागरीय प्लेटफार्म के आधार पर परिच्छेदिका का बहिर्निवेशन (Extrapolation) तथा ब—अवशिष्ट नदी वेदिका के आधार पर परिच्छेदिका का बहिर्निवेशन। आर० जे० स्माल के अनुसार।

अध्यारोपित परिच्छेदिकायें खींची जाती है। तत्पश्चात् अगली परिच्छेदिका (ऊँचाई के आधार पर—बढ़ती ऊँचाई) के केवल उस भाग को ही मुद्रित रखा जाता है जो पिछली परिच्छेदिका से ऊँचे होते हैं। निम्न भाग को मिटा दिया जाता है। इस तरह क्षेत्र विशेष की प्रक्षेपित परिच्छेदिका का निर्माण कर लिया जाता है। देखिये चित्र 46 का बीच का सामन।

(iv) पुनर्रचित परिच्छेदिका (Reconstructed profile)—किसी क्षेत्र में अपरदन चक्र में उत्थान तथा अवलतन के कारण व्यवधान उपस्थित होता रहता है। उत्थान के कारण सरिताओं में नवोन्मेष (Rejuvenation) हो जाता है जिस कारण प्रारम्भिक प्रवणित परिच्छेदिका (Former Graded Profile) विक्षुब्ध हो जाती है तथा उसमें ढाल भंग (Break in slope) हो जाता है जिसे निक प्वाइण्ट (Knick Point) कहते हैं। इस तरह प्रारम्भिक परिच्छेदिका में प्राय दो खण्ड (और भी अधिक खण्ड Segments हो सकते हैं) हो जाते हैं। ऊपरी खण्ड प्रारम्भिक प्रवणित परिच्छेदिका का अंश होता है और निचला भाग नवीन परिच्छेदिका का अंश होता है। ऐसी स्थिति में प्रारम्भिक परिच्छेदिका की पुनर्रचना की समस्या उठती है। इसकी पुनर्रचना के लिये कई गणितीय गुर बनाये गये हैं (ग्रीन 1934)। देखिये पृष्ठ 27। परिच्छेदिका की पुनर्रचना से उत्थित सागरीय वेदिकायें (Raised marine terraces), सरिताओं की अवशिष्ट वेदिकायें (Remnants River terraces) निकप्वाइण्ट आदि महत्त्वपूर्ण योगदान देते हैं। इस तरह की पुनर्रचित परिच्छेदिकाओं से अनाच्छादन कालानुक्रम (Denudation Chronology) के अध्ययन में पर्याप्त सहायता मिलती है। चित्र 47 ब में परिच्छेदिका की पुनर्रचना की दो विधियाँ स्पष्ट की गयी हैं।

(ii) जलीय आकारमिति (Fluvial Morphometry)

प्रवाह बेसिन : एक भ्वाकृतिक इकाई
(Drainage Basin . A Geomorphic Unit)

सामान्य परिचय

जलीय अपरदनात्मक स्थलरूपों के ज्यामितीय मापन एवं विश्लेषण को जलीय आकारमिति में सम्मिलित किया जाता है। इसके अन्तर्गत प्रवाह-बेसिन (Drainage Basin) के आकारमितीय पहलुओं का अध्ययन किया जाता है। वर्तमान भू-आकारिकी में जलीय अपरदनात्मक स्थलरूपों के ज्यामितीय (Geometrical) वर्णन का सर्वाधिक प्रचलन हो चला है। इसके लिये एक क्षेत्रीय इकाई का चयन करना होता है, जिसके अन्तर्गत प्राप्य स्थलरूपों के आकार सम्बन्धी आंकड़े प्राप्त किये जा सकें, उनका संगठन करके विश्लेषण किया जा सके (चोर्ले 1969)[1] इस उद्देश्य के लिये फेनमन (1914)[2] ने भौतिक प्रदेशों (Physiographic Regions) का चयन किया। आगे चल कर कुछ विद्वानों ने इस क्षेत्रीय इकाई के चयन का आधार "भौतिक अणु" (Physiographic Atoms) को बनाया (ऊलरिज 1932, सैविजीयर 1969)।[3] प्लेफेयर तथा डेविस ने प्रवाह-बेसिन को क्षेत्रीय इकाई के रूप में स्वीकार किया। डेविस के अनुसार "सामान्य रूप में नदियाँ किसी पत्ती की शिरायें होती हैं, व्यापक रूप में पूर्ण पत्ती होती है" (डेविस 1899)। हार्टन[4] ने प्रवाह-बेसिन को एक पूर्ण भ्वाकृतिक इकाई का रूप प्रदान किया (1945) और स्ट्रालर (1964)[5] तथा शोर्ले ने उसका सम्वर्द्धन किया।

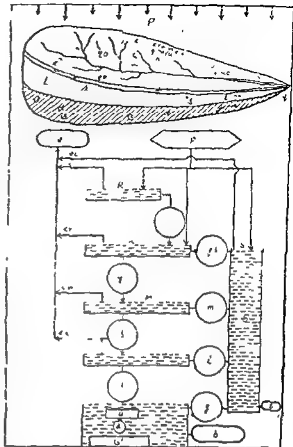
1. Chorley, R J [ed] 1969 Introduction to Physical Hydrology'. Methuen & Co. pp 37—38.
2. Fenneman N M 1914 'Physiographic boundaries within United States', Annals of the Assoc Amer Geogr 4 pp 84—134
3. [a]—Wooldridge, S W , 1932 The cycle of erosion and the representation of Scottish Geographical Magazine 48, pp 30—36
   [b] Savigear, R A. G., 1965 'A technique for morphological mapping', Annals of Assoc Amer. Geogr., 55, pp 514 - 38
4. Horton, R E , 1945 'Erosional development of streams and their drainage basins, Hydrological approach to quantitative morphology', Bull Geol. Soc. Amer., 56. pp 257—370.
5. Strahler, A N., 1964 'Quantitative Geomorphology of drainage basins and channel networks'. In Chow, V. T . Editor, Handbook of Applied Hydrology [McGraw Hill, New York], Section 4 —11

प्रवाह-बेसिन

प्रवाह-बेसिन उस स्थलीय क्षेत्र को कहते हैं जो कि किसी खास सरिता या किसी मुख्य सरिता एवं उसकी सहायक सरिताओं को जल प्रदान करता है। इस तरह सामान्य रूप से मुख्य एवं सहायक दो प्रकार की प्रवाह-बेसिन हो सकती है। वास्तव में प्रवाह-बेसिन वर्षा का स्रोत-स्थल होती है जो कि विभिन्न मार्गों से अपने क्षेत्र की विभिन्न सरिताओं को जल पहुँचाती है (हार्टन)। प्रवाह-बेसिन की सीमा का निर्धारण जल विभाजकों द्वारा किया जाता है (चित्र 3, अध्याय 2)। प्रवाह-बेसिन की बाह्य सीमा को **प्रवाह बेसिन-परिमिति** (Perimeter of Drainage Basin) कहते हैं। इस तरह प्रवाह-बेसिन धरातल के लघु क्षेत्रों को प्रदर्शित करती है जिसके अन्तर्गत आधारभूत जलवायु परिमाणों का मापन तथा स्थलरूपों का वर्णन एवं व्याख्या की जाती है। किसी भी प्रवाह-बेसिन में प्राप्त होने वाली वर्षा की मात्रा, सरिताओं से होकर बहने वाले जल की मात्रा, भूमिगत जलभण्डार में परिवर्तन आदि का ब्योरेवार मापन (Measurement) किया जाता है, साथ ही साथ वाष्पीकरण एवं वनस्पतियों द्वारा वाष्पोत्सर्जन (Transpiration) का भी अनुमान लगाया जाता है। प्रवाह-बेसिन के अध्ययन के मुख्य तीन पहलू होते हैं -(i) **रेखीय पहलू** (Linear Aspect)—इसके अन्तर्गत सरिताओं की रेखीय विशेषताओं (संख्या, लम्बाई तथा श्रेणी-order) का अध्ययन किया जाता है (ii) **क्षेत्रीय पहलू** (Areal Aspect)— बेसिन परिमिति बेसिन-क्षेत्र, बेसिन आकार प्रवाह-बेसिन के क्षेत्रफल प्रवाह-घनत्व तथा प्रवाह-गठन (Drainage Texture) का अध्ययन क्षेत्रीय पहलू के अन्तर्गत किया जाता है तथा (iii) *उच्चावच्च पहलू (Relief Aspect)*—इसके अन्तर्गत प्रवणता-दर्शी, उच्चतादर्शी तथा उच्चतामितिक विश्लेषण प्रवाह-बेसिन की ढाल-प्रवणता सरिता के जलमार्ग की ढाल प्रवणता (Channel Gradient) घाटी-पार्श्व की ढाल-प्रवणता (Valley side slope Gradient), सामान्य ढाल मापन उच्चावच्च घर्षण सूची, उच्चावच्च अनुपात विभिन्न प्रकार की परिच्छेदिकाओं आदि का अध्ययन किया जाता है।

प्रवाह-जाल (Drainage Network)

प्रवाह-बेसिन की मुख्य सरिता तथा उसकी सभी सहायक सरिताओं के सामूहिक क्रम को **प्रवाह-जाल** कहा जाता है। इसके अन्तर्गत स्थायी, अस्थायी, सभी प्रकार



चित्र 48 बेसिन जलीय चक्र (Basin Hydrological cycle) के विभिन्न अंग-आर० जे० मोर के अनुसार।

चित्र 48 का पाठ=p—वर्षा e—वाष्पीकरण वाष्पोत्सर्जन (Evapotranspiration), R′—अन्तर्ग्रहण भण्डार (*Interception storage*), d—तना प्रवाह तथा रिसाव *(Stem flow and drip)*, R—*धरातलीय* भण्डार, q₀—स्थल के ऊपर से प्रवाह (Overland flow), f—अन्त सचरण (Infiltration), M—मृदा आर्द्रता भण्डार (Soil moisture storage), m—सीधा प्रवाह (Through flow), s—निस्यन्दन (Seepage), *L—वातनमण्डल भण्डार (Aeration zone storage)*, d - भूमिगत जल पुन पूरण (Ground water recharge) G —भूमिगत जलभण्डार, d′—गहराई में निस्यन्दन G′—गहरा भण्डार, g—आधार प्रवाह (Base flow) b—गहराई में बाह्य प्रवाह (Deep over flow), q —बेसिन जलमार्ग वाहो जल (*Basin channel Run off*)।

की सरिताओं को सम्मिलित किया जाता है। छोटी-छोटी अल्पकालिक सरिताये (Rills) भी सम्मिलित की जाती है। इतना ही नही अगुल्याकार (Finger-tip) जलमार्गों को भी सम्मिलित किया जाता है। स्मरणीय है कि प्रवाह-जाल की सरिताओं का चयन मानचित्र के मापक तथा उपयोग के उद्देश्य पर आधारित होता है।

प्रवाह बेसिन जलीय चक्र (Drainage Basin Hydrological Cycle)

प्रवाह-बेसिन मे वर्षा से प्राप्त जल का समावेश विभिन्न विधियों म होता है, और अन्तत जल की वापसी भी हो जाती है जो वाष्पीकरण-वाष्पोत्सर्जन (Evapotranspiration) तथा झील एव सागर या सागर तली मे वापसी के रूप मे होता है। इसे **बेसिन जलीय चक्र** कहा जाता है। इस चक्र के समय जल-सतुलन (Water Balance) तथा जल समाधन का आकलन किया जाता है। इस आकलन (Estimation) से बाढ़ तथा सूखे का आभास हो जाता है और उससे बचने के लिये मानव 'जलीय चक्र' म हस्तक्षेप करके जल सशोधन को नियंत्रित करने का प्रयास करता है। निश्चय ही भू-आकारिकी का यह व्यावहारिक भाग (Applied part) मानव समुदाय के लिये हितकर है। बेसिन के 'जलीय चक्र' मे जल के **निवेश** (Input), **भण्डार** (Storage), **स्थानान्तरण** (Transfer) निर्गम (Output) आदि का अलग-अलग एव उनके आपसी अन्तर्सम्बन्धो का अध्ययन किया जाता है। इस तरह बेसिन जलीय चक्र' के अन्तर्गत वर्षा से प्राप्त जल (Input) का वितरण होता है। यह वितरण **कई भण्डार क्षेत्रो** मे होता है। जल का एक भंडार से दूसरे भण्डार मे स्थानान्तरण होता है। इन भण्डारो से जल का निर्गमन (Output) वाही जल (Run off), वाष्पीकरण-वाष्पोत्सर्जन (Evapotranspiration) तथा भूमिगत जल के बाह्य प्रवाह (Out flow) के रूप मे सम्पन्न होता है। भूमिगत जल का निर्गम इतना जटिल होता है कि उसका सही पता लगाना कठिन होता है। अत इसे बेसिन जलीय चक्र' मे कम महत्व प्रदान किया जाता है। आर० जे० मोर (1969)[1] ने 'बेसिन जलीय चक्र' के मुख्य कार्यान्वयन (Operation) को निम्न समीकरण के रूप मे प्रस्तुत किया है—

Precipitation (वर्षा) = Basin channel run off (बेसिन जलमार्ग वाही जल) + Evapotranspiration (वाष्पीकरण-वाष्पोत्सर्जन) + Changes in storages (भण्डार मे परिवर्तन)।

$$p = q + e + \Delta\ (I, R, M, L, G, S)$$

q = जलमार्ग का वाही जल (Channel run off)
e = वाष्पीकरण-वाष्पोत्सर्जन (Evapotranspiration)
I = अन्तर्ग्रहण भण्डार (Interception storage)
R = धरातलीय भण्डार (Surface storage)
M = मृदा-आर्द्रता भण्डार (Soil moisture storage)
L = वातन-भण्डार (Aeration Storage)
G = भूमिगत जल-भण्डार (Ground waterstorage)
S = जलमार्ग भण्डार (Channel storage)
p = अंकित वर्षा

चित्र 49 मे प्रयुक्त अन्य सकेत —

i = रिसाव (Drip)
qo = स्थल के ऊपर स प्रवाह (Overland flow)
s = निस्यन्दन (Seepage)
d = भूमिगत जल पुन पूरण (Ground water recharge)
d′ = गहरा निस्यन्दन (Deep percolation)
G′ = गहरा भण्डार (Deep storage)
m = सीधा प्रवाह (Through flow)
f = अन्त. सचारण (Infiltration)
qp = बेसिन जलमार्ग वाही जल (प्राक्कलित)
qs = बेसिन जलमार्ग वाही जल
g = आधार प्रवाह (Base flow)
b = गहराई मे बाह्य प्रवाह (Deep outflow)
l = आन्तरिक प्रवाह (Interflow)
L = अन्त सचरण

1 अपवाह क्षेत्र वितरण उप-प्रणाली
2 वनस्पति उप-प्रणाली
3. धरातलीय उप-प्रणाली
4 मिट्टी उप-प्रणाली
5 वातन मण्डल उप-प्रणाली
6. भूमिगत जल उप-प्रणाली
7 जलमार्ग उप-प्रणाली
8. उप-प्रणाली मे परिमार्जन
9 तुलना
10. समायोजित मॉडल

बेसिन जलीय चक्र का कार्यान्वयन (आर० जे० मोर के अनुसार)[2]—वर्षा का जल धरातल पर वनस्पतियों,

1. More, R. J. 1969 · 'The Basin Hydrological Cycle', in Introduction to Physical Hydrology, edited by Chorlely, R. J. Methuen & Co Ltd pp. 26—30.
2. प्रस्तुत विवरण मोर के शोध लेख का अनुवादित रूप है।

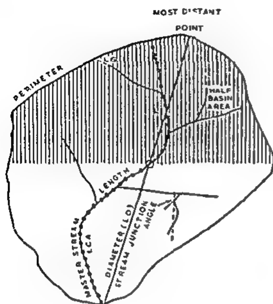
नग्न शैल, मलवा, मिट्टी की सतह, जलाशय तथा नदियो मे पडता है। वनस्पतियो की पत्तियो तथा तनों पर रुका जल रिसकर (i) अन्तर्ग्रहण भण्डार (I) के रूप मे एकत्र होता है। इसके कुछ भागो का वाष्पीकरण (ei) हो जाता है। वनस्पतियो से मिला जल भूतल पर प्रत्यक्ष रूप से मिला जल तथा भूतल पर स्थित जल मिलकर धरातलीय भण्डार (R) के रूप मे एकत्रित होते है। इसका या तो प्रत्यक्ष वाष्पीकरण (er) हो जाता है या समीपी सरिता मे स्थल प्रवाह (qo) के रूप मे समावेश हो जाता है या मिट्टियो मे प्रवेश (अन्तःसचरण f) हो जाता है। मिट्टियो मे रुका जल मिट्टी आर्द्रता भण्डार (M) का रूप ले लेता है। मिट्टी-आर्द्रता भण्डार के जल का या तो वनस्पतियो से वाष्पोत्सर्जन (em) हो जाता है या सीधे मिट्टी-मण्डल मे होकर सीधे प्रवाह (m) के रूप मे जल मार्ग सग्रह (S) मे प्रवेश हो जाता है, या लम्बवत रूप मे नीचे रिसकर (s) वातन मण्डल भण्डार (L) के रूप मे एकत्रीकरण हो जाता है। वातन-मण्डल का जल आन्तरिक प्रवाह (l) के रूप मे जलमार्ग भण्डार (S) मे पहुँचता है या रिसकर नीचे जाकर भूमिगत जल पुनःपूरण' (d) का रूप लेता है। अत्यधिक शुष्क समय मे वातन मण्डल के भण्डार का वाष्पीकरण-वाष्पोत्सर्जन (el) हो जाता है। भूमिगत जल पुनःपूरण' का जल रिसकर नीचे जाकर भूमिगत भण्डार (G) का रूप लेता है। इससे कुछ जल आधार प्रवाह (g) के रूप मे सरिता मे चला जाता है या रिसकर (d″) अत्यधिक गहराई मे गहरे भण्डार (G″) का रूप लेता है। इसका कुछ भाग अन्दर ही अन्दर प्रवाहित हो जाता है (b) और यह जल या तो वर्षा के प्राप्ति स्थल से बहुत दूर जाकर सागरतली मे मिल जाता है या समीपी बेसिन' भूमिगत जल भण्डार की वृद्धि करता है (देखिये चित्र 48)। चित्र 49 मे प्रवाह बेसिन के विभिन्न भागों का प्रवाह आरेख प्रस्तुत किया गया है।

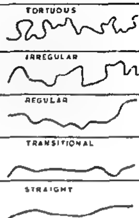
'बेसिन जलीय चक्र' के विभिन्न अगो एव उपागो तथा उनके अन्तर्सम्बन्धो का अध्ययन कई रूपों मे किया जाता है। इसमे से पाँच विधियाँ उल्लेखनीय है—(i) नेचुरल एनालाग मॉडल (ii) हार्डवेयर मॉडल, (iii) सिन्थेटिक सिस्टम मॉडल, (iv) पार्शियल सिस्टम मॉडल तथा (v) ब्लैक बाक्स एप्रोच मॉडल। विशद् विवरण के लिये देखिये शोर्ले द्वारा सम्पादित पुस्तक 'इण्ट्रोडक्शन टू फिजिकल हाइड्रोलॉजी' मे आर० जे० मोर का शोध लेख—'बेसिन हाइड्रोलॉजिकल साइकिल' पृष्ठ 30-35, (1969) तथा इस पुस्तक के पृष्ठ 17-20.

रेखीय पहलू (Linear Aspect)

प्रवाह-बेसिन के रैखिक पहलू के अन्तर्गत विभिन्न सरिताओ (सरिता खण्डो Stream segments) की सख्या, उनकी लम्बाई तथा उनकी श्रेणियो (Orders) का अध्ययन किया जाता है। प्रवाह-बेसिन मे स्थित अनुत्पाकार सरिता को भी सम्मिलित किया जाता है। *1945 मे हार्टन ने सरिता-सख्या तथा सरिता की लम्बाई का सरिता-श्रेणी के साथ सम्बन्धो का अध्ययन किया।* **"प्रवाह बेसिन की सहायक सरिताओ के पदानुक्रम (Hierarchy) मे किसी सरिता की स्थिति के मान को सरिता श्रेणी कहा जाता है"**—Stream order is a measure

चित्र—49 बेसिन के विभिन्न अगो का प्रवाह-
आरेख (Flow diagram)—आर० जे० मोर के अनुसार, सकेत के लिये पाठ देखिये।

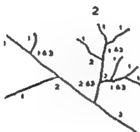


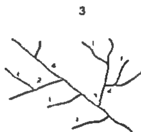


C

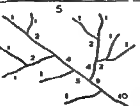
METHODS OF STREAM & SEGMENT ORDERING













चित्र—50 : सरिता श्रेणीकरण की विधियाँ।

of the position of a stream in the hierarchy of tributaries.[2]

सरिता का श्रेणीकरण (Stream Ordering)—किसी भी प्रवाह-बेसिन के आकारमितीय अध्ययन के लिये सबसे पहले उसके जाल (Network) को विभिन्न श्रेणियों में विभक्त किया जाता है। सरिताओं के श्रेणीकरण के लिए कई विधियाँ (ग्रैवेलियस, 1914, हार्टन, 1945, स्ट्रालर, 1952 तथा 1964 श्रीव, 1966, उल्डेन वर्ग, 1966, ग्रेगरी एवं वालिंग, 1973, ग्रीफ 1975, जेम्स तथा क्रुम्बीन, 1969, मार्क 1971, जरविस, 1976 तथा 1977 स्मार्ट 1972 1976 तथा 1978, स्मार्ट तथा वालिस, 1971 आदि) प्रस्तावित की गई है,(चित्र 50) परन्तु उनमें से हार्टन, श्रीव तथा स्ट्रालर की विधियाँ अधिक उपयोगी तथा प्रचलित है।

(i) **हार्टन विधि (Horton's Method)**[2]—किसी भी सरिता की प्रवाह-बेसिन के सरिता-जाल में जो सरितायें बिना सहायक की होती हैं अर्थात् जो स्वयं किसी सरिता की तो सहायक होती है परन्तु उसकी कोई सहायक सरिता नहीं होती है, वे प्रथम श्रेणी (First Order) की सरिता कही जाती है। जब दो प्रथम श्रेणी की सरितायें मिलती हैं तो उनके सगम से नीचे की ओर द्वितीय श्रेणी (Second Order) का निर्माण होता है। इन दो प्रथम श्रेणी की सरिताओं में जो सबसे लम्बी होती है वह द्वितीय श्रेणी की सरिता के उद्गम को प्रदर्शित करती है। जब द्वितीय श्रेणी की दो सरितायें आपस में मिलती हैं तो तृतीय श्रेणी (Third Order) का आविर्भाव होता है। द्वितीय श्रेणी की सरिताओं में सबसे लम्बी सरिता तृतीय श्रेणी की सरिता को प्रदर्शित करती है। स्मरणीय है कि तृतीय श्रेणी में प्रथम और द्वितीय दोनों श्रेणियों की सरितायें हो सकती हैं। इस तरह 'नियम' रूप में कहा जा सकता है—**"जब दो समान श्रेणी की सरितायें आपस में मिलती हैं तो अगली उच्च श्रेणी (Next higher order) का निर्माण होता है।"** इस विधि में सरिता श्रेणी का अंकन कठिन होता है तथा कई बार तब्दीलियाँ करनी होती हैं। उदाहरण के लिये जब प्रथम श्रेणी की सभी सरिताओं का अंकन (Numbering) हो जाता है और जब दो प्रथम नम्बर प्राप्त नदियाँ आपस में मिलकर द्वितीय श्रेणी का निर्माण करती हैं तो उनमें से सबसे लम्बी (जिसको पहले 1 नम्बर मिला था) सरिता को 2 नम्बर दिया जाता है। (देखिये चित्र 51 अ) (ii) **स्ट्रालर की सरिता खण्ड विधि (Strahler's stream-segment method)**[3]—हार्टन की दुरूहता को दूर करने के लिये स्ट्रालर ने (1964) *सरिता को कई खण्डों (Segments) में विभक्त* कर दिया। सभी बिना सहायक वाली सरितायें प्रथम श्रेणी के सरिता खण्ड होती है। सभी को 1 संख्या प्रदान की जाती है। जब प्रथम श्रेणी के दो सरिता खण्ड आपस में मिलते हैं तो सगम के नीचे (Down stream) द्वितीय श्रेणी का आविर्भाव होता है। उसे 2 संख्या प्रदान की जाती है। जहाँ पर द्वितीय श्रेणी के दो सरिता खण्ड मिलते है तृतीय श्रेणी का निर्माण होता है . । इस प्रकार स्ट्रालर विधि में प्रत्येक श्रेणी (प्रथम श्रेणी को छोड़कर) की सरिता की वास्तविक लम्बाई तथा उद्गमस्थल अंकित करने का प्रयास नहीं किया जाता है। स्मरणीय है कि इस विधि से सरिताओं की वास्तविक लम्बाई का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो पाता है, परन्तु सरिता-खण्डों की लम्बाइयों को जोड़कर वास्तविक लम्बाई ज्ञात की जा सकती है। यह विधि अधिक सरल है। देखिये चित्र 50 तथा 51 (iii) **श्रीव विधि (Shreve's Stream link magnitude method)**[4]—स्ट्रालर-विधि का एक दोष यह है कि जब तक किसी श्रेणी में उसके बराबर श्रेणी के सरिता-खण्ड नहीं मिलते तब तक उसकी श्रेणी नहीं बढ़ती है। अर्थात् उच्चतम श्रेणी वाली प्रमुख सरिता में मिलने वाली निम्न श्रेणी (Lower Order) की सरिता प्रमुख सरिता श्रेणी को नहीं बढ़ा पाती है। इस कमी को दूर करने के लिए श्रीव (1966) ने सरिता-जाल को कई कड़ी में विभक्त करने का सुझाव दिया है। श्रेणी (Order) के स्थान पर श्रीव ने परिमाण (Magnitude) शब्द का प्रयोग किया है। जहाँ पर प्रथम परिमाण वाली दो कड़ियाँ (Links) मिलती हैं,

1. Leopold, L. B Wolman, M. G. Miller, J. P , 1969 Fluvial Processes in Geomorphology. Eurasia Publishing House, Pvt. Ltd. Ram Nagar New Delhi- 55, p 134.
2. Horton, R. E , 1945 वही।
3. Strahler, A N 1964 : वही।
4. Shreve, R L , 1966 : 'Statistical Law of Stream Numbers' Journ. of Geology, 74, pp. 17-37.

चित्र—51 सरिता श्रेणी (Stream orders) : अ—हार्टन विधि (टोंस की सहायक कग्यार नदी), ब—स्ट्रीव विधि (टोंस की सहायक महानदी की सहायक सिगारी नदी) तथा स—स्ट्रालर विधि (बेतान नदी की सहायक ओडा नदी)—भूपत्रक 63 H। आँकड़ा तथा चित्रांकन—सविन्द्र सिंह, 1972

वहाँ पर द्वितीय परिमाण दो (Second magnitude) हो जाता है। यदि इस द्वितीय परिमाण मे आगे चलकर प्रथम परिमाण की एक कड़ी मिलती है तो तृतीय परिमाण का निर्माण होता है। इसी तरह यदि 3 परिमाण की दो कड़ियाँ आपस मे मिलती है तो सगम के नीचे 6 परिमाण (6th Magnitude) हो जाता है। इसके (6ठी) चौथी परिमाण की एक कड़ी मिलती है तो सगम के नीचे 10वाँ परिमाण हो जाता है। देखिये चित्र 51 व।

2 द्विशाखन अनुपात (Bifurcation Ratio = Rb)—किसी भी प्रवाह-जल (Drainage Network) की विभिन्न श्रेणियो (Orders) के सरिता खण्डो (Stream Segments) के अन्तर्सम्बन्धो के अध्ययन का महत्त्व होता है। किसी भी श्रेणी के सरिता खण्डो की सख्या तथा अगली श्रेणी (Next higher order) के सरिता-खण्डो की सख्या के अनुपात को द्विशाखन अनुपात (Rb) कहते है, जिसको निम्न फार्मूला मे व्यक्त करते है

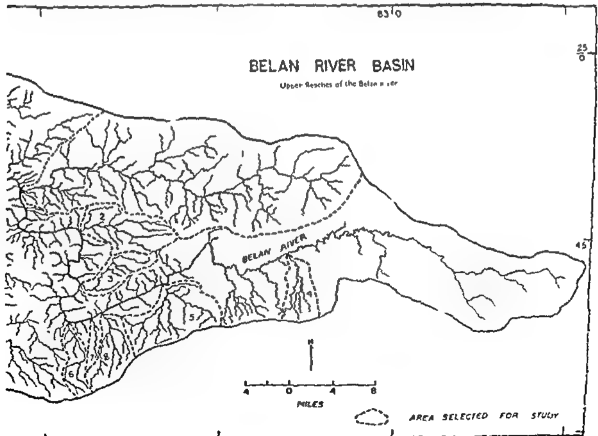
$$\text{द्विशाखन अनुपात} = Rb = \frac{Nu}{N_{+1}}$$

u = श्रेणी (order), Nu = किसी निश्चित श्रेणी के सरिता खण्ड की सख्या।

द्विशाखन अनुपात पर प्रवाह-बेसिन की धरातलीय बनावट जलवायु आदि का प्रभाव होता है। यदि समान शैल, समान जलवायु तथा विकास की समान अवस्थाये है तो द्विशाखन अनुपात स्थिर (Constant) रहता है। यदि किसी भी प्रवाह बेसिन मे द्विशाखन अनुपात 3 से 5 के बीच मे होती है तो वह आदर्श सरिता-क्रम का प्रदर्शित करती है। सारणी 14 मे ओडा नदी (लेखक) आदर्श स्थिति वाली सरिता-क्रम को प्रदर्शित करती है।

हार्टन ने 'सरिता सख्या का सिद्धान्त' (Law of Stream Numbers) का प्रतिपादन किया है—

'किसी भी प्रवाह बेसिन मे क्रमिक निम्न श्रेणियो



चित्र—52. बेलन नदी के ऊपरी भाग का मानचित्र
(सविन्द्र सिंह तथा रेनू श्रीवास्तव)

सारणी 14

(बेलन नदी की सहायक ओडा नदी)

सरिता-श्रेणी Stream order (u)	सरिता-खण्ड की संख्या (Nu)	द्विशाखन अनुपात(Rb)
1	110	3 9
2	28	4 0
2	7	2 3
4	3	3 0
5	1	—

(आंकडा लेखक)

(Successive lower orders) की सरिताओं की संख्या म गुणात्मक क्रम (Geometrical series) होता है उच्च तम श्रेणी की सरिता संख्या 1 से प्रारम्भ होकर स्थिर द्विशाखन अनुपात (Constant bifurcation ratio) के अनुसार संख्या बढती जाती है।[1]

उदाहरण के लिये यदि प्रमुख सरिता छठी श्रेणी की है और द्विशाखन अनुपात 4 है तो उच्च श्रेणी से निम्न श्रेणी (6 5 4 3 2, 1) की सरिताओं की संख्या क्रमश 1, 4, 16, 64 256 तथा 1024 होगी। इस सरिता-संख्या तथा श्रेणी के बीच गुणात्मक क्रम (Geometric Progression) के आधार पर निम्न ऋणात्मक घाताक फलन (Negative Exponential Function) मॉडल का निर्माण होता है।

घाताक समीकरण (Exponential Equation) $Nu = Rb^{(k-u)}$ k = प्रवाह-बेसिन की उच्चतम श्रेणी। इस तरह ऋणात्मक घाताक फलन की समाश्रयण रेखा को (regression line) को निम्न फार्मूला से परिकलित तथा निश्चित करते हैं—

$\log y = \log a - bx$

y = सरिताखण्डो की संख्या

x = सरिता श्रेणी (order)

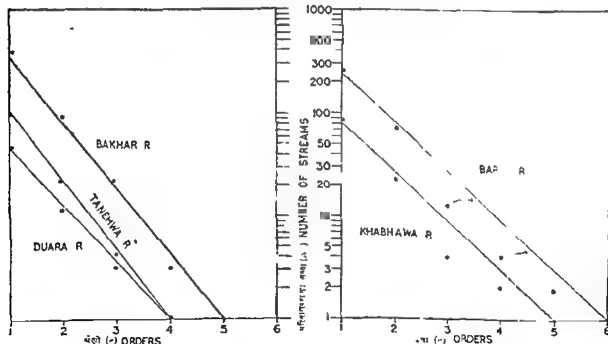
a = स्थिरांक

b = समाश्रयण गुणांक (regression coefficient)

प्रथम श्रेणी की सरिता संख्या $N_1 = 4^{5-1} = 4^4 = 256$

द्वितीय श्रेणी की सरिता-संख्या $N_2 = 4^{5-2} = 4^3 = 64$

.........आदि



चित्र 53

प्रत्येक सरिता श्रेणी के सरिता खड (Stream segments) को उनकी श्रेणी के विपरीत अंकित करने पर ऋणात्मक घाताक फलन के प्रतीपगमन की सीधी रेखा (Straight line regression of negative exponential function) का निर्माण होता है। आंकडा तथा चित्रांकन—सविन्द्र सिंह, रेनु श्रीवास्तवा 1974[1]

1—Singh, Savindra and Renu Srivastava, 1974 : A Morphometric Study of the Tributary Basins of Upper Reaches of Belan River, National Geographer Vol IX, p. 36. 35.

सारणी 15 (काल्पनिक)

श्रेणी (u)	सरिता खंड की संख्या Nu	द्विशाखन अनुपात Rb
1	256	4.0
2	64	4.0
3	16	4 0
4	4	4.0
5=k	1	—
	ΣNu=341	

समस्त प्रवाह-बेसिन की सभी श्रेणियों के सरिता खण्डों की संख्या = ΣNu

$$\Sigma Nu = \frac{Rb^k - 1}{Rb - 1}$$

अतः

$$\Sigma Nu = \frac{4^5 - 1}{4 - 1}$$

$$\Sigma Nu = \frac{1024 - 1}{3} = \frac{1023}{3} = 341$$

3 **लम्बाई अनुपात** (Length Ratio, R_L)—सामान्यतः प्रवाह-बेसिन में प्रथम श्रेणी के सरिताखण्डों की औसत लम्बाई न्यूनतम होती है परन्तु यह तभी सम्भव है जब कि लघुतम मापक के मानचित्र का प्रयोग किया जाय तथा अगुल्याकार नलिकाओं (Fingertip rills) को भी सम्मिलित किया जाय। इस तरह, सामान्य रूप में, बढ़ती श्रेणी (Increasing order) के साथ औसत लम्बाई बढ़ती जाती है। प्रत्येक दो क्रमिक श्रेणियों के समस्त सरिताखण्डों की लम्बाई के अनुपात को लम्बाई अनुपात (R_L) कहते हैं। इसके परिकलन के लिए सभी श्रेणी के सरिता खण्डों की लम्बाई को ओपिसोमीटर की सहायता से नाप कर उनका सारणीयन (Tabulation) कर लिया जाता है। तत्पश्चात् प्रत्येक श्रेणी के सरिताखण्डों की औसत लम्बाई ($\bar{Lu}$) ज्ञात की जाती है।

$$\text{औसत सरिता लम्बाई } Lu = \frac{\Sigma Lu}{Nu}$$

ΣLu = किसी श्रेणी के समस्त सरिताखण्डों की लम्बाई का योग।

Nu = उसी श्रेणी के समस्त सरिताखण्डों की संख्या।

$$\text{लम्बाई अनुपात } R_L = \frac{\bar{L}u}{\bar{L}_{u-1}}$$

हार्टन ने 'सरिता लम्बाई का सिद्धान्त' (Law of stream length) का प्रतिपादन किया है—

'क्रमिक श्रेणियों (Successive orders) के सरिता खण्डों की सचयी औसत लम्बाई (Cumulative mean

सारणी—16

(बेलन की सहायक नदियाँ—चित्र[2] 34)

क्र० सं०	प्रवाह बेसिन	प्रत्येक श्रेणी की सरिता खंडों की संख्या (Nu) (u)						द्विशाखन अनुपात (Rb) (u)						औसत द्विशाखन अनुपात ($\bar{R}b$)
		1	2	3	4	5	6	1	2	3	4	5	6	
1.	बखार नदी	389	91	22	3	1	—		4.2	4 1	7 3	3.0	—	4 6
2	सनेहवा नदी	99	22	4	1	—	—		4 5	5 5	4 4	-	—	4 6
3.	खबवा नदी	86	22	4	2	1	—		3 9	5 5	2.0	2 0		3 3
4.	दुआरा नदी	46	11	3	1	—	—		4 2	3.6	3 0	—	—	3 6
5.	बरका नदी	247	69	12	4	2	1		3 7	5 7	3.0	2 0	2 0	3 2

आँकड़ा—सविन्द्र सिंह तथा रेनु श्रीवास्तव

1—2 Singh, Savindra and Renu Srivastava, 1974. A Morphometric Study of the Tributary Basins of Upper Reaches of Belan River, National Geographer, Vol. IX, pp. 36-37.

सारणी—17

(वेलन की सहायक नदियाँ)[1]

क्रम० सं० प्रवाह बेसिन	प्रत्येक श्रेणी (u) मे सरिता खण्डो की औसत ल० (मील) 1	2	3	4	5	6	सचयी लम्बाई (मील) (u) 1	2	3	4	5	6	लम्बाई अनुपात (LR) (u) 1	2	3	4	5	6	औ० ल० अनुपात ($\overline{R}$L)
1. वखार नदी	0 58	1.01	1.98	4.30	10.7	—	0.58	1 59	3.57	7 87	18 57	--	1 7	1 9	2.1		2.4	—	2 0
2. तनेहवा नदी	0.50	0 93	2,7	5 9	—	-	0.5	1 43	4 13	10 03	-	—	1.8	2 9	2.2		—	--	2 3
3. खबदा नदी	0 39	0.53	1.3	1.[illegible]	2 0	—	0.39	0 92	2.22	4 02	6 02	-	1.3	2 4	1 3		1 1	—	1.5
4. दुआरा नदी	0.33	0 51	3 03	4 8	–	—	0 33	0.84	3.87	3 67	—	—	1.5	5.9	1.5		—	—	2.9
5 बरका नदी	0 25	0.42	1 15	2.22	2.0	0 7	0 25	0.67	1 8	4.04	6 04	6 74	1.6	2.7	1 9		0-9	0.3	—

आकड़ा - सविन्द्र सिंह तथा रेनु श्रीवास्तव

1. Singh, Savindra & Renu Srivastava 1974 A Morphometric Study of the Tributary Basins of Belan River, National Geographer, Vol. IX, pp 36-37

length) मे गुणात्मक क्रम (geometric progression) होता है, जो कि स्थिर लम्बाई अनुपात (Constant length ratio) के अनुसार प्रथम श्रेणी मे प्रारम्भ होकर उच्च श्रेणी की ओर बढ़ती जाती है।"

हार्टन के इस नियम को धनात्मक घाताक फलन मॉडल (Possitive Exponential Function Model) के नाम से जाना जाता है जिसे निम्न समीकरण के रूप मे प्रस्तुत किया जा सकता है—

$$Lu=\overline{L}_1 \; R_L^{\;(u-1)}$$

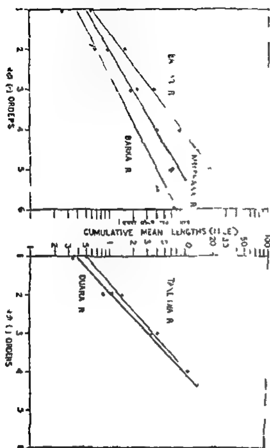
$\overline{L}_1$ =प्रथम श्रेणी के सरिताखण्डो की औसत लंबाई।

यदि सरिता श्रेणी एव उनके सरिता खण्डो की सचयी औसत लम्बाई को स्थिर अनुपात मापक (Constant ratio scale) पर चित्रित किया जाय तो 'धनात्मक घाताक फलन' के प्रतीपगमन (Regression) की सीधी रेखा का निर्माण होता है। देखिये चित्र 54, जिसमे सारणी 17 की नदियो के उपर्युक्त आकडे अकित किये गये हैं।

4. वक्रता सूचकाक (Sinuosity Index)—सरिताये किसी न किसी रूप मे वक्राकार मार्ग अवश्य अंगीकृत करती है क्योंकि उनका ज्यामितीय सीधा मार्ग सभव नही है। नदियो के वक्राकार मार्ग के विकास मे सरचना, जलवायु, वनस्पति, समय आदि का महत्त्व होता है। वक्रता सूचकाक के आधार पर प्रवाह-बेसिन की भू-आकारिकी के अध्ययन मे कुछ सहायता अवश्य मिलती है। नदी की वक्रता (Sinuosity) के अध्ययन के लिये कई प्रकार के गुणात्मक (Qualitative) तथा मात्रात्मक (Quantitative) तक्नीको का सहारा लिया जाता है। नदी के जलमार्ग की लम्बाई (Channel length, CL) तथा उसकी घाटी की लम्बाई (Valley length, VL) के अनुपात को वक्रता सूचकाक कहते है। जब यह अनुपात 1 से 1·3 होता है तो नदी वक्र (Sinuous) कही जाती है, और जब यह अनुपात 1 3 से अधिक होता है तो नदी विसर्पित (Meandering) कही जाती है। सरिता के वक्रता सूचकाक के परिकलन (Calculation) के

लिये मुलर (1968)[1] ने मॉडल का निर्माण किया है जिसमें सरिता के जलमार्ग की लम्बाई (CL), घाटी की लम्बाई (VL) तथा उद्गम से मुहाने के बीच की लघुतम वायु दूरी (Air) को सम्मिलित किया जाता है।

(i) जलमार्ग सूचकांक $CI = \frac{CL}{Air}$



चित्र—54

प्रत्येक श्रेणी (Order, u) की सचयी औसत सरिता लम्बाई (Cumulative) को उनकी श्रेणी के सामने अंकित करने पर धनात्मक घातांक फलन के प्रतीपगमन की सीधी रेखा (Straight regression line of positive exponential function) का निर्माण होता है आंकड़ा तथा चित्रांकन-सविन्द्र सिंह एवं रेनु श्रीवास्तव, 1974[2]

सारणी 18

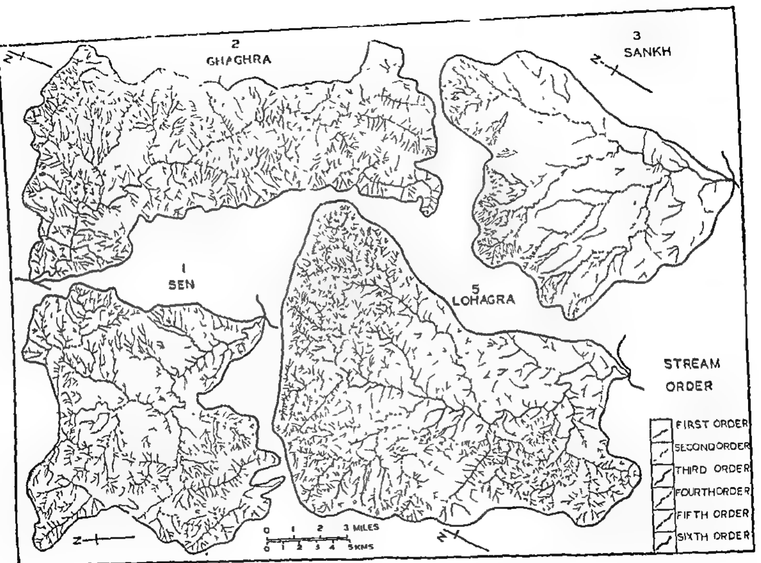
वक्रता सूचकांक (रांची पठार की प्रवाह-बेसिन)

प्रवाह बेसिन	जलमार्ग सूचकांक (CI)	घाटी सूचकांक (VI)	जलीयवक्रता सूचकांक (HSI %)	स्थलाकृतिक वक्रता सूचकांक (TSI %)	(SSI)
1 ऽन	1 47	1 38	19 2	80 8	1 06
2 घाघरा	1 38	1 26	31 6	64 4	1 10
3 मघ	1 11	1 03	72 7	27 3	1 07
4 वार्नी I	1 20	1 06	70 0	30 0	1 18
5 लोहागरा	1 39	1 17	56.4	53 6	1 19
6 नलकारी(अपर्ण)	1 45	1 14	68 9	31 1	1.28
7 छाता	1 36	1.12	66 6	33 4	1 21
8 उदियागारा	1 57	1 47	17.5	82 5	1 07
9 दाकी II	1 19	1 12	36.8	63.2	1 06
10 अम्राझरिया	1 20	1 13	35 0	65 0	1.07
11 डॉगाजोर	1 13	1 09	30 7	69 3	1 03
12 जमजोर	1 19	1 14	26 3	73 7	1 05
13 धोपद	1.36	1 24	33.3	63 7	1 09
14 मार्फा	1 37	1 17	54 0	46 0	1 17
15 विरगोगा	1 43	1 15	65 1	34.9	1 24
16 जूमर	1.27	1.07	74.0	26 0	1 19
17 गगा	1 13	1 09	30 7	69.3	1.04
18 उरनगढा	1 16	1 09	43 7	56 3	1 06
19 श्यमा	1 25	1 13	48 0	52 0	1.10
20 ऽमगा	1.14	1.04	71 0	29 0	1.10
21. बाम	1.34	1.16	52 9	47.1	1.16
22. मलेगुनु	1 16	1 11	31 2	68 8	1.04
23 खकराजर	1.29	1.22	24.1	76.9	1.05

आंकड़ा = सविन्द्र सिंह, 1978

1 Mueller, J. E. 1968. "An Introduction of the Hydraulic and Topographic Sinuosity Index" Ann Assoc Amer. Geogr. Vol. 58, No 2, pp. 371-385

2 Singh, Savindra and Renu Srivastava 1974 · A morphometric Study of tributary basins of upper reaches of Belan River, National Geographer, Vol IX p. 38.



चित्र—55 : राँची पठार की लघु प्रवाह-बेसिन (सरिताओं का पदानुक्रम)।

चित्र 56—राची पठार की लघु प्रवाह-बेसिन (सरिताओं का पदानुक्रम)।

चित्र—57 : राची पठार की लघु प्रवाह बेसिन (सरिताओं का पदानुक्रम)।

(ii) घाटी सूचकांक $VI = \frac{VL}{Air}$

(iii) जलीय वक्रता सूचकांक

$$HSI = \% \text{ equivalent of } \frac{CI - VI}{CI - 1}$$

(जलीय नियंत्रण के कारण वक्रता)

(vi) स्थलाकृतिक वक्रता सूचकांक

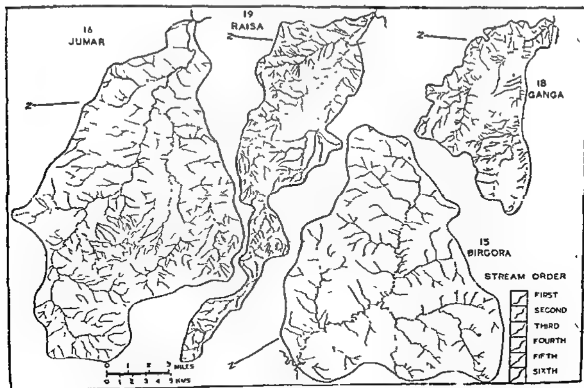
$$TSI = \% \text{ equivalent of } \frac{VI - 1}{CI - 1}$$

(स्थलाकृतिक नियन्त्रण के कारण वक्रता)

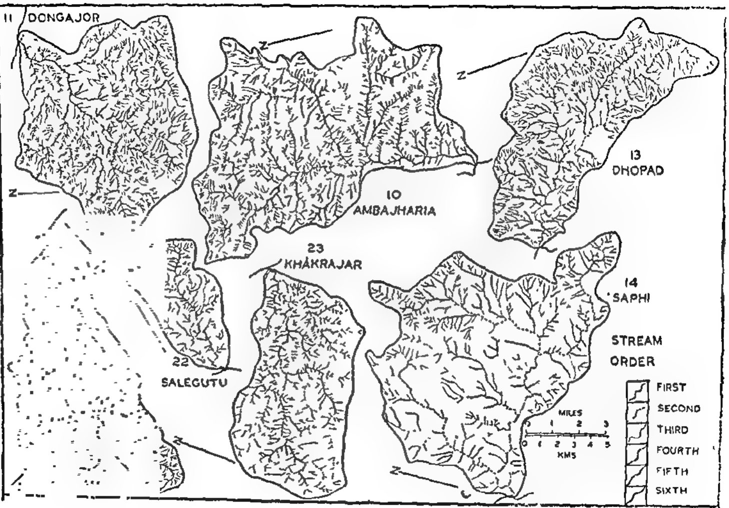
सामान्य रूप में पर्वतीय भाग में स्थलाकृति नियन्त्रण के कारण स्थलाकृतिक वक्रता सूची का प्रतिशत (%TSI) जलीय वक्रता सूची के प्रतिशत (%HSI) से अधिक होता है तथा मैदानी भाग में स्थलाकृतिक नियंत्रण के शिथिल हो जाने के कारण जलीय नियंत्रण (Hydrological Control) अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है। अत मैदानी भाग में जलीय वक्रता सूची का प्रतिशत अधिक होता है। सारणी 18 में यह बात स्पष्ट की गई है।

वक्रता-सूचकांक का व्यावहारिक अध्ययन

राँची पठार की लघु प्रवाह-बेसिन के वक्रता सूचकांक के परिकलन तथा अध्ययन के लिए मूलर-मॉडल का का प्रयोग किया गया है। राँची पठार में चयन की गई 23 लघु प्रवाह-बेसिन के वक्रता के **प्रामाणिक वक्रता सूचकांक** (SSI) 1.5 से कम है तथा 1.00 से अधिक है; जिससे प्रमाणित होता है कि सभी बेसिन वक्र (Sinuous) सरिता की श्रेणी में आती है। यद्यपि मध्य राँची पठार की सरितायें अपने विकास की अन्तिम अवस्था में है तथापि अपरदन के लिए अवरोधी ग्रेनाइट-नीस सरचना के कारण वे बाढ़-मैदान तथा विसर्पों (मियाण्डर) का निर्माण नही कर पायी हैं। नलकारी नदी का सर्वाधिक प्रामाणिक सूचकांक (1.28) इसलिये है कि वह उत्तरी एस्कार्पमेण्ट के तीव्र ढाल में उतरने के पहले मध्य राँची पठार के चौरस धरातल तथा एस्कार्पमेण्ट से नीचे उतरने पर हजारीबाग के निम्न समतल सतह पर प्रवाहित होती है। मध्य राँची पठार की नदियाँ (जैसे बिरगोरा 1.24, लोहागरा 1.19, जुमर 1.19, सफी 1.17 तथा बाकी प्रथम 1.13) औसतन उच्च प्रामाणिक सूचकांक प्रदर्शित



चित्र—58 : राँची पठार की लघु प्रवाह-बेसिन (सरिताओं का पदानुक्रम)



चित्र—59 गर्वी पठार की लघु प्रवाह बेसिन (सरिताओं का पदानुक्रम)।

करती है यद्यपि इनका मान 1.5 से कम ही है। सख (1 07) तथा गगा (1 04) नदिया अपवाद स्वरूप हैं। ये मान मध्य रांची पठार की समप्राय मैदान-अवस्था को इंगित करते हैं। सख नदी रांची पठार के पश्चिमी उच्च प्रदेश में एस्कार्पमेण्ट से नीचे उतरती है जिस कारण इसका प्रवाह-मार्ग लगभग सीधा हो गया है। दोनों तरफ समानान्तर पर्वत-श्रेणियो से घिरी होने के कारण गगा नदी का प्रामाणिक सूचकाक सीधा मार्ग होने से कम हो गया है।

पश्चिमी उच्च प्रदेश की सरिताओ (घोघर 1 09. घाघरा 1 10 तथा सेन 1.06) के न्यूनतम प्रामाणिक सूचकाक उनके विकास की अन्तिम तरुणावस्था या प्रारम्भिक प्रौढ़ावस्था की दशाओ को इंगित करते हैं। दक्षिणी निम्न पठारी प्रदेश की नदियो (अम्बाझरिया 1.07, जमजोर 1 05 डोंगाजोर 1 03, खक्राजर 1 05, वाकी द्वितीय 1 06 तथा उदियागारा 1 07) के सूचकाक भी न्यून हैं। पूर्वी रांची पठार की उडनगाढा नदी का न्यून प्रामाणिक सूचकाक (1.06) उसके दोनो तरफ स्थित समानान्तर पर्वत-श्रेणियो के कारण है।

प्रवाह-बेसिन के विकास से सम्बन्धित कारको के अध्ययन के लिये जलीय तथा स्थलाकृतिक वक्रता सूचकाको का एक महत्त्वपूर्ण आकारमितीय यन्त्र के रूप में प्रयोग किया जा सकता है। मध्य राची पठार की नदियो के प्रवाह-मार्ग की वक्रता निश्चय ही जलीय प्रभावो के के कारण है क्योकि जलीय वक्रता सूचकाक (HSI) 54% से 74% के बीच मे है। गगा नदी की वक्रता में स्थलाकृतिक वक्रता सूचकाक (TSI 69 3%, HSI 30 7%) का प्रभुत्व उच्चावच्च कारक के फलस्वरूप ही सम्भव हो पाया है। गगा और राढ़ नदियों के संगम-स्थल पर जोन्हा प्रपात (25.9 मीटर) की स्थिति गगा नदी के नवोन्मेष की द्योतक है तथा यह प्रपात निक प्वाइण्ट का उदाहरण है। पश्चिमी उच्च प्रदेशकी नदियो की वक्रता स्थलाकृतिक नियन्त्रणो के कारण है जैसा कि घोघर (63. 7%), घाघरा (68 8%) तथा सेन (80 8%)नदियो क स्थलाकृतिक सूचकांको से परिलक्षित है। **दक्षिणी निम्न पठार** की नदियो की वक्रता भी स्थलाकृतिक नियन्त्रको के कारण है क्योंकि स्थलाकृतिक सूचकाक जलीय सूचकाक की तुलना मे अत्यधिक हैं।

प्रवाह-बेसिन की आकार-ज्यामिति (Geometry of Basin Shape)

प्रवाह-बेसिन के आकार के ज्यामितीय अध्ययन से उनके विभिन्न आकारो का तुलनात्मक अध्ययन तथा उनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध मे पर्याप्त सहायता मिलती है (निम्न, मध्यम तथा उच्च चक्रिलता सूचकाक Circularity Index प्रवाह-बेसिन के विकास की क्रमश. तरुण, प्रौढ तथा जीर्ण अवस्थाओ से सम्बन्धित होते हैं)। सामान्य रूप मे एक आदर्श प्रवाह-बेसिन का आकार नाशपाती जैसा होता है परन्तु बेसिन का आकार उसके क्षेत्रीय विस्तार, प्रमुख नदी की लम्बाई तथा परिसीमा (परिधि) पर आधारित होता है जबकि ये अन्तिम प्राचल (क्षेत्रीय विस्तार, नदी की लम्बाई तथा परिधि) स्वयं निरपेक्ष उच्चावच्च, ढाल, भू-वैज्ञानिक संरचना, चट्टानो के अश्मविज्ञान (lithology) सम्बन्धी विशेषताओं आदि प्राचलों (variables) से प्रभावित होते हैं, अतः प्रवाह-बेसिन के आकार में विषमता का होना स्वाभाविक ही है। प्रवाह-बेसिन के **चक्रिलता सूचकांक** तथा **दैर्ध्यवृद्धि सूचकाक** (elongation ratio) के परिकलन के निम्न सूत्र प्रचलित हैं—

(i) Horton's Form Factor (*F*)

$$F = \frac{A}{L^2}$$

जबकि F = Form Factor, जो बेसिन के दैर्ध्य-वृद्धि सूचकाक को इंगित करता है।
A = प्रवाह-बेसिन का क्षेत्रफल
L = बेसिन-लम्बाई

F का मान 0 से 1 तक होता है। मान जितना ही कम होगा बेसिन का आकार उतना ही लम्बा होगा और बढता मान बेसिन की अधिक चक्रिलता का द्योतक होता है।

(ii) Stodart's Ellipticity Index (E), (1965)

$$E = \frac{L}{2b} = \frac{\pi L^2}{4A}$$

E (अण्डवृत्ताकृति सूचकाक) का मान 0 से 1 के बीच रहता है। स्टोडार्ट का E हार्टन के F से व्युत्क्रम समानुपातिक (inversely Proportional) है।

(iii) *Miller's* (1953) Circularity Index (C)

$$C = \frac{\text{बेसिन का क्षेत्रफल}}{\text{ऐसे वृत्त का क्षेत्रफल जिसकी परिधि बेसिन की परिधि के बराबर हो।}}$$

$$\text{या } C = \frac{4\pi A}{P^2}$$

P = बेसिन की परिधि

C (चक्रिलता सूचकांक) का मान 0 (सीधी रेखा) से 1 (पूर्ण वृत्त) के बीच रहता है। C का मान जितना अधिक होगा, बेसिन का आकार उतना ही अधिक चक्रिल (गोल) होगा।

सारणी—19

बेसिन आकार-सूचकांक

प्रवाह बेसिन (रांची पठार)	चक्रिलता सूचकांक (C)	दैर्घ्यवृद्धि अनुपात (Elongation ratio R)	रूप फैक्टर (F)	लेमिनिस्केट (K)
1. सेन	0.43	0.78	0.47	0.53
2. घाघरा	0.36	0.62	0.30	0.83
3. मधु	0.85	0.79	0.49	0.51
4. रांची I	0.63	0.68	0.36	0.69
5. लोहागरा	0.72	0.87	0.60	0.41
6. लालकारी (अपूर्ण)	0.52	0.83	0.54	0.46
7. छाता	0.42	0.68	0.36	0.69
8. उदियागारा	0.49	0.79	0.49	0.51
9. रांची II	0.87	0.89	0.62	0.40
10. अम्बाजरिया	0.44	0.77	0.47	0.53
11. डोंगाजोर	0.82	0.89	0.63	0.40
12. जमजोर	0.52	0.64	0.32	0.77
13. घोपद	0.61	0.72	0.41	0.61
14. सार्फा	0.53	0.77	0.47	0.53
15. विरगोरा	0.64	0.87	0.59	0.42
16. जूमर	0.58	0.67	0.35	0.71
17. गंगा	0.47	0.67	0.36	0.69
18. उरनगढ़ा	0.39	0.51	0.20	1.21
19. रैसा	0.25	0.39	0.12	2.07
20. डमरा	0.75	0.67	0.35	0.71
21. बारू	0.48	0.60	0.28	0.87
22. मनगुनु	0.57	0.67	0.35	0.71
23. सकराजर	0.40	0.69	0.38	0.65

आंकड़ा = सविन्द्र सिंह, 1978

(iv) Schumm's (1956) Elongation Ratio (R)

$$R = \frac{\text{ऐसे वृत्त का व्यास जिसका क्षेत्रफल बेसिन के क्षेत्रफल के बराबर हो}}{\text{बेसिन की लम्बाई}}$$

$$R = 2\sqrt{\left(\frac{A}{\pi}\right)}$$

$$R = \frac{2}{\sqrt{\pi}}\sqrt{\left(\frac{A}{L^2}\right)} = \frac{2}{\sqrt{\pi}}\sqrt{F} \text{ or}$$

$$\left(F = \frac{\pi}{4}R\right)^2$$

R (लम्बाई अनुपात/दैर्घ्यवृद्धि अनुपात) हार्टन के F के वर्गमूल के समानुपातिक होता है। R का मान O (अत्यधिक लम्बा आकार) से 1 (पूर्ण चक्रिलता) के बीच रहता है। अतः R का मान जितना अधिक होगा, बेसिन का आकार उतना ही अधिक चक्रिल (गोल) होगा।

(v) Chorley, Malm and Progrzelski's (1957) Lemniscate Method (K)

$$K = \frac{L^2}{4A}$$

K का मान जितना अधिक होगा, बेसिन का आकार उतना ही अधिक लम्बा होगा।

चक्रिलता सूचकांक का व्यावहारिक पक्ष

चक्रिलता सूचकांक के उपर्युक्त सूत्रों के आधार पर रांची पठार की 23 प्रवाह-बेसिन के आकार के सूचकांक (सारणी 19) परिकलित किये गये हैं। सारणी से प्रकट होता है कि रैसा नदी का चक्रिलता सूचकांक (C = 0.25) न्यूनतम है जो उसके अत्यधिक दैर्घ्यवृद्धि (elongated) आकार का सूचक है। चक्रिलता सूचकांक के अन्य मान (R = 0.39, F = 0.12 तथा K = 2.07) भी रैसा नदी के अत्यधिक लम्बे आकार का इंगित करते हैं। पूर्वी रांची पठार के समतल प्राय मैदान के ऊपर प्रवाहित होने वाली रैसा नदी का यह आकार उसके दोनों तरफ स्थित पहाड़ियों के कारण है। इसी तरह उडनगढा बेसिन (पूर्वी रांची पठार) का आकार उसके दोनों ओर स्थित समानान्तर पहाड़ियों के कारण अत्यधिक लम्बा है (C = 0.39, F = 0.20, K = 1.21)। बेसिन-आकार के चारों सूचकांकों के आधार पर रांची द्वितीय, डोंगाजोर डमरा लोहागारा तथा विरगोरा बेसिन अधिक वृत्तीय आकार वाली हैं जबकि रैसा, उडनगढा, घाघरा, बारू आदि बेसिन का आकार अत्यधिक लम्बा है।

राँची पठार के विभिन्न भ्वाकृतिक प्रदेशों की बेसिन के आकार पर भू-वैज्ञानिक संरचना, निरपेक्ष उच्चावच्च तथा ढाल के प्रभाव अलग-अलग रूपों में परिलक्षित होते हैं। मध्य राँची पठार की नदियों (लोहागारा, मख, बिरगोरा, सफी आदि) के आकार की अत्यधिक चक्रिलता उस क्षेत्र के ग्रेनाइट नीस संरचना के कारण न होकर उस क्षेत्र की समप्राय मैदान अवस्था के कारण है। उडनगढा, रैसा (पूर्वी राँची पठार) तथा घाघरा (पश्चिमी उच्च प्रदेश) नदियों के दैर्घ्यवृद्धि (elongation) आकार मे उच्चावच्च का सर्वाधिक प्रभाव है। पूर्वी राँची पठार की डमरा बेसिन के आकार की अधिक चक्रिलता वहाँ की अपेक्षाकृत कोमल शैल तथा न्यून ढाल कोण की प्रतिफल है। दक्षिणी निम्न पठार की धारवार युग की कोमल तथा सन्धियुक्त संरचना (माइका-शिस्ट शैल) के कारण नदियों की शाखाओं में पर्याप्त विकास हुआ है जिस कारण डोंगाजोर तथा बाँकी द्वितीय बेसिन का आकार अधिक चक्रिल है, जबकि डाल्मा संरचना के ऊपर पहाड़ियों के बीच में प्रवाहित होने के कारण उदियागारा बेसिन का चक्रिलता सूचकांक न्यून हो गया है।

क्षेत्रीय पहलू (Areal Aspect)

प्रत्येक श्रेणी की सभी सरिताओं की बेसिन का क्षेत्रफल प्लेनीमीटर की सहायता से ज्ञात किया जाता है। तत्पश्चात् प्रत्येक श्रेणी की सभी सरिताओं की बेसिन का औसत क्षेत्रफल ($\overline{Au}$) ज्ञात किया जाता है। द्वितीय श्रेणी की बेसिन का क्षेत्रफल, सभी प्रथम श्रेणी की बेसिन के क्षेत्रफल एवं द्वितीय श्रेणी की बेसिन के अन्तर्बेसिन क्षेत्रफल (प्रथम श्रेणी की सरिताओं के अलावा जिस स्थल का जल सीधे द्वितीय, तृतीय आदि श्रेणी की सरिताओं में जाता है, उस क्षेत्र को अन्तर्बेसिन क्षेत्र कहते हैं) के योग के बराबर होता है। इस तरह बढ़ती श्रेणी के साथ बेसिन का क्षेत्रफल संचयी (Cumulative) होता जाता है।

1. बेसिन क्षेत्रफल अनुपात (Area Ratio, Ra)— दो क्रमिक श्रेणी की बेसिन के क्षेत्रफल के अनुपात को 'बेसिन क्षेत्रफल अनुपात' कहते हैं। इसको निम्न गुर की सहायता से ज्ञात किया जाता है—

$$\text{बेसिन क्षेत्रफल अनुपात } Ra = \frac{\overline{Au}}{\overline{A}_{u-1}}$$

$\overline{Au}$ = किसी श्रेणी की बेसिन का औसत क्षेत्रफल।

2. बेसिन क्षेत्रफल का नियम (Law of Basin Area)—'**क्रमिक श्रेणियों (Successive orders) की बेसिन के औसत क्षेत्रफल में गुणात्मक क्रम (Geometric progression) होता है, जो कि प्रथम श्रेणी की बेसिन के औसत क्षेत्रफल से प्रारम्भ होकर स्थिर क्षेत्रफल अनुपात (Constant area ratio) के अनुसार बढ़ता जाता है।**'

इस नियम को निम्न समीकरण के रूप में प्रस्तुत

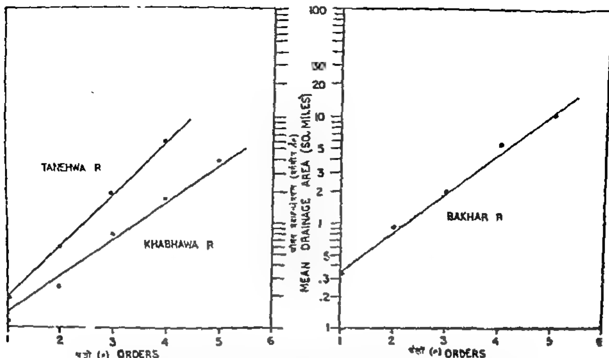
सारणी—20

(बेलन की सहायक नदियाँ)[1]

क्र० सं० प्रवाह बेसिन	प्रत्येक श्रेणी (u) की बेसिन का औसत क्षेत्रफल (वर्गमील—Au) (u)						क्षेत्रफल अनुपात (Ra) (u)					औसत क्षेत्रफल अनुपात (R̄a)
	1	2	3	4	5	6	1	2	3	4	5	6
1. बखार नदी	0.33	0.93	1 90	5.60	10 3	—	2.8	2.04	2 9	1.8	—	2.3
2. तनेहवा नदी	0.19	0.58	1·83	5.77	—	—	3 01	3.14	3.15	—	—	3.1
3. खबवा नदी	0.11	0.24	0.78	1.66	3 79	—	2.14	3 3	2 11	2 28	—	2.4
4. दुआरा नदी	0.10	0 24	1.35	5.76	—	—	2.31	5.6	4.26	—	—	4.0
5. बरका नदी	0.08	0.18	0.51	1.34	1.89	2.17	2 3	2 74	2.61	1 42	1 14	2.9
												R̄a = 2 9

आँकड़ा सविन्द्र सिंह तथा रेनू श्रीवास्तव

1. Singh, Savindra & Renu Srivastava, 1974 : A Morphometric study of tributary basins of upper reaches of Belan River, National Geographer, volume IX p. 39.



चित्र 60—प्रत्यक श्रेणी के औसत क्षेत्रफल को उसकी श्रेणी के सामने (समीलॉग ग्राफ पर) अंकित करने पर धनात्मक घाताक फलन के प्रतीपगमन की सीधी रेखा (Straight regression line of positive exponential function) का निर्माण होता है।[1]

किया जा सकता है जो कि धनात्मक घातांक फलन (Positive Exponential Function) मॉडल का द्योतक है।

$$\overline{Au} = \overline{A}_1 Ra^{(u-1)}$$

$\overline{A}_1$ = प्रथम श्रेणी की बेसिन का औसत क्षेत्रफल।

3. प्रवाह घनत्व (Drainage Density)—प्रवाह घनत्व के अन्तर्गत सरिताओं की संख्या तथा बेसिन के क्षेत्रफल के बीच सम्बन्ध का अध्ययन किया जाता है। किसी प्रवाह-बेसिन की सभी श्रेणियों की सभी सरिताओं की लम्बाई का योग ज्ञात किया जाता है। इस योग को उस प्रवाह-बेसिन के सम्पूर्ण क्षेत्रफल से भाग देकर प्रवाह-घनत्व ज्ञात किया जाता है।

$$\text{प्रवाह घनत्व } (D) = \frac{\text{सभी सरिताओं की लम्बाई का योग}}{\text{प्रवाह-बेसिन का क्षेत्रफल}}$$

$$Dd = \frac{\Sigma Lk}{Ak}$$

सारणी—21

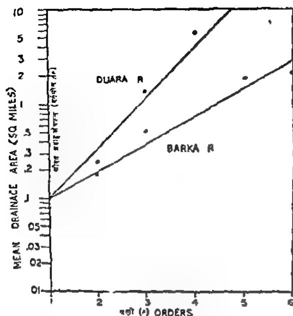
(बेलन की सहायक नदियाँ)

प्रवाह बेसिन	बरवार	तनेहवा	खबवा	दुआरा	बरका	अ नदी	ब नदी	स नदी
प्रवाह-घनत्व	1 28	2.4	3 04	2 5	3.2	3 01	3.9	3 3

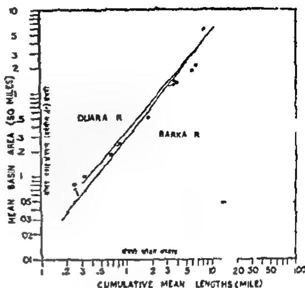
औसत प्रवाह घनत्व (D) = 2.8

आँकड़ा—सविन्द्र सिंह तथा रेनू श्रीवास्तव (1974)

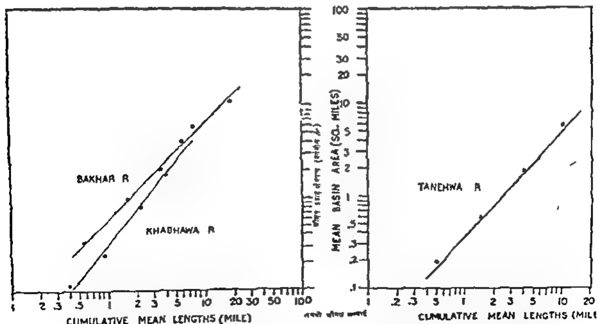
1. Singh, Savindra and Renu Srivastava, 1974 : A morphometric study of tributary drainage basins of Upper Reaches of Belan river, National Geographer Vol IX, p 40



चित्र 61
विवरण के लिये चित्र 60 का पाठ देखिये ।



चित्र 63
विवरण के लिए चित्र 62 का विषय देखिए ।



चित्र 62
लाग ग्राफ पर संचयी औसत लम्बाई तथा औसत प्रवाह क्षेत्रफल को अंकित करने पर धनात्मक घाताक फलन के प्रतीपगमन रेखा का निर्माण होता है । आंकड़ा तथा चित्रांकन—सविन्द्र सिंह तथा रेनू श्रीवास्तव, नेशनल ज्याग्रफर, 1974, अंक IK P. 42

सम्पूर्ण प्रवाह-बेसिन का एक साथ प्रवाह-घनत्व का परिकलन करने में केवल एक मान प्राप्त होता है जिससे प्रवाह बेसिन के प्रवाह-घनत्व का आवृत्ति-विश्लेषण (frequency analysis) तथा क्षेत्रीय विविधता (spatial variation) का अध्ययन सम्भव नहीं हो पाता है। अतः प्रवाह-बेसिन के प्रवाह-घनत्व का अध्ययन **ग्रिड प्रणाली** द्वारा किया जाना चाहिये। समस्त प्रवाह बेसिन को एक मील × एक मील या एक कि० मी० × एक कि०मी० के ग्रिड में विभाजित करके प्रत्येक ग्रिड में सम्पूर्ण सरिताओं की लम्बाई ज्ञात करके प्रवाह-घनत्व का मान ज्ञात किया जाना चाहिये। सभी आवृत्तियों के मान को निम्न रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है — (स्मरणीय है कि प्रवाह घनत्व का वर्गीकरण मानचित्र के मापक तथा ग्रिड के अनुसार भिन्न-भिन्न हो सकता है)

प्रवाह-घनत्व वर्ग (एक मील × एक मील के ग्रिड में सरिताओं की लम्बाई मील में)		वर्गीकरण सम्बन्धी व्याख्या	
(1) 0—2	...	निम्न प्रवाह-घनत्व	Dd_L
(2) 2—4	...	मध्यम प्रवाह-घनत्व	Dd_M
(3) 4—6	...	उच्च प्रवाह घनत्व	Dd_H
(4) >6	..	अति उच्च प्रवाह-घनत्व	Dd_{VH}

इन प्रवाह-घनत्व के अन्तर्गत आवृत्तियों (frequencies) का अध्ययन किया जाता है तथा उनके आधार पर प्रवाह-घनत्व के क्षेत्रीय अध्ययन के लिये सममान रेखा (isopleth) मानचित्र तैयार किये जाते हैं। गोंवी पठार की चार प्रवाह बेसिन के प्रवाह-घनत्व की आवृत्तियाँ सारणी 22 में प्रस्तुत है

सारणी—22

प्रवाह-बेसिन	प्रवाह-घनत्व, वर्ग तथा आवृत्ति								योग
	0—2		2—4		4—6		>6		
	F	%	F	%	F	%	F	%	F
(1) सेन बेसिन	12	16.66	49	68.05	11	15.29	—	—	72
(2) घाघरा बेसिन	7	8.05	45	51.72	35	40.23	—	—	87
(3) सुख बेसिन	25	40.98	24	39.35	12	19.67	—	—	61
(4) लोहागारा बेसिन	10	10.00	46	46.00	41	41.00	3	3.00	100

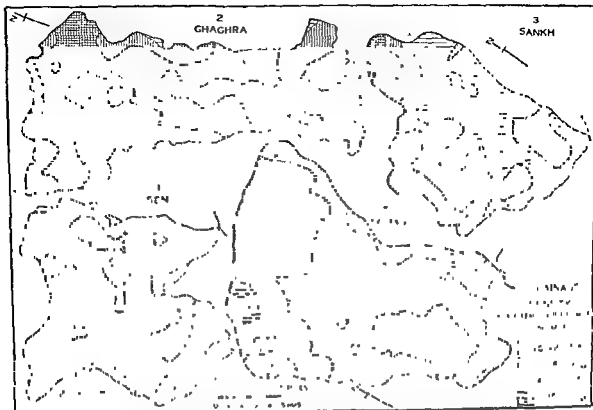
सारणी—23 प्रवाह-घनत्व के सांख्यिकीय मान

प्रवाह-बेसिन	औसत ($\bar{X}$)	मानक विचलन (SD or δ)	विचलन (V)	विचलन गुणांक %V
(1) सेन बेसिन	3.021	1.125	0.37	37.23
(2) घाघरा बेसिन	3.735	1.193	0.31	31.94
(3) सुख बेसिन	2.549	1.459	0.57	57.23
(4) लोहागारा बेसिन	3.740	1.390	0.37	37.16

सारणी - 24 प्रवाह घनत्व का क्षेत्रीय वितरण (spatial distribution)

प्रवाह-बेसिन	प्रवाह-घनत्व वर्ग तथा उनका क्षेत्रफल (वर्ग कि० मी०)								योग
	0—2		2—4		4—6		>6		
	क्षे०	%	क्षे०	%	क्षे०	%	क्षे०	%	
(1) सेन बेसिन	13.59	7.89	136.64	79.33	22.01	12.78	—	—	172.24
(2) घाघरा बेसिन	3.11	1.25	108.53	52.91	93.49	45.57	—	—	205.13
(3) सुख बेसिन	71.48	45.24	61.39	38.86	25.12	15.90	—	—	157.99
(4) लोहागारा बेसिन	57.76	22.21	86.64	33.32	111.76	42.98	3.88	1.49	260.04

आँकड़ा = सविन्द्र सिंह, 1978



चित्र 64—प्रवाह-घनत्व का क्षेत्रीय वितरण (राँची पठार की लघु प्रवाह-बेसिन)

प्रवाह-घनत्व के क्षेत्रीय वितरण पर कई कारको का प्रभाव होता है। जैसे, वर्षण-प्रभावशीलता (Precipitation effectiveness Melton 1957), वनस्पति सूचकांक (शोर्ले, 1957), धरातल की भेद्यता (कार्लस्टन 1963), जलवायु-आचरण (काटन, 1964), वर्षण-गहनता (rain fall intensity, शोर्ले और मार्गन, 1962, मेल्टन 1957) भूवैज्ञानिक सरचना मुख्य रूप से शैल-प्रकार वर्षा का धरातल मे अन्त सरचण (infiltration), वनस्पति प्रकार (सविन्द्र सिंह, 1978) आदि। उपर्युक्त उदाहरण मे (सारणी 24) राँची पठार के पश्चिमी पाट क्षेत्र मे प्रवाहित होने वाली सरिताओ—सेन तथा घाघरा—के प्रवाह-घनत्व पर टर्शियरी युग मे पाट-क्षेत्र के उत्थान (अत. नवोन्मेष), कगार-ढाल, औसत ढाल, वनस्पति तथा स्थल-प्रवाह (overland flow) की लम्बाई का प्रभाव पड़ा है जबकि ग्रेनाइट-नीस शैल प्रकार ने मध्य तथा लोहागारा बेसिन के प्रवाह-घनत्व को नियन्त्रित किया है।

4. प्रवाह गठन (Drainage—Texture)—प्रवाह बेसिन मे सरिताओ के बीच की दूरी का भी अध्ययन महत्वपूर्ण होता है। जब सरिताओ का वितरण अत्यधिक दूर-दूर होता है तो उसे स्थूल गठन (Coarse Texture) कहते है। प्राय निम्न प्रवाह-घनत्व वाली बेसिन स्थूल गठन वाली होती है। इस तरह जब सरिताओ के बीच की दूरी मध्यम प्रकार की होती है तो उसे मध्यम गठन (Medium Texture) कहते हैं और जब वितरण घना होता है, अर्थात् जब सरितायें अत्यधिक पास-पास होती हैं तो उसे सूक्ष्म गठन (Fine Texture) कहते हैं। निश्चय ही प्रवाह-घनत्व तथा प्रवाह-गठन पर शैल प्रकार, वर्षा का जल तथा उसके नीचे रिसाव का स्वभाव तथा वनस्पति की उपस्थिति या अनुपस्थिति का प्रभाव होता है।

प्रवाह-बेसिन मे सरिताओ के बीच की दूरी को प्रवाह-गठन कहते है। प्रवाह-गठन से उस क्षेत्र के घर्षण के स्वभाव तथा मात्रा का सुस्पष्ट बोध हो जाता है। हार्टन (1945) ने प्रति इकाई क्षेत्र मे सरिताओ की आवृत्ति (सरिताओ की संख्या) के आधार पर प्रवाह-गठन का परिकलन किया है। स्मिथ (1950) ने प्रवाह-गठन के स्थान पर गठन-अनुपात (texture ratio) का प्रयोग

किया है, जो कि एक सरिता से दूसरी सरिता के सामीप्य पर आधारित होता है। इन्होंने गठन-अनुपात के लिए निम्न गुर बताया है—

गठन अनुपात = N/P

जबकि N = बेसिन के सबसे सूक्ष्मदन्ती (crenulated) समोच्च रेखा के सूक्ष्मदन्तों (crenulations) की संख्या तथा P = बेसिन की परिधि।

सविन्द्र सिंह (1976, 1978) ने प्रति इकाई क्षेत्र में सरिताओं के बीच सापेक्ष दूरी को प्रवाह गठन के परिकलन का आधार बनाया तथा निम्न गुर का प्रतिपादन किया—

$$\text{प्रवाह-गठन } (T) = \frac{1}{(t+P)/2}$$

जबकि 1 = एक मील की लम्बाई,

t = एक वर्ग मील के ग्रिड में एक मील की लम्बाई में सरिताओं के कटान की संख्या।

$$t = \frac{(t_1 + t_2)/2}{\sqrt{2}}$$

जबकि t_1 और t_2 = ग्रिड के दो विकर्णों के सहारे सरिताओं के कटान (Crossings) की संख्या।

$$P = \frac{P_1 + P_2 + P_3 + P_4}{4}$$

जबकि P_1, P_2 P_3 तथा P_4 ग्रिड के चारों भुजाओं के सहारे सरिताओं के कटान बिन्दुओं की संख्या। (ग्रिड का आकार एक कि० मी० × एक कि० मी० भी हो सकता है। आवश्यकतानुसार इससे बड़े ग्रिड भी हो सकते हैं)

उपर्युक्त गुर के आधार पर प्रवाह-बेसिन को एक वर्ग मील (एक मील × एक मील) के ग्रिड में विभक्त किया जाता है तथा प्रत्येक ग्रिड में प्रवाह-गठन के मान को परिकलित किया जाता है (प्रवाह-गठन का मान 0 से 1 मील के बीच रहता है)। तत्पश्चात् विभिन्न ग्रिड के मान को निम्न प्रवाह-गठन वर्गों में विभक्त किया जाता है।

प्रवाह-गठन वर्ग (दो सरिताओं के बीच की औसत दूरी, मील में)	वर्गीकरण सम्बन्धी व्याख्या
(1) 0—0 2	अतिसूक्ष्म प्रवाह-गठन (T_{VF})
(2) 0 2—0 4	सूक्ष्म प्रवाह-गठन (T_F)
(3) 0.4 0 6	मध्यम प्रवाह-गठन (T_M)
(4) 0 6—0 8	स्थूल प्रवाह-गठन (T_C)
(5) 0 8 1 0	अति स्थूल प्रवाह-गठन (T_{VC})

इन प्रवाह-गठन वर्गों के अन्तर्गत आवृत्तियों (frequencies) का अध्ययन किया जाता है तथा उनके आधार पर प्रवाह-गठन के क्षेत्रीय अध्ययन के लिए सममान रेखा (isopleth) मानचित्र तैयार किये जाते हैं। राँची पठार की चार प्रवाह-बेसिन के प्रवाह-गठन की आवृत्ति सारणी 25 में प्रस्तुत है।

सारणी—25

(राँची पठार की प्रवाह-बेसिन का प्रवाह गठन)

प्रवाह बेसिन	प्रवाह-गठन वर्ग तथा आवृत्ति										योग
	0 0.2		0 2—0.4		0 4—0.6		0 6—0 8		0 8—1 0		
	F	%	F	%	F	%	F	%	F	%	F
1. सेन बेसिन	4	5.56	40	55.56	20	27.78	2	2 77	6	8.33	72
2. घाघरा बेसिन	11	12.64	65	74.71	5	5 74	4	4.60	2	2 31	87
3. सख बेसिन	6	9 84	10	16.39	14	22 95	9	14 76	22	36.06	61
4. लोहागारा बेसिन	14	14.00	52	52.00	13	13.00	5	5.00	6	6 00	100

आँकड़ा, सविन्द्र सिंह (1978)

T = texture, VF = very fine, M = moderate, C = coarse, VC = very coarse.

सारणी—26

प्रवाह-गठन के विभिन्न सांख्यकीय मान

प्रवाह-बेसिन (रांची पठार)	औसत (X)	मानक विचलन (SD या σ)	विचरण (V)	विचरण गुणांक V%
1. सन बेसिन	0.405	0.991	0.47	47.16
2. घाघरा बेसिन	0 318	0.150	0.47	47.16
3. सख बेसिन	0.601	0.275	0.45	45.75
4. लोहागरा बेसिन	0.334	0.208	0.62	62.27

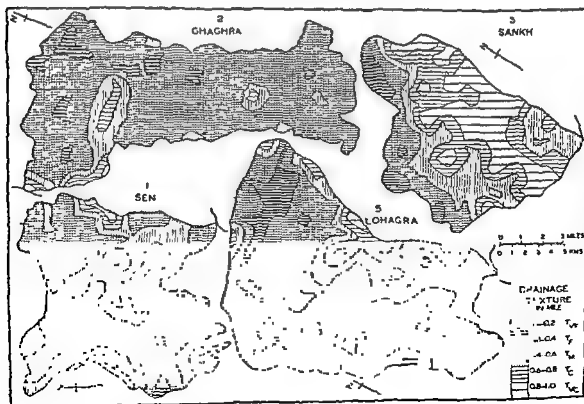
आकड़े = सविन्द्र सिंह (1878)

सारणी—27

प्रवाह-गठन का क्षेत्रीय वितरण (Spatial distribution)

प्रवाह बेसिन (रांची पठार)	प्रवाह-गठन वर्ग तथा उनका क्षेत्रफल (वर्ग किमी०) 0—0 2		0·2—0 4		0 4—0·6		0 6—0·8		0·8—1·0		योग
	क्षे०	%	क्षे०	%	क्षे०	%	क्षे०	%	क्षे०	%	
1. सन बेसिन	3.24	1·88	105·55	61·28	48·69	28 27	10·49	6·09	4·27	2·48	172·24
2. घाघरा बेसिन	12 30	5 99	166·16	81·00	19 42	9·47	5.96	2 91	1·29	0·63	205.13
3. सख बेसिन	4 53	2·87	22 92	14 51	38.20	24 19	53 88	34 10	38 46	24·34	157·99
4. लोहागरा बेसिन	20.33	7·82	167·98	64·60	47 91	18·42	19 .3	7 52	4 27	1·64	260 08

आंकड़ा = सविन्द्र सिंह (1978)



चित्र 65 प्रवाह-गठन का क्षेत्रीय वितरण (रांची पठार की लघु प्रवाह-बेसिन), मानचित्रण—सविन्द्र सिंह 1978

प्रवाहगठन : विश्लेषण

सन तथा घाघरा बेसिन का प्रवाह-क्षेत्र पश्चिमी उच्च राँची पठार (पाट क्षेत्र) पर है जबकि सख तथा लोहागारा नदियाँ मध्यवर्ती राँची पठार (ग्रेनाइट-नीस संरचना) पर स्थित है। पश्चिमी राँची पठार (ग्रेनाइट-नीस संरचना के ऊपर क्रीटैसियस युग की लावा-परत है जो अब अपक्षय के कारण लेटराइट में परिवर्तित हो गयी है) टर्शियरी युग में उत्थान के कारण मध्य राँची पठार की सम्प्राय सतह से 300 मीटर ऊँचा है। पश्चिमी राँची पठार में टर्शियरी युग में उत्थान के कारण नई सरिताओं (प्रथम तथा द्वितीय श्रेणी) के उद्भव के कारण प्रवाह-गठन सूक्ष्म (Fine) है क्योंकि सन बेसिन की कुल 72 आवृत्तियों में से 44 आवृत्तियाँ तथा घाघरा बेसिन में 87 आवृत्तियों में से 76 आवृत्तियाँ अति सूक्ष्म और सूक्ष्म प्रवाह-गठन वर्गों में केन्द्रित हैं। क्षेत्रीय वितरण की दृष्टि से सन तथा घाघरा बेसिन के कुल क्षेत्रफल के क्रमश 63 16% तथा 86 99% भाग पर अतिसूक्ष्म तथा सूक्ष्म प्रवाह-गठन का विकास हुआ है। प्रवाह-गठन आवृत्ति तथा क्षेत्रीय वितरण की ये प्रवृत्तियाँ इस क्षेत्र में नवोन्मेष तथा बेसिन-विकास की अन्तिम तरुण तथा प्रारम्भिक प्रौढ़ अवस्थाओं की परिचायिका हैं। सख बेसिन का उद्गम स्थल पश्चिमी राँची पठार (पूर्वी कगार) के पाट-क्षेत्र (मैसा, 1000 मीटर से अधिक) पर है जहाँ से नदी निकल कर तीव्र कगार ढाल से उतर कर मध्य राँची पठार (600 मीटर) के लोहारदागा सम्प्राय मैदान पर प्रवाहित होती है। अतः कगार-क्षेत्र पर तो सूक्ष्म प्रवाह-गठन (कुल बेसिन क्षेत्रफल के 17·38% भाग पर—सूक्ष्म प्रवाह-गठन वर्ग के दोनों वर्ग) का विकास हुआ है, जबकि उसके मध्य-तथा निचले प्रवाह-क्षेत्र में (लोहारदागा मैदान) स्थूल तथा अति स्थूल प्रवाह-गठन (कुल क्षेत्रफल के 58 44% भाग पर) का विकास हुआ है। लोहागारा बेसिन यद्यपि मध्य राँची पठार की समतल सतह पर प्रवाहित होती है तथापि स्थानीय पहाड़ियों के कारण तथा अपेक्षाकृत अधिक ढाल के कारण बेसिन-क्षेत्रफल के 72 42% भाग पर अति सूक्ष्म तथा सूक्ष्म प्रवाह गठन का विकास सम्भव हो पाया है। स्पष्ट है कि प्रवाह-गठन पर संरचना वर्षा की सक्रियता, वर्षा के जल के नीचे रिसाव का स्वभाव तथा वनस्पति के अलावा निरपेक्ष उच्चावच्च, ढाल तथा स्थल के स्वभाव का भी पर्याप्त प्रभाव होता है।

उच्चावच पहलू (Relief Aspect)

प्रवाह-बेसिन में सरिताओं के मार्ग के ढाल, घाटी-पार्श्व ढाल, घर्षण की मात्रा (Degree of Dissection) ऊँचाई आदि का अध्ययन उच्चावच्च पहलू के अन्तर्गत किया जाता है। सामान्य रूप में सरिता के जलमार्ग की अनुदैर्घ्य परिच्छेदिका (Longitudinal Profile), मुहाने से उद्गम की ओर अवतल (Concave) होती है तथा शनैः शनैः मुहाने की ओर ढाल कम होता जाता है। इस तरह सरिता श्रेणी (Stream Order) तथा उसके जलमार्ग के ढाल (Channel Slope) के बीच सम्बन्धों का अध्ययन महत्त्वपूर्ण होता है। इस कार्य के लिये पहले प्रत्येक श्रेणी के सभी सरिताखण्डों के जलमार्ग के ढाल परिकलित किये जाते हैं, अर्थात् यह देखा जाता है कि प्रति किलोमीटर की क्षैतिज दूरी से लम्बवत् ऊँचाई में कितने सेण्टीमीटर या मीटर की गिरावट होती है। ढाल को प्रायः अनुपात में प्रदर्शित किया जाता है। प्रत्येक श्रेणी की सभी सरिताओं के जलमार्ग के ढाल को ज्ञात करके उनका औसत ढाल ($S_1, S_2, S_3, \cdots\cdots$) ज्ञात किया जाता है। यदि ग्राफ (*Semilog*) पर प्रत्येक श्रेणी (Order u) के औसत ढाल (Su) को चित्रित किया जाय तो ऋणात्मक घातांक फलन के समाश्रयण की सीधी रेखा (Straight line regression of negative exponential function का निर्माण होता है। इस आधार पर हार्टन ने निम्न नियम का प्रतिपादन किया है—

क्रमिक उच्च श्रेणी (Successive higher order) के सरिताखण्डों के औसत ढाल में विपरीत गुणात्मक क्रम (Inverse geometric progression) होता है जो कि स्थिर ढाल-अनुपात के अनुसार घटता जाता है।

$$\text{ढाल-अनुपात } Rs = \frac{\bar{Su}}{\bar{S}_{u-1}}$$

सामान्यतः ढाल अनुपात 0.3 से 0.6 होता है। इसे 1 से कम ही होना चाहिए। हार्टन एक स्थिर ढाल-अनुपात (*Constant slope ratio*) के चयन के पक्ष में है।

$$\bar{Su} = \bar{S_1} Rs^{(u-1)}$$

जलमार्ग ढाल (Sc) के बाद घाटी के पार्श्व का ढाल Valley-side slope Sg) भी परिकलित किया जाता है। इसके अन्तर्गत निश्चित सरिताखण्ड के जलविभाजक से प्रारम्भ करके उसके जलमार्ग तक का ढाल कई बार में परिकलित किया जाता है। इस तरह जलमार्ग का ढाल जबकि *कोण में लिया जाता है—(θc) तथा* घाटी-पार्श्व

ढाल (θg) ज्ञात करके उनका औसत ($\overline{\theta c}$ तथा $\overline{\theta g}$) ज्ञात किया जाता है और उनके बीच सम्बन्धों का अध्ययन किया जाता है। यदि इन दोनों को लागरिथमिक मापक पर अंकित किया जाय तो अपरदन-चक्र की अवस्था सम्बन्धी महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। ग्राफ पर इनके अंकन में निम्न गणितीय मॉडल बनता है—

$$\overline{\theta}_g = a\overline{\theta}_c^{\ b}$$

a = स्थिरांक (Numerical constant—0.6)
b = घातांक (Exponent—0.8)

ग्राफ पर 'धनात्मक घातांक फलन के प्रतीपगमन की सीधी रेखा' (Straight line regression of positive

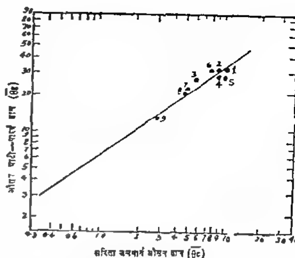
सारणी—28

(नैनीताल और उसके आस-पास का क्षेत्र)

क्र० सं०	प्रवाह बेसिन	औसत जलमार्ग ढाल $\overline{Sc}$	औसत घाटी-पार्श्व ढाल $\overline{Sg}$
1	कलुआगाद	9,° 51′	32° 30′
2	थाड गाद	6° 26′	28°, 27′
3·	भीमताल गधेरा	9° 44′	27° 22′
4.	डिलोगिया गाद	10°, 08′	27°, 13′
5.	गरुनी गाद	8° 57′	34° 22′
6	घाड गाद	3° 28′	13° 55′
7.	नलेना गाद	5° 10′	23° 50′
8.	फरका	3° 04′	4° 44′
9.	दबका	10° 37′	3)° 47′
10	निहाल	5° 38′	22° 34′

(आंकडा-एस० सी० खर्कवाल)

exponential function) का निर्माण होता है। यदि कई प्रवाह-बेसिन (विभिन्न भू-वैज्ञानिक संरचना तथा विकास की विभिन्न अवस्था वाली) का तुलनात्मक अध्ययन करना हो तो उनके औसत जलमार्ग ढाल तथा घाटी पार्श्व ढाल (θc तथा θg) को लागरिथमिक ग्राफ पर अंकित करके प्रतीपगमन रेखा (Regression line) खीची जाती है। यदि कोई क्षेत्र उत्थान से प्रभावित हुआ है तो निश्चय ही नदियां अपनी युवावस्था या प्रारम्भिक प्रौढावस्था मे होंगी। परिणामस्वरूप जलमार्ग ढाल तथा घाटी-पार्श्व ढाल, दोनों तीव्र (Steep) होंगे। लागरिथमिक ग्राफ पर प्रतीपगमन रेखा के सबसे ऊपरी



चित्र 66

सरिता जलमार्ग ढाल ($\overline{\theta c}$) तथा औसत घाटी पार्श्व ढाल($\overline{\theta g}$) में सम्बन्ध। सीधी प्रतीपगमन रेखा (Straight line regerssion) 1. दबका प्रवाह बेसिन, 2. कलुआ गाद प्रवाह-बेसिन, 3 थाड गाद बेसिन, 4 भीमताल गधेरा बेसिन, 5. डिगोलिया बेसिन, 6. गरुनी गाद बेसिन, 7. नलेना बेसिन, 8. निहाल बेसिन तथा 9 घाट गाद बेसिन (नैनीताल तथा उसके समीपी भाग—हिमालय) आंकडा—एस० सी० खर्कवाल, 1970, चित्रांकन—सविन्द्र सिंह, 1972.

भाग मे स्थित बिन्दु अपरदन चक्र की तरुणावस्था या प्रारम्भिक प्रौढावस्था के द्योतक होते हैं। समय के साथ (अपरदन होने से) ढाल मे गिरावट आने लगती है। प्रतीपगमन रेखा के निचले भाग मे स्थित बिन्दु अन्तिम प्रौढावस्था तथा जीर्णावस्था के परिचायक होते हैं। सागर-तल के बराबर अपरदन होने की स्थिति को लागरिथमिक मापक के ग्राफ पर प्रदर्शित नहीं किया जा सकता है क्योंकि इस ग्राफ पर शून्य नहीं होता है।

चित्र 66 मे लागरिथमिक ग्राफ पर हिमालय के नैनीताल एवं उसके समीपी भाग की कुछ प्रवाह-बेसिन के औसत जलमार्ग ढाल ($\overline{\theta c}$) तथा घाटी पार्श्व ढाल($\overline{\theta g}$) को अंकित किया गया है (आंकडा-एस० सी० खर्कवाल 1970)। इन क्षेत्रों मे अपरदन चक्र अपने विकास की प्रारम्भिक प्रौढावस्था की ओर अग्रसर है।

प्रवाह बेसिन का प्रतिशत उच्चतादर्शी वक्र(Percentage Hypsometric Curves) भी उस क्षेत्र के अपरदनात्मक रूप, मुख्य रूप मे अपरदन की अवस्था के

अध्ययन मे सहायता प्रदान करते हैं। चित्र 38 स मे निर्मित प्रतिशत उच्चतादर्शी वक्र चित्र 37 के धरातल को प्रदर्शित करता है। यह वक्र उस स्थान के स्थलरूपो के विकास की प्रौढावस्था को अन्तिम तथा जीर्णावस्था की प्रारम्भिक अवस्था का द्योतक है। प्रवाह-बेसिन के उच्चावच्च के अध्ययन मे उच्चावच्च-अनुपात (Relief Ratio) का भी सहारा लिया जाता है। प्रवाह-बेसिन के पूर्ण उच्चावच्च (Total Relief) तथा प्रधान सरिता के समानान्तर बेसिन की अधिकतम लम्बाई के अनुपात को उच्चावच्च अनुपात कहा जाता है। इस तरह उच्चावच्च अनुपात, वास्तव मे, प्रवाह-बेसिन की ऊँचाई-लम्बाई का अनुपात होता है। उच्चावच्च अनुपात और जलमार्ग ढाल प्रवणता (Channel gradient) मे प्राय, सीधा सम्बन्ध होता है —"जितना ही उच्चावच्च अनुपात कम होता है उतनी ही औसत जलमार्ग ढाल प्रवणता कम होती है"—Lower the relief ratio, lower the mean channel gradient of main velley and vice-versa.

यद्यपि प्रवाह-बेसिन के आकारमितीय अध्ययन मे और कई विषयो का गणितीय अध्ययन किया जाता है परन्तु स्थानाभाव के कारण उनका उल्लेख यहाँ पर नहीं किया जा रहा है। विशेष अध्ययन के लिए 'नेशनल ज्याग्रफर' मे प्रकाशित सविन्द्र सिंह के लेखो को देखे।

अध्याय 6

पृथ्वी की आन्तरिक संरचना

(Constitution of The Earth's Interior)

सामान्य परिचय—पृथ्वी के आन्तरिक भाग की वास्तविक स्थिति तथा उसकी बनावट के विषय में सही ज्ञान प्राप्त करना असम्भव नहीं तो कठिन कार्य अवश्य है क्योंकि पृथ्वी का आन्तरिक भाग मानव के लिए दृश्य नहीं है। यद्यपि पृथ्वी का आन्तरिक भाग भूगोल के अध्ययन के क्षेत्र से बाहर है तथापि इसका अध्ययन इसलिये आवश्यक हो जाता है कि पृथ्वी की सतह की रूपरेखा, जो कि भूगोल का प्रधान विषय है का स्वभाव भूगर्भ के अनुसार ही निश्चित होता है। भूगर्भ की जानकारी प्राप्त करने के लिये अनवरत प्रयास किये गये हैं और वर्तमान समय में भी प्रयास जारी है। अब तक लगभग सभी भूगर्भवेत्ता इस बात पर एकमत थे कि प्रायद्वीपीय भारत जो कि प्राचीनतम चट्टानों के बने गोण्डवानालैण्ड का ही एक भाग है, स्थिर भूखण्ड है तथा इसमें सन्तुलन पूर्णतया स्थापित हो चुका है। इस क्षेत्र में बड़े पैमाने पर भूगर्भिक हलचल नहीं होनी चाहिए। परन्तु प्रायद्वीपीय भारत के पश्चिमी भाग में महाराष्ट्र के सतारा जिले के कोयना नगर में 11 दिसम्बर सन् 1967 ई० के भयंकर भूकम्प ने, जिसने समस्त पश्चिमी पठार को कँपा दिया, इस बात में सन्देह पैदा कर दिया है कि पठारी भाग एक दृढ़ भूखण्ड है। कहने का तात्पर्य यह है कि पृथ्वी की आन्तरिक संरचना के विषय में सही जानकारी नहीं प्राप्त की जा सकी है। भूकम्प विज्ञान (Seismology) से कुछ विश्वसनीय बातें अवश्य ज्ञात हो जाती हैं। पृथ्वी की आन्तरिक संरचना के विषय में जानकारी देने वाले साधनों को तीन वर्गों में विभाजित किया जाता है—

1. अप्राकृतिक साधन (Artificial Source)
   - (1) घनत्व (Density)
   - (2) दबाव (Pressure)
   - (3) तापक्रम (Temperature)
2. पृथ्वी की उत्पत्ति से सम्बन्धित सिद्धान्तों के साक्ष्य (Evidences from the theories of the origin of the Earth)
3. प्राकृतिक साधन (Natural Source)
   - (1) ज्वालामुखी-उद्गार (Volcanic Eruption)
   - (2) भूकम्प विज्ञान (Seismology)

1. अप्राकृतिक साधन (Artificial Source)

(1) **घनत्व**—पृथ्वी की शैलों के घनत्व, दबाव तथा भीतर की ओर बढ़ते हुए तापक्रम के आधार पर पृथ्वी की आन्तरिक संरचना के विषय में कई निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। यह बताया जाता है कि पृथ्वी का ऊपरी भाग परतदार शैल का बना है जिसकी औसत मोटाई आधे मील के लगभग है। कहीं-कहीं पर यह मोटाई कई मील तक भी है। इस परतदार सतह के नीचे पृथ्वी के चारों ओर रवेदार अथवा स्फटिकीय शैल (Crystalline Rocks) की एक दूसरी परत है (ग्रेनाइट, बेसाल्ट तथा पेरिडोटाइट आदि)। इस चट्टानी परत का घनत्व कहीं पर 3.00 है तो कहीं पर 3.5 है। परन्तु समस्त पृथ्वी का औसत घनत्व 5.5 के लगभग है। इस आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि पृथ्वी के अन्तरतम (Core) का औसत घनत्व 5.5 से अधिक होगा। साधारण तौर पर यह घनत्व 11 माना जाता है, जो जल से 7 या 8 गुना भारी है। इस प्रकार यह प्रमाणित होता है कि **1—पृथ्वी के अन्तरतम का घनत्व सर्वाधिक है।**

(2) **दबाव**—अब समस्या उठती है कि अन्तरतम का यह अधिक घनत्व किस प्रकार सम्भव है। प्रारम्भ में यह कल्पना की गई थी कि ऊपर से अन्तरतम (Core) की ओर जाने पर चट्टानों का भार बढ़ता जाता है, अतः पृथ्वी के अन्तरतम का अधिक घनत्व बढ़ते दबाव के कारण है क्योंकि बढ़ते हुए दबाव के साथ चट्टान का घनत्व भी बढ़ जाता है। इस तरह यह प्रमाणित होता है कि **2—पृथ्वी के अन्तरतम का अत्यधिक घनत्व वहाँ पर स्थित अत्यधिक दबाव के कारण है।** परन्तु आधुनिक प्रयोगों द्वारा यह प्रमाणित कर दिया गया है कि प्रत्येक शैल में एक ऐसी सीमा होती है जिसके आगे उसका घनत्व अधिक नहीं हो सकता, उसका दबाव चाहे कितना भी अधिक क्यों न कर दिया जाय। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि यदि पृथ्वी में अन्तरतम का घनत्व अधिक दबाव के कारण नहीं है तो **3—वह (Core) स्वयं धातु का बना है जिसके पदार्थ स्वयं अधिक घनत्व वाले तथा भारी हैं।** अनेक प्रयोगों तथा पर्यवेक्षणों के आधार पर यह मान लिया गया है

कि पृथ्वी का अन्तरतम निकल तथा लोहे के मिश्रण का बना है। यह तथ्य पृथ्वी की चुम्बकीय दशा को भी प्रमाणित करता है क्योंकि लोहा तथा निकल प्रधान चुम्बकीय पदार्थ हैं। इस धातु-निर्मित अन्तरतम के चारो ओर एक दूसरी शैल की परत है जिसका कम से कम ऊपरी भाग रवेदार शैलों का अवश्य बना है।

(3) तापक्रम—सामान्य रूप से यह विदित है कि (bore holes तथा mines से उपलब्ध विवरणों के आधार पर) पृथ्वी की बाह्य सतह से नीचे की ओर गहराई में जाने पर औसत रूप में तापमान प्रति 100 मीटर पर 2° या 3° सेण्टीग्रेड की दर से बढ़ता है। परन्तु 8 किमी० से अधिक गहराई पर जाने पर तापमान की वास्तविक वृद्धि दर का पता लगाना कठिन हो जाता है। वैज्ञानिक परीक्षणों के आधार पर महाद्वीपीय क्रस्ट में तापमान की वृद्धि दर का परिकलन भूताप ग्राफ (geotherms graphs) के आधार पर किया गया है। इस विधि से प्राप्त विवरणों के आधार पर यह साधारणीकरण (generalisation) किया गया है कि (i) विवर्तनिक रूप से सक्रिय (tetonically active) क्षेत्रों में (यथा—संयुक्त राज्य अमेरिका का Basin and Range Province) सतह से 40 किमी० की गहराई पर तापमान 1000° सें० रहता है जबकि विवर्तनिक रूप से स्थिर प्रदेशों में 40 किमी० की गहराई पर तापमान 500° सें० ही रहता है। इस विवरण से महाद्वीपीय क्रस्ट के व्यवहार के विषय में महत्वपूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है। विवर्तनिक रूप से सक्रिय क्षेत्र में क्रस्ट में 40 किमी० की गहराई पर 1000° सें० तापमान गभीर क्रस्ट और मैण्टिल की शैलों खासकर बेसाल्ट तथा पेरिडोटाइट के प्रारम्भिक गलनांक (initial melting) के करीब है। इस तरह क्रस्ट के गर्म क्षेत्र में विवर्तनिक घटना तथा ज्वालामुखी क्रिया तथा गलनांक के करीब तापमान में गहरा सम्बन्ध स्थापित होता है तथा अपेक्षाकृत कम तापमान क्षेत्र दीर्घकालीन भूगर्भिक (विवर्तनिक) स्थिरता से सम्बन्धित है।

महासागरीय क्रस्ट में उमड़ते मैगमा के उच्च तापमान के शीतलन से तापमान प्रभावित होता है। महासागरों में जल की तली में तथा उसके नीचे क्रस्ट के ऊपरी भाग अर्थात् मैगमा पट्ट (magma slab) के ऊपरी भाग में 0° सें० तापमान का अनुमान लगाया जाता है जबकि मैगमा पट्ट के निचले भाग में (जिसका सम्पर्क नीचे स्थित आंशिक रूप से पिघले दुर्बलता मण्डल—asthenosphere से होता है) तापमान 1200° सें० रहता है जो गलनांक के करीब है। यदि गहराई के साथ तापमान की सामान्य वृद्धि दर का आकलन किया जाय तो 2900 किमी० की गहराई पर 25,000° सें० तापमान होना चाहिए परन्तु ऐसी स्थिति में पृथ्वी का अधिकांश भाग पिघल गया होता। परन्तु ऐसा है नहीं। इससे एक तथ्य सामने उभर कर आता है कि अधिकांश रेडियो सक्रिय तत्त्व पृथ्वी की सबसे ऊपरी परत में ही केन्द्रित हैं जिनके द्वारा अत्यधिक ऊष्मा जनित होती है। इससे प्रकट होता है कि तापमान में गहराई के साथ तापमान-वृद्धि की दर घटती जाती है। पृथ्वी के आन्तरिक भाग में तापमान की स्थिति के विषय में निम्न तथ्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

(i) दुर्बलता-मण्डल (asthenosphere) आंशिक रूप में द्रवित या गलित (molten) है। 100 किमी० की गहराई पर तापमान लगभग 1100° से 1200° सें० है जो प्रारम्भिक गलनांक के करीब है।

(ii) 400 किमी० की गहराई पर 1500° सें० तथा 700 किमी० की गहराई पर 1900° सें० तापमान का आकलन किया गया है।

(iii) मैण्टिल तथा बाह्य गलित अन्तरतम की सीमा अर्थात् 2900 किमी० की गहराई पर 3700° सें० तापमान का अनुमान है।

(iv) बाह्य गलित अन्तरतम तथा ठोस आन्तरिक अन्तरतम की सीमा अर्थात् 5100 किमी० की गहराई पर तापमान 4300° सें० है।

पृथ्वी में ऊष्मा का जनन तथा स्थानान्तरण—पृथ्वी के आन्तरिक भाग में ऊष्मा का जनन मुख्य रूप से रेडियो सक्रिय पदार्थों तथा गुरुत्व बल के तापीय ऊर्जा में परिवर्तन से होता है। यह विश्वास किया जाता है कि लगभग 4.7 बिलियन वर्ष पूर्व पृथ्वी के आन्तरिक भाग का प्रारम्भिक तापमान लगभग 1000° सें० (ग्रहीय सम्वर्द्धन—planetary accretion तथा रुद्धोष्म सम्पीडन—adiabatic compression—की प्रक्रियाओं द्वारा जनित) रहा होगा। आगे चलकर रेडियो सक्रिय पदार्थों द्वारा पृथ्वी के आन्तरिक भाग की ऊष्मा में वृद्धि प्रारम्भ हुई। लगभग 4.0 या 4.5 बिलियन वर्ष पूर्व पृथ्वी के अन्तरतम (Core) तथा मैण्टिल का अलगाव हुआ होगा जबकि लोहे का तापमान बढ़ कर गलनांक को प्राप्त हुआ। इस तरह गलित लोहे के अन्तरतम में

डूबने के कारण 2×10^{37} अर्ग* गुरुत्व बल ऊष्मा के रूप में मुक्त हुई होगी जिसके कारण पृथ्वी के अन्दर पदार्थों का बड़े पैमाने पर पिघलाव (Melting) तथा पुर्नगठन होने से विभिन्न मण्डलों—अन्तरतम, मैण्टिल तथा क्रस्ट—का निर्माण हुआ होगा।

पृथ्वी के बाह्य मण्डल अर्थात् क्रस्ट में प्रमुख चट्टानें ग्रेनाइट, बेसाल्ट तथा पेरिडोटाइट हैं जिनमें रेडियो सक्रिय पदार्थ यथा यूरेनियम, थोरियम, पोटैशियम आदि, सर्वाधिक मात्रा में हैं। ग्रेनाइट में ये पदार्थ सबसे अधिक होते हैं (यूरेनियम = 4 ppm, थोरियम = 13 ppm तथा पोटैशियम = 4 ppm)। इनके विघटन से ऊष्मा जनित होती है। इस प्रक्रिया से ग्रेनाइट के प्रत्येक ग्राम से 300 अर्ग प्रति वर्ष तापीय ऊर्जा उत्पन्न होती है। यदि पृथ्वी के बाह्य मण्डल में ग्रेनाइट की 20 किमी० मोटी गोलाकार कोपिका (spherical cell) की कल्पना की जाय तो उक्त प्रक्रिया से जनित कुल तापीय ऊर्जा 10^{28} अर्ग होगी। इस तरह स्पष्ट है कि महाद्वीपीय भागों में जो ऊष्मा बाहर की ओर प्रवाहित होती है उसका जनन ग्रेनाइट सतह के रेडियो सक्रिय पदार्थों से होता है परन्तु सागरीय नितल से प्रवाहित होने वाली ऊष्मा का जनन और अधिक रफ्तार से होता है क्योंकि महासागरीय क्रस्ट में ग्रेनाइट नहीं होती है।

पृथ्वी के आन्तरिक भाग से ऊष्मा का प्रवाह बाहर की ओर होता है। स्मरणीय है कि ठोस भाग में ऊष्मा की ऊर्जा एटम के कम्पन (vibration of atoms) के रूप में होती है। शैल ऊष्मा की अच्छी चालक (poor conductor of heat) नहीं होती हैं। मात्र 10 मीटर मोटी शैल परत में ऊष्मा के स्थानान्तरण में 3 वर्ष का समय लगता है। इसी तरह 100 मीटर मोटे लावा प्रवाह को शीतल होने में 300 वर्ष लगते हैं। 400 किमी० मोटी शैल कोपिका के निचले भाग से ऊपरी भाग में ऊष्मा के प्रवाह के लिए 5 बिलियन वर्ष लगेंगे। यदि पृथ्वी का शीतलन केवल संचालन (conduction) विधि से होना रहा होता तो 400 किमी० से अधिक गहराई में ऊष्मा आज तक सतह पर नहीं पहुँच पायी होती।

पृथ्वी के आन्तरिक भाग से बाहर की ओर ऊष्मा का स्थानान्तरण विकिरण विधि से भी अच्छी तरह नहीं हो सकता क्योंकि पृथ्वी के आन्तरिक भाग के अधिकांश खनिज अपेक्षाकृत अपारदर्शी (*opaque*) होते हैं। ऐसे पदार्थों में विकिरण द्वारा ऊष्मा का ह्रास या प्रवाह अच्छी तरह नहीं हो सकता। ऊष्मा स्थानान्तरण की तीसरी सम्भावना संवहन की प्रक्रिया हो सकती है। परन्तु संवहन प्रायः तरल में ही उत्पन्न होती है। पृथ्वी के क्रस्ट के ठोस प्रारूप को देखकर संवहन की प्रक्रिया संदिग्ध लगती है परन्तु प्लेट विवर्तनिकी (plate tectonics) सिद्धान्त के प्रकाश में आने से सागर-नितल में प्रसरण (sea floor spreading) का सत्यापन हो गया है। इस सिद्धान्त के तहत मध्य महासागरीय कटकों के सहारे गर्म पदार्थ (मैगमा) ऊपर उठता है तथा कटक के दोनों ओर नये स्थल का निर्माण करता है, शीतल होने पर ठोस होकर कटक से दूर खिसकता जाता है तथा पुनः (विनाशात्मक प्लेट किनारे के सहारे, देखिये अध्याय 8) नीचे डूब कर मैण्टिल में आत्मसात हो जाता है। यह इस प्रकार पदार्थों का संवहनीय परिवहन (convective transport) है जिसके अन्तर्गत पृथ्वी के आन्तरिक भाग से ऊष्मा पदार्थों के साथ सतह तक पहुँचती है।

पृथ्वी की सतह पर दो स्रोतों से ऊष्मा पहुँचती है—पृथ्वी के आन्तरिक भाग से तथा सूर्य से। अन्ततः दोनों स्रोतों से प्राप्त ऊष्मा का पृथ्वी की सतह से अन्तरिक्ष में विकिरण हो जाता है। सूर्य से प्राप्त ऊष्मा से वायुमण्डल एवं जलमण्डल का संचालन होता है जिससे अनाच्छादनात्मक प्रक्रमों का प्रादुर्भाव होता है जबकि पृथ्वी की आन्तरिक ऊष्मा द्वारा भूतल पर रचनात्मक कार्य (पर्वत, पठार, ज्वालामुखी, भूकम्प आदि) होते हैं।

'In a real sense, the Earth's internal heat *engine builds mountains and its external heat* engine, the sun, destroys them.,—F. Press and R. Siever, 1974 (Earth).

(2) **पृथ्वी की उत्पत्ति से सम्बन्धित सिद्धान्तों का साक्ष्य**—विभिन्न विद्वानों ने पृथ्वी की उत्पत्ति की समस्या के निदान के लिए उसके मूल रूप को ठोस, वायव्य अथवा तरल भाग माना है। "ग्रहाणु परिकल्पना" (Planetesimal Hypothesis) के अनुसार पृथ्वी का निर्माण ठोस ग्रहाणुओं के एकत्रीकरण के कारण माना गया है। इस आधार पर पृथ्वी का अन्तरतम ठोस अवस्था में होना चाहिए। "ज्वारीय परिकल्पना" (Tidal Hypothesis) के अनुसार यदि पृथ्वी का निर्माण सूर्य से निस्सृत ज्वारीय पदार्थ से हुआ तो पृथ्वी

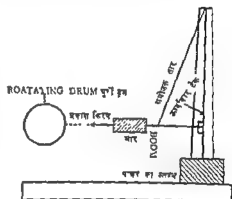
* एक कैलोरी = 4.8×10^{7} अर्ग (erg)

का अन्तरतम तरल अवस्था में होना चाहिए। लाप्लास महोदय, जो कि "वायव्य नीहारिका परिकल्पना", के प्रतिपादक हैं, भी पृथ्वी के अन्तरतम को तरल मानते हैं। यदि यह तथ्य मान लिया जाय तो अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित हो सकती हैं। "निहारिका परिकल्पना" (Nabular Hypothesis) के अनुसार पृथ्वी की उत्पत्ति गैस से बनी नीहारिका से मानी जाती है। इस आधार पर पृथ्वी का अन्तरतम वायव्य अवस्था में होना चाहिए, जैसे लाप्लास अन्तरतम को तरल मानते हैं। जोयपरिज (Zoeppritz) तथा रित्तर (Ritter) नामक विद्वानों ने भी पृथ्वी के अन्तरतम (Core) को गैस का बना हुआ माना है। परन्तु यह मत अत्यधिक भ्रामक है। केवल दो सम्भावनायें हो सकती हैं या तो अन्तरतम ठोस हो सकता है या तरल। इसका निराकरण आगे किया जायेगा।

3 प्राकृतिक साधन (Natural Source)

1 ज्वालामुखी क्रिया—ज्वालामुखी के उद्गार के समय पृथ्वी के आंतरिक तथा ऊपरी भाग में गर्म तथा तरल लावा का विस्तार हो जाता है। इस आधार पर कुछ विद्वानों का यह विश्वास है कि पृथ्वी की गहराई में कम से कम एक ऐसी परत अवश्य है जो कि सदैव तरल अवस्था में रहती है। इसी को मैगमा-भण्डार (Magma Chamber) बताया गया है, जहाँ से ज्वालामुखी के उद्गार के समय तरल एवं तप्त मैगमा पृथ्वी के ऊपर प्रकट होता है। इस आधार पर पृथ्वी का कुछ भाग तरल अवश्य होना चाहिए। परन्तु जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि आन्तरिक भाग में अत्यधिक दबाव चट्टानों को पिघली अवस्था में नहीं रहने देगा। इस प्रकार आन्तरिक भाग ठोस होगा न कि तरल। हाँ यह सम्भव हो सकता है कि पृथ्वी के ऊपरी भाग पर दरार आदि के पड़ने से चट्टान का दबाव कम हो जाता है, जिससे चट्टान का द्रवणांक-बिंदु गिर जाता है, जिस कारण चट्टान वहाँ पर वर्तमान अधिक ताप के कारण पिघल कर ज्वालामुखी के रूप में प्रकट हो जाती है। इस तरह ज्वालामुखी के उद्गार से भी पृथ्वी के अन्तःकरण की बनावट के विषय में कोई निश्चित तथ्य नहीं निकल पाता है।

2 भूकम्प विज्ञान (Seismology)—भूकम्प की घटना प्रायः धरातल के नीचे घटित होती है परन्तु प्रत्येक भूकम्प समान गहराई पर उत्पन्न नहीं होते हैं। जिस स्थान पर घटना प्रारम्भ होती है उस स्थान को भूकम्प का उत्पत्ति केन्द्र अथवा भूकम्प मूल (Seismic focus) कहते हैं। भूगर्भ में स्थित यह वह स्थान होता है जहाँ से भूकम्प से उत्पन्न लहरें प्रसारित होती हैं। प्रत्येक भूकम्प से, चाहे सामान्य हो अथवा तीव्र हो, लहरें (यद्यपि उनकी तीव्रता में अन्तर हो सकता है) प्रसारित होती हैं। इस प्रकार की लहरों को भूकम्पीय लहर (Seismic waves) कहते हैं। विभिन्न प्रकार के भूकम्प मूल विभिन्न गहराई वाले हुआ करते हैं। गटेनबर्ग तथा रिटर के अनुसार साधारण तौर पर सामान्य भूकम्प का मूल केन्द्र (Focus) 0 से 50 किलोमीटर, मध्य-वर्गीय भूकम्प का 250 किलोमीटर तथा प्लूटानिक भूकम्पों का भूकम्प मूल 250 से 700 किलोमीटर तक हुआ करता है। परन्तु भ्रंशमूलक भूकम्पों का भूकम्प मूल धरातल में कम गहराई पर होता है। बिहार के 1934 ई० (15 जनवरी) के भूकम्प तथा आसाम के 1950 ई०



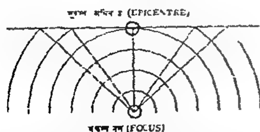
चित्र 67—भूकम्पलेखी (Seismograph)

(15 अगस्त) के भूकम्पों, जो कि भ्रंशमूलक-भूकम्प के उदाहरण हैं, का भूकम्प मूल धरातल में थोड़ी ही दूरी पर था।

भूकम्प-मूल के ठीक ऊपर धरातल पर भूकम्प का केन्द्र होता है जहाँ पर भूकम्पीय लहरों का ज्ञान सर्वप्रथम होता है। इस स्थान को भूकम्प केन्द्र अथवा अधिकेन्द्र (Epicentre) के नाम से सम्बोधित करते हैं। यह अधिकेन्द्र सदैव भूकम्प मूल के ठीक ऊपर समकोण पर स्थित होता है तथा भूकम्प से प्रभावित क्षेत्रों में यह भाग भूकम्प मूल के सबसे नजदीक होता है। भूकम्प-अधिकेन्द्र पर ऐसे यन्त्र लगे होते हैं जिनके द्वारा भूकम्पीय लहरों का अंकन किया जाता है। इस यन्त्र को भूकम्प लेखन यन्त्र अथवा सीस्मोग्राफ कहते हैं। भूकम्प-विज्ञान

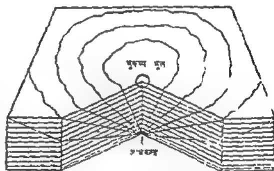
अथवा सीस्मोलाजी (Seismology) वह विज्ञान अथवा विषय है जिसमें सीस्मोग्राफ द्वारा अंकित लहरों का अध्ययन किया जाता है। सीस्मोग्राफ की सहायता से भूकम्पीय लहरों की गति तथा उनके उत्पत्ति स्थान एवं प्रभावित क्षेत्रों के विषय में जानकारी प्राप्त की जाती है। भारत में पूना, बम्बई, देहरादून, दिल्ली तथा कलकत्ता में भूकम्प लेखन यन्त्रों की स्थापना की की गयी है।

भूकम्प का अधिकेन्द्र ही ऐसा स्थान होता है जहाँ पर भूकम्पीय लहरों का प्रभाव सर्वप्रथम होता है। इस कारण अधिकेन्द्र अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा सबसे अधिक प्रभावित होता है क्योंकि यहाँ पर लहरों की तीव्रता सर्वाधिक होती है। जैसे-जैसे अधिकेन्द्र से दूर होते जाते हैं, इन लहरों की तीव्रता तथा क्षतिकारी प्रभाव कम होता जाता है। लहरें अधिकेन्द्र पर पहुँच जाने के बाद उस केन्द्र के चारों तरफ प्रसारित होने लगती हैं। इन लहरों का मार्ग प्राय वृत्ताकार या अण्डाकार होता है। भूकम्पीय लहरों द्वारा उत्पन्न **समान आघात-क्षेत्रों** (Places of equal intensity—(आघात क्षेत्रों का निर्धारण विभिन्न क्षेत्रों पर होने वाली क्षति की मात्रा के अनुसार किया जाता है) को मिलने वाली रेखाओं को **भूकम्प समघात रेखायें** (Isoseismal lines) कहते हैं। इन समाघात-रेखाओं का पथ अधिकेन्द्र के ऊपर आधारित होता है। यदि अधिकेन्द्र एक बिन्दु होता तो वहाँ से उत्पन्न समाघात रेखाएँ वृत्ताकार होतीं, परन्तु वास्तव में ऐसा होता नहीं है। अधिकेन्द्र एक बिन्दु न होकर एक दरार के रूप में या एक लम्बी रेखा के रूप में होता है। अत समाघात रेखायें अण्डाकार (Elliptical) होती हैं।



चित्र 68—भूकम्प मूल तथा अधिकेन्द्र की स्थितियाँ

भूकम्पीय लहरें—(Seismic Waves)—जब भूकम्प-मूल में भूकम्प प्रारम्भ होता है तो इस केन्द्र से भूकम्पीय लहरें उठने लगती हैं तथा सर्वप्रथम ये भूकम्प-अधिकेन्द्र पर पहुँचती हैं। यहाँ पर सीस्मोग्राफ द्वारा इनका अंकन कर लिया जाता है। यद्यपि भूकम्पीय लहरों में पर्याप्त अन्तर होता है परन्तु अधिकेन्द्र पर पहुँचने पर भी ये लहरें प्राय साधारण ही होती हैं तथा इनमें विभिन्नता नहीं पायी जाती है। परन्तु अधिकेन्द्र से जब पुन दूसरे स्थानों की तरफ प्रसारित होती हैं तो इनमें अलगाव होने लगता है। इनकी दूरी अधिकेन्द्र से जितनी ही अधिक होती जाती है उतनी ही इनकी विभिन्नताएँ स्पष्ट होती जाती हैं। एशिया माइनर के 9 फरवरी 1909 ई० के भूकम्प का लेखन **पुलकोवो** नामक स्थान पर किया गया जो कि अधिकेन्द्र से 2300 किलोमीटर दूर था। इस भूकम्प की भूकम्पीय लहरों के अंकन तथा अध्ययन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि अधिकेन्द्र से दूर प्रत्येक भूकम्प की भूकम्पीय लहरों में प्राय तीन दशायें होती हैं।



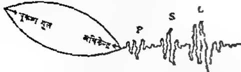
चित्र 69—समाघात रेखाओं (Isoseismal lines) का प्रदर्शन तथा उनका अधिकेन्द्र (Epicentre)।

1 सर्वप्रथम क्षीण कम्पन होती है। कभी-कभी यह कम्पन इतनी कमजोर तथा क्षीण होती है कि सीस्मोग्राफ द्वारा उसका अंकन भी नहीं हो पाता है। इस प्रकार की की कम्पन को **प्राथमिक कम्पन** (First Preliminary tremor) कहते हैं।

2. प्रथम कम्पन के बाद अचानक शीघ्र ही द्वितीय कम्पन होती है। यह प्रथम की अपेक्षा अधिक तीव्र होती है। इसे **द्वितीय प्राथमिक कम्पन** (Second preliminary tremor) कहते हैं।

3 अन्त में सर्वाधिक तीव्र कम्पन होती है। इसमें कम्पन की गति सबसे अधिक होती है। इसको **प्रधान कम्पन** (Main tremor) कहते हैं। इन तीन दशाओं के आधार पर **भूकम्पीय लहरों** को तीन भागों में विभाजित किया जाता है—देखिये चित्र 70

1. प्राथमिक अथवा प्रधान लहरें (Primary Waves)[1]—प्राथमिक लहरें ध्वनि-तरंगों के समान होती हैं तथा इनमें अणुओं का कम्पन लहरों की दिशा में आगे



चित्र 70—भूकम्पीय लहरों द्वारा अनुसरण किया जाने वाला पथ।

या पीछे होता रहता है। इसी कारण इस लहर को लम्बात्मक लहर[1] (Longitudinal waves) भी कहते हैं। ये लहरें ध्वनि-लहर की भाँति आगे-पीछे धक्के देती हुई चलती हैं। चूंकि इन लहरों से दबाव पड़ता है अतः इन्हें **दबाव वाली लहर (Compressional waves)** कहते हैं। दूसरे शब्दों में इन लहरों का उद्‌भव चट्टानों के कणों के सम्पीडन (Compression) से होता है। इन सीधी लहरों को अंग्रेजी "P" अक्षर द्वारा सम्बोधित किया जाता है। ये लहरें सबसे अधिक तीव्र होती हैं। इसकी तीव्रता इनके मार्ग में पड़ने वाली चट्टानों में सघनता पर निर्भर होती है। सीधी लहरें ठोस भाग से होकर तीव्र गति से गुजरती हैं तथा तरल भागों में इनकी गति क्षीण हो जाती है। प्राथमिक लहरों की औसत गति 8 किलोमीटर प्रति सेकेण्ड होती है। परन्तु विभिन्न प्रकार की घनत्व वाली चट्टानों में इनकी गति भिन्न-भिन्न होती है। इनकी प्रति सेकेण्ड गति 8 से 14 किलोमीटर के बीच होती है। पर्यवेक्षणों के आधार पर पता लगाया गया है कि भूकम्प-अधिकेन्द्र (Epicenter) से प्राथमिक लहर ठीक 21 मिनट में अपने विपरीत वाले धरातलीय भाग—प्रतिध्रुवस्थ स्थान (Antipodal point) पर पहुँच जाती हैं। ये लहरें पृथ्वी के प्रत्येक भाग में यात्रा करती हैं। चूंकि इनकी गति सबसे अधिक होती है, अतः ये सबसे पहले धरातल पर पहुँचती हैं।

2 आड़ी अथवा अनुप्रस्थ लहरें (Transverse Waves)—ये लहरें जल-तरंग अथवा प्रकाश-तरंग के समान होती हैं। इन्हें आड़ी लहर इसलिए कहते हैं कि इनमें अणुओं की गति लहर के समकोण पर होती है। अर्थात् अणुओं की कम्पन लहरों की दिशा के आर-पार होती है (Particles move at right angles to the wave)। इन्हें द्वितीय अथवा गौण लहर (Secondary waves) भी कहते हैं क्योंकि ये प्राथमिक सीधी लहर (P) के बाद प्रकट होती हैं। इनकी गति प्राथमिक लहर की अपेक्षा कम होती है। इस लहर को **विध्वंसक लहर (Distortional waves)** भी कहते हैं। आड़ी लहर को अंग्रेजी के "S" अक्षर से सम्बोधित करते हैं। इस प्रकार की लहर तरल पदार्थ से होकर नहीं गुजर पाती है। यही कारण है कि आड़ी लहरें सागरीय भागों में पहुँचने पर लुप्त हो जाती हैं।

3 धरातलीय लहरें (Surface Waves, L-Waves)—धरातलीय लहरें अन्य दो लहरों की अपेक्षा कम वेगवान होती हैं तथा इनका भ्रमण-पथ पृथ्वी का धरातलीय भाग ही होता है। चूंकि ये लहरें पृथ्वी का पूरा चक्कर लगाकर अधिकेन्द्र पर पहुँचती हैं, अतः इन्हें P तथा S लहरों की अपेक्षा अधिक लंबा मार्ग तय करना पड़ता है। इसी कारण से धरातलीय लहरें अधिकेन्द्र पर सबसे बाद में पहुँचती हैं। इन लहरों को **लम्बी अवधि वाली लहरें अथवा लम्बी लहरें (Long waves)** इसलिए कहा जाता है कि इनका भ्रमण-समय अधिक होता है तथा ये अधिक दूरी तय करती हैं। इन्हें अंग्रेजी के "L" अक्षर (Long-L) से सम्बोधित किया जाता है। अधिक गहराई पर जाने पर धरातलीय लहरें लुप्त हो जाती हैं। ये लहरें जल से भी होकर गुजर जाती हैं। यही कारण है कि ये सर्वाधिक विनाशकारी होती हैं तथा इनका प्रभाव जल-थल दोनों पर होता है। धरातलीय लहरों की गति 3 किलोमीटर प्रति सेकेण्ड होती है।

यदि पृथ्वी की बनावट सर्वत्र समान घनत्व वाली चट्टानों से हुई होती तो इन तीनों लहरों का वेग सर्वत्र समान होता परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता है। विभिन्न गहराई पर जाने पर इनकी गति में पर्याप्त अन्तर मिलता है। इससे यह प्रकट होता है कि पृथ्वी में अन्दर विभिन्न घनत्व वाली शैल की परतें पायी जाती हैं। जहाँ पर घनत्व में अन्तर पाया जाता है वहाँ पर भूकम्पीय लहरों के मार्ग में मोड़ अथवा झुकाव पाया जाता है। पर्यवेक्षणों के आधार पर कुछ विद्वानों ने P, S तथा L लहरों की अपेक्षा कुछ और भूकम्पीय लहरों का पता लगाया है। यद्यपि लहरें तो P, S तथा L ही हैं परन्तु इनकी गति में अन्तर होने के कारण अन्य लहर-युग्मों

1. अनुदैर्घ्य लहर (Longitudinal wave)।

(Couples of waves) का पता लगाया गया है। वेग मे भिन्नता के आधार पर इन लहरो को तीन श्रेणियो मे विभाजित किया जाता है—

(i) **P तथा S लहर**—जैसा ऊपर बताया गया है, ये लहरें सबसे अधिक वेगवती होती हैं। ये लहरें पृथ्वी के अन्तरतम (Core) मे भी प्रवेश कर जाती हैं तथा जैसे-जैसे ये नीचे की तरफ अग्रसर होती हैं, उनकी गति बढती जाती है। परन्तु तरल भाग मे होकर S लहरें नही गुजर पाती हैं। पृथ्वी की निचली परत मे P लहर की गति 7 8 किलोमीटर प्रति सेकेण्ड तथा S लहर की गति 4 35 किलोमीटर प्रति सेकेण्ड होती है। पृथ्वी के अन्तरतम मे 2900 किलोमीटर की गहराई पर P की गति 13 किलोमीटर तथा S की गति 7 किलोमीटर प्रति सेकेण्ड हो जाती है।

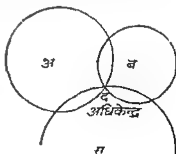
(ii) **Pg तथा Sg लहर**—क्रोशिया की कल्पा घाटी (Kalpa Valley in Croatia) के 1909 के भूकम्प मे P तथा S के अलावा दो ऐसी लहरो का पता लगाया गया जो कि सामान्य गुण मे तो P-S लहरो के समान थी परन्तु उनकी गति P-S की अपेक्षा कम थी। इस लहर युग्म का Pg-Sg नामकरण किया गया। ये लहरें मुख्यतया पृथ्वी की ऊपरी परत से होकर भ्रमण करती हैं। इनमे Pg की गति 5 4 तथा Sg की गति 3.3 किलोमीटर प्रति सेकेण्ड होती है।

(iii) **P*-S* लहर**—कोनार्ड महोदय ने टार्न (Tauern) मे 1923 ई० के भूकम्प के अध्ययन से तृतीय लहर का पता लगाया तथा इसका नाम P* रखा गया। इसकी गति P तथा Pg के बीच की होती है। इस प्रकार P* लहर पृथ्वी की मध्यवर्ती परत (Intermediate layer) मे 6.0 से 7 2 किलोमीटर प्रति सेकेण्ड की गति मे भ्रमण करती है। पुन जेफ्रीज ने जर्सी (Jersey) के 1926 तथा हरफोर्ड (Hereford) के 1926 ई० के भूकम्पो के आधार पर विरूपक लहर (Distortional waves) का पता लगाया। इनकी गति S तथा Sg के बीच (Intermediate) थी जो कि पृथ्वी की मध्यवर्ती परत मे होकर 3 5 से 4 0 किलोमीटर प्रति सेकेण्ड की गति मे यात्रा करती है। इस प्रकार इसका नामकरण S* किया गया है। यह P*-S* लहर युग्म, P-S तथा Pg-Sg के मध्य का है।

इन तीनों विभिन्न लहरो तथा उनकी विभिन्न गतियों द्वारा पृथ्वी की आन्तरिक बनावट के विषय मे विशेष जानकारी प्राप्त होती है। P तथा S लहरो की गति की व्याख्या के बाद कई महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। इन लहरो की गति के आधार पर अधिकेन्द्र का पता लगाया जा सकता है।

अधिकेन्द्र का निर्धारण (Determination of Epicentre) —यदि P तथा S लहरो की गति मालूम हो जाय (प्रति सेकेण्ड किलोमीटर) तथा भूकम्प लेखन-स्थान (Recording centre) पर दोनो के पहुँचने का मध्यान्तर (Interval) मालूम हो जाय तो भूकम्प का अधिकेन्द्र मालूम हो सकता है। भूकम्प-तल से उत्पन्न सभी लहरें पहले भूकम्प अधिकेन्द्र पर पहुँचती हैं तथा वहाँ से अन्य स्थानों को प्रसारित होती हैं। उदाहरण के लिए यदि अधिकेन्द्र मे P लहर 13 किलोमीटर तथा S लहर 7 किलोमीटर प्रति सेकेण्ड के चाल से चलती है तथा लेखन-स्थान (Recording station) पर P लहर S की अपेक्षा 7 मिनट पहले पहुँच जाती है तो साधारण गणित की सहायता से लेखन-स्थान से अधिकेन्द्र की दूरी मालूम की जा सकती है। दूरी = 6370 किलोमीटर चित्र 72.

इस तरह से तीन लेखन-केन्द्रों से अधिकेन्द्र की दूरी मालूम कर ली जाती है तथा प्रत्येक लेखन-केन्द्र से अधिकेन्द्र की दूरी का चाप लेकर वृत्त खीचे जाते हैं। जहाँ पर तीनों वृत्त एक-दूसरे से मिल जाते हैं, वही स्थान स्वाभाविक अधिकेन्द्र होता है। मान लीजिए एक भूकम्प का लेखन अ, ब तथा स स्थानो पर किया गया। इन तीन स्थानो को केन्द्र मान-



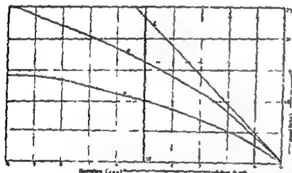
चित्र 71 —अधिकेन्द्र (Epicentre) का निर्धारण।

कर अधिकेन्द्र की दूरी के बराबर खींचे गये वृत्तों का मिलन बिन्दु "द" ही उस भूकम्प का अधिकेन्द्र होगा।

सभी भूकम्पीय लहरो मे P लहर सबसे अधिक वेगवान होती है तथा सर्वप्रथम भूकम्प-केन्द्र पर पहुँचती है। S तथा L लहरें क्रम से एक दूसरे के बाद अधि

की जाती है। यदि अधिकेन्द्र से लेखन केन्द्रों की दूरी तथा लहरों के लेखन पर पहुँचने के समय के आधार पर रेखाचित्र तैयार किया जाय तो बात और स्पष्ट हो जाती है। चित्र 72 इस तथ्य को प्रमाणित करता है।

आगे दिये ग्राफ (चित्र72) में क्षैतिज रेखा के सहारे अधिकेन्द्र से दूरियाँ किलोमीटर में प्रदर्शित की गई है। ऊर्ध्वाकार रेखा के सहारे लहरों की यात्रा का समय लिया है। P, S तथा L लहरों का ग्राफ विभिन्न स्थानों पर उनके पहुँचने का समय बताता है। उदाहरण के लिए अधिकेन्द्र से दूर 5000 किलोमीटर की दूरी पर 'अ' लेखन केन्द्र है। निम्न ग्राफ से यह स्पष्ट है कि उत्पत्ति समय के 10 मिनट बाद ही P लहर 'अ' स्थान पर पहुँच जाती है। S लहर 16 मिनट बाद तथा L लहर 23.5 मिनट बाद पहुँचती है। निम्न ग्राफ में यह भी स्पष्ट है कि P एवं S लहरों की यात्रा के समय का मध्यान्तर (P-S) अधिकेन्द्र से दूर जाने पर बढ़ता जाता है। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि अधिकेन्द्र से दूर जाने पर P लहर का वेग बढ़ता जाता।

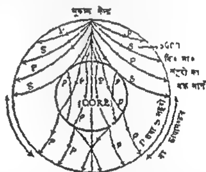


चित्र 72—भूकम्पीय लहरों के अधिकेन्द्र पर पहुँचने के समय का निर्धारण।

भूकम्प विज्ञान तथा पृथ्वी की आन्तरिक सचना

भूकम्पीय तरंगों की गति तथा भ्रमण-पथ के आधार पर पृथ्वी के आन्तरिक भाग के विषय में जानकारी प्राप्त की जा सकती है। भूकम्पीय लहरें प्राय ठोस भाग में होकर गुजरती है तथा एक ही स्वभाव वाले ठोस भाग (Homogeneous Solid) में ये लहरें एक सीधी रेखा में प्रवाहित होती हैं। परन्तु जब उसके (ठोस भाग) विभिन्न भागों के घनत्व में अन्तर होता है तो ये लहरें सीधी रेखा में न चलकर टेढ़े रूप में चलती हैं। इस आधार पर अगर पृथ्वी एक ही प्रकार की घनत्व वाली चट्टानों से निर्मित एवं ठोस भाग होती तो भूकम्पीय लहरें समान गति से पृथ्वी के कोर तक एक सीधी रेखा में पहुँच जातीं। परन्तु भूकम्प केन्द्रों पर इन लहरों के अकन से ज्ञात होता है कि ये लहरें एक सीधी दिशा में न चल कर वक्राकार मार्ग का अवलम्बन करती हैं। इस प्रकार यह प्रमाणित होता है कि पृथ्वी के भीतर घनत्व में विभिन्नता है। इस घनत्व की विभिन्नता के कारण लहरें परिवर्तित होकर वक्राकार हो जाती हैं। परिणाम-स्वरूप उनका मार्ग भी वक्राकार हो जाता है। चूंकि आन्तरिक भाग की तरफ घनत्व बढ़ता जाता है अत कोर में ये लहरें (P तथा S) वक्राकार होकर सतह की तरफ अवतल हो जाती हैं। यह तथ्य चित्र 73 में प्रमाणित हो जाता है।

S लहरों का यह स्वभाव होता है कि वे तरल पदार्थ में होकर नहीं गुजरती हैं। ओल्डहम नामक विद्वान ने 1909 में यह प्रमाणित किया कि भूकम्प केन्द्र से 120°



चित्र 73

पृथ्वी के आन्तरिक भाग में भूकम्पीय लहरों का भ्रमण-पथ।

की दूरी पर S लहरें लुप्त हो जाती हैं तथा P लहरें काफी दुर्बल हो जाती हैं। यह बात आगे दिये गये चित्र 73 से भी स्पष्ट हो जाती है। पृथ्वी के कोर में S लहरों का पूर्णतया अभाव है। इस आधार पर यह प्रमाणित होता है कि पृथ्वी के आन्तरिक भाग में तरल अवस्था में एक कोर (Core) है जो कि 2900 किलोमीटर से अधिक गहराई में केन्द्र के चारों तरफ विस्तृत है (वाह्य अन्तरतम 2900 किमी० से 5150 किमी० की गहराई के बीच)। इस आधार पर विद्वानों ने यह अनुमान लगाया है कि पृथ्वी के कोर का लोहा तथा निकल तरल अवस्था में होगा।

इतना ही नहीं यदि भूकम्पीय लहरों की गति तथा स्वभाव का अध्ययन किया जाय तो पृथ्वी के अन्दर कई घनत्व-क्षेत्रों (Density zones) का आभास मिलता है। वैज्ञानिक खोजों के आधार पर कुछ लहरों अथवा P & S लहरों की श्रेणियों का अन्वेषण किया गया है। यह प्रमाणित तथ्य है कि जब चट्टानों के घनत्व में अन्तर आता है तभी भूकम्पीय लहरों की गति में अन्तर आता है। गति के आधार पर भूकम्पीय लहरों का तीन युग्म (Three Sets of Waves) बनाया जाता है प्रथम—"P तथा S लहरों का"—इनकी गति सबसे अधिक होती है। द्वितीय—"Pg तथा Sg लहरों का" इनकी गति सबसे कम होती है। तृतीय—"P* तथा S* का"—इनकी गति प्रथम दो के मध्य की होती है। इस प्रकार भूकम्पीय लहरों की गति के आधार पर यह प्रमाणित होता है कि उनकी गति में तीन जगहों पर अन्तर आना चाहिए। अतः पृथ्वी के अन्दर भी तीन जगहों पर घनत्व में अन्तर आना चाहिए। इस आधार पर यह प्रमाणित किया जाता है कि पृथ्वी के अन्दर ऊपरी परतदार चट्टान की पतली परत के नीचे तीन विभिन्न परतें पायी जाती हैं जिनके घनत्व में अन्तर पाया जाता है।

1. ऊपरी परत (Upper Layer)—Pg लहर 5.4 किलोमीटर तथा Sg लहर 3.3 किलोमीटर प्रति सेकेण्ड की गति से पृथ्वी के ऊपरी धरातल में यात्रा करती है। ये लहरें जिन शैलों से होकर गुजरती हैं उनका घनत्व 2.7 होता है। इस आधार पर यह प्रमाणित होता है कि पृथ्वी की ऊपरी परत ग्रेनाइट नामक चट्टान की बनी है। इन दो लहरों से पूर्व Ps. तथा Ss लहरों का अंकन किया जाता है जो न्यून वेग से ऊपरी भाग में प्रवाहित होती हैं। इससे यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि पृथ्वी का सबसे ऊपरी भाग परतदार शैल (Sedimentary Rocks) का बना है।

2. मध्यवर्ती परत (Intermediate Layer)—P* लहरें 6 से 7 किलोमीटर प्रति सेकेण्ड तथा S* लहरें 3 से 4 किमी० प्रति सेकेन्ड की गति से पृथ्वी के मध्यवर्ती भाग में प्रवाहित होती हैं। इन लहरों की मध्यमवर्गीय गति के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि पृथ्वी में एक मध्यवर्ती परत है जिसका घनत्व 3 (ऊपरी सतह से अधिक परन्तु निचली परत से कम) है। इस परत की वास्तविक चट्टानों के विषय में विद्वानों में मतभेद है। डेली तथा जेफरीज के अनुसार मध्यवर्ती परत ग्लासी बेसाल्ट (Glassy Basalt) की है जबकि वेगनर तथा होम्स इसे एम्फीबोलाइट (Amphibolite) बताते हैं। परन्तु अधिकांश विद्वानों के अनुसार यह परत बेसाल्ट की ही बनी हुई है। इसकी मोटाई 20 से 30 किलोमीटर बतायी जाती है, यद्यपि यह विवाद का विषय है।

3. निचली परत (Lower Layer)—P तथा S लहरें सबसे अधिक गहराई में प्रवेश करती हैं। इनमें P लहर 7.8 किलोमीटर तथा S लहर 4.5 किलोमीटर प्रति सेकेण्ड की चाल से पृथ्वी के आन्तरिक भाग में प्रवाहित होती हैं। इसके आधार पर पृथ्वी में एक निचली परत का आभास मिलता है। सम्भवतः यह अधिक घनत्व वाली चट्टानों की बनी है। इसका निर्माण डूनाइट (Dunite) अथवा पैरिडोटाइट (Peridotite) से हुआ है। इसकी धरातल से गहराई 2900 किलोमीटर बतायी जाती है।

पृथ्वी का रासायनिक संगठन एवं विभिन्न आवरण (Chemical Constitution & Layering System of the Earth)

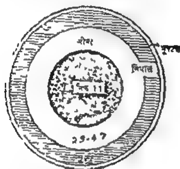
1. स्वेस के अनुसार (According to Suess)—स्वेस नामक विद्वान ने पृथ्वी की रासायनिक संरचना के विषय में विशेष प्रकाश डाला है। भूपटल का ऊपरी भाग अवसाद (Sediments) निर्मित परतदार शैलों का बना है जिसकी गहराई तथा घनत्व बहुत कम है। यह परत रवेदार (Crystalline) शैल खासकर सिलिकेट (Silicate) पदार्थों की बनी है जिसमें फेलस्पार तथा अभ्रक (Felspar & Mica) आदि खनिजों की बहुतायत होती है। इस परत के भी दो भाग किये गये हैं। प्रथम परत हल्के सिलिकेट पदार्थों की तथा दूसरी परत घने सिलिकेट पदार्थों की बनी है। इस परत के नीचे स्वेस ने तीन परतों की स्थिति मानी है।

(i) सियाल (Sial)—परतदार शैलों के नीचे एक सियाल की परत पायी जाती है, जिसकी रचना ग्रेनाइट चट्टान से हुई है। इस परत की रचना सिलिका (Silica Si) तथा अल्युमिनियम (Aluminium) से हुई है। इसी कारण इस परत को सियाल (Si—Silica + al—aluminium) कहा जाता है। इस परत का औसत घनत्व 2.9 है तथा इसकी औसत गहराई 50 से 300 किलोमीटर है। इसमें तेजाबी (Acid) पदार्थों की अधिकता होती है तथा पोटैशियम, सोडियम तथा अल्युमिनियम के सिलिकेट पाये जाते हैं। खासकर महाद्वीपों की रचना इसी सियाल से हुई मानी जाती है।

(ii) सीमा (Sima)-सियाल के नीचे दूसरी परत

सीमा की है। इसकी रचना बेसाल्ट यानेय शैलों से हुई है। यहीं से ज्वालामुखी के उद्गार के समय गर्म एवं तरल लावा बाहर आता है। रासायनिक बनावट के दृष्टिकोण से इसमे सिलिका (Silica) तथा मैग्नेसियम (Magnesium) की प्रधानता होती है। इसी कारण इस परत को (Si—Silica)+ Ma—(Magnesium) सीमा कहते हैं। इसका औसत घनत्व 2.9 से 4.7 है तथा इसकी गहराई 1000 से 2000 किलोमीटर तक है। इस सतह में क्षारीय पदार्थों की अधिकता होती है तथा मैग्नेशियम एवं कैलसियम एवं लोहे के सिलिकेट अधिक पाये जाते हैं।

(iii) निफे (Nife)—सीमा की परत के नीचे पृथ्वी की तीसरी तथा अंतिम परत पायी जाती है। इसे



चित्र 74
स्वेस के अनुसार पृथ्वी के आंतरिक भाग की परतों की अवस्था।

निफे कहते हैं क्योंकि इसकी रचना निकल (Nickel) तथा फेरियम (Ferrium) से मिलकर हुई है। इसी प्रकार यह परत कठोर धातुओं की बनी है जिस कारण इसका घनत्व अधिक (11) है। इसका नामकरण निकल के प्रथम दो अक्षर (Ni) तथा फेरियम के प्रथम दो अक्षर (Fe) को लेकर निफे किया गया है। इसकी व्यास 4300 मील के लगभग है। फेरियम, लोहे का ही एक रूप होता है। इस प्रकार पृथ्वी के आन्तरिक कोर में लोहे की उपस्थिति से यह पता चला है कि पृथ्वी में एक चुम्बकीय शक्ति है। पृथ्वी की स्थिरता (Rigidity) भी प्रमाणित होती है।

पृथ्वी की विभिन्न परतों की मोटाई तथा गहराई (Thickness and Depth of Different Layers of the Earth)

इतना तो निश्चित हो चुका है कि पृथ्वी के विभिन्न भागों में घनत्व एक मान न होकर भिन्न है तथा पृथ्वी के अन्दर इस प्रकार विभिन्न घनत्व वाले कुछ मण्डल (Zones) हैं। परन्तु उनकी गहराई तथा उनकी निश्चय संख्या के विषय में पर्याप्त मतभेद है। कुछ विद्वान तीन परत मानते हैं तथा कुछ लोग चार परत मानते हैं। परन्तु पृथ्वी के केन्द्र के विषय में मतभेद नहीं है। प्रायः सभी लोग एक ठोस कोर (Core) मानते हैं। इस क्षेत्र में डेली (Daly), होम्स (Holmes), वान डार ग्राट (Van der Gracht) तथा जेफरीज के मत विचारणीय है।

1 **डेली** का मत—डेली महोदय पृथ्वी के अन्दर तीन परत मानते हैं, जिसमें घनत्व की विभिन्नता पायी जाती है।



(जेफ्रीज के आधार पर)

चित्र 75
भूकम्पीय लहरों के आधार पर पृथ्वी की आन्तरिक संरचना।

अ अ—बाह्य परत (Outer Layer)
ब ब—ग्रेनाइट परत।
स स—मध्यवर्ती परत (Thachylyte or Diorite)
द द—निचली परत (Dunite, Peridotite or Ecylogite)

(अ) बाहरी परत (Outer zone)—बाहरी परत खास कर सिलीकेट पदार्थों की बनी है तथा इसका औसत घनत्व 3 है एवं मोटाई 1000 मील (1600 किलोमीटर) है।

(ब) मध्यवर्ती परत (Intermediate zone)—बाह्य परत के नीचे तथा केन्द्रीय भाग के ऊपर मध्यवर्ती परत पायी जाती है। जिसकी रचना लोहे एवं सिलीकेट के मिश्रण से हुई है तथा इसका घनत्व 4.5 से 9 तक है एवं मोटाई 800 मील (1280 किलोमीटर) है।

(स) केन्द्रीय भाग (Central zone)—मध्य परत के नीचे पृथ्वी की अन्तिम तथा तीसरी परत केन्द्रीय ठोस भाग के रूप में है जो कि लोहे की बनी है। इसका घनत्व 11.6 एवं व्यास 4400 मील (7040 किलोमीटर) है।

2 जेफरीज का मत –भूकम्पीय लहरों के अध्ययन के आधार पर जेफरीज ने पृथ्वी में चार परतों की स्थिति बतायी है।

(अ) बाह्य अथवा प्रथम परत—यह परतदार शैलों से निर्मित है।

(ब) द्वितीय परत—यह ग्रेनाइट चट्टान की बनी है।

(स) तृतीय अथवा मध्यवर्ती परत—यह टैकीलाइट अथवा डायोराइट (Thachylyte or diorite) से निर्मित है।

(द) चौथी अथवा निचली परत - इसका निर्माण डूनाइट (Dunite), पेरिडोटाइट (Peridotite) अथवा इक्लोजाइट (Eclogite) नामक चट्टान से हुआ है। परतों का यह रूप चित्र 75 में स्पष्ट हो जाता है।

(3) होम्स का मत—होम्स ने साधारणीकरण के लिए पृथ्वी में दो परतें मानी हैं। प्रथम परत को उन्होंने पपड़ी (क्रस्ट-Crust —यहाँ पर क्रस्ट को हिन्दी में पपड़ी कहने के बजाय क्रस्ट ही कहना ज्यादा अच्छा लगता है) माना है जिसकी रचना ऊपरी तथा मध्यवर्ती परत को मिलाकर होती है। इसमें सम्पूर्ण सियाल का भाग तथा सीमा का ऊपरी भाग सम्मिलित होता है। दूसरी परत को सबस्ट्रेटम (आन्तरिक आवरण या अध:स्तर-Substratum) माना है। इसका निर्माण सीमा (Sima) के निचले भाग से हुआ है। इस तथ्य को निम्नांकित रूप में प्रकट किया जा सकता है—

सियाल-ऊपरी परत (Sial) }
सीमा (Sima) → मध्यवर्ती परत } →क्रस्ट (Crust)
निचली परत →सबस्ट्रेटम (Substratum-अध:स्तर)

महाद्वीपों के नीचे सियाल की गहराई को विभिन्न साधनों एवं प्रमाणों के आधार पर होम्स ने निम्न रूपों में व्यक्त किया है।

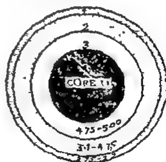
1. तापीय तर्कों द्वारा — 20 किलोमीटर तक या कम।
2. धरातलीय लहरों के आधार पर — 15 किलोमीटर से अधिक।
3. सम्पीडात्मक अथवा P लहरों के आधार पर — 20 तथा 30 किलोमीटर के बीच।
4. सबसे गहरी भूसन्नति के धँसाव की गहराई के आधार पर — 20 किलोमीटर से अधिक। (वान डर ग्राट के अनुसार)

(1) परत	(2) मोटाई	(3) घनत्व
(अ) ऊपरी सियाल क्रस्ट (Outer Sialic) Crust)	(1) महाद्वीप के नीचे 60 किलोमीटर (2) अन्ध महासागर के नीचे 20 किमी० (3) प्रशान्त महासागर के नीचे 0 किमी०	2.75 से 2.9
(ब) आन्तरिक सिलिकेट तथा मैण्टिल (सीमा) (Inner Silicate & mantle)	60 से 1140 किलोमीटर	3 1 से 3 75
(स) सिलिकेट तथा मिश्रित धातुओं की परत (Zone of mixed metals & Silicate)	1140 से 2900 किमी०	4 75 से 5 0
(द) धातु केन्द्र (Metallic nucleus)	2900 से 6378 किमी० (केन्द्र तक)	11 00

4. वान डर ग्राट के अनुसार (Van der Gracht)- वान डर ग्राट महोदय ने भी गटेनबर्ग (Guttenberg) तथा लिंक (Linck) के प्रयोग के आधार पर पृथ्वी में चार परतों की मान्यता दी है।

(1) बाह्य सियाल क्रस्ट।

(2) आन्तरिक सिलिकेट मैन्टिल।



चित्र 76

वान डर ग्राट के अनुसार पृथ्वी की आन्तरिक सरचना।

(3) सिलिकेट तथा मिश्रित धातु परत।

(4) Core धातु केन्द्र (Metallic Nucleus)

इस प्रकार हम देखते हैं कि पृथ्वी की परतों तथा उनकी गहराई के विषय में पर्याप्त मतभेद है। यहाँ तक

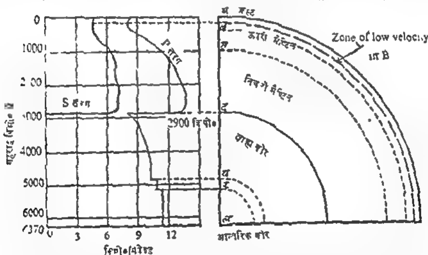
कि एक ही लेखक एक परत विशेष की गहराई विभिन्न माध्यों के आधार पर भिन्न रूपो मे देता है जैसे कि होम्स ने किया है। अत भ्रम को दूर करने के लिए तथा गुत्थियो से बचने के लिये पृथ्वी की परतो का एक साधारण रूप प्रस्तुत करना चाहिए। भूकम्प की लहरो के आधार पर पृथ्वी मे निम्न तीन मण्डल बताये जा सकते है।

(1) **स्थलमण्डल** (Lithosphere) इसकी गहराई 62 मील अथवा 100 किलोमीटर मानी गई है। इसमे ग्रेनाइट चट्टान की बहुलता है तथा सिलिका एव अल्युमिनियम मुख्य रूप मे पाये जाते है। इसका घनत्व 5 6 है।

(2) **पाइरोस्फीयर**—इसे मिश्रित मण्डल भी कहते है। इसकी गहराई 62 से 1800 मील (2880 किमी०) तक है। इसका निर्माण बेसाल्ट (Basalt) मे हुआ है जिसका घनत्व 3 5 है।

तथा उनके भ्रमण पथ के वैज्ञानिक अध्ययन एव विश्लेपण के आधार पर पृथ्वी के आन्तरिक भाग को तीन वृहत् मण्डलो—क्रस्ट, मैण्टिल तथा अन्तरतम मे विभक्त किया जाता है (चित्र 77)।

भूकम्पीय लहरो की गति मे अन्तर के आधार पर इन तीन प्रमुख मण्डलो के उप विभाग किए गये है। यह उल्लेखनीय है कि इन मण्डलो खास कर क्रस्ट की गहराई के सम्बन्ध मे विद्वानो मे मतैक्य नही है। क्रस्ट की मोटाई M. J Bradshaw, A J Abbott तथा A P Gelsthorpe के अनुसार महाद्वीपो के नीचे 50 किमी० तथा महासागरो के नीचे 5 किमी०, International Union of Geodesy and Geophysics के अन्तर्गत शोध परियोजना के परिणामो के अनुसार 30 किमी० तथा अन्य वैज्ञानिको के अनुसार 100 किमी० बतायी गई है। भूकम्पीय लहरो की गति मे अन्तर के



चित्र 77—भूतल (क्रस्ट) से पृथ्वी के अन्तरतम तक भूकम्पीय P तथा S लहरो की गति तथा उनके आधार पर पृथ्वी के आन्तरिक भाग के विभिन्न मण्डलो का प्रदर्शन (K E Bullen के आधार पर)।

(3) **बैरोस्फीयर** (Barysphere)—इसकी गहराई 1800 मील (2880 किमी०) से नीचे केन्द्र तक है। इस परत का घनत्व 8 से 11 है तथा इसकी रचना लोहे तथा निकिल से हुई है।

अभिनव मत
(Recent Views)

पृथ्वी की आन्तरिक सरचना के विषय से सम्बन्धित उपर्युक्त विवरण अब पुराने पड गये है। प्राकृतिक तथा मानवकृत (बमो के विस्फोट—आणविक परीक्षण के दौरान विस्फोट द्वारा) भूकम्पो की लहरो की गति

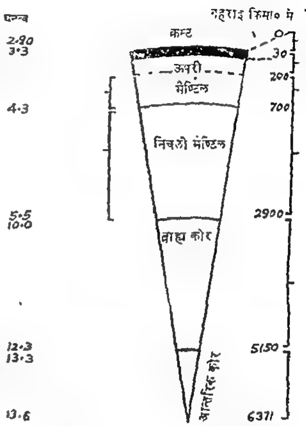
आधार पर क्रस्ट को भी दो उपविभागो—ऊपरी क्रस्ट तथा निचली क्रस्ट मे विभक्त किया जाता है क्योकि निचली क्रस्ट मे P लहर की गति ऊपरी क्रस्ट की अपेक्षा अधिक होती है। ऊपरी क्रस्ट मे P लहर की गति 6 1 किमी० प्रति सेकेण्ड तथा निचली क्रस्ट मे 6 9 किमी० प्रति सेकेण्ड होती है। चित्र 77 म p तथा S लहरो की विभिन्न गतियाँ तथा उनसे सम्बन्धित पृथ्वी के विभिन्न मण्डलो को दिखाया गया है।

क्रस्ट (Crust)—ऊपरी क्रस्ट का घनत्व 2 8 तथा निचली क्रस्ट का 3.00 होता है। प्रारम्भ मे इन दोनो उपमण्डलो की सरचना मे पर्याप्त अन्तर बताया गया था

परन्तु आधुनिक विवरणों के आधार पर दोनों की संरचना समान बतायी जाती है। घनत्व में अन्तर दबाव के कारण हुआ है। ऊपरी क्रस्ट के खनिजों का निर्माण निचली क्रस्ट के खनिजों के निर्माण की तुलना में अपेक्षाकृत कम दबाव पर सम्पन्न हुआ है।

मैण्टिल (Mantle)—क्रस्ट के निचले आधार पर भूकम्पीय लहरों की गति में अचानक वृद्धि हो जाती है [निचली क्रस्ट में p की 6 9 किमी० प्रति सेकेण्ड की गति बढ़कर (निचली क्रस्ट के आधार पर) 7.9 किमी० से 8 1 किमी० प्रति सेकेण्ड हो जाती है। इस तरह निचली क्रस्ट तथा ऊपरी मैण्टिल के मध्य एक **असम्बद्धता** (discontinuity) का सृजन होता है जिसकी खोज सर्वप्रथम A. Mohorovicic द्वारा 1909 में की गई। अतः इसे **मोहोरोविकिक असम्बद्धता** या **मोहो असम्बद्धता** (Moho discontinuity) कहते हैं। मोहो असम्बद्धता से लगभग 2900 किमी० की गहराई तक मैण्टिल का विस्तार है जिसमें नीचे पृथ्वी का अन्तरतम (Core) प्रारम्भ हो जाता है। मैण्टिल की मोटाई पृथ्वी की समस्त अर्द्धव्यास (6371 किमी०) के आधे से कम है परन्तु पृथ्वी के समस्त आयतन (volume) का 83% तथा द्रव्यमान (mass) का 68% भाग मैण्टिल में व्याप्त है। प्रारम्भ में मैण्टिल को दो उपभागों में विभक्त किया गया था (भूकम्पीय लहरों की गति तथा घनत्व में अन्तर के आधार पर)। **ऊपरी मैण्टिल** मोहो असम्बद्धता से 1000 किमी० की गहराई तक तथा **निचली मैण्टिल**—1000 किमी० से 2900 किमी० की गहराई तक परन्तु International Union of Geodesy and Geophysics द्वारा अन्वेषण के विवरणों के आधार पर इसे निम्न भागों में विभक्त किया जाता है—(1) मोहो असम्बद्धता से 200 किमी० (प्रारम्भिक मतानुसार 400 किमी०) की गहराई का भाग, (2) 200 से 700 किमी० (प्रारम्भिक मतानुसार 400 से 1000 किमी०) की गहराई तक का भाग एवं 3 700 से 2900 किमी० (प्रारम्भिक मतानुसार 1000 से 2900 किमी०) की गहराई तक का भाग (चित्र 78)। ऊपरी मैण्टिल में 100 से 200 किमी० की गहराई में भूकम्पीय लहरों की गति मन्द पड़ जाती है (7.8 किमी० प्रति सेकेंड)। इस भाग को **निम्न गति का मण्डल** (zone of low velocity) कहते हैं।

अन्तरतम (Core)—अन्तरतम का विस्तार 2900 किमी० (मैण्टिल/अन्तरतम सीमा) से पृथ्वी के केन्द्र (6371 किमी०) तक है। मैण्टिल/अन्तरतम सीमा (2900 किमी०) को Guttenberg/Wiechert Discontinuity कहते हैं। इस सीमा या **गटेनबर्ग असम्बद्धता** के सहारे घनत्व में अत्यधिक परिवर्तन (इस सीमा के ऊपर मैण्टिल का घनत्व 5.5 तथा नीचे अन्तरतम का घनत्व 10.0) तथा p लहर की गति में अचानक वृद्धि (13 6 किमी० प्रति सेकेंड) होती है। और नीचे जाने पर यह घनत्व 12 से 13 तथा केन्द्र पर 13 6 हो जाता है। इस तरह अन्तरतम का घनत्व मैण्टिल के घनत्व से दो गुना से अधिक है परन्तु इसका आयतन समस्त पृथ्वी के आयतन का मात्र 16% तथा समस्त द्रव्यमान (Mass) का 32% ही है।



78—International Union of Geodesy and Geophysics के शोध विवरणों के आधार पर पृथ्वी के आन्तरिक भाग के विभिन्न मंडलों, उनकी गहराई तथा घनत्व का आरेख द्वारा प्रदर्शन।

अन्तरतम को दो उपभागो मे विभक्त किया जाता है— 1 वाह्य अन्तरतम (outer core) तथा 2 आन्तरिक अन्तरतम (inner core)। यह विभाजक सीमा 5150 किमी० की गहराई पर निश्चित की गई है। इस तरह **वाह्य अन्तरतम** का विस्तार 2900 किमी० से 5150 किमी० की गहराई के बीच है। इस मडल मे भूकम्पीय S लहर प्रविष्ट नही हो पाती है, अत इस मंडल को तरल अवस्था मे होना चाहिए। 5150 से 6371 किमी० की गहराई तक का भाग आन्तरिक अन्तरतम के अन्तर्गत आता है जो ठोस अवस्था मे है एवं घनत्व 3 6 है। P लहर की गति 11 23 किमी० प्रति सेकेंड होती है। चित 78 मे पृथ्वी के आन्तरिक भाग के विभिन्न मडल, मे उनकी गहराई तथा घनत्व को दर्शाया गया है।

अध्याय 7

महाद्वीप एव महासागरों की उत्पत्ति

(Origin of the Continents and Ocean Basins)

सामान्य परिचय—महाद्वीप एव महासागर ग्लोब के दो प्रमुख अंग माने जाते हैं तथा पृथ्वी के "प्रथम श्रेणी के उच्चावच" के अन्तर्गत सम्मिलित किये जाते हैं। इनके विस्तार, उत्पत्ति तथा विकास के विषय में अनेक विद्वानों ने अपने अलग-अलग मत प्रस्तुत किये हैं और उन्हें प्रमाणित करने के लिये समुचित साक्ष्यों को उपस्थित करने का भरसक प्रयास भी किया है। इस समस्या के निदान के पूर्व 'जल-थल के वितरण' तथा 'महासागरों की तलों का स्थायित्व" नामक दो मूलभूत समस्याओं का निराकरण करना अत्यावश्यक ज्ञात पड़ता है।

पृथ्वी के धरातल का लगभग 70.8 प्रतिशत भाग जल और 29.2 प्रतिशत भाग स्थल से आवृत है। परन्तु जल तथा थल का यह वितरण भी समान नहीं है। ग्लोब पर जल-थल के वर्त्तमान वितरण के निम्नांकित तथ्यों का उल्लेख किया जा सकता है—

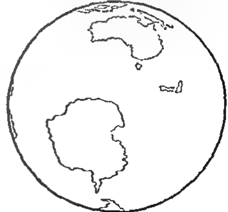
(1) उत्तरी गोलार्द्ध में स्थल की प्रधानता है। समस्त स्थल-भाग का 75 प्रतिशत भाग विषुवत रेखा के उत्तर में स्थित है। इसके विपरीत दक्षिणी गोलार्द्ध में जलीय भाग की अधिकता है। यदि पृथ्वी को दो गोलार्द्धों में विभाजित किया जाय और उत्तरी गोलार्द्ध का ध्रुव इंग्लिश चैनेल में मान लिया जाय तो उत्तरी गोलार्द्ध स्थल गोलार्द्ध (Land Hemisphere) होगा। इसी तरह यदि दक्षिणी गोलार्द्ध का ध्रुव न्यूजीलैण्ड के पास हो तो दक्षिणी गोलार्द्ध, जल गोलार्द्ध (Water Hemisphere) होगा। इस प्रकार थल गोलार्द्ध में समस्त पृथ्वी का 83 प्रतिशत स्थलीय-भाग होगा तथा जल गोलार्द्ध में जल का 90·5 प्रतिशत भाग सम्मिलित होगा।

(2) महाद्वीपीय भाग लगभग त्रिभुज के आकार में फैले हैं। इनके आधार उत्तर में आर्कटिक सागर के सहारे हैं तथा इनका शीर्ष (Apex) दक्षिण की ओर है। पश्चिमी गोलार्द्ध में उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका समद्विबाहु त्रिभुज के रूप में है, जिनका आधार आर्कटिक सागर तथा शीर्ष दक्षिण में केप हार्न (Cape Horn) में स्थित है। यदि इन दो महाद्वीपों को अलग-अलग रूप में लिया जाय तब भी ये दो त्रिभुज बनाते हैं। इसी तरह युरेशिया भी त्रिभुजों का रूप धारण करते हैं, जिनका आधार उत्तर में अन्टार्कटिक सागर के सहारे और शीर्ष भाग क्रमश: उत्तमाशा अन्तरीप (Cape of Good Hope) तथा तस्मानिया है। अलग-अलग रूप में भी सभी महाद्वीप (आस्ट्रेलिया को छोड़कर) त्रिभुजाकार हैं, जिनके आधार उत्तर में परन्तु शीर्ष दक्षिण में हैं।

(3) मोटे तौर पर महासागर भी त्रिभुजाकार हैं। स्थलभाग के विपरीत महासागरों का आधार दक्षिण में

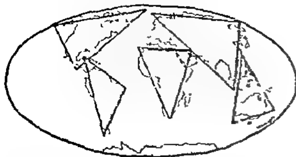


(अ) स्थल गोलार्द्ध।



(ब) जल गोलार्द्ध।

चित्र 79 स्थल जल का वितरण।



चित्र 80
महाद्वीपों की त्रिभुजाकार स्थिति।

और शीर्ष उत्तर में पाये जाते हैं। अन्ध महासागर का आधार केप हार्न एवं उत्तमाशा अन्तरीप के मध्य है तथा शीर्ष भाग ग्रीनलैण्ड के पूर्व में है। हिन्द महासागर का शीर्ष बंगाल की खाड़ी तथा अरब सागर के रूप में है। प्रशान्त महासागर का शीर्ष अल्यूशियन द्वीप के पास तथा आधार दक्षिण में है।

(4) उत्तरी ध्रुव के चतुर्दिक जलभाग का विस्तार है जब कि दक्षिणी ध्रुव के पास स्थल-भाग का विस्तार है।

(5) धरातल पर जल तथा थल-भाग एक दूसरे के विपरीत स्थित हैं (Antipodal Situation)। धरातल पर 44.6 प्रतिशत में सागर के विपरीत सागर स्थित है तथा केवल 1.4 प्रतिशत में स्थल के विपरीत स्थल मिलते हैं। स्थलीय भागों का लगभग 95 प्रतिशत भाग सागर के विपरीत (पीछे) मिलता है। अपवाद के रूप में पैटागोनिया, उत्तरी चीन के विपरीत स्थित है तथा पुर्तगाल एवं स्पेन के विपरीत न्यूजीलैण्ड की स्थिति है। परन्तु इन अपवादों से उपर्युक्त नियम पर कोई खास असर नहीं होता है।

महाद्वीपों तथा महासागरों की उत्पत्ति से सम्बन्धित किसी भी सिद्धान्त की यथार्थता उपर्युक्त जल-स्थल के वितरण के तथ्यों के आधार पर ही बतायी जा सकती है। प्रशान्त बेसिन (Pacific Basin) तथा प्रशान्त महासागर के द्वीप तोरण (Island Arcs) जटिल समस्या के रूप में हैं, परम्परागत सिद्धान्तों के आधार पर जिनका निराकरण अब तक सम्भव नहीं हो सका है। प्लेट विवर्तन सिद्धान्त के आधार पर इनकी उत्पत्ति की समस्या का निदान हो गया है (देखिये अध्याय 8)। उपर्युक्त जल-थल के वितरण को ध्यान में रखकर **लोथियन ग्रीन (Lowthian Green)** ने अपना **चतुष्फलक सिद्धान्त (Tetrahedral Theory)** प्रस्तुत किया है। परन्तु ग्रीन से पहले ही **सोलास (Sollas)** तथा **केलविन (Kelvin)** ने अपने मतों का प्रतिपादन किया था। अतः उनके मतों की विवेचना सर्वप्रथम संक्षिप्त रूपों में की जा रही है।

1. लार्ड केलविन का मत (Lord Kelvin's Views)— लार्ड केलविन के अनुसार पृथ्वी की उत्पत्ति **वायव्य कुण्डलाकार नीहारिका' (Gaseous Spiral Nebula)** से हुई है। इस आधार पर पृथ्वी अपनी प्रारम्भिक अवस्था में वायव्य रूप में थी। अनियंत्रित समय में पृथ्वी शीतल हो गई जिससे इसके वाह्य चट्टानी धरातल का निर्माण हुआ। पृथ्वी के शीतल होते समय सकुचन के कारण उसका कुछ भाग ऊँचा रह गया और कुछ भाग नीचे की ओर धसक गया। इस प्रकार ऊपर उठा स्थलीय भाग महाद्वीप बना और निचले भाग ने सागरों को जन्म दिया। तदन्तर वायुमण्डलीय जलवाष्प (Atmospheric water vapour) से ये निचले भाग जलप्लावित होकर भर गए तथा वर्तमान महासागरों का निर्माण हुआ।

मूल्यांकन—लार्ड केलविन की इस परिकल्पना को वर्तमान समय में लेशमात्र भी समर्थन प्राप्त नहीं है क्योंकि यह अनेक गलत धारणाओं को जन्म देती है। (1) इस परिकल्पना के अनुसार महाद्वीप अपने स्थान पर स्थिर हैं। उनकी स्थिति तथा आकार में परिवर्तन नहीं हो सकता है। परन्तु यह तथ्य **"महाद्वीपीय प्रवाह सिद्धांत"** के विपरीत है। (2) इस परिकल्पना के अनुसार महाद्वीपों तथा महासागरों का निर्माण एक निश्चित प्रणाली द्वारा हुआ माना गया है। परिणामस्वरूप उनके वितरण तथा स्वरूप में एकरूपता होनी चाहिये। अर्थात् जल तथा थल का दोनों गोलार्द्धों (उ० तथा द०) में समान वितरण होना चाहिये। (3) प्राचीन काल में भूसन्नतियां (Geosynclines) थीं जो कि गतिशील बलों (Mobile Forces) द्वारा प्रभावित होकर वलित पर्वतों में बदल गई थीं। परन्तु इस परिकल्पना के अनुसार स्थल-भाग अपने स्थान पर स्थिर है। अतः भूसन्नति तथा पर्वत-निर्माण की समस्यायें इस परिकल्पना द्वारा नहीं सुलझायी जा सकती। इस तरह कुल मिलाकर यह परिकल्पना विद्वानों को मान्य नहीं है।

2. **लैपवर्थ एवं लव की परिकल्पना**—लैपवर्थ के अनुसार सागर तथा महाद्वीपों की उत्पत्ति का मुख्य कारण पृथ्वी के ऊपरी धरातल पर बड़े पैमाने पर वलन

की क्रिया का होना बताया जा सकता है। लैपवर्थ के अनुसार पृथ्वी से ताप का निरन्तर ह्रास होता गया जिस कारण पृथ्वी की पपड़ी (Crust) में संकुचन प्रारम्भ हो गया। इस संकुचन के कारण भू-पटल पर वलन (Folds) का निर्माण प्रारम्भ हो गया। वलन का ऊपरी भाग (अपनति-Anticline) स्थल भाग बन गया तथा निचला भाग (अभिनति-Syncline) सागर में परिवर्तित हो गया। लैपवर्थ ने महाद्वीपों पर फैले हुए वलन तथा महासागरों की तलीं का अध्ययन करने के बाद उपर्युक्त मत का प्रतिपादन किया है। इसके अनुसार उत्तरी अमेरिका वलन की क्रिया से प्रभावित एक उभरा हुआ अपनतीय भाग (Anticlinal Part) ही है, जिसके दोनों किनारों पर अपनति-भाग (अप्लेशियन तथा राकीज) स्पष्ट रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। महाद्वीप का मध्यवर्ती निचला मैदानी भाग अभिनति के रूप में है। इसी तरह उत्तरी अमेरिका, दक्षिणी अमेरिका एवं यूरोप तथा अफ्रीका के बीच आंध्रमहासागर नीचे धँसा हुआ एक अभिनतीय भाग (Synclinal Part) ही है, जिसमें किनारे पर गहरी घाटियाँ और बीच में 'चैलेन्जर डालफिन रिज' (Challenger Dolphin Ridge) एक उभरा हुआ भाग है। यह परिकल्पना भी दोषरहित नहीं है। यह मान लेना कि केवल तापीय ह्रास तथा संकुचन के कारण बड़े पैमाने पर वलन की क्रिया घटित हुई, न्याय संगत नहीं जान पड़ता है। सागरीय तथा स्थलीय भागों पर स्वतन्त्र वलन का बड़े पैमाने पर पाया जाना प्रमाणित नहीं हो पाता है।

सन् 1907 ई० में 'लव' (Love) नामक विद्वान ने लैपवर्थ की उपर्युक्त परिकल्पना में संशोधन प्रस्तुत किया तथा अपने मत की पुष्टि के लिये गणितीय सूत्रों का सहारा लिया। 'लव' के अनुसार किसी भी वस्तु का ज्यामितीय केन्द्र (Geometric Centre) गुरुत्व केन्द्र (Gravity Centre) एक ही नहीं हुआ करता। पृथ्वी की केन्द्रीय आकर्षण शक्ति के कारण उसके धरातलीय भाग के अनेक स्थानों पर उत्थान (Upliftment) तथा धँसाव (Subsidence) हो गया। धँसे भागों में जल के एकत्रीकरण के फलस्वरूप महासागरों का निर्माण हो गया। ऊँचे उठे हुए भाग महाद्वीप के रूप में परिवर्तित हो गये। लव के अनुसार महाद्वीप, महासागरों के विपरीत दिशा में स्थित हैं अर्थात् सागर के पीछे स्थल तथा स्थल के पीछे सागर मिलते हैं।

3. **चतुष्फलक-परिकल्पना (Tetrahedral Hypothesis)**—ज्यामिति (Geometry) के आधार पर महाद्वीपों तथा महासागरों की उत्पत्ति की समस्या के निदान के लिए कुछ वैज्ञानिकों ने प्रयास किया है। इनमें **'ईली डी ब्यूमाण्ट'** (Elie-de-Beaumont) की **'पेण्टागोनल डोडेकाहेड्रान'** (Pantogonal Dodecahedron—dodeka is a Greek word meaning there by twelve) परिकल्पना को इस क्षेत्र में प्रथम प्रयास बताया जाता है। परन्तु ज्यामितीय सिद्धान्तों में 'लोथियन ग्रीन' (Lowthian Green) की "चतुष्फलकीय परिकल्पना" अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह परिकल्पना कुछ अवगुणों तथा अशुद्धियों को छोड़कर अधिकांश रूप में सागरों तथा स्थलीय भागों के वर्तमान वितरण तथा उनकी उत्पत्ति के विषय में सही विवरण उपस्थित करती है। **ग्रीन** ने अपनी इस परिकल्पना का प्रतिपादन सागर तथा स्थल के वर्तमान वितरण को ध्यान में रखते हुए किया। उन्होंने निम्नांकित तथ्यों को अपनी परिकल्पना द्वारा स्पष्ट करने का प्रयास किया है—

(1) उत्तरी गोलार्द्ध में स्थल तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में जल की बहुलता।

(2) स्थल तथा जल का त्रिभुज के रूप में पाया जाना।

(3) उत्तरी गोलार्द्ध में उत्तरी ध्रुवीय सागर के चतुर्दिक स्थल-भाग की एक क्रमबद्ध शृंखला या मेखला पायी जाती है, जबकि उत्तरी ध्रुव जल से घिरा है। इसके विपरीत दक्षिणी गोलार्द्ध में दक्षिणी ध्रुव स्थल-भाग (अन्टार्कटिका महाद्वीप) से व्याप्त है तथा उसके चारों ओर जल का प्रसार है।

(4) महाद्वीप तथा महासागर एक दूसरे के विपरीत दिशा में पाये जाते हैं।[1]

(5) प्रशान्त महासागर का विस्तार अत्यधिक है जो पृथ्वी के क्षेत्रफल का एक तिहाई भाग घेरे हुए है।

(6) प्रशान्त महासागर चारों ओर से नवीन वलित पर्वतों (Folded Mountains) द्वारा घिरा हुआ है।

उपर्युक्त तथ्यों को ध्यान में रखते हुए **लोथियन ग्रीन** ने सन् 1875 ई० में अपना **'चतुष्फलकीय सिद्धांत'** प्रस्तुत किया। समस्त सिद्धान्त चतुष्फलक (Tetrahedron) की सामान्य विशेषताओं पर आधारित है। चतु-

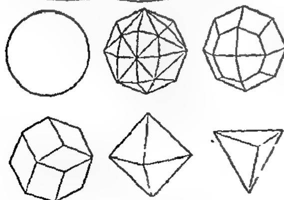
1. Antipodal Arrangement.

फलक[1] वह आकृति है जो कि बराबर भुजाओं वाले चार त्रिभुजों (जो कि सपाट तथा चपटे धरातल वाले होते हैं) की बनी होती है। ग्रीन ने अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन ज्यामिति के दो तथ्यों के आधार पर किया है।

(1) एक स्फीयर (गोला-Sphere) वह आकृति है जिसका आयतन, धरातलीय क्षेत्रफल (Surface Area) की अपेक्षा सर्वाधिक होता है—'A Sphere is that body which contains the largest volume with respect to surface area'

(2) एक चतुष्फलक वह आकृति है जिसका आयतन, धरातलीय क्षेत्र की अपेक्षा न्यूनतम होता—"A tetrahedron is that body which contains the least volume with respect to surface area."

अनेक प्रयोगों के बाद ग्रीन महोदय ने यह निष्कर्ष निकाला कि यदि एक स्फीयर (गोला-Sphere) के धरातल पर चारों ओर से समान दबाव डाला जाय तो स्फीयर, चतुष्फलक के आकार में परिवर्तित हो जायगा। इस सिद्धांत को ग्रीन ने पुनः पृथ्वी के ऊपर लागू किया, क्योंकि जब पृथ्वी की रचना हुई तो प्रारम्भ में वह एक स्फीयर के रूप में थी। प्रारम्भ में पृथ्वी अत्यन्त तप्त थी। वह धीरे-धीरे शीतल होने लगी। पृथ्वी की पपड़ी (Crust) सबसे पहले शीतल हो गई परन्तु उसका आन्तरिक भाग धीरे-धीरे शीतल होता रहा। परिणामस्वरूप आन्तरिक भाग में अधिक सकुचन आने के कारण उसका आयतन अधिक घट गया। चूंकि ऊपरी भाग शीतल तथा ठोस हो चुका था, अतः उसमें और अधिक सिकुड़न नहीं आ सकी। परिणामस्वरूप पृथ्वी के ऊपरी तथा आन्तरिक भाग में अन्तर आ गया। इस तरह शीतल होते तथा सकुचन के कारण पृथ्वी ऐसी अवस्था में आने लगी (तथा आ रही है) जिसका आयतन कम और क्षेत्रफल अधिक हो। दूसरे शब्दों में पृथ्वी का आकार चतुष्फलक (चार समत्रिबाहु त्रिभुजों वाली आकृति) के रूप में आने लगा। 'फेयरबेयर्न' (Fairbairn) ने भी प्रयोग द्वारा यह प्रमाणित कर दिया है कि सिकुड़ने पर एक गोलाकार आकृति चतुष्फलक (चार फलक—सपाट धरातल) का रूप धारण कर लेगी। ग्रीन ने पुनः यह अनुमान किया है कि पृथ्वी अभी पूर्ण रूप से चतुष्फलक में परिवर्तित नहीं हो पायी है, वरन् पृथ्वी ज्यों-ज्यों ठण्डी होती जा रही है, चतुष्फलक की आकृति पूर्णता को प्राप्त करती जा रही है। पृथ्वी की बनावट में विभिन्नता के कारण चतुष्फलक विशुद्ध रूप में नहीं हो सकता वरन् उसमें असमानता का होना स्वाभाविक है। एक विशुद्ध चतुष्फलक में सपाट भाग (Plane face) के विपरीत दिशा में कोने वाले भाग अथवा कोणात्मक भाग (Coign) होते हैं तथा ये अधिक नुकीले होते हैं। परन्तु पृथ्वी के विषय में शीर्ष (Apex) अथवा कोणात्मक भाग (Coign) नुकीला नहीं होता है, वरन् उत्तल तथा मोटा होता है। इन चपटे भागों पर जल तथा किनारे वाले भागों अथवा कोणात्मक भागों पर स्थल का निर्माण होता है।



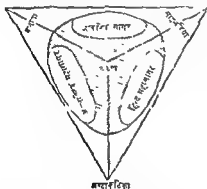
चित्र 81
चतुष्फलक (अन्तिम)

चूंकि सकुचन के समय पृथ्वी की बाह्य तथा आन्तरिक परतों के बीच अन्तर (Gap) आ गया था इसलिए पृथ्वी के चतुष्फलक के रूप में आते समय गुरुत्वाकर्षण की शक्ति के कारण ऊपरी परत नीचे वाली परत पर ध्वस्त (Collapse) होने लगी अथवा बैठने लगी। दूसरे शब्दों में ऊपरी भूपटल, निचले चतुष्फलक की आकृति पर बैठ गया। फलस्वरूप सागर तथा स्थल भाग का निर्माण हुआ। चतुष्फलक रूपी पृथ्वी के चपटे चार भागों में चार महासागरों का निर्माण हुआ। इन पर जल का रुकाव इसलिए हुआ कि ये सपाट भाग किनारे वाले भागों से अपेक्षाकृत नीचे थे। किनारे तथा कोने वाले भागों पर महाद्वीपों की रचना हुई। इस तथ्य को इस रूप में भी प्रमाणित किया जा सकता है कि यदि पानी

1. A tetrahedron is a solid body having four equal plane surfaces, each of which is an equilateral triangle.

के ग्लोब में चतुष्फलक को डुबोया जाय तो चपटे अथवा सपाट भाग पर पानी शीघ्र आ जायेगा तथा किनारे वाले भाग (Coign) जल से बाहर होंगे, जो कि साधारण तौर पर सागर तथा स्थल भाग की स्थिति बताते हैं।

इस परिकल्पना के अनुसार सागर तथा स्थल का वर्तमान वितरण पूर्णरूप से समझाया जा सकता है। चतुष्फलक इस रूप में है कि उसका उत्तरी भाग चपटा है तथा शेष तीन सपाट भाग दक्षिण में एक बिन्दु (Coign) पर मिलते हैं। इस प्रकार उत्तरी समतल अथवा सपाट भाग (Plane Face) पर उत्तरी ध्रुव सागर (North Arctic Sea) है तथा शेष तीन चपटे



चित्र 82
चतुष्फलक पर जल-थल का वितरण (होम्स के आधार पर)

भागों पर प्रशान्तमहासागर अन्धमहासागर तथा हिन्द महासागर का विस्तार है। इसी प्रकार जल से ऊपर उठे हुए चार कोणात्मक किनारे वाले भागों के सहारे क्रमश उत्तरी व दक्षिणी अमेरिका, यूरोप व अफ्रीका एशिया तथा आस्ट्रेलिया और अण्टार्कटिका महाद्वीप फैले हुए हैं। इस प्रकार उत्तरी ध्रुव के पास जल तथा दक्षिणी ध्रुव के पास स्थल का होना प्रमाणित हो जाता है। महाद्वीपों की स्थिति को और स्पष्ट रूप से समझाया जा सकता है। चार समत्रिबाहु त्रिभुजों के चार मिलन बिन्दु होंगे (Coigns)। दक्षिणी शीर्ष बिन्दु को छोडकर, शेष तीन शीर्ष बिन्दु (Coigns) उत्तरी गोलार्द्ध मे पाये जाते हैं। ये तीन प्राचीनतम स्थिरभूखण्ड (Rigid Mass)—लारेंशियन अथवा कनाडियन शील्ड, बाल्टिक शील्ड (स्वीडन, फिनलैण्ड तथा उ० प० रूस का भाग) तथा मध्य पूर्वी साइबेरिया मे स्थित अगारा शील्ड को प्रदर्शित करते हैं। दक्षिणी शीर्ष भाग जो कि चतुष्फलक का प्रधान आधार (Pivot) है, वह अण्टार्कटिका शील्ड द्वारा प्रदर्शित होता है। इन्हीं चार शीर्ष बिन्दुओं के स्थिर भूखण्डों से विस्तृत होकर वर्तमान महाद्वीपों का निर्माण हुआ है। उपर्युक्त तीन उत्तरी शीर्ष से किनारे के सहारे महाद्वीपों का विस्तार हुआ। सभी महाद्वीपीय भाग चतुष्फलक के किनारे हैं जो दक्षिण की तरफ सँकरे होते जाते हैं। इस प्रकार महाद्वीपों का त्रिभुजाकार रूप भी प्रमाणित हो जाता है। चार सपाट भागों के सहारे महासागरों की स्थिति तथा किनारों के सहारे महाद्वीपों का होना जल-थल की प्रतिध्रुवस्थ स्थिति (Antipodal-arrangement) को प्रमाणित करता है।

ग्रेगरी द्वारा चतुष्फलक परिकल्पना की पुष्टि—ग्रेगरी (Gregory) नामक विद्वान आधुनिक युग में इस परिकल्पना के प्रधान समर्थक हैं। परन्तु इस परिकल्पना के मूलरूप में उन्होंने कुछ संशोधन भी प्रस्तुत किया है। ग्रेगरी ने पैलियोज्योग्राफिकल (पुराभौगोलिक-Palaeogeographical) मानचित्र खींच कर यह प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि कैम्ब्रियन युग में सागर तथा स्थल का वितरण वर्तमान वितरण के समान ही था यद्यपि कुछ असमानताएँ अवश्य थीं। उस समय एक महान उत्तरी महाद्वीप था जो कि उत्तर की तरफ चौड़ा तथा दक्षिण की ओर नुकीला था। वर्तमान सागरीय जमाओं से प्रकट होता है कि उस समय आर्कटिक सागर वर्तमान आर्कटिक सागर से कुछ पूर्व में स्थित था। स्थल तथा जल के विस्तार में कालान्तर में परिवर्तन दो रूपों में हुए। (1) स्थल अथवा महाद्वीपीय भाग में देशान्तरीय दिशा में परिवर्तन हुए अर्थात् उनका खिसकाव उत्तर-दक्षिण दिशा में हुआ (2) महासागरों में परिवर्तन अक्षांशीय दिशा में हुआ अर्थात् महासागरों का विस्तार पूर्व-पश्चिम दिशा में हुआ। परन्तु इस विचारधारा में ग्रेगरी ने पुन संशोधन प्रस्तुत किया है। ग्रेगरी के अनुसार सकुचन के कारण पृथ्वी में सिकुड़न आने से चतुष्फलक के लम्बवत किनारे स्थिर रहेंगे परन्तु ऊपर वाली सपाट सतह को घेरने वाले तीन किनारे परिवर्तनशील रहेंगे। यह परिवर्तन कभी उत्तर तथा कभी दक्षिण दिशा में खिसकाव अथवा विस्तार के रूप में हुआ बताया गया है, जिस कारण महाद्वीपों एवं महासागरों के आकार में क्रमश परिवर्तन होता रहा। फ्रेक (Frech) नामक विद्वान ने भी अपने मानचित्र में कैम्ब्रियन युग में उत्तरी तथा दक्षिणी गोलार्द्धों में जल तथा थल का पूर्ण विपरीत वितरण दिखाया है। इस प्रकार ग्रेगरी तथा फ्रेक के कुछ संशोधनों द्वारा ग्रीन की "चतुष्फलक परिकल्पना" अधिक सार्थक बना दी जाती है।

मूल्यांकन—यद्यपि "चतुष्फलक परिकल्पना" से महासागरों तथा महाद्वीपों की कई समस्याओं पर प्रकाश पड़ता है फिर भी कुछ मूलभूत कठिनाइयों के कारण यह मत वर्त्तमान समय में मान्य नहीं है। इसके अनुसार चतुष्फलक रूपी पृथ्वी एक शीर्ष बिन्दु (Coign) पर रुकी है। इस प्रकार एक शीर्ष बिन्दु पर परिभ्रमण करती हुई चतुष्फलक के रूप में पृथ्वी का सन्तुलन कदापि स्थापित नहीं हो सकता है। दूसरे पृथ्वी अपनी कीली पर इतनी तीव्र गति से परिभ्रमण करती है कि गोल भूमण्डल चतुष्फलक के रूप में सिकुड़ कर नहीं बदल सकता है। इस प्रकार इस परिकल्पना का मूल आधार ही प्रमाणित नहीं हो पाता है। जो भी हो इस परिकल्पना से जल-थल के वर्त्तमान वितरण को समझने में पर्याप्त सहायता मिलती है।

4 एडवर्ड स्वेस का सिद्धान्त (Edward Suess' Theory)—स्वेस महोदय ने अपने मत का प्रतिपादन पृथ्वी के ऊपरी भूपटल (Crust) के स्वभाव के आधार पर किया है। पृथ्वी के ठंडा तथा ठोस होने के बाद जब ऊपरी पटल (Crust) का निर्माण हुआ तो उसका स्वभाव सर्वत्र एक-सा न होकर विभिन्न प्रकार का था। इस प्रकार प्रारम्भ में स्वेस ने कठोरता तथा स्थिरता के विचार से भूपटल को दो वर्गों में विभाजित किया है। (1) अवरोधी तथा दृढ़ भूपटल, 2—अनावरोधी भूपटल-भाग (Non Resistant Part of the Crust)। पुन स्वेस ने बताया है कि अवरोधी भूपटल काफी प्राचीन, कठोर एवं दृढ़ भाग थे। अत. इन पर पर्वत निर्माण अथवा मोड़ की क्रिया का प्रभाव नगण्य सा रहा। कुछ शक्तियों के कारण ये टूट गये पर मोड़ में कभी परिवर्तित नहीं हो सके। प्राचीन काल में उत्तरी गोलार्द्ध में इस प्रकार के तीन कठोर (Rigid) तथा दृढ़ स्थल खण्डों की स्थिति बतायी गई है।

(1) **लारेंशियन शील्ड**—इसमें राकी पर्वत के पूर्व कनाडा का अधिकांश भाग तथा स्काटलैण्ड के पश्चिमी द्वीप सम्मिलित किये जाते हैं। इसी में कनाडियन शील्ड भी (कनाडा वाला भाग) सम्मिलित है।

(2) **बाल्टिक शील्ड**—इसमें बाल्टिक सागर के चारों तरफ के क्षेत्र खासकर फिनलैण्ड स्वीडन और रूस के उ० प० भाग सम्मिलित किये जाते हैं।

(3) **अंगारालैण्ड**—इसमें पूर्वी साइबेरिया का भाग आता है।

(4) उत्तरी गोलार्द्ध के इन तीन दृढ़ भूखण्डों के अलावा एक चतुर्थ भूखण्ड भी दक्षिणी गोलार्द्ध में **गोंडवानालैण्ड** के नाम से था। इसमें दक्षिणी अमेरिका का अधिकांश भाग सम्मिलित था।

उपर्युक्त दृढ़ स्थल-खण्डों के मध्य अनावरोधी (Non-Resistant) भूपटल का कमजोर भाग विस्तृत था। ये भाग इतने कमजोर थे कि स्पर्शीय दबाव (Tangential Pressure) के कारण मोड़ में बदल गये जिसमें भूपटल के वलित पर्वतों का निर्माण हुआ। पर्वत-निर्माण के कई काल घटित हुए तथा दो पर्वत-निर्माण के समयों के बीच एक शान्ति काल अथवा अवकाश-काल था, जिस समय पृथ्वी का समस्त भाग दबाव तथा पर्वत-निर्माण-कारी हलचलों से अछूता था। इन्हीं अवकाश-कालों अथवा शान्ति-कालों के समय अवरोधी भूपटल में लम्बी-लम्बी दरारें पड़ने लगीं जिस कारण दृढ़ भूपटल का बड़ा-बड़ा हिस्सा टूट कर नीचे धसकने लगा। इस प्रकार भूभाग के धसकने के कारण बने गहरे रिक्त स्थानों में जल एकत्रित होने लगा तथा महासागरों का निर्माण हुआ।

इसके अलावा स्थल के अन्य भागों पर भी सागर का विस्तार हुआ। जब लारेंशियन शील्ड तथा गोंडवानालैण्ड का विभाजन हुआ तो इनका एक बड़ा भाग नीचे डूब गया अथवा धसक गया तथा यह गहरा रिक्त भाग जल से आवृत्त हो गया। इस प्रकार आन्ध्रमहासागर का निर्माण हुआ। यूरेशिया तथा अफ्रीका के कठोर भागों के मध्य कमजोर भाग था तथा यह भाग टेथीज सागर के रूप में बदल गया। बाद में चलकर उत्तर तथा दक्षिण के दृढ़ भूखण्डों के दबाव से इसका (Tethys) अधिकांश भाग मोड़ में बदल गया। इस प्रकार यूरेशिया के मोड़दार पर्वतों का निर्माण हुआ। टेथीज का अवशेष भाग वर्तमान भूमध्यसागर के रूप में विद्यमान है। इस तरह स्वेस ने यह परिकल्पना की कि अवरोधी भूपटल के भाग तथा अनावरोधी भूपटल के वे भाग जो कि दबाव के कारण मोड़दार पर्वतों में बदल गये, मिलकर महाद्वीपों के निर्माण में सहायक हुए। इसके विपरीत महासागरों का निर्माण अनावरोधी भूपटल के कमजोर तथा अवरोधी दृढ़ भूखण्ड के धसकने के कारण बने रिक्त स्थानों में जल के एकत्रित होने के कारण हुआ।

यदि सियाल तथा सीमा (Sial & Sima) पर

ध्यान दिया जाय तो स्वेस के अनुसार भूखण्ड का नीचे धसकना अथवा डूबना समीचीन नही जाना पडता है। भूपटल पर इतने बडे पैमाने पर स्थल भाग का डूबना अथवा धसकना विवाद तथा सदेह का विषय है। इस सिद्धान्त के अनुसार स्थल तथा जल के वितरण को भली-भाँति नहीं समझाया जा सकता है। कुल मिलाकर स्वेस की विचारधारा मान्य नही है। वास्तव मे इस परिकल्पना मे पर्वत-निर्माण-क्रिया की समस्या ही मुख्य रूप से समझाई गई है। महासागर तथा महाद्वीपो की उत्पत्ति पर कम ध्यान दिया गया है।

(5) टेलर की महाद्वीपीय प्रवाह परिकल्पना (Continental Drift Hypothesis of Toylor)—एफ० बी० टेलर (F B Taylor) ने अपने "महाद्वीपीय प्रवाह-सिद्धान्त" का प्रतिपादन सन् 1908 ई० में किया था। परन्तु उसका प्रकाशन 1910 ई० मे हुआ। टेलर का विचार स्थल भाग के क्षैतिज स्थानान्तरण (Horizontal Displacement) के विषय मे था। टेलर की परिकल्पना का मुख्य उद्देश्य था टर्शियरी युग के मोड़दार पर्वतो की व्याख्या करना। उत्तरी तथा दक्षिणी अमेरिका के राकी तथा एण्डीज का उत्तर से दक्षिण दिशा मे फैलाव तथा अल्पाइन (आल्प्स, काकेसस, हिमालय आदि) पर्वतो के पूर्व से पश्चिम दिशा मे विस्तार की समस्या टेलर के सामने मुख्य समस्या थी, जिसका हल वे चाहते थे। इसी समस्या को सुलझाने के लिए टेलर ने 'सकुचन सिद्धान्त" (Contraction Theory) के विपरीत अपने 'स्थल-विस्थापन" (Drift or Displacement Theory) सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इस प्रकार "प्रवाह-सिद्धान्त" टेलर का प्रथम प्रयास माना जाता है यद्यपि इसके पहले 'आण्टोनियो स्नीडर' Antonio Snider) ने 1858 मे अपना मत "प्रवाह" के विषय मे व्यक्त किया था। स्नीडर का मुख्य उद्देश्य कार्बोनिफरस युग के यूरोप की कोयले की तहो मे विद्यमान वनस्पतियो के अवशेष तथा उत्तरी अमेरिका की कोयले की परतो की वनस्पतियो के अवशेष की समानता को स्पष्ट करना था।

टेलर ने अपने सिद्धान्त का शुभारम्भ क्रीटेसियस युग मे किया है। उस समय मुख्यतया दो स्थल-भाग थे। लारेशिया स्थल-भाग उत्तरी ध्रुव के पास तथा गोंडवानालैण्ड दक्षिणी ध्रुव के पास स्थित था। उन्होंने यह कल्पना की कि महाद्वीपीय भाग सियाल से बने है तथा सागरो मे उनका (Sial) पूर्णतया अभाव है। सियाल-भाग अथवा स्थल-भाग सीमा पर तैर रहे है। टेलर ने महाद्वीपो का प्रवाह मुख्य रूप से विषुवत रेखा की ओर बताया है। स्थल-प्रवाह का मुख्य कारण 'ज्वारीय शक्ति' (Tidal Force) को बताया गया है। क्रीटेसियस युग मे जब कि चन्द्रमा की उत्पत्ति हुई उस समय यह पृथ्वी के अधिक निकट रहा होगा। इस कारण चन्द्रमा की ज्वारीय शक्ति भी अधिक रही होगी। इस शक्ति के कारण पृथ्वी के परिभ्रमण मे काफी वृद्धि हो गई। साथ ही साथ अधिक ज्वारीय शक्ति के कारण स्थल भागो का ध्रुव की ओर से प्रवाह अथवा स्थानान्तरण होने लगा।

टेलर ने स्थानान्तरण को दो रूपो मे बताया है। (1) विषुवत रेखा की तरफ और (2) पश्चिम की तरफ। परन्तु दोनो दिशाओ मे प्रवाह मे प्रयुक्त शक्ति चन्द्रमा की ज्वारीय शक्ति ही थी। अधिक ज्वारीय शक्ति के कारण लारेशिया स्थल-भाग उत्तरी ध्रुव से विषुवत रेखा की ओर प्रवाहित होने लगा। यह प्रवाह सम्भवत उत्तरी ध्रुव से अरीय (Radial) दिशा मे रहा होगा। इस प्रवाह ने उत्तरी ध्रुव के पास खिंचाव पैदा कर दिया जिस कारण, स्थल-भाग का प्रवाह के साथ-साथ विभजन (Splitting) भी हुआ। इस खिंचाव (तनाव) (Stretching & Splitting) तथा विभंजन के फलस्वरूप 'बैफिन की खाड़ी' 'लेब्राडोर सागर' तथा 'डेविस जलडमरूमध्य' की रचना हुई। इसी प्रकार गोण्डवानालैण्ड का प्रवाह दक्षिणी ध्रुव से विषुवत रेखा की ओर हुआ तथा यह कई भागो मे टूट गया। इस कारण "ग्रेट आस्ट्रेलियन बाइट" तथा अन्टार्कटिका महाद्वीप के चारो तरफ 'रास सागर' का निर्माण हुआ। ग्रीनलैण्ड तथा साइबेरिया के बीच आर्कटिक बेसिन का निर्माण लारेशिया के विषुवत रेखा की तरफ प्रवाह के कारण हुआ था। दक्षिणी अटलान्टिक तथा हिन्द महासागर का निर्माण, प्रवाहित होते हुए महाद्वीपो के बीच खाली स्थान मे जल भरने के कारण हुआ माना जाता है।

टेलर ने यह माना है कि प्रवाह के समय जहां भी अवरोध कम था वहां पर स्थल भाग 'लोब'[1] (Lobe) के रूप मे प्रवाहित होने लगा तथा उनके अग्रभाग मे पहाडो तथा द्वीपीय चापो (Island Arcs) का निर्माण हुआ। हिमालय, काकेसस तथा आल्प्स पर्वत-श्रेणियो का निर्माण लारेशिया तथा गोण्डवानालैण्ड के ध्रुवो की तरफ से

1. Lobe – लटकता हुआ गोलाकार भाग।

अवस्था म है (यद्यपि यह विवादग्रस्त विषय है कि समस्थिति पूर्ण अवस्था मे है या नहीं)। इस प्रकार कम घनत्व वाले पदार्थ (SIAL) बडे पैमाने पर अधिक घनत्व वाले पदार्थ (SIMA) मे नही जा सकते।

महाद्वीपो तथा सागर-नितल के अस्थायित्व के प्राचीन समर्थको ने बताया कि इनके स्थान निश्चित नही है। महाद्वीप तथा सागर आपस मे परिवर्तनशील है। अर्थात् जहाँ पर स्थल है वहाँ पर जल हो सकता है तथा सागर के स्थान पर महाद्वीप का आविर्भाव हो सकता है। इस मत के पक्ष मे समर्थको ने स्थल पर पाये जाने वाले सागरीय जमावो के प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। इनका मत है कि जहाँ पर सागरीय मलवा पाया जाता है वहाँ पर पहले सागर का साम्राज्य था। इस आधार पर इन्होंने इस मत का प्रतिपादन किया था—' महाद्वीप नीचे धँसक या डूब जाते है तथा जलमग्न हो जाने के कारण महासागर म बदल जाते है। महासागरीय भाग ऊपर उठ जाते है तथा शुष्क होकर स्थलभाग बन जाते हैं।" महासागरीय भागो मे द्वीपो की स्थिति भी स्थलीय भाग के धँसाव को प्रमाणित करती है। स्थल के डूब जाने पर अवशिष्ट भाग द्वीपो के रूप मे बच रहे हैं। इन विचारको न बताया कि सागर-नितल छिछली तथा उथली गर्त होती है तथा इनमे सामान्य रेत एव कीचड आदि होती है। इनका वितरण सागर-नितल मे समान रूप से पाया जाता है। इन सागरीय भागों का विस्तार स्थलीय भागो पर आसानी मे हो जाता था। महाद्वीपो तथा महासागरो के सीमान्त क्षेत्रो (Marginal regions) मे पर्याप्त अतर (उतार-चढाव—Retreat & advancement) पाया जाता है। इसका प्रमाण परिवर्तनशील तट-रेखाओ द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। परन्तु 1846 ई० म प्रमुख विद्वान डाना ने इस मत का खण्डन किया तथा बताया कि महाद्वीप तथा महासागर-नितल स्थायी है। लेकिन उसी वर्ष एडवर्ड फोर्ब्स (Edward Forbes) ने वनस्पतियो तथा प्राचीन जीवो के वितरण की समस्या उपस्थित कर दी। यदि सागर तथा महाद्वीपो की स्थिति मे परिवर्तन नही हुआ तो प्राचीन वनस्पतियो तथा जीवो के वितरण को भली-भाँति नही समझाया जा सकता। इस प्रकार महाद्वीप तथा सागर के स्थायित्व तथा अस्थायित्व के विषय मे विवाद प्रारम्भ हो गया—

महाद्वीपो तथा सागरो के स्थायित्व के समर्थक—अनेक विद्वानो ने उपर्युक्त विचारधारा अर्थात् "स्थल तथा सागर की अस्थिरता" के विरोध मे अपने मत प्रस्तुत किये हैं। इनके अनुसार स्थल तथा सागर सदैव स्थिर रहे है। बडे पैमाने पर उनमे अतिक्रमण नही हुआ है। सागर की अगाध तली (Deep sea plain) से स्थल का उभरना तथा महाद्वीपो की रचना नितान्त असम्भव है। इस क्षेत्र मे सर्वप्रथम डाना महोदय ने 1846 ई० मे अपना मत प्रस्तुत किया तथा बताया कि सागर तथा महाद्वीपो ने अपने स्थान मे कभी भी परिवर्तन नही किए है तथा पृथ्वी का ढाँचा साधारण रूप मे स्थिर रहा है। महाद्वीपो तथा सागरो के स्थायित्व के विषय मे निम्न प्रमाण उपस्थित किये जा सकते हैं।

(1) स्थल भाग पर जो सागरीय अवसाद पाये गए हैं, वे गहरे सागर मे पाये जाने वाले अवसाद के समान नही हैं। स्थल पर पाये जाने वाले सागरीय जमाव, महाद्वीपीय जलमग्न चबूतरे (Continental shelves) तथा महाद्वीपीय ढाल पर पाये जाने वाले जमाव से समता रखते हैं। इसके विपरीत अगाध सागर-तल मे पाये जाने वाले जमाव ऊज" (Oozes) स्थल पर कही भी नही पाये जाते है। कुछ समुद्रीय द्वीपों पर ऐसे जमाव अवश्य पाये गये हैं। उदाहरण के लिये पूर्वी द्वीप समूह मे जुरैसिक तथा क्रीटेसियस युगो के जमाव मे बीच-बीच मे रेडियोलेरियन ऊज तथा लाल मीठा (Red clay) का जमाव पाया जाता है। इसी प्रकार पश्चिमी द्वीप समूह मे बारबडोस द्वीप मे टर्शियरी युग के स्थलीय जमाव के ऊपर ग्लोबीजेरिना ऊज का जमाव मिलता है। परन्तु इन दो उदाहरणों को अपवाद स्वरूप ही समझना चाहिए। कही भी ऐसा उदाहरण नही मिलता है, जिससे प्रमाणित हो सके कि सागरीय चबूतरा (Oceanic Platform) महाद्वीपीय भाग का बना हो। अत स्थल पर मिलने वाले सागरीय जमाव (अगाध सागरीय जमाव नही) के आधार पर महाद्वीपो तथा सागरो की अस्थिरता प्रमाणित नही हो पाती है।

2 महासागरीय द्वीपो पर जो परतदार शैल मिलती है, वह महाद्वीपीय परतदार शैल स सर्वथा भिन्न है। अत महासागरीय द्वीपो तथा महाद्वीपो मे सम्बन्ध स्थापित करना सर्वथा भूल ही है।

3 ध्वनिकरण विधि (Sounding Method) से महासागरो की अगाध तली का पता लगाया गया है तथा उससे खीच गये पार्श्वचित्र (Cross section) से यह स्पष्ट हो जाता है कि सागर तली (Ocean deep and floor) इस प्रकार की है कि उसमे उभार होना कल्पना से परे है। हाँ उथले सागरीय भागो से कुछ उभार हो

सकता है परन्तु अथाह सागरीय भागो से स्थल का आविर्भाव नही हो सकता।

4 जैसा प्रारम्भ मे बताया जा चुका है कि महाद्वीपीय भाग हल्के सियाल का बना है तथा महासागरीय तली भारी पदार्थ (Sima) की बनी है। सन्तुलन के सिद्धान्त के अनुसार स्थल भाग अर्थात् सियाल सीमा पर रुका हुआ है। यही कारण है कि कुछ सीमित क्षेत्रो के छोडकर सागर के नीचे सियाल का सर्वथा अभाव है। इस प्रकार हल्के पदार्थ वाले महाद्वीप कभी भी सागर मे नही जा सकते तथा सागर-तली स्थल के रूप मे ऊपर नही उठ सकती।

5 महाद्वीप के तटीय भाग आशिक रूप मे थोडे समय के लिए सागरीय अतिक्रमण के कारण जलमग्न हो गये तथा कुछ तटीय भाग ऊपर भी उठे हैं। परन्तु यह क्रिया अल्पकालिक तथा सीमित रूप मे हुई थी। महाद्वीपीय भाग कभी भी अगाध सागर द्वारा जलमग्न नही हुआ है।

इस मत के विरोध मे कुछ समस्यायें उपस्थित की गई हैं। उदाहरण के लिए स्थलीय भागो पर कुछ ऐसे जीव तथा वनस्पतियो के अवशेष पाये गये हैं जो कि एक दूसरे से पूर्ण समता रखते हैं परन्तु वर्तमान समय मे एक दूसरे से अधिक दूर पर पाये जाते हैं। इन अवशेषो वाले स्थलीय भाग वर्तमान समय म सागरो द्वारा पृथक हो जाने के कारण दूर-दूर स्थित हैं। यहाँ पर यह सवाल अनायास ही उठ जाता है कि ये जीवावशेष सागरो को पार करके इतने दूर कैसे चले गये? इस प्रश्न के उत्तर मे कई विद्वानो ने अपने मत प्रस्तुत किये है। कुछ लोगो के अनुसार प्रारम्भ मे महाद्वीपीय भाग स्थल-सेतुओ द्वारा एक दूसरे से सलग्न थे। इस विषय मे ग्रेगरी नामक विद्वान ने अपने मत का प्रतिपादन 1929 ई० मे किया है।

इस प्रकार स्थल-सेतुओ द्वारा स्थल-भाग सलग्न थे जिस कारण वनस्पतियो तथा जीवो का प्रसार अबाध गति मे हो सका। बाद मे जाकर स्थल-सेतुओ का अवतलन हो गया अर्थात् ये स्थल-सेतु नीचे डूब गये (Foundered)। इस कारण आन्ध्र महासागर, प्रशान्त महासागर एवं हिन्द महासागर का निर्माण हुआ। इस विचारधारा के पक्ष मे यह प्रमाण प्रस्तुत किया जाता है कि स्थल-सेतुओ के अवतलन के समय कुछ भाग ऐसे रह गये जिनका अवतलन नही हो सका। ये अवशिष्ट भाग इन महासागरो मे वर्तमान द्वीपो के रूप मे पाये जाते हैं। उदाहरण के लिए आन्ध्रमहासागर मे फाकलैण्ड द्वीप इसी अवतलन का अवशिष्ट भाग है। इस प्रकार के स्थल-सेतुओ के अवतलन के विषय मे जेफ्रीज (Jeffreys) ने भी अपना मत प्रस्तुत किया है। परन्तु इस मत से अधिकाश विद्वान सहमत नही है।

आलोचना—महाद्वीपो और महासागरो के स्थायित्व के विषय मे अनेक दोष निकाले गये हैं तथा इस मत के प्रमाण मे जितने भी साक्ष्य एव उदाहरण उपस्थित किये गये हैं, उनका खण्डन किया गया है तथा अन्त मे निष्कर्ष यही निकलता है कि महाद्वीपो मे किसी न किसी तरह का विस्थापन अवश्य हुआ है। अत महाद्वीप तथा महासागर अपने स्थान पर स्थिर तथा दृढ नही बताये जा सकते हैं।

1 यदि महाद्वीप तथा महासागरो का वर्तमान रूप पहले भी ऐसा ही था तथा उनमे किसी भी प्रकार का विस्थापन नही हुआ तो आन्ध्र महासागर के दोनो तटीय भागो पर चट्टानो की बनावट की समानता को प्रमाणित नही किया जा सकता है। इस समानता को प्रमाणित करने के लिये यह मानना होगा कि आज जहाँ पर अटलाण्टिक महासागर है यहाँ पर पहले स्थल-भाग अवश्य था। इसके कई प्रमाण उपस्थित किये जा सकते है—अटलाण्टिक महासागर के पश्चिमी किनारे पर स्थित अप्लेशियन भू-सन्नति मे जमाव दक्षिण-पूर्व से हुआ। यहाँ पर वर्तमान समय मे जल है। यदि पहले वहाँ स्थल नही था तो यह कैसे सम्भव हुआ? अफ्रीका के गोल्ड-कोस्ट क्षेत्र मे स्वर्णयुक्त कांग्लोमरेट चट्टान का जमाव उस नदी द्वारा हुआ जो गोल्डकोस्ट के दक्षिणी भाग मे स्थित स्थल-भाग से होकर आती थी। परन्तु वर्तमान समय मे यहाँ पर जल है। इसी प्रकार एक ही अक्षाश मे ब्राजील तथा गोल्डकोस्ट की स्वर्ण-खदानो की स्थिति से यही प्रमाणित होता है कि प्रारम्भ मे ये दोनो भाग सयुक्त थे। डू टॉयट ने दक्षिणी अमेरिका के पूर्वी तट तथा अफ्रीका के पश्चिमी तटो का अध्ययन करके बताया है कि दोनो तटो की सरचना मे पर्याप्त साम्य है। अत. ये दोनो तट पहले एक दूसरे से मिले हुए थे।

2 ऊपरी कार्बोनिफरस युग के हिमानी के लक्षण दक्षिणी अमेरिका, आस्ट्रेलिया, भारत, दक्षिणी तथा मध्य अफ्रीका तथा फाकलैण्ड द्वीपो पर मिलते हैं। इनमे से प्रत्येक क्षेत्र के हिमानीकरण मे समानता पायी जाती है। इन प्रभावित क्षेत्रो मे ग्लोसोप्टरीस भी पाई जाती है। प्राय अनुमान किया जाता है कि दक्षिणी भाग से हिम-चादर का प्रसार हुआ तथा इसका विस्तार उपर्युक्त

क्षेत्रो मे हो गया । अगर वर्तमान समय के महाद्वीप तथा महासागर इसी अवस्था मे प्रारम्भ मे भी थे तो यह कैसे सम्भव हो सकता था ? इस आधार पर विद्वानो ने बताया है कि प्रारम्भ मे उपर्युक्त स्थल-भाग एक दूसरे से संयुक्त थे तथा दक्षिणी ध्रुव वर्तमान डर्बन (नेटाम) के पास था । दक्षिणी ध्रुव मे हिमचादर का प्रसार उपर्युक्त क्षेत्रो में आसानी से हो गया बाद मे ये स्थल-भाग एक दूसरे से अलग हो गये तथा वर्तमान रूप को धारण किये । यदि समस्या को सुलझाने के लिए यह कहा जाय कि प्रारम्भ मे उपर्युक्त स्थल-भाग एक दूसरे से स्थल-सेतुओ द्वारा सम्बन्धित थे तो वर्तमान दूरी को देखते हुए कार्बोनिफरस युग का हिमानीकरण, प्लीस्टोसीन युग के हिमानीकरण से अत्यधिक विस्तृत रहा होगा, परन्तु ऐसा नही है। प्लीस्टोसीन हिमयुग सबसे अधिक विस्तृत हिमयुग था ।

3 "स्थल-सेतु परिकल्पना" प्रमाणित नही की जा सकती है। महासागर तथा महाद्वीप के स्थायित्व के समर्थको ने कुछ समस्याओ को (कार्बोनिफरस हिमानीकरण तथा ग्लोसोप्टरीस वनस्पति का वितरण) "स्थल-सेतु-सिद्धान्त" के आधार पर सुलझाने का प्रयास किया है । परन्तु सतुलन के सिद्धान्त के आधार पर यह सिद्धात प्रामणित नही किया जा सकता है। उदाहरण के लिए महाद्वीप या स्थल-भाग हल्के पदार्थ सियाल के बने हैं तथा महासागरीय तली भारी पदार्थ सीमा मे निर्मित है । *अत स्थलीय हल्के पदार्थ, सागरीय भारी पदार्थ मे* नही डूब सकते है । इस क्षेत्र मे एक और कठिनाई है । यदि आइसबर्ग (Iceberg) दो भागो मे टूटता है तो एक दूसरे से अलग हुए टुकडे नही डूबते हैं वरन् एक दूसरे से अलग होकर विस्थापित हो जाते है (एक दूसरे से अलग हो जाते हैं) । इस प्रकार यदि स्थलसेतु को मान भी लिया जाय तो उनके अलगाव या टूटने से प्राप्त स्थल-भागो का ऊर्ध्वाकार रूप मे नीचे की तरफ अवतलन नही होगा बल्कि क्षैतिज विस्थापन होगा । यद्यपि होम्स तथा जेफ्रीज इन सेतुओं के डूबने के लिए अनेक उपादानो का उल्लेख किया है परन्तु वर्तमान विद्वानो को इनके मत मान्य नही हैं ।

4 उपर्युक्त आधारो पर यही प्रमाणित होता है कि महासागर तथा स्थल-भाग स्थिर न होकर गतिशील रहे हैं । यह हो सकता है कि उनमें किसी महाद्वीपीय भाग का पूर्णतया ऊर्ध्वाकार रूप मे अवतलन नही हुआ है, परन्तु विस्थापन (Horizontal displacement) स्वाभाविक सा लगता है । वर्तमान समय मे "प्रवाह सिद्धात" को पर्याप्त समर्थन प्राप्त है। यह अवश्य है कि प्लेट विवर्तन सिद्धान्त (1960) के पूर्व इस क्षेत्र मे अब तक ऐसे मत का प्रतिपादन नही किया जा सका था । जिससे पूर्ण विस्थापन को समझा जा सके । आर्थर होम्स, जोली, डेली, वेगनर, डू टवायट आदि ने कई रूपो मे "महाद्वीपीय प्रवाह" को प्रमाणित करने के प्रयास किये हैं परन्तु इस प्रवाह के लिए आवश्यक समर्थ शक्ति की पूर्णरूपेण व्याख्या नही की जा सकी है । जो भी शक्ति अब तक प्रवाह के सम्बन्ध मे बतायी गयी है वह पूर्ण तथा पर्याप्त नही है ।

5 शैलो की चुम्बकीय शक्ति और चुम्बकीय उत्तरी ध्रुव की विभिन्न स्थितियों के आधार पर महाद्वीपीय विस्थापना को प्रमाणित किया गया है । पर्यवेक्षण द्वारा यह पता लगाया गया है कि प्राचीनकाल मे चुम्बकीय उत्तरी ध्रुव प्रशान्त महासागर मे हवाई द्वीप के पास स्थित था । बाद मे इसकी स्थिति जापान के पास, पुन कमचटका के पास तथा साइबेरिया मे हो गई । इस आधार पर यह प्रमाणित होता है कि महाद्वीपो मे विस्थापन या प्रवाह हुआ है ।

6 प्रोफेसर ब्लैकेट (Prof P. N. S Blackett) ने प्रायद्वीपीय भारत की चट्टानो का अध्ययन करके बताया है कि भूमध्य रेखा की स्थिति मे पर्याप्त अन्तर हुआ है । आज से 700 लाख वर्ष पूर्व भारत भूमध्य रेखा के दक्षिण मे स्थित था । इसी प्रकार कभी ब्रिटेन भूमध्य रेखा के पास स्थित था तथा उत्तर की तरफ विस्थापित होकर अपना वर्तमान रूप प्राप्त किया है । अमेरिकी *विद्वान हेस (H H Hess) तथा डीज (Dr R. S.* Dietz) ने भी महाद्वीपीय विस्थापन का समर्थन किया है (1962) ।

उपर्युक्त विवेचना के बाद भी किसी तर्कपूर्ण तथ्य का प्रतिपादन नही किया जा सकता है । इस क्षेत्र मे और अधिक प्रयोग, अध्ययन तथा पर्यवेक्षण की आवश्यकता है । प्लेट विवर्तन सिद्धान्त के आधार पर महाद्वीपीय विस्थापन के तथ्य का सत्यापन हो गया है । देखिये अगला अध्याय 8 (प्लेट विवर्तनिकी) ।

अध्याय 8

प्लेट विवर्तनिकी

(Plate Tectonics)

सामान्य परिचय—भू-विज्ञान, भूभौतिकी (Geophysics) तथा भूआकृतिविज्ञान के क्षेत्र में पुराचुम्बकीय क्षेत्र (Palaeomagnetic field) के अध्ययन तथा सागर-नितल के प्रसार (Sea-floor spreading) के प्रमाण के आकलन के फलस्वरूप धरातलीय आकृतियों के विश्लेषण के सम्बन्ध में 1960 के बाद से नव विचारों तथा संकल्पनाओं का सूत्रपात हुआ है। इनमें से **प्लेट विवर्तन सिद्धान्त** (Plate tectonic theory) सर्वप्रमुख है। पृथ्वी का वाह्य भाग दृढ़ खण्डों का बना है जिसे प्लेट कहते है। इन्ही प्लेट के किनारों के सहारे सारी विवर्तनिक (tectonic) भूकम्पीय (seismic) तथा ज्वालामुखी क्रियायें सम्पन्न होती है। इन प्लेटों की गति के पूर्ण क्रम को **प्लेट विवर्तनिकी** कहा जाता है। 'प्लेट' नामावलि का प्रयोग सर्वप्रथम **टुजो-विलसन** (Tuzo Wilson) द्वारा 1965 में किया गया। 1968 के बाद **प्लेट प्रक्रिया** (Plate mechanism) का प्रयोग प्रारंभ हो गया क्योंकि **आयलर-सिद्धान्त** (Euler's theorem) के आधार पर प्लेट की भ्रमण-प्रक्रिया (motion mechanism) को स्पष्ट करने का सफल प्रयास किया जा चुका था। उदाहरण स्वरूप 1967 में **मैकेन्जी** तथा **पार्कर** (Mckenzie and Parker) ने प्लेट के संचलन का विशद उल्लेख किया। **आइजक** तथा **साइक्स** (Isacks and Sykes) ने भी उपर्युक्त विद्धानों को समर्थन 1967 में ही दे दिया। 1968 में मार्गन (W J Morgan) तथा **ली पिशॉन** (Le Pichon) ने प्लेट विवर्तनिकी के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला। प्लेट विवर्तनिकी के आधार पर **महाद्वीपीय विस्थापन** को अब एवं वास्तविकता माना जा रहा है। इतना ही नहीं, भूगर्भिक काल के विभिन्न युगों में निर्मित पर्वतों की उत्पत्ति, भूकम्पीय घटनाओं, ज्वालामुखी तथा विवर्तन की सारी क्रियाओं का, सम्भवतः इस सिद्धान्त के आधार पर, स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया जा सकता है।

प्लेट विवर्तनिकी के साक्ष्य

प्लेट-विवर्तन सिद्धान्त का प्रतिपादन निश्चय ही विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रतिपादित महाद्वीपीय विस्थापन के सिद्धान्तों की देन है। स्मरणीय है कि वेगनर के महाद्वीपीय प्रवाह सिद्धान्त पर आर्थर एन० स्ट्रालर तथा एलन एच० स्ट्रालर की 'असंगत सिद्धान्त' तथा 'nonsense' की टिप्पणी[1] स्वयं में एक असंगत अभ्युक्ति है क्योंकि वेगनर का सिद्धान्त भले ही मान्य न हो परन्तु उन्होंने विद्वानों को इस दिशा में कार्य करने के लिए प्रेरित अवश्य किया। महाद्वीपों में प्लेट-संचल (Plate movement) द्वारा प्रवाह या विस्थापन के दो प्रमुख साक्ष्य सामने आये हैं—पृथ्वी का पुराचुम्बकीय क्षेत्र (Palaeomagnetic field) तथा सागर-नितल का प्रसरण (Sea floor spreading)

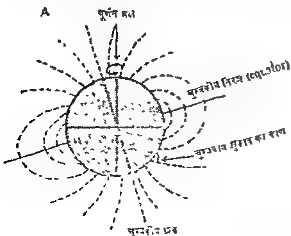
पुराचुम्बकत्व (Palaeomagnetism)

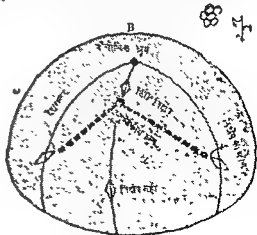
सामान्य प्राक्कथन—1600 ई० में साम्राज्ञी एलिजाबेथ प्रथम के चिकित्सक **विलियम गिलबर्ट** ने प्रतिपादित किया कि पृथ्वी एक **वृहत् चुम्बक** (Giant magnet) की तरह व्यवहार करती है। इन्होंने यह भी बताया कि पृथ्वी का चुम्बकत्व उसके आन्तरिक भाग से उत्पन्न होता है। पृथ्वी का चुम्बकीय क्षेत्र (Magnetic field) एक वृहद् शलाका चुम्बक (Bar magnet) के समान होता है जिसके दो ध्रुव (dipole) होते हैं तथा वह पृथ्वी के केन्द्र में स्थित होता है तथा वह पृथ्वी के परिभ्रमण अक्ष की सरेखण दिशा (लगभग) में ही होता है (aligned approximately along the axis of rotation)। जब इस शलाका **चुम्बक** को अनुदैर्घ्य अक्ष को विस्तृत करते हैं तो वह पृथ्वी को सतह को दो स्थानों पर प्रतिच्छेदित करती है। इन्ही को उत्तरी तथा दक्षिणी चुम्बकीय ध्रुव कहते है। पृथ्वी का दक्षिणी चुम्बकीय ध्रुव उसके भौगोलिक उत्तरी ध्रुव के पास एवं उत्तरी चुम्बकीय ध्रुव उसके भौगोलिक दक्षिणी ध्रुव के

1. The most preposterous notion presented to the geological community in the twentieth century came from a scientist who should have known better than to deal in such non sense Alan H Strahler and Arthur N. Strahler . Geography and Man's Environment John Wiley and Sons, 1977, pp. 150.

पास होता है। यदि किसी छोटे चुम्बक को पृथ्वी की सतह पर स्वतंत्र रूप से निलम्बित किया जाय तो पृथ्वी का दक्षिणी चुम्बकीय ध्रुव लघु चुम्बक के उत्तरी ध्रुव को आकर्षित करता है एवं पृथ्वी का उत्तरी चुम्बकीय ध्रुव लघु चुम्बक के दक्षिणी ध्रुव को आकर्षित करता है। यह तथ्य सामान्य व्यक्ति के लिए आश्चर्यजनक लग सकता है परन्तु यह वास्तविकता है क्योंकि जब दो चुम्बक को पास लाया जाता है तो उनके समान ध्रुव एक दूसरे को प्रतिकर्षित (repel) करते हैं परन्तु असमान ध्रुव एक दूसरे को आकर्षित (attract) करते हैं। जब हम चुम्बक को पृथ्वी की सतह के किसी भी स्थान पर स्वतंत्र रूप से निलम्बित करते हैं तो वह भौगोलिक उत्तर तथा दक्षिण को पूर्णतया इंगित नहीं करता है क्योंकि पृथ्वी का चुम्बक पृथ्वी के भौगोलिक उत्तरी तथा दक्षिणी अक्ष रेखा पर पूर्ण रूप से नहीं होता है। इस तरह पृथ्वी के चुम्बक-अक्ष एवं उसके भौगोलिक उत्तर-दक्षिण अक्ष में कोणिक झुकाव होता है। इसे चुम्बकीय दिक्पात (Magnetic declination) कहते हैं। अर्थात् पृथ्वी की सतह के किसी भी स्थान पर स्वतंत्र रूप से निलम्बित चुम्बक की दिशा एवं पृथ्वी के भौगोलिक उत्तर-दक्षिणी अक्ष की दिशा के बीच के कोणिक झुकाव को चुम्बकीय दिक्पात कहते हैं। स्वतंत्र रूप से निलम्बित चुम्बकीय सुई तथा पृथ्वी के क्षैतिज तल के बीच को चुम्बकीय झुकाव (Magnetic inclination) या नति (dip) कहते हैं। उत्तरी गोलार्द्ध में यदि ध्रुव पर चुम्बक को स्वतंत्र रूप से निलम्बित किया जाय तो उसका उत्तरी ध्रुव पृथ्वी के चुम्बकीय दक्षिणी ध्रुव के पास होने के कारण अधिक आकर्षित होगा तथा चुम्बकीय सुई लम्ब हो जायेगी। परिणामस्वरूप लघु चुम्बक का उत्तरी ध्रुव नीचे की ओर इंगित करेगा। दक्षिणी गोलार्द्ध में उसके विपरीत स्थिति होगी (लघु चुम्बक का दक्षिणी ध्रुव पृथ्वी के चुम्बकीय उत्तरी ध्रुव के पास होने के कारण अधिक आकर्षित होगा)। इस तरह दोनों ध्रुवों पर चुम्बकीय नति 90° की होगी। पृथ्वी की सतह के जिस स्थान पर लघु चुम्बक क्षैतिज हो जाता है वहाँ पर चुम्बकीय नति शून्य होती है। इस तरह के ये सभी स्थानों जहाँ पर स्वतंत्र रूप से निलम्बित चुम्बक क्षैतिज हो जाता है को मिलाने वाली कल्पित रेखा को चुम्बकीय निरक्ष (Magnetic equator) कहते हैं तथा यहाँ पर चुम्बकीय नति शून्य होती है। यदि चुम्बकीय निरक्ष से स्वतंत्र रूप से निलम्बित चुम्बक (freely suspended magnet) को धीरे-धीरे चुम्बकीय उत्तरी ध्रुव (पृथ्वी के चुम्बक का दक्षिणी ध्रुव) की ओर खिसकाया जाय तो चुम्बकीय नति बढ़ती जाती है तथा चुम्बक चुम्बकीय उत्तरी ध्रुव पर लम्ब हो जाता है (नति 90°)। चित्र 88 A एवं 88 B में क्रमशः चुम्बकीय नति एवं दिक्पात को दर्शाया गया है। स्मरणीय है कि पृथ्वी के 'सामान्य द्विध्रुव चुम्बकीय क्षेत्र' (Simple dipole magnetic field) की तीव्रता (intensity) में स्थानीय एवं कालिक (Spatial and temporal) में परिवर्तन होते रहते हैं।

1546 में लन्दन में जब दिक्सूचक द्वारा चुम्बकीय दिक्पात का अंकन किया गया था वह भौगोलिक उत्तर

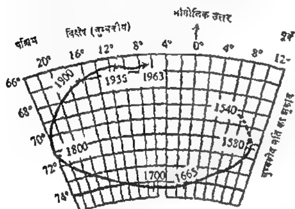




चित्र 88

भू चुम्बकीय क्षेत्र (A) चुम्बकीय झुकाव या नति (inclination) तथा चुम्बकीय दिक्पात (declination)

से 8° पू० दे० पर पाया गया। 1665 में चुम्बकीय दिक्‌पात भौगोलिक उत्तर पर अध्यारोपित था जबकि 1823 में 24° प० देशान्तर तक पहुँच गया। इसके बाद से चुम्बकीय दिक्‌पात में पुन ह्रास प्रारम्भ हो गया। 1975 में इसकी स्थिति 7° प० दे० थी। चित्र 89 में औसत चुम्बकीय बल की दिशा में परिवर्तन (1540 से) को लन्दन जिला में अंकित चुम्बकीय दिक्‌पात तथा झुकाव (Magnetic declination and inclination) के विवरण द्वारा प्रदर्शित किया गया है।



चित्र 89

लन्दन जिले में औसत चुम्बकीय बल (F) की दिशा में 1540 से परिवर्तन। इस परिवर्तन को चुम्बकीय झुकाव (magnetic inclination) तथा चुम्बकीय दिक्‌पात/विक्षेप (declination) के आंकड़ों के आधार पर प्रदर्शित किया गया है (होम्स-1978 के अनुसार)।

भू चुम्बकीय क्षेत्र का स्रोत—चुम्बकीय क्षेत्र के बल में, जैसा कि ऊपर प्रदर्शित किया गया है, परिवर्तन होते रहते हैं। उनका सम्बन्ध स्थल-सागर के वितरण, भू-वैज्ञानिक संरचना या शैलों से नहीं है। इस तथ्य से यह आभास मिलता है कि भू-चुम्बकीय क्षेत्र की उत्पत्ति का सम्बन्ध मैंटिल (mantle) से न होकर बाह्य अन्तरतम (outer core) से है, क्योंकि भू-चुम्बकीय क्षेत्र में 0 18° प्रतिवर्ष की दर से पश्चिम की ओर खिसकाव होता है। इससे प्रमाणित होता है कि भू-चुम्बकीय क्षेत्र का परिभ्रमण (rotation) पृथ्वी के परिभ्रमण से मन्द गति से सम्पादित होता है। प्रकारान्तर से यह सिद्ध होता है कि पृथ्वी का अन्तरतम ऊपर स्थित मैंटिल की अपेक्षा मन्द गति से परिभ्रमण करता है। ज्ञातव्य है कि चुम्बकीय क्षेत्र पृथ्वी के अन्तरतम के पदार्थों की स्थायी विशेषता नहीं है, अर्थात् चुम्बकन (magnetization) स्थायी प्रक्रिया नहीं है वरन् इसका सतत जनन होता रहता है[1]।

यदि स्थायी चुम्बकीय (permanent magnetization) सम्भव नहीं है तो उसका सतत जनन एवं पोषण (Continuous production and maintenance) तभी सम्भव हो सकता है जबकि पृथ्वी के अन्तराल में अत्यधिक विद्युतीय सञ्चालकता (high electric conductivity) से युक्त पदार्थ हो जिनसे विद्युतीय तरंगों का जनन हो सके। इस तरह की स्थिति धात्विक तरल (metallicliquid) पदार्थों में ही सम्भव हो सकती है। यह विशेषता बाह्य अन्तरतम में ही पायी जाती है। इस तरह बाह्य अन्तरतम स्वयं ऊर्जित डायनमो (self-exciting dynamo) का कार्य करता है। पृथ्वी के अन्तरतम से निकली ऊर्जा विद्युत तरंग में परिवर्तित होती है जो अन्तरतम के चतुर्दिक व्याप्त रहती है तथा पृथ्वी के द्वि-ध्रुव चुम्बकीय क्षेत्र (di-pole magnetic field) को जन्म देती है।

भू-चुम्बकीय क्षेत्र के पोषण के लिए आवश्यक ऊर्जा के तीन सम्भावित स्रोत बताये जाते हैं—(i) पृथ्वी के अन्तरतम में रेडियो सक्रिय पदार्थों से निकली ऊष्मा। इस ऊर्जा पर सन्देह व्यक्त किया जाता है। यदि पृथ्वी के अन्तरतम से रेडियो सक्रिय पदार्थों द्वारा संवहन तरंगों के पोषण के लिए ऊष्मा की आपूर्ति मान ली जाय तो मैण्टिल में भी यही स्थिति हो सकती है। ऐसी दशा में पृथ्वी की क्रस्ट कैसे शीतल हो सकती थी? (ii) मैण्टिल से लोहे का नीचे की ओर अन्तरतम में स्थानान्तरण होता है। इस तरह की प्रक्रिया से अन्तरतम में गुरुत्व बल मुक्त हो जाता है जो ऊर्जा उत्पन्न करता है। इस सम्भावना के विरोध में कहा जाता है कि यदि यह प्रक्रिया सही मान ली जाय तो भी इसका बहुत पहले ही स्थगन हो गया होगा। (iii) आन्तरिक अन्तरतम (inner core) से पदार्थों का बाह्य अन्तरतम (outer core) में परिवर्तन होता है जिस कारण बाह्य अन्तरतम नीचे से निकली ऊर्जा से गर्म होता है। (क्रस्ट, मैंटिल तथा कोर

1 The magnetic field cannot be a permanent property of the material of the core must there fore be continuously produced and maintained.
—Arthur and Doris L. Holmes, Principles of physical Geology, 3rd edition, 1978, p 607

के स्वभाव के विशद विवरण के लिए देखिये अध्याय 6 पृथ्वी की आन्तरिक संरचना)।

अवशिष्ट चुम्बकत्व (Remanent Magnetism)

भूकेन्द्रिक अक्षीय द्विध्रुव चुम्बकीय क्षेत्र (geocentric axial dipole magnetic field) पृथ्वी के चुम्बकत्व का 95 प्रतिशत भाग प्रदर्शित करता है। शेष भाग का प्रतिनिधित्व असमान, छिटपुट तथा कमजोर चुम्बकीय क्षेत्रों द्वारा होता है। लौह युक्त गर्म तरल लावा का जब शीतलन होता है तो उसमें चुम्बकन हो जाता है अर्थात् आग्नेय शैल में चुम्बक का निर्माण हो जाता है। चुम्बकन का रेकार्ड शैलों में दस्तावेज के रूप में सुरक्षित हो जाता है। इसे अवशिष्ट चुम्बकत्व कहते हैं। स्मरणीय है कि अवशिष्ट चुम्बकत्व का चुम्बकीय दिक्पात (magnetic inclination) या नति (dip) वही होती है जो उस समय आग्नेय शैल के निर्माण के समय भूचुम्बकीय क्षेत्र की होती है। इस अवशिष्ट चुम्बकत्व की शक्ति उस समय शीतल होते हुए लावा के खनिज पदार्थों के संगठन तथा उस समय के भूचुम्बकीय क्षेत्र की सक्रियता पर आधारित होती है। इसी तरह अवसादी शैल के निर्माण के समय भी उसमें चुम्बकत्व आ जाता है। अवसादी शैल के निर्माण (घनी भवन) के समय तथा उसके बाद रासायनिक परिवर्तनों के कारण चुम्बकत्व नष्ट (कभी-कभी, जबकि वह कमजोर होता है) भी हो जाता है। इस अवशिष्ट चुम्बकत्व का गालवेनोमीटर (galvanometer) नामक सूक्ष्म चुम्बक-मापक यंत्र से मापन तथा अभिलेखन किया जाता है।

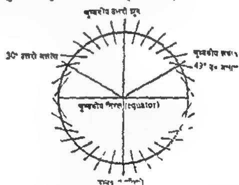
पुराचुम्बकीय पुनर्रचना (Palaeomagnetic Reconstruction)

पुराचुम्बकीय पुनर्रचना के लिए एक ही समय में निर्मित शैलों के नमूने लिए जाते हैं तथा सर्वप्रथम उनका दिकविन्यास (orientation) अंकित किया जाता है। स्मरणीय है कि विवर्तनिक घटनाओं (tectonic events) के कारण मौलिक दिकविन्यास में कुछ परिवर्तन हो जाने की सम्भावना रहती है। तत्पश्चात् चुम्बकत्वमापी यंत्र (magnetometer) की सहायता से उक्त शैल के निर्माण के समय स्थानीय बल के परिणाम, दिक्पात तथा झुकाव (magnitude, declination and incilation of local force) का परिमापन किया जाता है। स्मरणीय है कि अवशिष्ट चुम्बकत्व के समय यह अवधारणा कर ली जाती है कि उस समय भूचुम्बकीय क्षेत्र (geomagnetic field) आकार में द्विध्रुवीय (dipolar) रही होगी तथा औसतन भूचुम्बकीय ध्रुव एवं भौगोलिक ध्रुव में लगभग सामञ्जस्य (approximate coincidence) रहा होगा। इस अवधारणा (assumption) के अनुसार किसी निश्चित समय तथा निश्चित क्षेत्र की शैल के औसत पुराचुम्बकीय झुकाव या नति (palaeomagnetic inclination or dip) I, के आधार पर उस समय उस क्षेत्र के अक्षांश को निम्न समीकरण के आधार पर इंगित किया जा सकता है—

$$\tan I = 2 \tan \lambda$$

जबकि λ = अक्षांश

ज्ञात अक्षांश ध्रुव की दूरी निश्चित कर देता है तथा पुराचुम्बकीय दिक्पात (palaeomagnetic declination = D) की सहायता से ध्रुव की दिशा ज्ञात हो जाती है। इस तरह ज्ञात क्षेत्र (जहाँ से पुराचुम्बकीय पुनर्रचना के लिए शैल का नमूना लिया गया है) से भौगोलिक ध्रुव की दूरी तथा दिशा के ज्ञान के आधार पर उस समय के ग्लोब के ध्रुव की स्थिति जबकि नमूनार्थ ली गई शैल का चुम्बकन हुआ था, ज्ञात हो जाती है।



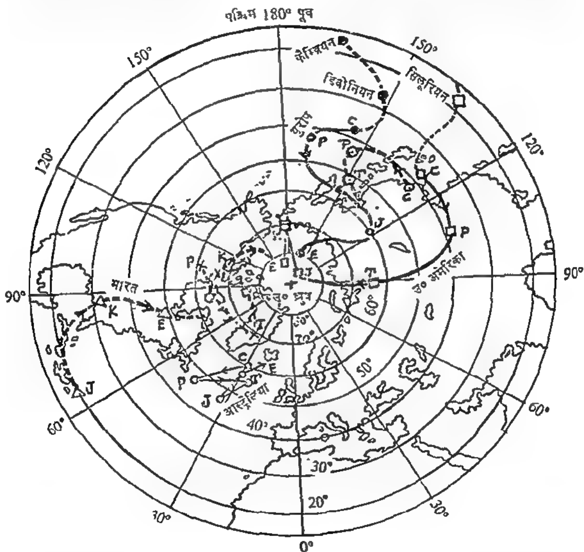
चित्र 90

भूकेन्द्रीय अक्षीय द्विध्रुवीय चुम्बकीय क्षेत्र (geocentric axial dipole magnetic field) के चुम्बकीय झुकाव (inclination) तथा संगत (corresponding) अक्षांश के बीच सम्बन्ध का प्रदर्शन। उदाहरण के लिये 40° के झुकाव का सम्बन्ध 32° उत्तरी अक्षांश से होता है।

उपर्युक्त प्रक्रिया के आधार पर ध्रुव के निर्धारण में कुछ त्रुटियाँ आ जाती हैं। जैसे—(i) पुराचुम्बकीय पुनर्रचना के समय चुने गये क्षेत्र पर भूचुम्बकीय क्षेत्र (मुख्य) के प्रभाव को ही ध्यान में रखा जाता है, गौण चुम्बकीय क्षेत्रों को ध्यान में नहीं रखा जाता है, (ii)

नमूनार्थ ली गई शैल में चुम्बकीय परिवर्तन हो सकते हैं तथा (iii) दिक्‌विन्यास (orientation) एवं प्रयोग के समय कुछ गलतियाँ हो सकती हैं। इन त्रुटियों के निवारण के लिये एक ही आयु की शैलों के कई नमूने लिये जाते हैं तथा उनके अवशिष्ट चुम्बकत्व के अध्ययन के बाद माध्यकीय विधियों के आधार औसत परिकलन करके ध्रुवों की स्थिति ज्ञात की जाती है।

उपर्युक्त आधार पर सर्वप्रथम जापान, इटली, फ्रान्स आदि देशों में सेनोजोइक लावा के पुराचुम्बकीय पुनर्रचना के आधार पर ध्रुवों की स्थितियाँ ज्ञात की गई। तत्पश्चात् 1950-60 दशक में ब्लैकेट (Blackett) तथा उनके सहयोगियों द्वारा ब्रिटिश द्वीप पर ट्रियासिक युग के बालुका-प्रस्तर के अध्ययन के आधार पर 200 मिलियन वर्ष पहले ध्रुवों की स्थितियों का निर्धारण



चित्र 91

पुराचुम्बकीय ध्रुवीय-परिभ्रमण वक्र (palaeo-magnetic polar wandering curves) का विभिन्न संकेतों द्वारा प्रदर्शन। काला बिन्दु—यूरोप, खुला वर्ग—उ० अमेरिका, × – अफ्रीका, △—भारत, ○ · आस्ट्रेलिया। विभिन्न युगों की नमूनार्थ शैलों (पुराचुम्बकत्व के आकड़ों के लिये) के काल को विभिन्न अक्षरों से दिखाया गया है—E इयोसीन युग, K-क्रीटेशियस, J-जुरैसिक, T-ट्रियासिक, P-पर्मियन तथा C=कार्बोनिफरस।

किया गया जिससे ज्ञात हुआ कि वर्तमान समय में तथा 200 मिलियन वर्ष पूर्व ध्रुवों की स्थितियों में पर्याप्त परिवर्तन हुये हैं। इस ज्ञान के आधार पर यह राज सामने आया कि पृथ्वी की सतह पर चुम्बकीय ध्रुवों की स्थितियों में परिभ्रमण हुए हैं। यहाँ पर दो अवधारणायें सामने आती हैं—

(i) यदि चुम्बकीय ध्रुव ने स्वयं परिभ्रमण (wandering) किये तो महाद्वीपों की स्थितियों में स्थायित्व रहा होगा। 1956 तक भू-भौतिकीविदों (geophysicists) की यह मान्यता रही है कि बिना महाद्वीपीय विस्थापन के ध्रुवीय परिभ्रमण (polar wandering) हुए हैं।

(ii) चुम्बकीय ध्रुवों का परिभ्रमण महाद्वीपीय विस्थापन में कारण हुआ है। अवशिष्ट पुराचुम्बकीय पुनर्रचना के आधार पर प्राप्त आकड़ों के अनुसार ध्रुवीय परिभ्रमण वक्र (polar wandering curves) की रचना की गई। यह सामान्य सिद्धान्त है कि यदि महाद्वीपीय विस्थापन नहीं हुआ है तो किसी निश्चित समय में विभिन्न महाद्वीपों के लिए खींचे गये ध्रुवीय परिभ्रमण वक्र एक जैसे होंगे। यदि एकाकी महाद्वीप के ध्रुवीय परिभ्रमण वक्र पर दृष्टिपात किया जाय तो स्पष्ट होता है कि चुम्बकीय ध्रुवों की स्थितियों में पर्याप्त परिभ्रमण हुए हैं। परन्तु जब विभिन्न महाद्वीपों के ध्रुवीय परिभ्रमण वक्रों (चित्र 91) पर दृष्टिपात किया जाय तो वे एक दूसरे से विभिन्न नजर आते हैं। इस तथ्य के आधार पर महाद्वीपों के स्थायित्व तथा ध्रुवों के परिभ्रमण की संकल्पना का स्वयं अस्वीकरण (rejection) हो जाता है और महाद्वीपीय विस्थापन की संकल्पना वास्तविकता बन जाती है। इस आधार पर प्रमाणित हो जाता है कि यदि महाद्वीपों की सापेक्ष स्थितियों (relative posoitions) में परिवर्तन हुए हैं तो एक महाद्वीप की समकालीन शैलों द्वारा निर्धारित निश्चित प्रकार की ध्रुवीय स्थिति दूसरे महाद्वीप पर ध्रुवीय स्थिति से भिन्न प्रकार की होगी। इस तथ्य को और सरल रूप में व्यक्त किया जा सकता है-

जब तक दो महाद्वीप जुड़े हैं या एक दूसरे के सम्बन्ध में प्रवाहित नहीं हो रहे हैं तब तक दोनों महाद्वीपों के ध्रुवीय परिभ्रमण वक्र एक ही प्रकार के होंगे। यदि वेगनर के पेंजिया पर दृष्टिपात किया जाय तो पर्मियन युग के अन्त तक सारे महाद्वीप पेंजिया के रूप में संलग्न थे। यदि यह स्थिति थी तो पेलियोजोइक कल्प में सभी महाद्वीपों के लिए एक ही पुराचुम्बकीय ध्रुव होना चाहिए। वर्तमान महाद्वीपों को पेलियोजोइक की स्थिति में मिलाकर जब ध्रुवीय परिभ्रमण वक्र तैयार किया गया तो उपर्युक्त तथ्य सत्य प्रतीत होता है। विभिन्न महाद्वीपों के ध्रुवीय परिभ्रमण वक्र अन्तिम ट्रियासिक युग से अलग-अलग होते हैं।

यह सत्यापित होता है कि पुराचुम्बकीय पुनर्रचना (palaeomagnetic reconstruction) के आधार पर प्राप्त आँकड़ों के अनुसार विभिन्न महाद्वीपों के ध्रुवीय परिभ्रमण वक्र के आधार पर न केवल महाद्वीपीय विस्थापन की संकल्पना प्रमाणित हो होती है अपितु वेगनर के पेंजिया के विभंजन तथा विभिन्न महाद्वीपों के अलगाव एवं विस्थापन की वास्तविक प्रक्रिया का सत्यापन भी हो जाता है।

ध्रुवता का उत्क्रमण/वैपरीत्य (Reversals of Polarity)

पुराचुम्बकत्व (palaeomagnetism) के अध्ययन के समय यह तथ्य सामने आया कि कुछ शैलों का चुम्बकन (magnetization) पृथ्वी के मुख्य चुम्बकीय क्षेत्र के अनुसार न होकर उसके विपरीत दिशा में हुआ है। 1950-60 दशक में यह सत्यापित हो गया कि विपरीत दिशा में चुम्बकित (reversely magnetized) शैलों का पाया जाना असाधारण घटना नहीं है वरन् सार्वत्रिक है। प्रमाणों के आधार पर यह ज्ञात हुआ है कि भूतल की लगभग 50 प्रतिशत शैलों में चुम्बकन पृथ्वी के मुख्य चुम्बकीय क्षेत्र के विपरीत दिशा में हुआ है। ज्ञातव्य है कि जब किसी शैल का चुम्बकन (magnetization) होता है तो वह पृथ्वी के मुख्य चुम्बकीय क्षेत्र की दिशा में ही होता है। इस सन्दर्भ में दो सम्भावनायें व्यक्त की जाती हैं—

(i) जिस समय शैलों का चुम्बकन हो रहा होगा उस समय कुछ शैलों का चुम्बकन पृथ्वी के मुख्य चुम्बकीय क्षेत्र के विपरीत दिशा में सम्पादित हुआ होगा अथवा प्रारम्भ में इन शैलों का चुम्बकन पृथ्वी के मुख्य चुम्बकीय क्षेत्र की दिशा के अनुरूप ही हुआ होगा। तदन्तर ये विपरीत दिशा में हो गयी होंगी। इस प्रक्रिया को स्वतः उत्क्रमण (self reversal) कहते हैं।

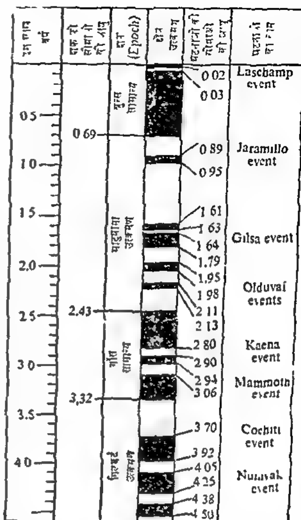
(ii) विपरीत दिशा में चुम्बकित शैलों का चुम्बकन मौलिक रूप में पृथ्वी के मुख्य चुम्बकीय क्षेत्र की दिशा में ही हुआ होगा। बाद में पृथ्वी के मुख्य चुम्बकीय क्षेत्र में ही उत्क्रमण (reversal) हो गया होगा। इसे चुम्बकीय क्षेत्र का उत्क्रमण (field reversal) कहते हैं।

स्वतः उत्क्रमण (self reversal) के पक्ष में

(Neel) महोदय ने कई सैद्धान्तिक प्रक्रियाओं का उल्लेख किया है तथा यह प्रमाणित करने का भरसक प्रयास किया है कि चट्टानों में चुम्बकन के समय स्वतः उत्क्रम सम्भव है। नील के अलावा अन्य लोगों ने भी कई सैद्धान्तिक सम्भावनायें प्रस्तुत की है परन्तु जब इन सिद्धान्तों या प्रक्रियाओं (mechanism) के आधार पर भूतल की विपरीत दिशा में चुम्बकित शैलों की व्याख्या का प्रयास किया जाता है तो सफलता नहीं मिलती है। केवल जापान के माउण्ट हरुना (*Haruna*) के लावा का प्रयोगशाला में अध्ययन करने पर स्वतः उत्क्रमण का सत्यापन हो पाया है।

उपर्युक्त सम्भावना के निरस्त हो जाने पर यह सम्भाव्य है कि शैलों में विपरीत दिशा में चुम्बकन उस समय हुआ होगा जबकि पृथ्वी के मुख्य चुम्बकीय क्षेत्र में वैपरीत्य (उत्क्रमण) हो गया होगा। यह अनुमान किया जाता है कि आधे समय तक द्विध्रुवीय चुम्बकीय क्षेत्र (dipole magnetic field) सामान्य दिशा में (normal direction) और आधे समय तक विपरीत दिशा में रहा होगा। परिणामस्वरूप भूतल की 50 प्रतिशत शैलों में चुम्बकन सामान्य दिशा में और 50 प्रतिशत का विपरीत दिशा में चुम्बकन हुआ होगा। इस सम्भावना में समय-सहसम्बंध (time correlation) का सबसे सबल तथा विश्वासजनक तर्क है। निश्चित ज्ञात समय में यदि पृथ्वी के चुम्बकीय क्षेत्र में उत्क्रमण (reversal) होता है तो उस समय सम्पूर्ण शैलों (जिनका निर्माण उस समय होता है) में विपरीत दिशा में चुम्बकन होगा। इसी तरह किसी निश्चित ज्ञात समय में यदि चुम्बकीय क्षेत्र सामान्य दिशा में होगा तो उस समय निर्मित होने वाली सभी शैलों का चुम्बकन सामान्य दिशा में होगा। इसके विपरीत स्वतः उत्क्रमण किसी समय हो सकता है। इसमें समय-सहसम्बन्ध नहीं होता है। यदि स्वतः उत्क्रमण हुआ होता तो किसी निश्चित समय में निर्मित शैलों में कुछ का चुम्बकन सामान्य दिशा में और कुछ का उत्क्रमण दिशा में हुआ होता, जब कि ऐसा नहीं हुआ है। एक समय में निर्मित शैलों का चुम्बकन एक ही दिशा में (चाहे सामान्य या उत्क्रमण) हुआ है।

4.5 मिलियन वर्ष तक पुरानी शैलों का तिथि-निर्धारण करके उनकी चुम्बकीय ध्रुवता (magnetic polarity) का मापन किया गया है। इनमें सुनिश्चित काल अनुक्रम (time sequence) पाया जाता है। इस आधार पर विगत 4.5 मिलियन वर्ष तक की शैलों में



चित्र 92

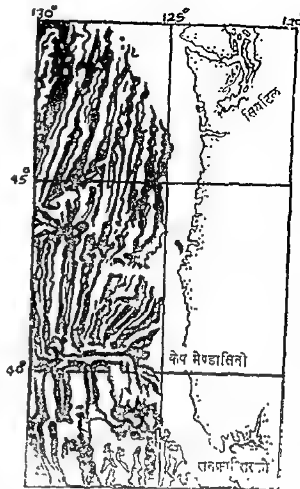
भूचुम्बकीय क्षेत्र के उत्क्रमण (*reversal*) का समय-मापक (time scale)। A Cox (1969) के अनुसार।

एक समय में निर्मित सभी शैलों में समान ध्रुवता (*same polarity*) पायी जाती है। चित्र 92 में 4.5 मिलियन वर्ष तक पृथ्वी के चुम्बकीय क्षेत्र में उत्क्रमण अथवा ध्रुवता उत्क्रमण (polarity reversals) का काल-अनुक्रम समय मापक के रूप में प्रदर्शित किया गया है। चित्र 92 से 4 प्रमुख ध्रुवता उत्क्रमण (polarity epochs) स्पष्ट होते हैं जिनका नामकरण प्रमुख विद्वानों (*Brunhes, Matuyama, Gauss and Gilbert*) के आधार पर किया गया है। दो कल्प सामान्य ध्रुवता (normal polarity—Gauss तथा Brunhes) एवं दो कल्प उत्क्रमण ध्रुवता (reverse polarity—Gilb-

ert and Matuyama) में है। घटनाओं (events जो कि लघु समय की होती है तथा एक कल्प में कई घटनाएँ होती है) का नामकरण उन स्थानों के आधार पर किया गया है जहाँ पर सर्वप्रथम अवशिष्ट चुम्बकत्व का अध्ययन किया गया था। स्मरणीय है कि चुम्बकीय क्षेत्र में उत्क्रमण (reversal) के पहले भूचुम्बकीय तीव्रता (geomagnetic intensity) में ह्रास प्रारम्भ हो जाता है तथा यह सामान्य मूल्य से घटकर एक चौथाई रह जाती है। इसके साथ ही ध्रुवों में अस्थिरता आ जाती है और वे वृहत् वृत्त (great circle) पथ के सहारे घूम कर प्रतिध्रुवस्थ (antipodal) स्थिति पर पहुँच जाते हैं (विपरीत स्थिति)। तदन्तर चुम्बकीय क्षेत्र अपनी सामान्य शक्ति को प्राप्त कर लेता है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया का कार्यान्वयन 10,000 वर्षों में होता है और ध्रुवों का वास्तविक भ्रमण 5000 वर्ष से कम अवधि में पूर्ण होता है।

सागर-नितल का प्रसरण
[Sea floor Spreading]

सागर-नितल के प्रसरण की सकल्पना का प्रतिपादन सर्वप्रथम प्रिन्स्टन विश्वविद्यालय के प्रोफेसर हैरी हेस (Harry Hess) ने 1960 में किया। हेस की सकल्पना सागर भूवैज्ञानिकों (marine geologists) तथा भू-भौतिकीविदों के प्रारम्भिक कार्यों पर आधारित थी। 1962 में मैसन (*Mason of the Scripps Institute of* Oceanography) ने प्रशान्त महासागर में चुम्बक-मापीयन्त्र (magnetometer) की सहायता से सागर-नितल की शैलों के चुम्बकत्व से सम्बन्धित महत्वपूर्ण सूचनाएँ प्राप्त की। तदन्तर इन्होंने उत्तरी अमेरिका के पश्चिमी तट (मेक्सिको से ब्रिटिश कोलम्बिया तक) के सहारे प्रशान्त महासागर के नितल का सर्वेक्षण किया। सर्वेक्षण के दौरान चुम्बकीय विसंगति (magnetic anomalies) के आँकड़ों को एक चार्ट पर जब प्रदर्शित किया गया तो उत्तर-दक्षिण दिशा में लम्बी पट्टियों (stripes) का स्पष्ट प्रारूप सामने आया (चित्र 93)। इन आधारों पर हेस ने प्रतिपादित किया कि **मध्य महासागरीय कटक** मैण्टिल से उठने वाली सवहन तरंगों के ऊपर स्थित हैं। इस कटक के सहारे नये पदार्थों (लावा) का निर्माण होता है तथा इस तरह से नवनिर्मित क्रस्ट कटक के दोनों ओर सरकती जाती है। इस प्रकार हेस के अनुसार सागर-नितल में प्रसार होता है (मध्य



चित्र 93

उत्तरी अमेरिका के सियाटिल तथा सनफ्रान्सिस्को नगर के मध्य पश्चिमी तट से दूर प्रशान्त महासागरीय नितल में धनात्मक चुम्बकीय विसगति (positive magnetic anomalies) का प्रारूप (pattern, धारीदार प्रारूप)।

महासागरीय कटक के सहारे) तथा महासागरीय खड्ड के सहारे क्रस्ट का विनाश होता है।

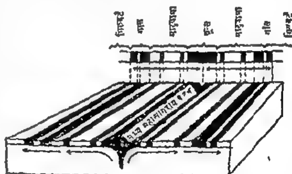
1963 में वाइन तथा मैथ्यू (F J Vine and Mattheus) ने हिन्द महासागर में कार्ल्सबर्ग कटक (Carlsberg ridge) के मध्यवर्ती भाग का चुम्बकीय *सर्वेक्षण किया तथा सामान्य चुम्बकन की अवधारणा* के आधार पर चुम्बकीय परिच्छेदिका का परिकलन किया। जब इस परिच्छेदिका की तुलना सर्वेक्षण के समय प्राप्त विवरण के आधार पर तैयार की गई चुम्बकीय विसंगति

परिच्छेदिका से की गई तो दोनो मे पर्याप्त अन्तर पाया गया । कटक के दोनो ओर बेसाल्ट क्रस्ट को 20 किमी॰ चौड़ी पट्टियों मे विभक्त करके, जिनमे सामान्य तथा उत्क्रमण चुम्बकन (normal and reverse magnetization) एकान्तर रूप मे माना गया (और ऐसा होता भी है), चुम्बकीय परिच्छेदिका का परिकलन किया गया तो इसमे और पर्यवेक्षित परिच्छेदिका (Observed profile) मे पूर्ण सामन्जस्य पाया गया । डोट्ज तथा हेस (*Deitz and Hess*) की *सागर-नितल-प्रसरण-संकल्पना* एव पृथ्वी के चुम्बकीय क्षेत्र मे सामयिक उत्क्रमण के साक्ष्यो के आधार पर वाइन तथा मैथ्यू ने बताया कि मध्य महासागरीय कटक के सहारे बेसाल्ट की परत का निर्माण यदि ऊपर उठती सवहन तरग के द्वारा होता है तो जिस समय लावा सगठित होता है उसी समय उसका चुम्बकन पृथ्वी के मुख्य चुम्बकत्व क्षेत्र की दिशा मे ही होता है और कटक के दोनो ओर चुम्बकीय विसगति का प्रारूप धारीदार (एकान्तर रूप मे) हो जाता है । और स्पष्टीकरण के लिये व्यक्त किया जा सकता है कि जब महासागरीय कटक के सहारे नये लावा का उद्वेलन होता है तो वह प्रारम्भिक बेसाल्ट परत को दो बराबर भागो मे विभक्त कर देता है तथा ये दोनो भाग कटक के दोनो ओर क्षैतिज रूप मे सरक जाते हैं । काक्स, डोयल, डलरिम्पल (Cox, Doell and Dalrymple) के 1964, Opdyke (1966) तथा (Heirtzler) (1966) आदि के द्वारा विभिन्न क्षेत्रो मे अध्ययन के बाद यह सत्यापित हो गया कि (i) पृथ्वी के मुख्य चुम्बकत्व क्षेत्र मे उत्क्रमण होता है, (ii) मध्य महासागरीय कटक के दोनो ओर सामान्य एव उत्क्रमण चुम्बकीय विसंगति एकान्तर (alternate) रूप मे पायी जाती है, *(iii) कटक के दोनो ओर चुम्बकीय विसगतियो मे पूर्ण* समरूपता (Symmetry) पायी जाती है तथा (iv) बेसाल्ट शैल या अवसादी शैल के चुम्बकन के आधार पर 4 5 मिलियन वर्षों के लिए परिकलित पुराचुम्बकीय कल्प एव घटनाओ के समय अनुक्रम (time sequence of palaeomagnetic epochs and events) मे सामन्जस्य पाया जाता है । चित्र 94 मे मध्य महासागरीय कटक के दोनो ओर चुम्बकीय पट्टियों (magnetic stripes) के जनन को स्पष्ट किया गया है । साथ मे उनके निर्माण के समय मापक को भी दर्शाया गया है । चित्र 93 तथा 94 को देखने से चुम्बकीय क्षेत्र के उत्क्रमण का एक ही प्रारूप सामने आता है ।

उपर्युक्त आधारो पर यह सत्यापित होता है कि सागर नितल मे प्रसरण होता है, मध्य महासागरीय कटक के सहारे नयी बेसाल्ट परत का निर्माण होता है । वह दो बराबर भागो मे विभक्त होकर महाद्वीपीय किनारो की ओर (कटक से दूर होती है) सरकती जाती है । कटक के दोनो ओर धनात्मक एवं ऋणात्मक चुम्बकीय विसंगतियां (positive and negative magnetic anomalies) पायी जाती है जो कि भूचुम्बकीय क्षेत्र के सामान्य परिवर्तन के कारण बनती है । सामान्य भू-चुम्बकीय विसंगति क्षेत्र के समय निर्मित शैल मे धनात्मक चुम्बकीय विसंगति होगी तथा चुम्बकीय क्षेत्र के उत्क्रमण (reverse polarity) के समय ऋणात्मक विसंगति होगी ।

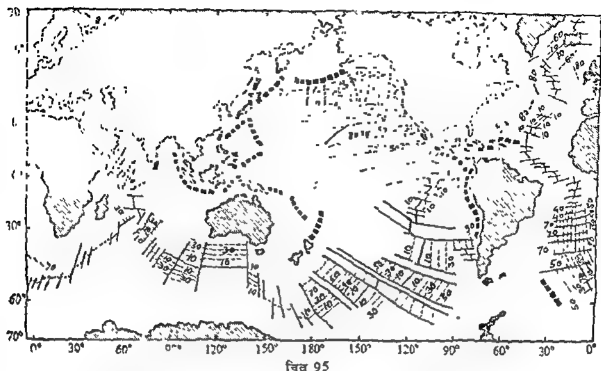
इन तथ्यो के आधार पर चुम्बकीय पट्टियो (magnetic stripes) की आयु का निर्धारण, सागर-नितल के प्रसरण की दर तथा विभिन्न महाद्वीपो के प्रवाह का समय परिकलित किया जा सकता है ।

4 5 मिलियन वर्षो तक निर्मित चुम्बकीय पट्टियो का तिथि निर्धारण प्रत्यक्ष रूप से (सर्वेक्षण के दौरान प्राप्त विवरणो के आधार पर) कर लिया गया है । Heirtzler ने 1968 मे अलग-अलग महासागरीय नितल के स्थिर



चित्र 94

वाइन तथा मैथ्यूज (Vaine and Mattheus) की सकल्पना के अनुसार मध्य महासागरीय कटक के दोनो ओर चुम्बकीय पट्टियो (magnetic stripes) के निर्माण का ब्लाक डायग्राम द्वारा प्रदर्शन । मध्य सागरीय कटक के नीचे से मैगमा का ऊपर की ओर उद्वेलन होता है । यह मैगमा बराबर मात्रा मे कटक के दोनो ओर सरकता जाता है । इस तरह समानान्तर चुम्बकीय पट्टियो (मैगमा के शीतल होते ही उसमे चुम्बकत्व हो जाता है) का निर्माण होता है । इन पट्टियो के निर्माण-काल का नामाकन प्रमुख विद्वानो के नाम के आधार पर किया गया है ।



चित्र 95

— समकालिक रेखा मानचित्र (isochron map) । Heritzler आदि ने 1968 में इस मानचित्र की रचना चुम्बकीय पट्टियों (magnetic stripes) के आधार पर यह मानकर किया कि महासागर-नितल का प्रसरण समान दर से होता है (स्मरणीय है कि विभिन्न सागरीय-नितल की प्रसरण दर अलग-अलग होती है परन्तु एक महासागर-नितल की प्रसरण दर समान मान ली गयी है—विभिन्न समयों में)। बिन्दुदार रेखाओं (समकालिक रेखायें) पर अंकित संख्यायें 10 मिलियन वर्ष के अन्तराल को प्रदर्शित करती हैं। जो काली रेखायें समकालिक रेखाओं के समानान्तर हैं वे मध्य महासागरीय कटक को प्रदर्शित करती हैं। जो रेखायें समकालिक रेखाओं का परिच्छेदन करती हैं वे रूपान्तर भ्रंश (transform faults) को प्रदर्शित करती हैं। मोटी टूटी वाली रेखायें सागरीय खड्ड (ocean trenches) को प्रदर्शित करती हैं।

प्रसरण (अनुमानित) के आधार पर इन चुम्बकीय पट्टियों का 75 मिलियन वर्ष तक का समय-मापक तैयार किया है। तत्पश्चात् सभी महासागरों के लिए समकालिक रेखा (Isochrons, वह रेखा जो समान तिथि के बिन्दुओं को मिलाती है) का निर्माण 10 मिलियन वर्षों के अन्तराल पर किया गया (चित्र 95 में)। 10 मिलियन वर्ष की समकालिक रेखा मध्य महासागरी भ्रंश को प्रदर्शित करती है। इसी तरह प्रत्येक समकालिक रेखा पर अंकित अंक उतना मिलियन वर्ष पूर्व का समय प्रदर्शित करता है। सागर-नितल के प्रसरण की दर का परिकलन दो आधारों पर किया जाता है—(i) समकालिक रेखा की आयु तथा (ii) उनके बीच की दूरी। इस आधार पर गणना करके विभिन्न महासागरों के प्रसरण की दर ज्ञात की गई है। अटलाण्टिक तथा हिन्द महासागर सबसे मंद गति (1 से 1.5 सेण्टीमीटर प्रतिवर्ष) से फैलते हैं जबकि प्रशान्त महासागर के प्रसरण की दर (6 सेण्टीमीटर प्रतिवर्ष) सबसे अधिक है। ज्ञातव्य है कि महासागर के प्रसरण की दर आधी होती है। पूर्ण प्रसरण के लिये व्यक्त की गई दर को दोगुना करना होता है। कटक के दोनों ओर समान दर से प्रसरण होता है, यदि प्रसरण की दर एक सेण्टीमीटर प्रतिवर्ष व्यक्त की जाती है तो इसका तात्पर्य कटक के एक ही तरफ का प्रसरण होता है। पूर्ण प्रसरण एक+एक=2 सेण्टीमीटर होगा। अभिनव अध्ययन के आधार पर तीनों महासागरों के प्रसरण की दर का परिकलन किया गया है—प्रशान्त महासागर में सर्वाधिक प्रसरण दर पूर्वी प्रशान्त कटक के सहारे भूमध्य रेखा तथा 30° द० अक्षांश के मध्य 6 से 9 सेण्टीमीटर प्रतिवर्ष, दक्षिणी अटलाण्टिक कटक

के सहारे 2 सेण्टीमीटर प्रतिवर्ष तथा हिन्द महासागर मे 1.5 से 3 सेण्टीमीटर प्रतिवर्ष (ये सभी आकडे आधे हैं) है।

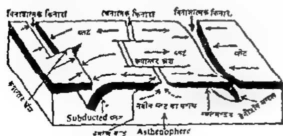
प्लेट-विवर्तन सिद्धान्त

सामान्य परिचय—भूतल का बाह्य भाग आन्तरिक रूप से दृढ है परन्तु अपेक्षाकृत पतला है। ऐसे भाग को प्लेट कहा जाता है। इसकी मोटाई 100 से 150 किमी० बतायी जाती है। जिसके अन्तर्गत क्रस्ट तथा ऊपरी मैण्टिल के ऊपरी भाग को सम्मिलित करते है। प्लेट की संख्या के विषय मे मतान्तर है परन्तु मार्गन (W. J Morgan 1968) के अनुसार 6 प्रमुख प्लेट (युरेशियन प्लेट, भारतीय प्लेट, अफ्रीकन प्लेट, अमेरिकन प्लेट, प्रशान्त महासागरीय प्लेट आदि) तथा अन्य गौण प्लेट हैं। ये प्लेट सतत गतिशील है। ये एक दूसरे के सम्बन्ध मे तथा पृथ्वी की परिभ्रमण अक्षरेखा के सम्बन्ध मे गतिशील होते है। प्रत्येक प्लेट अपने **घूर्णन ध्रुव** (Pole of rotation) के चारो ओर वृत्ताकार मार्ग मे भ्रमण करता है। कभी एक प्लेट अपने समीपस्थ प्लेट से दूर होता जाता है, दूसरे के करीब आता है, आदि। सारी विवर्तनिक घटनायें प्लेट के किनारे पर घटित होती है, अतः प्लेट के किनारे इस दृष्टिकोण से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। चित्र 96 मे प्लेट माडल तथा 97 मे प्लेट की स्थितियो को दर्शाया गया है।

प्लेट-किनारे (Plate Margins)

प्लेट के किनारो को तीन प्रकारो मे विभक्त किया जाता है।

(i) **रचनात्मक किनारा** (Constructive Plate Margin)—जिस सीमा के सहारे दो प्लेट एक दूसरे से



चित्र 96

प्लेट—मॉडल। प्लेट—किनारे का प्रदर्शन।

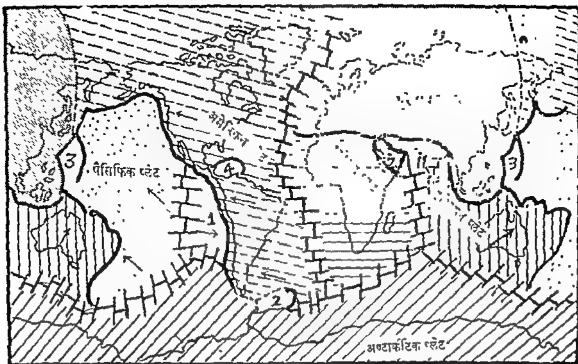
विपरीत दिशा में गतिशील होते है उसे **विसर्पण** (spreading) **केन्द्र** कहते हैं। इस सीमा के सहारे पृथ्वी अगाध मे तप्त एव तरल मैगमा ऊपर आता है तथा ठोस नयी क्रस्ट का निर्माण करता है। इस तरह की घटनायें मध्य महासागरीय कटक के सहारे घटित होती है। इस तरह दो प्लेट के बीच नवीन पदार्थ तथा क्रस्ट का सृजन होता है, अतः इनके किनारो को **रचनात्मक किनारा** कहते हैं।

(ii) **विनाशात्मक किनारा** (Destructive Plate Morgin)—जहाँ पर दो प्लेट आपस मे टकराते हैं तो उनके किनारो को **विनाशात्मक किनारा** कहते है क्योंकि जिस प्लेट की रचना भारी पदार्थ से हुई रहती है उसका किनारा मुडकर दूसरे प्लेट के नीचे की ओर चला जाता है जहाँ पर वह नष्ट होकर गहराई मे विलीन हो जाता है। इस तरह जितनी नयी क्रस्ट का **रचनात्मक प्लेट-किनारे** के सहारे निर्माण होता है उतना भाग विनाशात्मक प्लेट किनारे के सहारे नष्ट हो जाता है ताकि पृथ्वी का आकार समवत रहे। इस तरह से पदार्थों का विलयन चार स्थितियों मे होता है—(i) महासागरीय खड्ड के सहारे महासागरीय क्रस्ट **बेनी आफ** (Benioff) मण्डल के सहारे मुडकर मैण्टिल मे विलीन हो जाती है, (ii) जहाँ पर महाद्वीपीय क्रस्ट का दूसरे महाद्वीपीय क्रस्ट के नीचे क्षेपण (underthrusting) होता है, (iii) जहाँ पर महाद्वीपीय क्रस्ट का महाद्वीपीय क्रस्ट के नीचे क्षेपण होता है तथा (iv) जहाँ पर महाद्वीपीय क्रस्ट वलन द्वारा सकरी होती जाती है,

(iii) **संरक्षी किनारा** (Conservative Plate Margin)—जहाँ पर दो प्लेट एक दूसरे के अगल-बगल सरक जाते हैं और उनमे आपसी अन्तर्क्रिया नही हो पाती है वहाँ पर Transform भ्रंश का निर्माण होता है। ऐसे किनारो को सरक्षी किनारा इसलिए कहते है कि इनके सहारे न तो नये पदार्थों का निर्माण होता है और न ही पदार्थों का विनाश होता है। चित्र 97 मे प्लेट किनारो को प्रदर्शित किया गया है। इस तरह की स्थिति मध्य महासागरीय कटक के पास होती है।

प्लेट-गति (Plate Motion)

ज्ञातव्य है कि सभी प्लेट एक दूसरे के सम्बन्ध मे सतत गतिमान रहते है। अर्थात् प्लेट मे जो गतियाँ होती है वे एक दूसरे से सम्बन्धित होती है। जब भी किसी प्लेट की गति या दिशा मे परिवर्तन होता है तो दूसरे प्लेट मे अन्यत्र परिवर्तन (गति तथा दिशा सम्बन्धी) होता ही है। यदि प्लेट दृढ भाग हैं तथा गोलीय पृथ्वी (spherical earth) की सतह पर गतिशील होते है तो उनकी गतियों की आयलर ज्यामितीय



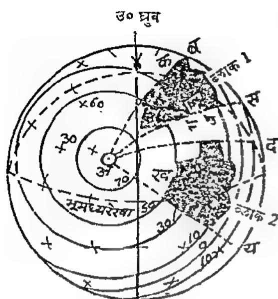
चित्र 97

प्लेट का विश्व-वितरण तथा प्लेट किनारों के प्रकार। छः प्रमुख प्लेटों के नाम मानचित्र पर अंकित हैं। शेष प्लेट को संख्याओं द्वारा प्रदर्शित किया गया है—1. पूर्वी प्रशान्त महासागरीय प्लेट या नस्का (Nasca) प्लेट 2. स्कोटिया (Scotia) प्लेट, 3. फिलीपाइन प्लेट, 4 कैरेबियन प्लेट तथा 5 अरेबियन प्लेट।

सिद्धान्त (Euler s geometrial theorem) के आधार पर व्याख्या की जा सकती है।

आयलर-सिद्धान्त के अनुसार गोले (sphere) की सतह पर किसी प्लेट की गति एक सामान्य घूर्णन (simple rotation) के रूप में होती है जो कि एक घूर्णन अक्ष के सहारे सम्पादित होती है। यह घूर्णन अक्ष गोले के केन्द्र से होकर गुजरती है। चित्र 98 में एक गोले के ऊपर दो भागों की स्थिति दिखाई गई है। अ घूर्णन अक्ष का केन्द्र है। जब प्लेट गतिशील होता है तो उसके सभी भाग घूर्णन-अक्ष के सहारे लघु चक्रीय मार्ग (small circle path) के सहारे गतिशील होते हैं। स्मरणीय है कि सरकी प्लेट का किनारा लघु वृत्त के समानान्तर होता है। इसके विपरीत जिस प्लेट का किनारा इस लघु वृत्त के समानान्तर नहीं होता है वह या तो **रचनात्मक किनारा** होता है या **विनाशात्मक किनारा**। चित्र 98 के अनुसार गोलीय पृथ्वी पर अ ब य धरातलीय भाग हैं जो 'अ ब स तथा अ द स दो भागों में विभक्त होता है। इन दोनों भागों का सम्पर्क स्थल अ है जो कि घूर्णन-अक्ष का केन्द्र भी है। घूर्णन-अक्ष केन्द्र (अ) के चारों ओर लघु वृत्त मार्ग (मोटी काली रेखायें) है। भौगोलिक अक्षांश तथा देशान्तर को बिन्दुदार रेखाओं द्वारा प्रदर्शित किया गया है। इन्हीं मार्गों के समानान्तर प्लेट की गति होती है। घूर्णन ध्रुव (pole of rotation) अर्थात् अ के पास प्लेट की गति शून्य होती है तथा उससे दूर जाने पर बढ़ती जाती है। यदि क, ख भाग टूट कर अलग होते हैं तो लघु वृत्त के सहारे गतिशील होंगे। क प्लेट के प फ तथा ब म भाग प्लेट के उन किनारों को प्रदर्शित करते हैं जो लघु वृत्त के समानान्तर हैं। प्लेट गति के समय इन किनारों में न तो सम्वर्धन होता है और न ही विनाश। अतः ये किनारे सरकी होते हैं।

आयलर-सिद्धान्त के अनुसार प्लेट के रचनात्मक एवं विनाशात्मक किनारे के सापेक्षिक सचलन का वेग (velocity) उसके घूर्णन अक्ष के सहारे कोणिक वेग

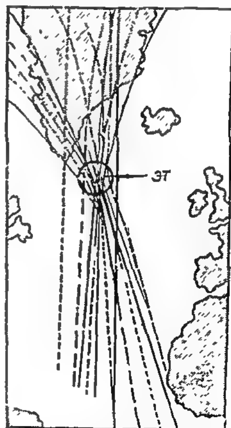


चित्र 98

[illegible] सिद्धान्त के अनुसार प्लेट (आयलर के ज्यामितीय सिद्धान्त के आधार पर) में गति का प्रदर्शन। पृथ्वी-सतह का अ ब य भाग टूटकर दो खण्डों अ ब स तथा अ द य में विभक्त होता है परन्तु उनका सम्पर्क अ बिन्दु पर बना रहता है। (देखिये पुस्तक का पाठ)

(angular velocity) तथा घूर्णन अक्ष से प्लेट किनारे के बिन्दु की कोणिक दूरी के समानुपातिक होता है। इससे स्पष्ट होता कि रचनात्मक एवं विनाशात्मक प्लेट किनारों की गति के मे पर्याप्त अन्तर होता है। यह वेग, जैसा कि पहले व्यक्त किया गया है, उच्च घूर्णन अक्षांश (लघु वृत्त अ) पर न्यूनतम होता है तथा निम्न घूर्णन-अक्षांश पर अधिकतम होता है। स्मरणीय है कि इन घूर्णन-अक्षांशों को भौगोलिक अक्षांशों से अलग समझना चाहिए।

W. J. Morgan ने आयलर-सिद्धांत के आधार पर भूमध्यरेखीय अटलाण्टिक के प्रसरण तथा प्लेट संचलन की व्याख्या करने का प्रयास किया है। चित्र 99 में मार्गन के विचारों को स्पष्ट किया गया है। मध्य अटलाण्टिक कटक के दोनों ओर का भाग रूपान्तर भ्रंश (transform faults) के द्वारा विपरीत दिशाओं में विस्थापित होता है। ये रूपान्तर भ्रंश सरकी प्लेट किनारे को प्रदर्शित करती है। यदि प्लेट मॉडल तर्क संगत है तो मध्य अटलाण्टिक कटक के दोनों ओर ये रूपान्तर भ्रंश सह अक्षीय लघु वृत्त (co axial small circle) के ही भाग होने चाहिए। चित्र 99 में मध्य अटलाण्टिक कटक के दोनों रूपान्तर भ्रंश के नतिलम्ब (strike) के अनुरूप वृहत् वृत्त (great circles) खींचे गये हैं। प्लेट मॉडल (आयलर के सिद्धान्त के आधार पर) के अनुसार इन पर सभी वृहत् वृत्तों को एक बिन्दु पर एक दूसरे को प्रतिच्छेदित करना चाहिए और यह प्रतिच्छेदन-बिन्दु सम्भावित घूर्णन-ध्रुव होगा। चित्र 99 में एक वृहत् वृत्त को छोड़कर सारे वृहत् वृत्त अ लघु वृत्त में से होकर गुजरते हैं, जिसकी स्थिति 57 5° उ० अक्षांश तथा 36 5° प० देशान्तर पर है। इस तरह उपर्युक्त तथ्य का सत्यापन हो जाता है। स्मरणीय है कि प्लेट-संचलन के कारण पृथ्वी के सतह का क्षेत्रफल बढ़ता नहीं वरन् यथावत रहता है क्योंकि यदि कहीं सागर-नितल में प्रसरण होता है (मध्य सागरीय कटक



चित्र 99

W. J Morgan के अनुसार भूमध्य रेखीय अटलाण्टिक के प्रसरण तथा प्लेट-संचलन का प्रदर्शन (देखिये पुस्तक का पाठ)।

के पास) तो कहीं पर प्लेट किनारे का क्षेपण (subduction) भी होता है (महासागरीय खड्ड के पास)।

प्लेट में गति के कारण
(Causes of Plate Motion)

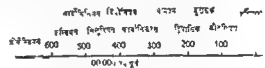
प्लेट में गति के सम्भावित कई कारणों तथा प्रक्रियाओं का उल्लेख विभिन्न लोगों द्वारा किया गया है परन्तु अभी भी कोई प्रक्रिया या कारण सर्वमान्य नहीं हो सका है क्योंकि इनका परिमाणात्मक एवं भूवैज्ञानिक आधारों पर सत्यापन नहीं हो पाया है। अधिकांश लोग पृथ्वी के अन्दर तापीय संवहन तरंग को प्लेट में गति का कारण मानते हैं। आर्थर होम्स ने लगभग 60 वर्ष पूर्व पृथ्वी के अन्दर से उठने वाली तापीय संवहन तरंगों की संकल्पना का प्रतिपादन भूपटल के विस्थापन के सन्दर्भ में किया था। तरल पदार्थ में तापीय संवहन तरंग के कार्यान्वयन का अध्ययन लार्ड रैले (Lord Rayleigh) ने सैद्धान्तिक रूप में किया। वर्तमान समय में पृथ्वी के आन्तरिक भाग में ताप क्रम तथा दबाव की स्थितियों के आधार पर तापीय संवहन तरंगों के कार्यान्वयन को कई विद्वानों ने स्वीकार किया है।

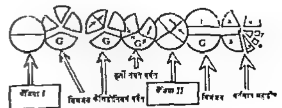
गास (I G Gass) ने क्रस्ट के नीचे मैण्टिल में अस्थिर तापीय संवहन तरंग की प्रक्रिया का सत्यापन किया है। इनके अनुसार मैंटिल की विस्कासिता या श्यानता (viscosity—लसलस पदार्थ की स्थिति) तापमान तथा दबाव पर पूर्णरूपेण आधारित होती है। जिन क्षेत्रों में अत्यधिक तापमान के कारण उपरिमुखी प्रवाह होता है वहाँ पर उपरिमुखी प्रवाह का वेग अधिक होता है क्योंकि परिचालन (conduction) द्वारा ताप-ह्रास उतना प्रभावी नहीं हो पाता है। इस प्रक्रिया के कारण दबाव में ह्रास (ऊपर की ओर) तो होता है परन्तु तापमान पर कोई खास प्रभाव नहीं हो पाता है। परिणामस्वरूप जब पदार्थ का ऊपर की ओर प्रवाह होता है तो उसकी विस्कासिता घटती जाती है जिस कारण उसका प्रवाह-वेग बढ़ता जाता है। मध्य महासागरीय कटकों के नीचे इस तरह के स्थानीय प्रवाह के आधार की गहराई का निश्चित ज्ञान तो नहीं है तथापि इसे 300-400 किमी० तक माना जाता है। इन कटकों के नीचे से गर्म पदार्थों का प्रवाह जब सतह के नीचे पहुँचता है तो वह विपरीत दिशाओं में क्षैतिज प्रवाह के रूप में अपसरित (diverge) हो जाता है। इस क्षैतिज प्रवाह का क्षेत्र 200 किमी० की गहराई तक होता है। इस तरह जहाँ पर ये गर्म पदार्थ युक्त संवहन तरंगें अपसरित होती हैं (कटक के नीचे) वहाँ पर प्लेट का संचलन विपरीत दिशाओं में प्रारम्भ हो जाता है। जहाँ पर दो क्षैतिज संवहन तरंगें मिलकर नीचे की ओर मुड़ती हैं वहाँ पर प्लेट किनारे का क्षेपण (subduction) होता है (महासागरीय खड्ड के नीचे)।

कुछ विद्वानों का मत है कि कटक के पास अतिरिक्त पदार्थों (लावा तथा मैगमा) के सृजन के कारण कटक के किनारों पर अत्यधिक गुरुत्व बल हो जाता है जिस कारण कटक से प्लेट दोनों ओर सरक जाते हैं। एक अन्य मत के अनुसार कटक के नीचे से जब मैगमा का उसमें प्रवेश होता है तो उसके कारण प्लेट कटक के अगल-बगल खिसका दिये जाते हैं।

प्लेट टेक्टनिक्स तथा महाद्वीपीय विस्थापन

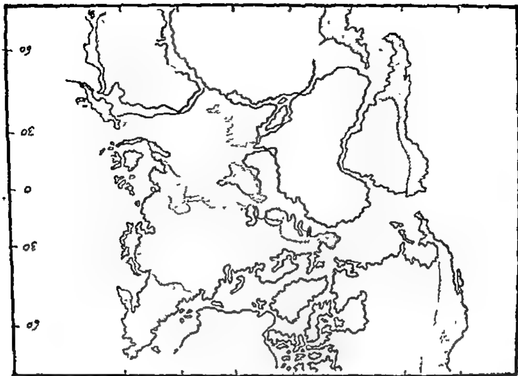
पुराचुम्बकत्व (palaeomagngnetism) एवं सागर नितल प्रसरण (sea-floor spreading) के प्रमाणों के आधार पर इस तथ्य का सत्यापन होता है कि महाद्वीप तथा महासागर स्थायी नहीं रहे हैं। महासागरों के खुलन तथा बन्द होने (opening and closing of ocean basins) के प्रमाण मिले हैं। उदाहरण के लिए रूम सागर प्रारम्भिक वृहत् महासागर का अवशिष्ट भाग है तथा प्रशान्त महासागर में निरन्तर संकुचन हो रहा है क्योंकि इसके कटक पर अमरिकन प्लेट का क्षेपण हो रहा है। इसके विपरीत विगत 200 मिलियन वर्षों से अटलांटिक महासागर का विस्तार हो रहा है। रेड सागर का खुलना भी प्रारम्भ हो गया है। उपर्युक्त





चित्र 100

वैलेन्टाइन तथा मूर्स (Valentine and Moores, 1970) के अनुसार विगत 700 मिलियन वर्षों में महाद्वीपों के संचलन का सम्भावित प्रारूप।



चित्र 101

गोण्डवानालैण्ड के विभजन के ठीक पहले प्रारम्भिक क्रीटैसियस युग मे महाद्वीपो की स्थितियाँ (स्मिथ तथा ब्रेडन के आधार पर)।

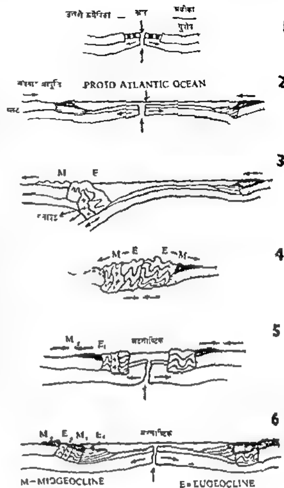
विवरण के आधार पर यह तथ्य उभरता है कि जब महासागर खुलता है अर्थात् उसमे विस्तार होता है तो महाद्वीपीय भाग एक दूसरे से दूर विस्थापित होते हैं और जब महासागर बन्द होने लगते हैं तो महाद्वीपीय भाग एक दूसरे के करीब आने लगते है।

पुराचुम्बकत्व तथा सागर-नितल प्रसरण के प्रमाणो के आधार पर विगत 200 मिलियन वर्षों के घटनाक्रम का ही ज्ञान भली-भांति मिल पाता है परन्तु प्लेट विवर्तन सिद्धान्त की सामान्य प्रक्रिया के आधार पर उसके पहले की घटनाओ तथा उनके इतिहास की पुनर्रचना की जा सकती है। वैलेनटाइन तथा मूर्स (Valentine and Moores, 1970 in Hallam, 1973) ने महाद्वीप तथा महासागरो के प्रारम्भ से आज तक के इतिहास की पुनर्रचना का प्रयास किया है (चित्र 100)। लगभग 700 मिलियन वर्ष पूर्व सारे महाद्वीप एक वृहद् स्थल पिण्ड के रूप मे सलग्न थे जिसे **प्रथम पैंजिया** नाम दिया गया है। लगभग 600-500 मिलियन वर्ष पूर्व (कैम्ब्रियन) प्रथम पैंजिया का विभजन हुआ। प्लेट-गति के कारण सारे स्थल खण्ड पुन **द्वितीय पैंजिया** के रूप मे (300-200 मिलियन वर्ष) आपस मे सलग्न हो गये। हालम (A. Hallam) के अनुसार द्वितीय पैंजिया का विभजन प्रारम्भिक जुरैसिक युग में प्रारम्भ हुआ तथा उ० प० अफ्रीका उत्तरी अमेरिका से प्रवाहित होकर दूर जाने लगा (चित्र 101)। सागर नितल-प्रसरण मण्डल (zone of sea-floor spreading) निरन्तर उत्तर तथा दक्षिण की ओर बढता गया। द० अमेरिका तथा अफ्रीका का अलगाव मध्य क्रीटैसियस युग मे हुआ। इसी समय यूरोप तथा उ० अमेरिका एक दूसरे से दूर हटने लगे।

उत्तरी अटलाण्टिक का खुलना कई प्रावस्थाओ (phases) मे सम्पन्न हुआ है। उत्तरी अमेरिका से अफ्रीका के अलगाव के बाद यूरोप तथा ग्रीनलैण्ड लेब्राडोर से टूट कर अलग हो गये (अन्तिम क्रीटैसियस युग मे, 80 मिलियन वर्ष पूर्व)। इस तरह **लेब्राडोर सागर** का निर्माण हुआ। यह नवनिर्मित सागर अटलाण्टिक महासागर के उत्तरी प्रसार के रूप मे कुछ समय

तक बना रहा । टर्शियरी युग के प्रारम्भ में लगभग 60 मिलियन वर्ष पूर्व रॉकाल पठार (Rockall plateau) ग्रीनलैण्ड से टूटकर अलग हो गया। मध्य इयोसीन युग तक यूरोप तथा ग्रीनलैण्ड के मध्य उत्तरी अटलाण्टिक एवं लेब्राडोर सागर का विस्तार होता रहा क्योंकि युरोपियन प्लेट का पूर्व की ओर एवं उत्तरी अमेरिकन प्लेट का पश्चिम की ओर प्रवाह जारी रहा । मध्य मायोसीन युग में लगभग 47 मिलियन वर्ष पूर्व लेब्राडोर सागर का प्रसरण स्थगित हो गया परन्तु उत्तरी अटलाण्टिक का प्रसरण जारी रहा ।

हिन्द महासागर का अस्तित्व क्रीटैसियस युग के पहले नहीं था । इस युग के अन्तिम चरण में भारतीय प्लेट उत्तर की ओर अर्थात् टेथीज सागर से होकर एशियाटिक प्लेट की ओर अग्रसर होने लगा तथा आस्ट्रेलिया-अण्टार्कटिक प्लेट अफ्रीकन प्लेट से अलग हो गये । मैकेन्जी तथा स्क्लेटर (Dan Mckenzie and John Sclater) ने चुम्बकीय विसंगति (Magnetic anomaly) के आधार पर हिन्द महासागर के विकास का विवरण उपस्थित किया है । इनके अनुसार पाच घूर्णन-ध्रुव (Polles of rotation) के साक्ष्य के आधार पर ही अण्टार्कटिका एवं भारत के बीच गति की व्याख्या की जा सकती है । भारत का उत्तर की ओर प्रवाह 18 सेण्टीमीटर प्रतिवर्ष की गति से टर्शियरी के प्राथमिक चरण मे सम्पन्न हुआ माना गया है। इयोसीन युग में यह प्रवाह स्थगित हो गया । इसी समय अण्टार्कटिका का आस्ट्रेलिया से अलगाव हो गया । इस तरह अटलाण्टिक तथा हिन्द महासागर के प्रसार के कारण प्रशान्त महासागर में संकुचन प्रारम्भ हुआ और वह आज भी जारी है । चित्र 102 में अटलाण्टिक महासागर के 700 मिलियन वर्ष तक के इतिहास को प्रदर्शित किया गया है । लगभग 700 मिलियन वर्ष पूर्व (प्रथम पंजिया की स्थिति) अटलाण्टिक के खुलने की प्रथम अवस्था प्रारम्भ हुई जिस समय उत्तरी अमेरिकन प्लेट तथा अफ्रीका-युरोप प्लेट में विपरीत दिशाओं में गति हुई । 400 मिलियन वर्ष पूर्व अटलाण्टिक बन्द होने लगा तथा अप्लेशियन का निर्माण प्रारम्भ हुआ । 300 मिलियन वर्ष पूर्व अटलाण्टिक पूर्णतया बन्द हो गया तथा अप्लेशियन एवं हर्सीनियन पर्वतों का निर्माण पूर्ण हो गया । 150 मिलियन वर्ष पूर्व अटलाण्टिक का पुन खुलना (द्वितीय पंजिया की स्थिति) प्रारम्भ हो गया और वह आज भी जारी है। इस



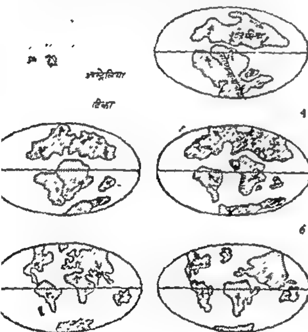
चित्र 102

विगत 700 मिलियन वर्षों में अटलाण्टिक महासागर का इतिहास । (1) 700 मिलयन वर्ष पूर्व-नयी महासागरीय बेसिन का निर्माण, (2) 500 मिलियन वर्ष पूर्व-किनारों पर Miogeocline तथा Eugeocline का निक्षेप, (3) 400 मिलियन वर्ष पूर्व-यूरेशियन तथा अमेरिकन प्लेट के आपस की ओर गतिशील होने के कारण अटलाण्टिक का बन्द होना तथा अप्लेशियन का निर्माण, (4) 300 मिलियन वर्ष पूर्व-अटलाण्टिक महासागर पूर्णतया बन्द हो गया । उ० अमेरिका के अप्लेशियन तथा यूरोप के हर्सीनियन पर्वतों का निर्माण पूर्ण, (5) 150 मिलियन वर्ष पूर्व-प्लेट-भ्रमण के कारण अटलाण्टिक महासागर का पुन खुलना तथा (6) वर्तमान स्थिति, नयी भूसन्नति का निर्माण प्रारम्भ ।

आधार पर महाद्वीपों के आगामी भ्रमण के विषय में भविष्यवाणी की जा सकती है । पिछले 200 मिलियन

वर्षो मे अटलाण्टिक महासागर लगातार खुलता (विस्तृत) जा रहा है जबकि प्रशान्त महासागर अमेरिकन प्लेट के गतिशील होने के कारण सकुचित होता जा रहा है। चित्र 103 मे आगामी 50 मिलियन वर्षो तक महाद्वीपो *तथा महासागरो की सम्भावित स्थिति का प्रदर्शन किया* गया है। निम्न उदाहरणो मे महाद्वीपीय विस्थापन सागर-नितल प्रसरण तथा सागरीय सकुचन की प्रवृत्तियो को व्यक्त किया जा सकता है—

लाल सागर एवं अदन की खाडी—लाल सागर एक अक्षीय द्रोणी (axial trough) का उदाहरण है जो अफ्रीका एव अरब के बीच स्थित है। इस क्षेत्र मे सर्वेक्षण के दौरान चुम्बकीय विसगति (magnetic anomaly)



चित्र 103

प्लेट टेक्टानिक सिद्धान्त के अनुसार ट्रियासिक युग से वर्तमान समय तक महाद्वीपो का भ्रमण तथा आगामी 50 मिलियन वर्षों मे सम्भावित प्रारूप (Dietz and Holden, in J. T. Wilson. 1973, के आधार पर) 1. ट्रियासिक युग—200 मिलियन वर्ष पूर्व, 2. अंतिम ट्रियासिक 180 मिलियन वर्ष पूर्व, 3 अन्तिम जुरैसिक-135 मिलियन वर्ष पूर्व, 4 अन्तिम क्रीटैसियस—65 मिलियन वर्ष पूर्व, 5. वर्त्तमान स्थिति तथा 6 आगामी 50 मिलियन वर्षों मे सम्भावित स्थिति।

का निर्धारण किया गया है। यह चुम्बकीय विसंगति पट्टी के रूप मे रैखिक प्रणाली मे है (A. W Girdler के अनुसार) तथा इसका प्रारूप महासागरीय नितल की चुम्बकीय विसगति के ही अनुरूप है। इस चुम्बकीय विसगति के आँकडो (Drake, Girdler तथा Allan आदि द्वारा अंकित) के आधार पर **वाइन** (F. J. Vine) ने *1966* मे लालसागर के प्रसरण की दर का परिकलन किया है। इनके अनुसार विगत 3-4 मिलियन वर्षो मे प्रति वर्ष एक सेण्टीमीटर की दर से (स्मरणीय है कि यह दर कटक के एक ओर की ही होगी है, कुछ प्रसरण दर 2 सेण्टीमीटर होगी) प्रसरण हो रहा है। अलन तथा मोरेली (Allen and Morelli) ने 1969 मे प्रसरण-दर 1 1 सेण्टीमीटर (कुल प्रसरण 2 2 सेण्टीमीटर) प्रतिवर्ष परिकलित की है। इसी तरह अदन की खाडी मे पट्टीदार चुम्बकीय विसंगति (stripped *magnetic anomaly) के आधार पर 1.8 से 2 2* सेण्टीमीटर प्रतिवर्ष की सकल प्रसरण दर (मध्य रेखा के एक ओर 0 9 से 1 1 सेण्टीमीटर प्रतिवर्ष) का परिकलन किया गया है।

लालसागर तथा अदन की खाडी के दोनो ओर महाद्वीपीय भाग (अफ्रीका तथा अरब) के बाहर की ओर गतिशील होने के लिए घूर्णन के दो ध्रुव की आवश्यकता होगी। इस तरह यह क्षेत्र तीन प्लेट (न्यूबियन प्लेट, सोमाली प्लेट एव अरेबियन प्लेट) का मिलन क्षेत्र है। अफ्रीका की ओर का भाग दो स्वतत्र प्लेट (Nubian तथा Somali) का बना है तथा इन दोनों का अलगाव इथियोपियन भ्रश द्वारा होता है। *चित्र 104 मे लालसागर, अदन की खाडी, प्लेट एवं घूर्णन ध्रुव को दिखाया गया है।*

कैलिफोर्निया की खाडी—प्रशान्त महासागर एक क्षीयमाण *(Waning) महासागर है* जिसके विस्तार मे निरन्तर ह्रास हो रहा है क्योंकि अमेरिकन प्लेट का इस पर लगातार अतिक्रमण हो रहा है। प्रारम्भ मे अटलाण्टिक महासागर मे मध्य अटलाण्टिक कटक के समान ही प्रशान्त महासागर मे मध्य कटक रहा होगा जिसकी स्थिति प्रशान्त महासागर के मध्य रही होगी परन्तु प्लेट के सचलन के कारण अब उसमे विरूपण हो गया है। कैलिफोर्निया की खाडी से चुम्बकीय सर्वेक्षण के समय धारीदार चुम्बकीय विसगति (stripped magnetic anomaly) की स्थिति का सत्यापन हुआ है। इससे दो तथ्य प्रमाणित होते हैं—**पूर्वी प्रशान्त उभार** (East

चित्र 104
लाल सागर तथा अदन की खाड़ी के खुलने (प्रसरण) के कारण अफ्रीका तथा अरब के अलगाव का प्रदर्शन। अ तथा ब परिभ्रमण ध्रुव (poles of rotation) को प्रदर्शित करते है।

Paicfic Rise) की स्थिति कैलिफोर्निया की खाडी मे भी है तथा इस उभार मे विगत चार मिलियन वर्षो मे प्रसरण हो रहा है। बाजा (Baja) कैलिफोर्निया का प्रायद्वीप पहले उत्तरी अमेरिका के मुख्य भाग से सलग्न था परन्तु बाद मे सागर नितल के प्रसरण के कारण उससे अलग हो गया (चित्र 105)। यहां पर एक समस्या सामने आती है। यदि कैलिफोर्निया की खाडी मे पूर्वी प्रशान्त महासागरीय उभार की स्थिति है तो खाडी के शीर्ष के आगे उसका क्या हुआ है? कुछ विद्वानो का मत है कि सन एण्ड्रियास भ्रंश के कारण यह उभार उ० प० की ओर विस्थापित हो गया जो आज जुआन डी फ्यूका (Juan de Fuca) कटक के रूप मे विद्यमान है।

प्लेट टेक्टानिक्स एव पर्वत निर्माण

प्लेट विवर्तन सिद्धान्त के अनुसार जहां पर दो प्लेट आपस मे टकराते है तथा एक प्लेट के किनारे का दूसरे प्लेट के किनारे के नीचे क्षेपण (subduction) होता है वहां पर पर्वतो का निर्माण होता है। स्पष्ट है कि पर्वतो का निर्माण विनाशात्मक प्लेट किनारे (destructive plate margins) के सहारे होता है। यह प्रारम्भ मे भी व्यक्त किया जा चुका है कि कही पर

चित्र 105
पूर्वी प्रशान्त महासागरीय उभार (Rise) के कैलिफोर्निया की खाडी म अविच्छिन्नता (Continuity) का प्रदर्शन। खाडी के शीर्ष पर उभार (Rise) का सन एण्ड्रियास भ्रंश द्वारा क्रमभग हो जाता है। यही उभार आगे पुन Gorda तथा Juan de Fuca Ridge के रूप मे प्रकट होता है।

(मध्य महासागरीय कटक के सहारे) नयी क्रस्ट का सृजन होता है तो कही पर उसका (अगाध महासागरी खड्ड तथा जहां पर दो प्लेट टकराते है) क्षय भी होता है। इस प्रकार दोनो प्रक्रियाओ (नवीन क्रस्ट का सृजन तथा उसका क्षय) मे सतुलन बना रहता है ताकि पृथ्वी की सतह मे विस्तार या सकुचन नहीं हो पाता है। जहां पर दो प्लेट का टकराव होता है और एक प्लेट का अग्रणी (leading) किनारा सागरीय क्रस्ट का

तथा दूसरे प्लेट का अग्रगी किनारा महाद्वीपीय क्रस्ट का होता है तो वहां पर क्रस्ट का सर्वाधिक क्षय (consumption) होता है क्योंकि महासागरी क्रस्ट का महाद्वीपीय क्रस्ट के नीचे क्षेपण (thrusting or subduction) होता है। इस तरह क्षेपित क्रस्ट नीचे मैण्टिल तक पहुँच जाती है तथा वहाँ पिघलकर पृथ्वी के गर्भ में विलीन हो जाती है। स्मरणीय है कि नवीन क्रस्ट के सृजन तथा उसके क्षय की दर सभी प्लेट में समान नहीं होती है। कहीं पर नवीन क्रस्ट के निर्माण से प्लेट के आकार में वृद्धि होती है क्योंकि उसके क्षय की दर कम होती है। इसकी आपूर्ति कहीं और हो जाती है जहाँ पर प्लेट में नवीन क्रस्ट के सृजन की दर में उसके क्षय की दर अधिक होती है।

उपर्युक्त तथ्य को और अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए एक ऐसा प्लेट है जिसका अग्रणी किनारा (leading margin) महाद्वीपीय क्रस्ट का बना है। इस तरह के प्लेट के आकार में वृद्धि होगी क्योंकि अग्रणी किनारा का क्षय नहीं होता है जब कि उसके अनुगामी किनारे (trailing margin) पर नवीन महासागरीय क्रस्ट का सृजन होता है। इस तरह के प्लेट के आकार में जो वृद्धि होती है उसकी पूर्ति (compensation) दूसरे प्लेट के आकार में क्षय द्वारा हो जाती है। प्लेट के आकार में ह्रास इस तरह होता है कि प्लेट के अग्रणी किनारे पर महासागरी क्रस्ट का क्षय उस प्लेट के अनुगामी किनारे (trailing margin) पर नवीन क्रस्ट के सृजन की दर से अधिक रफ्तार से सम्पादित होता है। इस तरह की प्रक्रिया के कारण पर्वत-निर्माण-स्थल (जहां पर दो प्लेट आपस में मिलते हैं) की स्थिति में नवीन क्रस्ट के निर्माण-स्थल के सम्बन्ध में सतत परिवर्तन होता रहता है। इस तरह व्यक्त किया जा सकता है कि जब महाद्वीपों का विस्थापन होता रहता है तो उनके अग्रणी किनारे अपने साथ सम्पीडनात्मक मण्डल (जिनके सहारे पर्वतों का निर्माण होता है) को ढोते रहते हैं। इस तरह भूतल पर पर्वतीय मेखलाओं का परिवहन होता रहता है।

प्लेट विवर्तन सिद्धान्त के आधार पर पर्वत-निर्माण की निम्न परिकल्पना का प्रतिपादन किया जाता है— **'जहां पर दो प्लेट का अभिसरण (फलस्वरूप टकराव) होता है वहां पर क्रस्ट के सम्पीडन के कारण पर्वत का निर्माण होता है।'** इस सन्दर्भ में प्लेट के आधार पर उनका अभिसरण (convergence) तीन स्थितियों में हो सकता है— (i) जहाँ पर दोनों प्लेट महासागरीय प्रकार के होते हैं, (ii) जहां पर दोनों प्लेट महाद्वीपीय प्रकार के होते हैं तथा (iii) जहां पर एक प्लेट महासागरीय तथा दूसरा महाद्वीपीय प्रकार का होता है। इन तीनों स्थितियों का उल्लेख अगली पंक्तियों में किया जा रहा है—

(i) दो महासागरीय क्रस्ट वाले प्लेट का अभिसरण – जब दो प्लेट महासागरीय नितल क्रस्ट वाले होते हैं तो उनके अभिसरण एवं टकराव होने से एक प्लेट की सागरीय क्रस्ट दूसरे प्लेट के नीचे सागरीय खड्ड में क्षेपित (subduction) हो जाती है जिस कारण उत्पन्न सम्पीडन द्वारा द्वीप तोरण तथा द्वीपीय चाप (Island festoons and island arcs) के पर्वतों का निर्माण होता है। इस तरह की स्थिति का सर्वोत्तम उदाहरण जापान के द्वीपीय चाप से प्राप्त होता है। जापान द्वीप-चाप में 3000 से 4000 मीटर ऊँचे पर्वत मिलते हैं। यद्यपि इन पर्वतों में हिमालय जैसे वलित पर्वतों की की कई विशेषताएँ मिलती हैं तथापि दोनों में अन्तर है। होन्शू द्वीप को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है (चित्र 106)। इस द्वीप की स्थिति जापान सागर तथा जापान खड्ड (trench) के मध्य है तथा इस पर बेसाल्ट एवं एण्डेसाइट का भारी जमाव पाया जाता है। पश्चिमी तट पर पूर्वी तट की अपेक्षा ज्वालामुखी क्रिया अत्यधिक होती है। द्वीप के दोनों ओर रूपान्तरित शैल की मेखला पायी जाती है।

प्लेट-सचलन (plate movement) के दौरान प्रशान्त महासागरीय प्लेट के नितल का जापान द्वीप के पूर्वी भाग की ओर महासागरीय क्रस्ट के नीचे (subduction) हो गया जिस कारण खड्ड का निर्माण हुआ। जैसे-जैसे एक प्लेट की सागरीय क्रस्ट का दूसरे प्लेट की सागरीय क्रस्ट के नीचे सरकाव होता जाता है वैसे-वैसे प्रथम प्लेट के पदार्थ डूबते जाते हैं। जब नीचे खिसकता हुआ प्लेट 100 किमी० की गहराई तक पहुँच जाता है तो वह अत्यधिक ताप के कारण पिघलने लगता है जिस कारण मैगमा का निर्माण होता है और वह ऊपर उठने लगता है। खड्ड से लगभग 200 किमी० की क्षैतिज दूरी पर मैगमा ज्वालामुखी उद्भेदन की क्रिया द्वारा सतह पर आने लगता है। यही कारण है कि जापान द्वीप के पश्चिमी भाग (पूर्वी भाग खड्ड के करीब है) में सर्वाधिक ज्वालामुखी क्रिया होती है। इस परिकल्पना के अनुसार प्रशान्त महासागरीय प्लेट का

चित्र 106

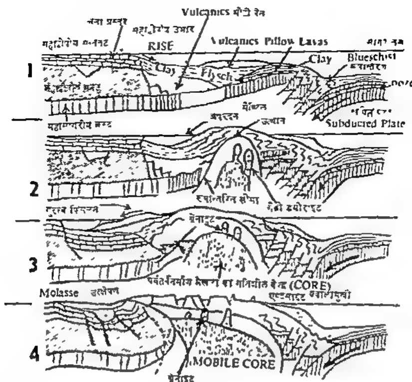
प्लेट टेक्टानिक सिद्धान्त के आधार पर द्वीप-चाप (island arc) का निर्माण तथा पर्वतीकरण, जापान द्वीप का उदाहरण (Dewey and Bird, in Cox, 1973, के आधार पर)।

जापान द्वीप के पूर्व में सागरीय प्लेट के नीचे क्षेपण हो गया परिणामस्वरूप प्लेट के सागरीय नितल के नीचे मैण्टिल में पहुँचने के कारण मैगमा का निर्माण हुआ जो बाद में उष्मा वाह (heat flow) के साथ ऊपर आ गया। यह क्रिया आज भी चल रही है। जापान द्वीप के पश्चिमी तथा पूर्वी दोनों किनारों पर रूपान्तरित शैल मण्डल का पाया जाना यह प्रमाणित करता है कि इस द्वीप चाप का निर्माण दो विभिन्न चापों (arcs) के मिल जाने के कारण हुआ है। जापान द्वीप-चाप के दक्षिण से वर्तमान समय में भी दो अलग-अलग चाप मिलते हैं—**फिलीपाइन्स चाप तथा मरियाना चाप**। इसी आधार पर हिन्द महासागर के उत्तरी-पूर्वी द्वीप तोरण तथा द्वीप-चाप की उत्पत्ति की भी व्याख्या की जा सकती है।

(ii) महाद्वीप महासागरीय प्लेटों का अभिसरण—जब महाद्वीप तथा महासागरीय क्रस्ट वाले दो प्लेट आपस में मिलते हैं तो टकराव के कारण महासागरीय क्रस्ट वाले प्लेट के किनारे का (अपेक्षाकृत अधिक घनत्व के कारण) महाद्वीपीय क्रस्ट वाले प्लेट के नीचे क्षेपण हो जाता है तथा महाद्वीपीय किनारे पर मग्न तट पर निक्षेपित पदार्थों का सम्पर्शीय सम्पीडनात्मक बल के कारण वलन हो जाता है तथा पर्वत का निर्माण होता है। इस तरह की स्थिति उत्तरी तथा दक्षिणी अमेरिका के पश्चिमी तट पर क्रमशः राकीज तथा **एण्डीज पर्वतों** के रूप में पायी जाती है।

प्रशान्त महासागरीय प्लेट तथा अमेरिकन प्लेट के अभिसरण के कारण **महासागरीय प्लेट का किनारा** महाद्वीपीय प्लेट के नीचे झुक गया। परिणामस्वरूप महासागरीय क्रस्ट के महाद्वीपीय क्रस्ट के नीचे विक्षेपित (thrust) हो जाने के कारण सम्पीडनात्मक सचलन (compressional movements) के फलस्वरूप उत्पन्न बल के कारण उत्तरी तथा दक्षिणी अमेरिका के पश्चिमी किनारे के पदार्थ वलित हो गये तथा राकीज एवं एण्डीज पर्वतमाला का निर्माण हुआ (चित्र 107।)

उपर्युक्त तथ्य को एण्डीज तथा राकीज की विकासीय प्रावस्थाओं की व्याख्या के आधार पर और अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। दक्षिणी अमेरिका के पश्चिमी तट के पास पीरू-चिली खड्ड का विस्तार पनामा से टियरा डल फ्युगो तक 4500 किमी० की लम्बाई में है। इस खड्ड के मध्य में गहराई 7000 मीटर तक हो जाती है। जबकि एण्डीज पर्वत माला में कई श्रेणियाँ 5000 मीटर से ऊँची हैं। इस तरह 400 किमी० की क्षैतिज दूरी में (पीरू-चिली खड्ड तथा एण्डीज के बीच) सापेक्षिक उच्चावच (उच्चस्थ एवं निम्नस्थ भाग का



चित्र 107

प्लेट टेक्टानिक सिद्धान्त के अनुसार पर्वत-समूह (Cordillera) प्रकार के वलित पर्वतों की उत्पत्ति (M. J Bradshaw, A. J. Abbott तथा A. P. Gelsthorpe के आधार पर)। 1 महासागरीय प्लेट का महाद्वीपीय प्लेट के नीचे 100 किमी० की गहराई तक क्षेपण होता है जिस कारण अन्त सागरीय ज्वालामुखी शैल का उद्भेदन होता है तथा प्लेट के किनारों पर विरूपण प्रारम्भ हो जाता है। 2 ऊपर उठते मैगमा के कारण ऊष्मा उत्पन्न होती है। मैगमा-गुम्बद में विस्तार के कारण प्लेट-किनारे के पदार्थों का वलन प्रारम्भ होता है। उत्थान के साथ ही गैब्रो तथा डायोराइट का प्रवेश भी होता है। 3. जैसे-जैसे पर्वत-निर्माण मण्डल का गतिशील केन्द्र विकसित होता जाता है वैसे-वैसे उच्च तापमान उच्च दबाव जनित विरूपण (प्लेट किनारे का) बढ़ता जाता है। इस कारण महाद्वीपीय मग्नतट असंतुलित होता है और उत्थान के जारी रहने के कारण गुरुत्व-फिसलन (gravity slides) प्रारम्भ हो जाती है। 4. गतिशील केन्द्र के कारण रूपान्तरित भाग का महाद्वीप की ओर उत्क्षेपण होता है तथा ग्रेनाइट गतिशील कोर के ऊपर आ जाती है। गतिशील कोर में विस्तार तथा उभार के कारण जनित सम्पर्शीय बल के कारण महाद्वीपीय किनारा सम्पीडित होकर वलित हो जाता है।

अन्तर) लगभग 15000 मीटर तक का है जो सम्भवत ग्लोब का सर्वाधिक सापेक्षिक उच्चावच है। भूकम्पीय घटनाओं के आधार पर ज्ञात हुआ है कि यहाँ पर एक **स्पष्ट बेनी ऑफ (Benioff)** मण्डल है जो दक्षिणी अमेरिका के नीचे खिसक रहा है। इस मण्डल में प्रशान्त महासागर में मोहो विषमविन्यास (Moho discontinuity, Mohorovicic महोदय के नाम पर) की गहराई 11 किमी० है तथा एण्डीज के नीचे 70 किमी० है। इसके आधार पर भी प्रशान्त महासागरीय प्लेट के अमेरिकन प्लेट के नीचे क्षेपण का सत्यापन हो जाता है। मध्य एण्डीज को तीन भौतिक प्रदेशों में विभक्त किया जाता है—(i) पूर्वी भाग 5000 मीटर से अधिक ऊँचा है तथा पैल्योजोइक कल्प के रूपान्तरित अवसादों से निर्मित है, (ii) पश्चिमी भाग भी लगभग 5000 मीटर ऊँचा है तथा इसका निर्माण मेसोजोइक एवं सेनोजोइक कल्प के ज्वालामुखी पदार्थ, छिछले सागर-निर्मित अवसाद

तथा जुरैसिक से क्रीटैसियस युग के अवसादों का बना है तथा (iii) मध्यवर्ती भाग (आल्टीपानो—Altipano) क्रीटैसियस युग से निर्मित महाद्वीपीय ढेरयुक्त पदार्थों का बना है।

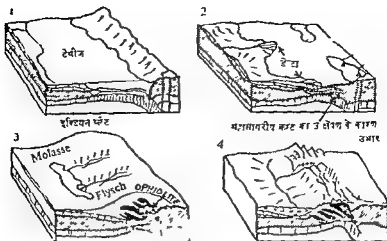
प्लेट-विवर्तन सिद्धान्त के समर्थकों के अनुसार एण्डीज पर्वत माला का निर्माण प्रारम्भिक मेसोजोइक कल्प से प्रारम्भ होता है। इस समय महाद्वीपीय प्लेट के किनारे पर पैल्योजोइक कल्प के सागरीय अवसाद की मोटी परत का आवरण था। प्रशान्त महासागरीय प्लेट का अमेरिकन प्लेट के नीचे क्षेपण प्रारम्भ हुआ जिस कारण सागरीय अवसाद मे विरूपण प्रारम्भ हो गया। तदन्तर अमेरिकन प्लेट का भी पश्चिम की ओर प्रवाह प्रारम्भ हुआ जिस कारण मध्य मेसोजोइक एव प्रारम्भिक क्रीटैसियस युग में पर्वत-निर्माण की क्रिया मे तेजी आ गई। द० अमेरिका के पश्चिमी किनारे पर ज्वालामुखी तथा सागरीय अवसादों का वलन प्रारम्भ हो गया तथा ग्रेनाइट शैल का प्रवेश होने लगा। साथ ही साथ पूर्वी भाग मे भी वलन तथा उत्थान की क्रियायें सम्पादित हुई। यह प्रक्रिया अन्तिम सेनोजोइक कल्प तक जारी रही। स्मरणीय है कि जैसे-जैसे प्रशान्त महासागरीय प्लेट का अमेरिकन प्लेट के नीचे क्षेपण बढता गया वैसे-वैसे ज्वालामुखी क्रिया तथा प्लुटानिक आग्नेय शैल के अन्तर्वेधन की क्रिया की सक्रियता पूर्व की ओर बढती गई। पूर्वी एव पश्चिमी भाग के वलन के साथ ही मध्यवर्ती भाग का भी वलन होता रहा।

ज्ञातव्य है कि **बेनीऑफ मंडल** के सहारे जब प्लेट का क्षेपण होता है तो पर्वत-माला की चौडाई कुछ सौ किमी० तक ही सम्भव हो पाती है। राकीज पर्वत माला मे कोलोरैडो से कैलिफोर्निया तट तक 1500 किमी० की चौडाई उपर्युक्त सकल्पना के आधार पर प्रमाणित नहीं हो पाती है। इसके स्पष्टीकरण के लिए प्रतिपादित किया जाता है कि जब प्रशान्त महासागरीय प्लेट का अमेरिकन प्लेट के नीचे क्षेपण हो रहा था तो उसी समय उत्तरी अमेरिका का प्रवाह पश्चिम की ओर जारी था। अत राकीज का अधिकाश पर्वतन महाद्वीपीय प्रवाह के कारण सम्पन्न हुआ है।

(iii) महाद्वीप— महाद्वीप प्लेटों का अभिसरण— जब दोनों प्लेटों के ऊपर महाद्वीपीय क्रस्ट होती है तो उनके टकराव से उस प्लेट का क्षेपण होता है जिसका पदार्थ दूसरे प्लेट की तुलना मे अपेक्षाकृत अधिक घनत्व वाला होता है। उत्तर में यूरेशियन प्लेट तथा दक्षिण मे अफ्रीका-भारत प्लेट के बीच टेथीज सागर की स्थिति थी। मेसोजोइक कल्प मे टेथीज सागर का बन्द होना प्रारम्भ हुआ। इस लम्बे जलीय भाग के बन्द होने की प्रक्रिया कई क्षेपण मण्डलों (Subduction zones) के सहारे सम्पन्न हुई। सेनोजोइक कल्प मे दो महाद्वीपीय प्लेट के अभिसरण तथा टकराव के कारण क्षेपण होने से जनित सम्पीडनात्मक बल के फलस्वरूप टेथीज भू सन्नति का मलवा वलित हो गया तथा अल्पाइन हिमालय शृंखला का निर्माण हुआ।

लगभग 70—65 मिलियन वर्ष पूर्व हिमालय के स्थान पर टेथीज सागर था इसके उत्तर मे एशियाटिक प्लेट तथा दक्षिण मे भारतीय प्लेट थे। भारतीय प्लेट के एशियाटिक प्लेट की ओर गतिशील होने के कारण तथा उसके एशियाटिक प्लेट के नीचे क्षेपित होने के फलस्वरूप टेथीज मे सकुचन (विस्तार मे) होने लगा। लगभग 60—30 मिलियन वर्ष पूर्व इण्डियन प्लेट एशियाटिक प्लेट के करीब आ गया जिस कारण दोनो के टकराव से टेथीज की सागरीय क्रस्ट वलित हो गयी तथा हिमालय का निर्माण हुआ (लगभग 30—2 मिलियन वर्ष पूर्व)। पर्वतीकरण की क्रिया के कारण भारतीय-एशियाटिक प्लेट के बीच लगभग 500 किमी० तक भूपटलीय सकुचन (crustal shortening) हुआ है (चित्र 108)। इसी तरह अल्पाइन शृंखला का निर्माण अफ्रीका तथा यूरोप के प्लेट के टकराव तथा तज्जनित क्षेपण के कारण हुआ। परन्तु यहाँ पर प्लेट का सचलन (movement) तथा टकराव जटिलरूप मे सम्पन्न हुआ, अत पर्वतो मे सरचनात्मक जटिलतायें आ गई है। वर्तमान समय मे भी अफ्रीका का प्लेट उत्तर की ओर सरक रहा है तथा इसका एजियन चाप (Aegean arc) के दक्षिण मे युरोपियन प्लेट के नीचे क्षेपण हो रहा है, परिणामस्वरूप रूम सागर मे सकुचन हो रहा है।

पर्वत-निर्माण की चक्रीय प्रणाली—प्लेट विवर्तन सिद्धांत के आधार पर पर्वत निर्माण की चक्रीय प्रणाली का स्पष्टीकरण भली-भाँति हो जाता है। अब तक पर्वत निर्माण के चार युगो (कैम्ब्रियन युग से पूर्व, कैलिडोनियन, हर्सीनियन तथा टर्शियरी) का पता लगाया जा सका है। पर्वत-निर्माण से सम्बन्धित प्रारम्भिक सिद्धान्तो मे यह उभय दोष रहा है कि किसी तरह टर्शियरी युग के वलित पर्वतों की व्याख्या तो हो जाती है परन्तु उसके पहले के पर्वतों के निर्माण की प्रक्रिया पर प्रकाश नहीं पडता है। प्लेट सदैव गतिशील होते रहते हैं। इनके



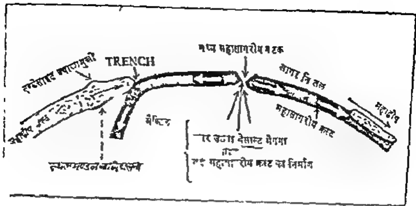
चित्र 108

प्लेट टेक्टानिक सिद्धान्त के आधार पर हिमालय की उत्पत्ति (दो महाद्वीपीय प्लेट के टकराने के कारण)। 1. 70-65 मिलियन वर्ष पूर्व की स्थिति—भारतीय प्लेट का एशियाई प्लेट की ओर अग्रसर होना, 2. 60-30 मिलियन वर्ष पूर्व की स्थिति—भारतीय प्लेट का एशियाई प्लेट से टकराव तथा तज्जनित उत्क्षेपण (thrust) का होना, 3 30-2 मिलियन वर्ष पूर्व की स्थिति—भारतीय प्लेट के एशियाई प्लेट के नीचे क्षेपित (subduction) होने के कारण उत्पन्न उत्क्षेपण के फलस्वरूप हिमालय का निर्माण तथा 4. वर्तमान स्थिति।

भ्रमण के कारण सारे स्थलीय भाग आपस मे मिलकर एक सुपर महाद्वीप बन जाते हैं तो कभी अलग होकर विभिन्न महाद्वीपो को जन्म देते हैं।

पृथ्वी के विवर्तनिक इतिहास की विधिवत जानकारी आज से लगभग 200 मिलियन वर्ष पूर्व मे प्रारम्भ होती है जब कि वर्तमान महाद्वीप पैंजिया के रूप मे (सुपर महाद्वीप) थे। प्लेट-विवर्तन सिद्धान्त के आधार पर यह अवधारणा की जाती है कि पैंजिया के पहले भी महाद्वीप थे जो पैल्योजोइक कल्प के अन्त मे प्लेटो के भ्रमण के कारण आपस मे मिलकर पैंजिया बन गये। इससे निष्कर्ष निकलता है कि कैम्ब्रियन युग से पूर्व आज से लगभग 700 मिलियन वर्ष पहले भी पैंजिया (प्रथम पैंजिया) था। इस अवधारणा पर कि 'जहाँ पर दो प्लेट मिलते हैं (विनाशात्मक किनारा) वहाँ पर वलित पर्वतो का निर्माण होता है, टर्शियरी युग के पहले के भूगर्भिक इतिहास की पुनर्रचना का आकलन किया जा सकता है।

वैलेन्टाइन (Valentine) तथा मूर्स (Moores) के अनुसार आज से लगभग 600 मिलियन वर्ष पूर्व सभी स्थलभाग प्रथम पैंजिया के रूप मे थे (कैंब्रियन युग मे पूर्व) 500-600 मिलियन वर्ष पूर्व प्रथम पैंजिया का विखण्डन हुआ (कैम्ब्रियन युग मे)। 400 मिलियन वर्ष पूर्व (सिलूरियन युग) मे अमेरिकन तथा यूरेशियन प्लेट के अभिसरण (convergence) के कारण अटलाण्टिक महासागर बन्द होने लगा तथा कैलिडोनियन पर्वतो का निर्माण हुआ (मुख्य रूप से अप्लेशियन का निर्माण प्रारम्भ हुआ)। 300 मिलियन वर्ष पूर्व अटलाण्टिक पूर्णतया बन्द हो गया तथा अप्लेशियन का निर्माण पूर्ण हो गया (कार्बोनिफरस, पर्मियन युग)। इसी समय यूरोप के हर्सीनियन पर्वतो का निर्माण हुआ। लगभग 200 मिलियन वर्ष पूर्व सारे महाद्वीप आपस मे मिल गये तथा द्वितीय पैंजिया का निर्माण हुआ। 150 मिलियन वर्ष पूर्व पैंजिया का पुन विभंजन हो गया तथा अटलाण्टिक पुन खुल गया। टर्शियरी युग मे प्लेटो के भ्रमण के कारण वर्तमान वलित पर्वतो का निर्माण हुआ। स्मरणीय है कि कैम्ब्रियन युग से पूर्व वर्तमान समय की तुलना मे कम महाद्वीपीय भाग रहे होंगे। प्रारम्भ मे महाद्वीपो के तट से दूर द्वीप-चाप के निर्माण तथा इनके महाद्वीपीय तटीय भागो से टकराव के कारण महाद्वीपों के आकार में वृद्धि हुई होगी। चित्र 100 मे पैंजिया की विभिन्न स्थितियो तथा विभिन्न युगो मे पर्वतो की उत्पत्ति को प्रदर्शित किया गया है।



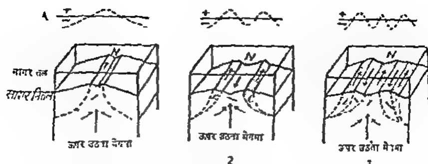
चित्र 109

मध्य महासागरीय कटक के पास नीचे से मैगमा के ऊपर आने के कारण नवीन सागरीय क्रस्ट का निर्माण तथा कटक के सहारे सागर-नितल के प्रसरण के कारण प्लेट का संचलन। महासागरीय प्लेट का कटक से दूर होना तथा महाद्वीपीय प्लेट के नीचे क्षेपण (subduction) होने से सागरीय खड्ड (trench) का निर्माण एवं क्षेपित प्लेट (subducted plate) एवं महाद्वीपीय प्लेट (Benioff zone) के रगड़ के कारण महाद्वीपीय क्रस्ट का पिघलना एवं एण्डेसाइट पदार्थ वाले ज्वालामुखी का निर्माण।

प्लेट टेक्टानिक्स एवं ज्वालामुखी-क्रिया

वर्त्तमान जाग्रत, सुसुप्त (dormant) तथा शान्त (extinct) एवं अतीत में निर्मित ज्वालामुखियों के अवशिष्ट भागों के अध्ययन के आधार पर उनके वितरण के तीन क्षेत्रों का उल्लेख किया जा सकता है। 1. मध्य महासागरीय कटक के पास तथा उससे दूर (ज्वालामुखी का निर्माण पहले इन्हीं कटक के पास होता है, बाद में ये उससे दूर हटते जाते हैं। इस तथ्य को पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है)। इस तरह ये ज्वालामुखियों का सम्बन्ध प्लेट के रचनात्मक किनारों से होता है। 2. परिप्रशान्त पर्वतीय मेखला तथा अल्पाइन पर्वतीय मेखला के साथ अर्थात् विनाशात्मक प्लेट किनारे के साथ। 3 भूभ्रंश घाटियों के साथ। इनके अलावा जो ज्वालामुखी महाद्वीपों के अन्दर पाये जाते हैं उनका सम्बन्ध कम से कम वर्त्तमान प्लेट के किनारों से नहीं हो पाता है। रचनात्मक प्लेट-किनारे (ऊपर वर्णित प्रथम प्रकार) के साथ मिलने वाले ज्वालामुखियों का लावा tholeiites होता है जो कि एक प्रकार का बेसाल्ट होता है जिसमें पोटाश कम होता है तथा जिसका निर्माण मैण्टिल में विशेषक गलन (differential melting) के कारण होता है। परिप्रशान्त तथा अल्पाइन वलित पर्वतीय मेखला से सम्बन्धित (विनाशात्मक प्लेट किनारे के ज्वालामुखी) ज्वालामुखी के बेसाल्ट लावा में सिलिका की मात्रा अधिक होती है तथा उसमें एण्डेसाइट, डेसाइट (dacite) एवं रायोलाइट (rhyolites) भी मिले रहते हैं। भूभ्रंश घाटियों से सम्बन्धित ज्वालामुखियों का लावा क्षार(alkalis) युक्त होता है। इन्हें क्षार युक्त बेसाल्ट भी कहा जाता है। महासागरीय क्रस्ट तथा द्वीपों की बेसाल्ट तथा परिप्रशान्त मेखला की एण्डेसाइट-डेसाइट-रायोलाइट ज्वालामुखी शैल के बीच सीमा को एण्डेसाइट रेखा (Andesite Line) कहते हैं। इस तरह यह रेखा सियाल युक्त महाद्वीपीय क्रस्ट एवं सीमा (sima) युक्त महासागरीय क्रस्ट के बीच विभाजक रेखा होती है।

मध्य महासागरीय कटक के सहारे सक्रिय ज्वालामुखी शृंखलायें मिलती हैं। प्लेट-संचलन के कारण दो प्लेट इस कटक से अलग होकर विपरीत दिशाओं में गतिशील होते हैं। परिणामस्वरूप ऊपरी दाब के कम हो जाने के कारण ऊपरी मैण्टिल के आंशिक रूप में पिघल जाने के कारण थोलाइआइट बेसाल्ट (tholeiitic bsaalt) का निर्माण होता है, तथा वह मैण्टिल से ऊपर उठने वाली संवहन तरंगों के कारण दरारी प्रवाह (fissure eruption or flow) के रूप में ऊपर आती है तथा शीतल होने पर ठोस होकर नयी सागरीय क्रस्ट का निर्माण करती है (चित्र 109)। इस क्रिया के कारण मध्य महासागरीय कटक के सहारे समानान्तर कटक का निर्माण होता है। सागर-नितल प्रसरण (ocean floor spreading) के कारण बेसाल्ट की ये समानान्तर पट्टियाँ (उत्तर-दक्षिण, दिशा

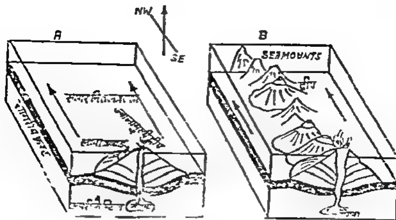


चित्र 110

सागर-नितल मे मैगमा की पट्टी (मध्य महासागरीय कटक के पास) का निर्माण । 1 पिघला मैगमा कटक के केन्द्र के ऊपर आता है तथा शीतल होकर ठोस हो जाता है । उस समय भू-चुम्बकीय क्षेत्र की दिशा के अनुरूप इस मैगमा का चुम्बकन होता है । यह सामान्य चुम्बकन (normal magnetization) की स्थिति है । 2 सागर-नितल के प्रसरण के कारण पूर्व निर्मित मैगमा पट्टी कटक से दूर खिसक जाती है । इसी बीच भू-चुम्बकीय क्षेत्र (geomagnetic field) का उत्क्रमण हो जाता है तथा जब नया मैगमा ऊपर आकर ठोस होता है तो उसका चुम्बकन उत्क्रमण भू-चुम्बकीय क्षेत्र (reversed geomagnetic field) के अनुरूप होता है तथा 3 जब पुन भू-चुम्बकीय क्षेत्र अपनी सामान्य स्थिति मे आ जाता है तो नयी मैगमा पट्टी का चुम्बकन उसी के अनुरूप होता है । चित्र 110 के ऊपर A मे + धनात्मक चुम्बकीय विसगति तथा — ऋणात्मक चुम्बकीय विसगति को प्रदर्शित करते है ।

मे मध्य कटक के दोनो ओर) कटक से दूर हटती जाती है (गतिशील प्लेट के अनुगामी किनारे trailing margin पर जुटती जाती हैं) । इस तथ्य का सत्यापन सागर-नितल मे पुराचुम्बकीय धारीदार पट्टियो (magnetic stripes) के समानान्तर एकान्तर प्रारूप (parallel but alternate pattern of positive and negative anomalies) से होता है । चित्र 110 मे यह तथ्य प्रदर्शित किया गया है (कि ऊपर उठता मैगमा कटक पर पहुँचने के बाद शीतल एव ठोस होकर किस तरह उसके दोनो ओर स्थानान्तरित हो जाता है (चित्र 93 तथा 94 को भी देखिये) । आइसलैण्ड इसका अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करता है क्योकि यह मध्य अटलाण्टिक कटक के दोनो ओर स्थित है । द्वीप के मध्य मे मध्य अटलाण्टिक कटक (**Reykjanes ridge**) गुजरता है जिसके सहारे नीचे से बेसाल्ट का उद्वेलन ऊपर की ओर होता है । हेल्गाफेल (*Helgafell*) *ज्वालामुखी का 1973 मे* उद्भेदन इसका प्रमाण है । बेसाल्टिक लावा के कारण आइसलैण्ड का निरन्तर विस्तार हो रहा है । अनुमान है कि टर्शियरी युग के प्रारम्भ (*65 मिलियन वर्ष पूर्व*) से वर्तमान समय तक इस द्वीप मे 400 किमी० तक विस्तार हो गया है, अर्थात् इसके विस्तार की वार्षिक दर लगभग 0.6 सेण्टीमीटर है । द्वीप के बीच मे कटक के पास नूतन लावा *पाया* जाता है । उसके बगल मे 2 मिलियन वर्ष पुराना तथा द्वीप के किनारे पर 65 मिलियन वर्ष प्राचीन लावा पाया जाता है ।

मध्य महासागरीय कटक के पास तथा उससे दूर सागर-नितल पर मिलने वाले ज्वालामुखी द्वीपो से भी उपर्युक्त तथ्य का सत्यापन होता है । अटलाण्टिक महासागर के ज्वालामुखी द्वीप निश्चय ही मध्य अटलाण्टिक कटक से सम्बन्धित है तथा जो सबसे अधिक सक्रिय है वे कटक के सबसे करीब पाये जाते है । कटक के पास नीचे से मैगमा के ऊपर आने से ज्वालामुखी द्वीपो का निर्माण होता है और जैसे-जैसे *सागर-नितल का प्रसरण* होता जाता है वैसे-वैसे ये द्वीप कटक से दूर विस्थापित होते जाते है । इस तरह जब ये ज्वालामुखी द्वीप मैगमा के आपूर्ति-स्थल (कटक के नीचे) से दूर होते जाते है तो इनकी मैगमा की आपूर्ति (supply) समाप्त हो जाती है । ऐसी दशा मे ये द्वीप अवतलित (सागर-तल sea-level के नीचे) होते जाते है जिन्हे **सागरीय चौकी** *(sea mounts)* या **guyots** कहते हैं । स्मरणीय है कि सभी ज्वालामुखी द्वीप सागर-तल के नीचे जलमज्जित (submerge) नहीं होते हैं । कई द्वीप सागर-तल से 1500 से 3000 मीटर ऊपर भी रहते हैं । अटलाण्टिक महासागर-स्थित ज्वालामुखी द्वीपो के लावा के अध्ययन के आधार पर ज्ञात हुआ है कि जो द्वीप मध्य अटलाण्टिक कटक के करीब हैं उनका लावा नूतन है तथा दूरस्थ स्थित द्वीपो का लावा



चित्र 111

सागर-नितल प्रसरण तथा ज्वालामुखी द्वीप का निर्माण । A लगभग 70 मिलियन वर्ष पूर्व प्रथम ज्वालामुखी द्वीप का निर्माण, B वर्तमान स्थिति । सागर-नितल प्रसरण के कारण पहले निर्मित ज्वालामुखी द्वीप मैगमा-केन्द्र (मध्य महासागरीय कटक) से दूर होते गये हैं ।

प्राचीन है । उदाहरण के लिए मध्य अटलान्टिक कटक के दोनों ओर स्थित अजोर्स द्वीप का प्राचीनतम लावा 4 मिलियन वर्ष पुराना है जबकि अफ्रीका तट के पास (कटक से दूरस्थ) केप वेर्ड द्वीप का प्राचीनतम लावा 120 मिलियन वर्ष पुराना है । चित्र 111 में सागर-नितल प्रसरण, ज्वालामुखी-क्रिया, ज्वालामुखी द्वीपों का निर्माण तथा कटक से उनका दूर हटना दिखाया गया है ।

हवाई द्वीप के ज्वालामुखी का स्पष्टीकरण, यद्यपि देखने में प्लेट टेक्टानिक सिद्धान्त के मुताबिक नजर नहीं आता, भी किया जा सकता है। हवाई द्वीप मिडवे द्वीप, इम्परर सीमाउण्ट्स, कमचटका ज्वालामुखी द्वीप माला का दक्षिणी—पूर्वी विस्तार है तथा पूर्वी प्रशान्त महासागरीय कटक से काफी दूर है । परन्तु इस पर (हवाई द्वीप) सक्रिय ज्वालामुखी मिलते हैं जबकि उपर्युक्त द्वीप माला में प्रसुप्त (dormant) ज्वालामुखी मिलते हैं एवं उनका लावा अत्यधिक प्राचीन है। यह विश्वास किया जाता है कि हवाई द्वीप के नीचे सक्रिय लावा-स्रोत है (Plume यह ऐसा मैगमास्रोत होता है जिसमें पिघली शैल-मैगमा की आपूर्ति दीर्घ काल तक होती रहती है) जिससे पिछले 70 मिलियन वर्षों तक लावा का उद्वेलन होता रहा है । चित्र 111 के अनुसार प्लेट सचलन के कारण प्रशान्त महासागर-नितल का पूर्वी प्रशान्त महासागरीय कटक से अलगाव होकर उ० प० दिशा की ओर 9 सेण्टीमीटर प्रतिवर्ष की दर से प्रसरण होता रहा जिस कारण Plume युक्त ज्वालामुखी शिखर का भी उ० प० की ओर सरकाव हुआ। इसी केन्द्र से हवाई द्वीप के ज्वालामुखियों के लावा की आपूर्ति होती रही है । इस केन्द्र से निर्मित ज्वालामुखी द्वीप जैसे-जैसे सागर-नितल प्रसरण के कारण दूर (उ० प० की ओर) होते गये वैसे-वैसे उनके लावा की आपूर्ति स्थगित हो जाने के कारण वे प्रसुप्त (dormant) होते गये (चित्र 111) ।

ज्वालामुखी-शिखर युक्त द्वीप चाप तथा उसके पास स्थित सागरीय गर्त (Trenches) का निर्माण उस समय होता है जबकि सागरीय क्रस्ट वाले प्लेट का या बेनीऑफ मण्डल (Benioff zone) का महाद्वीपीय क्रस्ट प्लेट के नीचे क्षेपण (subduction) होता है । महाद्वीपीय प्लेट और उसके नीचे क्षेपित (subducted) महासागरीय प्लेट के रगड़ के कारण 700 किमी० की गहराई तक भू-कम्पीय झटके उत्पन्न होते हैं, साथ ही साथ ऊष्मा जनित होती है जिस कारण ऊपरी मैण्टिल के पदार्थ (सागर नितल के लावा एवं ऊपर स्थित अवसाद के साथ) पिघल जाते हैं तथा मैगमा का निर्माण होता (चित्र 109 । मैगमा के ऊपर आने से द्वीप चाप का निर्माण होता है । स्मरणीय है कि द्वीपचाप के ज्वालामुखियों का निर्माण ऐसी बेसाल्ट से हुआ है जिसमें सोडियम की मात्रा अधिक होती है । इस तरह की बेसाल्ट का निर्माण उस समय होता है जब कि इनका उद्भेदन जल में होता है तथा सागरीय जल के साथ उनमें प्रतिक्रिया या अभिक्रिया (reaction) होती है । इस तरह की बेसाल्ट के ऊपर एण्डेसाइट का आवरण होता है । एण्डेसाइट अपेक्षा-

कृत कम घनत्व वाली होती है जिसमें सिलिकन की मात्रा बेसाल्ट की अपेक्षा अधिक होती है। दोनों में यह अन्तर मैगमा के ऊपर स्थित शैल में प्रवाह की दूरी पर निर्भर करता है। जैसे-जैसे मैगमा ऊपर उठता है तथा ऊपर स्थित शैल से मिलता है वैसे-वैसे घनत्व के आधार पर इसका विभाजन होता जाता है। परिप्रशान्त वलित पर्वतीय मेखला के सहारे एण्डेसाइट-डेसाइट-रायोलाइट की उत्पत्ति के विषय में विद्वानों में मतान्तर है–

(i) रिंगवुड (Ringwood, 1974) के अनुसार बेनीऑफ मण्डल के क्षेपित होते हुए एम्फीबोलाइट (महासागरीय प्लेट का पदार्थ) के आंशिक रूप में एवं अत्यधिक गहराई में क्वार्ट्ज इक्लोजाइट के पिघलने से एण्डेसाइटडेसाइट-रायोलाइट का निर्माण होता है।

(ii) गिलूली (Gilluly) के अनुसार एण्डेसाइट-डसाइट-रायोलाइट का निर्माण सागरीय थोलाइआइट (tholeiite) या एम्फीबोलाइट या इक्लोजाइट के आंशिक रूप से पिघलने एवं उसके सागर-नितल अवसाद जैसे कि बालुक-प्रस्तर, चर्ट एवं रेडियोलेरियन ऊर्जा के साथ सम्मिश्रण के कारण होता है।

क्षेपण-मण्डल (subduction zone) की गहराई तथा सागरीय खड्ड से दूरी में वृद्धि के साथ एण्डेसाइट की रचना में अन्तर आता जाता है। इस तरह द्वारा आग्नेय-क्रिया या ज्वालामुखी-क्रिया तथा आग्नेय शैल प्रकार एवं प्लेट टेक्टानिक सिद्धान्त में गहरे सम्बन्ध का सत्यापन हो जाता है। महाद्वीपीय भागों पर वलित पर्वतों के ग्रेनाइट का निर्माण एवं बैथोलिथ के प्रवेश को प्लेट टेक्टानिक सिद्धान्त के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है। प्लेटों के टकराव के कारण जब वलित पर्वतों का निर्माण होता है तो महाद्वीपीय शैल अत्यधिक गहराई तक पहुँच कर पिघल जाती है तथा मैगमा का निर्माण होता है। इस मैगमा की संरचना (composition) तथा सागरीय द्वीप-चाप के ज्वालामुखियों के लावा एवं क्षेपण-मण्डल (subduction zone) के एण्डेसाइट लावा की संरचना में भारी अन्तर होता है। महाद्वीपीय शैल में कम घनत्व वाले पदार्थों जैसे सिलिका एवं अल्युमिनियम आक्साइड का अत्यधिक प्रतिशत रहता है। जब ये पदार्थ पिघलते हैं तो उपर्युक्त पदार्थों युक्त मैगमा का निर्माण होता है। कम घनत्व के कारण यह मैगमा क्रस्ट में ऊपर प्रविष्ट होता है जिस कारण वलित पर्वतों में उत्थान तो होता ही है, उनमें फेल्सपार, क्वार्ट्ज युक्त ग्रेनाइट बैथोलिथ का निर्माण होता है। छोटा नागपुर पठार के राँची बैथोलिथ का सम्बन्ध आर्कियन पर्वतीकरण से जोड़ा जा सकता है।

महाद्वीपों पर लावा-निर्मित विस्तृत पठारों का स्पष्टीकरण भी प्लेट टेक्टानिक सिद्धान्त के आधार पर हो जाता है। प्रायद्वीपीय भारत; ब्राजील, संयुक्त राज्य अमेरिका के कोलम्बिया पठार के लावा-प्रवाह से निर्माण की प्रक्रिया का सम्बन्ध महाद्वीपीय विभंजन (continental breaking) से जोड़ा जा सकता है। द० अमेरिका तथा अफ्रीका के अलगाव के कारण ब्राजील लावा पठार का, आस्ट्रेलिया-अफ्रीका से भारत के उत्तर की ओर सरकने के कारण प्रायद्वीप भारत के लावा पठार का, उ० अमेरिका से यूरोप के अलगाव के कारण स्काटलैण्ड के लावा पठार का निर्माण हुआ होगा। उ० प० संयुक्त राज्य अमेरिका के कोलम्बिया पठार का निर्माण या तो क्षेपण मण्डल (subduction zone) या महासागरीय कटक में मैगमा के ऊपर आने से हुआ माना जा सकता है।

अन्तः प्लेट संचलन (Intra-Plate Movement)

प्लेट टेक्टानिक सिद्धान्त के अनुसार प्लेट अत्यन्त दृढ़ होते हैं तथा प्लेट का क्षैतिज संचलन (horizontal movement) ही अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। परन्तु प्लेट के भीतरी भाग में भी महादेशजनक संचलन (epeirogenetic movement) होता है जिस कारण धरातल का भाग या तो ऊपर उठता है या नीचे चला जाता है। प्लेट के किनारे पर यद्यपि ज्वालामुखी तथा भूकम्पीय घटनाएँ सर्वाधिक होती हैं तथापि प्लेट किनारों से दूर भी ये घटनाएँ कभी-कभी घटित हो जाती हैं। उदाहरण के लिये संयुक्त राज्य अमेरिका में अटलाण्टिक तट के पास चार्ल्सटन तथा मिसीसीपी घाटी में न्यू मैड्रिड के पास एवं भारत में कोयना (1967) के पास जोरदार भूकम्पीय घटनाएँ हुई हैं। इसी तरह महासागरीय प्लेट के मध्य प्लेट उभार (midplate rises) के उदाहरण (उ० प० प्रशान्त महासागर का Shatsky Rise, उत्तरी अटलाण्टिक के पश्चिम में Barmuda Rise, ब्राजील के दक्षिण तट से दूर Rio Grande Rise) मिलते हैं। महाद्वीपों के भीतरी भाग में गुम्बदीय उभार की घटनायें हुई हैं। प्लेट के अन्तर्गत इस तरह के लम्बवत् संचलन का स्पष्टीकरण अभी तक प्लेट टेक्टानिक सिद्धान्त के आधार पर नहीं हो पाया है। कुछ विद्वानों के अनुसार मैण्टिल में उत्पन्न अपेक्षाकृत कम शक्तिशाली संवहन धाराओं के कारण प्लेट में लम्बवत संचलन होता है तथा तज्जनित महादेशजनक बल के कारण प्लेट के भीतरी भागों में उत्थान तथा उभार की क्रियायें होती हैं।

सन्तुलन का सिद्धान्त

(Doctrine of Isostasy)

संतुलन का तात्पर्य—भूतल पर पर्वत पठार, मैदान झीलें तथा महासागर आदि पाये जाते है, जिनके आकार मे पर्याप्त अन्तर पाया जाता है, फिर भी ये आकृतियां भूतल पर स्थिर हैं। इस प्रकार प्रकट होता है कि ये आकृतियाँ एक निश्चित नियम के अनुसार सन्तुलित हैं, अन्यथा इनका वर्तमान रूप मे स्थिर रहना कठिन होता। जब कभी इस सन्तुलन मे परिवर्तन होता है तो भयकर भू-हलचल तथा भू-परिवर्तन होता रहता है। इस प्रकार सामान्य रूप से सन्तुलन (Isostasy) का अर्थ इस रूप मे बताया जा सकता है—'**परिभ्रमण करती हुई पृथ्वी के ऊपर स्थित क्षेत्रो (पर्वत, पठार तथा मैदान) एव गहराई मे स्थित क्षेत्रो (झील, समुद्र आदि) मे भौतिक अथवा यान्त्रिक स्थिरता की दशा को ही संतुलन की दशा कहते हैं।**' "Isostasy simply means a mechanical stability between the upstanding parts and lowlying basins on a rotating earth."

"आइसोस्टेसी" शब्द (The Word Isostasy) **ग्रीक शब्द** 'आइसोस्टेसियस' (Isostasious) से लिया गया है, जिसका तात्पर्य "समस्थिति" (In equiposia) से होता है। यद्यपि इस क्षेत्र (सन्तुलन) मे कार्य बहुत पहले (1859) मे ही आरम्भ हो गया था फिर भी सन्तुलन (Isostasy) शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम अमेरिका के प्रसिद्ध भूगर्भवेत्ता डटन (Dutton) ने 1889 ई० मे किया। इनका मुख्य उद्देश्य भूतल से असमतल भागो अर्थात् धरातल के बडे-बडे ऊँचे उठे भागो जैसे पर्वत एव पठार तथा नीचे धँसे हुए भागो (Ocean basins) मे स्थिरता (Stability) अथवा सन्तुलन (Balance) स्थापित करना था। डटन का यह मत था कि पृथ्वी के ऊँचे-ऊँचे पर्वत, पठार, मैदान तथा सामुद्रिक तली (Ocean basins) के नीचे स्थित पदार्थ का भार बराबर होगा। डटन के अनुसार ऊँचे उठे भागो का घनत्व कम होगा तथा नीचे धँसे भागो का घनत्व अधिक होगा, सभी सबका भार एक रेखा के सहारे बराबर होगा। इस आधार-तल को "**समदबाव तल**" (Level of uniform pressure) अथवा "**समतोल-तल**" (Isostatic level) अथवा "**क्षतिपूर्ति-तल**" (Level of Compensation) कहा जा सकता है।

इस तल के सहारे सभी भागो का भार अथवा दबाव बराबर होना चाहिए। जब किसी कारण से एक भाग का भार या दबाव बढ जाता है तथा दूसरे का कम हो जाता है तब भू-सन्तुलन समाप्त हो जाता है। इस सन्तुलन को पुन स्थापित करने के लिए क्षतिपूर्ति (Compensation) करना होगा। नदियो द्वारा सागर मे तथा डेल्टाई भाग मे निक्षेप होने लगता है तब डेल्टाई भाग का भार बढने लगता है तथा पहाडी भाग का भार कम होने लगता है। फलस्वरूप भू-सन्तुलन समाप्त हो जाता है। इसे स्थापित करने के लिए पहाडी भाग ऊपर उठने लगता है तथा डेल्टाई भाग नीचे धँसकने लगता है, और नीचे-नीचे डेल्टाई भाग का मलवा पहाडी भाग के नीचे आने लगता है, ताकि संतुलन बना रहे। संक्षेप मे कहा जा सकता है कि पृथ्वी का प्रत्येक भाग नियमानुसार एक स्थिर अवस्था मे स्थित है। इस दशा को संतुलन की दशा कहते हैं। **इस प्रकार पृथ्वी के धरातल पर जहाँ कहीं भी संतुलन होता है, वहाँ पर बराबर धरातलीय क्षेत्र के नीचे पदार्थ की बराबर राशि या पिण्ड** (Mass) **होता है।** (This doctrine states that wherever equilibrium exists on the earth's surface, equal mass must underlie equal surface areas" J. A Steers, The Unstable Earth, Page, 71, 1961)

संतुलन के सिद्धांत का साधारणतौर पर यह तात्पर्य होता है कि पृथ्वी मे एक ऐसा तल (क्षतिपूर्ति तल-Level of Compensation) होता है जिसके ऊपर चट्टानो की रचना के अनुसार विभिन्न भागो के पदार्थों के घनत्व मे अन्तर पाया जाता है लेकिन उस तल के नीचे घनत्व सर्वत्र समान होता है। किसी भाग के घनत्व तथा ऊँचाई मे उल्टा अनुपात[1] (Inverse proportion) होता है। अर्थात् ऊँचे भाग का घनत्व कम होगा तथा निचले भाग का घनत्व अधिक होगा। इस प्रकार पर्वतों

1. ऊँचा भाग-कम घनत्व और नीचा भाग-अधिक घनत्व।

का घनत्व पठारो से कम तथा पठारो का मैदानो से कम एव मैदानों का घनत्व सागर-तली से कम होगा। परन्तु यहाँ पर यह याद रखना होगा कि प्रत्येक भाग (Column) क्षतिपूर्ति-तल (Level of Compensation) पर बराबर दवाव रखता है। इस विषय मे अनेक मत हैं जिनकी विवेचना हम आगे करेंगे।

संतुलन के सिद्धांत की खोज (Discovery of Doctrine of Isostasy)—सतुलन के सिद्धात का विचार अचानक भूगर्भवेत्ताओं के मस्तिष्क मे आया। सन् 1859 ई० मे सिन्ध-गगा के मैदान के अक्षाशो के निर्धारण हेतु, भूसर्वेक्षण (Geodetic Survey) हो रहा था। उस समय कल्याण तथा कल्याणपुर नामक दो स्थानो का अक्षाशीय माप त्रिभुजीकरण (Triangulation) तथा खगोलीय विधि (Astronomical method) के अनुसार लिया गया तो दोनों मापो मे 5.236″ का अन्तर आ गया[1]। कल्याण हिमालय से केवल 60 मील दूर स्थित था। इस प्रकार अब दोनो मापो मे अन्तर आने का कारण पूछा गया तो एयरी महोदय ने बताया कि यह अन्तर हिमालय पर्वत की निकटता के कारण था क्योंकि हिमालय अपनी आकर्षण शक्ति मे पेण्डुलम को आकर्षित कर रहा था।

इस तरह प्रथम तथ्य का सूत्रपात हुआ कि हिमालय की आकर्षण शक्ति माप मे अन्तर का कारण थी। जब यह समस्या प्राट महोदय (Archdeacon Pratt) के के सामने रखी गयी तो उन्होंने एक नई व्याख्या प्रस्तुत की। उन्होंने यह मान लिया कि महाद्वीपो की तरह हिमालय भी सियाल का बना था, जिसका घनत्व 2.75 था। इस आधार पर जब उन्होंने गणना की तो यह अन्तर और आना चाहिये था जो कि 15 885″ के बराबर था। इस प्रकार प्राट ने इस मत का अनुमोदन किया कि माप का अन्तर केवल 5 236″ न होकर 15 885″ होना चाहिये था। अर्थात् हिमालय को पेण्डुलम को और अधिक आकर्षित करना चाहिये था। प्राट के अनुसार हिमालय यदि 2.75 घनत्व वाली शैल का बना है तो वह सही रूप मे अपनी आकर्षण शक्ति का प्रयोग नही कर रहा है। आगे चल कर एयरी तथा प्राट की व्याख्याओ (Interpretations) ने एक दूसरी समस्या को जन्म दिया—हिमालय की कम आकर्षण शक्ति का वास्तविक कारण ? इस कारण के लिए अनेक सुझाव दिये गये :

1 हिमालय एक खोखला भाग है जिसके अन्दर चट्टान न होकर बुलबुले (Bubbles) है। इस कारण से पर्वत का भार तथा घनत्व कम होगा, जिस कारण माप मे अन्तर आ गया। यह मत सर्वथा काल्पनिक सिद्ध कर दिया गया है क्योकि यह न्यायसंगत नही है कि बुलबुले का बना इतना ऊँचा खोखला पर्वत धरातल पर टिक सकता है।

2 हिमालय के ऊपर अत्यधिक पदार्थ का संतुलन उसके नीचे कम घनत्व वाले पदार्थ से होता है। इस कारण समस्त भार कम होगा तथा आकर्षण शक्ति कम होगी। (Excess of matter of the Himalayas was Compensated for by a deficiency of density beneath the surface either locally or a field)

3 हिमालय की शैल का घनत्व स्वयं कम होगा जिस कारण पर्वत का भार तथा आकर्षण शक्ति कम होगी।

4 यह माना गया है कि पृथ्वी के अन्दर एक ऐसा तल (Level) होता है कि जिसके नीचे घनत्व मे अन्तर नही होता है। केवल इस तल के ऊपर ही अन्तर पाया जाता है। इस प्रकार इस तल के सहारे सभी भाग (Masses) बराबर भार रखते हैं। इस आधार पर यह मान लिया गया है कि जितना ही बडा भाग होगा घनत्व उतना ही कम होगा तथा जितना ही छोटा भाग होगा, उतना ही घनत्व अधिक होगा (Bigger the column, lesser the density and smaller the column, greater the density).

इस प्रकार धीरे-धीरे सतुलन के सिद्धात का प्रतिपादन हुआ। इस सिद्धात के विषय मे कई विद्वानो ने अपने मत प्रस्तुत किये हैं जिनमे पर्याप्त अन्तर मिलता है। यहाँ पर हम कुछ प्रमुख विद्वानो के मतो की विवेचना करेंगे।

---

1. त्रिभुजीकरण विधि द्वारा परिणाम = 5° 23′ 42.294″
   खगोलीय विधि द्वारा परिणाम = 5° 23″ 37.058″
   अन्तर = 5.236″

सर जार्ज एयरी का मत (Airy's Views)

एयरी ने बताया है कि हिमालय का आन्तरिक भाग खोखला नही हो सकता है। वास्तव मे अधिक पदार्थ का भार नीचे मे कम पदार्थ द्वारा सन्तुलित हो जाता है। उन्होने सर्वप्रथम इस मत का सुझाव दिया कि पृथ्वी की "क्रस्ट" (पपडी) अधिक घनत्व वाले अधःस्तर (Substratum) मे तैर रही है। अर्थात् 'सियाल', 'सीमा' पर तैर रहा है। इस प्रकार हिमालय भारी ग्लासी मैगमा मे तैर रहा है। उन्होने आगे पुन स्पष्ट किया-कि हिमालय केवल धरातलीय आकृति ही नही है तथा केवल अधःस्तर के ऊपरी भाग तक ही नही तैर रहा है,वरन् काफी नीचे तक प्रविष्ट है। जिस प्रकार एक नाव पानी मे तैरती है तथा उसका अधिकाश भाग जल मे डूबा रहता है उसी प्रकार हिमालय भी अधिक घनत्व वाले मैगमा मे तैर रहा है तथा उसका अधिकाश भाग नीचे काफी गहराई तक व्याप्त है। इस विचार को दूसरे रूप मे भी समझाया जा सकता है। जिस प्रकार बर्फ का टुकडा (Iceberg—प्लावी हिम शैल) जब जल मे तैरता है तो उसके एक भाग को जल के ऊपर रहने के लिए उसका नौ (9) भाग जल मे रहना आवश्यक है, उसी प्रकार यदि महाद्वीपीय भागो का औसत घनत्व 2.67 तथा सबस्ट्रैटम का 3 00 मान लिया जाय तो क्रस्ट के प्रत्येक भाग को सबस्ट्रैटम के ऊपर रहने के लिए क्रस्ट के (9) भाग को सबस्ट्रैटम के नीचे रहना पडेगा। यहाँ पर यह स्मरणीय है कि एयरी ने आईसबर्ग के तैराव (Floatation) का उद्धरण प्रस्तुत नहीं किया है, वरन् उन्होने इतना ही बताया है कि स्थल भाग मैगमा पर नाव की तरह तैर रहा है।[1] यदि तैराव के उपर्युक्त सिद्धान्त को एयरी के सिद्धान्त मे प्रयुक्त किया जाय तो हिमालय जितना ऊपर है (8488 मीटर) उसका नौ गुना भाग नीचे की तरफ होगा। यदि हिमालय की ऊँचाई मोटे-तौर पर 8488 मीटर मान ली जाय तो 8488मी० × 9 = 76392 मीटर तक का भाग जो कि हल्के पदार्थों का होगा, सबस्ट्रैटम मे होगा।

इस प्रकार एयरी ने यह बताया कि हिमालय अपनी वास्तविक आकर्षण शक्ति का प्रयोग कर रहा है क्योकि इसकी हल्के पदार्थ वाली एक लम्बी जड (Root) है जो कि सबस्ट्रैटम मे है तथा यह हल्के पदार्थ वाली एक लम्बी जड ऊपर के पदार्थ को सन्तुलित कर देती है। इन आधारो पर एयरी ने अपने इस मत का प्रतिपादन किया कि जो भाग अधिक ऊँचा होगा उसका अधिक भाग सबस्ट्रैटम मे डूबा होगा और जो भाग कम ऊँचा होगा उसका कम भाग डूबा रहेगा।

एयरी ने पुन बताया कि विभिन्न स्तम्भो (Columns) का घनत्व बराबर होता है तथा उनकी गहराई मे परिवर्तन होता है (Uniform density with varying thickness)। अर्थात महाद्वीपीय भाग एक ही प्रकार के घनत्व वाली शैलो का बना है परन्तु उसके विभिन्न भागो की गहराई (Thickness or length) मे पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। इस बात को प्रमाणित करने के लिए एयरी ने लोहे के विभिन्न आकार तथा लम्बाई वाले टुकडे लिए तथा उन्हे पारे से भरी बेसिन मे डुबो दिया। ये टुकडे अपने आकार के अनुसार भिन्न-भिन्न गहराई तक डुबते गये। इसी बात को लकडी के टुकडो को जल मे डुबा कर भी प्रमाणित किया जा सकता है। उपर्युक्त तथ्य चित्र 112 से स्पष्ट हो जाता है।

साराश मे एयरी के मत को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है कि ऊँचे उठे भाग काफी गहराई तक अपनी लम्बी जड से सबस्ट्रैटम के अधिक घनत्व वाले भाग को हटा देते हैं, जिस कारण ऊँचे उठे भागो के नीचे काफी गहराई तक हल्के पदार्थ का विस्तार होता है। ऐसा पर्वतो के विषय मे होता है। इस प्रकार ये सन्तुलित होकर पृथ्वी पर स्थित है। इसके विपरीत कम ऊँचे भाग अथवा निचले भाग कम गहराई तक प्रविष्ट होते हैं, अत वे अधिक घनत्व वाले भाग को थोडी मात्रा मे ही हटा पाते है, जबकि उनके नीचे सबस्ट्रैटम का अधिक घनत्व वाला पदार्थ अधिक मात्रा मे होता है। इस प्रकार ऊँचे उठे भाग तथा निचले भाग एक साथ सन्तुलित होकर खडे रहते है। प्रत्येक भाग (Column)

---

1. The State of the earth's crust lying upon lava may be compared with perfect correctness to the raft of a-timber, floating upon the water, in which, if we remark one log whose surface floats much higher than the upper surfaces of the other we, are certain that its lower surface lies deeper in the water than the lower surfaces of the others" Airy, G. B. Introduction to Geographical Prospecting by Dorbin, Page 36.

सन्तुलन तल या रेखा (Balance line) पर बराबर भार रखता है।

यद्यपि वर्तमान समय मे एयरी के मत को सबसे अधिक समर्थन प्राप्त है तथापि इसमे भी कुछ दोष अवश्य



चित्र 112
सर जार्ज एयरी के अनुसार सन्तुलन की स्थिति।

हैं। यदि एयरी के मत को मान्यता प्रदान की जाती है तो प्रत्येक ऊपर स्थित भाग अपनी ऊँचाई के अनुसार नीचे की तरफ जड रखते हैं। इस प्रकार हिमालय की लगभग 8488 मीटर गहरी जड होगी (8488 मी० × 9 = 76392 मीटर) यह भी ज्ञात तथ्य है कि ऊपरी भाग से पृथ्वी के नीचे जाने पर तापक्रम प्रति 32 मीटर पर 1° सेण्टीग्रेड बढ जाता है। इस प्रकार हिमालय की इतनी लम्बी जड 76392 मीटर की गहराई पर अत्यधिक ताप के कारण पिघल जायेगी। अत यह मत यहाँ पर भ्रामक प्रतीत होता है।

प्राट का मत (Views of Archdeacon Pratt)

प्राट महोदय ने कल्याण तथा कल्याणपुर के लिये गये अक्षांशीय माप के अन्तर (5 236″) को भली-भाँति पढा तथा हिमालय का औसत घनत्व 2 75 मानकर उसकी आकर्षण शक्ति की गणना की तो पता चला कि यह अन्तर 15 885″ का होना चाहिए था। प्राट ने हिमालय की चट्टानो तथा समीपवर्ती मैदान की चट्टो के अध्ययन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि पर्वत काफी हल्के पदार्थो (कम घनत्व वाले पदार्थों) के बने हैं। इस आधार पर इन्होने बताया कि पहाडो का घनत्व पठारो से कम, पठारो का मैदानो से कम तथा मैदानो का घनत्व समुद्र-तली से कम होता है। अर्थात् ऊँचाई एवं घनत्व मे उल्टा अनुपात होता है। प्राट के अनुसार एक क्षतिपूर्ति तल (Level of compensation) होता है जिसके ऊपर घनत्व के अन्तर पाया जाता है तथा नीचे समान घनत्व होता है। एक स्तम्भ (Column) मे घनत्व नही बदलता है, परन्तु एक स्तम्भ से दूसरे स्तम्भ के घनत्व मे अन्तर पाया जाता है इस प्रकार प्राट ने अपने प्रमुख मत "Uniform depth with varynig density" का प्रतिपादन किया।

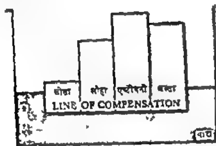


चित्र 113
प्राट के अनुसार क्षति-पूर्ति रेखा।

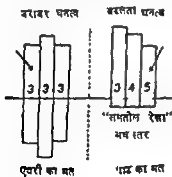
प्राट के अनुसार पृथ्वी में एक सीमित क्षेत्र होता है, जिसमे घनत्व मे अन्तर पाया जाता है। क्षति-पूर्ति रेखा (Line of compensation) के सहारे धरातल के बराबर क्षेत्र के नीचे बराबर मास (Mass) होना चाहिए। इस तथ्य को एक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है।

चित्र 113 म समतोल रेखा के सहारे दो स्तम्भ हैं। A तथा B के धरातलीय क्षेत्र बराबर हैं, परन्तु उनकी ऊँचाई मे पर्याप्त अन्तर है। लेकिन दोनो का भार सन्तुलन के लिए कम्पनसेशन रेखा के सहारे बराबर होना चाहिये (Equal mass must underlie equal surface area)। इसके लिये A स्तम्भ का घनत्व कम तथा B स्तम्भ (Column) का घनत्व अधिक होना चाहिये, ताकि दोनो का भार सन्तुलन रेखा पर बराबर हो सके। इस प्रकार प्राट मे इस मत का प्रतिपादन किया, कि ऊँचाई तथा घनत्व का उल्टा अनुपात होगा—ऊँचा स्तम्भ कम घनत्व, नीचा स्तम्भ अधिक घनत्व (Bigger the column lesser the density, smaller the column, greater the density)। प्राट के अनुसार घनत्व मे अन्तर केवल स्थलमण्डल मे होता है, Pyrosphere तथा Barysphere मे नही होता है। इस प्रकार प्राट का विश्वास तैराव के नियम (Law of floatation) मे न होकर क्षतिपूर्ति तल के नियम (Law of Compensation) मे था। प्राट के अनुसार पृथ्वी के विभिन्न उच्चावच्च इसलिये रुके हैं कि उनके घनत्व मे अन्तर पाया जाता है, परन्तु उनका भार सन्तुलन रेखा के सहारे बराबर होता है। प्राट के मत को चित्र 114 से समझा जा सकता है। बोवो (Bowie) ने यह मत

व्यक्त किया है कि यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से तैराव के नियम (Law of Floatation) में प्राट का विश्वास नहीं है परन्तु यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो उनके मत में भी इसकी झलक आती है। साथ ही साथ जड़-निर्माण (Root formation) के विचार की झलक भी प्राट के सिद्धान्त में देखी जा सकती है—यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से प्राट यह नहीं मानते है। बोवी के अनुसार 'एयरी' तथा 'प्राट' के मतों में प्रमुख अन्तर इस रूप में है कि—"एयरी ने बताया कि विभिन्न स्तम्भों का घनत्व बराबर होता है, केवल उनकी गहराई में अन्तर होता है। प्राट ने बताया कि एक समान गहराई में घनत्व में अन्तर होता है।"



चित्र 114
सन्तुलन की स्थिति (प्राट के मत का स्पष्टीकरण)।



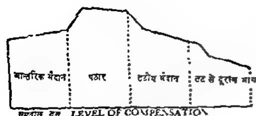
चित्र 115
एयरी तथा प्राट के मतों की तुलना।

The fundamental difference between Airy's and Pratt's views is that the former postulated a uniform density with varying thickness and the later a uniform depth with varying density';...Bowie, "The Unstable Earth,' J. A. Steers, Page 74

हेफोर्ड एवं बोवी के मत (Hayford & Bowie's views)

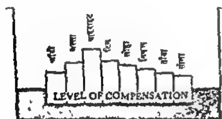
हेफोर्ड तथा बोवी ने प्राट के मत से मिलते-जुलते अपने एक अलग मत का प्रतिपादन किया। हेफोर्ड के अनुसार भूपृष्ठ के नीचे अलग-अलग घनत्व के भाग विद्यमान हैं। परन्तु धरातल से नीचे की तरफ कुछ गहराई में एक ऐसा तल है जिसके ऊपर घनत्व में अन्तर होता है तथा नीचे की तरफ घनत्व समान होता है। हेफोर्ड ने इसे "समतोलतल" (Level of compensation) बताया है। इस तल के ऊपर घनत्व तथा ऊँचाई के साथ उलटा अनुपात होता है। 'समतोल तल' धरातल से 100 किलोमीटर की गहराई पर विद्यमान है। इस तल के ऊपर कम घनत्व वाले चट्टानी भागों की ऊँचाई अधिक तथा अधिक घनत्व वाले चट्टानी भागों की ऊँचाई कम होगी। इस तथ्य को चित्र 116 से भली-भाँति समझा जा सकता है।

चित्र 116 में आन्तरिक मैदान (Interior plain), पठार, तटीय मैदान (Coastal plain) तथा तट से दूर स्थित भाग (Offshore region) के चार स्तम्भ है। इनकी ऊँचाई में पर्याप्त अन्तर है परन्तु उनका सतुलन घनत्व की विभिन्नता से हो जाता है। इस प्रकार सभी स्तम्भों का भार "समतोल तल" पर बराबर है। चित्र 116 से यह भली-भाँति स्पष्ट है कि ऊँचाई तथा घनत्व में विलोम अनुपात है। "समतोल तल" की विचार-धारा को स्पष्ट करने के लिए बोवी ने एक उदाहरण का सहारा लिया। उन्होंने लोहा, चाँदी, ताँबा सीसा, जस्ता, पाइराइट, टिन तथा निकल के बराबर चौड़ाई तथा मोटाई के आठ टुकड़े लिये जिनकी लम्बाइयाँ भिन्न-भिन्न थी। इन टुकड़ों को पारे (Mercury) से भरे बेसिन में रखा तो सभी टुकड़ों का निचला तल बराबर था साथ ही साथ कम घनत्व वाले टुकड़े अधिक ऊँचाई में तथा अधिक घनत्व वाले टुकड़े कम ऊँचाई में स्थित थे। इस प्रकार बोवी ने यह बताया कि समान क्षेत्रफल वाले भाग के नीचे का भार समान होता है (Equal mass under equal surface area)। इस प्रकार इन्होंने यह बताया कि विभिन्न आयतन वाले भाग अपने विभिन्न घनत्व से सन्तुलित होकर इस तरह एक दूसरे के साथ रुके हुये हैं कि "समतोल तल" पर उनका भार बराबर है। बोवी का मत चित्र 117 में भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है।



चित्र 116
संतुलन की स्थिति (समतोल तल)।

बोवी ने एयरी तथा प्राट के विचारों का तुलनात्मक अध्ययन किया तथा इस निष्कर्ष का प्रतिपादन किया कि दोनो विचार एक से नजर आते है यद्यपि, उनमें पूर्ण एकता नही है बल्कि समानता है (Both the views appear to him similar but not the same)। उन्होंने बताया कि एयरी के अनुसार घनत्व विभिन्न स्तम्भों में समान रहता है जब कि प्राट के अनुसार यह घनत्व बदलता रहता है। बोवी ने हेफोर्ड के इस मत का भी अनुमोदन किया कि "समतोल रेखा" (Line of compensation) के ऊपर घनत्व लम्बवत् रूप मे



(बोवी के आधार पर)
चित्र 117
सतुलन की स्थिति (बोवी के अनुसार)

बदलता है, क्षैतिज रूप में नही। बोवी ने पुन बताया कि यद्यपि प्रत्यक्ष रूप में नहीं तो अप्रत्यक्ष रूप मे अवश्य प्राट के विचारों में एयरी की "जड-बनावट" (Root formation) तथा "तैराव-सिद्धान्त" (Law of floatation) की झलक आती है। बोवी तथा हेफोर्ड के अनुसार धरातलीय भाग लम्बवद् स्तम्भ के रूप में है। परन्तु यह मत अमान्य है क्योंकि भूभाग क्षैतिज परत (Horizontal layers) के रूप में है। हेफोर्ड तथा बोवी के अनुसार क्षति पूर्ति तल (Level of compensation) धरातलीय सतह से 96 या 112 किलोमीटर की गहराई पर पाया जाता है। यदि हम पृथ्वी के आन्तरिक भाग मे बढते ताप पर ध्यान दें तो यहाँ पर कुछ आपत्तियाँ आ सकती हैं। इतनी अधिक गहराई पर अधिक ताप के कारण चट्टानो का द्रवणांक विन्दु (Melting point) आ जाता है। इस प्रकार चट्टानो के पिघल जाने पर "क्षति-पूर्ति तल" सम्भव नही हो सकता है।

जोली का मत (Joly's View)

सन् 1925 मे जोली ने संकुचन के सिद्धान्त पर अपना मत प्रस्तुत करते हुये हेफोर्ड तथा बोवी के मत का खण्डन किया। हेफोर्ड तथा बोवी के अनुसार एक "क्षतिपूर्ति तल" होता है जिसके ऊपर घनत्व बदलता है परन्तु उसके नीचे घनत्व समान होता है। जोली ने बताया कि प्रयोग मे ऐसा कोई निश्चित तल नहीं हो सकता है क्योंकि भूगर्भिक क्रियायें इनमे आसानी से अव्यवस्था तथा व्यतिक्रम उपस्थित करके इस "क्षति-पूर्ति तल" को नष्ट कर सकती है। जोली के अनुसार "समान घनत्व वाले क्षेत्र के" नीचे 10 मील मोटी परत होती है, जिनके घनत्व में परिवर्तन पाया जाता है। इस दस मील मोटी परत में कम घनत्व वाले क्षेत्र नीचे तक हल्के पदार्थ वाले भूपृष्ठ के रूप मे डूबे रहते हैं तथा अधिक घनत्व वाला भाग भारी पदार्थ से भरा होता है। इस प्रकार इस असमान घनत्व वाली परत मे विभिन्न घनत्व वाले भागों का निचला तल एक समान न होकर भिन्न-भिन्न होता है। यहाँ पर यह स्पष्ट है कि जोली ने "क्षतिपूर्ति-तल" को एक रेखा के रूप में न मानकर एक समूची 10 मील मोटी परत को ही "क्षतिपूर्ति मण्डल" (Zone of compensation) माना है। इस प्रकार जोली के मत में भी तैराव के सिद्धान्त (Law of floatation) की झलक है परन्तु यह विचार हेफोर्ड एवं बोवी के अनुसार न होकर एयरी के "तैराव सिद्धान्त" के काफी नजदीक है। इस मत के अनुसार भूपटल हल्के पदार्थ सियाल का बना है जिसका घनत्व 2 67 है तथा भूगर्भ सीमा का बना है जिसका घनत्व 3 00 है। इस सीमा के ऊपर भूपृष्ठ "प्लावी हिम" (Icebergs) की तरह तैर रहा है।

आर्थर होम्स का मत (Views of Arthur Holmes)

आर्थर होम्स का विचार भी सर आर्ज एयरी के मत से पर्याप्त मेल खाता है। एयरी की तरह होम्स ने भी स्वीकार किया है कि ऊँचे उठे भागों की रचना हल्के पदार्थ से होती है तथा उन्हे संतुलित रखने के लिये उनका अधिकांश भाग अधिक गहराई तक डूबा रहता

(जोली के आधार पर)

चित्र 118

संतुलन की स्थिति (क्षति-पूर्ति मण्डल)

है, जिसका घनत्व काफी कम होता है। भूकम्पीय लहरों एवं भूकम्प-विज्ञान के आधार पर होम्स ने पृथ्वी के अन्दर विभिन्न घनत्व वाली विभिन्न परतों का पता लगाया है। इस पर पर्वतीय भागों के नीचे सियाल की जड़ होती है जो 40 किलोमीटर या इससे अधिक गहराई तक रहती है। सागर-तल के निकट मैदान के नीचे सियाल की गहराई 10 या 12 किलोमीटर होती है तथा सामुद्रिक तली के नीचे या तो सियाल होती ही नहीं, अगर होती भी है तो वह अत्यन्त पतली होती है। **होम्स** ने बताया कि ऊँचे उठे भाग इस लिये स्थिर हैं क्योंकि उनके नीचे काफी गहराई तक कम घनत्व वाला हल्का पदार्थ पाया जाता है। निचले भागों के नीचे अधिक घनत्व वाले पदार्थ होते हैं। होम्स के अनुसार प्रयोग में यद्यपि भूतल पर सतुलन की स्थिति पूर्ण रूप से नहीं पाई जाती तथापि पूर्ण स्थिति की ओर सतुलन की दशा दृष्टिगत होती है। "In practice, perfect isostasy

(होम्स के आधार पर)

चित्र 119

संतुलन की स्थिति (सियाल तथा सीमा का वितरण)।

is rarely attained, though there is generally of remarkable close approach."[1]

भूतल पर संतुलन की व्यवस्था

(Insostatic Adjustment)

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि भूतल पर सतुलन पूर्ण रूप से नहीं देखा जाता है, क्योंकि भूगर्भिक शक्तियाँ (Geological forces) इसमें अव्यवस्था स्थापित करने में कार्य रत रहती है। सतुलन स्थानीय (Local) होता है अथवा प्रादेशिक, इस समस्या पर भी पर्याप्त मत-भेद है, परन्तु अधिकांश प्रयोगों तथा पर्यवेक्षणों के आधार पर यह सही लगता है कि विस्तृत क्षेत्र में संतुलन की स्थिति अवश्य होती है। स्थानीय क्षेत्र में समस्थिति या सतुलन का होना आवश्यक नहीं है। यह हो भी सकता है, नहीं भी। भूगर्भिक शक्तियों के कारण प्राय धरातल पर परिवर्तन होते रहते हैं। इन परिवर्तनों के कारण सतुलन की आदर्श स्थिति में अव्यवस्था हो जाती है। जब किसी स्थान पर पर्वत-श्रेणी का निर्माण होता है तो उस पर शीघ्र ही अपरदन का कार्य प्रारम्भ हो जाता है। इस प्रकार अपरदन के कारण पर्वत की ऊँचाई घटने लगती है। इसके विपरीत क्षयित पदार्थ सागर में जमा होने लगता है जिस कारण वहाँ पर भार बढ़ने लगता है। इस प्रकार पर्वतीय भाग हल्का होने लगता है तथा सागरतली भारी हो जाती है। फलस्वरूप दोनों में सतुलन की स्थिति अव्यवस्थित हो जाती है। परन्तु सतुलन का होना आवश्यक है।

(होम्स के आधार पर)

चित्र 120

भूपटल पर संतुलन की व्यवस्था

उपर्युक्त क्रियाओं के कारण पर्वतीय भाग के क्षयित होने से उसका दबाव कम हो जाता है। फलस्वरूप उसमें उठाव या उभार होने लगता है। इसके विपरीत सागर-

1 Holmes, A., 1954—Principles of Physical Geology, Thomas Nelson & Sons Ltd., London. P. 33.

तली (Ocean floor) नीचे धँसकने लगती है। इस प्रकार दो जगहों पर दबाव के अन्तर के कारण सबस्ट्रेटम (Substratum) मे भारी पदार्थों का हल्के पदार्थों की तरफ "मन्द बहाव" (Slow flowage) प्रारम्भ हो जाता है। परिणाम मे क्षयित स्तम्भ ऊपर उठने लगते हैं तथा अधिक भार वाले भाग नीचे धँसने लगते हैं। सबस्ट्रेटम का ऊपरी भाग सियाल के ऊपरी भाग के विपरीत गैस-युक्त तथा गर्म होता है। इस कारण पदार्थों का बहाव होता है। परन्तु यह बहाव अत्यन्त मन्दगति से होता है। इस प्रकार पदार्थों की स्थान-पूर्ति होती रहती है तथा पुन सन्तुलन की व्यवस्था स्थापित हो जाती है। इसे रेखा-चित्र 120 की सहायता से अच्छी तरह समझा जा सकता है।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि भूगर्भिक शक्तियाँ इतनी शीघ्रता तथा तेजी से कार्य करती हैं कि सन्तुलन की व्यवस्था अचानक अव्यवस्थित हो जाती है तथा सब-स्ट्रेटम के अन्दर पदार्थों के मन्द बहाव के कारण उसकी स्थापना नही हो पाती है। उदाहरण के लिये प्लीस्टोसीन युग मे हिमानीकरण के कारण युरेशिया तथा उत्तरी अमेरिका का अधिकाश भाग हिमाच्छादन के कारण भार की अधिकता से नीचा हो गया था, परन्तु आज से लग-भग 25,000 वर्ष पूर्व जब हिम-चादर शीघ्रता से पीछे हटने लगी तो पहले का अत्यधिक भार शीघ्रता से कम हो गया, जिस कारण स्थल भाग तेजी से ऊपर उठने लगा। इस प्रकार सन्तुलन की अवस्था अव्यवस्थित हो गयी। यह पता चला है कि स्कैन्डीनेविया तथा फिनलैंड का अधिकाश भाग 900 फीट ऊँचा उठ गया है तथा प्रति 28 वर्ष बाद एक फुट स्थल भाग ऊँचा उठ जाता है। वर्तमान समय तक भी इन स्थानो में सन्तुलन की व्यवस्था स्थापित नही हो सकी है तथा यहाँ पर पूर्ण सन्तुलन की व्यवस्था के लिए यह आवश्यक है कि यह भाग भविष्य मे 700 फीट ऊँचा उठे।

सन्तुलन की व्यवस्था का तात्पर्य समस्थिति की अवस्था से होता है। यह किसी तरह की भूगर्भिक शक्ति *नही है वरन् यह एक प्रकार की दशा है जब अपरदन* तथा निक्षेप, आग्नेय क्रिया या भू-हलचल के कारण इस सन्तुलन की दशा मे अव्यवस्था होती है तो गुरुत्वाकर्षण की शक्तियाँ कार्यरत होकर संतुलन स्थापित करने का प्रयास करती हैं। विस्तृतक्षेत्र मे सन्तुलन की स्थिति पायी जाती है, परन्तु कभी-कभी भूकम्प या ज्वालामुखी आदि के कारण क्षेत्रो मे हलचल के कारण सन्तुलन की स्थिति मे असगति (Anomalies) पाई जाती है पर इस तरह की असगति सीमित क्षेत्र मे स्थानीय रूप मे ही होती है। मोटे तौर पर भूतल पर लगभग सतुलन पाया जाता है। इसी कारण सन्तुलन के सिद्धान्त को अब एक 'तथ्य' (Fact) या 'नियम' (Doctrine) माना जाता है।

———

भूपटल को प्रभावित करने वाले बल

(Forces Affecting the Earth's Crust)

सामान्य परिचय

यदि हम भूतल का विहंगावलोकन करें तो हमे लगेगा कि उच्चावच और स्थलरूप स्थिर तथा अपरिवर्तनशील हैं परन्तु यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि भूतल के उच्चावच एवं स्थलरूप निश्चय ही परिवर्तनशील है। वास्तव में "परिवर्तन प्रकृति का नियम है।" यदि सभी प्रकार के स्थलरूपो के जीवन इतिहास का अध्ययन किया जाये तो यह स्पष्ट हो जाता है कि ये अपने वर्तमान स्थान पर सम्पूर्ण भूगर्भिक इतिहास के समय नहीं रहे है। इतना ही नहीं, इनका रूप सर्वदा एक सा नही रहा है।

पृथ्वी के भूगर्भिक इतिहास के अध्ययन से पृथ्वी के अन्दर तथा बाहर महान परिवर्तनो के उदाहरण मिलते है। जहाँ पर आज गगनचुम्बी पर्वत हैं वहाँ पर पहले सागरो का साम्राज्य था। उदाहरण के लिये आज से लगभग 20 करोड वर्ष पहले हिमालय के स्थान पर 'टेथीज सागर' हिलोरें मारता था। धीरे-धीरे टेथीज भूसन्नति के भरने और क्षैतिज तथा लम्बवत् भूसंचलन (Horizontal and vertical earth movement) के कारण उसके स्थान पर गगनचुम्बी हिमालय पर्वत का निर्माण हुआ। उत्तरी मैदान की प्रवाह-प्रणाली मे महान परिवर्तन हिमालय के बाद का परिवर्तन केवल प्राचीन भूगर्भिक इतिहास में ही नही घटित हुये है वरन् हाल मे भी घटित हुए है। संयुक्त राज्य के "कैलिफोर्निया" के "वेकर्स तेल क्षेत्र" मे तेल निकालने की पाइप मे हो रहे प्रतिवर्ष 2.5 सण्टीमीटर की दर से मुड़ाव ने वर्तमान समय में होने वाले परिवर्तन को प्रमाणित कर दिया है। भूकम्प तथा ज्वालामुखी प्रतिदिन भूतल के किसी न किसी स्थान पर अपने कारनामे दिखाकर पृथ्वी के परिवर्तनशील स्वभाव को प्रमाणित करते हैं। इतना ही नही 1967 के "कोयना भूकम्प" (11 दिसम्बर) ने प्राय-द्वीपीय भारत के स्थिर ब्लाक को अस्थिर बनाकर यह प्रमाणित कर दिया है कि भूतल का कोई भाग शाश्वत एवं स्थिर नही है।

भूतल तथा सागरतल दोनो परिवर्तनशील हैं। भूतल के अवतलन (Subsidence) तथा उत्थान (Upliftment) एवं सागरतल के अनुपात मे स्थलखण्ड के निमज्जन (Submergence) तथा निर्गमन (Emergence) के अनेक उदाहरण मिले है। यदि भारतीय तटो का अध्ययन किया जाय तो अवतलन एवं निर्गमन के कई उदाहरण मिलते हैं। सन् 1878 ई० में बम्बई द्वीप के पूर्वी भाग मे प्रिंसेज डाक की खुदाई के समय सागरतल के लगभग 6 6 मीटर नीचे जलमग्न पेड़ो के अवशेष मिले हैं। इसी तरह 1910 ई० मे प्रिंसेज डाक के दक्षिण मे जब खुदाई आरम्भ हुई तो गीली मिट्टी मे गडे हुए 2 से 2.3 मीटर लम्बे चार पेडो के ठूठ भाग मिले। इसमे यह अनुमान लगाया जाता है कि पहले जगल का आविर्भाव तट के पास हुआ होगा। परन्तु बाद मे अवतलन के कारण जंगल जल मे चला गया होगा तथा इसके ऊपर तलछट का निक्षेप हो गया होगा। इसी तरह के अवतलन के उदाहरण पूर्वी तट पर तिन्नेवली तथा पांडिचेरी के निकट तट से कुछ दूरी पर मिलते हैं। महाद्वीपो के अन्तर्गत सागरीय निक्षेप तथा लहरो के चिन्ह इस बात को प्रमाणित करते हैं कि सागरो की स्थिति परिवर्तनशील रही है तथा समय-समय से इनका स्थल के ऊपर अतिक्रमण (Transgression) और निवर्तन (Regression) होता रहता है। इटली मे सागर-तट से बहुत दूर आन्तरिक भाग मे स्थित नेपल्स नगर के पश्चिम मे स्थित सिरापिस के मन्दिर के वर्तमान तीन खडे स्तम्भो पर 6 मीटर की ऊँचाई पर लगे सागरीय चिह्न एवं सागरीय जीवों के अवशेष निश्चय ही सागर के अतिक्रमण-काल (Transgressional phase) को प्रदर्शित ही नही प्रमाणित भी करते है। भारत मे गढवाल तथा कुमायूं के चूने के पत्थर तथा राजस्थान की खारी झीलें तथा कच्छ के रेत मे निरन्तर विकास आदि तथ्य इस बात के परिचायक हैं कि कभी सागर का विकास गढवाल तथा कुमायूं तक था, राजस्थान आदि जलमग्न थे। बाद मे सागर का निवर्तन (Regression) होने से इन स्थलखण्डो का आविर्भाव हुआ।

भूतल पर परिवर्तन कभी-कभी मन्द गति से होता है है. जिसका आभास मानव को उस समय नही हो पाता है क्योंकि मानव-जीवन छोटा होता है (अधिकतम रूप मे हम 100 वर्ष मान सकते हैं) जबकि ये परिवर्त्तन हजारो वर्षों मे सम्पन्न होते हैं। इस तरह के परिवर्त्तन को हम **दीर्घकालिक परिवर्त्तन** या घटनायें कह सकते हैं। इसके विपरीत कभी-कभी कुछ ही क्षणो मे भूतल पर भयंकर परिवर्त्तन होते हैं जिनका अवलोकन मानव भयभीत नेत्रो से करता है। इस तरह के परिवर्त्तन अचानक तथा तीव्र होते हैं। प्रायद्वीपीय भारत के "कोयना नगर" के सोये हुए निरीह निवासियो को क्या पता था कि भूकम्प के विस्फोट का पर्यवेक्षण उन्हे ही करना होगा। इस तरह की घटना को **अल्पकालिक घटना या परिवर्त्तन** कहा जा सकता है। मानव दृष्टि से ये घटनायें भले ही हानिकर हो परन्तु स्थलरूपो की रचना के लिये इनका अधिक महत्त्व है। भूतल के ऊपर भी कई ऐसे कारक होते हैं जिनके द्वारा स्थलरूपो का विकास तथा विनाश दोनो होता है। उदाहरण के लिए समतल स्थापक शक्तियाँ (नदी, हिमानी, सागरीय लहर, पवन आदि) पृथ्वी की आन्तरिक शक्तियो द्वारा उत्पन्न स्थलीय विषमताओ को दूर करने मे सतत प्रयत्नशील रहती है। इस बीच वे तरह-तरह के स्थलरूपो का सृजन करती रहती हैं। भूतल पर परिवर्त्तन लाने वाले बलो (Forces) का आविर्भाव दो रूपो मे होता है। एक तो पृथ्वी के आन्तरिक भाग मे उत्पन्न बल होते हैं तथा दूसरे पृथ्वी के सतह पर वायुमण्डल मे उत्पन्न बल होते हैं। इन दोनो बलो द्वारा भूतल पर स्थलरूपो का विकास या विनाश होता रहता है। पृथ्वी के अन्दर से उत्पन्न होने वाले बल से पृथ्वी मे दो तरह की गतियाँ (सचलन—(Movements) उत्पन्न होती हैं—1. क्षैतिज सचलन (Horizontal Movement) तथा 2 लम्बवत सचलन (Vertical Movement)। इन गतियो द्वारा भूतल पर अनेक प्रकार के परिवर्त्तन (वलन, भ्रंशन, ज्वालामुखी-क्रिया भूकम्प आदि) हुआ करते हैं।

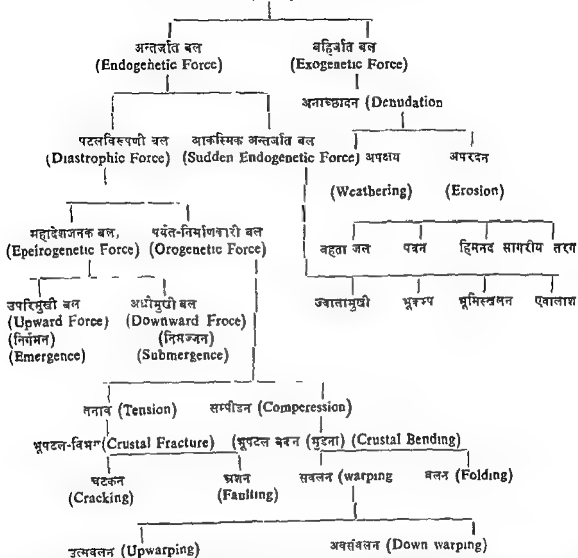
परिवर्त्तनकारी बलों का वर्गीकरण—उपर्युक्त विवरण के आधार पर भूतल पर परिवर्तन लाने वाले अर्थात् स्थलरूपो के निर्माण तथा उनमे परिवर्त्तन पैदा करने वाले वालो को मुख्य रूप से दो वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है :—

(1) **अन्तर्जात बल** (Endogenetic Forces)—पृथ्वी के आन्तरिक भाग से उठने वाले बलों को अन्तर्जात बल कहते है। इन बलो द्वारा भूतल पर विषमता का सूत्रपात होता है तथा तरह-तरह के स्थलरूपो का विकास होता है। उदाहरण के लिए पर्वत, पठार आदि का निर्माण इन्ही बलो द्वारा होता है। भूकम्प तथा ज्वालामुखी की क्रियाये भी अन्तर्जात बल की ही परिचायिका हैं। अन्तर्जात बल मन्द गति तथा तीव्र गति, दोनो ही रूपो मे सम्पन्न होते है। चूंकि इनका उद्भव-स्थल, पृथ्वी का आन्तरिक भाग होता है, जिसके विषय मे हमे बहुत कम जानकारी प्राप्त है, अतः इनके उत्पन्न होने के वास्तविक रूप का निश्चय नही हो पाता है। इन अन्तर्जात बलो का आविर्भाव पृथ्वी का शीतल होकर संकुचन, उसकी परिभ्रमण-गति मे ह्रास, रेडियोसक्रिय पदार्थों, संवाहनीय तरंगो आदि के कारण हो सकता है। पृथ्वी के अन्तर्जात बलो द्वारा भूतल मे दो तरह की गतियाँ उत्पन्न होती है। प्रथम लम्बवत गति जिसमे तनाव तथा खिंचाव आदि के कारण भूपटल मे भ्रंश आदि पड़ती है। इससे अवतलन या उत्थान भी होता है। द्वितीय गति क्षैतिज होती है, जिससे भूपटल मे वलन (Folds) पड़ने से वलित पर्वतो का आविर्भाव होता है।

(2) **बहिर्जात बल** (Exogenetic Forces)-बहिर्जात बल पृथ्वी के ऊपरी भाग पर वायुमण्डल से उत्पन्न होकर भूतल पर परिवर्तन करते हैं। बहिर्जात बल प्रायः समतल स्थापक होते हैं। अर्थात् बहिर्जात बलो द्वारा उत्पन्न विषमताओ को दूर करने का प्रयास करते हैं। बहिर्जात बलो को **स्थाकृतिक प्रक्रम** (Geomorphic process) भी कहा जाता है।

1. अन्तर्जात बल (Endogenetic Forces)

अन्तर्जात बल किस तरह उत्पन्न होते हैं तथा इनके उत्पन्न होने के प्रमुख कारण क्या है? आदि प्रश्नो का उत्तर देना सरल कार्य नही है। इसका प्रमुख कारण भूगर्भ के विषय मे हमारी सीमित जानकारी का होना ही बताया जा सकता है। वर्तमान समय तक प्रायः यही कहा जाता है कि अज्ञात कारणो से उत्पन्न भू-हलचल के कारण भूपटल के ऊपर तथा नीचे भूगर्भिक परिवर्त्तन हुआ करते हैं। अन्तर्जात बलो की उत्पत्ति के सम्भावित कारणो में शैलों का सिकुड़ना तथा फैलना ही सत्य के अधिक करीब लगता है, जो कई बातों पर आधारित है। तापीय अन्तर को अन्तर्जात बलो की उत्पत्ति के लिए



अधिक महत्त्वपूर्ण बताया जा सकता है। तापीय अन्तर के कारण ही चट्टानों में संकुचन अथवा फैलाव होता है, जिस कारण उनमें स्थानान्तरण होता है। यह स्थानान्तरण या समायोजन (Adjustment) कभी-कभी इतनी तीव्र गति से होता है कि पृथ्वी के अन्तर्गत संचलन (Movement) होने लगता है। इस सम्बन्ध में संकुचन महाद्वीपीय प्रवाह, महाद्वीपीय अवतलन, सम्वाहनीय तरंग, रेडियो एक्टिवता आदि सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। इनका इस पुस्तक में अलग-अलग अध्याय विशद विवरण दिया गया है। अन्तर्जात बल सदैव समान गति से कार्य नहीं करते हैं। कभी इनका कार्य तीव्र वेग से होता है तो कभी धीरे-धीरे एक लम्बे समय तक होता है। इस प्रकार तीव्रता के आधार पर अन्तर्जात बलों से उत्पन्न संचलन को दो वर्गों में विभाजित किया जाता है—आकस्मिक संचलन तथा (2) पटल विरूपणी संचलन।

1 आकस्मिक संचलन (Sudden Movements)—आकस्मिक अन्तर्जात बलों द्वारा उत्पन्न संचलन को इस श्रेणी में रखा जाता है। इससे उत्पन्न घटनायें आकस्मिक होती है तथा अचानक ही इनके द्वारा भूपटल के ऊपर तथा नीचे विनाशकारी परिवर्तन हो जाते हैं। आकस्मिक संचलन के प्रमुख कारण भूकम्प तथा ज्वालामु...

क्रिया है। यद्यपि इनकी उत्पत्ति धरातल पर या उसके नीचे अकस्मात् ही होती है परन्तु इनकी उत्पत्ति के लिए आवश्यक बल तथा अन्तर्जात क्रियायें पहले से ही भूपटल के नीचे होती रहती हैं। ज्वालामुखी-विस्फोट द्वारा अचानक क्रान्तिकारी परिवर्तन हो जाते हैं। लावा का भू-पटल के नीचे सिल, डाइक, बैथोलिथ, लैकोलिथ, फैकोलिथ, लोपोलिथ आदि के रूप में प्रवेश होता है तथा विभिन्न आभ्यान्तरिक स्थलरूपों का विकास होता है। धरातल के ऊपर भी लावा के प्रवाह के कारण लावा-पठार और लावा-मैदान का निर्माण होता है। लावा तथा ज्वालामुखी-पदार्थों के संचयन से तरह-तरह के ज्वालामुखी शंकुओं का निर्माण होता है। ऊपर उठे हुये शंकुओं में एसिड लावा शंकु, बेसिक लावा शंकु, सिण्डर या राख शंकु, मिश्रित शंकु, परिपोषित शंकु, लावा गुम्बद आदि प्रमुख हैं। नीचे धँसे हुए भागों में काल्डेरा शंकु तथा क्रेटर अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। भूकम्प भी आकस्मिक घटना का महत्वपूर्ण कारक है जिसके द्वारा कुछ क्षणों के अन्दर ही भूपटल पर झील या सागर का निर्माण हो जाता है, शहर ध्वस्त हो जाते हैं, नदियों के मार्ग में अवरोध हो जाने से बाढ़ें आ जाती हैं तथा झीलें बन जाती हैं, भूमिस्खलन तथा एवालांश (*Landslide and Avalanch*) अधिक सक्रिय हो जाते हैं। भूपटल में छोटी-बड़ी भ्रंश (Faults) तथा दरारें (Fractures) पड़ जाती हैं।

2 पटल-विरूपणकारी संचलन (Diastrophic Movements)—पटल-विरूपणकारी घटना के अन्तर्गत भूपटल की उन सभी संचलन को सम्मिलित किया जाता है जिनका आविर्भाव अन्तर्जात बलों द्वारा होता है। पटल-विरूपणकारी संचलन के अन्तर्गत लम्बवत और क्षैतिज दोनों प्रकार की गतियों को सम्मिलित किया जाता है तथा ये ही गतियाँ भूपटल पर विभिन्न प्रकार के वृहद् स्थल-रूपों का सृजन करती हैं। पटल विरूपणी बल मन्द गति से कार्य करते हैं तथा इनका प्रभाव हजारों वर्ष बाद परिलक्षित होता है। क्षेत्रीय विस्तार की दृष्टि से पटल-विरूपणी संचलन को दो वर्गों में विभाजित किया जाता है—1. महाद्वीपीय या महादेशीय संचलन तथा 2. पर्वत-निर्माणकारी संचलन।

(1) महादेशीय संचलन (Epeirogenetic Movement)—महादेशीय संचलन का आविर्भाव मुख्य रूप से पृथ्वी के अन्तर्जात महादेशजनक बलों से होता है। "Epeirogentic" शब्द ग्रीक भाषा के "एपीरोज" (Epeiros) जिसका शाब्दिक अर्थ 'महाद्वीप' होता है तथा 'जेनेसिस' (Genesis), जिसका शब्दार्थ उत्पत्ति होता है, दो शब्दों से मिलकर बना है। शब्द के वास्तविक अर्थ से ही प्रकट हो जाता है कि इस संचलन का सम्बन्ध महाद्वीपों से है। इस संचलन द्वारा महाद्वीपों में उत्थान (Upliftment) तथा अवतलन (Subsidence) और निर्गमन (Emergence) तथा निमज्जन (Submergence) की क्रियायें होती रहती हैं। ये दोनों क्रियायें लम्बवत संचलन की परिचायिका हैं। इसी कारण से इस लम्बवत संचलन को उत्पन्न करने वाले बल को त्रिज्यायी बल (Radial force) भी कहा जाता है, क्योंकि यह पृथ्वी की त्रिज्या की दिशा में ही कार्य करता है। संचलन की दिशा के ही आधार पर महादेशीय संचलन को दो वर्गों में विभाजित किया जाता है—(1) उपरिमुखी संचलन तथा (2) अधोमुखी संचलन।

(A) उपरिमुखी संचलन (Upward Movement)—स्थलभाग को ऊपर उठाने वाले बल के कारण महाद्वीपीय भागों में दो तरह के उत्थान होते हैं। प्रथम वर्ग में महाद्वीपीय भाग या महाद्वीप का कोई भाग अपनी समीपी सतह से ऊँचा उठ जाता है। इस क्रिया को उत्थान या उभार (Upliftment) कहा जाता है। दूसरे वर्ग में *महाद्वीप का तटीय भाग सागरतल से, जो कि पहले जलमग्न था, ऊपर उठ जाता है।* इस क्रिया को निर्गमन (Emergence) कहा जाता है। प्रत्येक महाद्वीप में उत्थान तथा निर्गमन के उदाहरण मिलते हैं। भारत का गंगा का डेल्टा कई बार दोनों क्रियाओं का शिकार हो चुका है। उत्थान या निर्गमन के ऐसे लक्षण होते हैं जो उनको प्रमाणित करते हैं—

(i) जब सागरीय तट कुछ समय के लिये स्थायी होता है तो सागरीय लहरें उस पर **क्लिफ** तथा सागरीय गुफाओं का निर्माण करती हैं। जब सागर-तल से ये चिह्न ऊपर मिलते हैं तो यह समझना चाहिये कि वहाँ पर तटीय भाग में उत्थान अवश्य हुआ है। (ii) इसी तरह सागरीय तटों पर पुलिन (Beaches) का निर्माण होता है। जब ये वर्तमान सागर-तल से ऊपर मिलती हैं तो ये उत्थित पुलिन (Raised beaches) उस तटीय भाग के उत्थान को प्रमाणित करती हैं। (iii) सागरीय लहरों द्वारा तटीय भागों पर वेदिकाओं (Wave-cut terraces) का निर्माण होता है। जब ये वेदिकायें सागर-तल से ऊपर होती हैं तो उस तटीय भाग में उत्थान का आभास होता है। (iv) प्रवालभित्तियों (Cotal reefs)

मे लगी सागरीय खरोचें भी उस भाग के सागर से निर्गमन को प्रमाणित करती हैं। भारत के पूर्वीय तटीय भाग मे तलछटीय जमाव तटीय भाग के उत्थान तथा अवतलन को प्रमाणित करता है। 16 जून सन् 1819 ई० को कच्छ का अधिकांश भाग भूकम्प के कारण जलमग्न हो गया था परन्तु उसी समय स्थल मे उत्थान के कारण 24 किलोमीटर लम्बे स्थल-खण्ड का कई मीटर की ऊँचाई मे उभार हो गया, जिस कारण कितने लोग मौत से बच सके। यह अल्लाह का बाँध (God's Bund or Allah Bund) स्थल-खण्ड के उत्थान का नवीनतम उदाहरण है। काठियावाड मे पोरबंदर के निकट तथा कलकत्ता नगर के पास सागर-तल से अधिक ऊँचाई पर मिलने वाले आयस्टर कोष (Oister Shells) उपर्युक्त तटों के उत्थान को भली-भाँति प्रमाणित करते है। बांगला देश मे ढाका के पास मधोपुर वन का हाल ही मे 35 मीटर ऊँचा उठ जाना उत्थान का ही द्योतक है।

भारत के अलावा अन्य देशो मे भी उपरिमुखी संचलन के कारण उत्थान के कई प्रमाण मिलते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका का अटलांटिक तटीय भाग सागरीय तलछट के आवरण से आच्छादित है। इससे प्रमाणित होता है कि पहले यह तट सागरीय जल द्वारा जलमग्न रहा होगा। परन्तु बड़े पैमाने पर क्षेत्रीय या प्रादेशिक उत्थान के कारण यह भाग सागर-तल से ऊपर उठ गया होगा तथा वर्तमान समय मे यह सागर-तल से पर्याप्त ऊँचाई पर है। सागरीय भाग से स्थल-खण्ड के निर्गमन के भी कई उदाहरण मिलते हैं। निर्गमन के कारण महाद्वीपीय चबूतरे (Continental shelves) ऊपर उठ आये हैं। ग्रेट ब्रिटेन मे ऐसे चबूतरे 34.5 मीटर की ऊँचाई तक मिलते हैं। नार्वे तथा स्वीडन के तटीय भागो मे निर्गमन द्वारा महाद्वीपीय चबूतरो के उत्थान के अनेक प्रमाण मिले हैं। यहाँ पर प्लीस्टोसीन हिमयुग के समय स्थल-खण्ड का कुछ अवतलन हो गया था परन्तु बाद मे हिमानी के पिघल जाने के कारण सतुलन की पूर्ति के लिये स्थल-खण्डो का ऊपर उठना प्रारम्भ हो गया तथा वर्तमान समय मे भी यह क्रिया सक्रिय है। उदाहरण के लिए बाल्टिक सागर का तट प्रत्येक 100 वर्षों मे 1.3 मीटर की दर से ऊपर उठ रहा है। इस उत्थान के कारण नार्वे मे महाद्वीपीय चबूतरे 183 मीटर की ऊँचाई पर मिलते है।

(B) अधोमुखी संचलन (Downward Movement) —स्थल भाग को नीचे धँसाने वाले बल के कारण महाद्वीपीय भागो मे दो तरह के धँसाव होते हैं—प्रथम रूप मे स्थल का भाग स्थानीय या प्रादेशिक रूप मे अपनी समीपी सतह से नीचे धँस जाता है। इस क्रिया को **अवतलन** (Subsidence) कहते हैं। दूसरे रूप मे स्थल-खण्ड सागर-तल से नीचे जाने के कारण जलमग्न हो जाता है। इस क्रिया को **निमज्जन** (Submergence) कहते है। अवतलन की क्रिया तटीय भाग तथा महाद्वीप के बीच कहीं भी हो सकती है। परन्तु निमज्जन की क्रिया तटीय भागो या सागरीय भागो मे ही होती है। स्थलभाग के अवतलन तथा निमज्जन को प्रमाणित करने के लिए कई लक्षण होते हैं। उदाहरण के लिए सागरतल से नीचे कोयले का पाया जाना, जलमग्न वनो की स्थिति, डूबी हुई घाटियाँ, प्रवाल-रोधिका *(Barrier-reef)* तथा प्रवाल द्वीप (Atoll) आदि स्थल-खण्ड के अवतलन या सागरतली के नीचे धँसकने के ही प्रमाण हैं। **डार्विन** के अनुसार प्रवाल द्वीप तथा प्रवाल-रोधिका का निर्माण सागर की डूबती या धँसती हुई तली मे होता है। अतः जहाँ पर ये पायी जाती हैं वहाँ पर स्थल-खण्ड के निमज्जन का आभास होता है। गंगा के डेल्टाई भाग मे कोयले की परतें सागर-तल से अधिक गहराई पर मिलती है। इससे प्रमाणित होता है कि स्थल-भाग पहले सागर-तल से ऊपर रहा होगा, जिस पर वनाच्छादन रहा होगा। परन्तु बाद मे अवतलन के कारण स्थल-खण्ड के साथ ही वन भी नीचे चले गये होंगे तथा उनका कोयले मे परिवर्तन हो गया होगा। बम्बई, पांडिचेरी एवं तिन्नेवली के तटों के पास जल मे धँसे वनो के भाग तटीय भाग के अवतलन को ही इंगित करते है। बम्बई के पास प्रिंस डाक की खुदाई से 5 से 10 मीटर की गहराई तक जलमग्न वनो के उदाहरण मिले हैं। इससे प्रमाणित होता है कि बम्बई के तट का अवतलन हुआ है। मेक्सिको की खाड़ी के उत्तरी तट मे अवतलन के प्रमाण मिले है तथा पिछले कई सौ वर्षों मे इसका तल कई मीटर नीचे धँस गया है। ब्रिटिश कोलम्बिया-तट से दूर स्थित द्वीप पहले महाद्वीपीय भाग से संलग्न थे। परन्तु बाद मे बीच के स्थल-खण्ड के अवतलन के कारण ये द्वीप महाद्वीप से अलग हो गये हैं। ब्रिटेन तथा नार्वे के बीच खुदाइयो से वृक्षो के अवशेष मिले हैं। इससे प्रमाणित होता है कि नार्वे और ब्रिटेन के बीच पहले स्थल-भाग रहा होगा जिस पर वनाच्छादन रहा होगा। बाद मे स्थल-खण्ड का अवतलन हो गया होगा।

(2) पर्वतीय संचलन (Orogenetic Movement)—अन्तर्जात बल द्वारा उत्पन्न पर्वतीय संचलन या पर्वत निर्माणकारी संचलन स्थलरूप की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि इस संचलन द्वारा भूपटल पर सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उच्चावच्च का आविर्भाव होता है। 'ओरोजेनेटिक' शब्द ग्रीक भाषा के 'ओरोज' (Oros) जिसका अर्थ पर्वत' है और 'जेनेसिस' (Genesis), जिसका अर्थ उत्पत्ति होता है, दो शब्दों से मिलाकर बना है। इसे और संक्षिप्त रूप में 'पर्वतन' कह सकते हैं। पर्वतीय संचलन में अन्तर्जात बल क्षैतिज रूप में कार्य करता है। अतः इस बल को स्पर्श रेखीय बल (Tangential froce) भी कहते हैं। क्षैतिज संचलन दो तरह से कार्य करता है। प्रथम रूप में जब बल दो विपरीत दिशाओं में क्षैतिज रूप में कार्य करता है तो उससे तनाव (Tension) की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इसे 'तनाव मूलक बल' (Tensional force) कहते हैं। तनाव द्वारा भूपटल में चट्टानों के स्तरों में स्थानान्तरण के कारण भ्रंश (Fault), दरार, (Fracture) तथा चटकनें (Cracks) पड जाती है। द्वितीय रूप में बल या तो एक ही दिशा में कार्य करते हैं या दो दिशाओं में आमने-सामने कार्य करते हैं। इस स्थिति के कारण सम्पीडन (Compression) होने लगता है। इसे 'सम्पीडनात्मक संचलन" (Compessional movement) कहते हैं। सम्पीडन के कारण भूपृष्ठीय चट्टानों में संवलन (Warp) तथा वलन (Folds) पड जाते हैं जिससे गुम्बद और पर्वतों का निर्माण होता है। इसी कारण से क्षैतिज संचलन को "पर्वतन संचलन" कहते हैं। यहाँ पर सम्पीडनात्मक और तनावमूलक संचलनों द्वारा उत्पन्न संरचनाओं का संक्षिप्त उल्लेख किया जायेगा।

भूपटलीय बंकन या मुड़ाव
(Crustal Bending)

भूपटल में वलन या वकन का आविर्भाव उस समय होता है, जबकि अन्तर्जात बलों द्वारा उत्पन्न संचलन आमने-सामने क्षैतिज रूप में कार्य करते है। क्षैतिज अवस्था में पड़ी चट्टानों की परतों में वलन तथा बकन का प्रभाव अधिक होता है। क्षैतिज संचलन के कारण चट्टानों में इतना वलन और वंकन हो जाता है कि उनकी संरचना में ही परिवर्तन आ जाता है। भूपटल पर इस तरह की संरचना का अपक्षय तथा अपरदन द्वारा लोप हो सकता है, परन्तु भूपटल के नीचे इनकी स्थिति सुरक्षित रहती है। भूपटल मुड़ाव या वंकन (Crustal bending) को क्षेत्रीय दृष्टि से दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(1) संवलन (Warps) और (2) वलन (Folds)।

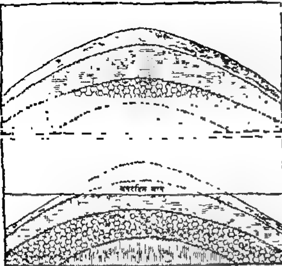
अ—संवलन (Warps)

संवलन का प्रभाव दूर तक विस्तृत क्षेत्रों में होता है। वास्तव में संवलन स्थल का एक प्रकार का उभार ही है परन्तु इसे उत्थान से अलग ही समझना चाहिए। उत्थान के अन्तर्गत स्थल-खण्ड, अन्तर्जात बल द्वार लम्बवत संचलन (Vertical Movement) के कारण ऊपर उठ जाता है परन्तु संवलन में क्षैतिज संचलन द्वारा स्थल-खण्ड, चट्टानी परतों में मुड़ाव होने से ऊपर उठ जाता है। इस तरह उत्थान और संवलन में उत्पत्ति और रचना दोनों दृष्टियों से विभेद होता है। संवलन में स्थल-खण्ड का उभार गुम्बदनुमा होता है। अतः स्पष्ट है कि संवलन द्वारा गुम्बदों (Domes) का निर्माण हो जाता है। संवलन को पुनः दो वर्गों में रखा जा सकता है—

(1) उत्संवलन (Upwarps) और (2) अवसंवलन (Downwarps)।

(i) उत्संवलन (Upwarps)—क्षैतिज संचलन के आमने-सामने सक्रिय होने पर भूपटल में मुड़ाव हो जाता है तथा बीच का भाग अधिक मुड़ाव के कारण गुम्बद के आकार में ऊपर उभर आता है। गुम्बद का पार्श्ववर्ती ढाल अत्यन्त मन्द होता है तथा इसकी ऊँचाई भी कम होती है। साधारणतया संवलन द्वारा उत्पन्न गुम्बदों का व्यास 40 से 160 कि० मी० तक होता है परन्तु चट्टानों का नमन (नति-Dip) 1° या 2° से अधिक नहीं हो पाता है। संवलन की क्रिया वास्तव में संकुचन की क्रिया को प्रदर्शित करती है क्योंकि मुड़ाव के कारण भूपटलीय चट्टानों में संकुचन ही तो होता है जिससे उनके क्षेत्रीय विस्तार में कमी आ जाती है।

(ii) अवसंवलन (Downwarps)—जब क्षैतिज संचलन के आमने-सामने कार्य करने पर चट्टानों के स्तर ऊपर की ओर न मुड़कर नीचे की ओर मुड़ जाते है तो उस क्रिया को अवसंवलन कहते हैं। अवसंवलन द्वारा बेसिन (Basin) का निर्माण होता है। यह बेसिन अवतल ढाल वाली होती है जो कि उत्तल ढाल वाले गुम्बदों से सर्वथा विपरीत होती है। इस बेसिन को पुनः स्थलखण्ड के अवतलित भाग से अलग समझना होगा। स्थल-खण्ड का अवतलन पृथ्वी के अन्तर्जात बल द्वारा लम्बवत संचलन



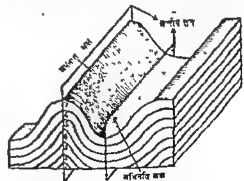
चित्र 121
उत्संवलन (Upwarping) द्वारा गुम्बद का बनना (ऊपर) बाद में अपरदन (नीचे वाला चित्र) द्वारा रूप परिवर्तन।

द्वारा होता है परन्तु बेसिन का निर्माण क्षैतिज सचलन द्वारा स्थलखण्ड की चट्टानों में नीचे की ओर झुकाव होने से होता है। संवलन को उसकी तीव्रता की दृष्टि से दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। जब सवलन कम सक्रिय होता है और चट्टानों का बंकन सीमित रूप में होता है तो उसे साधारण संवलन कहते हैं परन्तु जब संवलन बड़े पैमाने पर, विस्तृत क्षेत्र पर होता है तो वृहद संवलन (Broad warps) कहते हैं। विन्ध्ययन युग में उ० प० से (अरावली) द० पू० तथा द० पू० (नर्मदा-सोन अक्ष) से उ० प० दिशा में क्षैतिज सचलन के कारण मध्य में बेसिन का निर्माण हो गया जो आगे चल कर जलीय अवसादों से भर गई और ऊपरी विन्ध्ययन क्रम के बालुका प्रस्तर तथा शेल का निर्माण हुआ। दक्षिण में कैमूर श्रेणियों एवं उत्तर में रीवा कगार के मध्य रीवा का पठार इसका उदाहरण है।

(iii) वृहद संवलन (Broad warps)—जब क्षैतिज सचलन बड़े पैमाने पर विस्तृत क्षेत्रों में कार्यरत होते हैं तो भूपटलीय चट्टानों में सकुचन से मुड़ाव अधिक होता है। इस कारण सम्पीडन के कारण सैकड़ों किलोमीटर से लेकर हजारों किलोमीटर क्षेत्र में तलछटीय (परतदार) चट्टानें मुड़कर ऊपर या नीचे झुक जाती हैं। इस तरह ऊपर उठा हुआ या नीचे झुका हुआ स्थलखण्ड कुछ किलोमीटर से लेकर सैकड़ों किलोमीटर की लम्बाई में हो सकता है। जब स्थलखण्ड मुड़कर ऊपर उठ जाता है तो ऊपर उठे हुए तलछटीय भागों को **भू-अपनति (Geanticlines)** कहते हैं। **दक्षिण डकोटा का ब्लेक हिल्स पर्वत** भू-अपनति का ही एक उदाहरण है। इसके विपरीत सवलन द्वारा चट्टानें जब विस्तृत क्षेत्र में नीचे की ओर झुक जाती है तो निर्मित वृहद बेसिन को **भू-अभिनति या भूसन्नति** कहते हैं।

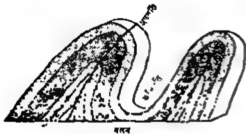
ब—वलन (Folds)

पृथ्वी के अन्तर्जात बल द्वारा उत्पन्न क्षैतिज सचलन द्वारा जब भूपटलीय चट्टानों में सम्पीडन (Compression) की स्थिति उत्पन्न हो जाती है तो चट्टानों में लहरनुमा मोड़ पड़ जाते हैं। इस तरह के मोड़ों को वलन कहा जाता है। वलन में कुछ भाग ऊपर उठ जाता है और कुछ भाग नीचे धँस जाता है। ऊपर उठे भाग को **अपनति** (Anticlines) तथा नीचे धसे भाग को **अभिनति** (Synclines) कहते है। वास्तव में वलन वृहद सवलन का ही लघु रूप होता है प्रत्येक वलन में दोनों ओर के भागों को **वलन की भुजाएं** (Limbs of the fold) कहते हैं। वलन की दोनों भुजाओं के बीच में अपनति के उच्चस्थ या अभिनति के निम्नस्थ भागों से गुजरने वाली कल्पित रेखा को **वलन का अक्ष** (Axis of folds) कहते है। अपनति और अभिनति के आधार पर अपनति अक्ष (Axis of anticline) और अभिनति अक्ष (Axis of syncline), दो प्रकार के वलन अक्ष होते हैं। वलन के मध्य में स्थित कल्पित तल को अक्षीय तल (Axis plane) कहते है। इस तरह पुन. अपनति अक्षीय तल (Anticlinal axial Plane) "अभिनति अक्षीय तल" (*Synclinal axial plane*) को अलग किया जा सकता है।



चित्र 122
वलन (Fold) के विभिन्न अंग।

किसी स्थल की सरचना को समझाने के लिए नति (Dip) तथा नतिलम्ब (Strike), दो शब्दों का अर्थ जानना आवश्यक है।

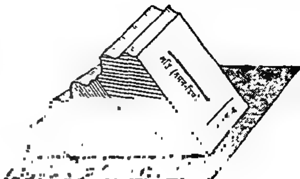


चित्र 123
वलन के दो मुख्य अंग—अपनति एवं अभिनति।

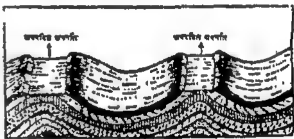
नति या डिप (Dip)—परतदार या रूपान्तरित चट्टानों के स्तर (Beds) प्रायः क्षैतिज तल के सहारे (Horizontal plane) कुछ अंश का कोण बनाते हुए क्षैतिज रेखा के साथ झुके रहते हैं। इस तरह के झुकाव को स्तर का नति या डिप कहा जाता है। नति से दो बातें स्पष्ट होती हैं। प्रथम तो नति चट्टानों की परत तथा क्षैतिज तल के बीच के ढाल के कोण को प्रदर्शित करती है दूसरे यह स्तर के नीचे की ओर ढाल की दिशा को बताती है। उदाहरण के लिये यदि किसी चट्टान के स्तर का क्षैतिज तल के सहारे 60° के कोण पर झुकाव है तथा ढाल की दिशा दक्षिण है तो उस स्तर के नति को इस तरह प्रदर्शित किया जायेगा—नति 60° दक्षिण।

नतिलम्ब (Strike)—नति के साथ समकोण बनाने वाली रेखा को उस झुके हुए स्तर का नतिलम्ब कहते है। यह सदैव नति के साथ 90° का कोण बनाता है।

अपनति (Anticlines)—अन्तर्जात बल के कारण क्षैतिज संचलन द्वारा चट्टानों के स्तरों में सिकुड़न के कारण उत्पन्न वलन का जो भाग ऊपर उठ जाता है उसे अपनति कहते है। साधारण अपनति में दोनों भुजाओं में चट्टानों की स्तरों का झुकाव (अर्थात् नति) विपरीत दिशा में होता है। कभी-कभी वलन इतना अधिक हो जाता है कि अपनति का नति-कोण अत्यधिक हो जाता है तथा ढाल खड़े होते है। जब अपनति के दोनों ओर के ढाल बराबर होते हैं तो उसे सममित अपनति (Symmetrical anticline) कहते है, परन्तु दोनों ढालों के असमान होने पर असममित अपनति (Asymmetrical anticline) कहते हैं। नति कोण के आधार पर अपनति को दो वर्गों में रख सकते हैं। 1—जब नति कोण बहुत कम (कभी-कभी 1° या 2° का) होता है तो उसे साधारण या मन्द अपनति (Gentle anticline) कहते हैं। 2—इसके विपरीत जब नति कोण अधिक होता है तो उसे तीव्र या खड़ी अपनति (Steep Anticline) कहते हैं। इस तरह की अपनति का नति 40° से 90° तक हो सकती है। निर्माण के तनाव के कारण अपनति के शीर्ष भाग पर चटकनें (Cracks) आ जाती है, जिससे अपनति के शीर्ष भाग पर अपक्षय तथा अपरदन अधिक होने लगता है। उच्चावच-प्रतिलोमन (Inversion of relief) इस कारण अधिक होता है।



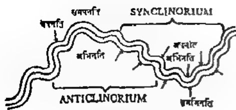
चित्र 124
नति (Dip) और नतिलम्ब (Strike)।



चित्र 125
अपनति का अपरदन।

अभिनति (Synclines)—क्षैतिज संचलन द्वारा उत्पन्न वलन का जो भाग नीचे मुड़कर धँस जाता है उसे अभिनति कहते हैं। वास्तव में अभिनति नीचे के मुड़े हुए वलन का ही रूप होती है। अभिनति की नति एक दूसरे की ओर झुकी होती है और अभिनति के बीच में मिल जाती है। यदि मुड़ाव अधिक होता है तो अभिनति का आकार डोंगी (Canoe) के सदृश होता है।

समपनति (Anticlinorium)—वलित पर्वतीय क्षेत्रों में समपनति (सम्+अपनति) देखने को मिलती है। जब एक वृहद् अपनति के अन्तर्गत कई छोटी-छोटी अपनतियाँ और अभिनतियाँ मिलती हैं तो उस आकृति को समपनति कहा जाता है। इस तरह की सरचना का निर्माण उस समय होता है जब कि क्षैतिज संचलन समान रूप से कार्यान्वित नहीं होता है। फलस्वरूप विभिन्न



चित्र 126
समपनति तथा समभिनति (Anticlinorium and Synclinorium)।

स्थानों पर सम्पीडन में भिन्नता के कारण इस तरह की आकृति का निर्माण होता है। इस तरह के वलन को पंखा वलन (Fan folds) भी कहते हैं।

समभिनति (Synclinorium)—असमान सम्पीडन के कारण जब एक वृहद अभिनति के अन्तर्गत कई छोटी-छोटी अपनतियाँ तथा अभिनतियाँ बन जाती हैं तो उस अभिनति को समभिनति कहते हैं। समपनति और समभिनति को पंखाकार वलन के अलावा व्यजनाकार वलन भी कहा जाता है।

वलन के प्रकार (Types of Folds)—वलन का स्वभाव कई बातों पर आधारित होता है। यदि चट्टान अधिक लचीली तथा कोमल होती है तो वलन अधिक होता है। परन्तु इसके विपरीत स्थिति होने पर वलन साधारण होता है। इसी तरह सम्पीडन की विभिन्नता के कारण भी वलन में पर्याप्त अन्तर होते हैं। सामान्य वलन की दोनों भुजाओं के झुकाव बराबर होते हैं परन्तु वास्तविकता यह है कि एक वलन की दो भुजाओं के



चित्र 127
वलन के विभिन्न प्रकार—1 सममित वलन, 2. असममित वलन 3 एकदिग्नत वलन, 4 समनत, वलन 5 परिवलित वलन।

झुकाव अलग-अलग होते हैं। इस आधार पर वलन में पर्याप्त विभेद होता है। वलन को निम्न भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(1) सममित वलन (Symmetrical Folds)—साधारण प्रकार के वलन को सममित वलन कहते हैं। जैसा कि सममित के अर्थ से ही प्रकट हो जाता है कि इसमें समानता होती है। सममित वलन की दोनों भुजाओं का झुकाव बराबर होता है। यह खुला हुआ वलन होता है।

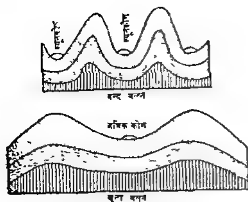
(2) असममित वलन (Asymmetrical Fold)—इस तरह के वलन की दोनों भुजाओं में समानता होती है। एक भुजा साधारण झुकाव वाली होती है, जिसका ढाल क्रमशः होता है, जबकि दूसरी भुजा छोटी होती है और उसका झुकाव अधिक होता है। प्रथम की अपेक्षा उसका ढाल अधिक होता है। इस तरह दोनों भुजाओं के झुकाव तथा लम्बाई में असमानतायें होती हैं।

(3) एकदिग्नत वलन (Monoclinal Folds)—जब किसी वलन की एक भुजा का झुकाव साधारण तथा ढाल क्रमशः होता है और दूसरी भुजा का झुकाव समकोण बनाते हुए होता है तथा ढाल एकदम खड़ा होता है तो उसे एकनति या एकदिग्नत वलन कहते हैं। इसके निर्माण में लम्बवत् संचलन का हाथ बताया जाता है। अधिक सम्पीडन होने पर इस वलन की भुजा के टूट जाने की सम्भावना रहती है। इसके टूटने पर भ्रंश का निर्माण हो सकता है। क्षैतिज संचलन द्वारा दो दिशाओं से असमान सम्पीडन के कारण भी एकदिग्नत वलन का निर्माण हो सकता है।

(4) समनत वलन (Isoclinal Folds)—दोनों दिशाओं से क्षैतिज संचलन के कारण समान सम्पीडन के कारण वलन की दोनों भुजायें समान रूप से झुक जाती हैं तथा दोनों एक दूसरे के इतने समीप आ जाती हैं कि दोनों भुजायें समानान्तर हो जाती हैं। इस तरह के समानान्तर भुजा वाले वलन को समनत वलन कहते हैं। यह स्मरणीय है कि समनत वलन की भुजायें परस्पर समानान्तर होती हैं परन्तु क्षैतिज दिशा में नहीं होती हैं।

(5) परिवलित (शयान) वलन (Recumbent Folds)—जब क्षैतिज संचलन अत्यधिक तीव्र होता है तो अत्यधिक सम्पीडन के कारण इतना अधिक वलन हो जाता है कि वलन की दोनों भुजायें परस्पर समानान्तर होती हुई क्षैतिज दिशा में हो जाती हैं।

(6) प्रतिवलन (Overturned Folds)—अत्यधिक सम्पीडन के कारण जब वलन की एक भुजा दूसरे पर उलट जाती है तो उसे प्रतिवलन कहते हैं। इस प्रकार के वलन की भुजायें क्षैतिज अवस्था में होती हैं।

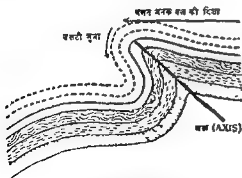


चित्र 128
बन्द वलन (ऊपर) तथा खुला वलन (नीचे)।

(7) अवनमन वलन Plunging Folds)--जब किसी वलन की अक्ष (Axis) क्षैतिज तल के समानान्तर न होकर उसके साथ कोण बनाती है तो उसे "अवनमन वलन" कहते हैं।

(8) पखा वलन (Fan Folds)—जब एक वृहद वलन की वृहद अपनति तथा अभिनति में कई छोटी-छोटी अपनतियां तथा अभिनतियां मिलती हैं तो उस वलन को पखा वलन कहते हैं। इनकी आकृति एक पंखे (Fan) से मिलती है। अतः इन्हें पखा वलन कहते हैं।

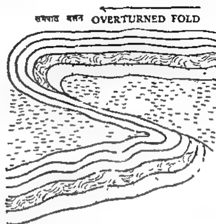
(9) खुला वलन (Open Folds)—जब किसी वलन की दो भुजाओं के बीच का कोण 90° से अधिक परन्तु 180° से कम होता है अर्थात् जब दो भुजाओं के



चित्र 129
ग्रीवाखण्ड का निर्माण (प्रतिवलन Overturned fold)।

बीच का कोण अधिक कोण (Obtuse angle) होता है तो उस वलन को खुला वलन कहते हैं। इसका निर्माण सामान्य सम्पीडन के कारण लहरनुमा वलन पड़ने से होता है।

(10) बन्द वलन (Closed Folds)—जब किसी वलन की दो भुजाओं के बीच का कोण न्यून कोण (Acute Angle) होता है तो उस वलन को बन्द वलन कहते हैं। इसका निर्माण अत्यधिक सम्पीडन के कारण होता है।



चित्र 130
वलन की भुजा टूट कर दूसरे पर सवार हो गई (ग्रीवा खण्ड—Nappe)।

ग्रीवाखण्ड या नापे (Nappe)—ग्रीवाखण्ड या नापे तीव्र क्षैतिज सचलन तथा सम्पीडन का परिचायक होता है। परिवलन मोड़ों (Recumbent folds) में दोनों भुजायें समानान्तर तथा क्षैतिज होती है। जब सम्पीडन और अधिक होने लगता है, परिवलन मोड़ का एक खण्ड खिसक कर दूसरे खण्ड पर चढ़ जाता है। इस क्रिया को उत्क्रम (Thrust) कहते हैं। जिस तल के सहारे उत्क्रम होता है उसे उत्क्रम तल (Thrust plane) कहते हैं। उत्क्रम के कारण ऊपर उठे हुए भाग को बाह्य उत्क्रम वलन (Overthrust folds) कहते है। जब सम्पीडन अधिक तीव्र हो जाता है तो वलन की भुजा (Limb) इतनी अधिक मुड़ जाती है कि वलन के अक्ष पर टूट जाती है तथा निचली परतें ऊपर की ओर जाती हैं। इस तरह वलन की संरचना उल्टी हो जाती है। क्षैतिज सचलन तथा सम्पीडन जारी रहने पर वलन की टूटी हुई भुजा अपने स्थान से कई किलोमीटर दूर जाकर अन्य प्रकार की चट्टान पर चढ़ जाती है। इस तरह की संरचना में साम्य नहीं होता है। जब एक वलन की भुजा उपर्युक्त दशाओं में टूटकर दूसरे स्थान पर चली जाती है तो उसे ग्रीवाखण्ड कहते है।



चित्र 131
वलन की एक भुजा का टूट कर दूर स्थित नवीन शैल-क्षेत्र में पहुँचना।

ग्रीवाखण्डों के उदाहरण वर्तमान वलित पर्वतों में पाये गये हैं। आल्प्स पर्वत में ग्रीवाखण्डों का क्रमबद्ध रूप में अध्ययन किया गया है तथा यहाँ पर चार प्रमुख ग्रीवाखण्डों का विशेष अध्ययन किया जा चुका है। आल्प्स प्रदेश में ग्रीवाखण्डों का पर्यवेक्षण (Observation) *स्विस आल्प्स में किया गया तथा बाद में अन्यत्र भी* इनके उदाहरण पाये गये। आल्प्स प्रदेश में एक ग्रीवाखण्ड के ऊपर दूसरी ग्रीवाखण्ड का आरोपण हो जाने से संरचना अत्यधिक जटिल हो गई है। स्थिति के अनुसार सबसे नीचे **हेल्वेटिक ग्रीवाखण्ड** (Helvetic Nappe) का विस्तार है। इसके बाद क्रम से **पिनाइन ग्रीवाखण्ड** (Pennine Nappe), **आस्ट्राइड ग्रीवाखण्ड** (Austride Nappe) एवं **डिनाराइड ग्रीवाखण्ड** (Dinaride Nappe) मिलते हैं। वास्तव में इन ग्रीवाखण्डों की स्थिति एक भू-लहर (Earth wave) के रूप में है। जिस तरह जल में लहरें उठती हैं तथा एक का शिखर (Crest) दूसरे पर चढ़ जाता है तथा अन्तिम लहर अन्य सभी लहरों पर चढ़ जाती है उसी प्रकार आल्प्स क्षेत्र में इन ग्रीवाखण्डों की स्थिति मिलती है। एक ग्रीवाखण्ड का विस्तार दूसरे के ऊपर हो गया है। आस्ट्राइड ग्रीवाखण्ड अन्य सभी ग्रीवाखण्डों को आच्छादित किये हुए हैं। इसका प्रमुख कारण दक्षिण की ओर से आने वाला क्रमिक सम्पीडनात्मक संचलन हो सकता है। अनाच्छादन की क्रिया द्वारा अधिकांश क्षेत्रों में ग्रीवाखण्डों का आवरण कट गया है तथा उसके नीचे की कड़ी चट्टान खास कर हरसीनियन मैसिफ का भाग (जिसके ऊपर ग्रीवा-खण्ड का आरोपण हुआ था) ऊपर आ गया है। जब एक ग्रीवाखण्ड के ऊपर दूसरी ग्रीवाखण्ड का आरोपण होता है तथा जब ऊपरी ग्रीवाखण्ड के कुछ भाग के कट जाने से निचले ग्रीवाखण्ड का भाग दिखायी पड़ने लगता है तो उस कटे हुए या खुले हुए भाग को खिड़की (Window) कहा जाता है। पूर्वी आल्प्स में अपरदन की अधिकता में अधिकांश ऊपरी ग्रीवाखण्ड कट गये हैं तथा निचले ग्रीवाखण्ड दृष्टि-गोचर होते हैं। इस तरह पूर्वी आल्प्स में 'पूर्ण खिड़की' (Complete window) के अनेक उदाहरण मिलते हैं।

हिमालय पर्वत में भी कुछ ग्रीवाखण्डों के उदाहरण मिले हैं। काश्मीर क्षेत्र में **डॉ० वाडिया**, शिमला क्षेत्र में **पिलग्रिम** (Pilgrim), गढ़वाल में **आडिन महोदय** (Auden) तथा कुमायूं हिमालय में **हीम** तथा **गंसर** (Heim and Gansser), महोदयों ने ग्रीवा-खण्डों का अध्ययन करके अपने विवरण प्रस्तुत किये हैं। ग्रीवाखण्ड के विषय में कुछ तथ्यों का स्पष्टीकरण आवश्यक है। जब अपनति या **वलन** का एक भाग टूट कर पास ही में दूसरे *भाग पर चढ़ जाता है* तो उसे **आटोक्थोनस ग्रीवाखण्ड** (Autochthon—स्वस्थानिक ग्रीवाखण्ड) कहते हैं। परन्तु इसके विपरीत जब एक वलन की ग्रीवा, वलन के अक्ष के सहारे टूट कर सैकड़ों किलोमीटर दूर जाकर, दूसरे मोड़ पर सवार हो जाती है तो उस दूर स्थित **ग्रीवाखण्ड** का सम्बन्ध उस स्थानीय चट्टान से नहीं होता है जिस पर वह आरोपित होती है। अत्यधिक सम्पीडन के कारण एक ग्रीवाखण्ड दूसरे ग्रीवाखण्ड पर लद जाते हैं। ग्रीवाखण्ड की स्थिति के कारण उस क्षेत्र की संरचना में अत्यन्त जटिलता आ जाती है क्योंकि निचली परतों के ऊपर आ जाने से संरचना उल्टी हो जाती है।

2. भूपटल विभंग (Crustal Fracture)

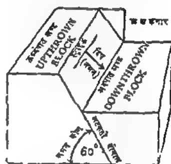
भूपटल में पृथ्वी के अन्तर्जात बल द्वारा एक तल के सहारे चट्टानों के स्थानान्तरण को भूपटल विभंग कहते हैं। भूपटल विभंग, अन्तर्जात बल द्वारा उत्पन्न <u>क्षैतिज संचलन</u> (Horizontal movement) के <u>कारण तनाव तथा सम्पी</u>डन (Tension and compression) के कारण होता है। इस प्रकार भूपटल विभंग का रूप तनाव तथा सम्पीडनात्मक संचलनों पर आधारित होता है। तनावमूलक संचलन द्वारा विभंग की उत्पत्ति अधिक होती है। सम्पीडन द्वारा विभंग तभी हो सकता है जबकि चट्टान कठोर हो तथा वलन इतना अधिक हो कि अक्ष के सहारे वलन की दोनों भुजायें टूट कर स्थानान्तरित हो जायें। जब तनाव की शक्ति सामान्य होती है तो भूपटल में केवल **चटकनें** (Cracks) ही पड़ती हैं परन्तु यदि यह शक्ति कुछ प्रबल होती है तो चट्टानों के स्तरों में स्थानान्तरण होने लगता

है। इसे विभंग (Fracture) कहते हैं। इसमें चट्टानों का स्थानान्तरण सामान्य ही होता है। यदि तनाव मूलक सचलन अधिक तीव्र है तो विभंग-तल (Fault plane) के सहारे चट्टानों का स्थानान्तरण बड़े पैमाने पर होता है। इसे भ्रंश (Fault) कहा जाता है। दरार या चटकन का प्रभाव भूपटल के केवल ऊपरी भाग में ही होता है तथा नीचे की ओर जाने पर इसका प्रभाव नहीं होता है। तनाव के कारण सापीय संकुचन के कारण भी चट्टानों में चटकनें पड़ जाती हैं।

भ्रंश (Fault) तनावमूलक सचलन की तीव्रता के कारण जब भूपटल में एक तल (Plane) के सहारे चट्टानों का स्थानान्तरण हो जाता है तो उत्पन्न संरचना को भ्रंश कहते हैं। जिस तल के सहारे भूपटल की चट्टानों में खण्डों का स्थानान्तरण होता है उसे **विभ्रंश-तल** या **भ्रंश-तल** (Fault plane) कहते हैं। वास्तव में विभ्रंश-तल के सहारे ही गति होती है जिससे भ्रंश का निर्माण होता है। "प्रो० जी० **वरसेस्टर** के अनुसार भ्रंश पृथ्वी में विभंग या विदर (दरार) होती है जिसके सहारे एक भाग दूसरे भाग की अपेक्षा सरक जाता है"[1] भ्रंश-तल, जिसके सहारे गति या सचलन होती है, लम्बवत (Vertical) हो सकता है, झुका हो सकता है, क्षैतिज हो सकता है, वक्राकार हो सकता है या किसी भी रूप में हो सकता है। भ्रंश उत्पन्न करने वाला सचलन, क्षैतिज, लम्बवत या किसी भी दिशा में कार्य कर सकता है। चट्टानों में भ्रंश के समय लम्बवत दिशा में चट्टानी खण्डों का स्थानान्तरण हजारों मीटर तक तथा क्षैतिज दिशा में कई किलोमीटर तक होता है परन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि समस्त स्थानान्तरण एक ही बार में सम्पन्न हो जाता है। प्राय. यह अनुमान किया जाता है कि सामान्य रूप में भ्रंश-सचलन एक बार में कुछ मीटर तक हो सकता है। भ्रंश वास्तव में, भूपटल के निर्बल क्षेत्र को प्रदर्शित करता है जिसके सहारे लम्बे समय तक सचलन होता रहता है। भारत में नर्मदा, सोन तथा दामोदर नदियों की घाटियाँ वृहद् भ्रंश को प्रदर्शित करती हैं। रीवा पठार के दक्षिण में कैमूर श्रेणियों (उत्तर में) तथा खँजुआ श्रेणियों (दक्षिण में) के मध्य सोन घाटी भ्रंशित घाटी का खूबसूरत उदाहरण है। (यहाँ पर चट्टानों का नमन कोण 60° से 70° उ० प० है)। धुंआधार प्रपात तथा भेड़ाघाट (जबलपुर के पास) के बीच नर्मदा की भ्रंशित घाटी दर्शनीय है। राजरप्पा (हजारीबाग-बिहार) के पास दामोदर घाटी का भ्रंशित रूप देखते ही बनता है। भ्रंश की उत्पत्ति तथा उसके प्रकारों के विश्लेषण के पूर्व भ्रंश से सम्बन्धित कुछ पारिभाषिक शब्दों का अर्थ समझना अति आवश्यक है।

1 विभंग-तल या भ्रंश तल (Fault Plane)—विभंग तल वह सतह होती है जिसके सहारे सचलन होने से चट्टानों का स्थानान्तरण होता है। यह लम्बवत, क्षैतिज, झुका हुआ, वक्राकार या किसी भी प्रकार का हो सकता है।

2 भ्रंश-नति (Fault Dip)—भ्रंश तथा क्षैतिज-तल के बीच के कोण को विभङ्ग तल का नति कहते हैं।



चित्र 132
भ्रंश के विभिन्न अंग

3 उत्क्षेपित खण्ड (Upthrown side)—इसे ऊर्ध्वपात पार्श्व भी कहा जाता है। भ्रंशतल के दूसरे ओर के खण्ड की अपेक्षा ऊँचे उठे भाग को उत्क्षेपित खण्ड कहा जाता है।

4. अधक्षेपित खण्ड (Downthrown side)—इसे अवपात पार्श्व कहते हैं। ऊपर उठे खण्ड की अपेक्षा निचले खण्ड को अधक्षेपित खण्ड कहते हैं। यह पता लगाना प्राय कठिन होता है कि वास्तव में कौन-सा पार्श्व या खण्ड गतिशील हुआ है।

5 शीर्ष-भित्ति (Hanging wall)—भ्रंश की ऊपरी दीवाल को शीर्ष-भित्ति या ऊपरी भित्ति कहते हैं।

6 पाद-भित्ति (Foot wall)—भ्रंश-तल की निचली दीवाल को पाद-भित्ति कहते हैं।

1. "A fault is a fracture or fissure in the earth along which one side has moved with reference to the other side." Worcester, P. G. A Textbook of Geomorphology, pp. 102, (1948).

7 भ्रंश कगार (Fault scarp)—भ्रंश के कारण स्थलीय सतह पर निर्मित खड़े ढाल वाले किनारे को भ्रंश कगार कहते हैं। अधिक खड़े ढाल के कारण कगार कभी-कभी क्लिफ के समान होते हैं। कगार (Scarp) का निर्माण सदैव भ्रंशन (Faulting) द्वारा ही नहीं होता। कभी-कभी कगार का निर्माण अपरदन द्वारा भी होता है। कगार को 3 प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है। देखिये अध्याय तीन की संकल्पना तीन का कगार का चित्र।

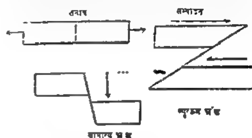
1 **भ्रंश कगार** (Fault scarp) इसका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। दरार या भ्रंश द्वारा उत्पन्न कगार, भ्रंश कगार होता है।

2. **अपरदन कगार** (Erosional scarp) —जब अपरदन द्वारा कगार का निर्माण होता है तो उस अपरदन कगार कहते हैं। इसमें एक भाग का अपरदन हो जाता है तथा दूसरा भाग अप्रभावित होने के कारण अवशिष्ट रह जाता है। यह स्मरणीय है कि अपरदन कगार का निर्माण पहली निर्मित भ्रंश के बाद में अपरदन के कारण सपाट हो जाने पर ही होता है।

3. **भ्रंशरेखा कगार** (Fault line scarp)—यदि अपरदन के बाद कगार का लोप हो जाता है तथा पुन अपरदन के कारण यदि भ्रंश के एक ओर का मुलायम चट्टान वाला भाग कट जाता है तो नवीन कगार का निर्माण होता है। इस तरह अपरदन द्वारा निर्मित कगार को भ्रंशरेखा कगार कहते हैं। यदि यह कगार पहले वाले मौलिक कगार की ही दिशा में होता है तो उसे **मूलभ्रंश रेखा कगार** (Resequent fault-line scarp) कहते हैं। यदि "उत्क्षेपित खण्ड" का कोमल चट्टान के आ जाने के कारण "अध:क्षेपित खण्ड" की अपेक्षा अधिक अपरदन होता है तो मौलिक उत्क्षेपित खण्ड' (Upthrown block) मौलिक अध:क्षेपित (Down thrown) खण्ड" की अपेक्षा नीचा हो जाता है जिस कारण मौलिक कगार की दिशा उलटी हो जाती है। इस तरह के उल्टे कगार को **विलोम भ्रंश रेखा कगार** (Obsequent-fault line scarp) कहते हैं।

भ्रंश का वर्गीकरण (Classification of faults)—भ्रंश-निर्माणकारी संचलन की दिशा तथा शक्ति में विभिन्नता के कारण भ्रंश में भी पर्याप्त विभेद पाया जाता है। निम्नलिखित भ्रंश के प्रकारों का संक्षिप्त विवरण आवश्यक है।

सामान्य भ्रंश (Normal Fault)—चट्टानों में दरार पड़ जाने के कारण उसके दोनों खण्ड जब विपरीत दिशाओं में सरक जाते हैं तो उसे सामान्य भ्रंश कहते हैं। सामान्य भ्रंश में **शीर्ष भित्ति** या लिलम्बी भित्ति अध:क्षेपित खण्ड की ओर होती है अर्थात् यह भ्रंश तल में नीचे की ओर सरक जाती है। भ्रंश-तल प्राय लम्बवत या खड़े ढाल वाले होते हैं। सामान्य भ्रंश द्वारा निर्मित खड़े ढाल वाले कगार को प्राय **भ्रंश कगार** (Fault scarp) कहा जाता है। भ्रंश कगार की ऊँचाई



चित्र 133
सामान्य तथा व्युत्क्रम भ्रंश (Normal & Reverse Faults)

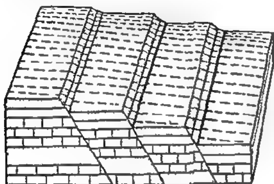
कुछ मीटर से लेकर कुछ हजार मीटर तक होती है। परन्तु कगार की वास्तविक ऊँचाई का पता लगाना कठिन होता है क्योंकि उसमें अपरदन द्वारा ह्रास होता है।

2 **व्युत्क्रम भ्रंश** (Reverse Fault) –जब चट्टानों में दरार पड़ने से चट्टान के दोनों खण्ड आमने-सामने खिसकते हैं तो निर्मित भ्रंश को व्युत्क्रम भ्रंश कहते हैं। इस तरह की भ्रंश में चट्टान का एक खण्ड दूसरे पर चढ़ जाता है। इस क्रिया को उत्क्रम (Thrust) कहा जाता है। इस आधार पर व्युत्क्रम भ्रंश को **उत्क्रम भ्रंश या क्षेपित भ्रंश** (Thrust fault) भी कहा जाता है। इस तरह भ्रंश में **शीर्ष भित्ति** या लिलम्बी दीवार (Hanging wall) भ्रंश तल के ऊपर की ओर चढ़ जाती है अर्थात् शीर्षभित्ति ऊपरी खण्ड के साथ ऊपर की ओर होती है। भ्रंश-तल का ढाल सामान्य होता है।

व्युत्क्रम भ्रंश का निर्माण मुख्य रूप से क्षैतिज संचलन के द्वारा उत्पन्न सम्पीडन द्वारा ही होता है। अत इसे **सम्पीडनात्मक भ्रंश** (Compressional fault) भी कहा जाता है। जब सम्पीडन अधिक होता है तो भ्रंश का एक खण्ड दूसरे पर चढ़ जाता है। इस

तरह के भ्रंश को अधिक्षिप्त भ्रंश (Overthrust fault) कहते हैं। इसमें भ्रंश तल प्राय क्षैतिज रहता है।

3 **पार्श्वीय या नतिलम्बी सर्पण भ्रंश**—क्षैतिज दिशा में संचलन होने से जब भ्रंश-तल के सहारे क्षैतिज गति होती है तो उसे **पार्श्वीय भ्रंश** (Lateral fault) या **नतिलम्बी भ्रंश** (Strikeslip fault) कहते हैं। इस तरह के भ्रंश में कगारों की रचना या तो हो ही नहीं पाती, यदि होती भी है तो वह बहुत कम ऊंचा होता है।



चित्र 134
सोपानाकार भ्रंश (Step Fault)।

4 **सोपानी भ्रंश** (Step Faults)—जब किसी भूभाग में कई भ्रंश का इस तरह निर्माण होता है कि सभी भ्रंश-तल (Fault-plane) का ढाल एक ही दिशा में हो तो उसे सोपानी या सीढ़ीदार भ्रंश कहते हैं। इस तरह के भ्रंश के निर्माण के लिये यह आवश्यक है कि भ्रंश द्वारा अध क्षेपित खण्ड का अधोगमन एक ही दिशा में हो।

भ्रंशन द्वारा स्थलाकृति का विकास (Development of topography due to faulting)—भ्रंशन की क्रिया द्वारा स्थल-खण्ड का कुछ भाग ऊपर उठ जाता है तथा कुछ भाग नीचे चला जाता है। इस कारण कई तरह के **स्थलरूपों** का निर्माण होता है, जिन पर अपरदन द्वारा अनेक स्थल रूप अंकित किये जाते हैं। भ्रंश द्वारा निर्मित स्थलरूपों में होर्स्ट (Horst), ग्राबेन (Graben-द्रोणिका) तथा **रिफ्ट घाटी** (भ्रंश घाटी) अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। यहां पर रिफ्ट घाटी का विशद उल्लेख किया जायेगा।

रिफ्ट घाटी (Rift Valley)

सामान्य परिचय—भ्रंशन की क्रिया द्वारा उत्पन्न रिफ्ट घाटी या दरार घाटी एक महत्त्वपूर्ण स्थलाकृति होती है। किसी स्थान पर जब दो सामान्य भ्रंश कई किलोमीटर की लम्बाई में इस तरह पड़ती है कि उसके बीच का भाग नीचे धँस जाता है और एक बेसिन या घाटी का निर्माण हो जाता है तो उसे रिफ्ट घाटी या **ग्राबेन** (Graben) कहते हैं। ग्राबेन जर्मन भाषा का एक पारिभाषिक शब्द है जिससे एक घाटी या नादनुमा गड्ढे का बोध होता है। ग्राबेन तथा रिफ्ट घाटी में अन्तर नहीं होता है। अलग-अलग भागों में इसे रिफ्ट घाटी या ग्राबेन के नाम से सम्बोधित किया जाता है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से अन्तर किया जाय तो ग्राबेन, रिफ्ट घाटी से आकार में छोटी होती है। परन्तु यह अन्तर नगण्य है तथा दोनों स्थलरूपों को समानार्थक ही मानना चाहिये। रिफ्ट घाटी का निर्माण उस समय भी होता है जबकि बीच का भाग स्थिर रहे और अगल-बगल वाले भाग ऊपर उठ जायें। सामान्य

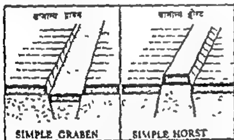


चित्र 135
राइन रिफ्ट घाटी (Rhine Rift Valley)

रूप में रिफ्ट घाटी लम्बी तथा सकरी परन्तु अत्यधिक गहरी होती है। राइन नदी की रिफ्ट घाटी एक प्रमुख रिफ्ट घाटी या ग्राबेन है जो कि **बसेल** तथा **बिन्जेन** नगरों के बीच 320 किलोमीटर की लम्बाई और 32 किलोमीटर की चौड़ाई में फैली है। इसके एक ओर **वासजेस** (Vosges) तथा **हार्ज** (Hardzt) पर्वत और दूसरी ओर **ब्लैक फारेस्ट** (Black Forest) तथा **ओडेनवाल्ड** पर्वतों का विस्तार है जो कि होर्स्ट या ब्लाक पर्वतों के उदाहरण उपस्थित करते हैं। संसार की सबसे लम्बी रिफ्ट घाटी वह है जो कि जार्डन नदी की घाटी, लाल सागर की बेसिन में होती हुई जेम्बजी नदी तक 4800 किलोमीटर की लम्बाई में विस्तृत है।

कुछ रिफ्ट घाटियों या ग्राबेन की गहराई इतनी अधिक हो गई है कि उनकी तली सागर-तल से नीचे पायी जाती है। दक्षिणी कैलिफोर्निया की **डेथ वैली** (Death Valley—मृतक घाटी) इस तरह की ग्राबेन का प्रमुख उदाहरण है। एशिया का **मृतक सागर** (Dead

Sea) रिफ्ट घाटी का एक महत्वपूर्ण उदाहरण है जिसकी तली सागर-तल से 866 63 मीटर नीचे है। जार्डन-घाटी तथा मृतक सागर की सतह भी सागर तल से 433 3 मीटर नीचे है। इस ग्राबेन की समस्त गहराई 1 मील (1.6 किलोमीटर) है। रिफ्ट घाटी या ग्राबेन के उदाहरण न केवल भूपटल की सतह पर मिलते है वरन् सागर-तली में भी मिलते हैं। संसार की सबसे गहरी ग्राबेन के उदाहरण महासागरो के डीप (Deep—गभीर) मे मिलते हैं। क्यूबा के दक्षिण मे बार्टलेट ट्रफ (Bortlett Trough) सागर-तली की सतह से 3 मील (4 8 किलोमीटर) गहरी है। इसी तरह का डीप (Deep—गभीर) जावा के पास सागर-तली की सतह से 4 मील (6.4 किलोमीटर) नीचा है। संसार का सबसे गहरा फिलीपाइन डीप 5 मील (8 किलोमीटर) तक गहरा है। स्काटलैण्ड का मध्यवर्ती मैदान दक्षिणी आस्ट्रेलिया की स्पेन्सर की खाड़ी आदि रिफ्ट घाटियो के ही उदाहरण हैं। भारत मे नर्मदा नदी की घाटी को रिफ्ट घाटी का उदाहरण बताया जाता है। परन्तु यह विषय विवादास्पद है।



चित्र 136
सामान्य ग्राबेन तथा होर्स्ट।

रिफ्ट घाटी की उत्पत्ति सम्बन्धी परिकल्पनाएं (Hypotheses of the origin of the Rift Valleys)—रिफ्ट घाटी भ्रंश द्वारा उत्पन्न एक ऐसी स्थलाकृति है जिसके निर्माण की समस्या आज भी रहस्यमयी बनी हुई है। यद्यपि विद्वानो ने कई रिफ्ट घाटियो का स्वतन्त्र रूप से अध्ययन करके अपने सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया है परन्तु ये सिद्धान्त परिकल्पना मात्र बन कर रह गये है क्योकि आज तक कोई ऐसा मत प्रतिपादित नही किया जा सका है जिसके विषय मे सभी विद्वान एक मत हो सकें। रिफ्ट घाटी की उत्पत्ति के लिये दो प्रकार की परिकल्पनाओं का प्रतिपादन किया गया है' 1. तनावमूलक परिकल्पना (Tensional Hypothesis) तथा 2. सम्पीडनात्मक परिकल्पना (Compressional Hypothesis)।

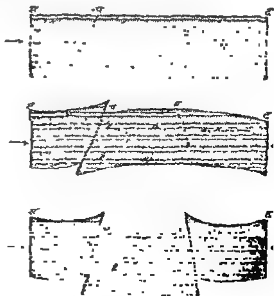
¹ **तनावमूलक परिकल्पना** (Tensional Hypotheseis)—शताब्दियो पहले रिफ्ट घाटी की उत्पत्ति के विषय मे जिस मत का प्रतिपादन किया गया था उसके अन्तर्गत **मेहराब** (Arch) के बीच के पत्थर या ईंट (Key stone) के गिरने से निर्मित रिक्त स्थान के रूप मे रिफ्ट घाटी की उत्पत्ति की कल्पना की गई थी। अर्थात् किसी भवन के मेहराब के बीच वाले सबसे ऊपरी भाग म स्थित पत्थर या ईंट जब मेहराब मे दरार के कारण नीचे की ओर सरकती है तो बीच में रिक्त स्थान बन जाता है। इसी तरह भूपटल पर चट्टानो मे तनाव के कारण दो खण्डों के विपरीत दिशा म खिसकने के कारण उनके बीच का भाग जब नीचे सरक जाता है तो रिक्त स्थान का निर्माण होता है। इसे ही रिफ्ट घाटी कहते है। इस परिकल्पना की कटु आलोचना की गई है क्योकि यह कई गलत अवधारणाओं पर आधारित है। उदाहरण के लिए भवन के मेहराब के नीचे रिक्त स्थान होता है अत बीच का पत्थर या की स्टोन (Key stone) आसानी से नीचे सरक सकता है। परन्तु भूपटलीय चट्टानो के नीचे रिक्त स्थान नही होता है। अत बीच वाले चट्टानी भाग को नीचे सरकने मे कठिनाई होगी। यह तभी नीचे सरक सकता है जब कि यह नीचे स्थित मैगमा का स्थानान्तरण करने मे समर्थ हो। यदि यह सम्भव है तो रिफ्ट घाटी के निर्माण के समय ज्वालामुखी-क्रिया होनी चाहिए क्योकि स्थानान्तरित मैगमा ऊपर आने का प्रयत्न करेगा। आकस्मिक घटना के रूप मे रिफ्ट घाटी के समय ज्वालामुखी का उद्गार हो सकता है परन्तु यह सदैव आवश्यक नही है। क्योकि अनेक गहरी रिफ्ट घाटियो मे ज्वालामुखी क्रिया के कोई लक्षण या प्रमाण नही मिलते है। अनेक पर्यवेक्षणो तथा प्रयोगों के आधार पर यह बताया गया है कि रिफ्ट घाटी के निर्माण के समय सक्रिय ज्वालामुखी क्रियायें स्थगित हो गई थी। यह तभी हो सकता है जब कि लावा के निकलने का मार्ग बन्द हो गया होगा। यदि तनाव द्वारा विस्तार के कारण रिफ्ट घाटी का निर्माण होता तो लावा का निकलना बन्द नही हो सकता है। इसके विपरीत सम्पीडन द्वारा सकुचन होने से ही लावा का निकलना बन्द हो सकता है। इस आधार पर वर्तमान समय मे तनावमूलक परिकल्पना को मान्यता नही है।

2. सम्पीडनात्मक परिकल्पना (Compressional Hypothesis)—तनाव के कारण रिफ्ट घाटी की उत्पत्ति में आने वाली कठिनाइयों को दूर करने के लिए कुछ विद्वानों ने सम्पीडनात्मक परिकल्पना का प्रतिपादन किया है। इनमें प्रमुख हैं—वेलेण्ड (Wayland), बेली विलिस (BailyWillis), वारेन डी० स्मिथ (Waren D Smith) तथा बलार्ड (E. C. Bullard)। वेलेण्ड नामक विद्वान् ने अलबर्ट झील (Lake Albert) तथा रुवेंजरी खण्ड (Ruwenzori Section) का तथा बेली विलिस ने मृतक सागरखण्ड का अध्ययन करने के बाद यह बताया है कि रिफ्ट घाटियों का निर्माण तनाव द्वारा न होकर गहराई वाले दाब के कारण होता है। सम्पीडन के कारण उत्क्रम भ्रंश (Thrust fault) के सहारे किनारे वाले खण्ड (Horst) ऊपर की ओर सरकते हैं। इन्हें अधिक्षेपण रिफ्ट ब्लाक (Overthrusting rift block) कहते हैं। इस तरह ऊपर उठते हुए किनारों के कारण उत्पन्न दाब (pressure) के फलस्वरूप बीच का भाग नीचे की ओर सरकता है। इसे रिफ्ट ब्लाक (*Rift block*) कहते हैं। यह रिफ्ट ब्लाक ऊपर की ओर सकरा होता है तथा नीचे की ओर क्रमश चौड़ा होता जाता है। ऊपर उठी इन किनारे वाली दीवालों से चट्टानों के टुकड़ों का सर्पण (Slumping) होता है। इस कारण ऊपर उठी दिवालें सामान्य भ्रंश के समान लगती हैं जो कि गापानाकार होती हैं। वास्तव में यह भ्रंश उत्क्रम भ्रंश (Thrust fault) होता।

बलार्ड की परिकल्पना (Hypothesis of Bullard)—बलार्ड महोदय ने सन् 1933-34 ई० में 'गुरुत्व सर्वेक्षण' (Gravity survey) के समय रिफ्ट घाटी की उत्पत्ति से सम्बन्धित एक नये विचार का प्रतिपादन किया। इन्होंने यह बताया कि रिफ्ट घाटी का रिफ्ट ब्लाक गुरुत्व के कारण मेहराब के की स्टोन (Key stone) के समान नीचे नहीं सरक सकता है। अतः रिफ्ट घाटी का निर्माण तनाव द्वारा नहीं हो सकता है। रिफ्ट घाटी का निर्माण केवल दोनों पार्श्वों से सम्पीडन (Compression) द्वारा ही हो सकता है। इस तरह यद्यपि बलार्ड ने भी सम्पीडनात्मक परिकल्पना का ही प्रतिपादन किया है परन्तु विलिस तथा वेलेण्ड के विचारों से अलग अपने नवीन विचारों की व्याख्या सुस्पष्ट रूप से की है। इस परिकल्पना द्वारा रिफ्ट घाटी की अनेक समस्याओं का निराकरण हो जाता है।

रिफ्ट घाटी का निर्माण बलार्ड के अनुसार एक बारगी नहीं हो जाता है वरन् कई क्रमिक अवस्थाओं में होता है। प्रथम अवस्था में दृढ़ भूपटल के पठारी क्षेत्र में चट्टानों के स्तरों में क्षैतिज संचलन द्वारा सम्पीडन होता है। इस रूप में क्षैतिज बल (Horizontal force) स्थलखण्ड के दोनों किनारों से आमने-सामने कार्य करते हैं। इस पार्श्ववर्ती सम्पीडन (Lateral compression) के कारण स्थलखण्ड में आकुंचन (Buckling) होने लगता है। जैसे-जैसे पार्श्ववर्ती सम्पीडन के कारण दाब बढ़ता जाता है चट्टानों में आकुंचन बढ़ता जाता है। जब सम्पीडन अत्यधिक हो जाता है तो चट्टान में एक स्थान पर चटकन (Crack) हो जाती है। सम्पीडन के बढ़ते जाने से चटकन बढ़ती जाती है तथा वह विभंग या दरार (Fracture) में बदल जाती है। निम्न चित्र 137 में 'अ' स्थान पर चटकन हो रही है।

द्वितीय अवस्था में 'अ' के स्थान पर दरार पड़ जाने के कारण एक भाग दूसरे भाग पर चढ़ जाता है। इसे उत्क्रमण या क्षेपण (Thrusting) कहा जाता है। इसके विपरीत दूसरा भाग नीचे चला जाता है। इसे अधः क्षेपण कहते हैं। निम्न चित्र में अ-म भाग उत्क्रमण होने से ऊपर चला गया है। इसके विपरीत 'अ-द' खंड नीचे चला गया है। इसी अवस्था में उत्क्षेपित खंड



चित्र 137
रिफ्ट घाटी का निर्माण—बलार्ड की परिकल्पना।

की दीवाल जब कुछ हजार मीटर तक ऊँची हो जाती है तो सम्पीडन के कारण अध क्षेपित खण्ड (अ-द) में भी किसी स्थान पर (ब) चटकन आ जाती है जो कि अध-क्षेपित खंड के उच्चतम बिन्दु पर होती है। धीरे-धीरे यह चटकन भी विभंग तथा दरार में परिवर्तित हो जाती है।

तृतीय अवस्था में दबाव के बढ़ जाने से अध क्षेपित खंड के 'ब' स्थान पर दरार अधिक हो जाती है जिस कारण उसका एक भाग दूसरे पर चढ़ जाता है। चित्र 137 में अध क्षेपित खंड अ-द में ब स्थान पर दरार के कारण ब-द भाग ऊपर उठकर अ-ब पर उत्क्रमित (Thrust) हो गया है। इस तरह दो उत्क्षेपित खंडों के बीच अध क्षेपित खंड अ-ब रिफ्ट घाटी का निर्माण करता है। चित्र 137 में D रिफ्ट घाटी की ऊपरी चौड़ाई को प्रदर्शित करता है।

बलार्ड महोदय ने रिफ्ट घाटी की चौड़ाई (D) के विषय में बताया है कि यह (चौड़ाई) चट्टान की लोचकता (Elasticity) तथा गहराई और अध स्तर (Substratum) के घनत्व पर आधारित होती है। यदि अध स्तर का घनत्व 3.3 मान लिया जाय तो 20 किलोमीटर की गहराई पर रिफ्ट घाटी की चौड़ाई (D) 39 किलोमीटर होगी। इसी तरह 40 किलोमीटर की गहराई पर चौड़ाई (D) 65 किलोमीटर होगी। इस तरह से बलार्ड महोदय ने सफलतापूर्वक रिफ्ट घाटी की उत्पत्ति तथा उसकी विभिन्न समस्याओं को सुलझाने का सफल प्रयास किया है।

वर्तमान समय तक रिफ्ट घाटी की कई समस्याओं का निदान न तो तनावमूलक परिकल्पना से हो पाया है न तो सम्पीडनात्मक परिकल्पना से ही। इस क्षेत्र में और अधिक पर्यवेक्षण तथा अन्वेषण की आवश्यकता है।

2 बहिर्जात बल (Exogenetic Force)

यदि अन्तर्जात बल भूतल पर असमानता तथा विषमतायें उपस्थित करते हैं तो बहिर्जात बल भूतल पर उत्पन्न इन विषमताओं को दूर करने का प्रयास करते हैं। इस तरह बहिर्जात बल समतल स्थापक बल होते हैं। यदि अन्तर्जात बलों द्वारा भूपटल पर विषमताओं का सृजन अचानक हो जाता है तो बहिर्जात बलों को उन्हें दूर करने के लिये दीर्घ काल तक प्रयास करना पड़ता है। बहिर्जात बलों का भूपटल पर प्रमुख कार्य अनाच्छादन (Denudation) होता है। अनाच्छादन के अन्तर्गत अपक्षय तथा अपरदन की सम्मिलित क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है। अपक्षय के अन्तर्गत चट्टानों का विघटन (Disintegration) तथा वियोजन (Decomposition) उसी स्थान पर होता है। इन विघटित पदार्थों का परिवहन नहीं होता है। अपक्षय के कार्य में ताप, वर्षा के जल, तुषार, वनस्पति, जन्तु तथा मानव का हाथ रहता है। अपरदन के अन्तर्गत चट्टानों के टूटने-फूटने तथा घटन से लेकर उनके परिवहन को सम्मिलित किया जाता है। नदी, हिमनद, पवन, भूमिगत जल तथा सागरीय लहरें अपरदन द्वारा चट्टानों को कुरेद कर उन्हें अपरदित करती रहती हैं। अपरदन से प्राप्त पदार्थों का परिवहन करके उनका यथास्थान निक्षेपण करती रहती है। इन क्रियाओं के दौरान विभिन्न प्रकार के स्थलरूपों (Land forms) का निर्माण, विकास तथा विनाश होता रहता है। 'अपक्षय तथा अपरदन' की विशद व्याख्या क्रमश अध्याय 13 तथा 14 में की गई है तथा प्रक्रमों के विषय में विवेचन अध्याय तीन की संकल्पना चार में की गई है।

ज्वालामुखी-क्रिया तथा स्थलाकृतिक अभिव्यक्ति

(Vulcanicity and Topographic Expressions)

ज्वालामुखी क्रिया तथा उसके उपांग

सामान्य रूप में ज्वालामुखी, ज्वालामुखी के उद्गार की प्रक्रिया तथा ज्वालामुखी-क्रिया (volcano, mechanism of volcanic eruption and vulcanicity) को समानार्थी लिया जाता है परन्तु भूगर्भशास्त्र में इनमें पर्याप्त अन्तर होता है। ज्वालामुखी क्रिया के अन्तर्गत पृथ्वी के आन्तरिक भाग में मैगमा तथा गैस की उत्पत्ति से लेकर उनके (इन पदार्थों) ऊपर की ओर अग्रसर होने तथा भूपटल के नीचे प्रविष्ट होने एवं धरातल पर प्रकट होने तथा शीतल एवं ठोस होकर रवेदार एवं अर्द्ध रवेदार शैलों के निर्माण तक की सारी प्रक्रियायें सम्मिलित की जाती हैं।'

'The term vulcanicity covers all those processes in which molten rock material or magma rises into the crust, or is poured out on its surface, there to solidify as a crystalline or semicrystalline rock"

Wooldridge, S. W and Morgan, R. S, An Outline of Geomorphology, 1960, p 97.

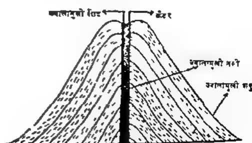
स्पष्ट है कि ज्वालामुखी-क्रिया एक वृहद् प्रक्रिया है जिसका सम्बन्ध भूपृष्ठ के नीचे तथा ऊपर दोनों रूपों में है। धरातल के नीचे अर्थात् आभ्यन्तरिक क्रिया में धरातल के नीचे क्रस्ट तथा मैण्टिल में मैगमा तथा गैस का निर्माण होता है। इनका ऊपर की ओर प्रसार होता है। मार्ग में मैगमा (धरातल के नीचे) शीतल होकर ठोस रूप धारण करता है तथा विभिन्न रूपों या आकारों का निर्माण करता है। यथा बैथोलिथ, फैकोलिथ, लैकोलिथ, सिल, डाइक आदि। वाह्य क्रियाओं में गर्म एवं तरल पदार्थ (लावा) तथा अन्य पदार्थों एवं गैस आदि के धरातल पर प्रकट होने की क्रियायें सम्मिलित होती हैं, जिनमें प्रमुख हैं—ज्वालामुखी, लावा का धरातलीय प्रवाह (fissure flows or lava flood) गर्म जल के स्रोत (hot springs), गीजर (geyser), धुंआरे (fumaroles), पंक ज्वालामुखी (mud volcanoes) आदि।

इस तरह स्पष्ट है कि ज्वालामुखी, ज्वालामुखी क्रिया का एक अंग है। *'ज्वालामुखी मुख्य रूप से एक विवर या छिद्र होता है जिसका सम्बन्ध पृथ्वी के आन्तरिक भाग से होता है तथा जिससे लावा का प्रवाह, तप्त जल का फौवारा या गैसों का विस्फोटक आकस्मिक उद्गार तथा ज्वालामुखी धूल एवं राख का धरातलीय सतह पर आगमन होता है।'*

'A volcano is essentially a fissure or vent, communicating with the interior, from which flows of lava, fountains of incandescent spray or explosive bursts of gases and volcanic 'ashes' are erupted at the surface'

Arthur and Doris L. Holmes, Principles of Physical Geology, 1978, p. 33.

ज्वालामुखी का उद्गार केन्द्रीय विस्फोटक रूप में या दरारी शान्त रूप में होता है। प्रथम प्रकार के उद्भेदन में ज्वालामुखी शंकु का निर्माण होता है जिसे ज्वालामुखी पर्वत कहते हैं। इस पर्वत के ऊपरी भाग में लगभग बीच में एक छिद्र होता है जिसे ज्वालामुखी छिद्र कहते हैं। इस छिद्र का धरातल के नीचे भूगर्भ से संबन्ध एक सकरी नली से होता है जिसे ज्वालामुखी नली (volcanic pipe) कहते हैं। जब ज्वालामुखी का छिद्र विस्तृत हो जाता है तो उसे ज्वालामुखी का मुख (crater) कहते हैं। चित्र 138.



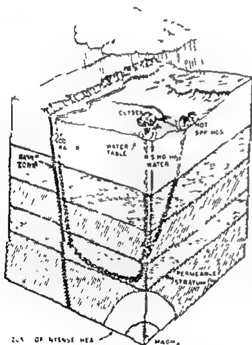
चित्र 138—ज्वालामुखी शंकु के विभिन्न अंग

ज्वालामुखी से निस्सृत पदार्थ

ज्वालामुखी के उद्गार में निस्सृत पदार्थों में गैस तथा वाष्प लावा, विखण्डित पदार्थ एवं ज्वालामुखी राख प्रमुख होते हैं।

(i) गैस

ज्वालामुखी गैसों में सर्वाधिक भाग वाष्प (steam) का होता है (60 से 90 प्रतिशत)। इन्हें दो वर्गों में विभाजित किया जाता है—(i) भौमजलीय (phreatic) तथा (ii) मैगमाजनित (magmatic)। भौमजलीय वाष्प का स्रोत मुख्य रूप से वाह्य जलभंडार यथा वृष्टि झील धरातलीय जल एवं सागर होते हैं। ये जल विदरों (fractures) से होकर धरातल के नीचे जाकर अत्यधिक ताप के कारण वाष्प में बदल जाते हैं (चित्र 139) जब कभी इन वाष्प का बिना तप्त पदार्थों के धरातल पर आकस्मिक विस्फोट होता है तो उसे भौमजलीय विस्फोट (phreatic explosions) कहते हैं। ज्ञातव्य है कि किसी भी ज्वालामुखी उद्भेदन से निस्सृत वाष्प में से भौमजलीय वाष्प तथा मैगमा जनित वाष्प के हिस्सों का पता लगाना दुष्कर होता है।



चित्र 139 धरातलीय जल का रिसकर नीचे जाना तथा मैगमा भंडार की ऊष्मा से गर्म होकर वाष्प में बदलना तथा दूसरी नली से वाष्प का गीजर एवं गर्म जलस्रोत के रूप में प्रकट होना—Frank Press एवं R Siever के अनुसार।

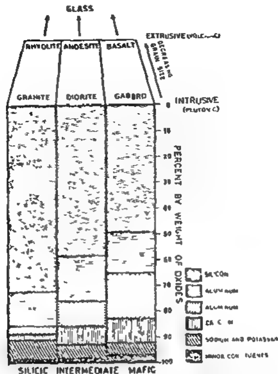
वाष्प के अलावा ज्वालामुखी गैसों में अधिकता के क्रम में कार्बन डायोक्साइड नाइट्रोजन तथा सल्फर डायोक्साइड अधिक महत्वपूर्ण होती हैं। इनके अलावा कम मात्रा में निकलने वाली गैसों में हाइड्रोजन कार्बन मोनोक्साइड सल्फर तथा क्लोरीन प्रमुख हैं। इन गैसों के साथ कई यौगिक (Compounds) भी मिले रहते हैं यथा—गन्धकित हाइड्रोजन (sulphureted hydrogen), हाइड्रोक्लोरिक अम्ल (acid) तथा अन्य अम्ल, लोह के वाष्पशील क्लोराइड्स (volatile chlorides of iron) पोटेसियम तथा अन्य धात्विक पदार्थ। स्मरणीय है कि ज्वालामुखी गैसों में आपसी प्रतिक्रिया (reactions) तथा वायुमण्डलीय गैसों के सम्पर्क के कारण संदूषण (Contamination) हो जाता है। उन गैसों में न्यूनतम संदूषण होता है जिनमें न्यूनतम आक्सीकरण होता है। यथा हाइड्रोजन तथा कार्बन मोनोक्साइड। गैसों के विश्लेषण से ज्ञात हुआ है कि हाइड्रोजन के आक्सीकरण से कुछ वाष्प का जनन होता है। इससे यह आभास मिलता है कि प्राथमिक मैगमटिक गैसों में हाइड्रोजन तथा इसके अत्यधिक प्रतिक्रियाशील समकक्षी (highly reactive companions) से गैसें अधिक मात्रा में रहती हैं तथा ज्वालामुखी के उद्गार के समय निस्सृत गैसों में इनका अनुपात कम हो जाता है क्योंकि उद्गार से पहले इनकी मात्रा में आक्सीकरण के कारण कुछ कमी आ जाती है। ऊष्मा के जनन के साथ मैगमटिक गैसें आपस में भी प्रतिक्रिया के लिए समर्थ होती हैं तथा ये वायुमण्डलीय आक्सीजन या लावा (जिनके साथ ये ऊपर उठती हैं) के लौह आक्साइड (Fe_2O_3) के साथ भी प्रतिक्रिया करती हैं। यद्यपि मैगमैटिक गैसों के स्रोत का वास्तविक ज्ञान नहीं हो पाया है तथापि यह विश्वास किया जाता है कि इनका कुछ भाग पूर्वस्थित / प्रारम्भिक (Pre-existing) अवसादी शैलों तथा अन्य भूपृष्ठीय शैलों से जनित हुआ होगा तथा कुछ अतिरिक्त गैसों का जनन गहरे स्रोतों से हुआ होगा। स्पष्ट है कि धरातल के नीचे गैसें वायुमण्डलीय गैसों की तुलना में अत्यधिक क्रियाशील (energised) होती हैं तथा ज्वालामुखी-क्रिया के प्रमुख कारण होती हैं। अर्थात् इन्हीं क्रियाशील / ऊर्जित गैसों के कारण मैगमा / लावा

घुली गैसो (dissolved gases) के कारण मैगमा तथा पिघले लावा का घनत्व कम हो जाता है। जब इन गैसो के बुलबुलों (gas bubbles) का अलगाव होता है तथा उनका झाग (froth) मे परिवर्तन होता है तो मैगमा एवं लावा का घनत्व और कम हो जाता है। इस कारण मैगमा सामान्य स्थिति (गैस के अभाव मे) से अत्यधिक ऊँचाई तक उठता जाता है।

(ii) **मैगमा तथा लावा**—सामान्य रूप मे धरातल के नीचे पिघले पदार्थो को मैगमा कहा जाता है और जब यही मैगमा धरातल पर प्रकट हो जाता है तो उसे लावा कहते हैं। परन्तु इन दोनो मे स्थिति-सम्बन्धी अन्तर उतना महत्वपूर्ण नही होता है जितना कि उनकी रचना सम्बन्धी अन्तर मैगमा मे सारे वाष्पशील सघटक (volatile constituents—गैसें) वर्तमान होते है परन्तु लावा से इन सघटकों का कुछ भाग (सतह पर पहुँचने पर) वायुमण्डल मे या सागर मे नष्ट हो जाता है तथा धरातल के नीचे ऊपर उठते समय मार्ग मे अतिरिक्त रासायनिक घटक (chemical components) सम्मिलित हो जाते है या प्रारम्भिक कुछ घटक नष्ट हो जाते हैं। स्पष्ट है कि मैगमा लावा का जनक स्रोत (parent source) है। यद्यपि लावा से मैगमा के मौलिक सघटक का कुछ नष्ट हो जाता है तथा उसमे (लावा मे) कुछ नये घटक जुट जाते हैं तथापि लावा के विश्लेषण मे ऊपरी मैण्टिल की रासायनिक संरचना एव उसकी भौतिक दशा (physical state) के विषय में महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है।

मैगमा तथा लावा की विशेषताओ की जानकारी के लिए उनकी रासायनिक संरचना सम्बन्धी कुछ पारिभाषिक नामावलियो का स्पष्टीकरण आवश्यक है। प्रारम्भ मे मैगमा तथा लावा एवं आग्नेय शैल का वर्गीकरण उनमे मौजूद सिलिका की मात्रा के आधार पर किया जाता था। अत अधिक सिलिका युक्त मैगमा को **अम्ल प्रधान मैगमा** (acidic magma) (ग्रेनाइट शैल) तथा कम सिलिका (SiO_2) वाले लावा को **क्षारकीय लावा** (basic lava) की संज्ञा प्रदान की गई। वर्तमान समय मे मैगमा तथा लावा एवं आग्नेय शैलो का वर्गीकरण रासायनिक एवं खनिजीय संघटन (chemical and mineratogical composition) के आधार पर किया जाता है। खनिजो को **हल्के रंग** (light) तथा **गहरे रंग** (dark) दो कोटियो मे विभक्त किया जाता है। इनमें हल्के रग के खनिजो को **फेल्सिक** (felsic) एव गहरे रग के खनिजो को **मैफिक** (mafic) कहते है। हल्के रग के खनिजो के समूह (light/felsic) मे प्रमुख होते है क्वार्ट्ज् तथा फेल्सपार (फेल्सिक शब्द की रचना = fel(s) = feldspar, तथा ic, दोनो खनिजो मे सिलिका अश अधिक होता है)। गहरे रग के खनिज-समूह मे (dark/mafic) पाइरोक्सीन्स (pyroxenes), अम्फीबोल्स (amphiboles) तथा ऑलविन (olivines) प्रमुख होते हैं तथा इनमे मैग्नेसियम एव लौह की अधिकता होती है (मैफिक = Mafic शब्द की रचना = ma = magnesium, f = ferrous—लौह तथा ic)। फेल्सिक तथा मैफिक प्रकारो के अलावा दो और प्रकार होते हैं—मध्यस्थ (intermediate) तथा अल्ट्रामैफिक (altramafic)। स्मरणीय है कि फेलसपार के कई प्रकार होते है तथा आग्नेय शैलो एवं मैगमा तथा लावा के वर्गीकरण मे इनका पर्याप्त महत्व होता है। जिस मैगमा से ग्रेनाइट का निर्माण होता है उससे पोटैसियम फेल्सपार (मुख्य रूप मे आर्थोक्लेज orthoclase खनिज) अधिक होते है (फेल्सिक ग्रुप) जबकि अधिक मैफिक लावा (बेसाल्ट) मे सोडियम तथा कैलसियम फेल्सपार (प्लेजियोक्लेज plagioclase) का अनुपात अधिक होता है। निम्न तालिका में बहिर्जात लावा (ज्वालामुखीय)—बेसाल्ट (मैफिक), एण्डेसाइट (मध्यस्थ) तथा रायोलाइट (फेल्सिक) तथा अन्तर्जात मैगमा (पातालीय Plutonic)—गैब्रो (मैफिक), डायोराइट (मध्यस्थ) तथा ग्रेनाइट (फेल्सिक) की सामान्य सरचना अर्थात् सिलिकन, अल्युमिनियम, लौह-मैग्नेसियम, कैलसियम, सल्फर तथा पोटैसियम तथा गौण सघटक के आक्साइड को प्रतिशत मे व्यक्त किया गया है (चित्र 140)। निम्न तालिका तथा चित्र 140 से स्पष्ट परिलक्षित होता है कि मैफिक (बेसाल्ट/गैब्रो) से मध्यस्थ (एण्डेसाइट/डायोराइट) मे सिलिका के आक्साइडस मे निरन्तर वृद्धि होती जाती है परन्तु लौह-मैग्नेसियम आक्साइड्स मे निरन्तर ह्रास होता जाता है।

बेसाल्ट लावा (मैफिक) मे सर्वाधिक तरलता (fluidity) होती है तथा इसकी तरलता की अवधि फेल्सिक लावा (रायोलाइट) से अधिक होती है। स्पष्ट है कम सिलिका वाले लावा (बेसाल्ट लावा) की तरलता तथा उसकी अवधि अधिक सिलिका वाले लावा (रायोलाइट) से अधिक होती है। इस तरह अधिक तरलता एवं कम



चित्र 140 लावा तथा मैगमा के प्रमुख प्रकारों का संघटन। फ्रंक प्रेस तथा रेमण्ड सीवर, 1978 के अनुसार।

लावा तथा मैगमा के प्रमुख प्रकारों का संघटन (आक्साइड्स प्रतिशत में)

		सिलिकन	अल्युमिनियम	लौह मैग्नेसियम	कैलसियम	सोडियम तथा पोटैसियम	गौण संघटक
फेल्सिक	अन्तर्जात ग्रेनाइट बहिर्जात रायोलाइट	74.0	14.0	2.0	1.8	7.0	1.2
मध्यस्थ	अन्तर्जात डायोराइट बहिर्जात एण्डेसाइट	58.0	18.4	9.8	7.0	4.8	2.0
मैफिक	अन्तर्जात गैब्रो बहिर्जात बेसाल्ट	49.0	16.5	18.0	9.5	4.2	2.8

श्यानता (लसलसापन viscosity) के कारण बेसाल्ट लावा की धरातल पर प्रवाह गति (flow speed) सर्वाधिक होती है (100 किमी प्रति घण्टा से कुछ किमी० प्रति-घण्टा परन्तु औसत गति 45 से 65 किमी प्रति घण्टा) बेसाल्ट लावा सबसे गर्म होता है (1000° से 1200° सेण्टीग्रेड)। स्पष्ट है कि बेसाल्ट मैगमा का गलनांक बिन्दु (melting point) सबसे अधिक होता है तथा यह 1000° 1200° सेण्टीग्रेड तापमान पर पिघल कर लावा (बेसाल्ट लावा) के रूप में सतह पर प्रकट होता है। यह इतना हल्का होता है कि सामान्य ढाल वाली सतह पर भी आसानी से फैल जाता है। बसाल्ट लावा का प्रवाह सतह पर पतली चादर के रूप में होता है तथा कई बार लावा प्रवाह (lava flows) होने से परत के ऊपर परत के रूप में अत्यधिक मोटाई तक बेसाल्ट का जमाव हो जाता है। लावा प्रवाह की गति पर धरातलीय ढाल के अलावा उसमें स्थित गैस के प्रारूप का भी प्रभाव पड़ता है। स्मरणीय है कि जब लावा शीतल होकर जमने की स्थिति में आता है या तरल प्रावस्था (जबकि लावा में गैसें घुली रहती हैं) से झाग प्रावस्था (froth or foam phase,जबकि गैसें फैलकर बुलबुलों के रूप में हो जाती

है) में आता है तो उसकी **श्यानता** (लसलसापन-viscosity) बढ़ जाती है तथा प्रवाह-गति अत्यन्त मन्द हो जाती है। बेसाल्ट मैगमा की तुलना में रायोलाइट (rhyolite) मैगमा का गलनांक नीचा होता है तथा यह 800° से 1000° सेण्टीग्रेड तापमान पर पिघलकर लावा के रूप में सतह पर आ जाता है। इसकी **श्यानता या गाढ़ापन** बेसाल्ट लावा से काफी अधिक होती है तथा इसका प्रवाह मन्द गति से होता है तथा इसका जमाव मोटी परत के रूप में होता है। इन दोनों अर्थात् बेसाल्ट लावा (मैफिक) एवं रायोलाइट लावा (फेल्सिक) के मध्य एण्डेसाइट की स्थिति होती है क्योंकि इसमें सिलिका की मात्रा बेसाल्ट लावा से अधिक परन्तु रायोलाइट लावा से कम होती है।

लावा प्रवाह को **हवायन भाषा** के अनुसार दो वर्गों में विभक्त किया जाता है—(i) **पहोयहोय** (Pahoehoe, अंग्रेजी में इसका उच्चारण Pahoyhoy किया जाता है) तथा (ii) **आह आह** (aa, अंग्रेजी में इसका ah, ah उच्चारण होता है)। **पहोयहोय लावा** अत्यधिक तरल होता है तथा इसका विस्तार चादर के रूप में होता है। इसे **लसदार लावा** (ropy lava) भी कहते हैं। पहोयहोय का हवायन भाषा में अर्थ होता साटन। रेशम जैसा मुलायम, चमकदार तथा चिकना। **आह आह लावा** अधिक गाढ़ा तथा लसलसा (viscous) होता है। इसे **ब्लाक लावा** भी कहते हैं **पहोयहोय** लावा पतला होने के कारण मन्द गति से शीतल होता है तथा लम्बी अवधि तक गतिशील रहता है। इसमें गैस धीरे-धीरे निकलकर मुक्त होती है तथा शीतल होकर जमने पर इसकी सतह चिकनी तथा समतल (smooth) होती है तथा सिकुड़न पर रस्सी या डोरी (ropy and corded) के समान हो जाती है। *वास्तव में इसका प्रवाह डामर / तारकोल (flow pitch)* के समान होता है। कभी-कभी पहोयहोय लावा प्रवाह के समय ऊपरी सतह तथा किनारे वाले भाग शीतल होकर जम जाते हैं तथा बीच से पिघला लावा आगे निकल जाता है और इस प्रकार रिक्त सुरंग (empty tunnel) बन जाती है। इसी तरह लावा कन्दरा का निर्माण हो जाता है। इसके उदाहरण **आइसलैण्ड** तथा **हवाई द्वीप** में मिलते हैं। **आह आह लावा** से गैस तीव्रता से मुक्त होती है। परिणामस्वरूप लावा शीघ्रता से ठंडा होता है। इस तरह जमता लावा **गैस-स्फीति** (gas-inflation) के कारण फैल जाता है तथा खण्डों (blocks) में टूट जाता है। इसी कारण इसे **ब्लाक लावा** कहते हैं। इन खण्डों की ऊपरी सतह असमान तथा ऊबड़खाबड़ (irregular and rough) होती है। कभी-कभी इन खण्डों के किनारे जम्बूरे (चाकू) की धार जैसे तेज होते हैं जिन पर चलना कठिन होता है।

जब पहोयहोय लावा का प्रवाह सागर-नितल में होता है तो जमने के बाद इसका रूप **तकिया या बोरे** (sack) जैसा हो जाता है। इसी कारण इसे **शिरोधान लावा या पिलो लावा** (pillow lava) कहते हैं। प्रारम्भ में लावा जीभ के आकार में आगे बढ़ता है। जल के सम्पर्क में यह ठंडा होने लगता है। परिणामस्वरूप इसका वाह्य भाग कठोर प्लास्टिक आवरण (skin) जैसा हो जाता है जिसके बीच में तरल लावा रहता है। शीतल होने पर वाह्य आवरण स्थायी हो जाता है तथा आन्तरिक भाग रवेदार होता है। कभी-कभी इसमें अरीय चटकनें (radial cracks) भी विकसित हो जाती हैं। इस तरह के शिरोधान (तकिया) आकार के कई खण्डों का ढेर लग जाता है।

(iii) **ज्वालामुखीक्षिप्त अथवा विखण्डित पदार्थ** (*Pyroclastic materials*) उद्भेदन के पूर्व मैगमा में वाष्पशील (volatile) संघटक (Constituents) यथा वाष्प तथा घुली गैसें मिली होती हैं। जब ऊपर स्थित दाब में कमी होती है तो ये वाष्पशील संघटक धरातल को तोड़कर प्रकट होते हैं। विस्फोटक उद्गार के समय अत्यधिक सिलिका युक्त वाष्पशील गाढ़ा रायोलाइट तथा एण्डेसाइट लावा विभिन्न आकार वाले खण्डों में टूट जाता है परन्तु बेसाल्ट लावा शान्त प्रकार से धरातल पर फैलता है। विस्फोटक उद्गार के समय तीव्र गैसें धरातल के भाग को भी तोड़कर आकाश में उछाल देती हैं। इस प्रकार ज्वालामुखी उद्गार के समय निस्सृत पदार्थों को जिनमें चट्टानी भाग, खनिज, ग्लास, राख आदि सम्मिलित होते हैं, **ज्वालामुखीक्षिप्त या विखण्डित पदार्थ** (pyroclastic materials) कहते हैं।

आर्थर होम्स तथा डेविस एल० होम्स ने ज्वालामुखीक्षिप्त पदार्थों को उनके स्रोत के आधार पर निम्न तीन वर्गों में विभाजित किया है—

(i) **मौलिक** (essential) **पदार्थ**—जिनका निर्माण उद्गार के समय निस्सृत **सजीव** लावा (live lavas) के घनीभवन (consolidation) से होता है। इस तरह के पदार्थों के लिए **थोरेरिन्सन** (Thorarinsson) ने *1954* में **टेफ्रा** (*tephra ग्रीक शब्द, जिसका अर्थ राख होता है*) नामावली का प्रयोग किया। ये पदार्थ

असगठित होते हैं। ऐसे पदार्थों का आकार 2 मिली-मीटर तक होता है।

(ii) **गौण पदार्थ** (accessory materials)—जिनका निर्माण मृत लावा (dead lavas) अर्थात् असक्रिय लावा तथा प्रारम्भिक उद्गार से निस्मृत ज्वालामुखीक्षिप्त पदार्थों से होता है।

(iii) **आकस्मिक पदार्थ** (accidental materials) जिसके अन्तर्गत भूपृष्ठीय चट्टानों (crustal rocks) के विखण्डित पदार्थ होते हैं।

सजीव लावा का तात्पर्य उस लावा से होता है जो पाइरोक्लास्ट के निर्माण के समय पिघली अवस्था या आंशिक रूप से ठोस रूप में होता है। प्रथम प्रकार अर्थात् सजीव लावा से निर्मित पाइरोक्लास्ट्स के अन्तर्गत विखण्डित पदार्थों के अन्तर्गत बारीक कणों से लेकर वृहदाकार बम तक को सम्मिलित करते हैं। आकार के आधार पर ज्वालामुखी-निस्मृत पदार्थों (पाइरोक्लास्ट्स) को निम्न क्रम से रखा जाता है—सबसे बारीक पदार्थ को **ज्वालामुखी धूल** (volcanic dust), 2 मिली मीटर आकार वाले पदार्थों को **ज्वालामुखी धूल** (volcanic ash), मटर के दाने के आकार वाले खण्ड को **लैपिली** (lapilli—इटली भाषा का शब्द, जिसका अर्थ होता है 'लघु पत्थर'), 6 सेण्टीमीटर या उससे बड़े आकार वाले खण्डों को **ज्वालामुखी बम** (volcanic bomb) कहते हैं। बम के आकार दीर्घवृत्तीय (ellipsoidal), चक्रिक (discoidal), असमान गोलक (irregularly round) आदि होते हैं। सामान्य ज्वालामुखी बम का विस्तार (dimension) बेसबाल (baseball) से बास्केटबाल तक होता है। कभी-कभी कई टन (100 टन तक) भारी ब्लाक का भी निष्कासन होता है तथा ये 10 किलो-मीटर की दूरी तक पहुँच जाते हैं।

ज्वालामुखी उद्गार के समय निष्कासित पदार्थ (ejected pyroclasts) पुनः नीचे वापस गिरते हैं जिनके द्वारा विभिन्न प्रकार के जमाव होते हैं। जब बारीक पदार्थ संगठित (cemented or lithified) होते हैं तो प्रत्युत्पन्न जमाव को **ज्वालामुखी टफ** (volcanic tuffs) कहते हैं। बड़े विखण्डित पदार्थों के संगठित रूप को **ज्वालामुखी संकोणाश्म** (volcanic breccia) कहते हैं। जब बारीक पदार्थ (धूल के आकार के), ग्लास के भिन्नखण्ड (splinters) एवं मृत्पात्र-खण्ड (shards) उद्गार के समय गिरने के पहले अत्यधिक दूरी तय करके नीचे गिरकर निक्षेपित होते हैं तो इस तरह के जमाव को इग्निम्ब्राइट (ignimbrites) कहते हैं। इस तरह का जमाव उस समय होता है जब विस्फोटक तथा विनाश-कारी उद्गार के समय तप्त राख तथा धूल एवं गैस का निष्कासन वृहदाकार बादल के रूप में होता है। वास्तव में तप्त गैसों के कारण ठोस पदार्थ तैरते या उछलते चलते हैं। इस तरह का उद्भेदन 1902 में माउण्ट पीली (मार्टिनिक) का हुआ था जिसमें उद्गार के समय निस्मृत पदार्थों का तापमान 800° सेण्टीग्रेड था तथा उनकी प्रवाह (flow) गति 100 किलोमीटर प्रति घण्टा थी। एक मिनट के अन्तर्गत सेण्ट पियरे शहर के 28 000 जन काल कवलित हो गये।

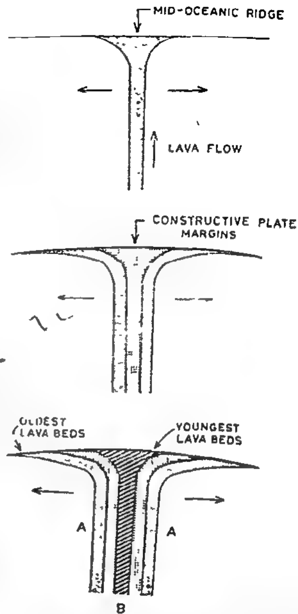
ज्वालामुखी उद्गार के प्रकार

उद्गार की तीव्रता (intensity) के आधार पर उसे सामान्य रूप से दो विशिष्ट प्रकारों में विभक्त किया जाता है—(i) शान्त दरारी उद्भेदन (quiet fissure eruption) तथा (ii) विस्फोटक केन्द्रीय उद्भेदन (explosive central eruption)।

(i) **दरारी उद्भेदन** (Fissure Eruption) इस प्रकार के उद्भेदन में या तो लावा या ज्वालामुखी क्षिप्त पदार्थों (pyroclastic materials) का उद्गार प्रायः शान्त रूप में या तो लम्बी, एवं सकरी एकाकी दरार या कई दरारों से होता है। जब लावा में मैफिक (mafic) का अंश (मैग्नेशियम तथा लौह अधिक तथा सिलिका कम) अधिक होता है बेसाल्ट लावा का प्रवाह (flood basalts) या (plateau lavas) अधिक होता है। इस तरह के बेसाल्ट लावा के प्रवाह से ज्वालामुखी (शंकु वाले) का निर्माण न होकर लावा मैदान या लावा पठार (लावा की कई क्रमिक परतों के जमने से) का निर्माण होता है। परन्तु जब लावा फेल्सिक (felsic फेल्सपार तथा सिलिका का अंश अधिक) होता है तो ज्वालामुखीक्षिप्त (pyroclastics) पदार्थ अधिक निकलते हैं। महाद्वीपों पर (अन्तर्प्लेट स्थिति—inter-plate situation) इस तरह बेसाल्ट लावा के प्रवाह के कारण निर्मित विस्तृत लावा पठारों के उदाहरण प्रायः हर महाद्वीप में मिलते हैं। इनमें प्रमुख हैं संयुक्त राज्य अमेरिका का कोलम्बिया का पठार, भारत का प्राय-द्वीपीय पठार तथा ब्राजील एवं पराग्वे का पराना पठार इनका अगले शीर्षक 'ज्वालामुखी निर्मित स्थलाकृतियाँ' के अन्तर्गत विस्तार से विवेचन किया जायेगा। दरारी उद्भेदन की दूसरी स्थिति मध्य महासागरीय कटक (mid-oceanic ridges) अर्थात् रचनात्मक प्लेट किनारे

(constructive plate margins) के सहारे होती है। इन मध्य महासागरीय कटकों के सहारे बेसाल्ट लावा का प्रवाह 'सागर नितल प्रसरण' (sea-floor spreading) के कारण होता है (देखिये अध्याय आठ का शीर्षक 'सागर-नितल प्रसरण)'। इस अन्त सागरीय प्रवाह का सही आभास नहीं मिल पाता है क्योंकि यह क्रिया सागरीय जल के आवरण के नीचे सम्पादित होती है, यद्यपि इस स्थिति मे निस्मृत लावा का आयतन महाद्वीपीय स्थिति से निस्मृत लावा से इतनी अधिक होता है कि दोनों की तुलना करना निरर्थक होगा। महासागरों के अन्तर्गत लावा का प्रवाह जिन दरारो से होता है वे कटकों के शिखर (ridge crests) या मध्य भ्रंश ज घाटियों (median rift valleys) मे सम्बन्धित होती हैं। इस प्रकार पूरे ग्लोब पर महासागरीय कटक—दरार तन्त्र (global oceanic ridge-fissure system) का विस्तार लगभग 50 000 किलोमीटर तक है तथा इनसे निस्मृत लावा से वर्तमान समय मे सम्पूर्ण महासागरी क्रस्ट का निर्माण हुआ है। आइसलैण्ड जो मध्य अटलाण्टिक कटक के ठीक ऊपर स्थित है, इस तरह के लावा प्रवाह का सर्वोत्तम उदाहरण प्रस्तुत करता है (विस्तृत विवरण के लिए देखिये इस पुस्तक के अध्याय आठ-प्लेट विवर्तनिकी—का शीर्षक 'प्लेट टेक्टानिक्स एव ज्वालामुखी-क्रिया)'। मध्य महासागरीय कटक के सहारे विपरीत दिशाओं मे गतिशील प्लेट के कारण जनित दरार के सहारे निस्मृत लावा के दो भागो मे बट कर कटक के दोनों ओर अग्रसर होने की प्रक्रिया के लिए देखिये इस पुस्तक के अध्याय आठ के चित्र 72 तथा 87 तथा इस अध्याय का चित्र 141। जब मैगमा मे सिलिका की मात्रा अधिक होती है (felsic magma) तो ज्वालामुखीक्षिप्त पदार्थों (pyroclastic materials) का उद्गार लावा की तुलना मे अधिक होता है। इस तरह के उद्भेदन से विस्तृत इग्निमब्राइट चादर (ignimbrite sheet) का निर्माण होता है।

(ii) केन्द्रीय उद्भेदन (Central Eruptions) केन्द्रीय उद्गार एक विन्दु से होता है जबकि दरारी उद्गार रैखिक रूप (दरार के सहारे) मे होता है। यदि दरारी उद्गार मे मैगमा बेसाल्ट बाढ के रूप मे जल की भाँति स्वतन्त्र रूप मे धरातल के सहारे क्षैतिज रूप मे होता है तो केन्द्रीय उद्भेदन मे गैसो की तीव्रता के कारण ज्वालामुखी पदार्थ आकाश मे अत्यधिक ऊँचाई तक लम्बवत (vertical) रूप मे होता है। केन्द्रीय उद्गार प्राय: एक सकरी नली या द्रोणी के सहारे एक छिद्र से होता है। जब लावा के साथ गैस की मात्रा अधिक होती है तो ऊपरी दबाव कम होने पर ये गैसें बडी तीव्रता से भूपटल के निचले भाग पर धक्के लगाती है तथा जहाँ-

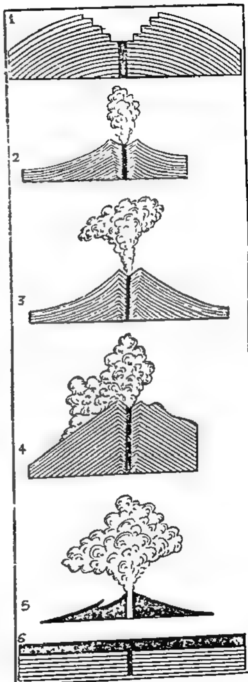


चित्र 141—मध्य महासागरीय कटक के सहारे जनित दरार के सहारे लावा का प्रवाह तथा उसके कटक के दोनो ओर प्रसार। सबसे वाह्य भाग (A) मे लावा का सबसे पुराना स्तर तथा कटक के पास (B) सबसे नवीन स्तर होते है।

कहीं भी कमजोर भूपटल मिलता है, वहाँ पर गैसे उन्हे तोड़कर भयकर आवाज करती हुई अत्यधिक तीव्रता के साथ धरातल पर प्रकट होती है। परिणामस्वरूप लावा पदार्थ अत्यधिक ऊँचाई तक आकाश मे चला जाता है तथा वाष्प, गैस एव धूम्र की अधिकता से आकाश मे अधिक दूर तक घनघोर काले बादल छा जाते है। थोड़ी देर के बाद लावा तथा विखण्डित पदार्थ इस प्रकार नीचे गिरने लगते है कि लगता है कि जैसे चट्टानी टुकडो की वर्षा हो रही हो। इन पदार्थों के एकत्रित होने तथा जमाव से ज्वालामुखी-छिद्र के चारों तरफ शकु की रचना होती है। कभी-कभी इनका आकार शकु का न होकर, गुम्बद या टीला (Dome or mounds) के रूप मे होता है। 'वे ज्वालामुखी, जिनके छिद्र (मुख) का व्यास कुछ सौ फीट से अधिक नही होता, आकार गोल या करीब-करीब गोल होता है तथा जिनसे गैस, लावा तथा विखण्डित पदार्थ अधिक मात्रा मे भयकर उद्भेदन के साथ आकाश मे काफी ऊँचाई तक प्रकट होते है, केन्द्रीय उद्गार वाले ज्वालामुखी कहे जाते है।"

इस प्रकार के ज्वालामुखी अत्यधिक विनाशकारी होते है। इनके उद्गार से भयकर भूकम्प आते है तथा शकु का अधिकाश भाग विस्फोटित होकर वायु मे उड़ जाता है। यहाँ पर यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि सभी केन्द्रीय उद्गार वाले ज्वालामुखी एक समान ही भयकर नही हुआ करते। इनके उद्गार मे अन्तर निसृत पदार्थों की विभिन्नता एव उद्गार की अवधि के अनुसार इन्हे कई उपविभागों मे रखा जा सकता है। इस आधार पर लैक्रू वायस (Lacroix) ने ज्वालामुखी को चार भागों (हवाना, स्ट्राम्बोली, वैलकैनो तथा पीली प्रकार) मे विभाजित किया है। कुछ विद्वानों ने इन्हे 6 भागों मे वर्गीकृत किया है। प्रत्येक विभाग विशेष प्रकार के उद्भेदन पर आधारित हैं।

(i) हवाई तुल्य ज्वालामुखी (Hawaiin Type of Volcanoes)—इस प्रकार के ज्वालामुखियों का उद्गार शान्त ढग से होता है तथा भयकर उद्भेदन बहुत कम होता है। इनका मुख्य कारण लावा का पतला होना तथा गैस की तीव्रता मे कमी का होना है। इस कारण गैसे धीरे से लावा से अलग होकर भूपटल पर प्रकट हो जाती हैं। निकलने वाले विखण्डित पदार्थ (Fragmental materials) नगण्य होते है। उद्गार के समय लावा के छोटे-छोटे लाल पिण्ड गैसो के साथ ऊपर उछाल दिये जाते है। जब वायु द्वारा ये लाल पिण्ड गोल लिये जाते है तो लगता है कि आकाश मे लावा-पिण्ड, केशो (Hair) की तरह उड़ रहे हो। हवाई द्वीप के लोग इसे अपनी



चित्र 142—1. हवाई तुल्य, 2. स्ट्राम्बोली तुल्य, 3 वलकैनो तुल्य, 4 पीलियन तुल्य, 5 प्लिनियन तुल्य, 6 आइसलैण्ड तुल्य।

अग्निदेवी पीली (Pelee) की केशराशि समझते हैं। इस तरह का उद्गार खासकर हवाई द्वीप पर होता है, जिस कारण इस प्रकार के ज्वालामुखियों का नामकरण "हवाई प्रकार के ज्वालामुखी" किया गया है।

(ii) स्ट्राम्बोली तुल्य (Strombolian Type of Volcanoes)—इस तरह का ज्वालामुखी प्रथम प्रकार की अपेक्षा कुछ तीव्रता से प्रकट होता है। जब गैसों के मार्ग में रुकावट होती है तो कभी-कभी भयंकर उद्गार भी होते हैं यद्यपि लावा में एसिड की मात्रा कम ही है, फिर भी हवाई प्रकार के ज्वालामुखी की अपेक्षा यह अधिक पतला एवं हल्का नहीं होता है। तरल लावा के अतिरिक्त कुछ विखण्डित पदार्थ जैसे ज्वालामुखी-धूल, झामक (Pumice), अवस्कर (Scoria) तथा ज्वालामुखी बम (Bomb) भी उद्गार के समय निकलते हैं, जो अधिक ऊँचाई पर जाकर पुनः ज्वालामुखी क्रेटर में गिर पड़ते हैं। इस प्रकार का उद्गार भूमध्य सागर में सिसली द्वीप के उत्तर में स्थित लिपारी द्वीप (Lipari Island) के स्ट्राम्बोली (Stromboli) ज्वालामुखी में पाया जाता है तथा इसी के नाम पर इस तरह के उद्गार वाले ज्वालामुखियों को "स्ट्राम्बोली तुल्य ज्वालामुखी" कहते हैं। यद्यपि स्ट्राम्बोली से सतत् उद्भेदन होता है परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि इस प्रकार के ज्वालामुखियों से सतत् उद्भेदन होता रहे।

(iii) वलकैनो तुल्य ज्वालामुखी (Vulcanian Type of Volcanoes)—इस प्रकार का ज्वालामुखी प्रायः विस्फोट एवं भयंकर उद्गार के साथ ही प्रकट होता है। इससे निस्सृत लावा इतना चिपचिपा एवं लसदार (Viscous and pasty) होता है कि दो उद्गारों के बीच यह ज्वालामुखी छिद्र पर जमकर उसे ढक लेता है। इस तरह गैसों के मार्ग में अवरोध हो जाता है। परिणाम स्वरूप गैसें अधिक मात्रा में एकत्रित होकर तीव्रता से ऊपर वाले अवरोध को उड़ा देती हैं तथा भयंकर रूप में आकाश में अधिक ऊँचाई तक प्रकट होती हैं। इस कारण ज्वालामुखी-मेघ काफी दूरी तक छा जाते हैं। इनका आकार प्रायः फूलगोभी के रूप में होता है। इस तरह के उद्गार से एसिड से लेकर पैठिक (बेसिक) सभी प्रकार का लावा निस्सृत होता है। इस प्रकार के ज्वालामुखी का नामकरण भूमध्य सागर-स्थित लिपारी द्वीप के प्रसिद्ध ज्वालामुखी "वलकैनो" (Vulcano) के आधार पर किया गया है। इसमें प्रत्येक अगला उद्भेदन पिछले उद्गार से निर्मित लावा की परत को उड़ाकर होता है।

(iv) पीलियन तुल्य ज्वालामुखी (Peleean Type of Valcanoes)—पीलियन प्रकार के ज्वालामुखी सबसे अधिक विनाशकारी होते हैं तथा इनका उद्गार सबसे अधिक विस्फोटक एवं भयंकर होता है। इनमें निस्सृत लावा सबसे अधिक चिपचिपा तथा लसदार होता है। उद्गार के समय ज्वालामुखी-नली में लावा की कठोर पट्टी जमा हो जाती है तथा अगले उद्गार के समय भयंकर गैसें इन्हें तीव्रता से तोड़कर आवाज करती हुई धरातल पर प्रकट होती हैं। इनसे निस्सृत लावा तथा विखण्डित पदार्थ सर्वाधिक होते हैं। प्रज्ज्वलित गैसों के कारण ज्वालामुखी मेघ प्रकाशमान हो जाते हैं। 8 मई सन् 1902 ई० को पश्चिमी द्वीप समूह के मार्टिनिक (Martinique) द्वीप पर पीली (Pelee) ज्वालामुखी का भयंकर उद्भेदन हुआ था। इसी आधार पर अत्यधिक भयंकर उद्गार वाले ज्वालामुखियों को "पीली तुल्य ज्वालामुखी" कहते हैं। इनके उद्गार में पहले का शंकु या गुम्बद पूर्णतया या अधिकांश रूप में नष्ट हो जाता है। इसी तरह जावा एवं सुमात्रा के मध्य सुण्डा जलडमरूमध्य में सन् 1883 ई० में क्राकाटाओ (Krakatao or Krakatoa or Krakatau) ज्वालामुखी का उद्गार हुआ था जिससे पुराने शंकु का एक तिहाई भाग हवा में उड़ गया। भयंकर गैस एवं वाष्प के कारण 17 मील की ऊँचाई तक बादल घिर गये। इतना ही नहीं अगले उद्गार के समय (प्रथम उद्गार के केवल एक दिन बाद) ज्वालामुखी धूल एवं राख तथा वाष्प का बादल 50 मील की ऊँचाई तक आकाश में पहुँच गया। द्वीप का दो तिहाई भाग सागर में निमज्जित हो गया। उद्गार की भयंकर आवाज 3000 मील दूर आस्ट्रेलिया तक सुनी गई तथा भूकम्प के कारण सागर में 120 फीट ऊँची लहर उठ गई जिससे जावा एवं सुमात्रा के तटीय भागों में 36,000 व्यक्ति मारे गए। सन् 1911 में फिलीपाइन द्वीप समूह में माउण्ट ताल (Mount Taal) का भयंकर उद्भेदन हुआ।

(v) विसूवियस तुल्य ज्वालामुखी (Vesuvius Type of Volcanose)—विसूवियस प्रकार के ज्वालामुखी वलकैनियन प्रकार की तरह ही होते हैं। अन्तर केवल इतना होता है कि गैसों की तीव्रता के कारण लावा पदार्थ आकाश में अत्यधिक ऊँचाई तक पहुँच जाता है। ज्वालामुखी-बादल का आकार फूलगोभी के समान होता है। जब विस्फोटित पदार्थ काफी ऊँचाई तक पहुँच जाते हैं तो गैस एवं वाष्प से निर्मित ज्वाला-

मुखी बादल गोलाकार हो जाता है। इस प्रकार का उद्भेदन 79 ई० मे विसूवियस मे हुआ था, जिसका प्रथम पर्यवेक्षण **प्लिनी** (Pliny) महोदय ने किया था। इस आधार पर **प्लिनी** के नाम पर ऐसे उद्गार वाले ज्वालामुखी को **प्लिनियन प्रकार** (Plinian Type) के ज्वालामुखी कहते हैं।

ज्वालामुखी-क्रिया का विश्ववितरण

ज्वालामुखी की स्थितियो के विश्व व्यापक प्रारूप (global pattern) को दो रूपो मे व्यक्त किया जा सकता है—(i) **परम्परागत वितरण प्रारूप** (traditional distribution pattern) जिसका प्रचलन **प्लेट विवर्तनिकी** (1960 से) के पहले था तथा ज्वालामुखी को तीन पेटियो या मेखलाओ (परिप्रशान्त, मध्य महाद्वीपीय तथा मध्य अटलाण्टिक) मे विभक्त किया जाता रहा है। (ii) प्लेट किनारो के परिवेश मे ज्वालामुखियों का वितरण।

(i) **परम्परागत वितरण प्रणाली** यदि जाग्रत एव अन्य ज्वालामुखियो को ससार के मानचित्र पर प्रदर्शित किया जाय तो यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि इनका वितरण एक निश्चित क्रम मे पाया जाता है। विश्व के वर्तमान **जाग्रत ज्वालामुखियो की सख्या** 500 के लगभग बताई जाती है। यदि पुराने शकु, प्रसुप्त तथा प्रशान्त सभी प्रकार के ज्वालामुखियो को सम्मिलित किया जाय तो यह सख्या काफी अधिक हो जायेगी। उद्गार की सक्रियता तीव्रता एव अवधि के आधार पर ज्वालामुखियो को *तीन प्रकारो मे विभक्त किया जाता है*—(i) **जाग्रत या सक्रिय ज्वालामुखी** (active volcanoes) इनसे लावा, गैस तथा विखण्डित पदार्थो का सतत उद्गार होता रहता है, (ii) **प्रसुप्त ज्वालामुखी** (dormant volcanoes)—उसे कहते है जो प्रथम उद्गार के बाद लम्बी अवधि तक शान्त या असक्रिय हो जाते है परन्तु उनका पुन अचानक उद्भेदन प्रारम्भ हो जाता है। **विसुवियस** ज्वालामुखी इसका प्रमुख उदाहरण है। प्रथम उद्गार 79 ई० मे हुआ। तदनन्तर इसके उद्गार 1631, 1803, 1872, 1906, 1927, 1928 तथा 1929 म हो चुक है। (iii) **शान्त ज्वालामुखी** (extinct volcanoes)—उसे कहते है जब उद्गार पूर्णतया समाप्त हो जाता है तथा उसके मुख मे जल, पक आदि भर जाते है तथा झीलो का निर्माण हो जाता है। स्मरणीय है कि पृथ्वी की आन्तरिक सरचना के व्यवहार की विशद जानकारी के मिल जाने पर किसी ज्वालामुखी को शान्त नही कहा जा सकता। परन्तु अब तक इनकी वास्तविक संख्या के विषय मे एकमत नही है। ज्वालामुखी के विश्व-वितरण की व्याख्या के पहले यह आवश्यक है कि उनकी स्थिति तथा उनके प्रकट होने वाले स्थानो की व्याख्या की जाय। यदि भूकम्प-क्षेत्र तथा ज्वालामुखी-क्षेत्र पर दृष्टिपात किया जाय तो दोनो मे अधिकाधिक समानता दृष्टिगोचर होती है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि ज्वालामुखी-घटना तथा भूकम्प की घटना मे अटूट सम्बन्ध है।

ज्वालामुखी क उद्गार के लिये यह आवश्यक है कि वहाँ पर भूपटल कमजोर हो तथा गैसो के निर्माण के लिये जल की सुलभता होनी चाहिये। इस दृष्टि से पर्वत निर्माण के क्षेत्र तथा सागरीय तटवर्ती भाग ज्वालामुखी क्रिया के लिये अधिक सुविधाजनक होते है। इस आधार पर यदि ज्वालामुखी के विश्ववितरण पर ध्यान दिया जाय तो यह साफ स्पष्ट हो जाता है कि विश्व के अधिकाश ज्वालामुखी, नवीन मोडदार-श्रेणियो के सहारे (*राकी एण्डीज शृङ्खला' आल्पस-हिमालय शृङ्खला,*) भूभ्रश घाटियो के सहारे (अफ्रीका की भूभ्रश घाटी—Rift Valley), सागर तटीय भागो खासकर महाद्वीपीय चबूतरो (Continental shelves) तथा मध्य महासागरीय कटक के सहारे पाये जाते है। नवीन मोडदार पर्वतीय क्षेत्रो मे सम्पीडन तथा खिचाव के कारण हलचलें होती रहती है, जिस कारण दरार पड जाने से भूपटल कमजोर हो जाता है तथा ज्वालामुखी का उद्गार होता रहता है।

इसी प्रकार सागरतटीय भागो के महाद्वीपीय चबूतरे के सहारे ज्वालामुखी का पाया जाना इस बात का परिचायक है कि सागरीय जल रिसकर भूगर्भ मे चला जाता है। वहाँ पर अत्यधिक ताप के कारण गैस मे बदल जाता है। पुन ऊपर धक्के लगा कर ज्वालामुखी के उद्गार मे सहायक होता है। यही कारण है विश्व के अधिकाश ज्वालामुखी प्रशान्त महासागर के दोनो तटीय भागो तथा समुद्र-द्वीपो पर पाये जाते है। परन्तु इस तथ्य को एक नियम नही माना जा सकता है. पहले प्राय ऐसा समझा जाता रहा है कि विश्व के लग भग सभी ज्वालामुखी सागर के नजदीक पाये जाते है, परन्तु वर्तमान समय मे यह मत मान्य नही है। यद्यपि सागरीय जल, जो कि रिसकर अन्दर जाकर गैस तथा वाष्प बन जाता है, ज्वालामुखी के उद्गार मे सहायक होता है परन्तु उसे ज्वालामुखी-क्रिया का

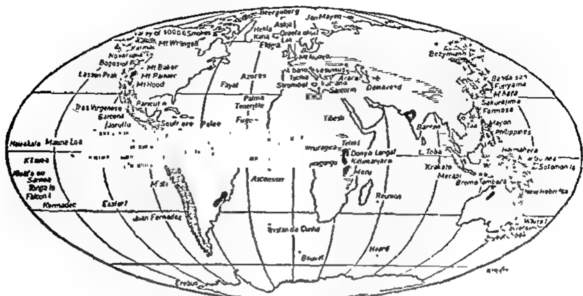
एकमात्र कारण नही माना जा सकता है। ऐसे अनेक प्रमाण है कि ज्वालामुखी का उद्गार ऐसे स्थानो पर हुआ है जो कि सागर से काफी दूर रहे है। उदाहरण के लिये जुरैसिक, क्रीटैसियस तथा टर्शियरी युगो में अधिकाश महाद्वीपीय भागो पर ज्वालामुखी-क्रिया घटित हुई थी तथा ये स्थल-भाग सागर से काफी दूर थे। अटलांटिक के तटीय भागो मे ज्वालामुखी की न्यूनता भी इसी बात को पुष्ट करती है।

ज्वालामुखी का उद्गार वही पर हो सकता है, जहाँ पर उद्गार के लिये पृथ्वी की गहराई मे पर्याप्त मैगमा मौजूद हो। परन्तु यह विषय भी विवादग्रस्त ही है। पृथ्वी के अन्दर मैगमा का कोई स्थायी भण्डार है? ऐसा अभी तक निश्चित नही हो पाया है।

(ii) प्लेट टैक्टानिक्स के आधार पर वितरण **प्रणाली**—प्लेट विवर्तनिकी के आधार पर ज्वालामुखी-क्रिया पर तथा प्लेट किनारो मे पूर्ण सहसम्बन्ध परिलक्षित होता है। विश्वस्तर पर अधिकाश सक्रिय ज्वालामुखी प्लेट की सीमाओं के साथ सम्बन्धित हैं। लगभग 15 प्रतिशत ज्वालामुखी रचनात्मक प्लेट किनारो (Constructive plate margins जहा पर दो प्लेट (मध्य महासागरीय कटक) विपरीत दिशाओ मे अपसरित (diverge) होते है) के सहारे तथा 80 प्रतिशत विनाशात्मक प्लेट किनारों (destructive plate margins - जहा पर दो प्लेट आमने सामने से आकर अभिसरित (converge) होते है तथा अपेक्षाकृत भारी प्लेट का हल्के प्लेट के नीचे क्षेपण (subduction) होता है) के सहारे आते है। इनके अलावा कुछ ज्वालामुखी का उद्भेदन प्लेट के आन्तरिक भाग (intra plate region) मे भी होता है। यथा—हवाई द्वीप के ज्वालामुखी प्रशान्त महासागरीय प्लेट के अन्दर पूर्वी अफ्रीका भ्रू-भ्रंश घाटी क्षेत्र के ज्वालामुखी अफ्रीकन प्लेट के अन्दर आदि अन्तराप्लेट स्थितियो के द्योतक है। इतना ही नही ज्वालामुखी के उद्गार के प्रकार तथा उनसे निसृत लावा तथा प्लेट किनारो मे भी गहरा सम्बन्ध है। उदाहरणार्थ—रचनात्मक प्लेट किनारो अर्थात् महासागरीय अपसरण मडल (oceanic divergence zone—मध्य महासागरीय कटक तथा अन्तरामहासागरीय ज्वालामुखी (intra-oceanic volcanoes) का लावा बेसाल्ट मैगमा से निकलता है (mafic lava—मैग्नेसियम तथा लौह अश की अधिकता तथा सिलिका की अपेक्षाकृत न्यूनता), जहाँ पर महासागरीय प्लेट का महासागरीय प्लेट से टकराव होता है (अभिसरण) एण्डेसाइट तथा तथा बेसाल्ट की अधिकता होती है, जहाँ पर महासागरीय प्लेट का महाद्वीपीय प्लेट से टकराव होता है वहाँ पर एण्डेसाइट तथा बेसाल्ट के अलावा रायोलाइटिक इग्निमब्राइट का भी उद्गार होता है। विशद विवरण के लिये देखिये इस पुस्तक के आठवे अध्याय (प्लेट विवर्तनिकी) का शीर्षक **प्लेट टेक्टानिक्स एवं ज्वालामुखी-क्रिया**'।

ज्वालामुखी के परम्परागत वितरण प्रणाली तथा प्लेट विवर्तनिकी के आधार पर अभिनव वितरण प्रणाली को पारस्परिक रूप मे विलय करके ज्वालामुखियो के निम्न मेखलाबद्ध वितरण प्रणाली को प्रस्तुत किया जा सकता है—

(1) **परिप्रशान्त महासागरीय मेखला (Circum Pacific Belt) या विनाशात्मक प्लेट किनारे के ज्वालामुखी**—विश्व के ज्वालामुखियो का लगभग दो तिहाई भाग प्रशान्त महासागर के दोनो तटीय भागो, द्वीप-चापों (Island-arcs) तथा समुद्रीय द्वीपो के सहारे पाया जाता है। इस ज्वालामुखी की शृङ्खला को **"प्रशान्त महासागर का ज्वालावृत"** (Fire girdle of the Pacific Ocean अथवा Fiery ring of the Pacific) कहते हैं। यह पेटी अन्टार्कटिका के **एरेबस** (Erebus) पर्वत से शुरू होकर दक्षिणी अमेरिका के पश्चिमी तट के सहारे खास कर एण्डीज पर्वत-माला का अनुसरण करती हुई उत्तरी अमेरिका के राकी पर्वत के ज्वालामुखी को सम्मिलित करके पश्चिमी तटीय भागो के सहारे अलास्का तक पहुँचती है। यहाँ से यह शृंखला मुडकर एशिया के पूर्वी तटीय भाग के सहारे जापान द्वीप समूह तथा फिलीपाइन द्वीप समूह के ज्वालामुखी पर्वतों को सम्मिलित करती हुई पूर्वी द्वीप समूह पहुँच कर वहाँ पर "मध्य महाद्वीपीय पेटी" से मिल जाती है। विश्व के अधिकाश ऊँचे ज्वालामुखी पर्वत इसी पेटी मे स्थित है। इस पेटी मे अधिकाश ज्वालामुखी, शृङ्खला (Chain) के रूप मे पाये जाते है। उदाहरण के लिए अल्यूशियन, जापान द्वीप-समूह तथा हवाईलैण्ड द्वीप के ज्वालामुखी, श्रेणी के रूप मे पाये जाते है। विश्व के उन महत्वपूर्ण ज्वालामुखियो मे जो कि समूह मे स्थित है, **इक्वेडर** के ज्वालामुखी विश्वविख्यात हैं। यहाँ पर 22 प्रमुख ज्वालामुखी पर्वत, समूह मे पाये जाते हैं, जिनमे से 15 ज्वालामुखी ऐसे हैं, जिनकी ऊँचाई 15,000 फीट से अधिक है तथा **कोटोपैक्सी**



चित्र 143—ज्वालामुखी का विश्ववितरण।

(Cotopaxi Ecuador) ज्वालामुखी पर्वत, जिसकी ऊँचाई 19,613 फीट है विश्व का सबसे ऊंचा ज्वालामुखी पर्वत है।

इस मेखला में जापान का प्रसिद्ध ज्वालामुखी पर्वत फ्यूजीयामा (Fujiyama), फिलीपाइन का माउन्ट ताल संयुक्त राज्य अमेरिका का शस्ता रेनियर तथा हुड फिलीपाइन का मेयान तथा मध्य अमेरिका का चिम्बोरेजो आदि सम्मिलित किये जाते हैं। इस मुख्य मेखला के अलावा प्रशान्त महासागर में फैले असंख्य द्वीपों पर अनेक जाग्रत तथा प्रसुप्त एवं प्रशान्त ज्वालामुखी पाये जाते हैं। संख्या के अनुसार इनका विवरण नीचे दिया जा रहा है—

स्थान	ज्वालामुखी की संख्या	स्थान	ज्वालामुखी की संख्या
कमचटका	9	प० संयुक्त राज्य अमेरिका	1
क्यूराइल द्वीप	13	मेक्सिको	9
फिलीपाइन	98	ग्वाटेमाला	14
द० पू० न्यूगिनी	15	निकारगुआ	7
सोलोमन द्वीप	2	कोस्टारिका	5
न्यू हेब्राइड्स	7	लेसर एण्टीलीस	9
टोंगा	6	उत्तरी एण्डीज	9
करमाडेक	1	मध्य एण्डीज	22
न्यूजीलैंड	4	दक्षिणी एण्डीज	22
अल्यूशियन द्वीप तथा		दक्षिणी एण्टीलीस	2
अलास्का प्रायद्वीप	35	जापान द्वीप समूह	33

(ii) मध्य महाद्वीपीय मेखला (Mid-continental-Belt) या महाद्वीपीय-प्लेट अभिसरण मेखला—वास्तव में इस मेखला का प्रारम्भ रचनात्मक प्लेट किनारों अर्थात् मध्य अटलाण्टिक (महासागरीय) कटक (अपसरणमंडल (divergence zone) से होता है यद्यपि अधिकांश ज्वालामुखी विनाशात्मक प्लेट किनारों के सहारे आते हैं क्योंकि यूरेशियन प्लेट तथा अफ्रीकन एवं इण्डियन प्लेट (दोनों महाद्वीपीय प्लेट) का अभिसरण होता है। यह मेखला आइसलैण्ड (जो कि मध्य अटलाण्टिक कटक के ऊपर स्थित है) के हेकला पर्वत से प्रारम्भ होती है। यहाँ पर दरारी उद्गार वाले अनेक ज्वालामुखी दृष्टिगत होते हैं। इनमें 1783 ई० का लाकी दरारी ज्वालामुखी (Laki Fissure Volcano) काफी महत्त्वपूर्ण है 32 किमी० लम्बी दरार से 12 घन किलोमीटर लावा का प्रवाह हुआ था। आइसलैण्ड से यह मेखला स्काटलैण्ड होती हुई कनारी द्वीप (आन्ध्र महासागर) पर पहुँचती है। यहाँ पर इसकी दो शाखायें हो जाती हैं। प्रथम शाखा आन्ध्र महासागर से होती हुई पश्चिमी द्वीप समूह तक जाती है। दूसरी शाखा की एक उपशाखा अफ्रीका में चली जाती है जहाँ पर ज्वालामुखी, भ्रंशघाटी के सहारे पाये जाते हैं तथा दूसरी मुख्य शाखा स्पेन, इटली होती हुई काकेशिया पहुँचती है। यहाँ से हिमालय पर्वत के सहारे बर्मा तक जाती है। यहाँ से दक्षिण की तरफ मुड़कर दक्षिण पूर्वी द्वीप में जाकर

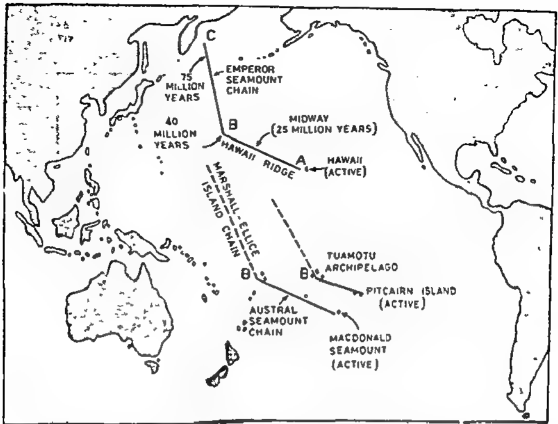
प्रशान्त महासागरीय पटी में मिल जाती है। यह मेखला मुख्य रूप से अल्पाइन-हिमालय पर्वत शाखा के सहारे चलती है। भूमध्य सागर के ज्वालामुखी भी इसी पेटी में सम्मिलित किये जाते हैं। अगर हम आन्ध्रमहासागर के ज्वालामुखियों को अलग मेखला में रखें तो मध्यवर्ती पेटी का प्रारम्भ कनारी द्वीप से पूर्व की तरफ समझना चाहिए। भूमध्य सागर के प्रसिद्ध ज्वालामुखी **स्ट्राम्बोली, विसूवियस, एटना तथा एजियन** सागर के ज्वालामुखी इस मेखला के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। इसके अलावा ईरान का देमवन्द, कोहसुल्तान, काकेश का **एलबुर्ज**, अरमीनिया का अरारात तथा बलूचिस्तान के ज्वालामुखी महत्त्वपूर्ण हैं।

मध्य महाद्वीपीय ज्वालामुखियों की स्थिति पर यदि ध्यान दिया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इनका वितरण समान नहीं है। खास कर आल्पस् तथा हिमालय के सहारे इनमें पर्याप्त मध्यान्तर पाया जाता है। इसका मुख्य कारण इन पर्वतों के आस-पास के क्षेत्रों में अत्यधिक दबाव के कारण भूपटल की बनावट में सघनता का होना है। इस कारण मैगमा केवल **उत्क्रम सतह (Thrust Plane)** के सहारे ही धरातल के ऊपरी भाग तक आ सकता है। यूरोप के अधिकांश ज्वालामुखी मीडियन मास के सहारे पाये जाते हैं। भूमध्य सागर के ज्वालामुखी इनके प्रमुख उदाहरण हैं। परन्तु एशिया का मीडियन मास (तिब्बत का पठार) ज्वालामुखी से रहित है। इसका प्रमुख कारण पठार की अत्यधिक ऊँचाई का होना ही बताया जा सकता है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि ज्वालामुखी प्रायः पतली एवं कमजोर पपड़ी वाले भागों में पाया जाता है।

अफ्रीका के ज्वालामुखी भी कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। प्रायः ऐसा माना जाता है कि दरार घाटियों तथा भ्रंश घाटियों के सहारे ज्वालामुखी अवश्य पाये जाते हैं क्योंकि दरार के कारण भूपटल काफी कमजोर हो जाता है। परन्तु यह सदैव आवश्यक नहीं है। अफ्रीका की रिफ्ट घाटी के सहारे सर्वत्र ज्वालामुखी नहीं पाये जाते हैं। **टान्गानिका झील** अत्यधिक गहरी बेसिन में से एक है पर यहाँ पर ज्वालामुखी के कोई चिन्ह नहीं मिलते हैं। यहाँ पर वितरण यद्यपि एक निश्चित दिशा में नहीं बताया जा सकता है तथापि औसत रूप में ज्वालामुखी पूर्व-पश्चिम दिशा में पाये जाते हैं। यहाँ के प्रमुख ज्वालामुखी तथा ज्वालामुखी पर्वत **किलीमन्जारो, मेरु एल्गान, विरुन्गा** तथा **रंगवे** हैं। पश्चिमी अफ्रीका का एकमात्र जाग्रत ज्वालामुखी केमरून पर्वत है। उत्तरी अफ्रीका के रेगिस्तानी भागों में हाल ही में कई ज्वालामुखी शंकु तथा क्रेटर देखे गये हैं।

(iii) **मध्य अटलाण्टिक मेखला या महासागरीय कटक-ज्वालामुखी** मध्य महासागरीय कटक (mid-oceanic ridges) के सहारे दो प्लेट का अपसरण (divergence) होता है जिस कारण कटक के सहारे दरार या भ्रंशन का निर्माण होता है। इस भ्रंशन का प्रभाव क्रस्ट के नीचे दुर्बलतामण्डल (asthenosphere) तक होता है। दुर्बलता मण्डल से पेरिडोटाइट तथा बेसाल्ट मैगमा ऊपर उठते हैं। जब गर्म पेरिडोटाइट दुर्बलता मण्डल से ऊपर उठकर विपरीत दिशाओं की ओर गतिशील प्लेट के बीच निर्मित दरार में प्रविष्ट होती है तो ऊपर स्थित दबाव के कम होने के कारण वह और अधिक पिघल जाती है तथा बेसाल्ट लावा दरारी उद्भेदन के रूप में प्रकट होता है जो दो बराबर भागों में विभक्त होकर अपसरित (diverging) होते हुए प्लेटों के पिछले भागों में संलग्न हो जाता है, जहाँ वह शीतल होने पर जमकर नवीन क्रस्ट का निर्माण करता है। इस प्रकार प्रत्येक क्रमिक लावा प्रवाह के समय निस्तृत बेसाल्ट लावा कटक से दूर होता जाता है। स्पष्ट है कि कटक के पास नवीनतम लावा होता है तथा इससे (कटक से) जितना दूर हटते जाते हैं, लावा उतना ही प्राचीन होता जाता है (विशद विवरण के लिए देखिये इस पुस्तक के अध्याय **आठ 'प्लेट विवर्तनिकी'** का शीर्षक **'प्लेट टेक्टानिक्स तथा ज्वालामुखी-क्रिया'**)। इस तरह की ज्वालामुखी-क्रिया सबसे अधिक मध्य अटलाण्टिक कटक के सहारे होती है। इस मेखला की समस्त ज्वालामुखी-क्रिया तथा दरारी उद्भेदन दृश्य नहीं है क्योंकि अधिकांश क्रियायें जल के आवरण के नीचे होती हैं। आइसलैण्ड ज्वालामुखी-क्रिया का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सक्रिय क्षेत्र है। 1783 के **लाकी** उद्भेदन के बाद 1974 का **हेकला** तथा 1973 का **हेल्गाफेल (Helgafell)** उद्गार महत्वपूर्ण हैं। **लेसर एन्टलीस तथा दक्षिणी एन्टलीस** दक्षिणी आन्ध्र महासागर एवं **एजोर द्वीप** तथा **सेण्ट हेलना** उत्तरी आन्ध्रमहासागर के प्रमुख ज्वालामुखी क्षेत्र हैं। सुदूर उ० प० में **जमायेन** द्वीप पर सक्रिय ज्वालामुखी पाये जाते हैं।

(iv) **अन्तरा प्लेट ज्वालामुखी (Intraplate vulcanism)** प्लेट-सीमाओं के अलावा प्लेट के अन्दर भी (चाहे महासागरीय प्लेट हो या महाद्वीपीय) ज्वालामुखी-



चित्र 144—प्रशान्त महासागरीय प्लेट पर ज्वालामुखी-कटक शृंखला (volcanic-ridge-chain) का प्रदर्शन। हवाई द्वीप, पिटकिन द्वीप तथा मैकडोनाल्ड द्वीप सक्रिय ज्वालामुखी केन्द्र हैं। तीन शृंखलाओं से प्रशान्त महासागरीय प्लेट की गति की दिशा तथा प्रारूप का बोध होता है। तीनों शृंखलाओं में जो मोड़ (B) पाया जाता है उससे प्रकट होता है कि यह दिशा परिवर्तन आज से 40 मिलियन वर्ष पहले हुआ था। ठोस काली रेखायें नवीन तथा खण्डित रेखायें प्राचीन शृंखलाओं को प्रदर्शित करती हैं। (K C Burke तथा J T Wilson, 1976, के अनुसार)।

क्रियायें होती हैं जिनके वास्तविक कारणों एवं उद्गार की प्रक्रियाओं के विषय में अभी तक मतैक्य नहीं हो पाया है। चित्र 144 में प्रशान्त महासागरीय प्लेट के अन्तर्गत ज्वालामुखियों की स्थिति दर्शायी गई है। इनमें एक प्रमुख शृंखला हवाई द्वीप में प्रारम्भ होकर लगभग उ० प० दिशा में कमचटका तक चली गई है। स्मरणीय है कि हवाई द्वीप पर सक्रिय ज्वालामुखी पाये जाते हैं तथा इस द्वीप से जो शृंखला उत्तर-पश्चिम की ओर अग्रसर होती है उसमें हवाई द्वीप के केन्द्र से क्रमशः प्राचीन, शान्त (extinct) अपरदित तथा जलमग्न (submerged) ज्वालामुखियों का क्रम पाया जाता है (चित्र 145)। स्मरणीय है कि मात्र हवाई द्वीप पर ही भूकम्प (ज्वालामुखी उद्भेदन द्वारा) आते हैं तथा सम्पूर्ण शृंखला (चित्र 144 में A से C तक) भूकम्प रहित है। इसी कारण इसे भूकम्प रहित कटक (aseimic ridge) कहते हैं। इस प्रकार यह कटक भूकम्प युक्त मध्य महासागरीय कटकों (seismic mid-oceanic ridges) से भिन्न है। इस तरह के भूकम्प रहित कटक प्रशान्त महासागर में अन्य स्थानों पर तथा अन्य महासागरों में भी पाये जाते हैं, परन्तु प्लेट विवर्तन सिद्धान्त के आधार पर इनका स्पष्टीकरण अभी तक नहीं हो पाया है। प्रिन्सटन विश्वविद्यालय के जेसन मार्गन (Jason Morgan) तथा टोरण्टो विश्वविद्यालय के टूजो विलसन (J. Tuzo Wilson) ने इस तरह के भूकम्प-

चित्र 145—अन्तरा प्लेट ज्वालामुखी का उद्गार तथा गतिशील प्लेट के द्वारा उनका स्थानान्तरण होने से उनका अपरदन, रुण्डन/शीर्षशाखा कर्तन (truncation चित्र 145 मे A तथा B) तथा जल मे सागर-तली मे अवतलन के कारण तिरोहित होना (चित्र 145 मे S) । इन्हे ग्वायट्स (guyots) कहते है । H W. Menard) 1969 के आधार पर ।

रहित ज्वालामुखी कटको की व्याख्या के लिए 'गर्म स्थल सकल्पना' (Concept of hot spots) का प्रतिपादन किया है । इनके अनुसार गर्म स्थल मैण्टिल म उन गर्म पदार्थों के द्रव जेट या पिच्छक (plumes) को प्रदर्शित करते है जहाँ से गर्म तरल मैगमा ऊपर उठता है तथा स्थलमण्डल को भेद कर सतह पर ज्वालामुखी के रूप मे प्रकट होता है । इस तरह का लावा का उर्ध्वाधर प्रवाह (vertical flow) जेट के समान स्तम्भाकार धारा (jet like columnar currents) के रूप मे होता है तथा इनकी स्थिति सम्भवत मैण्टिल मे अचर (fixed) होती है तथा ये प्लेट के साथ गतिशील नही होते है । इस तरह मैण्टिल मे अचल/अचर 'गर्म स्थल से लावा का प्रवाह स्थल मण्डल पर होता है तथा इस तरह के ज्वालामुखी प्लेट के साथ भ्रमण करते हैं तथा गर्म स्थल से दूर हटते जाते हैं । इस प्रकार स्पष्ट है कि स्थिर गर्म स्थल से जितना दूर हटते जाते है उतना ही ज्वालामुखी प्राचीन तथा शान्त (extinct) होते जाते है । उल्लेखनीय है कि यदि गर्म स्थलो की स्थिति मैण्टिल मे स्थिर (fixed) होती है तो प्लेट की गति तथा दिशा का परिकलन उन प्राचीन ज्वालामुखियो द्वारा की जा सकती है जो इन प्लेटो के साथ ढोये जाते है, अर्थात् जो ज्वालामुखी गर्म स्थलो से दूर हटते जाते है । इस आधार पर यह परिकलित किया गया है कि हवाई द्वीप से कमचटका तक विस्तृत शान्त ज्वालामुखी तथा भूकम्प रहित कटक शृंखला के सबसे दूरस्थ (कमचटका के पास, चित्र 144) ज्वालामुखी (शान्त) 75 मिलियन वर्ष तथा तथा मध्य (हवाई द्वीप तथा कमचटका के बीच) भाग के शान्त ज्वालामुखी 25 मिलियन वर्ष पुराने है ।

महासागरीय प्लेटों के अलावा महाद्वीपीय प्लेटों के आन्तरिक भागों में भी ज्वालामुखी का खासकर दरारी उद्भेदन होता है। उदाहरण के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका के उत्तरी-पश्चिमी भाग को प्रस्तुत किया जा सकता है, जहाँ पर एक दरार के सहारे मायोसीन युग में 100,000 घन किलोमीटर बेसाल्ट लावा का प्रवाह हुआ था जिसका 130,000 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में विस्तार हो जाने से वर्तमान कोलम्बिया पठार का निर्माण हुआ है। इसी तरह क्रीटेसियस युग में प्रायद्वीपीय भारत में दरारी उद्भेदन होने से 5,00 000 वर्ग किलोमीटर से अधिक क्षेत्र में बेसाल्ट लावा का प्रसार हुआ था। ब्राजील एवं परागुवे के पराना का निर्माण भी अन्तराप्लेट ज्वालामुखी से निस्मृत बेसाल्ट लावा के 7,50,000 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में प्रसार के कारण हुआ है। पूर्वी अफ्रीका के भ्रंश घाटी क्षेत्र के ज्वालामुखी भी अन्तराप्लेट ज्वालामुखियों के उदाहरण हैं।

ज्वालामुखी उद्गार की प्रक्रिया तथा कारण

(Mechanisms and Causes of Vulcanism)

ज्वालामुखी के उद्गार की प्रक्रिया तथा कारणों की सम्यक् जानकारी के लिए पाठकों को चाहिए कि इस पुस्तक के अध्याय तीन (पृथ्वी की आन्तरिक संरचना), आठ (प्लेट विवर्तनिकी का शीर्षक प्लेट टेक्टानिक्स तथा ज्वालामुखी-क्रिया) तथा प्रस्तुत अध्याय के अब तक प्रस्तुत विवरणों को एक साथ संयोजित कर देखें। पुनरावृत्ति से बचने के लिए इन्हें पुनः उद्धृत नहीं किया जा रहा है। ज्वालामुखी के वितरण से यह स्पष्ट हो गया है कि इनका सम्बन्ध धरातल के कमजोर स्थलों से है। मुख्य रूप से ज्वालामुखी-क्रियायें प्लेट किनारों के सहारे होती हैं परन्तु अन्तराप्लेट (intra-plates) ज्वालामुखी-क्रियायें भी होती हैं जिनका सम्बन्ध गर्म स्थलों (hot spots) या सक्रिय लावा स्रोत (plumes) से होता है। ज्वालामुखी उद्गार से निस्मृत लावा का तापमान 800° सेण्टीग्रेड से 1100° सेंटीग्रेड तक होता है जिससे स्पष्ट होता कि लावा का स्रोत अत्यन्त तप्त क्षेत्रों से सम्बन्धित है। ज्वालामुखी गैसों में वाष्प (vapour) की अधिकता से प्रमाणित होता है कि ज्वालामुखी-क्रिया का भूपृष्ठीय जल से सम्बन्ध है। यदि मध्य महासागरीय कटकों (रचनात्मक प्लेट किनारे), महासागरीय-महासागरीय प्लेटों तथा महासागरीय-महाद्वीपीय प्लेटों के अभिसरण मण्डल (Convergence zone, विनाशात्मक प्लेट किनारे) तथा अन्तराप्लेट (या तो महासागरी या महाद्वीपीय प्लेट) के ज्वालामुखियों से निस्मृत लावा को देखा जाय तो उनमें संघटन के दृष्टिकोण से पर्याप्त अन्तर होता है। इससे स्पष्ट होता है कि या तो लावा का किसी विशिष्ट चट्टान मण्डल से सम्बन्ध नहीं है और अगर है तो यह अन्तर लावा के निर्माण एवं उसके ऊपर अग्रसर होते समय उत्पन्न हो जाता है।

सामान्य रूप से ज्वालामुखी-क्रिया क्रस्ट के नीचे अत्यधिक ताप की स्थिति (अध्याय 6), भूपृष्ठीय जल के रिस कर नीचे जाने पर ताप वाष्प (vapour) का जनन तथा मैण्टिल में बेसाल्ट मैगमा के पिघलने से सम्बन्धित है। जब कभी ऊपर स्थित क्रस्ट में दाबमुक्ति (pressure release) हो जाती है तो बेसाल्ट मैगमा गैसों (खासकर वाष्प) के जोर से धरातल पर ज्वालामुखी के विभिन्न उद्गारों (केन्द्रीय या दरारी) के रूप में प्रकट होता है। प्लेट विवर्तनिकी (1960) के पूर्व तथा अन्तर्राष्ट्रीय ऊपरी मैण्टिल परियोजना (International Upper Mantle Project, 1965, 1970) के विवरणों की प्राप्ति के पूर्व ज्वालामुखी उद्गार के समय निस्मृत मैगमा तथा लावा के स्रोतों (source regions) के विषय में या तो अटकलबाजी की जाती रही है या विभिन्न अवैज्ञानिक विचारों का बोल बाला रहा। यथा स्थायी मैगमा चैम्बर (permanent magma chamber), स्थानीय लावा भण्डार तथा बैथोलिथ लावा भण्डार को ज्वालामुखी के उद्गार के समय लावा का आपूर्ति-क्षेत्र (supply regions) के रूप में बताया जाता रहा है।

वर्तमान समय में प्लेट विवर्तनिकी भूकम्प विज्ञान (अध्याय 6) तथा अन्तर्राष्ट्रीय ऊपरी मैण्टिल परियोजना के परिणामों के आधार पर लावा तथा मैगमा के स्रोत स्थलों की गुत्थी वैज्ञानिक स्तर पर सुलझ गई है। प्रस्तुत विवरण उपर्युक्त परियोजना के विवरणों पर आधारित है। इस पुस्तक के विभिन्न अध्यायों (6, 8 तथा 11) में क्रस्ट, मैण्टिल एवं कोर की मोटाई आदि के विषय में पाठकों को विरोधी विवरण (अलग-अलग) मिल सकते हैं। यह विषमता विभिन्न स्रोतों से प्राप्त विवरणों में अन्तर के कारण है। इतना अब सत्यापित हो गया है कि ज्वालामुखी-क्रिया का सम्बन्ध ऊपरी मैण्टिल से ही है।

पृथ्वी का बाह्य मण्डल स्थल मण्डल (lithospeare) है जिसकी मोटाई 70 किमी॰ (45 मील) है तथा इसी मण्डल में महाद्वीपों की स्थिति है। इसका सबसे ऊपरी भाग क्रस्ट कहा जाता है। इस मण्डल में भूकम्पीय तरंगें

तीव्र गति मे भ्रमण करती हैं जिससे प्रमाणित होता है कि यह मण्डल ठोस है। यही मण्डल प्लेटो को प्रदर्शित करता है। क्रस्ट की मोटाई विभिन्न विवरण-स्रोतों के आधार पर 30 किमी० (International Union of Geodesy and Geophysics के अनुसार) से 100 किमी० बतायी जाती है। महाद्वीपीय तथा महासागरीय क्रस्ट के रासायनिक तथा भौतिक सघटन (composition) मे पर्याप्त अन्तर होता है। महाद्वीपीय क्रस्ट की रचना ग्रेनाइट तथा अन्य फेल्सिक (felsic, सिलिकन 74 प्रतिशत से अधिक) चट्टानो मे हुई है जबकि महासागरीय क्रस्ट मे इस तरह की शैलों का सर्वथा अभाव है। महासागरीय नितल की रचना अधिकतर **मैफिक** (मैग्नेसियम तथा लौह अश की अधिकता) बेसाल्ट तथा गैब्रो से हुई है। क्रस्ट का ऊपरी मैण्टिल से **मोहो असम्बद्धता** (Moho (m) discontinuity) से अलगाव होता है जिसके नीचे **दुर्बलता मण्डल** (asthenosphere) होता है। यह मण्डल आशिक रूप से (1 से 10 प्रतिशत भाग) पिघली अवस्था मे हैं क्योंकि इस मण्डल में 'भूकम्पीय लहरों की गति कम हो जाती है। इस मण्डल मे भूकम्पीय लहरें पृथ्वी के अन्य मण्डलो की तुलना मे सर्वाधिक दुर्बल होती हैं प्रयोगशाला परीक्षण से ज्ञात हुआ है कि **एस्थेनोस्फीयर** (दुर्बलता मण्डल) रवेदार-तरल (crystalline-fluid (liquid) का सम्मिश्रण है। 70 किमी० की गहराई की सीमा पर गलन (melting) प्रारम्भ होती है। इस तरह इस सीमा (जिसे solidus कहते हैं) के ऊपर पूर्णतया ठोस स्थलमण्डल है तथा नीचे **अर्द्धगलित** (semi-melt) एस्थेनोस्फीयर है। यही अर्द्ध गलित मण्डल बेसाल्ट मैगमा का प्रमुख स्रोत है। इस मण्डल (asthenosphere) का लम्बवत विस्तार धरातलीय सतह (सागर-तल से) से 70 किमी० से प्रारम्भ होकर नीचे तक 250 किमी० (155 मील) तक बताया जाता है। इस मण्डल के नीचे शैल पुन ठोस हो जाती है।

स्पष्ट है कि क्रस्ट मे फेल्सिक शैलो की बहुलता है जबकि उसके नीचे एस्थेनोस्फीयर की रचना अधिकतर **अल्ट्रामैफिक** (मैफिक की तुलना मे सिलिका कम परन्तु फेरोमैग्नेसियन खनिज अधिक) से हुई है। पृथ्वी की क्रस्ट की रचना मे सबसे अधिक योगदान बेसाल्ट (सभी शैलो का 40 प्रतिशत) का होता है। बेसाल्ट ज्वालामुखी-क्रिया से निर्मित शैलो में सर्वाधिक महत्वपूर्ण होती है। यह बेसाल्ट एस्थेनोस्फीयर का पिघला भाग होती है। ऊपरी मैण्टिल मे पेरिडोटाइट की बहुलता होती है (यह अल्ट्रामैफिक शैल है) जिसका ऊपर उद्गार (द्रव रूप मे) होने से बेसाल्ट लावा का निर्माण होता है। इस तरह मध्य महासागरीय कटको के सहारे होने वाली ज्वालामुखी-क्रिया का लावा एस्थेनोस्फीयर की आशिक पिघली पेरिडोटाइट शैल से प्राप्त होता है। महाद्वीपीय भागो पर मिलने वाले **फेल्सिक** लावा का स्रोत अलग होता है। स्मरणीय है कि महासागरीय नितल मे फेल्सिक क्रस्ट अनुपस्थित है। इस फेल्सिक लावा के निम्न स्रोत तथा उत्पत्ति की प्रक्रिया बतायी जा सकती है—(i) महाद्वीपीय ग्रेनाइट शैल के पुन पिघलने से, या (ii) महाद्वीपीय ग्रेनाइटिक शैल के विघटन तथा वियोजन होने से प्राप्त अवसादो का महाद्वीपीय किनारो के पास सागर-नितल मे जमाव तथा उनके पुन पिघलाव से। इस तरह की स्थिति महाद्वीपीय-महासागरीय प्लेटों के अभिसरण मण्डल (convergence zones) के पास होती है, जहाँ पर महाद्वीपीय प्लेट क्षेपण (subduction) के कारण महासागरीय प्लेट के नीचे जाकर अत्यधिक ताप के कारण पिघल जाता है तथा फेल्सिक मैगमा मे बदल जाता है जो उद्गार होने पर फेल्सिक लावा बन जाता है।

साराश के रूप मे यह प्रतिपादित किया जा सकता है कि क्रस्ट के नीचे एस्थेनोस्फीयर आशिक पिघली अवस्था मे है जहाँ से लावा की आपूर्ति होती है। ज्वालामुखी-क्रिया के लिए सबसे आवश्यक दशा, अब, (लावा स्रोत की समस्या का निदान हो जाने पर) ऊपर स्थित दबाव के कम होने की है। इस समस्या का निदान भी प्लेट टेक्टानिक्स सिद्धान्त द्वारा हो गया है। अब, ज्वालामुखी के उद्भेदन की प्रक्रिया के लिए पाठको को चाहिए कि वे इस पुस्तक के अध्याय 8 के शीर्षक **'प्लेट टेक्टानिक्स एवं ज्वालामुखी-क्रिया'** को देखें। चित्र 146 तथा 147 द्वारा विभिन्न स्थितियो मे ज्वालामुखी-क्रिया तथा उसमे निस्सृत लावा का प्रदर्शन किया गया है।

ज्वालामुखी-क्रिया द्वारा निर्मित स्थलाकृति (Topography Produced by Vulcancity)

ज्वालामुखी उद्गार द्वारा निर्मित स्थलरूप स्थायी रूप वाले नही होते हैं क्योंकि प्रत्येक उद्भेदन के साथ उनकी शकु रचना तथा अन्य रूपो मे परिवर्तन होता रहता है। खासकर यह परिवर्तन विस्फोटक रूप मे (Vulcanian and Peleean types) उद्गार होने मे होता है। ज्वालामुखी क्रिया द्वारा निर्मित स्थलाकृतियाँ लावा

चित्र 146—ज्वालामुखी-क्रिया का ब्लाक डायग्राम द्वारा प्रदर्शन

चित्र 147—विश्व स्तर पर ज्वालामुखी-क्रिया का प्रदर्शन। A—मध्य महासागरीय कटक अर्थात् अपसरण मण्डल (divergence zone) के सहारे ज्वालामुखी-क्रिया तथा बेसाल्टिक लावा का उद्गार, B—क्षेपण मण्डल या अभिसरण मण्डल (विनाशात्मक प्लेट किनारे के सहारे ज्वालामुखी-क्रिया तथा ऐण्डेसाइट एवं रायोलाइट लावा का उद्गार एवं C अन्तराप्लेट गर्म स्थल तथा ज्वालामुखियों की लीक (trail) Frank Press तथा Raymond Siever, 1978 के आधार पर।

तथा विखण्डित पदार्थ के अनुपात तथा उनकी मात्रा एवं उनके गुणों पर आधारित होती हैं। जब विस्फोटक उद्गार होता है तो विखण्डित पदार्थ तथा ज्वालामुखी धूल अधिक होती है, फलस्वरूप विस्फोट-छिद्र (Explosion vent) तथा राख शंकु या सिंडर कोन (Ash or cinder cones) की रचना होती है। जब उद्गार शान्त रूप में होता है तो लावा की अधिकता के कारण लावा पठार तथा लावा गुम्बद एवं लावा मैदान की रचना होती है। चूंकि ज्वालामुखी-क्रिया का क्षेत्र धरातल के नीचे तथा बाहर दोनों तरफ होता है, अतः ज्वालामुखीय स्थलरूपों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—बाह्य स्थलरूप तथा आभ्यन्तरिक स्थलरूप। विशद रूप में ज्वालामुखी-निर्मित स्थलाकृतियों को निम्न रूप में विभाजित किया जा सकता है।

1. बाह्य स्थलाकृति (Extrusive topography)

अ—केन्द्रीय विस्फोट द्वारा निर्मित स्थलरूप—

1—ऊँचे उठे भाग

2—नीचे धँसे भाग

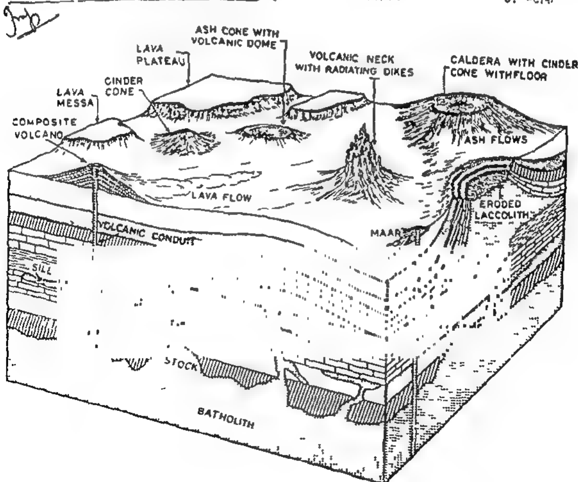
ब—दरारी उद्गार द्वारा निर्मित स्थलरूप—

1—लावा पठार तथा लावा गुम्बद

2—लावा मैदान

2. आभ्यन्तरिक स्थलाकृति (Intrusive Topography)

1. आन्तरिक लावा गुम्बद
2. बैथोलिथ
3. लैकोलिथ
4. फैकोलिथ
5. लोपोलिथ
6. सिल
7. डाइक
8. स्टाक



चित्र 148—ज्वालामुखी-क्रिया द्वारा उत्पन्न स्थलरूपों का प्रदर्शन (प्रेस तथा रेमण्ड के आधार पर)।

1. **बाह्य स्थलाकृति (Extrusive topography)**

(अ) **केन्द्रीय विस्फोट द्वारा**—केन्द्रीय उद्गार द्वारा तीव्र गैस तथा वाष्प, पर्याप्त लावा तथा विखण्डित पदार्थों के साथ प्रकट होती है। इन पदार्थों के जमाव से अनेक प्रकार के शकुओं की रचना होती है। इन्हें ऊँचे उठे भाग कहते हैं। इनके अलावा विस्फोट के समय ज्वालामुखी का कुछ भाग उड़ जाता है या नीचे धँसक जाता है। इस प्रकार बने आकारों में **क्रैटर** तथा **काल्डेरा** **कोन** प्रमुख हैं। इन्हें धँसे हुए भाग कहते हैं।

(i) **सिण्डर शकु**—सिण्डर कोन प्रायः कम ऊँचे शकु होते हैं, जिनके निर्माण में ज्वालामुखी धूल या राख एवं विखण्डित पदार्थों का ही सहयोग रहता है। सर्वप्रथम गैस के उद्गार के साथ ये पदार्थ छोटे आकार में खासकर चींटी के ढेर (Ant-mounds) के रूप में एकत्रित होकर शकु का प्रारम्भिक रूप देते हैं तथा प्रारम्भ में इनकी ऊँचाई कुछ इन्च से कुछ फीट तक ही होती है। धीरे-धीरे निस्सृत पदार्थों का एकत्रीकरण होता रहता है तथा शकु का आकार बढ़ता जाता है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य बात है कि सिण्डर शकु के निर्माण में तरल पदार्थों का योग नहीं रहता है। यहाँ तक कि विखण्डित पदार्थ उस स्थल पर पाई जाने वाली चट्टान के ही टुकड़े होते हैं (चूना का पत्थर, बालुका पत्थर शैल या कोई भी चट्टान) तथा आग्नेय शैल से इनका सम्बन्ध नहीं भी हो सकता है। इन चट्टानी टुकड़ों को सिण्डर या राख कहते हैं। इसी आधार पर इनसे निर्मित शकु को सिण्डर कहा जाता है। कभी-कभी इनके विस्तार एवं वृद्धि की गति इतनी तीव्र होती है कि एक हफ्ते के अन्दर इनकी ऊँचाई 400 फीट हो जाती है। इटली में नेपल्स के पश्चिम में माउण्टनोवो में 1937 के उद्गार के कुछ ही दिन बाद 430 फीट ऊँचे शकु का निर्माण हो गया था। अधिकांश सिण्डर कोन का ढाल क्रैटर से सतह की तरफ अवतल (Concave) होता है तथा इनका ढाल 30° से 45° का होता है। बड़े-बड़े विखण्डित पदार्थ क्रैटर के पास 40°-45° के ढाल पर होते है तथा महीन पदार्थ जैसे राख आदि सतह के पास क्रैटर से दूर होते हैं। इस शकु का निर्माण असगठित (ढीले) तथा बड़े-बड़े (जल के लिये प्रवेश्य) टुकड़ों से होता है तथा अपरदन के बाद भी इनका मौलिक रूप सदियों तक नष्ट नहीं होता है। मेक्सिको का जोरल्लो, सान साल्वेडोर का माउण्ट इजाल्को, फिलीपाइन के लुजोन द्वीप का कैमिग्विन ज्वालामुखियाँ के शकु निश्चित रूप से सिण्डर शकु के उदाहरण हैं।

(ii) **कम्पोजिट शकु**—कम्पोजिट शकु सभी प्रकार के शकुओं से ऊँचे होते हैं। इनका निर्माण विभिन्न प्रकार के निस्सृत ज्वालामुखी पदार्थों के क्रमशः तह के रूप में जमा होने से होता है, इस कारण कभी-कभी इनको परतदार शकु (Strato-cones) कहते हैं। विश्व के अधिकांश उच्चतम, अत्यधिक सुडौल तथा बड़े-बड़े ज्वालामुखी पर्वत कम्पोजिट शकु के प्रमुख उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। उदाहरण के लिये, संयुक्त राज्य अमेरिका का शस्ता, रेनियर तथा हुड, फिलीपाइन का मेयान तथा जापान का फ्यूजीयामा आदि प्रस्तुत किये जा सकते हैं। इन शकुओं का निर्माण लावा तथा विखण्डित पदार्थों की परत के बारी-बारी से जमा होने से होता है। इस प्रकार लावा विखण्डित पदार्थों के सगठन में सयोजक तत्व का कार्य करता है। कभी-कभी उद्गार के कारण शकु में दरार या फटन (Cracks) पड़ जाती है तथा लावा उनमें प्रविष्ट होकर डाइक की रचना करता है। यह डाइक शकु के स्थायित्व में शक्ति प्रदान करती है तथा अपरदन के लिये अवरोधक का कार्य करती है। ज्वालामुखी से निस्सृत प्रायः हर तरह के पदार्थ इस शकु में सम्मिलित होते हैं तथा धरातल से शकु का ढाल 35° से 40° तक होता है। यदि इस शकु का ऊपरी भाग लावा से ढका होता है तो अपरदन अधिक नहीं हो पाता है पर यदि ऊपरी भाग असगठित विखण्डित पदार्थों से आवृत्त होता है तो अपरदन शीघ्र हो जाता है। इसे मिश्रित शकु भी कहते है।

(iii) **परिपोषित शकु**—(Parasite Cone)—जब ज्वालामुखी शकु का अत्यधिक विस्तार हो जाता है तो उनमें फटन हो जाने के कारण ज्वालामुखी की मुख्य द्रोणी या नली में छोटी-छोटी उप-शाखायें निकल आती है। मुख्य शकु के निचले भाग पर इन उप-नलियों से लावा आदि पदार्थ निकलने लगते हैं तथा उनके जमाव होने से मुख्य शकु पर छोटे-छोटे अन्य शकुओं का आविर्भाव होता है। कभी-कभी इनका आकार इतना बड़ जाता है कि ये मुख्य शकु के बराबर नहीं तो करीब-करीब बराबर हो जाते हैं। चूंकि इन शकुओं की नली का पोषण (Feeding) ज्वालामुखी की मुख्य नली से होता है, अतः इन्हें परिपोषित शकु (Parasite or Lateral or Adventive cone) कहते हैं। शस्तिना

शंकु, माउण्ट शस्ता (संयुक्त राज्य का) एक परिरोपित शंकु ही है।

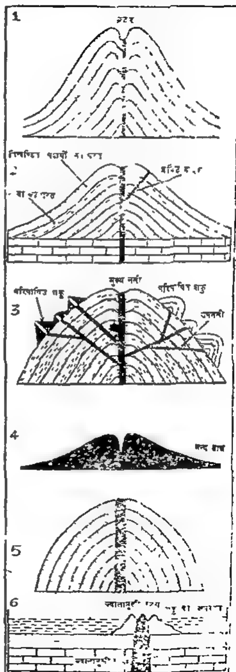
(iv) पैठिक लावा शंकु (Basic Lava Cone)—जब लावा काफी हल्का तथा पतला होता है एवं सिलिका की मात्रा कम होती है तो लावा अधिक दूर तक फैलने के बाद जमता है। इस कारण एक लम्बे स्थान पर कम ऊँचे शंकु का निर्माण होता है। इसका आकार शील्ड की तरह होता है, अतः इसे शील्ड शंकु भी कहा जाता है। चूंकि इसकी रचना बेसाल्ट लावा से होती है, अतः इसको बेसिक या पैठिक लावा शंकु कहते हैं। इस तरह के शंकु को हवाना तरह के शंकु भी कहते हैं।

(v) एसिड लावा शंकु—जब उद्गार में निस्सृत लावा काफी गाढ़ा तथा चिपचिपा (Viscous) होता है एवं सिलिका की मात्रा अधिक होती है तो लावा ज्यों ही धरातल पर प्रकट होता है उसी समय शीघ्रता से ठंडा होकर जम जाता है। अतः इसको फैलने का समय नहीं मिल पाता है। फलस्वरूप तीव्र ढाल वाले (Steep slope) ऊँचे शंकु का निर्माण होता है। इसे स्ट्राम्बोली प्रकार का शंकु भी कहते हैं।

(vi) लावागुम्बद—लावा गुम्बद प्रायः शील्ड शंकु का ही रूप होता है। अन्तर केवल इतना ही होता है कि गुम्बद, शंकु से विस्तृत होता है। इसका ढाल अधिक होता है। लावा गुम्बद का निर्माण ज्वालामुखी-छिद्र के चारों तरफ लावा के जमाव से होता है। उत्पत्ति के अनुसार तथा निर्माण-स्थान के आधार पर लावा गुम्बद को तीन भागों में विभाजित किया जाता है।

अ—डाट गुम्बद (Plug Dome)—जब लावा के जमाव से ज्वालामुखी का मुख्य छिद्र (Vent) भर जाता है तो उसे डाट या प्लग कहते हैं। बाद में लावा के विस्तार के कारण प्लग पर लावा का जमाव होता रहता है तथा उसका आकार बढ़कर गुम्बद के रूप का हो जाता है। अपरदन के बाद गुम्बद का अवशेष अवरोधक (Resistant) होने के कारण धरातल पर दिखाई पड़ता है।

ब आन्तरिक गुम्बद (Endogenous Dome)—जब लावा में सिलिका की मात्रा अधिक होती है तथा लावा गाढ़ा होता है तो वह ज्वालामुखी-छिद्र के आस-पास ही तथा कभी-कभी छिद्र पर ही शीघ्रता से छोटे गुम्बद के रूप में जम जाता है। इसका ढाल अत्यधिक तीव्र होता है। चूंकि लावा अधिक दूर तक न फैलकर छिद्र पर ही जम जाता है, इसलिये ऊपरी वृद्धि रुक जाती है। जब नीचे से लावा का सहयोग मिलता है तो पुनः वह गुम्बद ऊपर की तरफ आकार में विस्तृत होने लगता है। इसी तरह के गुम्बद की रचना कभी-कभी मिश्रित शंकु (Composite Cone) के क्रैटर में भी होती है।



चित्र 149—1 सिण्डर शंकु, 2 कम्पोजिट शंकु, 3. परिरोपित शंकु, 4. पैठिक लावा शंकु, 5. एसिड लावा शंकु तथा 6. ज्वालामुखी प्लग।

इस तरह के एक गुम्बद का निर्माण 1902 ई० में माउण्ट पीली के क्रेटर मे हुआ था। इस गुम्बद के कारण छिद्र का मार्ग अवरुद्ध हो जाने से भयकर केन्द्रीय उद्गार हुआ था। सारकुआइ रियूनियन (Arabian Sea) के अधिकाश ज्वालामुखी-गुम्बद इसी प्रकार के हैं।

स—बाह्य गुम्बद (Exogenous Domes)—जब लावा मे सिलिका की मात्रा कम होती है एव लावा पतला होता है तो अत्यधिक लावा-प्रवाह के कारण लावा का जमाव गुम्बद के आकार का हो जाता है परन्तु इसका ढाल आन्तरिक गुम्बद की अपेक्षा बहुत कम होता है। (6° से 8° के बीच)। वास्तव मे ये गुम्बद बेसिक लावा शकु या शील्ड शकु के ही विस्तृत रूप होते हैं। हवाई द्वीप मे इस तरह के अनेक गुम्बद पाये जाते हैं। इनमें से मोना लोआ गुम्बद सबसे ऊँचा है, जो कि सागर तल से 14000 फीट ऊँचा तथा व्यास मे 70 मील चौडा है। इसके बगल मे किलाउआ गुम्बद है जो कि सागर तल से 4000 फीट ऊँचा है।

(vii) लावा डाट (Lava Plug)—जब मिश्रित शंकु वाले ज्वालामुखी शान्त हो जाते है तो उनकी नली तथा छिद्र ठोस लावा से भर जाते हैं। जब शकु अपरदन द्वारा नष्ट हो जाता है तो नली मे जमा डाट या प्लग दीवाल का तरह दिखाई पड़ता है। इस प्रकार जब प्लग से पूरी नली भर जाती है तो उसे ज्वालामुखी-ग्रीवा (Volcanic neck) कहते हैं। एक औसत ऊँचाई की ग्रीवा 2000 फीट की ऊँचाई तक पाई जाती है। इस तरह के अनेक उदाहरण सयुक्त-राज्य अमेरिका के न्यूमेक्सिको प्रान्त के माउण्ट टेलर जिले मे पाये जाते है। ज्वालामुखी ग्रीवा का व्यास 1000 से 2000 फीट तक हो सकता है तथा इसका आकार बेलनाकार होता है। ब्लैक हिल्स तथा डेविल टावर इसके प्रमुख उदाहरण हैं। जिस प्रकार बोतल को बन्द करने के लिये कार्क का प्रयोग होता है उसी प्रकार ज्वालामुखी के छिद्र के भर जाने से बने आकार को ज्वालामुखी कार्क या डाट (Plug) कहते हैं।

2. निचले भाग (Depressed Forms)—केन्द्रीय उद्गार द्वारा निर्मित निचले अथवा धँसे भागो मे क्रेटर तथा काल्डेरा प्रमुख हैं।

(i) क्रेटर—ज्वालामुखी के छिद्र (Vent) के ऊपर स्थित गर्त को क्रेटर या ज्वालामुखी का मुख कहते हैं। प्राय. क्रेटर कीपाकार (Funnel shaped) होते हैं जिनका ढाल उस शकु पर आधारित होता है जिनमे उनका निर्माण होता है। उदाहरण के लिये सिण्डर शकु के अन्दर बने क्रेटर का ढाल 25° से 30° के बीच होता है। जैसे-जैसे शकु का विस्तार होता जाता है, उसके क्रेटर का आकार भी बढता जाता है। काल्डेरा तथा क्रेटर मे महान् अन्तर होता है। काल्डेरा क्रेटर से बहुत अधिक विस्तृत होता है। एक औसत क्रेटर का विस्तार 1000 फीट तथा गहराई 1000 फीट के लगभग होती है। परन्तु क्रेटर के आकार में भी महान अन्तर पाया जाता है। छोटे-छोटे क्रेटरलेक से लेकर (जिनका व्यास कुछ सौ फीट तक ही होता है) बड़े बड़े क्रेटर जिनका व्यास कई मील होता है तक पाये जाते है। अलास्का (सयुक्त-राज्य) के प्रशान्त (Extinct) ज्वालामुखी एनियाकचक का क्रेटर व्यास मे 6 मील लम्बा है तथा उसकी दीवालो की ऊंचाई 1200 फीट से 3000 फीट तक है। यदि ओरेगन (U S A) की लेक को क्रेटर का उदाहरण मान लिया जाय तो यह एक विस्तृत क्रेटर का उदाहरण है जिसकी दीवालें 4000 फीट तक ऊँची हैं। परन्तु अधिकाश विद्वान उसे काल्डेरा मानते हैं क्रेटर में जब जल भर जाता है तो क्रेटर झील की रचना होती है।

जब किसी ज्वालामुखी के क्रेटर का पर्याप्त विस्तार हो जाता है तथा पुन जब ज्वालामुखी का उद्गार छोटे पैमाने पर होता है तो क्रेटर के अन्दर छोटे शकुओ पर कई क्रेटर बन जाते है। इस प्रकार एक विस्तृत क्रेटर के अन्दर कई छोटे-छोटे क्रेटर पाये जाते हैं। इस प्रकार की आकृति को घोसलादार क्रेटर (Nested crater) या सामूहिक क्रेटर कहते हैं। फिलीपाइन्स द्वीप के माउण्ट ताल ज्वालामुखी के क्रेटर मे तीन क्रेटर पाये जाते है। इसी प्रकार प्रारम्भ मे विसूवियस ज्वालामुखी मे तीन क्रेटर तथा एटना मे दो क्रेटर थे। इस प्रकार के क्रेटर का निर्माण तभी हो सकता है जबकि बाद वाले ज्वालामुखी-उद्गार प्रथम उद्गार मे तीव्रता मे कम हो तथा यह तीव्रता क्रमश घटती जानी चाहिए। अन्यथा यदि दूसरा उद्गार प्रथम से प्रबल होगा तो समूचा क्रेटर ही नष्ट हो जायेगा।

कभी-कभी पुराने ज्वालामुखी शकु के ढालो तथा परिपोषित शकुओ (Parasite cones) मे भी मुख्य क्रेटर के अलावा अन्य क्रेटर पाये जाते हैं। जब प्राचीन शकु मे पटन या दरार (Cracks or fractures) हो जाती हैं तो उनके सहारे गैस आदि निकलकर भयकर उद्भेदन के साथ क्रेटर का निर्माण करती है। ऐसे क्रेटर को आश्रित क्रेटर (Adventive crater) कहते हैं।

(ii) **काल्डेरा**—क्रैटर का विस्तृत भाग ही काल्डेरा कहा जाता है। परन्तु काल्डेरा शब्द का प्रयोग सभी विद्वानो द्वारा एक ही अर्थ के लिए नही किया जाता है। काल्डेरा के निर्माण के विषय मे दो प्रमुख सकल्पनायें हैं। प्रथम सकल्पना के अनुसार काल्डेरा ज्वालामुखी-क्रैटर का विस्तृत रूप होता है, जो चारो तरफ से दीवालो से घिरा होता है। जब क्रैटर का धँसाव (Subsidence) होता है तो उसका पर्याप्त विस्तार हो जाता है। इस प्रकार काल्डेरा का निर्माण पूर्ण रूपेण क्रैटर के नीचे धँसकने से होता है। इस मत का प्रतिपादन सयुक्तराज्य अमेरिका के भूगर्भिक सर्वेक्षण विभाग ने किया है। इस मत के समर्थको का कहना है कि जापान का आसो क्रैटर तथा सयुक्तराज्य का क्रैटर-लेक निश्चय ही धँसाव के कारण बने हैं। उन्होने हवाई द्वीप के काल्डेरा को भी उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत किया है।

द्वितीय सकल्पना के अनुसार काल्डेरा की रचना क्रैटर के धँसाव से न होकर ज्वालामुखी के विस्फोटक उदभेदन से होती है। डेली महोदय इस मत के प्रमुख प्रवक्ता है। इन्होने बताया है कि धँसाव के कारण बनी आकृति को 'ज्वालामुखी गर्त (Locanic sinks) कहते हैं। इस मत के पक्ष मे कई प्रमाण उपस्थित किये गये है। उदाहरण के लिये जब ज्वालामुखी का क्रैटर के निर्माण के बाद भयकर विस्फोट होता है तो उसके अवशेष भाग ज्वालामुखी राख, एव विखण्डित पदार्थ के रूप मे आस-पास एव अधिक दूर तक जमा हो जाते है। अगर काल्डेरा का निर्माण क्रैटर के धँसाव से होता तो उसके आस-पास उस शकु से सम्बन्धित अवशेष भाग नही मिलने चाहिए। परन्तु प्राय यह देखा गया है कि काल्डेरा के आस-पास ही नही उससे कई मील दूर तक उस शकु के अवशेष पदार्थ पाये गये है। उदाहरण के लिये क्रैटर लेक के उत्तर-पूर्व मे मुख्य ज्वालामुखी से 80 मील की दूरी पर एक इच व्यास वाले विखण्डित पदार्थ पाये जाते है। इसी प्रकार क्राकाटोआ के विस्फोट के समय बारीक राख के लाखो टन हजारो मील की दूरी पर बिछा दिये गये थे। इसी प्रकार विसूवियस के 79 ई० के विस्फोट तथा कटमई (अलास्का) के 1912 के विस्फोट से अधिकाश पदार्थ आस-पास के क्षेत्र मे फैला दिये गये थे।

इस प्रकार काल्डेरा के निर्माण के विषय मे दो विपरीत मत प्रचलित हैं, परन्तु वर्तमान पर्यवेक्षणो तथा प्रमाणो के आधार पर यही मत प्रतीत होता है कि काल्डेरा का निर्माण विस्फोटक उद्गार से ही होता है। काल्डेरा का व्यास, क्रैटर तथा ज्वालामुखी-छिद्र से बहुत अधिक होता है। क्रैटर लेक काल्डेरा (ओरेगन प्रान्त, सयुक्त राज्य) की तली का व्यास 6 मील तथा दीवालो की ऊँचाई 4000 फीट तक है। अत्यधिक विस्तृत काल्डेरा को 'सुपर काल्डेरा'' (दीर्घ काल्डेरा) कहते है। उत्तरी पश्चिमी सुमात्रा के "बारिसन उच्चभाग'' (Barisan Highlands) के शिखर पर स्थित 'लेक टोबा' सुपर काल्डेरा का प्रमुख उदाहरण है। इसका क्षेत्रफल 700 वर्ग मील तथा घनफल 300 घनमील है। इसके निर्माण के समय विस्फोट से प्राप्त पदार्थों का टूफ (Tuff—जल म ज्वालामुखी-राख एवं पदार्थों का जमाव) के रूप मे जमाव मुख्य शकु से 7000 वर्ग मील तक (सुमात्रा) मे पाया जाता है तथा मलाया मे इनके 5 से 20 फीट गहरे जमाव का पता लगाया गया है। जब काल्डेरा के अन्दर पुन ज्वालामुखी उद्गार होता है तो नये शंकु की रचना होती है। इन शकुओ के विस्फोटक विनाश के कारण पुन काल्डेरा के अन्दर काल्डेरा का निर्माण होता है। इसे घोसलादार काल्डेरा (Nested caldera) कहते हैं।

ब--दरारी उद्गार वाली स्थलाकृति (Topography due to Fissure Eruption)—ज्वालामुखी के दरारी उद्भेदन मे लावा एक लम्बी दरार के सहारे धरातल पर प्रकट होता है तथा तरल होने के कारण शीघ्रता से धरातल के ऊपर क्षैतिज रूप मे फैल जाता है। आस-पास के धरातलीय भाग पर लावा की मोटी या पतली (लावा की मात्रा तथा उसके गाढ़ेपन के अनुसार) चादर बिछ जाती है। लावा के क्रमिक प्रवाह के साथ लावा की अनेक चादर (Lava sheets) का विस्तार हो जाता है तथा प्रत्येक लावा-परत की गहराई 20 फीट से 100 फीट तक होती है। इस प्रकार लगातार जमाव के कारण



चित्र 150—घोसलादार काल्डेरा (Nested-Caldera)

लावा-पठार तथा लावा-मैदान का निर्माण होता है। इस प्रकार के विस्तृत पठार तथा मैदान संयुक्त राज्य अमरिका, दक्षिणी अर्जेनटाइना, ब्राजील, न्यूजीलैण्ड, मध्य पश्चिमी भारत, फ्रान्स, आइसलैण्ड, दक्षिणी अफ्रीका एवं साइबेरिया में पाये जाते हैं।

1. लावा पठार—लावा के दरारी प्रवाह के कारण हजारों फीट ऊँचे लावा पठार का निर्माण हो जाता है। उत्तरी-पश्चिमी संयुक्त राज्य का कोलम्बिया का पठार एवं *स्नेक नदी-क्षेत्र इस तरह के पठार के प्रमुख उदाहरण* हैं। अकेले कोलम्बिया पठार पर 1,30,000 वर्ग किमी० (50,000 वर्ग मील) क्षेत्र पर 1,00,000 घन किमी० (25,000 घन मील) बेसाल्ट लावा या पठार लावा के निक्षेपण (मायोसीन युग में) के कारण लगभग 1.5 किमी० (एक मील) ऊँचे उच्चावच्च का निर्माण हुआ था। यह लावा का प्रवाह कई क्रमिक प्रवाहों के रूप में हुआ था जिसमें एक प्रवाह के समय 100 मीटर (300 फीट) मोटी लावा चादर का निर्माण हुआ था तथा लावा इतना तरल था कि अपने उद्गार के स्रोत से 60 किमी० की दूरी तक पहुँच गया था। यदि कोलम्बिया पठार तथा स्नेक घाटी क्षेत्र को सम्मिलित रूप में लिया जाय तो लावा का विस्तार 5,16,000 वर्ग किमी० (2,00,000 वर्ग मील) क्षेत्र पर हुआ था तथा कुल निस्सृत लावा का आयतन 3,00,000 घन किमी० था। इसी तरह प्रायद्वीपीय भारत पर क्रीटैसियस युग में पठार लावा या बेसाल्ट लावा का 5,00,000 वर्ग किमी० (2,00,000 वर्ग मील) क्षेत्र पर प्रसार हुआ *था जिस समय 7,00,000 घन किमी० लावा का उद्*गार हुआ था। ब्राजील तथा पराग्वे के पराना पठार पर प्रारम्भिक जुरैसिक युग में 2,00,000 घन किमी० लावा के प्रवाह का 7,50,000 वर्ग किमी० (3,00,-000 वर्ग मील) क्षेत्र पर विस्तार हो गया था। इस तरह बेसाल्ट लावा की कई परतों के जमाव से वृहत् लावा पठार का निर्माण होता है।

ग्रेट ब्रिटेन में इस तरह का प्रवाह टर्शियरी युग में हुआ था तथा *अन्तरीम का लावा-पठार* इसका प्रमुख उदाहरण है। आइसलैण्ड में लाकी ज्वालामुखी का 1783 ई० का दरारी उद्गार एक 20 मील (32 किमी०) लम्बी दरार से हुआ था जिससे लावा का विस्तार 218 वर्ग मील में हुआ था तथा 12 घन किमी० लावा का प्रवाह हुआ था।

युग	लावा पठार का निर्माण
1 प्रारम्भिक जुरैसिक	साइबेरिया, पराना घाटी (अर्जेनटाइना), टार्केन्सबर्ग (अफ्रीका) जम्बर्जा (अफ्रीका) एवं तस्मानिया द्वीप।
2 टर्शियरी	ब्रिटो-आर्कटिक प्रायद्वीपीय भारत एवं मंगोलिया।
3 मायोसीन से वर्तमान	पैटागोनिया, कोलम्बिया विक्टोरिया-क्वीन्समैण्ड, किम्बरले (अफ्रीका) सीरिया तथा आइसलैण्ड।

2. लावा मैदान—जब लावा का प्रवाह कम होता है तथा जब लावा पतला होता है तो दूर तक लावा की पतली चादर का विस्तार हो जाता है। इसे लावा मैदान *कहते हैं। इसी प्रकार जब ज्वालामुखी का केन्द्रीय उद्*गार होता है तो निस्सृत ज्वालामुखी-राख तथा धूल का *जमाव दूर तक हो जाता है जिसमें ज्वालामुखी मैदान* का निर्माण होता है।

3. मेसा[1] एवं बुटी—दरारी उद्गार के समय लावा की चादर पुरानी चट्टानों पर बिछ जाती है। बाद में नदियों द्वारा इस क्षेत्र में कटाव होने से अनेक घाटियाँ बन जाती हैं। इन घाटियों की रचना तथा विकास पुरानी चट्टान में काफी गहराई तक होता है। परन्तु अपरदन का प्रभाव सर्वत्र नहीं होता है। जहाँ पर पुरानी शैल के *ऊपर लावा की परत अवरोधक होती है वहाँ पर अपर*दन नहीं हो पाता है। इस प्रकार लावा की पट्टी प्राचीन शैल के ऊपर टोपी के समान दिखाई पड़ती है। ऐसी आकृति को "लावा युक्त मेसा" (Lava capped mesa) कहते हैं। राकी पर्वत के पूर्व में कोलोरैडो प्रान्त की बेसाल्ट लावा युक्त "मेसा डी माया" तथा 'राटन मेसा' इसके प्रमुख उदाहरण हैं। मेसा का आकार प्रायः लावा की कठोरता तथा अपरदन की मात्रा पर आधारित होता है। यदि पुरानी शैल के ऊपर अवरोधक लावा (Resistant lava) की मोटी चादर का विस्तार है तथा नदियों द्वारा अपरदन सीमित होता है तो मेसा काफी विस्तृत होती है तथा पठार के समान दृष्टिगोचर होती है।

1. मेसा (Mesa), स्पेनिश शब्द है जिसका तात्पर्य मेज (Table) होता है। वास्तव में यह आकृति सपाट मेज की तरह दिखाई पड़ती है।

पश्चिमी मध्य कोलोरैडो प्रान्त की 'ग्राण्ड मेसा' इनकी प्रमुख उदाहरण है। यह मेसा कोलोरैडो नदी तथा गनीसन नदी की घाटी से 5000 फीट ऊँची है।

छोटा नागपुर पठार के पश्चिमी पाट प्रदेश पर अनेक मेसा का निर्माण हुआ है जिन्हे स्थानीय भाषा मे पाट (Pat) कहते हैं। अन्तिम क्रीटैसियस तथा ऊपरी मायोसीन युग मे आर्कियन युग की ग्रेनाइट-नीस स्थलाकृति पर 152 मीटर (500 फीट) मोटी लावा सतह का जमाव हो गया तथा उत्तरी कोयल नदी एवं उसकी सहायक (अमानत, अमरान, बूढा आदि) ने निम्नवर्ती अपरदन द्वारा इस पाट प्रदेश को उप भागो मे विभक्त कर रखा है जिन्हे पाट कहते हैं। इनका ऊपरी भाग सपाट तथा चौरस एव वन विहीन है किनारे वाले भाग तीव्र ढाल वाले है जो नीचे जाने पर मन्द होते जाते है तथा साल के घने जगलो से आच्छादित है। इन पाट या मेसा मे प्रमुख है—जमीरा पाट (1142 मीटर), नेतरहाट पाट (1125), जर्दमार पाट (1099 मी०), पोखराडिह पाट (1077 मी०), बेलापाट (1070 मी०, सभी पालामऊ जिले मे), खमार पाट (1068 मी०), पोखरा पाट (1100 मी०), रुडनी पाट (1064 मी०), गड पाट (1063 मी०), बगड पाट (1057 मी०, राँची जनपद मे) आदि। महाराष्ट्र का महाबालेश्वर पठार बृहद् मेसा का सर्व प्रमुख उदाहरण है। इसका पंचगनी टेबुल लैण्ड बेसाल्ट (लेटराइट) मेसा का खूबसूरत उदाहरण है।

जब नदियों द्वारा घाटी का विस्तार अधिक होने लगता है तथा अपरदन की मात्रा बढ जाती है तो मेसा का आकार छोटा होने लगता है। जब मेसा का आकार अत्यन्त छोटा हो जाता है तो नयी आकृति की रचना होती है। इसे बुटी कहते हैं। कभी-कभी लावा का प्रवेश ऊपर स्थित कमजोर शैल मे लम्ब रूप मे हो जाता है तथा जब अपरदन के बाद कमजोर शैल का अनावरण हो जाता है लम्ब रूप मे प्रविष्ट लावा का ऊपरी भाग बुटी की तरह लगता है। ऐसे आकार को "ज्वालामुखी बुटी" कहते है। न्यूमेक्सिको प्रान्त (संयुक्त राज्य) की 'शिपराक बुटी' इसका प्रमुख उदाहरण है। छोटा नागपुर पठार के पाट प्रदेश की मेसा का चारो तरफ से समानान्तर निवर्तन हो रहा है। जहाँ पर पृष्ठ अपरदन (back wasting) द्वारा समानान्तर निवर्तन (Parallel retreat) होने से पाट या मेसा का विस्तार कम हो गया है, वहाँ पर बुटी या ब्यूट का निर्माण हुआ है।

2. आभ्यन्तरिक स्थलाकृति (Intrustive Topography)—जब ज्वालामुखी के उदगार के समय गैस एव वाष्प की तीव्रता मे कमी होती है तो लावा धरातल के ऊपर न आकर धरातल के नीचे ही दरारो आदि मे प्रविष्ट होकर जमकर ठोस रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार धरातल के नीचे बने स्थल रूप को आन्तरिक अथवा आभ्यन्तरिक स्थलरूप कहते हैं। इनमे प्रमुख हैं—बैथोलिथ, लैकोलिथ, लोपोलिथ, फैकोलिथ, डाइक, सिल तथा शीट।



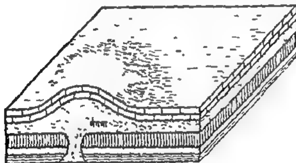
चित्र 151—बैथोलिथ

(1) बैथोलिथ[1]—बैथोलिथ लम्बे, असमान तथा उभरे हुये आग्नेय शैल के आकार होते है। ये प्राय गुम्बद के आकार के होते हैं, जिनके किनारे काफी खडे ढाल वाले होते है तथा आधार तल अधिक गहराई मे होता है। अपरदन द्वारा इसका ऊपरी भाग दिखाई पडता है परन्तु इसका आधार (Base) कभी नही देखा जा सकता है। इसका ऊपरी भाग अत्यधिक असमान तथा ऊबड खाबड होता है। खासकर बैथोलिथ पर्वतीय क्षेत्रों मे जहाँ ज्वालामुखी का उद्गार होता रहता है, पाये जाते हैं। इसकी रचना मे ग्रेनाइट का योग रहता है। राँची पठार मे धारवार क्रम की अवसादी शैलो के नीचे आर्कियन युग मे वृहदाकार ग्रेनाइट बैथोलिथ का निर्माण हुआ। स्थान-स्थान पर बैथोलिथ के प्रवेश के कारण धारवार शैलो के ऊपरी आवरण मे उभार हो गया। अनाच्छादन के कारण ऊपरी आवरण के अनावरण के कारण ये बैथोलिथ सतह पर प्रकट हो गये।

1. बैथोलिथ—जर्मन शब्द bathos—गहराई।

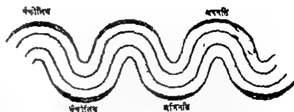
लम्बे समय तक अनाच्छादन के कारण वर्तमान समय में ये बैथोलिथ गुम्बदों के रूप में दृष्टिगत होते हैं।

(ii) लैकोलिथ[1]—लैकोलिथ लावा-निर्मित बृहद आकार होता है जिसका रूप उत्तल ढाल (Convex slope) के रूप में होता है। लैकोलिथ खासकर परतदार चट्टानों के बीच पाये जाते हैं। जब लावा का उद्गार होता है तो गैसों के जोर से परतदार शैल की ऊपरी परत उत्तल चाप (Convex arch) अथवा गुम्बदाकार रूप में बदल जाती है। फलस्वरूप ऊपर वाली मुड़ी हुई तथा निचली सीधी परत के बीच खाली जगह बन जाती है, जिसमें ज्वालामुखी-राख, गैस तथा लावा आदि भर जाते हैं, जिस कारण लैकोलिथ का निर्माण होता है। ऊपरी परत सैकड़ों फीट से लेकर हजारों फीट तक ऊपर मुड़ जाती है। बैथोलिथ किसी भी चट्टान में बन सकता है पर लैकोलिथ केवल परतदार चट्टान में ही बनता है। इसका ऊपरी भाग दृष्टिगोचर होता है जिसके किनारे झुके हुए होते हैं। उत्तरी अमेरिका के पश्चिमी भाग में ऐसे अनेक आकार देखने को मिलते हैं।



चित्र 152—लैकोलिथ (Laccolith)

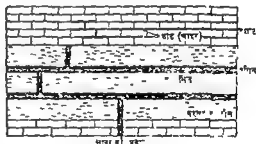
(iii) फैकोलिथ (Phaccolith)—ज्वालामुखी उद्गार के समय मोड़दार पर्वतों की अपनति (Anticline) तथा अभिनति (Syncline) में लावा का जमाव हो जाता है। इस प्रकार बनी आग्नेय शैल को फैकोलिथ कहते हैं।



चित्र 153—फैकोलिथ (Phacolith)

(iv) लोपोलिथ (Lopolith)—लोपोलिथ जर्मन भाषा के लोपस (Lopas) से लिया गया है जिसका तात्पर्य होता है, एक छिछली बेसिन। जब लावा का जमाव धरातल के नीचे अवतल आकार वाली छिछली बेसिन में होता है तो तश्तरीनुमा आकार का निर्माण होता है। इस आकार को लोपोलिथ कहते हैं। ट्रान्सवाल में 480 कि॰मी॰ लम्बा लोपोलिथ पाया गया है।

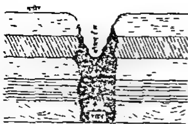
(v) सिल (Sill)[2]—सिल परत के रूप में आग्नेय शैल का समूह होती है। जब लावा का प्रवाह होता है तो लावा का जमाव परतदार अथवा रूपान्तरित शैलों की परतों के बीच हो जाता है। सिल की स्थिति प्राय मौलिक चट्टान की परतों के समानान्तर होती है। जब इस जमाव की मोटाई ज्यादा होती है तो इसे सिल कहते हैं। परन्तु पतली सिल को शीट कहा जाता है। इसकी (Sill) मोटाई कुछ सेण्टीमीटर से लेकर कई मीटर तक होती है। सिल की आग्नेयशैल आस-पास की चट्टानों से काफी कठोर होती है तथा समीपवर्ती शैल के कट जाने पर यह निकली हुई प्रतीत होती है।



चित्र 154—सिल (Sill)

(vi) डाइक (Dyke)—डाइक प्राय सिल की तरह ही होती है परन्तु यह अपेक्षाकृत लम्बी तथा पतली होती है। सिल एवं शीट के विपरीत परतों में लम्ब के रूप में पायी जाती है। वास्तव में डाइक एक दीवाल की तरह आग्नेय शैल का आभ्यन्तरिक रूप ही होती है। मोटाई में डाइक कुछ सेण्टीमीटर से सैकड़ों मीटर तक पाई जाती है परन्तु इसकी लम्बाई कुछ मीटर से लेकर कई किलोमीटर होती है। कुछ आग्नेय शैल अपनी समीपवर्ती शैलों से ज्यादा कठोर होती है तथा अपरदन का प्रभाव उन पर कम पाया जाता है। इसके विपरीत

1. लैकोलिथ—जर्मन शब्द laccos-litsos चट्टान।
2. सिल—एंग्लो-सैक्सन शब्द—Syl—a ledge उभड़ा हुआ भाग।



चित्र 155—डाइक (अपरदन के बाद उत्पन्न रूप)

कुछ डाइक मुलायम भी होती हैं। इस प्रकार स्थलरूप (Landforms) के निर्माण में इनका गहरा हाथ होता है। इस क्षेत्र में डाइक के तीन रूप हो सकते हैं—

1 **प्रथम अवस्था**—जब डाइक की शैल समीपवर्ती शैल से कमजोर होती है तो डाइक का ऊपरी भाग अपरदन से कट जाता है तथा गर्त बन जाती है। चित्र न० 155 से स्पष्ट है।

2 **द्वितीय अवस्था**—जब डाइक की चट्टान समीपवर्ती शैल से कठोर होती है तो अपरदन के कारण समीपवर्ती चट्टान कट जाती है परन्तु डाइक ऊपर की तरह निकली रहती है। चित्र न० 156 से स्पष्ट है।

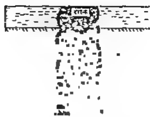


चित्र 156—डाइक (अपरदन के बाद उत्पन्न रूप)।

3. **तृतीय अवस्था**—डाइक आस-पास की चट्टान के बराबर ही कठोर अथवा मुलायम हो तो ऐसी अवस्था में डाइक का कटाव समीपवर्ती शैलों के अनुरूप ही होता है।

गेसर (Geyser)

गेसर का तात्पर्य—गेसर या उष्णोत्स वास्तव में एक प्रकार का गर्म जलस्रोत होता है जिसमें समय-समय पर गर्म जल तथा वाष्प निकला करती है। गेसर शब्द आइसलैंड की भाषा के गेसिर शब्द (Geysir) से बना है जिसका शाब्दिक अर्थ "तेजी से उछलता हुआ" (Gusher) अथवा "फुहार छोड़ने वाला" (Spouter) होता है।





चित्र 157—डाइक (अपरदन के बाद उत्पन्न रूप)।

वास्तव में गेसर शब्द का प्रयोग आइसलैंड के उष्ण जल के स्रोत 'ग्रेट गेसर" (Great Geyser or Geysir) के उछलते हुये जल को प्रदर्शित करने के लिये किया गया था। बहुत से ज्वालामुखी क्षेत्रों में उद्गार के समय दरारों तथा सुराखों से होकर कुछ अवकाश के बाद गर्म जल कुछ या अधिक ऊँचाई तक निकलने लगता है। ज्वालामुखी की क्रिया से इस गौण रूप को ही गेसर कहते हैं। विभिन्न विद्वानों ने गेसर को कई रूपों में प्रदर्शित किया है। 'गेसर, गर्म जलस्रोत" होते हैं जिनमें अवकाश के बाद गर्म जल तथा वाष्प तीव्रता से निकला करती है, कभी-कभी इनकी ऊँचाई सैकड़ों फीट होती है।'[1]

दूसरे शब्दों में "गेसर सविराम गर्म जल के स्रोत होते हैं जो कि समय-समय से अपने मुख से गर्म जल की फुहारें तथा वाष्प छोड़ते हैं।"[2] गेसर में गर्म जल का प्लावन ऊपर की तरफ एक छिद्र या सुराख से होता है तथा बाद में अपने जमाव द्वारा गेसर, छिद्र के चारों तरफ एक टीले (Mound) की रचना करता है। इसके बीच में एक गोल बेसिन होती है जो कि व्यास में 69 फीट तथा गहराई में 4 फीट होती है। यह बेसिन सिलिका युक्त जल से आवृत रहती है जिसका तापमान प्राय 75° से 90° सेण्टीग्रेड के बीच होता है। गेसर का मुख नीचे के जलगृह या जल-भण्डार से एक नली द्वारा जुड़ा होता है। इस नली को प्रेरक द्रोणी या गेसर नली कहते हैं। यह प्राय पतली तथा लम्बी परन्तु

1. "Geysers are hot springs from which a column of hot water and steam is explosively discharged at intervals, spouting in some cases to heights of hundreds of feet". A. Holmes, Principles of Physical Geology, page, 138

2 'Geysers are intermittent hot springs that from time to time spout steam and hot water from their craters." P. G Worcester, A Textbook of Geomorphology, page 452. 1948

टेढ़ी-मेढ़ी होती है। लम्बाई विभिन्न स्थानों पर 100 फीट से 400 फीट के बीच होती है।

यद्यपि गेसर तथा गर्म जलस्रोत समान होते हैं परन्तु एक से नहीं होते हैं। गर्म जलस्रोत से वाष्प तथा गर्म जल निरन्तर निकला करता है। इसकी क्रिया में किसी प्रकार का अवकाश नहीं पाया जाता है। यह अविराम (Without interval) सक्रिय रहता है। इसके विपरीत गेसर मध्यान्तर के बाद या सविराम (With intervals) गर्म जल तथा वाष्प के फुहारे के रूप में ऊपर उछलता रहता है। दूसरा अन्तर दोनों की वाष्प तथा गर्म जल को निश्चित ऊँचाई तक उछालने की क्षमता का होता है। गर्म जलस्रोत द्वारा वाष्प तथा उष्ण जल कुछ ऊँचाई तक ही ऊपर उठ पाता है जबकि गेसर अत्यधिक ऊँचाई तक उछलता है। कभी-कभी यह ऊंचाई 1500 फीट हो जाती है जैसा कि न्यूजीलैण्ड के वायमाग्गू गेसर ने कभी किया था। कुछ विद्वान गेसर तथा गर्म जलस्रोत को अलग-अलग दो रूप नहीं मानते हैं। परन्तु गर्म जलस्रोत को गेसर का ही एक प्रकार बताते हैं। परन्तु यह मत अमान्य है। गेसर की श्रेणी में गर्म जलस्रोत को कदापि सम्मिलित नहीं किया जा सकता है। इतना निश्चित ही है कि गेसर का सम्बन्ध ज्वालामुखी-क्रिया से है तथा वर्तमान ज्वालामुखी क्षेत्रों में ही पाया जाता है। वास्तव में गेसर ज्वालामुखी-क्रिया का एक गौण रूप है।

गेसर के प्रकार

गेसर की प्रक्रिया में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। कभी-कभी गेसर द्वारा अत्यधिक मात्रा में गर्म जल तथा वाष्प निकलती है तथा कुछ गेसर थोड़ी मात्रा में ही जल एवं वाष्प निकालते हैं। इस आधार पर गेसर को दो वर्गों में विभाजित किया जाता है।

1. **कुण्ड गेसर (Pool Type of Geyser)**—जब गेसर का उद्गार खुले बड़े छिद्र से या कुण्ड से होता है तो उसे कुण्ड प्रकार का गेसर कहते हैं। इस प्रकार के गेसर से अत्यधिक मात्रा में गर्म जल तथा वाष्प बाहर निकलती है। इस प्रकार के गेसर की नली काफी विस्तृत होती है तथा अधिक जल धारण करने की काफी क्षमता रखती है। जल की अधिकता तथा ऊपर आने की तीव्रता के कारण कुण्ड के पास जमाव नहीं हो पाता है।

2. **सँकरे गेसर (Nozzle Type of Geyser)**—गेसर का उद्गार पतले तथा सँकरे छिद्र अथवा सुराख में होता है तो उसे सँकरे गेसर कहते हैं। इस प्रकार के गेसर अपने जमाव द्वारा शंकु बना लेते हैं तथा उनके बीच में सकीर्ण छिद्र से गर्म जल तथा वाष्प बाहर निकलती है परन्तु इनकी मात्रा (जल तथा वाष्प) प्रथम की अपेक्षा नितान्त कम होती है। इसका मुख्य कारण गेसर-द्रोणी का कम विस्तृत एवं छोटा होना होता है।

कुछ विद्वानों ने गेसर तथा गर्म जलस्रोत को दो विभिन्न रूप नहीं माना है, बल्कि उन्हें गेसर का ही दो रूप बताया है। उनके अनुसार गेसर को दो वर्गों में विभाजित किया जाता है।

(1) **सविराम गेसर**—जब गर्म जल तथा वाष्प का प्रसरण कुछ अवकाश अथवा विराम के बाद होता है तो उसे सविराम गेसर कहते हैं। वास्तव में गेसर का यही सही रूप होना है। प्रत्येक गेसर का मध्यावकाश या विरामअवधि (Period of interval or interruption) समान नहीं होती है। इस आधार पर वास्तविक गेसर को कई उपविभागों में विभाजित किया जा सकता है।[1]

(अ) **समान विराम वाले गेसर**—कुछ गेसर की सक्रियता में नियंत्रण होता है अर्थात् एक निश्चित समय तक कार्यरत रहने के बाद ये निष्क्रिय हो जाते हैं। इस प्रकार प्रति दो सक्रिय अवधि के बीच का अवकाश सदैव बराबर होता है। इस प्रकार के गेसर के उद्गार तथा विराम का समय निश्चित होता है। यही कारण है कि ये अत्यन्त विश्वसनीय होते हैं। इसी आधार पर संयुक्त राज्य के 'ओल्ड फेथफुल गेसर" को 'ईमानदार या वफादार गेसर" कहते हैं क्योंकि प्रतिमिनट के बाद इसका उद्गार होता है।

(ब) **असम विराम वाले गेसर (Variable Geyser)**—जब गेसर के दो उद्गारों के मध्यावकाश में निश्चितता नहीं होती है तो उसे असम विराम वाले गेसर कहते हैं। यह विराम अवधि भिन्न-भिन्न गेसर में कुछ घण्टों से लेकर कई दिन तक की होती है। यहाँ तक कि एक गेसर में भी मध्यावकाश तथा अगले मध्यावकाश में अन्तर पाया जाता है। इसका कब उद्गार होगा तथा कब समाप्ति होगी, अनिश्चित होता है। इसी कारण इन्हें **"अविश्वसनीय गेसर"** कहते हैं।

(स) **लम्बी अवधि वाले गेसर**—इस प्रकार के गेसर का जब उद्गार होता है तो सक्रियता-काल या

1. लेखक।

उद्गार का समय कुछ मिनट से लेकर एक घण्टे तक होता है। आइसलैण्ड का "ग्रैण्ड गेसर" 30 मिनट तक सक्रिय रहने के बाद मध्यावकाश को प्राप्त होता है। इस प्रकार के गेसर से गर्म जल एवं वाष्प की अत्यधिक मात्रा बाहर आती है। इसका प्रमुख कारण गेसर-द्रोणी का बड़ा तथा विस्तृत आकार का होना है।

(द) क्षीण गेसर—इस प्रकार गेसर-उद्गार का समय बहुत ही कम होता है। कुछ गेसर तो कुछ सेकेण्ड तक ही उद्गार के बाद निष्क्रिय हो जाते हैं।

(2) अविराम या सतत सक्रिय गेसर—इस प्रकार के गेसर से सदैव गर्म जल तथा वाष्प निकला करती है तथा इसमें मध्यावकाश नहीं होता है। इस प्रकार के गेसर सदैव सक्रिय रहते हैं। संयुक्त राज्य का **यलोस्टोन पार्क** का **एक्सेल्सियर गेसर** इसी तरह का है। इस गेसर को **गेसर स्रोत** भी कहा जाता है। वास्तव में इस प्रकार के स्रोते (Spring) को जिनसे सदैव गर्म जल एवं वाष्प निकलती है गेसर की श्रेणी में नहीं रखना चाहिए। इन्हें गेसर से अलग उष्ण जलस्रोत ही समझना चाहिए जैसा कि अधिकांश विद्वानों से स्वीकार किया है।

गेसर का सामान्य रूप—गेसर की क्रियाओं का निश्चित रूप नहीं दिया जा सकता है क्योंकि प्रत्येक गेसर दूसरे गेसर से हर माने में भिन्न होता है। कुछ गेसर निश्चित अवकाश के बाद उद्गार करते हैं जब कि दूसरे गेसर के उद्गार तथा मध्यावकाश के विषय में निश्चितता नहीं होती है। कुछ गेसर अधिक ऊँचाई तक वाष्प तथा जल को उछालते हैं। **एक्सेलसियर** तथा **ओल्ड फेथफुल गेसर** 100 फीट से 300 फीट की ऊंचाई तक उद्गार करते हैं। न्यूजीलैण्ड के **वायमान्गू गेसर** द्वारा एक बार 1500 फीट की ऊँचाई तक उद्गार हुआ था। इसके विपरीत कुछ गेसर कुछ इंच से लेकर कुछ फीट तक ही उद्गार करते हैं। जब गेसर द्वारा जल का अपस्राव नहीं हो पाता है तो कभी-कभी पतली कीचड़ ही ऊपर आती है तथा इसका उद्गार कुछ फीट तक ही होता है। भारी होने के कारण यह पुनः गेसर (Geyser pool) में गिर पड़ती है तथा पुनः ऊपर उछाल दी जाती है। यह क्रिया लम्बे समय तक चलती रहती है। कहने का तात्पर्य यह है कि गेसर का कोई निश्चित रूप नहीं बताया जा सकता है। प्रत्येक नया गेसर अपनी स्वयं की विशेषता रखता है। जब अवकाश के बाद गेसर का उद्गार या अपस्राव होता है तो अजीब प्रकार की कर्ण-प्रिय ध्वनि होती है। प्राकृतिक सौन्दर्य के दृष्टिकोण से गेसर अत्यन्त आकर्षक होते हैं तथा पर्यटकों के लिए विशेष आकर्षक केन्द्र होते हैं।

गेसर का विश्व-वितरण

गेसर तथा गर्म जलस्रोत के विश्व-वितरण में कोई निश्चित क्रम नहीं पाया जाता है, अथवा अक्षांश एवं जलवायु का कोई असर नहीं होता है। उदाहरण के लिए आइसलैण्ड में बर्फ से आच्छादित भाग में भी गर्म जलस्रोत से उष्ण जल प्रवाहित होता है तथा भूमध्य रेखीय उष्ण भागों से भी गर्म जल निकलता है। इसका प्रमुख कारण इनका पृथ्वी के आन्तरिक भाग से सम्बन्धित होना है। यद्यपि गेसर सीमित क्षेत्र में पाये जाते हैं परन्तु उनके वितरण का कोई निश्चित क्रम नहीं है, क्योंकि प्रायः प्रत्येक महाद्वीपीय भाग से गेसर पाये जाते हैं। उत्तरी अमेरिका में गेसर "यलोस्टोन नेशनल पार्क" में, एशिया में तिब्बत में, यूरोप में आइसलैण्ड में तथा न्यूजीलैण्ड में गेसर पाये जाते हैं। केवल दक्षिणी अमेरिका तथा अफ्रीका में गेसर का अभाव पाया जाता है। फिर भी **अजोर्स** में कुछ गेसर के प्रमाण मिलते हैं। मुख्य रूप से विश्व में गेसर के तीन प्रधान क्षेत्र पाये जाते हैं—

1. **संयुक्त राज्य अमेरिका के गेसर**—संयुक्त राज्य में "यलोस्टोन नेशनल पार्क" में गेसर का समूह (Agglomeration) पाया जाता है। यहां पर लगभग एक सौ ऐसे गेसर हैं जिनका नामकरण किया जा चुका है तथा एक सौ ऐसे गेसर हैं जिनके विषय में जानकारी प्राप्त की जा चुकी है। यहाँ पर गेसर चार प्रमुख **बेसिन**—(i) नोरिस बेसिन, (ii) ऊपरी लेक बेसिन, (iii) निचली लेक बेसिन तथा (iv) हार्ट लेक बेसिन में पाये जाते हैं। यहाँ पर गेसर खासकर **दरार तल** (Fault plane) के सहारे पाये जाते हैं। यहां का प्रमुख गेसर **"ओल्ड फेथफुल गेसर"** है।

2. **न्यूजीलैण्ड के गेसर क्षेत्र**—न्यूजीलैण्ड का प्रमुख गेसर क्षेत्र देश के उत्तर में स्थित उत्तरी द्वीप के पश्चिमी भाग के ज्वालामुखी-क्षेत्र में स्थित है। न्यूजीलैण्ड का सर्वप्रथम गेसर **वायमान्गू** है जिसका आविर्भाव सन् 1901 ई० में भयंकर उद्भेदन के साथ हुआ था। उस समय गेसर द्वारा निस्सृत गर्म जल तथा कीचड़ वायु में 1500 फीट की ऊँचाई तक चली गई थी। परन्तु 2 वर्ष के उद्गार के बाद ही यह गेसर पूर्णतया निष्क्रिय हो गया।

3. आइसलैण्ड के गेसर-क्षेत्र—आइसलैण्ड में गेसर तथा गर्म जलस्रोत 5000 वर्ग मील क्षेत्र में पाये जाते हैं। यहाँ का सर्वप्रमुख गेसर, **ग्रेण्ड गेसर है**। इसी के नाम पर संसार के सविराम गर्म जल स्रोतों का नामकरण गेसर किया गया है। दूसरा प्रसिद्ध गेसर **स्ट्रोकर** है। यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि आइसलैण्ड के गेसर का नामकरण उनके प्रारम्भिक उद्गार या अपस्राव के स्वरूप के आधार पर किया गया है। आइसलैण्ड के गेसर से निस्सृत जल का अध्ययन करने पर पता चलता है कि उनका मूल स्रोत वर्षा का जल तथा बर्फ के पिघलने से प्राप्त जल ही है। बर्फ पिघलने से प्राप्त अधिक मात्रा में जल दरार एवं सुराख के सहारे रिस कर पृथ्वी के अन्दर चला जाता है।

गेसर के उद्गार की प्रक्रिया
(Process of Geyser Action)

गेसर की उपर्युक्त विशेषताओं को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक गेसर के स्वभाव में पर्याप्त अन्तर होता है। परन्तु इतना तो निश्चितता के साथ कहा जा सकता है कि गेसर से गर्म जल तथा वाष्प कुछ अवकाश के बाद निकलती है। गेसर की इस सर्वप्रथम विशेषता 'सविराम उद्गार' (Intermittent action) के कारणों का स्पष्टीकरण करना आवश्यक है। गेसर की सविराम सक्रियता के लिए निम्न बातों का होना आवश्यक है—पर्याप्त जल की प्राप्ति, उचित ताप, वर्तमान ताप तथा जल में समुचित अनुपात, गेसर द्रोणी या नली, जिसके सहारे गर्म जल ऊपर आता है तथा धरातल के नीचे गर्म जल का भण्डार, जहाँ से गर्म जल नली से होकर ऊपर प्रकट होता है।

(1) जल की प्राप्ति—गेसर के उद्गार के लिये उत्तरदायी जल भण्डार के विषय में पर्याप्त मतभेद है। कुछ विद्वानों का कथन है कि गेसर का उद्गार केवल भूमिगत जल तथा मैगमा से प्राप्त जल के अधिक ताप द्वारा गर्म होने से ही होता है। परन्तु गेसर द्वारा निस्सृत अत्यधिक जलराशि को देखते हुये उपर्युक्त मत सत्य से काफी दूर जान पड़ता है। वास्तव में गेसर के लिये आवश्यक जल, धरातल के ऊपरी भाग से वर्षा के जल तथा हिम के पिघलने (हिम को भी वर्षा का ही एक रूप मानना चाहिये) से प्राप्त जल से होता है। धरातल के ऊपरी भाग से ये जल रिस कर भूमि के नीचे पहुँच जाते हैं। इस मत के समर्थन में अनेक प्रमाण प्रस्तुत किये जा सकते हैं—(i) गेसर द्वारा निस्सृत जल तथा उस स्थान की वर्षा में सीधा सम्बन्ध है। जिस साल या मौसम में जलवृष्टि अधिक होती है उस समय गेसर अधिक सक्रिय पाये जाते हैं तथा उनसे निस्सृत जलराशि सामान्य जलराशि से अधिक होती है। (ii) गेसर से निस्सृत गर्म जल के साथ कुछ घोल के रूप में पदार्थ भी बाहर आते हैं। इन पदार्थों को देखने से यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि ये उन चट्टानों के घुले पदार्थ हैं जिनमें होकर धरातलीय वर्षा का जल रिस कर भूमि के नीचे पहुँचता है। इसके अलावा कुछ मैग्मैटिक जल भी होता है। ऐसा लगता है कि भूमि के नीचे तप्त मैगमा से वाष्प ऊपर की तरफ चलती है तथा मार्ग में घनीभूत होकर जल के रूप में परिणत हो जाती है। परन्तु यह स्मरणीय है कि इस प्रकार से प्राप्त जल की मात्रा बहुत कम होती है।

(2) ऊष्मा (Heat)—गेसर तथा गर्मजलस्रोत से जो जल ऊपर आता है उसका तापमान काफी अधिक होता है। उदाहरण के लिये **"मैमथ हाट स्प्रिंग"** का तापमान, उबाल बिन्दु (Boiling point) से 40° फा० कम होता है। ओल्ड फेथफुल गेसर का तापमान 200° फा० होता है। इस प्रकार गेसर के उद्गार के लिये अधिक ताप की आवश्यकता होती है। गेसर का उद्गार इतनी कम गहराई से होता है (400 से 500 फीट) वहाँ पर इतना अधिक तापमान जिससे कि जल का वाष्प बन जाय, का होना स्वाभाविक नहीं लगता है। अनेक गेसर-क्षेत्रों में खुदाइयों द्वारा भी पता चला है कि 400 से 500 फीट की गहराई तक 400° फा० तक तापक्रम पाया जाता है। उदाहरण के लिये 'यलोस्टोन पार्क' की दो गेसर-घाटियों में दो बोरिंग की गई जिनमें पता चला कि "नोरिस गेसर बेसिन" में 265 फीट की गहराई पर 401° फा० तापक्रम तथा "ऊपरी गेसर बेसिन" में 406 फीट की गहराई पर 360° फा० तापक्रम मौजूद है। अब समस्या उठती है कि इतनी कम गहराई पर इतना अधिक ताप कहाँ से प्राप्त हो जाता है। इस समस्या के निदान के लिये कुछ विद्वानों का कथन है कि धरातल से 5000 फीट की गहराई पर तप्त मैगमा की स्थिति है। यह मैगमा शीतल होता है तो सिकुड़न के कारण उससे गर्म गैस ऊपर की तरफ छिद्र से होकर प्रवाहित होती है तथा ऊपर स्थित शैल एवं जल को गर्म करती है।

(3) जल तथा ताप में संतुलन—गेसर तथा गर्म जलस्रोत का क्रमशः सविराम तथा अविरल रूप से प्रवाहित

होना प्रत्यक्ष रूप से जल की पूर्ति से सम्बन्धित है। यदि जल की पूर्ति लगातार होती रहती है तो गर्म जलस्रोत का आविर्भाव होता है जिसमे सतत गर्म जल का प्लावन होता रहता है। परन्तु जब जल की पूर्ति बराबर न होकर सामयिक होती है तो गेसर का निर्माण होता है। दोनो ही दशाओं मे जल तथा ताप के बीच सतुलन का होना आवश्यक है। यदि ताप की मात्रा से जल की मात्रा अधिक होगी तो जल का क्वथनांक (Boiling point) नही आ पायेगा तथा जल वाष्प रूप मे परिणित नही हो पायेगा। फलस्वरूप गेसर या गर्म जलस्रोत का आविर्भाव नही हो पायेगा। इसके विपरीत जब जल की मात्रा न्यून परन्तु ताप अत्यधिक होगा तो समूचा जल वाष्प मे बदल जायगा तथा गेसर से केवल वाष्प ही निकल पायेगी गर्म जल नही। इस कारण जल की मात्रा तथा ताप मे एक ऐसा सम्बन्ध या अनुपात रहना चाहिये जिससे उस ताप पर जल का कुछ भाग वाष्प तथा गैस बन सके जिसमे अन्य गर्म जल ऊपर तक आ सके। जब जल की पूर्ति अविरल (Constant) नही होती है तो गेसर के एक उद्गार के बाद ही गेसर-नली रिक्त हो जाती है तथा पुन जल के एकत्रीकरण की प्रतीक्षा करती है। जब पुन जल एकत्र हो जाता है तो द्वितीय उद्गार होता है।

(4) गेसर-नली तथा जल-भण्डार—गेसर के आविर्भाव के लिये गेसर नली का होना परमावश्यक है। परन्तु धरातल पर इसका ऊपरी भाग ही दृष्टिगत हो पाता है। गेसर की नली एक सीधी नली के रूप मे न होकर टेढी-मेढी होती है। धरातल के नीचे कई बिखरे हुए छिद्र, गुफायें तथा दरार होती है जिनमे जल एकत्र होता है। ये ही जल-भण्डार कहे जाते हैं। गेसर-नली का सम्बन्ध इन सभी जल-भण्डारो मे होता है। गेसर नली की लम्बाई भिन्न-भिन्न स्थानो पर भिन्न-भिन्न होती है। सयुक्त राज्य के "यलोस्टोन नेशनल पार्क" मे गेसर-नली की औसत लम्बाई 400 फीट होती है।

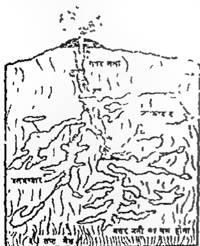
(5) गेसर की सविराम सक्रियता (Intermittent Action of a Geyser)—गेसर की सक्रियता के सबन्ध मे प्रमुख विद्वान बनसेन ने अपना सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। बनसेन के अनुसार गेसर की सविराम सक्रियता इस तथ्य पर आधारित है कि बढते हुए दबाव के साथ जल का उबाल विन्दु (Boiling point) भी बढ जाता है। चूंकि गेसर-नली मे जल की स्थिति ने उसके निचले भाग मे जल का दबाव अधिक होता है अत जल के उबलने के लिये अधिक ताप की आवश्यकता होती है। यहां पर यह उल्लेखनीय है कि गेसर-नली के जल तथा वर्तमान ताप मे एक निश्चित सम्बन्ध का होना आवश्यक है। उदाहरण के लिये यदि नली मे जल कम वरन् वहाँ पर ताप अधिक होगा तो समस्त जल वाष्प तथा गैस मे बदल जायेगा। इसी प्रकार यदि ताप की अपेक्षा जल की मात्रा अधिक है तो जल मे उबाल (खौलना) नही आयेगा तथा गेसर सक्रिय नही हो पायेगा। इस प्रकार ताप के अनुसार जल इतना होना चाहिये कि उसका "उबाल-बिन्दु" आ जाय तथा वाष्प के साथ जल उछलने लगे।

यह स्मरणीय है कि गेसर के उद्गार की प्रमुख शक्ति वाष्प ही है जिससे उद्वेलित होकर जल ऊपर आता है। अत गेसर-नली मे पर्याप्त वाष्प का निर्माण होना आवश्यक है। 1—सर्वप्रथम धरातलीय भाग से जल रिस कर धरातल के नीचे छोटे-छोटे छिद्रो मे जमा होने लगता है। पुन जब इनका सम्बन्ध एक ऊर्ध्वाकार नली से होता है तो समस्त जल इस नली, जिसे गेसर-नली कहते हैं, मे पहुँच जाता है। 2—द्वितीय अवस्था मे गेसर-नली के नीचे स्थित तप्त चट्टानो (ये चट्टाने गहराई मे स्थित तप्त मैगमा से निस्सृत तप्त गैसो द्वारा तप्त होती हैं) से गेसर की नली का निचला भाग गर्म होकर उबलने लगता है। फलस्वरूप निर्मित गैस के कारण गेसर-नली का कुछ जल ऊपर की तरफ प्रवाहित होता है जिससे गेसर-नली मे "द्रव स्थैतिक तुलन दाब" (Hydrostatic pressure) कम हो जाता है। इस कारण और अधिक जल (उबाल बिन्दु के नीचा होने से) उबल कर वाष्प मे परिणत हो जाता है। फलस्वरूप गेसर-नली मे जल "अ" के बाद "स" स्थान पर पहुँच जाता है। (चित्र 158)। 3—तृतीय अवस्था मे दबाव मे पुन ह्रास होने से अधिकाश जल गर्म होने लगता है तथा गेसर-नली के 'द' बिन्दु तक जल तप्त हो जाता है। 4—अन्तिम अवस्था मे गेसर-नली का सभी जल गर्म हो जाता है तथा उनका उबाल आ जाता है। फलस्वरूप समस्त गेसरनली वाष्प तथा गैस के बुलबुले से युक्त हो जाती है। गैस तथा वाष्प ऊपर की तरफ प्रवाहित होती है तथा 5—तीव्रता के साथ जल को नीचे से ढकेलती है, जिस कारण गेसर का उद्गार प्रारम्भ होता है। यह क्रिया तब तक चलती रहती है जब तक गेसर-नली मे जल तथा वाष्प रहती है।। 6—जब कभी वाष्प तथा जल गेसर-नली से निकल आता है तो गेसर-नली के खाली हो जाने से गेसर का उद्गार बन्द हो जाता है तथा अवकाश या विराम-काल आ

जाता है। पुन जल भण्डारो तथा गेसर-नली मे एकत्र होने लगता है। जल गर्म होकर वाष्प के साथ पुन., ऊपर आता है। इस प्रकार विराम-काल के बाद गेसर-पुनः सक्रिय हो जाता है। यही क्रिया बार-बार होती रहती है। गेसर का सक्रियता काल तथा विराम-काल, जल की पूर्ति तथा ताप की मात्रा पर एव गेसर-नली के आकार एवं विस्तार पर आधारित होता है। यदि गेसर नली विस्तृत है तथा जल पर्याप्त है तो गेसर अधिक समय तक सक्रिय रहता है। इसी प्रकार यदि जल की पूर्ति शीघ्र हो जाती है तो विराम-काल शीघ्र समाप्त हो जाता है।

गेसर का जमाव (Geyser Deposit)

गेसर के उद्गार के साथ कई प्रकार के खनिज मिश्रण के रूप मे वर्तमान होते है। ये खनिज वास्तव मे जल के साथ घोल के रूप मे मिले होते हैं तथा ये खनिज उन चट्टानो के अंश होते हैं जिनसे होकर धरातलीय जल रिसकर धरातल के नीचे पहुँचता है। उस समय घोलीकरण (Solution) की क्रिया के कारण चट्टानो के घुलनशील खनिज पदार्थ जल के साथ मिल जाते है तथा गेसर के उद्गार के समय ऊपर प्रकट होते है। यही कारण है कि प्रत्येक गेसर मे विस्तृत खनिज पदार्थ तथा जमाव सामान्य नही होते है। उदाहरण के लिए यलोस्टोन नेशनल पार्क मे धरातलीय जल सिलिका युक्त आग्नेय चट्टानो से होकर नीचे की तरफ पहुँचता है। अत इस क्षेत्र के गेसर के उद्गार के समय गर्म जल से गेसर-छिद्र के चारो तरफ सिलिका का जमाव हो जाता है। इस प्रकार के जमाव को गेसराइट कहते है. जब इसमे अलगाइ की उपस्थिति होती है तो गेसराइट



चित्र 158—गेसर (Geyser)।

मे तरह-तरह के रग आ जाते है। जब धरातलीय जल चूने के पत्थर नामक चट्टान से होकर नीचे जाता है तो लाइम-स्टोन का कैलसियम कार्बोनेट जल के साथ मिल जाता है तथा गेसर के उद्गार के बाद ऊपर प्रकट होता है। मैमथ हाटस्प्रिंग मे इसी तरह का जमाव होता है।

जब निसृत गर्म जल का वाष्पीकरण हो जाता है तथा वह शीघ्र ठडा हो जाता है तो दबाव के कम हो जाने से तथा घुलनशील शक्ति के कम हो जाने पर जल के साथ मिले खनिज पदार्थ जमा होने लगते हैं। गेसर-जमाव, भौगोलिक दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण नही होते हैं क्योकि ये अत्यन्त लघु होते हैं तथा शीघ्र ही अपरदन द्वारा नष्ट हो जाते है। कभी-कभी गेसराइट का जमाव 5 से 10 फीट तक ऊँचा होता है तथा जब जमाव मे लगातार वृद्धि होती रहती है तो छोटे शकु की रचना होती है। इसे गेसर शंकु कहते हैं।

धुँआरे (Fumaroles)

धुँआरे अथवा धूम्रछिद्र लैटिन भाषा के "फ्यूमरोल" शब्द से लिया गया है, जिसका तात्पर्य ऐसे छिद्र से होता है जिसके सहारे गैस तथा वाष्प निकला करती हैं। दूर से देखने से ऐसा लगता है मानो जोरो से धुँआ ही धुँआ निकल रहा है। इसी कारण से इन्हें धूम्रछिद्र अथवा धुँआरे कहते है। वास्तव मे धुँआरे का सीधा सम्बन्ध ज्वालामुखी-क्रिया से होता है। जब ज्वालामुखी के उद्गार से लावा, राख, विखण्डित पदार्थ आदि का निकलना समाप्त हो जाता है तो कभी-कभी अवकाश के बाद तथा कभी-कभी लगातार गर्म वाष्प तथा गर्म गैसें निकलती हैं। धुँआरे के उद्गार की प्रक्रिया के विषय मे बताया जा सकता है कि ज्वालामुखी के उद्गार के बाद मैग्मा के ठडा होने पर लावा सिकुड़ने से गर्म गैस तथा वाष्प का निर्माण होता है जो ऊपर की तरफ एक सँकरी नली से होकर धरातल पर प्रकट होती है। धुँआरे ज्वालामुखी की सक्रियता के अन्तिम लक्षण भी माने जा सकते हैं।

धुँआरे का विस्तृत क्षेत्र अलास्का मे कटमई ज्वालामुखी के समीप कई वर्गमील क्षेत्र मे पाया जाता है। इस क्षेत्र के धुँआरे अत्यधिक मात्रा मे एक घाटी के समूह के रूप मे पाये जाते हैं। इस धुँआरे की घाटी को 'दस सहस्र धूम्र घाटी" (A valley of ten thousand smokes) कहते है। यहाँ पर घाटी के निम्न तली से इतनी अधिक मात्रा मे धुँआरे प्रकट होते है कि उनकी निश्चित सख्या बताना नितान्त कठिन कार्य है।

इस घाटी मे धुंआरे निश्चित दरार के सहारे पाये जाते हैं। वे छिद्र जिनसे होकर वाष्प तथा गैस का विसर्जन होता है, आकार मे प्रायः वे छोटे-छोटे होते है। साधारण तौर पर 10 फीट चौड़े धूम्रछिद्र पाये जाते है। अन्य स्थानो पर धुंआरे की स्थिति दरार या फटन के सहारे न होकर ज्वालामुखी-क्रेटर पर होती है अथवा वाह्य ज्वालामुखी गुम्बदो पर होती है।

गेसर एव गर्म जलस्रोत की अपेक्षा धुंआरे द्वारा निस्सृत वाष्प का तापमान बहुत अधिक होता है। गैस का यह तापमान 645° सेण्टीग्रेट तक होता है। गैस तथा वाष्प के अत्यधिक तापमान का आभास इस तथ्य से हो जाता है कि सर्वप्रथम जब ये गैसे तथा वाष्प बाहर निकलती है तो अदृश्य होती हैं परन्तु इनमे लकडी की पतली शहतीरे डाली जाँय तो ये शीघ्र प्रज्ज्वलित हो जाती है। सभी धुंआरे से निस्सृत पदार्थों एव गैसो मे वाष्प का प्रतिशत सर्वाधिक (98 4 से 99 99 प्रतिशत) होता है। धुंआरे के साथ अन्य गैस का भी विसर्जन होता है जिनमे महत्त्वपूर्ण गैसे इस प्रकार है—कार्बन-डाई-आक्साइड हाइड्रोक्लोरिक एसिड, हाइड्रोजन सल्फाइड, नाइट्रोजन तथा कुछ अक्सीजन एवं अमोनिया।

धुंआरे के साथ वाष्प तथा गैस के साथ-साथ कुछ खनिज पदार्थ भी निस्सृत होते हैं। इनमे प्रमुखता गन्धक की होती है। ऐसे धुआरे जिनसे अधिक मात्रा मे गन्धक निकलता है उन्हे "गन्धकीय धुंआरे" अथवा सोलफतारा कहते है। इटली मे नेपल्स नगर के पास सोलफतारा नामक गन्धकीय धुंआरा है जिससे सदैव गन्धकीय धुंआ निकला करता है। इसी आधार पर ऐसे धुआरे, जिनसे गन्धक का धुंआ निकलता है, सोलफतारा कहे जाते हैं। विश्व के प्रमुख धुआरो मे, अलास्का का "दस सहस्र धूम्र घाटी", ईरान का "कोह्सुल्तान धुंआरा" तथा न्यूजीलैंड की प्लेन्टी की खाडी मे "ह्वाइट टापू का धुंआरा" आदि प्रसिद्ध है।

धुंआरे की वाष्प तथा गैस की उत्पत्ति के विषय मे यह निश्चितता से कहा जा सकता है कि यह ज्वालामुखी-क्रिया से सम्बन्धित है तथा तप्त मैगमा से निस्सृत वाष्प एवं गैस की बहुतायत होती है। इसके प्रमाण मे मे यह बताया जाता है कि इनकी सक्रियता मे ऋतुवत परिवर्तन नही पाया जाता है कि इसके होते हुए भी धुंआरे की वाष्प मे धरातलीय जल का कुछ भाग अवश्य रहता है। धुंआरे अत्यन्त मनमोहक आकर्षक दृश्यावली उपस्थित करते है। इसके साथ ही साथ इनका आर्थिक उपयोग भी होता है। इनमे निस्सृत पदार्थो मे महत्त्वपूर्ण गन्धक तथा बोरिक एसिड प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार गर्म वाष्प तथा गैसो को गहरे गड्ढो मे एकत्रित करके विद्युत उत्पन्न करके उनका प्रयोग आर्थिक प्रयोजनो के लिए किया जाता है। इटली के टस्कनी प्रान्त मे इस विधि से बिजली प्राप्त की जाती है जिसका प्रयोग आस पास के नगरो (पिसा, फ्लोरेन्स, नेपल्स आदि) मे प्रकाश तथा शक्ति के लिए किया जाता है। संयुक्तराज्य अमेरिका के कैलिफोर्निया मे धुंआरे द्वारा 650 फीट गहरे गड्ढे मे बिजली उत्पन्न की जाती है। जब गैस एवं वाष्प अत्यधिक तीव्रता से प्रकट होती है तो उनसे सीधे बिजली पैदा की जाती है। गड्ढे खोदने की आवश्यकता नहीं होती है।

अध्याय 12

पर्वत-निर्माण के सिद्धान्त

(Theories of Mountain-Building)

सामान्य परिचय—पर्वत-निर्माण से सम्बन्धित सिद्धान्तों की व्याख्या के पहले भूपटल के वलित (folded) पर्वतों की प्रमुख विशेषताओं का संक्षिप्त अवलोकन आवश्यक है। भूपटल के प्राय सभी मोड़दार पर्वत परतदार चट्टानों के बने हुये हैं जिनमें जीवावशेष प्रायकर सागरीय जीवों के अवशेष मिलते हैं। दवाव तथा वलन की अधिकता के कारण परतदार चट्टानों में रूपान्तरण भी पर्याप्त मात्रा में हुआ है भूपटल के पर्वतों के वितरण के सम्बन्ध में दो तथ्य ध्यान देने योग्य है। प्रथम यह कि अधिकाश पर्वत महाद्वीपों के किनारे वाले भाग पर पाये जाते हैं तथा ये महाद्वीपीय किनारों के समानान्तर सागर के सामने स्थित है। राकीज, एण्डीज (उत्तरी तथा दक्षिणी अमेरिका के पश्चिमी किनारे पर प्रशान्त महासागर के सामने), अल्पाइन पर्वत (यूरोप के दक्षिणी किनारे पर भूमध्यसागर के सामने), एटलस पर्वत (अफ्रीका के उत्तरी-पश्चिमी किनारे पर रूमसागर के सामने), एशिया के पूर्वी किनारे के पर्वत आदि इसके प्रमुख उदाहरण हैं। केवल हिमालय इस प्रणाली के अन्तर्गत नहीं आ पाता है। परन्तु यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो यह भी टेथीज सागर के सामने ही था तथा बाद में उस गर्त के भर जाने पर सिन्धु-गंगा का मैदान बन गया। दूसरा यह कि भूपटल के पर्वतों का वितरण तथा फैलाव दो दिशाओं में मिलता है। प्रथम प्रणाली में ये उत्तर से दक्षिण दिशा में मिलते है, जैसे राकीज, एण्डीज आदि। दूसरी प्रणाली के अन्तर्गत अधिकाश पर्वत पश्चिम-पूर्व दिशा में विस्तृत हैं। उदाहरण के लिये यूरोप के अल्पाइन पर्वत, एशिया के अल्पाइन पर्वत (हिमालय आदि)।

इसी प्रकार यदि पर्वत-निर्माणकारी घटना तथा हलचल पर दृष्टिपात किया जाय तो स्पष्ट हो जायेगा कि पर्वत-निर्माण चक्रीय रूप में (Cyclic origin of the mountain) सम्पन्न हुआ है। अर्थात् समस्त भूगर्भिक इतिहास में कुछ ऐसे युग रहे हैं जिनमें हलचल अथवा अन्य कारणों से पृथ्वी के सतह पर पर्वतों का सृजन हुआ। इसे पर्वत-निर्माणकारी युग या पर्वत निर्माणकारी हलचल कहा जाता है। यह भी स्मरणीय है कि पर्वत-निर्माणकारी घटनायें सदैव सक्रिय नहीं रही हैं। दो पर्वत-निर्माणकारी घटनाओं के मध्य एक ऐसा युग या समय आया है, जिस समय पर्वतों के निर्माण नहीं हुये हैं। इन युगों को शान्त-काल (Period of quiescence) कहा जाता है। अध्ययन के आधार पर यह भी स्पष्ट हो गया है कि प्रत्येक शान्त-काल लगभग समान अवधि वाला था। भूगर्भवेत्ताओं के अनुसार अब तक भूगर्भिक इतिहास में चार प्रमुख पर्वत-निर्माणकारी युगों का पता लगाया जा चुका है— 1 **प्रीकैम्ब्रियन पर्वतीकरण 2 कैलिडोनियन पर्वतीकरण 3 हर्सीनियन या वारिस्कन-पर्वतीकरण तथा 4. टर्शियरी अथवा अल्पाइन पर्वतीकरण**। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि **"भूपटल के पर्वतों का निर्माण एक निश्चित प्रक्रिया तथा उनका वितरण एक निश्चित प्रणाली के अनुसार हुआ है।"** पर्वत-निर्माण से सम्बन्धित किसी भी सिद्धान्त की व्याख्या के समय इन तथ्यों का स्पष्टीकरण होना आवश्यक है अन्यथा सिद्धान्त अनुपयुक्त करार दिया जा सकता है।

एक समस्या और उठती है, पर्वतों के निर्माण के विषय में प्रचलित विविध सिद्धान्तों की। आखिर यह सवाल अनायास ही उठता है कि पर्वतों के निर्माण के विषय में इतने विविध तथा परस्पर विरोधी सिद्धान्तों का प्रतिपादन क्यों किया गया है? इसका एकमात्र कारण यह था कि प्रारम्भ में (1960 के पूर्व तक) सभी पर्वतों की विभिन्न सरचना तथा भूगर्भ के विषय में वैज्ञानिक विवरण का अभाव सा था। उस समय तक कुछ सीमित पर्वतों की सरचना का जो कुछ भी अध्ययन किया गया था वह भी पूर्ण नहीं था। "यह भी सत्य है कि भूपटल के मोड़दार पर्वत यद्यपि समान हैं परन्तु एक से नहीं है।" इस प्रकार यदि एक पर्वत की सरचना का अध्ययन हो भी जाय तो उसके आधार पर अन्य पर्वतों के विषय की सरचना की बनावट में पर्याप्त अन्तर मिलता है। इतना ही नहीं एक पर्वत-क्रम (Mountain system) की विभिन्न श्रेणियों की सरचना में भी पर्याप्त अन्तर देखा गया है। इस प्रकार की कठिनाइयों के होते हुए सभी पर्वतों के लिये सामान्य (Common theory का प्रतिपादन करना कठिन कार्य था।

पर्वत-निर्माण के विषय में एक और महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि जिस तरह पर्वत निर्माणकारी घटना समस्त भूगर्भिक इतिहास मे सक्रिय न होकर कुछ विशिष्ट युगो मे ही क्रियाशील रही उसी प्रकार पर्वतो का निर्माण भूपटल पर सर्वत्र न होकर कुछ निर्दिष्ट स्थानो तक ही सीमित है।[1]

इस प्रकार दूसरे शब्दो मे कहा जा सकता है कि **"पर्वतों का निर्माण भूगर्भिक इतिहास के कुछ निर्दिष्ट समयो मे भूपटल के कुछ स्थानों पर ही हुआ है।"** प्राय. यह विश्वास किया जाता है कि पृथ्वी के प्रारम्भिक भूगर्भिक इतिहास मे पर्वत-निर्माण की प्रक्रिया, बाद वाली प्रक्रिया मे सम्भवत भिन्न रही होगी। अर्थात् प्रारम्भिक समय मे पर्वतो के निर्माण की क्रिया एक साधारण प्रक्रिया रही होगी जिसके अन्तर्गत पर्वतो का सृजन भूपटल मे सकुचन तथा मरोड उत्पन्न होने (Contraction and buckling or creasing) से हुआ होगा परन्तु बाद मे भूसन्नतियो मे तलछटीय जमाव के पश्चात् पर्वत-निर्माण दबाव की शक्ति से पेरित होकर वलन की क्रिया (Folding process) द्वारा हुआ होगा। यहां पर यह उल्लेखनीय है कि यह सम्भावना मात्र ही है। इसके विषय मे निश्चित प्रमाण उपलब्ध नही हैं। वर्तमान समय मे प्लेट विवर्तन सिद्धान्त के आधार पर यह स्पष्ट हो गया है कि प्रत्येक भूगर्भिक काल मे पर्वत-निर्माण की प्रक्रिया एक जैसी ही रही है (देखिये इस पुस्तक का अध्याय 8)।

पर्वत-निर्माण से सम्बन्धित अगली समस्या तथाकथित बल (Force) की है। पर्वत-निर्माण के लिये किसी न किसी प्रकार की शक्ति की आवश्यकता अवश्य पडती है। अनेक विद्वानो ने अपने सिद्धान्तो मे इस विषय पर अपने अलग अलग मत प्रस्तुत किये है। प्रश्न उठता है, पर्वतो का निर्माण क्षैतिज बलो (Horizontal forces or movement) द्वारा हुआ अथवा लम्बवत्? अधिकांश विद्वानो ने अपने सिद्धान्तो मे **क्षैतिज गति तथा पार्श्विक स्पर्शीय बल** (Frontal tangential forces) को ही स्थान दिया है। इस प्रकार पर्वत-निर्माण के सिद्धान्तो को दो वर्गों मे रखा जा सकता है। 1. प्रथम वर्ग के अन्तर्गत उन सिद्धान्तों को रखा जाता है जिनके अनुसार भूपटल पर पर्वतो का निर्माण धरातलीय क्षैतिज गति के कारण भूपटल मे सिकुडन तथा मरोड, ऐंठन एव वलन होने से हुआ है। यह वर्ग अधिक सशक्त है तथा इसके अन्तर्गत सम्मिलित किये गये सिद्धान्तो के कुछ अंश अधिक विश्वासजनक है 2. दूसरे वर्ग के अन्तर्गत उन सिद्धान्तो का अध्ययन किया जाता है जिनके अनुसार पर्वतो का निर्माण लम्बवत या ऊर्ध्वाकार गति के द्वारा हुआ माना जाता है। यहां पर प्रत्येक वर्ग का संक्षिप्त विश्लेषण प्रस्तुत किया जा रहा है।

1 लम्बवत गति पर आधारित सिद्धान्त—सर्वप्रथम 1930 ई० मे **हरमन** महोदय ने बताया कि पर्वतो का निर्माण भूपृष्ठ (Crust) के नीचे उत्पन्न लम्बवत गतियों के फलस्वरूप होता है। इसी आधार पर इन्होंने पर्वत-निर्माण का **"दोलन तरंगित सिद्धान्त"** (The undulation and oscillation theory) का प्रतिपादन किया है। **हरमन** के अनुसार पर्वत-निर्माण दो क्रियाओ के फलस्वरूप होता है। प्रथम क्रिया अर्थात् "प्रारम्भिक भूगर्भिक निर्माण" के अनुसार भूपटल ऊपर उठता है तथा दूसरी क्रिया—'भूगर्भिक निर्माण क्रिया" के कारण भूपटल-अभाग मे एकत्रित अवसाद मे ऊर्ध्व-संचलन (Vertical movement) होने से पर्वतो का निर्माण होता है। इसके अलावा **वेलो विलिस** तथा **वेमीलीन** महोदयो ने **हरमन** के सिद्धान्त का समर्थन किया परन्तु कुछ सुधार तथा परिवर्तन के साथ। वर्तमान समय मे इस सिद्धान्त के समर्थक कम है तथा इसको मान्यता नही मिलती है। परन्तु प्लेट विवर्तन सिद्धान्त के अनुसार **अभिसरण मण्डल** के सहारे मैण्टिल से मैगमा के ऊपर उठने से भी पर्वतीय निर्माण की बात कही गई है।

2. क्षैतिज अथवा पार्श्विक गति पर आधारित सिद्धान्त—जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि इस सिद्धान्त के अनुसार धरातलीय अथवा क्षैतिज सचलनो द्वारा भूपटल मे वलन होने से ही पर्वतो का निर्माण होता है। इस वर्ग के अन्तर्गत भी कई विचारधारायें प्रचलित हैं तथा ये मुख्य रूप मे क्षैतिज गति के उत्पन्न होने तथा उसके कार्यान्वित होने की प्रक्रिया से सम्बन्धित है। इस वर्ग को दो उपश्रेणियो मे रखा जा सकता है। 1 प्रथम वर्ग के अन्तर्गत उन सिद्धातो को सम्मिलित

1. Mountain building on one hand is localized in particular periods of time and on the other hand is confined to certain localized region separated by wide areas of less disturbance.
2 संचलन।

किया जाता है जिनमे क्षैतिज गतियाँ पृथ्वी के आन्तरिक भाग मे उत्पन्न होने वाली शक्ति से प्रेरित होती हैं। उदाहरण के लिये "सम्वाहन तरंग सिद्धान्त" (Convection current Theory) को उपस्थित किया जा सकता है। 2 दूसरे वर्ग के अन्तर्गत उन सिद्धान्तो का अध्ययन किया जाता है जिनमे क्षैतिज गति पृथ्वी की पपडी मे उत्पन्न होती है। उदाहरण के लिये "सकुचन सिद्धान्त" (Contraction Theory)। इस क्षैतिज गति के उत्पन्न होने के आधार पर इस वर्ग को पुन दो उप भागो मे विभाजित किया जा सकता है। 1. प्रथम वर्ग के अन्तर्गत क्षैतिज गति भूपटल मे सकुचन उत्पन्न होने से होती है। 2 द्वितीय वर्ग के अनुसार इस गति का आविर्भाव "महाद्वीपीय प्रवाह" के कारण होता है। इन दो वर्गों का यहाँ पर सक्षिप्त उल्लेख किया जा रहा है—

1 संकुचन सिद्धान्त (Contraction Theory)—वास्तव मे "पृथ्वी के ठडा होने की क्रिया पर आधारित संकुचन सिद्धान्त सर्वाधिक परिचित तथा सर्वविदित सिद्धान्त है तथा कुछ हद तक आशिक रूप मे ग्राह्य भी है।" यद्यपि सकुचन सिद्धान्त की कटु आलोचना की गई है तथापि इससे पर्वत-निर्माण के विषय मे कई विश्वास-जनक तथ्यो का बोध होता है। लेखक के उपर्युक्त व्यक्तिगत विचारो का यह तात्पर्य नहीं है कि लेखक संकुचन सिद्धान्त का समर्थक है। वास्तव मे सकुचन सिद्धान्त से भूपटल की कई समस्याओं का निराकरण नही हो पाता है। कहीं-कहीं पर तो सिद्धान्त एकदम अग्राह्य है। इन तथ्यो का उल्लेख जेफ्रीज के "तापीय संकुचन सिद्धान्त" की व्याख्या के समय किया जायगा।

सर्वप्रथम सकुचन सिद्धान्त का प्रतिपादन अमेरिका के भूगर्भवेत्ता डाना ने 1847 ई० मे तथा यूरोप के भूगर्भशास्त्री 'इली डी ब्यूमाउण्ट' ने 1852 ई० मे किया था। सकुचन सिद्धान्त सामान्य रूप मे पृथ्वी के शीतल होने की प्रक्रिया पर आधारित है। अपनी उत्पत्ति के बाद पृथ्वी के ऊपरी भाग से धीरे-धीरे विकिरण द्वारा ताप का ह्रास होता गया जिस कारण पृथ्वी शीतल होने लगी तथा एक निश्चित समय के बाद पृथ्वी की ऊपरी पपडी पूर्ण रूपेण शीतल हो गयी परन्तु उसके नीचे की परतों मे क्रमानुसार ताप ह्रास होने से शीतलता आने लगी। इस प्रकार ऊपर की पपडी नीचे शीतल होने से सिकुडती हुई परत से बडी होने के कारण उसके ऊपर ध्वस्त (Collapse) होने लगी। इस कारण ऊपरी पपडी मे झुरियाँ पड जाने के कारण पर्वतों का निर्माण हुआ माना जाता है। कोबर, टी० सी० चेम्बरलिन, स्टीज, एडवर्ड स्वेस महोदय आदि विद्वान इस मत के समर्थक हैं। वर्तमान समय मे सकुचन सिद्धान्त मान्य नही है क्योकि इस सिद्धान्त का मूलभूत आधार (पृथ्वी का विकिरण द्वारा ताप ह्रास होने से शीतल होना) ही रेडियो सक्रिय तत्वों (Radioactive elements) के आधार पर गलत प्रमाणित हो जाता है। विद्वानो ने कई ऐसे रेडियो सक्रिय पदार्थों का पता लगाया है जिनके विघटन तथा वियोजन से पृथ्वी के आन्तरिक भाग मे ताप उत्पन्न होती रहती है। अत पृथ्वी के शीतल होने का प्रश्न ही नही उठता है। इस सिद्धान्त का प्रमुख आशय यह है कि पृथ्वी के शीतल होने से उसमे सकुचन होता है जिससे उत्पन्न क्षैतिज तथा पार्श्विक गतियों से पर्वत-निर्माण होता है।

2 महाद्वीपीय प्रवाह-सिद्धान्त (Continental Drift Theory)—इस विचारधारा का विशद वर्णन "महाद्वीपो तथा महासागरों की उत्पत्ति" तथा 'प्लेट विवर्तनिकी' वाले अध्यायो मे किया जा चुका है। यहाँ पर यह पुन जान लेना आवश्यक है कि यह सिद्धान्त "सकुचन सिद्धान्त" का कट्टर आलोचक है। महाद्वीपीय भागो मे प्रवाह तथा विस्थापन होने से क्षैतिज पार्श्विक गतियाँ उत्पन्न होती है जिनसे सम्पीडन होने पर पर्वतो का निर्माण होता है। यहाँ पर समस्या केवल महाद्वीपीय प्रवाह की प्रक्रिया की है। अर्थात् किस रूप मे तथा किस शक्ति से प्रेरित होकर महाद्वीपीय प्रवाह होता है? महाद्वीपीय विस्थापन (Continental displacement) सिद्धान्त के प्राय प्रत्येक विद्वानो ने महाद्वीपीय प्रवाह के लिये अलग-अलग शक्तियो का प्रतिपादन किया है। उदाहरण के लिये वेगनर का "प्रवाह सिद्धान्त" चन्द्रमा की ज्वारीय शक्ति तथा गुरुत्वाकर्षण की शक्ति (Differential gravitational force) एव प्लवनशीलता की शक्ति (Force of buoyancy) पर आधारित है। इनमे प्रथम शक्ति के कारण महाद्वीपों का पश्चिम की ओर तथा दो अन्य शक्तियो द्वारा भूमध्यरेखा की ओर या उत्तर की ओर प्रवाह हुआ है। इसी प्रकार जोली महोदय का "प्रवाह-सिद्धान्त" रेडियो-सक्रिय पदार्थों की शक्ति पर, डेली महोदय का सिद्धान्त गुरुत्वाकर्षण शक्ति से प्रेरित होकर महाद्वीपो के खिसकने की शक्ति पर तथा आर्थर होम्स का सिद्धान्त भूगर्भ मे सम्वाहनीय धाराओ पर आधारित है।

अब समस्या उठती है कि क्या उपर्युक्त वर्णित शक्तियाँ पर्वत-निर्माण मे पूर्णतया सहायक हुई हैं ? इस समस्या का समाधान तथा उस पर आलोचनात्मक विवरण तभी दिया जा सकता है जब कि प्रत्येक सिद्धान्त का विश्लेषण अलग-अलग कर लिया जाय। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वर्तमान समय तक विभिन्न विद्वानो द्वारा वर्णित पर्वत-निर्माणकारी शक्तियाँ भूपटल के पर्वतों की उत्पत्ति को पूर्ण रूपेण बताने मे असमर्थ ही हैं क्योकि अब तक किसी भी ऐसी शक्ति का उल्लेख नही किया जा सका है (प्लेट विवर्तन सिद्धान्त को छोड कर) जो कि इस समस्या का निदान पूर्ण रूप से कर सके। सर्वप्रथम हम पर्वत-निर्माण से सम्बन्धित कुछ सिद्धान्तो का संक्षिप्त आलोचनात्मक विवरण उपस्थित करेंगे। प्रत्येक सिद्धान्त का विश्लेषण एक निश्चित प्रक्रिया तथा प्रणाली के अनुसार किया जायेगा। अर्थात् सर्वप्रथम यह देखना है कि सिद्धान्त के प्रतिपादक का उस सिद्धान्त के प्रतिपादन मे मुख्य उद्देश्य क्या था ? प्राय प्रत्येक विद्वान ने किसी न किसी उद्देश्य को लेकर तथा किसी समस्या विशेष के समाधान के लिए ही अपने मत का प्रतिपादन किया है। उदाहरण के लिए वेगनर महोदय का महाद्वीपीय प्रवाह सिद्धान्त" के प्रतिपादन के समय पर्वत-निर्माण की समस्या का उद्देश्य कदापि नही था। मुख्य उद्देश्य तो जलवायु मे परिवर्तन कार्बोनिफरस हिमानीकरण की समस्या का निदान तथा वनस्पतियो (ग्लोसोप्टेरीय) के वितरण से सम्बन्धित था। पर्वत-निर्माण की कल्पना तो बाद मे आ गयी। इस प्रकार वेगनर के सिद्धान्त मे पर्वत-निर्माण का उद्देश्य गौण था। यही कारण है कि मुख्य समस्या (पर्वत-निर्माण) का निदान इस सिद्धात के अनुसार नही हो पाता है।

सिद्धान्त के विश्लेषण का दूसरा शीर्षक सिद्धान्त मे प्रयुक्त शक्ति से सम्बन्धित होगा। अर्थात् किसी विद्वान विशेष ने अपने सिद्धान्त मे पर्वत-निर्माण के लिये उत्तरदायी किस शक्ति का प्रतिपादन किया है। उस शक्ति की क्षमता का भी आलोचनात्मक विश्लेषण किया जायेगा। तृतीय शीर्षक सिद्धान्त की प्रक्रिया (Process of the theory) से सम्बन्धित होगा अर्थात् विस्तृत रूप मे यह देखना है कि सिद्धान्त के कितने पहलू (Aspects) है तथा उन्हे उसके प्रवक्ता ने किस प्रकार क्रियान्वित किया है। इसी शीर्षक के अन्तर्गत प्रारम्भ मे प्रवक्ता विशेष द्वारा प्रयुक्त मान्यताओ तथा कल्पनाओ (Axioms & deductions), जिनके ऊपर सिद्धान्त का कार्य (Function of the theory) आधारित है का भी उल्लेख किया जायगा। सबसे अन्तिम शीर्षक "सिद्धान्त की आलोचना" होगा। इस शीर्षक के अन्तर्गत समस्त सिद्धान्त का मूल्यांकन तथा उसकी सामर्थ्य का विश्लेषण किया जायेगा। यद्यपि 1960 के बाद से प्लेट विवर्तन सिद्धान्त के आधार पर भूपटल के विभिन्न युगों के सभी प्रकार के पर्वतो के निर्माण की समस्या का निदान हो गया है तथापि ऐतिहासिक तथा शैक्षिक दृष्टिकोण से अन्य सिद्धान्तों का विश्लेषण आवश्यक है।

(1) कोबर का पर्वतनिर्माणक भूसन्नति सिद्धान्त (Kober's Geosynclinal Orogen Theory)

सामान्य परिचय (सिद्धान्त का उद्देश्य तथा प्रयुक्त शक्ति)

प्रसिद्ध जर्मन भूगर्भवेत्ता कोबर ने अपनी पुस्तक "Der Bau der Erde" मे भूपटल के विभिन्न भागो का क्रमबद्ध तथा तर्कपूर्ण विवरण उपस्थित किया है। कोबर ने अपने "भूसन्नति सिद्धान्त" के आधार पर न केवल भूपटल के पर्वतो की उत्पत्ति की व्याख्या उपस्थित की है वरन् पर्वत-निर्माण के सभी पहलुओ (उनकी रचना भूगर्भिक इतिहास तथा विकास आदि) का उल्लेख तो किया ही है साथ ही साथ महाद्वीपो तथा महासागरो की रचना एवं उनके विकास पर भी प्रकाश डाला है। कोबर का सर्वाधिक ध्यान प्राचीन दृढ भूखण्डो (Ancient rigid masses) तथा जल के चलक्षेत्र अर्थात भूसन्नतियो (Orogen) मे सम्बन्ध स्थापित करने पर था। कोबर ने बताया है कि महाद्वीपो का विकास इन्ही दृढ भूखण्डो तथा भूसन्नतियो के सहयोग से हुआ है। इन दोनों के बीच सम्पर्क स्थापित करने वाली क्रिया पर्वतीकरण की रही है। अर्थात् दृढ भूखण्डो के प्रभाव से भूसन्नतियो से पर्वतो का निर्माण होता रहा तथा इनका योग दृढ भूखण्डो के साथ होने से इनका आकार बढ़ता गया तथा महाद्वीपो का विकास सम्भव हुआ। इस प्रमुख समस्या बड़े पैमाने पर पर्वतो के निर्माण की हो रही है। अत यह कहा जा सकता है, कोबर ने अपने "भूसन्नति सिद्धान्त" के आधार पर पर्वतो के निर्माण की प्रक्रिया को सुलझाने का भरसक प्रयत्न किया है। वास्तव मे "कोबर के विशिष्ट पर्वत निर्माण-स्थल, पर्वतों की उत्पत्ति की व्याख्या करता है"। कोबर ने अपने सिद्धान्त मे "मध्य पिण्ड" की कल्पना करके पर्वतीकरण को उचित ढग से समझाने का प्रयास किया है तथा "मध्य पिण्ड" की यह कल्पना "कोबर के विशिष्ट पर्वत निर्माण-स्थल को अच्छी तरह व्याख्या करती है"।

यद्यपि इस स्थल पर कई आलोचनायें उपस्थित की गई हैं तथा अनेक विद्वान इस मत से सहमत नहीं हैं तथापि इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि कोबर के "मध्य पिण्ड" की सहायता से अल्पाइन तथा हिमालय पर्वतों की उत्पत्ति तथा विस्तार को सुविधापूर्वक समझाया जा सकता है। इसका उल्लेख आगे किया जायेगा। भूसन्नति तथा दृढ़ भूखण्डों के विस्तृत विवरण के लिए देखिये लेखक की पुस्तक 'भौतिक भूगोल'।

कोबर के पर्वत-निर्माण का "भूसन्नति सिद्धान्त" निश्चय ही संकुचन-शक्ति पर आधारित है। जे० ए० स्टीयर्स के शब्दों में "कोबर निश्चय ही संकुचनवादी हैं, जिसके अनुसार संकुचन सम्पीडनात्मक बल के लिये प्रेरणात्मक शक्ति प्रदान करता है।"[1] अर्थात् पृथ्वी में संकुचन होने से उत्पन्न शक्ति से ही दृढ़ खण्डों (अग्रदेश-Forelands) में गति उत्पन्न होती है जिस कारण उत्पन्न सम्पीडन की शक्ति से भूसन्नति का मलबा वलित होकर पर्वत का रूप धारण कर लेता है। कोबर के अनुसार पृथ्वी की उत्पत्ति के साथ ही उसमें तापीय ह्रास के कारण शीतलता आने से संकुचन प्रारम्भ हो गया तथा यह संकुचन पृथ्वी के प्रारम्भिक इतिहास में लगभग लगातार रूप से हो रहा है। इसी संकुचन से समय-समय पर पर्वत-निर्माण के लिये उचित बल मिलता रहा है। इसी आधार पर कोबर ने पर्वत-निर्माण में चक्रीय व्यवस्था का प्रतिपादन किया है—क्योंकि पृथ्वी में सदैव संकुचन होता रहा है। अतः समय-समय पर पर्वत निर्माण होता रहा। इस स्थल पर यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि संकुचन लगातार चला आ रहा है तो पर्वत-निर्माण भी पृथ्वी के भूगर्भिक इतिहास के हर युग में होना चाहिये था, पर ऐसा नहीं है। इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि संकुचन से उत्पन्न शक्ति लम्बे समय तक एकत्रीकरण के फलस्वरूप प्रबल होने पर ही पर्वत-निर्माण कर सकती है।

सिद्धान्त के मुख्य आधार

कोबर महोदय के अनुसार जहाँ पर आज पर्वत दिखाई पड़ते हैं वहाँ पर प्रारम्भ में जल के चलक्षेत्र थे जिसे कोबर ने भूसन्नति या पर्वत-निर्माण-स्थल (Orogen) बताया है। इन जलपूर्ण भूसन्नतियों के चारों तरफ प्राचीन दृढ़ भूखण्ड (Rigid masses—Kratogen) थे। ये ही दृढ़ भूखण्ड वर्तमान महाद्वीपों के विकास के प्रमुख आधारभूत-तत्त्व थे। इन दृढ़ भूखण्डों के किनारों पर क्षेत्रीय पर्वतीकरण (भूसन्नति में) हुए हैं तथा प्रत्येक दृढ़ भूखण्ड का शनैः शनैः विस्तार हुआ है। कोबर ने समस्त ग्लोब का अध्ययन किया है तथा उनके विभिन्न भागों का उल्लेख किया है। कोबर ने मेसोजोइक युग में उत्तरी तथा दक्षिणी प्रशान्त-भाग को अलग-अलग इकाई माना है जो कि मध्यवर्ती प्रशान्त-भूसन्नति द्वारा अलग होते थे। कोबर के अनुसार, इस प्रकार; उत्तरी तथा दक्षिणी प्रशान्तीय भाग दो अलग-अलग अग्रदेश के रूप में थे जिनका विलगाव भूसन्नति द्वारा होता था। बाद में अग्रदेश डूब गये (Foundered) तथा अब प्रशान्त महासागर के रूप में है। कोबर द्वारा ग्लोब के विषय में उपस्थित किये गये विवरण के आधार पर आठ प्रमुख भाग अलग किये जा सकते हैं तथा इनमें प्रमुख हैं—1. अटलांटिक तथा हिन्द महासागर के कुछ भाग के साथ अफ्रीका, 2. भारत तथा आस्ट्रेलिया का भाग 3. युरेशिया, 4 उत्तरी पैसफिक महाद्वीप, 5 दक्षिणी पैसफिक महाद्वीप, 6 दक्षिणी अमेरिका तथा अन्टार्कटिका।

इन दृढ़ भूखण्डों के बीच जल के चल-क्षेत्र अर्थात् भूसन्नति थी। कोबर के अनुसार भूसन्नतियाँ लम्बे तथा चौड़े जलपूर्ण गर्त थी। यहाँ पर उल्लेखनीय है कि कोबर की भूसन्नति, हाग महोदय की सँकरी भूसन्नति के विपरीत अधिक विस्तृत तथा चौड़ी थी।[2] परन्तु यदि सूक्ष्म दृष्टि से कोबर की भूसन्नति-कल्पना, पर्वतों के विस्तार की दिशा तथा प्रणाली के विचार, दृढ़ भूखण्डों तथा भूसन्नतियों के सम्बन्ध एवं पर्वत-निर्माण की प्रक्रिया पर विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि कोबर के अन्तिम कार्य, हाल-डाना तथा हाग महोदय के विचारों के प्रतिफल हैं परन्तु कोबर ने भी अपना मौलिक विचार प्रस्तुत किया है। इसी कारण से प्रायः यह कहा जाता है—'कोबर के विचार हाल एवं डाना की प्राचीन भूसन्नति परिकल्पना, जिसका आगे चलकर हाग ने

1. Kober is definitely a contractionist contraction providing the motive force for the compressive stress"—Steers, J A, The Unstable Earth, Page 151.
2. Kober's geosynclines in which continuous sedimentation to form mountains took place, were long and wide water areas and very unlike the narrow troughs of Haug

विपरीत

सम्वर्द्धन किया, पर्वतीकरण पर उनके व्यक्तिगत विचारों के सम्मिश्रण हैं।"[1]

यद्यपि वर्तमान समय तक भूगर्भवेत्ताओं ने चार प्रमुख पर्वतीकरण के युगों (Periods of mountain building) का पता लगाया है परन्तु कोबर ने छः विभिन्न निर्माणकारी घटनाओं का उल्लेख किया है। इनमें से तीन घटनायें कैम्ब्रियन युग से पूर्व घटित हुई मानी जाती हैं तथा इनके विषय में बहुत कम ज्ञान प्राप्त है। केवल उत्तरी अमेरिका में झीलों (Great Lakes) के पास प्रीकेम्ब्रियन पर्वतीकरण के उदाहरण मिले हैं। वर्तमान भूगर्भवेत्ता कोबर के छः पर्वतीकरण-व्यवस्था से सहमत नहीं हैं। यद्यपि भूपटल पर पर्वत-निर्माण समकालिक (Contemporaneous) नहीं रहे हैं, परन्तु कोबर के अनुसार प्रत्येक पर्वत-निर्माण के समय एक ही प्रकार की घटनाओं के क्रम की पुनरावृत्ति होती रही है। कोबर ने प्रत्येक पर्वतीकरण में एक सामान्य प्रक्रिया का अवलोकन किया है। अर्थात् प्रायः प्रत्येक पर्वत निर्माण के पहले भूसन्नति का निर्माण होता है जिसमें लगातार अवसादीय निक्षेप तथा भूसन्नति की तली का तलछटीय भार के कारण अवतलन होता है। अधिक जमाव हो जाने के बाद पर्वत-निर्माण का समय आता है जिस समय भूसन्नति के दोनों पार्श्व अथवा अग्रदेश एक दूसरे की ओर खिसकने लगते हैं जिस कारण से मोड़ों का निर्माण होता है। पर्वतीकरण के समय ही अत्यधिक सम्पीडन के कारण ज्वालामुखी-क्रिया तथा रूपान्तर की क्रिया होती है जिस कारण पर्वत की संरचना में अटिलता आने लगती है। पर्वत-निर्माण के बाद उसका अनाच्छादन (Denudation) प्रारम्भ हो जाता है जिस कारण उत्थित पर्वत घिस कर पेनीप्लेन (Peneplain) में परिवर्तित हो जाता है। इसके बाद पुनः भूसन्नति का निर्माण होता है तथा उपर्युक्त घटनाओं की पुनरावृत्ति होती रहती है। ये घटनायें प्रायः प्रत्येक युग के पर्वत-निर्माण में क्रियान्वित होती रहती हैं। कोबर के अनुसार दो पर्वत-निर्माणकारी युगों के बीच एक शान्तकाल (Period of quiescence) होता है, जिस समय पर्वत-निर्माण नहीं होता है।

सिद्धान्त की प्रक्रिया (Process of theory)

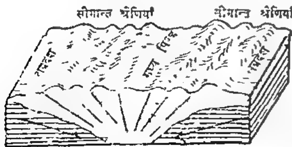
कोबर के अनुसार पर्वत-निर्माण की पहली अवस्था भूसन्नति के निर्माण की होती है तथा इस अवस्था में पर्वतों के निर्माण के लिये आवश्यक मंच की तैयारी होती है। इस अवस्था को "भूसन्नति अवस्था" (Lithogenesis) कहा जा सकता है। ये भूसन्नतियाँ जलपूर्ण गर्त होती हैं जो कि अधिक लम्बी तथा विस्तृत होती हैं। प्रत्येक भूसन्नति के दोनों पार्श्वों पर दृढ़ भूखण्डों की स्थिति होती है। इन्हें कोबर ने अग्रदेश बताया है। पार्श्ववर्तीय स्थलीय भागों के अपरदन के कारक अपने साथ क्षयित पदार्थों का भूसन्नति में निक्षेपण करना प्रारम्भ कर देते हैं। यह अवसादीय निक्षेपण लगभग एक निश्चित पद्धति के अनुसार होता है। इस प्रथम क्रिया को अवसादीकरण कहा जा सकता है। अवसादीय जमाव के कारण भार में वृद्धि होने से भूसन्नति की तली का धँसाव होने लगता है। इस तरह एक लम्बे समय तक अवसादीय जमाव तथा भूसन्नति के धँसाव होते रहने से भूसन्नति अत्यधिक गहरी हो जाती है तथा उसमें पर्वत-निर्माण के लिये आवश्यक तलछटीय पदार्थों का जमाव हो जाता है।

द्वितीय अवस्था में पर्वत-निर्माण प्रारम्भ हो जाता है। इसे पर्वत-निर्माणकारी अवस्था' (Orogenesis) कहा जा सकता है। भूगर्भिक हलचल (पृथ्वी के संकुचन से प्रेरित होने के कारण भूसन्नति के दोनों स्थलीय पार्श्व अथवा अग्रदेश एक दूसरे के निकट खिसकने लगते हैं। (यहाँ पर स्मरणीय है कि कोबर दोनों पार्श्वों के खिसकाव में विश्वास रखते हैं।) यह हो सकता है कि एक पार्श्व के खिसकने की गति दूसरे की अपेक्षा अधिक रही हो। इस प्रकार भूसन्नति के दोनों पार्श्वों के सड़ासी की नोक के समान आमने-सामने पास आने से भूसन्नति के तलछट पर बल पड़ता है। अर्थात् अग्रदेशों के पास सरकने के कारण उत्पन्न सम्पीडन की शक्ति के कारण भूसन्नति के तलछट में सिकुड़न तथा मरोड़ (Squeezing) पड़ने लगता है जिस कारण भूसन्नति का मलवा वलित होकर मोड़ों के रूप में बदल जाता है तथा भूसन्नति के दोनों किनारे वाले भाग पर दो पर्वत-श्रेणियों का आविर्भाव होता है जिसे कोबर ने रेन्डकेटेन के नाम में अभिहित किया है।

कोबर के अनुसार भूसन्नति के तलछट का पूर्णतः या आंशिक रूप में वलित होना सम्पीडन की शक्ति पर आधारित होता है। यदि सम्पीडन की शक्ति सामान्य

1. Kober's views are, then, a combination of the old geosynclinal hypothesis of Hall and Dana, which was developed later by Haug, and his own views on orogenesis Steers, J. A The Unstable Earth, Page 151.

होती है तो केवल किनारे वाले भाग वलित होते है तथा दो पार्श्ववर्ती पर्वत-श्रेणियों (Ranqketten) का निर्माण होता है तथा बीच का भाग वलन की क्रिया से अप्रभावित रह जाता है। इस अप्रभावित भाग को कोबर ने स्वाशिनबर्ग (Zwischengebirge) की संज्ञा प्रदान की है। यहाँ पर लेखक इस मध्य पिण्ड (Median mass) के रूप में ही प्रयुक्त करना चाहेगा। कोबर ने अपनी मध्य पिण्ड परिकल्पना के लिए प्रायः सभी पर्वतों से उदाहरण प्रस्तुत किये है। इसका उल्लेख आगे चलकर विशद रूप में किया जायेगा। यहाँ पर इतना ही समझ लेना पर्याप्त होगा कि हंगरी का मैदान कार्पेथियन आल्प्स तथा दिनारिक आल्प्स के मध्य एक मध्य पिण्ड का प्रमुख उदाहरण प्रस्तुत करता है। इस क्रिया के विपरीत जब सम्पीडन की शक्ति अत्यधिक तीव्र होती है तो भूसन्नति का समस्त तलछट वलित होकर मोड़ के रूप में बदल जाता है तथा कोई भी भाग वलन की क्रिया से अप्रभावित नहीं रह पाता है। इस अत्यधिक सम्पीडन के कारण दोनों अग्रदेश पूर्णरूपेण एक दूसरे के पास हो जाते हैं जिस कारण परिवलन मोड़ के कारण पर्वतीकरण में जटिलता आ जाती है। फलस्वरूप एक जटिल बनावट का सृजन होता है जिसे नार्ब (Narbe) कहा जाता है। स्विटजरलैण्ड-स्थित आल्प्स में इस प्रकार की जटिल बनावट के निदर्शन बड़े पैमाने पर होते हैं। इस प्रकार की बनावट (Narbe) में एक मोड दूसरे मोड़ पर चढ़ जाते है जिसे परिवलन मोड़ (Recumbent folding) कहा जाता है। जब एक मोड़ की ग्रीवा टूट कर दूसरे मोड़ पर चढ़



(कोबर के आधार पर)

चित्र 159—कोबर के पर्वत-निर्माण के भूसन्नति-सिद्धान्त का ब्लाक डायग्राम द्वारा प्रदर्शन।

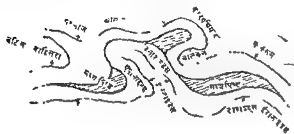
जाती है तो ग्रीवाखण्ड (Nappes) का निर्माण होता है। आल्प्स क्षेत्र में इस प्रकार की कई ग्रीवाखण्डों (हेल्वेटिक ग्रीवाखण्ड, पीनाइड ग्रीवाखण्ड, आस्ट्राइड ग्रीवाखण्ड तथा डिनाराइड ग्रीवाखण्ड) का पता लगाया जा चुका है। यहाँ पर एक बात स्मरणीय है कि मध्य पिण्ड पठार, मैदान या जलमग्न सागर या किसी भी उच्च भाग के रूप में हो सकता है।

कोबर ने दो प्रकार की गतियों (Movements) का उल्लेख किया है। ऊपर वर्णित गति को पर्वत निर्माण गति (Orogenic movement) कहा जाता है जिसका कार्य-स्थल भूसन्नतियाँ (Geosynclines—' orogen") होती है जिनमें पर्वतों का निर्माण क्षैतिज गति से होता है। इसके विपरीत स्थलीय भागों पर घटित होने वाली गति को क्रैटोजनिक गति (Kratogenic from kratogen stable areas) कहा जाता है। प्रथम गति में भूसन्नतियों में अधिक गहराई तक वलन तथा रूपान्तरण होता है परन्तु द्वितीय गति से स्थलीय भागों पर सम्भवतः गति के कारण दरार तथा फटन" (Rifts and fractures) का निर्माण होता है। इसके अन्तर्गत सागरीय अतिक्रमणीय अवसाद (Tarnsgressional sediments) के बाह्य भाग के वलन को भी सम्मिलित किया जाता है। उदाहरण के लिये यूरा पर्वत को उपस्थित किया जा सकता है। आल्प्स का निर्माण प्रथम प्रक्रिया के अनुसार हुआ है।

कोबर का मध्य पिण्ड तथा पर्वत
(Median Mass and the Mountains)

कोबर ने अपने विशिष्ट मध्य पिण्ड (Typical median mass) के आधार पर मोड़दार पर्वतों की संरचना को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। कोबर के अनुसार मध्य पिण्ड के आधार पर यूरोप के अल्पाइन पर्वत-शृंखला को भली-भाँति समझा जा सकता है। यहाँ पर संक्षेप में हम कोबर के अनुसार आल्प्स के निर्माण पर दृष्टिपात करेंगे। टेथीज भूसन्नति के उत्तर में यूरोप का स्थल भाग (सबसे दक्षिण में वारिस्कन पर्वत, ब्लाक पर्वत के रूप में) तथा दक्षिण में अफ्रीका का दृढ़ भूखण्ड था। भूगर्भिक हलचल के कारण दोनों अग्रदेश आमने-सामने खिसकने लगे तथा टेथीज का मलवा वलित होकर होकर आल्प्स के रूप में परिवर्तित हो गया। अल्पाइन पर्वतों का सृजन दो पार्श्विक सम्पीडन की शक्ति द्वारा हुआ है तथा कोबर ने बताया है कि विभिन्न पर्वत-श्रेणियों में मोड़ की दो दिशायें (उत्तर तथा दक्षिण) स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती हैं। अफ्रीका के उत्तर की

ओर सरकने से बेटिक कार्डिलरा पेरेनीज प्राविन्स श्रेणियाँ, मुख्य आल्प्स, कार्पेथियन्स बालकन पर्वत तथा काकेसस का निर्माण हुआ है। इनमे मोड की दिशा उत्तर की ओर है। इसके विपरीत एटलस पर्वत, एपीनाइन्स, डिनाराइड्स, हेलेनाइड्स तथा टाराइड्स आदि पर्वतो का निर्माण यूरोपीय दृढ भूखण्ड के दक्षिण दिशा मे प्रवाहित होने पर हुआ है तथा इनमे मोडो की दिशा दक्षिण की ओर है (चित्र 160)।



(कोबर के आधार पर)

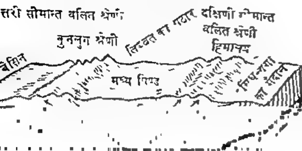
चित्र 160—अल्पाइन श्रेणियो की स्थिति।
(वलन की दिशा को तीरो द्वारा दर्शाया गया है)

कोबर ने पर्वतीकरण तथा दृढ भूखण्डो के सम्बन्धो का उल्लेख करते हुए बताया है कि पर्वतो की स्थिति तथा दिशा पर दृढ भूखण्डो ने पर्याप्त नियन्त्रण रखा है। यूरोप के पर्वतीय क्षेत्र मे इसके प्रमुख उदाहरण उपस्थित किये जा सकते है। आल्प्स का वक्राकार रूप **वास्जिस ब्लाक पर्वत, हार्जेस तथा ब्लैकफारेस्ट एव बोहेमियन पठार** के कारण हुआ है। इसी प्रकार कार्पेथियन का झुकाव बोहेमियन पठार तथा कृष्ण सागर के पश्चिम मे रूसी पठार द्वारा नियन्त्रित हुआ है। अब हम यूरोप के अल्पाइन पर्वत-क्रम के मध्य पिण्ड पर विचार करेंगे। अल्पाइन पर्वत श्रेणियो मे रैण्डकेटेन के कई उदाहरण मिलते हैं तथा रैण्डकेटेन के मध्य, **मध्य पिण्ड** की स्थिति है। यहाँ पर स्मरणीय है कि अल्पाइन क्षेत्र मे मध्य पिण्ड की स्थिति **दो विपरीत दिशा मे वलित श्रेणियो के बीच** पाई जाती है[1]। उदाहरण के लिए कार्पेथियन्स तथा दिनारिक आल्प्स के मध्य वलन से अप्रभावित भाग हंगरी का मैदान एक मध्य पिण्ड का खूबसूरत उदाहरण उपस्थित करता है। चित्र 160 मे श्रेणियो के वलन की दिशा से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कार्पेथियन मे वलन की दिशा उत्तर तथा दिनारिक आल्प्स मे दक्षिण है। इसी प्रकार पेरेनीज-प्राविन्स श्रेणियो तथा एटलस तथा उसके पूर्वी भाग के बीच रूम सागर का भाग भी एक मध्य पिण्ड का ही उदाहरण है जो कि स्थल के डूब जाने के कारण जलमग्न होकर इस समय सागर के रूप मे स्थित है। कोर्सिका तथा सार्डीनिया इसी मध्य पिण्ड के अवशिष्ट भाग है। इस क्षेत्र मे भी मध्य पिण्ड की स्थिति दो विपरीत दिशा वाले वलन (पेरेनीज-प्राविन्स उत्तर की ओर तथा एटलस दक्षिण की ओर) के मध्य है। मध्य पिण्ड का तृतीय उदाहरण बालकन पर्वतो के बीच रोडोप पठार मे मिलता है। इसका पूर्व की तरफ भी विस्तार हुआ है तो इसका पूर्वी भाग अनातोलिया के पठार का रूप है जो कि पान्टिक तथा टारस श्रेणियो के बीच है। और पूर्व में ईरान का पठार भी एक पिण्ड का ही उदाहरण है जो कि एल्बुर्ज तथा जेग्रास पर्वतो के मध्य स्थित है। इन मध्य पिण्डो का निर्माण दो **रैण्डकेटेन** के मध्य इसलिए हुआ है कि सम्पीडन की शक्ति सामान्य थी। इसके विपरीत जिन क्षेत्रो मे सम्पीडन अति प्रबल था, वहाँ पर समस्त भूसन्नति का तलछट वलित हो गया है तथा कोई भी क्षेत्र वलन से अप्रभावित होकर मध्य-पिण्ड के रूप मे नही बच पाया है। उदाहरण के लिए स्विस आल्प्स मे वलन तथा परिवलन के कारण दो रैण्डकेटेन एक दूसरे मे मिल गये है जिसमे **नार्बेन** (Narben) बनावट का आविर्भाव हुआ है। इतना ही नही अधिक वलन के कारण ग्रीवाखण्डो का निर्माण हुआ है तथा कई स्थानो पर एक ग्रीवाखण्ड दूसरे पर आरूढ हो गया है। उदाहरण के लिए आस्ट्रायड ग्रीवाखण्डो ने हेल्वेटिक तथा पिनाइड ग्रीवाखण्डो का आच्छादन कर लिया है। इस प्रकार कोबर के मध्यपिण्ड के आधार पर आल्प्स पर्वत की उत्पत्ति तथा सरचना का भली प्रकार स्पष्टीकरण हो जाता है। कोबर ने इसी प्रकार अन्य क्षेत्रो मे मध्य पिण्ड के उदाहरण उपस्थित किये है। हिमालय तथा कुनलुन पर्वतो के मध्य तिब्बत का पठार एक मध्य पिण्ड ही है। कैरेबियन सागर भी एक मध्य पिण्ड का ही उदाहरण है जो कि वर्तमान समय मे अवतलन के कारण जलमग्न हो गया है तथा इसकी स्थिति मध्य अमरिकी भू भाग एव पश्चिमी द्वीपीय चाप (West Indian Arc) के मध्य है। सियरा नेवादा तथा वासाच श्रेणियो के मध्य "बेसिन रेंज-क्षेत्र" की स्थिति एक मध्य पिण्ड के रूप मे ही है। चित्र 161 से

1. अर्थात् एक श्रेणी का निर्माण दक्षिण दिशा मे मोड पडने से तथा दूसरी का निर्माण उत्तर दिशा मे वलन होने से हुआ है। इसे विपरीत दिशा वाले मोड (Opposite segment) कहा जाता है।

कोबर द्वारा प्रस्तुत हिमालय क्षेत्र के मध्य पिण्ड को समझाया जा सकता है।

कोबर ने सतुलन के सिद्धान्त में भी विश्वास प्रकट किया है। कोबर के अनुसार ऊँचे-ऊँचे पर्वत इसलिए भू-



चित्र 161—हिमालय तथा कुनलुन पर्वतों का (उत्तर से दक्षिण दिशा में) पार्श्वचित्र। कोबर के मध्य पिण्ड सिद्धान्त का (तिब्बत के पठार द्वारा स्पष्टीकरण।

पटल पर टिके हुए हैं कि उनके नीचे गहराई तक न्यून घनत्व वाला पदार्थ मिलता है। पृथ्वी की सिकुड़न से उत्पन्न क्षैतिज शक्ति के कारण पर्वत का निर्माण होता है। इस क्रिया में एक स्थान पर अत्यधिक मात्रा में पदार्थों का संग्रह हो जाता है जिस कारण स्थलीय भाग का अवतलन होने लगता है। फलस्वरूप भूसन्नति का निर्माण हो जाता है जिसमें पुनः जमाव तथा धँसाव होता रहता है तथा पर्वत-निर्माण का चक्र चलता रहता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कोबर ने 'अपने भूसन्नति निर्माण सिद्धान्त तथा मध्य पिण्ड की परिकल्पना द्वारा पर्वत-निर्माण की व्याख्या करने का एक सफल प्रयास किया है।

सिद्धान्त का मूल्यांकन

यद्यपि कोबर का पर्वत-निर्माण सम्बन्धी सिद्धान्त पर्वत-निर्माण से सम्बन्धित कई तथ्यों का उचित उल्लेख करता है तथापि कुछ स्थलों पर कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं। 1. सर्वप्रथम समस्या है पर्वत-निर्माण के लिए उत्तरदायी बल के सामर्थ्य की। यह समस्या प्रायः एक सामान्य समस्या है जिसका निराकरण किसी भी सिद्धान्त (प्लेट टेक्टानिक सिद्धान्त को छोड़कर) द्वारा अब तक नहीं हो पाया है। क्या पृथ्वी के सिकुड़न से उत्पन्न संकुचन की शक्ति इतनी प्रबल हो सकती है जिससे कि स्थल-खण्ड खिसककर आल्प्स तथा हिमालय जैसे उच्च तथा महान् पर्वतों का निर्माण कर सकते हैं? उत्तर नकारात्मक ही हो सकता है। **कोबर द्वारा वर्णित बल द्वारा पर्वत-निर्माण** का होना उचित नहीं जान पड़ता है। 2. दूसरी समस्या है बल के कार्य करने की दिशा की। कोबर के अग्रदेश एक दूसरे की ओर खिसकते हैं तथा दोनों तरफ से आने वाली सम्पीडन की शक्तियों से वलन होता है। परन्तु **स्वेस** महोदय इस तथ्य से सहमत नहीं हैं। **स्वेस** के अनुसार भूसन्नति में केवल एक ही पार्श्व में बल आता है अर्थात् भूसन्नति का एक ही स्थलीय पार्श्व सरकता है तथा दूसरा पार्श्व अपने स्थान पर स्थिर रहता है। स्वेस ने सरकने वाले पार्श्व को पृष्ठ प्रदेश (Backland) तथा स्थिर पार्श्व को अग्रदेश बताया है। इस प्रकार अग्रदेश, पृष्ठ प्रदेश से आने वाले सम्पीडन में अवरोध उत्पन्न करता है जिस कारण भूसन्नति की तलछट वलित होकर पर्वत का रूप धारण कर लेती है। यदि हिमालय के निर्माण के विषय में **कोबर** तथा **स्वेस** के विचारों की सापेक्ष्य तुलना की जाय तो स्वेस का विचार सत्य के अधिक करीब लगता है। हिमालय का वक्राकार रूप तथा मध्यवर्ती भाग का दक्षिण की ओर झुकाव इस तथ्य को इंगित करता है कि सम्पीडन की शक्ति का आगमन उत्तर अर्थात् अंगारालैण्ड से हुआ तथा गोंडवानालैण्ड अपनी जगह पर स्थिर था। प्रायद्वीपीय भारत की स्थिरता तथा उसका उत्तरी आकार ही हिमालय के वक्राकार रूप के लिये उत्तरदायी बताये जा सकते हैं। **प्लेट विवर्तन सिद्धान्त के आधार** पर यह व्याख्या भी गलत है क्योंकि भारतीय प्लेट अब भी उत्तर की ओर सरक रहा है। अतः अब **कोबर** का विचार **स्वेस** की तुलना में अधिक सही है। 3. कोबर के सिद्धान्त के आधार पर पश्चिम-पूर्व दिशा में विस्तृत पर्वतों का स्पष्टीकरण आसानी से हो जाता है। खासकर आल्प्स तथा हिमालय के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त उचित लगता है परन्तु उत्तर से दक्षिण फैले पर्वतों (रॉकीज तथा एण्डीज) का स्पष्टीकरण इस सिद्धान्त के आधार पर अच्छी तरह नहीं हो सकता है। उत्तरी अमेरिका व पर्वतीकरण तथा भूगर्भिक वितरण के विषय में कोबर ने कई गलत धारणाओं का प्रतिपादन किया है। उदाहरण के लिये सियरा नेवादा के वलन तथा रॉकी पर्वत के उत्क्रम के समय के अन्तर का कोबर ने उल्लेख नहीं किया है। 4. पर्वतों का निर्माण भूसन्नतियों से हुआ माना गया है परन्तु इनके ठीक वितरण का समुचित उल्लेख नहीं किया गया है। उपर्युक्त कठिनाइयों के होते हुए भी कोबर के भूसन्नति-सिद्धान्त में सत्यता के अंश अधिक हैं तथा इस सिद्धान्त को वर्तमान समय में मान्यता

मिल रही है यदि इसे प्लेट विवर्तन सिद्धान्त के साथ मिलाकर देखा जाय।

(2) जेफरीज का तापीय संकुचन सिद्धान्त (Thermal Contraction Theory of Jeffreys)

सामान्य परिचय (सिद्धान्त का उद्देश्य तथा प्रयुक्त शक्ति)

जेफरीज महोदय ने भूपटल की प्रमुख आकृतियों की उत्पत्ति तथा विकास के स्पष्टीकरण के लिए अपना **तापीय संकुचन सिद्धान्त**" का प्रतिपादन किया है तथा इस प्रकार के सिद्धान्तों के प्रतिपादकों में आपका प्रमुख स्थान है। जेफरीज महोदय एक प्रमुख **संकुचनवादी** (Contractionist) तथा **प्रवाह सिद्धान्त** के कटु आलोचक हैं। यद्यपि जेफरीज के इस तापीय संकुचन सिद्धान्त द्वारा भूपटल की विभिन्न आकृतियों (महाद्वीप, सागर, पठार आदि) पर प्रकाश पड़ता है तथापि सिद्धान्त के प्रतिपादक का प्रमुख उद्देश्य भूपटल के विभिन्न पर्वतों के निर्माण तथा उनके वितरण की व्याख्या करना ही था। महाद्वीपों के क्षैतिज विस्थापन (Horizontal displacement) तथा वेगनर एवं टेलर के रूप में वर्णित महाद्वीपों के प्रवाह में जेफरीज विश्वास नहीं करते हैं परन्तु सम्भवतः गति को स्वीकार करते हैं। इस प्रकार जेफरीज मोड़दार पर्वतों के निर्माण की समस्या का हल पृथ्वी में तापीय ह्रास द्वारा संकुचन के कारण करते हैं। जेफरीज के अनुसार महाद्वीपों में विस्थापन तथा प्रवाह के लिए कोई भी बल समर्थ नहीं है। वर्तमान समय तक कई लेखकों द्वारा वर्णित प्रवाह सम्बन्धी बल पूर्णतया असमर्थ हैं तथा उनके द्वारा महाद्वीपीय विस्थापन कदापि नहीं हो सकता है। इस प्रकार महाद्वीपीय प्रवाह के लिए समर्थ बल के अभाव में पृथ्वी का ताप ह्रास द्वारा संकुचन ही भूपटल की विविध आकृतियों की भली प्रकार व्याख्या कर सकता है। यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि जेफरीज का सिद्धान्त गणितीय सूत्रों तथा परिकलन पर आधारित है तथा स्थान-स्थान पर उसे समझना कठिन हो जाता है।

जेफरीज ने बताया है कि पृथ्वी के प्रारम्भिक इतिहास से ही उसके ताप में ह्रास हो रहा है जिस कारण पृथ्वी ठंडी होकर सिकुड़ती जा रही है। इसी सिकुड़न के कारण संकुचन बल द्वारा पर्वतों का निर्माण होता है। जेफरीज द्वारा प्रयुक्त बलों को दो वर्गों में रखा जा सकता है। 1. पृथ्वी अपने प्रारम्भिक वृहद् आकार से सिकुड़न के कारण छोटी होती गई। इस प्रकार सिकुड़न द्वारा बल (Force of contraction) उत्पन्न होता है। 2. द्वितीय प्रकार का संकुचन पृथ्वी की परिभ्रमण गति में ह्रास होने के कारण उत्पन्न होता है। आज से लगभग 1600 000 000 वर्ष पहले पृथ्वी अपनी धुरी पर एक परिक्रमा 20 घण्टे में पूरा कर लेती थी। इस प्रकार प्रारम्भ में परिभ्रमण की गति अपेक्षाकृत तीव्र थी परन्तु वर्तमान समय में एक परिक्रमा लगभग 24 घण्टे में पूर्ण होती है अर्थात् परिभ्रमण की गति में पर्याप्त ह्रास हुआ है। इस कारण पृथ्वी की भूमध्य रेखीय परिधि में संकुचन हुआ है जिस कारण पर्वत निर्माण में सहायता मिली है। यहाँ पर स्मरणीय है कि जेफरीज के सिद्धान्त का यह कमजोर स्थल है क्योंकि पृथ्वी की परिभ्रमण-गति में कमी से उत्पन्न संकुचन की शक्ति इतनी नगण्य रही होगी कि उसके आधार पर पर्वत-निर्माण की कल्पना करना सत्यता से परे होगा। अन्य सिद्धान्तों के समान ही जेफरीज द्वारा वर्णित पर्वत-निर्माण की शक्ति पर्याप्त नहीं है। इसका आगे चलकर उल्लेख किया जायेगा।

सिद्धान्त की प्रक्रिया (Process of Theory)

जेफरीज के अनुसार पृथ्वी के अन्दर कई संकेन्द्रीय परतें (Concentric shells) पाई जाती हैं। जब से पृथ्वी तरलावस्था में आई, तभी से उसमें ताप ह्रास होने लगा जिस कारण पृथ्वी ठंडी होने लगी। पृथ्वी का ठंडा होना परत के बाद परत के रूप में सम्भव होता है। पृथ्वी के ठंडा होने से उसमें सिकुड़न (Shrinkage) होती है जिस कारण पृथ्वी की व्यास तथा परिधि में कमी या ह्रास (Shortening) होता है। जेफरीज ने संकुचन द्वारा भूपटलीय ह्रास (Crustal shortening) का परिकलन गणित के आधार पर किया है। यहाँ पर स्मरणीय है कि केवल पृथ्वी के ठंडा होने से ही संकुचन नहीं होता है वरन् आग्नेय चट्टान के रवीकरण (Crystallization) के कारण तथा उनमें सम्मिलित जल एवं गैस के ह्रास के कारण भी संकुचन होता है। गणितीय परिकलन के आधार पर जेफरीज ने बताया है कि पृथ्वी के बाह्य 400 किलोमीटर तक वाले भाग में 500 सेण्टीग्रेट ताप के ठंडा होने से संकुचन होगा। उसके कारण व्यास में 20 किलोमीटर तथा परिधि में 130 किलोमीटर की कमी हो जायेगी। इसके बाद पुनः संकुचन होना है तथा जेफरीज ने गणना के आधार पर बताया है कि अधिकतम संकुचन के कारण परिधि में 200 किलोमीटर की कमी तथा धरातलीय क्षेत्रफल में 5×10^{16} वर्ग सेण्टीमीटर की कमी हुई है। यहाँ पर उल्लेखनीय है कि संकुचन द्वारा उपर्युक्त पृथ्वी की परिधि

तथा धरातलीय क्षेत्रफल की कमी पर्याप्त नहीं है तथा औसत परिवर्तन से अधिक कम है।

जेफरीज के अनुसार पृथ्वी के धरातल से 700 किलोमीटर की गहराई तक ही ताप-ह्रास के कारण पृथ्वी शीतल होती है। धरातल से 700 किलोमीटर के बाद वाला भाग (केन्द्र तक) इस परिवर्तन से अप्रभावित रहता है क्योंकि वहाँ पर ताप इतना अधिक है कि पृथ्वी के शीतल होने का प्रश्न ही नहीं उठता है। एक बात और स्मरणीय है कि पृथ्वी के शीतल होने की क्रिया परत के रूप में होती है तथा प्रत्येक ऊपरी परत अपनी निचली परत की अपेक्षा पहले तथा तीव्र गति से शीतल होती है। अतः प्रत्येक ऊपरी परत में निचली परत की अपेक्षा संकुचन अधिक होता है। प्रत्येक ऊपरी परत तब तक संकुचित होती रहती है जब तक कि उसके नीचे वाली परत में संकुचन में बाधा उपस्थित नहीं होती है। वास्तव में ऊपर वाली संकुचित होने वाली परत के संकुचन में नीचे वाली गर्म तथा कम सिकुड़न वाली परत द्वारा रुकावट होती है। अतः ऊपरी परत का संकुचन उसके फैलाव तथा पतला होने (Spreading & thinning) से ही सम्भव हो पाता है।

उपर्युक्त प्रक्रिया के आधार पर (अर्थात् प्रत्येक ऊपरी परत अपनी निचली परत की अपेक्षा अधिक शीतल होती है) यह स्पष्ट है कि धरातल की सबसे ऊपरी परत सबसे पहले शीतल होगी परन्तु शीतल होने की एक सीमा होती है जिसके बाद परत और शीतल नहीं हो पाती है। अतः ऊपर वाली परत पूर्णतया शीतल हो जाती है तथा उसमें पुनः शीतलता नहीं आ सकती है। परन्तु इसके नीचे पृथ्वी का शीतल होना जारी रहता है। इस प्रकार ऊपरी परत नीचे वाली ठंडी होती हुई परत से अधिक बड़ी हो जाती है। चूँकि ऊपरी परत को निचली परत पर आधारित होना पड़ता है अतः ऊपरी परत नीचे वाली परत पर गुरुत्व शक्ति तथा दबाव द्वारा व्यस्त होने लगती है। इसके विपरीत नीचे वाली परत निरन्तर शीतल होती रहती है तथा यहाँ पर ठंडा होने की क्रिया सर्वाधिक होती है परन्तु पृथ्वी का अन्तरतम अधिक ताप के कारण शीतल होने की क्रिया से पूर्णतया अप्रभावित रहता है। इस प्रकार अधिक शीतलता वाली परत नीचे वाले तप्त अन्तरतम से इतनी छोटी हो जायगी कि उस पर फिट नहीं हो सकती है। इस प्रकार ऊपरी तथा निचली परतों के बीच एक क्षेत्र ऐसा होगा जहाँ पर संकुचन इस प्रकार का होता है कि वह मध्यवर्ती परत निचले भाग के साथ सामञ्जस्य स्थापित कर सके तथा उस पर फिट हो सके। इस प्रकार की स्थिति वाले भाग को **तनावहीन स्तर या तनावहीन तल (Level of no strain)** कहते हैं। इस तनावहीन स्तर के ऊपर वाली परत इतनी बड़ी होती है कि वह निचले भाग पर फिट नहीं हो सकती है। अतः ऊपरी परत को नीचे की परत से फिट होने के लिए अथवा सटा रहने के लिए सिकुड़ना पड़ता है जिस कारण ऊपरी भाग में दबाव की स्थिति पैदा हो जाती है। ऊपरी परत झुक कर निचली परत पर व्यवस्थित हो जाती है। जिस कारण भूपटल में अधिकता पड़ जाती है तथा पर्वतों का निर्माण होता है। इसके विपरीत तनावहीन स्तर के नीचे की परत इतनी छोटी होती है कि उसका सामञ्जस्य स्थापन के लिए फैलना पड़ता है जिस कारण **तनाव की स्थिति (State of stress)** पैदा हो जाती है। तनावहीन स्तर के ऊपर वाली परत में इस प्रकार सिकुड़न से उसके आयाम में कमी हो जाती है जिस कारण **क्षैतिज सम्पीडन की शक्ति** (Horizontal compressive forces) का आविर्भाव होता है जिससे प्रेरित होकर भूपटल पर वलन का निर्माण होता है। तनावहीन स्तर के नीचे वाली परत में तनाव तथा खिचाव के कारण भ्रंशन तथा दरार (Faults and cracks) का निर्माण होने से चट्टानें टूट जाती हैं जिस कारण ऊपरी परत पुनः नीचे की ओर मिलने के लिए प्रेरित होती है तथा पूर्व निर्मित भागों में उत्थान होता है तथा इसी गति की पुनरावृत्ति के कारण असमान धरातलीय भागों का निर्माण होता है। ऊँचे उठे भाग पर्वतों का रूप धारण कर लेते हैं।

पर्वत-निर्माण काल

पर्वतों का निर्माण उपर्युक्त प्रक्रिया के आधार पर सदैव नहीं होता है। जेफरीज ने चट्टानों के लचीलेपन (Elasticity) तथा दृढ़ता का ध्यान रखकर बताया है कि पर्वतों का निर्माण कुछ खास समयों में ही होता है। संकुचन के कारण उत्पन्न तनाव तथा दबाव की शक्ति का संग्रह होता रहता है तथा यह क्रिया तब तक सक्रिय रहती है जब तक कि यह सामूहिक शक्ति चट्टान की शक्ति से अधिक नहीं हो जाती है। इस अवस्था (अत्यधिक दबाव तथा तनाव का संचयन) के प्राप्त हो जाने पर वलन तथा भ्रंशन प्रारम्भ हो जाता है तथा पर्वत-निर्माण की क्रिया प्रारम्भ हो जाती है। जब तनाव तथा दबाव (Stress) ढीला पड़ जाता है या कम हो जाता है

तो पर्वत-निर्माण की हलचल रुक जाती है तथा वलन की क्रिया समाप्त हो जाती है। इस प्रकार जेफरीज ने पर्वत-निर्माण-काल की स्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत की है। उपर्युक्त क्रिया अर्थात् पर्वत-निर्माण के घटित होने के समय को **पर्वत निर्माण-काल** कहा जाता है। इसके विपरीत तनाव तथा दबाव के ढीले पड़ जाने पर जब पर्वत निर्माण रुक जाता है तो उसे **शान्त-काल** (Period of quiescence) कहा जाता है। पुनः तनाव तथा दबाव की शक्ति का संचयन प्रारम्भ हो जाता है तथा जब यह शेष-शक्ति से अधिक हो जाती है तो द्वितीय पर्वत-निर्माणकाल प्रारम्भ हो जाता है जिसके बाद पुनः तनाव के ढीले या कम हो जाने से पर्वत-निर्माण रुक जाता है। एवं शान्त-काल आ जाता है। यही क्रिया बार बार घटित होती रहती है। इसी कारण से दो पर्वत-निर्माण-कालों के मध्य एक शान्त-काल होता है। जफरीज के अनुसार उपर्युक्त क्रियाओं की पुनरावृत्ति (Repetition) के कारण ही भूपटल के सभी पर्वतों (प्राचीन या अर्वाचीन) का निर्माण हुआ है। इस आधार पर जेफरीज ने बताया है कि पृथ्वी के भूगर्भिक इतिहास में इस प्रकार की पाँच पर्वत-निर्माणकारी घटनायें घटित हो चुकी हैं। जेफरीज ने पर्वत-निर्माण की एक प्रमुख समस्या (पर्वत-निर्माणकाल तथा शान्त-काल) का स्पष्टीकरण करने का भरसक प्रयत्न किया है, परन्तु कई दोष भी हैं जिनका आगे उल्लेख किया जायेगा।

पर्वत-निर्माण-स्थल

जेफरीज ने यह भी बताया है कि पर्वत-निर्माण, चट्टान के स्वभाव अर्थात् उसकी शक्ति पर आधारित होता है। जहाँ पर चट्टानें अधिक कठोर तथा कम लचीली होती हैं वहाँ पर तनाव तथा दबाव के कारण भ्रंशन के अधिक अवसर होते हैं क्योंकि चट्टानें टूट जाती हैं। अतः इन क्षेत्रों में पर्वत-निर्माण नहीं हो पाता है। इसके विपरीत मुलायम तथा लचीली चट्टानों वाले भाग में ही पर्वत-निर्माण होता है। पर्वतों की ऊँचाई तथा विस्तार भी मुख्य रूप से चट्टानों के स्वभाव पर ही आधारित होता है।

शक्ति की दिशा

जेफरीज ने पृथ्वी के विभिन्न भागों के शीतल होने तथा संकुचन की प्रक्रिया का भी उल्लेख किया है। आपके अनुसार सर्वत्र शीतल होने की गति तथा संकुचन की मात्रा समान नहीं होती है। महाद्वीपीय भागों की संरचना हल्के पदार्थों अर्थात् सियाल (Sial) से हुई है परन्तु सागरीय नितल का निर्माण भारी पदार्थों खासकर बेसिक (Basic) चट्टानों से हुआ है। इस प्रकार निश्चय ही सागरीय नितल की चट्टानें महाद्वीपीय भागों से अधिक कठोर हैं। महासागरीय भागों में ठंडा होने की गहराई महाद्वीपीय भागों से अधिक थी। इस प्रकार सागरीय भागों में शीतल होने की क्रिया महाद्वीपीय भागों से अधिक थी। चूँकि सागरीय नितल की चट्टानें अधिक कठोर हैं तथा शीतल होने की गति अधिक है अतः महासागरों से उत्पन्न दबाव की गति स्थलीय स्थलीय भाग की ओर होगी न कि स्थलीय भाग से जलीय भाग की तरफ। यहाँ पर स्मरणीय है कि अधिकांश विद्वान दबाव की शक्ति की दिशा स्थलीय भाग से सागरीय भाग की ओर बताते हैं परन्तु जेफरीज ने यहाँ पर एक विभिन्न तथ्य का उल्लेख किया है। इस प्रकार सागर के स्थल की ओर सक्रिय होने पर स्थलीय भाग के किनारे पर पर्वतों का निर्माण हो जाता है।

पर्वतों की दिशा

जेफरीज ने भूपटल के पर्वतों के विस्तार तथा उनकी दिशा की भी सफल व्याख्या उपस्थित की है। उनके अनुसार शक्ति का आगमन सागरीय भागों से महाद्वीपों की ओर हुआ है तथा शक्ति की दिशा सम्भवतः स्थलीय भाग के साथ लम्ब रूप में कार्यान्वित हुई। { → | स्थल ; जल | / }

इस प्रकार पर्वतों का निर्माण सागरीय भागों के समानान्तर हुआ है। इस सिद्धान्त के आधार पर राकीज तथा एण्डीज पर्वतों की दिशा को भली प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है क्योंकि उत्तर व दक्षिण दिशा में उत्तरी तथा दक्षिणी अमेरिका के पश्चिमी तटीय भाग पर विस्तृत ये पर्वत प्रशान्त महासागर के समानान्तर ही बनाये जा सकते हैं। परन्तु आल्प्स तथा हिमालय पर्वतों की दिशा इस सिद्धान्त के आधार पर स्पष्ट नहीं हो पाती है। यह जेफरीज के सिद्धान्त का एक निर्बल दोष है। जेफरीज के पास इस समस्या के निराकरण के लिये कोई उत्तर नहीं है।

महाद्वीपीय-प्रवाह (Continental Drift)

जेफरीज ने महाद्वीपों तथा महासागरों की तली में स्थायित्व का समर्थन किया है। चूँकि जेफरीज महोदय एक संकुचनवादी विचारधारा के समर्थक हैं अतः वेगनर तथा टेलर के मतानुसार प्रतिपादित महाद्वीपीय प्रवाह-विचारधारा आपके सिद्धान्त के एकदम विपरीत है। इसके

होते हुए भी जेफरीज ने ध्रुवीय भ्रमण (Movements of the poles) का उल्लेख किया है। आप के अनुसार भूगर्भिक इतिहास में पृथ्वी की ध्रुवीय अक्ष रेखा (Polar axis) में पृथ्वी कक्ष (Orbit) तल की तुलना में कुछ परिवर्तन अवश्य हुए है। क्या इस आधार पर भूपटल में छोटे पैमाने पर धरातलीय प्रवाह की सम्भावना की जा सकती है ? अगर विशेष रूप से देखा जाय तो ध्रुवों का स्थानान्तरण छोटे पैमाने पर भूपटलीय-प्रवाह द्वारा ही सम्भव हो सकता है। परन्तु जेफरीज द्वारा समस्त भूगर्भिक इतिहास में ज्वारीय रगड़ (Tidal friction) के कारण ध्रुवों का स्थानान्तरण केवल 5° तक ही सीमित रहा है। इस प्रकार जेफरीज के अनुसार जहाँ तक क्षैतिज प्रवाह का प्रश्न है, महाद्वीप तथा महासागर समस्त-भूगर्भिक इतिहास में स्थायी रहे हैं। किसी भी प्रकार का धरातलीय (क्षैतिज रूप में) विस्थापन या स्थानान्तरण (Displacement) नहीं हुआ है।

परन्तु जेफरीज ने लम्बवत या ऊर्ध्वाकार धरातलीय गति (Vertical movement) में विश्वास किया है। इस समस्या के निराकरण के लिए जेफरीज ने स्थल-सेतु परिकल्पना" (Land bridge hypothesis) का प्रतिपादन किया है। इन्होंने बताया है कि प्रारम्भ में सभी स्थल भाग इन्हीं स्थल सेतुओं द्वारा एक दूसरे से संलग्न या जुड़े हुये थे। बाद में इन स्थल-सेतुओं के डूब जाने से जल तथा स्थल भागों का विलगाव हो गया। यहाँ पर जेफरीज की इस विचारधारा में कई दोषपूर्ण तथ्य भी सम्मिलित हैं तथा कई विद्वानों ने तो इस परिकल्पना को आधारहीन बताया है। यह सर्वमान्य तथ्य है कि पृथ्वी का ऊपरी भाग निचले भाग की अपेक्षा हल्के पदार्थों से बना है तथा महाद्वीपीय भाग स्याल (Sial) का बना है जो महासागरीय तली के सीमा (Sima) से हल्का है। अतः संतुलन के सिद्धान्त के अनुसार हल्के पदार्थों (Land bridge) का भारी पदार्थों में डूबना असम्भव है (प्लेट विवर्तन सिद्धान्त के आधार पर यह सम्भव है)। अतः इस आधार पर जेफरीज की स्थल-सेतु परिकल्पना निराधार प्रमाणित की जाती है। परन्तु यदि यह सुझाव माना जाय कि 20 किलोमीटर मोटी परत वाली बेसाल्ट चट्टान का रवीकरण होने से उसका परिवर्तन इक्लोजाइट (Eclogite) चट्टान में हो जाय तो बिना संतुलन में अव्यवस्था उत्पन्न हुए 3-6 किलोमीटर की गहराई तक की गर्त बन सकती है। इस रूप में स्थल-सेतुओं के डूबने की समस्या सुलझ सकती है। इस क्रिया के कारण अर्थात् सियालिक भाग (Land bridge) के डूबने से कुछ भागों पर सागरीय नितल में सियालिक चट्टान का जमाव हो जायगा। अटलांटिक महासागर की तली में सियालिक चट्टान मिलती है। इस परिकल्पना के आधार पर अटलांटिक की तली की समस्या (यह स्मरणीय है कि महासागरों की तली की रचना बेसिक (Sima) चट्टानों से हुई है) का निराकरण भली प्रकार हो जाता है। यहाँ पर कुछ प्रश्न उठाये जा सकते हैं। यदि धरातलीय भागों में क्षैतिज विस्थापन तथा प्रवाह नहीं हुए हैं तो वनस्पतियों तथा जीवों के वितरण को किस प्रकार समझाया जा सकता है ? इस प्रश्न के उत्तर में बताया जा सकता है कि वनस्पतियों के बीजों तथा जीवों के अण्डे आदि का स्थानान्तरण सागरीय जल-धाराओं द्वारा हुआ होगा। यहाँ पर स्मरणीय है कि इस प्रक्रिया के अनुसार केवल छोटे-छोटे जीवों के ही वितरण को समझाया जा सकता है।

सिद्धान्त का मूल्यांकन (पर्वत निर्माण से सम्बन्धित प्रश्न तथा जेफरीज द्वारा उनका समाधान)—यद्यपि जेफरीज ने अपने सिद्धान्त को कई प्रमाणों तथा उदाहरणों द्वारा प्रमाणित करने एवं पृथ्वी की विभिन्न स्थलाकृतियों की समस्याओं को सुलझाने का भरसक प्रयत्न किया है तथापि सिद्धान्त का प्रत्येक स्तर पर विरोध किया गया है तथा कुछ विद्वानों ने (खासकर महाद्वीपीय प्रवाह के समर्थकों ने) तो इन्हें आधारहीन तथा महत्त्वहीन करार दिया है। वास्तव में सकुंचन तथा प्रवाह सिद्धान्त एक दूसरे के इतने विपरीत हैं कि उनमें से किसी एक को मान्यता देना तब तक उचित नहीं जान पड़ता जब तक कि विश्वसनीय प्रमाणों का एकत्रीकरण न हो जाय (वर्तमान समय में प्लेट विवर्तन सिद्धान्त के आधार पर महाद्वीपीय प्रवाह एक वास्तविकता हो गया है)। जेफरीज के पर्वत-निर्माण सम्बन्धी विविध पहलुओं पर प्रश्न उठाये गये हैं परन्तु जेफरीज ने इन प्रश्नों के उत्तर देने का भरसक प्रयास किया है।

1. पर्वत निर्माण के लिये प्रतिपादित शक्ति अपर्याप्त है—जेफरीज ने पृथ्वी में सकुंचन द्वारा उत्पन्न जिस शक्ति द्वारा पर्वतों की उत्पत्ति की व्याख्या की है वह शक्ति इतनी पर्याप्त नहीं है कि भूपटल के वर्तमान पर्वतों की निर्माण-प्रक्रिया को समझा सके। आर्थर होम्स ने गणना के आधार पर बताया है कि जेफरीज द्वारा कल्पित

पृथ्वी में संकुचन के कारण धरातलीय क्षेत्र में जो कमी या ह्रास होता है उससे, पर्वत-निर्माण नहीं हो सकता है।[1] इस प्रश्न के उत्तर में जेफरीज ने बताया है कि धरातलीय चट्टानों का वलन, भूपटलीय क्षेत्र के वास्तविक ह्रास (True shortening of the crust) से भिन्न है। अर्थात् वलन क्रिया, परतदार चट्टानों की मोटी परतों के एकत्रीकरण (एक दूसरे पर—Pilling) का प्रतिफल है। यद्यपि पृथ्वी की भ्रमण-गति में प्राचीन काल से पर्याप्त ह्रास हुआ है परन्तु इस क्रिया से (परिभ्रमण गति में कमी के कारण पृथ्वी की व्यास में कमी) इतनी शक्ति उत्पन्न नहीं हो सकती जिससे कि पर्वतों का निर्माण हो सके। इस प्रकार हम देखते हैं कि जेफरीज ने पर्वत-निर्माण के लिए दो विधियों से उत्पन्न जिस संकुचन शक्ति का प्रतिपादन किया है, वह पर्वत-निर्माण के लिये पर्याप्त नहीं है। अतः सिद्धान्त की शुरुआत ही विवाद का विषय है।

2 **महाद्वीपों तथा महासागरों के वितरण में समानता होनी चाहिए**—जेफरीज के इस संकुचन सिद्धान्त के अनुसार पृथ्वी में चारों तरफ सिकुड़न तथा संकुचन हुआ है क्योंकि पृथ्वी के शीतल होने की क्रिया संकेन्द्रीय परतों के रूप में घटित हुई है। इस आधार पर महाद्वीपों तथा महासागरों के वितरण में समानता होनी चाहिए परन्तु वर्तमान समय में यदि इनके वितरण पर ध्यान दिया जाय तो उत्तरी गोलार्द्ध में स्थल की अधिकता तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में जल की अधिकता है। इसी प्रकार सर्वत्र महाद्वीपों के आकार में समानता होनी चाहिए क्योंकि जेफरीज के अनुसार सर्वप्रथम पृथ्वी में संकुचन द्वारा महाद्वीपों तथा महासागरों का ही निर्माण हुआ था। चूंकि संकुचन सर्वत्र बराबर रहा होगा अतः स्थलीय भागों का विस्तार सर्वत्र समान रहा होगा। परन्तु इसके विपरीत यदि एक तरफ एशिया जैसा सबसे बड़ा महाद्वीप है तो दूसरी ओर आस्ट्रेलिया जैसे सबसे छोटे महाद्वीप। इस प्रकार जेफरीज का संकुचन सिद्धांत महाद्वीपों तथा महासागरों के विषय में गलत धारणा देता है।

3 **पर्वतों की स्थिति महासागरों के समानान्तर होनी चाहिए**—भूपटल के पर्वतों के विषय में एक निश्चित प्रणाली पायी जाती है। अधिकांश पर्वत उत्तर से दक्षिण तथा पूर्व से पश्चिम दिशा में पाये जाते हैं परन्तु जेफरीज के अनुसार पर्वतों का वितरण महाद्वीपों के किनारे सागरों के समानान्तर होना चाहिए। यद्यपि रॉकीज तथा एण्डीज पर्वतों का विस्तार इस सिद्धान्त के अनुसार स्पष्ट हो जाता है परन्तु आल्प्स तथा हिमालय की स्थिति तथा फैलाव की दिशा को इस सिद्धान्त के आधार पर स्पष्ट नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार जेफरीज का तापीय संकुचन सिद्धान्त पर्वतों के वितरण को समझाने में (सही अर्थ में) असमर्थ है।

4 **विशाल पर्वतों का निर्माण नहीं हो सकता है**—जेफरीज ने पृथ्वी की जिस संकुचन शक्ति के आधार पर विशाल पर्वतों के निर्माण की व्याख्या प्रस्तुत की है, उससे इतने विशाल पर्वतों का निर्माण कदापि नहीं हो सकता है। इसके विपरीत छोटे-छोटे वलन (Minor folds & minute puckers) का ही निर्माण हो सकता है क्योंकि सिकुड़न द्वारा झुर्रियों के पड़ने की ही अधिक सम्भावना रहती है तथा झुर्रियों से छोटे-छोटे पर्वतों का ही सृजन सम्भव है न कि अत्यधिक विस्तृत पर्वतों का।

5. **पर्वत सर्वत्र होने चाहिए**—चूंकि तापीय संकुचन सिद्धान्त के अनुसार पृथ्वी में संकुचन संकेन्द्रीय परत (Concentric shells) के रूप में हुआ है अतः सिकुड़न तथा संकुचन पृथ्वी पर चारों तरफ हुआ होगा। इस आधार पर पर्वतों का सृजन सर्वत्र हुआ होगा तथा वर्तमान समय में भूपटल पर सर्वत्र पर्वत मिलने चाहिए, परन्तु वास्तविकता यह है कि पर्वतों का निर्माण एक निश्चित प्रणाली के अनुसार हुआ है तथा यह क्रिया भूपटल के कुछ निश्चित क्षेत्रों में ही सीमित रही है। भूपटल पर पर्वत सर्वत्र नहीं मिलते हैं। इस समस्या के निराकरण के लिए जेफरीज ने बताया है कि पर्वत-निर्माण चट्टानों की शक्ति तथा उनकी लोच शक्ति पर आधारित है। वलन केवल उन्हीं चट्टानों में सम्भव हो पाता है जो कि मुलायम तथा अधिक लचीली होती हैं। इस प्रकार जेफरीज के अनुसार पर्वत सर्वत्र न होकर कुछ निश्चित स्थान पर ही मिलते हैं।

6 **पर्वतों के वितरण में निश्चित प्रणाली नहीं होनी चाहिए**—यदि जेफरीज के सिद्धान्त के अनुसार पर्वतों का निर्माण पृथ्वी में सिकुड़न तथा संकुचन द्वारा हुआ मान लिया जाय तो सभी पर्वत समान ऊंचाई वाले होने

1. Holmes has concluded that the calculateq reduction of area is seriously in deficit of the amount to explain mountain building An Outline of Geomorphology, by S W. Wooldridge & R S Morgan Page 111. 1960

चाहिए जबकि वास्तव में यह बात नहीं है। इस समस्या के हल के लिए जेफरीज का कहना है कि वलन की मात्रा पूर्ण रूप से चट्टानों के स्वभाव पर आधारित होती है। अर्थात् कड़ी तथा कम लचीली चट्टान कम वलन को सहन कर पाती है तथा उसमें फटन होने लगती है, अतः कम ऊँचे पर्वतों के निर्माण की ही सम्भावना रहती है। इसके विपरीत मुलायम तथा लचीली चट्टानों में वलन बड़े पैमाने पर होता है। अतः भूपटल पर कुछ क्षेत्र में बड़े तथा ऊँचे पर्वत मिलते हैं तथा कुछ क्षेत्रों में कम ऊँचे।

इसी सिलसिले में दूसरा प्रश्न भी उठाया जा सकता है। यदि पर्वतों का निर्माण भूपटल में सकुचन द्वारा हुआ है तो पर्वत-निर्माण किसी निश्चित प्रणाली के अनुसार नहीं हुआ होता। जेफरीज ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए बताया है कि पर्वतों का निर्माण निश्चित प्रणाली में होता है। चट्टानों पर लगातार शक्तियों के सकुचन से तीन सम्भावनायें हो सकती हैं—

(अ) पुराने वलन का विस्तार हो सकता है।

(ब) नये स्थान पर या पुराने वलन के पास ही नवीन वलन का निर्माण हो सकता है।

(स) वलन का दरार के रूप में फटन हो सकता है।

जेफरीज ने तीसरी सम्भावना को अस्वीकृत कर दिया है क्योंकि चट्टानें इतनी लचीली होती हैं कि अत्यधिक वलन हो सकता है न कि वलन के टूटने से दरार का निर्माण। इसी प्रकार दूसरी सम्भावना के विषय में आपने बताया है कि नवीन स्थानों पर नये मोड़ों का निर्माण नहीं हो सकता है। इस प्रकार या तो पूर्व वलित पर्वत में ही उत्थान द्वारा विस्तार होगा अथवा पूर्व निर्मित प्राचीन पर्वतों के पास गौण पर्वतों का सृजन होगा। इस तरह पर्वत सर्वत्र नहीं हो सकते हैं वरन् पहले के वलन पर्वतों में ही विस्तार होने से बड़े-बड़े तथा ऊँचे पर्वतों का निर्माण होता है। समानान्तर पर्वत-श्रेणियों का निर्माण जेफरीज के अनुसार इन्हीं गौण वलन (Subsequent secondary folding) द्वारा होता है।

7 पर्वत निर्माण के युगों में अन्तर बढ़ना चाहिये— जेफरीज ने गणितीय परिकलन के आधार पर पृथ्वी के भूगर्भिक इतिहास में पाँच विभिन्न पर्वत-निर्माणकारी युगों की कल्पना की है। पर्वत-निर्माणकारी युगों की यह संख्या कुछ हद तक विभिन्न विद्वानों के मतों से मेल खाती है परन्तु इनके बीच का अन्तर अथवा शान्त-काल जेफरीज ने तापीय सकुचन सिद्धान्त के आधार पर स्पष्ट नहीं हो पाता है। पृथ्वी का शीतल होना उसके उत्पत्ति काल में ही प्रारम्भ हो गया था। अतः प्रारम्भ में शीतल होने की गति अधिक रही होगी परन्तु बाद में यह गति मन्द होती गई। इस आधार पर पर्वत-निर्माण के युगों के बीच का शान्त-काल बढ़ता गया होगा। परन्तु इस मत के कोई निश्चित प्रमाण नहीं है। अधिकांश भूगर्भवेत्ताओं के अनुसार पर्वत-निर्माणकारी युगों के बीच का अवकाश तथा अन्तर प्रायः समान रहा है। अतः यहाँ पर जेफरीज का तर्क अमान्य है।

8. यदि पृथ्वी का शीतल होना तथा सकुचन-क्रिया प्रारम्भिक काल में तीव्र तथा अधिक सक्रिय थी तो पृथ्वी के भूगर्भिक इतिहास के प्रारम्भ में पर्वत-निर्माण क्रिया अधिक सक्रिय रही होगी तथा पर्वत-निर्माण के युग भी प्रारम्भ में अधिक होने चाहिए थे। उनकी संख्या तथा सक्रियता क्रमशः घटती जानी चाहिये थी परन्तु वास्तव में यह सत्य नहीं है। पर्वत निर्माणकारी युगों का वितरण समान रहा है तथा टर्शियरी युग का पर्वतीकरण किसी भी युग के पर्वतीकरण से कम सक्रिय नहीं रहा है। आल्प्स तथा हिमालय पर्वतों की उत्पत्ति निश्चय ही महान पर्वतीकरण का प्रतिफल है।

9 जेफरीज की पृथ्वी का सकेन्द्रीय परत के रूप में शीतल होने की कल्पना भी भ्रामक ही है। यह कोई आवश्यक नहीं है कि पृथ्वी उपर्युक्त रूप में ही शीतल हो। साथ ही साथ इस आधार पर (सकेन्द्रीय परत के रूप में शीतल होने पर) दो परतों के बीच (ऊपर वाली ठंडी हुई तथा उसके नीचे ठंडी होती हुई) अन्तर (Gap) का आभास होता है। गुरुत्व शक्ति (Gravity) के नियमानुसार इस तरह का अन्तर परतों के बीच नहीं रह सकता है। जैसे जैसे निचली परत शीतल होकर सिकुड़ती जायेगी, उसी प्रकार ऊपरी परत निचली पर व्यवस्थित (Adjusted) होती जायेगी। अतः परत के ध्वस्त (Collapse) होने का प्रश्न ही नहीं उठता है। जेफरीज का यह विचार कि ऊपरी परत के एकदम ठंडा हो जाने के बाद निचली परत शीतल होकर सिकुड़ने पर छोटी हो जाती है तथा ऊपर वाली परत निचली परत पर ध्वस्त हो जाती है कल्पना मात्र ही है क्योंकि ऊपरी परत ध्वस्त होने के लिए निचली परत के पूर्णतया शीतल होने की प्रतीक्षा नहीं करेगी वरन् निचली परत के सिकुड़न के साथ ही साथ ऊपरी परत उस पर व्यवस्थित होती जायेगी। इस प्रकार जेफरीज का यह

सिद्धान्त पृथ्वी के तापीय इतिहास (Thermal history) के विषय में गलत धारणा देता है।

10. यदि टर्शियरी युग के **अल्पाइन पर्वतीकरण** पर ध्यान दिया जाय तो यह असम्भव सा लगता है कि आज से केवल 20 करोड़ वर्ष पहले पृथ्वी में इतना सकुचन हो गया कि हिमालय जैसे गगनचुम्बी पर्वत का निर्माण हो गया।

11 जेफरीज की **स्थल-सेतु परिकल्पना** (Land bridge hypothesis) भी भ्रामक एवं अग्राह्य है। सर्वप्रथम इस परिकल्पना मे बाधक समस्या सतुलन की है। हल्के पदार्थ वाले स्थलीय भाग का निचले भारी घनत्व वाले पदार्थ मे डूबना सतुलन के सिद्धान्त के प्रतिकूल है। इस परिकल्पना के आधार पर बड़े-बड़े जीवो आदि के वितरण की समस्या का निदान नही हो पाता है।

3 डेली का खिसकते महाद्वीप का सिद्धान्त (Sliding Continent Theory of Daly)

सामान्य परिचय—डेली ने अपने "**खिसकते महाद्वीप**" अथवा "**महाद्वीप-फिसलन**" सिद्धान्त का प्रतिपादन सर्वप्रथम अपनी पुस्तक "**अवर मोबाइल अर्थ**" (Our Mobile Earth) मे सन् 1926 ई० मे भूपटल की विभिन्न स्थलाकृतियो की व्याख्या करने के लिए किया। यद्यपि डेली ने भूपटल की प्रमुख आकृतियों के विषय मे विवरण उपस्थित किया है तथापि उनका प्रमुख उद्देश्य पर्वतों के निर्माण की प्रक्रिया को स्पष्ट करना ही था। **डेली** ने अपने इस सिद्धान्त के आधार पर पर्वतो की विभिन्न समस्याओ (उत्पत्ति, क्रमिक उत्थान—(Successive upheavals), वितरण तथा उनके फैलाव की दिशा) को हल करने का प्रयास किया है। यद्यपि **डेली** के सिद्धान्त मे **महाद्वीपीय प्रवाह** का आभास मिलता है परन्तु इनका प्रवाह **वेगनर** अथवा **टेलर** के समान बड़े पैमाने पर नही हुआ है। डेली के सिद्धान्त मे प्रयुक्त शक्ति गुरुत्व शक्ति (Gravitational force) है अर्थात् महाद्वीपों या गुम्बदो का फिसलन प्रकारान्तर मे पृथ्वी के गुरुत्व शक्ति द्वारा ही प्रेरित हुआ माना गया है। डेली का समस्त सिद्धान्त महाद्वीपीय भागो के नीचे की ओर फिसलने की गति पर आधारित है तथा इनका प्रमुख कारण पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति रही है।[1]

डेली ने गुरुत्व शक्ति के अलावा, महाद्वीपीय प्रवाह के लिये प्रयुक्त अन्य किसी भी शक्ति का सहारा नही लिया है। इस प्रकार डेली का सिद्धान्त अन्य विद्वानो के सिद्धान्तो की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक, सरल तथा स्पष्ट है। यही कारण है कि इस सिद्धान्त के आधार पर पर्वत-निर्माण की प्रक्रिया को आसानी से परन्तु स्पष्ट रूप मे समझा जा सकता है।

सिद्धान्त की मान्यतायें (Axioms of the Theory)

डेली ने अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए कई मान्यताओ (Self proved facts or axioms) अथवा स्वत सिद्ध प्रमाणो की कल्पना की है। यदि विशेष रूप मे देखा जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि डेली के सिद्धांत का अधिकाश भाग तो उनके द्वारा स्वय प्रमाणित तथ्यो पर आधारित है तथा प्रतिपादक को शेष भाग के लिये बहुत कम प्रमाणो का एकत्रीकरण करना पड़ा है। यहां पर यह स्मरणीय है कि डेली अपने स्वत प्रमाणित तथ्यो के स्पष्टीकरण मे उचित व्याख्या प्रस्तुत नही कर पाते है। वे यह मान कर चलते हैं कि इस प्रकार की स्थिति रही होगी—कैसे हुई ? इसका उत्तर डेली के पास नही है। यहाँ पर इन तथ्यो का उल्लेख उचित जान पड़ता है।

डेली ने स्वय स्वीकार किया है कि **गुरुत्व शक्ति पर आधारित उनका सिद्धान्त पूर्णतया पर्वतीयकरण की समस्याओ का निराकरण कर सकता है।** सर्वप्रथम डेली ने प्रारम्भिक स्थल तथा जल के वितरण म विश्वास किया है। पृथ्वी की उत्पत्ति के बाद शीघ्र ही मौलिक तरल पृथ्वी के ऊपर एक पपड़ी का निर्माण हो गया था जिसे इन्होने **आद्य पपड़ी** (Primitive crust) बताया है। इसी प्रकार **आद्य काल** (Primeval days) मे स्थल तथा जल का सुनिश्चित वितरण था। प्रारम्भ मे ग्लोब पर कठोर भागो का एक शृंखला-क्रम था तथा कठोर स्थलखण्ड भूमध्य रेखा तथा दोनो ध्रुवो के पास स्थित थे जिन्हे डेली ने **भूमध्य रेखीय** तथा **ध्रुवीय गुम्बद** बताया है। इन स्थलीय उच्च भागो के मध्य निचले भाग थे जिनमे जलीय भाग का विस्तार था। इस प्रकार दृढ-भूखण्डो की इन तीन पेटियो के बीच **मध्य अक्षांशीय**

1 The key to the Daly's view is the idea that there has been a downhill sliding movement of the continental masses. In other words, the controlling factor has been gravity.
Steers, J A., The Unstable Earth Page 186.

खाइ (Mid-latitude furrow) तथा आद्य प्रशान्त महासागर (Primeval Pacific Ocean) का विस्तार था। डली ने पुन बताया है कि इन दृढ भूखण्डों तथा प्रशान्त एवं मध्य अक्षांशीय खाई की तली का निर्माण उस पपड़ी (Crust) द्वारा हुआ था जिसका आविर्भाव पृथ्वी के निर्माणकाल में ही गर्म तथा तरल मौलिक पृथ्वी के ऊपर हो गया था। यहाँ पर उल्लेखनीय है कि डेली ने पृथ्वी की आन्तरिक संरचना का भी स्पष्टीकरण किया है। पृथ्वी की पपड़ी घनत्व की दृष्टि में सबस्ट्रेटम[1] (Substratum) की अपेक्षा भारी थी। अर्थात् ऊपरी पपड़ी की रचना ग्रेनाइट से हुई है तथा सबस्ट्रेटम की रचना काँचयुक्त बेसाल्ट (Glassy basalt) से। यहाँ पर स्मरणीय है कि डली ने अपने मत की पुष्टि के लिये ही (महाद्वीपीय भाग के फिसलकर नीचे डूबने के लिए—यदि आप पपड़ी को अधिक घनत्व वाली नहीं मानते तो उस सन्तुलन के अनुसार नीचे डूबना कठिन हो जाता) ऊपरी पपड़ी को नीचे की अपेक्षा अधिक घनत्व वाली माना है। परन्तु यह तथ्य वर्तमान समय में मान्य नहीं है क्योंकि भूकम्प-विज्ञान (Seismology) के प्रमाण के आधार पर डली का यह मत गलत ठहरता है।

डली के अनुसार जल-भागों का क्षेत्र के आधे भाग पर विस्तार था तथा उत्तरी भाग में टथीज भूसन्नति भूगर्भिक इतिहास में एक विशेष आकृति के रूप में विद्यमान थी परन्तु दक्षिणी गोलार्द्ध के विषय में कोई निश्चित अनुमान नहीं लगाया जा सकता है। इसी प्रकार प्रशान्त महासागर का अति प्राचीनकाल में ही एक विस्तृत भाग पर विस्तार था परन्तु डेली इसकी उत्पत्ति की व्याख्या न करके उसकी स्थिति को मानकर चलते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि डली ने जल तथा स्थल गोलार्द्धों की कल्पना की है। इन्होंने पुन बताया है कि स्थल-भाग जल-भाग से ऊपर उठे हुए थे तथा भूमध्य रेखीय और ध्रुवीय गुम्बदों का झुकाव या ढाल मध्य अक्षांशीय खाई तथा प्रशान्त महासागर की ओर था।

सिद्धान्त की प्रक्रिया (Process of the theory)

डेली ने ऊपरी पपड़ी के ध्वस्त (Collapse and fall) होने की भी कल्पना की है। परन्तु इसके ध्वस्त होने की प्रक्रिया का उल्लेख भली प्रकार नहीं किया है। इसके विषय में यह सम्भावना व्यक्त की जा सकती है कि मौलिक तथा प्रारम्भिक बाह्य पपड़ी ताप की कुचालक रही होगी जिस कारण उसका धरातलीय ताप शीघ्र ही वर्तमान समय के बराबर ताप के हो गया होगा परन्तु पृथ्वी के आन्तरिक भाग में शनैः-शनैः ताप का ह्रास होता गया जिस कारण पृथ्वी का आन्तरिक भाग ऊपरी भाग से अलग होकर सिकुड़ता गया होगा परन्तु चूंकि ऊपरी पपड़ी को निचली परत पर आधारित होना ही है अतः वह नीचे की ओर ध्वस्त हो गई होगी। यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि ऊपरी पपड़ी का ध्वस्त होना तीन कारणों से सम्पन्न हुआ माना गया है। 1 पृथ्वी के केन्द्र से उत्पन्न गुरुत्व शक्ति द्वारा 2 सागरीय भाग के जलीय भार द्वारा तथा 3 भूसन्नति के तलछटीय भार द्वारा। यह स्मरणीय है कि गुरुत्व शक्ति का प्रभाव सागरीय तलों के नीचे अधिक पड़ता है क्योंकि सागरीय तली महाद्वीपीय गुम्बद की अपेक्षा पृथ्वी के केन्द्र से अधिक नजदीक है। इस प्रकार कुछ कारणों द्वारा (डली इसका उल्लेख नहीं करते हैं परन्तु ऊपर कारण बताया गया है) पृथ्वी के सन्तुलन द्वारा तथा पृथ्वी की गुरुत्व शक्ति द्वारा सागरीय तली में नीचे की ओर पर्याप्त धँसाव हो गया। **इस प्रकार प्रथम भूसन्नति का निर्माण हुआ।** डेली के अनुसार मध्य अक्षांशीय खाई तथा प्रशान्त महासागर भूसन्नति के ही रूप में फैले हुए थे। इन भूसन्नतियों में समीपवर्ती महाद्वीपीय गुम्बदों के अपरदन से प्राप्त अवसाद (Sediments) का निक्षेपण होने लगा। अब सागरीय तली में दो प्रकार से भार पड़ने लगा—प्रथम सागरीय जल के भार से तथा द्वितीय उसमें निक्षेपित अवसादीय भार से। इस प्रकार सागरीय तली का पुन नीचे की ओर धसाव होने लगा।

सागरीय तली में निरन्तर नीचे की ओर बढ़ता हुआ दबाव तथा उसके कारण से तली के धसाव होने से महाद्वीपीय उच्च भागों की ओर क्षैतिज[2] दबाव (Lateral pressure) का सूत्रपात हुआ। Downward pressure in the oceanic beds caused lateral pressure on the continental masses' इस क्षैतिज दबाव से ऊँचे भूखण्डों के लिए आश्रय (Support) भी प्राप्त हुआ तथा इसके (क्षैतिज दबाव) कारण ऊँचे भूखण्ड चौड़े गुम्बद के रूप में परिवर्तित हो गए। गुरुत्व शक्ति सागरीय जल तथा तलछटीय भार के कारण जैसे जैसे

1. अधःस्तर।
2. पार्श्विक।

सागरीय तली का नीचे की ओर धँसाव होता गया वैसे-वैसे क्षैतिज दबाव के कारण गुम्बद के आकार में विस्तार होता गया तथा उसकी ऊँचाई बढ़ती गई । इस क्रिया के कारण अर्थात् गुम्बद की ऊँचाई बढ़ने के कारण ऊपर से भार हल्का हो जाता है कि जिस कारण गुम्बद का अवसाद फैलने लगता है। गुम्बदीय अवसाद के फैलाव के कारण उसके वजन में कमी होने लगती है। इस कमी का पूर्ण करने के लिये पृथ्वी के आन्तरिक भाग से अवसादीय बहाव (Flowage of sediments) प्रारम्भ हो जाता है। अर्थात् गुम्बदीय पदार्थों के भार की क्षति-पूर्ति के लिए समीपवर्ती सागरीय तली के नीचे से (जो कि अत्यधिक सम्पीडित भाग होता है) भारी पदार्थ (Dense matter) बहकर गुम्बदों के नीचे आने लगते हैं । इस क्रिया के कारण गुम्बद के अन्दर भारी पदार्थों का सञ्चयन होता रहता है तथा वहां पर अधिक पदार्थ एकत्र हो जाते हैं ।

उपर्युक्त क्रिया की पुनरावृत्ति के कारण गुम्बदीय भाग में निरन्तर वृद्धि होती जाती है परन्तु गुम्बद के मध्यवर्ती भाग की अपेक्षा उसके किनारे वाले भाग में वृद्धि तथा विकास अधिक होता है । इस प्रकार गुम्बद के निरन्तर विस्तार के कारण दबाव का आविर्भाव होता है जिसका असर भूसन्नति के नीचे सागरीय तली वाली पपड़ी पर पड़ता है । जैसे-जैसे गुम्बद का विस्तार होता रहता है, सागरीय तली पर दबाव बढ़ता जाता है परन्तु दबाव सहन करने की एक सीमा होती है । जब दबाव इस सीमा से अधिक हो जाता है तो सागरीय तली (पपड़ी) इसे सहन नहीं कर पाती है तथा उसमें फटन या टूटन (Rapture) प्रारम्भ हो जाती है। सागरीय तली में इस प्रकार की टूटन के कारण गुम्बद के किनारे वाले भाग टूट जाते हैं जिस कारण गुम्बद का आश्रय अथवा आधार (Support) टूट जाता है। फलस्वरूप गुम्बद से अत्यधिक बलवती तनाव की शक्तियाँ (Tensional force) कार्य करने लगती हैं। इस क्रिया के फलस्वरूप गुम्बद बड़े-बड़े खण्डों में टूट कर भूसन्नतियों की ओर फिसलने लगता है। इन खण्डों के फिसलने के कारण भूसन्नतियों के तलछट पर दबाव पड़ता है, फलस्वरूप भूसन्नति का अवसाद वलित होकर मोड़ में बदल जाता है तथा प्रथम पर्वत का निर्माण होता है।

डेली के अनुसार गुम्बद का तथा सागर की तली के नीचे का भाग टूटकर नीचे की ओर प्रवाहित होता है तथा वह अधःस्तर (Substratum) में डूब जाता है क्योंकि ऊपरी पपड़ी का घनत्व अधःस्तर की अपेक्षा अधिक होता है । इसके विपरीत भूसन्नति में निक्षेपित तलछट या अवसाद, भूसन्नति की तली के टूट जाने पर भी अधःस्तर में डूबता नहीं है वरन् उस पर तैरता रहता है, क्योंकि भूसन्नति के अवसाद का घनत्व, अधःस्तर से कम होता है । इस स्थिति के कारण भूसन्नति का मलवा अत्यधिक वलित होता है तथा पर्वतों का निर्माण होता रहता है। इस आधार पर यह बताया जा सकता है कि "महाद्वीपीय खण्डों की जितनी ही अधिक फिसलन होगी, भूसन्नति के मलवा का उतना ही सम्पीडन (Compression) होगा तथा उतने ही ऊँचे तथा विस्तृत पर्वतों का निर्माण होगा।" डेली ने पुनः बताया है कि अधिक भार के कारण जब भूसन्नति की तली वाली पपड़ी में टूटन प्रारम्भ होती है तो इस पपड़ी का टूटा हुआ भाग अधःस्तर (Substratum) में डूबने लगता है तथा उसी समय अधःस्तर का कुछ भाग ऊपर की ओर भूसन्नति के तलछट के नीचे चढ़ जाता है जिस कारण महाद्वीपीय खण्ड की फिसलन और अधिक होने लगती है ।

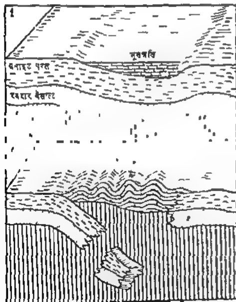
पर्वतों में पुनः उत्थान (Second Orogenesis)

डेली ने पर्वतों के निरन्तर ऊँचे होने की क्रिया का भी स्पष्टीकरण किया है अर्थात् प्रथम बार में ही पर्वत का निर्माण नहीं हो पाता है वरन् उसमें कई उत्थान होते हैं । उदाहरण के लिये जब अधिक भार के कारण भूसन्नति की तली टूट जाती है तो उसके टुकड़े नीचे तप्त ग्लासी बेसाल्ट में डूब जाते हैं । चूँकि नीचे ताप की मात्रा अधिक होती है अतः ये टुकड़े तप्त होकर पिघलने लगते हैं, जिससे उनके आयतन में विस्तार होता है । इसी प्रकार फिसलते हुए महाद्वीपीय टुकड़ों के दबाव से जब भूसन्नति का मलवा वलित होता है तो उसका कुछ भाग तप्त अधःस्तर (Substratum) में पहुँच जाता है जहाँ पर गर्म होकर पिघलता है जिस कारण उसके आयतन में विस्तार होता है। उपर्युक्त दो क्रियाओं के कारण भूसन्नति का सम्पीडित मलवा ऊपर की ओर उठने लगता है जिस कारण पर्वत में उभार होने लगता है तथा पर्वतीकरण के द्वितीय उत्थान की क्रिया प्रारम्भ हो जाती है ।

वर्तमान पर्वतों के वितरण का समाधान

भूपटल पर वर्तमान पर्वतों का वितरण दो रूपों में पाया जाता है—उत्तर से दक्षिण महाद्वीपों के किनारे वाले भाग पर तथा पश्चिम से पूर्व । डेली के "महाद्वीपीय

फिसलन" सिद्धान्त के अनुसार पर्वतों के वितरण की समस्या का हल आसानी से हो जाता है। डेली के अनुसार भूपटल के पर्वतों का निर्माण महाद्वीपीय भाग के सागरों (भूसन्नतियों) की ओर फिसलने से उत्पन्न दबाव द्वारा भूसन्नति के मलवा के वलित होने से हुआ है। इस आधार पर पश्चिम से पूर्व फैले हुए आल्प्स हिमालय शृंखलाओं का निर्माण महाद्वीपीय भाग के **मध्य अक्षांशीय खाई** की ओर फिसलने से हुआ है तथा उत्तर से दक्षिण दिशा में फैले हुए राकीज तथा एण्डीज पर्वतों की उत्पत्ति महाद्वीपीय भाग के प्रशान्त महासागर की ओर फिसलन के कारण हुई है। इसी प्रकार पूर्वी एशिया के धनुषाकार तटीय द्वीपों का निर्माण एशिया महाद्वीप के प्रशान्त महासागर की ओर फिसलने से हुआ है तथा इसके द्वारा नीचे की ओर दबाव पड़ने से गहरे **अग्रखड्ड** (Fordeep) का निर्माण हो गया है। डेली का "यह सिद्धान्त पृथ्वी की सतह की प्रमुख समस्या—पर्वतों का निर्माण—को हल करने का सफल प्रयास करता है तथा इसके आधार पर पर्वतों के वितरण की स्पष्ट व्याख्या हो जाती है।"



चित्र 163—डेली के पर्वत-निर्माण सिद्धान्त का ब्लाक डायग्राम द्वारा प्रदर्शन।

सागर एवं महाद्वीपों का निर्माण

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, डेली ने स्थल एवं जल के वितरण की समस्या का भी उल्लेख करने का प्रयास किया है परन्तु ये उचित प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर पाते हैं। फलतः इनके विचार मुख्य रूप से सुझावात्मक (Highly suggestive) हैं। डेली महोदय **जीन्स** (James Jeans) तथा **जेफरीज** के अनुसार पृथ्वी की उत्पत्ति को सूर्य से मानते हैं। मौलिक रूप में पृथ्वी वायव्य अवस्था में थी परन्तु बाद में शीतल होने लगी (बीच में तरल एवं तप्त हो गई थी—इसके बाद शीतल होने की क्रिया प्रारम्भ हुई)। इस प्रकार **डेली** ने बताया है कि पृथ्वी के प्रारम्भिक इतिहास में ही उसके धरातलीय भाग में असमानता आ गई थी परन्तु डेली इस असमानता की उत्पत्ति के कारण का उल्लेख नहीं करते हैं। अतः यह विषय एक कल्पनात्मक तथ्य ही कहा जा सकता है। इस विषय में दो सुझाव उपस्थित किये जा सकते हैं—1. यदि पृथ्वी की गैसीय अवस्था का परिवर्तन, द्रव अवस्था में तीव्र गति से हुआ होगा तो विभिन्न घनत्व वाले पदार्थों की असमान व्यवस्था हो गई होगी तथा पृथ्वी का अन्तरतम भारी (Viscous) हो गया होगा। फलस्वरूप जल-थल का वितरण (दो गोलार्द्धों के रूप में) हो गया होगा। 2. **डार्विन तथा फायनकेर** के अनुसार पृथ्वी से चन्द्रमा के पृथक होने से पृथ्वी का तल असमान हो गया होगा। यह तथ्य अब सन्दिग्ध है।

जो भी हो, डेली पृथ्वी की प्रारम्भिक असमान अवस्था में विश्वास करते हैं। डेली ने प्रारम्भिक काल में एक स्थल तथा एक जल भाग के वितरण को भी स्वीकार किया है। इस प्रकार प्रारम्भ में पृथ्वी पर एक **मौलिक महाद्वीप, पैंजिया** (Pangaea) तथा एक **मौलिक सागर, पेन्थालसा** (Panthalsa) था। डेली के अनुसार पैंजिया एक गुम्बद के रूप में हो गया तथा फिसलन के कारण यह तीन थल पेटियों—उत्तरी ध्रुवीय भूखण्ड, दक्षिणी ध्रुवीय भूखण्ड तथा भूमध्यरेखीय भूखण्ड के रूप में विभाजित हो गया। मध्य अक्षांशों के मध्य दो खड्ड या खाई (Furrows) का निर्माण हो गया। उत्तर में **टेथीज सागर** था परन्तु दक्षिण के विषय में कम ज्ञान है। इस प्रकार डेली ने बताया है कि पैंजिया के आधार पर पृथ्वी के विभिन्न भागों व जीव-जन्तुओं की व्याख्या स्पष्ट रूप से की जा सकती है। वर्तमान महासागरों का निर्माण दो रूपों में हुआ—दबाव[1] तथा तनाव की शक्तियों द्वारा। प्रशान्त महासागर का आविर्भाव निश्चय ही दबाव की क्रिया से

1 सम्पीडन।

हुआ है। अन्य सागरों का निर्माण तनाव या खिंचाव की शक्ति द्वारा हुआ माना गया है। डेली के अनुसार तनाव के कारण भूखण्डों का भाग कई भागों में विखण्डित हो गया तथा विभिन्न दिशाओं में इन भूखण्डों के खिसकने के कारण उनके (भूखण्डों के) मध्य तनाव से निर्मित दरार (Tension rift) या तनाव-खड्ड बन गये। इन खड्डों में जल के संचयन से महासागरों का निर्माण हुआ। इस प्रकार से निर्मित महासागरों में हिन्द महासागर, अटलांटिक महासागर तथा आर्कटिक महासागर प्रमुख हैं। मध्य अटलांटिक कटक (Ridge) इस बात का प्रमाण है जहाँ पर तनाव द्वारा नवीन (अमेरिका) तथा प्राचीन महाद्वीप (यूरोप) फट कर एक दूसरे से अलग हो गये तथा मध्य का तनाव-खड्ड जलपूर्ण होकर अटलांटिक महासागर में बदल गया। इस प्रकार डेली द्वारा महासागरों के निर्माण की इस प्रक्रिया के आधार पर विभिन्न महासागरों की विषमताओं का भली प्रकार स्पष्टीकरण हो जाता है। साथ ही साथ इस सिद्धान्त के आधार पर वनस्पतियों आदि के वितरण की समस्या का निदान भी हो जाता है तथा स्थल-सेतु (Land bridge) की समस्या ही नहीं रह जाती है। प्रो० स्टीयर्स के शब्दों में यह कहा जा सकता है—"यह परिकल्पना पृथ्वी के धरातल की एक प्रमुख समस्या जल-थल के वितरण की व्याख्या करने का प्रयास करती है।"[1]

सिद्धान्त का मूल्यांकन (Evaluation of the Theory)

यद्यपि डेली का **महाद्वीपीय फिसलन** सिद्धान्त सर्वमान्य तथा गुरुत्व शक्ति पर आधारित है तथा पर्वतीकरण की समस्याओं का निदान सरल रूप में करने का प्रयास करता है तथापि यह सिद्धान्त पर्वत-निर्माण सम्बन्धी तथ्यों का सम्बद्ध (समग्र) विवरण उपस्थित नहीं कर पाता है।[2] सिद्धान्त प्रतिपादक (Propounder) द्वारा उद्धृत विभिन्न तथ्यों की विशद रूप में व्याख्या नहीं कर पाता है तथा सिद्धान्त के सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक पहलुओं में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है।[3] सिद्धान्त का अधिकांश भाग प्रतिपादक द्वारा स्वतः सिद्ध (Self proved) मान लिया गया है तथा इनसे विषय में वर्तमान विद्वान सहमत नहीं हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि समूचा सिद्धान्त ही अमान्य है। सिद्धान्त का सही मूल्यांकन प्रमुख आलोचनाओं के बाद ही किया जायेगा।

1. डेली ने पृथ्वी की आन्तरिक बनावट के विषय में गलत विवरण उपस्थित किये हैं। इन्होंने बताया है कि ऊपरी पपड़ी का घनत्व अधःस्तर से अधिक होता है। यह विवरण वर्तमान भूकम्प-विज्ञान के साक्ष्यों के विपरीत है क्योंकि अब यह प्रमाणित हो गया है कि अधःस्तर का घनत्व निश्चय ही ऊपरी पपड़ी से अधिक है। लगता है, डेली ने अपने महाद्वीपीय खण्ड (पपड़ी का ही भाग) को डुबाने के लिये तथा सतुलन के सिद्धान्त से बचने के लिये ही अधःस्तर को कम घनत्व वाला **माना** है। परन्तु यह मत त्रुटिपूर्ण है।

2. डेली के सिद्धान्त की आधार शिला उनके स्वतः प्रमाणित तथ्यों पर आधारित है। पृथ्वी की प्रारम्भिक पपड़ी असमान या बेडौल क्यों हो गई तथा भूखण्ड जल की तरफ ढालू क्यों थे? प्रशान्त महासागर का निर्माण कैसे हुआ? आदि प्रश्नों का संतोषजनक उत्तर डेली से प्राप्त नहीं हो पाता है, क्योंकि इन्हें तो डेली महोदय स्वयं सिद्ध मानकर चले हैं। वर्तमान जल एवं थल के वितरण के विपरीत प्रारम्भिक विभिन्न वितरण की कल्पना की गई है परन्तु उनका स्पष्टीकरण नहीं किया गया है। इस प्रकार डेली के अधिकांश विचार कोरी कल्पनायें या अटकलें हैं जो कि वर्तमान समय में मान्य नहीं हैं।

3. इस सिद्धान्त द्वारा भूसन्नति के विषय में गलत धारणाओं का प्रतिपादन किया गया है। साधारण रूप से भूसन्नतियाँ लम्बे सकरे तथा अपेक्षाकृत उथले जलीय भाग होती हैं। परन्तु इस साधारण मत के विपरीत डेली महोदय ने मध्य अक्षांशीय खाईं (Mid latitude

---

1 The hypothesis however does make an attempt to explain the fundamental problem of the earth's surface, the distribution of land and water"—Steers, J. A., The Unstable Earth Page 192

2 Though the 'sliding continent theory' by Daly is based on the well known principle of the gravitational force and tries to explain the problems of mountain building in a simple manner yet it does not present a coherent account of the problem

3. The theory does not go into details and there is a wide gap between theoretical and practical aspect of the theory

furrows) तथा प्रशान्त महासागर को भूसन्नति के रूप मे बताया है। यदि भूसन्नतियाँ इतनी अधिक विस्तृत तथा गहरी थी तो महाद्वीपीय गुम्बदो से अपरदन द्वारा पदार्थो से इनका भरना असम्भव ही नही कल्पनातीत है। यदि यह विचार मान लिया जाय तो वर्तमान महासागर (आन्ध्र महासागर प्रशान्त-महासागर, हिन्द महासागर आदि) भूसन्नतियाँ ही है। परन्तु यह विचार नितान्त त्रुटिपूर्ण है। इस प्रकार डेली ने भूसन्नति के विषय मे विद्वानो द्वारा प्रतिपादित सामान्य विशेषताओ का उल्लंघन किया है तथा गलत विवरण उपस्थित किया है।

4 इतना ही नही, डेली ने पर्वत निर्माण की प्रक्रिया के विषय मे गलत धारणाओ को जन्म दिया है। यह सिद्धान्त महासागरो (भूसन्नतियो, डेली के अनुसार) के विस्तार तथा गहराइयो तथा उनमे जमा होने वाले पदार्थों का विचार नही करता है, वरन् प्रत्येक महासागर से पर्वत निर्माण की आशा करता है। यदि इस विचार को मान लिया जाय तो यह भी माना जा सकता है कि वर्तमान महासागरो मे पर्वतो का निर्माण हो सकता है। उदाहरण के लिये वर्तमान समय मे प्राय प्रत्येक महासागर या सागर मे समीपवर्ती भागो मे अनाच्छादन से से प्राप्त मलवा का निक्षेपण हो रहा है। इस सिद्धान्त के अनुसार किसी न किसी समय इन भागों से पर्वत-निर्माण की आशा की जा सकती है। यदि अटलांटिक महासागर को लिया जाय तो क्या इससे पर्वत-निर्माण सम्भव है? यह स्पष्ट है कि यदि समस्त अमेरिका महाद्वीप (दोनो महाद्वीप) का अपरदन हो जाय तथा उसका अटलांटिक महासागर मे निक्षेपण हो जाय तो यह मलवा इतना अधिक नही हो सकेगा कि अटलांटिक महासागर भर जाय तथा उसमे पर्वत का निर्माण हो सके।

5 सिद्धान्त मे गुरुत्व शक्ति के परिचालन तथा उसकी प्रक्रिया (The mechanism and process of gravity) के विषय मे भी गलत विचारो का उल्लेख किया गया है। किस स्थिति मे गुरुत्व शक्ति द्वारा खिचाव की प्रक्रिया का समापन होगा? तथा कब निश्चित रूप से टूटन-क्रिया होगी? इन प्रक्रियाओं का स्पष्ट उल्लेख नही किया गया है। इस प्रकार एक घटना का दूसरी घटना के साथ सामञ्जस्य (Coincidence) नही हो पाता है। अर्थात् यह सिद्धान्त आंशिक व्याख्या करता है न कि पूर्ण विवरण उपस्थित करता है।

6 यह सिद्धान्त ऐसे जल तथा थल के वितरण मे विश्वास करता है जो कि सिद्धान्त के उद्देश्य की पूर्ति कर सके। इस प्रकार यह सिद्धान्त उसी स्थान पर पहुँच जाता है जहाँ से प्रारम्भ हुआ था अर्थात कोई विशेष निष्कर्ष नही निकल पाता है।[1]

7 अधिकांश आलोचको ने डेली के **पंजिया** तथा **पंथालसा** को कल्पित बताया है परन्तु आलोचक **प्रोफेसर स्टीयर्स** के अनुसार इसकी आलोचना करना उचित नहीं है क्योकि इस क्षेत्र मे प्राप्त विवरण की कमी है। यदि महाद्वीपीय भागों का गुम्बद के रूप मे परिवर्तन हो गया होगा तो गुरुत्व शक्ति द्वारा उसका फिसलना अधिक न्यायोचित है तथा इससे उत्पन्न शक्ति **वेगनर** द्वारा प्रतिपादित शक्ति की अपेक्षा महाद्वीपीय प्रवाह के लिये अधिक उपयुक्त होगी।

सारांश—डेली के विचारों तथा उस पर की गई आलोचनाओ के विश्लेषण के बाद यह स्पष्ट हो गया है कि डेली का सिद्धान्त कुछ गलतियो के साथ अधिक विश्वासजनक है। वूलरिज तथा मार्गन के शब्दो मे—"सिद्धान्त के पूर्ण अस्वीकरण की भावना अपरिपक्व होगी, परन्तु यह कहना उचित है कि प्राथमिक उठाव (Bulges) के कारण जिनमे फिसलन प्रारम्भ होती है, का सतोषजनक उल्लेख नही हुआ है।[2]

4. होम्स का सवहन तरंग सिद्धान्त (Convection Current Theory of Holmes)

सामान्य परिचय—आर्थर होम्स ने अपने 'संवहन तरंग सिद्धांत' का प्रतिपादन सन् 1928-29 ई० मे भूपटल की आकृतियों की उत्पत्ति की समस्या के निराकरण के लिये किया था। यद्यपि पर्वत-निर्माण से सम्बन्धित कई परिकल्पनाओ तथा सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया जा चुका है परन्तु होम्स के इस सिद्धान्त से पर्वत निर्माण की विभिन्न समस्याओ के विषय मे अधिक

---

1 Thus the theory comes back to the same point from where it started—a circular reasoning

2 Complete rejection of the idea may be premature, but it is fair comment to say that the cause of primary "bulges" which start the slipping has in no sense been satisfactorily indicated." Wooldridge and Morgan, An Outline of Geomorphology Page 115, 1960

निम्नवत विवरण मिलते हैं। ऊलरिज तथा मार्गन के शब्दों में—"एक रूप प्रदान करने वाला एकमात्र सिद्धान्त, जिससे कि पर्वत-निर्माण तथा महाद्वीपीय प्रवाह से सम्बन्धित परस्पर विरोधी परिकल्पनाओं में सन्धि स्थापित करने की आशाजनक झलक दिखाई पड़ती है, वह होम्स के कारण है"।[1] वास्तव में होम्स ने एक नवीन सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है जिसमें कई ऐसे तथ्यों का समावेश तथा स्पष्टीकरण किया है जिनका उल्लेख अन्य विद्वानों द्वारा नहीं किया गया है। होम्स का इस सिद्धांत के प्रतिपादन का सर्वप्रमुख उद्देश्य पर्वत-निर्माण की प्रक्रिया की सुस्पष्ट व्याख्या उपस्थित करना था परन्तु पर्वतीकरण से सम्बन्धित ज्वालामुखी की क्रिया तथा रूपान्तरण एवं महाद्वीपीय प्रवाह का भी उल्लेख किया गया है। होम्स के अनुसार धरातल के ऊपर कार्बानिफरस हिमानीकरण तथा ग्लोसोप्टेरीस वनस्पति के वितरण की समस्या के निदान के लिये महाद्वीपीय प्रवाह का होना आवश्यक है। यह सिद्धान्त पूर्ण रूप से पृथ्वी के अध-स्तर में उठने वाली संवहन तरंगों पर आधारित है तथा इन्हीं तरंगों जिनका उल्लेख आगे विशद् रूप में किया जायेगा, के आधार पर स्थलीय भाग में खिंचाव या तनाव होने से सागरों का आविर्भाव होता है तथा पुनः दो स्थलों के एक दूसरे के समीप आने से दबाव की शक्ति से पर्वत का निर्माण होता है। पृथ्वी के अध स्तर (Substratum) में संवहन तरंगों की उत्पत्ति का प्रमुख आधार वहाँ पर रेडियो सक्रिय पदार्थों की स्थिति है। इन पदार्थों के विघटन तथा वियोजन से उत्पन्न ताप द्वारा संवहन धाराओं का आविर्भाव होता है। इस प्रकार होम्स ने इस तथ्य (रेडियो सक्रिय पदार्थों के गुण—जिसका ध्यान जेफरीज आदि संकुचनवादी विद्वानों ने नहीं रखा, फलस्वरूप अपने सिद्धान्त की आलोचनाओं का शिकार होने दिया) को अपने सिद्धान्त में सम्मिलित करके, न केवल अपने सिद्धान्त को आलोचनाओं से बचाया है वरन् अन्य विद्वानों की कमियों को दूर करके पर्वत-निर्माण के लिये एक उपयुक्त सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

सिद्धान्त के मुख्य आधार

अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन के पहले होम्स ने कई तथ्यों का उल्लेख किया है जिनसे इनके मत को पर्याप्त बल मिलता है। सर्वप्रथम होम्स ने पृथ्वी की संरचना का परत-प्रणाली (Layering system) के रूप में उल्लेख किया है। होम्स के अनुसार पृथ्वी की संरचना तीन परतों में हुई है—(1) ऊपरी परत जिसकी मोटाई 10 से 12 किलोमीटर तक है, ग्रैनोडियोराइट से निर्मित है। (2) मध्यवर्ती परत 20 से 25 किलोमीटर तक गहरी है तथा इसकी संरचना एम्फलीबोलाइट (Amphibolite) से हुई है तथा (3) निचली परत का निर्माण इक्लोजाइट (Eclogite) से हुआ है। पुनः इन तीन का वर्गीकरण दो भागों में किया गया है—(1) पृथ्वी की पपड़ी (Crust) जिसकी रचना ऊपरी परत, मध्यवर्ती परत तथा निचली परत के उस भाग से, जो कि रवेदार (Crystalline) है, हुई है। (2) अध-स्तर (Substratum)—निचली परत के भाग को अध-स्तर बताया गया है—

पपड़ी Crust { ऊपरी परत
मध्यवर्ती परत
निचली परत—अध स्तर (Sebstratum)

होम्स ने पुनः बताया है कि ऊपरी सियाल (Sial) की परत महासागरों के नीचे नहीं पाई जाती है। अटलांटिक महासागर तथा हिन्द महासागर के कुछ भागों में आंशिक रूप या छिटपुट रूप में पाई जाती है परन्तु सियालिक परत का विस्तार महाद्वीपों में सर्वत्र पाया जाता है। मध्यवर्ती तथा निचली परतों का विस्तार महाद्वीपों तथा महासागरों दोनों के नीचे क्रमबद्ध रूप में पाया जाता है। परन्तु महाद्वीपों के नीचे परतों की गहराई महासागरों की अपेक्षा अधिक है। विषुवत रेखा पर ध्रुवों की अपेक्षा अध स्तर (Substratum) की मोटाई अधिक है।

उपर्युक्त तथ्यों के बाद होम्स अध स्तर में संवहनीय तरंगों की उत्पत्ति की सम्भावना का उल्लेख करते हैं। संवहनीय तरंगों की उत्पत्ति चट्टानों के रेडियो सक्रिय पदार्थों पर आधारित है। चट्टानों में वर्तमान रेडियो सक्रिय तत्वों के विघटन तथा वियोजन से ताप की उत्पत्ति होती है। होम्स के अनुसार पृथ्वी के विभिन्न भागों में इन तत्वों का वितरण असमान है। पृथ्वी के ऊपरी भाग में रेडियो सक्रिय पदार्थों का केन्द्रीकरण सर्वाधिक है तथा अध स्तर में यह बहुत कम पाया जाता है। पृथ्वी के ऊपरी भाग में इन पदार्थों के सर्वाधिक

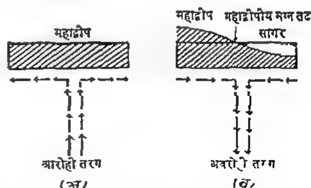
1. The only unifying theory which shows hopeful signs of reconciling certain of the, divergent hypotheses of mountain building and continental drift is that due to Holmes." वही पृष्ठ 119.

संचयन के होते हुये भी वहाँ पर ताप अधिक नही हो पाता है। पृथ्वी के ऊपरी सतह से सचालन (Conduction) तथा विकिरण (Radiation) द्वारा प्रतिवर्ष 60 कैलोरी प्रति वर्ग सेन्टीमीटर ताप का ह्रास हो जाता है। नष्ट हुई यह ताप की मात्रा ग्रेनाइट की 14 किलोमीटर मोटी परत, ग्रैनोडियोराइट की 16.5 किलोमीटर, 52 किलोमीटर मोटी पठारी बेसाल्ट अथवा गैब्रो मीटर तथा 60 किलोमीटर मोटी पेरिडोटाइट (Peridotite) की परतों मे स्थिति रेडियो सक्रिय पदार्थों के विघटन तथा वियोजन से उत्पन्न ताप मे बराबर होती है। होम्स ने गणितीय परिकलन के आधार पर बताया है कि पृथ्वी की ऊपरी परत मे ताप की हानि की पूर्ति 60 किलोमीटर मोटी सतह द्वारा उत्पन्न ताप से हो जाती है। इस कारण पृथ्वी की ऊपरी सतह मे अधिक ताप का सचयन नही हो पाता है। इसके विपरीत पृथ्वी के अध स्तर मे यद्यपि रेडियो सक्रिय पदार्थों की कमी होती है तथापि इनसे उत्पन्न ताप तथा अध स्तर का मौलिक ताप इतना अधिक हो जाता है कि उससे सवहन तरंगो का आविर्भाव हो जाता है, क्योंकि अध स्तर के ताप का ह्रास सचालन अथवा विकिरण द्वारा नही हो पाता है।

पृथ्वी की पपडी के नीचे औसत ताप प्रवणता (Gradient) 3° सेण्टीग्रेड होती है तथा यदि इस प्रवणता मे अन्तर हो तो पृथ्वी के अन्दर स्थायी दशाये ही पायी जायेगी परन्तु रेडियो सक्रिय पदार्थों द्वारा उत्पन्न ताप के कारण ताप की प्रवणता मे वृद्धि हो जाती है जिस कारण सवहन तरगो की गति मे अधिकता आ जाती है। इस प्रकार पृथ्वी के अध स्तर मे ऊपर की ओर सवहन तरगें चलने लगती है। सवहन तरगे दो तत्वो पर आधारित होती हैं—1 विषुवत रेखा के पास पृथ्वी की पपडी की मोटाई ध्रुवीय भागो की अपेक्षा अधिक है अत वहाँ पर रेडियो सक्रिय पदार्थों की अधिकता से उत्पन्न ताप के कारण ताप प्रवणता अधिक होती है। इस कारण विषुवत रेखा के नीचे से ऊपर उठने वाली सवहन तरगों तथा ध्रुवीय भागो मे ऊपर से नीचे की ओर चलने वाली तरगो की उत्पत्ति होती है। 2 पृथ्वी की पपडी मे भी रेडियो सक्रिय पदार्थों का वितरण समान नही है। महाद्वीपीय भागो मे महासागरीय भागो की अपेक्षा इन पदार्थों की अधिकता है। इस कारण महाद्वीपीय भागो के नीचे से उठने वाली तरगे, महासागरों की अपेक्षा अधिक तीव्र तथा सक्रिय होती है, जिस कारण महाद्वीपों के नीचे अध स्तर से उठने वाली सवहन तरगें पिघले पदार्थों को सागर की ओर बहा कर ले जाती है।

सिद्धान्त की प्रक्रिया

उपर्युक्त प्रक्रिया के आधार पर महाद्वीपों तथा महासागरो के नीचे सवहनीय तरगो के क्रम का आविर्भाव होता है। महाद्वीपों के नीचे वाली सवहनीय तरगें अधिक वेगवती होती है। इस प्रकार से उत्पन्न तरगे ऊपर की तरफ प्रवाहित होती है। पृथ्वी की पपडी के नीचे पहुँचने पर इन तरगो मे दो स्थितियो का आविर्भाव होता है। प्रथम जिस, स्थान पर दो सवहनीय तरगें एक दूसरे के विपरीत दिशा मे अलग होकर प्रवाहित होती है वहाँ पर फैलाव (मार्ग विभेद (Divergence) होने से तनाव की शक्ति (Tensional force) पैदा हो जाती है जिस कारण स्थल भाग दो टुकडो मे विभक्त होकर दो विपरीत दिशाओ मे हट जाते है तथा बीच वाले खुले भाग मे सागर का निर्माण हो जाता है। द्वितीय जिस स्थान पर दो केन्द्रों से उठने वाली सवहनीय तरगें पृथ्वी की पपडी के नीचे पहुँच कर मुडकर उसके क्षैतिज दिशा मे प्रवाहित होकर एक दूसरी मे मिलती है तो मिलन (Convergence अभिसरण) के कारण दबाव की शक्ति उत्पन्न होती है जिस कारण दोनो तरगे मुडकर नीचे की ओर प्रवाहित होने लगती है। जिस स्थान पर ये तरगे मुडकर नीचे की ओर चलती है वहाँ पर



चित्र 163—(अ) स्थल का खुलना तथा सागर का निर्माण। (ब) स्थल भागो का बन्द होना तथा पर्वत का निर्माण। भूपटल के नीचे आरोही (Asending) तथा अवरोही (Descending) सवहन तरगो का प्रदर्शन।

धरातलीय भाग मे अवतलन (Subsidence) हो जाता है तथा पर्वत निर्माण के लिये भूसन्नतियो का निर्माण होता है। इस प्रकार सवहनीय तरंगों की स्थिति के विचार से दो वर्गों मे रखा जा सकता है—उठते हुए स्तम्भ की तरंगें (Convection currents of rising column) तथा नीचे गिरते हुये स्तम्भ की तरंगे (Convection currents of falling columns)। होम्स न ग्रहीय पवनों (Planetary winds) के समान ही ग्रहीय संवहन तरंगों (Planetary convection currents) का प्रतिपादन किया है तथा भूमध्यरेखीय भागो के नीचे से ये तरंगें उठकर पपडी के नीचे क्षैतिज अवस्था मे प्रवाहित होकर ध्रुवो के पास नीचे गिरने लगती हैं। सर्वप्रथम भूमध्य रेखीय भूभाग मे इसी प्रकार के विलगाव (Divergence) के कारण स्थलीय भाग तनाव के कारण उत्तर तथा दक्षिण हट गया तथा टेथीज सागर का निर्माण हुआ। इसे टेथीज का खुलना कहते हैं। इसके बाद पुन दो संवहन तरंगो के मिलने के कारण दबाव से लारेंशिया तथा गोंडवानालैंड के समीप आने के कारण टेथीज का मलवा पर्वत मे बदल गया। इसे टेथीज का बन्द होना कहा जाता है।

भूसन्नति का आविर्भाव (Origin of Geosynclines)

ऊपर स्पष्ट किया गया है कि सवहन तरंगो की उत्पत्ति महाद्वीपीय भागो तथा महासागरो दोनो के नीचे होती हैं। चूँकि महाद्वीपीय भागों के नीचे रेडियो सक्रिय पदार्थों की अधिकता होती है अत इनके नीचे उठने वाली तरंगें महासागरो की अपेक्षा अधिक वेगवती होती हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि संवहन तरंगो का आविर्भाव एक ही स्थान से न होकर कई स्थानो से होता है तथा इनके उत्पत्ति केन्द्र बदलते रहते हैं। इसी प्रकार संवहन तरंग की प्रक्रिया एक शाश्वत तथा स्थायी क्रिया नहीं होती है, वरन् सामयिक होती है जो कि वेगवती तथा क्षीण होने के बाद पुन दूसरे केन्द्र से प्रारम्भ होती है।'[1]

महाद्वीपों तथा महासागरो के नीचे उठते स्तम्भ (Rising column) मे उठने वाली सवहन तरगें पपडी के निचले भाग तक पहुँचकर क्षैतिज दिशा मे प्रवाहित होने लगती हैं तथा मुडकर (चित्र 163 ब) एक दूसरे की ओर अग्रसर होती हैं। ये संवहन तरंगें महाद्वीपीय चबूतरे (Continental shelves) के नीचे एक दूसरे से मिलती हैं तथा दबाव के कारण मुडकर (Converge) नीचे की ओर चलने लगती हैं तथा गिरते समय स्तम्भ (Falling column) का आविर्भाव होता है। इस स्तम्भ मे नीचे उतरती हुई तरंगें दबाव, सम्पीडन (Compression) तथा पृथ्वी की आन्तरिक ताप शक्ति द्वारा गर्म होती हैं तथा यह अतिरिक्त ताप पुन. उठते स्तम्भ मे तरंगो के रूप में चला जाता है। इस प्रकार दो पूर्ण वृत्तीय संवहनीय तरंगों (Two complete circular convective current systems) के क्रम का आविर्भाव होता है। उठते स्तम्भ मे ताप का ह्रास होता है तथा गिरते स्तम्भ में ताप की वृद्धि होती है।

जब दो क्रमों (महाद्वीपीय तथा महासागर से आने वाली तरगें) की संवहन तरगें महाद्वीपीय चबूतरे के नीचे मिलती हैं तो सम्पीडन के कारण इस भाग का अवतलन होता है तथा भूसन्नति का निर्माण होता है। गिरते स्तम्भ के ऊपर ही भूसन्नति की स्थिति होती है। उठते स्तम्भ की तरगें महाद्वीपीय भागो के नीचे तथा महासागरो की तली मे कुछ भाग को ताप के कारण पिघला कर उन्हें भूसन्नति मे जमा करने लगती हैं। इस प्रकार महाद्वीपीय परत पतली होने लगती है। लगातार संपीडन तथा तलछटीय निक्षेप के कारण भूसन्नति मे क्रमश: तथा निरन्तर धँसाव होता रहता है। भूसन्नति की जमाव तथा धँसाव की प्रक्रिया का होम्स के संवहन तरंग द्वारा भली प्रकार स्पष्टीकरण हो जाता है। संवहनीय तरंगो की क्रिया, चक्रीय होती है तथा इसी के दौरान भूसन्नति का निर्माण, पर्वत की उत्पत्ति तथा उसका उत्थान होता है। इन तरंगों तथा पर्वतीकरण की क्रिया का तीन अवस्थाओ मे समापन होता है।

(i) प्रथम अवस्था—प्रथम अवस्था का समय सबसे लम्बा होता है जिसके अन्तर्गत दो केन्द्रो से आने वाली संवहनीय तरंगें मिलकर महाद्वीपीय चबूतरो के नीचे भूसन्नति का निर्माण करती हैं। इस अवस्था मे तरगें क्रमश: वेगवती होती रहती हैं। भूसन्नति मे तलछटीय जमाव होता रहता है तथा भूसन्नति की तली निरन्तर धँसती जाती है। इस कारण पदार्थों का जब नीचे की ओर अधिक गहराई तक अवतलन होता है तो ऊपर से दबाव तथा पृथ्वी के आन्तरिक ताप द्वारा ये तप्त होने

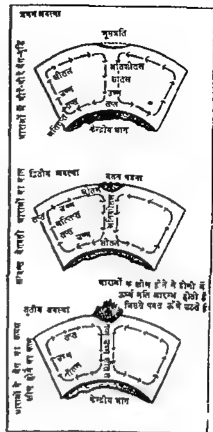
1 The convective mechanism is not a steady process but a periodic one, which waxes and wanes and then begins again with a different arrangement of center.'' Holmes, A, Principles of Physical Geology, Page, 414, 1952.

लगते हैं जिस कारण उनमें रूपान्तरण होने लगता है, फलस्वरूप उनका घनत्व बढ़ता है तथा पुन. धँसाव होता है। इस प्रकार गिरता स्तम्भ बढ़ते हुए घनत्व वाला स्तम्भ (Column of increasing density) होता है।[1]

इस तरह रूपान्तरण के कारण एम्फीबोलाइट का परिवर्तन इक्लोजाइट मे हो जाता है जिससे (घनत्व मे वृद्धि के कारण दबाव नीचे की ओर होता है) दबाव बढ़ने से पुन. पदार्थ का नीचे को ओर धँसाव होता है। इस क्रिया के कारण कुछ ताप रूपान्तरण मे तथा कुछ इक्लोजाइट के निर्माण में खर्च हो जाता है जिससे ताप का अत्यधिक संचयन नहीं हो पाता है। इस प्रकार प्रथमावस्था पर्वत के निर्माण के तैयारी की अवस्था होती है जिसमें भूसन्नति का आविर्भाव तथा तलछटीय जमाव एवं तलों का निरन्तर धँसाव होता रहता है।

(ii) द्वितीय अवस्था—द्वितीय अवस्था मे सवहनीय तरंगों की गति अत्यधिक तीव्र हो जाती है परन्तु यह अवस्था कम समय तक रहती है। इस अवस्था मे तरंगों के सर्वाधिक वेगवती होने के एकमात्र कारण गिरते स्तम्भ में शीतल पदार्थों का अवतलन तथा उठते स्तम्भ में तप्त पदार्थों का प्रवाहित होना है। चूँकि गिरते स्तम्भ में रूपान्तरण अत्यधिक होता है अत अधिक दबाव के कारण गति बढ़ जाती है। इस कारण महाद्वीपों तथा महासागरों की ओर से आने वाली तरंगें तीव्र गति से मिल कर नीचे मुड़ती हैं जिसमे भूसन्नति के मलवा पर क्षैतिज सम्पीडन (Lateral Compression) पड़ता है, फलस्वरूप भूसन्नति का मलवा भिचकर वलित हो जाता है तथा पर्वत-निर्माण प्रारम्भ हो जाता है। इसे पर्वतीकरण की अवस्था कहते हैं।

(iii) तृतीय अवस्था—तीसरी तथा अन्तिम अवस्था मे सवहनीय तरंगों का वेग क्रमश क्षीण होने लगता है। इसका प्रमुख कारण गिरते स्तम्भ मे गर्म पदार्थों का आना तथा उठते स्तम्भ में शीतल पदार्थों का उठना है। धीरे-धीरे समस्त उठता स्तम्भ, शीतल स्तम्भ हो जाता है। अर्थात् गिरते स्तम्भ के ऊपर गर्म पदार्थों तथा निचले भाग में शीतल पदार्थों (सवहन तरंग के केन्द्र पर, जहाँ से ये प्रवाहित होती हैं, शीतल पदार्थ आने से ताप कम हो जाता है तथा इन तरंगों का चलना बन्द हो जाता



चित्र 164—भूपटल के नीचे सवहनीय तरंगों की क्रमिक अवस्थाओं (Successive Stages) तथा पर्वत निर्माण का प्रदर्शन।

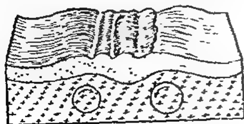
है—चित्र 164 मे यह बात स्पष्ट की गई है) का विस्तार हो जाता है जिस कारण सवहन तरंगों का समापन हो जाता है। इसके फलस्वरूप सवहन तरंगों द्वारा गिरते स्तम्भ (भूसन्नति) मे पदार्थों का निक्षेपण समाप्त हो जाता है तथा सवहन-तरंग की समस्त प्रक्रिया समाप्त हो जाती है। इस समापन के कई परिणाम होते हैं—1 सर्वप्रथम निक्षेपण की समाप्ति के कारण गिरते स्तम्भ के ऊपरी भाग मे (जहाँ निक्षेपण से नीचे की ओर दबाव होता था) दबाव कम हो जायेगा जिस कारण गिरता स्तम्भ धीरे-धीरे ऊपर उठने लगता है तथा पर्वतों मे उत्थान प्रारम्भ हो जाता है। 2. ऊपर से दबाव के हट जाने से वे भारी पदार्थ (रूपान्तरण के कारण घनत्व

1. As the sediments are pressed downwards into geosynclines, these go further downward, and are heavily heated up and metamorphosed and hence density increases Thus falling column is a column of increasing density.

मे वृद्धि होने मे) जो कि नीचे दब गये थे अब ऊपर उठने लगते हैं तथा 3. इक्लोजाइट जो कि दबाव के कारण काफी नीचे चला गया था, अधिक ताप के कारण तप्त होकर पिघलकर फैलता है तथा ऊपर उठता है जिसमे नीचे से पर्वतों मे पुन उत्थान होने लगता है तथा पर्वत ऊँचाई मे बढने लगते है, और पर्वत का निर्माण पूर्ण रूप से सम्पन्न हो जाता है। इस प्रकार इस सिद्धान्त के आधार पर पर्वतीकरण की तीनो अवस्थाओ (भूसन्नति अवस्था, पर्वत-निर्माण की अवस्था, पर्वत के विकास की अवस्था–(Lithogenesis, Orogenesis एव Gliptogenesis) का भली प्रकार स्पष्टीकरण हो जाता है। यह आवश्यक नही है कि उपर्युक्त प्रक्रिया सर्वत्र अर्थात् प्रत्येक महाद्वीप तथा महासागरीय तली के नीचे एक ही साथ तथा समान गति से सक्रिय एव क्रियान्वित हो। इसके विपरीत कुछ स्थानों पर वेगवती तरगें होती हैं तथा कुछ जगह क्षीण होती हैं। अत सर्वत्र पर्वत का निर्माण नही हो सकता है। सवहन तरगे साधारण रूप मे न होकर अत्यन्त जटिल होती है तथा एक से अधिक केन्द्रो से उत्पन्न होती है। कुल मिलाकर होम्स का "सवहन तरंग सिद्धान्त" पर्वत-निर्माण क्रिया की सुस्पष्ट व्याख्या करता है।

ग्रिग्स महोदय द्वारा पुष्टि

ग्रिग्स महोदय ने प्रयोगो द्वारा होम्स के सवहन तरग सिद्धान्त द्वारा पर्वत-निर्माण की सत्यता को प्रमाणित किया है। इन्होंने पृथ्वी के एक अश का छोटा माडल तैयार किया जिसका निर्माण पृथ्वी से मिलते-जुलते पदार्थों से किया गया था। अर्थात् ऊपरी पपडी का निर्माण रेत तथा भारी तेल के सम्मिश्रण से तथा अध स्तर (Substratum) का निर्माण चिपचिपे जलीय-ग्लास या कांच (Viscous waterglass) से किया गया। इस माडल के अध स्तर मे सवहन तरग पैदा करने के लिये घूमने वाले



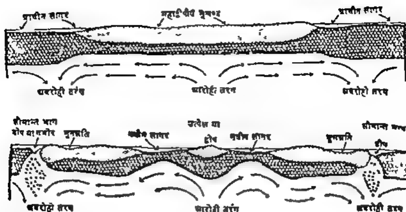
(ग्रिग्स के आधार पर)

चित्र 165—ग्रिग्स द्वारा होम्स के सवहन तरंग सिद्धान्त का प्रयोग द्वारा स्पष्टीकरण।

ढोल (Rotating drums) बनाये गये। जब ढोलो को धीरे-धीरे घुमाया गया तो माडल के ऊपरी पटल का नीचे उतरने वाली तरंगो द्वारा अवतलन होने लगा (प्रथम अवस्था का आविर्भाव तथा भूसन्नति का निर्माण) तथा जैसे-जैसे इन ढोलो का परिभ्रमण (Rotation) अधिक बढाया जाने लगा वैसे-वैसे नीचे उतरने वाली तरंगो द्वारा पपडी का अवसवलन (Downwarping) तीव्र गति से होने लगा एव पपडी का अधिकाश भाग इस अवतलित भाग मे आने लगा। परन्तु जब दोनों का परिभ्रमण मन्द कर दिया गया तो धँसा हुआ भाग पुन मौलिक तल से ऊपर उठने लगा। इस प्रकार ग्रिग्स ने अपने प्रयोग द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि संवहन के विकास-काल में चक्रीय अवस्था पाई जाती है तथा एक पूर्ण चक्रीय अवस्था के घटित होने पर क्रमश भूसन्नति का निर्माण तथा उसमें जमाव एव धँसाव, पर्वत का निर्माण तथा अन्त में पर्वत का उत्थान होता है और संवहन तरंग समाप्त हो जाती है।

महाद्वीपीय प्रवाह

होम्स ने अपने "संवहन तरंग सिद्धान्त" द्वारा सागर तथा महाद्वीपो के निर्माण की भी व्याख्या उपस्थित की है। इतना ही नही होम्स ने बताया है कि महाद्वीपों के किनारे पर पाये जाने वाले वर्तमान पर्वतों के वितरण तथा कार्बोनिफरस युग के हिमानीकरण को स्पष्ट करने के लिए महाद्वीपीय प्रवाह तथा विस्थापन की क्रिया को स्वीकार करना आवश्यक है। सर्वप्रथम हम सागरों की सामान्य उत्पत्ति की व्याख्या उपस्थित करेंगे। महाद्वीपों अथवा स्थलीय भागों के नीचे संवहन तरगें उठती हैं तथा पपडी के निचले भाग को स्पर्श करने के बाद क्षैतिज दिशा मे फैल जाती है। इस प्रकार तरगें दो विपरीत दिशाओं मे प्रवाहित होती है जिस कारण उनके अलगाव वाले स्थान पर तनाव की शक्ति पैदा हो जाती है तथा वहाँ पर स्थलीय भाग पतला होना रहता है। एक ऐसी स्थिति आती है जब कि तनाव (Tension) के कारण स्थल भाग मे टूटन (Rupture) हो जाती है तथा दो भाग सवहन तरंगो के साथ दो दिशाओ मे खिच जाते हैं एवं उनके बीच बने रिक्त स्थान में जल का संचयन हो जाता है। फलस्वरूप सागर का निर्माण हो जाता है। प्रारम्भ मे इस क्रिया के कारण भूमध्य रेखीय स्थलीय भाग के ध्रुवो की ओर खिसकने से टेथीज का निर्माण हुआ होगा तथा अगारालैण्ड एवं गोंडवानालैण्ड,



(होम्स के आधार पर)

चित्र 166—होम्स के सवहन-तरंग सिद्धान्त के अनुसार सागरो तथा भूसन्नतियो का निर्माण भूपटल के नीचे जहाँ पर आरोही तरगें विपरीत दिशा मे चलती है, वहाँ पर सागर का निर्माण होता है तथा जहाँ पर (महाद्वीपीय चबूतरे के नीचे) सवहन तरगें मिलकर नीचे चलती हैं वहाँ पर भूसन्नति का निर्माण होता है (चित्र 167 मे स्पष्ट है) ।

दो स्थल भागो का आविर्भाव हुआ होगा । यह स्थिति **पैल्योजोइक** कल्प के अन्त तक वर्तमान थी । इस स्थिति को **टेथीज का खुलना** (Opening of Tethys) कहा जाता है । इसके बाद उप-महाद्वीपीय सवहन तरगों (लारेशिया तथा गोडवानालैण्ड) के उठने के कारण लारेशिया तथा गोडवानालैण्ड समीप आ गये होगे । इसे **टेथीज का बन्द होना** (Closing of Tethys) कहा जाता है । इस प्रकार स्थलीय भागो का विस्थापन (Dislocation) तथा सम्मिलन या एकीकरण (Unification) उठती हुई सवहन तरगो के ही प्रतिफल है ।

अब महाद्वीपो तथा महासागरो के वर्तमान वितरण की व्याख्या करेंगे । होम्स के अनुसार कार्बोनिफरस युग के हिमानीकरण तथा वनस्पतियो एव जीवों के वितरण की समस्या को सुलझाने के लिए महाद्वीपीय प्रवाह का होना आवश्यक है । कार्बोनिफरस युग मे दक्षिणी ध्रुव की स्थिति वर्तमान नेटाल के पास बतायी गई है तथा भूमध्य रेखा की स्थिति ग्रेटब्रिटेन से होकर थी क्योकि उस समय ब्रिटिश यूरोप के कोयले का निर्माण हो रहा था । इसके विपरीत गोंडवानालैण्ड के अधिकाश भाग मे हिम-चादर का विस्तार था । कार्बोनिफरस हिमानीकरण से प्रभावित सभी स्थानो का उल्लेख वेगनर के महाद्वीपीय-प्रवाह-सिद्धान्त के समय (देखिये अध्याय 7—महासागरो तथा महाद्वीपो की उत्पत्ति) किया जा चुका है । होम्स ने उपर्युक्त तथ्य को स्वीकार किया है तथा इनके अनुसार पैल्योजोइक युग के अन्त मे दो महान स्थल भाग थे—उत्तर मे लारेशिया तथा दक्षिण मे गोंडवानालैण्ड । यदि वेगनर के अनुसार महाद्वीपीय प्रवाह गुरुत्व शक्ति द्वारा तथा रगड द्वारा हुआ तो पैंजिया तथा गोंडवानालैण्ड का विभजन मेसोजोइक कल्प के पहले ही हो जाना चाहिए था क्योंकि ये शक्तियाँ तो सर्वत्र वर्तमान थी परन्तु गोंडवानालैण्ड आदि का विभजन तथा प्रवाह मेसोजोइक युग मे सवहनीय तरगो द्वारा केवल इसलिए हुआ है कि इस युग मे कई सवहन तरगें मिलकर सशक्त तथा वेगवती हो गई थी ।



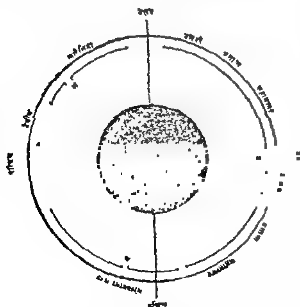
(होम्स के आधार पर)

चित्र 167—पर्वत-क्रम के निर्माण के बाद सवहन तरगो की स्थिति ।

होम्स ने बताया है कि गोंडवानालैण्ड, लारेशिया तथा प्रशान्त महासागर के नीचे तीन अलग-अलग सवहन तरगो के क्रम का अविर्भाव हुआ तथा इनसे अरीय या त्रिज्याई (Radial) गति हुई जिस कारण स्थलीय भागो का टेथीज एवं प्रशान्त महासागर की ओर विस्थ

पन या प्रवाह प्रारम्भ हो गया। ऊपर उठती हुई तरंगों का आविर्भाव गोंडवानालैण्ड में केप पर्वत के नीचे, लारेशिया में अप्लेशियन तथा कैलिडोनियन पर्वत मेखला के नीचे तथा प्रशान्त महासागर के नीचे हुआ। इस प्रकार स्थलभागों के सम्बन्ध में असमान केन्द्रों से इन तरंगों के प्रवाहित होने के कारण दो प्रकार की गतियां होती हैं—स्थल गोलार्द्ध में उत्तर की ओर तथा जल गोलार्द्ध (प्रशान्त महासागर) में दक्षिण की ओर। इस क्रिया के कारण गोंडवानालैण्ड का विभंजन हो गया तथा भारत का प्रवाह उत्तर की ओर (टैथीज की ओर) हो गया एवं दक्षिणी अमेरिका, आस्ट्रेलिया आदि प्रशान्त महासागर की ओर प्रवाहित हो गये। होम्स का उपर्युक्त विवरण चित्र 168 द्वारा स्पष्ट होता है।

आस्ट्रेलिया का प्रवाह तीव्र गति से हुआ तथा वह बहुत दूर चला गया। इसके स्पष्टीकरण के लिये यह बताया जाता है कि हिन्द महासागर के नीचे उठने वाली संवहन तरंगें अत्यधिक वेगवती थी जिस कारण मार्ग में कोई रुकावट न होने के कारण आस्ट्रेलिया विस्थापित होकर अधिक दूर चला गया। इसके विपरीत अण्टार्कटिक महाद्वीप का प्रवाह अधिक दूर तक नहीं हो पाया क्योंकि इसके प्रवाह-मार्ग में प्रशान्त महासागर के नीचे



(होम्स के आधार पर)

चित्र 168—भूपटल के नीचे संवहन तरंगों की स्थिति।

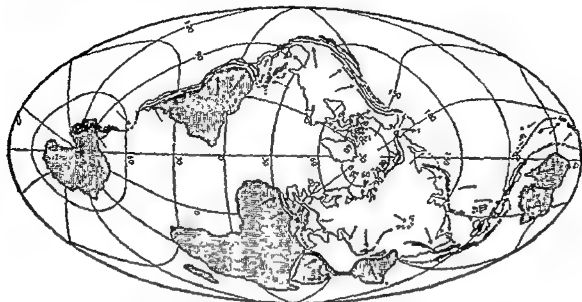
उठने वाली तरंगों द्वारा अवरोध उत्पन्न हो गया था। दक्षिणी अमेरिका, अफ्रीका में प्रवाहित होकर अलग हो गया था। इस प्रकार उठती हुई संवहन तरंगों द्वारा गोंडवानालैण्ड तथा लारेशिया के विभंजन तथा उनके विस्थापन एवं प्रवाह द्वारा स्थलीय भाग एक दूसरे से अलग हो गये जिस कारण वर्तमान महाद्वीपों तथा महासागरों की उत्पत्ति तथा वितरण सम्भव हुआ है।

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि लारेशिया तथा गोंडवानालैण्ड दोनों का बाहर की ओर प्रशान्त महासागर तथा टैथीज की ओर विस्थापन तथा प्रवाह हुआ है जिस कारण स्थलीय भागों के किनारे पर पर्वत श्रेणियों का निर्माण हुआ है। उदाहरण के लिये लारेशिया के किनारे उत्तरी अमेरिका के कार्डिलरा, पश्चिम द्वीप समूह के पर्वत, पूर्वी एशिया के मालाकार द्वीप समूह (Island festoons) तथा अल्पाइन पर्वत क्रम के उत्तरी भाग का निर्माण एवं गोंडवानालैण्ड के चारों तरफ, वेनेजुएला के एण्डीज पर्वत, दक्षिणी अमेरिका के कार्डिलरा, अण्टार्कटिका के एण्डीज, न्यूजीलैण्ड तथा न्यूगाइना के पर्वत तथा अल्पाइन पर्वत-क्रम के दक्षिणी भागों का निर्माण उपर्युक्त प्रक्रिया के आधार पर पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है।

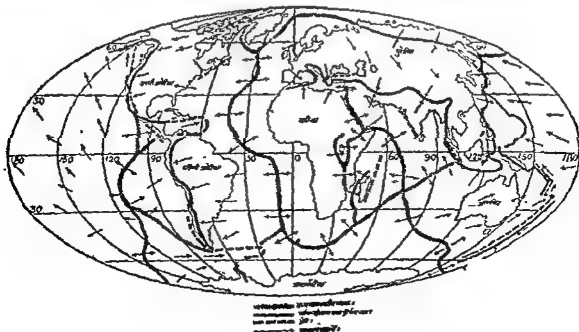
इस प्रकार उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि महाद्वीपों का वर्तमान वितरण तथा कार्बोनिफरस हिमानीकरण की समस्या का निदान होम्स के संवहन तरंग सिद्धांत के अनुसार प्रतिपादित महाद्वीप प्रवाह द्वारा भली-भांति हो जाता है। यद्यपि भूपटल के वर्तमान पर्वतों के निर्माण तथा वितरण की समस्या का इस सिद्धांत के अनुसार पूर्ण रूप से स्पष्टीकरण हो जाता है परन्तु प्राचीन पर्वतों की उत्पत्ति के विषय में होम्स विशद विवरण न देकर इतना ही कहकर संतुष्ट हो जाते हैं कि उनकी उत्पत्ति इसी प्रकार की संवहन तरंगों द्वारा हुई थी। होम्स ने संवहन तरंगों के आधार पर भूसन्नति, मध्य पिण्ड, भूभ्रंश घाटी तथा ज्वालामुखी क्रिया की भी व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

सिद्धान्त का मूल्यांकन—यद्यपि होम्स के संवहन तरंग की अत्यधिक प्रशंसा हुई तथा इसके कई तथ्य मान्यता को प्राप्त हुए हैं, तथापि अन्य सिद्धान्तों के समान इसकी भी आलोचना हुई, परन्तु अन्य सिद्धान्तों के समान इसमें अत्यधिक त्रुटियां नहीं हैं। प्रोफेसर स्टीयर्स इस सिद्धान्त के विषय में आलोचनात्मक दृष्टि से कहते हैं—

"सिद्धान्त दिलचस्प है, परन्तु यह ऐसे कारकों (Factors) पर आधारित हैं, जिनके विषय में बहुत कम जानकारी प्राप्त है ।" परन्तु यह कहना गलत नहीं होगा कि कुल मिलाकर संवहन तरंग सिद्धान्त, अन्य सिद्धान्तों की अपेक्षा पर्वत-निर्माण के विषय में अधिक विश्वासजनक व्याख्या उपस्थित करता है ।



चित्र 169—महाद्वीपीय किनारों पर पर्वत-मेखलाओं का प्रदर्शन । प्रशान्त महासागर तथा टेथीज की ओर महाद्वीपीय प्रवाह की दिशा को तीरों द्वारा दिखाया गया है । गोंडवाना ब्लाक को छायांकित कर दिया गया है ।



चित्र 170—ग्लोब पर संवहन-तरंगों की स्थिति ।

1. सिद्धान्त कई स्थानो पर भ्रामक तथ्यो का उल्लेख करता है। यद्यपि संवहन तरंग सिद्धान्त एक अग्रणी सिद्धान्त है तथा पर्वत-निर्माण की समस्या के निराकरण के लिये एक नूतन दिशा प्रदर्शित करता है परन्तु सिद्धान्त का मुख्य आधार ही ऐसे कारको पर टिका है जिसके विषय मे बहुत कम ज्ञान प्राप्त है। वास्तव मे उठते स्तम्भ (Rising columns) तथा गिरते स्तम्भ (Falling columns) की धारणा सदेहास्पद है। इस प्रकार एक सदेहास्पद अवस्था के सहारे पर्वत-निर्माण की व्याख्या उपस्थित करना उचित नही है।

2 सवहन तरगे कई कारणो की प्रतिफल है, जैसे धरातल पर ताप-ह्रास, पृथ्वी के भीतर ताप-प्रवणता (Heat gradient inside the earth) तथा रेडियो पदार्थों द्वारा ताप की वृद्धि। चूंकि ये सभी कारक पृथ्वी के अन्दर है, अत इनके विषय मे वास्तविकता का पता लगाना कठिन कार्य है। साथ ही साथ इन कारको मे बडे पैमाने पर परिवर्तन होते रहते है। सिद्धान्त की प्रक्रिया इन उपादानो के एक साथ कार्यान्वित होने पर आधारित है, परन्तु यह सोचना कल्पनातीत है कि ये सभी कारक एक साथ मिलकर सहयोग से सक्रिय होते है। इसके विपरीत उठती हुई सवहन तरगो को पृथ्वी की एक मोटी परत से होकर गुजरना पडता है, जिससे मार्ग मे ताप का अधिक ह्रास हो जाता है। इसी प्रकार इन उठती हुई गर्म तरगो द्वारा सस्पर्शीय रूपान्तरण (Contact metamorphism) के कारण रेडियो सक्रिय पदार्थों से मिलने वाले ताप से अधिक ताप का ह्रास होगा। इस प्रकार सवहन तरगो के कार्यान्वित होते रहने के लिये आवश्यक ताप निश्चित कम मालूम होता है। अत यदि उचित ताप सुलभ नही है तो सिद्धान्त की प्रक्रिया कार्यान्वित नही हो सकती है।

3. (आलोचना सख्या दो के साथ ही साथ) सवहनीय तरगो (ऊपर उठती हुई) द्वारा सचालन (Conduction) से ताप का वितरण होता है। इस प्रकार सचालन द्वारा लाये गये ताप का उपभोग ऊपरी परत आसानी से कर लेती है जिस कारण सिद्धान्त की प्रक्रिया समाप्त हो जाती है।

4. भूपटल या पपडी के नीचे सवहन तरगो का क्षैतिज प्रवाह भी एक सदेहास्पद तथ्य है। उपर्युक्त विधियो (2 तथा 3 मे वर्णित) के अनुसार जब इन तरगो के ताप का अत्यधिक ह्रास हो जायेगा तो पपडी के निचले भाग तक पहुँचने पर ये तरगे स्वत ही मृत-प्राय हो जायेगी, जिससे क्षैतिज प्रवाह नही होगा तो गिरते स्तम्भ का आविर्भाव नही होगा अत इसके अभाव मे भूसन्नति का निर्माण नही हो सकेगा। फलस्वरूप पर्वत-निर्माण सम्भव नही होगा। इस प्रकार इस सिद्धान्त मे पर्वत-निर्माण की व्याख्या करने के लिये विस्तृत विवरण की कमी है।

5 रूपान्तरण द्वारा एम्फीबोलाइट का इक्लोजाइट मे परिवर्तित होना तथा उसका नीचे की ओर धँसाव एक और भ्रामक समस्या है। यद्यपि रूपान्तरण द्वारा इक्लोजाइट का घनत्व 3 से बढकर 3.4 हो जाता है परन्तु घनत्व की इस वृद्धि से इक्लोजाइट मे वाछित धँसाव नही हो सकेगा। यदि यह सत्य है तो क्षैतिज सवहन तरगो द्वारा लाये गये पदार्थों का गिरते स्तम्भ मे उचित समावेश (Proper accomodation) नही हो सकेगा तथा एक समय ऐसा आयेगा जबकि समस्त गिरता स्तम्भ इक्लोजाइट से भर जायेगा। फलस्वरूप गिरते स्तम्भ का कार्य सपादन वाछित रूप मे नही हो पायेगा और वह समाप्त हो जायेगा। इस प्रकार यह सिद्धान्त अतिरिक्त पदार्थों के समावेश का उचित प्रबन्ध नही कर पाता है।

6. इस सिद्धान्त के अनुसार सवहन तरगो का आविर्भाव महाद्वीपो के नीचे कुछ सीमित केन्द्रो पर ही होगा। यदि इन तरगो की उत्पत्ति के लिये आवश्यक दशाएँ प्राप्त है तो तरगो का आविर्भाव प्रत्येक स्थान पर क्यो नही होता है ? यदि यह सम्भव हो जाता है तथा सभी स्थानो पर सवहन तरगो का आविर्भाव हो जाता है तो तरगो के क्षैतिज प्रवाह के विषय मे क्या होगा ? इस स्थिति के कारण समस्त महाद्वीप कई टुकडो मे विभक्त हो जायेगा तथा समस्त ग्लोब पर केवल समुद्रीय द्वीपो का ही साम्राज्य होगा न कि महाद्वीप होंगे। इस प्रकार यह सिद्धान्त सवहन तरगो के विषय मे केवल भ्रामक तथा सदेहास्पद वरन् गलत विवरण उपस्थित करता है।

7 यदि गर्म सवहन तरगें अत्यधिक वेग के साथ ऊपर की ओर प्रवाहित होती है तो भूपटल के निचले स्तर को छूने के बाद उनमे फैलाव होकर केवल क्षैतिज प्रवाह न होकर ऊर्ध्वाकार प्रवाह भी हो सकता है। यदि यह सत्य है तो वेगवती तरगे भूपटल को तोडकर विस्फोट के साथ धरातल पर ज्वालामुखी-क्रिया को जन्म देंगी न कि तनाव द्वारा सागर का निर्माण करेंगी। इस प्रकार

सिद्धान्त ऐसी शक्ति पर आधारित है जिसके विषय में उचित नियंत्रण की व्यवस्था नहीं की गई है[1]।

8. **जोली** के सिद्धान्त की सबसे अधिक आलोचना **जेफरीज** द्वारा की गई है। जोली ने अध.स्तर की तरला-वस्था मे महाद्वीपो का पश्चिम दिशा में विस्थापन तथा प्रवाह ज्वारीय शक्ति के आधार पर बताया है परन्तु **जेफरीज** ने गणितीय परिकलन के आधार पर इस तथ्य को गलत प्रमाणित कर दिया है तथा बताया है कि अब तक कोई ऐसी ज्ञात पर्याप्त शक्ति नहीं है, जिससे महाद्वीपो का पश्चिम दिशा मे विस्थापन हो सके। यहाँ पर उल्लेखनीय है कि जेफरीज सकुचनवादी हैं तथा इस विचारधारा के मानने वाले के लिये महाद्वीपीय विस्थापन मान्य नहीं है। हो सकता है जोली द्वारा प्रस्तुत शक्ति महाद्वीपीय विस्थापन के लिए समर्थ न हो परन्तु जफरीज का यह कथन कि, ऐसी कोई शक्ति है ही नहीं, असगत है।

9 गणितीय नियमो के आधार पर जेफरीज ने बताया है कि अध स्तर (Sima) एक बार पिघलकर ठोस नहीं हो सकता है। यह भौतिक शास्त्र का सर्वमान्य नियम (गुप्त ऊष्मा के आधार पर) है कि किसी भी ठोस का, यदि वह अपने गलनाक (Melting point) पर हो, तापक्रम तब तक नहीं बढता है जब तक की अन्दर से उत्पन्न ऊष्मा या ताप बाहर की ओर निकली ऊष्मा से अधिक होती है। चूंकि जोली के अनुसार सीमा से सियाल में ताप गमन नही होता है अत उत्पन्न ऊष्मा सदैव अधिक रहेगी। फलत ठोस ऊपरी भाग (Sima का) पिघल नही सकता। इसी प्रकार एक तरल भाग, यदि वह अपने गलनाक पर हो, तब ठडा नहीं हो सकता जब तक कि निकली ऊष्मा, उत्पन्न ऊष्मा से अधिक न हो जाय। यदि बेसाल्ट के ताप को गलनाक से ऊँचा मान लिया जाय तो बेसाल्ट की परत सदैव तरलावस्था मे रहेगी तथा पिघलने व ठोस होने की क्रिया की पुनरावृत्ति (Recurrence) नही होगी। यदि यह सच है तो जोली के सिद्धान्त की प्रमुख अवस्था सागर के चढने तथा उतरने (Transgressional and regressional seas) का आविर्भाव ही नहीं हो पायेगा तथा सिद्धान्त असफल हो जायेगा।

6. प्लेट विवर्तन सिद्धान्त (Plate Tectonic Theory)

1960 के बाद भूपटल के वृहदाकार उच्चावचो की उत्पत्ति की समस्या के निदान के सम्बन्ध में प्रतिपादित **प्लेट विवर्तन सिद्धान्त** के आधार पर पृथ्वी के प्राचीन एवं टर्शियरी युगीन वलित पर्वतो की उत्पत्ति का विश्लेषण भली-भाँति हो जाता है। अध्याय आठ मे इस सिद्धान्त की विशद विवेचना की गई है।

द्वीप तोरण (Island Arcs)

सामान्य परिचय—सागरीय भागो मे द्वीपो की कई क्रमबद्ध शृखलायें हैं। उनका विवरण प्रस्तुत करना आवश्यक है। अधिकाश सागरीय द्वीप महाद्वीपीय मुख्य भाग के किनारे-किनारे वृत्त के चाप के रूप में फैले हुए हैं जिन्हे स्वेस महोदय ने मालाकार द्वीप समूह (Island festoon) बताया है तथा अन्य लोगो ने इस द्वीपीय चाप खण्ड अथवा द्वीप तोरण बताया है। प्रशान्त महासागर इसका सर्वप्रमुख उदाहरण है तथा मुख्य रूप से पश्चिमी प्रशान्त महासागर के तटीय भाग अर्थात् पूर्वी एशिया के तट के समानान्तर उत्तर-पूर्व से दक्षिण-पश्चिम दिशा में इन द्वीपो का विस्तार है। इनमे साखालीन, क्यूराइल, जापान द्वीपो के समूह, फिलीपाइन्स तथा पूर्वी द्वीप समूह के द्वीप सम्मिलित है, जो कि निश्चय ही एक वृत्त खण्ड (Arc) के रूप मे फैले हुए हैं। इन द्वीपो का विस्तार पुन मेलेनेशिया (Melanesia) के द्वीपो के रूप मे न्यूजीलैंड तक है। वास्तव मे प्रशान्त महासागर मे कुल मिलाकर 20,000 द्वीप है। परन्तु क्षेत्रफल मे ये द्वीप कम स्थान घेरते है। इन द्वीपो मे तो कुछ प्रवाली द्वीप (Atolls) तथा मूंगे के (Islands of coral reefs) है जिनका सम्बन्ध प्रस्तुत विवरण से नही है। अधिकाश द्वीपो की बनावट वलित पर्वतों मे हुई है तथा प्रस्तुत अध्याय इन्ही द्वीपो से सम्बन्धित है। वैसे महासागरो मे द्वीपो का वितरण छिटपुट एव बिखरे रूप मे है परन्तु कुछ द्वीपो की व्यवस्था ऐसी है कि वे एक क्रमबद्ध शृखला मे वृत्त खण्ड के रूप मे पाये जाते हैं। प्रशान्त महासागर के अन्दर तीन प्रमुख द्वीप तोरण पाये गये हैं—प्रथम वर्ग के अन्तर्गत अल्यूशियन द्वीप आते हैं। ये प्राय वृत्तीय रूप मे फैले हुये हैं। द्वितीय वर्ग मे पूर्वी एशिया के तट के द्वीप आते है जो कि वास्तविक द्वीप

1. This theory plays with such forces about which no proper control has been postulated.

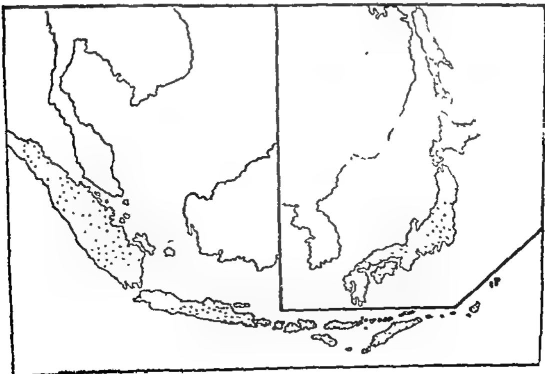
तोरण का चित्र उपस्थित करते हैं। तृतीय वर्ग मे पूर्वी द्वीपसमूह के द्वीप तोरण को सम्मिलित किया जाता है। दक्षिणी प्रशान्त महासागर के बिखरे हुए द्वीपों को तीन वर्गों मे रखा जा सकता है। प्रथम वर्ग को **मेलेनेशिया** वर्ग के द्वीप कहते हैं, जिनमे सोलोमन, न्यूहेब्राइड तथा फिजी आदि प्रमुख द्वीप हैं। द्वितीय वर्ग को **माईक्रोनेशिया** (Micronesia) वर्ग के द्वीप कहते है जिनमे कैरोलाइन (Caroline), मार्शल (Marshall), गिलबर्ट (Gilbert) तथा एलिस (Ellice) आदि द्वीपो को सम्मिलित किया जाता है। तृतीय श्रेणी मे **पोलीनेशिया** (Polynesia) वर्ग के द्वीप है, जिनमे लाइन द्वीप हैं, जिनमे लाइन द्वीप (Line Island), कुक द्वीप (Cook), सोसायटी द्वीप (Society Island), टुआमोटू (Tuamotu) आदि प्रमुख द्वीप है। उत्तरी प्रशान्त महासागर मे हवाई द्वीप (Hawaii Island) सर्वाधिक प्रमुख है। अटलांटिक महासागर मे प्रमुख द्वीप चाप या तोरण पश्चिमी द्वीप समूह (West Indes) के रूप मे विस्तृत है। दक्षिणी अटलांटिक महासागर मे ग्राहमलैण्ड प्रायद्वीप तथा दक्षिणी अमेरिका के बीच जलमग्न पहाड़ियो की जटिल रचना वाली भृखला पाई जाती है जिसमे फाकलैण्ड, दक्षिणी आर्कनीज (Soutb Orkneys), दक्षिणी शटलैण्ड (South Shetlands), दक्षिणी जार्जिया (South Georgia) तथा दक्षिणी सैण्डविच द्वीप (South Sandwich) आदि पाये जाते हैं। हिन्द महासागर मे प्रमुख द्वीप तोरण अण्डमन निकोबार द्वीपो के रूप मे फैले है। वास्तव मे अण्डमन निकोबार द्वीप को दक्षिणी-पूर्वी द्वीप समूह का ही विस्तृत रूप मानना चाहिये।

द्वीप तोरण की रचना (Structure of Island Arcs)

महाद्वीपो के किनारे वाले भाग के समानान्तर सागरीय **द्वीप चापों** या **द्वीप तोरणो** का महत्व भूगर्भवेत्ता के लिये कम नही है। यहां पर केवल वलित द्वीप चापो का ही उल्लेख किया जायेगा। उदाहरण के लिये पूर्वी एशिया के द्वीप तोरण को लिया जायेगा क्योंकि यही वास्तविक द्वीपीय चाप या द्वीप तोरण का सही उदाहरण प्रस्तुत करता है। **स्वेस, कोबर, होम्स, वेगनर, हाब्स, जेफ्रीज, रिक्टोफेन** (Richthofen), **तोकूदा** (Tokuda) आदि प्रमुख विद्वानो ने द्वीप तोरण की संरचना तथा उत्पत्ति के विषय मे महनीय कार्य किये है। इनमे स्वेस का कार्य

चित्र 171—पश्चिमी द्वीप समूह तथा अल्यूशियन द्वीप तोरण (Island Arcs).

अधिक विस्तृत है। स्वेस ने सर्वप्रथम पूर्वी एशिया या पश्चिमी प्रशान्त तटीय द्वीप तोरण के द्वीपों की संरचना का विश्लेषण किया तथा इस आधार पर बताया है कि प्रायः सभी द्वीपों में संरचना सम्बन्धी समानता मिलती है। केवल कुछ ही तत्त्व प्रत्येक द्वीप में नहीं मिल पाते हैं। स्वेस ने अपने विश्लेषण के लिये रीक्यू (Riu-Kiu) द्वीप तोरण को लिया है जिसका विस्तार दक्षिणी जापान से ताइवान (Formosa) तक है। यह द्वीप तोरण वास्तव में एक वलित पर्वत से युक्त द्वीपों का समूह है। स्वेस ने इस द्वीप के एक बाह्य मण्डल का वर्गीकरण किया है जिसका कुछ भाग चूने के पत्थर (Lepidocyclina limestone) से निर्मित है। इस मण्डल को स्वेस ने टर्शियरी मण्डल बताया है। इसी मण्डल के अन्तर्गत एक कार्डिलरा है जिसका निर्माण पैल्योजोइक कल्प की चट्टानों में वलन पड़ने से हुआ है। इस (Cordillera) के बीच पुनः एक ज्वालामुखी-मण्डल है, जिसमें ज्वालामुखी के आभ्यन्तरिक एवं बाह्य ज्वालामुखी-जमाव पाये जाते हैं। टर्शियरी मण्डल के बाह्य भाग में गहरा सागरीय भाग है, जिसे स्वेस ने सागरीय खड्ड (Sea fordeep) बताया है। यदि एन्टीलीस द्वीप तोरण (Antilles Island Arc) की संरचना का अध्ययन किया जाय तो रियू द्वीप तोरण की संरचना से पर्याप्त समता मिलती है। इस तोरण के दो किनारे विपरीत ढाल वाले हैं। एक तरफ अवतल ढाल तथा दूसरी ओर उत्तल ढाल है। इस प्रकार उत्तल ढाल से अवतल ढाल वाले भाग की तरफ क्रमशः गहरा खड्ड (Fordeep), टर्शियरी युग के उपद्वीप (Isles), कार्डिलरा तथा एक ज्वालामुखी-मण्डल का विस्तार मिलता है। इसी तरह यदि बोनिन द्वीप तोरण (Bonin Island Arc) फिलीपाइन द्वीप अलास्काइड्स (Alaskides) तथा ओसनाइड्स (Occanides) आदि द्वीप तोरणों की संरचना का अध्ययन किया जाय तो उपर्युक्त संरचनात्मक समता का आभास द्वीपों में भी मिलता है। उपर्युक्त विवरण के आधार पर सभी द्वीपीय चाप की बनावट में निम्न चार सामान्य इकाइयों को अलग किया जा सकता है—



चित्र 172—पूर्वी द्वीपसमूह तथा जापान द्वीप तोरण (Island Arcs)।

1. द्वीप में एक किनारा अवतल ढाल वाला होता है जिसके सामने गहरा खड्ड होता है।
2. टर्शियरी मण्डल, जो कि वलित है तथा कुछ भाग पर चूने के पत्थर का जमाव है।
3. वलित कार्डिलरा, जिसमे आन्तरिक भाग मे प्रतिकूल वलन (Reverse folding) पाये जाते हैं।
4. सबसे अन्त मे ज्वालामुखी मण्डल है।

कई द्वीप तोरणो मे कार्डिलरा का विस्तार कम पाया जाता है तथा स्थान-स्थान पर ये अदृश्य हो जाते है परन्तु ज्वालामुखी-मण्डल का विस्तार सर्वाधिक होता है। इसके प्रमुख उदाहरण न्यूहेब्राइडस (New Hebrides), टुमोटू (Tuamotu) तथा हवाई द्वीपो (Hawaiian Islands) से मिलते है। हवाई द्वीप का निर्माण तो अधिकाश रूप मे लावा-प्रवाह द्वारा हुआ है। द्वीपो के सामने अर्थात् उत्तल ढाल वाले किनारे के सामने गहरे खड्ड की स्थिति एक विचित्र विवर्तनिक आकृति होती है। स्वेस महोदय ने इन गहरे खड्डो मे एक आन्तरिक भाग तथा एक बाह्य भाग का वर्गीकरण किया है। इन खड्डो का आन्तरिक किनारा अवतल ढाल वाला होता है जो कि द्वीप चाप (द्वीप तोरण) के बाह्य भाग अर्थात् उत्तल ढाल वाले किनारे के सामने होता है। इसके विपरीत खड्ड का बाह्य भाग गहरे सागर की ओर होता है, जिसका निर्माण सागर की तली के अवतलन होने से हुआ माना गया है। वास्तव मे इस खड्ड का बाह्य भाग एक अग्रदेश के समान था जिस ओर दबाव पडने से द्वीप चाप का निर्माण हुआ था तथा बाद मे इस अग्रदेश के अवतलन होने से गहरे खड्ड का निर्माण मानना चाहिये। इन द्वीप तोरणों की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे कई विद्वानो ने अपने मत प्रचलित किये है जिनका यहा पर सक्षिप्त उल्लेख किया जा रहा है।

1 वेगनर का महाद्वीपीय प्रवाह सिद्धान्त (Continental Drift Theory of Wegner)—वेगनर महोदय के अनुसार महाद्वीपीय भाग सियाल (Sial) का बना हुआ है तथा महासागरीय तली का निर्माण सीमा (Sima) से हुआ है। सियाल-ठोस तथा सीमा तरल है। बिना किसी रुकावट के सियाल अर्थात् महाद्वीपीय भाग सीमा के ऊपर तैर रहा है। इस सिद्धान्त का विशद उल्लेख 'महासागरो एवं महाद्वीपो की उत्पत्ति' वाले अध्याय 7 मे किया जा चुका है। सर्वप्रथम वेगनर ने महाद्वीपीय प्रवाह करने के लिये सियाल के सीमा पर स्वतन्त्र रूप में तैरने पर सीमा से रुकावट का उल्लेख नही किया परन्तु आगे चलकर महाद्वीपीय किनारे पर स्थित पर्वतो के निर्माण के लिए इन्होने सीमा (Sima) मे रुकावट डालने का उल्लेख किया है। इस प्रकार आपने एक हा सिद्धान्त मे दो परस्पर विरोधी तथ्यो का उल्लेख किया है। इन्होंने गुरुत्वशक्ति तथा प्लवनशीलता की शक्ति के आधार पर महाद्वीपो का भूमध्य रेखा की ओर तथा चन्द्रमा का ज्वारीय शक्ति के आधार पर पश्चिम दिशा मे प्रवाह बताया है। इस सिद्धान्त के आधार पर वेगनर ने बताया है कि द्वीप चापो तथा द्वीप तोरणो का निर्माण महाद्वीप के प्रवाह की गति मे विभिन्नता के कारण हुआ है। प्रशान्त महासागर के पूर्वी किनारे (उत्तरी तथा दक्षिणी अमेरिका के पश्चिमी किनारे) पर ऐसे द्वितीय चापो की कमी है क्योकि दोनो महाद्वीप पश्चिम दिशा मे प्रवाहित हो रहे थे परन्तु पश्चिमी किनारे पर अर्थात् एशिया के पूर्वी किनारे के सहारे ऐसे द्वीपीय चापो की बहुतायत है। जब एशिया महाद्वीप का स्थलीय भाग ज्वारीय शक्ति से प्रेरित होकर पश्चिम दिशा की ओर प्रवाहित हो रहा था तो उस समय इस महाद्वीप के पूर्व का कुछ भाग महाद्वीपीय प्रवाह का साथ नही दे सका, फलस्वरूप पीछे छूट गया। इसके दो कारण बताये जाते हैं। प्रथम यह कि इन भागो का सम्बन्ध महासागरीय ठोस तली मे था। द्वितीय यह कि एशिया का भाग पश्चिम दिशा मे प्रवाहित हो रहा था। इस प्रकार एशिया के पूर्वी तट के सहारे कई द्वीप चापो का निर्माण एशिया से कुछ स्थल भाग के पीछे छूट जाने से हुआ है। इसी रूप मे जब उत्तरी तथा दक्षिणी अमेरिका, यूरोप एव अफ्रीका से अलग होकर पश्चिम दिशा मे प्रवाहित हो रहे थे तो उस समय मध्य अमेरिका के पूर्वी भाग का कुछ स्थलीय भाग पीछे छूट गया तथा पश्चिमी द्वीप समूह के तोरण का निर्माण हुआ। टियरा-डल-फ्यूगो (Tierra-Del-Fugo-Chile & Argentina) तथा अन्टार्कटिका के मध्य स्थित द्वीपो का निर्माण दक्षिणी अमेरिका के पश्चिम तरफ सरकने के कारण मानना चाहिये। पूर्वी द्वीप समूह के द्वीप तोरण तथा अण्डमान निकोबार द्वीपो का निर्माण प्रायद्वीपीय भारत के भूमध्य रेखा (उस समय-भूमध्य रेखा उत्तर मे स्थित थी) की ओर प्रवाहित होने तथा आस्ट्रेलिया के दक्षिण-पूर्व दिशा मे प्रवाहित होने मे स्थल भाग के छूट जाने से मानना चाहिये।

संकुचनवादी, प्रवाह सिद्धान्त के विपरीत है तथा इस आधार पर इन द्वीप तोरणो का निर्माण मान्य नही हो सकता है। यदि यह मान भी लिया जाय तो उनके टर्शियरी कार्डिलरा (वलित पर्वतों) की उत्पत्ति की व्याख्या नही हो पाती है क्योकि उस समय तक महाद्वीप प्रवाह हो चुका था।

2. जोली का तापीय चक्र सिद्धान्त (Joly's Thermal Cycle Theory)

जोली ने रेडियो सक्रिय पदार्थों की पृथ्वी की चट्टानो में स्थिति के आधार पर अपने तापीय चक्र सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार पृथ्वी के एक चक्रीय इतिहास मे दो अवस्थाये होती है। प्रथम अवस्था मे पृथ्वी के अध स्तर मे रेडियो सक्रिय पदार्थों के विघटन तथा वियोजन के कारण उत्पन्न ताप का सचयन होता रहता है जिस कारण पृथ्वी का अध स्तर जो कि बेसाल्ट का बना हुआ है, पिघल जाता है जिस कारण उसका घनत्व कम हो जाता तथा पृथ्वी की व्यास एव परिधि मे विस्तार हो जाता है। इस अवस्था मे सागरीय भाग का महाद्वीपीय किनारे वाले भागों पर प्रवेश या अतिक्रमण (Transgression) होने लगता है। इस अवस्था को सागरीय अतिक्रमण काल अथवा अतिक्रमणीय सागर का काल कहा जाता है। द्वितीय अवस्था मे ज्वारीय शक्ति के कारण महाद्वीपीय भागो मे विस्थापन तथा प्रवाह होने लगता है जिस कारण ताप बाहर निकल जाता है (क्योकि महाद्वीपीय भागो पर प्रवाह के कारण महासागरो की स्थिति हो जाती है) तथा पृथ्वी का अध स्तर शीतल होकर पुन ठोस होने लगता है। फलस्वरूप पृथ्वी की परिधि तथा व्यास मे ह्रास होने लगता है एव सागर नीचे उतरने लगता है। इस सागरीय निवर्तन का काल अथवा उतरते सागर का काल कहा जाता है। प्रथम अवस्था, जबकि अध स्तर (Substratum) पिघली अवस्था मे होता है, मे ही द्वीप तोरणो का निर्माण होता है। जब अध स्तर के पिघल जाने से उसके घनत्व मे कमी परन्तु विस्तार म वृद्धि होती है तो महासागरीय तली म तनाव की स्थिति पैदा हो जाती है जिस कारण तनाव निर्मित फटन तथा भ्रशन का निर्माण हो जाता है। इन भ्रशनो से होकर अध स्तर का तरल पदार्थ महासागरीय तली के ऊपर आने लगता है जिस कारण भ्रशन का आकार बडा होता रहता है। फलस्वरूप और अधिक तरल पदार्थ उमड कर बाहर आने लगता है। ये ही विस्तृत तरल बेसाल्टिक पदार्थ ठोस होकर द्वीपो को जन्म देते है। इसी प्रक्रिया के आधार पर प्रशान्त महासागर का खासकर तथा अन्य महासागरो के द्वीपो का सामान्य रूप से निर्माण हुआ है। जोली ने प्रशान्त महासागर मे द्वीपो की स्थिति तथा वितरण का भी उल्लेख किया है। इनके अनुसार इन द्वीपीय चापो तथा तोरणो की स्थिति प्रशान्त महासागर के सर्वाधिक विस्तार या दूरी वाली रेखा के समकोण पर पायी जाती है। लेक महोदय ने इस मत का खण्डन किया है। इनके अनुसार प्रशान्त महासागर का सर्वाधिक विस्तार चीन से चिली तक पाया जाता है। अर्थात् यदि एक रेखा चीन से चिली तक खीची जाय तो वही प्रशान्त महासागर की सर्वाधिक चौडाई होगी। इस रेखा की लम्बाई उत्तर-पश्चिम से दक्षिण-पूर्व दिशा मे है अत यदि जोली के सिद्धान्त को माना जाय तो इस रेखा को समकोण पर काटने वाली रेखा की दिशा उत्तर-पूर्व से दक्षिण-पश्चिम होगी। फलस्वरूप द्वीप तोरणो का विस्तार उत्तर-पूर्व से दक्षिण (प्रशान्त महासागर) मे होना चाहिये परन्तु ऐसा है नही। इस आलोचना के विपरीत कहा जा सकता है कि प्रशान्त महासागर की वास्तविक सर्वाधिक चौडाई का पता लगाना कठिन कार्य है।

3 स्वेस की बाह्य दाब परिकल्पना (Outward Pressure Hypothesis of Suess)

स्वेस ने जिस प्रकार महाद्वीपीय पर्वतो का निर्माण क्षैतिज दबाव (Lateral pressure) से बताया है उसी प्रकार इन द्वीप तोरणो का निर्माण भी महाद्वीपो के बाह्य दबाव (Outward pressure) द्वारा माना है। स्वेस के अनुसार महाद्वीपो के किनारे सागरीय भागो में द्वीप तोरण महाद्वीपो के अभिन्न भाग है तथा इनकी उत्पत्ति महाद्वीपो से उत्पन्न बाह्य दबाव के कारण हुई है। उदाहरण के लिये एशिया महाद्वीप के पूर्वी तट पर उसके समानान्तर चाप के आकार मे फैले हुए तोरण को लिया जा सकता है। प्रारम्भिक आद्य नाभिक केन्द्र (Primitive nucleus) से बाहर की तरफ क्षैतिज दबाव का सचार हुआ जिस कारण इन चाप के आकार के द्वीप मालाओ की उत्पत्ति हुई। इस सिद्धान्त के आधार पर इन द्वीप तोरणो का महाद्वीपो के सम्मुख वाला ढाल अवतल होना चाहिए क्योकि साधारण नियम के अनुसार प्रभावित क्षेत्र का अवतलन ढाल दबाव की शक्ति के उद्गम स्थान को इगित करता है। यदि एशिया महाद्वीप के पूर्वी तट के द्वीप तोरण का अवलोकन किया जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि ये तोरण

एक चाप के रूप में फैले हुए हैं, जिनका अवतल ढाल स्थल की ओर तथा उत्तल ढाल बाहर की ओर है। इस प्रकार कुछ सीमा तक स्वेस के विचार न्यायसंगत लगते हैं परन्तु कई विद्वानों ने इसकी कटु आलोचना की है। इस परिकल्पना की आलोचना करते हुए हाब्स महोदय (Hobbs) ने बताया है कि इन द्वीप तोरणों का निर्माण एशिया के मुख्य भाग की ओर से दबाव पड़ने से नहीं हुआ है वरन् प्रशान्त महासागर की ओर से दबाव आने के कारण। **रिक्तोफेन (Richthofen) तथा ग्रेगरी** महोदय ने इन द्वीप तोरणों की उत्पत्ति से सम्बन्धित **भ्रंशन परिकल्पना** (Fracture hypothesis) का प्रतिपादन किया है। इन्होंने द्वीपीय चाप तथा एशिया के मुख्य भाग के किनारे वाले पर्वतों में दरारों का पता लगाया है तथा इस आधार पर बताया है कि इन पर्वतों में एक किनारा सोपानाकार (Steplike) है तथा सागर की ओर इनका किनारा खड़े ढाल वाला है, जिससे प्रमाणित होता है कि ये तोरण प्रारम्भ में एशिया के मुख्य भाग से सम्बन्धित रहे होंगे परन्तु बाद में इनके बीच भ्रंशन के कारण बीच का भाग डूब गया होगा तथा मुख्य स्थलीय भाग से अलग हो गये होंगे।

4 तोकुदा की परिकल्पना (Hypothesis of Tokuda)

हाल ही में जापान के प्रमुख भूगर्भवेत्ता तोकुदा ने कई द्वीप तोरणों की संरचनात्मक बनावट के अध्ययन के बाद उनकी उत्पत्ति के विषय में अपने मत का प्रतिपादन किया है तथा कुल मिलाकर इनका मत स्वेस की परिकल्पना का समर्थन ही नहीं बल्कि उसे प्रमाणित करने का प्रयास भी करता है। अपने मत की पुष्टि के लिए तोकुदा ने क्यूराइल चाप, रिक्यू चाप, शिओहिटोमेरियानी चाप (Schiohito-Marianne Arc) तथा मध्यवर्ती जापानी चाप की संरचना का अध्ययन किया है तथा बताया है कि इनमें दो मण्डल, एक आन्तरिक तथा दूसरा बाह्य, पाये जाते हैं, जिनमें से आन्तरिक मण्डल विस्तृत है परन्तु बाह्य मण्डल अधिकांश रूप में जलप्लावित (Submerged under the sea) है तथा इसका कुछ भाग होकैडो (Hokaido) के पास दृष्टिगोचर होता है। आन्तरिक मण्डल में टर्शियरी वलन तथा उनके सहारे ज्वालामुखी का विस्तार छोटी-छोटी शृंखलाओं के रूप में मिलता है। इस आधार पर तोकुदा ने कई प्रयोग किये हैं तथा उनसे प्राप्त प्रतिफल के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि "जहाँ पर **पर्वत निर्माण सम्बन्धी क्षैतिज दबाव सक्रिय है वहाँ पर सोपानक चाप या सोपानक द्वीप तोरण** (Echelon Arc-एशेलान चाप) **का निर्माण होगा।**" चाप के अन्तिम भाग में वलन की संख्या बढ़ती जाती है परन्तु मध्यवर्ती भाग में वलन की संख्या कम हो जाती है। दबाव तथा वलन के निर्माण के समय जब द्वीप तोरण के अन्तिम भाग में रुकावट पड़ती है तो उस भाग में कई उप-वलन के निर्माण प्रारम्भ हो जाते हैं। इसके प्रमुख उदाहरण जापान के क्यूशू (Kyushu) द्वीप तथा दक्षिणी-पश्चिमी जापान के पूर्वी भाग में बहुतायत से मिलते हैं। इस प्रकार अपने प्रयोगों के आधार पर तोकुदा ने यह बताया है कि महाद्वीपीय भागों के किनारे पर द्वीपीय चापों अथवा द्वीप तोरण के निर्माण के विषय में स्वेस की **'बाह्य दबाव परिकल्पना'** सत्य है तथा हाब्स एवं रिक्तोफेन के विचार असंगत हैं।

द्वीप चाप तथा द्वीप तोरण के निर्माण के अभिनव मत के लिए देखिये अध्याय आठ, **प्लेट विवर्तन सिद्धांत।**

हिमालय की उत्पत्ति

सामान्य परिचय—हिमालय की उत्पत्ति तथा विकास के सम्बन्ध में कई विद्वानों ने परस्पर विरोधी मतों का प्रतिपादन किया है, जिस कारण वास्तविकता का पता लगाना कठिन कार्य हो जाता है। हिमालय की उत्पत्ति को समझने के लिए हिमालय की अनेक विशेषताओं को ध्यान में रखना होगा। हिमालय, जिसका विस्तार 1,500 मील की लम्बाई तथा 150 से 200 मील की चौड़ाई में पाया जाता है की संरचना में संलग्न चट्टानें मुख्य रूप से परतदार हैं (यद्यपि रूपान्तरण तथा आग्नेय क्रियाओं के कारण अन्य चट्टानें भी पाई जाती हैं) जिनको देखने से स्पष्ट होता है कि ये सामुद्रिक जमाव वाली चट्टानें हैं। इससे यह प्रमाणित होता है कि हिमालय की चट्टानों का निक्षेप प्रारम्भ में एक सागर में हुआ होगा। हिमालय की लम्बाई तथा चौड़ाई को देखने से स्पष्ट होता है कि ये सागर अत्यधिक लम्बे तथा सँकरे रहे होंगे। पुनः हिमालय की चट्टानों में उथले सागर के जीवावशेष (Fossils) पाये गये हैं। अतः सागर उथला रहा होगा। परन्तु हिमालय में पाई जाने वाली हजारों फीट मोटी चट्टानों से यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस उथले, सँकरे तथा लम्बे सागर में तलछटीय निक्षेप हुआ होगा उसका तल नीचे धँसता रहा होगा। हिमालय की दूसरी ध्यान देने योग्य विशेषता उसका उत्तर-पश्चिम तथा पूर्व में घुमाव (Syntaxes) है। अर्थात् उत्तर-पश्चिम में इसकी श्रेणियाँ दक्षिण-पश्चिम दिशा में

सुलेमान तथा **किरथर** के रूप में फैली है। उसी प्रकार ब्रह्मपुत्र नदी के पूर्व में हिमालय की श्रेणियाँ उत्तर-दक्षिण दिशा में आसाम तथा बर्मा की पहाड़ियों के रूप में फैली है। इन दो मोड़ों के बीच मुख्य हिमालय एक चाप के आकार में पश्चिम से पूर्व दिशा में फैला है। हिमालय का मध्यवर्ती झुकाव दक्षिण की ओर है। यह झुकाव ध्यान देने योग्य है। इससे प्रमाणित होता है कि वलन की दिशा उत्तर से दक्षिण थी। साथ ही साथ हिमालय के दक्षिण (मैदान के दक्षिण) में स्थित प्रायद्वीपीय भारत की स्थिति तथा उसका उत्तरी आकार भी हिमालय के वक्राकार रूप के लिए जिम्मेदार बताया जा सकता है। हिमालय की तीन श्रेणियों के फैलाव तथा उनके बीच की पारस्परिक दूरी पर ध्यान देना होगा। ये तीन श्रेणियाँ पश्चिम में अधिक दूर-दूर तथा पूर्व की ओर पास-पास होती चली गई है। यहाँ तक कि सुदूर पूर्व में ये एक दूसरे के इतने करीब आ गई है कि इन्हें अलग करना कठिन होता है। दो श्रेणियों के बीच में भ्रंश (Fault) पाई जाती है जिन्हें भ्रंश रेखा (Fault line) कहा जाता है। शिवालिक श्रेणी तथा लघु हिमालय के बीच स्थित भ्रंश रेखा को "मुख्य विभंजन सीमा" (Main Boundary Fault) कहा जाता है। महान हिमालय तथा लघु हिमालय दूसरे के समानान्तर तथा पश्चिम से पूर्व क्रमबद्ध शृंखला के रूप में पाये जाते हैं, परन्तु शिवालिक पहाड़ियाँ असम्बद्ध रूप में अन्य दो श्रेणियों के समानान्तर दक्षिण में पाई जाती हैं। उत्तर में कुनलुन तथा दक्षिण में हिमालय श्रेणियों के मध्य तिब्बत का पठार एक मध्य देश (Median mass) के रूप में पाया जाता है। हिमालय की ऊँचाई पश्चिम से पूर्व में अधिक है। इन तथ्यों को ध्यान में रखकर हिमालय की उत्पत्ति की व्याख्या करनी चाहिये। हिमालय के विकास में साधारण रूप में (कुछ जटिल तथा विवादास्पद समस्याओं को छोड़कर) निम्न अवस्थाओं का उल्लेख किया जा सकता है—

1 **टेथीज भूसन्नति की अवस्था (Stage of Tethys Geosyncline)**—हिमालय की उत्पत्ति के विषय में **एडवर्ड स्वेस, कर्नल सिडनी बुराड, आरगण्ड, कोबर तथा वेडेल** एवं फाक्स महोदयों ने अपने मतों की व्याख्या प्रस्तुत की है, परन्तु इनके विचारों में पर्याप्त मतभेद है। परन्तु इतना तो सभी मानते हैं कि हिमालय का विकास एक ऐसे सागर से हुआ है जिसको **भूसन्नति** की संज्ञा प्रदान की जा सकती है। विवाद का विषय पर्वतीकरण के लिए उत्तरदायी शक्ति तथा उसकी दिशा-सम्बन्धी है। हिमालय के भूगर्भिक इतिहास का विश्लेषण **स्वेस** नामक विद्वान के **टेथीज सागर** से प्रारम्भ किया जाता है। यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि आगे का विवरण स्वेस के विचार पर आधारित है। परन्तु पुनः साधारण रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। विभिन्न विद्वानों के मतों का उल्लेख अलग से किया जायेगा। हिमालय के निर्माण के विषय में लेखक इतना तो निश्चित रूप से कह सकता है कि हिमालय की विभिन्न श्रेणियों का निर्माण एक शक्तिशाली **पार्श्ववर्ती उत्क्रम** (Lateral thrust क्षेप) द्वारा हुआ है। परन्तु यह पार्श्ववर्ती उत्क्रम तथा सम्पीडन केवल एक ही पार्श्व (Side) से आया अथवा दोनों पार्श्वों से आया ? इस विषय में विवाद है। **प्लेट विवर्तन सिद्धान्त** के आधार पर अब प्रमाणित हो गया है कि सम्पीडनात्मक बल दोनों दिशाओं (उत्तर तथा दक्षिण) से आया। और यह प्रक्रिया आज भी सक्रिय है। इसका उल्लेख आगे किया जायगा। जहाँ पर आज हिमालय पर्वत तथा उसकी विभिन्न शाखायें हैं, वहाँ पर मेसोजोइक कल्प में एक सागर का विस्तार था, जिसका नामकरण टेथीज किया गया है। इस विस्तृत सागर को भूगर्भवेत्ताओं ने टेथीज भूसन्नति का नाम दिया है। इस भूसन्नति का विस्तार पश्चिम में वर्तमान **रूम सागर** तक था तथा अल्पाइन पर्वतीय क्षेत्र (यूरोप) के स्थान पर भी इसी सागर का विस्तार था। टेथीज सागर के भूगर्भिक इतिहास के विषय में भी मतभेद है। कुछ लोग इसकी स्थिति पैल्योजोइक युग में भी बताते हैं। इन लोगों के अनुसार पैल्योजोइक युग के अन्त में तथा मेसोजोइक के प्रारम्भ में टेथीज का विस्तार पूर्व में चीन से लेकर पश्चिम में यूरोप तक था। **ट्रियासिक** काल में टेथीज पश्चिम की ओर अग्रसर होने लगा जिस कारण चीन जलमुक्त होकर स्थल-खण्ड हो गया। यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि टेथीज का मेसोजोइक युग के पहले चाहे जो भी भूगर्भिक इतिहास तथा स्थिति रही हो, इतना तो अवश्य निश्चित है कि मेसोजोइक कल्प में यूरोप तथा एशिया के अल्पाइन पर्वतों के स्थान पर टेथीज भूसन्नति का विस्तार अवश्य था। यह भी महत्वपूर्ण तथ्य है कि टेथीज की स्थिति सम्पूर्ण मेसोजोइक कल्प में एक समान नहीं थी वरन् इसमें अग्रगमन तथा निवर्तन तथा विस्तार एवं संकुचन होता रहा, क्योंकि यह पहले ही बताया जा चुका है कि भूसन्नतियाँ जल के चल क्षेत्र (Mobile zones of water) होती हैं।

स्वेस महोदय के अनुसार टेथीज भूसन्नति के दोनो पार्श्वों (उत्तर तथा दक्षिण) पर स्थिर भूखण्डो का विस्तार था। स्वेस ने उत्तरी भूखण्ड को **अंगारालैण्ड** बताया है। टेथीज के दक्षिण मे **गोंडवानालैण्ड** था, जिसमे दक्षिणी अमेरिका, अफ्रीका, मैडागास्कर, प्रायद्वीपीय भारत तथा आस्ट्रेलिया सम्मिलित थे। मेसोजोइक कल्प के अन्त मे (प्रारम्भिक क्रीटेसियस) इस भूगोभक स्थिति मे महान परिवर्तन प्रारम्भ हो गया। अज्ञात भू-हलचल के कारण टेथीज भूसन्नति का तल ऊपर उठने लगा, जिस कारण दोनो पार्श्वों के स्थलीय भाग पर सागर का अतिक्रमण हो गया। इस प्रकार टेथीज का विस्तार **क्रीटेसियस** युग मे दक्षिणी तिब्बत से लेकर वर्तमान आसाम से सिक्किम की सीमा तक हो गया था एव शिलाग के पठार का अधिकाश भाग सागर के नीचे हो गया था। टेथीज सागर के तल के ऊपर उठने से गोंडवानालैण्ड का विभंजन हो गया तथा अफ्रीका, मैडागास्कर एव आस्ट्रेलिया आदि प्रायद्वीपीय भारत से अलग हो गये, जिस कारण हिन्द महासागर का आविर्भाव हुआ। अब टेथीज सागर के उत्तर मे अगारालैण्ड तथा दक्षिण मे प्रायद्वीपीय भारत बच रहे। टेथीज भूसन्नति मे दोनो पार्श्वों से नदियो द्वारा लाए गए तलछट का जमाव होता रहा।

हिमालय का उत्थान—जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि टेथीज भूसन्नति की स्थिति पैल्योजोइक कल्प के अन्त से ही चली आ रही थी, जब इसमे अत्यधिक तलछट का निक्षेप होता रहा, यही कारण है कि हिमालय पर्वत मे प्राचीनतम चट्टानो के भी अवसाद वर्तमान जमाव के रूप मे पाए जाते है। वास्तव मे टेथीज के निर्माण-काल से ही उसमे नदियो ने अगारालैण्ड से अपरदन द्वारा प्राप्त तलछट का जमाव प्रारम्भ कर दिया था। निश्चय ही टेथीज भूसन्नति उथली रही होगी जिसमे तलछटीय भार के कारण उसका तल धँसता गया होगा। इस प्रकार एक लम्बे समय तक जमाव (Sedimentation) तथा धँसाव (Subsidence) के कारण ही तलछट की इतनी मोटी परत का जमाव हो गया होगा कि 8848 मीटर ऊँचे हिमालय का निर्माण सम्भव हो सका। टेथीज भूसन्नति को मौलिक रूप मे ही अत्यधिक गहरा नही माना जा सकता है, क्योकि इसमे प्राप्त जीवावशेष इस प्रकार के है कि उनका आविर्भाव केवल उथले सागर मे ही सम्भव हो सकता है। मेसोजोइक कल्प तक निरन्तर जमाव तथा धँसाव होता रहा परन्तु **क्रीटेसियस** युग मे अचानक टेथीज सागर के तल के ऊपर उठने से भूसन्नति के तलछट मे वलन प्रारम्भ हो गया तथा विस्तृत हिमालय पर्वत (अन्य अल्पाइन पर्वत-श्रेणियो का भी) का निर्माण हो गया। यहाँ पर उल्लेखनीय है कि हिमालय पर्वत का निर्माण एक अचानक क्रिया नही रही है जिस कारण समस्त हिमालय का निर्माण एक ही बार सीमित समय मे हो गया। इसके विपरीत हिमालय-पर्वतीकरण (Himalayan orogeny) एक विस्तृत घटना रही है, जिसमे हिमालय की विभिन्न श्रेणियो का निर्माण कई अवस्थाओ मे अलग-अलग रूपो मे हुआ है। हिमालय का, इस प्रकार, निर्माण तीन अवस्थाओ अथवा मजिलो (Stages) मे हुआ है तथा प्रत्येक अवस्था को हिमालय का उत्थान कहा जाता है।

(i) हिमालय का प्रथम उत्थान (First Upheaval)—**मेसोजोइक** युग के अन्त मे टेथीज सागर के तल के ऊपर उठने से भूहलचल होने के कारण टेथीज सागर के तलछट मे वलन प्रारम्भ हो गया। **क्रीटेसियस** युग के अन्त मे तथा **टर्शियरी** युग के प्रारम्भ मे (सम्भवत **इयोसीन** युग मे) **अंगारालैण्ड** दक्षिण की ओर सरकने लगा तथा **गोंडवानालैण्ड** अपनी जगह पर स्थिर था। इस प्रकार उत्तर से आने वाले सम्पीडन तथा दक्षिण के अवरोध के कारण टेथीज का अधिकाश मलवा वलित होकर मोड मे बदल गया तथा हिमालय की प्रमुख उत्तरी श्रेणी जिसे वृहत् हिमालय (Greater Himalaya or Inner Himalaya) कहा जाता है, का निर्माण हुआ। इस उत्थान को हिमालय का प्रथम उत्थान कहा जाता है जिसका समापन **इयोसिन** युग मे हुआ माना सकता है। यहाँ पर पुन विवादास्पद मत प्रचलित है। **डी-टेरा** के अनुसार सर्वप्रथम हिमालय का उत्थान मध्य **क्रीटेसियस** युग मे हुआ जिसे **काराकोरम की अवस्था** कहा जाता है। इतना ही नही, इसके प्रारम्भ मे भी पर्वत-निर्माण का उल्लेख किया गया है। **मिडिलमिस** तथा **ग्रीसवेच** विद्वानो के अनुसार **जुरैसिक** युग के प्रारम्भ मे ही एक एक विस्तृत पर्वतीकरण हुआ जिस कारण हिमालय तथा हजारो पर्वत श्रेणियो का निर्माण हुआ। **हेडेन** तथा **ओल्डहम** विद्वानो ने भी इस मत को स्वीकृति प्रदान की है। विवादो के जाल से बचने के लिये यह कहा जा सकता है कि इयोसीन युग के पहले कुछ छिट-पुट वलन पडे होगे परन्तु वृहत् हिमालय की आन्तरिक श्रेणी का अन्तिम निर्माण इयोसीन युग मे ही समाप्त हुआ होगा।

(ii) हिमालय का द्वितीय उत्थान (Second Upheaval)—वृहत् या आन्तरिक हिमालय के निर्माण के

बाद उसके दक्षिण मे टेथीज का जल सिकुड कर अवशिष्ट जलभाग के रूप मे बच रहा। इस भाग मे आन्तरिक हिमालय से आने वाली नदियो ने अपने साथ लाये हुये मलवा-का निक्षेप करना प्रारम्भ कर दिया। यह उल्लेखनीय है कि हिमालय की प्रथम श्रेणी के निर्मित होते ही उस पर नदी-नालों का आविर्भाव हो गया जो कि हिमालय मे काट-छांट मे सलग्न हो गये। इस प्रकार से प्रथम हिमालय के अनाच्छादन से प्राप्त मलवा के निक्षेपण से टेथीज का अवशिष्ट भाग भरने लगा तथा एक प्रकार की नवीन जलज परतदार शैल का निर्माण हुआ। **मायोसिन युग** मे पुन अज्ञात भूहलचल के कारण हिमालय मे उत्थान प्रारम्भ हो गया, जिस कारण टेथीज का मलवा वलित होकर आन्तरिक हिमालय के दक्षिण मे उसके समानान्तर एक पर्वत-श्रेणी के रूप मे परिर्वतित हो गया तथा लघु हिमालय का निर्माण हुआ। लघु हिमालय की संरचना सागरीय चट्टानो से हुई है, जिसमे प्राचीन काल के जीवावशेष पाये जाते हैं। इस श्रेणी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि पेट्रोलियम का निर्माण इसी मे हुआ था जो कि वर्तमान समय मे लघु हिमालय की तलहटी मे पाया जाता है। लघु हिमालय के निर्माण के साथ ही साथ आन्तरिक हिमालय मे पुन उत्थान हुआ जिस कारण पर्वत-श्रेणियो ने और अधिक ऊँचाई प्राप्त की। **मायोसीन युग** मे सम्पन्न हुए हिमालय के दूसरे उत्थान को **द्वितीय उत्थान** कहा जाता है।

(iii) **हिमालय का तृतीय उत्थान (Third Upheaval)**—लघु हिमालय के निर्माण तक टेथीज का प्राय अधिकाश भाग वलित होकर पर्वत श्रेणी का रूप धारण कर चुका था। श्रेणियो के निर्माण के बाद टेथीज का अवशिष्ट जल एक सँकरे जल भाग के रूप मे बदल गया, जिसे विद्वानो ने **शिवालिक** नदी या **इण्डोब्रह्मा** की सज्ञा प्रदान की है। इसकी प्रवाह दिशा पूर्व से पश्चिम की ओर थी। उस समय वर्त्तमान गढवाल तथा कुमायूं तक सागर का विस्तार था, जिसे **सिन्ध की खाड़ी** कहा गया है। **शिवालिक** नदी इसी सिन्ध की खाडी मे गिरती थी। ऐसा विश्वास किया जाता है कि **प्लायोसीन युग** मे पुन भूहलचल प्रारम्भ हो गयी, जिस कारण हिमालय की दो श्रेणियो मे पुन उत्थान हुए तथा इस ऊँचाई के कारण शिवालिक का तल भी ऊँचा उठने लगा तथा शिवालिक का समस्त भाग वलित होकर हिमालय की दो श्रेणियो के दक्षिण एक तृतीय श्रेणी के रूप मे बदल गया, जिसे **शिवालिक श्रेणी** अथवा **तल प्रादेशिक श्रेणियाँ (Foot-hills)** कहा जाता है। शिवालिक का निर्माण यद्यपि **प्लायोसीन** युग मे ही प्रारम्भ हो गया था परन्तु इसका समापन मध्य **प्लीस्टोसीन** युग मे हुआ। इसी समय कश्मीर के **कारेवा सागर** का तल उठने लगा तथा **पीर पंजाल श्रेणी** का निर्माण हुआ। यह श्रेणी कश्मीर को पजाब से अलग करती है। कश्मीर की घाटी का निर्माण भी इसी सागर के भरने से हुआ है। **कारेवा सागर** का कुछ जल बच रहा है जो कि कश्मीर की वर्त्तमान झीलो के रूप मे विद्यमान है।

शिवालिक की उत्पत्ति की समस्या

यदि एक ओर वृहत् हिमालय तथा लघु हिमालय के निर्माण अत्यधिक सरल हैं तो दूसरी ओर शिवालिक-श्रेणी की उत्पत्ति अधिक जटिल तथा उलझी हुई है। इसके निर्माण के विषय में विभिन्न विद्वानों ने अपने परस्पर विरोधी मतों का प्रचलन किया है। शिवालिक-श्रेणी के निर्माण के सम्बन्ध मे तीन तथ्यो को ध्यान मे रखना होगा। प्रथम, शिवालिक-श्रेणी मे तलछट की तह का 15,000 से 20 000 फीट की गहराई तक पाया जाना। द्वितीय, शिवालिक की सरचना मे सलग्न अवसाद अपेक्षाकृत नूतन है, तथा, तृतीय, तलछटीय जमाव के साथ ही कुछ सागरीय जीवावशेष भी मिलते हैं। इस प्रकार शिवालिक के जमाव को देखने से स्पष्ट होता है कि ये हिमालय की दो श्रेणियो से नदियों द्वारा लाये गये अवसाद ही हैं, जिनका जमाव पर्वतीय तलहटी मे हो गया था। शिवालिक के निर्माण के विषय मे दो घटनाओ पर बल दिया जाता है—1 जमाव की क्रिया तथा 2. सुनिश्चित उत्थान (Marked Uplift)। शिवालिक क्षेत्र मे अत्यधिक गहराई (15,000 से 20,000 फीट) तक तलछट के जमाव के भी कई कारण बताये जाते हैं। कुछ भूगर्भवेत्ताओ के अनुसार शिवालिक क्षेत्र की अधिक गहराई **विवर्तनिक अवतलन (Tectonic downwarp)** के कारण प्राप्त हुई, जिसमे अवसाद का निक्षेप होता रहा। शिवालिक-श्रेणी के विषय मे यह ध्यान देने योग्य बात है कि ये पहाडियाँ एक क्रमबद्ध शृखला के रूप मे नहीं पाई जाती है, वरन् बीच-बीच में उनमे असम्बद्धता (Discontinuity) भी पाई जाती है। इस प्रकार के क्षेत्र को यहाँ पर **"दून"** (Doon—पश्चिम मे) तथा **'द्वार'** (Duar—पूर्व मे) कहा जाता है। शिवालिक-श्रेणी के निर्माण के विषय मे निम्न मतो का उल्लेख किया जा सकता है—

1. शिवालिक का निर्माण शिवालिक नदी के प्राकृतिक तटबन्ध से हुआ है कुछ भूगर्भवेत्ता यह मानते हैं कि शिवालिक श्रेणियाँ वास्तव में शिवालिक नदी के प्राकृतिक तटबन्ध ही हैं जो कि सम्पीडन के कारण मोड़ मे बदलकर वर्तमान रूप को प्राप्त हुई हैं। इनके अनुसार हिमालय की दो श्रेणियों— वृहत् तथा लघु हिमालय, के निर्माण के बाद टेथीज का अवशिष्ट जल एक सँकरी नदी के रूप मे परिवर्तित हो गया। इस नदी का नामकरण पैस्को (Pasco) नामक विद्वान ने इण्डोब्रह्मा तथा पिलग्रिम (Pilgrim) ने शिवालिक किया है। शिवालिक नदी पूर्व से उत्तर-पश्चिम दिशा में प्रवाहित होती थी तथा इसका प्रवाह-मार्ग ऊपरी आसाम से अरावली तक था, जहाँ पर यह सिन्ध की खाड़ी मे गिर जाती थी। इस नदी ने अपने दोनों पर अत्यधिक मलवा का जमाव प्रारम्भ कर दिया जिस कारण नदी के दोनो तटो पर प्राकृतिक भित्तियों या प्राकृतिक तटबन्धों का निर्माण हो गया। प्लायोसीन युग मे भूहलचल के कारण शिवालिक नदी का तल ऊपर उठा तथा उसके प्राकृतिक तटबन्धो मे सम्पीडन के कारण वलन पड जाने से शिवालिक श्रेणियो का निर्माण हुआ। चूँकि हिमालय की इस तृतीय श्रेणी का निर्माण शिवालिक नदी के प्राकृतिक तटबन्ध से हुआ अत इसे शिवालिक-श्रेणी कहा जाता है। इस मत के विपरीत कुछ आलोचकों का कहना है कि केवल प्राकृतिक तटबन्ध मे वलन पड़ने से एक विस्तृत शृंखला का 5,000 फीट की ऊँचाई तक निर्माण नहीं हो सकता। इस मत मे संशोधन के रूप मे यह बताया गया है कि प्लायोसीन युग में न केवल प्राकृतिक तटबन्ध मे वलन पड़े वरन् समस्त शिवालिक नदी की घाटी ही ऊपर उठी तथा सम्पीडन के कारण मोड मे बदल गई तथा शिवालिक श्रेणियो का निर्माण हुआ।

2. शिवालिक का निर्माण जलोढ़ पंखों से हुआ है— इस मत के समर्थकों के अनुसार हिमालय के निर्माण के बाद उससे निकल कर कई नदियाँ शिवालिक में आकर मिलती थी। इन नदियों ने पर्वतीय भागो के नीचे रेत (Sand), ग्रैवेल[1] (Gravel) आदि का जमाव करना प्रारम्भ कर दिया। फलस्वरूप पर्वतीय भागो के निचले ढालो पर कई जलोढ पंखों का निर्माण हो गया। बाद में विस्तार के कारण कई जलोढ पंखे एक दूसरे से मिल गये, जिससे विस्तृत पंखों का निर्माण हो गया। प्लायोसीन युग मे भूहलचल के कारण सम्पीडन के कारण इन जलोढ पंखो मे वलन पड़ गया तथा शिवालिक श्रेणियो का निर्माण हो गया। इस मत के विपरीत कई कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं। 1—यदि यह मान लिया जाय कि शिवालिक का निर्माण जलोढ पंखो मे हुआ है तो शिवालिक की सरचना मे समानता नही होनी चाहिए क्योंकि प्रत्येक जलोढ पंख में अलग-अलग जमाव के कारण सरचना सम्बन्धी विभिन्नता रही होगी। इसके विपरीत शिवालिक श्रेणी मे सरचना सम्बन्धी समरूपता पाई जाती है। 2—केवल जलोढ पंखो के सम्मिलन से एक विस्तृत श्रेणी का निर्माण नही हो सकता है। 3—यदि शिवालिक का निर्माण जलोढ पंखो म हुआ तो इतनी क्रमबद्ध (यद्यपि असम्बद्धतायें भी हैं) शृंखला का निर्माण 5,000 फीट की ऊँचाई तक नहीं हो सकता है। साथ ही साथ पंखे के जमाव से शिवालिक की 15,000 से 20,000 फीट की गहराई तक पाई जाने वाली तलछट का जमाव प्रमाणित नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार उपर्युक्त आपत्तियों के आधार पर शिवालिक का निर्माण जलोढ पंखो से नहीं माना जा सकता है।

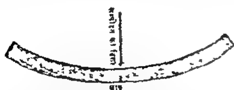
3 शिवालिक का निर्माण झीलों के भरने से हुआ है— इस मत के अनुसार हिमालय के निर्माण के बाद टेथीज भूसन्नति का जल छोटी-छोटी असंख्य झीलों मे बदल गया। इन झीलो मे लगातार निक्षेप होता रहा, जिस कारण इन झीलों का पेटा भरता रहा तथा झीलें उथली होती गई। प्लायोसीन युग मे अचानक भू-हलचल के कारण इन झीलों का तल ऊपर उठा तथा उनका मलवा वलित होकर मोड़ मे बदल गया; जिस कारण हिमालय की दो श्रेणियो के दक्षिण मे उनके समानान्तर एक तृतीय असम्बद्ध शृंखला का निर्माण हुआ जिसे शिवालिक के नाम से जाना जाता है। चूँकि इसका निर्माण विभिन्न झीलो के भरने से हुआ है, अत यह एक लगातार तथा क्रमबद्ध शृंखला के रूप मे न होकर असम्बद्ध रूप मे पाई जाती है। इस मत के विपरीत भी उपर्युक्त सभी कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं तथा यह मानना कोरी कल्पना ही लगता है कि शिवालिक का निर्माण झीलों के भरने से हुआ होगा। इस प्रकार शिवा-

---

1. बजरी।

लिक के निर्माण के विषय मे परस्पर विरोधी कई मत प्रस्तुत किये गये है, जिसमे वास्तविकता का पता लगाना कठिन हो जाता है। जब तक किसी तर्कपूर्ण निश्चित मत का प्रतिपादन नहीं कर दिया जाता तब तक यही माना जा सकता है कि शिवालिक का निर्माण शिवालिक नदी के पेटे के ऊपर उठने तथा उसके वलित होने के कारण हुआ होगा।[1]

हिमालय के निर्माण मे प्रयुक्त शक्तियाँ—(Forces in the Evolution of the Himalayas)—यद्यपि इस समस्या पर आगे चलकर वृहद रूप मे व्याख्या की जायगी तथा विभिन्न विद्वानों के मतो का उल्लेख किया जायेगा तथापि यहाँ पर साधारणीकरण के लिये इस समस्या पर प्रकाश डाला जा सकता है। हिमालय की श्रेणियो की चाप आकृति को देखने से स्पष्ट होता है कि उत्तर से सम्पीडन की शक्ति आयी होगी, जिस कारण टेथीज का मलवा वलित हो गया होगा तथा उत्तर का आकार अवनत हो गया होगा। साधारण नियम के अनुसार शक्ति का उद्गम-स्थान वक्र की विपरीत दिशा मे होता है। चूँकि हिमालय का वक्र अथवा झुकाव (Curvature) दक्षिण की ओर है, अत शक्ति का आगमन उत्तर से ही हुआ होगा। इसे **पार्श्ववर्ती बल अथवा पार्श्ववर्ती उत्क्रम** (Lateral force or lateral thrust) कहा जाता है। इस पार्श्ववर्ती शक्ति का आगमन कैसे हुआ? यह समस्या भी विवादास्पद है। कुछ विद्वानो के अनुसार यह शक्ति महाद्वीपीय प्रवाह सिद्धान्त के अनुसार महाद्वीपीय स्थल खण्डो (अंगारालैंड) के सरकने से उत्पन्न हुई थी जब कि सकुचनवादी इसे पृथ्वी के अन्दर ताप-ह्रास के कारण पृथ्वी की पपड़ी मे सकुचन का प्रतिफल बताते है।



चित्र 173—सम्पीडनात्मक बल की दिशा।

हिमालय के झुकाव के कारण—यदि पामीर की गाँठ से निकलने वाले मोड़दार पर्वतो पर दृष्टिपात किया जाये तो स्पष्ट हो जायेगा कि इनके निर्माण मे कोई **अरीय शक्ति** (Radial force) उत्तरदायी रही है। जैसे-जैसे यह शक्ति दक्षिण की ओर बढ़ती गई इसमे वृद्धि होती गई। यही कारण है कि हिमालय के बीच मे दक्षिण की ओर अत्यधिक झुकाव पाया जाता है। टेथीज के दक्षिण मे प्रायद्वीपीय भाग का स्थिर भूखण्ड एक **अग्रदेश** (Foreland) के रूप मे स्थिर था? उत्तर से आने वाली दबाव की शक्ति के मार्ग मे इस पठार ने अवरोध उत्पन्न किया। इस पठारी भाग के उत्तर पश्चिम मे अरावली तथा उत्तर-पूर्व मे शिलांग के पठार टेथीज के अत्यधिक नजदीक थे तथा ये दक्षिणी पठार की दो सींग के रूप मे थे। इस प्रकार अरावली तथा शिलांग पठार के कारण इनके बीच हिमालय की श्रेणियो को दक्षिण की ओर झुकना पड़ा, जिस कारण हिमालय का आकार तलवार या चाप के रूप म हो गया, जिसका मध्यवर्ती झुकाव दक्षिण की ओर है। चूँकि शिलांग का पठार टेथीज के अधिक नजदीक था, अत पूर्वी भाग मे वलन की क्रिया सर्वाधिक हुई। फलस्वरूप तीन श्रेणियाँ एक दूसरे के अत्यधिक करीब है तथा पूर्वी भाग मे ही हिमालय का सर्वोच्च भाग पाया जाता है। उत्तर-पश्चिम मे अरावली टथीज से अपक्षाकृत दूर था, अत पूर्व की अपेक्षा यहाँ पर वलन अधिक प्रबल नही रहा। फलस्वरूप हिमालय की श्रेणियाँ एक दूसरे से दूर-दूर पायी जाती है। अधिक पश्चिम जाने पर यह दूरी बढ़ती ही जाती है। हिमालय की श्रेणियो के मिलन-स्थान अथवा दो श्रेणियो के बीच **भ्रंशन रेखा** *(Fault line) पायी जाती है। ये मध्यावकाश की* द्योतक है तथा ये इंगित करती है कि हिमालय की श्रेणियो का निर्माण अलग-अलग अवस्थाओ म भिन्न-भिन्न समयो मे हुआ होगा। अत्यधिक अपरदन, नूतन जमाव तथा हिमानीकरण के फलस्वरूप वृहत हिमालय तथा लघु हिमालय के मध्य की भ्रंशन रेखाये स्पष्ट रूप म दृश्य नहीं है। इसके विपरीत हिमालय तथा शिवालिक के मध्य की भ्रंशन रेखाये स्पष्ट रूप म दृश्य है तथा पश्चिम स पूर्व, विभिन्न भ्रंशन रेखाओं का पता लगाया गया है। इस क्षेत्र म भ्रंशन रेखाओं का **मुख्य विभंजन सीमा** (Main Boundry Fault Line) कहते है। इन भ्रंशन रेखाओं की सख्या पश्चिम से पूर्व की ओर घटती जाती है, जिसका प्रमुख कारण पूर्व मे

1 इस परिकल्पना को स्वीकार करने पर उत्तरी भारत की प्रवाह-प्रणाली सम्बन्धी कई कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं।

अत्यधिक वलन का होना है। नीचे हिमालय पर्वत के निर्माण सम्बन्धी सिद्धान्तो की संक्षिप्त विवेचना की जा रही है।

1. स्वेस महोदय का मत—स्वेस महोदय के अनुसार हिमालय का निर्माण उत्तर से दबाव आने से टेथीज के मलवा मे वलन पडने से हुआ। स्वेस के मतानुसार टेथीज के उत्तर मे अंगारालैण्ड एक पृष्ठ प्रदेश (Back-land) के रूप था जो कि दक्षिण की ओर सरक रहा था। इसके विपरीत टेथीज के दक्षिण मे गोंडवानालैण्ड का भाग प्रायद्वीपीय भारत एक अग्रदेश के रूप मे स्थिर भूखण्ड था तथा इसमे कोई गति नही हुई। इस प्रकार अगारालैण्ड के दक्षिण सरकने तथा गोंडवानालैण्ड के स्थिर रहने से टेथीज का मलवा,बीच मे सम्पीडित होकर मोड के रूप मे बदल गया। पश्चिम मे अरावली तथा पूर्व मे शिलाग पठार के अवरोध के कारण हिमालय की श्रेणियाँ धनुषाकार अथवा वक्राकार हो गयी। हिमालय की इस आकृति से स्वेस ने इस विचार को, कि दबाव की शक्ति उत्तर से आई काफी बल मिलता है।

2. आरगण्ड की संकल्पना—आरगण्ड महोदय के अनुसार दबाव की शक्ति का प्रसरण दक्षिण दिशा से हुआ था। अर्थात् टेथीज के दक्षिण मे स्थित गोंडवाना-लैण्ड उत्तर की ओर सरकने लगा जबकि अगारालैण्ड अपनी जगह पर स्थिर था। इस प्रकार से दक्षिण से दबाव आने से फलस्वरूप टेथीज का मलवा मोड मे बदल कर हिमालय पर्वत के रूप मे परिवर्तित हो गया। आरगण्ड की यह विचारधारा न्यायसगत प्रतीत नही होती है क्योकि हिमालय के आकार को देखते हुए दक्षिण दिशा से शक्ति के प्रसरण के विषय मे विश्वास नही हो पाता।

3. कोबर की संकल्पना—कोबर की विचारधारा उपर्युक्त दो मतो से बिलकुल भिन्न है। इनके अनुसार मोड़दार पर्वत के निर्माण मे भूसन्नति के दोनो पार्श्वो से दबाव पडता है तथा साधारण दबाव होने से दोनो किनारो पर समानान्तर श्रेणियो का निर्माण हो जाता है तथा मध्य का भाग वलन-क्रिया से अप्रभावित रह जाता है। इस भाग को मध्य देश (Median mass) की संज्ञा दी जाती है। परन्तु जब दबाव अधिक प्रबल होता है तो भूसन्नति का समस्त मलवा मोड मे बदल जाता है तथा कोई भाग अप्रभावित नही रह पाता है। इस प्रकार कोबर के अनुसार टेथीज के दोनो किनारो पर स्थित अंगारालैण्ड तथा गोंडवानालैण्ड अग्रदेश (Foreland) के रूप मे थे। पर्वत निर्माण के समय (Eocene period) दक्षिण से गोंडवानालैण्ड तथा उत्तर से अङ्गारालैण्ड एक दूसरे की ओर सरकने लगे, जिस कारण टेथीज के दोनो किनारे पर तलछट मे वलन पडने से पर्वत श्रेणियो का निर्माण हुआ। उत्तर मे कुनलुन पर्वत तथा दक्षिणी मे हिमालय का निर्माण हुआ। इन दो पर्वत-श्रेणियो के मध्य टेथीज का कुछ भाग अवशिष्ट रह गया जो कि मध्य देश का उदाहरण है। यद्यपि कोबर का मत अधिक विश्वसनीय लगता है परन्तु यह आवश्यक नही है कि शक्तियाँ दोनो पार्श्वो से प्रसारित हो। अधिकाश विद्वान् एक पार्श्वीय शक्ति पर ही विश्वास करते हैं। हिमालय के निर्माण के समय ही उसके सामने एक गहरे गर्त का निर्माण हो गया जिसमे तलछटीय निक्षेप के कारण उसके भर जाने पर सिन्धु-गगा के मैदान का निर्माण हुआ। **प्लेट विवर्तन सिद्धान्त** (1960) के प्रतिपादन से कोबर के मत का (कम से कम दोनो पार्श्वों के गतिशील होने का) सत्यापन हो जाता है।

4 बुरार्ड की संकल्पना—बुरार्ड महोदय ने सन् 1912 ई० मे हिमालय के निर्माण के सम्बन्ध मे अपने सकुचन सिद्धान्त का प्रचलन किया। इनके अनुसार पृथ्वी के धरातल के नीचे एक दूसरी तह है, जो कि शनै-शनै शीतल हो रही है। शीतल होने पर इस दूसरी तह मे सकुचन आ जाता है, जिस कारण यह फट जाती है तथा इसके फटने से प्राप्त टुकडे इधर-उधर विस्थापित (हट जाते है) हो जाते हैं। इस प्रकार नीचे की तह के फटने तथा इधर-उधर हटने से ऊपरी तह मे सिकुड़न पड जाती है, जिस कारण मोडदार पर्वतो का निर्माण होता है। इसी प्रकार से हिमालय का निर्माण हुआ है। नीचे वाली तह के टुकडो अथवा खण्डो के हट जाने से रिक्त स्थान मे नदियो द्वारा लाये गये तलछट का निक्षेप होने लगता है तथा वह भाग भर जाता है। उपर्युक्त प्रक्रिया के अनुसार यह पदार्थ भी सिकुडन के कारण मुड गया, जिस कारण शिवालिक श्रेणी का निर्माण हुआ। इस मत के प्रतिपादन के समय ही इसकी कटु आलोचना की गई तथा वर्तमान समय मे यह मत मान्य नही है। इस मत के मान्य होने पर संतुलन सम्बन्धी अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती है। इसी प्रकार इस मत के आधार पर हिमालय के निर्माण मे प्रयुक्त दबाव की वास्तविक दिशा प्रमाणित नही हो पाती है।

5 **फावस तथा वेडेल के मत**—फावस तथा वेडेल ने उपर्युक्त मतों के विपरीत बिल्कुल अलग सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इनके अनुसार हिमालय पर्वत का निर्माण दो क्रियाओं के अनुसार हुआ है। प्रथम घटना में तिब्बत के पठार के पृष्ठ प्रदेश (तिब्बत के पीछे से) से दबाव आने के कारण तिब्बत के पठार के किनारे वाले भाग में सिकुड़ने पड़ गयी, जिस कारण ऊपर उठने से पर्वत-श्रेणियों का निर्माण हुआ। सिकुड़न से उत्पन्न यही मोड़ वर्तमान समय के हिमालय हैं। द्वितीय घटना के अनुसार नदियों ने सिकुड़न से ऊपर उठे भाग पर अपरदन द्वारा उनका नग्नीकरण प्रारम्भ कर दिया, जिस कारण अधिकांश पदार्थ क्षयित होकर वहाँ से हट गया। फलस्वरूप उसमें अनेक गहरी घाटियों तथा दरारों का निर्माण हुआ। इस प्रकार सतुलन की स्थिति को बनाये रखने के लिए उन घर्षित मोड़ो को और ऊपर उठना पड़ा, जिस कारण हिमालय में पुन उत्थान सम्भव हो सका। इन विद्वानों के अनुसार हिमालय की इतनी अधिक ऊँची चोटियों के प्रमुख कारण हिमालय क्षेत्र की गहरी घाटियाँ तथा दरारें हैं। यदि हिमालय में गहरी घाटियाँ तथा दरारें नहीं होती तो हिमालय इतना ऊँचा नहीं हो पाया होता। अपने मत की पुष्टि के लिए इन्होंने अरुण नदी की सहायक जकर चू की सोपानाकार घाटी को प्रस्तुत किया है।

6 **प्लेट विवर्तन सिद्धान्त** के आधार पर हिमालय की उत्पत्ति की व्याख्या अध्याय आठ में की गई है। वर्तमान समय में यही सिद्धान्त सर्वमान्य है।

इस प्रकार हिमालय के निर्माण से सम्बन्धित अनेक मतों के जाल में वास्तविकता का पता नहीं लग पाता है यद्यपि प्लेट विवर्तन सिद्धान्त द्वारा हिमालय की उत्पत्ति की समस्या का निदान हो गया है। साधारण रूप में यह स्वीकार किया जा सकता है कि हिमालय पर्वत की समस्त बनावट, उत्तरी मैदान की ओर खड़ा ढाल तथा तिब्बत की ओर का साधारण ढाल, इसकी वक्राकार स्थिति आदि को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि हिमालय का निर्माण उत्तर से (अंगारालैण्ड) से आने वाले दबाव तथा उत्क्रम (Compression & thrust) के कारण तथा प्रायद्वीपीय भारत के उत्तर की ओर गतिशील होने से टेथीज के मलवा में क्रमिक (Successive) वलन पड़ने से हुआ है। परन्तु इस कथन का यह अर्थ नहीं है कि हिमालय का उत्थान समाप्त हो चुका है। अनेक ऐसे लक्षण तथा प्रमाण मिले हैं, जिनके आधार पर यह बताया जाता है कि हिमालय का उत्थान अब भी जारी है। हीम महोदय के मतानुसार हिमालय पर्वत निरन्तर ऊँचे उठ रहे हैं तथा इनके उठने के साथ ही साथ उत्तरी मैदान नीचे धँस रहा है, जिस कारण आये दिन भूकम्प का आगमन होता रहता है।

1 हिमालय तथा उसके सहारे उत्तरी मैदान के भूकम्पों से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिमालय क्षेत्र अब तक पूर्ण रूप से सतुलित नहीं हो सके हैं, क्योंकि पर्वत निर्माण अभी तक समाप्त नहीं हो सका है। इस कारण से यह क्षेत्र अभी तक अस्थिर है तथा किसी समय हिमालय का भयंकर नवीन उत्थान हो सकता है। क्वेटा तथा बिहार एवं आसाम के भूकम्प इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

2 तिब्बत में झीलों के निरन्तर भरने जाने से भी प्रकट होता है कि हिमालय ऊँचे उठ रहे हैं। हिमालय के ऊँचे उठने से ही इस भाग की झीलों का तल ऊपर उठता रहता है तथा वे सूखती रहती हैं।

हिमालय की नदियाँ अब भी अपनी युवावस्था में हैं। इससे प्रमाणित होता है कि हिमालय अपरदन की अपेक्षा से अधिक तेजी से ऊपर उठ रहे हैं। इतना तो निश्चय ही है कि हिमालय के निर्माण के समय से ही उस पर अपरदन प्रारम्भ हो गया। अगर हिमालय का उत्थान रुक गया होता तो आज से लाखों वर्ष पहले ही हिमालय अत्यन्त नीचा हो गया होता। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि हिमालय शनै-शनै ऊँचे उठ रहे हैं। गाडविन आस्टिन ने बताया है कि थोड़े समय के ही अन्दर (जब से मानव धरातल पर प्रकट हुआ) हिमालय में 8,000 से 10,000 फीट का उत्थान हुआ है।

हिमालय की सरचना (Structure of the Himalayas)

सामान्य परिचय—यद्यपि हिमालय की सरचना आल्प्स की अपेक्षा सरल तथा कम जटिल है तथापि कई कारणों के फलस्वरूप हिमालय की सरचना के विषय में अब तक बहुत कम विवरण प्राप्त हैं। इसका सबसे प्रमुख कारण हिमालय की चट्टानों का बहुत कम अध्ययन है। आल्प्स के समान इसका क्रमबद्ध तथा वैज्ञानिक तौर पर बृहद् अध्ययन नहीं किया जा सका है इसके लिए भी कई कारण बताये जा सकते हैं। प्रथम यह कि हिमालय की सरचना के विषय में भूगर्भवेत्ताओं ने कम दिलचस्पी दिखाई है। प्राय किसी महाद्वीपीय पर्वत की सरचना

के विषय में स्थानीय विद्वानों का ही सहयोग अधिक रहता है। उदाहरण के लिए आल्प्स का अध्ययन मुख्य रूप से यूरोपीय विद्वानों द्वारा किया गया है। भारत में स्थानीय विद्वानों तथा प्रमुख रूप से उचित साधनों के अभाव में हिमालय का अध्ययन कम हो सका है। इस क्षेत्र में भारतीय शीर्ष-भूगर्भवेत्ता स्वर्गीय डा० वाडिया का कार्य सराहनीय है, जिन्होंने न केवल समस्त हिमालय की साधारण संरचना का गहन अध्ययन किया है वरन् कश्मीर-हिमालय का वृहद् भूगर्भिक विवरण उपस्थित किया है। आपने आल्प्स के समान हिमालय की संरचना में भी 'ग्रीवाखण्ड संकल्पना" (Nappe concept) का प्रचलन किया है तथा कई ग्रीवाखण्डों का स्पष्टीकरण भी किया है। इसी प्रकार अन्य विदेशी भूगर्भवेत्ताओं ने भी हिमालय के विभिन्न स्थानों का अलग-अलग वृहद् अध्ययन करके विश्वसनीय (यद्यपि विवादास्पद भी) विवरण उपस्थित किए हैं। हिमालय की बनावट में "ग्रीवाखण्ड सिद्धान्त" (Nappe theory) का प्रतिपादन अन्य कई विद्वानों ने भी किया है। परन्तु इस तरह का विश्लेषण कुछ ही क्षेत्रों तक सीमित है। उदाहरण के लिए कश्मीर क्षेत्र में डा० वाडिया, शिमला क्षेत्र में पिलग्रिम तथा वेस्ट महोदय, गढवाल में आडिम महोदय तथा कुमायूँ हिमालय में हीम तथा गैन्सर के अध्ययन सराहनीय हैं।

हिमालय की संरचना के अध्ययन के विषय में द्वितीय कठिनाई हिमालय का स्वयं दुर्गम होना है। कई स्थान ऐसे हैं जहाँ पर आसानी से पहुँचा नहीं जा सकता है। तृतीय यह कि कई स्थानों पर अपरदन की अधिकता (हिमालय की अपेक्षा आल्प्स में अपरदन सर्वाधिक हुआ है तथा हिमालय में सर्वत्र अत्यधिक अपरदन नहीं हो पाया है) से अधिकांश संरचनात्मक भाग कट गये हैं, अतः मौलिकता का पता लगाना दुष्कर है। कुल मिलाकर, जैसा कि मोड़दार पर्वतों में प्रायः होता है, हिमालय की संरचना जटिल ही कही जा सकती है। सम्पीडन की अधिकता के कारण हिमालय की संरचना में अपनति तथा अभिनति का प्रमुख स्थान है। स्थान-स्थान पर सम्पीडन की अधिकता तथा जटिलता के कारण एक मोड का ऊपरी भाग टूट कर या तो पास ही में दूसरे मोड पर लद गया है या दूर जाकर दूसरे मोड पर चढ गया है। इस प्रकार परिवलन मोड़ (Recumbent folding) के कारण कई स्थानों पर ग्रीवाखण्डों (Nappes) के निर्माण हुए हैं। जब अपनति अथवा मोड की ग्रीवा टूट कर पास ही दूसरे मोड पर चढकर ग्रीवाखण्ड बनाती है तो उसे आटोक्थोनस ग्रीवाखण्ड (Autochthonous nappes) कहा जाता है परन्तु इसके विपरीत जब एक मोड की ग्रीवा टूट कर सैकड़ों मील दूर जाकर दूसरे मोड पर सवार होती है तो उस ग्रीवाखण्ड का सम्बन्ध स्थानीय चट्टान से नहीं होता है। इतना ही नहीं जब सम्पीडन और अधिक प्रबल होता है तो एक ग्रीवाखण्ड दूसरे ग्रीवाखण्ड पर सवार हो जाती है। इस प्रकार की संरचना को 'ग्रीवाखण्ड मण्डल" (Nappe zone) कहा जाता है। आल्प्स पर्वत में हेल्वेटिक तथा पीनाइड ग्रीवाखण्डों के ऊपर आस्ट्रायड ग्रीवाखण्डों का विस्तार हो गया है। जहाँ पर एक अलग संरचना वाले ग्रीवाखण्ड पर दूसरा ग्रीवाखण्ड चढ जाता है तथा जब अपरदन द्वारा ऊपरी ग्रीवाखण्ड के कट जाने से निचला ग्रीवाखण्ड दृष्टिगोचर होने लगता है तो उसे "संरचना-द्वार" या "संरचना खिड़की" (Structural window) कहा जाता है।

सम्पीडन तथा वलन की क्रियाओं के कारण हिमालय क्षेत्र की चट्टानों में रूपान्तरण भी पर्याप्त रूप में हुआ है, जिस कारण नीस तथा शिस्ट चट्टानें अधिक मात्रा में पाई जाती हैं। कुल मिलाकर पुरातन युग (Palaeozoic era) की चट्टानों से लेकर टर्शियरी युग की चट्टानें पाई जाती हैं, जिसमें परतदार चट्टानों की प्रमुखता है। कई स्थानों पर इनमें रूपान्तरण भी हो गया है। हिमालय-क्षेत्र में ज्वालामुखी-क्रिया भी घटित हुई है, जिससे बैथोलिथ एवं लैकोलिथ आदि संरचनात्मक स्थलरूप पाये जाते हैं। चूंकि हिमालय की तीन श्रेणियों का निर्माण अलग-अलग तीन युगों में हुआ है, अतः उनकी संरचना में भी पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। हिमालय की संरचना का एक प्रमुख अंग सीमान्त भ्रंश (Boundry fault) भी है। सर्वप्रथम हिमालय की तीनों श्रेणियों की सामान्य संरचना का संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है।

1. आन्तरिक अथवा वृहत् हिमालय (Inner or Greater Himalayas)—हिमालय की अन्य दो श्रेणियों की तुलना में आन्तरिक हिमालय की संरचना के विषय में जानकारी कम है क्योंकि इस श्रेणी का विधिवत अध्ययन अभी तक बड़े पैमाने पर नहीं किया जा सका है। खासकर इस आन्तरिक हिमालय के मध्यवर्ती भाग अत्यधिक जटिल संरचना वाले हैं। उचित पर्यवेक्षणों तथा अध्ययन के अभाव में इनकी वास्तविक बनावट

का उल्लेख करना कठिन कार्य है। जो कुछ भी अब तक भूगर्भिक अध्ययन तथा विश्लेषण किया गया है वह पश्चिमी हिमालय का ही है। कुमायूँ से पूर्व वाले भाग में आज तक क्रमबद्ध भूगर्भिक सर्वेक्षण नहीं हो सका है। इसी कारण आन्तरिक हिमालय के पूर्वी भाग के विषय में प्राप्त सूचना सीमित है। भौतिक दृष्टिकोण से आन्तरिक हिमालय पश्चिम में सिन्धु नदी के मोड़ से प्रारम्भ होकर पूर्व में ब्रह्मपुत्र नदी के मोड़ तक 1,500 मील की लम्बाई में एक तलवार के आकार में फैला है, जिसका मध्यवर्ती झुकाव दक्षिण की ओर है। इस श्रेणी की औसत चौड़ाई 15 मील (24 किलोमीटर) तथा औसत ऊंचाई 20,000 फीट से अधिक है। इस क्षेत्र में 40 ऐसी ज्ञात चोटियाँ हैं जिनकी ऊँचाई 24 000 फीट से अधिक है तथा इनका नामकरण किया जा चुका है। इसके अलावा 273 ऐसी अज्ञात चोटियाँ हैं, जिनकी ऊँचाई भी 20,000 फीट से अधिक है। माउण्ट एवरेस्ट (8848 मीटर) नन्दा देवी (25,661 फीट), नगा पर्वत (26,182 फीट), गोसाईं थान (26,305 फीट) आदि इस भाग की प्रमुख चोटियाँ हैं। इस क्षेत्र की अधिकांश चोटियाँ वर्ष भर सदैव बर्फ से आच्छादित रहती हैं।

बनावट में संलग्न चट्टानों की दृष्टि से इस हिमालय के विभिन्न भागों में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। हिमालय का अन्तरतम या गर्भ भाग (Core) रवेदार तथा रूपान्तरित चट्टानों से निर्मित है। इनमें ग्रेनाइट नीस तथा शिस्ट प्रमुख स्थान रखती हैं। स्थान स्थान पर इन चट्टानों के ऊपर नवीन परतदार चट्टान का आवरण आ गया था परन्तु अपरदन के कारण कहीं-कहीं पर परतदार शैल का आवरण कट गया है तथा प्राचीन चट्टानें नग्नावस्था में पाई जाती हैं। अत्यधिक सम्पीडन तथा वलन के कारण प्राचीन चट्टानों का रूपान्तरण बड़े पैमाने पर हुआ है तथा वलन की अधिकता से परिवलन मोड़ (Recumbent folds) तथा ग्रीवाखण्ड की भी रचना हुई है। पिलग्रिम, डा० वाडिया तथा वेस्ट आदि विद्वानों ने पश्चिमी हिमालय में कई ग्रीवाखण्ड-क्षेत्रों का पता लगाया है। इनका वर्णन आगे किया जायेगा। उपर्युक्त चट्टानों के अलावा स्थान-स्थान पर चूने का पत्थर भी पाया जाता है। इस श्रेणी के उत्तर में हिमालय की परतदार चट्टानें पायी जाती हैं, जिनमें जीवावशेष (Fossils) पाये जाते हैं। कहीं-कहीं पर भारी उत्क्रम (Heavy thrust) के कारण प्राचीन चट्टानें नवीन चट्टानों के ऊपर भी आ गई हैं। कुल मिलाकर आन्तरिक हिमालय एक क्रमबद्ध शृंखला है, जिसमें द्वार (Gaps) बहुत ही कम पाये जाते हैं। कुछ स्थानों पर पूर्ववर्ती नदियों (Antecedent rivers) ने इस श्रेणी को काट दिया है, जिस कारण इसमें कुछ द्वार पाये जाते हैं। आन्तरिक हिमालय में नुकीले कटक (Sharp ridges) तथा चौड़े स्पर (Broad Spurs) पाये जाते हैं। हिमालय की अन्य दो श्रेणियों की अपेक्षा इस भाग में अपरदन कम हुआ है क्योंकि यह भाग वर्षा वाले क्षेत्रों से कुछ दूर पड़ता है। अपरदन नदियों की घाटियों तथा हिमनद एवं गर्त भागों तक ही सीमित है जिस कारण नुकीले कटक तथा स्पर अप्रभावित एवं सुरक्षित हैं।

2 लघु हिमालय (Lesser Himalayas) — आन्तरिक हिमालय के दक्षिण में उसी के समानान्तर पश्चिम से पूर्व दिशा में स्थित मध्यवर्ती हिमालय, लघु हिमालय अथवा मध्य हिमालय के नाम से ख्यात है। इस श्रेणी की औसत चौड़ाई 50 60 मील तथा ऊँचाई 10,000 फीट से अधिक है परन्तु 12,000 से 15,000 फीट से अधिक ऊँचाई नहीं पाई जाती है। इसमें कई छोटी छोटी श्रेणियाँ हैं जिनमें अनेक स्पर पाये जाते हैं। चूंकि लघु हिमालय का निर्माण आन्तरिक हिमालय के बाद हुआ है अतः सम्पीडन की शक्ति में अपेक्षाकृत ह्रास के कारण प्रथम श्रेणी की तुलना में रूपान्तरण अधिक नहीं हो पाया है तथापि कठोर एवं रूपान्तरित चट्टानें पाई जाती हैं, यद्यपि चूने के पत्थर की प्रमुखता है। इस भाग में पैल्योजोइक कल्प तथा कैम्ब्रियन युग से पूर्व की जीवावशेष रहित प्राचीन परतदार चट्टानें भी पाई जाती हैं। पाई जाने वाली अन्य चट्टानों में स्लेट, चूने का पत्थर तथा क्वार्टजाइट हैं परन्तु इन चट्टानों में शिलाभूत अवशेष बिल्कुल नहीं पाये जाते हैं। लघु हिमालय सर्वाधिक मानसून वर्षा का क्षेत्र है। अतः अनेक नदी-नालों ने इस भाग में अपरदन द्वारा अनेक स्थलरूपों को जन्म दिया है। इस क्षेत्र में भी कटक तथा स्पर पाये जाते हैं परन्तु अपरदन के कारण मौलिक रूप में नहीं मिलते हैं।

3. बाह्य हिमालय अथवा शिवालिक श्रेणी (Outer Himalaya or Shivalik Range)—हिमालय की उपर्युक्त दो श्रेणियों के दक्षिण में स्थित तृतीय श्रेणी को बाह्य हिमालय, उपहिमालय तथा शिवालिक श्रेणी आदि नामों से अभिहीत किया जाता है। अन्य दो श्रेणियों के विपरीत यह एक क्रमबद्ध शृंखला नहीं है वरन् इसमें

बीच-बीच मे विलगाव पाया जाता है। इसकी चौडाई 5 से 30 मील तक ऊँचाई 4,000 से 5000 फीट तक है। यह हिमालय का सबसे नवीन भाग है जिसमे अन्य दो श्रेणियों की अपेक्षा नूतन जमाव पाये गए है। सम्पूर्ण श्रेणी पश्चिम म चौडी परन्तु पूर्व मे पतली होती चली जाती है। जहाँ तक चट्टानो की सरचना का प्रश्न है, इस भाग मे तलछटीय तथा अवसाद-निर्मित परतदार शैल पाई जाती है, परन्तु स्थान-स्थान पर आग्नेय चट्टान के भी उदाहरण पाये गये है। सरचना की दृष्टि से इस भाग मे नूतन टर्शियरी युग के जमाव पाये गये है, जिनका सर्व प्रथम अध्ययन हरिद्वार के पास **शिवालिक** पहाडी मे किया गया था। इसी प्रकार की चट्टानें अन्य भागो—बलूचिस्तान सिन्ध, आसाम तथा बर्मा—मे भी पायी गई है जिस कारण इस जमाव को **शिवालिक क्रम** (Shivalik System) की सज्ञा प्रदान की गई। विभिन्न स्थानो पर इस प्रकार के जमाव के लिये अलग-अलग स्थानीय नाम प्रदान किये गये है। उदाहरण के लिये बलूचिस्तान मे इस जमाव को **मकरान क्रम** (Mekran System), सिन्ध मे **मंचर क्रम** (Mancher System), आसाम मे **तिपम क्रम** (Tipam System), **डूपी टिला क्रम** (Dupi Tilla System) तथा **दिहिंग क्रम** (Dihing System) और बर्मा मे **इरावदी क्रम** (Irrawadi System) कहा जाता है।

यदि शिवालिक की चट्टानो का अध्ययन किया जाय तो स्पष्ट रूप मे कहा जा सकता है कि शिवालिक जमाव मुख्य रूप से जलोढ जमाव (Alluvial detritus) है जिनका निक्षेप हिमालय की श्रेणियों के निचले भागो मे उन नदियो द्वारा किया गया था जो कि हिमालय से प्रवाहित होकर उसके निचले भाग मे क्षयित पदार्थो के निक्षेप मे तत्पर थी। शिवालिक क्रम मे पायी जाने वाली चट्टाने अवसाद चूर्ण-निर्मित है तथा इसकी गहराई 15,000 से 17,000 फीट तक पायी जाती है। प्रमुख चट्टाने बालुका पत्थर, रेत शैल (Sand rocks), चीका कांग्लोमरेट तथा चूने का पत्थर है। यद्यपि शिवालिक-क्रम जलोढ जमाव ही है तथापि इसमे पर्याप्त संगठन पाया जाता है। इसका प्रमुख कारण शिवालिक क्रम का वलित होना है। सम्पीडन के कारण वलन (Folding) होने से अधिकाश चट्टानें सघन तथा कठोर हो गई हैं।

शिवालिक श्रेणी मे विभिन्न चट्टानो के निक्षेप के विषय मे विद्वानों मे एक मत नही है। **मध्य मायोसिन** से निचले **प्लीस्टोसीन** युग तक शिवालिक की 15,000 से 17,000 फीट मोटी परत का जमाव विभिन्न रूपो मे होता रहा। कुछ विद्वानो के अनुसार शिवालिक निक्षेपो की रचना, भिन्न-भिन्न स्थानो पर, नदियो की क्रियाओ पर आधारित है। **पिलग्रिम** महोदय के अनुसार शिवालिक निक्षेप नदीकृत जमाव है। यमुना नदी के पश्चिम तरफ शिवालिक पर्वत-श्रेणियो मे चिकनी मिट्टी (Clay) की अधिकता है, जब कि इसके उत्तरी भाग मे मलबे के साथ **काग्लोमरेट** तथा **नहान श्रेणी** (Nahan Series) मे बालुका पत्थर पाये जाते है। गगा एव यमुना नदियों के बीच वाले भाग मे चिकनी मिट्टी की न्यूनता है, परन्तु क्वार्टजाइट के बिल्लौरी वाले काग्लोमरेट चट्टानो की प्रधानता है। यदि शिवालिक श्रेणी की संरचना का उर्ध्वाकार अध्ययन किया जाय तो बात और स्पष्ट हो जायगी—शिवालिक क्रम के सबसे निचले भाग मे बारीक कणों वाले बालुका पत्थर, बीच वाले भाग मे बालुका पत्थर के साथ-साथ शेल्स तथा चिकनी मिट्टी एव ऊपरी भाग मे मुलायम परन्तु अधिक गहराई वाली चिकनी मिट्टी पाई जाती है, जिसके ऊपर स्थान-स्थान पर बडे कणों वाले बाउल्डर-काग्लोमरेट की चादर पाई जाती है। शिवालिक की भूगर्भिक सरचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस श्रेणी की चट्टानो का जमाव मध्य हिमालय के ग्रेनाइट कोर से प्राप्त अवसाद के शिवालिक नदी की घाटी मे निक्षेप होने से हुआ है। अत शिवालिक निक्षेप जलीय निक्षेप कहे जा सकते हैं। और अधिक स्पष्टीकरण के लिये यह बताया जा सकता है कि शिवालिक श्रेणी के निर्माण मे प्रथम परतदार चट्टान, उसके बाद शुद्ध जलीय शैल तथा बाद मे जलकृत अथवा नदी-कृत अवसादो का हाथ रहा है। **डा० वाडिया** के अनुसार *ऊपरी बडे काग्लोमरेट का निक्षेप जलोढ पखे के रूप म* पहाडी नदियो के उद्गम स्थान पर, चिकनी मिट्टी तथा रेत की मोटी परत का जमाव सिल्ट तथा नदियों के बारीक अवसाद के रूप मे बाढ वाले मैदान मे तथा निचला शिवालिक निक्षेपण लैगून अथवा बिखरे हुए सागरीय बेसिन की इश्चुअरी मे हुआ था। प्राचीन भूगर्भवेत्ताओ के अनुसार समस्त शिवालिक क्रम की चट्टानो का जमाव, हिमालय की दो श्रेणियो से आने वाली नदियों द्वारा पहाडी की तलहटी मे जलोढ पखो के रूप मे हुआ है। परन्तु यह मत वर्तमान समय मे मान्य नही है, क्योंकि इसी प्रकार से यदि शिवालिक की रचना पर विश्वास किया जाय तो उसमे चट्टान सम्बन्धी सर्वत्र एकरूपता नही होगी। इसके विपरीत शिवालिक

श्रेणी में दूर-दूर तक भूशैलिक संरचना में पर्याप्त समानता पाई जाती है। अतः डा० वाडिया के मत को महत्त्व प्रदान किया जा सकता है। शिवालिक श्रेणी में चूने की चट्टान की स्थिति से सागरीय जमाव का भी आभास मिलता है। शिवालिक के पश्चिमी भाग (गढ़वाल, कुमायूँ) में चूने के पत्थर की प्रधानता होने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह भाग किसी नदी (शिवालिक नदी) के मुहाने पर रहा होगा, जहाँ तक सागर का विस्तार रहा होगा। देहरादून के पास चूने के पत्थर का एक विस्तृत क्षेत्र पाया गया है। इस आधार पर यह विश्वास किया जाता है कि प्रारम्भिक समय में वर्तमान कुमायूँ तथा गढ़वाल तक अरब सागर का विस्तार रहा होगा। इस भाग को **सिन्धु की खाड़ी** कहा जाता था। इसी खाड़ी में शिवालिक नदी पूर्व से आकर गिरती थी। फलस्वरूप अवसादीय जमाव होता रहा। शनैः-शनैः अरब सागर पीछे की ओर हटता गया तथा निक्षेपित पदार्थ ऊपर आ गया। इस प्रकार सागरीय जमाव के कारण ही चूने के पत्थर का निक्षेपण सम्भव हो सका है।

प्रमुख विद्वान जी० ई० पिलग्रिम के अनुसार शिवालिक श्रेणी को भूशैलिक संरचना की दृष्टि से ऊर्ध्वाकार रूप में तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। निचली शिवालिक, मध्य शिवालिक तथा ऊपरी शिवालिक।

(i) **निचली शिवालिक**—निचले शिवालिक क्रम में चट्टानों की परत की गहराई 4,000 से 5,000 फीट तक है। इस भाग की चट्टानों को पुनः दो वर्गों में विभाजित किया जाता है। सबसे नीचे वाली स्तर को **कामलीयल स्तर** (Kamlial Bed) कहा जाता है, जिसमें कठोर लाल रंग के बालुका पत्थर तथा इसके साथ चिकनी मिट्टी, ग्रन्थियुक्त कांग्लोमरेट तथा लाल एवं *बैंगनी रंग की शेल* की प्रधानता है। इस स्तर का नामकरण कामलीयल स्थान के आधार पर किया गया है। इस भाग का दूसरा प्रमुख स्तर, **चिनजी स्तर** (Chingi Bed) के नाम से ख्यात है, जिसका नामकरण **चिनजी** नामक स्थान के आधार पर ही हुआ है। इसकी संरचना में भूरे रंग के बालुका पत्थर तथा चमकीले लाल रंग वाली शेल चट्टान की प्रधानता है। इसका निक्षेपण मध्य **मायोसीन** युग में हुआ था। कहीं-कहीं पर कांग्लोमरेट भी पाये जाते हैं।

(ii) **मध्य शिवालिक** (Middle Shivalik)—इस क्रम की चट्टानों की गहराई 6,000 से 8,000 फीट है, जिसमें निचली शिवालिक के समान पुनः दो स्तर पाये जाते हैं। निचले भाग को **नागरी स्तर** (Nagri Bed) कहा जाता है, जिसका नामकरण कटक के पास स्थित **नागरी** नामक स्थान के आधार पर हुआ है। इसकी *रचना में कठोर भूरे रंग के बालुका पत्थर के साथ-साथ* थोड़ी मात्रा में शेल तथा चिकनी मिट्टी पाई जाती है। इसमें खासकर आदिमानव के अवशेष पाये जाते हैं। उत्तरी स्तर को **धोक पठान स्तर** (Dhok Pathan *Bed*) *कहा जाता है जिसका विस्तार पश्चिमोत्तर सीमा* में पाया जाता है। इस क्षेत्र की संरचना में भूरे तथा सफेद रंग के बालुका पत्थर मुख्य हैं। परन्तु इसके साथ ही साथ शेल तथा नीले रंग की चिकनी मिट्टी भी पाई जाती है। इस स्तर की संरचना में स्थान-स्थान पर एकरूपता नहीं मिलती है। झेलम नदी के पास **सालग्रोन** स्थान पर कांग्लोमरेट की भारी परतें मिलती हैं तथा इस चट्टान का विस्तार **काफिर कोट** से लेकर **बहादुर** *खेल तक पाया गया है। **धोक-पठान स्तर** का सर्वाधिक* विकास **सोहन** नदी के समीपवर्ती भाग में हुआ है, जिसमें कांग्लोमरेट के साथ ही साथ चूने के पत्थर के बिल्लौर भी पाये जाते हैं। झेलम नदी के पश्चिम की ओर **चेकराला पर्वत** में लाल चिकनी मिट्टी की प्रधानता है परन्तु *इसके साथ ही कार्बन युक्त परतें*, कांग्लोमरेट तथा चूने के पत्थर भी मिलते हैं। समस्त शिवालिक श्रेणी के सर्वाधिक अवशेष **साल्टरेंज** में पाये जाते हैं।

(iii) **ऊपरी शिवालिक** (Upper Shivalik)—मध्य शिवालिक क्रम तथा ऊपरी शिवालिक के बीच कोई *ऐसी विशिष्ट सीमा नहीं है जिससे एक दूसरे को अलग* किया जा सके। मध्य शिवालिक के मोड़ों तथा उसकी परतदार शैलों के क्षरण के बाद उसके ऊपर ऊपरी शिवालिक का निक्षेपण हुआ है। ऊपरी शिवालिक की रचना में या तो बड़े कणों वाले कांग्लोमरेट, बाउल्डर कांग्लोमरेट मिलते हैं अथवा भूरी चिकनी मिट्टी, सिल्ट एवं रेत के स्तर पाये जाते हैं जिनकी मोटाई 6,000 से 9,000 फीट तक है। संरचना की दृष्टि से ऊपरी शिवालिक को तीन भागों में विभाजित किया जाता है—**टाट्रोट स्तर** (Tatrot Bed), **पिनजोर स्तर** (*Pinjor Bed*) तथा **बाउल्डर कांग्लोमरेट स्तर**। सबसे नीचे वाले स्तर को **टाट्रोट क्षेत्र** कहा जाता है जिसमें कांग्लोमरेट, मुलायम बालुका पत्थर तथा भूरे एवं लाल रंग की चिकनी मिट्टी पाई जाती है। इन चट्टानों का निक्षेपण प्रायः उन बेसिनों में हुआ है, *जिनका निर्माण मोड़दार पर्वतों के ऊपर उठने समय*

हो गया था। इस स्तर की चट्टानों के आधार-तल में बड़े-बड़े कणों वाले कांग्लोमरेट मिलते हैं, जिससे प्रमाणित होता है कि इन चट्टानों का निक्षेपण नदियों अथवा जल प्रवाह द्वारा हुआ है। **पिनजोर स्तर** का विस्तार **शिमला** में कालका के पास **पिनजोर** नामक स्थान पर अधिक हुआ है। इसी स्थानीय नाम के आधार पर इस स्तर का नामकरण किया गया है। **पिनजोर स्तर** की रचना में मोटी परतदार चट्टानें प्रमुख स्थान रखती हैं, जिनमें बालुका पत्थर मुख्य हैं। यमुना से पश्चिम **केरदा-दून** (देहरादून का ही भाग) वाले क्षेत्र में पिनजोर स्तर की चट्टानों की प्रमुखता है जिसमें *मिगनाइट मिश्रित* बालुका पत्थर तथा भारी एवं भूरे रंग के बालुका पत्थर मुख्य रूप में पाये जाते हैं। शिमला के पास पिनजोर स्तर में कांग्लोमरेट तथा भूरी मिट्टी के साथ भूरे रंग के बालुका पत्थर तथा लाल एवं पीले रंग की चिकनी मिट्टी का सम्मिश्रण मिलता है। इस स्तर में चट्टानों की मोटाई 456 से 1371 फीट तक है। ऊपरी शिवालिक के सबसे ऊपरी भाग में बाउल्डर कांग्लोमरेट की स्तर पाई जाती है। इसका जमाव निचले **प्लायोसीन** युग तक हुआ था। इस प्रकार की चट्टानें खास कर **रावलपिण्डी, पेशावर, कालानाग** एवं **पीरपंजाल** श्रेणियों में पाई जाती है। इस स्तर की प्रमुख चट्टानें बड़े कणों वाले बाउल्डर कांग्लोमरेट गहरी चिकनी मिट्टी, रेत तथा कंकड़ युक्त ग्रिट हैं तथा सबसे अन्त में प्राचीन जलोढ़ चट्टानें पाई जाती हैं। बाउल्डर का जमाव हिमानीकृत जमाव है। समस्त ऊपरी शिवालिक क्रम में जीवावशेष अधिक मात्रा में पाये गये हैं। इस क्षेत्र में तरह-तरह के हाथियों के अस्थि पंजर पाये गये हैं जिससे स्पष्ट होता है कि ऊपरी शिवालिक क्षेत्र हाथियों का प्रिय क्षेत्र रहा होगा।

इस प्रकार शिवालिक श्रेणी में पाई जाने वाली चट्टानें तथा उनकी परत अपने मौलिक रूप में क्षैतिज अवस्था में नहीं मिलती है वरन् हिमालय के तृतीय उत्थान के कारण उनकी स्थिति में पर्याप्त व्यतिक्रम (Inversion) हुआ है। तृतीय उत्थान के कारण सम्पीडन की शक्ति (Compressional force) से प्रेरित होकर समस्त शिवालिक का मलवा मोड़ में बदल कर 4,000 से 5,000 फीट ऊँची पहाड़ी के रूप में बदल गया है। स्थान-स्थान पर सम्पीडन की शक्ति की अधिकता एवं जटिलता के कारण एक मोड़ दूसरे मोड़ पर चढ़ गये हैं। इस प्रकार अत्यन्त मुड़े हुए मोड़ों का सृजन हुआ है। वलन की जटिलता के कारण उल्टे अथवा प्रतिकूल मोड़ों का निर्माण हुआ है। मोड़ का मध्यवर्ती भाग तनाव की अधिकता में **उत्क्रम-तल** (Thrust plane) में बदल गया है जिसके सहारे मोड़ का टूटा हुआ भाग काफी दूर तक अन्यत्र चला गया है। इस प्रकार की उत्क्रम-क्रिया (Thrusting) के फलस्वरूप शिवालिक क्रम के पहले की अर्थात् प्राचीन चट्टानों (मध्य हिमालय की चट्टानों) का आच्छादन शिवालिक क्रम की नवीन चट्टानों के ऊपर हो गया है। दूसरे शब्दों में *सम्पीडन तथा तनाव की शक्तियों के कारण प्रतिकूल भ्रंशन* का निर्माण हो गया है, जिसमें उत्क्रम-तल के सहारे ऊपरी भाग की शैल टूट कर शिवालिक क्रम की नवीन चट्टानों पर आरोपित हो गई हैं।

इस प्रकार हिमालय की बाह्य श्रेणी अर्थात् शिवालिक श्रेणी की सबसे प्रमुख विशेषता उनकी प्रतिकूल भ्रंशन है। इस प्रकार की भ्रंशन का विस्तार कहीं-कहीं पर बहुत अधिक दूरी तक पाया जाता है। यहाँ पर स्मरणीय है कि जहाँ भी शिवालिक चट्टानें, प्राचीन चट्टानों के साथ मिलती हैं, वहाँ पर दोनों का सम्मिलन तल (Plane of junction) प्रतिकूल भ्रंशन ही होता है। इस प्रकार स्थान-स्थान पर प्राचीन **टर्शियरी** चट्टानों के नीचे नवीन **शिवालिक शैल** पाई जाती है तथा इन दोनों के बीच के विभाजक तल या सहस्पर्शी तल (Plane of contact) को **मुख्य सीमान्त भ्रंशन** (Main Boundary Fault) कहते हैं। दूसरे शब्दों में मुख्य सीमान्त भ्रंशन वह सीमा है जिसके सहारे शिवालिक शैल तथा प्राचीन शैल को अलग-अलग पहचाना जा सकता है। शिवालिक श्रेणी की संरचना में इस प्रकार के **"मुख्य सीमान्त भ्रंशन"** का प्रमुख हाथ है तथा इनका विस्तार पंजाब से आसाम तक मिलता है।

पश्चिमी हिमालय की संरचना—जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि अब तक पश्चिमी हिमालय का ही क्रमबद्ध अध्ययन किया जा सका है तथा पश्चिमी क्षेत्र के विभिन्न भागों अर्थात् कश्मीर हिमालय में **डॉ० वाडिया** ने, शिमला क्षेत्र में **पिलग्रिम** तथा **वेस्ट** महोदय ने, गढ़वाल हिमालय में **आडेन** महोदय ने तथा **कुमायूँ** हिमालय में **हीम** ने सफलतापूर्वक कार्य किये हैं। स्वर्गीय **डॉ० वाडिया** के अनुसार पश्चिमी हिमालय

(कश्मीर क्षेत्र) में तीन प्रमुख **विवर्तनिक तत्व** (Tectonic elements) पाये जाते हैं।

(i) कश्मीर हिमालय का प्रथम सरचनात्मक भाग प्रायद्वीपीय भारत का प्राचीन चट्टानों वाला अग्रभाग (Fore-land) है जो कि हिमालय क्षेत्र में जिह्वा के आकार (Tongue like form) में प्रविष्ट है। इस अग्रभाग पर नवीन **टर्शियरी** युग की चट्टानों का आवरण हो गया है जिसका निर्माण मायोसीन से प्लीस्टोसीन युगों तक हुआ है। इस जमाव को **मरी स्तर** (Murree Bed) या मरी श्रेणी (Murree Series) कहा जाता है। वर्तमान समय में अपरदन के कारण यह भाग घिस कर पेनीप्लेन के रूप में परिवर्तित हो गया है।

(ii) दूसरा सरचनात्मक भाग **स्वस्थानिक मण्डल**[1] (Autochthonous Belt) का है। इसमें अत्यधिक वलित चट्टानें पाई जाती हैं जिनका निर्माण **कार्बोनिफरस** युग से **इयोसीन** युग तक हुआ है। सम्पीडन के कारण इन चट्टानों का प्रथम अग्रभाग पर उत्क्षेपण हो गया है जिस कारण ये चट्टानें प्रायद्वीपीय अग्रभाग पर अध्यारोपित हो गई हैं। इस उत्क्षेपण अथवा उत्क्रम को **मरी उत्क्रम** (Murree Thrust) कहा जाता है। यहाँ पर परिवलन मोड़ होने पर भी चट्टानें अपने स्थान से दूर न जाकर अपने स्थान पर ही स्थित हैं। इसी कारण से इसे **स्वस्थानिक मण्डल** कहा जाता है।

(iii) तीसरा भाग हिमालय के **ग्रीवाखण्ड मण्डल** (Nappe zone) का है। यहाँ पर अत्यधिक वलन के कारण एक मोड़ की ऊपरी ग्रीवा टूट कर तथा दूर जा कर दूसरे मोड़ पर आरोपित हो गई है। इस प्रकार चट्टानों का स्थानान्तरण (Displacement) बड़े पैमाने पर हुआ है। जिस तल के सहारे इस भाग का उत्क्षेपण या उत्क्रमण हुआ है, उसे **पंजाल उत्क्रम** (Punjal Thrust) कहा जाता है। उत्तर से आने वाले धरातलीय धक्के के कारण आन्तरिक हिमालय के प्रायः सभी मोड़ पंजाल उत्क्रम पर एकत्रित हो गये हैं। कश्मीर का ग्रीवा क्षेत्र पूर्व **कैम्ब्रियन** तथा नवीन स्लेट से निर्मित हुआ है। साथ ही साथ इसमें कई अभिनति वाली घाटियाँ भी हैं जिनमें **पैल्योजोइक** कल्प तथा **ट्रियासिक** युग की सागरीय परतों का जमाव हो गया है। इस ग्रीवाखण्ड मण्डल को **वाडिया महोदय** ने पुनः तीन उप-मण्डलों में विभाजित किया। **1. पुराना स्लेट मण्डल**—इस मण्डल की स्लेट चट्टानों में जीवावशेष नहीं मिलते हैं। इनका विस्तार **हजारा** तथा कश्मीर की तलछटीय बेसिनों में अधिक हुआ। **2. रवेदार चट्टानों वाला मण्डल**—इनमें हिमालय की मध्यवर्ती अक्षीय श्रृङ्खला को सम्मिलित किया जाता है, जिनकी सरचना रूपान्तरित चट्टानों में हुई है परन्तु इसमें ग्रेनाइट का भी प्रवेश हुआ है। **3 तिब्बत मण्डल**—सबसे उत्तरी भाग में स्थित इस मण्डल में **कैम्ब्रियन से इयोसीन** युग के सागरीय अवसाद (Marine sediments) पाये जाते हैं।

कश्मीर हिमालय के ग्रीवाखण्ड-मण्डल का उल्लेख करते हुए डा० **वाडिया** ने बताया है कि हिमालय की चट्टानों का उत्क्षेपण **पंजाल उत्क्रम** (Punjal Thrust) के सहारे अत्यधिक मात्रा में हुआ, जिस कारण चट्टानों का स्थानान्तरण पर्याप्त रूप में हुआ है। यह स्थानान्तरण इतने बड़े पैमाने पर हुआ है कि कभी-कभी आन्तरिक हिमालय की चट्टानें (ग्रीवाखण्ड के रूप में) **स्वस्थानिक मण्डल** के आमने-सामने तक चली गई हैं तथा कभी कभी इनका विस्तार प्रायद्वीपीय अग्र भाग के सामने हो गया है। ग्रीवाखण्ड का निर्माण **टेथीज भूसन्नति** के उस सबसे निचले भाग में हुआ है जिसमें प्रीकैम्ब्रियन युग की चट्टानों का निक्षेपण हुआ था। इस प्रकार इस क्षेत्र के ग्रीवाखण्ड में पूर्व कैम्ब्रियन अवसाद (जिसे **सलखाला श्रेणी** (Salkhala Series) कहा जाता है) तथा **डोगरा स्लेट** (Dogra Slate) प्रमुख रूप में पाये जाते हैं। पूर्व कैम्ब्रियन अवसाद तथा स्लेट के ऊपर अभिनति वाली वलित पाई जाती है जिनमें पैल्योजोइक कल्प से लेकर ट्रियासिक युग के सागरीय निक्षेप मिलते हैं तथा इन जमावों में जीवावशेष भी पाये जाते हैं। डा० वाडिया के शब्दों में महान हिमालय की श्रेणी का निर्माण कश्मीर ग्रीवाखण्ड की जड़ में मुख्य टेथीज भूसन्नति से हुआ है। इस श्रेणी में मुख्य रूप से आर्कियन तथा पूर्व-कैम्ब्रियन समय की प्राचीन परतदार चट्टानें मिलती हैं साथ ही साथ इन चट्टानों में ग्रेनाइट चट्टानों का प्रवेश भी हुआ है। इसी प्रकार **पिलग्रिम तथा वेस्ट** ने शिमला क्षेत्र तथा **आडिन** महोदय ने गढ़वाल हिमालय में कई **ग्रीवाखण्डों** तथा अध्यारोपित ग्रीवाखण्डों (Superposed nappes) का पता लगाया है। स्थानाभाव के कारण तथा इस विवरण को जटिलता से अलग रखने के लिये उसका उल्लेख नहीं किया जा रहा है। हिमालय की सरचना को भली-भाँति समझने के लिये और अधिक स्पष्ट विषय-सामग्री की आवश्यकता है। इसके लिए भूगर्भवेत्ताओं द्वारा भविष्य में हिमालय का भूगर्भिक अध्ययन किया जाना वाछनीय है।

1 यथास्थानीय मण्डल।

अध्याय 13

अपक्षय तथा सामूहिक स्थानान्तरण

(Weathering and Mass Translocation)

परिभाषा तथा तात्पर्य—चट्टानों के अपने स्थान पर टूटने-फूटने की क्रिया को अपक्षय की क्रिया कहा जाता है। इस क्रिया के लिये पहले ऋतु-अपक्षय, ऋतुक्षरण, मौसमीक्षरण आदि पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया जाता था परन्तु चूंकि इस क्रिया का तात्पर्य मात्र मौसम या ऋतु (Weather) से ही नहीं है, अतः उपर्युक्त पारिभाषिक शब्दों से भ्रम पैदा हो जाता है। यद्यपि यह सत्य है कि अपक्षय की क्रिया में मौसम के तत्त्वों जैसे ताप, हिम, वायु आदि का हाथ रहता है परन्तु किसी मौसम विशेष से सम्बन्ध नहीं है। भारतीय सरकार द्वारा प्रकाशित "पारिभाषिक शब्द संग्रह" (A Consolidated Glossary or Technical Terms) में इस क्रिया के लिए 'अपक्षय, अपक्षयण तथा क्षीजन' शब्दों का प्रयोग किया गया है। यहाँ लेखक अपक्षय शब्द का ही सर्वत्र प्रयोग करेगा। यहाँ पर सर्वप्रथम अपक्षय, अपरदन तथा अनाच्छादन (denudation) की क्रियाओं के बीच अन्तर स्थापित कर लेना आवश्यक है ताकि आगे आने वाले विवरणों में भ्रम के लिए स्थान न रह जाये। अपक्षय के अन्तर्गत चट्टानों के अपने स्थान पर टूटने-फूटने की क्रिया तथा उससे उस चट्टान विशेष या स्थान विशेष के अनावरण की क्रिया को सम्मिलित किया जाता है। इसमें चट्टान-चूर्ण के परिवहन (transportation) को सम्मिलित नहीं किया जाता है। अपरदन की क्रिया में टूटे हुये चट्टानों के टुकड़ों के परिवहन (नदी, हिमानी, वायु, भूमिगत जल तथा सागरीय लहर द्वारा) तथा टुकड़ों द्वारा आपस में रगड़ एवं उनके कटाव की क्रिया को सम्मिलित किया जाता है। अनाच्छादन में अपक्षय तथा अपरदन दोनों क्रियाओं का समावेश किया जाता है। इस प्रकार अपक्षय में केवल स्थैतिक क्रिया (at the place or at situ) तथा अपरदन में गतिशील क्रिया होती है। अनाच्छादन स्थैतिक तथा गतिशील दोनों क्रियाओं का योग है। अब हम यहाँ पर अपक्षय की क्रिया पर विस्तार से प्रकाश डालेंगे।

स्थैतिक क्रिया का साधारण तात्पर्य चट्टानों के अपने स्थान पर टूट-फूट से है। अपक्षय की क्रिया को निम्न शब्दों में संजोया जा सकता है—"अपक्षय चट्टानों के टूट-फूट की वह क्रिया है जिसके अन्तर्गत चट्टानें विघटन तथा वियोजन द्वारा ढीली पड़कर तथा विदीर्ण होकर अपने स्थान पर ही बिखर कर रह जाती हैं।" लेखक की उपर्युक्त परिभाषा के अन्तर्गत अपक्षय की क्रिया के लिये दो आवश्यक तत्त्व दिखाई पड़ते हैं। प्रथम चट्टानों का विघटन (disintegration) तथा वियोजन (decomposition), भौतिक क्रियाओं (ताप, तुषारपात-frost, जल आदि) द्वारा चट्टानों के ढीले पड़ने को विघटन तथा रासायनिक कारकों (oxidation, hydration, carbonation etc), द्वारा चट्टानों के कमजोर तथा ढीला पड़ने को वियोजन कहते हैं। इस प्रकार विघटन तथा वियोजन के कारण चट्टानें ढीली पड़ जाती है तथा बाद में टूट कर बिखर जाती है। दूसरी प्रमुख विशेषता चट्टानों के अपने स्थान पर विदीर्ण होने से सम्बन्धित है। इस प्रकार अपक्षय में परिवहन का जरा भी हाथ नहीं रहता है। उपर्युक्त तथ्यों को ध्यान में रखते हुये आर्थर होम्स ने अपक्षय की परिभाषा निम्न रूप में प्रस्तुत की है—

"अपक्षय उन विभिन्न भूपृष्ठीय[2] (subaerial) प्रक्रियाओं का प्रभाव है, जो कि चट्टानों के नष्ट होने तथा विघटन में सहायता प्रदान करती हैं, बशर्ते कि ढीले पदार्थों का बड़े पैमाने पर परिवहन न हो।"[2]

1. A Consolidated Dictionary of Technical Terms—Ministry of Education, Govt. of India.
2. Weathering is the total effect of all the various sub-aerial processes that co-operate in bringing about the decay and disintegration of rocks, provided that no large scale transport of the loosened products is involved The work of rainwash and wind, which is essentially erosional, is thus excluded". Holmes, A, Principles of Physical Geology, Page 112, 1962.

इस प्रकार होम्स महोदय ने अपक्षय की सीमा को न्यायोचित ढग से अंकित कर दिया तथा जल एव वायु के कार्यों को, जो कि अपरदन मे सम्बन्धित होते हैं, अपक्षय की क्रिया,से अलग कर दिया है । यदि स्पार्कस (B Sparks) महोदय के "अपक्षय" पर विचार का विश्लेषण किया जाय तो उपर्युक्त विवरण को ही बल मिलता है। स्पार्क्स महोदय भी अपक्षय के अन्तर्गत चट्टानो के अपने स्थान पर ही टूटने की क्रिया को सम्मिलित करते हैं— "पृथ्वी की सतह पर प्राकृतिक कारणो द्वारा चट्टानो के अपने ही स्थान पर यांत्रिक विधि द्वारा टूटने अथवा रासायनिक वियोजन होने की क्रिया को अपक्षय कहा जा सकता है।'[1]

भू-आकृति विज्ञान" के प्रसिद्ध विद्वान लोबेक ने अपनी पुस्तक "Geomorphology" मे अपक्षय को कुछ भिन्न रूप मे व्यक्त किया है। "चट्टानो के विघटन तथा वियोजन को प्रक्रिया के लिये अपक्षय शब्द का प्रयोग किया जाता है"—(The term weathering is the process of rock disintegration and decomposition") लोबेक महोदय अपक्षय के विषय मे इतना ही कह कर सन्तुष्ट नही हो जाते हैं वरन् आगे उन्होने बताया है कि अपक्षय के अन्तर्गत केवल चट्टानो की टूट-फूट ही नही होती है बल्कि विभिन्न स्थलाकृतियो का आविर्भाव विस्तार तथा रचना भी होती है। इस प्रकार अपक्षय की क्रिया द्वारा चट्टानो की पुनर्व्यवस्था (readjustment of rock) होती है। इस प्रकार लोबेक के शब्दो मे— 'वास्तव मे वातावरण की नयी दशाओं के अन्तर्गत चट्टानो की पुनर्व्यवस्था को अपक्षय कहते हैं"—Weathering as a matter of fact is merely the readjustment of rocks to new environmental condition."—Lobeck, A K

अपक्षय की प्रक्रिया के अन्तर्गत कुछ ऐसे तथ्य हैं जिनका निराकरण एव स्पष्टीकरण करना आवश्यक है। इनमे प्रमुख है—विघटन वियोजन तथा अपदलन की क्रियायें। भौतिक अथवा यान्त्रिक साधनो द्वारा चट्टानों के टूट-फूट को विघटन (disintegration) तथा रासायनिक साधनो द्वारा चट्टानो के विभिन्न अवयवो के ढीले होने पर नवीन पदार्थो मे परिवर्तित होने की क्रिया को वियोजन (decomposition) कहा जाता है। चट्टानो से अपक्षय के साधनो, खास कर पवन द्वारा सकेन्द्री (concentric) परतें अथवा क्षैतिज अवस्था मे पडी चट्टानो के समानान्तर उनसे पतली पतली परतो के उघडने या उखडने की क्रिया को अपदलन (exfoliation) कहते है। इस प्रकार अपक्षय के अन्तर्गत दो प्रकार के परिवर्तन होते हैं। प्रथम भौतिक परिवर्तन (physical changes) होता है जिसके अन्तर्गत ताप-परिवर्तन, तुषार-क्रिया (frost action) तथा जीव जन्तुओं द्वारा चट्टानो का विघटन होता है। द्वितीय प्रकार का परिवर्तन रासायनिक होता है जिसके अन्तर्गत जल (स्थिर), आक्सीजन कार्बन-डाइ-आक्साइड तथा जीवो द्वारा चट्टानों मे वियोजन होता है। उपर्युक्त कारक (भौतिक, रासायनिक तथा जीव सम्बन्धी) एक साथ भी कार्य कर सकते हैं तथा अलग-अलग भी। उपर्युक्त विवरण के आधार पर अपक्षय की एक निम्न परिभाषा प्रस्तुत की जा सकती है — "अपक्षय ताप जल वायु तथा प्राणियो का कार्य है जिनके द्वारा यांत्रिक तथा रासायनिक परिवर्तनो से चट्टानो मे टूट फूट होती है।"[2]

यहा पर स्मरणीय है कि जल, वायु या प्राणियों के केवल उतने ही कार्य का अध्ययन अपक्षय के अन्तर्गत किया जाता है जिससे चट्टानो का टूटना केवल उसके स्थान पर ही सीमित रहता है। यदि अपनी गति द्वारा उपर्युक्त कारक (जल, वायु तुषार) चट्टानों या धरातलीय भाग मे परिवर्तन लाते हैं तो उन्हें अपरदन के अन्तर्गत रखा जाता है। और स्पष्टीकरण के लिये कहा जा सकता है कि अपक्षय के अन्तर्गत वायुमण्डल, जल तथा तुषार आदि अपने स्थान पर कार्य करते हैं परन्तु अपरदन के अन्तर्गत ये अधिक विध्वंसकारी होकर क्रमश वायु, नदी हिमानी तथा परिहिमानी के रूप मे कार्य करते है यद्यपि अपक्षय द्वारा उत्पन्न पदार्थो का परिवहन नही होता है तथापि गुरुत्व द्वारा इन पदार्थो के सामूहिक रूप से स्थानान्तरण (mass translocation) अवश्य होता है अर्थात् टूटे-फूटे पदार्थ ढाल के सहारे सरक कर नीचे चले आते हैं। इन्हें टालस (talus) कहते है।

1 Weathering may be defined as the mechanical fracturing or chemical decomposition of rocks, in situ by natural agents at the surface of the earth."—Sparks, B W., Geomorphology, Longmans, London, Page 22 ,(1972).

2 Weathering is the work of wind, temperature, water and organisms that tend to breakdown the rocks by mechanical or physical and chemical changes"—सविन्द्र सिंह

अपक्षय को नियन्त्रित करने वाले कारक--(Factors Controlling Weathering)—

अपक्षय का स्वरूप तथा मात्रा अलग-अलग स्थानों पर भिन्न-भिन्न होती है। यदि अपक्षय के कारकों (agents of weathering) का प्रत्यक्ष प्रभाव अपक्षय के स्वभाव पर पड़ता है तो चट्टानों की बनावट उनके ढाल तथा ऊँचाई-निचाई का पर्याप्त असर होता है। विभिन्न स्थानों पर जलवायु सम्बन्धी दशाओं धरातलीय बनावट तथा उच्चावच में विभिन्नता के कारण अपक्षय की प्रक्रिया तथा उससे प्राप्त पदार्थों में पर्याप्त अन्तर होता है। अपक्षय के दो तत्वों, विघटन तथा वियोजन का कार्य-स्थान भी प्राय अलग-अलग होता है। उदाहरण के लिये विघटन क्रिया ऊँचे भागों मे खड़े ढाल वाले चट्टानी भागों मे, जहाँ पर या तो तुषारपात होता हो या मरुस्थलीय उष्ण दशायें हों अधिक सक्रिय होता है। इसके विपरीत वियोजन तथा घोलीकरण (solution) की क्रियाओं का प्रचलन निम्न उच्चावच वाले भाग, जहाँ पर आर्द्र दशायें हो, खासकर उष्ण कटिबन्धीय भागों मे सर्वाधिक होता है। उपर्युक्त विवरण के आधार पर अपक्षय को प्रभावित करने वाले निम्न कारकों का उल्लेख किया जा सकता है।

1 **चट्टान का संगठन तथा संरचना** (Composition and Structure of the rocks)—चूँकि अपक्षय का प्रमुख रूप चट्टान मे विघटन तथा वियोजन है, अत स्पष्ट है कि कमजोर तथा असंगठित चट्टानों मे ये क्रियायें आसानी से घटित हो सकती है। उदाहरण के लिये रंध्रपूर्ण तथा घुलनशील खनिजों वाली चट्टानों में रासायनिक अपक्षय शीघ्रता से सम्पन्न होता है। चट्टानों की परत की स्थिति का भी प्रभाव अपक्षय की सक्रियता पर पड़ता है। जिन चट्टानों में इन परतों की स्थिति लम्बवत या ऊर्ध्वाकार रूप में होती है उनमे तापीय भिन्नता, तुषारपात, जल तथा हवा का प्रभाव शीघ्र होने लगता है तथा जैसे ही चट्टान ढीली पड़ती है, लम्बवत स्तर के कारण उनकी टूटन तथा गुरुत्व के कारण नीचे की ओर खिसकाव प्रारम्भ हो जाता है। इसके विपरीत यदि चट्टानों के स्तर क्षैतिज रूप मे मिलते है तो उनमे संगठन अधिक होता है तथा उनका विघटन एवं वियोजन आसानी से शीघ्र नही हो पाता है। चट्टानों की संधियों (joints of the rocks) का यान्त्रिक अपक्षय पर सर्वाधिक प्रभाव होता है। अधिक संधियों वाली चट्टान मे शीतोष्ण कटिबन्धीय भागों मे तुषार के कारण विस्तार तथा सकुचन होता रहता है, जिस कारण विघटन शीघ्रता से प्रारम्भ हो जाता है। इसी प्रकार उष्ण भागों मे तापीय अन्तर के कारण (रात्रि तथा दिन मे) इन संधि-युक्त चट्टानों मे फैलाव तथा संकुचन अधिक होने से विघटन होता रहता है।

2. **स्थल के ढाल का स्वभाव** (Nature of the Slopes of Land)—ढाल यान्त्रिक अपक्षय तथा मुख्य रूप से अपक्षय से उत्पन्न चट्टान-चूर्ण के सरकने को सर्वाधिक नियंत्रित करता है। यदि किसी भी स्थान में चट्टानी भागों का ढाल खड़ा है तो यान्त्रिक अपक्षय के कारण जरा भी विघटन होने से चट्टानों मे ढीलापन आने में चट्टानों का शीघ्र टूटकर नीचे सरकना प्रारम्भ हो जाता है। यदि अपक्षय से उत्पन्न सामग्री का शीघ्र स्थानान्तरण हो जाता है तो अपक्षय की गति और अधिक प्रबल हो जाती है। तीव्र ढाल वाले भागों मे इस कारक की सुलभता होती है। इसके विपरीत सामान्य ढाल वाले भाग में अपक्षय तीव्र रूप मे नहीं हो पाता है। इसके कई कारण है। प्रथम यह कि सामान्य ढाल होने के कारण, उत्पन्न सामग्री का स्थानान्तरण (translocation) नही हो पाता है तथा दूसरा यह कि कम ढाल होने से चट्टानों का संघठन शीघ्रता से कमजोर नही हो पाता है।

3 **जलवायु मे विभिन्नता**—यह कारक दो रूपों मे प्रभाव डालता है। एक तो यह कि भूपटल के विभिन्न भागों मे जलवायु की विभिन्नता के कारण अपक्षय मे भिन्नता तथा उसकी सक्रियता मे पर्याप्त अन्तर मिलता है। उदाहरण के लिये उष्ण कटिबन्धीय आर्द्र भागों मे अत्यधिक जल एवं उच्च तापमान के कारण रासायनिक अपक्षय अधिक होता है। इन स्थानों मे आर्द्रता तथा ताप की अधिकता के कारण सभी प्रकार के लवण के अपक्षालक कार्य (leaching action—घुलाकार बहाने की क्रिया को लीचिंग या अपक्षालन कहते हैं—washing or draining by percolation) तथा घोलक कार्य (solvent action) अधिक सक्रिय होते है, जिस कारण धरातलीय भागों में रासायनिक अपक्षय द्वारा अपक्षालन (leaching) तथा घोलन (solution) अधिक होता है। यहाँ पर यान्त्रिक अपक्षय नगण्य होता है। इसके विपरीत उष्ण तथा शुष्क (मरुस्थलीय) जलवायु वाले भाग अर्थात् उष्ण कटिबन्धीय मरुस्थलीय भागों मे यान्त्रिक अपक्षय अधिक होता है क्योंकि चट्टानी भागों मे दिन के अधिक

ताप तथा रात्रि के कम ताप के कारण क्रमश फैलाव तथा सकुचन होते रहने से विघटन आसान हो जाता है। शुष्क शीतोष्ण कटिबन्धीय जलवायु वाले प्रदेशो मे भी रासायनिक अपक्षय की तुलना मे यान्त्रिक अपक्षय अधिक होता है क्योंकि चट्टानो के फटन (cracks & pores) तथा दरारो एव सधियो (fractures and joints) मे दिन का समाविष्ट जल रात मे जमकर ठोस हो जाता है तथा दिन मे पुन पिघल कर तरल हो जाता है। इस क्रिया की पुनरावृत्ति के कारण चट्टानें ढीली पड जाती है तथा विघटन प्रारम्भ हो जाता है। शीत जलवायु वाले भागो मे यान्त्रिक अपक्षय प्राय नगण्य होता है तथा रासायनिक एव प्राणिवर्गीय अपक्षय अधिक सक्रिय रहता है। यदि धरातल पूर्ण रूप से जमकर बर्फ से आच्छादित हो जाता है तो यान्त्रिक एव रासायनिक सभी प्रकार के अपक्षय स्थगित हो जाते हैं तथा यह क्रिया तभी सक्रिय हो पाती है जबकि बर्फ पिघल जाती है। इतना ही नही एक ही स्थान पर जलवायु की वार्षिक विभिन्नता का भी प्रभाव अधिक होता है। उदाहरण के लिये मानसूनी गर्म प्रदेशों मे वर्षाकाल मे अधिक नमी तथा ताप के कारण रासायनिक अपक्षय अधिक होता है परन्तु शुष्क ग्रीष्मकाल मे यान्त्रिक अपक्षय सक्रिय होता है।

4 **वनस्पति का प्रभाव**—किसी भी स्थान विशेष मे वनस्पतियो की उपस्थिति तथा अनुपस्थिति का अपक्षय के स्वभाव पर प्रभाव होता है। यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि वनस्पतियाँ आंशिक रूप मे अपक्षय के कारण भी है तथा आंशिक रूप मे उसके लिए अवरोधक भी है। वास्तव मे वनस्पतियाँ अपनी जडो द्वारा चट्टानो को जकडे रहती है जिससे चट्टानो का सगठन अधिक बढ जाता है। इसी प्रकार वनस्पतियो के आवरण से सूर्यताप आदि का प्रभाव आवरण के नीचे वाली चट्टानो पर नही हो पाता है। इस प्रकार जिन भागो मे वनस्पतियो की स्थिति होती है, वहाँ पर अपक्षय सीमित होता है। परन्तु इनके अभाव मे स्थिति पूर्णतया विपरीत होती है। इस विषय मे मतभेद है। वनस्पतियो की जडो मे कई प्रकार के कीडे-मकोडे होते है जो कि चट्टानो मे शनै-शनै विघटन लाते रहते हैं तथा वृक्षो की जडो के चट्टानो मे प्रवेश के कारण सधियाँ विस्तृत हो जाती है जिससे चट्टान ढीली पड जाती है तथा विघटन प्रारम्भ हो जाता है।

अपक्षय के प्रकार (Kinds of Weathering)

ऊपर यह स्पष्ट किया जा चुका है कि चट्टानो मे विघटन तथा वियोजन मुख्य रूप से क्रमश: यान्त्रिक या भौतिक तथा रासायनिक परिवर्तनो द्वारा होता है। जीवो तथा वनस्पतियो द्वारा भी अपक्षय होता है तथा इनके कार्य भी यान्त्रिक तथा रासायनिक दो रूपो मे सम्पन्न होते हैं। इस आधार पर अपक्षय मे भाग लेने वाले कारको को हम निम्न रूप मे विभाजित कर सकते है—

1 **भौतिक या यान्त्रिक कारक**—(Physical or Mechanical Agents)
   - (i) जल। (ii) सूर्य ताप।
   - (iii) तुषार। (iv) वायु।
2 **रासायनिक कारक (Chemical Agents)**
   - (i) आक्सीजन। (iii) हाइड्रोजन।
   - (ii) कार्बन डाइ आक्साइड।
3 **प्राणिवर्गीय कारक (Biological Agents)**
   - (i) वनस्पतियां। (ii) जीव-जन्तु।

विघटन तथा वियोजन मे भाग लेने वाले कारको के आधार पर अपक्षय का निम्न रूप मे विभाजन किया जा सकता है -

1. **भौतिक या यान्त्रिक अपक्षय (Physical or Mechanical Weathering)**
   - (i) ताप के कारण बडे-बडे टुकडो मे विघटन।
   - (ii) ताप के कारण छोटे-छोटे कणो मे विघटन।
   - (iii) तुषार के कारण बडे-बडे टुकडो मे विघटन।
   - (iv) ताप तथा वायु के कारण अपदलन (Exfoliation)
   - (v) ऊपर स्थित (superincumbend) भार के अनावरण से विघटन।
2 **रासायनिक अपक्षय (Chemical Weathering)**
   - (i) आक्सीकरण या आक्सीजनीकरण (Oxidation)
   - (ii) कार्बोनेटीकरण या कार्बोनेशन (Carbonation)
   - (iii) जलयोजन या हाइड्रेशन (Hydration)
   - (iv) सिलिका का पृथक्कीकरण या डीसिलिकेशन (Desilication)
3 **प्राणिवर्गीय अपक्षय (Biological Weathering)**
   - (i) वानस्पतिक अपक्षय (Plant-Weathering)
   - (ii) जैविक अपक्षय (Animal-Weathering)।

1 यान्त्रिक अपक्षय—भौतिक अपक्षय मे चट्टानो का विघटन मात्र यांत्रिक कारणो द्वारा ही होता है। इसके लिये कुछ बलो की उत्पत्ति तो चट्टानो के अन्दर ही होती है और कुछ बल बाहर से कार्य करते है। इन बलो के कारण शैल मे तनाव उत्पन्न होता है जिनका परिणाम शैल मे टूटन होता है। **"सूर्य-ताप, तुषार तथा वायु द्वारा चट्टानो मे विघटन होने की क्रिया को यांत्रिक अपक्षय कहा जाता है।"** यांत्रिक अपक्षय मे यद्यपि ताप का परिवर्तन सर्वाधिक प्रभावशाली कारक है तथापि इसके अन्तर्गत दाबमुक्ति (pressure-release), जल का जमना-पिघलना (freeze & thaw) तथा गुरुत्व का भी सहयोग रहता है। यांत्रिक अपक्षय का निम्न रूपो मे उल्लेख किया जा सकता है—

(i) ताप के कारण चट्टानो का बड़े-बड़े टुकड़ो मे विघटन (Block disintegration due to temperature change)—तापीय परिवर्तन का चट्टानो पर अत्यधिक प्रभाव होता है। कई विद्वानो ने चट्टानो की कई ऐसी किस्मो का पता लगाया है जिन पर तापीय परिवर्तन का प्रभाव नही होता है। चट्टान-चूर्ण से निर्मित चट्टानो (clastic rocks) खासकर शेल (shale) तथा बालुका पत्थर पर तापीय अन्तर का प्रभाव नगण्य होता है। इनमे चट्टानो के कण एक दूसरे से अम्लीय अथवा क्षारीय पदार्थ की पतली सतह द्वारा अलग रहते है जिस कारण ताप का प्रभाव नही हो पाता है। इसके विपरीत रवेदार चट्टानो मे विभिन्न कण एक दूसरे मे सगठित होते है तथा ताप के बढने से प्रत्येक कण फैलते है तथा तापीय ह्रास के साथ उनमे सिकुडन होती है। यदि ग्रेनाइट चट्टान की परत का ताप 65 5° सेण्टीग्रेड बढा दिया जाय तो प्रति 30-48 मीटर की दूरी पर 2 54 सेण्टीमीटर की ग्रेनाइट की परत मे क्षैतिज विस्तार हो जाता है। अगर उतना ही ताप घटा दिया जाय तो 2.54 सेण्टीमीटर दूरी का ह्रास हो जाता है। ब्लैकवेल्डर नामक विद्वान् ने सन् 1925 ई० मे ग्रेनाइट के टुकडे का ताप 200° सेण्टीग्रेड बढाने के लिए उन्हे गर्म तेल मे छोडा परन्तु प्रयोग के आधार पर ज्ञात हुआ कि ग्रेनाइट तथा बेसाल्ट पर अचानक ताप की वृद्धि का कोई प्रभाव नही पडता है। **ग्रिग्स महोदय** ने एक लम्बे प्रयोग के आधार पर उपर्युक्त निष्कर्ष की प्राप्ति की। तापीय परिवर्तन द्वारा चट्टानो का फैलाव तथा सकुचन द्वारा विघटन कार्य उष्ण मरुस्थलीय प्रदेशो मे अधिक सम्पन्न होता है। इन स्थानो पर सिकताकणो (sands) की अधिकता के कारण दैनिक तापान्तर अधिक होता है जिस कारण चट्टानो का खुला हुआ भाग या नग्न भाग दिन मे अत्यधिक ताप के कारण तप्त हो जाता है जिस कारण उसकी वाह्य परत मे फैलाव होने लगता है। रात के समय इसके विपरीत दशा होती है, क्योकि तापक्रम मे भारी कमी आ जाती है, जिस कारण चट्टानें शीतल होने लगती है, जिससे उनकी बाहरी परत मे सकुचन होने लगता है। इस प्रकार की चट्टानो के तप्त होने तथा शीतल होने की क्रिया की पुनरावृत्ति के कारण चट्टानो मे बराबर फैलाव तथा सकुचन होता रहता जिस कारण उनमे तनाव या खिचाव की स्थिति पैदा हो जाती है। इस क्रमिक फैलाव एव सकुचन के कारण चट्टानो मे समानान्तर जोड या सधियो का विकास हो जाता है। इन सधियो के सहारे चट्टानें बडे-बडे टुकडो (blocks) मे टूटने लगती है। इस क्रिया को बडे-बडे टुकडो मे विघटन की क्रिया कहते है।

जगलो मे अग्नि काण्ड के कारण भी शैलो मे प्रसार तथा सकुचन होता है जिस कारण उनमे विघटन हो जाता है। ब्लैकवेल्डर ने इस तरह के अपक्षय का अवलोकन सयुक्त राज्य अमेरिका के अर्द्ध शुष्क क्षेत्रो मे वनाच्छादित पर्वतो के ऊपर किया है। **इमेरी (K O Emery)** ने 1944 म कैलिफोर्निया मे अग्निकाण्ड के शीघ्र पश्चात् क्वार्ट्ज् डायोराइट शैल मे समुत्खण्डन विघटन (spaling) का अवलोकन किया था।

(ii) ताप के कारण चट्टानो का छोटे-छोटे टुकड़ो मे विघटन (Granular disintegration of the rocks due to temperature)—उन शुष्क मरुस्थलीय भागो मे, जहां पर दैनिक तापान्तर अधिक होता है, बडे-बडे कणो वाली चट्टानो मे टूट-टूट कर बिखरने (shattering) की क्रिया अधिक प्रचलित होती है। कई ऐसी परतदार तथा आग्नेय चट्टाने होती है जो बडे-बडे कणो वाली होती है तथा उनके खनिजो एव रगो मे पर्याप्त विभेद होता है। जहा पर किसी चट्टान विशेष की सरचना कई विभिन्न रगो द्वारा हुई होती है तो उनके विभिन्न भागो म ताप ग्रहण करने की क्षमता अलग-अलग होती है। इस प्रकार एक ही चट्टान विशेष के विभिन्न भाग मे ताप की विभिन्न मात्रा का शोषण होता है। फलस्वरूप उनका फैलाव भी अलग-अलग होता है। इसी तरह रात के समय तापक्रम मे कमी के कारण उस चट्टान के विभिन्न भागो मे सकुचन की मात्रा भी भिन्न-भिन्न होती है। नतीजा यह होता है कि चट्टान के विभिन्न भागो मे

तनाव की स्थिति पैदा हो जाती है जिस कारण चट्टानों का छोटे-छोटे टुकडों में विघटन प्रारम्भ हो जाता है। इस प्रकार की क्रिया के घटित होते समय विचित्र प्रकार की आवाज होती है।

(iii) जल द्वारा चट्टानों का टूट-टूट कर बिखरना (Shattering due to rain-water and heat)—गर्म प्रदेशों में जहाँ पर ताप अधिक होता है, इस क्रिया का सम्पादन अधिक होता है। ग्रिग्स महोदय ने तापीय अन्तर के प्रभाव के समय अपने प्रयोगों के आधार पर यह बताया है कि तप्त चट्टानों के ऊपर जब अचानक जल की छीटें पड़ती है तो उनमें चटकनें (cracks) आ जाती हैं। चट्टानों पर तापीय अन्तर के फल को ज्ञात करने के लिए ग्रिग्स (Griggs) महोदय ने विद्युत हीटर तथा ठंडी पवन का सहारा लिया। सर्वप्रथम इन्होंने ग्रेनाइट चट्टान का 110° सेन्टीग्रेड तापक्रम बढ़ाया तथा बाद में इसे कम किया। तापक्रम के बढ़ाने तथा घटाने की प्रक्रिया को ग्रिग्स ने इतनी बार दुहाराया जितना कि प्राय 224 वर्षों में प्राकृतिक ढंग से सम्भव हो सकता था परन्तु इस तापीय अन्तर का ग्रेनाइट चट्टान के ऊपर कोई प्रभाव परिलक्षित नहीं हुआ। पुन ग्रिग्स ने इसे $2\frac{1}{2}$ वर्ष के लिये दुहराया तथा चट्टान को शीतल करने लिए ताप को घटाने की अपेक्षा (ठंडी वायु) ठंडे पानी की छीटों का प्रयोग किया। फलस्वरूप चट्टानों में चटकनें उत्पन्न हो गईं। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि चट्टानों की यह चटकन जल के साथ मिली आक्सीजन तथा कार्बन डाई-आक्साइड गैसों के रासायनिक प्रभाव के कारण हुई है। जो भी हो, इतना तो निश्चितता के साथ कहा जा सकता है कि सूर्य-ताप द्वारा तप्त चट्टानों के ऊपर जब अचानक वर्षा की फुहारें पड़ती है तो उनमें शीघ्रता से चटकनें पड़ जाती हैं तथा छोटे-छोटे कणों में टूट कर बिखरने लगती है। इस क्रिया को एक और उदाहरण से समझा जा सकता है। यदि शीशे की तप्त चिमनी पर जल की छीटें मारी जायें तो शीशा जोरों से चटक कर टूट जाता है। रेगिस्तानी भागों में अचानक वृष्टि के कारण यह क्रिया अधिक रूप में सम्पादित होती है। संयुक्त राज्य अमेरिका के टेक्सास (Texas) प्रान्त में इस क्रिया के कारण चट्टानों का बिखरना सामान्य घटना है।

(iv) तुषारपात द्वारा बड़े-बड़े टुकड़ों में विघटन (Block disintegration due to frost)—तुषारपात द्वारा यान्त्रिक अपक्षय के अन्तर्गत चट्टानों के बड़े-बड़े टुकड़ों में विघटन शीतोष्ण तथा शीत कटिबन्धीय भागों में अधिक प्रचलित होता है। इसके अलावा उच्च पर्वतों के ऊपरी भाग पर भी यह क्रिया अधिक सक्रिय होती है। वास्तव में यह क्रिया उन स्थानों में अधिक क्रियाशील होती है जहाँ पर जल का जमना तथा पिघलना क्रम से एक दूसरे के (alternate freezing and thawing) बाद घटित होता है। तुषारपात की क्रिया का सम्पादन दो रूपों में होता है। प्रथम, तो चट्टानों के कणों के अन्दर स्थित जल के जमने तथा पिघलने से तथा दूसरे, चट्टानों के दराजों में स्थित जल के द्वारा। चट्टान के संगठन का प्रभाव इस प्रकार के यान्त्रिक अपक्षय पर अधिक होता है। यही कारण है कि अधिक सशक्त तथा संगठित रवेदार ग्रेनाइट चट्टानों में रिक्त स्थान की कमी के कारण जल के संचयन की सम्भावना कम रहती है। अत ग्रेनाइट चट्टान तुषारपात द्वारा कम प्रभावित होती है। वैसे ग्रेनाइट में भी कुछ कणों में जल रखने की क्षमता होती है। इसके विपरीत परतदार शैल जो रध्रयुक्त होती है जल के जमने तथा पिघलने से सर्वाधिक प्रभावित होती है। बालुका पत्थर तथा शेल आदि चट्टानें इस क्रिया के कारण शीघ्रता से छोटे-छोटे टुकडों में विभक्त हो जाती है। प्रथम प्रकार के विघटन में चट्टानों के कणों के अन्दर जल समाविष्ट होता है। रात के समय यह जल जम कर बर्फ बन जाता है तथा दिन में पिघल कर तरल हो जाता है। इस क्रिया की पुनरावृत्ति के कारण चट्टान विशेष के कणों के दबाव तथा तनाव होने से चट्टान का छोटे-छोटे कणों में विघटन प्रारम्भ हो जाता है। यह क्रिया मन्थर गति से होती है तथा इसका प्रभाव नगण्य होता है।

इसके विपरीत दूसरी क्रिया के अन्तर्गत चट्टानों के अन्दर छोटे-छोटे छिद्र तथा दरार (pores and cracks) होते हैं जिनमें जल एकत्र हो जाता है। दिन के समय जल का समावेश इन रिक्त स्थानों में हो जाता है तथा रात के समय ताप में कमी होने तथा उसके हिमांक बिन्दु (Freezing point) के प्राप्त हो जाने के बाद रिक्त स्थानों में स्थित जल जम कर बर्फ के रूप में ठोस हो जाता है। फलस्वरूप उसके आयतन में विस्तार होता है क्योंकि साधारण नियम के अनुसार जब जल जम कर ठोस होता है तो उसके आयतन में 10 प्रतिशत का विस्तार हो जाता है। आयतन में इस विस्तार के कारण चट्टान पर प्रति वर्ग फुट पर 150 टन का दबाव पड़ता

है जिस कारण चट्टानों में धाम कर दराजों में विस्तार होने लगता है। दिन के समय ताप-वृद्धि के कारण बर्फ पिघल कर जल का रूप धारण कर लेता है जिससे आयतन में कमी हो जाती है। फलस्वरूप दराजों में संकुचन होने लगता है। इसी क्रिया की क्रम में पुनरावृत्ति (alternate freezing and thawing) के कारण चट्टानों के दराजों में फैलाव तथा संकुचन होता रहता है जिस कारण चट्टान अत्यन्त कमजोर हो जाती है तथा उसमें विघटन प्रारम्भ हो जाता है, जिससे चट्टानों के बड़े-बड़े टुकड़े टूट कर अलग होने लगते हैं। जब यह क्रिया उच्च पर्वतीय भाग में घटित होती है तो चट्टानों के टुकड़े गुरुत्व शक्ति के कारण निचले ढाल की ओर सरकने लगते हैं, जिसे **भूमि-सर्पण** (solifluction) कहते हैं तथा पर्वतों के निचले भाग पर जब इनका ढेर के रूप में संचयन हो जाता है तो उसे **टालस** (talus) कहते हैं। यह अनुमान लगाया गया है कि उपर्युक्त क्रिया के फलस्वरूप 7 मीटर ऊँची चट्टान के नीचे लगभग 0.6 मीटर ऊँचा मलवा या टालस का ढेर संचित हो जाता है।

परिहिमानी क्षेत्रों में दैनिक हिमीकरण-हिमद्रवण चक्र के कारण चट्टानों में विघटन होता है, जिसे **तुषार अपक्षय** (Congelifraction) कहते हैं।

(v) वायु तथा ताप द्वारा अपदलन (Exfoliation due to temperature and wind) रेगिस्तानी, अर्द्ध-रेगिस्तानी तथा मानसूनी प्रदेशों में ताप तथा वायु के सम्मिलित कार्य के द्वारा चट्टानों की परतों में संकेन्द्रीय परत अथवा क्षैतिज परतों का विलगाव होता रहता है। **इसे अपदलन या 'परतों का उखड़ना'** (Exfoliation) कहते हैं। यह क्रिया प्रायः रवेदार चट्टानों में अधिक घटित होती है। उष्ण रेगिस्तानी भागों में तापीय विभिन्नता के कारण अर्थात् रात में कम ताप के कारण चट्टानों में संकुचन तथा दिन में अधिक ताप के कारण फैलाव होने से चट्टानों की परतें ढीली पड़ जाती हैं तथा वेगवान वायु के सम्पर्क में आने से ये ढीली परतें चट्टानों से अलग होती रहती हैं। इस प्रकार चट्टान क्रमशः धीरे-धीरे नग्न होती है जैसे कि फल से छिलका उतारा जाता है। यह प्रक्रिया इतनी मन्थर गति से होती है कि इसका अवलोकन नहीं हो पाता है। परतों के इस प्रकार उधड़ने का कार्य ऊपर उठी चट्टानों, छोटी-छोटी पहाड़ियों पर अधिक होता है।

रांची पठार पर ग्रेनाइट नीस गुम्बदों के ऊपर अपदलन क्रियायें दर्शनीय हैं। **रांची शहर के पास कांके गुम्बद तथा बुटी** गुम्बद पर इस तरह का अपक्षय देखा जा सकता है।

(iv) दाब-मुक्ति द्वारा विघटन तथा अपदलन (Disintegration and exfoliation due to pressure release)—कई आग्नेय तथा रूपान्तरित चट्टानों के नीचे दबी रहती हैं, जिस कारण उच्च दबाव एवं ताप के कारण उनमें कणों (Crystals) की संरचना होती है। परन्तु ऊपर की चट्टानों का जब अपरदन द्वारा लोप हो जाता है तो ये दबी चट्टानें ऊपर दृष्टिगत होती हैं। फलस्वरूप उनमें से दबाव हट जाता है। इस कारण चट्टानों में दरारें पड़ जाती हैं तथा विघटन एवं अपदलन प्रारम्भ हो जाता है।

जहाँ पर शैल की चादरें (sheets) समानान्तर तथा क्षैतिज एवं संकेन्द्रीय होती हैं तथा उनके ऊपर से आवरण का जब अपरदन द्वारा अनावरण हो जाता है तो दाब-मुक्ति (ऊपर स्थित शैल के भार के हट जाने के कारण) के फलस्वरूप शैल में ऊपर की ओर गति (फैलाव) होती है जिस कारण उक्त शैलों में टूटन प्रारम्भ हो जाती है। इस तरह का अपक्षय शैलों में सर्वाधिक होता है। **रांची पठार** में ग्रेनाइट बैथोलिथ के ऊपर स्थित धारवार क्रम की चट्टानों के आवरण के अपरदित हो जाने के कारण इन बैथोलिथ में दाब-मुक्ति के कारण बड़े पैमाने पर टूटन की क्रियायें हुई हैं। **पिथौरिया** गाँव के **मूढा पहाड़** इस तरह के अपक्षय का खूबसूरत उदाहरण है। दाब-मुक्ति के कारण यह पहाड़ (गुम्बद) आधार से शीर्ष तक सम्यवत तथा क्षैतिज रूप में बड़े-बड़े खण्डों में पूर्णतया टूट गया है।

इस तरह का **दाब-मुक्ति-जनित** अपक्षय वृहदाकार बालुका प्रस्तर (massive sand stones) संस्तरित बालुका प्रस्तर (beded sand stone), कांग्लोमरेट तथा चूना प्रस्तर पर भी होता है। बेलन बेसिन में **मुखा** प्रपात के पास ऊपरी विन्ध्यन क्रम की संस्तरित शैलों में ऊपरी आवरण के हट जाने के कारण संस्तर-तल (bedding planes) के सहारे टूटन की क्रियायें सम्पन्न हुई हैं। मिर्जापुर जनपद में **खजुरी नदी** पर **विन्ध्यम प्रपात** के पास बालुका-प्रस्तर की संस्तरित शैलों में, **सिरसी नदी** पर **सिरसी प्रपात** के पास संस्तरित बालुका प्रस्तर की शैलों में इस तरह का अपक्षय दर्शनीय है तथा **कृ.माण्डगंज** (इलाहाबाद-रीवा सीमा) के पास विन्ध्यन श्रेणियों में सड़क के किनारे पर इस तरह का अपक्षय अवलोकनीय है।

वास्तव में प्रायद्वीपीय भाग के अग्र देश (foreland) के सहारे पूर्व में सासाराम (बिहार, रोहतास पठार) से पश्चिम में अजयगढ़ उच्च भाग तक स्थित वृहत् कगार के ऊपरी भाग (जिसकी रचना बालुका पत्थर से हुई है) पर ऊपर स्थित (superincumbent) आवरण के हट जाने से दाब-मुक्ति द्वारा वृहदाकार बालुका पत्थर के स्तरों में बड़े पैमाने पर विघटन हुआ है।

2. रासायनिक अपक्षय (Chemical Weathering)—वायुमण्डल के निचले स्तर में आक्सीजन, कार्बन डाई-आक्साइड आदि गैसों तथा जलवाष्प (water vapour) की प्रधानता होती है परन्तु जब तक इनका संयोग नमी या जल से नहीं होता है अर्थात् जब तक ये शुष्क होते हैं तब तक अपक्षय की दृष्टि से ये तत्व क्रियाहीन होते हैं परन्तु जैसे ही इनका संयोग जल से हो जाता है, ये सक्रिय घोलक साधन हो जाते हैं। इनके संयोग से चट्टानों के रासायनिक पदार्थों में रासायनिक परिवर्तन होने लगते हैं। इस क्रिया के अन्तर्गत चट्टानों में ऐसे पदार्थों तथा खनिजों की रचना हो जाती है, जो या तो मूल पदार्थ से अधिक आयतन वाले या कम आयतन वाले होते हैं। चट्टानों के खनिजों में इस नवीन व्यवस्था के कारण उनमें वियोजन प्रारम्भ हो जाता है। रासायनिक अपक्षय का कार्य पृथ्वी की सतह के ऊपर तथा नीचे, दोनों क्षेत्रों में होता रहता है। आक्सीजन तथा कार्बन डाई-आक्साइड आदि गैसों के प्रभाव से ये रासायनिक परिवर्तन कई रूपों में सम्पन्न होते हैं। इनका अलग-अलग उल्लेख आवश्यक है।

(i) आक्सीडेशन (आक्सीकरण—Oxidation)—वायु की आक्सीजन का संयोग जब जल से होता है तो जल से मिली आक्सीजन की क्रिया लौहयुक्त चट्टानों के खनिजों पर होती है। इस कारण खनिजों में आक्साइड बन जाते हैं जिससे चट्टानों में वियोजन होने लगता है। आक्सीजन की इस क्रिया को आक्सीकरण कहते हैं। जिन चट्टानों में लोहे के यौगिक अधिक होते हैं उनमें आक्सीकरण का प्रभाव सर्वाधिक होता है। चट्टानों में लोहा लौह सल्फाइड (पाइराइट, FeS_2) या पाइराइट लौह कार्बोनेट (साइडेराइट, $FeCO_3$) तथा विभिन्न लौह सिलिकेट के रूप में पाया जाता है। इन पर आक्सीकरण के प्रभाव से प्रायः जंग (rust) लग जाता है जिस कारण चट्टानें ढीली पड़ जाती हैं एवं वियोजन होने लगता है। पाइराइट पर जल तथा आक्सीजन के सम्मिश्रण के प्रभाव से गन्धक का अम्ल उत्पन्न हो जाता है जिससे चट्टानें गलने लगती हैं। उष्णार्द्र भागों में आक्सीकरण अधिक सक्रिय रहता है जिस कारण रासायनिक परिवर्तन के कारण वहाँ पर मिट्टियों का रंग लाल, पीला या भूरा हुआ करता है। कभी-कभी आक्सीकरण तथा जलयोजन (hydration) की क्रियायें साथ-साथ कार्य करती हैं। उदाहरण के लिए लोहे के आक्साइड पर जलयोजन होने से मिट्टियों का रंग पीला अथवा नारंगी (orange) हो जाता है।

(ii) कार्बोनेशन (Carbonation)—जब कार्बन डाई-आक्साइड (carbon di oxide) गैस का मिश्रण जल में होता है तो कई प्रकार के कार्बोनेट (carbonate) बन जाते हैं जो कि जल में घुलनशील होते हैं। इन कार्बनिट्स के निर्माण के कारण चट्टानों का घुलनशील तत्त्व उससे अलग होकर जल के साथ हो लेता है। इसी कारण से कार्बोनेशन को "घोलन" (solution) भी कहा जाता है। जब लौह सल्फाइड (Iron sulphide) या पाइराइट पर कार्बन डाई-आक्साइड से युक्त जल का प्रभाव होता है तो उससे क्रमशः लोहे के कार्बोनेट तथा सलफ्यूरिक अम्ल (sulphuric acid) बन जाते हैं। लोहे का कार्बोनेट अत्यधिक घुलनशील होता है तथा जल के साथ शीघ्रता से चट्टान से अलग होकर मिल जाता है। चूने का पत्थर साधारण जल द्वारा नहीं घुल पाता है परन्तु जब उसका संयोग कार्बन डाई-आक्साइड गैस से होता है तो चूने का पत्थर कैलशियम कार्बोनेट में बदल जाता है जो कि आसानी से जल के साथ घुलकर मिल जाता है। कार्बोनेशन की क्रिया के कारण ही पोटाश या पोटैशियम कार्बोनेट की रचना होती है जो कि एक प्रकार का प्रमुख जीव-भोजन (Plant food) होता है। भूमिगत जल में कार्बन डाई-आक्साइड का अंश अधिक रहता है अतः चूने की चट्टानों वाले भागों में सतह के ऊपर तथा नीचे इस प्रकार के अपक्षय द्वारा कई प्रकार की स्थलाकृतियों का निर्माण होता है। युगोस्लाविया का कार्स्ट प्रदेश इसका प्रमुख उदाहरण है।

(iii) हाइड्रेशन या जलयोजन (Hydration)—चट्टानों का सम्पर्क जब जल से होता है तो जल की हाइड्रोजन से चट्टानों के खनिजों में हाइड्रोजन की क्रिया होती है अर्थात् चट्टानें जल सोख लेती हैं तथा उनके आयतन में वृद्धि हो जाती है तथा कभी-कभी यह विस्तार प्रारम्भिक आयतन से दो गुना हो जाता है। इस क्रिया

से कभी-कभी मौलिक चट्टान के वास्तविक आयतन में 88 प्रतिशत तक विस्तार हो जाता है। इस प्रकार चट्टानों के आयतन में विस्तार के कारण उनके कणों तथा खनिजों में तनाव की स्थिति पैदा हो जाती है, जिस कारण चट्टानें छिलकर टूटने लगती हैं। आग्नेय चट्टान पर हाइड्रेशन की क्रिया का अधिक प्रभाव पड़ता है तथा इस प्रकार के अपक्षय से आग्नेय चट्टान टूट टूट कर परतदार शैल में परिवर्तित होती रहती है। हाइड्रेशन की क्रिया द्वारा फेल्सपार नामक खनिज का परिवर्तन कओलिन मृत्तिका में हो जाता है। जिप्सम की सरचना मुख्य रूप से जलयोजन की क्रिया द्वारा ही हुई है।

(iv) सिलिका पृथक्कीकरण (Desilication)—अनेक चट्टानों में सिलिका की मात्रा अधिक होती है। जब जल द्वारा रासायनिक विधि से सिलिकायुक्त चट्टानों से सिलिका अलग हो जाता है तो उस क्रिया को 'सिलिका का पृथक्कीकरण' या अलग होना कहते हैं। आग्नेय चट्टानों में खास कर ग्रेनाइट में सिलिका की मात्रा अधिक होती है। इसमें से कुछ क्वार्ट्ज् के रूप में होते हैं तथा अधिकाश सिलिकेट के रूप में। सिलिकेट का जल द्वारा चट्टान से पृथक्कीकरण आसानी से हो जाता है जिससे चट्टान ढीली पड जाती है तथा उसका वियोजन शीघ्र प्रारम्भ हो जाता है। यही कारण है कि आग्नेय चट्टान वाले प्रदेशों में बहने वाली नदियों में सिलिका की मात्रा, परतदार चट्टानों वाले भागों की नदियों की अपेक्षा अधिक होती है क्योंकि परतदार चट्टानों में सिलिका क्वार्ट्ज् के रूप में होता है जो कि जल में शीघ्रता से घुलनशील नहीं होता है। रासायनिक अपक्षय की दृष्टि से बेसिक आग्नेय चट्टानों का वियोजन एसिड आग्नेय की अपेक्षा अधिक होता है।

3 प्राणिवर्गीय अपक्षय (Biological Weathering)—वनस्पतियाँ तथा जीव-जन्तु दोनों चट्टानों के विघटन तथा वियोजन में सहयोग प्रदान करते हैं परन्तु यह उल्लेखनीय है कि इनके सभी कार्य विनाशात्मक नहीं होते हैं। जीव-जन्तु खासकर जो बिल बनाकर पृथ्वी के अन्दर रहते हैं, उनका काम निश्चय ही पृथ्वी की सतह में खोद-खाद करना रहता है परन्तु वनस्पतियाँ यदि एक तरफ चट्टान को अपनी जड़ों द्वारा कमजोर तथा पोली बनाती हैं तो दूसरी तरफ उनमें सघनता तथा सगठन भी लाती हैं। प्रारम्भ से ही मानव-कार्य भी पृथ्वी-तल पर मौतिक आकृतियों में तोड-फोड करता रहता है। इन कारकों द्वारा अपक्षय की प्रक्रिया का हम अलग-अलग सक्षेप में अध्ययन करेंगे।

(i) जीव-जन्तुओं द्वारा अपक्षय (Weathering due to animals)—पृथ्वी की ऊपरी-सतह व मिट्टी में रहने वाले कई प्रकार के कीडे-मकोडे तथा बिलकारी प्राणी (burrowing animals-बिल बनाकर रहने वाले जीव) रहते हैं जो कि शनैः-शनैः परन्तु लगातार धरातलीय चट्टानों में अपने विनाशात्मक कार्य अर्थात् बिल बनाने के लिए खनन-कार्य द्वारा उसे ढीली तथा पोली बनाते हैं। बिलकारी जीवों में गोफर (gopher—एक प्रकार की गिलहरी), प्रेयरी कुत्ते (prairie dogs), दीमक (termites), लोमडी (fox), गीदड (jackal), बीजू, चींटी, चूहा आदि प्रमुख हैं जो कि अपने निवास के लिए चट्टानों को खोदकर उनमें बिल बनाते हैं जिस कारण चट्टानें पोली तथा कमजोर हो जाती हैं एवं विघटन आसानी से होने लगता है। छोटे-छोटे कीडे-मकोडे खासकर केचुँए का जैविक अपक्षय (animal weathering) में सर्वाधिक हाथ रहता है, जो कि प्रतिवर्ष अधिक मात्रा में निचली परतों से मिट्टी खोदकर ऊपरी सतह पर एकत्र करते रहते हैं। सामान्य मिट्टी में एक एकड भाग में 1,50,000 छोटे-छोटे कीडे होते हैं जो कि एक वर्ष की अवधि में लगभग 15 टन मिट्टी पृथ्वी की ऊपरी सतह पर एकत्र कर देते हैं। चार्ल्स डार्विन के एक अनुमान के अनुसार अंग्रेजी बागों में कीडे प्रतिवर्ष प्रति हेक्टेयर भूमि से 25.4 हजार किलोग्राम मिट्टी खोदकर सतह के ऊपर ला देते हैं। मानव भी एक जीव है तथा अपक्षय में सहायता करता है। खानें खोदना, सडकों आदि के निर्माण के लिए सुरगें बनाना, वनों को काटना आदि मानवी क्रियायें चट्टानों को निहायत निर्बल बना देती हैं।

(ii) वनस्पतियों द्वारा अपक्षय (Weathering due to vegetation)—वनस्पतियों द्वारा अपक्षय दो रूपों में होता है। प्रथम यान्त्रिक तथा द्वितीय, रासायनिक। यान्त्रिक अपक्षय में वृक्षों, झाडियों तथा छोटे-छोटे पौधों की जड़ें पृथ्वी के अन्दर प्रवेश करती हैं जिस कारण चट्टानों के दरार (crevices), जिनमें इनकी जडों का प्रवेश होता है, फैलने लगती हैं तथा तनाव के कारण विघटन होने लगता है। स्मरणीय है कि सभी प्रकार के पौधे चाहे बड़े हों या लिचेन तथा फफूँदी की तरह नगण्य हों, अपक्षय में सक्रिय भाग लेते हैं। वनस्पतियों द्वारा रासायनिक अपक्षय कम महत्वपूर्ण नहीं है। प्राय: सभी

प्रकार की वनस्पतियों की जड़े चट्टानों के कुछ तत्वों को अपने अन्दर समाविष्ट कर लेती हैं जिससे चट्टानें कमजोर हो जाती हैं। वनस्पतियों की जड़ों में प्रायः जल युक्त बैक्टीरिया (water containing bacteria) होते हैं जो कि चट्टानों के खनिजों को घुलाकर उनसे अलग कर लेते हैं तथा चट्टान को कमजोर बना देते हैं। वनस्पतियों तथा जीवों के अवशेष जल में पड़ कर सड़ते हैं जिस कारण उनके कार्बन डाई-आक्साइड, आर्गेनिक एसिड आदि अलग हो जाते हैं तथा इनके सम्मिश्रण से जल एक सक्रिय घोलक कारक हो जाता है तथा चट्टानों के खनिजों को अलग कर लेता है। वनस्पतियों के अवशेष के सड़ने से प्राप्त ह्यूमस तत्व (humus) लिमोनाइट (limonite) को घुला कर अलग कर लेता है।

उपर्युक्त विवरण से यह तात्पर्य नहीं है कि वनस्पतियों का कार्य सदैव चट्टानों में विघटन तथा वियोजन उत्पन्न करना ही है वरन् ये चट्टानों के संरक्षण का भी कार्य करती हैं। पौधों तथा वनस्पतियों की जड़ों द्वारा चट्टानें आपस में बँध जाती हैं जिससे अपक्षय तथा अपरदन के लिए सघन तथा संगठित हो जाती हैं। वनस्पतियों के अभाव में अपरदन इतना अधिक सक्रिय हो जाता है कि भूमि पूर्णतया अनुपजाऊ हो जाती है। संयुक्त राज्य अमेरिका के केन्टुकी, वर्जीनिया तथा टेनेसी आदि प्रान्तों में इसके अप्रत्यक्ष प्रमाण हैं। हिमालय क्षेत्र में वनों के अनावरण से चट्टानें नग्न हो गयी हैं तथा उनका अपक्षय तथा अपरदन इतने तीव्र गति से हो रहा है कि हिमालय से निकलने वाली वृहद् नदियों (गंगा, यमुना, घाघरा आदि) में वर्षाकाल में अवसादों की मात्रा इतनी बढ़ती जा रही है कि उनकी तली के लगातार भरते जाने से बाढ़ का प्रकोप बढ़ता जा रहा है। कुमायूँ हिमालय इसका प्रमुख उदाहरण है। इस क्षेत्र की भीमताल तथा नौकुचियाताल झीलें दिन प्रतिदिन भरती जा रही हैं। छोटा नागपुर पठार, रीवां पठार, पश्चिमी घाट आदि क्षेत्रों से वनों के कट जाने के कारण अपक्षय तथा अपरदन की दर/तीव्रता से बढ़ी है। अपक्षय की उपर्युक्त क्रियायें प्रायः अलग-अलग कार्य नहीं करती हैं वरन् एक दूसरे के सहयोग के साथ सक्रिय होती हैं। अतः अपक्षय के एक प्रकार को दूसरे से अलग करना न्यायोचित नहीं है।

भग्न चट्टान-चूर्ण का सामूहिक स्थानान्तरण
(Mass Translocation of Rock-Waste)

सामान्य परिचय—अपक्षय के भौतिक, रासायनिक तथा प्राणिवर्गीय साधनों द्वारा चट्टानों में विघटन तथा वियोजन के फलस्वरूप टूट-फूट होने से असंगठित पदार्थ अलग होते रहते हैं। अपक्षय द्वारा प्राप्त इस प्रकार के चट्टानी भाग को **चट्टान-चूर्ण या नष्ट चट्टान अवशेष (rock waste)** कहते हैं। ये नष्ट-चट्टान-चूर्ण कभी-कभी अपने स्थान पर ही रह जाते हैं तथा कभी-कभी इनका स्थानान्तरण भी होता है। इन चट्टान-चूर्णों का आर्थिक दृष्टिकोण से अत्यधिक महत्व होता है क्योंकि मिट्टियों के ऊपरी आवरण (horizon) का निर्माण इसी अपक्षय द्वारा प्राप्त चट्टान-चूर्णों (rock-waste) द्वारा होता है। इनका मिट्टियों पर आवरण दो रूपों में होता है। भूमि के ऊपरी आवरण को सामान्य रूप में **आवरण शैल (mantle rock)** कहते हैं। इसे कभी-कभी रिगोलिथ (regolith) भी कहा जाता है। वास्तव में आवरण शैल चट्टानों तथा खनिजों का असंगठित समूह होती है जो कि ठोस अथवा **आधार शैल (bed rock)** पर आवरण के रूप में विद्यमान रहती है। आवरण शैल (mantle rock) दो प्रकार की होती है—**अवशिष्ट आवरण शैल (residual mantle rock)** तथा **आयातित आवरण शैल (imported mantle rock)**। जहाँ पर आवरण शैल का निर्माण चट्टान के स्थान पर ही नीचे स्थित चट्टान के अपक्षय के कारण होता है उसे अवशिष्ट आवरण शैल कहते हैं। वास्तव में यही अवशिष्ट मिट्टी (residual soil) का रूप धारण करती है। इसके विपरीत जब आवरण शैल का परिवहन तथा स्थानान्तरण हो जाता है तो उसका जमाव अन्यत्र हो जाता है। इस प्रकार की आवरण शैल को आयातित **आवरण शैल (transported mantle rock)** कहते हैं तथा यह आयातित मिट्टी (transported soil) का रूप धारण करती है। आयातित आवरण शैल के परिवहन में जब अपरदन के साधन के रूप में भाग लेते हैं तो प्रत्युत्पन्न (resultant) मिट्टी का नामकरण उसके परिवहन कारक के आधार पर हो जाता है। उदाहरण के लिए नदी द्वारा—जलोढ़ जमाव, हिमानी द्वारा—ग्लैशियल ड्रिफ्ट तथा वायु द्वारा—लोयस। प्रायः अब यह सर्वमान्य हो गया है कि **चट्टानचूर्ण की चादर** (sheets of rock waste) का नीचे वाले ढाल की तरफ स्थानान्तरण होता है। वास्तव में चौरस मैदान,

चौड़े पठारों के ऊपरी भाग, वनस्पति के आवरण से आच्छादित भाग तथा बर्फ की चादर से आच्छादित भागों में चट्टान-चूर्ण आवरण शैल के रूप में अपने स्थानों पर ही स्थिर रहता है, बशर्ते कि उसका अन्य साधनों द्वारा स्थानान्तरण न हो। परन्तु यह स्थानान्तरण आवश्यक है। चट्टान चूर्ण का स्थानान्तरण दो रूपों में होता है। प्रथम प्रकार का स्थानान्तरण गौण होता है, *जिसमें* **भूमि सर्पण या सरकन** (earth creep), **मिट्टी का सर्पण** (solifluction), **अवपतन** (slump) तथा **भूमिस्खलन या भूमिखिसकन** (landslides) को सम्मिलित किया जाता है। इस प्रकार के गौण स्थानान्तरण मुख्य रूप से गुरुत्व शक्ति के कारण सम्पन्न होते हैं। द्वितीय प्रकार का स्थानान्तरण बड़े पैमाने पर होता है तथा इनमें भाग लेने वाले प्रमुख कारक नदी का जल, हिमानी, वायु, भूमिगत जल तथा सागरीय लहरें होती हैं। इनके द्वारा चट्टान-चूर्ण का परिवहन या स्थानान्तरण अति दूरस्थ भागों तक हो जाता है। हमारा सम्बन्ध यहाँ पर गौण स्थानान्तरण से ही है।

भग्न चट्टान-चूर्ण का ऊपरी ढाल से नीचे की ओर स्थानान्तरण होने से उसका निचले भाग पर ढेर के रूप में जमाव होता रहता है। इस प्रकार के ढेर को **भग्नाश्म राशि या टालस** (screes or talus) कहा जाता है।[1] जब बड़े-बड़े टुकड़ों का एकत्रीकरण एक शंकु के रूप में हो जाता है तो उसे **टालस शंकु** (talus cone) कहते हैं। इसी तरह जब टालस का निर्माण बड़े-बड़े टुकड़ों द्वारा होता है तो उसका ढाल तीव्र होता है क्योंकि ये एक दूसरे पर एकत्रित होते रहते हैं तथा फैलते नहीं हैं। इसके विपरीत महीन कणों से निर्मित टालस का ढाल मन्द होता है क्योंकि कण बारीक होने के कारण दूर तक फैल जाते हैं। अब हम **'गौण सामूहिक स्थानान्तरण'** का संक्षेप में अलग-अलग वर्णन करेंगे।

सामूहिक स्थानान्तरण का वर्गीकरण (Classification of Mass Movement or Translocation)

भूमि या भग्न चट्टान-चूर्ण का सामूहिक स्थानान्तरण या तो तीव्र गति से होता है या सामान्य गति से शनैः-शनैः होता है। वास्तव में स्थानान्तरण की क्रिया अचानक होती है तथा इसे हर समय देखा नहीं जा सकता है। भूमि सर्पण के कई कारण हुआ करते हैं, जिनमें महत्त्वपूर्ण ढाल का स्वभाव, गुरुत्व, जल की मात्रा तथा चट्टान के संगठन होते हैं। उपर्युक्त कारकों में भिन्नता के कारण भूमि सर्पण या स्थानान्तरण भिन्न भिन्न रूपों में सम्पन्न होता है। अधिकांश विद्वानों ने सामूहिक स्थानान्तरण के वर्गीकरण तथा उनके विभिन्न प्रकारों में विभेद स्थापित करने के लिए जल की मात्रा का सहारा लिया है, क्योंकि जल स्थानान्तरण या सर्पण में स्नेहक *या चिकनाहट उत्पन्न करने वाला कारक (Lubricator)* का काम करता है। इस प्रकार यदि **पंक-वाह** (Mud flow) में जल सर्वाधिक मात्रा में होता है तो **एवालांश** (Avalanche-हिम शैलवाह) में जल की नितान्त कमी होती है। गति तथा जल की मात्रा के आधार पर स्थानान्तरण को निम्न तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है।

1 चट्टानी भागों का बड़े पैमाने पर तीव्र गति से सर्पण (Slide)—इस प्रकार के स्थानान्तरण में जल या हिम की स्नेहक (Lubricator) के रूप में आवश्यकता नहीं पड़ती है। भूमि-स्खलन (Landslides) इसका प्रमुख उदाहरण है।

2 जब भग्न चट्टान-चूर्ण (Rock waste) या चट्टानी भाग में जल की मात्रा होती है परन्तु पर्याप्त नहीं होती है तो आंशिक सम्पृक्तता के कारण चट्टान-चूर्ण का धीरे-धीरे सर्पण (Slow flowage) होता है। इसमें **शैल सर्पण** (Rock creep), **मिट्टी का सर्पण** (Soil creep) तथा भूमि सर्पण (Solifluction) को सम्मिलित किया जाता है।

3 जब चट्टान-चूर्ण पूर्णतया जल में संपृक्त हो जाता है तो मिट्टियों का तीव्र गति से सर्पण या स्थानान्तरण होने लगता है। इसमें भूमि वाह (Earth flow), **पंक वाह** (Mud flow) को सम्मिलित किया जाता है। जब सर्पण या स्थानान्तरण अत्यधिक तीव्रता से होता है तो उसे **चादर धुलन** (Sheet wash) कहते हैं। सामूहिक स्थानान्तरण को हम विशद रूप से आगे दिए भागों में विभाजित कर सकते हैं।

यहाँ पर स्थानाभाव के कारण सभी प्रकार के सर्पण तथा स्थानान्तरण का उल्लेख करना कठिन है। अतः केवल भूमि सर्पण (Solifluction), भूमि स्खलन (Land Slides), पंकवाह (Mud flow), तथा एवालांश (Avala-

[1] "The debris dissolved by weathering of steep slopes, which accumulate at their bases is known as talus or scree" Lobeck, A. K., Geomorphology, Page 811 (1959).

nches) का ही उल्लेख किया जायेगा तथा उनसे निर्मित स्थलाकृतियों (Landforms) पर भी विहंगावलोकन किया जायेगा।

भूमि सर्पण (Earth creep or Solifluction)

भग्न चट्टान-चूर्ण को सामूहिक रूप से ऊपरी ढाल से निचले ढाल की तरफ खिसकने की क्रिया को ही सामूहिक स्थानान्तरण कहा जाता है। ऊपरी ढाल से चट्टान-चूर्ण के सरकने की प्रक्रिया को शार्प महोदय ने चार भागों में विभक्त किया है। 1—मिट्टी का सर्पण (Soilcreep), टालस सर्पण (Talus creep) चट्टान हिमानी सर्पण (Rock glacier creep) तथा चट्टान सर्पण (Rock creep)। इनमें से टालस सर्पण अधिक

सामूहिक स्थानान्तरण
Mass Translocation

- अत्यधिक तीव्र स्थानान्तरण (Very rapid movement) (जल की आवश्यकता नहीं)
  - भूमि स्खलन (Land-slide)
    - अवपतन (Slump)
    - मलवा स्खलन (Debris slides)
    - मलवा पात (Debris fall)
    - शैलपात (Rock fall)
    - शैलस्खलन (Rock slides)
- मन्द सर्पण या स्थानान्तरण (Slow flowage or slide) (न्यूनजल)
  - शैल सर्पण (Rock creep)
  - मिट्टी का सर्पण (Soil creep)
  - भूमिसर्पण (Solifluction)
- तीव्र सर्पण (Rapid flowage or slide) (अधिक जल)
  - भूमि वाह (Earth flow)
  - पंक वाह (Mud flow)
  - चादर धुलन (Sheet wash)

महत्त्वपूर्ण है जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। यहां पर भूमि सर्पण का विस्तार से वर्णन किया जायेगा। सर्वप्रथम भूमि सर्पण का प्रयोग एण्डर्सन महोदय ने सन् 1906 ई० में किया। इनके अनुसार ऊपरी ढाल से भूमि के नीचे सरकने की क्रिया को भूमि सर्पण कहा जा सकता है। आपने उत्तरी अटलांटिक महासागर में "बीयर द्वीप" के मड ग्लेसियर (Mud glacier) तथा दक्षिणी अटलांटिक महासागर में फाकलैण्ड द्वीप (Falkland Island) की स्टोन नदियों" (Stone Rivers) के अध्ययन के बाद यह बताया कि जल से सम्पृक्त होकर ऊपरी ढाल में निचले ढाल की तरफ भूमि तथा मिट्टियों का सर्पण होता रहता है। वास्तव में शब्द "Solifluction" दो शब्दों Solum (Soil) तथा fluere (flow) से मिलकर बना है जिसका शाब्दिक अर्थ भी मिट्टी के बहाव या सरकाव से ही होता है। भूमि सर्पण के लिए चार दशाओं का होना आवश्यक है। 1 हिम तथा धरातलीय हिम के पिघलने से पर्याप्त जल की प्राप्ति, 2 वनस्पति से रहित साधारण से तीव्र ढाल वाला भूभाग, 3 सतह के नीचे सतत बर्फ से आच्छादित धरातल (Permanently frozen ground beneath the surface) तथा 4 अपक्षय द्वारा अत्यधिक भग्न चट्टान-चूर्ण की प्राप्ति। उपर्युक्त दशाओं से प्रेरित होकर चट्टान चूर्ण तथा मिट्टियाँ जल से सम्पृक्त होकर गुरुत्व के कारण ऊपरी ढाल की ओर सरकने लगती हैं तथा निचले भाग पर उनका संचयन होने लगता है।

भूमि सर्पण का कार्य मुख्य रूप से शीत प्रधान जलवायु वाले भागों में सम्पन्न होता है। शुष्क तथा अर्द्धशुष्क जलवायु वाले भागों में यह क्रिया नहीं होती है। भूमि सर्पण का पर्यवेक्षण (Observation) दक्षिणी जार्जिया ग्रीनलैण्ड, स्पिटबर्जेन (Spitzbergen) तथा स्कैण्डिनेविया में किया जा चुका है। उपध्रुवीय या अल्पाइन (उच्च पर्वतीय भागों में) क्षेत्रों में गर्मी के मौसम में जब बर्फ पिघलती है तो अपक्षय से प्राप्त चट्टान-चूर्ण में पिघला हुआ जल समाविष्ट हो जाता है तथा समस्त चट्टान-चूर्ण सामूहिक रूप से नीचे सरकने लगता है। भूमि सर्पण द्वारा उत्पन्न स्थलाकृतियाँ अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं होती हैं। ढाल से नीचे सरकते समय स्थानीय रूप से सोपानाकार वेदिकायें निर्मित हो जाती हैं। भूमि सर्पण का सबसे अधिक प्रभाव अपरदन की सक्रियता को तेज करने पर पड़ता है क्योंकि भूमि सर्पण द्वारा प्राप्त ढीले मलवा को अपरदन के विभिन्न साधन एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाते हैं। फलस्वरूप कई अपरदन सम्बन्धी स्थलाकृतियों का आविर्भाव होता है। स्थान-स्थान पर छोटे-छोटे गर्त इस मलवा से भर जाते हैं। जिन भागों से मिट्टी निकल कर सर्पण (Creep) करती है वहाँ पर छोटे गड्ढे बन जाते हैं जिन्हें सैग (Sag- अवनमन)

कहा जाता है । देखिए अध्याय "परिहिमानी स्थलाकृति" ।

भूमि स्खलन (Landslides)

सामूहिक स्थानान्तरण के विभिन्न प्रकारों में भूमि-स्खलन सर्वाधिक महत्वपूर्ण होता है तथा इसमें चट्टानों का बड़ा-बड़ा भाग टूट कर निचले ढाल के सहारे सरकता रहता है। कभी-कभी तो इसके अन्तर्गत इतने बड़े-बड़े चट्टानों के टुकड़े गिरते है कि उनसे अनायास ही खतरनाक स्थिति पैदा हो जाती है तथा यदि वहाँ पर मानव-आवास होता है तो अधिक क्षति होती है। भूमि-स्खलन तथा भूमि-सर्पण मे पर्याप्त अन्तर स्थापित किया जा सकता है। यदि भूमि-सर्पण मे मलवा के खिसकने या सरकने की गति मन्द होती है तो भूमि स्खलन मे चट्टानी भाग बड़े-बड़े आकारों मे तीव्र गति से अनायास ही गिरने लगता है। यदि भूमि-सर्पण मे भूमि की आवरण शैल (Mantle rock) या मिट्टियों का ऊपरी भाग ही स्थानान्तरित होता है तो भूमि-स्खलन मे आधार शैल (Bed rock) तथा आवरण शैल दोनो का बड़े पैमाने पर स्खलन होता है। इसी प्रकार दोनों के प्रत्युत्पन्न (Resultant) मलवा में भी अन्तर होता है। **टालस** शंकु का निर्माण भूमि सर्पण के अन्तर्गत चट्टानो के टुकडो के धीरे-धीरे टूटने तथा एकत्रीकरण द्वारा होता है परन्तु भूमि-स्खलन में एक ही साथ चट्टानों का विस्तृत भाग टूट कर गिर जाता है। भूमि स्खलन की द्वितीय महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें स्थानान्तरित होने वाले मलवा (Debris) मे जल की मात्रा अत्यन्त कम होती है।

भूमि-स्खलन के कारण (Causes of landslides)—भूमि-स्खलन एक कारण या एक ही दशा का प्रतिफल नहीं होता है वरन् यह क्रिया कई कारणों द्वारा कई दशाओं में कई प्रकार के स्थानों पर सम्पन्न होती है। अतः भूमि-स्खलन मे अन्य कारणों के साथ ही बनावट तथा चट्टान का संगठन एवं संरचना आदि का अधिक योग रहता है। भूमि-स्खलन के लिए उत्तरदायी निम्न कारणों की व्याख्या की जा सकती है—

(i) ढाल का स्वभाव (Nature of Slopes)—भूमि-स्खलन के लिये बड़े तथा तीव्र ढाल (Steep slopes) का होना अतिआवश्यक है। मुख्य रूप से भ्रंशन (Faults) के निर्माण के समय **भ्रंश रेखा (Fault line)** के सहारे जब एक स्थल भाग नीचे या ऊपर हट जाता है तो खड़े ढाल का आविर्भाव होता है। भूमि-स्खलन तब तक जारी रहता है जब तक ढाल इतना कम न हो जाय कि मलवा अपने स्थान पर रुक जाय। 35° के ढाल पर बड़े कणों वाले मलवा का स्थानान्तरण रुक जाता है।

(ii) जल द्वारा स्नेहन (Lubrication by water)—यद्यपि भूमि-स्खलन मे जल की आवश्यकता कम पड़ती है तथापि ऊँचे ढाल वाले भागों में थोड़े से जल के सम्मिश्रण से भी मलवा मे चिकनाहट आ जाती है, जिससे प्रभावित होकर चट्टानो का स्खलन होने लगता है। कुछ सीमा तक समाविष्ट जल का भार भी स्खलन मे सहायता करता है। कभी-कभी अपक्षय द्वारा जब चट्टानो में बड़े-बड़े दरारों (Cracks or pores or spaces) तथा खुले स्थानों का निर्माण हो जाता है तो उनके अन्दर का जमा हुआ जल (हिम) पिघलने पर भूमि-स्खलन में सक्रिय योग देता है।

(iii) भूकम्पन (Earth tremors)—जब भूपटल में साधारण अथवा तीव्र कंपन पैदा होती है तो उससे साधारण से लेकर बड़े पैमाने पर भूमि-स्खलन प्रारम्भ हो जाता है। भूकम्पन कई कारणों, जैसे ज्वालामुखी विस्फोट, भूमिगत गुफाओं की छत के गिरने, सागरीय लहरों के तट से टकराव, पृथ्वी के अन्दर गैसों के विस्तार आदि से उत्पन्न होता है। होव महोदय के अनुसार संयुक्तराज्य अमेरिका के कोलोरैडो प्रान्त के सान जुआन पर्वत (San Juan Mountain) के अधिकांश भूमि-स्खलन प्राचीन भूकम्पों द्वारा सम्पन्न हुए थे।

(iv) गुरुत्व (Gravity) गुरुत्व का प्रभाव प्रायः ऊँचे ढालो वाले भागों मे होता है, जहाँ पर चट्टान का एक टुकड़ा दूसरे की ओर खिसकता है तथा दोनो मिलकर नीचे की ओर सरक कर अन्य टुकड़ों के सरकने मे सहायता प्रदान करते हैं। इस क्रिया के कारण कभी-कभी बड़े पैमाने पर चट्टानों का स्खलन होने लगता है।

(v) चट्टान की संरचना (Geological Structure of the Rocks) चट्टानों की संरचना अर्थात् उनकी विभिन्न परतों की स्थिति का भूमि-स्खलन पर पर्याप्त असर होता है। उदाहरण के लिए चट्टानो की परतो की स्थिति लम्बवत् या ऊर्ध्वाकार हो सकती है या समानान्तर रूप मे क्षैतिज अवस्था में हो सकती है या कुछ कोण पर झुकी हो सकती है। जहाँ पर चट्टानो का स्तर लम्बवत् या झुका होता है, वहाँ पर भूमि स्खलन अधिक होता है। इसी प्रकार यदि किसी घाटी की तरफ झुकी चट्टान के ऊपर मुलायम शैल की परत का आवरण होता है तथा जब यह शैल जल से परिपूर्ण

हो जाती है चट्टान का स्खलन नति (Dip) के सहारे नीचे की ओर होने लगता है तथा ऊपरी कमजोर शैल की परत स्नेहक परत (Lubricating layer) का कार्य करती है, अथात् शैल की परत, चट्टानो के फिसलने मे सहायता प्रदान करती है। यदि किसी स्थान पर चट्टान अपक्षय द्वारा विघटन एव वियोजन से अति कमजोर हो गई हो तो अचानक जलवृष्टि के कारण उसका स्खलन प्रारम्भ हो जाता है (हिमालय प्रदेश)।

(vi) कभी-कभी जब चट्टान का निचला सहारा खतम हो जाता है तो ऊपरी चट्टान ध्वस्त होकर नीचे सरकने लगती है। इस प्रकार का स्खलन प्राय कोयले की खानो मे हुआ करता है। जब नीचे की सतह म कोयला निकाल दिया जाता है तो ऊपरी आवरण का आश्रय समाप्त हो जाता है जिससे ऊपरी आवरण ध्वस्त होने लगता है। यह स्मरणीय है कि उपर्युक्त कारण एक दूसरे के सहयोग से ही कार्य करते हैं। प्राय एक से अधिक कारको के एक साथ मिलकर सक्रिय होने पर बडे पैमाने पर भूमि-स्खलन होता है।

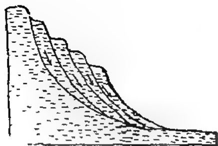
भूमि-स्खलन की स्थिति (Location of Landslides)—भूमि-स्खलन की क्रिया उन्ही स्थानो पर सक्रिय होती हैं जहां पर धरातलीय बनावट तथा चट्टान की सरचना उसके लिये सुविधाजनक हो। 1 सर्वप्रथम भूमि-स्खलन के लिए भूमि तीव्र ढाल वाली होनी चाहिये जिससे कि स्थानान्तरण मे बाधा न हो सके। 2 द्वितीय प्रकार की सुविधाजनक स्थिति कगार-भ्रंश (Fault-scarp) के सहारे पाई जाती है। इसी कगार-भ्रश के सहारे सयुक्त राज्य अमेरिका के कोलोरैडो के पठार मे भूमि-स्खलन बडे पैमाने पर होता है। 3 नदियो द्वारा नवोन्मेष (Rejuvenation) होने के कारण उत्पन्न खडे ढाल के सहारे भूमि-स्खलन तीव्रता से होता है। 4 सागरीय किनारो पर, जहां की सागरीय लहरो ने अपरदन द्वारा तीव्र ढाल वाले क्लिफ (Cliff) का निर्माण कर लिया हो, भूमि-स्खलन के लिये सुलभ दशायें उपलब्ध हो जाती हैं।

भूमि-स्खलन के प्रकार (Kinds of Landslides)—भूमि-स्खलन की सक्रियता तथा मलवा के स्खलन की मात्रा के अनुसार इसे कई भागो मे विभाजित किया जाता है। शार्प महोदय ने अपनी पुस्तक "Landslides and Related Phenomena" (1938) मे भूमि-स्खलन को 5 विभिन्न प्रकारो मे विभाजित किया है। 1 **अवपतन (Slump)**, 2 **मलवा-स्खलन (Debri slides)**, 3. **मलवा-पात(Debris fall)**, 4 **शैल-स्खलन (Rock slides)** तथा 5 **शैल-पात (Rock fall)**। इनमे से प्रत्येक का सक्षिप्त विवरण देना आवश्यक है।

(i) **अवपतन** (Slump)—अवपतन मे चट्टानो के टुकडे या चट्टानी भागो तथा भूमि का रुक-रुक (Intermittent) नीचे की ओर पतन या स्खलन होता है। अवपतन मे चट्टानो का गिरना या स्खलन अधिक दूर तक न होकर कम दूरी तक सीमित रहता है। नदियो, सागरीय लहरो तथा मानव द्वारा ढाल के अन्दर की ओर कटाव द्वारा अवपतन शीघ्र होता है। जिस ढाल से होकर अवपतन होता है उस पर सोपानाकार छोटी छोटी वेदिकायें बन जाती हैं। मिसीसीपी की घाटी मे लोयस के जमाव मे इस प्रकार की आकृतियां मिलती हैं।

इलाहाबाद जनपद मे गंगा तथा यमुना नदियो की घाटियो के किनारो पर मानसून के बाद जलधारा की तरगो द्वारा घाटी-पार्श्व के निचले भाग पर जलगति क्रिया द्वारा अध:कटान (undercutting) द्वारा ढीले जलोढ मलवा का अवपतन एक सामान्य प्रक्रिया है। वर्षा काल मे बाढ के समय रेत, चीका तथा पक की विभिन्न परतो का जमाव होता है। बाढ के बाद य नदिया अपनी विस्तृत घाटियो मे सकुचित जलधाराओ म सिमट जाती हैं। शरद काल के बाद अत्यधिक सूर्यातप के कारण इन जलोढ जमावो मे जल के सूख जाने (शुष्कीकरण-desication) के कारण ऊपरी भाग पर पक फटन (mud cracking) के कारण बडे-बडे बहुभुज बन जाते हैं। नदी अपने मोडो (मियाण्डर) के पास अधोरदित ढाल (under-cut slope or cut-bank) के सहारे जलगति क्रिया द्वारा किनारो के निचले भाग का अपरदन करती है जिस कारण ऊपर से मलवा अवपतन प्रारम्भ हो जाता है। इस तरह का उदाहरण इन समय गगा नदी के दाहिने किनारे पर सिरसा (गगा-टोंस सगम) तथा उससे थोडी ही दूर (downstream) लक्टहा ग्राम के पास देखा जा सकता है।

(iii) **मलवा स्खलन** (Debris Slides)—मलवा-स्खलन, अवपतन की अपेक्षा बडे पैमाने पर होता है तथा जल की मात्रा प्राय कम ही होती है। यह दो कारणो से होता है। प्रथम, जल के कारण चट्टान के सम्पृक्त हो जाने से तथा द्वितीय, असगठित आवरण शैल (Unconsolidated mantle rock) के अचानक नीचे की ओर

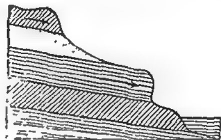


चित्र 174—अवपतन या अवपातन (Slumping)।

सरकने से। मलवा-स्खलन में मिट्टियाँ तथा बाउल्डर का प्रायः सम्मिश्रण रहता है। मलवा-स्खलन से प्राप्त अवसाद के घाटियों की तलहटी या पहाड़ियों के किनारे पर जमा हो जाने से विचित्र प्रकार की स्थलाकृतियाँ बन जाती है।

(iii) **मलवा पात** (Debris Falls)—मलवा-पात मुख्य रूप से मलवा-स्खलन से इस बात में भिन्न है कि प्रथम (मलवा-पात) में पदार्थ अत्यधिक ऊँचे अर्थात् लम्बवत क्लिफ से गिरते हैं। इस क्रिया के कारण प्राप्त मलवा के संचयन से क्लिफ की तलहटी में छोटे-छोटे ढेर तथा कटक (*Ridge*) का निर्माण हो जाता है।

(iv) **शैल स्खलन** (Rock Slides)—भूमि-स्खलन में सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान शैल-स्खलन का होता है जिसमें चट्टानों के बड़े-बड़े टुकड़े पहाड़ों के ढाल से सरक कर नीचे गिरते रहते हैं। शैल-स्खलन मुख्य रूप से पर्वतीय भागों में बसन्त के महीने में होता है जबकि जमा हुआ बर्फ पिघलने लगता है। इस क्रिया में कभी-कभी चट्टानों के इतने बड़े-बड़े टुकड़े तथा इतनी अधिक संख्या में गिरते हैं कि उससे धन-जन की पर्याप्त हानि होती है। संयुक्त राज्य अमेरिका के वायोमिंग प्रान्त के सन् 1925 ई० के **ग्रास वेन्टर स्लाइड** (Gross Ventre Slide) तथा अलबर्टा प्रान्त के 1903 ई० के **टर्टिल पर्वत स्लाइड**, दो प्रमुख शैल-स्खलन उल्लेखनीय है। टर्टिल पर्वत स्लाइड के कारण अलबर्टा प्रान्त के फ्रैंक नगर को पर्याप्त क्षति पहुँची तथा 70 लोग कालकवलित हो गये। इस शैल-स्खलन में 35,000,000 घन गज शैल सम्मिलित थी जिसने 2 वर्गमील स्थान को आवृत्त कर लिया था।[1] 1884 ई० में **नैनीताल** का शैल-स्खलन बड़े पैमाने पर सम्पन्न हुआ था। **नैना झील** के उत्तरी-पश्चिमी किनारे पर स्थित पहाड़ी (**मल्लीताल** के पास) की शैल का इतने बड़े पैमाने पर स्खलन हुआ था कि नैना झील का उत्तरी भाग (मल्लीताल के पास वाला) भर गया जो अब भी हेलिपैड के रूप में प्रयोग में लाया जाता है। नैनीताल के मल्लीताल का **सूखा ताल** शैल स्खलन के कारण ही इस अवस्था (जलविहीन) में है।



चित्र 175—शैल-स्खलन (Rock Slide)।

भूमि-स्खलन द्वारा निर्मित स्थलाकृतियाँ (Topography due to landslide)—विभिन्न प्रकार के भूमि-स्खलन तथा उनसे निर्मित स्थलाकृतियों में विचित्र सम्बन्ध होता है। अर्थात् एक तरफ तो कई कारकों के कारण भूमि-स्खलन में पर्याप्त भिन्नता पाई जाती है तो दूसरी तरफ इन विभिन्न भूमि-स्खलनों द्वारा उत्पन्न स्थलाकृतियों में पर्याप्त समानता होती है। मुख्य रूप से भूमि-स्खलन पर्वतीय ढालों क्लिफ-घाटियों के खड़े ढाल तथा कगार भ्रंश (Fault scarp) के सहारे होते हैं अतः निर्मित स्थलाकृतियों पर पर्वतीय ढाल, घाटी की दीवाल तथा तलहटी आदि का अधिक प्रभाव होता है।

(i) **क्षतिचिह्न** (Scar) – जिस पर्वतीय ढाल या पर्वतीय भाग (यहाँ पर स्मरणीय है कि भूमि-स्खलन मुख्य रूप से पर्वतीय भागों में ही होता है) से चट्टानें टूट कर तथा निकल कर नीचे की ओर स्खलित होती हैं या लुढ़कती हैं, उस स्थान पर एक सामान्य रिक्त स्थान का निर्माण हो जाता है तथा उससे यह साफ स्पष्ट होता है कि कोई चीज यहाँ से अलग हो गयी है। इसे **क्षतिचिह्न** (Scar) कहा जाता है। जिस प्रकार मानव शरीर पर चोट आदि के घाव (*Wound*) के कारण चिह्न बन जाते हैं, उसी प्रकार ये क्षतिचिह्न पर्वतीय ढालों पर भूमि

1 अक्टूबर मास (1968) का दार्जिलिंग (भारत) का भू-स्खलन अत्यन्त भयंकर था। इसके आगमन से हजारों व्यक्ति कालकवलित हो गये। नदियों में भयंकर बाढ़ आ गई तथा दो प्राकृतिक झीलों का निर्माण हो गया।

स्खलन के कारण बन जाते है। भग्न चट्टान-पूर्ण (Rock waste) पर्वतीय ढाल की तलहटी में असमान ढेर के रूप मे एकत्रित होते रहते है। यह उल्लेखनीय है कि भूमि-स्खलन के अन्तर्गत सभी पदार्थों का स्खलन अधिक दूरी तक एक ही साथ नही होता है, बल्कि भूमि-स्खलन कई बार रुक-रुक कर सम्पन्न होता है। इस क्रिया के कारण पर्वतीय ढालो पर, जिस पर होकर स्खलन होते है, बडे-बडे चिह्न बन जाते है जिन्हे **ऊर्मि-चिह्न** (Ripple marks) कहते है।

(ii) **वेदिकायें** (Terraces)—अवपतन (Slumps) की क्रिया के कारण छोटी-छोटी वेदिकाओं का निर्माण पर्वतीय भागो मे होता रहता है। सयुक्त राज्य अमेरिका के **ग्राण्ड मेसा** (Grand Mesa) मे अवपतन के कारण कई छोटी-छोटी वेदिकायें तथा छोटी-छोटी झील-बेसिन (Lake basins) बन गई है। कोलम्बिया के पठार पर भी इसी प्रकार अवपतन के कारण वेदिकाओं का निर्माण हो गया है। इलाहाबाद जनपद में टोस, बेलन तथा सेवती नदियों के किनारो पर अवपतन के कारण कई सीमित क्षेत्र वाली लघु वेदिकाओं का निर्माण हुआ है।

(iii) **विसर्प का विस्तार** (Widening of Meanders)—नदियों की घाटियो के किनारे वाली दीवालो म अपक्षय के कारण कमजोर चट्टानें जैसे जलोढ या चिकनी मिट्टी विघटित हो जाती हैं तथा नदी द्वारा नीचे की ओर कटाव होने के कारण ऊपर से टूट-टूट कर गिरने लगती है जिससे नदी के विसर्प अर्थात् मियाण्डर मे लगातार विस्तार होता रहता है। गंगा नदी की घाटी मे इस तरह की क्रिया बडे पैमाने पर हो रही है।

(iv) **प्रपाती खड्ड या कैनियन का पीछे हटना** (Recession of Canyons)—आग्नेय चट्टान वाले भागो मे कई की सख्या में कैनियन होते है जिनमें मुख्य कैनियन के कई छोटे-छोटे तथा गहरे सहायक कैनियन भी होते है। इन कैनियन के मध्य अवशेष धरातलीय भाग होता है जिनके ऊपर दृढ बालुका पत्थर तथा नीचे कमजोर शेल-शैल (Shale) होती है। अपक्षय द्वारा मध्य के चट्टानी भाग कमजोर हो जाते है तथा जल मे सम्पृक्त होकर भूमि-स्खलन को प्रेरित करते है, जिस कारण बड़े-बडे टुकडे टूट कर गिरने लगते हैं तथा मध्यवर्ती अवशिष्ट भाग का ह्रास होने लगता है। फलस्वरूप इस क्रिया के कारण कैनियन निरन्तर पीछे हटते जाते हैं। कभी-कभी ये मिलकर बडे कैनियन बन जाते है।

पंक-वाह (Mud Flow)

पंक-वाह तथा भूमि-वाह (Earth flow) मे मुख्य अन्तर यह है कि प्रथम को देखा जा सकता है तथा द्वितीय इतने सामान्य रूप से होते है कि उनका प्राय अवलोकन नहीं हो पाता है। पंक-वाह मे जल की मात्रा भूमि-वाह या अन्य गतियो की अपेक्षा अधिक होती है। पंक-वाह मुख्य रूप मे नदियों की घाटियो मे दीवालो के सहारे अधिक होता है तथा प्रत्युत्पन्न मलवा घाटी से होकर सरकता है। 1928 मे **ब्लैक वेल्डर महोदय**[1] ने पंक-वाह के लिए चार आवश्यक दशाओं का उल्लेख किया है। 1 ढाल अत्यन्त तीव्र तथा खडा होना चाहिए। 2 ऊपरी सतह पर असगठित पदार्थ होना चाहिए जो कि जल मे सतृप्त होने पर गीला होकर सरकने वाला (Slippery) हो जायेगा। 3. जल की पर्याप्त पूर्ति होनी चाहिए। परन्तु यह जल पूर्ति रुक-रुक कर मध्यावकाश के साथ (Intermittent or with intervals) के साथ होनी चाहिए। 4. उस क्षेत्र मे वनस्पतियो की नितान्त कमी होनी चाहिए। उपर्युक्त दशाओं को ध्यान मे रखते हुए ब्लैक वेल्डर महोदय ने पंक-वाह के लिये शुष्क प्रदेशो को अधिक आदर्श तथा उपयुक्त बताया है, क्योकि वहाँ पर एक तो वनस्पति का पूर्णतया अभाव होता है तथा दूसरे जल की पूर्ति रुक-रुक कर बडे अवकाश के बाद ही होती है। जिस घाटी म होकर पंक-वाह होता है उसके दोनो किनारो पर लम्बे-लम्बे परन्तु पतले-पतले कटक (Ridges) का निर्माण हो जाता है, जिसे **शार्प महोदय**[2] ने **पंक प्राकृतिक बाँध** (Mudflow levees) बताया है। **शार्प महोदय**[3] ने पंक-वाह को तीन प्रकारों मे विभक्त किया है 1. अर्धशुष्क भागो का पंक-वाह (Mudflow

---

1 Blackwelder, Elliot (1928)-Mudflow as a geologic agent in semi-arid mountains, *Geol. Soc Am.*, Bull 39, pp 465-480.

2. Sharpe, R. P (1942)—Mudflow levees, J. Geomorph, 5, 55. 222—227.

3. Sharpe, C F S (1938)—Landslides and Related Phenomena, 137 P Columbia University Press, New York.

of semi-arid regions), 2. अल्पाइन पक-वाह (Alpine mudflow) तथा 3. ज्वालामुखी पक-वाह (Volcanic mudflow)। होव महोदय [1] ने संयुक्त-राज्य अमेरिका के पश्चिमी कोलोरैडो प्रान्त के विशाल पक-वाह, Slumgulion Mudflow" का उल्लेख किया है, जिसने गन्नीसन नदी (Gunnisan River) के लेक फोर्क (Lake Fork) को अवरुद्ध कर दिया है तथा क्रिस्टोबल झील (Cristobal Lake) का निर्माण किया है। यह पक्वाह छ मील तक लम्बा है।

अपक्षय का भ्वाकृतिक महत्व
(Geomorphic Significance of Weathering)

अपक्षय की प्रक्रिया तथा उसके विभिन्न प्रकारों की व्याख्या एवं अपक्षय से प्राप्त भग्न चट्टान-चूर्ण के सामूहिक स्थानान्तरण के बाद हम अपक्षय के विभिन्न भागों का प्रभाव स्थलाकृतियों के विकास पर देखेंगे तथा उनके आर्थिक महत्त्व की भी व्याख्या उपस्थित की जायेगी। अपक्षय में एक और प्रक्रिया रह गई है, जिसका संक्षिप्त उल्लेख आवश्यक है, और वह है **विभेदक अपक्षय** या **"भवकल अपक्षय (Differential weathering)"**। विभेदक अपक्षय का प्रयोग अपक्षय की उस प्रक्रिया को इंगित करने के लिए किया जाता है, जिसके अन्तर्गत चट्टान का कमजोर भाग विघटित तथा वियोजित होकर अलग हो जाता है, परन्तु कठोर भाग (Resistant parts) अवशिष्ट रह जाता है एवं विचित्र स्थलाकृति का निर्माण करता है। इस प्रकार के अपक्षय का एक मात्र कारण चट्टान की बनावट तथा संरचना में भिन्नता का होना है। विभेदक अपक्षय द्वारा विभिन्न स्थलाकृतियों की रचना तभी हो सकती है जबकि अपक्षय द्वारा प्राप्त मलवा (भग्न चट्टान-चूर्ण) का विभिन्न साधनों द्वारा परिवहन तथा स्थानान्तरण हो जाय। यह स्थानान्तरण तथा परिवहन विभिन्न प्रकार के सामूहिक स्थानान्तरण (Mass translocation)—भूमि-सर्पण, भूमि-स्खलन, पक-वाह, मिट्टी का सर्पण आदि) तथा बहते हुए जल द्वारा सम्पन्न होता है। यदि अपक्षय से प्राप्त मलवा का स्थानान्तरण नहीं हो पाता है तो स्थलाकृतियों का निर्माण नगण्य होता है। अब हम अपक्षय के विभिन्न प्रभावों तथा महत्त्व का वर्णन करेंगे।

(i) अपक्षय द्वारा चट्टान-चूर्ण का निर्माण होना—जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि अपक्षय के विभिन्न प्रकारों—**भौतिक, रासायनिक तथा प्राणिवर्गीय अपक्षय**—द्वारा चट्टानों में ढीलापन आ जाता है तथा चट्टान विघटित तथा वियोजित होकर छोटे-छोटे टुकड़ों में टूटती रहती है, जिससे अधिक मात्रा में भग्न चट्टान-चूर्ण का निर्माण होता है। पृथ्वी की ऊपरी सतह में जिस सीमा तक अपक्षय का प्रभाव होता है उसे **अपक्षय मण्डल** कहते हैं। अपक्षय मण्डल का विस्तार सर्वत्र समान नहीं होता है वरन् स्थान-स्थान पर अलग-अलग होता है। अपक्षय मण्डल की गहराई दो बातों पर आधारित होती हैं—प्रथम, जलतल (Water table) की स्थिति तथा द्वितीय, अपक्षय होने का समय। अपक्षय द्वारा उत्पन्न चट्टान-चूर्ण का आर्थिक दृष्टि से अधिक महत्त्व होता है। इन्हीं चट्टान-चूर्णों द्वारा मिट्टियों का निर्माण होता है, जो कि कृषि का मुख्य आधार है। चट्टानों के टूट-फूट से कई प्रकार के खनिजों की प्राप्ति हो जाती है, जो कि औद्योगिक दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। जिप्सम तथा चूना आदि की प्राप्ति इसी प्रकार से होती है। पहाड़ी भागों में अपक्षय के कारण चट्टानें विघटित हो जाती हैं तथा भूमि-स्खलन के फलस्वरूप चट्टानों के बड़े टुकड़े नीचे गिरते रहते हैं, जिनसे कभी-कभी मानव तथा मानव-आवास को पर्याप्त क्षति होती है। प्राय इन टुकड़ों द्वारा पहाड़ी भागों में नदियों का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है तथा इस प्रकार झीलों का निर्माण होता है तथा इस अवरोध के हट जाने के कारण नदियों के निचले भाग में भयानक बाढ़ (Flash flood) आ जाती है। शीत प्रधान भागों में अपक्षय के कारण हिम के बड़े-बड़े टुकड़े सागरों में उतर आते हैं, जिससे जलयानों को क्षति उठानी पड़ती है।

(ii) अपक्षय अपरदन के लिये सामग्री प्रदान करता है (Weathering provides ready materials to the process of erosion)—अपक्षय द्वारा चूंकि चट्टानें ढीली तथा कमजोर हो जाती हैं, अत इनका अपरदन का कार्य आसान हो जाता है क्योंकि अपरदन के विभिन्न साधन—आर्द्र प्रदेशों में बहता जल, उष्ण एवं शुष्क मरुस्थलीय भागों में वायु, शीत प्रधान प्रदेशों में हिमानी तथा सागरीय तटों के किनारे पर सागरीय लहरें—इन विघटित चट्टानों को आसानी से काट कर अपने साथ वहाँ ले जाते हैं। इतना ही नहीं, जब अपक्षय से प्राप्त पदार्थों का अपरदन के कारकों द्वारा परिवहन होता है तो ये पदार्थ

1. Howe, Ernest (1909)—Landslides in the San Juan Mountains, Including a consideration of their causes and classification U.S. Geol. Survey. Profess, Paper 67, 68 PP.

आपस में टकरा कर तथा तली को कुरेद कर अपरदन के कार्य में सक्रिय सहयोग देते हैं। यहाँ तक कि अपरदन के समय (बहते जल द्वारा) भी रासायनिक अपक्षय होता रहता है, जिससे नदी-घाटी के किनारे की चट्टानें वियोजित होकर टूट कर जल के साथ हो लेती है।

(iii) **अपक्षय द्वारा धरातल का नीचा होना (Lowering of surface by weathering)**—अपक्षय के विभिन्न साधनों द्वारा चट्टानों में टूट-फूट होती रहती है तथा प्राप्त चट्टान-चूर्ण का अन्यत्र स्थानान्तरण होता रहता है। फलस्वरूप धरातलीय सतह धनै-धनै नीचे होती रहती है। चूने के क्षेत्रों में यह क्रिया अधिक सक्रिय रहती है। आर्द्र भागों में चूने की चट्टान वाले भागों में जल की रासायनिक क्रिया द्वारा चट्टान घुल कर जल के साथ मिलती रहती है तथा सतह की ऊँचाई में ह्रास होने लगता है, परन्तु यह क्रिया केवल आर्द्र भागों में ही होती है। उष्ण एवं शुष्क भागों में चूने का पत्थर एक अवरोधक चट्टान का कार्य करता है क्योंकि यहाँ पर यांत्रिक या भौतिक अपक्षय होता है तथा रासायनिक अपक्षय नगण्य होता है।

(iv) **स्थलाकृतियों का निर्माण तथा उनमें परिवर्तन (Evolution of landforms and their modification)**—यद्यपि अपक्षय द्वारा निर्मित स्थलाकृतियाँ उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं होती है जितनी की अपरदन द्वारा उत्पन्न स्थलाकृति। तथापि जो कुछ भी स्थलाकृतियों का निर्माण होता है वे **विभेदक अपक्षय** (Differential weathering) के ही परिणाम होती हैं। इनका कार्य दो रूपों में होता है। एक तो विभिन्न संरचना वाली चट्टानों में से कमजोर चट्टान के अपक्षय से हो जाने से कठोर चट्टान ऊपर निकली रहती है तथा विभिन्न रूपों में दृष्टिगोचर होती है। दूसरे रूप में अपक्षय से प्राप्त मलवा के स्थानान्तरण के समय पूर्व स्थित स्थलाकृतियों के रूप में परिवर्तन होता है तथा ढालों पर कुछ गड्ढों का निर्माण हो जाता है। विभेदक अपक्षय के तो कुछ ऐसे प्रत्युत्पन्न परिणाम होते हैं कि उनको स्थलाकृति न कह कर भूगर्भिक आकृति कहना ही अधिक उपयुक्त होगा। उदाहरण के लिए—**जालीदार पत्थर** (Stone latice) **छत्तेदार शैल** (Honeycombed Rocks) आदि। इसी प्रकार चट्टानों की दीवालों से विघटित पदार्थ जब निकल कर अलग हो जाता है तो दीवाल में छोटे-छोटे **खोखले स्थान** (Hollow places) तथा **ताखें** (Niches) बन जाते हैं। इसके विपरीत कुछ भाग बाहर की तरफ निकले हुए होते है जैसे **शैलफलक** (Ledges) इत्यादि। चूने की चट्टान वाले भागों में रासायनिक अपक्षय के कारण वियोजित पदार्थों के निकल जाने से **गर्त** (Poit) का निर्माण होता है जो कि नदियों द्वारा निर्मित जलगर्तिका (Pot holes) के समान होता है। ग्रेनाइट की चट्टानों में **अपक्षय गर्त** प्रायः गोलाकार या अण्डाकार होते हैं जिनका व्यास 10 से 40 फीट तक हुआ करता है। संयुक्त राज्य अमेरिका के दक्षिणी कैरोलिना प्रान्त के दक्षिणी **पीडमाण्ट** (Piedmont), **जार्जिया, बीयर पर्वत** (Bear Mountain), **न्यूयार्क तथा योसेमाइट नेशनल पार्क** (Yosemite National Park) में इसी प्रकार के अपक्षय गर्त (Weathering pits) मिलते हैं। अधिक ऊँचाई पर पर्वतीय भागों में जब विदीर्ण चट्टानों (Split rocks) का संचय हो जाता है तो उसे **गोलाश्म पुंज** (Felsemeere) कहते हैं। वास्तव में इनमें से अधिकांश **गोलाश्म** (Boulder) का एकत्रीकरण चट्टानों के **अपदलन** (Exfoliation of domes) से प्राप्त चट्टान-चूर्णों से होता है। अपक्षय द्वारा चट्टानों के विघटित एवं वियोजित होकर टूटते रहने से **क्लिफ** (Cliff) तथा **कगार** (Scarp or Escarpment) पीछे की तरफ हटते रहते हैं। यहाँ पर उल्लेखनीय है कि अपक्षय व साथ उनके पदार्थों के सामूहिक स्थानान्तरण का भी स्थलाकृतियों के निर्माण तथा परिवर्तन में सहयोग रहता है। वास्तव में जब शैल की संरचना कमजोर तथा कठोर चट्टानों से हुई रहती है तो मुलायम चट्टान के अपक्षय के बाद कगार या एस्कार्पमेन्ट का निर्माण होता है तथा इसे **अपक्षय कगार** (Weathering escarpment) कहते हैं। यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि अपक्षय कगार के निर्माण में केवल अपक्षय का ही हाथ नहीं रहता है वरन् **सामूहिक स्थानान्तरण** (Mass translocation), **चादर धुलन** (Sheet wash) तथा नदी द्वारा अपरदन का भी सहयोग रहता है। अतः अपक्षय कगार नाम भ्रान्तिमूलक है। इसी तरह विभिन्न स्वभाव वाली चट्टानों के स्थान पर विभेदक अपक्षय के कारण मुलायम चट्टान के अपक्षय के बाद **हागबैक कटक** (Hogback ridges शूकर कटक) का निर्माण होता है।

विभेदक अपक्षय द्वारा उत्पन्न **अपदलित गुम्बद** (Exfoliation domes) एक महत्त्वपूर्ण स्थलाकृति है। ग्रेनाइट की विस्तृत चट्टान में अपक्षय के कारण परत के बाद परत के उघड़ते रहने से "**अपक्षय निर्मित अपदलित गुम्बद**" का निर्माण होता है। योसेमाइट घाटी (Yosemite Valley) के महान गुम्बद (Great

Domes), रायोडिजीनेरो (ब्राजील—Rio de Janeiro) का **सुगर लोफ गुम्बद** (Sugar Loaf Dome), जार्जिया (संयुक्त राज्य अमेरिका) का **स्टोन पर्वत**, भारत में **राँची पठार** पर राँची शहर के पास **काँके गुम्बद** तथा **पिर्योरिया** ग्राम के पास **मूढा पर्वत** अपदलन गुम्बद के उदाहरण हैं। समस्त **छोटानागपुर पठार** पर इस तरह के अपदलन गुम्बद के अनेक उदाहरण मिलते हैं आदि अपदलित गुम्बद के ही रूप हैं।

विशेषक अपक्षय द्वारा **डाइक कटक** (Dike ridges) का भी निर्माण होता है। जहाँ पर डाइक की चट्टान समीपवर्ती शैल से अधिक कठोर तथा अवरोधक होती है, वहाँ पर समीपवर्ती कमजोर चट्टान के अपक्षय के कारण उसका भाग स्थानान्तरित हो जाता है तथा डाइक का ऊपरी भाग एक कटक के रूप में दृष्टिगत होता है। कुछ विद्वानों ने लावा-निर्मित धरातलीय भागों में **मेसा** (Mesa) तथा **बूटी** (Buttes) के निर्माण का प्रमुख कारण विशेषक अपक्षय (Differential weathering) ही बताया है परन्तु यह स्मरणीय है कि इनके निर्माण में नदियों के बहते जल का योगदान अधिक रहता है। अपक्षय से प्राप्त मलवा (Rock waste) के स्थानान्तरण तथा उनके जमाव से कई प्रकार की स्थलाकृतियों का निर्माण होता है, जैसे **टालस शंकु** (Talus cone), **टालस पंख** (Talus fans) आदि तथा इन पदार्थों के ढाल के सहारे सर्पण (सरकना) के समय वेदिकाओं की रचना होती है।

इस प्रकार यदि देखा जाय तो अपक्षय तथा विशेषक अपक्षय स्वतन्त्र रूप में उच्च पर्वत-चोटियों के निर्माण तथा परिवर्तन से लेकर चट्टान-चूर्ण के सचयन तथा जमाव से उत्पन्न स्थलाकृतियों का निर्माण करते हैं। वास्तव में विशेषक अपक्षय के कारण कठोर शैल-भाग सतह पर उच्चावच के रूप में प्रकट हो जाते हैं। उप-सहार के रूप में यह कहा जा सकता है कि उपर्युक्त स्थलाकृतियों का निर्माण केवल विशेषक अपक्षय द्वारा सम्पन्न हुआ है, बताना कठिन है क्योंकि विशेषक अपक्षय शायद ही अन्य अपरदन के साधनों से अलग होकर कार्य करता हो तथा स्वतन्त्र स्थलाकृतियों के निर्माण में समर्थ हो। वास्तव में अपक्षय तथा अपरदन द्वारा उत्पन्न स्थलाकृतियों में यह विभेद करना कठिन हो जाता है कि कितना कार्य अपक्षय ने किया है तथा कितना अपरदन ने। इतना अवश्य है कि साधारण स्थलाकृतियों के परि-वर्तन तथा निर्माण में विशेषक अपक्षय का महत्त्व कम नहीं है।

अपरदन-चक्र की संकल्पना तथा गतिक संतुलन सिद्धान्त

(The Concept of Cycle of Erosion and Dynamic Equilibrium Theory)

अपरदन (Erosion)— भूपटल पर परिवर्तन लाने वाली तथा विभिन्न स्थलाकृतियों को जन्म देने वाली प्रक्रियाओं में तीन प्रमुख हैं। इनका सामूहिक कार्य भूपटल के उच्चावच में क्षय उत्पन्न करना होता है। क्षयकारी शक्तियों में अपक्षय (Weathering), अपरदन तथा अनाच्छादन (Denudation) प्रमुख हैं, जिनमें प्रथम को **स्थैतिक क्रिया** (Static Process) तथा अन्तिम दो को **गतिशील शक्तियाँ** कहते हैं। अपक्षय का पिछले अध्याय में विशद रूप में वर्णन किया जा चुका है। अपरदन के अन्तर्गत चट्टानों को तोड़ने-फोड़ने से लेकर प्राप्त चट्टान-चूर्ण के परिवहन को भी सम्मिलित किया जाता है। अर्थात् अपरदन की क्रिया गतिशील होती है। अपरदन शब्द लैटिन भाषा के 'Erodere' शब्द से लिया गया है जिसका शाब्दिक अर्थ कुतरना होता है। अपरदन शब्द का प्रयोग उस क्रिया के लिए किया जाता है जिसके अन्तर्गत विभिन्न गतिशील शक्तियाँ विभिन्न रूपों में चट्टानों से उनके मलवा को अलग करके दूर तक ले जाती हैं। अपरदन की विभिन्न शक्तियाँ अपक्षय द्वारा तैयार चट्टान-चूर्ण को अपने साथ लेकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाती रहती हैं। ये चट्टानी टुकड़े दो रूपों में अपरदन का कार्य करते हैं। प्रथम तो अपने में ही टकराकर टूटते-फूटते रहते हैं तथा दूसरे, ये सम्पर्क में आने वाले धरातल को खुरचते रहते हैं। इस कथन से यह भ्रांति हो सकती है कि अपरदन के लिए अपक्षय की क्रिया का होना आवश्यक है जहाँ से अपरदन के लिए चट्टान-चूर्ण मिल जाते हैं। परन्तु वास्तव में यह सत्य नहीं है। दो प्रक्रियायें बिल्कुल एक दूसरे से भिन्न हैं। अपक्षय के बाद आवश्यक नहीं कि अपरदन हो। अर्थात् बिना अपरदन के अपक्षय सम्पन्न हो सकता है तथा अपरदन के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उसके पहले अपक्षय हो चुका हो ताकि आवश्यक पदार्थ मिल सके। दोनों क्रियायें अलग-अलग भी कार्य कर सकती हैं तथा साथ-साथ भी। प्रोफेसर **थार्नबरी** के शब्दों में **"यह सत्य है कि अपक्षय अपरदन के लिए एक प्रारम्भिक प्रक्रिया है तथा यह अपरदन को आसान बना सकता है परन्तु न तो यह पूर्वकाक्षित ही है न आवश्यक रूप से अपरदन द्वारा अनुसरित होता है।"**[1]

अनाच्छादन के अन्तर्गत अपक्षय तथा अपरदन दोनों क्रियाओं को सम्मिलित किया जाता है।

अपरदन की परिभाषा के विषय में मतभेद है। कुछ विद्वान अपरदन के अन्तर्गत चट्टानों से पदार्थों के अलग करने की क्रिया को ही सम्मिलित करते हैं तथा परिवहन को अपरदन से अलग करते हैं। परन्तु अधिकाश भूगर्भवेत्ता तथा भू-आकृति विज्ञान के वेत्ता परिवहन को अपरदन का अभिन्न भाग मानते हैं। इस प्रकार अपरदन की निम्न परिभाषा प्रस्तुत की जा सकती है —

"अपरदन वह क्रिया है जिसके अन्तर्गत अपरदन के विभिन्न साधन (नदी, वायु, हिमानी, परिहिमानी सागरीय लहरें तथा भूमिगत जल) भूपटल से चट्टानी मलवा को अलग करके उन्हें अपने साथ परिवहन द्वारा दूर तक ले जाते हैं।"[2]

इस प्रकार घर्षण, क्षरण तथा परिवहन का सम्मिलित नाम ही अपरदन है।[3] अपरदन की समस्त प्रक्रिया में तीन कार्यों को सम्मिलित किया जाता है।

1. अपक्षय द्वारा तैयार चट्टान-चूर्ण का ग्रहण करना।

---

1 It is true, of course, that weathering is a preparatory process and make erosion easier, but it is not prerequisite to nor necessarily followed by erosion —Thornbury, William D., Principles of Geomorphology, Page 37, (1954)

2 "Erosion is that process in which various erosive agents (running water-river wind, glacier periglacial, sea waves and underground water) obtain and remove rock debris from the earth's crust and transport them for long distance."

3. Erosion is a sum total of gnawing, abrasion and transportation.

2. प्राप्त मलवा का एक स्थान से दूसरे स्थान पर परिवहन। यह परिवहन या पदार्थों का स्थानान्तरण मुख्य रूप से बहते हुए जल, वायु हिमानी आदि द्वारा बड़े पैमाने पर होता है।

3. परिवहन या स्थानान्तरण के समय चट्टानों के टुकड़े आपस में टकराकर तथा रगड़ खाकर छोटे-छोटे कणों में टूट कर बदलते रहते हैं। इतना ही नहीं यह शैलकण मार्ग में आने वाली चट्टान को भी काटता, खरोंचता तथा कुरेदता हुआ अग्रसर होता है। इस प्रकार चट्टान-चूर्ण स्वयं अपरदन के लिये औजार का कार्य करते हैं तथा मार्ग में आने वाली चट्टानों पर तरह-तरह से अपरदन करते रहते हैं। अपरदन की मात्रा, अपरदन के साधन चट्टान के संगठन तथा संरचना, चट्टान-चूर्ण तथा समय पर आधारित होती है।

अपरदन के कारक (Agents of Erosion)—अपरदन में भाग लेने वाली शक्तियों को अपरदन के साधन या कारक कहते हैं। ये विभिन्न प्रकार के होते हैं तथा यह आवश्यक नहीं है कि अपरदन के सभी कारक समान रूप से तथा समान गति से अपरदन का कार्य करें। अपरदन के कारकों में बहते हुए जल (नदी) का कार्य सर्वाधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि इसमें कटाव करने की पर्याप्त सामर्थ्य होती है। परन्तु प्रत्येक नदी अलग-अलग, भिन्न-भिन्न रूप में अपरदन करती है तथा यह अपरदन नदी में जल की मात्रा, ढाल व स्वभाव तथा नदी के साथ चलने वाले पदार्थों पर आधारित होता है। अपरदन के कारकों को निम्न रूप में व्यक्त किया जा सकता है।

- (i) बहता हुआ जल (नदी)।
- (ii) भूमिगत जल।
- (iii) सागरीय लहरें, सागरीय धारायें तथा ज्वार-भाटा।
- (iv) पवन।
- (v) हिमानी।
- (iv) परिहिमानी प्रक्रम।

अपरदन के प्रकार (Types of Erosion)—अपरदन की क्रिया कई रूपों में होती है। यद्यपि विभिन्न अपरदन के कारकों द्वारा अपरदन भिन्न-भिन्न रूपों में होता है तथापि कुछ क्रियायें सभी में सामान्य (Common) होती हैं। यहाँ पर अपरदन की इन सामान्य क्रियाओं का संक्षिप्त उल्लेख किया जा रहा है—

1. **घोलीकरण या संक्षारण (Solution or Corrosion)**—घोलीकरण का कार्य मुख्य रूप से जल द्वारा होता है। वास्तव में यह बहते हुये जल का रासायनिक कार्य होता है जिसके अन्तर्गत जल के सम्पर्क में आने वाली चट्टानों के घुलनशील खनिज तथा कण घुलकर चट्टान से अलग होकर जल के साथ मिल जाते हैं। भूमिगत जल, सागरीय तरंग तथा नदी के बहते हुए जल द्वारा घोलीकरण का कार्य अधिक होता है।

2. **अपघर्षण (Abrasion or Corrasion)**—अपरदन के कारक के साथ कुछ कंकड़-पत्थर आदि भी चलते हैं। इन पदार्थों द्वारा सम्पर्क में आने वाली शैल के घर्षण की क्रिया को अपघर्षण कहते हैं। अपघर्षण का कार्य मुख्य रूप से नदियों द्वारा ही सम्पन्न होता है। नदी के जल के साथ कई प्रकार के गोलाश्म (Boulders) कंकड़ पत्थर के टुकड़े तथा सिकता-कण आदि चलते हैं। इन पदार्थों का छेदन यंत्र (Drilling tools—छेद करने वाले बरमा मशीन की तरह) कहते हैं जो कि नदी की घाटी में लम्बवत तथा समानान्तर दो रूपों में अपघर्षण करते हैं। उपर्युक्त चट्टानी टुकड़े प्रथम रूप में जल के साथ मिलकर नदी की घाटी के दोनों पार्श्वों (Sides—किनारों) को रगड़-रगड़ कर कुरेद कर घर्षित करते हैं। इस क्रिया को क्षैतिज या समानान्तर अपघर्षण कहते हैं। दूसरे रूप में ये पदार्थ नदी की तली में घर्षण द्वारा काट-छाट करके उसे गहरा करते हैं। इस क्रिया को लम्बवत अपघर्षण कहा जाता है। नदी के पेंदे में लम्बवत् अपघर्षण द्वारा निर्मित जल-गर्तिका (Pot holes) एक महत्वपूर्ण स्थलाकृति है। यह कार्य हिमनदी द्वारा भी सम्पन्न होता है। हिमनद के प्रवाह के समय चट्टानों के बड़े-बड़े टुकड़े हिमनदी की घाटी को कुरेदते तथा चिकना करते हुये चलते हैं।

3. **जलगति क्रिया (Hydraulic Action)**-जलगति क्रिया केवल जल द्वारा बिना किसी अन्य सामग्री की सहायता के सम्पन्न होती है। इसके अन्तर्गत जल यांत्रिक ढंग से मार्ग में पड़ने वाली चट्टानों के कणों को ढीला बनाकर तथा उसे हटाकर अपने साथ लेकर बहता है।

4. **रगड़ या सन्निघर्षण (Attrition)** अपरदन के कारकों द्वारा परिवहन के साथ कई प्रकार के कंकड़, पत्थर चलते रहते हैं। उनका अपरदन सम्बन्धी दो प्रकार का कार्य होता है। एक तो मार्ग में आने वाली चट्टानों का अपघर्षण। इसका पहले ही उल्लेख किया

जा चुका है। दूसरे यह है कि ये टुकडे आपस में टक्कर खाकर टूटते-फूटते रहते हैं। इस प्रकार की घर्षण या रगड द्वारा टुकडो के टूटने की क्रिया को रगड या सन्निघर्षण कहते हैं। इस क्रिया द्वारा टुकडे टूटते हैं उनका आकार बदलता रहता है, खासकर गोलाकार होता जाता है। इस प्रकार से प्राप्त पदार्थ और अधिक महीन हो जाते हैं जिनका परिवहन आसानी से हो जाता है। रगड कम महत्वपूर्ण नहीं है। सिकता कणो (Sands) का निर्माण मुख्य रूप से रगड की क्रिया द्वारा ही होता है।

5 उडाव की क्रिया (Deflation)—उडाव की क्रिया मुख्य रूप से वायु द्वारा सम्पन्न होती है। अपदलन अपक्षय (Exfoliation weathering) के कारण मरुस्थलीय भागो में चट्टानो की परतें ढीली हो जाती हैं, जिन्हे तीव्र पवन उधेड कर अपने साथ उडा ले जाती है। यह क्रिया उसी तरह होती है जैसे कि फल से छिलके उतारने की क्रिया। इसी प्रकार भौतिक अपक्षय द्वारा विखण्डित पदार्थों को पवन अपने साथ उडाकर अन्यत्र ले जाती है। मरुस्थलीय भागो मे रेत की परत का उडाव अधिक सक्रिय होता है। इस प्रकार उडाव की क्रिया के कारण चट्टाने निरन्तर उघड कर नग्न होती रहती हैं।

अपरदन-चक्र (Cycle of Erosion)

सामान्य परिचय—अपरदन चक्र की संकल्पना का प्रतिपादन सर्वप्रथम अमेरिका के प्रसिद्ध भूगोल वेत्ता डेविस महोदय ने उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक मे किया। डेविस के अनुसार किसी भी स्थलाकृति का निर्माण तथा विकास एक ऐतिहासिक क्रम के अनुसार होता है जिसके अन्तर्गत उस विशेष स्थलरूप को कई अवस्थाओ से होकर गुजरना पडता है। अर्थात् स्थलरूप का ऐतिहासिक जीवन होता है जो चक्रीय रूप में सम्पन्न होता है। पृथ्वी के अन्तर्गत दो प्रकार की शक्तियाँ होती है। एक बहिर्जात शक्ति है जो कि समतल स्थापक होती है तथा दूसरी अन्तर्जात या आन्तरिक शक्ति है जो कि स्थल के ऊपर विषमता उत्पन्न करने मे निरन्तर सक्रिय रहती है। अत स्पष्ट है कि अन्तर्जात शक्तियों का बहिर्जात शक्तियाँ विरोध करती हैं। अन्तर्जात शक्तियों द्वारा धरातल पर दो रूपों मे विषमता का आविर्भाव होता है—धरातलीय उत्थान द्वारा जैसे पर्वत, पठार या पहाडियाँ आदि तथा धरातलीय भाग के अवतलन या धँसकने से जैसे झीलो, गड्ढो आदि का निर्माण। अन्तर्जात शक्ति द्वारा जैसे ही धरातल के ऊपर उत्थान द्वारा विषमता आती है वैसे ही उस पर समतल स्थापक शक्तियाँ अपना कार्य प्रारम्भ कर देती हैं। समतल स्थापक शक्तियो मे प्रमुख हैं नदी या बहता हुआ जल, भूमिगत जल, पवन, हिमनद तथा सागरीय तरगे। ये शक्तियां अपक्षय तथा अपरदन की क्रियाओं द्वारा उठे हुये भाग को काट-छाट करना प्रारम्भ कर देती हैं। इसी बीच क्षयित पदार्थों का इनके द्वारा परिवहन तथा अन्यत्र निक्षेप भी होता रहता है। एक लम्बे समय तक यह अपक्षय अपरदन, परिवहन तथा निक्षेपण चलता रहता है तथा एक समय ऐसा आता है जब कि ऊँचा उठा हुआ भाग कट कर अपने मौलिक रूप मे आ जाता है तथा समतल प्राय हो जाता है। समतल होने की यह क्रिया कई अवस्थाओ से होकर सम्पन्न होती है। इस प्रकार उस समय तथा विभिन्न अवस्थाओ के सम्मिलित रूप को जिससे होकर ऊँचा भाग अपक्षय तथा अपरदन द्वारा समतल रूप में परिवर्तित हो गया है, अपरदन-चक्र कहते है। इस अपरदन-चक्र को डेविस महोदय ने **भौगोलिक-चक्र** (Geographic cycle) नाम दिया है। डेविस ने भौगोलिक चक्र की परिभाषा निम्न रूप में व्यक्त की है।

"**भौगोलिक चक्र समय की वह अवधि है जिसके अन्तर्गत एक उभरा या उत्थित भूखण्ड अपरदन की प्रक्रिया द्वारा एक आकृति विहीन समतल मैदान मे परिवर्तित हो जाता है**'।[1]

वरसेस्टर महोदय ने भी डेविस के **भौगोलिक चक्र** को मान्यता प्रदान की है परन्तु आप इसे भौगोलिक चक्र न कहकर अपरदन-चक्र कहना ही अधिक उपयुक्त समझते हैं। वरसेस्टर ने भी अपरदन चक्र को एक अवधि माना है जिसके अन्तर्गत विभिन्न अवस्थाओं में अपरदन के कारक ऊँचे उठे हुए भू-भाग को काट-छाँट करके निम्न समतल भूमि मे परिवर्तित कर देते हैं।[2] अर्थात्

1 'The Geographic cycle is the period of time during which an uplifted land mass undergoes its transformation by the process of land sculpture ending in low featureless plain"—W. M Davis

2 'The cycle of erosion is the time required for streams to reduce newly formeu land mass to base level"—P. G Worcester.

अपरदन चक्र एक समय होता है जिसके अन्तर्गत नदियाँ नवोदित भूखण्ड को काट कर उसे आधारतल के बराबर बना देती हैं। चूंकि नदियाँ भूतल पर अपरदन द्वारा समतल स्थापक शक्तियों में सर्वप्रमुख हैं, अतः नदी द्वारा सम्पादित अपरदन-चक्र को **"अपरदन का सामान्य चक्र"** (Normal cycle of erosion) कहा जाता है।

"अपरदन-चक्र" तथा **"स्थलाकृतिक चक्र"** (Geomorphic cycle) के मध्य अन्तर स्थापित करना आवश्यक है। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि अपरदन-चक्र एक समय होता है परन्तु अपरदन-चक्र के समय उत्पन्न स्थलाकृति या दृश्यभूमि को स्थलाकृतिक चक्र कहा जाता है। वरसेस्टर महोदय ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि—**"स्थलाकृतिक चक्र स्थलाकृतिक होती है, जो कि अपरदन-चक्र के समय विभिन्न अवस्थाओं में निर्मित होती है।"**[1] **डेविस** महोदय ने स्थलाकृतिक के निर्माण तथा विकास के विषय में कई कारकों का उल्लेख किया है तथा बताया है कि— **"कोई दृश्यभूमि, संरचना, प्रक्रम तथा अवस्था का परिणाम या प्रतिफल होती है"**। डेविस महोदय ने अपने भौगोलिक चक्र का विशद उल्लेख किया है तथा उसकी विशेषताओं की सुस्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत की है। भौगोलिक चक्र की समाप्ति का प्रमुख लक्षण डेविस ने **समप्राय मैदान** (Peneplain) तथा **मोनाडनाक** की स्थिति को बताया है। यद्यपि **'समप्राय मैदान की संकल्पना"** के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है तथापि संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि **'जब ऊँचे उठे भाग का इतना कटाव हो जाता है कि वह भाग अपरदन के आधारतल को प्राप्त होकर एक निम्न समतल भाग में बदल जाता है जिसमें यत्र-तत्र कुछ छोटी-छोटी ऊँची भूमि, जिसे मोनाडनाक कहते हैं, अवशिष्ट रह जाती हैं, तो उस निम्न समतल भूमि को समप्राय मैदान या पेनीप्लेन कहा जाता है।"**

अपरदन-चक्र के **"प्रारम्भिक स्थल-भाग"** का रूप कई प्रकार का हो सकता है तथा उसकी संरचनात्मक बनावट भी विभिन्न हो सकती है। साधारण रूप में अपरदन चक्र का प्रारम्भ किसी भी स्थलभाग के उत्थान के साथ या बाद माना जाता है। वास्तव में स्थलभाग का उत्थान इतनी तीव्र गति से होता है कि उस समय अपरदन का उस पर प्रभाव अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं हो पाता है। जब उत्थान समाप्त हो जाता है तो अपरदन के साधन (यहाँ पर नदी का उदाहरण लिया जा रहा है) अर्थात् नदी द्वारा कटाव प्रारम्भ हो जाता है। प्रारम्भिक अवस्था में निम्न कटाव तथा नदी की घाटी का गहरा होना अधिक सक्रिय रहता है। तदन्तर नदी की घाटी के चौड़ा होने की अवस्था आती है। इसे अपरदन चक्र की दूसरी अवस्था कहते हैं। अन्तिम अवस्था में नदी द्वारा निक्षेपण कार्य अधिक सक्रिय होता है तथा धरातलीय विषमताओं का लोप हो जाता है एवं उत्थित भाग एक समप्राय मैदान के रूप में बदल जाता है। इससे स्पष्ट है कि अपरदन-चक्र तीन अवस्थाओं में होकर पूर्ण होता है। अपरदन-चक्र की इन अवस्थाओं की तुलना मानव-जीवन की तरुणावस्था, प्रौढ़ावस्था तथा जीर्णावस्था से की जाती है।

1 **तरुणावस्था**—पृथ्वी के धरातल पर उभरे हुए भाग पर न्यूनतम विषमतायें होती हैं, परन्तु नदी के उदाहरण में घाटी का निम्न कटाव अधिक सक्रिय रहता है।

2 **प्रौढ़ावस्था**- अपरदन की सक्रियता से यद्यपि उभरा हुआ भाग नीचा होता है परन्तु धरातलीय विषमतायें बढ़ती जाती हैं। नदी द्वारा घाटी का विस्तार होना है तथा नदी चौड़ी घाटियों से होकर प्रवाहित होती है। इस अवस्था में सर्वाधिक उच्चावच होते हैं।

3 **जीर्णावस्था**—अपरदन द्वारा उठा हुआ भाग कट कर समीपस्थ भागों के बराबर हो जाता है तथा विषमतायें घट जाती हैं। यहाँ तक कि कुछ मोनाडनाक को छोड़कर समस्त भाग एक समप्राय मैदान बन जाता है।

अपरदन-चक्र की समाप्ति पर चट्टान की संरचना (Structure) का भी पर्याप्त असर होता है, क्योंकि चट्टानें कठोर कोमल घुलनशील एवं अघुलनशील तथा प्रवेश्य या पारगम्य (Pervious) एवं अप्रवेश्य या अपारगम्य (Impervious) हो सकती हैं। इस प्रकार कोमल चट्टान वाले भाग में अपरदन-चक्र, कड़ी चट्टान वाले भाग की अपेक्षा पहले पूर्ण हो सकता है। इसी तरह अपरदन-चक्र का स्वभाव उसमें भाग लेने वाले प्रक्रम (Process) अर्थात् अपरदन के कारकों (नदी हिम नदी, पवन, सागर-तरंग तथा भूमिगत जल) के अनुसार

1. "Geomorphic cycle is the topography developed during the various stages of cycle of erosion"—P. G. Worcester.

निर्णीत होता है। विभिन्न प्रक्रम द्वारा सम्पन्न अपरदन-चक्र भिन्न भिन्न होते है अर्थात् **अपरदन का सामान्य चक्र, "पवन अपरदन चक्र", "सागरीय तरंग-अपरदन चक्र"** (Wave cycle of erosion) आदि। इसी आधार पर **'स्थलाकृतिक चक्र'** भी भिन्न-भिन्न होता है। डेविस महोदय ने तो सभी प्रक्रमो द्वारा भौमोलिक चक्र तथा स्थलाकृतिक चक्र का उल्लेख किया है। यहाँ तक कि पवन द्वारा भी स्थलाकृतिक चक्र (Wind geomorphic cycle) का उल्लेख किया है अर्थात् डेविस ने अपने **"भौगोलिक चक्र"** सिद्धान्त को प्रत्येक प्रकार के स्थलरूप के निर्माण मे लागू किया है यद्यपि यह मत मान्य नहीं है, क्योंकि सर्वत्र यह सही अर्थ नही दे पाता है। **पेल्टियर (1950) ने परिहिमानी अपरदन-चक्र** की संकल्पना का भी प्रतिपादन कर डाला है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो गया है कि स्थलरूप का जन्म अपरदन का ही प्रतिफल है। जैसे ही स्थल खण्ड, सागर तल से ऊपर उठता है, उस पर अपरदन प्रारम्भ हो जाता है। इस प्रकार अपरदन तथा स्थलरूप का जन्म एव विकास साथ-साथ चलते है। प्राय सभी विद्वान अपरदन चक्र की शुरुआत, स्थल-भाग मे उत्थान के साथ करते हैं परन्तु अपरदन तथा उत्थान के वास्तविक सम्बन्ध मे कई परस्पर विरोधी मतो का उल्लेख किया गया है। अपरदन-चक्र के विषय मे दो तथ्यो का उल्लेख आवश्यक है। 1 उत्थान एव अपरदन का सम्बन्ध अर्थात् अपरदन के कार्य की अवस्था तथा 2 अपरदन-कार्य का परिमाण (Degree of performance)।

उत्थान एव अपरदन चक्र (Upliftment and cycle of erosion)—यह अवश्य निश्चित है कि अपरदन-चक्र का प्रारम्भ किसी भी भूखण्ड के उत्थान के साथ होता है, परन्तु विवाद इस बात पर है कि उत्थान तथा अपरदन का वास्तविक सम्बन्ध क्या है? कई सवाल किए जा सकते हैं, क्या उत्थान तथा अपरदन साथ-साथ चलते हैं? या उत्थान के बाद अपरदन प्रारम्भ होता है? क्या उत्थान तथा अपरदन अन्त तक अर्थात् चक्र की समाप्ति तक चलते हैं? या उत्थान पहले ही समाप्त हो जाता है? इसी प्रकार की कई समस्यायें उठती है। डेविस महोदय के अनुसार जब स्थल का उत्थान समाप्त हो जाता है तब अपरदन प्रारम्भ होता है परन्तु **वाल्टर पेन्क** के अनुसार स्थल का उत्थान तथा अपरदन साथ-साथ प्रारम्भ होते है परन्तु बीच मे उत्थान समाप्त हो जाता है। उपर्युक्त तथ्यों को ध्यान मे रखकर उत्थान तथा अपरदन के कई सयोग (Combinations of upliftment and erosion) का उल्लेख किया जा सकता है।

(i) उत्थान के पूर्णतया समाप्त हो जाने पर अपरदन प्रारम्भ होता है।

प्रारम्भ———— . . . . अन्त (डेविस)
उत्थान अपरदन

(ii) उत्थान तथा अपरदन साथ साथ प्रारम्भ होते हैं तथा अपरदन चक्र की समाप्ति तक चलते है।

उत्थान
प्रारम्भ ———————— अन्त ?
अपरदन

(iii) उत्थान तथा अपरदन साथ-साथ प्रारम्भ होते है परन्तु कुछ समय बाद उत्थान समाप्त हो जाता है तथा केवल अपरदन होता है।

उत्थान
प्रारम्भ ———————— अन्त ? (पेन्क)
अपरदन

(iv) उत्थान के पहले अपरदन प्रारम्भ होता है तथा कुछ समय बाद उत्थान होता है। तदन्तर उत्थान एव अपरदन दोनो चक्र की समाप्ति तक साथ-साथ चलते है।

उत्थान
प्रारम्भ ———————— अन्त ?
अपरदन

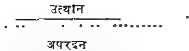
(v) प्रारम्भ मे केवल उत्थान होता है तथा कुछ समय बाद अपरदन प्रारम्भ होता है। तदन्तर अपरदन तथा उत्थान चक्र की समाप्ति तक चलते है।

उत्थान
प्रारम्भ ———————— अन्त ?
अपरदन

(vi) उत्थान तथा अपरदन दोनों एक साथ प्रारम्भ होते है परन्तु कुछ समय बाद अपरदन समाप्त हो जाता है तथा उत्थान चक्र की समाप्ति तक चलता है। (परन्तु ऐसी दशा मे 'चक्र' की समाप्ति कैसे हो सकती है?)।

उत्थान
प्रारम्भ ———————— ?
अपरदन

(vii) अपरदन प्रारम्भ से चक्र की समाप्ति तक चलता है परन्तु उत्थान अपरदन के बाद प्रारम्भ होता है तथा चक्र की समाप्ति के पहले ही समाप्त हो जाता है।



(viii) उत्थान प्रारम्भ से चक्र की समाप्ति तक चलता है परन्तु अपरदन उत्थान के बाद प्रारम्भ होता है तथा चक्र की समाप्ति के पहले ही समाप्त हो जाता है। (चक्र की समाप्ति संदिग्ध है)।

उत्थान ?

अपरदन

उत्थान तथा अपरदन के उपर्युक्त सयोगो (Combinations) के अलावा और भी कई सयोगों की कल्पना की जा सकती है परन्तु प्रथम तथा तृतीय सम्भावनाओ को छोड़ कर शेष सभी सयोग केवल कल्पना मात्र है। वैसे आलोचक तो प्रथम तथा तृतीय सयोग को भी कल्पना मात्र ही बताते है क्योंकि इनके अनुसार अपरदन तथा उत्थान को रेखाचित्र द्वारा उपर्युक्त रूपो मे नही दिखाया जा सकता है। क्योंकि इनकी गति मे सम्बद्धता तथा समानता नही होती है। कभी अपरदन मन्द हो सकता है तो कभी तीव्र। इसी प्रकार चक्र की यह कल्पना प्रयोग मे देखने को नही मिलती है क्योंकि इसमे बाधायें उपस्थित होती रहती है तथा अपरदन-चक्र पूर्ण नहीं हो पाता है। इसके होते हुए भी अपरदन-चक्र की सकल्पना को अस्वीकृत नही किया जा सकता है। उपर्युक्त सयोगो मे प्रथम डेविस की सकल्पना तथा तृतीय पेन्क की सकल्पना को इंगित करता है।

अपरदन कार्य का परिणाम (Degree of performance)—इस विषय के अन्तर्गत हम उत्थान, अपरदन तथा उच्चावच के विभिन्न सम्बन्धो का उल्लेख करेंगे क्योंकि इनका सम्बन्ध स्थलरूप की रचना से होता है।

(अ) 1. उत्थान तथा अपरदन के बीच सम्बन्ध
2. उत्थान तथा उच्चावच का सम्बन्ध
3. अपरदन एवं उच्चावच का सम्बन्ध
> चक्र का प्रतिफल (स्थलाकृति)

(ब) ऊपरी वक्र (Upper curve) तथा निचले वक्र (Lower curve) के बीच सम्बन्ध

ऊपरी वक्र, निचला वक्र > प्रारम्भिक उच्चावच (Initial relief)

अपरदन का ऊपरी वक्र, अपरदन का निचला वक्र > अन्तिम उच्चावच (Ultimate relief)

अपरदन चक्र

डेविस की संकल्पना (Concept of W. M Davis)

सामान्य परिचय—"भू-आकृति विज्ञान" के क्षेत्र मे सर्वप्रथम **डेविस** महोदय ने स्थलरूपो के आविर्भाव तथा विकास के सम्बन्ध मे **चक्रीय पद्धति** का प्रयोग किया। उन्होने बताया है किसी भी स्थलरूप का विकास किसी विशेष **प्रक्रम** (Process जैसे नदी) द्वारा किसी खास **संरचना** (structure) वाले भूखण्ड पर निश्चित **समय** के अन्दर होता है तथा इसका विकास कई अवस्थाओ से होकर गुजरता है (**युवावस्था, प्रौढावस्था** तथा **जीर्णावस्था**)। अर्थात् जहाँ से अपरदन प्रारम्भ होता है, एक निश्चित समय के बाद वही पर समाप्त हो जाता है तथा कई विशिष्ट स्थलरूपो का विकास होता है। इस प्रकार प्रत्येक स्थलरूप का अन्तिम रूप अपरदन के चक्रीय रूप का परिणाम होता है। **डेविस** महोदय के अनुसार **अपरदन चक्र एक समय होता है जिसके अन्तर्गत एक स्थलभाग ऊपर उठने के बाद समप्राय मैदान** (Peneplain) **मे बदल जाता है तथा भू आकृतिक चक्र** (Geomorphic cycle) **अपरदन-चक्र से उत्पन्न स्थलरूप होते हैं।** परन्तु डेविस ने उसके लिए **भौगोलिक चक्र** (Geographic cycle) शब्द का प्रयोग किया है। वर्तमान समय मे भौगोलिक चक्र शब्द का बहुत कम प्रचलन है तथा इसके स्थान पर भ्वाकृतिक चक्र का ही प्रयोग अधिक होता है। डेविस ने भौगोलिक चक्र को निम्न शब्दों मे परिभाषित किया है —

"भौगोलिक-चक्र समय की वह अवधि है जिसके अन्तर्गत एक उत्थित भूखण्ड अपरदन के प्रक्रम द्वारा एक आकृति विहीन समतल मैदान मे परिवर्तित हो जाता है।'

संरचना का तात्पर्य चट्टान की बनावट से है। डेविस ने सरचना शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ मे किया है। सरचना मे चट्टान की स्थिति और प्रकृति दोनो को सम्मिलित किया गया है अर्थात् सरचना का तात्पर्य एक प्रदेश के एक ही प्रकार के सरचना वाले स्थलखण्ड जैसे पर्वत, पठार, मैदान तथा पर्वतो मे वलित पर्वत, ब्लाक पर्वत, ज्वालामुखी पर्वत एव भ्रंश आदि से ही नही होता

Landscape के लिए "दृश्य भूमि" तथा "भूदृश्य" दोनो शब्दो का प्रयोग किया जाता है।

है वरन् संरचना में चट्टानों की उत्पत्ति में भाग लेने वाले मूल पदार्थों, खनिजों की स्थिति, रासायनिक पदार्थों की स्थिति, चट्टान का संगठन, ढाल या स्वभाव आदि तत्त्वों को भी सम्मिलित किया जाता है। उदाहरण के लिए वह चट्टान विशेष, जिस पर अपरदन चक्र चल रहा है, अवसादी है, आग्नेय है या रूपान्तरित है ? पुन वह इन तीनों में से किसकी उप प्रकार है। इसी प्रकार चट्टान विशेष सघन है या असंगठित है, भेद्य है या अभेद्य, प्रवेश्य है या अप्रवेश्य, रध्रमय है या कम रध्र वाली है तथा कठोर है या मुलायम आदि सभी का अध्ययन किया जाता है। संरचना अपरदन क्रिया को बड़े पैमाने पर प्रभावित करती है तथा चट्टान की संरचना पर ही अपरदन चक्र का शीघ्र या देर से समापन तथा स्थलरूप का स्वभाव निर्भर करता है। उदाहरण के लिए यदि कोई भाग कठोर शैल का बना है तथा दूसरा भाग कोमल शैल का एवं अपरदन चक्र दोनों स्थानों पर एक ही साथ प्रारम्भ होता है तो कठोर चट्टान वाले भाग की अपेक्षा द्वितीय भाग में शीघ्र समाप्त हो जायेगा। इसी तरह आग्नेय चट्टान की अपेक्षा तलछटी शैल शीघ्र अपरदित होती है। कम ढाल वाली चट्टान की अपेक्षा तीव्र ढाल वाली चट्टान में कटाव तीव्र गति से तथा शीघ्र होता है। अधिक संधियों वाली चट्टानों का अपरदन, सशक्त एवं सगठित चट्टानों से अधिक एवं शीघ्र होता है।

चट्टानों पर अपरदन करने वाले साधनों अथवा कारकों को प्रक्रम कहा जाता है। इनमें बहते हुये जल, पवन, हिमनद, भूमिगत जल, सागरीय तरंगों, परिहिमानी प्रक्रमों आदि को सम्मिलित किया जाता है। प्राय प्रत्येक प्रक्रम का कार्य विध्वंसकारी तथा निर्माण मूलक दोनों रूपों में होता है तथा स्थलरूपों का निर्माण इन दोनों कार्यों का परिणाम हो सकता है या अलग-अलग भी। कभी कभी कई प्रक्रम मिलकर कार्यरत होते हैं तो कभी अलग-अलग। इस प्रकार नदी द्वारा उत्पन्न स्थलरूप को नदीकृत स्थलाकृति, वायु द्वारा निर्मित स्थलरूप को वायुकृति आदि नामकरण प्रदान किये जाते हैं। इन प्रक्रमों का कार्य पुन तीन क्रियाओं, अपरदन, **परिवहन** तथा **निक्षेपण** द्वारा सम्पन्न होता है तथा इनसे अलग-अलग स्थलरूपों का निर्माण तथा विकास होता है।

किसी भी स्थलरूप के निर्माण में समय या अवधि का भी महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। अर्थात् इसके अन्तर्गत हम देखते हैं कि किसी निश्चित संरचना वाले भूखण्ड पर किसी प्रक्रम विशेष ने कितने समय तक कार्य किया है तथा वह कितना प्रभाव उत्पन्न कर चुका है। दूसरे शब्दों में वह स्थलखण्ड अपने विकास की किस अवस्था में है। अभी निर्माण की प्रारम्भिक अवस्था में है, या मध्य की अवस्था में है अथवा अन्तिम अवस्था में। डेविस महोदय ने स्थलरूपों के विकास की तीन अवस्थाओं का उल्लेख किया है—**युवावस्था, प्रौढ़ावस्था** तथा **जीर्णावस्था**। यद्यपि इन शब्दावलियों के प्रयोग में कुछ विद्वान आपत्तियाँ प्रस्तुत करते हैं तथापि इनका प्रयोग आधुनिक युग में 'भू-आकृति विज्ञान'' में बड़े पैमाने पर किया जाता है। इस प्रकार उपर्युक्त तीन तत्त्वों अर्थात् संरचना, प्रक्रम, अवस्था का प्रभाव वहाँ की दृश्यभूमि के निर्माण तथा अन्तिम रूप में पड़ता है। अगर एक ही प्रकार की संरचना वाले कई स्थलखण्ड हैं परन्तु वे एक जगह न होकर दूर-दूर विस्तृत हैं तथा यदि उन पर एक ही प्रकार के प्रक्रम द्वारा अपरदन प्रारम्भ होता है तो एक निश्चित अवस्था में उत्पन्न स्थलरूप उन सभी क्षेत्रों में समान होंगे।

उत्थान तथा अपरदन—अपरदन-चक्र का प्रारम्भ, डेविस महोदय सर्वप्रथम स्थलखण्ड के उत्थान से प्रारम्भ करते हैं। डेविस के अनुसार उत्थान की अवधि छोटी होती है। इनके मत की सबसे ध्यान देने योग्य बात यह है कि अपरदन के पूर्व स्थल-खण्ड में उत्थान होता है तथा जब तक स्थल-खण्ड का उत्थान पूर्ण नहीं हो जाता है तब तक अपरदन प्रारम्भ नहीं होता है। इस प्रकार स्थलखण्ड के उत्थान के दौरान अपरदन नहीं होता है। इस विषय पर विद्वानों ने खासकर जर्मन भूगोलवेत्ताओं ने कड़ी आलोचनायें की है। वास्तव में प्रयोग में यह सम्भव नहीं है कि अपरदन स्थलखण्ड की तब तक प्रतीक्षा करेगा जब तक वह पूर्ण रूप से उत्थित न हो जाय। सामान्य रूप से जैसे ही कोई स्थलखण्ड ऊपर उठने लगता है उस पर अपरदन प्रारभ हो जाता है। इस प्रकार अपरदन तथा उत्थान साथ-साथ प्रारम्भ होते हैं। इस आलोचना पर व्याख्या आगे की जायगी। डेविस के अपरदन-चक्र में एक ध्यान देने योग्य बात यह है कि अपरदन तथा उत्थान कहीं भी साथ-साथ कार्य नहीं करते हैं।

केवल उत्थान	अपरदन
(छोटी अवधि)	(लम्बी अवधि)

स्मरणीय है कि डेविस का स्थलरूपों के विकास से सम्बन्धित सिद्धान्त 'भौगोलिक चक्र' नहीं है। यह तो उनके सिद्धान्त के तहत स्थलरूपों की व्याख्या के लिए

कई सम्भाव्य प्रतिरूपों (models) में से एक है। डेविस का सिद्धान्त इस प्रकार है—'**स्थलरूपों में समय के साथ क्रमिक परिवर्तन (क्रमिक अवस्थाओं में) होता है तथा यह परिवर्तन एक सुनिश्चित लक्ष्य (आकृति विहीन समप्राय मैदान) की ओर उन्मुख होता है।**' डेविस द्वारा प्रतिपादित स्थलरूपों के विकास से सम्बन्धित सिद्धान्त की विशद आलोचनात्मक व्याख्या अध्याय दो (पृष्ठ 40 45) में की गई है। यहाँ पर उनके 'भौगोलिक चक्र' के मॉडल की ही व्याख्या की जा रही है। ऊपरी वक्र का तात्पर्य जलविभाजकों के शीर्ष या उच्चस्थ भाग से है जबकि निचला वक्र नदी की घाटी की तली को प्रदर्शित करता है।

डेविस के भौगोलिक चक्र का ग्राफ द्वारा प्रदर्शन—सगत रेखाचित्र में डेविस के अपरदन-चक्र को दो वक्रों द्वारा प्रदर्शित किया गया है। इसमें नीचे वाले वक्र को "निचला वक्र" (**Lower curve L. C.**) तथा ऊपर वाले को "ऊपरी वक्र" (**Upper curve U.C**) कहा जा सकता है। लम्बवत् रेखा क ख के सहारे स्थलखण्ड की ऊँचाई तथा क्षैतिज रेखा क, ग के सहारे समय दिखाया गया है। अपरदन-चक्र में प्रक्रम के रूप में नदी के कार्य को लिया गया है। अ ब रेखा प्रारम्भिक औसत उच्चावच को प्रदर्शित करती है तथा स, द रेखा अन्तिम अधिकतम उच्चावच को प्रदर्शित करती है। क, ग, रेखा अपरदन का आधार तल है जो कि सागर-तल को प्रदर्शित करता है। उपर्युक्त रेखा-चित्र में अपरदन-चक्र

चित्र 176—डेविस के भौगोलिक चक्र का ग्राफ द्वारा प्रदर्शन। पृष्ठ 62 पर दिये गये चित्र 8 तथा 9 को भी देखिए।

की अवस्था को तीन अवस्थाओं में प्रदर्शित किया गया है—प्रथमावस्था में केवल स्थलखण्ड का उत्थान हो रहा है। इस अवस्था में अपरदन नहीं है। दूसरी तथा तीसरी अवस्थाओं में अपरदन होता है तथा निरन्तर स्थलखण्ड नीचा होता जा रहा है। चूँकि डेविस महोदय स्थलखण्ड के ऊपर उठने की अवस्था को अपने चक्र की अवस्था नहीं मानते हैं क्योंकि इनका चक्र पूर्व उत्थित स्थलखण्ड पर प्रारम्भ होता है, अतः प्रथम अवस्था को अपरदन-चक्र में सम्मिलित नहीं किया जाता है। अन्तिम दो अवस्थाओं को पुनः युवावस्था, प्रौढ़ावस्था तथा जीर्णावस्था तीन अवस्थाओं में विभक्त किया जाता है। इस प्रकार उपर्युक्त ग्राफ-चित्र से इन तीन अवस्थाओं की भ्रान्ति नहीं होनी चाहिये। इन तीन अवस्थाओं का विकास क्रम से अ, ब के बाद प्रारम्भ होता है। यहाँ पर उपर्युक्त रेखाचित्र की तीन अवस्थाओं (एक उत्थान की तथा दो अवस्थायें अपरदन की) का संक्षिप्त उल्लेख किया जा रहा है—

प्रथमावस्था—प्रथमावस्था में स्थलखण्ड का उत्थान प्रारम्भ होता है तथा यह उत्थान "क" बिन्दु से "अ" तथा "ब" बिन्दुओं तक चलता है तथा यहाँ पहुँचने पर उत्थान समाप्त हो जाता है। उत्थान को "क" से "अ" तथा "ब" तक रेखाओं द्वारा दिखाया गया है। चूँकि इस अवस्था में अपरदन नहीं होता है अतः ऊँचाई तथा उच्चावच दोनों में वृद्धि होती है। "अ ब" रेखा प्रारम्भिक वास्तविक औसत उच्चावच को प्रदर्शित करती है।[1] 'अ' बिन्दु ऊपरी वक्र तथा 'ब' निचले वक्र को प्रदर्शित करते हैं। दूसरे शब्दों में 'अ' बिन्दु द्वारा ऊँचे भू-भाग की ऊँचाई तथा 'ब' बिन्दु द्वारा निचले भू-भाग (घाटी) की ऊँचाई प्रदर्शित होती है।

प्रथमावस्था का उच्चावच = अ य — ब य = अ ब

(**U.C – L.C** = अ ब) = अ, ब = औसत पृष्ठीय अन्तर।

द्वितीय अवस्था—'ब अ' के बाद उत्थान समाप्त हो जाता है तथा यहीं से अपरदन-कार्य प्रारम्भ होता है। इस अवस्था में ऊपरी वक्र पर अपरदन नहीं होता है वरन् निचले वक्र पर होता है। यह अपरदन की प्रारम्भिक अवस्था है, जिसमें निम्न कटाव सर्वाधिक होता है, जिसमें नदियों की घाटी निरन्तर गहरी होती है परन्तु

1. Intial relief Relief is defined as difference between upper curve and lower curve of a land mass In other words relief is defined as the defference between the highest and the lowest points of a land mass.

कटक के ऊपरी भाग अपरदन से अप्रभावित रहते हैं। इस प्रकार उच्चतम भाग अब भी अपरदन न होने के कारण उच्चतम ही रहते हैं। चित्र 176 में इस तथ्य को 'अ, स' रेखा द्वारा, दिखाया गया है। चूंकि उत्थान समाप्त हो चुका है तथा ऊपरी वक्र पर अपरदन नहीं हो रहा है, अतः 'अ, स' रेखा, य,व,ग, रेखा के प्राय समानान्तर है। इसके विपरीत निचले वक्र पर निरन्तर निम्न कटाव के कारण नदियों की घाटियाँ गहरी होती रहती हैं। यह तथ्य 'ब-द' रेखा द्वारा स्पष्ट हो जाता है। 'ब-द' रेखा निरन्तर झुकती रहती है जिसका तात्पर्य है कि नदी की घाटी निरन्तर गहरी होती जाती (निम्नवर्ती अपरदन द्वारा) है। इस तरह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि अधिक ऊँचाई इस अवस्था में अपरिवर्तित रहती है परन्तु उच्चावच निरन्तर बढ़ता है तथा 'स-द' अधिकतम उच्चावच (Ultimate maximum relief) को प्रदर्शित करता है। इस अवस्था की निम्न विशेषताएँ हैं —

(i) परम ऊँचाई स्थिर है।
(ii) ऊपरी वक्र (स्थलखण्ड का शीर्ष भाग) अपरदन से अप्रभावित रहता है।
(iii) निचले वक्र (नदी की घाटी की तली) पर निम्न कटाव होता है।
(iv) उच्चावच निरन्तर बढ़ता जाता है।
(v) उत्थान शून्य होता है।
(vi) यह युवावस्था का लक्षण है।

तृतीय अवस्था—उपर्युक्त रेखाचित्र से स्पष्ट है कि तृतीय अवस्था का समय सर्वाधिक लम्बा है तथा इसी के अन्तर्गत अपरदन-चक्र की प्रौढ़ावस्था तथा जीर्णावस्था को सम्मिलित किया जाता है। तृतीय अवस्था के प्रारम्भ में ('स-द' के बाद) ऊपरी वक्र पर भी अपरदन प्रारम्भ हो जाता है जिस कारण ऊँचे भागों अर्थात् कटक के शीर्ष भाग भी अपरदित होने लगते हैं। इस प्रकार लम्बवत कटाव की अपेक्षा क्षैतिज अपरदन (Lateral erosion) अधिक तीव्र होता है। जल-विभाजक तीव्र गति से अपरदित होने लगते हैं तथा पीछे हटने लगते हैं। अपरदन दोनों वक्रों पर सक्रिय होता है। चूंकि उत्थान शून्य है तथा ऊपरी वक्र पर निचले की अपेक्षा अपरदन अधिक हो रहा है अतः निचले वक्र की अपेक्षा ऊपरी वक्र अधिक तीव्रता से झुकता जाता है। यह तथ्य उपर्युक्त चित्र द्वारा स्पष्ट हो जाता है। चूंकि दोनों वक्र असमान गति से नीचे झुकते हैं अतः अधिकतम उच्चावच घटने लगता है तथा निरन्तर कम होता जाता है। यह अपरदन-चक्र का **प्रौढ़ावस्था** का समय होता है। इसके बाद क्षैतिज अपरदन और सक्रिय होता है तथा अन्त में दोनों वक्र एक दूसरे के समीप आ जाते हैं। उच्चावच प्राय समाप्त हो जाते हैं एवं स्थलखण्ड अपने **आधारतल** अर्थात् सागर-तल को प्राप्त हो जाता है। अपरदन समाप्त हो जाता है। यह **जीर्णावस्था** का समय होता है। इस प्रकार अपरदन-चक्र पूर्ण हो जाता है। डेविस के अनुसार अन्तिम अवस्था में स्थलखण्ड एक आकृति-विहीन भूभाग में बदल जाता है। इस स्थिति के लिए डेविस ने **"समप्रदाय मैदान"** शब्द का प्रयोग किया है। कुछ प्रतिरोधी चट्टानें छिट-पुट रूप में समप्रदाय मैदान में ऊपर उठी रहती हैं, जिन्हें **मोनाडनाक** (Monadnock—अप्लेशियन की मोनाडनाक पहाड़ी के नाम पर) कहते हैं। इस तृतीय अवस्था की निम्न विशेषताएँ होती हैं—

(i) लम्बवत अपरदन से क्षैतिज अपरदन अधिक होता है।
(ii) अपरदन दोनों वक्रों पर होता है।
(iii) असमान अपरदन होने से उच्चावच घटता जाता है।
(iv) ऊपरी वक्र अधिक अपरदन के कारण निचले वक्र की अपेक्षा तीव्र गति से झुकता है।
(v) दोनों वक्रों पर अपरदन होने से परम ऊँचाई (Absolute height) भी कम होती जाती है।
(vi) अन्त में दोनों वक्र मिल जाते हैं।

डेविस के भौगोलिक चक्र की आलोचना

विशद अध्ययन के लिए देखिए इस पुस्तक के द्वितीय अध्याय के पृष्ठ 41-45।

1 डेविस महोदय के **"भौगोलिक चक्र"** की संकल्पना के प्रकाश में आते ही उसकी एक तरफ तो बड़ी सराहना हुई तथा पर्याप्त समर्थन मिले परन्तु दूसरी तरफ इसकी कटु आलोचना भी की गई। सबसे अधिक आलोचना जर्मनी के विद्वानों द्वारा की गई। सर्वप्रथम आपत्ति नामावली पर है। अर्थात् **'चक्र'** शब्द भ्रामक है। चक्र के अनुसार जहाँ से अपरदन प्रारम्भ होता है वहीं पर समाप्त हो जाना चाहिये परन्तु वास्तव में ऐसा होता नहीं है। **पेंक महोदय** ने भी डेविस की युवावस्था, प्रौढ़ावस्था तथा जीर्णावस्था आदि अवस्थाओं से असहमति प्रकट की है एवं उनके स्थान पर अन्य नामावलियों का प्रयोग किया है। 1. Aufsteigende, 2 Absteigende, 3 Gleichformige Entwickelung। डेविस महोदय

ने बताया कि कोई भी स्थलरूप संरचना, प्रक्रम तथा अवस्था का प्रतिफल होता है परन्तु पेन्क ने इसके स्थान पर स्थलरूप को उत्थान की दर तथा निम्नीकरण की दर (Rate of degradation) तथा इन दोनो की प्रावस्थाओ (phases) के सम्बन्ध का प्रतिफल बताया है[1]। इस आलोचना के विषय मे डेविस ने स्वय बताया है कि जर्मन विद्वानो ने ईर्ष्यावश नामावली पर आक्षेप किया है। वास्तव मे अपरदन-चक्र मे अवस्था (Stages) की सकल्पना के सम्बन्ध मे कई कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती है। अपरदन-चक्र की तुलना मानव जीवन से नही की जा सकती है। मानव-जीवन मे यद्यपि तीन अवस्थाएँ—युवावस्था, प्रौढावस्था तथा जीर्णावस्था, होती है परन्तु इनमे से प्रत्येक का आगमन तथा अन्त प्राय निश्चित समय से होता रहता है परन्तु किसी स्थलरूप के जीवन-इतिहास के सम्बन्ध मे उपर्युक्त तथ्य सम्भव नही है। यदि कोई भूखण्ड कमजोर तथा मुलायम चट्टानो का बना है तो उस पर अपरदन इतनी शीघ्रता एव तीव्रता से होगा कि युवा एव प्रौढावस्थाएँ शीघ्र ही समाप्त हो जाती है तथा वृद्धावस्था का पदार्पण हो जाता है। परन्तु इसके विपरीत यदि स्थलखण्ड कठोर एव प्रतिरोधी चट्टान का बना है तो युवा तथा प्रौढावस्थाओ का समय आवश्यकता से अधिक हो सकता है। डेविस महोदय ने इन कठिनाइयो को स्वीकार किया है परन्तु इन्हे असाधारण स्थिति बतायी है।

2 ओ माल महोदय (O. Mall) ने डेविस के भौगोलिक चक्र की आलोचना करते हुये बताया है कि डेविस ने अपरदन चक्र की सकल्पना को आवश्यकता से अधिक साधारण (Over simplification) बना दिया है। इसी प्रकार डेविस ने भू-तात्विक रचना (Geology) के विभेदो को ध्यान मे नही रखा है। केवल एक सामान्य रचना वाले भाग मे पूर्व उत्थान मानकर इन्होने अपने अपरदन चक्र की कल्पना की है, जो कि त्रुटिपूर्ण है।

3 सबसे अधिक आपत्ति डेविस द्वारा वर्णित स्थलखण्ड के उत्थान तथा अपरदन की प्रक्रिया पर उठायी जाती है। डेविस महोदय उत्थान तथा अपरदन को एक साथ सक्रिय नहीं बनाते है। स्थलखण्ड के उत्थान के पूर्ण हो जाने पर ही अपरदन प्रारम्भ होता है। प्रकृति के साम्राज्य मे यह सम्भव नही है। यह सम्भव नही है कि अपरदन उस स्थलखण्ड की तब तक प्रतीक्षा करेगा जब तक कि वह पूर्ण रूप से ऊपर उठ न जाय। इस आलोचना से बचने के लिये डेविस महोदय ने स्थल-खण्ड का कम अवधि मे त्वरित उत्थान माना है। यह उत्थान इतना शीघ्र होता है कि अपरदन उस पर सम्भव नही है। परन्तु यह तथ्य भी वास्तविकता से कोसो दूर है। होता तो यह है कि जैसे ही कोई स्थल भाग ऊपर उठने लगता है वैसे ही उस पर अपरदन के कार्य प्रारम्भ हो जाते हैं। अर्थात् उत्थान तथा अपरदन साथ-साथ प्रारम्भ होते हैं। 'चक्र' का प्रारम्भ पहले से ही उत्थित स्थल खण्ड पर अपरदन के साथ ही नहीं मानना चाहिये। अपरदन तथा उत्थान मे निश्चय ही कुछ सीमा तक अतिव्यापन (Overlapping) होता है तथा चक्र निश्चय ही सागरतली के प्रथम निर्गमन (First emergence of sea floor) अथवा स्थल खण्ड की प्रथम विरूपणकारी हलचल के साथ ही प्रारम्भ हो जाता है"।[2]

4 इसी प्रकार दूसरी आपत्ति स्थल-खण्ड के उत्थान की प्रक्रिया से सम्बन्धित है। डेविस का उत्थान त्वरित एव शीघ्र तथा अनायास होता है। यह अवधारणा आपत्तिजनक है। स्थलखण्ड का उत्थान एक लम्बी प्रक्रिया होती है, जिसके अन्तर्गत स्थलखण्ड का उत्थान न केवल लम्बी अवधि तक क्रमबद्ध रूप मे (Long continued uplift) होता है वरन् विभिन्न दर या गति मे होता है। अत डेविस की उत्थान की अवधारणा भ्रामक है।

5 डेविस के अनुसार उत्थान पूर्ण होने पर अपरदन प्रारम्भ होता है परन्तु स्थल-खण्ड का उत्थान समवत (Still stand) रहता है अर्थात् उसकी ऊँचाई मे ह्रास नही होता है। यह स्थिति समस्त युवावस्था तक रहती है। यह सम्भव नही है कि स्थलखण्ड अपरदन के लिये लम्बे समय तक स्थिर अवस्था मे (Still stand) पडा रहे।

1. "Geomorphic forms are an expression of the phase and rate of upliftment in relation to the rate of degradation"—Von Engeln, Geomorphology, Page 261.
2. "In general the cycle should not be regarded as beginning, with erosion of an already uplifted land mass. Erosion and uplift inevitably overlap to some extent and the cycle really begins with the first emergence of a seafloor, or the first movement of deformation of a land mass"—Wooldridge and Morgan.

6 उपर्युक्त आलोचनाओं के समाधान में डेविस ने बताया है कि स्थलखण्ड के पूर्व उत्थान को अपरदन-चक्र के साधारणीकरण के लिये माना गया है, अन्यथा चक्र अत्यन्त जटिल हो जाता। अपरदन-चक्र की प्रक्रिया को स्पष्ट रूप में प्रदर्शित करने के लिये ही उत्थान की विभिन्न दरों तथा दशाओं का उल्लेख नहीं किया गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि डेविस के उपर्युक्त मत की कुछ आलोचनाएँ आंशिक रूप में सत्य हैं परन्तु अधिकांश निराधार है। जर्मन विद्वानों ने प्रतिद्वन्द्विता-वश ही डेविस के मत की कटु आलोचना की है। डेविस के भौगोलिक चक्र की संकल्पना से स्थलरूपों के अध्ययन तथा वर्गीकरण में पर्याप्त सहायता मिली है। कुल मिला कर डेविस का यह सिद्धान्त भू-आकृति विज्ञान के क्षेत्र में अमूल्य योगदान है।

पेन्क की संकल्पना (Concept of Walther Penck)

सामान्य परिचय—ऊपर डेविस महोदय के भौगोलिक चक्र की व्याख्या के साथ यह उल्लेख किया जा चुका है कि जर्मन भूगोलवेत्ताओं ने डेविस की संकल्पना के विपरीत कई आपत्तियों को खड़ा किया है तथा कुछ विद्वानों ने तो इस सिद्धान्त को कल्पनातीत तथा निराधार बताया है। डेविस के **"भौगोलिक चक्र-सिद्धान्त"** के प्रमुख आलोचकों में **वाल्टर पेंक, ईवान्स, रैमसे, क्रिकमे** आदि उल्लेखनीय हैं। वर्तमान समय में तो डेविस के आलोचकों की संख्या इतनी अधिक हो गयी है कि समर्थक अल्प संख्यक हो गये हैं। इनके द्वारा की गई आलोचनाओं को दो श्रेणियों में रखा जाता है—प्रथम श्रेणी के आलोचकों में वे आते हैं, जिन्होंने डेविस की **'चक्रीय संकल्पना'** को गलत निरुद्देश्य तथा असम्भव बताया है। दूसरी श्रेणी के आलोचकों ने अपरदन-चक्र की व्याख्या दूसरे ढंग से प्रस्तुत की है। इस श्रेणी में **वाल्टर पेन्क** नामक जर्मन विद्वान अग्रणी हैं, जिन्होंने अपरदन-चक्र **को** तो स्वीकार किया है परन्तु डेविस के रूप में नहीं। अगर दोनों विद्वानों की संकल्पनाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो दोनों प्रवक्ता अलग-अलग दिशा में जाते हैं। इनके विभेदों का वर्णन आगे विस्तार के साथ किया जायेगा। वाल्टर पेन्क ने डेविस की इस संकल्पना की कटु आलोचना की है कि अपरदन का कार्य स्थलखण्ड के पूर्ण रूप से उठ जाने पर प्रारम्भ होता है तथा उत्थान त्वरित एवं थोड़े समय तक होता है। पेन्क ने डेविस की "अवस्था-संकल्पना" (Stage concept) का भी खण्डन किया है तथा बताया है कि **स्थलरूप, उत्थान की अवस्था (Phase) एवं दर (Rate of uplift) तथा निम्नीकरण (Degradation) के पारस्परिक सम्बन्धों का प्रतिफल है।** अर्थात् कितना उत्थान हुआ और कितना कटाव? इस प्रकार स्थलरूप का निर्माण उत्थान की दर तथा कटाव की दर पर आधारित होता है, न कि अवस्था पर। पेन्क ने डेविस की तीन अवस्थाओं के स्थान पर भिन्न नामावलियों का प्रयोग किया है। यह अवस्था भी तीन होती है परन्तु यह समय की द्योतक न होकर उत्थान के गति की द्योतक होती है। पेन्क ने स्थलरूप के विकास में ढाल का महत्व अत्यधिक बताया है। उपर्युक्त तीन अवस्थाओं में उत्थान तथा निम्नीकरण की विभिन्न दरों द्वारा विभिन्न प्रकार के ढालों का विकास होता है जो कि विभिन्न प्रकार के स्थलरूपों को जन्म देते हैं।

उत्थान एवं अपरदन या निम्नीकरण (Upliftment and Erosion or Degradation)--पेन्क महोदय त्वरित तथा कम समय वाले उत्थान में विश्वास नहीं करते हैं। उत्थान समान गति में न होकर विभिन्न दरों या गतियों से सम्पादित होता है। उत्थान के विषय में पेन्क ने यह माना है कि अपरदन या निम्नीकरण स्थलखण्ड के उत्थान की समाप्ति की प्रतीक्षा नहीं करता है वरन् जैसे ही स्थलखण्ड सागर तल से ऊपर उठने लगता है उस पर अपरदन का कार्य प्रारम्भ हो जाता है। यह सम्भव हो सकता है कि प्रारम्भ में उत्थान की दर इतनी अधिक हो कि अपरदन परिलक्षित न हो सके परन्तु अपरदन तथा उत्थान साथ-साथ प्रारम्भ होते हैं परन्तु कुछ समय बाद उत्थान समाप्त हो जाता है तथा अपरदन, चक्र के अन्त तक चलता है। उत्थान के विषय में दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि प्रारम्भ से अन्त तक (केवल उत्थान की अवधि के अन्त से तात्पर्य है न कि चक्र के) उत्थान समान दर या गति से नहीं होता है। प्रारम्भ में उत्थान अधिक तीव्र, बीच में समान रूप से तथा अन्त में घटती दर से सम्पन्न होता है। पेन्क महोदय ने स्थलखण्ड के उत्थान को दर के हिसाब से तीन अवस्थाओं में विभाजित किया है, तथा इन तीन अवस्थाओं में निम्नीकरण भी उत्थान की गति या दर का ही अन्धाधुन्ध अनुकरण करता है। फलस्वरूप विभिन्न ढालों का सृजन होता है, जो कि विभिन्न स्थलरूपों के परिचायक होते हैं। स्थलखण्ड के उत्थान की इन तीन अवस्थाओं को निम्न रूपों में व्यक्त किया जा सकता है—

1. आफ्सीजिन्डे (Aufsteigende) इन्ट्विक्लुंग—यह उत्थान की प्रथम अवस्था होती है, जिसके प्रारम्भ मे स्थलखण्ड धीरे-धीरे ऊपर उठने लगता है परन्तु थोड़े समय बाद ही गति अत्यधिक तीव्र हो जाती है। इसमे स्थलरूप का विकास तथा विस्तार तीव्र गति से होता है (आफ्सी जिन्डे—Waxing or accelerated, Entwickelung इंट्विकलुंग—Development).

2 आबसीजिन्डे इंट्विकलुंग—(Abstsigende Entwickelung)—यह स्थलखण्ड के उत्थान की अन्तिम अवस्था होती है जिसमे उत्थान मन्द गति से धीरे-धीरे ह्रासोन्मुख होता है (Absteigende Entwickelung — waning or declining development)

3. ग्लीखफार्मिग इंट्विकलुंग—(Gleichformige Entwickelung)—यह अवस्था उपर्युक्त दो अवस्थाओ के मध्य की होती है, जिस समय उत्थान समवत (Uniform and unvarying development) रहता है।

पेन्क के 'अपरदन-चक्र की व्यवस्था' मे एक और ध्यान देने योग्य बात है। पेन्क ने अपरदन चक्र के प्रारम्भ होने की आवश्यक दशा का भी उल्लेख किया है। पेन्क महोदय ने चक्र के प्रारम्भ के लिये समान संरचना वाले फैलते हुए गुम्बद को जिसमे मन्द, त्वरित, आन्तरायिक (Intermittent) तथा बढ़ी हुई गति मे या घटी हुई गति मे उत्थान हो रहा हो, आधार माना है। पुन पेन्क ने प्राइमारम्प (Primarumpf) तथा इन्ड्रम्प (Endrumpf) शब्दावलियों का भी प्रयोग किया है। प्राइमारम्प एक प्रारम्भिक समप्राय मैदान (Peneplain) का रूप होता है। यद्यपि यह ऊँचाई मे नगण्य होता है तथा अत्यधिक रूप मे निम्नीकृत (Degraded) होता है परन्तु इसमें कभी भी अधिक ऊँचाई नहीं होती है, न तो महत्वपूर्ण उच्चावच ही होता है। इस प्रकार चक्र के लिये प्राइमारम्प प्रारम्भिक "स्थाकृतिक इकाई" होता है, जिस पर विभिन्न दर से उत्थान तथा निम्नीकरण द्वारा स्थलरूपों का विकास होता है। इन्ड्रम्प चक्र का अन्तिम रूप होता है, जिसकी समता डेविस के पेनीप्लेन या "समप्राय मैदान" से की जा सकती है। यद्यपि "प्राइमारम्प" तथा "इन्ड्रम्प" उच्चावच तथा ऊँचाई की दृष्टि से प्राय समान होते है परन्तु यदि प्रथम, अपरदन चक्र के प्रारम्भिक अवस्था का द्योतक है तो दूसरा, अन्तिम अवस्था का। पेन्क ने इन दोनों मे सूक्ष्म अन्तर भी स्थापित किया है। प्राइमारम्प मे ढाल उत्तल तथा इन्ड्रम्प मे ढाल अवतल होता है। यदि चक्र की समाप्ति इन्ड्रम्प मे हो गई है तो पुन दूसरे चक्र के प्रारम्भ होने के लिये यह आवश्यक है कि इन्ड्रम्प मे मन्द उत्थान हो तथा वह प्राइमारम्प मे परिवर्तित हो जाय। पेन्क के स्थलरूपो के विकास सम्बन्धित सिद्धान्त की विशद तथा सम्यक् व्याख्या के लिए देखिये इस पुस्तक के द्वितीय अध्याय के पृष्ठ 45-47 तथा अध्याय 17 (ढाल विश्लेषण)।

पेन्क के चक्र का ग्राफ द्वारा प्रदर्शन—निचले रेखाचित्र द्वारा पेन्क द्वारा वर्णित उत्थान तथा निम्नीकरण की क्रिया का प्रदर्शन दो वक्रों द्वारा किया जा रहा है। इसमे U C. (Upper curve) ऊपरी वक्र अर्थात् अधिकतम ऊँचाई या औसत ऊँचाई (Absolute height) को प्रदर्शित करता है तथा L C. (Lower curve) निचले वक्र या निचले भाग की औसत ऊँचाई या घाटी तलों को प्रदर्शित करता है। 'क-ख' रेखा के सहारे अपरदन-चक्र का समय तथा 'क-ग' रेखा के सहारे स्थलखण्ड की ऊँचाई को प्रदर्शित किया गया है। 'क-ख' रेखा अपरदन के आधारतल (Base level) को भी प्रदर्शित करती है जो कि सागर-तल के बराबर है। ब क^1, य क^2, र क^3, ब क^4, विभिन्न प्रावस्थाओं मे उच्चावच की मात्रा को प्रदर्शित करती है। समस्त चक्र को पाँच विभिन्न प्रावस्थाओं मे विभक्त किया गया है। अब 'क' स्थान पर प्राइमारम्प का उत्थान होना प्रारम्भ होता है तथा उसके साथ ही साथ अपरदन भी प्रारम्भ हो जाता है। उत्थान की दर बदलती रहती है तथा अपरदन भी उत्थान की दर का ही अनुसरण करता हुआ चलता है। अपरदन-चक्र को निम्न पाँच प्रावस्थाओ मे प्रदर्शित किया जा सकता है। यहाँ पर इन प्रावस्थाओ का तात्पर्य 'Stage' से कदापि नही है वरन् इनका मतलब उच्चावच मे विकास की दशाओं मे है अर्थात् विभिन्न दशाओं मे उत्थान की गति तथा निम्नो-



चित्र 177—पेन्क के अपरदन-चक्र का ग्राफ द्वारा प्रदर्शन।

करण की दर के सम्बन्ध का उच्चावच के विकास पर क्या प्रभाव पडता है। पेंक द्वारा उच्चावच के विकास को निम्न पाँच दशाओं मे समझाया जा सकता है—

1. **प्रथम दशा**—'क' स्थान से प्राइमारम्प के उत्थान के साथ ही साथ अपरदन कार्य भी प्रारम्भ हो जाता है। स्थल खण्ड के उठने की गति समान नही है। ऊपरी वक्र (U. C) का उत्थान निचले वक्र (L C) की अपेक्षा तेज गति से हो रहा है, परन्तु उत्थान के विपरीत अपरदन दोनो वक्रो पर समान गति से सम्पन्न होता है। अपरदन की अपेक्षा उत्थान अधिक है। अतः स्थलखण्ड की सामान्य ऊँचाई निरन्तर बढती जाती है। नदियो द्वारा निम्न कटाव उत्थान का साथ नही दे पाता है वरन् पीछे छूट जाता है। इस कारण निरपेक्ष ऊँचाई (Absolute height परम ऊँचाई) तथा उच्चावच दोनो वृद्धि को प्राप्त होते हैं। यद्यपि ऊपरी वक्र पर अपरदन होता है, परन्तु दोआब-चोटियाँ (Interfluves summits or divide summits) अपरदन से प्रभावित नही होती है, अतः स्थलखण्ड के निरन्तर उत्थान के कारण इन चोटियो की ऊँचाई बढती जाती है। ब अ' रेखा इस दशा की अन्तिम सीमा को प्रदर्शित करती है।

2 **द्वितीय दशा**—द्वितीय दशा मे भी उत्थान सक्रिय रहता है परन्तु इस बार दोनों वक्रो पर समान उत्थान होता है। इसी प्रकार अपरदन भी ऊपरी तथा निचले भाग अर्थात् दोनों वक्रो पर समान दर से चलता है, परन्तु अपरदन की मात्रा, उत्थान की मात्रा से कम होती है अतः निरपेक्ष ऊँचाई बढती जाती है परन्तु मन्द गति से। इस अवस्था मे घाटी के निम्न कटाव के साथ ही साथ क्षैतिज कटाव द्वारा घाटी की चौडाई भी बढती जाती है। फलस्वरूप दोआब की चोटियाँ नुकीली होती है। उपर्युक्त दशाओ के कारण निम्न प्रतिफल प्राप्त होते है—

(i) निरपेक्ष ऊँचाई बढती जाती है, क्योंकि उत्थान की दर, अपरदन की दर से अधिक है।

(ii) उच्चावच समवत या स्थिर रहता है, क्योंकि दोनो वक्रो पर अपरदन तथा उत्थान की दर समान है।

(iii) ऊपरी तथा निचले वक्र समानान्तर होते है, क्योंकि दोनो वक्रो का अपरदन तथा उत्थान बराबर है।

(iv) यद्यपि दोनो वक्र समानान्तर हैं परन्तु क्षैतिज अवस्था मे नही है, क्योंकि स्थलखण्ड पर उठ रहे हैं।

3 **तृतीय दशा**—तृतीय अवस्था मे भी स्थल-खण्ड का उत्थान सक्रिय रहता है, परन्तु इस बार अपरदन की मात्रा उत्थान की दर के समान होती है अतः निरपेक्ष ऊँचाई मे वृद्धि नही होती है, वरन् वह स्थिर या समवत रहती है। दोनो वक्रो पर उत्थान की मात्रा समान होती है। इस बार नदी द्वारा निम्न कटाव स्थल के ऊपर उठने की दर के बराबर होता है। अतः न तो निरपेक्ष ऊँचाई बढ पाती है और न तो उच्चावच मे ही अन्तर हो पाता है। निरपेक्ष ऊँचाई तथा उच्चावच दोनो समवत या स्थिर रहते हैं। इस दशा मे निम्न परिणाम होते हैं—

(i) निरपेक्ष ऊँचाई स्थिर होती है।	क्योंकि उत्थान तथा अपरदन समान होते है।
(ii) उच्चावच स्थिर होता है।	क्योंकि दोआब की चोटियो से अपरदन द्वारा नीचा होने की दर, घाटी के गहरा होने की दर के बराबर होती अर्थात् दोनों वक्रों पर समान दर से कटाव होता है।
(iii) उपर्युक्त दा परिणामो के कारण दोनो वक्र समानान्तर होते हैं।	क्योंकि दोनों वक्रो का उत्थान तथा अपरदन बराबर है।
(iv) इस बार ऊपरी तथा निचले वक्र समानान्तर होने के साथ ही साथ क्षैतिज-अवस्था मे होते हैं।	क्योंकि अपरदन की दर तथा उत्थान की दर मे सामजस्य स्थापित हो जाता है। अर्थात उत्थान तथा अपरदन की दरें बराबर होती है।

इस दशा की अन्तिम सीमा र ब' रेखा द्वारा प्रदर्शित होती है।

4. **चतुर्थ दशा**—तृतीय अवस्था के समापन के बाद स्थल-खण्ड का उत्थान समाप्त हो जाता है परन्तु अपरदन अब भी दो वक्रो पर (क्षैतिज तथा निम्न कटाव) सक्रिय रहता है। उत्थान के समाप्त हो जाने के कारण अपरदन का कार्य अधिक तेज रफ्तार से सम्पन्न होता है तथा जिस गति से दोआब की चोटियों का कटाव होता है तथा उनकी ऊँचाई मे ह्रास होता है उसी गति से घाटियो का निम्न कटाव होता है। चूँकि उत्थान रुक गया है तथा अपरदन और अधिक सक्रिय हो गया है,

अत निरपेक्ष ऊँचाई तेजी मे कम होती है परन्तु उच्चावच अब भी स्थिर रहता है, क्योकि दोनो वक्रो पर कटाव की मात्रा समान है। इस प्रकार दोनो वक्र समान कटाव के कारण समान दर से ऊँचाई मे कम होते है। चूंकि दोनो वक्रो पर अपरदन समान है, उत्थान दोनो पर नही है तथा उच्चावच स्थिर है, अतः दोनो वक्र एक दूसरे के समानातर होते हैं, परन्तु क्षैतिज अवस्था मे नही होते क्योकि उत्थान के अभाव मे अपरदन के कारण निरपेक्ष ऊँचाई मे तीव्र गति मे ह्रास होता है।

5 **पंचम दशा**—पाँचवीं तथा अन्तिम अवस्था मे निम्न कटाव मन्द पड जाता है, अर्थात् नदियो की घाटियो का गहरा होना रुक जाता है तथा क्षैतिज कटाव अर्थात् नदियो की चौडाई का विस्तार होने लगता है। जलविभाजक तथा दोआब की चोटियो तथा कटको का अपरदन तीव्र हो जाता है, जिस कारण ऊँचाई कम होती जाती है। उनका आकार घिस कर गोल होता रहता है। चूं कि क्षैतिज कटाव अधिक सक्रिय है, अत ऊपरी वक्र का पतन निचले वक्र से अधिक तेज गति से होता है। इस प्रकार निरपेक्ष ऊँचाई तथा उच्चावच दोनो मे निरन्तर ह्रास होता जाता है। कुछ समय तथा दूरी के बाद उच्चावच पूर्णरूप से अदृश्य हो जाता है तथा स्थलखण्ड आकृतिविहीन निम्न भाग (featureless low land) के रूप मे परिवर्तित हो जाता है। इसका पेन्क ने **'इण्ड्रम्प'** नामकरण किया है। उपर्युक्त पाँचो दशाओ मे घटित उत्थान, उच्चावच तथा निरपेक्ष ऊँचाई का सक्षिप्त रूप निम्न रूप मे प्रस्तुत किया जा सकता है—

	उत्थान	निरपेक्ष ऊँचाई	उच्चावच
प्रथम दशा—	उत्थान सक्रिय	बढती है।	बढता है।
द्वितीय दशा—	"	"	स्थिर है।
तृतीय दशा—	"	स्थिर है।	स्थिर है।
चतुर्थ दशा—	उत्थान समाप्त	घटती है।	स्थिर है।
पचम दशा—	,,	तीव्र गति से घटती है।	घटता है।

निष्कर्ष—उच्चावच केवल प्रथम दशा मे बढता है, द्वितीय, तृतीय, तथा चतुर्थ दशाओ मे स्थिर है, तथा अन्तिम दशा मे घटता है। उत्थान तथा निरपेक्ष ऊँचाई मे सीधा सम्बन्ध है। इससे प्रकट होता है कि उत्थान का अपरदन अन्धाधुन्ध अनुकरण करता है। परन्तु यह एक नियम का रूप धारण नही कर सकता है, क्योकि कही-कही पर असमानताएँ भी मिलती है।

एक सीमा के बाद उत्थान रुक जाता है तथा वहाँ से स्थलखड का पतन (Falling) होने लगता है, जैसा कि उपर्युक्त चित्र 177 से स्पष्ट है। र फ[2] के बाद उत्थान समाप्त हो जाता है। उत्थान तथा अपरदन द्वारा विभिन्न दशाओ मे विशेष प्रकार के ढालो का निर्माण होता है जो कि स्थलरूप के विकास का कारण बनता है। पेन्क के अनुसार स्थलरूपो का निर्माण ढालो से होता है। पेन्क ने स्थलखंड के उत्थान की दर के हिसाब से तीन अवस्थाओ का उल्लेख किया है जिनमे विभिन्न प्रकार के ढालो के निर्माण के कारण विभिन्न प्रकार के स्थलरूपो का निर्माण होता है। इन तीनों दशाओं का सक्षिप्त उल्लेख आवश्यक है—

(i) **आफस्तीजिन्डे इंट्विकलुंग** (Aufsteigende Entwickelung)—यह स्थलखड के तीव्र उत्थान की अवस्था होती है। इस अवस्था मे उच्चावच तथा निरपेक्ष ऊँचाई दोनो मे वृद्धि होती है, क्योकि कटाव से उत्थान अधिक होता है। घाटी की तलहटी मे दोआब-शिखर के बीच की लम्बवत् (ऊर्ध्वाकार) ऊँचाई मे पर्याप्त वृद्धि होती है। घाटी का ढाल उत्तल होता है।

(ii) **ग्लीखफार्मिग इंट्विकलुंग** (Gleichformige Entwickelung)—इसमे उत्थान समान गति से होता है। फलस्वरूप उत्पन्न ढाल सीधी रेखाओ वाले होते हैं। इसमे निरपेक्ष ऊँचाई सर्वाधिक होती है, परन्तु उच्चावच स्थिर होता है, क्योकि घाटी का निम्न कटाव तथा दोआब-शिखर का कटाव समान दर से होता है।

(iii) **आवस्तीजिन्डे इंट्विकलुंग** (Absteigende Entwickelung)—यह स्थलखंड के उत्थान की अतिम अवस्था होती है जिसमे स्थलखड का पतन होता है, क्योकि अपरदन अधिक होता है। मुख्य नदी *प्रवणित* अवस्था मे पहुँच जाती है। घाटी का निम्न कटाव समाप्त हो जाता है। गुरुत्व-ढालो (Gravity slopes—originally in Gernam Bosch ungen) का विकास होता है। दोआब-शिखर (Interfluves summits) की ऊँचाई मे पर्याप्त ह्रास होता है। क्षैतिज कटाव द्वारा गुरुत्व-ढाल पीछे की ओर खिमकते है जिसमे उनके आधार (Base) पर वाश ढाल (Wash slopes) का निर्माण होता है। घाटियो का ढाल अवतल होता है। अन्त मे गुरुत्व-ढाल घिसकर इन्सेलबर्ग मे परिणत हो जाते है। अन्त मे जब वाश ढाल (Wash slope—Haldenhauge) प्रतिच्छेदन (Intersection) करने लगते है

अर्थात् एक दूसरे मे मिलने लगते है तो "इण्ड्रम्फ" (Endrumpf) की अवस्था (Davis—peneplain) आ जाती है। इस प्रकार यदि ध्यान से देखा जाय तो ढाल के विकास पर अधिक बल दिया गया है। प्रथम अवस्था मे उत्तल, द्वितीय अवस्था मे सीधी रेखा वाला (Slopes with straight lines) तथा अन्तिम अवस्था में अवतल ढाल का विकास होता है।

पेन्क के अन्य अपरदन चक्र—पेन्क ने उत्थान की गति तथा कटाव की गति के सम्बन्ध मे कई "संयोग" (Combinations) को मान कर कई चक्रों की कल्पना की है। कई चक्रो का उल्लेख आल्पस पर्वत मे चक्र की समस्या को सुलझाने के लिए किया गया है। पेन्क महोदय ने युरोप के कई भागो का अध्ययन करके अपने महत्वपूर्ण मत का प्रतिपादन किया है। प्रथम चक्र मे पेन्क ने स्थलखण्ड के ऊपर उठने की क्रिया को एक लम्बी क्रिया माना है। यह चक्र आल्पस के मध्य भागों म सत्य प्रमाणित हुआ है परन्तु उनके सीमान्त भागो मे वह प्रमाणित नही हो पाता है अत उनके निराकरण के लिये पेन्क ने अन्य कई चक्रो का उल्लेख किया है, जिनका सक्षिप्त उल्लेख किया जा रहा है—

द्वितीय चक्र—इस चक्र मे स्थलखण्ड का यथेष्ट उत्थान थोडे समय मे हो जाता है। चूंकि पहले चक्र मे उत्थान दीर्घकालिक था, अत इस चक्र की दशायें प्रथम से पर्याप्त भिन्न होगी। इस चक्र मे दोआब-शिखर नुकीले नही हो पाते है क्योकि प्रारम्भिक अवस्था मे जब घाटियो के ढाल खडे होते है तो घाटियो का चौडा होना अधिक सक्रिय नही हो पाता है। इस प्रकार य कटकर सीधे गोलाकार रूप मे परिवर्तित हो जाते है।

तृतीय चक्र—इस चक्र मे स्थलखण्ड का उत्थान धीरे-धीरे होता है। इस दशा मे स्थलखड, जिस दर से ऊपर उठता है उतनी ही दर से घाटियो की तलहटी गहरी होती जाती है तथा घाटियो का चौडा होना, उसके गहरा होने से (क्षैतिज कटाव, लम्बवत् या निम्न कटाव से अधिक होता है) अधिक तेज रफ्तार से होता है। इस प्रकार जिस दर से चौडे दोआब (Interfluves) ऊपर उठते है उसी दर से नीचे गिरने लगते है, जिस कारण कभी भी नुकीले आकार वाले उच्चावच का आविर्भाव नहीं हो पाता है। विशेष अध्ययन के लिए देखिये अध्याय 'ढाल-विश्लेषण'।

पेंक के अपरदन चक्र का मूल्यांकन—पेन्क महोदय तथा डेविस महोदय के चक्रो की यदि तुलनात्मक दृष्टि मे व्याख्या की जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि दोनो मे महान अन्तर है। पेन्क महोदय का "चक्र" जितना पुस्तक के पृष्ठों पर दिलचस्प तथा रोचक लगता है, उतना वह वास्तविक रूप मे स्थलरूप के विकास मे सत्य सिद्ध हो सकेगा ? आशका का विषय है। यद्यपि पेन्क महोदय का स्थलखंड के उत्थान के साथ ही अपरदन की क्रिया का सक्रिय होना मानना डेविस द्वारा की गई गलती का समाधान कर देता है परन्तु पेन्क द्वारा स्थलखड के ऊपर उठने वाली घाटी के गहरे होने या स्थलखड के उत्थान की दर तथा निम्नीकरण की दर के सम्बन्ध की व्याख्या नितान्त भ्रामक है। कभी दोनों चक्र पर अपरदन बराबर है तो कभी असमान है। यह अवधारणा केवल पेन्क ने अपने मत की पुष्टि के लिए ही की है, जो कि मान्य नही है वास्तव मे पेन्क के विचार काल्पनिक अधिक है, सत्य कम। पेन्क के विचार जर्मन भाषा मे सम्पादित है, अत वर्तमान समय तक उनका पर्याप्त प्रचार भी कम हो सका है क्योकि भाषा की कठिनाई से उन्हे समझने मे कठिनाइयाँ होती हैं। निम्न पक्तियो मे डेविस तथा पेन्क के "चक्र" की तुलनात्मक व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है—

डेविस का चक्र	पेंक का चक्र
(i) डेविस के अनुसार अपरदन से पूर्व स्थलखड का उत्थान समाप्त हो जाता है अर्थात् अपरदन तथा उत्थान साथ-साथ नही चलते हैं।	(i) स्थलखड का उत्थान तथा अपरदन साथ-साथ चलते है, अर्थात् अपरदन उत्थान की समाप्ति की प्रतीक्षा नही करता है, वरन् जैसे ही स्थलखड उपर उठता है, अपरदन प्रारम्भ हो जाता है। कुछ समय बाद उत्थान समाप्त हो जाता है तथा चक्र के अन्त तक केवल अपरदन चलता है।
(ii) उत्थान का समय कम अवधि का होता है।	(ii) उत्थान का समय लम्बा भी हो सकता है, कम भी तथा मध्यवर्गीय भी।
(iii) उत्थान की गति अत्यन्त तीव्र होती है। अर्थात् छोटी अवधि	(iii) उत्थान की दर असमान होती है। कभी तीव्र गति से उत्थान होता

के अन्दर ही उत्थान समाप्त होता है।	है तो कभी मन्द गति मे।
(iv) स्थलरूप, संरचना प्रक्रम तथा अवस्थाओं का प्रतिफल होता है।	(iv) स्थलरूप उत्थान की दर के सम्बन्ध का प्रतिफल होता है।
(v) 'चक्र' का प्रारम्भ सरचनात्मक दृष्टि से विभिन्न इकाइयों पर होता है।	(v) 'चक्र' का प्रारम्भ फैलते हुए गुम्बद में उत्थान या प्राइमारम्प से होता है जो कि आरम्भ में आकृति-विहीन स्थलखड होता है।
(vi) 'चक्र" का प्रारम्भ तथा समापन तीन विभिन्न अवस्थाओं, युवावस्था, प्रौढ़ावस्था तथा जीर्णावस्था में होता है।	(vi) पेन्क ने अपरदन में युवावस्था, प्रौढ़ावस्था तथा जीर्णावस्था के स्थान में चक्रीय परिवर्तन से बचने का प्रयास किया है। अर्थात् अवस्था का उल्लेख नहीं किया है, वरन् स्थलखड के उत्थान को तीन दशाओं में दर्शाया है तथा डेविस की नामावली में विभिन्न नामावलियों का उल्लेख किया है—1. आफस्टीजिन्डे (बढ़ती गति से उत्थान) 2. ग्लीचफार्मिग (समान गति से उत्थान) तथा 3 आबस्टीजिन्डे (घटती दर से उत्थान)।
(vii) डेविस ने चक्र में अपने ढालों को प्रमुख स्थान नहीं दिया है।	(vii) पेन्क ने ढालों को प्रमुख स्थान दिया है। स्थलरूप ढालों में ही बनते हैं। उपर्युक्त तीन दशाओं में अपरदन तथा उत्थान से क्रमश, उत्तल ढाल, सीधी रेखा वाले ढाल तथा अवतल ढाल होते हैं।
(viii) डेविस के चक्र में केवल तीन दशायें होती है, जिनमें प्रथम तथा द्वितीय दशा में उच्चावच बढ़ता है तथा तीसरी दशा में घटता है। कहीं भी उच्चावच स्थिर नहीं रहता।	(viii) पेन्क के चक्र में 5 दशायें होती हैं, जिनमे केवल प्रथम दशा में उच्चावच बढ़ता है तथा द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ दशाओं में स्थिर रहता है एवं अन्त में घटता है।
(ix) अपरदन प्रथम अवस्था में नहीं होता है।	(ix) अपरदन सभी अवस्थाओं में होता है।
(x) डेविस ने चक्र की अन्तिम अवस्था की पहचान के लिए पेनीप्लेन की कल्पना की है।	(x) पेंक ने इसकी पहचान के लिए इन्ड्रम्प (Endrumpf) की कल्पना की है।

निष्कर्ष—उपर्युक्त तुलनात्मक विवरण से यह स्पष्ट हो गया है कि दोनों मतों में पर्याप्त विभेद है। इसी कारण से डेविस को 'अपरदन-चक्र' की संकल्पना का पिता या मास्टर कहा जाता है तथा पेन्क को उसका विरोधी कहा जाता है। दोनों विद्वानों के मतों के अन्तर का मुख्य कारण दोनों के कार्य-क्षेत्र में अन्तर को ही बताया जाता है। वास्तव में डेविस महोदय अमेरिका की भूपृष्ठीय सरचना में पर्याप्त अन्तर से प्रभावित हुए थे तथा इसी कारण से स्थलरूप के विकास में संरचना का प्रमुख स्थान बताया है। इसके विपरीत पेन्क महोदय मध्य यूरोप के पर्वतों की सामान्य सरचना से प्रभावित हुए थे। वास्तव में पेंक का प्रमुख उद्देश्य 'स्थलाकृतिक यूनिट' के पिछले इतिहास का उसके (स्थलाकृतिक यूनिट) तृतीय श्रेणी के उच्चावच के द्वारा ज्ञान प्राप्त करना है अर्थात् वर्तमान स्थलाकृति का पहले क्या रूप था तथा उसका भूगर्भिक इतिहास किस प्रकार का था? इस प्रकार पेंक का विचार वर्तमान से भूतकाल की ओर है। इसी कारण से पेंक की संकल्पना को रूढ़िवादी तथा भूतकाल से सम्बन्ध रखने वाली बताया जाता है जो कि "पृष्ठ दृष्टि वाली संकल्पना" (Backward looking concept) है। इसके विपरीत डेविस का प्रमुख उद्देश्य स्थल के वर्तमान रूप से है तथा स्थलरूप का सर्वप्रथम आविर्भाव वहाँ की सरचना के आधार पर प्रक्रम (process) तथा अवस्था के अनुसार होता है। इस प्रकार डेविस का मत वर्तमान

से सम्बन्धित है जो कि एक अग्रिम दृष्टि वाला (Forward looking concept) मत है।

अपरदन चक्र की आलोचना, उसमे संशोधन तथा परिमार्जन एवं अभिनव विचारों के लिए देखिये इस पुस्तक का **द्वितीय अध्याय (स्थलरूपो के विकास के सिद्धान्त)** जिसमे **डेविस** तथा पेंक के सिद्धान्तो के अलावा **किंग** का 'स्थाकृतिक सिद्धान्त', **हैक** का 'स्थाकृतिक मॉडल', **पामक्विस्ट** का 'मनिश्र सिद्धान्त', **मोरिसावा** का 'विवर्तन स्थाकृतिक मॉडल' तथा **शूम** का 'खण्डकालिक अपरदन मॉडल' पठनीय है।

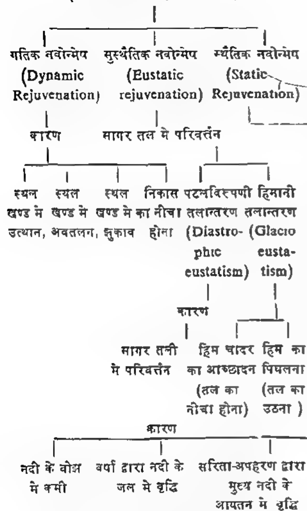
अपरदन चक्र की बाधाएँ
(Interruptions of the Cycle of Erosion)

सामान्य रूप से अपरदन के एक पूर्ण चक्र मे उभरा हुआ स्थलखण्ड अपरदन द्वारा, युवावस्था, प्रौढावस्था तथा जीर्णावस्था से होकर एक **समप्राय मैदान** (Peneplain) के रूप मे परिवर्तित हो जाता है। यह अपरदन-चक्र की सामान्य स्थिति है तथा इसका पूर्ण होना प्रकृति की दया पर निर्भर करता है अर्थात् अपरदन चक्र तभी पूर्ण हो सकता है जबकि दीर्घ भूगर्भिक काल तक **विवर्तनिक स्थिरता** (tectonic stability) रहे। दूसरे शब्दो मे, स्थलखण्ड दीर्घ काल तक स्थिर दशा मे रहे। प्रकृति शायद ही अपरदन चक्र को सामान्य रूप से पूर्ण होने देती है। चक्र की किसी भी अवस्था मे कई कारणो द्वारा बाधा (Interruption) उपस्थित हो जाती है, जिससे चक्र असतुलित हो जाता है तथा पुन नई अवस्था का सूत्रपात हो जाता है। अगर स्थलखण्ड मे सागरतल से अर्थात् **आधार तल** (Baselevel) मे ऊपर उत्थान होता है तो कई सम्भावनाएँ हो सकती हैं या तो उस अवस्था का, जिससे होकर चक्र चल रहा है, समय लम्बा हो जाय या पुन उसके पहले वाली अवस्था की पुनरावृत्ति हो जाय। इसी प्रकार स्थल-खण्ड का सागर-तल से नीचे की ओर अधोगमन होता है तो चक्र की अगली अवस्था आ जाती है तथा वह शीघ्र पूर्ण हो जाता है। कभी-कभी यह भी होता है कि चक्र दूसरी अवस्था (प्रौढावस्था) मे चल रहा होता है, परन्तु अचानक उसमे विघ्न पडने से वह तृतीय अवस्था मे न जाकर प्रथम अवस्था मे पहुँच जाता है तथा अपरदन-कार्य सर्वाधिक सक्रिय हो जाता है। इस प्रकार चक्र की किसी भी अवस्था मे बाधा उपस्थित हो सकती है। पृथ्वी की अस्थिरता के कारण प्राय चक्र मे बाधा उपस्थित हो ही जाती है। यही कारण है कि पूर्ण चक्र कम होते हैं तथा रुकावट वाले या बाधा वाले चक्र (Interrupted cycles) ही अधिक सम्भव होते हैं। इस प्रकार बाधा उपस्थित होने मे एक ही स्थान पर कई चक्र चलते हैं। एक के बाद एक चक्र के कारण उस स्थान के स्थल-स्वरूप मे पर्याप्त जटिलता आ जाती है तथा इस प्रकार के चक्र को **"बहु चक्र"** (Poly cycle) कहते हैं तथा उससे उत्पन्न स्थलाकृति को **बहुचक्रीय स्थलाकृति** (Poly cyclic landscape) कहते हैं। अगर क्रम मे उत्थान तथा अपरदन चक्र की कई बार पुनरावृत्ति होती है तथा क्रमिक रूप मे एक स्थान पर कई अपरदन-चक्र घटित होते हैं तो उसे **"उत्तरोत्तर अपरदन चक्र' या 'क्रमिक अपरदन चक्र"** (Successive cycle of erosion) कहते हैं। **अप्लेशियन** मे चार उत्तरोत्तर अपरदन-चक्र के उदाहरण मिले हैं। छोटा नागपुर पठार पर भी कई अपरदन चक्र पूर्ण हो चुके हैं। **हजारी बाग** पठार पर **राजरप्पा** के पास **दामोदर** नदी की पुरानी विस्तृत तथा चौड़ी घाटी के अन्दर नवीन सकरी तथा गहरी घाटी अपरदन चक्र के व्यवधान तथा नवोन्मेष का स्पष्ट उदाहरण है। इसी तरह **जबलपुर** के पास **नर्मदा** नदी की विस्तृत घाटी मे **धुंआधार** प्रपात के नीचे **भेड़ाघाट** का लम्बा गार्ज नवोन्मेष तथा चक्र मे व्यवधान का परिचायक है। चक्र मे बाधा उपस्थित होने का प्रमुख कारण स्थलखण्ड या प्रक्रम(Process) मे **पुनर्नवीकरण** (Rejuvenation) का होना है तथा यह **नवोन्मेष** कई कारणो से होता है।

डेविस के अनुसार अपरदन के आधार-तल, जो कि प्राय सागर-तल के बराबर होता है, मे किसी भी प्रकार का तथा किसी भी मात्रा मे परिवर्तन नये अपरदन-चक्र को जन्म दे सकता है, चाहे प्रारम्भिक चक्र पूर्ण हुआ हो या नही। यद्यपि अपरदन-चक्र को समय के रूप मे व्यक्त करना कठिन कार्य है तथा न्यायसगत नही है तथापि किसी स्थान विशेष मे वास्तविक चक्र की अवधि का **रेडियो सक्रिय तिथिकरण** (Radio active dating) द्वारा सामान्य बोध हो सकता है। इस प्रकार मे दो बाधा या रुकावटो के बीच वाले समय को **'उप-चक्र'** (Sub cycle) कहते हैं। चक्र मे रुकावट डालने वाली घटनाओ को दो श्रेणियो मे विभाजित किया जाता है—
1. आधार तल मे सामान्य परिवर्तन की स्थिति को चक्र की बाधा या **रुकावट** (Interruption of cycles) कहा जाता है तथा 2 जलवायु और ज्वालामुखी सम्बन्धी परिवर्तनों को **आकस्मिक घटना** (Accident) कहा

जाता है। यहां पर इन बाधाओं का संक्षिप्त उल्लेख किया जाता है। यह स्मरणीय है कि नवोन्मेष पर ही अधिक बल दिया जायेगा।

नवोन्मेष के प्रकार तथा कारक
(Causes of Rejuvenation)



आधार तल मे परिवर्तन—आधार तल (निम्नतम तल) मे सामान्य परिवर्तन भी अपरदन की मात्रा को प्रभावित कर देता है जिससे स्थलरूप तथा प्रक्रम दोनो मे नवोन्मेष हो जाता है तथा प्रारम्भिक चक्र का उसी स्थान पर रुक जाना होता है एवं नवीन चक्र का श्रीगणेश होता है। आधार तल का परिवर्तन दो तरह का होता है—1. धनात्मक (Positive change) तथा 2. ऋणात्मक परिवर्तन (Negative change)। इनमें से प्रथम का सूत्रपात स्थल खण्ड के आधार तल या सागर तल से नीचे हो जाने से होता है तथा द्वितीय का आविर्भाव स्थल खण्ड के सागर तल से ऊपर उठने से होता है। स्पष्ट है कि धनात्मक परिवर्तन के समय सागरीय किनारे (Shore line) का प्रसार होता है, जबकि ऋणात्मक परिवर्तन के समय उसका निवर्तन (Retreat) होता है। यहां पर दोनो प्रकार के परिवर्तनो का उल्लेख किया जा रहा है।

(i) **स्थलखण्ड का उत्थान**—यदि किसी स्थान पर नदी द्वारा अपरदन-चक्र चल रहा हो तथा नदियो ने घाटी को गहरा करने के बाद क्षैतिज अपरदन द्वारा घाटियों को चौडा करना प्रारम्भ कर दिया हो, साथ ही साथ भूपृष्ठीय असमानताएँ दूर हो चली हों अर्थात् चक्र प्रथम दो अवस्थाओं को पार करके जीर्णावस्था मे प्रवेश करने वाला हो, तभी अगर अनायास ही स्थल-खण्ड मे उत्थान प्रारम्भ हो जाता है तो चक्र मे रुकावट पड जाती है तथा समस्त क्षेत्र के उत्थान के कारण नदियो मे नवोन्मेष आ जाता है, फलस्वरूप पुन. नदियो का निम्न कटाव प्रारम्भ हो जाता है तथा चक्र पुन. युवावस्था मे आ जाता है। निम्न कटाव द्वारा पुरानी घाटियों की तलैटी मे नवीन घाटियो का निर्माण होने लगता है। इस प्रकार स्थलाकृति तथा प्रक्रम (यहां पर नदी) दोनो मे नवोन्मेष आ जाता है। उपर्युक्त विवरण से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि चक्र की किसी भी अवस्था मे यदि अचानक उत्थान द्वारा आधार तल मे ऋणात्मक परिवर्तन हो जाता है तो चक्र विच्छिन्न हो जाता है एवं नवोन्मेष के कारण नूतन चक्र प्रारम्भ होता है। स्थलखण्ड का यह उत्थान महाद्वीपीय अथवा पर्वत-निर्माणकारी हलचलो द्वारा होता है।

(ii) **स्थलखण्ड का अवतलन**—अवतलन दो तरह का होता है। एक साधारण अवतलन होता है, जिसमे स्थलखण्ड का सागर-तल के नीचे धँसकना आवश्यक नही है। दूसरे प्रकार के अवतलन मे स्थल-खण्ड का अवतल सागर तल से नीचे हो जाता है। इसे आधार-तल का धनात्मक परिवर्तन कहते है। यहां पर हम साधारण अवतलन का उल्लेख कर रहे है। अगर किसी स्थान विशेष मे चक्र अपनी प्रौढावस्था मे चल रहा है तथा उसी समय यदि स्थलखण्ड अचानक अवतलित होकर नीचा होकर समीपस्थ स्थलखण्ड के बराबर हो जाता है तो चक्र की अवधि कम हो जाती है तथा शीघ्र ही जीर्णावस्था आ जाती है एवं चक्र समाप्त हो जाता है।

छोटानागपुर पठार पर इस तरह के स्थलखण्ड के उत्पादन द्वारा नवोन्मेष के कई उदाहरण मिलते हैं। **जुरैसिक** युग के अन्त तक छोटानागपुर पठार पर विस्तृत अपरदन सतह का विकास हो गया था। **क्रीटैसियस** युग में **राँची पठार** तथा पालामऊ उच्च भाग के पश्चिमी सीमान्त भाग पर **दकन** लावा की 152.4 मीटर (500 फीट) मोटी चादर का निक्षेपण हो गया। **टर्शियरी** युग में **हिमालय पर्वतीकरण** के कारण इस भाग में भी तीन बार उत्थान की क्रियायें घटित हुईं। इनमें से एक उत्थान द्वारा **राँची पठार** तथा पालामऊ उच्च भाग का पश्चिमी भाग अन्य क्षेत्रों की तुलना में 305 मीटर (1000 फीट) ऊँचा उठ गया जिस कारण अपरदन चक्र में व्यवधान हो जाने से नवोन्मेष हो गया। उत्तरी **कोयल** नदी की सहायक नदियों पर जलप्रपात नवोन्मेष के **निक प्वाइण्ट** के परिचायक हैं (**बूढ़ा नदी** पर 142 मीटर ऊँचा **बूढ़ाघाघ** प्रपात, **गुतमघाघ** प्रपात (36.57 मी०), **घोड़ापुघरा प्रपात** (7.62 मी०), **चण्डरा** नदी पर **घगरी प्रपात** (43 मी०), **शंख** नदी पर **सदनी घाघ प्रपात** (61मी०), **कुण्डाई** नदी पर **बेतरियातंगड़ा प्रपात** (46मी०), **जोरी** नदी पर **जालिमघाघ प्रपात** (37 मी०), **घाघरा** नदी पर **निन्दीघाघ** प्रपात (45.72 मी०)।

(iii) **ज्वालामुखी-क्रिया**—ज्वालामुखी-उद्गार द्वारा लावा आदि के प्रवाह एवं पदार्थों के एकत्रीकरण द्वारा अपरदन चक्र की अवस्था की अवधि का विस्तार हो जाता है। उदाहरण के लिए यदि किसी स्थान विशेष पर नदियाँ अपने विकास की अन्तिम अवस्था में हैं तथा अपने आधार-तल को प्राप्त करके मन्थर गति से प्रवाहित हो रही है तो अचानक लावा प्रवाह के कारण उनके मार्ग में बाधाएँ उपस्थित हो जाती हैं परन्तु नदियाँ इन बाधाओं को दूर करने के लिए सतत् प्रयास करेंगी। फलस्वरूप अपरदन-कार्य पुनः सक्रिय हो जायेगा तथा अपरदन-चक्र पुनः प्रौढ़ावस्था में पहुँच जायेगा, जिस कारण समतल स्थापना का समय बढ़कर लम्बा हो जायेगा। यह आधार तल का परिवर्तन भी ऋणात्मक ही है, जिससे (यद्यपि कम ही मात्रा में) नवोन्मेष अवश्य होता है।

(iv) **निकास का नीचा होना (Lowering of outlets)**—निकास का तात्पर्य उस भाग से है, जहाँ से नदियाँ निकलती हैं, जैसे झील आदि से। यदि नदियों के निकास को नीचा कर दिया जाय तो नदी में जल की मात्रा बढ़ जाती है तथा नदियों में नवोन्मेष हो जाता है। फलस्वरूप अपरदन की मात्रा बढ़ जाती है। इस घटना का सर्वोत्तम उदाहरण **ईरी झील** तथा उससे निकलने वाली नदियों से दिया जा सकता है। ईरी झील का जल तल उससे निकलने वाली नदियों के लिए स्थानीय आधारतल का कार्य करता है। इस झील से **नियाग्रा नदी** निकलकर **नियाग्रा प्रपात** का निर्माण करती है। पृष्ठवर्ती कटाव द्वारा (Backward cutting) नियाग्रा प्रपात एक मीटर की दर से पीछे की ओर अर्थात् ईरी झील की ओर खिसक रहा है। वर्तमान समय में नियाग्रा नदी प्रपात के ऊपर से प्रवाहित होती है। यदि यही दशा चलती रही तो एक निश्चित समय में नियाग्रा प्रपात समाप्त हो जायेगा तथा यह क्रिया अचानक होगी जिस कारण नियाग्रा नदी का निकास अचानक नीचा हो जायेगा। फलस्वरूप ईरी का अधिकांश जल नियाग्रा में बहने लगेगा। नियाग्रा नदी में नवोन्मेष आ जायेगा, जिससे घाटी की तली का निम्न कटाव प्रारम्भ हो जायेगा। इस स्थिति के कारण झील के पास युवावस्था वाली स्थलाकृति होगी परन्तु घाटी के ऊपरी भाग में पुरानी स्थलाकृति होगी इस प्रकार **"स्थलाकृतिक विषय विन्यास"** (Topographic unconformity) का सृजन होता है।

(v) **सागर-तल में परिवर्तन**—सागर तल में चढ़ाव (Rise) और उतार (Fall) एक व्यापक घटना होती है, जिसमें प्रायः सारे ग्लोब पर प्रभाव पड़ता है यद्यपि यह प्रभाव सर्वत्र समान नहीं होता है। इसकी सर्वव्यापकता के कारण ही इस घटना को **युस्टैटिक** गति (Eustatic movement) कहते हैं। इसके विपरीत स्थल-खण्ड के उत्थान की घटना स्थानीय होती है। सागर-तल का ऊपर उठना तथा नीचे गिरना हिमानीकरण के फलस्वरूप क्रमशः हिमचादर के पिघलने तथा फैलने के कारण होता है। सागर-तल में परिवर्तन के कारण आधार-तल में परिवर्तन और नदियों के अपरदनात्मक कार्य में पर्याप्त परिवर्तन होते हैं। चूँकि अधिकांश नदियों का स्थायी आधार तल, सागर-तल ही होता है, अतः सागर-तल में परिवर्तन, नदियों के कार्य को प्रभावित करता है। सागर-तल का नीचा होना अधिक महत्वपूर्ण होता है। हिमानीकरण के समय जब हिम युगों का आगमन होता है तो सागर का अधिकांश जल हिमचादर के रूप में महाद्वीपीय भागों पर आच्छादित हो जाता है, जिस कारण सागर-तल नीचा हो जाता

है। सागर-तल के नीचा होने से नदियो मे नवोन्मेष आ जाता है एव निम्न कटाव की क्षमता बढ़ जाती है। इसके विपरीत गर्म जलवायु के आ जाने से हिमचादर पिघलने लगती है जिस कारण सागर-तल ऊपर उठने लगता है। फलस्वरूप आधार-तल के ऊपर उठने से नदियो का निम्न कटाव स्थगित हो जाता है तथा बाढ के मैदानो का निर्माण होने लगता है। **प्लीस्टोसीन हिमयुग** के समय उत्तरी अमेरिका तथा यूरोप महाद्वीपो पर चार बार हिमचादर का फैलाव तथा चार बार उनका विगलन हुआ है।[1] इनमे से प्रत्येक चादर के फैलाव के समय सागर तल मे (Fall) बड़े पैमाने पर हुआ था। हिमानीकरण द्वारा सागर-तल मे परिवर्तन के कारण कोरल रीफ तथा सागरीय कैनियन (Submarine canyons) के निर्माण हुए है। इनका उल्लेख विस्तार के साथ प्लीस्टोसीन हिमयुग के अध्याय मे किया जायेगा। **फिस्क महोदय** ने सयुक्त राज्य अमेरिका मे रेड नदी मे **चार वेदिकाओ** (Terraces) का निर्माण प्लीस्टोसीन हिमयुग मे चार बार सागर-तल मे परिवर्तन होने के कारण बताया है।

(iv) **जलवायु मे परिवर्तन**—जलवायु मे परिवर्तन के कारण अपरदन की मात्रा तथा आधार तल मे पर्याप्त अन्तर होते रहते है। यदि पृथ्वी पर जलवायु के इतिहास पर दृष्टिपात किया जाय तो स्पष्ट है कि पृथ्वी के ऊपर जलवायु मे पर्याप्त परिवर्तन हुए है। आर्द्र प्रदेश, शुष्क प्रदेश तथा पुन आर्द्र प्रदेश रह चुके है। इसी प्रकार गर्म प्रदेश ठडे तथा पुन गर्म जलवायु वाले रह चुके हैं। इस तरह से जलवायु मे परिवर्तन के कारण नदियो मे नवोन्मेष होने से चक्र मे बाधा उपस्थित होती रहती है। जलवायु सम्बन्धी परिवर्तन के कारण आधार-तल मे जब नवोन्मेष होता है तो उसे **स्थैतिक नवोन्मेष** (Static rajuvenation) कहते हैं। उदाहरण के लिए किसी आर्द्र भाग मे नदी द्वारा अपरदन-चक्र चल रहा है तथा चक्र अपनी प्रौढावस्था मे है परन्तु अचानक जलवायु शुष्क हो जाती है तथा जल की पूर्ति रुक जाती है तो चक्र मे अनायास रुकावट पड जायेगी क्योकि जल के आपेक्षित आयतन की कमी के कारण नदी का अपरदन-कार्य शिथिल पड जायेगा। इस प्रकार यदि कोई शुष्क भाग है तथा जल की पूर्ति कम है, परन्तु जलवायु के आर्द्र हो जाने पर जल की पूर्ति बढ जायेगी और नदियो मे नवोन्मेष आ जायेगा, जिससे नदी का निम्न कटाव तथा क्षैतिज कटाव दोनो बढ जायेगे। स्थैतिक नवोन्मेष का आविर्भाव तीन परिस्थितियो मे तीन विभिन्न कारणो द्वारा होता है।

(अ) **नदी की परिवहन-सामग्री की मात्रा में कमी** (**Decrease in load**)—जब तक नदी मे वहन-सामग्री अधिक होती है तब तक नदी की गति मन्द होती है तथा उसकी अपरदन की सामर्थ्य कम होती है परन्तु जैसे ही उसकी वहन-सामग्री (Load) मे कमी आती है, नदी की गति बढ जाने से उसमे नवोन्मेष आ जाता है तथा अपरदन की सामर्थ्य बढ जाती है। इस तरह नवोन्मेष हिमयुगो के बाद अधिक हुआ है, क्योकि हिमयुग के समय नदियो की घाटियो मे हिमानीकृत पदार्थों की अधिकता से नदी का बोझ (Load) बढ गया था परन्तु अन्तर्हिमयुग (Interglacial period) के समय हिम की चादर के पिघल जाने के कारण वहन-सामग्री मे ह्रास हो गया जिस कारण नदियो की घटियो का निम्न कटाव तीव्रतर हो गया। इस प्रकार घाटियो के ऊपरी भाग मे पुरानी ग्रैवेल निर्मित वेदिकाएँ पायी जाती है तथा उसके नीचे युवावस्था वाली गहरी घटियाँ मिलती है।

(ब) **अधिक जल वर्षा के कारण नदी के जल मे वृद्धि**— जब सामान्य वृष्टि मे किसी समय जल वर्षा मे अधिकता हो जाती है तो नदी के जल की मात्रा अधिक हो जाती है। फलस्वरूप नदी अपनी बढी हुई गति से वहन-सामग्री को अधिक दूरी तक ढोने मे समर्थ हो जाती है। फल यह होता है कि नदी अपने बोझ को मन्द ढालो पर भी वहन कर ले जाती है। इस स्थिति के कारण नदी की घाटी का कटाव (Incision) प्रारम्भ हो जाता है। नवोन्मेष के इस कारण पर विद्वान सहमत नही है तथा उनका कहना है कि यह एक क्षणिक एवं सामान्य स्थिति होती है। इसमे बडे पैमाने पर आधार-तल मे परिवर्तन नही हो सकता है। **शूम** ने इस तरह की स्थिति को **खण्डकालिक अपरदन** (episodic erosion) कहा है।

(स) **सरिता-अपहरण द्वारा नदी के जल मे वृद्धि**—सरिता-अपहरण की क्रिया द्वारा यह सम्भव होता है कि

1 उत्तरी अमेरिका के हिमयुग
1 नेब्रास्कन (Nebraskan) 3. इल्लीन्वायन (Illinoin)
2. कन्सान (Kansan) 4. विस्कासिन (Wisconcin)

यूरोप के हिमयुग
1. गुज (Gunz) 3. रिस (Riss)
2 मिडल (Mindel) 4. वुर्म (Wurm)

एक नदी अन्य नदियों के जल को अपनी ओर खींच ले। इस क्रिया के कारण नदी मे जल की मात्रा अनायास ही बढ जाती है तथा नवोन्मेष के कारण घाटी का निम्न कटाव तीव्रतर हो जाता है। ओहियो नदी इसका प्रमुख उदाहरण है। हिमयुग के पहले ओहियो नदी वर्तमान समय की अपेक्षा अत्यन्त छोटी थी। परन्तु हिमयुग के बाद इस नदी के ऊपरी भाग मे **कनवाहा** (Kanwaha), **मोननगेहेला** (Monongehela) तथा **अलेघनी** (Alleghney) नदियों की प्रवाह-प्रणाली के सम्मिलन के कारण निचली ओहियो मे जल की मात्रा इतनी अधिक बढ गयी है कि निम्न कटाव द्वारा उसकी पहले वाली घाटी मे 30 मीटर का निम्न कटाव हो गया, जिससे घाटी गहरी हो गयी है।

नवोन्मेष द्वारा उत्पन्न स्थलाकृति

(Topography due to Rejuvenation)

1 स्थलाकृतिक **विसगति**—जब किसी स्थलखण्ड विशेष पर अपरदन-चक्र मे नवोन्मेष द्वारा विघ्न पड़ता है तो कई प्रकार की विषम स्थलाकृतियो का आविर्भाव होता है। इस प्रकार की स्थलाकृति को '**विषमविन्यास**'' (Unconformity) या **स्थलाकृतिक विसंगति**' (Topographic discordance) कहते है। दूसरे शब्दो म नवोन्मेष के कारण घाटी के ऊपरी भाग म तथा उसके समीपस्थ भागो एव घाटी के निचले भागो मे स्थलाकृतिक समानता नही पाई जाती है। घाटी का ऊपरी भाग या तो प्रौढावस्था की दशा प्रस्तुत करता है या जीर्णावस्था की परन्तु घाटी के निचले भाग मे युवावस्था के लक्षण मिलते हैं। यदि प्रारम्भिक चक्र मे नदी अपनी प्रौढावस्था को पार करके जीर्णावस्था मे पहुँच गई थी तो क्षैतिज कटाव द्वारा उसकी घाटी पर्याप्त रूप मे चौडी हो गयी होगी परन्तु नवोन्मेष के चक्र मे परिवर्तन हो जाता है तथा उसका निम्न कटाव बढ जाता है जिस कारण प्रारम्भिक चौडी घाटी मे छोटी घाटी का निर्माण हो जाता है। इस प्रकार की स्थलाकृति को "**घाटी के अन्दर घाटी**" (Valley in Valley) या '**दो तल्ले वाली घाटी**'' (Two storey valley), "**दो चक्रीय घाटी** (Two cycle valley) आदि कहते हैं। इन दो घाटियों अर्थात् ऊपर पुरानी तथा नीचे नवीन घाटी का अलगाव ढाल मे असम्बद्धता द्वारा होता है। **हजारी बाग पठार** पर **राजरप्पा** के पास **दामोदर** नदी की घाटी स्थलाकृतिक विसंगति की परिचायिका है। यहाँ पर दो तल्ले वाली घाटी का खूबसूरत उदाहरण मिलता है। टर्शियरी युग मे उत्थान के पूर्व दामोदर नदी ने अपनी चौड़ी, विस्तृत तथा उथली घाटी का निर्माण कर लिया था। टर्शियरी युग मे **हिमालय पर्वतोकरण** के परिणामस्वरूप इस भाग मे उत्थान के कारण दामोदर नदी मे नवोन्मेष हो गया, जिस कारण दामोदर नदी ने अपनी पुरानी घाटी के अन्दर नवीन सकरी तथा तग घाटी का निर्माण किया है। भेड़ा नदी जलप्रपात बनाती दामोदर नदी मे गिरती है। इस प्रकार भेडा नदी की घाटी **लटकती घाटी** का उदाहरण है। इसी तरह की स्थलाकृतिक विसगति तथा **घाटी के अन्दर घाटी** का उदाहरण जबलपुर के पास **धुँआधार प्रपात** के नीचे नर्मदा नदी की घाटी मे भी मिलता है। यहाँ पर स्मरणीय है कि *कई बार नवोन्मेष के कारण घाटी के अन्दर घाटी का* क्रमश विकास हो जाता है तथा इनका आकार सोपानाकार होता है। इन सोपानाकार घाटियो के सोपानाकार किनारो को चट्टानी सरचना द्वारा निर्मित नदी की "**सोपानाकार वेदिकाओं**'' (Bench like terraces) से अलग ही समझना चाहिये। नवोन्मेष द्वारा निर्मित वेदिकाओ का '**शैल सस्तर वेदिकायें**'' (Bed rock terraces) कहते है जब कि प्रतिरोधी चट्टानो (Resistant rocks) द्वारा निर्मित वेदिकाओ को "**सरचनात्मक सोपान**' (Structural benches) कहते हैं। नवोन्मेष द्वारा निर्मित अन्य स्थलाकृतियो को निम्न रूप मे व्यक्त किया जा सकता है।

2 उत्थित समप्राय मैदान—यदि किसी स्थान विशेष पर वर्तमान समय के समप्राय मैदान (Peneplain) के ऊपर प्राचीन समप्राय मैदान परिलक्षित होते हैं तो उनमे उस भाग का नवोन्मेष साफ स्पष्ट हो जाता है। प्राय ऐसा होता है कि एक स्थल खण्ड विशेष पर प्रथम चक्र की समाप्ति के समय निर्मित समप्राय मैदान का उत्थान हो जाता है तथा नदियो मे नवोन्मेष आ जाता है, जिस कारण द्वितीय चक्र प्रारम्भ हो जाता है तथा प्रथम पेनेप्लेन से नीचे द्वितीय पेनेप्लेन का निर्माण होता है। इस प्रकार उपर्युक्त क्रिया की पुनरावृत्ति के कारण कई समप्राय मैदान का निर्माण हो जाता है, जो कि निश्चय ही एक दूसरे से अलग किये जा सकते हैं। वास्तव मे यह "**उत्तरोत्तर अपरदन चक्र**'' (Successive cycle) का उदाहरण है, जिसके अन्तर्गत एक चक्र के समापन के बाद उत्थान हो जाता है तथा पुन: द्वितीय चक्र प्रारम्भ हो

जाता है। इस प्रकार क्रम से एक चक्र के बाद दूसरे चक्र के चलने की *क्रिया को* **उत्तरोत्तर अपरदन चक्र** कहा जाता है। इस प्रकार के चक्र के लिए वे सभी दशायें आवश्यक हैं, जिनका उल्लेख नवोन्मेष के कारण तथा उसके सारणी रूप में प्रदर्शन के समय किया जा चुका है। उत्तरोत्तर अपरदन चक्र द्वारा उत्थित कई समप्राय मैदानों के उदाहरण प्राय: हर महाद्वीप में मिलते हैं। उदाहरण के लिए **अप्लेशियन क्षेत्र** में ऊपर से नीचे *अथवा प्राचीन से वर्तमान समय के निम्न पेनीप्लेन पाये* जाते हैं—

1—स्कूली पेनीप्लेन (Schoolely Peneplain after Schooley Mountains)

2—हैरिसबर्ग पेनीप्लेन (Harrisburg Peneplain after Harrisburg Mountain)

3—सामरविली पेनीप्लेन (Samerville Peneplain)

रांची पठार का पश्चिमी उच्च प्रदेश (पाट-प्रदेश) उत्थित समप्राय मैदान का प्रमुख उदाहरण है। यह प्रदेश मध्य रांची पठार (*610* मीटर) से 305 मीटर (पश्चिमी उच्च प्रदेश की 915 मीटर सतह के ऊपर भी 154 मीटर मोटी क्रीटैसियस युगीन लावा की परत है) ऊँचा है। क्रीटैसियस लावा-प्रवाह के पूर्व समस्त रांची पठार एक विस्तृत समतल सतह के रूप में परिवर्तित हो गया था। तदन्तर **टर्शियरी युग** में इस पश्चिमी पाट प्रदेश का 305 मीटर तक उत्थान हो गया। परिणाम स्वरूप इस प्रदेश की *915* मीटर की सतह उत्थित समप्राय मैदान का उदाहरण है। उत्तरी कोयल नदी तथा उसकी सहायक नदियों ने इस प्रदेश को निम्नवर्ती अपरदन द्वारा कई सपाट सतह वाले लघु भागों में विभक्त कर दिया है जिन्हें स्थानीय भाषा में पाट (Pat) कहते हैं—जैसे नेतरहाट पाट, खमार पाट, रुदनी पाट जमीरा पाट, रुद्रासो पाट, बागरू पाट आदि। इन मेसा या पाट के किनारे तीव्र ढाल वाले हैं।

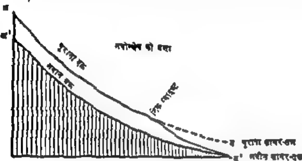
3. **अधःकर्तित विसर्प** (Incised Meanders)—"भू-आकृति विज्ञान" में विसर्प (Meanders) की पाँच *नामावलियों का प्रयोग किया जाता है तथा ये एक दूसरे से इतने समीप हैं तथा उनमें इतनी समता है कि उनको* अलग करना कठिन कार्य है। इन नामावलियों का प्रयोग विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से अलग-अलग रूप में किया है। ये पाँच शब्द इस प्रकार हैं—1. Incised meanders, 2 Entrenched meanders, 3. Intrenched meanders, 4. Inclosed *meanders* तथा 5 Ingrown meanders। जीर्णावस्था में नदी कम गति तथा कम ढाल के कारण सीधे मार्ग में न प्रवाहित होकर टेढ़े-मेढ़े मार्ग में होकर बल खाती हुई चलती है। नदी के इन मोड़ों को विसर्प कहते हैं। प्रथम चक्र में नदी चौड़े विसर्पों का निर्माण करती है तथा यदि इस अवस्था में उस स्थल का उत्थान हो जाय तो नदी में नवोन्मेष *हो जाता है, जिस कारण वह पुराने चौड़े विसर्प के* अन्दर निम्न कटाव द्वारा दूसरे सँकरे तथा गहरे विसर्प का निर्माण करती है। इन्हें अधःकर्तित विसर्प (Incised meanders) कहते हैं।

दक्षिणी रांची पठार की दक्षिणी सीमा (सिंहभूमि के साथ) पर कारो नदी पर स्थित फेरुआघाघ प्रपात (18 28 मीटर) के नीचे विसर्पित घाटी पायी जाती है *जिसमें अधःकर्तन द्वारा गार्ज एवं अधःकर्तित विसर्प का* निर्माण हुआ है। टर्शियरी युग में उत्थान के कारण नवोन्मेष होने से अधःकर्तित विसर्प का निर्माण हुआ है।

रजरप्पा के पास (हजारी बाग पठार) **दामोदर नदी** का गार्ज अधःकर्तित विसर्प का प्रमुख उदाहरण है। संगमरमर शैलश्रेणी में **नर्मदा** नदी का भेड़ाघाट गार्ज *अधःकर्तित विसर्प का सबसे प्रभावी तथा स्वरूप्य उदाहरण है।*

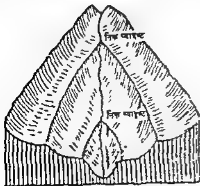
4 **निक प्वाइन्ट** (Knick point)—प्रत्येक नदी के उद्गम स्थल से मुहाने तक के मार्ग को एक चक्र कहा जाता है। नदी का आधार तल या कटाव की अन्तिम सीमा सागर-तल से निश्चित होती है। नदी के इस मुहाने से उद्गम-स्थल वाले वक्र या घाटी को **अनुदैर्ध्य परिच्छेदिका** (*Long profile*) *तथा* घाटी के चौड़ाई वाले भाग को **अनुप्रस्थ परिच्छेदिका** (Transverse profile) कहते हैं। जब नदी अपरदन द्वारा अपने आधार-तल को प्राप्त हो जाती है तो उसे प्रवणित नदी (Graded river) कहते हैं। नदी का आधारतल वक्र के रूप में होता है। जब नदी के आधारतल में ऋणात्मक परिवर्तन होता है। अर्थात् सागर-तल नीचे चला जाता है या मार्ग में स्थल खण्ड में उत्थान हो जाता है तो नदी में नवोन्मेष आ जाता है तथा नदी अपने नये आधार-तल से सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयास करने लगती है (नया आधार-तल अब नये सागर तल के बराबर होता है)। फलस्वरूप नदी के एक नये चक्र का निर्माण हो जाता

है क्योकि पहले आधार-तल मे परिवर्तन हो चुका है चूंकि इस बार आधार-तल मे ऋणात्मक परिवर्तन हुआ है अत. नया आधार-तल, प्रारम्भिक आधार-तल अर्थात् नया वक्र पहले वक्र से नीचा होता है। नवोन्मेष के कारण नदी का शीर्ष की ओर अपरदन (Headward erosion) होने से नया वक्र पुराने वक्र की स्थानापूर्ति करता रहता है। जहाँ पर दोनो वक्र मिलते हैं वहाँ पर ढाल मे अचानक अन्तर आ जाता है क्योकि पहले वक्र मे दूसरा वक्र नीचा होता है। इस ढाल-परिवर्तन वाले स्थान को निक प्वाइन्ट (Knick Point) कहते हैं। जैसे-जैसे शीर्षवर्ती अपरदन होता है। वैसे-वैसे नया वक्र भी पीछे हटता जाता है, जिस कारण निक प्वाइन्ट भी निरन्तर पीछे (शीर्ष) की ओर हटता जाता है।



चित्र 178—रेखा चित्र द्वारा निक प्वाइन्ट का प्रदर्शन।

निक प्वाइन्ट वास्तव मे नवोन्मेष के शीर्ष (Head of rejuvenation) को कहा जाता है। सयुक्त-राज्य अमेरिका मे ऐसे निक प्वाइन्ट के उदाहरण अप्लेशियन क्षेत्र के पीडमाण्ट तथा तटीय मैदान के मिलन-बिन्दु



चित्र 179—ब्लाक डायग्राम द्वारा निक प्वाइन्ट का प्रदर्शन

पर प्रपात-रेखा के सहारे पाये जाते हैं। सागर-तल मे ऋणात्मक परिवर्तन के कारण जब संयुक्त राज्य अमेरिका के अटलांटिक तटीय मैदानो का प्रथम निर्गमन हुआ तो आधार-तल मे परिवर्तन हो गया जिस कारण नदियों मे नवोन्मेष आ गया। फलस्वरूप नदियो ने शीघ्र ही अपना नये आधार-तल से सामजस्य तटीय मैदान मे कटाव करके कर लिया तथा प्रथम नवोन्मेष शीर्ष की स्थिति पीडमाण्ट के पूर्वी ढाल पर हुई, जिससे समस्त अप्लेशियन के सहारे उत्तर-पूर्व से दक्षिण-पश्चिम दिशा मे एक क्रमबद्ध शृखला के रूप मे प्रपात रेखा का निर्माण हो गया। निक प्वाइन्ट प्रपात के लिये उचित दशा उपस्थित कर सकते हैं, परन्तु यह स्मरण रखना होगा कि प्रतिरोधी चट्टानें निक प्वाइन्ट के पीछे हटने की गति मे कमी कर सकती हैं परन्तु ये उनके आविर्भाव का कारण कदापि नही बन सकती हैं।

राँची पठार की स्वर्णरेखा नदी पर हुण्डरूघाघ प्रपात (76.67 मीटर), गगा तथा राढ़ू नदी के सगम पर जोन्हा या गौतम धारा प्रपात (25.9 मीटर) एव कांची नदी पर दासम प्रपात (दो प्रपात 39.62 तथा 15 24 मीटर) निकप्वाइन्ट एव नवोन्मेष के शीर्ष को प्रदर्शित करते हैं। यदि मानचित्र पर इन प्रपातों की स्थितियों को देखा जाय तो ये उ० पू० से द० प० दिशा मे एक सीधी रेखा पर पड़ते हैं। इनमे उभय विशेषतायें पायी जाती हैं (सीधा लम्बवत प्रपात, खण्डित सरचना (truncated structure) प्रपात के नीचे तग तथा गहरी घाटी वाले गार्ज आदि)। ये प्रपात हर्शियरी युग के उत्थान को इगित करते हैं। प्रपातो को देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन बिन्दुओं पर उक्त नदियों मे नवोन्मेष हुआ है तथा पृष्ठवर्ती अपरदन के कारण ये प्रपात पीछे हट रहे हैं।

यदि उत्तरी कोयल नदी की सहायक बूढ़ा नदी के उद्गम से उसके उ० कोयल के साथ सगम तक अनुदैर्घ्य परिच्छेदिका का अवलोकन किया जाय तो निक प्वाइन्ट की तीन स्थितियाँ मिलती हैं तथा ये निक प्वाइन्ट जल प्रपात के रूप मे मिलते हैं जिनकी ऊँचाइयाँ उद्गम से सगम की ओर घटती जाती हैं। नदी के सबसे ऊपरी मार्ग मे बूढ़ाघाघ प्रपात (142 मीटर) प्रथम निकप्वाइन्ट को इगित करता है। यहाँ बूढ़ा नदी ने 915 मीटर (3000 फीट) ऊँचे (ग्रेनाइटनीस सरचना पर) भाग को काटकर उक्त प्रपात का निर्माण किया है। नदी के

मार्ग के मध्य भाग मे दूसरा निकप्वाइण्ट सुगावन्ध प्रपात (12.19 मी०) के रूप मे मिलता है। तीसरा निकप्वाइण्ट नदी के निचले मार्ग मे मिलता है। द० प० बिहार के रोहतास पठार से निकलकर जो नदियां (सुरा प०, सुरा पू०, दुर्गावती आदि) उत्तर की ओर बहती हैं उन पर एक रेखा के सहारे (जहाँ पर ये पठार को छोड कर उत्तरी मैदान मे प्रविष्ट होती हैं) प्रपातो के रूप मे निक्प्वाइण्ट मिलते हैं। इसमे सबसे बडा निकप्वाइण्ट औसाने नदी (जो पठार से निकलकर दक्षिण दिशा मे बहती हुई सोन नदी मे मिलती है) पर बवारीदाह (180 मीटर) प्रपात के रूप मे है।

अपरदन-चक्र की समाप्ति (Termination of cycle of Erosion) —अपरदन-चक्र पर प्रस्तुत किये गये अब तक के विवरणो से स्पष्ट हो चुका है कि चक्र के पूर्ण होने के लिये पर्याप्त समय की आवश्यकता होती है। इस बीच चक्र मे बाधा या रुकावट उपस्थित होने के बजाय उसके अचानक समाप्त हो जाने की अधिक सम्भावना रहती है। डेविस महोदय ने चक्र के इस समापन के लिये "आकस्मिक घटना" (Accident) शब्द का प्रयोग किया है। उन्होने बताया है कि जलवायु सम्बन्धी परिवर्तनो तथा ज्वालामुखी-क्रिया द्वारा अपरदन-चक्र बिना पूर्ण हुए शीघ्र समाप्त हो सकता है। स्थलखण्ड के सागर के नीचे अधोगमन (Submergence) द्वारा तथा जटिल स्थल विरूपण (Complex diastrophism) द्वारा भी चक्र का अनायास ही समापन हो सकता है परन्तु इस विचारधारा को मान्यता नही दी जा सकती है। हो सकता है ज्वालामुखी उद्गार से लावा-प्रवाह द्वारा स्थलखण्ड आच्छादित हो जाय परन्तु प्रवाह के समापन के बाद नदी पुन उस पर अपना कार्य स्थापित कर सकती है तथा चक्र पुन आरम्भ हो सकता है। इसी प्रकार आर्द्र जलवायु का शुष्क जलवायु मे परिवर्तन चक्र को समाप्त नही कर सकता वरन् नदियो के कार्य मे परिवर्तन हो सकता है।

अपरदन-चक्र की आलोचना तथा गतिक संतुलन सिद्धान्त (Dynamic Equilibrium Theory)

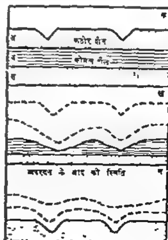
पेन्क ने यद्यपि डेविस की 'चक्रीय संकल्पना' का खण्डन किया किन्तु 'अपरदन चक्र' के अस्तित्व को स्वीकार अवश्य किया। पिछले तीन दशक मे अपरदन-चक्र की कटु आलोचना हुई है और कुछ विद्वानो ने तो अपरदन-चक्र को या तो अस्वीकार कर दिया है या कम से कम त्रिकट (संरचना, प्रक्रम तथा अवस्था) में से 'अवस्था' (समय) को अवश्य हटा दिया है। इस तरह की अतिवादी विचारधारा का उदय क्षेत्रो मे स्थलरूपो के सर्वेक्षण तथा मापन और अध्ययन का प्रतिफल है। वास्तव मे प्रारम्भिक प्रवक्ताओ ने स्थलरूपो के वास्तविक वैज्ञानिक अध्ययन के बिना ही उनके विकास की आवश्यकता से अधिक साधारणीकरण कर दिया था। इतना ही नही स्थलरूपो को प्रभावित करने वाले प्रक्रमो के कार्यान्वन का भी भलीभाँति अध्ययन उपेक्षित ही था। चक्रीय संकल्पना ने स्थलरूपो के ऐतिहासिक विकास (कालानुक्रम अनाच्छादन) पर ही अधिक बल दिया और चक्र के अन्त मे 'समप्राय मैदान' के अस्तित्व को मान लिया गया परन्तु उनके उत्पन्न होने की संदिग्धता बनी ही रही। कुछ आधुनिक भू-आकृति विज्ञान वेत्ताओ (हैक, स्ट्रालर, शोर्ले) ने स्थलरूपो के ऐतिहासिक विकास की विभिन्न अवस्थाओ को अस्वीकार करके 'प्रक्रम-रूप प्रणाली' को प्राथमिकता दी है तथा यह प्रतिपादित किया है कि स्थलरूपो के निर्माण म 'अवस्था' (समय) का महत्त्व नही होता है, अर्थात् स्थलरूप समय पर आधारित नही होता है। इन्होंने बताया है कि जब तक अनाच्छादनात्मक प्रक्रमो को नियन्त्रित करने वाले कारक समस्थिति मे होते ह, (अर्थात् उनमे परिवर्तन नही होता) तब तक स्थलरूपो मे निश्चय ही विकास नही होता है (स्थलरूप स्थिर रहते हैं)। इस तरह के विचारो को 'गतिक संतुलन सिद्धान्त' (Dynamic equilibrium theory) की माला मे पिरो दिया है। अपरदन-चक्र के सिद्धान्त की आलोचना (पृष्ठ 43 45) तथा उसमे संशोधन (पृष्ठ 47-49, 54-65) तथा गतिक संतुलन सिद्धान्त (पृष्ठ 38-40, 49-56) की विशद व्याख्या के लिए इस पुस्तक के द्वितीय अध्याय का अनुशीलन कीजिए।

इसका तात्पर्य यह कदापि नही है कि स्थलरूपो मे परिवर्तन होता ही नही। अपक्षय तथा ढाल-निवर्तन (Retreat) द्वारा स्थलरूपो मे परिवर्तन अवश्य होता है, परन्तु चूँकि स्थलरूपो के विभिन्न भागो म अवनयन (Lowering) समान रूप से होता है, अत यह आवश्यक है कि स्थलरूप एक ऐसी नाजुक समस्थिति मे हो जिन पर 'ऊर्जा संतुलन' (Energy balance) पूर्णतया स्थापित हो जाय। उदाहरण के लिये यदि किसी ढाल पर अपरदनात्मक प्रक्रम सक्रिय हो तो दोनों प्रक्रमों की ऊर्जा में संतुलन होना चाहिये अर्थात् अपरदन से प्राप्त मलवा इतना ही हो कि उसका परिवहन आसानी से हो

सके। यदि किसी स्थान में कठोर क्वार्टजाइट और कोमल शेल चट्टानें हों तो दोनों का अपक्षय तथा प्राप्त मलवा का परिवहन समान गति से तभी हो सकता है जबकि क्वार्टजाइट पर अतिरिक्त ऊर्जा लगाई जाय, और चूंकि दोनों पर से मलवा का स्थानान्तरण समान गति से होना चाहिये ताकि 'ऊर्जा संतुलन' बना रहे तो निश्चय ही क्वार्टजाइट शैल वाले भाग की ऊँचाई अधिक और ढाल तीव्र होना चाहिए (हैक 1960)।

स्थलरूपों के 'ऊर्जा संतुलन' को नियन्त्रित करने वाले कारकों में शैल प्रकार, सन्धियाँ, नतिकोण शैल की प्रवेश्यता, जलवायु, वनस्पति, अपरदन की दर आदि प्रमुख होते हैं। 'गतिक संतुलन' में यहाँ पर व्यवधान आ सकता है, क्योंकि ये कारक स्वयं स्थिर नहीं हैं। इनमें आये दिन परिवर्तन होते रहते हैं। ऐसी स्थिति में 'ऊर्जा सन्तुलन' विक्षुब्ध हो सकता है, परन्तु समर्थकों का कहना है कि *कुछ लम्बी अवधि ऐसी अवश्य होती है,* जिस समय ये कारक स्थिर रहते हैं और ऐसी दशा में निश्चय ही स्थलरूप समस्थिति में होते हैं। यदि उनमें परिवर्तन होता भी है, तो स्थलरूपों का विकास एक निश्चित रूप की ओर अग्रसर नहीं होता है, वरन् वे नई दशाओं के साथ अपने को समायोजित करने का प्रयास करते हैं। इस प्रक्रिया के दौरान उनके रूप में कुछ परिवर्तन अवश्य हो जाता है। उदाहरण के लिये यदि एक ऐसे स्थान को लिया जाय, जहाँ पर चट्टानों के तीन स्तर (अ, ब, स) क्षैतिज रूप में बिछे हों (चित्र 180)। ऊपरी तथा निचले स्तर कठोर बालुका पत्थर के तथा मध्यवर्ती स्तर मृत्तिका शैल के बने हैं। अपरदन के कारण ऊपरी स्तर पर तंग गहरी घाटियों का विकास होता है, क्योंकि कठोरता के कारण क्षैतिज अपरदन अधिक नहीं हो पाता है। घाटियों के पार्श्व तल तीव्र होते हैं। ये स्थलरूप तब तक स्थिर रहेंगे जब तक कि ऊपरी कठोर स्तर का पूर्णतया अनाच्छादन नहीं हो जाता है। परन्तु जैसे ही मध्यवर्ती कोमल स्तर अपरदन के लिये प्राप्त हो जाती है, उसका क्षैतिज अपरदन प्रारम्भ हो जाता है, घाटियाँ चौड़ी हो जाती हैं, घाटीपार्श्व ढाल मन्द हो जाता है तथा उच्चावच का अवनयन हो जाता है। मध्यवर्ती स्तर का अनाच्छादन हो जाने से निचला कठोर स्तर अपरदन से प्रभावित होता है। पुनः इस स्तर पर खड़े ढाल वाली गहरी घाटियों का निर्माण ऊपरी स्तर के समान हो जाता है। यहाँ पर सभी कारक स्थिर रहे हैं। केवल शैल प्रकार में ही परिवर्तन हुआ है। स्थलरूपों में निश्चित क्रम में विकास नहीं हुआ है, वरन् *उन्होंने बदलती परिस्थितियों में समायोजन स्थापित किया है* ताकि सन्तुलन की स्थिति बनी रहे। इसी तरह अन्य कारकों में परिवर्तन हो सकता है, परन्तु इनका प्रभाव इतना जटिल होता है, कि वे एक दूसरे को प्रति सन्तुलित (Counter balance) करते रहते हैं और स्थलरूप समस्थिति में बना रहता है।

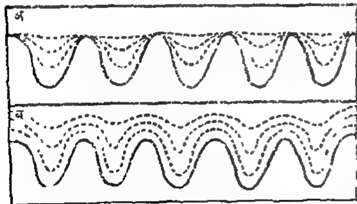
'गतिक संतुलन सिद्धान्त' के मार्ग में भी अनेक कठिनाइयाँ हैं। उपर्युक्त घटना-चक्र तभी सम्भव है कि जबकि 'आधार-तल' स्थायी हो और उपर्युक्त शैल-स्तर (तीनों) आधार-तल से ऊपर तथा सागर तट से दूर हों ताकि निम्नवर्ती अपरदन अबाध गति से निचले स्तरों पर अग्रसर हो सके। परन्तु ऐसा भी तो हो सकता है कि उपर्युक्त शैल-स्तर सागर-तट के पास हों और यदि आधार-तल को स्थायी मान लिया जाय और शैल-स्तर उत्थान रहित हों तो जैसे ही अपरदन मध्यवर्ती स्तर की कोमल शैल पर प्रारम्भ होता है, निम्नवर्ती अपरदन रुक जाता है। यदि इसे मान लिया जाय तो निश्चय ही अपक्षय आदि से ढाल-पतन होगा और पेनीप्लेन का निर्माण हो जायेगा तथा 'अपरदन चक्र की संकल्पना' को नियन्त्रित करना ही पड़ेगा। 'गतिक संतुलन सिद्धान्त' के समर्थक कह सकते हैं कि 'आधार-तल' स्थायी नहीं होता है। यदि मध्यवर्ती शैल के बाद आधार-तल में अवनयन मान लिया जाय तो क्या सरिता-अपरदन में नवोन्मेष (Rejuvenation) की क्रिया को झुठलाया जा सकता है?



चित्र 180—गतिक सन्तुलन सिद्धान्त के अनुसार स्थलरूपों का विकास।

क्या यह अपरदन-चक्र का व्यवधान (Interruption of cycle) नही माना जायेगा ? निश्चय ही इन प्रश्नो के उत्तर देने मे 'गतिक संतुलन सिद्धान्त' के समर्थक कठिनाई मे पड जायेंगे।

भूतल पर मिलने वाली, "विस्तृत अपरदन-सतह" (Erosion surfaces) गतिक सतुलन सिद्धान्त के सामने प्रश्नवाचक चिन्ह उपस्थित कर देती हैं, परन्तु इस सिद्धान्त के समर्थक हैक (Hack, 1960) का मत है कि इन तथा कथित समप्राय मैदानों (Peneplains) का निर्माण अपरदन चक्र के दौरान विकास के कारण नही हुआ है। जहाँ कही भी समान अवरोध वाली चट्टानें मिलती हो, सरितायें समान दूरी पर हो तथा ढाल समान अधिकतम कोण वाले हैं तो अनाच्छादन के कारण समान ऊँचाई वाली सतहो का निर्माण होगा जो कि समप्राय मैदान की प्रतिनिधि होगी। इस प्रकार की स्थलाकृति को हैक ने "कटक-तंग घाटी स्थलाकृति" (Ridge and ravine topography) कहा है। वास्तव मे गतिक सतुलन सिद्धात के समर्थक अभी तक स्थलरूपो की विकासीय प्रावस्थाओं (Developmental phases) के अस्वीकरण (Rejection) के सही प्रमाण प्रस्तुत नही कर सके हैं, अत अपरदन-चक्र की सकल्पना को फिलहाल पूर्णरूपेण असामान्य घोषित नही किया जा सकता है।



चित्र 181—(अ) विच्छेदित समप्राय मैदान तथा (ब) कटक एव तंग घाटी स्थलाकृति।

अपरदन-चक्र की अवस्थाओं के आकारमितिक निर्धारक (Morphometric determinants of the stages of cycle of erosion)

यद्यपि अपरदन-चक्र की सकल्पना का खण्डन विश्व-स्तर पर हो रहा है तथापि डेविस द्वारा प्रतिपादित स्थलरूपो के विकास की संकल्पना का पूर्णरूपेण अस्वीकरण नही हो पाया है। यदि स्थलरूप समय-परतंत्र (Time dependent) नही होते हैं तो उनके समय-स्वतंत्र (Time-independent) होने की संकल्पना का भी सत्यापन नही हो पा रहा है। अभी तक ग्लोब के विभिन्न भागो से इतने पर्याप्त आकारमितिक आँकडे प्राप्त नही हो पाये हैं जिनके आधार पर आकारमिति एवं स्थलरूपों की विकासीय प्रावस्थाओ के बीच के सम्बन्ध को अस्वीकार या स्वीकार किया जा सके। निम्न पक्तियो मे राँची पठार के पाँच भौतिक प्रदेशों की 23 प्रवाह बेसिन—1. पश्चिमी ऊच्च प्रदेश या पाट प्रदेश—सेन, घाघरा, घोपद बेसिन, 2. मध्य रांची पठार—सख, बाँकी I, साफी लोहागरा, बिरगोरा, जूमर, गंगा बेसिन, 3. दक्षिणी निम्न विच्छेदित राँची पठार—जमजोर, अम्बाझरिया डोगाजोर, बाँकी II, उदियागारा बेसिन, 4. पूर्वी निम्न राँची पठार—उडगनगढा, रयसा, बारू, डमरा बेसिन तथा 5 उत्तरी एस्कार्पमेण्ट प्रदेश—नलकारी बेसिन (सलेगुटू तथा छाता बेसिन का विस्तार मध्य राँची पठार तथा दक्षिणी निम्न विच्छेदित पठार दोनों पर पाया जाता है) का चयन किया गया है तथा अनेक विभिन्न आकारमितिक प्राचल (Parameters) एव विचर (variables) परिकलित किये गये हैं (चक्रिलता सूचकाक, उच्चतामितिक समाकल, घर्षण सूचकाक, औसत ढाल, सापेक्ष उच्चावच, प्रवाह-घनत्व, प्रवाह-गठन, सरिता-आवृत्ति आदि)।

इन आकारमितिक विचरो (Variables) के आधार पर राँची पठार के विभिन्न भौतिक प्रदेशो के अपरदन चक्र की अवस्थाओ का निर्धारण करने का व्याख्यात्मक प्रयास किया गया है। राँची पठार की भूवैज्ञानिक सरचना, विवर्तनिक इतिहास, उच्चावच आदि के लिए देखिए अध्याय 'प्रादेशिक भू-आकारिकी' का शीर्षक 'राँची पठार' एव अपरदन सतह के लिए देखिये अध्याय 'अपरदन सतह एवं अनाच्छादन कालानुक्रम' का शीर्षक 'राँची पठार का अनाच्छादन कालानुक्रम एवं अपरदन-सतह का निर्धारण'।

प्रमुख परिकल्पनायें (Major hypotheses)—अपरदन-चक्र की प्रारम्भिक अवस्थाओ मे अधिकतम उच्चावच, तीव्र ढाल, उच्च घर्षण सूचकाक, अधिकतम सापेक्ष उच्चावच, निम्न चक्रिलता सूचकाक, उच्चतामितिक समाकल तथा अनापरदित (unconsumed)

उच्चभाग के उच्च प्रतिशत होते हैं। अपरदन-चक्र की अवस्था के अवसर होने पर (प्रौढ़ावस्था) उपर्युक्त विचरो (Variables) के अनुपात में ह्रास होता है परन्तु चक्रिलता सूचकाक बढ़ता है। चक्र की अन्तिम अवस्था (जीर्णावस्था) में उपर्युक्त विचरो का मान न्यूनतम हो जाता है तथा चक्रिलता सूचकाक अधिकतम होता है।

चक्रिलता सूचकांक *(Circularity Index)*—सामान्य रूप में यह मान्य है कि तरुणावस्था में नदी द्वारा लम्बवत अपरदन अधिक होता है तथा जलविभाजको का पीछे की ओर खिसकने का कार्य नहीं होता है जिस कारण नदी का आकार अत्यधिक लम्बाई लिये रहता है और इस तरह चक्रिलता सूचकाक 30 प्रतिशत से कम होता है। जैसे-जैसे समय बढ़ता जाता है तथा चक्र प्रौढ़ावस्था की ओर अग्रसर होता है वैसे-वैसे नदी द्वारा पार्श्ववर्ती अपरदन भी बढ़ता जाता है जिस कारण जल-विभाजक पीछे हटते हैं और प्रवाह-बेसिन के क्षेत्रफल में विस्तार होता है। परिणामस्वरूप बेसिन का आकार नाशपाती जैसा होने लगता है। प्रारम्भिक प्रौढ़ावस्था से अन्तिम प्रौढ़ावस्था तक प्रवाह बेसिन का चक्रिलता सूचकाक 30 से 60 प्रतिशत रहता है। जीर्णावस्था में लम्बवत अपरदन के स्थगन तथा क्षैतिज अपरदन में वृद्धि के कारण प्रवाह बेसिन अपने क्षेत्रफल में सर्वाधिक विस्तार करती है क्योंकि जलविभाजको का पीछे खिसकना तीव्र गति से सम्पादित होता है। जीर्णावस्था में इस तरह, अधिकतम चक्रिलता सूचकाक (60 प्रतिशत से अधिक) होता है।

स्मरणीय है कि उपर्युक्त आदर्श स्थिति तभी सम्भव हो सकती है जब कि प्रवाह बेसिन को प्रभावित करने वाले अन्य कारक (भूवैज्ञानिक संरचना, उच्चावच, वनस्पति, जलवायु आदि) सामान्य स्थिति में हों। यदि इनमें से कोई भी कारक अपना अनपेक्षित असाधारण प्रभाव डालता है तो चक्रिलता सूचकाक उपर्युक्त आदर्श एवं अभीष्ट स्थिति में नहीं होगा। उदाहरणार्थ **बेलन बेसिन** (विशद विवरण के लिए देखिये अध्याय '**प्रादेशिक भू-आकारिकी**' का शीर्षक '**बेलन बेसिन**') अपने विकास की अन्तिम अवस्था में है परन्तु उसका चक्रिलता सूचकाक 35 प्रतिशत है। आदर्श स्थिति (बेलन बेसिन का चक्रिलता सूचकाक 60% से अधिक होना चाहिये) से यह विचलन (deviation) उच्चावच के प्रभाव के कारण है। वास्तव में दो समानान्तर पहाड़ी श्रेणियो (उत्तर में मिर्जापुर पहाड़ी तथा दक्षिण में कैमूर श्रेणी) के मध्य स्थित होने के कारण जीर्णावस्था में होते हुये भी बेलन बेसिन का चक्रिलता सूचकाक अभीष्ट मान के बराबर नहीं हो पाया है।

राँची पठार के विभिन्न भौतिक प्रदेशों की प्रवाह-बेसिन के आकार के विभिन्न सूचकाक अध्याय पाँच, '**आकारमिति**' में तथा सारणी 19 में उद्धृत हैं। पूर्वी राँची पठार एक समप्राय मैदान है (305 मीटर) परन्तु **उड़नगढ़ा** (39%) एवं **रयसा** (25%) बेसिन के न्यूनतम चक्रिलता सूचकाक उक्त प्रदेश के अपरदन-चक्र की अन्तिम अवस्था (जो वास्तविकता है) के द्योतक नहीं हैं। उड़नगढ़ा नदी दोनों ओर समानान्तर पहाड़ियो से आवृत्त है जिस कारण उसका सामान्य विकास (क्षैतिज अपरदन द्वारा) नहीं हो पाया है। इसी तरह रयसा नदी मध्य राँची पठार से निकलकर गंगा घाट वाले सीमान्त से उतरकर पूर्वी राँची पठार पर प्रवाहित होती परन्तु मार्ग में स्थानीय पहाड़ियो के कारण उसका आकार चक्रिल न होकर लम्बा हो गया है। इसी प्रदेश में **डमर** (75%) एवं **बारू** (48%) नदियो के आकार की चक्रिलता कुछ सीमा तक सन्तोषजनक है। मध्य राँची पठार एक आदर्श समप्राय मैदान का उदाहरण है। इस पर प्रवाहित होने वाली अधिकाश नदियों ने जीर्णावस्था के लिए अभीष्ट चक्रिलता मान के अनुसार (लगभग) अपने आकारों का विकास किया है (सपू85% बांकी I 63% लोहागरा 72%, बिरगोरा 64%, जूमर 58%)। **गंगा बेसिन** (47%) तथा **साफी बेसिन** (53%) के अपेक्षाकृत न्यून चक्रिलता सूचकाक उच्चावच के प्रभाव के कारण हैं। दक्षिणी निम्न घर्षित राँची पठार की **बांकी II** (87%) तथा **डोगाजोर** (82%) बेसिन के चक्रिलता सूचकाक उस क्षेत्र के विकास की अन्तिम अवस्था के मुताबिक हैं परन्तु इसी प्रदेश की **अम्बाझरिया** (44%), **जमजोर** (52%) **उदियागारा** (49%) आदि के अपेक्षाकृत कम चक्रिलता सूचकाक उच्चावच नियंत्रण के कारण हैं। पश्चिमी उच्च पठार की **सेन** (43%), **घाघरा** (36%) तथा **घोपद** (61%) नदियां उस क्षेत्र के विकास की प्रौढ़ अवस्था को इंगित करती हैं।

स्पष्ट है कि मध्य राँची पठार की नदियों के आकार की अत्यधिक चक्रिलता उस क्षेत्र के ग्रेनाइट-नीस संरचना के कारण न होकर उस क्षेत्र की **समप्राय मैदान अवस्था** के कारण है। **उड़नगढ़ा, रयसा** तथा **घाघरा** नदियों के दैर्घ्यवृद्धि (elongation) के आकार में उच्चा-

वच का सर्वाधिक प्रभाव है। दक्षिणी निम्न राँची पठार की **धारवार युग** की कोमल तथा सन्धियुक्त संरचना (माइका-शिस्ट) के कारण नदियों की शाखाओं मे पर्याप्त विकास हुआ है जिस कारण **डोंगाजोर** तथा **बांकी II** बेसिन का आकार चक्रिल है जबकि **डालमा संरचना** के ऊपर पहाड़ियो के बीच से प्रवाहित होने के कारण **उदियागारा** बेसिन का चक्रिलता सूचकाक न्यून हो गया है। इस तरह यह स्पष्ट होता है कि बेसिन के आकार के आधार पर उस क्षेत्र के अपरदन-चक्र की अवस्था का त्रुटिरहित निर्धारण नही किया जा सकता है।

वक्रता सूचकांक (Sinuosity Index)

यह सामान्य अवधारणा है कि अपरदन-चक्र के प्राथमिक चरण मे नदियाँ तग एव सकरी घाटियो से प्रवाहित होती हैं तथा उनका प्रवाह-मार्ग प्राय सीधा होता है (वक्रता सूचकाक 1.0 होता है) तथा प्रौढावस्था में क्षैतिज अपरदन के कारण घाटी की चौडाई मे विस्तार तथा सीमित बाढ-मैदान के निर्माण के कारण नदी का प्रवाह मार्ग वक्राकार (Sinuous course, 'वक्रता सूचकांक 1.0 से 1.5 तक) होता है एव समप्राय मैदान की अवस्था (जीर्णावस्था) मे विसर्पित मार्ग (Meandering Course, 1.5 से अधिक) होता है। **अध्याय पांच** की सारणी 18 मे **राची पठार** के विभिन्न भौतिक प्रदेशों की 23 प्रवाह बेसिन के वक्रता सूचकाक अकित हैं। सभी नदियो के वक्रता सूचकाक 1 से 1 5 के मध्य हैं जिससे प्रमाणित होता है कि सभी बेसिन वक्र सरिता (Sinuous rivers) की श्रेणी मे आती है। यद्यपि मध्य राँची पठार की सरितायें अपने विकास की अन्तिम अवस्था मे हैं तथापि अपरदन के लिए अपेक्षाकृत अवरोधी ग्रेनाइट-नीस सरचना के कारण वे बाढ-मैदान तथा विसर्पों (मियाण्डर) का निर्माण नही कर पायी हैं तथा उनका वक्रता-सूचकाक 1 5 से कम हैं जिससे उस क्षेत्र की प्रौढावस्था का आभास होता है जो कि भ्रामक है। पश्चिमी उच्च प्रदेश की सरिताओ के सूचकाक (**घोघर** 1.09, **घाघरा** 1.10 तथा **सेन** 1.06) उक्त प्रदेश की अन्तिम तरुणावस्था तथा प्रारम्भिक प्रौढावस्था को इगित करते हैं जो कि वास्तविकता है। दक्षिणी निम्न राँची पठार की नदियो के न्यून सूचकाक (**अम्बासारिया** 1.07, **जमजोर** 1.05, **डोंगाजोर** 1.03, **रवकाजर** 1.05, **बांकी II** 1.06 तथा **उदियागारा** 1 07) उस क्षेत्र के विकास की वास्तविक अवस्था (अन्तिम प्रौढावस्था तथा प्रारम्भिक जीर्णावस्था) के परिचायक नही हैं। इसी तरह पूर्वी राँची पठार की **उड़नगढ़ा** (1 06), रयसा (1.10), **डमरा** (1.10), तथा **बारू** (1.16) नदियो के वक्रता सूचकाक उक्त प्रदेश की समप्राय मैदान अवस्था के परिचायक नही हैं।

घर्षण सूचकांक (Dissection Index)

घर्षण सूचकाक किसी प्रदेश मे अपरदन की मात्रा के परिचायक होते हैं। तरुणावस्था मे अत्यधिक लम्बवत् अपरदन के कारण सर्वाधिक घर्षण सूचकाक (30% से अधिक) होते हैं। प्रौढावस्था मे क्षैतिज अपरदन के कारण जलविभाजक का शीर्ष भी अपरदित (Down wearing) होने लगता है जिस कारण अपरदन (निम्नवर्ती) कम होने लगता है अत सूचकाक 10% से 30% के बीच रहता है। अन्तिम अवस्था मे न्यूनतम घर्षण सूचकाक (10% से कम) रहता है।

राँची पठार के विभिन्न प्रदेशो की प्रवाह-बेसिन के घर्षण-सूचकाक से उन प्रदेशों के अपरदन की अवस्था का बोध हो जाता है। पश्चिमी उच्च प्रदेश की प्रवाह-बेसिन के क्षेत्रफल का 60 प्रतिशत से अधिक भाग उच्च घर्षण सूचकाक (0.1 से 0.3, **सेन बेसिन** 60 23% क्षेत्रफल, **घाघरा बेसिन** 63 20% क्षेत्रफल तथा **घोघर बेसिन** 78 58% क्षेत्रफल) के अन्तर्गत आता है जिससे उक्त प्रदेश के प्रारम्भिक प्रौढावस्था का आभास मिलता है। मध्य राँची पठार की प्रवाह-बेसिन के सम्पूर्ण क्षेत्रफल का 60% से अधिक भाग न्यून घर्षण सूचकाक (0.1 से कम, **सख बेसिन** 80.19%, **लोहागरा बेसिन** 67.48%, **बाकी I** 80.19%, **जूमर बेसिन** 92 12% तथा **बिरगोरा बेसिन** 98.87%) के अन्तर्गत आता है जिससे मध्य राँची पठार के विकास की अन्तिम अवस्था का सत्यापन हो जाता है। मात्र **गंगा बेसिन** (35.68%) तथा **साफी बेसिन** (37.38%) अपवाद हैं। **साफी बेसिन** का स्रोत पश्चिमी उच्च प्रदेश पर है। अत इस बेसिन के स्रोत क्षेत्र मे उच्च घर्षण सूचकाक का विकास हो गया है। गंगा नदी मध्य राँची पठार से निकल कर गंगाघाट के सहारे पुनर्युवनित (rejuvenated) राढू नदी से जोन्हा प्रपात बनाती हुई मिलती है, अत इसके सगम स्थल से ऊपर की ओर कुछ दूरी तक निम्नवर्ती अपरदन होने से मध्यम घर्षण सूचकाक (0 1 से 0 3) का विकास 64 32% क्षेत्रफल हुआ है।

दक्षिणी निम्न घर्षित राँची पठार की प्रवाह-बेसिन के सम्पूर्ण क्षेत्रफल के 70 प्रतिशत के अधिक भाग पर मध्यम घर्षण सूचकाक (0.1 से 0.3, **जमजोर बेसिन**

77 28%, अम्बाझरिया बेसिन 91 61%, उदियागारा बेसिन 90.88%, डोंगाजोर बेसिन 79.81 तथा बाकी II बेसिन 76.78%) का विकास हुआ है जो उक्त प्रदेश की प्रौढ़ावस्था को इंगित करते हैं।

पूर्वी निम्न रांची पठार की बेसिन मिश्रित परिणाम बताती हैं। बारु बेसिन के समस्त क्षेत्रफल के 59 03% क्षेत्रफल पर मध्य घर्षण सूचकांक (0 1 से 0 3) डमरा बेसिन के 81 36% क्षेत्रफल पर निम्न घर्षण सूचकांक (0.1 से कम) रयसा बेसिन के 61 68% क्षेत्रफल पर मध्यम घर्षण सूचकांक (0 1 से 0 3) तथा उडनगढा बेसिन के 47 47 % भाग पर उच्च घर्षण सूचकांक (0 3 से अधिक) पाया जाता है। क्षेत्र-पर्यवेक्षण के आधार पर यह प्रदेश समप्राय मैदान अवस्था में है।

औसत ढाल (Average Slope)

अपरदन चक्र के समर्थकों के अनुसार चक्र की प्रारम्भिक अवस्था में अत्यधिक लम्बवत् अपरदन के कारण तीव्र ढाल का निर्माण होता है तथा समय के साथ अपक्षय तथा अपरदन के कारण पहाड़ी-शीर्ष तथा जलविभाजक के शीर्ष का निम्नीकरण होने से ढाल के कोण कम होते जाते हैं। इस आधार पर ढाल कोण तथा अपरदन चक्र के बीच निम्न सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है।

ढाल कोण	चक्र की अवस्था
0°-5°	जीर्णावस्था (समप्राय मैदान की अवस्था)
5°-10°	प्रौढ़ावस्था
10°-20°	अन्तिम तरुणावस्था
20°-30°	मध्य तरुणावस्था
>3°	प्रारम्भिक तरुणावस्था

रांची पठार के पश्चिमी उच्च प्रदेश की घाघरा तथा घोघर प्रवाह बेसिन के सम्पूर्ण क्षेत्रफल के 50 प्रतिशत से अधिक भाग (घाघरा बेसिन 60 75% तथा घोघर बेसिन 52.7 %) पर 10°-20° ढाल का विकास एवं सेन बेसिन के 56 96 प्रतिशत भाग पर सामान्य ढाल (5°-10°) का विकास उक्त क्षेत्र की अन्तिम तरुणावस्था एवं प्रारम्भिक प्रौढ़ावस्था का परिचायक है। मध्य रांची पठार की अधिकांश प्रवाह बेसिन में न्यून ढाल (0°-5°) के अन्तर्गत अधिकतम क्षेत्रफल (बिरगोरा 100%, जूमर 97.37% बाकी I 80 54%, संख 74 33% लोहागरा 56 87%) में उक्त क्षेत्र की समप्राय मैदान अवस्था का स्पष्ट बोध होता है। अपवाद के रूप में गंगा बेसिन (5°-10° ढाल के अन्तर्गत 62.50% क्षेत्रफल) तथा सार्फी बेसिन (10°-20° ढाल के अन्तर्गत 41. 44% भाग) हैं।

दक्षिणी निम्न घर्षित रांची पठार की अधिकांश प्रवाह बेसिन के अधिकतम क्षेत्रफल पर तीव्र ढाल (10°-20°) का विकास (बाकी II 71 92% अम्बाझरिया 66 04%, उदियागारा 53 46%, जमजोर 43 84% आदि) में उक्त क्षेत्र की अन्तिम तरुणावस्था या प्रारम्भिक प्रौढ़ावस्था का बोध होता है। डोंगाजोर के 60 55% भाग पर सामान्य ढाल (5°-10°) में भी प्रौढ़ावस्था का ही आभास मिलता है।

पूर्वी निम्न रांची पठार की प्रवाह बेसिन पर न्यून ढाल कोण (0°-5°) के अन्तर्गत सर्वाधिक क्षेत्रफल (डमरा 95 78%, बारु 74.67%, रयसा 66 30%) का पाया जाना उस प्रदेश की समप्राय मैदान अवस्था को प्रमाणित करता है। उडनगढा बेसिन के सम्पूर्ण क्षेत्रफल के 53 46% भाग पर तीव्र ढाल (10°-20°) का विकास अपवाद का इंगित करता है।

सापेक्षिक उच्चावच (Relative Relief)

अपरदन-चक्र की प्रारम्भिक अवस्था में अधिकतम निम्नवर्ती अपरदन (downward erosion) के कारण उच्च सापेक्षिक उच्चावच का निर्माण होता है क्योंकि पहाड़ी शिखर तथा जलविभाजक-शिखर क्षैतिज अपरदन के अभाव में अपरदन से अप्रभावित रहते हैं। अतः उच्चस्थ तथा निम्नस्थ भाग का अन्तर (सापेक्षिक उच्चावच) बढ़ता जाता है। प्रौढ़ावस्था में क्षैतिज अपरदन के भी प्रारम्भ हो जाने के कारण पहाड़ी शिखर एवं जलविभाजक के ऊपरी भाग में अवनयन (Lowering) की मात्रा घाटी के गहरा होने से अधिक होने के कारण सापेक्षिक उच्चावच कम होने लगते हैं। समप्राय मैदान की अवस्था (जीर्णावस्था) में निम्नवर्ती अपरदन (घाटी का गहरा होना) में स्थगन एवं क्षैतिज अपरदन की सक्रियता के कारण सापेक्षिक उच्चावच तीव्रता से घटता है। अतः सापेक्षिक उच्चावच एवं अपरदन-चक्र के मध्य निम्न सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है—

सापेक्षिक उच्चावच	चक्र की अवस्था
0-60 मीटर	समप्राय मैदान की अवस्था
60-120 मीटर	प्रौढ़ावस्था
120 मीटर से अधिक	तरुणावस्था

रांची पठार के **पश्चिमी उच्च प्रदेश** की प्रवाह बेसिन के अधिकतम क्षेत्र पर उच्च सापेक्षिक उच्चावच (120 मीटर से अधिक, **घोपद** बेसिन 69.42%, **घाघरा** बेसिन 65 37% तथा **सेन** बेसिन 38 05%) के विकास से उक्त प्रदेश की अन्तिम तरुणावस्था एवं प्रारम्भिक प्रौढावस्था का बोध होता है। **मध्य रांची पठार** की प्रवाह-बेसिन के *अधिकतम क्षेत्र पर न्यून सापेक्षिक उच्चावच* (0-60 मीटर **बिरगोरा** बेसिन 98 31% **जूमर** बेसिन 87 91%, **बांकी I** बेसिन 74 51%, **संख** बेसिन 70 57% तथा **लोहागरा** बेसिन 59 41%) का विस्तार उक्त प्रदेश की समप्राय मैदान की अवस्था इंगित करता है जबकि गंगा बेसिन के क्षेत्र के 54 53% भाग पर मध्यम (60-120 मीटर) एवं **साफी** बेसिन के 49 05% भाग पर उच्च उच्चावच (120 मीटर से अधिक) अपवाद स्वरूप हैं। **दक्षिणी निम्न घर्षित रांची पठार** की बेसिन मे उच्च सापेक्षिक उच्चावच (120 मीटर से अधिक, **अम्बाझरिया** 75 64%, **उदियागारा** 52 47% एव **बांकी II** 50.44%) एवं मध्यम सापेक्षिक उच्चावच (60-120 मीटर, **डोंगाजोर** 61 14% तथा **जबजोर** 51 99%) के विकास से उक्त प्रदेश की प्रौढावस्था का सत्यापन होता है। **पूर्वी निम्न रांची पठार** की **डमरा** बेसिन के 95.72% एव **बारु** बेसिन 58.43% भाग पर निम्न सापेक्षिक उच्चावच (0-60 मीटर) का विकास उक्त प्रदेश की समप्राय मैदान अवस्था का परिचायक है जबकि **उडनगढ़ा** बेसिन के 66.02% भाग पर उच्च एव **रयसा** बेसिन के 42.08% भाग पर मध्यम उच्चावच के विकास से अपवाद की स्थिति उत्पन्न होती है।

उच्चतादर्शी समाकल (Hypsometric Integrals)

उच्चतादर्शी समाकल (देखिये अध्याय पांच की सारणी 3) से किसी प्रदेश के अनअपरदित भाग का बोध होता है। यह सम्भाव्य है कि तरुणावस्था मे उच्चतादर्शी समाकल अधिक होता है (यद्यपि निम्नवर्ती अपरदन या घाटी का गहरा होना अधिक होता है परन्तु क्षैतिज-अपरदन के अभाव मे जल-विभाजकों एवं पहाड़ी-शीर्ष के अवनयन न होने से उच्चतादर्शी समाकल अधिक होते हैं)। जैसे-जैसे चक्र का समय बढ़ता जाता है, उच्चावच का अवनयन होता जाता है तथा अधिकांश भाग के अपरदित हो जाने के कारण उच्चतादर्शी समाकल न्यून होता जाता है। अत उच्चतादर्शी समाकल एवं अपरदन-चक्र की अवस्थाओ के मध्य निम्न सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है—

उच्चतादर्शी समाकल	चक्र की अवस्था
>60%	तरुण
60%—30%	प्रौढ या साम्यावस्था
<30%	समप्राय मैदान अवस्था

स्मरणीय है कि उच्चतादर्शी समाकल एक नाजुक विचर (Variable) है तथा अपरदन-चक्र की अवस्थाओ के निर्धारण मे इसका उपयोग सतर्कता के साथ किया जाना चाहिए। कभी-कभी यह भ्रामक परिणाम भी प्रस्तुत करता है। **30 प्रतिशत से कम उच्चतादर्शी समाकल तभी सम्भव हो सकता है जबकि क्षेत्र विशेष मे, जो कि जीर्णावस्था मे है, कुछ मोनाडनाक मौजूद हों ताकि उच्चस्थ एवं निम्नस्थ भागो का अन्तराल बना रहे अन्यथा जीर्णावस्था मे (जबकि मोनाडनाक नष्ट हो गये हो) भी उच्चतादर्शी समाकल 30% से 60% के बीच पहुँच जाता है।**

रांची पठार के पश्चिमी उच्च प्रदेश की प्रवाह-बेसिन के उच्चतादर्शी समाकल (**सेन** 30.32%, **घाघरा** 39.67% तथा **घोपद** 35·48%) उक्त प्रदेश को अन्तिम प्रौढावस्था मे व्यक्त करते है। **मध्य रांची पठार** की **संख** (15 8%), **बांकी I** (20 32%) तथा **साफी** (24 84%) बेसिन के समाकल समप्राय मैदान अवस्था को इंगित करते हैं। जबकि **लोहागरा** (41.61%), **जूमर** (43 87%) तथा **बिरगोरा** (37.74%) बेसिन के समाकल भ्रामक हैं क्योंकि ये नदियाँ अपने विकास की अन्तिम अवस्था मे हैं। इन नदियो मे वांछित समाकल से अधिक मान इसलिए हैं कि इनके प्रवाह क्षेत्र मे उच्चस्थ तथा निम्नस्थ भागो का अन्तर 61 मीटर तक ही है। **दक्षिणी निम्न घर्षित रांची पठार** की प्रवाह-बेसिन के उच्चतादर्शी समाकल (**अम्बाझरिया** 28.38%, **जबजोर** 51 93%, **डोंगाजोर** 38.38%, **बांकी II** 42.26% तथा **उदियागारा** 40 97%) इन नदियो की साम्यावस्था तथा उक्त प्रदेश की प्रौढावस्था के परिचायक हैं। **पूर्वी निम्न रांची पठार** की प्रवाह-बेसिन के समाकल (**उडनगढ़ा** 25.48%, **रयसा** 21.93%, **बारु** 19.03% तथा **डमरा** 16 13%) उक्त प्रदेश की वास्तविक समप्राय मैदान की अवस्था का सत्यापन करते हैं।

प्रवाह घनत्व, गठन तथा सरिता आवृत्ति

प्रवाह-घनत्व, प्रवाह-गठन तथा सरिता आवृत्ति (stream frequency) का सम्बन्ध अपरदन चक्र की

अवस्था मे स्थापित करना तर्कसंगत नही है क्योंकि सरिताओ का विकास पर्यावरण कारको (environmental factors) जैसे जलवायु (वर्षा), वाही जल (run off), जल का शैल आवरण मे अन्त- स्पन्दन (infiltration), भूवैज्ञानिक सरचना (geological structure), वनस्पति आवरण आदि पर आधारित होता है। सैद्धान्तिक रूप मे यह प्रतिपादित किया जा सकता है कि चक्र की प्रारम्भिक अवस्था मे सरिताओ की सख्या कम होती है क्योकि प्रवाह-जाल का विकास नही हो पाता है। परिणाम-स्वरूप प्रवाह-घनत्व न्यून होता है। प्रौढावस्था मे सरिताओ का अधिकतम विकास होता है जिस कारण प्रवाह घनत्व उच्च होना चाहिए। जीर्णावस्था मे सरिताओ का समाकलन (integration) होने से प्रवाह घनत्व न्यून होना चाहिए।

रांची पठार के पश्चिमी उच्च प्रदेश की प्रवाह बेसिन के अधिकतम क्षेत्र पर सामान्य प्रवाह-घनत्व (Moderate drainage density $=2-4$ मील, सेन बेसिन 79.33% तथा घाघरा बेसिन 52 91% क्षेत्रफल) का विकास हुआ है (घोपद बेसिन मे 73.54% भाग पर उच्च प्रवाह घनत्व)।

मध्य रांची पठार की प्रवाह बसिन मे न्यून प्रवाह-घनत्व (सख 45.24%, बाँकी I 52 50%, जूमर 61 61%, बिरगोरा 80 79%) का विकास हुआ है जबकि लोहागरा म उच्च प्रवाह-घनत्व (42 98% भाग पर) एव साफो (68 54% भाग पर) तथा भगा (69 53% भाग पर) बेसिन मे सामान्य प्रवाह घनत्व पाया जाता है। इन आंकडो म मध्य रांची पठार के विकास की अवस्था का बोध तो होता है (अन्तिम प्रौढावस्था तथा प्रारम्भिक जीर्णावस्था) परन्तु इस प्रदेश म न्यून प्रवाह-घनत्व बेसिन के विकास की अवस्था (समप्राय मैदान अवस्था) के कारण न होकर ग्रैनाइट-नीस शैल की सरचना के कारण है। कठोर नग्न शैल सतह पर कम सरिताओ का विकास हो पाया है।

दक्षिणी निम्न घर्षित रांची पठार की प्रवाह बेसिन के अधिकतम क्षेत्र पर उच्च प्रवाह-घनत्व का विकास (जमजोर 78 10%, डोगाजोर 52 82% उदियागारा 75 93% तथा बाँकी II 85 28%, एव अम्बाझरिया मे सामान्य प्रवाह-घनत्व (55.69%) का अधिकतम क्षेत्र मे पाया जाना उक्त प्रदेश की प्रौढावस्था के कारण सम्भव नही हुआ है वरन् उक्त प्रदेश की अपेक्षाकृत कमजोर तथा सधियुक्त धारवार शैलो एव उसके साथ मिली अन्य कोमल शैलो के कारण अधिक सरिताओं का विकास हुआ है। पूर्वी निम्न रांची पठार की प्रवाह बेसिन के अधिकतम क्षेत्रो पर सामान्य प्रवाह-घनत्व (उडनगढा 85.06%, रयसा 68.61%, डमरा 64 92%, तथा बारु 72 68%) का विकास हुआ है जो उक्त प्रदेश की अन्तिम प्रौढावस्था का परिचायक है। परन्तु इस भाग म भी प्रवाह-घनत्व पर भूवैज्ञानिक सरचना (कोमल माइका-शिस्ट) तथा ढाल एव उच्चावच का नियन्त्रण अधिक है।

अत यह प्रतिपादित किया जा सकता है कि प्रवाह-घनत्व (और प्रवाह-गठन तथा सरिता-आवृत्ति) अपरदन-चक्र की अवस्था का परिचायक एव निर्धारक नही होता है।

निष्कर्ष—उपर्युक्त विवरण स स्पष्ट हो जाता है कि आकारमितिक विचारो (Variables) तथा विशेषताओ के आधार पर अपरदन-चक्र की अवस्थाओ का निर्धारण त्रुटिरहित नही है। डेविस द्वारा प्रतिपादित स्थलरूपो की विकासीय प्रावस्थाओ (developmental phases) की आनुभविक विश्लेषण विधि (empirical method of analysis) की यथार्थता के समक्ष एक और प्रश्नवाचक चिह्न लग जाता है तथा वर्तमान भू-आकृति विज्ञान-वेत्ताओ के मस्तिष्क म यह सन्देह और जोर पकडने लगता है कि स्थलरूपो के विकास की विभिन्न अवस्थायें होती है या नही। चक्र-सकल्पना क समर्थको तथा अनुयायियो के लिए यह सुझाव दिया जा सकता है कि स्थलरूपो या क्षेत्र विशेष के विकास की अवस्थाओ का निर्धारण आकार-मितिक निर्धारको से प्राप्त परिणाम तथा क्षेत्र-पर्यवेक्षण द्वारा उन परिणामो के परीक्षण के बाद ही करना चाहिये। ज्ञातव्य है कि यह आवश्यक नही है कि किसी भी प्रदेश के स्थलरूपो का विश्लेषण अवस्था-परिवेश मे ही किया जाय।

न्यून प्रवाह घनत्व = 2 मील प्रति वर्ग मील
सामान्य प्रवाह घनत्व = 2-4 मील प्रति ,, ,,
उच्च प्रवाह घनत्व = 4-6 मील प्रति ,, ,,
अति उच्च प्रवाह घनत्व = 6 मील से अधिक प्रतिवर्ग मील

अध्याय 15

समप्राय मैदान

(Peneplains)

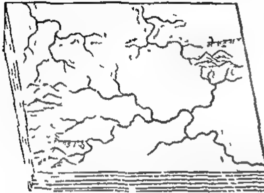
(अपरदन-चक्र की अंतिम अवस्था का रूप)

सामान्य परिचय—समप्राय मैदान अपरदन के "**सामान्य चक्र**" की अन्तिम अवस्था का परिचायक है। जब एक उत्थित स्थलखण्ड नदी के कार्य द्वारा विभिन्न अवस्थाओं से होकर अपरदित होकर एक आकृति विहीन मैदान में परिवर्तित हो जाता है तो उसे **समप्राय मैदान** कहा जाता है। सर्वप्रथम इस शब्द का प्रयोग डेविस महोदय ने 1889 ई० में 'स्थलाकृतिक चक्र' के अन्त में निर्मित निम्न परन्तु साधारण ढाल वाले भाग के लिये किया था। प्रारम्भ से ही '**पेनीप्लेन की सकल्पना**" एक विवादास्पद समस्या रही है तथा वर्तमान समय में भी इस सकल्पना को सर्वसम्मति से स्वीकार नहीं किया जा सका है। कुछ विद्वानों ने इस धारणा को असगत तथा सत्य से दूर बताया है परन्तु कुछ विद्वानों ने इसे दूसरे रूप में प्रदर्शित करने का प्रयास किया है, जैसे **क्रिकमे** महोदय। इस तरह 'भू-आकृति विज्ञान" का समप्राय मैदान ही एक ऐसी स्थलाकृति रहा है जिसके पक्ष तथा विपक्ष में सबसे अधिक लिखा जा चुका है तथा वर्तमान समय में भी यह सकल्पना विवादास्पद ही बनी हुई है।

डेविस महोदय ने समप्राय मैदान के लिये Pene-plane" नामावली का प्रयोग किया है, परन्तु यह शब्द विद्वानों को मान्य नहीं है। 'Plane" शब्द एक ज्यामितीय समतल सतह को प्रदर्शित करता है, जिसमें असमानतायें नहीं हो सकती हैं। परन्तु 'भू-आकृति विज्ञान' में स्थलाकृतियों के सम्बन्ध में ज्यामितीय सतह की कल्पना नहीं की जा सकती क्योंकि चाहे जितनी समता हो परन्तु स्थलीय सतह एक चरम रूप में समतल नहीं हो सकती वरन् उसमें कुछ असमानताएं अवश्य रहेंगी। इस आधार पर स्थलाकृति के लिये Peneplane शब्द का प्रयोग करना उचित नहीं है। इसके विपरीत "Plane" शब्द का अर्थ मैदान से है जिसमें कुछ भौतिक असमानतायें सम्भव हो सकती है। अतः चक्र की अंतिम अवस्था में उत्पन्न आकृतिविहीन समप्राय मैदान के लिये Peneplain शब्द का ही प्रयोग उचित होगा। यदि डेविस के 'Peneplane" के वर्णनात्मक विचार का अध्ययन किया जाय तो डेविस भी Peneplain की विशेषताओं को ही व्यक्त करना चाहते हैं, क्योंकि समप्राय मैदान (Peneplane) का अर्थ इन्होंने कभी भी सपाट तथा पूर्णतया समतल मैदान से नहीं लगाया है। Plane शब्द को 'समतल बनाने" के अर्थ में क्रिया के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है (As the region was or is peneplained)।

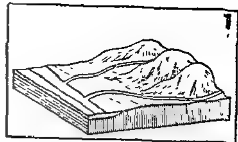
समप्राय मैदान की सामान्य विशेषतायें—अपरदन *के सामान्य चक्र की अन्तिम अवस्था में* घाटी का गहरा होना समाप्त हो जाता है। क्षैतिज कटाव एवं अपक्षय की क्रियाओं द्वारा स्थलखण्ड सतत नीचा होता जाता है। एक समय ऐसा आता है जब कि नदी अपने आधार-तल को पहुँच जाती है तथा अपरदन समाप्त हो जाता है एवं स्थलखण्ड लगभग आकृतिविहीन समतल मैदान में परिवर्तित हो जाता है। नदियाँ कई शाखाओं में विभक्त होकर बड़े-बड़े विसर्प (Meanders) से होकर बहने लगती हैं। इस प्रकार की सतह को डेविस महोदय *ने समप्राय मैदान की सज्ञा प्रदान की है।* डेविस ने कभी भी समप्राय मैदान का अर्थ चौड़ी सपाट सतह से नहीं लिया है वरन् उन्होंने समप्राय मैदान का अर्थ एक ऐसी सतह से लिया है जो कि निम्न उच्चावच तथा ऊबड़-खाबड़ (Undulating) एवं उर्मिल पृष्ठ (Rolling surface) वाली होती है। अर्थात् समप्राय मैदान में कुछ ऊँचे-नीचे भाग भी होते हैं जिन्हें सरसरी निगाह से देखा जा सकता है। इस प्रकार की सतह का मन्द ढाल सागर की ओर होता है ताकि नदियाँ प्रवाहित हो सकें। *इस अवस्था में ढाल अवतल होते हैं।* पेंक महोदय ने समप्राय मैदान के स्थान पर इण्ड्रम्प (Endrumpf) शब्द का प्रयोग किया है, जिसमें ढाल अवतल होता है। ऊपर यह बताया जा चुका है कि अन्तिम अवस्था की इस आकृति का निर्माण अपक्षय तथा क्षैतिज अपरदन की क्रियाओं द्वारा होता है। "**स्थलाकृतिक यूनिट**" (Geomorphic unit—स्थलखण्ड) में विभिन्न प्रतिरोध वाली चट्टानें होती हैं। मुलायम तथा कमजोर सचरना वाली चट्टानें तो शीघ्र ही कट कर आधार तल को प्राप्त हो जाती हैं परन्तु प्रतिरोधी शैलों का इतना अपरदन नहीं हो पाता है कि वे विलीन हो जायें। इसके विपरीत यत्र-तत्र ये प्रतिरोधी शैल छोटे-छोटे उच्चावच के रूप में

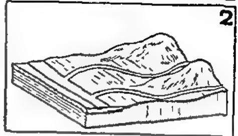
दृष्टिगोचर होती हैं, जो कि अपरदन के द्वीप तुल्य अवशेष होते हैं। इस तरह के उठे भागों को **मोनाडनाक** कहा जाता है। मोनाडनाक शब्द, संयुक्त राज्य अमेरिका के न्यूहैम्पशायर प्रान्त के **माउण्ट मोनाडनाक** (Mount Monadnock) से लिया गया है, जहां पर अपरदन द्वारा सतह प्राय सम हो गई है परन्तु कठोर चट्टानों वाली छोटी-छोटी पहाड़ियां यत्र-तत्र दिखाई पड़ती हैं।

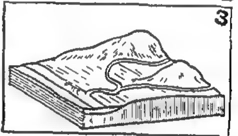


चित्र 182—पेनीप्लेन (Peneplain with Monadnocks)।

समप्राय मैदान अपरदन-चक्र का प्राय अन्तिम परिणाम (Near-end product) है न कि अन्तिम परिणाम (End product)। **डेविस** महोदय ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है कि स्थलखण्ड का अपरदन द्वारा आधार-तल के बराबर पूर्ण रूप से समतल हो जाना प्राय सम्भव नहीं है तथा यह केवल सैद्धान्तिक रूप मे माना जा सकता है, प्रयोगात्मक रूप मे नहीं। **"पेनीप्लेन की संकल्पना"** को प्रमाणित करने के लिए डेविस महोदय ने हर सम्भव प्रयास किया है एवं कई पुराने परन्तु आवरण से ढके हुए समप्राय मैदानों का उदाहरण प्रस्तुत किया है। कई ऐसी निम्न उच्चावच एवं घर्षित स्थलाकृति वाली सतह हैं जो कि वर्तमान समय में शैल आवरण मे ढकी हैं परन्तु वे पेनीप्लेन का रूप धारण कर सकती हैं। यद्यपि वर्तमान समय मे सागर-तल के वर्तमान आधारतल पर समप्राय मैदानों के उदाहरण बहुत कम है तथापि प्राचीन पेनीप्लेन इस संकल्पना को प्रमाणित करने के लिए समर्थ हैं। कठिनाइयों के होने हुए भी विद्वानों ने यद्यपि पूर्ण समप्राय मैदानों के उदाहरण वर्तमान समय मे भी भूपटल के विभिन्न भागों मे खोज निकाले हैं। उदाहरण के लिए एशिया में **यूराल पर्वत** के दक्षिण तथा पूर्व म एवं **स्यान शान पर्वत** के उत्तर में साइबेरिया का भाग समप्राय







चित्र 183—1 पेनीप्लेन (डेविस द्वारा प्रतिपादित) 2 पैनप्लेन (Panplain–क्रिकमे द्वारा प्रतिपादित) तथा 3 पेडीप्लेन (*Pediplain*) के *निर्माण के अन्तर का ब्लाक* डायग्राम द्वारा प्रदर्शन।

1—पेनीप्लेन (डेविस) का निर्माण सामान्य चक्र के अन्त मे नदियों द्वारा पार्श्विक अपरदन (Lateral erosion) द्वारा होता है।

2—पैनप्लेन (क्रिकमे) का निर्माण सामान्य चक्र के अन्त में कई नदियों के बाढ़-मैदान के *सम्मिलन तथा सम्वर्द्धन द्वारा होता है।*

3—पेडीप्लेन का निर्माण मरुस्थलीय भागों में पर्वताग्र न अपरदन द्वारा निर्मित कई पेडीमेन्ट के सम्मिलन से होता है। पेडीप्लेन निक्षेप रहित होते हैं।

मैदान का ही रूप है। इसी तरह मिसीसीपी घाटी में कई स्थल समप्राय मैदान की ओर अग्रसर हो रहे हैं जैसे मध्य **पश्चिमी मिसौरी घाटी** और सीमान्तर्गी कन्सास तथा **मिसीसीपी घाटी** का निचला भाग। दक्षिण फिनलैंड को भी लगभग समप्राय मैदान के समान बताया जाता है क्योंकि यह भाग एक लम्बे समय तक भूपृष्ठीय अपरदन (Subaerial erosion) की क्रियाओं से प्रभावित होता रहा है।

यहाँ पर एक और तथ्य उल्लेखनीय है जो कि समप्राय मैदान की उत्पत्ति का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारक है। पेनीप्लेन के निर्माण के लिए अत्यधिक लम्बे समय की आवश्यकता पड़ती है ताकि भूपृष्ठीय अपरदन की क्रियाओं से स्थलखण्ड भली प्रकार प्रभावित होकर आकृति-विहीन समप्राय मैदान में बदल सके। यह भी आवश्यक है कि इस लम्बी अवधि के समय स्थलखण्ड निश्चय (Stand still) रहे अर्थात् उसमें पृथ्वी के अन्तर्जात बल द्वारा उत्थान या अवतलन न हो सके अन्यथा अपरदन-चक्र का समय बढ़ जायेगा, अवस्था बदल जायेगी एवं पेनीप्लेन का निर्माण सम्भव नहीं हो सकेगा। यही तथ्य आलोचना का सबसे अधिक शिकार हुआ है। आलोचकों का कहना है कि पृथ्वी इतनी अस्थिर है कि उसका इतने लम्बे समय तक निश्चल रहना असम्भव ही नहीं कल्पनातीत है। पेनीप्लेन के निर्माण के लिये आवश्यक अवधि का अनुमान इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि उत्तरी अमेरिका में यदि अपरदन की वर्तमान दर चलती रही तो 15,000,000 वर्षों में उत्तरी अमेरिका का आधारतल के बराबर अपरदन हो जायेगा एवं समस्त महाद्वीप एक वृहद पेनीप्लेन के रूप में बदल जायेगा बशर्ते कि महाद्वीप उस समय तक अपने स्थान पर निश्चल रहे। परन्तु यदि जरा भी परिवर्तन हुआ अर्थात् यदि अपरदन की दर में कमी आई तो उक्त समय की दुगुनी या तीन गुनी अवधि की आवश्यकता होगी। इसी आधार पर कई विद्वानों ने बताया है कि स्थलखण्ड का एक लम्बे समय तक स्थिर रहना असम्भव है अतः पेनीप्लेन की अवधारणा वास्तविकता से परे है। यह उल्लेखनीय है कि इस आपत्ति में यथार्थ कम ही है क्योंकि कितनी ऐसी प्राचीन आकृति-विहीन, निम्न उच्चावच वाली सतहें हैं जो कि इस संकल्पना को बल देती हैं। अतः इस मत को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। हाँ उसमें कुछ सुधार अवश्य किया जा सकता है। प्राचीन पेनीप्लेन के उदाहरण, अन्टार्कटिका महाद्वीप को छोड़ कर प्रायः हर महाद्वीप में मिलते हैं। अप्लेशियन पर्वत इसका सर्वप्रमुख उदाहरण है। यहाँ पर स्कूली पेनीप्लेन, हैरिसवर्ग पेनीप्लेन एवं सामरविली पेनीप्लेन के स्पष्ट उदाहरण मिले हैं। इसके अतिरिक्त प्राचीन पेनीप्लेन के उदाहरण राकी पर्वत, जर्मनी के पर्वतों, दक्षिणी अफ्रीका एवं फ्रांस के मध्यवर्ती पठार में मिलते हैं। यहाँ पर स्मरणीय है कि ये प्राचीन पेनीप्लेन अपनी मौलिक अवस्था में नहीं मिलते हैं वरन् उनके अवशेष मात्र ही मिलते हैं।

भारत का **राँची का पठार** समप्राय मैदान का एक प्रमुख उदाहरण प्रस्तुत करता है। **क्रीटेसियस लावा-प्रवाह** के पूर्व सम्पूर्ण राँची पठार एक वृहत् समप्राय मैदान में परिणत हो गया और 610 मीटर सतह का निर्माण हुआ। मध्य राँची पठार पर यह सतह आज भी सुरक्षित है। **टर्शियरी** युग में पश्चिमी प्रदेश (पाट-प्रदेश) में 305 मीटर का उत्थान हुआ जिस कारण इसकी ऊँचाई 915 मीटर हो गयी और यह **उत्थित समप्राय** मैदान का उदाहरण बन गया। स्मरणीय है कि इस पश्चिमी प्रदेश में क्रीटेसियस युग में 154 मीटर मोटी लावा-परत का जमाव हुआ था जिस कारण 915 मीटर की सतह इस लावा-आवरण के नीचे तिरोहित है। अतः पश्चिमी उच्च प्रदेश की वास्तविक ऊँचाई सागर तल से 1000 से 1100 मीटर ऊँची है।

समप्राय मैदान के प्रकार

स्थलखण्डों की संरचना तथा उन पर सक्रिय होने वाले प्रक्रमों एवं उनकी कार्य-प्रणाली में पर्याप्त अन्तर के कारण पेनीप्लेन में भी अन्तर होना आवश्यक है। कुल मिलाकर पेनीप्लेन को पाँच भागों में विभक्त किया जा सकता है—

1. स्थानीय पेनीप्लेन (Local peneplains), 2. प्रादेशिक पेनीप्लेन (Ragional peneplains), 3. उत्थित पेनीप्लेन (Uplifted peneplains), 4. पुनर्जीवित पेनीप्लेन (Resurrected peneplains), तथा 5 आंशिक या अपूर्ण पेनीप्लेन (Partial peneplains)।

1 स्थानीय पेनीप्लेन—किसी भी प्रक्रम द्वारा किसी स्थलखण्ड के समतल होने की क्रिया (Planation) अचानक नहीं होती है वरन् धीरे-धीरे कई अवस्थाओं से सम्पन्न होती है। फलस्वरूप पेनीप्लेन की प्रक्रिया में सर्वप्रथम कुछ स्थानीय भाग अपने आधारतल के बराबर हो जाते हैं जब कि अन्य भागों में स्थलखण्ड के समतल होने का कार्य चलता रहता है। इस प्रकार उत्पन्न सीमित क्षेत्र वाले आकृति-विहीन निम्न भाग को **स्थानीय पेनीप्लेन या प्राथमिक पेनीप्लेन** (Incipient peneplains) कहते हैं। वर्तमान समय में ऐसे स्थानीय पेनीप्लेन के कई उदाहरण प्रत्येक महाद्वीपों में मिल सकते हैं। इन्हें प्रारम्भिक या प्राथमिक पेनीप्लेन इसलिये कहा जाता है क्योंकि ये पेनीप्लेन के निर्माण की प्रक्रिया में प्रथम सोपान या प्रथम चरण के रूप में होते हैं।

2 प्रादेशिक पेनीप्लेन—जब कई स्थानीय पेनीप्लेन के निर्माण के बीच स्थलखण्ड का अधिकांश भाग अपरदन

द्वारा अपने आधार-तल को पहुँच जाता है तथा समस्त स्थलखण्ड के उच्च उच्चावच घिस कर प्रायः विलीन हो जाते हैं तो प्रस्तुत पेनीप्लेन को क्षेत्रीय या प्रादेशिक पेनीप्लेन कहा जाता है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि समस्त स्थलखण्ड उच्चावच विहीन होकर पूर्णरूप से आकृति-विहीन हो जाता है। सागर तट के समीप तो स्थल का प्राय समतल होना सम्भव हो जाता है परन्तु आन्तरिक भाग में अब भी कुछ उच्चावच, यद्यपि निम्न ऊँचाई वाले, अवशिष्ट रह जाते हैं। पेनीप्लेन का ढाल सागर तट की ओर होता है तथा यह निरन्तर पीछे हटता जाता है एव अन्त में एक उच्च जल-विभाजक के रूप में बदल जाता है। अर्थात् जल-विभाजक से सागर-तट का ढाल इतना अवश्य रहता है कि नदियाँ अपने ऊपरी भाग (पहाडी) से निचले भाग (सागर) तक स्वच्छन्दता से प्रवाहित हो सकें। घाटियों तथा जल-विभाजक या दोआब अब भी वर्तमान होते हैं, यद्यपि उनकी ऊँचाई नगण्य होती है। प्रतिरोधी चट्टानें अपरदन से बच कर मोनाडनाक के रूप में दृष्टिगोचर होती हैं। प्रादेशिक पेनीप्लेन का तात्पर्य प्राय उस मौलिक पेनीप्लेन से लेना चाहिये जो कि अपने स्थान पर ही हो जिसमें उत्थान आदि न हुए हो एव जो मलवा से आच्छादित न हुआ हो। परन्तु ऐसी दशा का होना नितान्त असम्भव है क्योंकि पृथ्वी अस्थिर है। उसमें अन्तर्जात हलचल होते रहते है, जिससे स्थलखण्ड में उत्थान अवश्यम्भावी है। अत प्रादेशिक पेनीप्लेन, उत्थित पेनीप्लेन भी हो सकते हैं। प्रथम अवस्था में प्रादेशिक पेनीप्लेन का निर्माण होता है और उसमें उभार हो जाने से उत्थित पेनीप्लेन का विकास हो जाता है।

3 उत्थित पेनीप्लेन (Uplifted Peneplains)—जब प्रादेशिक पेनीप्लेन या स्थानीय या प्राथमिक पेनीप्लेन का पृथ्वी के अन्तर्जात बल के कारण उत्थान हो जाता है तो उसे उठा हुआ या **उत्थित पेनीप्लेन** कहते हैं। ये पेनीप्लेन प्राय प्राचीन हुआ करते हैं तथा उत्थान के समय विभिन्न प्रकार के नवलन (Warping) एव अपरदन के कारण उसमें पर्याप्त परिवर्तन मिलते हैं। अब तक जो भी प्राचीन पेनीप्लेन के उदाहरण मिले हैं, उनमें अधिकाश उत्थित ही हैं। अप्लेशियन पर्वत में इस तरह के तीन उत्थित पेनीप्लेन के उदाहरण मिले हैं। **पर्मियन युग** में अप्लेशियन हलचल या क्रान्ति के फलस्वरूप अप्लेशियन पर्वत का निर्माण हुआ। निर्माण होते ही उस पर अपरदन की शक्तियाँ उत्थित भाग को नीचा करने के लिये प्रयत्नशील हो गईं तथा **मेसोजोइक** कल्प के अन्त में अर्थात् **क्रीटेसियस** युग के अन्त में एवं **टर्शियरी** के प्रारम्भ में समाप्त अप्लेशियन एक समप्राय मैदान के रूप में परिणत हो गया जिसे **स्कूली** पेनीप्लेन कहते हैं। इस पेनीप्लेन का पुन उत्थान हो गया एव **टर्शियरी** युग में उस द्वितीय पेनीप्लेन का विकास हुआ जिसे **हैरिसबर्ग** या **शेननडोह पेनीप्लेन** कहा जाता है। इसके उत्थान के बाद तृतीय पेनीप्लेन सामरविली का निर्माण हुआ है। इसी तरह एशिया के त्यान शान पर्वत, स्काटलैण्ड के उच्च भाग, क्यूबक के पठार (कनाडा), कोलोरैडो का राकी पर्वत इत्यादि उत्थित पेनीप्लेन के सर्वोत्तम उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। **बैली विलिस** के अनुसार **मायोसीन** युग में टाग्गानिका पेनीप्लेन अपने निर्माण के बाद 1566 6 मीटर ऊपर उठ गया। राकी पर्वत के पेनीप्लेन में प्लायोसीन एव प्लीस्टोसीन युगों में उत्थान हुआ है तथा नदियों न इस पर 300 से 500 मीटर गहरे कैनियन का निर्माण कर लिया है जिससे प्रमाणित होता है कि इस उत्थित पेनीप्लेन में द्वितीय चक्र प्रारम्भ हो गया है। उत्थित पेनीप्लेन की पहचान कठिन है परन्तु कुछ ऐसे लक्षण हैं जिनसे उत्थित पेनीप्लेन का पता लगाया जा सकता है।

रांची पठार का पश्चिमी उच्च प्रदेश (पाट-प्रदेश) उत्थित समप्राय मैदान का उदाहरण है। इसकी ऊपरी सतह (915 मीटर) पर (जो कि 154 मीटर मोटी 'क्रीटेशियस युगीन लावा-परत के नीचे निरोहित है) नीस शैल की सरचना है। यही सरचना मध्य रांची पठार की 615 मीटर सतह पर भी है। यह तथ्य इस प्रदेश (पाट-प्रदेश) के उत्थान का सत्यापन करता है।

उत्थित पेनीप्लेन की पहचान तथा लक्षण—उत्थित पेनीप्लेन की विशेषताओं के जानने के पहले कुछ नामावलियों का उल्लेख आवश्यक है। दो नदियों के बीच वाले भाग को **अन्तरसरिता क्षेत्र (Interstream areas)** और छोटी-छोटी चोटियों वाले क्षेत्र को **शिखर क्षेत्र (Summit areas)** कहते हैं। जब अन्तरसरिता क्षेत्रों एव शिखर-क्षेत्रों की ऊँचाई या तल में समता होती है तो उसे **सगति (Accordance)** कहते हैं—(सगत Accordant) उदाहरण के लिये **सगत शिखर (Accordant summit levels)** और **सगत अन्तरसरिता क्षेत्र (Accordant interstream levels)**।

निम्न लक्षणों का पेनीप्लेन में पाया जाना आवश्यक है।

(i) **शिखरतल एवं अन्तरसरिता क्षेत्र तल मे समता (Subequality of levels in summit levels and interstream levels)**—प्रादेशिक पेनीप्लेन की यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता है कि यदि पेनीप्लेन का पूर्णतया विकास हो गया है तो उसमे कुछ निम्न ऊँचाई वाले उच्चावच अवश्य मिलते है। इनमे नदियो के बीच के भाग या दोआब (Interstream areas or interfluves) तथा छोटे-छोटे शिखर प्रमुख हैं। अपनी मौलिक अवस्था मे प्रादेशिक पनीप्लेन मे दोआब तथा शिखरो की ऊँचाई या तल में सगति या समता (Accordance or equality) पायी जाती है। यदि प्रस्तुत पेनीप्लेन प्रादेशिक पेनीप्लेन के उत्थान के कारण बना है तो उसमे भी शिखर-तल तथा दोआब तल मे सगति होनी चाहिये। यह अवश्य सम्भव है कि उत्थान के समय उसमे संवलन (Warping) तथा विभेदक भ्रंशन (Differential faulting) के कारण कुछ परिवर्तन आ गया हो परन्तु मुख्य समता अवश्य सुरक्षित रह सकती है। प्रादेशिक पेनीप्लेन पर उपर्युक्त सामान्य उच्चावच के अलावा कुछ स्थानीय अपरदन के अवशिष्ट भाग भी होते है, जो कि सामान्य सतह मे कुछ ऊँचे होते है। इनमे बिखरी हुई एकाकी पहाडियो को (कम ऊँची) **मोनाडनाक** कहते है। अगर प्रस्तुत पनीप्लेन प्राथमिक प्रादेशिक पेनीप्लेन का उत्थित रूप है तो उसमे भी मोनाडनाक के लक्षण मिलने चाहिये। कुछ ऐसे भी उच्च अवशिष्ट भाग होते है जो कि नदियो से अधिक दूर होन के कारण अपरदन से अप्रभावित होन के कारण सामान्य सतह ने कुछ ऊँचे दृष्टिगोचर होन है। इन्हे पेंक महोदय ने **मोसोरस** (Mosores) की सज्ञा प्रदान की है। जब अपरदन के अवशिष्ट भाग समूह मे मिलते है (स्मरण रहे कि मोनाडनाक एकाकी रूप मे मिलते हैं) तो उन्हे **उनाकास** (Unakas—उत्तरी कैरोलिना के उनाका पर्वत के आधार पर) कहते है। यदि पेनीप्लेन का उत्थान हाल ही मे हुआ है तो संगत शिखर तल तथा सगत अन्तरसरिता क्षेत्र अधिक विस्तृत होगे अपेक्षाकृत प्रारम्भिक उत्थित पेनीप्लेन के। यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि शिखर तल एव अन्तरसरिता तल मे समता का तात्पर्य यह नही है कि ये पेनीप्लेन के समस्त भाग मे एक ही ऊँचाई पर हों वरन् सागर तट से दूर हटने पर उनकी सापेक्ष ऊँचाई मे वृद्धि होती जायेगी।

(ii) **स्थलाकृतिक विषम विन्यास (Topographic Unconformity)**—विषमविन्यास का सामान्य तात्पर्य है स्थलरूप के कई भागो मे असमानता। प्रादेशिक पेनीप्लेन मे प्राचीन घाटियो का निर्माण हो चुका रहता है। जब उसका उत्थान होता है तो नवोन्मेष के कारण नदियो की अपरदन-शक्ति बढ जाती है। फलस्वरूप नवीन घाटी का निर्माण होने लगता है, जिस कारण नदियाँ अपनी पुरानी एव चौडी घाटी मे संकरी घाटी का निर्माण करने लगती है, जिससे घाटी के अन्दर घाटी का निर्माण हो जाता है। इस प्रकार की घाटी का ऊपरी भाग जीर्णावस्था का परिचायक (प्राथमिक चक्र का परिणाम) होता है तथा निचला भाग तरुणावस्था (द्वितीय चक्र के कारण) का परिचायक होता है। इस प्रकार की स्थिति को विषम विन्यास अर्थात् समता का न होना कहते हैं। अगर कोई पेनीप्लेन, उत्थित पेनीप्लेन है तो उसमे उपर्युक्त विषम विन्यास का होना आवश्यक है। इसी तरह यदि प्रादेशिक पेनीप्लेन का निर्माण हो गया है तो वह अपने आधार-तल को प्राप्त कर लेता है। परन्तु उत्थान के कारण आधार-तल मे परिवर्तन हो जाता है एव नवीन आधार-तल का विकास होता है जो कि द्वितीय चक्र के अपरदन की निम्नतम सीमा निश्चित करता है। जहाँ पर पुराने तथा नये आधार तल के दो वक्र एक दूसरे का प्रतिच्छेदन (Intersection) करते है, वहाँ पर निकप्वाइण्ट (Knickpoint) (देखिए नवोन्मेष द्वारा बनी स्थलाकृति-निकप्वाइंट, अध्याय 14) का निर्माण होता है।

(iii) **पेनीप्लेन सतह पर मलवा का आवरण (Presence of mantle of rock waste)** – यदि किसी पनीप्लेन का निर्माण बहुत पहले हो चुका है तो उस पर अवशिष्ट मिट्टियो (*Residual soils*) का आवरण हो जाता है। जलविभाजकों वाले क्षेत्र मे यह मलवा अपक्षय म प्राप्त होता है तथा घाटियो की तलैटी मे जलोढ जमाव होता है। पेनीप्लेन की सतह पर अवशिष्ट मिट्टियो या आवरण लेटराइट या चीका मिट्टी का होता है अथवा अघुलनशील पदार्थ जैसे चर्ट (Chert) या क्वार्ट्ज् का होता है। यह स्मरणीय है कि मलवा का यह आवरण छिट-पुट रूप मे मिलता है।

4. पुनर्जीवित पेनीप्लेन (Resurrected Peneplains)—प्राय ऐसा होता है कि प्रादेशिक पेनीप्लेन के निर्माण के बाद उस पर अवसादी शैल का आवरण छा जाता है और पेनीप्लेन ढक जाता है। इस तरह के **पेनीप्लेन को अन्तर्हित पेनीप्लेन (Buried peneplains)**

कहा जा सकता है । इसी तरह कभी-कभी निर्मित पेनीप्लेन का निमज्जन (Submergence) हो जाता है और पेनीप्लेन तिरोहित हो जाता है । पुन जब इसका निर्गमन (Emergence) होता है तो वह दृष्टिगोचर होता है । इसी तरह जब अन्तर्हित पेनीप्लेन के ऊपर स्थित शैल-आवरण अपरदन द्वारा कट कर हट जाता है तथा प्राचीन पेनीप्लेन दिखाई पड़ने लगता है तो इस प्रकार के पेनीप्लेन को पुनर्जीवित इसलिये कहा जाता है कि पहले से इसका जन्म हो चुका था एव बाद मे शैल-आवरण के कारण कुछ समय के लिये तिरोहित हो गया था, परन्तु सतह पर पुन दिखाई पड़ता है, लगता है उसका द्वितीय जन्म हुआ हो । सयुक्त राज्य अमेरिका के दक्षिणी वायोमिंग प्रान्त का शर्मन मैदान पुनर्जीवित पेनीप्लेन का एक जीता जागता उदाहरण है । मेक्सिको के खाड़ी तटीय मैदान के आन्तरिक भाग मे पूर्व क्रीटैसियस या प्रारम्भिक क्रीटैसियस युग मे निर्मित पेनीप्लेन पर पड़े शैल-आवरण का अब अनावरण हो रहा है जिससे उक्त पेनीप्लेन एक पुनर्जीवित पेनीप्लेन का रूप धारण कर रहा है और उसका निम्नीकरण भी हो रहा है । सयुक्त राज्य अमेरिका मे अटलाटिक तटीय मैदान की क्रीटैसियस युग से पूर्व अपरदित सतह जो कि क्रीटैसियस एव टर्शियरी अवसाद के नीचे दबी पड़ी है अन्तर्हित पेनीप्लेन का सर्वोत्तम उदाहरण है । यदि अन्तर्हित पेनीप्लेन म संवलन, वलन तथा भ्रशन (Warping folding and faulting) के कारण परिवर्तन नही हुए है तो पुनर्जीवित होने पर ये अपनी अधिकाश विशेषताओ को सुरक्षित रखते है । कोलोरेडो फ्रान्ट रेन्ज के पूर्वी किनारे, सयुक्त राज्य अमेरिका के पीडमाण्ट पठार के पूर्वी किनारे, फ्रान्स के ब्रिटेनी एव मध्य पठार मे प्राचीन पेनीप्लेन के पुनर्जीवन के उदाहरण देखे जा सकते है । यदि प्राचीन पेनीप्लेन के ऊपर आवरण वाली शैल, उस चट्टान से कमजोर है, जिस पर पेनीप्लेन का विकास हुआ है तो शैल-आवरण के बाद पुनर्जीवित पेनीप्लेन अपनी अधिकाश विशेषताओं को सुरक्षित रखने मे समर्थ होता है ।

छोटानागपुर पठार के पश्चिमी पाट प्रदेश (Pat lands) म 915 मीटर का बेनाइट-नीम पेनीप्लेन इस समय तिरोहित पेनीप्लेन का उदाहरण है क्योंकि इसकी ऊपरी सतह पर 154 मीटर (500 फीट) मोटी बेसाल्टिक लावा (क्रीटैसियस युगीन) की परत (जिसका ऊपरी भाग वर्तमान समय मे अपक्षय के कारण लेटराइट मे बदल गया है) है । पालामऊ जनपद मे छेछारी बेसिन की 610 मीटर की सतह इस समय पुनर्जीवित पेनीप्लेन का उदाहरण है क्योंकि बूढ़ा नदी एव उसकी सहायक नदियो ने अपरदन द्वारा ऊपरी आवरण को हटा दिया है ।

5 आंशिक पेनीप्लेन (Partial Peneplain)—अपूर्ण पेनीप्लेन के विषय म पर्याप्त मतभेद है तथा इसके लिए कई नामावलियों (अपूर्ण या आशिक पेनीप्लेन, प्राथमिक पेनीप्लेन Incpient peneplain, स्थानीय पेनीप्लेन local peneplain, बर्म Berm तथा स्ट्राथ Strath) का प्रयोग किया गया है । यहाँ पर सरलीकरण के लिए विवाद के गहन जाल मे न फँसकर लेखक केवल सामान्य एव सरल मार्ग का चयन चाहता है । इस सदर्भ मे फेनमन महोदय के मत का उल्लेख किया जा रहा है । किसी स्थल-खण्ड मे प्रथम चक्र के बाद कई चक्र कार्यान्वित होते है परन्तु कोई भी चक्र पूर्ण नही हो पाता है अर्थात् स्थल-खण्ड का निम्न आकृतिविहीन मैदान मे परिवर्तन नही हो पाता है । प्राय होता यह है कि प्रत्येक अगला चक्र पिछले चक्र की अन्तिम अवस्था से कुछ पीछे रह जाता है या कुछ पहले समाप्त हो जाता है । अर्थात् प्रत्येक अगला चक्र, अपने पिछले चक्र की तुलना म पर्याप्त समय नही पाता है एव अपूर्ण रह जाता है । इस तरह दूसरा चक्र पहले स तीसरा चक्र दूसरे चक्र स, चौथा चक्र तीसरे से आदि, पीछे रह जाता है या अपूर्ण रह जाता है ।[1]

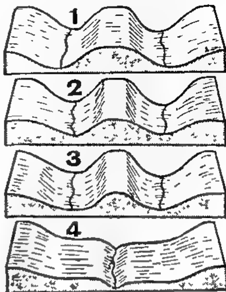
पेनीप्लेन सकल्पना की आलोचना (Criticisms of the concept of peneplains)— जैसा कि ऊपर व्यक्त किया जा चुका है कि पेनीप्लेन की सकल्पना का जन्म ही विवादास्पद इतिहास मे हुआ है और अब तक इसे विभिन्न आलोचनाओं का सामना करना पड़ रहा है । सकल्पना के विपरीत सर्वप्रथम जो आपत्ति उठाई जाती है वह है पेनीप्लेन के निर्माण के लिए एक लम्बी अवधि की सुलभता । आलोचको का कहना है कि पृथ्वी इतनी अस्थिर है कि पेनीप्लेन के लिए आवश्यक समय (अपरदन की वर्तमान दर पर उत्तरी अमेरिका 15 000,000

1 The work of next cycle stopped somewhat short of the stage reached in the first, the third fell short of the second ,so on.

वर्षों में अपरदित होकर अपने आधार तल को प्राप्त कर सकता है) सुलभ नही हो सकता है। इतने लम्बे समय तक पृथ्वी या स्थल-खण्ड निश्चल नही रह सकता। इस आपत्ति के बचाव मे समर्थको का कहना है कि पृथ्वी की हलचलें तथा पटल निरूपण (Distrophism) सामयिक होते हैं। अर्थात् कुछ समय तक सक्रिय रहने के बाद बन्द हो जाते हैं। इस शान्तकाल के समय आवश्यक अवधि मिल सकती है, जिससे पेनीप्लेन का निर्माण सम्भव हो सकता है। गिलूली महोदय ने उपर्युक्त समाधान का खण्डन किया है तथा बताया है कि भू-हलचल कदापि सामयिक और सर्वव्यापी नही होती है। ये हलचल पृथ्वी की स्थिरता को किसी भी समय नष्ट कर सकती है। अत पेनीप्लेन की सकल्पना असगत एव अमान्य है। यह सैद्धान्तिक रूप मे सत्य हो सकती है, परन्तु प्रयोग मे कल्पनातीत है। उपर्युक्त आलोचना का खण्डन करते हुये पेनीप्लेन की सकल्पना के समर्थको का कहना है कि पेनीप्लेन के निर्माण के लिये स्थल-खण्ड का पूर्ण रूप से निश्चल रहना आवश्यक नही है। मन्दगति से उठते हुये स्थल-खण्ड पर भी पेनीप्लेन का विकास हो सकता है बशर्ते कि निम्नीकरण की दर, उत्थान की दर मे अधिक हो।

द्वितीय आपत्ति पेनीप्लेन के सगत शिखरतल (Accordant summit level) तथा सगत अन्तरसरिता क्षेत्रीय तल (Interstream area level) के विषय मे है। अर्थात् पेनीप्लेन की सामान्य विशेषता के अनुसार पेनीप्लेन पर पाये जाने वाले उच्चावचो के तल अर्थात् ऊँचाई मे लगभग समता या सगति पायी जाती है। परन्तु आलोचको का कहना है कि तथाकथित पेनीप्लेन पर वांछित या यथेष्ट सगति (Accordance) नही मिल पाती है। दूसरे, पेनीप्लेन के उत्थान के समय पेनीप्लेन के वांछित उच्चावच का कुछ भाग विशेष अपरदन (Differential erosion) तथा सवलन एव भ्रशन (Warping and faulting) के कारण उत्पन्न होता है न कि प्रादेशिक पेनीप्लेन (उत्थान के पहले) के समय चक्र के अन्तिम अवस्था मे अपरदन द्वारा।

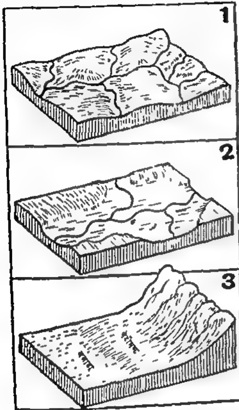
क्रिकमे का संशोधन—सन् 1933 ई० मे **क्रिकमे महोदय** ने डेविस की पेनीप्लेन सकल्पना की कटु आलोचना की तथा अपनी **पैनप्लेन संकल्पना** (Concept of Panplain) का प्रचलन किया है। क्रिकमे के अनुसार पैनप्लेन चक्र की अन्तिम अवस्था का वह परिणाम है जो कि बाढ के मैदानो के सम्वर्द्धन तथा सम्मिलन से निर्मित होता है। पेनीप्लेन को आलोचना करते हुए **क्रिकमे** ने



चित्र 184—पार्श्विक अपरदन (Lateral erosion) द्वारा अन्तर्सरिता क्षेत्र या दोआब (Interfluves) के नष्ट होने की अवस्थायें।

बताया है कि अन्तिम अवस्था मे जल विभाजको के खिसकने तथा नष्ट होने की दर को आवश्यकता से अधिक मान लिया गया है। इसके विपरीत इसके नष्ट होने की गति मन्द होती है एव चक्र की अन्तिम अवस्था मे उच्चावच के विलयन के साथ इसकी नष्ट होने की गति और अधिक मन्द हो जाती है। इन्होने बताया है कि जब घाटी के निम्न कटाव (Valley deepening) का स्थगन हो जाता है तो चक्र की अन्तिम अवस्था आ जाती है एव क्षैतिज अपरदन अधिक होता है जिससे जलविभाजक शनै शनै तिरोहित होने लगते है और बाढ मैदान का निर्माण होता है। इन बाढ के मैदानो पर अवसाद (Sediments) का हल्का आवरण होता है। बाढ के मैदानो के किनारे खडे ढाल वाले होते है जिनमे क्षैतिज अपरदन द्वारा क्लिफ उसी प्रकार मिलते हैं जिस प्रकार की सागरीय तटो पर सागरीय लहरो द्वारा क्लिफ के निर्माण होते है। चक्र के अन्त तक नदियो के क्षैतिज अपरदन द्वारा बाढ के मैदानो के किनारे तीव्र ढाल वाले होते हैं। इस तरह चक्र की अन्तिम अवस्था मे निर्मित स्थलरूप डेविस द्वारा बताय गए पेनीप्लेन से सर्वथा भिन्न

होगा । धीरे-धीरे ये मैदान आकार मे बढते जाते हैं तथा जब कई बाढ के मैदान मिल कर एक रूप धारण कर लेते हैं तो पेनीप्लेन की अपेक्षा चौडे तथा सपाट स्थलरूप का निर्माण होता है जिसका मन्द ढाल सागर तट की ओर होता है । धीरे-धीरे जल विभाजक नष्ट होते जाते हैं और उनके प्रतिरोधक भाग अवशिष्ट रह जाते हैं जो कि



चित्र 185 —सगम मैदान (Confluence plain) का निर्माण तथा विकास । पार्श्विक अपरदन (*Lateral* erosion) द्वारा जल विभाजक कटक (Divide ridges) का धीरे-धीरे नष्ट होना तथा सगम मैदान का निर्माण ।

मोनाडनाक के समान होते हैं । इस तरह अन्त मे कई बाढ के मैदान मिलकर सपाट भाग बन जाते हैं जिन्हे क्रिकमे ने पैनप्लेन (Panplain) की सज्ञा प्रदान की है । क्रिकमे ने बताया है कि चक्र की अन्तिम अवस्था अर्थात जीर्णावस्था मे क्षैतिज अपरदन या अपघर्षण की दर म अधिक कमी नही आती है । इस आधार पर (जीर्णावस्था क्षैतिज अपरदन की सक्रियता) क्रिकमे के अनुसार पेनी-प्लेन की अपेक्षा पैनप्लेन अधिक तीव्र गति से बन सकता है ।

यद्यपि क्रिकमे ने क्षैतिज अपरदन की क्षमता, जिसे अधिकाश विद्वानो ने कम महत्त्व दिया है, का पूर्ण उल्लेख किया है तथापि पेनीप्लेन की सकल्पना का स्थान उपर्युक्त सकल्पना नही ले सकती है । क्रिकमे ने, वास्तव मे क्षैतिज अपरदन को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दे दिया है । चक्र के अन्त मे क्षैतिज अपरदन द्वारा सभी स्थलखण्ड का कट कर समतल रूप मे हो जाना असम्भव है । इसी तरह बाढ के मैदान, चक्र की अन्तिम अवस्था मे उत्पन्न स्थलाकृति का एक अग ही प्रदर्शित करते है । इस तरह क्षैतिज अपरदन द्वारा उत्पन्न स्थलाकृति न तो पेनीप्लेन का रूप धारण कर सकती है न तो पैनप्लेन का ही । एल० सी० किंग का मत है कि डेविस द्वारा वर्णित शीतोष्ण आर्द्र जलवायु स्थलाकृतियो के विकास के लिए 'सामान्य' (Normal) दशा नही हो सकती । अत अपरदन चक्र के अन्त मे उत्पन्न स्थलाकृति पेनीप्लेन न होकर पेडीप्लेन (Pediplain) होगी जिसका निर्माण कगार निवर्तन (Scarp retreat) एव पेडीमेण्टेशन की क्रिया द्वारा होता है । स्मरणीय है कि किंग का यह मत अफ्रीका के अर्द्ध आर्द्र प्रदेशो की स्थलाकृतियो में विकास की प्रक्रियाओ पर आधारित है । अत, इस पेडीप्लेनेशन चक्र तथा पेडी-प्लेन को भी 'सामान्य दशा' का प्रतिफल एव सार्वत्रिक (Universal) नही माना जा सकता ।

अपरदन-सतह तथा अनाच्छादन कालानुक्रम

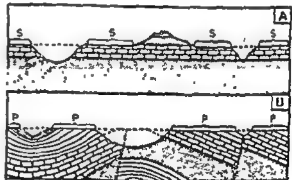
(Erosion Surfaces and Denudation Chronology)

अपरदन-सतह

सामान्य परिचय

'अपरदन-सतह' भौतिक स्थलरूपों के महत्वपूर्ण अंग होती हैं तथा भू-आकृति विज्ञान के जिज्ञासुओं के अध्ययन की मुख्य वस्तु बन चुकी है। अपरदन-सतह प्रारम्भिक अपरदन-चक्र के अवशेष होती हैं। अतः इनसे स्थान विशेष के इतिहास की पुनर्रचना में पर्याप्त सहायता मिलती है। किसी स्थान की प्रवाह-प्रणाली के विकास की समस्याओं के निदान के लिए संकेत मिल जाते हैं। भू-आकारिकी में अपरदन-सतह नामावली का प्रयोग केवल उन अपरदनात्मक सपाट अथवा लगभग सपाट (Flat or near flate) सतह के लिए किया जाता है, जिनका निर्माण अपरदन-चक्र के दौरान आधार तल के बराबर होता है। इस तरह अपरदन सतह के अन्तर्गत 'पेनीप्लेन' (Peneplain), पैनप्लेन (Panplain), पेडीप्लेन (Pediplain) तथा सागरीय अपरदन तल को सम्मिलित किया जाता है। इन सतहों को मुख्य अपरदन-सतह (Major erosion-surface) कहा जाता है। इनके अलावा कुछ गौण छिटपुट कम विस्तृत अपरदन-सतहें भी होती हैं, जिनके अन्तर्गत 'घाटी पार्श्व सोपान' (Valley-side benches), नदी वेदिका' (River terrace), 'सागरीय सोपान' (Marine benches), 'सागरीय सपाट मैदान' (Marine flats), 'सागरीय वेदिका' (Marine terrace), 'उत्थित पुलिन' (Raised beaches) आदि को सम्मिलित किया जाता है।

अपरदन-सतह तथा संरचनात्मक-सतह (Structural surface) में अन्तर स्थापित करना आवश्यक है। जहाँ पर कठोर शैल के ऊपर (क्षैतिज परत) कोमल शैल (क्षैतिज रूप में) का आवरण होता है तो सामान्य अपरदन के कारण कठोर शैल के ऊपर से कोमल शैल का आवरण हटा लिया जाता है तथा कठोर शैल की नग्न सतह, जो कि समतल-प्राय होती है ऊपर आ जाती है। इसे **संरचनात्मक सतह'** कहा जाता है। इस तरह यदि देखा जाय तो 'संरचनात्मक सतह' भी 'अपरदन-सतह' ही होती है। कुछ लोगों ने अपरदन-सतह को भ्रामक बताया है तथा इसके स्थान पर 'समतल सतह' (Planation Surface) नामावलि का प्रयोग दो कारणों से श्रेयस्कर बताया है। (i) **समतल सतह** तथा 'संरचनात्मक सतह' में आसानी से अन्तर स्थापित किया जा सकता है क्योंकि **'समतल सतह'** का निर्माण विभिन्न शैल प्रकार तथा विभिन्न भूवैज्ञानिक संरचना (Geological structure) के आर-पार अपरदन के कारण होता है, जबकि **'संरचनात्मक सतह'** का निर्माण नीचे स्थित शैल की नति (Dip) के समानान्तर ऊपरी शैल परत के हटने के कारण होता है। (ii) **'समतल सतह'** का प्रयोग सभी प्रकार के अपरदनात्मक मैदान के लिए हो जाता है, उनकी उत्पत्ति चाहे जिस भी तरह से हुई हो। चित्र 186 में संरचनात्मक सतह (A) तथा अपरदनात्मक सतह (B) को स्पष्ट किया गया है।



चित्र 186 A—संरचनात्मक सतह—अपरदन का कार्य विभिन्न संरचना के नति के सहारे सम्पन्न हुआ है। B—अपरदन सतह—अपरदन का कार्य विभिन्न स्तरों तथा शैलों के आर-पार हुआ है।

अपरदन सतह की पहचान

क्षेत्रों में अपरदन-सतह की पहचान करना एक कठिन समस्या है, जिसके निदान के लिए कई विद्वानों ने सराहनीय प्रयास किये हैं। स्मरणीय है कि वास्तविक अपरदन-सतह वर्तमान सागर-तल के बराबर नहीं हो सकती हैं, क्योंकि उनमें उत्थान हुए हैं तथा वे ऊँचाई

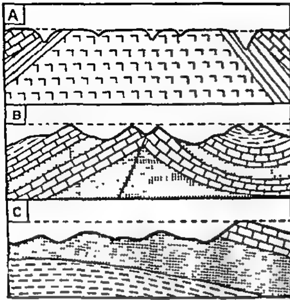
पर ही मिलती हैं। यदि वे वर्तमान सागर-तल के बराबर या आस-पास मिलती हैं तो इसका यही कारण हो सकता है कि उस क्षेत्र में स्थलीय भाग में अवतलन के कारण ऊँचाई में गिरावट हुई होगी। वास्तव में सागर-तल में भूगर्भिक इतिहास में कई बार परिवर्तन (उतार-चढ़ाव) हुए हैं तथा वर्तमान सागर-तल अल्प काल (अन्तिम क्वाटरनरी काल) से ही स्थिर है। केवल क्वाटरनरी काल में ही सागर-तल में कई बार परिवर्तन हुए हैं। पर्यवेक्षणों के आधार पर कई लोगों ने बताया है कि टर्शियरी युग से लेकर वर्तमान समय तक सागर-तल में उतार (Fall-गिरावट) हुआ है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि टर्शियरी युग में सागर तल 2000 फीट की ऊँचाई पर था तथा क्वाटरनरी के प्रारम्भ में 600 फीट की ऊँचाई पर था (आर० जे० स्माल, 1969)। इस आधार पर यह बताया जा सकता है कि 600 फीट की ऊँचाई तक निर्मित स्थलरूपमा निश्चय ही क्वाटरनरी युग के होंगे। क्वाटरनरी युग का समय सीमित होने के कारण अपरदन-चक्र की पूर्णता के लिए पर्याप्त समय नहीं मिल पाया, जिस कारण अभिनव (Recent) विस्तृत अपरदन सतह (टर्शियरी से नवीन) का निर्माण नहीं हो पाया, परन्तु 'आंशिक अपरदन-सतह' (Partial erosion surface) के निर्माण को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर यह प्रमाणित हो जाता है कि कोई अपरदन-सतह टर्शियरी के बाद की नहीं है। या तो वह टर्शियरी युग की हो सकती है या उससे पहले की। इस तरह यदि अपरदन-सतह का इतिहास इतना लम्बा है तो निश्चय ही उस पर अपरदन के विभिन्न प्रक्रमों के कारण परिवर्तन हुआ होगा, जिस कारण उनकी मौलिक विशेषताओं का पता लगाना कठिन होगा।

अपरदन-सतह पर हुए परिवर्तन का स्वभाव तथा मात्रा कई कारकों पर आधारित होती है। जो अपरदन-सतह जितनी ही पुरानी होगी, उस पर परिवर्तन की सम्भावना उतनी ही अधिक होगी। यह परिवर्तन केवल उसी हालत में नगण्य हो सकता है, जबकि अपरदन-सतह के ऊपर निक्षेप के कारण मोटा आवरण बिछ गया हो और अपरदन-सतह की मौलिक विशेषताओं को संरक्षण प्रदान कर दिया हो। अपरदन सतह में होने वाले परिवर्तन पर उस शैल की कठोरता का भी प्रभाव होता है, जिस पर कि अपरदन-सतह का निर्माण होता है। यदि वह शैल कठोर है तो उस पर होने वाला अगला अपरदन-चक्र अधिक समय लेगा, जिस कारण परिवर्तन मन्द गति से होगा। इसके विपरीत जबकि वह शैल कोमल है तो अगला अपरदन-चक्र शीघ्र सम्पन्न होगा और परिवर्तन अत्यधिक होगा। इस तरह यह बताया जा सकता है कि यदि किसी स्थान में दो अपरदन सतहें आस-पास (एक तल पर) पाई जाती हैं, जिनमें एक का विकास अवरोधक शैल पर तथा दूसरी का कोमल शैल पर हुआ हो तो प्रथम निश्चय ही अन्तिम की अपेक्षा अधिक प्राचीन होगी। अपरदन-सतह में परिवर्तन सरिताओं की सघनता तथा दूरी पर भी आधारित होता है। यदि किसी अपरदन सतह वाले क्षेत्र में सरिता का घनत्व अत्यधिक है तो अपरदन-सतह का विनाश शीघ्र हो सकता है।

प्राचीन अपरदन-सतह की स्थितियाँ कई प्रकार की हो सकती हैं। यदि अपरदन-सतह टर्शियरी के अन्तिम समय तथा क्वाटरनरी के प्रारम्भिक समय की हैं तो वे (कठोर शैल के ऊपर) चौड़े-चौड़े समान ऊँचाई वाले पठार के रूप में होंगी तथा जलविभाजक चौड़े शीर्ष वाले होंगे। यदि अपरदन-सतह प्रारम्भिक टर्शियरी या मेसोजोइक कल्प की है तो वे संगत शिखर (Accordant summits) के रूप में होंगी और यदि अपरदन-सतह इससे भी प्राचीन है तो सम्भावना यही है कि उनमें परिवर्तन इतना अधिक हो गया होगा कि वे पूर्णतया नष्ट हो गयी होंगी। वास्तव में उपर्युक्त विवरण अत्यधिक सरल तथा साधारणीकृत (Generalized) है। हो सकता है कि किसी अपरदन-सतह का विकास विभिन्न स्वभाव वाली चट्टानों के ऊपर हुआ हो, जिस कारण उसके विभिन्न भागों में सरिता-घनत्व भिन्न-भिन्न हो। ऐसी स्थिति में यदि उस क्षेत्र के किसी भाग में नदियों में नवोन्मेष हो जाता है तो अपरदन के कारण उस भाग में परिवर्तन अधिक हो जायेगा तथा मौलिक विशेषतायें अपेक्षाकृत शीघ्र नष्ट हो जायेंगी। स्पष्ट है कि अब तक अपरदन-सतह की पहचान अब भी पर्यवेक्षण, तर्क तथा विवेक के आधार पर ही की जाती है।

अपरदन-सतह के निर्धारण के लिए आकारमितिक विधियों का भी प्रयोग किया जाता है। इनमें प्रमुख हैं—तुंगतामितिक आवृत्ति आयत आरेख एवं वक्र (altimetric frequency histogram and curve) तथा अध्यारोपित परिच्छेदिका।



चित्र 187—उत्थित समप्राय मैदान पर भूवैज्ञानिक संरचना मे विभिन्नता के आधार पर घर्षण की मात्रा मे अन्तर ।

A—कठोर शैल पर समतल अपरदन सतह का निर्माण ।

B—विभिन्न स्तरो तथा उनकी स्थितियो के आधार पर घर्षण की मात्रा मे अन्तर ।

C—कठोर शैल के अनावरण के बाद कमजोर शैल का घर्षण तथा उर्मिल पृष्ठ (rolling surface) का निर्माण । आर० जे० स्माल, 1970, के अनुसार ।

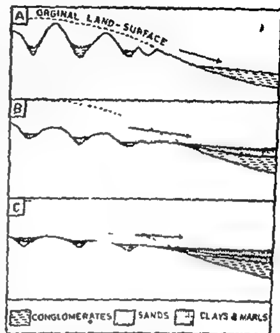
अपरदन सतह का सहसम्बन्ध तथा तिथिकरण (Corelation and Dating)

विभिन्न अपरदन-सतहो मे सह-सम्बन्ध स्थापित करना तथा उनका तिथिकरण एक जटिल भ्वाकृतिक समस्या है। किसी भी अपरदन-सतह की आयु-निर्धारण के लिए सर्वाधिक प्रचलित विधि यह है कि उस अपरदन सतह का सम्बन्ध अन्यत्र स्थित ऐसी अपरदन-सतह से किया जाता है, जिसकी आयु पहले से ही ज्ञात हो। सह-सम्बन्ध के लिये किसी भी क्षेत्र की उन सभी बिखरी अपरदन-सतहो को लिया जाता है, जो कि समान ऊँचाई पर स्थित होती हैं। इस विधि को **'ऊँचाई सह-सम्बन्ध'** (Height correlation) कहा जाता है। ऐसा विश्वास किया जाता कि प्रारम्भ मे सभी अपरदन-सतह (एक ही ऊँचाई वाली) अविछिन्न (Continuous) रूप मे विस्तृत रही होगी। आगे चलकर कुछ स्थानो पर अपरदन अधिक हुआ होगा, जिस कारण ये अपरदन-सतह एक दूसरे से अलग हो गई होगी। परन्तु यह विधि अत्यधिक साधारणीकरण पर आधारित है, क्योंकि इन प्राचीन अपरदन-सतहो का संवलन (Warping) के कारण विरूपण अवश्य हुआ होगा। अत यह आवश्यक नही है कि समान ऊँचाई पर मिलने वाली अपरदन-सतहो का निर्माण एक ही समय मे एक ही साथ हुआ हो। हो सकता है कि कुछ अपरदन-सतह वर्तमान ऊँचाई को अवसवलन (Downwarping) के कारण प्राप्त हुई हो तथा कुछ उत्सवलन (Upwarping) के कारण। प्राय प्रत्येक क्षेत्र मे **टर्शियरी पर्वतीकरण** के कारण अपरदन-सतहो मे उत्थान हुआ है, अत "ऊँचाई-सह-सम्बन्ध" का टर्शियरी के पहले की अपरदन सतहो के लिये प्रयोग नही किया जा सकता है। इस विधि का प्रयोग **क्वाटरनरी** युग मे निर्मित अपरदन-सतहो के सह-सम्बन्ध के लिये अवश्य किया जा सकता है।

अपरदन-सतहो का तिथिकरण **'भू-वैज्ञानिक असमविन्यास'** (Geological unconformity) के आधार पर भी किया जाता है। प्राय ऐसा होता है कि अपरदन सतह के निर्माण के बाद उसके ऊपर मलवा का निक्षेप हो जाता है तथा अपरदन-सतह अन्तर्हित हो जाने के कारण सुरक्षित रह जाती है परन्तु यह सदैव सम्भव नही हो पाता है, क्योंकि कभी-कभी ऊपरी जमाव का आवरण हट जाता है तथा अपरदन-सतह **पुनर्जीवित** (Resurrected) हो जाने के कारण उसमे विरूपण हो जाता है। परन्तु जब कभी भी ऊपरी निक्षेप का आवरण बना रहता है तो उसके आधार पर अपरदन-सतह का तिथिकरण किया जाता है। इस विधि के अन्तर्गत सामान्य रूप मे यह मान लिया जाता है कि सभी अपरदन सतह के ऊपर मलवा का आवरण अवश्य होता है। परन्तु उत्थित भाग तथा अत्यधिक विच्छेदित भाग पर मलवा का टिक पाना कठिन हो जाता है। कभी-कभी अपक्षय आदि क्रियाओ द्वारा मलवा-आवरण मे परिवर्तन भी हो जाता है तथा कभी-कभी नूतन जमाव के कारण प्रारम्भिक जमाव मे मिश्रण के कारण जटिलता आ जाती है। इतना ही नही अपरदन-सतह के निर्माण मे प्रयुक्त प्रक्रम जलवायु का ही प्रतिफल होता है, आवश्यक नही है। उदाहरण के लिए यदि किसी अपरदन-सतह पर सागरीय जमाव के तत्त्व मिलते हैं तो यह आवश्यक नही है कि उस अपरदन-सतह का निर्माण सागरीय प्रक्रम द्वारा ही हुआ है, क्योंकि यह सम्भव है कि उस अपरदन-सतह का निर्माण जलीय प्रक्रम

(Fluvial process नदी) द्वारा हुआ हो और उसके पास ही स्थित उच्च सागरीय भाग (Marine surface) से मृदासर्पण (Soil creep solifluction) तथा अवपतन (Slumping) के कारण सागरीय मलवा सरक कर उस अपरदन-सतह पर बिछ गया हो। इसी तरह सागरीय उत्पत्ति वाली अपरदन-सतह के ऊपर नदीय जमाव के लक्षण मिल सकते हैं। पहले इस अपरदन सतह का निर्माण, जबकि उसके ऊपर सागरीय विस्तार रहा होगा, सागरीय प्रक्रम द्वारा हुआ होगा। तदन्तर सागर का निवर्तन (Retreat) हो गया होगा, जिसके मन्द ढाल पर प्राचीन सतह से विस्तृत अनुवर्ती (Extended consequent) सरिताओं का आविर्भाव हुआ होगा, जिन्होंने सपाट सतह के कारण विसर्पण (Meandering) के द्वारा नदीय मलवा का आवरण बिछा दिया होगा। इस तरह अपरदन-सतह के ऊपर स्थित मलवा के आधार पर सतह का तिथिकरण सतर्कता से किया जाना चाहिए। किंग ने भी बताया है कि मलवा-आवरण से केवल अपरदन-सतह के निर्माण की अन्तिम अवस्था का समय ही ज्ञात हो पाता है। उनका निर्माण कब प्रारम्भ हुआ था, ज्ञात नहीं हो पाता है। दूसरे, इस विधि से अपरदन सतह के निर्माण के समय केवल (अन्तिम अवस्था में) अन्तिम प्रक्रम का ही आभास मिल पाता है। उदाहरण स्वरूप किंग ने बताया है कि अफ्रीका में 'गोण्डवाना पेडीप्लेन' का निर्माण गोण्डवाना-खंड के विभजन से पहले ही हो गया था, परन्तु आगे चलकर उस पर यत्र-तत्र मायोसीन जमाव का आवरण बिछ गया, जिस कारण गलती से कुछ लोगों ने 'गोण्डवाना पेडीप्लेन' की तिथि 'मध्य टर्शियरी' बता डाली है।

जमाव द्वारा तिथिकरण की एक अन्य विधि भी प्रयोग में लायी जाती है, जिसके अन्तर्गत समीपी भाग (अपरदन-सतह के आस-पास) के मलवा-जमाव के क्रम (Sequence) के आधार पर अपरदन-सतह के निर्माण की प्रक्रिया तथा उसकी तिथि का निर्धारण किया जाता है। प्रायः ऐसा होता है कि उच्च भाग का जब अपरदन होता है तो उसका जमाव समीपी निचले भाग में होता है। प्रारम्भ में बड़े-बड़े कणों वाले कांग्लोमरेट का जमाव सबसे नीचे होता है। इसके बाद मध्यम कणों वाले बालुका पत्थर का निक्षेप होता है, और सबसे ऊपर बारीक मृत्तिका तथा मार्ल (Fine clay and marl) का निक्षेप होता है। इस तरह के "जमाव चक्र" (Cycle of deposition) के द्वारा उच्च स्थल के क्रमिक अपरदन, ढाल-पतन तथा अपरदन-सतह के विकास का स्पष्ट आभास मिल जाता है।



चित्र 188—अपरदन तथा निक्षेपण में सम्बन्ध। A—उच्च भाग का अपरदन तथा निचले भाग में कांग्लोमरेट का निक्षेपण। B—उच्च भाग के सतत अधःक्षय (down wasting) द्वारा उसका अवनयन तथा कांग्लोमरेट के ऊपर रेत का निक्षेपण। C—उच्च भाग पर स्थित घाटियों में (नीचे से ऊपर) रेत तथा मृत्तिका एवं समीपी भाग में कांग्लोमरेट, रेत तथा मृत्तिका के निक्षेप का अनुक्रम (Sequence)। आर० जे० स्माल, 1970, के अनुसार।

अपरदन-सतह की उत्पत्ति की प्रक्रिया तथा तिथि का निर्धारण उस पर विकसित प्रवाह-प्रणाली के आधार पर भी किया जाता है। इसके लिये उस स्थान की प्रवाह-प्रणाली के विकास के इतिहास की पुनर्रचना करनी पड़ती है, जो स्वयं एक जटिल समस्या है।

छोटानागपुर उच्च प्रदेश की अपरदन-सतह[1]
(Erosion Surfaces of Chhotanagpur Highlands)

छोटानागपुर की उच्चभूमि के भ्वाकृतिक इतिहास में कई अपरदन-चक्र पूरे हो चुके हैं, परन्तु इनमें से कुछ

1. Singh, R. P., 1969 : "Geomorphological evolution of Chhotanagpur Highlands, NGS Varanasi, pp 108-120 (Adaptation).

अपरदन-चक्र के प्रमाण प्राप्य नहीं है, तथा भू-वैज्ञानिक संरचना, उच्चावच, निक्षेप, प्रवाह-प्रणाली, क्षेत्र में पर्यवेक्षण आदि के आधार पर उनकी पुनर्रचना के प्रयास किये गये हैं।

(ii) **पूर्व डालमा सतह** (Pre-Dalma Surface)—छोटानागपुर उच्च भूमि का प्रारम्भिक स्थलाकृतिक इतिहास **आर्कियन** उत्थान से प्रारम्भ होता है जिस कारण छोटानागपुर क्षेत्र एवं उसके समीपी भागों में वलित संरचना (Folded structure) का आविर्भाव होता है। प्रारम्भ में संरचना के अनुसार जालीनुमा प्रवाह-प्रणाली (Trellis drainage pattern) का निर्माण हुआ होगा। जलीय अपरदन के कारण उत्थित भाग का परिवर्तन समप्राय मैदान के रूप में हो गया होगा, परन्तु इसी समय लावा-प्रवाह के कारण **'पूर्व डालमा अपरदन-चक्र'** में व्यवधान हो गया। यद्यपि लावा-प्रवाह के समय उत्थान के प्रमाण नहीं मिले हैं तथापि वलित लावा-चादर (**पोरहट पहाड़ी में**) इस बात का प्रमाण है कि लावा-प्रवाह के बाद भी उत्थान हुआ था। पूर्व डालमा सतह की पहचान करना कठिन कार्य है, क्योंकि इस प्रथम अपरदन-चक्र के बाद कई अपरदन-चक्र घटित हो चुके हैं, जिस कारण **'बहु-चक्रीय उच्चावच'** (Polycyclic reliefs) के कारण प्रारम्भिक स्थलाकृति के लक्षण इतिहास के अतीत में विलीन हो गये हैं। सम्भवतः **डालमा लावा** कहीं-कहीं पर प्रारम्भिक अपरदन-सतह को सुरक्षित रखने में समर्थ हो पाया है। परन्तु सम्भावना यही है कि लावा-प्रवाह के बाद लम्बे अवकाश के कारण लावा चादर का पूर्णतया अपरदन हो गया होगा, जिस कारण अपरदन-सतह का अनावरण हो गया होगा, जिस पर अत्यधिक घर्षण (Dissection) होने के कारण उनके अवशेष भी समाप्त हो गये होंगे। **धनजोरी उच्च भूमि** (Dhanjori highlands) में **अपरदनात्मक विषम विन्यास** (Erosional unconformity) के कुछ अंश देखने को मिलते हैं, जहाँ पर **'पूर्व डालमा सतह'** के ऊपर **धनजोरी बालुका पत्थर-कांग्लोमरेट'** पाया जाता है।

(ii) **पूर्व कैम्ब्रियन अपरदन-सतह**—डालमा लावा-**प्रवाह** के समय से लेकर **कैम्ब्रियन** युग के पहले तक जलीय अपरदन-चक्र चलता रहा, जिस कारण ग्रेनाइट-नीस आधार का अनावरण हो गया। परिणामस्वरूप अपरदित ग्रेनाइट सतह का निर्माण हो गया। **कोल्हान उच्च भूमि** में पुनः **'अपरदन विषम विन्यास'** के अवशेष पाये जाते हैं, जो कि **धनजोरी** से, नूतन हैं, क्योंकि 'कोल्हान बालुका पत्थर-कांग्लोमरेट' का निक्षेप अनाच्छादित ग्रेनाइट सतह के ऊपर क्षैतिज रूप में हुआ है। इसी तरह से छोटानागपुर उच्च भूमि के उ० प० भाग में **'पूर्व कैम्ब्रियन ग्रेनाइट सतह'** के ऊपर 'विन्ध्यन बालुका पत्थर तथा लाइमस्टोन' का जमाव हुआ है।

(iii) **कार्बोनिफरस अपरदन सतह**—कार्बोनिफरस युग में **गोंडवानालैण्ड** का व्यापक रूप में हिमानीकरण हुआ जिसके प्रमाण (छोटानागपुर के हिमानीकरण के लिए) **तालचीर** के गोलाश्म स्तर (Boulder beds) से प्राप्त होते हैं। हिम-चादर का प्रसार पूर्व दिशा की ओर हुआ माना जाता है। **कार्बोनिफरस हिमकाल** के कारण प्रारम्भिक अपरदन-चक्र का अध्याय समाप्त हो जाता है। हिम-चादर के प्रसार के कारण कार्बोनिफरस से पूर्व की स्थलाकृति का लोप हो गया क्योंकि एक तो हिम-चादर ने पूर्व निर्मित स्थलाकृति को ढक लिया, दूसरे अग्रसर होती हुई हिमचादर ने पहाड़ियों का अपरदन करके उन्हें समतल बना दिया होगा तथा घाटियों को निक्षेप द्वारा भर दिया होगा। इस तरह हिमानीकरण के बाद एक **'नीरस तरंगित स्थलाकृति'** (Monotonous undulating topography) का निर्माण हुआ होगा, जिस पर व्यवस्थित प्रवाह-प्रणाली की अनुपस्थिति रही होगी। निवर्तनशील (Retreating) हिमचादर के कारण दलदल, झीलें आदि का निर्माण हुआ होगा। धीरे-धीरे लघु सरिताओं के एकीकरण (Integration) के कारण सुनिश्चित प्रवाह-प्रणाली का विकास हुआ होगा।

(iv) **पर्मियन ट्रियासिक अपरदन सतह**—कार्बोनिफरस हिम-चादर के निवर्तन के बाद छोटानागपुर उच्च भूमि में अपरदन तथा स्थलाकृतिक विकास का नया अध्याय प्रारम्भ होता है। इस समय (**पर्मियन**) उच्च भाग में पर्याप्त अनाच्छादन हुआ। मध्य गोंडवाना समय में इसी अपरदन-चक्र के साथ **'महादेव श्रेणी'** (Mahadeo series) के स्थूल बालुका पत्थर का निर्माण हुआ। **ट्रियासिक** युग में पुनः उत्थान हुआ, जिस कारण गोंडवाना अवसाद का तीव्र गति से अपरदन हुआ। वास्तव में **करनपुरा, बोकारो, झरिया** और **रानीगंज** की कोयले की खानें गोंडवाना अवसाद के अवशेष हैं। स्थान-स्थान पर लम्बवत भ्रंशन हुए हैं परन्तु इनसे जमाव के क्षैतिज स्तरीकरण में अव्यवस्था नहीं हो पायी है।

(v) **गोंडवाना अपरदन सतह**—पर्मियन-ट्रियासिक अपरदन-चक्र में अन्तिम जुरैसिक तथा प्रारम्भिक क्रीटैशियस युग में ज्वालामुखी-उद्गार के कारण व्यवधान

उपस्थित हो गया। क्रीटैसियस युग मे ही भारत का गोंडवानालैण्ड से अलगाव हो गया। इसी समय मानसून जलवायु के आविर्भाव के कारण तीव्र अपरदन प्रारम्भ हो गया। इस अपरदन-काल को **'गोंडवाना चक्र'** (Gondwana cycle) के नाम से जाना जाता है। इसी प्रकार **की गोंडवाना सतह** दक्षिणी अमेरिका, अफ्रीका, प्रायद्वीपीय भारत तथा आस्ट्रेलिया मे पाई गई है। इस चक्र को **पूर्व टर्शियरी चक्र** के नाम से भी जाना जाता है। डेकन ट्रैप के कारण 'गोंडवाना चक्र की समाप्ति हो गयी। अधिकांश **प्रवाह रेखाएँ** (Drainage lines) तिरोहित हो गई। **'गोंडवाना सतह'** विस्तृत तथा तरंगित (Undulating) निम्न मैदान के रूप मे थी जिसका ढाल पूर्व की ओर **'पूर्व टर्शियरी सागर'** की ओर था। पश्चिम मे अधिकतम ऊँचाई 1600 फीट से अधिक नही रही होगी तथा पूर्व की ओर तरंगित सतह की ऊँचाई 1000 फीट के आसपास रही होगी। परन्तु इस तरंगित अपरदन-सतह म उत्थान भी हुआ, जिस कारण स्थान-स्थान पर ढाल-भंग (Breaks in slopes) का आविर्भाव हुआ।

(vi) टर्शियरी युग में क्रमिक तीन उत्थान के कारण अधिकाश सतह में उत्थान हो गया तथा जगह-जगह पर नमन (Tilting), भ्रंशन, अवतलन आदि की भी क्रियायें घटित हुई। प्रारम्भिक मायोसीन युग मे प्रथम उत्थान हुआ, जिस कारण छोटानागपुर मे 1000 फीट का उत्थान हुआ, जिस कारण नूतन सरिताओ के आविर्भाव के साथ ही नया अपरदन-चक्र प्रारम्भ हो गया। अन्तिम प्लायोसीन युग मे दूसरा उत्थान हुआ, जिस कारण पश्चिमी छोटानागपुर म पुन 1000 फीट का उत्थान हुआ तथा अन्तिम उत्थान 700-1000 फीट का हुआ। दक्षिण-पश्चिमी भाग में कुल 3000 फीट का उत्थान माना गया है। इस तरह समस्त भाग मे कई उत्थित सतहे देखने को मिलती है। पश्चिम मे पश्चिमी पठार रांची पठार से 1000 फीट ऊपर है। **रांची, हजारीबाग, कोल्हान बाघमुण्डी** उच्च भाग के घर्षित किनारे उत्थान को प्रमाणित करते है, जिनके ऊपर तरंगित सपाट सतहे (Undulating flat surfaces) दृष्टिगत होती है, जिसके ऊपर अवशिष्ट (Residual) पहाड़ियाँ स्थित है।

स्वर्णरेखा, कांची तथा राड़ू नदियो के मार्ग मे ढाल-भंग (Breaks in slopes) द्वारा रांची पठार मे उत्थान का आभास मिलता है। **उत्तरी कोइल, सख तथा बूढ़ा** नदियो के उपरी मार्ग मे ढाल-भंग रांची और पलामू मे अन्तिम टर्शियरी उत्थान को इंगित करते हैं। यदि छोटानागपुर की सरिताओ की अनुप्रस्थ परिच्छेदिकाओ का अवलोकन किया जाय तो उनकी घाटियों मे अध कर्तन (Incision) का स्पष्ट आभास मिलता है।

पश्चिमी छोटानागपुर के उत्थान के साथ टर्शियरी चक्र प्रारम्भ होता है। मध्य टर्शियरी उत्थान (*Mid tertiary* upliftment) के कारण टर्शियरी चक्र मे व्यवधान उपस्थित हो गया जिस कारण **'मध्य टर्शियरी चक्र'** जिसे **हुन्डरू प्रपात चक्र'** (Hundru falls cycle) के नाम से भी जाना जाता है का सूत्रपात हुआ '(मायोसीन युग में)। पठार के किनारो पर सरिताओ की तरुण अवस्थाओ मे इस चक्र के प्रमाण मिलते है। उत्तर-पूर्व द० से प० दिशा मे अनेक प्रपात मिलते है, जिनमे खड़े ढाल वाले कगार (Scarp), खण्डित शैल स्तर (Truncated strata), प्रपात के नीचे गार्ज तथा भ्रंश-रेखा के पास अधिक ढालप्रवणता आदि सर्वत्र समान रूप मे मिलते हैं। छोटानागपुर के द० पू० भाग मे सामान्य उत्थान के कारण टर्शियरी अपरदन-चक्र मे भी व्यवधान उपस्थित हो गया। धालभूम म स्वर्णरेखा घाटी के पश्चिमी भाग मे विभेदक उत्थान (Differential upliftment) के कारण 'हुन्डरू चक्र' मे व्यवधान हुआ है। स्वर्णरेखा ने *प्राचीन समप्राय मैदान से 300-400 फीट नीचे* नवीन सतह का निर्माण किया है। इस सतह पर छोटे-छोटे पठार प्राचीन अपरदन-सतह (समप्राय मैदान) के परिचायक है। अन्तिम अपरदन चक्र के दौरान धालभूम के दक्षिणी भाग म जलोढ का जमाव हो गया है। जलोढ-युक्त वेदिकायें अभिनव उत्थान को प्रदर्शित करती हैं।

प्रायद्वीपीय भारत का कालानुक्रम अनाच्छादन
(Denudation Chronology of Peninsular India)
प्रायद्वीपीय भारत का स्थलाकृति चक्र
(The Landscape Cycles of Peninsular India)

सामान्य परिचय—कालानुक्रम अनाच्छादन के अन्तर्गत किसी भी क्षेत्र के स्थलरूपो के ऐतिहासिक विकास का अध्ययन किया जाता है अर्थात् यह देखा जाता है कि अमुक क्षेत्र के स्थल रूपो का वर्तमान रूप अपने विकास को किन-किन अवस्थाओ से गुजरने के बाद प्राप्त हुआ है। प्राय ऐसा विश्वास किया जाता है कि स्थलरूपो का ऐतिहासिक विकास आधार-तल मे क्रमिक गिरावट के कारण होता है। जिस समय सागर-तल समवत रहता है, उस समय पर्याप्त समय के प्राप्त हो जाने के कारण

अनाच्छादन के कारण ऐसे स्थलरूपों का विकास अवश्य हो जाता है, जिनकी स्पष्टता के साथ पहचान की जा सके। ऐतिहासिक विकास की जानकारी मे अपरदन-सतह अधिक सहायक होती है। अत अपरदन-सतहो की पहचान तथा उनका तिथिकरण एवं प्रवाह-प्रणाली के विकास के विवरण कालानुक्रम-अनाच्छादन में महत्त्व-पूर्ण होते हैं। इसका उल्लेख इसी अध्याय मे पहले ही कर दिया गया है।

प्रायद्वीपीय भारत का वर्तमान रूप—प्रायद्वीपीय भारत का वर्तमान रूप उत्थान, अनाच्छादन, लावा-प्रवाह आदि क्रियाओ के लम्बे इतिहास का प्रतिफल है। जहाँ कहीं भी प्रायद्वीपीय भारत के ऊपरी स्वरूप को देखा जाय, बहुचक्रीय स्थलाकृति अपने अतीत की गाथा लिये सामने आ जाती है। प्रायद्वीपीय भारत चारो तरफ से प्राचीन घर्षित अवशिष्ट पर्वतो तथा पहाड़ियो से आबद्ध है। उत्तर-पश्चिम मे **अरावली पहाड़ियाँ** गुजरात से दिल्ली तक फैली है तथा भूतल के प्राचीनतम भाग को प्रदर्शित करती हैं तथा अति अनाच्छादन के होने पर भी 4000 से 5000 फीट की ऊँचाई वाली छिट-पुट चोटियो से भरी पड़ी है। उच्चतम भाग **माउण्ट आबू** 5650 फीट ऊँचा है। अरावली को काट करके कई सरिताएँ (माही तथा **लूनी** अरब सागर की ओर तथा **चम्बल** और **बनास** यमुना नदी मे) प्रवाहित होती है। दक्षिण की ओर **मालवा का पठार** विन्ध्यन श्रेणियो से घिरा है। वास्तव मे **विन्ध्यन श्रेणियाँ** भू-भ्रंश घाटी (Rift valley) के एस्कार्पमेन्ट के रूप मे परिलक्षित होती है। विन्ध्यन श्रेणियाँ इन्दौर से भोपाल, बघेलखण्ड होती हुई सासाराम (बिहार) तक फैली है। विन्ध्यन के समान ही **कैमूर श्रेणियाँ** सोन घाटी के एस्कार्पमेन्ट के रूप मे फैली है। मालवा पठार को नदियो ने काट करके बीहडो (Ravines) मे बदल दिया है। उदाहरण के लिए बुन्देलखण्ड मे ऐसे अनेकों बीहड देखने को मिलते है)। नर्मदा के दक्षिण मे "दकन टेबुल लैण्ड" त्रिभुजाकार रूप म फैला है, जिसके तीनो किनारो पर पर्वत श्रेणियाँ तथा पहाड़ियाँ, पाई जाती है। नर्मदा के द० मे **सतपुड़ा** की पहाड़ियाँ, प० मे **राजपीपला** से लेकर विभिन्न रूपो मे पूर्व मे राजमहल तक फैली है। पश्चिम मे इसकी गुम्बदाकार संरचना '**दकन लावा**' के नीचे दबी पड़ी है। पूर्व मे इसकी अपरदन-सतह पर गोंडवाना-क्रम की **महादेव पहाड़ियाँ** (या पचमढी पहाडियाँ) फैली हैं। अमरकंटक के आस-पास **मैकाल श्रेणी**, जिसका निर्माण आर्कियन शील्ड तथा 'दकन ट्रैप' से हुआ है, कि ऊँचाई अधिक हो जाती है। पूर्व मे पुन: इसका विस्तार सरगुजा, राँची तथा हजारी बाग की पहाडियों के रूप मे पाया जाता है। सतपुड़ा तथा प्रायद्वीपीय भारत की पर्वत श्रेणियो तथा पहाडियो की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनके शिखर नुकीले न होकर चपटे होते हैं। सतपुड़ा मे भ्रशन की क्रियायें अत्यधिक हुई हैं, जिस कारण इसमे नदियाँ गहरे गार्ज से होकर प्रवाहित होती है। सतपुड़ा के उत्तर मे नर्मदा की तथा दक्षिण मे ताप्ती की **भ्रंश घाटियाँ** हैं। नर्मदा तथा ताप्ती नदियाँ प्रायद्वीपीय भारत के सामान्य ढाल के विपरीत दिशा मे (पश्चिम की ओर) प्रवाहित होती हैं।

प्रायद्वीपीय भारत के पश्चिम में पश्चिमी घाट पर्वत ताप्ती की इस्चुअरी से लेकर कन्या कुमारी अन्तरीप तक फैले है। पश्चिमी घाट का अरब सागर की ओर का सोपानाकार रूप भ्रशन की क्रिया को इंगित करता है। बहुत कम ही नदियो ने पश्चिमी घाट को पार करने का प्रयास किया है। पूर्व मे **पूर्वी घाट पहाड़ियाँ** विच्छिन्न रूप मे मयूरभज से नीलगिरि तक फैली है। पूर्व-वाहिनी नदियों ने पूर्वी घाट को खण्डो मे विभक्त कर रखा है। पूर्वी घाट का पश्चिमी घाट से सम्बन्ध नीलगिरि द्वारा तथा सतपुड़ा से छोटानागपुर की पहाडियो से हो जाता है। दक्षिण मे पालघाट द्वारा अन्नामलाई पहाडियाँ **नीलगिरि** से अलग हो जाती है। अन्नामलाई की एक शाखा उ० पू० दिशा मे **पलनी पहाड़ी** के रूप म व्याप्त है। पूर्व मे प्रायद्वीपीय भारत की पहाडियाँ आसाम श्रेणियो के रूप मे व्याप्त है। प्रायद्वीपीय भारत ने अतीत मे विस्तृत भ्रंशन, नमन (Tilting), वलन की क्रियाओं का सामना किया है। भ्रशन के कारण प्रायद्वीपीय भारत कई छोटे-छोटे पठारी भागो (मालवा पठार, दकन टेबुललैण्ड, **छोटानागपुर का पठार**, **मैसूर पठार**) मे विभक्त हो गया। इन घाटियों (भ्रंश) मे सम्मुख के कगारो का अत्यधिक अपरदन हुआ है, जिस कारण बीहडो का निर्माण हो गया है। प्रायद्वीपीय भारत की इस बहुचक्रीय स्थलाकृति (संयुक्त स्थलाकृति Composite landscape) का आविर्भाव लम्बे समय तक अपरदन की कई अवस्थाओ के कारण हो पाया है। इस दौरान सागर-तल मे कई बार परिवर्तन हुए है तथा कई अपरदन-चक्र घटित हुए है।

स्थलाकृति का विकास

प्रायद्वीपीय भारत की स्थलाकृति का विकास कई अपरदन-चक्र, अवसादीकरण, लावा-प्रवाह, पर्वतीकरण,

शैल रूपान्तरण, नमन (Tilting), विदारण (Tearing); सुस्थितिका (Eustatism), स्थलरूपों का व्यापक पुनर्जीवन (Resurrection) आदि का प्रतिफल है जो कि **पालिम्पसेस्ट स्थलाकृति** (palimpsest) की उदाहरण है। प्रायद्वीपीय भारत के लगभग आधे भाग की प्राचीनतम सरचना का अनाच्छादन के कारण अनावरण (Exposure) हो गया है तथा अन्य भागों पर नवीन जमाव का आवरण बिछ गया है। यदि प्रायद्वीपीय भारत की स्थलाकृति में चक्रीय विकास को देखा जाय तो इनमे सागरतल में धनात्मक तथा ऋणात्मक परिवर्तन, लावा-प्रवाह, जलवायु परिवर्तन, चक्र में व्यवधान आदि स्पष्ट रूप में परिलक्षित होते हैं। 'यदि कुछ 'चक्रों' की छाप अब भी सुरक्षित है जिसका उद्घाटन किया जा सकता है तो कुछ चक्र अतीत में विलीन हो गये हैं (आर० पी० सिंह)।[1]

भू-वैज्ञानिक सरचना (Geological Structure)

स्थलरूपों के निर्माण में भू-वैज्ञानिक सरचना एक महत्त्वपूर्ण प्रभावकारी कारक होती है तथा प्रायद्वीपीय भारत की भू-वैज्ञानिक सरचना, यद्यपि कुछ प्रारम्भिक सरचना नष्ट हो चुकी है, उसके आकृतिक स्वरूप को व्यक्त करने में पूर्णतया समर्थ है। प्रायद्वीपीय भारत की सरचना का इतिहास गोंडवानालैण्ड के दृढ़ भूखण्ड से जुड़ा हुआ है। प्रायद्वीपीय भारत के 'कालानुक्रम-अनाच्छादन' के अध्ययन के लिए उसके "**स्तर शैल-विज्ञान**" (Stratigraphy) का सक्षिप्त विवरण देना समीचीन जान पड़ता है। प्रायद्वीपीय भारत का प्रारम्भिक सरचानात्मक जमाव '**आर्कियन समूह**' से प्रारम्भ होकर 'आर्यन **समूह**' के अभिनव जमाव (डेल्टा का अभिनव जमाव, अभिनव उत्थित पुलिन (Raised beaches), कोरल तट आदि) के साथ समाप्त हो जाता है (आगे भी जमाव होता रहेगा)।

(1) **आर्कियन वर्ग**—की चट्टानों में प्रमुख है आर्कियन क्रम की नीस तथा ग्रेनाइट तथा **धारवार क्रम** की चट्टानें। धारवार क्रम की चट्टानें मैसूर में धारवार तथा बेलारी जिलों में, कर्नाटक तथा छोटानागपुर में **सासर श्रेणी** के रूप में, बालाघाट तथा छिन्दवाड़ा में **चिपली श्रेणी** के रूप में, रीवाँ तथा जबलपुर में **गोंडाइट श्रेणी**, विशाखापट्टनम में **कोडूराइट श्रेणी**, सिंहभूमि में **डाल्मा ट्रैप** तथा अरावली श्रेणियों के रूप में पाई जाती हैं। धारवार चट्टानों का रूपान्तरण अत्यधिक हुआ है तथा इनमे जीवावशेष (Fossils) नहीं पाये जाते हैं। चट्टानें अपने मूलरूप में अर्थात् क्षैतिज रूप में नहीं पाई जाती हैं।

(ii) **पुराना वर्ग**—की चट्टानों में दो समूह प्रमुख हैं—1 **कुडाप्पा क्रम** की चट्टानें तथा 2 **विन्ध्यन क्रम** की चट्टानें। कैम्ब्रियन युग से पूर्व अलगानिकियन समय में **कुडाप्पा क्रम** की चट्टानों का जमाव हुआ। इनका निर्माण शेल, स्लेट क्वार्टजाइट तथा चूने के पत्थर से हुआ है परन्तु रूपान्तरण के कारण इनका रूप बदल गया है। इनमे जीवावशेष नहीं पाये जाते हैं यद्यपि उस समय तक पृथ्वी पर जीवों का आविर्भाव हो चुका था। जमाव की दृष्टि से कुडाप्पा चट्टानें दो रूपों (ऊपरी तथा निचली कुडाप्पा) में पाई जाती हैं। इन चट्टानों का वितरण, कृष्णा घाटी में **कृष्णा श्रेणी** के रूप में, नल्लामलाई श्रेणियों में **नल्लामलाई श्रेणी** के रूप में, चेयार घाटी में **चेयार श्रेणी** पापाघनी घाटी में **पापाघनी श्रेणी** तथा पठार के उत्तरी पश्चिमी भाग में **दिल्ली श्रेणी** के रूप में पाया जाता है। पुराना वर्ग की द्वितीय महत्त्वपूर्ण चट्टान "**विन्ध्यन**" के रूप में पायी जाती है। इसका विस्तार एक लाख वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में पाया जाता है। ये चट्टानें पूर्व में बिहार के **रोहतास** तथा **सासाराम** से पश्चिम में राजस्थान के **चित्तौड़गढ़** तक फैली हैं। ये परतदार शैल हैं, जिनका जमाव जल में हुआ है। जमाव की दृष्टि से इनके दो भाग हैं। 1 निचली विन्ध्यन तथा 2. ऊपरी विन्ध्यन। निचली विन्ध्यन चट्टानें—सोन घाटी में **सेमरी श्रेणी**, आन्ध्रप्रदेश में **कर्नूल श्रेणी**, भीमा घाटी में **भीमा श्रेणी**, तथा राजस्थान के जोधपुर तथा चित्तौड़गढ़ में **पलनी श्रेणी** के रूप में पायी जाती हैं। ये चट्टानें मालवा तथा बुन्देलखण्ड के कुछ भागों में भी पायी जाती हैं।

(iii) **द्रविडियन वर्ग** (Dravidian Group)—में अनेक क्रम की चट्टानें पाई जाती हैं, जिनमे प्रमुख है ऊपरी विन्ध्यन क्रम। इसका निर्माण कैम्ब्रियन युग में हुआ था।

1. "While the imprint of some cycles has been preserved and can be decipherd, that others have been obliterated by the ceaseless march of time" Singh, R. P., 1960 : Structure, drainage and *morphology of* Chhotanagpur Highlands, Geographical Outlook, Vol II, No III, p. 2.

इस क्रम की चट्टानों का निर्माण नदियो मे जमाव के फल-स्वरूप हुआ है। इनमे प्रमुख चट्टानें बालुका पत्थर तथा काग्लोमरेट है। ऊपरी विन्ध्यन चट्टानो का विस्तार **भाण्डेर श्रेणी**, **रीवा श्रेणी** तथा **कैमूर श्रेणी** के रूप मे पाया जाता है।

(iv) आर्यन वर्ग (Aryan Group)—की चट्टानो का जमाव पर्मियन से लेकर जुरैसिक युगो तक हुआ है। इनमे सर्वप्रमुख है—**गोंडवाना क्रम की चट्टानें**। इन चट्टानो मे तोड-फोड बहुत कम हुआ है तथा ये चट्टानें अपनी वास्तविक अवस्था मे पाई जाती है। अधिकाश चट्टानो का निक्षेप नदियो की घाटियो मे हुआ है तथा इनकी परते क्षैतिज रूप मे पाई जाती है। इन्ही चट्टानो मे कोयले का जमाव पाया जाता है तथा भारत का 98 प्रतिशत कोयला गोंडवाना क्रम की चट्टानो मे ही प्राप्त होता है। गहराई के अनुसार गोंडवाना क्रम की चट्टानो को तीन वर्गों मे विभाजित किया जाता है। 1. **निचला गोंडवाना-क्रम** का जमाव पर्मियन से कार्बानिफरस युग तक हुआ। 2. **मध्य गोंडवाना-क्रम** का निक्षेप ट्रियासिक युग तथा 3 **ऊपरी गोंडवाना-क्रम** का जमाव जुरैसिक युगो मे हुआ है। इन चट्टानो का विस्तार गोदावरी नदी की घाटी महानदी की घाटी, गोदावरी की सहायक नदियो वेनगगा तथा वार्धा नदियो की घाटियो मे, कच्छ, काठियावाड पश्चिमी राजस्थान तथा विशाखापट्नम तक पाया जाता है। निचले गोंडवाना-क्रम मे **तालचेर श्रेणी**, **दामुदा श्रेणी** तथा **रानीगंज श्रेणी** के रूप मे ये चट्टानें पायी जाती हैं। इन भागो मे पर्याप्त मात्रा मे कोयला पाया जाता है। मध्य गोंडवाना-क्रम मे चट्टाने **मलेरी उप श्रेणी**, **महादेव उप श्रेणी** तथा **पंचहेत उपश्रेणी** के रूप मे पायी जाती है।

क्रीटैसियस युग मे प्रायद्वीपीय भारत के ऊपर ज्वालामुखी-क्रिया के कारण व्यापक लावा-प्रवाह हुआ जिसका जमाव 2,00,000 वर्ग मील क्षेत्र मे हो गया। प्रायद्वीपीय भारत मे लावा की परत की गहराई 2000 से 5000 फीट तक पाई जाती है तथा अत्यधिक गहराई 10,000 फीट तक है। लावाट्रैप का विस्तार गुजरात, महाराष्ट्र, सौराष्ट्र तथा पश्चिमी मध्य प्रदेश मे पाया जाता है। इसके अलावा छिटं-फुट रूप मे मद्रास तथा बिहार मे भी इसका वितरण मिलता है। दक्षिणी ट्रैप (Deccan trap) को तीन भागो मे विभाजित किया जाता है—1. **निचला ट्रैप** 5000 फीट गहरा, 2 **मध्यवर्ती ट्रैप** 4000 फीट गहरा तथा 3 **ऊपरी ट्रैप** 1500 फीट गहरा। इस प्रकार प्रायद्वीपीय भारत की आर्कियन चट्टानों पर क्रीटैसियस तक की चट्टानो का जमाव हुआ है। कच्छ तथा काठियावाड एव दक्षिणी-पूर्वी तटीय भागो मे सागरीय अतिक्रमण (Transgression) के उदाहरण मिलते हैं, जिस कारण छिट-पुट रूप मे जुरैसिक, क्रीटैसियस तथा टर्शियरी युगो के सागरीय जमाव के उदाहरण मिलते हैं परन्तु यह जमाव नगण्य है।

समूह (Group)	क्रम (System)	श्रेणी (Series)	युग	वितरण
1 आर्कियन वर्ग	आर्कियन क्रम 1. नीस और ग्रेनाइट जमाव	1 बगाल नीस	लौरेंसियन	प० बङ्गाल, बिहार, उड़ीसा, कर्नाटक, मैसूर आदि।
		2. बुन्देलखण्ड नीस		बुन्देलखण्ड, बालाघाट, मैसूर, अर्काट आदि।
		3 कार्नोकाइट श्रेणी		नीलगिरि, पलनी, शेवराय आदि।
	2 धारवार क्रम	1 दकन धारवार	ह्यूरोनियन	धारवार तथा बेलारी (मैसूर)
		2 मध्य भारत		नागपुर, छिंदवाडा,
		(i) सासर श्रेणी		भण्डारा (मध्य प्रदेश)
		(ii) चिल्पी श्रेणी		बालाघाट, छिंदवाडा (मध्य प्रदेश)
		(iii) गोंडाइट श्रेणी		रीवा, जबलपुर, बालाघाट, छिंदवाडा, नागपुर (म० प्र०), बागवारा (राज०)
		(iv) कोडूराइट श्रेणी		विशाखापट्नम
		(v) लौह खनिज श्रेणी		राँची, हजारीबाग, गया, सिंहभूमि, मयूरभंज आदि।

वर्ग (Group)	क्रम (System)	श्रेणी (Series)	युग	वितरण
		3 उ० प० धारवार		
		(vi) अरावली श्रेणी		राजस्थान
		(vii) चम्पानेर श्रेणी		गुजरात
2. पुराना वर्ग	1. कुडाप्पा क्रम		अलगान्कियन	
	(अ) निचला कुडाप्पा क्रम	1. पापाघनी श्रेणी		पापाघनी घाटी
		2. चेयार श्रेणी		चेयार घाटी, बीजावर
	(ब) ऊपरी कुडापा क्रम	3 नल्लामलाई श्रेणी		नल्लामलाई पहाड़ी
		4 कृष्णा श्रेणी		कृष्णा घाटी
	(स) दिल्ली क्रम	1. रयालो श्रेणी		राजस्थान
		2 अलवर श्रेणी		
		3 अजबगढ श्रेणी		
	2 विन्ध्यन क्रम	1 सेमरी श्रेणी	टारिडोनियन	सोन घाटी
	(अ) निचल विन्ध्यन क्रम	2 पलनी श्रेणी		चित्तौड़, जोधपुर
		3. कर्नूल श्रेणी		कर्नूल (आन्ध्र प्रदेश)
		4 भीमा श्रेणी		भीमा घाटी
		5 मलानी श्रेणी		मरवार (राजस्थान)
	(ब) ऊपरी विन्ध्यन क्रम	6. भाण्डेर श्रेणी		उ० प० दकन पठार (अरावली आदि)
		7. रीवा श्रेणी		रीवा
3. द्रवीदियन वर्ग	—	—	कैम्ब्रियन से मध्य कार्बोनिफरस	मध्य भारत की ऊपरी विन्ध्यन श्रेणियाँ
4 आर्यन वर्ग	1 गोंडवाना क्रम			
	(अ) निचला गोंडवाना क्रम	1 तालचीर श्रेणी	ऊपरी कार्बोनिफरस से जुरैसिक	तालचीर
		2 दामुदा श्रेणी		दामुदा (बङ्गाल), सतपुड़ा, रानीगंज राजमहल
		3 पचहेत श्रेणी		पचहेत
	(ब) मध्य गोंडवाना क्रम	4. महादेव श्रेणी		महादेव तथा पचमढी पहाड़ी (सतपुड़ा)
		5 मलेरी श्रेणी		सतपुड़ा, गोदावरी प्रदेश
		6 राजमहल श्रेणी		दामोदर घाटी, राजमहल पहाड़ी
	(स) ऊपरी गोंडवाना क्रम	7 जबलपुर श्रेणी		जबलपुर, चौगान,
		8 उमिया श्रेणी		दामोदर घाटी, उमिया कच्छ
	(द) क्रीटैसियस क्रम		डेनियन	
	(i) निचला क्रीटैसियस क्रम	—		कारोमण्डल तट नर्मदा घाटी
		—		

वर्ग (Group)	क्रम (System)	श्रेणी (Series)	युग	वितरण
	(ii) ऊपरी क्रीटैसियस उत्तातुर अवस्था			
	क्रम	त्रिचनापल्ली अवस्था		द० पू० तटीय भाग
		अरियालुर अवस्था		
	(य) दकन ट्रैप			
	(लावा-प्रवाह)	क्रीटैसियस निचला इयोसीन		कच्छ, काठियावाड़, गुजरात, मध्य प्रदेश, मध्य भारत, हैदराबाद, दकन आदि

(र) टर्शियरी क्रम

1 गुजरात—सूरत तथा भड़ौच के बीच मृत्तिका, बजरी, बालुका प्रस्तर तथा चूने का प्रस्तर का निक्षेप (इयोसीन)।

2 काठियावाड़—काठियावाड़ प्रायद्वीप के सुदूर पू० तथा प० छोर पर पथरीले चूने के पत्थर का निक्षेप (ओलीगोसीन से प्लायोसीन)।

3. कच्छ—सबसे नीचे जलज शैल, मध्य में पथरीला चूने का पत्थर तथा सबसे ऊपर मृत्तिका, मार्ल तथा चूना प्रधान शैल पायी जाती है।

4 राजपूताना—अरावली के प० में बीकानेर, जोधपुर तथा जैसलमेर में चूने का प्रस्तर पाया जाता है (इयोमीन)।

5 कारोमण्डल तट—समस्त कारोमण्डल तट पर जीवावशेष युक्त जमाव (इयोसीन से प्लायोसीन तक) पाया जाता है। इसमें सर्वाधिक महत्त्व कुडालोर श्रेणी है, जो कि उत्तर में उड़ीसा से लेकर द० में कुमारी अन्तरीप तक फैली है। इसी तरह का जमाव पश्चिमी तट पर ट्रावनकोर से रत्नगिरि तक पाया जाता है। इसमें प्रमुखता बालुका पत्थर की है।

6 मलाबार तट—ट्रावनकोर तथा कोचीन तट पर ऊपरी टर्शियरी के जमाव मिलते हैं। चूने के पत्थर की तह में मॉलस्कस (Molluscus), मूँगा (Corals) तथा फोरामिनीफेरा के अवशेष मिलते हैं।

(व) प्लीस्टोसीन जमाव

प्रायद्वीपीय भारत पर लेटराइट (प्लायोसीन का) जमाव। ऊपरी कुडालोर बालुका पत्थर, राजपूताना के बालुका स्तूप (Sand dunes) तथा लोयस, सागरीय किनारों पर उत्थित पुलिन (Raised beaches), पोरबन्दर बालुका प्रस्तर, पूर्व पाषाण काल की बजरी (Gravel), निम्न-तलीय लेटराइट, नर्मदा तथा गोदावरी के पुरातन जलोढ़ (Alluvium) तथा कर्नूल का कन्दरा जमाव।

(श) अभिनव जमाव

कोरमण्डल तट, अभिनव उत्थित पुलिन तथा डेल्टाओं का नूतन जलोढ़।

यदि प्रायद्वीपीय भाग के भूगर्भिक इतिहास को देखा जाय तो इसके कैम्ब्रियन युग के बाद पूर्णतया या बड़े पैमाने पर सागर में निमज्जित होने तथा पर्वतीकरण के प्रमाण नहीं मिलते हैं। कैम्ब्रियन युग से पहले केवल स्थानीय सागरीय अतिक्रमण के लक्षण मिलते हैं जिस समय कुडाप्पा तथा विन्ध्यन अवसादीकरण (Sedimentation) हुआ माना गया है। इसके बाद यदि सागरीय अतिक्रमण प्रायद्वीप पर हुआ है तो स्थानीय एवं अल्पकालिक रहा है, जिस कारण किनारे वाले भाग पर ही सागरीय जल का प्रसरण हो पाया है। हर्सीनियन पर्वतीकरण के कारण ही दामोदर, सोन तथा महानदी की घाटियों में विदरण (Tearing) माना गया है। यद्यपि टर्शियरी पर्वतीकरण का प्रत्यक्ष प्रभाव प्रायद्वीपीय भारत पर नहीं हो पाया, परन्तु उसका कुछ प्रभाव अवश्य हुआ है, जिस कारण कहीं पर उत्थान तो कहीं पर उत्सवलन या अवसवलन (Upwarp and downwarp) हो गये।

प्रायद्वीपीय भाग के अनाच्छादित दृश्यांश (Outcrops) यह इंगित करते हैं कि प्रारम्भिक पर्वतीकरण के फलस्वरूप पश्चिम दिशा की ओर झुके वलन का निर्माण हुआ होगा। इसके बाद तीव्र पर्वतीकरण के कारण उ०-उ०प० दिशा में समपनति (Anticlinorium)

का निर्माण हो गया।[1] दिल्ली-अरावली मेखला के कारण उ० पू०-द०प० दिशा में एक समभिनति (Synchnorium) का निर्माण हो गया। **डाल्मा तथा धनजोरी लावा-प्रवाह** के पहले ही आर्कियन पर्वतों का सपाटीकरण हो गया तथा वे समप्राय मैदान में परिवर्तित हो गये। प्रायद्वीपीय भारत के अनाच्छादनात्मक इतिहास में निम्न अवस्थायें बताई जा सकती हैं।[2]

पूर्व धारवार स्थलाकृति (Pre-Dharwar Landscape)—प्रायद्वीपीय भारत का इतिहास आद्यनिर्मित (primeval) मौलिक ठोस सतह से प्रारम्भ होता है। इस सतह पर लम्बे समय तक अपरदन तथा अवसादीकरण का दौर चलता रहा। इन अवसादों का कई बार आकुञ्चन (Buckling) तथा रूपान्तरण हुआ, जिस कारण प्रायद्वीपीय भारत की आधारभूत (Basal) नीस तथा ग्रेनाइट चट्टानों का निर्माण हुआ। इनके बीच में पुन लावा का प्रवेश स्थान-स्थान पर हुआ, जो कि नीलगिरि, पलनी तथा शेवराय की "चार्नोकाइट" (Charnockites) के रूप में आज भी दृष्टिगत होते हैं। कैम्ब्रियन युग के पहले पांच भूसन्नतियों का अनुमान किया जा सकता है—(i) **धारवार भूसन्नति**, (धारवार में प्रारम्भ होकर पूरे मैसूर तक विस्तृत), (ii) **पूर्वी घाट भूसन्नति**, (iii) **सतपुड़ा भूसन्नति**, (iv) **अरावली भूसन्नति** तथा (v) **दिल्ली भूसन्नति**।

धारवार स्थलाकृतिक चक्र (Dharwar Landscape Cycle)—उपर्युक्त भूसन्नतियों से निर्मित प्रारम्भिक पर्वतों पर धारवार अपरदन-चक्र प्रारम्भ हुआ होगा। इन पर्वतों का सपाटीकरण (Planation) कैम्ब्रियन से पहले ही हो गया होगा। यद्यपि हिरोन (Hiron) के अनुसार अरावली का सपाटीकरण मेसोजोइक कल्प में हुआ था। इस समय अपरदन, अवसादीकरण (Sedimentation) तथा लावा-प्रवाह लम्बे समय तक चलता रहा। **आर्कियन वलन** के साथ नई अनुदैर्घ्य (Longitudinal) तथा अनुप्रस्थ (Transverse) सरिताओं का आविर्भाव हुआ। इनकी अपरदित घाटियों में अवसादीकरण (**धनजोरी कांग्लोमरेट**) तथा लावा-प्रवाह (**डाल्मा धनजोरी लावा**) के लक्षण उपलब्ध हुये हैं। मध्य प्रदेश में प्रारम्भ होकर छोटानागपुर से होकर पश्चिमी बंगाल के मिदिनापुर जिले तक स्थलाकृति के विकास में आर्कियन डाल्मा लावा-प्रवाह का नियंत्रण परिलक्षित होता है। प्रायद्वीपीय भारत की अत्यधिक अनाच्छादित सतह पर कुछ सागरीय अतिक्रमण के भी प्रमाण मिले हैं (कुडापा तथा विन्ध्यन सागर)। **कुडाप्पा सागर** का नीलगिरि-पहाड़ियों तक प्रसार हुआ होगा, जहाँ पर सागरीय जमाव का अपरदन (बाद में) हो गया होगा। कुडापा सागर का आन्ध्र तथा मध्य प्रदेश के कुछ भागों पर भी प्रसार हुआ होगा। **विन्ध्यन तथा कुडाप्पा सागर** के बीच का भाग जीवावशेष रहित जमाव द्वारा प्रदर्शित होता है। **अरावली से सासाराम तक विन्ध्यन सागर का विस्तार रहा होगा**। मध्यवर्ती उच्च भाग शुष्क था, जो कि छोटानागपुर से होकर आसाम तक फैला था। सम्भवत नर्वदा तथा सोन घाटी में '**बिजावर सागर**' का विस्तार रहा होगा परन्तु कुडाप्पा जमाव के पहले यह तिरोहित हो गया होगा। आगे चलकर बुन्देलखण्ड के उ० प० में अवतलन के कारण सागर का विस्तार हो गया, जिससे '**ग्वालियर क्रम**' का जमाव हुआ (ओल्डहम)।

कुडाप्पा विन्ध्यन स्थलाकृतिक चक्र—कुडापा तथा विन्ध्यन निक्षेप में उत्थान हुआ, जिस कारण नवीन अपरदन चक्र प्रारम्भ हुआ। पश्चिमी घाट के सतपुड़ा के दक्षिणी ढाल से आने वाली नदियों ने '**कुडाप्पा सागर**' में निक्षेप करना प्रारम्भ कर दिया। इसी तरह सतपुड़ा तथा अरावली से आने वाली नदियों ने '**विन्ध्यन सागर**' में जमाव करना प्रारम्भ कर दिया। इस तरह **आर्कियन प्रवाह** (Archaean drainage) के तीन अक्ष (पश्चिमी घाट, सतपुड़ा तथा अरावली) थे। विन्ध्यन श्रेणी के आविर्भाव होने के साथ ही कई अनुवर्ती (Consequent) परवर्ती (Subsequent) तथा प्रत्यनुवर्ती (Obsequent) सरिताओं का आविर्भाव हुआ। इस नवीन प्रवाह-क्रम के उद्भव के कारण अरावली तथा सतपुड़ा के प्रवाह-क्रम (Drainage system) को पुनर्समायोजित करना पड़ा।

विन्ध्यन हिमानीकरण (Vindhyan Glaciation) सोन नदी घाटी का गोलाश्म उत्तर (Boulder bed), केन घाटी का टिलाइट (Tillite), पाण्डव प्रपात तथा सेमरी श्रेणी का 'जलीय महाद्वीपीय जमाव' विन्ध्यन श्रेणियों में हिमानीकरण को प्रमाणित करता है। विन्ध्यन

1. Pichamuthu, C. S 1961 Tectonics of Mysore State Proc. Ind Acad. Sci, 53.
2. प्रस्तुत विवरण प्रो० आर० पी० सिंह के शोध पत्र "Landscape Cycles of Peninsular India", पर आधारित है।

श्रेणियों के ऊपरी भाग पर हिम-नदियों ने सरिताओं के उद्गम स्थल को आच्छादित कर लिया होगा। इन हिम नदियों के अगल-बगल परिहिमानी प्रक्रम भी सक्रिय रहे होंगे। खण्डित नदियाँ (Truncated streams) निचले भाग में अपने को कायम रखने में समर्थ हो गई होंगी। शीघ्र ही हिमानी का लोप हो गया, जिस कारण अस्त-व्यस्त प्रवाह-क्रम का आविर्भाव हुआ होगा।

कैम्ब्रियन स्थलाकृतिक चक्र—विन्ध्यन श्रेणियों के ऊपर से हिमानी के लोप के साथ कैम्ब्रियन के अन्त में नवीन अपरदन-चक्र प्रारम्भ हो गया। समस्त प्रायद्वीप में विन्ध्यन जमाव के ऊपर लम्बे समय तक अपरदन चलता रहा, जिस कारण उच्चावच, प्रवाह आदि में पर्याप्त अन्तर हुए। अरावली का भी पर्याप्त अपरदन हुआ, जिस कारण ऊँचाई में ह्रास हो गया। परन्तु अरावली के समप्राय मैदान (Peneplain) में परिवर्तन क्रीटैसियस के पहले हो पाया था। यद्यपि कैम्ब्रियन चक्र के कारण प्रायद्वीप के उच्चावच ऊँचाई में अत्यधिक कम हो गये थे, तथापि प्राचीन पर्वतों के इतने अवशेष अवश्य बच रहे कि उनकी पहचान की जा सके।

कार्बोनिफरस हिमानीकरण तथा स्थलाकृति—कार्बोनिफरस युग में समस्त गोंडवानालैण्ड (द० अमेरिका, अन्टार्कटिका, अफ्रीका, मैडागास्कर, प्रायद्वीपीय भारत तथा आस्ट्रेलिया का सम्मिलित रूप) का व्यापक हिमानीकरण हुआ। यद्यपि कार्बोनिफरस हिमानीकरण के अवशेष, उत्थान तथा अपरदन के कारण अधिकांश रूप में नष्ट हो गये हैं, तथापि उनके छिट-पुट अवशेषों के आधार पर यह बताया जा सकता है कि हिम चादर की अक्ष अरावली पर रही होगी, जहाँ से उसका विस्तार पू० तथा द० पू० दिशा में अरावली हजारीबाग श्रेणियों के अक्ष के सहारे हुआ होगा। राजमहल में गोदावरी तथा रानीगंज से नागपुर तक कार्बोनिफरस हिमानीकरण के पर्याप्त लक्षण मिलते हैं। हिमचादर में प्रसार तथा निवर्तन (Retreat) के कारण कार्बोनिफरस सागर में क्रमश उतार चढ़ाव हुआ, जिस कारण स्थल पर सागर का अतिक्रमण हुआ। हिमचादर के अग्रगमन (Advancement) के कारण कार्बोनिफरस के पहले की स्थलाकृति पर हिम-चादर का आवरण हो गया, जिस कारण पहले का स्थलाकृति चक्र समाप्त हो गया। कुछ नदियों का निचला भाग हिम से आच्छादित न हो सकने के कारण खण्डित (Truncated) हो गया। तालचीर में सरोवरी-अवस्था (Limnological stage) थी। बेसिन में 50-100 फीट की गहराई तक गोलाश्म (Boulders) के जमाव हुए। वास्तव में तालचीर में प्रारम्भिक हिमोढ़ द्वारा झीलों का निर्माण हो गया था, जिनमें गोलाश्म का निक्षेप सम्भव हो पाया। हिम के पिघलने से प्राप्त जल इन झीलों में एकत्र हो गया तथा कई अन्य सरिताओं को भी जन्म दिया। आगे चलकर 'सरोवरी अवस्था' समाप्त हो गई तथा गर्म वातारण आ गया, जिस कारण नाड़ा युक्त शैल का निक्षेप हुआ। रानीगंज तथा पचहत श्रेणियाँ इस तरह के जमाव के प्रतिफल हैं। 'कामथी' तथा 'हिजिर' स्तर भी अपेक्षाकृत गर्म जलवायु को ही इंगित करते हैं। 'हरसीनियन हलचल' (Hrcynian movement) के कारण प्रायद्वीपीय नीस युक्त धरातल पर विदारण (Tearing) हुआ, जिस कारण कई 'विवर्तनिक बेसिन या नाद' (Tectonic troughs) का निर्माण हुआ। इस तरह की क्रियायें महानदी, दामोदर तथा गोदावरी के क्षेत्रों में अधिक हुईं, जिसकी धँसती हुई घाटियों में हजारों फीट गहरे अवसाद का जमाव हुआ। इन बेसिन में हिमद्रवण जल वाली सरिताओं (Melt water streams) ने मलबा का जमाव किया।

गोंडवाना स्थलाकृतिक चक्र—कार्बोनिफरस-हिमानीकृत सतह तथा गोंडवाना अवसाद, विषम विन्यास (Unconformity) द्वारा अलग होते हैं। गोंडवाना अवसाद विवर्तनिकी बेसिनों में सुरक्षित हैं, यद्यपि उनमें परिमार्जन अवश्य हुए हैं। इसी समय गोंडवाना जमाव के साथ ही साथ 'राजमहल बेसाल्ट' का भी निर्माण (लावाप्रवाह) हुआ। अपरदन के कारण प्रायद्वीप मेसोजोइक के अन्त (प्रारम्भिक क्रीटैसियस) तक समप्राय मैदान (Peneplain) में बदल चुका था। जिन भागों में अपरदन तीव्र नहीं था, वहाँ पर निक्षेप जनित स्वरूपों (Aggradational landforms) का निर्माण अवश्य हुआ। गोंडवाना-चक्र के समय प्रायद्वीपीय भारत पर द० से उ० दिशा में ढाल का विकास हुआ होगा परन्तु आगे चलकर नमन (Tilting) के कारण यह ढाल-अक्ष (Slope axis) बदल गई, परन्तु नीलगिरि (2920 मीटर की ऊँचाई पर) तथा कार्डमम (2923 मीटर की ऊँचाई पर) पहाड़ियों पर द० उ० ढाल-अक्ष के प्रमाण अब भी मिलते हैं। गोंडवाना अपरदन सतह के अधिकांश भाग नष्ट हो चुके हैं, परन्तु मद्रास, मध्य प्रदेश तथा महाराष्ट्र के कुछ भागों के निम्न उच्चावच में गोंडवाना सतह के लक्षण मिलते हैं। अरावली तथा विन्ध्यन श्रेणियों के ऊपर भी गोंडवाना अपरदन-

सतह के अवशेष के मिलने की आशा व्यक्त की जाती है (प्रो० आर० पी० सिंह)।

गोंडवाना का विभजन तथा गोंडवानोपरान्त स्थलाकृतिक चक्र—प्रायद्वीपीय भारत ने मध्य मेसोजोइक कल्प में गोंडवानालैण्ड से नाता तोड़ लिया, क्योंकि इस समय गोंडवानालैण्ड का विभजन हो गया तथा प्रायद्वीपीय भारत एशिया के साथ संलग्न हो गया। इस समय प्रायद्वीपीय भारत के किनारे पर कई बार सागर का अतिक्रमण हुआ, जिस कारण विश्नापल्ली बाघ लेमेटा (Lemeta) की क्षैतिज संरचना का आविर्भाव हुआ। कच्छ में सागरीय जमाव हुए। गोंडवानोपरान्त चक्र ने गोंडवाना सतह में अपरदन द्वारा नवीन स्थलरूपों का अंकन (प्रारम्भिक क्रीटैसियस) किया। सम्भवतः यह चक्र पूर्ण हो गया था। उदकमण्ड तथा कार्डमम पहाड़ियों की तिरछी ढलुवा सतह (Bevelled surface) पूर्वी घाट के उच्च शिखर (Summits) महाराष्ट्र तथा मध्य प्रदेश में इस तरह की सतह के अवशेष, अरावली और विन्ध्यन श्रेणियों के उच्च भाग 'गोंडवानोपरान्त अपरदन-सतह' (Post-Gondwana erosion surface) के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

क्रीटैसियस-इयोसीन लावा-प्रवाह - प्रायद्वीपीय भारत के उत्तरी-पूर्वी किनारे पर राजमहल में लावा का प्रवाह हुआ है जिसने 3,96,917 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र को प्रभावित किया तथा आकारकी में पर्याप्त परिमार्जन किया। प्रारम्भिक स्थलाकृति तथा प्रवाह-क्रम को लावा चादर ने ढक लिया। इयोसीन युग में इस तरह का एक विस्तृत लावा प्रवाह हुआ जिसने आर्कियन, विन्ध्यन तथा लेमेटा की अनाच्छादित सतह को ढक लिया। इस तरह दक्कन लावा क्षेत्र (Deccan lava country) का 5 18,000 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में ऊपर विस्तार हो गया (काठियावाड़ से नागपुर तथा मालवा से धारवार तक)। लम्बे समय तक अनाच्छादन के कारण इस लावा-सतह पर पहाड़ी, घाटियों तथा मैदानों का निर्माण हुआ। इनमें से कुछ पहाड़ियाँ अब भी दृष्टिगत होती हैं। स्मरणीय है कि इनका निर्माण अनाच्छादन के कारण हुआ है न कि वलन के कारण। विन्ध्यन के ऊपर लावा सतह स्थान-स्थान पर कट गई है, जिस कारण निचली प्राचीन विन्ध्यन स्थलाकृति झलक उठती है। वास्तव में जब प्रायद्वीपीय भारत पर लावा की चादर शीतल होकर ठोस हुई होगी तो उस पर अपरदन-चक्र प्रारम्भ हो गया होगा, जिस कारण सपाट सतह वाले पठार (*Table land*) का निर्माण हुआ होगा, जिनके किनारे खड़े ढाल वाले हैं। इन पठारों में कगार का निवर्तन (Retreat) अब भी सक्रिय है। जहाँ पर निवर्तनशील (Retreating) कगार आपस में मिल जाते हैं तो शंक्वाकार चोटी का निर्माण होता है। इस तरह की चोटियाँ अब भी दृष्टिगत होती हैं तथा प्रायद्वीपीय भारत की वर्तमान स्थलाकृति के प्रमुख अंग हैं।

सेनोजोइक स्थलाकृतिक चक्र

टर्शियरी के आगमन के पूर्व प्रायद्वीपीय भारत में उच्चावच अपरदन-चक्र के कारण समप्राय मैदान में परिवर्तित हो चुके थे। अफ्रीका तथा प्रायद्वीपीय भारत के बीच के भाग के अवतलन के कारण अरब सागर के आविर्भाव के साथ ही पश्चिमी घाट के किनारे का निर्माण होता है। पश्चिमी घाट वर्तमान प्रवाह-क्रम का अक्ष निर्धारित करता है, परन्तु नर्वदा तथा ताप्ती नदियाँ इस व्यवस्था में व्यतिक्रम पैदा करती हैं क्योंकि ये पूर्व से पश्चिम दिशा में प्रवाहित होती हैं। वास्तव में ये नदियाँ भ्रंश घाटियों से होकर प्रवाहित होती हैं, जिनका निर्माण 'हिमालय पर्वतीकरण' के फलस्वरूप सम्भव हो पाया। नर्वदा के उत्तर में विन्ध्यन तथा कैमूर श्रेणियाँ, दक्षिण में सतपुड़ा तथा महादेव श्रेणियाँ तथा ताप्ती के दक्षिण में अजन्ता श्रेणी कगार (Scarp) के रूप में विस्तृत हैं। आगे चल कर उ० से द० दिशा में संवलन के कारण नर्वदा, ताप्ती तथा गोदावरी के मार्ग में ढाल भंग (Slope break) हो गया। प्रायद्वीप में नमन के कारण ढाल-भंग के प्रमाण वर्तमान समय की नदियों के निक प्वाइण्ट (Knick points) में देखने को मिलते हैं। वास्तव में टर्शियरी उत्थान (Uplifts) नमन (Tilting) तथा संवलन (Warps) के कारण नदियों में नवोन्मेष आ गया, जिसके प्रमाण पठार की विभिन्न ऊँचाई उच्च स्थल तथा निक प्वाइण्ट में मिलते हैं। सागर-तट के पास उत्थित पुलिन (Raised beaches—100-150 फीट) सागर-तल में ऋणात्मक परिवर्तन को द्योतन है।

इस स्थलाकृति को कैनोजोइक अपरदन-चक्र का परिणाम बताया जाता है जिसके प्रमाण उच्च संगत शिखर तल (Accordant summit levels) में मिलते हैं। हैदराबाद बेलारी पठार मैसूर तथा उसके समीपी भाग, नीलगिरि तथा कार्डमम-अनयमलाई पहाड़ियों के भाग निश्चय ही समप्राय मैदान (Peneplains) के उदाहरण हैं जिनकी सतह के ऊपर अवशिष्ट पहाड़ियाँ मोनाडनाक के रूप में हैं। *आन्ध्रप्रदेश तथा उड़ीसा में 3000* फीट की ऊँचाई पर खोण्डालाइट तथा चार्नोकाइट शैल

वाली सतह **उच्चतम अपरदन सतह** है। बस्तर श्रेणी का नीसयुक्त उच्च भाग (2000-3000 फीट) **द्वितीय अपरदन-सतह** का द्योतक है। क्योंझर, मयूरभंज तथा सुन्दरगढ़ जिले के घर्षित गुम्बद (2000 फीट) **तृतीय अपरदन-सतह** को प्रदर्शित करते हैं।

क्वाटरनरी युग मे विस्तृत नवलन (Warping) हुआ, जिस कारण अधिकांश नदियों में नवोन्मेष (Rejuvenation) हो गया, परिणामस्वरूप उनके मार्ग में निकप्वाइण्ट तथा गार्ज का निर्माण हुआ। घाटी का निम्नवर्ती अपरदन (Valley deepening) तथा शीर्षवर्ती अपरदन (Headward erosion) प्रारम्भ हो गया, जिस कारण अनेक प्रपातो—**शिवसमुन्द्रम** (300′), **गोका** (180′), **धुआंधार** (30′), **जिरसप्पा** (850′), **येना** (600′) का निर्माण हो गया। प्रवाह-क्रम मे पर्याप्त परिवर्तन हुए। खम्भात-अहमदाबाद क्षेत्र मे प्लीस्टोसीन युग में सागरीय अतिक्रमण के कारण **'समप्राय नोस सतह'**, लावा सतह तथा अन्य प्राचीन चट्टानो पर सागरीय जमाव हुआ। गुजरात में अभिनव उत्थान हुआ है तथा खम्भात में होलोसीन युग में निर्गमन (Emergence) हुआ है। **वर्तमान** सागरीय तट उत्थित पुलिन (Raised beaches), बालुका स्तूप (Sand dunes), लैगून तथा जलोढ मे प्रदर्शित होते हैं। उत्थित पुलिन सागर-तल से 100 से 150 फीट की ऊँचाई पर मिलती है। **चिल्का तट** पर तट रेखा के निर्गमन के उदाहरण मिलते हैं।

बेलन बेसिन का कालानुक्रम अनाच्छादन तथा अपरदन-सतह का निर्धारण[1]

दक्षिण मे सोन नदी के उत्तरी किनारे के **विन्ध्यन स्कार्प** के रूप में **कैमूर श्रेणी** तथा उत्तर में **मिर्जापुर पहाड़ियो** के बीच अभिनतीय खड्ड (synclinal trough) में स्थित **बेलन नदी** का अक्षांशीय तथा देशान्तरीय विस्तार क्रमश 24° 35′ उ० से 25° 2′ 300″ उ० तथा 81° 45′ पू० से 83° 15′ पू० तथा क्षेत्रफल 2200 वर्ग मील है।[2] आधारभूत चट्टानें **ऊपरी विन्ध्यन क्रम** की बालुका प्रस्तर हैं जिनमें **कैमूर, रीवां तथा भाण्डेर क्रम** की चट्टानें प्रमुख हैं। इनके अलावा मृण्मय (shale) तथा चूना प्रस्तर की चट्टानें भी मिलती हैं। जलवायु मानसूनी है।

विवर्तनिक सचलन (Tectonic movements)

ऊपरी अलगानिकन युग मे विन्ध्यन सागर मे तलछट का जमाव प्रारम्भ हुआ। **कैमूर श्रेणी** के दक्षिण मे दो क्रमिक व्युत्क्रम भ्रंशन (Reverse faults) तथा कैमूर श्रेणी के उत्तरी भाग का उत्तर की ओर झुकाव (tilting) हो जाने से अभिनति का निर्माण हुआ जिसमे बेलन नदी का आविर्भाव हुआ। अनवरत अनाच्छादन की क्रियाओ के कारण बेलन नदी ने समतल सतह (planation surface) का निर्माण कर लिया है।

अनाच्छादन कालानुक्रम (Denudation chronology)

बेलन बेसिन का वर्तमान आकृतिक प्रारूप (morphological pattern) निम्न उच्चावच वाले पहाड़ी क्षेत्र के समरूप है। बेलन बेसिन के दक्षिण में स्थित **विन्ध्यन कगार प्रदेश** (scarpland) सोन नदी तथा बेलन नदी के बीच जलविभाजक के रूप मे है। कैमूर श्रेणी से **घघर** नदी तथा कुछ मौसमी क्षुद्र सरिताओ को छोडकर कोई नदी सोन में नही मिलती है जब कि उत्तरी ढाल (कैमूर) मे कई नदियाँ निकलकर बेलन मे मिलती है।

बेलन बेसिन का अपरदन-इतिहास **अलगानिकन युग** मे प्रारम्भ होता है परन्तु **कार्बोनिफरस युग** मे विस्तृत हिमानीकरण के फलस्वरूप जलीय अपरदन-चक्र में व्यवधान पड गया क्योंकि धरातल हिमाच्छादित हो गया था। **मेसोजोइक** युग मे जलवायु मे परिवर्तन के कारण पुन जलीय प्रक्रम सक्रिय हो गया तथा लगातार अपरदन एवं अपक्षय की क्रियाओ की सक्रियता के फलस्वरूप **क्रीटैशियस** युग में बेलन बेसिन का समतलीकरण हो गया और **'कैमूर अपरदन सतह'** का निर्माण हुआ जिसके अवशेष आज भी बेलन बेसिन के दक्षिणी भाग पर सबसे अधिक ऊँचाई पर (420 मीटर) दृष्टिगत होते हैं।

टर्शियरी युग मे **हिमालय-पर्वतीकरण** का प्रभाव बेलन बेसिन मे भ्रंशन के रूप मे हुआ। **इओसीन** तथा **ओलिगोसीन** (टर्शियरी) युगो मे भू-सचलन के कारण

1 Singh, Savindra and Srivastava, R., 1976 Geomorphological evolution and erosion surfaces of the Belan Basin, National Geographical Journal of India, Vol 22, No 3 and 4, pp. 124-138.

2. देखिये शीर्षक "बेलन बेसिन", अध्याय 27।

बेलन-बेसिन में अपरदन की क्रियायें हुईं । **मायोसीन** युग के अन्त तक **द्वितीय अपरदन-चक्र** की समाप्ति पर **'पन्ना अपरदन-सतह'**[1] (300 मीटर) का निर्माण हुआ ।

प्लायोसीन युग के बाद उत्थान के कारण **तृतीय अपरदन-चक्र** प्रारम्भ हुआ जिस कारण **तृतीय सतह** (240 मीटर) का निर्माण हुआ जिसका नामकरण **रींवा पठार** की **रींवा सतह** के आधार पर किया गया है । इस सतह का निर्माण **प्लीस्टोसीन** युग में हुआ ।

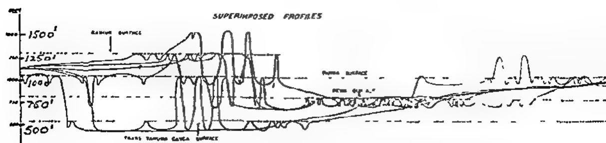
क्वाटरनरी युग में जलवायु में कई बार परिवर्तन हुए हैं जिस कारण विभिन्न अपरदन प्रक्रम सक्रिय हुए तथा कई तरह के निक्षेपण हुए । यदि ऊपरी विन्ध्यन क्रम की चट्टानों के ऊपर क्वाटरनरी युग के जमावों के क्रम का अध्ययन किया जाय तो क्वाटरनरी युग में जलवायु-परिवर्तन का पूर्ण इतिहास सजोया जा सकता है । ऊपरी विन्ध्यन चट्टानों के ऊपर लेटराइट-आवरण से **ऊपरी प्लीस्टोसीन अन्तर्हिमकाल** (Interglacial period) के उष्ण कटिबन्धीय उष्णार्द्र जलवायु का आभास मिलता है । तदन्तर जलवायु में परिवर्तन अन्तिम प्लीस्टोसीन युग में **शीत हिमानीय जलवायु** के रूप में हुआ जिस समय ग्रैवेल युक्त मृत्तिका (gravel mottled clay) का लेटराइट आवरण के ऊपर जमाव हुआ । कहीं-कहीं पर यह जमाव सीधे ऊपरी विन्ध्यन चट्टानों पर भी हुआ । बेलन बेसिन में मिर्जापुर से 32 किमी० द० प० में **कृष्णस्वामी** तथा **हक्कू** द्वारा खनन के समय प्राप्त फलकित (faceted), विह्नित (grooved), तथा धारीदार (Striated) बजरी (gravel), गोलाश्मिका (cobbles) एवं गोलाश्म (boulders) द्वारा भी शीत जलवायु की परिपुष्टि हो जाती है । तदन्तर शुष्क जलवायु का सूत्रपात हुआ, परिणाम स्वरूप बड़े-बड़े गोलाश्म तथा गोलाश्मिकाओं का परिवहन स्थगित हो गया तथा वे अपने स्थान पर ही निक्षेपित हो गये । शुष्क जलवायु के बाद पुन. आर्द्र जलवायु का आविर्भाव हुआ जिस कारण अधिक जलवृष्टि के फलस्वरूप बड़े-बड़े गोलाश्मों तथा गुटिकाओं (pebbles) का बड़े पैमाने पर परिवहन प्रारम्भ हो गया । परिणामस्वरूप ये गोलाश्म परिवहन के दौरान सन्निघर्षण द्वारा बारीक होने गये । इस आर्द्र जलवायु के समय अपरदन की रफ्तार तीव्र हो जाने से उच्चावच का घर्षण (dissection) प्रारम्भ हो गया जिस कारण अधिकांश स्थानों पर बजरी युक्त मृत्तिका का अनावरण हो गया । तदन्तर शुष्क जलवायु का पुन सूत्रपात हुआ जिस कारण निचले जमाव पर लाल रंग की बजरी (gravel) तथा रेत का निक्षेपण हो गया । अल्पकाल के लिए पुन आर्द्र जलवायु का आविर्भाव हो गया । परिणामस्वरूप पूर्व निक्षेपित जमाव के ऊपर अवनालिकाओं (arroys and gullies) का निर्माण हुआ । इसी समय तीव्र अपक्षय की क्रिया भी सम्पन्न हुई । आर्द्र काल के बाद पुन शुष्क जलवायु का साम्राज्य हो गया जिस कारण सभी पूर्व निक्षेपित जमावों पर **लोयस** का निक्षेपण हो गया । अपक्षाकृत आर्द्र जलवायु के पुन आगमन के कारण **कालीचे** (Caliche) जमाव के ऊपरी भाग का घोलीकरण तथा गर्तन (pitting) हो गया । आर्द्र अवस्था में शुष्क अवस्था द्वारा थोड़े समय के लिए व्यवधान हो गया जिस समय असख्य **लोयस-टीले** का निर्माण हुआ । वर्तमान समय में उष्णार्द्र मानसूनी जलवायु का प्रभाव है जिसकी स्पष्ट छाप **यमुना-गंगा-पार सतह** (Trans Yamuna Ganga surface – 150 m) में परिलक्षित होती है ।

बेलन-बेसिन का अनाच्छादन कालानुक्रम

महाकल्प,शक	युग	जलवायु	भू-वैज्ञानिक घटनायें	अपरदन-सतह
क्वाटरनरी	नूतन	वर्तमान मानसूनी जलवायु	वर्तमान मिट्टी	यमुना-गंगा पार सतह
	होलोसीन	(अ) अपेक्षाकृत शुष्क	वायु निर्मित निक्षेप	
		(ब) अपेक्षाकृत आर्द्र	तिरोहित मृदा-सतह, घोलीकरण, तथा कालीचे (Caliche-रेह) जमाव का गर्तन (pitting)	
		(स) गर्म एवं शुष्क	पुराकल्पीय जमाव, लोयस का जमाव	

1. रींवा पठार की पन्ना सतह के आधार पर बेलन बेसिन के पश्चिमी भाग की इस सतह का नामकरण पन्ना सतह किया गया है ।

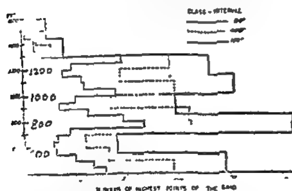
महाकल्प/शक	युग	जलवायु	भू-वैज्ञानिक घटनायें	अपरदन-सतह
	हिमानी-उपरान्त	अपेक्षाकृत आर्द्र	लाल एवं भूरी बजरी (gravel) युक्त चित्रित (mottled) मृत्तिका जमाव का अपरदन तथा अध.कर्त्तन, अध अपक्षय	
	अन्तिम-हिमानी तथा अन्तर्हिमकाल	अपेक्षाकृत आर्द्र	गोलाश्म तथा चित्रित मृत्तिका जमाव का अपरदन तथा अध कर्त्तन	
	अन्तिम प्लीस्टोसीन हिमानी काल	शीत हिमानीय; शुष्क	गोलाश्म-चित्रित मृत्तिका सतह का जमाव, तुषार क्रिया	
	प्रारंभिक प्लीस्टोसीन	उष्ण कटिबन्धीय आर्द्र	विन्ध्यन आधार शैल पर लेटराइट का जमाव	रीवा सतह
टर्शियरी	प्लायोसीन	—	ऊँचाई पर लेटराइट का जमाव	—
	मायोसीन	—	टर्शियरी कणिकाश्म (grit) तथा बजरी (gravel) का जमाव	पन्ना सतह
	ओलिगोसीन	—	भ्रंशन	मध्य टर्शियरी भू-संचलन (भ्रंशन)
	इयोसीन	—	भ्रंशन	प्रारम्भिक टर्शियरी भू-संचलन
मध्यकल्प/ द्वितीयक शक	क्रीटैसियस	—	—	कैमूर सतह
× ×	× ×	× ×	× ×	× ×
पुराकल्प/ प्राथमिक शक	कार्बानिफरस	शीत	हिमाच्छादन	—
× ×	× ×	× ×	× ×	× ×
		असम विन्यास		
अल्गानिकन	—		ऊपरी विन्ध्यन जमाव	(i) कैमूर श्रेणी (ii) रीवा श्रेणी (iii) भाण्डेर श्रेणी



चित्र 189—बेलन-बेसिन की अपरदन-सतह का निर्धारण (अध्यारोपित परिच्छेदिकाओं के आधार पर)।

अपरदन-सतह

वेलन-वेमिन क्षेत्र की भू-वैज्ञानिक संरचना, विवर्तनिक तथा अनाच्छादनात्मक इतिहास, औसत ढालमानचित्र, तुंगतामितिक आवृत्ति आयत आरेख (altimetric frequency histograms), अध्यारोपित परिच्छेदिकाओं आदि (चित्र 189) के आधार पर उक्त क्षेत्र में स्पष्ट अपरदन-सतहों का आभास मिलता है परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि ये सतहें पूर्ण अपरदन-चक्र के ही प्रतिफल हैं वरन् इनका निर्माण सम्भवतः अपरदन-चक्र में व्यवधान के परिणामस्वरूप हुआ है। तुंगतामितिक आवृत्ति आयत (चित्र 190 में स्थानिक ऊँचाइयों की आवृत्तियों का 500 फीट (150 मी०), 800 फीट (240 मी०), 1000 फीट (300 मी०) तथा 1350-1400 फीट (420 मी०) ऊँचाई-समूह (height-groups) में अधिकाधिक केन्द्रीकरण तथा अध्यारोपित परिच्छेदिकाओं (चित्र 189) में शिखर-तलों के सादृश्य (Parallelism) के आधार पर चार अपरदन-सतहों का निर्धारण किया जा सकता है (चित्र 190)।



चित्र 190—वेलन-वेमिन की अपरदन-सतह का निर्धारण (तुंगतामितिक आवृत्ति आयत चित्र के आधार पर)।

(i) कैमूर अपरदन-सतह—कैमूर अपरदन-सतह का प्रतिनिधित्व 1350-1400 फीट (420 मी०) की ऊँचाई वाले सगत शिखर तलों (accordant summit levels) द्वारा होता है। यह अपरदन-सतह रींवा पठार की भाण्डेर सतह (600-700 मीटर) तथा पूर्वी विन्ध्यन उच्च भाग, कैमूर पहाड़ी एवं विजयगढ़ पठार की 450-500 मीटर सतह का प्रतिनिधित्व करती है। इसका सह-सम्बन्ध छोटानागपुर पठार की 610 मीटर सतह से स्थापित किया जा सकता है। इस अपरदन-सतह का निर्माण सम्भवतः क्रीटेसियस युग में हुआ था। वर्तमान समय में इसका अधिकांश भाग नष्ट हो गया है। छिट-पुट रूप में यह सतह वेलन-वेमिन के दक्षिण में कैमूर श्रेणी में दृष्टिगत होती है।

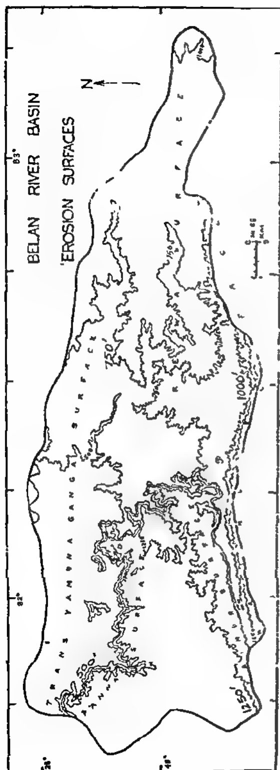
(ii) पन्ना अपरदन-सतह—पन्ना अपरदन-सतह का पूर्णरूपेण प्रतिनिधित्व वेलन-वेमिन में नहीं हो पाया है। यह आंशिक रूप में विन्ध्यन कगार प्रदेश (Vindhyan scarpland) में पायी जाती है। वेलन-वेमिन के सुदूर द० प० भाग में तथा रींवा पठार के पूर्वी भाग पर पन्ना अपरदन-सतह 1000 फीट (300 मी०) की ऊँचाई पर पायी जाती है। इस सतह का प्रतिनिधित्व रींवा पठार की 400-500 मीटर सतह में होता है। मध्य मायोसीन युग में टर्शियरी उत्थान के कारण औलिगोसीन-मायोसीन अपरदन-चक्र में व्यवधान आ जाने से इस सतह का निर्माण मायोसीन युग में हुआ होगा।

(iii) रींवा अपरदन-सतह—रींवा सतह 800 फीट (240 मी०) की ऊँचाई पर पायी जाती है जिसकी प्रतिनिधि सतह रींवा पठार पर 300-350 मीटर की ऊँचाई पर मिलती है। प्लायोसीन-उपरान्त उत्थान के कारण रींवा सतह का निर्माण माना जा सकता है।

(iv) यमुना-गंगा-पार अपरदन-सतह (Trans Yamuna-Ganga Surface) 500 फीट (150 मी०) की ऊँचाई पर स्थित यमुना-गंगा पार सतह का निर्माण रींवा सतह के उत्तरी भाग के अनाच्छादन के कारण प्लीस्टोसीन तथा नूतन युग में हुआ होगा। यह समतल तथा उर्मिल पृष्ठ वाली सतह है। यह सतह वेलन-वेमिन के मध्यवर्ती तथा पश्चिमी भाग में विस्तृत रूप में पायी जाती है।

रांची पठार का अनाच्छादन-कालानुक्रम तथा अपरदन सतह का निर्धारण

रांची पठार का प्राकृतिक इतिहास अत्यन्त जटिल है क्योंकि उत्थान लावा-प्रदेश लावा-प्रवाह, अपरदक चक्र में व्यवधान जलवायु-परिवर्तन आदि की विभिन्न घटनाओं तथा प्रावस्थाओं के कारण स्थलाकृतियों में जटिलताओं का सृजन हुआ है तथा सम्पूर्ण स्थलाकृति पालिम्पसेस्ट (palimpsest) का उदाहरण है। रांची पठार के प्राकृतिक विकास का प्रारम्भिक अध्याय आर्कियन युग में बारम्बार क्रम के तलछट के वलन के साथ प्रारम्भ होता है। तदन्तर जनीय अपरदनचक्र का सूत्रपात हुआ जो डाल्मा-लावा-प्रवाह के कारण विघ्नित तथा अव्यव-



चित्र 191—बेलन-बेसिन की अपरदन-सतह।

स्थित (interrupt) हो गया। परिणामस्वरूप लावा-प्रवाह के कारण डाल्मा के पहले की स्थलाकृति तिरोहित हो गयी। विघ्नित अपरदन-चक्र (interrupted cycle) द्वारा डाल्मा-पूर्व तथा डाल्मोपरान्त स्थलाकृति (लावा-सरचना) एवं ग्रेनाइट नीस सरचना का परिमार्जन दीर्घ काल तक चलता रहा। ऊपरी कार्बोनिफरस युग मे समस्त छोटानागपुर उच्चप्रदेश पर हिमकाल का साम्राज्य हो गया। उत्तरी तथा दक्षिणी करनपुरा कोयला क्षेत्र को छोड़ कर राँची पठार मे कार्बोनिफरस हिमानीकरण के अवशेष नही मिलते है। कार्बोनिफरस हिमानीकरण के फलस्वरूप प्रारम्भिक अपरदन-चक्रो के अध्याय सम्भवत समाप्त हो गये होगे। हिमचादरो के निवर्त्तन (retreat) के कारण जल-मुक्ति से प्राप्त पर्याप्त जल के कारण नये जलीय अपरदन-चक्र का नया अध्याय प्रारम्भ हुआ होगा। इस पर्मियन-ट्रियासिक अपरदन-चक्र के परिणामस्वरूप दीर्घकाल तक अनाच्छादन एवं समतलीकरण के फलस्वरूप समस्त राँची पठार समतल प्राय मैदान (peneplain) मे परिणत हो गया होगा।

क्रीटैसियस या टर्शियरी युग के प्रारम्भ मे पश्चिमी राँची पठार मे 305 मीटर का उत्थान हुआ जिसके ऊपर लावा-चादर का जमाव हो गया। इसके बाद राँची पठार मे पुन उत्थान की दो और घटनाये घटित हुई। परिणामस्वरूप जलीय अपरदन-चक्र मे कई बार व्यवधान हुए। राँची पठार के सीमान्त क्षेत्रो मे स्थित कगार तथा एस्कार्पमेण्ट, जलप्रपात, निक प्वाइण्ट, ढाल-भग (breaks in slopes), गार्ज, तरुण सरिताये आदि आज भी टर्शियरी-उत्थान की कहानी कहती है। राँची पठार के पश्चिमी भाग मे उत्तर-पूर्व (खमार पाट) से दक्षिण-पश्चिम दिशा मे स्थित कगार (जो कि मध्य राँची पठार से 305 मीटर ऊँचा है) टर्शियरी उत्थान का परिचायक है। राँची पठार के द्वितीय सामूहिक उत्थान के प्रमाण पठार के पूर्वी भाग मे स्थित प्रपात-रेखा (हुण्डरू घाघ प्रपात—स्वर्णरेखा नदी पर, जोन्हा या गौतमधारा प्रपात—राढ़ू तथा गगा नदियो के संगम स्थल पर तथा दासम घाघ प्रपात—काँची नदी पर) के रूप मे आज भी विद्यमान हैं।

अपरदन-सतह का निर्धारण

राँची पठार की अपरदन-सतहो की संख्या के विषय में प्रारम्भ से पर्याप्त विवाद रहा है। डन महोदय ने पश्चिमी उच्च पठार (पाट प्रदेश) को एक अलग सम-

प्राय मैदान माना है। एस० पी० चटर्जी (1940) ने उच्च नेतरहाट पठार के अलावा राँची पठार पर चार अपरदन सतहों का स्वीकरण एवं निर्धारण किया है। आर० पी० सिंह (1969) ने तीन सतहों की स्वीकारोक्ति की है—(i) क्रीटैसियस लावा-प्रवाह के पूर्व की पश्चिमी उच्च प्रदेश (पाट-प्रदेश) की अपरदन-सतह (915 मीटर), (ii) मध्य राँची पठार की अपरदन-सतह (610 मीटर) तथा (iii) निम्न पठार (Lower plateau) की अपरदन सतह (305 मीटर)। पश्चिमी उच्च पठार की सतह तथा मध्य राँची पठार की सतह की ऊँचाई विभिन्नता (300 मीटर) के लिये इन्होंने दो कारण बताये हैं—(i) या तो पश्चिमी उच्च प्रदेश की सतह क्रीटैसियस लावा-प्रवाह के पहले मध्य राँची पठार से मौलिक रूप में ऊँची रही होगी या (ii) विभेदक अपरदन (differential erosion) के कारण मध्य राँची पठार अत्याधिक अपरदित होकर वर्तमान रूप को प्राप्त हुआ होगा जबकि पश्चिमी उच्च प्रदेश पर लावा के आवरण के कारण रक्षण मिलने के कारण नीस सतह (लावा आवरण के नीचे) अपरदन से अप्रभावित रही होगी। एस० सी० चटर्जी (1945) ने राँची पठार पर तीन या चार अपरदन-सतहों की स्थिति के विषय में आशंका व्यक्त की है। ऊँचाईयों में वर्तमान विभिन्नता का प्रमुख कारण उन्होंने विभेदक अपरदन बताया है।

सविन्द्र सिंह (1978) ने राँची पठार तथा उसकी लघु प्रवाह बेसिन के विस्तृत अध्ययन के समय तुन्गतामितिक आवृत्ति आयत चित्र तथा वक्र, प्रवणतादर्शी वक्र (clinographic curves) तथा अध्यारोपित परिच्छेदिकाओं के आधार पर यद्यपि चार सतहों (न कि अपरदन-सतह) की स्वीकारोक्ति की है—(i) 1000-1100 मीटर, (ii) 915 मीटर, (iii) 610 मीटर तथा (iv) 305 मीटर) परन्तु इन्हें अपरदन-सतह मानने में अपनी असहमति व्यक्त की है।

सविन्द्र सिंह के अनुसार पश्चिमी उच्च प्रदेश (पाट-प्रदेश) की 1000-1100 मीटर सतह क्रीटैसियस युग में दक्कन लावा-प्रवाह के समय लावा के जमाव का प्रतिफल है। अत यह सतह संरचनात्मक (structural) है क्योंकि इसका आधार-तल पर कभी भी समतलीकरण नहीं हुआ है, अन्यथा सपाट शिखर वाली मेसा सदृशाकार पहाड़ी तथा कटक (ridges) के रूप में परिणत होकर समोत्तलनाक का रूप धारण कर ली होती। इस प्रदेश में नीस-तल (ऊपरी) तथा लेटराइट (वर्तमान समय में लावा ने अपक्षय के कारण लेटराइट का रूप धारण कर लिया है) के आधार का मिलन-तल (Junction = 915 मीटर) कई स्थानों पर नदियों द्वारा निम्नवर्ती अपरदन के कारण अनावृत्त हो गया है, जो कि मध्य राँची पठार की ग्रेनाइट-नीस सतह (610 मीटर) से 305 मीटर ऊँचा है। अत 915 मीटर की सतह (पाट-प्रदेश में नीस-सतह जो लेटराइट में ढकी है) टर्शियरी उत्थान से पहले मध्य राँची पठार की सतह (610 मीटर) का ही अविछिन्न भाग थी जो टर्शियरी युग के प्रथम उत्थान के कारण मध्य राँची पठार की 610 मीटर सतह से 305 मीटर ऊँची हो गयी है। अत 915 मीटर की सतह उत्थान का प्रतिफल है। पूर्वी तथा दक्षिणी राँची पठार की 305 मीटर की सतह भी पहले मध्य राँची पठार की 610 मीटर सतह का अविछिन्न भाग थी परन्तु विभेदक अपरदन के कारण (पूर्वी तथा दक्षिणी राँची पठार की अपेक्षाकृत कमजोर चट्टानों का मध्य राँची पठार की अपेक्षाकृत कठोर ग्रेनाइट नीस, चट्टानों में अधिक अपरदन) इस 305 मीटर सतह का निर्माण माना जा सकता है क्योंकि पूर्वी तथा दक्षिणी राँची पठार की सतह पर कई ऐसे समतल शिखर तल (Accordant summit levels) हैं जिनकी ऊँचाईयाँ (610 मीटर) मध्य राँची पठार की ऊँचाई (610 मीटर) के बराबर हैं। अत राँची पठार की सतह तथा अपरदन-सतह के विषय में निम्न निष्कर्ष दिये जा सकते हैं—

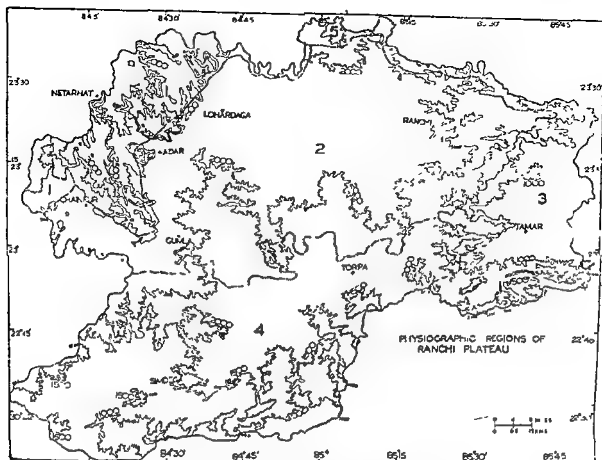
(i) 1000 1100 मीटर सतह—यह पश्चिमी उच्च राँची पठार (पाट-प्रदेश) की सतह लावा जमाव के कारण संरचनात्मक है।

(ii) 915 मीटर सतह—पश्चिमी उच्च प्रदेश में नीस की ऊपरी सीमा प्रदर्शित करती है तथा यह उत्थित सतह है।

(iii) 610 मीटर सतह—यह मध्य राँची पठार की वास्तविक अपरदन सतह है।

(iv) 305 मीटर सतह—यह पूर्वी तथा दक्षिणी राँची पठार की प्रतिनिधि सतह है तथा इसका निर्माण विभेदक अपरदन के कारण हुआ है (चित्र 192)।

उपर्युक्त विश्लेषण से प्रतीत होता है कि 915 मीटर, 610 मीटर तथा 305 मीटर की सतहें टर्शियरी उत्थान के समय एक ही ऊँचाई की विस्तृत अपरदन-सतह के रूप में रही होंगी। टर्शियरी युग में पश्चिमी राँची पठार



चित्र 192—राँची पठार की अपरदन-सतह।

1. पश्चिमी उच्च प्रदेश (पाट-प्रदेश)—915 मीटर सतह, 2. मध्य राँची पठार (615 मीटर सतह), 3 पूर्वी निम्न राँची पठार (305 मीटर सतह), 4 दक्षिणी निम्न घर्षित पठार (305 मीटर सतह) 5 उत्तरी [illegible] प्रदेश।

से 305 मीटर तक उत्थान के कारण 915 मीटर सतह उत्थान के कारण मध्य राँची पठार की 610 मीटर सतह से 305 मीटर ऊँची हो गयी तथा पूर्वी तथा दक्षिणी भाग में अत्यधिक अपरदन के कारण 610 मीटर की सतह 305 मीटर की सतह में परिवर्तित हो गयी।

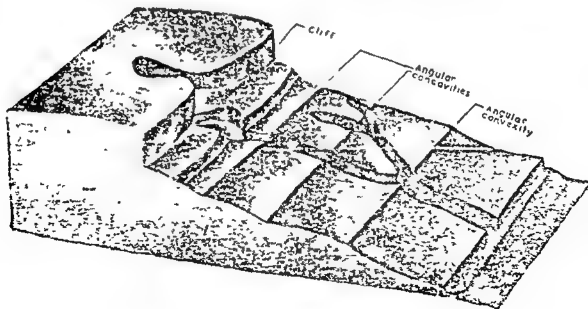
अध्याय 17

ढाल-विश्लेषण

(Slope Analysis)

सामान्य परिचय

ढाल स्थलस्वरूप के प्रमुख अंग हैं, जो कि पहाडी तथा घाटी के मध्य उपरिमुखी या अधोमुखी झुकाव होते हैं। इनका आकार अवतल (Concave), उत्तल (Convex), सरल रेखी (Rectilinear), मुक्त पृष्ठ (Free face) या तीव्र दीवालनुमा हो सकता है। समतल मैदानी भाग को छोड़कर ढाल सर्वत्र दृश्य होते हैं तथा पहाड़ी भागों में इनका विकास सर्वाधिक होता है। ढाल के आधार पर ही किसी क्षेत्र की आकृतिक विशेषताओं (Morphological characters) का निर्धारण किया जाता है। भौतिक स्थलरूप मुख्य रूप से कई प्रकार के ढालों के समूह मात्र होते हैं। इसी कारण से स्थलरूपों के अध्ययन तथा व्याख्या में ढाल एक कुन्जी का कार्य करते हैं। इतना ही नहीं ढालों के कारण किसी भी स्थान विशेष के स्थलरूपों में ही विविधता का सूत्रपात होता है। स्थलरूपों का निर्माण तथा विकास भी ढाल के आकार तथा उसके विकास की प्रक्रिया पर निर्भर होता है। इन्हीं कारणों से वर्तमान समय में भू-आकृति विज्ञान के क्षेत्र में ढालों के विश्लेषण पर सर्वाधिक बल दिया जा रहा है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से ढाल पर किये गये शोधकार्य को दो अवस्थाओं में विभाजित किया जा सकता है। प्रारम्भिक काल जब कि ढालों का अध्ययन मुख्य रूप से क्षेत्र में उनके अवलोकन तथा पर्यवेक्षण पर आधारित था। इसके अन्तर्गत डेविस तथा पेंक के सराहनीय कार्यों को सम्मिलित किया जाता है, यद्यपि वर्तमान समय में परिमाणात्मक विधि (Quantitative method) के आगे उनके कार्य काल्पनिक लगते हैं तथा अनेक त्रुटियों से ओत-प्रोत है। दूसरा, आधुनिक काल, जिसमें परिमाणात्मक विधि द्वारा ढालों का विश्लेषण किया जाता है। इसके अन्तर्गत सैविजीयर, यंग, वाटर्स आदि के कार्यों को सम्मिलित किया जाता है। इनके अलावा ढालों के विश्लेषण में रिच, बेन्दवर्थ लासन, रेज तथा हेनरी स्मिथ, हार्टन, वालिग, कालेफ कालेफ और स्यूकास्व, उड, किंग, स्ट्रेलर, कार्टन, मिलर, आइल तथा ब्लार्क के कार्य सराहनीय हैं। वर्तमान समय में ढालों के पर्यवेक्षण, वर्णन, विभाजन, मापन आदि के



चित्र 193—आदर्श ढाल के विभिन्न अंग।

अलावा उनके गणितीय मापन तथा वैज्ञानिक वर्गीकरण पर अधिक ध्यान दिया जा रहा है।

ढालों के वर्गीकरण मे पर्याप्त मतान्तर है। इसका प्रमुख कारण ढालो के तत्त्व (Elements of slopes) तथा उनके रूपो मे भ्रम का होना ही है। कुछ लोगो ने ढालो के प्रमुख तत्त्व (उत्तल, मुक्त पृष्ठ, सरलरेखी या समढाल तथा अवतल) को ढालो के प्रकार बताये है, जो कि सर्वथा गलत है। कोई भी ढाल केवल उत्तल या अवतल नही हो सकता है, यद्यपि उसका पूर्णतया प्रभुत्व हो सकता है। कुछ विद्वान सरलीकरण के लिये ढालो को क्लिफ ढाल (Cliff slope), उत्तल, अवतल, सरल रेखी ढाल इत्यादि प्रकारो मे विभाजित कर लेते है तथा जब इनमे से एक से अधिक ढाल एक साथ मिलते है तो उनको **संयुक्त ढाल** (Composite slope) कहते हैं। यह विभाजन न्यायसगत नही है, क्योंकि ये ढाल के प्रकार न होकर उनके तत्त्व या अंग होते है। ढालो का वर्गीकरण उनकी उत्पत्ति के आधार पर अधिक वैज्ञानिक होगा। इस तरह के वर्गीकरण को **जननिक वर्गीकरण** (Genetic classification) कहते है। ढालो का वर्गीकरण परिमाणात्मक भी हो सकता है। इसके लिये क्षेत्र मे ढालो का मापन तथा उससे प्राप्त आँकडो का अध्ययन आवश्यक हो जाता है। उत्पत्ति की प्रक्रिया के आधार पर ढालो को निम्न तीन प्रकारो मे विभाजित किया जा सकता है।

(i) विवर्तनिक ढाल (Tectonic Slope)—विवर्तनिक ढाल का निर्माण मुख्य रूप से भूगर्भिक हलचल के कारण धरातल म भ्रंशन तथा नमन (Tilting) के कारण होता है। इनमे **कगार ढाल** (Scarp slope) अधिक महत्त्वपूर्ण होते है।

(ii) अपरदनात्मक ढाल (Erosional Slope)—मुख्य रूप से नदियों, हिमनदियों तथा सागरीय तरगो द्वारा अपरदन के कारण निर्मित ढालो को इस श्रेणी के अन्तर्गत सम्मिलित किया जाता है। नदियाँ "**अपरदन चक्र**" के दौरान अपनी घाटी के ढालो को विभिन्न रूप प्रदान करती है। तरुणावस्था मे उत्तल, प्रौढावस्था मे लम्बवत् तथा जीर्णावस्था मे अवतल ढालो का विकास होता है। सागरीय तरगे तटीय भागो पर क्लिफ का निर्माण करती हैं, जो कि खडे ढाल वाला होता है। शुष्क रेगिस्तानी भागो मे जलीय अपरदन द्वारा ढालो के विभिन्न रूप देखे जाते हैं।

(iii) संचयनात्मक ढाल (Slope of Accumulation)—अपरदन के साधनो द्वारा निक्षेपण तथा विभिन्न अवसादो के संचयन के कारण बने ढालो को सचयनात्मक या निक्षेपात्मक ढाल कहते हैं। नदियो द्वारा निर्मित जलोढ पख तथा जलोढ शकु, वायु द्वारा निक्षेपित बालुका स्तूप (Sand dune) और हिमानी द्वारा निक्षेपित हिमोढ के ढाल उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किये जा सकते है। ज्वालामुखी के उद्गार के कारण निस्सृत पदार्थो के सचयन के कारण निर्मित शकुओ के ढाल इस श्रेणी के प्रमुख उदाहरण हैं।

निर्माण की अवस्था के आधार पर ढालो को निम्न दो प्रकारो मे विभाजित किया जाता है—

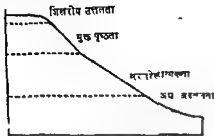
(i) प्राथमिक ढाल (Primary Slope)—इनका निर्माण नदी, हिमनद, हवा, सागरीय तरगो आदि के द्वारा अपरदन होने से होता है। नदी द्वारा V आकार की घाटी गार्ज इत्यादि का निर्माण होता है, जिनके खडे ढाल होते है। सागरीय तरगें अपरदन द्वारा खडे ढाल वाले क्लिफ तथा हिमनद U आकार की खडे ढाल वाली घाटियों का निर्माण करते हैं। विवर्तनिक ढाल प्राथमिक ढाल के अन्तर्गत ही सम्मिलित किये जाते हैं।

(ii) द्वितीयक ढाल (Secondary Slope)—जब प्राथमिक ढालो का निर्माण हो जाता है तो उनके ऊपर अपक्षय के कारण तथा धरातलीय अपरदन (Surface erosion) के द्वारा गौण अथवा उपढालो का निर्माण होता है। उदाहरण के लिये भ्रंशन के कारण जब **कगार ढाल** का निर्माण हो जाता है तो अपक्षय के कारण उत्पन्न अवसादो (टालस) के कगार ढाल के आधार पर संचयन के कारण **टालस शंकु** का निर्माण होता है। इसी तरह नदियो की घाटियो की खडी दीवालो के ऊपरी भाग मे अपक्षय के कारण गौण ढालो का निर्माण होता है। परिणामस्वरूप खडे ढालो का विनाश होने लगता है तथा वे पीछे हटने लगते है और घाटी की चौडाई बढने लगती है।

ढालों के तत्त्व (Elements of the Slopes)

यदि किसी पर्वतीय या सागर तटीय ढाल की अनुदैर्घ्य (Longitudinal) परिच्छेदिका का अवलोकन किया जाय तो स्पष्ट हो जायेगा कि शीर्ष से तली तक ढाल मे समरूपता नही पायी जाती है। कही पर ढाल का आकार उत्तल, कही पर तीव्र खडा, कही पर मन्द ढाल तथा कही पर अवतल दृष्टिगत होता है। ढाल के इन विशिष्ट अगो को ढाल का तत्त्व कहते हैं। एक आदर्श पहाडी ढाल की अनुदैर्घ्य परिच्छेदिका के ऊपर से नीचे चार प्रमुख तत्त्व—**उत्तलता** (Convexity),

मुक्त पृष्ठता (Free-face), सरल रेखात्मकता (Rectilinearity) तथा अवतलता (Concavity)—पाये जाते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक ढाल में चारों तत्त्व उपस्थित हो ही।



चित्र 194—ढाल के तत्त्व।

(i) **उत्तल ढाल (Convex Slope)**—पर्वतीय ढाल के सबसे ऊपर वाले भाग में उत्तल ढाल पाया जाता है, जिस कारण इसे **शिखरीय उत्तलता** (Summital convexity) का विशेषण भी प्रदान किया जाता है। यह भी सम्भाव्य है कि समूचा ढाल उत्तल हो परन्तु सामान्य रूप में उसके ऊपरी भाग में ही उत्तलता का होना अधिक स्वाभाविक होता है। स्वभावतः उत्तलता नीचे की ओर तथा ऊँचाई में विस्तृत होती है तथा ढाल तीव्र होने लगता है। इसी आधार पर **वाल्टर पेंक** ने उत्तल ढाल को **वर्द्धमान ढाल** (Waxing Slope) की संज्ञा प्रदान की है। परन्तु यह नामावली भ्रामक है, क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि सभी उत्तल ढाल आकार तथा ऊँचाई में बढ़ते ही हैं। उत्तल ढाल का निर्माण मुख्य रूप से अनाच्छादन के प्रक्रमों द्वारा होता है तथा जलोढ की झीनी चादर से ढका रहता है। इसी कारण म इसे **"ऊपरी (वृष्टि) धुलन ढाल"** (Upper wash slope) कहते हैं। इनका विस्तार आर्द्र शीतोष्ण जलवायु वाले प्रदेशों की लाइमस्टोन तथा खरिया शैल पर सर्वाधिक होता है।

(ii) **मुक्त पृष्ठ ढाल (Free-Face slope)**—मुक्त पृष्ठ-दीवाल-सदृश तीव्र ढाल वाला होता है जो कि नग्न शैल से युक्त परन्तु किसी भी प्रकार के अवसादीय आवरण से मुक्त होता है। वास्तव में इसका ढाल इतना तीव्र होता है कि इस पर किसी भी प्रकार के शैल मलवा (Scree) का रुकना कठिन होता है। इस ढाल से होकर शैल-मलवा सरककर या लुढक कर नीचे चला जाता है। इस आधार पर मुक्त पृष्ठ ढाल को **निवावण ढाल (Derivation slope)** कहते हैं।

(iii) **सरल रेखी ढाल (Rectilinear Slope)**—मुक्त पृष्ठ तथा अवतल ढाल के मध्य एक सीधी रेखा वाला ढाल होता है, जिसे सरल रेखी ढाल कहा जाता है। प्रारम्भ में इसका विस्तार सर्वाधिक होता है। समरूपता के कारण इसे **सम ढाल या स्थिर ढाल (Constant slope)** कहते हैं। इस ढाल पर शैल-मलवा का जमाव आसानी से हो जाता है। अतः इसे **मलवा ढाल (Debris slope)** भी कहते हैं। इस ढाल का कोण उस पर स्थित मलवा पर आधारित होता है। इसी आधार पर स्ट्रेलर महोदय ने इसे **रिपोज ढाल** (Repose slope—प्रशान्त ढाल) की संज्ञा प्रदान की है। परन्तु यह नामावली असंगत है क्योंकि इसके अनुसार सरलरखी ढाल की उत्पत्ति सदैव मलवा के एकत्रीकरण से होनी चाहिए परन्तु यह न्यायसंगत नहीं है क्योंकि कभी-कभी इसका निर्माण अपरदन के कारण चट्टान के नग्न हो जाने से भी होता है। इसके अतिरिक्त उसके ऊपर मलवा की एक झीनी चादर भी हो सकती है परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि वह स्थिर ही हो। प्रायः वह गुरुत्व के कारण नीचे सरकती रहती है। इसी कारण से इस ढाल को **मलवा नियंत्रित ढाल** (Debris controlled Slope) की भी संज्ञा प्रदान की जाती है।

(iv) **अवतल ढाल (Concave slope)**—किसी भी आदर्श ढाल परिच्छेदिका के सबसे निचले भाग में अवतल तत्त्व मिलता है, जो कि पहाड़ी का सबसे निचला हिस्सा होता है। तथा शनैः-शनैः घाटी की तली के रूप में विलीन हो जाता है। जैसे-जैसे इसका विस्तार होता जाता है, ढाल कम हो जाता है, जिस कारण इसे **क्षीयमाण ढाल** (Waning slope) कहते हैं। इसे **घाटी तलागार ढाल** (Valley floor basement slope या **अधः धुलन ढाल** (Lower wash slope) भी कहते हैं। इस ढाल का आविर्भाव प्रायः अनाच्छादन द्वारा होता है तथा ढाल या तो नग्न शैल वाला होता है या उस पर मलवा का एक आवरण होता है।

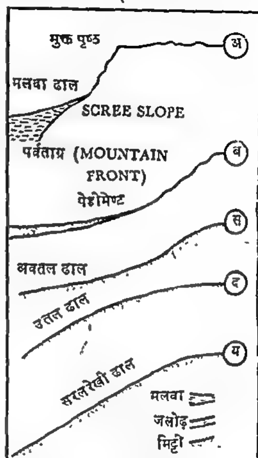
भाण्डेर पठार के उ० प०, उ०, पू० तथा द० पू० कगारों के सहारे आदर्श ढाल परिच्छेदिका का विकास हुआ है जिस पर प्रायः सभी ढाल तत्त्व मिलते हैं (पृष्ठ 69 का चित्र 15)। ऊपर स्थित लगभग 500 फीट (152.4 मीटर) मोटी विन्ध्यन बालुका प्रस्तर की परत के कारण मुक्त पृष्ठ ढाल का विकास हुआ है। जबकि उसके नीचे शैल चट्टान के कारण सरलरेखी तथा अवतल

तत्त्व विकसित हुए हैं। इसी तरह प्रायद्वीपीय भारत के **उत्तरी अग्रप्रदेश** (Foreland) के सहारे मुख्य रूप से **रींवा पठार** के उत्तरी कगारो के सहारे लगभग चारो तत्त्वो का विकास हुआ है। **रोहतास पठार** (द० प० बिहार) के दक्षिणी कगार (सोन नदी की ओर) के सहारे भी आदर्श ढाल परिच्छेदिका का निर्माण हुआ है। स्मरणीय है कि उक्त सभी भागो मे सबसे ऊपर **विन्ध्यन क्रम** का बालुका प्रस्तर अपेक्षाकृत कठोर होने के कारण **छत्रक शैल** (Cap-rock) के रूप मे है जबकि उसके नीचे शेल (रींवा कगार) या चूना प्रस्तर (रोहतास कगार) है।

ढाल के तत्त्व के आधार पर उनका विभाजन

ढाल के चारो तत्त्वो का ढाल की अनुदैर्ध्य परिच्छेदिका मे सदैव पाया जाना यदि सैद्धान्तिक रूप मे नही तो प्रायोगिक रूप मे सम्भव नही है। कभी-कभी किसी विकसित पहाडी ढाल मे ये चारो तत्त्व मिल जाते हैं परन्तु ऐसा प्राय ही होता है। चूंकि ढाल के विभिन्न तत्त्वो का विकास स्थानीय परिस्थितियो (चट्टान का स्वभाव, अपरदन का प्रक्रम, जलवायु आदि) पर आधारित होता है, अत कभी-कभी एकाध या कई तत्त्वो का विकास नही हो पाता है। उदाहरण के लिये जिस भाग मे उच्चावच निम्न होते है, वहाँ पर मुक्त पृष्ठ ढाल तथा सरलरेखी ढाल सर्वथा अदृश्य होते हैं। इसके विपरीत यदि कही पर कठोर तथा मुलायम चट्टाने एकान्तर रूप (Alternate) मे पायी जाती तो वहाँ पर मुक्त पृष्ठ ढाल तथा सरलरेखी ढाल की पुनरावृत्ति हो जाती है। ढालो के विकास तथा उनके तत्त्वो की उपस्थिति मे दूसरी मुख्य बात यह है कि अपरदन चक्र की अवस्था के अनुसार इनका क्रम बदलता रहता है। उदाहरण के लिए अपरदन चक्र की प्रथम अवस्था मे उत्तलता (Convexity) की बहुलता रहती है। प्रौढावस्था मे जब कि घाटी का गहरा होना तथा चौडा होना प्राय बराबर होना है तो **सरलरेखी ढाल** अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। चक्र के अन्त मे जब कि निम्नवर्ती कटाव रुक जाता है, **क्षीयमाण ढाल** (अवतल) अधिक विस्तृत होता है। इस आधार पर हम प्रत्येक तत्त्व को एक ढाल का ओहदा दे सकते हैं परन्तु इस तरह के विशुद्ध ढाल कम ही होते हैं। कम से कम दो तत्त्व किसी भी ढाल मे अवश्य विद्यमान होते हैं। इस तरह विशुद्ध ढाल की जगह **'मिश्रित ढाल'** (Composite slope)[1] ही अधिक मिलते है।

मिश्रित ढाल के कई प्रकार हो सकते हैं—(i) उत्तल-अवतल ढाल (Convexo concave slope), (ii) उत्तल-सरलरेखी-अवतल ढाल (Convexo-rectilinear-concave slope), (iii) मुक्त-पृष्ठ अवतल ढाल (Free face-rectilinear-concave slope), (iv) उत्तल-सरलरेखी-मुक्त पृष्ठ-सरलरेखी-मुक्त पृष्ठ (आदि......)...अथः अवतल ढाल आदि।



चित्र 195—ढाल के विभिन्न प्रकार।

मात्रात्मक वर्गीकरण

ढालो को उनके कोणो के आधार पर निम्न रूप मे विभाजित किया जाता है। स्मरणीय है कि ढाल-कोण या तो भूपत्रको से या क्षेत्र मे सर्वेक्षण से ज्ञात किये जाते हैं—

1. संयुक्त या मिश्रित ढाल वह होता है, जिसमे एक से अधिक तत्त्व पाये जाते है।

अ) सामान्य वर्गीकरण

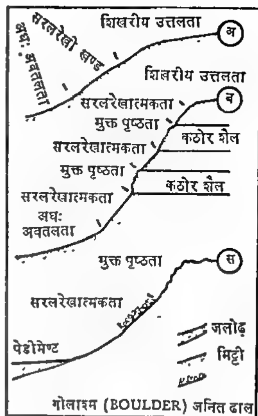
(i) चौरस (flat) ढाल 0°—1°
(ii) मन्द ढाल (gently sloping) 1°—3°
(iii) सामान्य मन्द ढाल (moderately sloping) 3°—8°
(iv) तीव्र टलुआ ढाल (strongly sloping) 8°—15°
(v) सामान्य तीव्र (Moderately steep) 15°—20°
(vi) अति तीव्र (Very steep) 30°—90°

।) यंग का वर्गीकरण

(i) समतल से मन्द ढाल (level to gentle)
(अ) समतल (level) 0°—0 5°
(ब) प्राय समतल (almost level) 0 5°—1°
(स) अति मन्द (Very gentle) 1°—2°
(ii) मन्द ढाल (gentle slope) 2°—5°
(iii) सामान्य ढाल (moderate slope) 5°—10°
(iv) सामान्य तीव्र (moderately steep) 10°—18°
(v) तीव्र (steep) 10°—30°
(vi) अति तीव्र (Very steep) 30°—45°
(vii) कगार से खड़ा ढाल (precipitous to Vertical) 45°—90°
(अ) कगार (precipitous) 45°—70°
(ब) खड़ी दीवाल सदृश 70°—90°

ढालों की समस्या

प्रारम्भ मे ढालो का अध्ययन उनके मैदान क्षेत्र मे पर्यवेक्षण पर ही आधारित था, परन्तु विज्ञान मे तकनीक विकास के साथ ढालो का अध्ययन मात्रात्मक हो गया है। परन्तु ढालों की समस्यायें कम न होकर बढती जा रही हैं। इन समस्याओ मे ढालो के विभिन्न रूप, समय के साथ ढालो के आकार तथा प्रवणता (Gradient) मे अन्तर, अनाच्छादन के विभिन्न प्रक्रमो (अवसाद के सामूहिक स्थानान्तरण के विभिन्न रूप—सर्पण, घुलन आदि तथा अपरदन) एव ढाल मे सम्बन्ध, ढाल की सतुलित अवस्था या क्रमबद्धता, ढाल पर भूवैज्ञानिक सरचना तथा शैल प्रकार का प्रभाव, ढालो के रूप तथा जलवायु सम्बन्धी दशाओ के सम्बन्ध आदि प्रमुख हैं। इन समस्याओ के समाधान के लिए उनके अध्ययन की दो प्रणालियाँ प्रचलित हैं। प्रथम, **'ढाल-विकास उपगमन'** (Slope-evolution approach), जिसके अन्तर्गत ढाल के ऐतिहासिक विकास पर बल दिया जाता है, अर्थात् ढाल के प्रारम्भिक रूप से लेकर वर्तमान रूप के विकास की विभिन्न सरणियो का अध्ययन किया जाता है। द्वितीय, **'प्रक्रम-रूप उपगमन'** (Process form approach), जिसके अन्तर्गत विभिन्न प्रकार की चट्टानो वाले विभिन्न जलवायु प्रदेशो मे अपरदन, अपक्षय आदि द्वारा उत्पन्न होने वाले विभिन्न ढालो का अध्ययन किया जाता है।



चित्र 196—मिश्रित ढाल के विभिन्न प्रकार।

(i) **ढाल-विकास उपगमन**—इस प्रणाली के अन्तर्गत ढालो के ऐतिहासिक विकास का अध्ययन किया जाता है, परन्तु इस उपगमन मे भी कई ऐसी समस्यायें है कि उनका निदान कठिन हो जाता है। (1) यदि किसी ढाल (वर्तमान रूप) का अध्ययन करना है तो उसके प्रारम्भिक रूप का पता लगाना आवश्यक हो जाता है, परन्तु प्रारम्भिक रूप का पता लगाना आसान कार्य नही है। सरलता के लिए अधिकाश विद्वान प्रायः यह मानकर चलते हैं कि वर्तमान ढाल विशेष का प्रारम्भिक रूप एक लम्बवत् क्लिफ के रूप मे रहा होगा,

जिसमे अपक्षय के कारण रूप परिवर्तन तथा ढलान मे ह्रास के कारण वर्तमान रूप प्राप्त हुआ होगा। (2) *ढालो के तिथि-निर्धारण की समस्या भी कम जटिल नही* है। इस समस्या के निदान के लिए ढालों के समय के साथ रूप-परिवर्तन तथा नष्ट होने की प्रक्रिया का अध्ययन किया जाता है। क्षेत्र मे ढालो की परिच्छेदिकाओ के अध्ययन तथा उनकी सापेक्ष तिथि के आधार पर उनको (ढालो) **काल-अनुक्रम** (Time-sequence) मे रखा जाता है। यह उन्ही स्थलों पर सम्भव है, जहां पर ढाल-पतन (*Slope decline*) मे व्यवधान नही होता है। परन्तु यदि किसी नदी के किनारे के ढाल का तिथि-निर्धारण (Dating) करना हो, जिसमे नवोन्मेष के कारण अध कर्तित विसर्पों (Incised meanders) का निर्माण हो जाता है तो समस्या जटिल हो जाती है, क्योकि घाटी का निचला भाग (लम्बवत्) ऊपरी भाग की अपेक्षा नवीन तथा अधिक तीव्र होता है। इसी तरह उन ढालो, जिन पर नवीन निक्षेप का आवरण हो गया है, का तिथि निर्धारण सही ढंग से नही किया जा सकता। इन समस्याओं के होते हुए भी कुछ विद्वानो ने ढाल के विकास के सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया है। डेविस के अनुसार समय के साथ-साथ ढाल मे पतन अवश्य होता है, जिस दौरान ढाल की तीव्रता (प्रवणता) घटती जाती है तथा प्रत्येक ढाल को अपने विकास के तीन चरण, युवावस्था (अत्यधिक तीव्र ढाल), प्रौढावस्था (तीव्र ढाल) तथा जीर्णावस्था (मन्द ढाल) से होकर गुजरना पड़ता है। परन्तु कुछ विद्वानो ने इस सकल्पना के विपरीत बताया है कि यह आवश्यक नही है कि प्रत्येक ढाल का पतन हो ही तथा उसके कोण मे कमी आवे क्योंकि कुछ ढाल समानान्तर निवर्तन (Parallel retreat) के कारण अपने कोण को या तो *सुरक्षित रखते है या उसे और अधिक कर लेते है।* **गतिक सतुलन सिद्धान्त** (Dynamic equilibrium theory) के समर्थको के अनुसार ढाल परिवर्तन मे समय का योगदान महत्वपूर्ण नही होता है, परन्तु उसके विकास मे प्रक्रम (Process) का अधिक हाथ रहता है। अतः वर्तमान समय मे यह प्रणाली अपना वैभव खो रही है।

(ii) प्रक्रम-रूप उपगमन (Process-form Approach)—इस प्रणाली के अन्तर्गत यह माना गया है कि ढाल के प्रकार तथा रूप एवं अनाच्छादन मे प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। अनाच्छादन के विभिन्न प्रक्रमो की सक्रियता पर किसी स्थान विशेष के शैल-प्रकार, संरचना, जलवायु, वनस्पति, उच्चावच आदि का प्रभाव महत्वपूर्ण होता है। और यही कारण है कि ढालो के रूप मे *पर्याप्त भिन्नता* होती है। उदाहरण के लिये किसी आर्द्र प्रदेश मे यदि लाइमस्टोन तथा मृत्तिका चट्टानें हैं तो प्रथम पर **वृष्टि धुलन** (Rain wash) के क्रम सक्रिय होने तथा **मृदा सर्पण** (Soil-creep) के अधिक सक्रिय होने (क्योकि लाइमस्टोन में प्रवेश्यता के कारण जल रिस कर नीचे चला जाता है और वृष्टि धुलन नगण्य हो जाता है) के कारण **उत्तल ढाल** का विकास होता है और मृत्तिका पर वृष्टि-धुलन की सक्रियता के कारण **अवतल ढाल** का निर्माण होता है। इस उपगमन मे भी कई समस्यायें होती हैं—1. ढाल के निर्माणक प्रक्रम इतनी मन्द गति से कार्य करते हैं कि उनके प्रभाव के अभिलेखन के लिये अति विकसित विधियों का प्रयोग ही सफल हो सकता है। 2. यह पता लगाना कठिन होता है कि सभी प्रक्रम अपरदनात्मक ढालो के रूप को प्रभावित करते हैं। साधारण तौर पर मृदा-सर्पण, वृष्टि धुलन आदि को पेंक महोदय ने अपक्षय से उत्पन्न मलवा के अपनयनकर्ता (Transporting agent) के रूप मे स्वीकार किया है। वास्तव मे ये प्रक्रम (सर्पण तथा धुलन) ढाल की ठोस सतह के ऊपर स्थित मलवा के आवरण का ही आच्छादन करते हैं, न कि ठोस सतह का। 3. यदि ढालो के वर्तमान रूप को देखा जाय तो प्रतीत होता है कि उनमे अधिकाश ढाल वर्तमान प्रक्रमो के प्रतिफल नही हैं, वरन् प्राचीन ढालो के अवशेष मात्र है। परन्तु जहाँ पर कोमल चट्टानें पाई जाती है और अपरदन अबाध गति से चल रहा है, वहाँ पर निश्चित रूप से ढालो का रूप वर्तमान प्रक्रमों *का प्रत्यक्ष प्रतिफल है। 4 यदि यह मान लिया जाय* कि ढालो का रूप ढाल-निर्माणक प्रक्रमो द्वारा निर्धारित होता है तो यह भी मानना होगा कि विभिन्न प्रकार की जलवायु मे ढालो के रूप भिन्न-भिन्न होंगे क्योंकि विभिन्न जलवायु मे प्रक्रमो के भिन्नता के साथ ही साथ उनकी सामर्थ्य मे भी अन्तर आ जाता है। उदाहरण स्वरूप आर्द्र और शुष्क जलवायु को लिया जा सकता है। प्रथम मे जल की अधिकता के कारण रासायनिक अपक्षय होने से महीन मलवा का आविर्भाव होता है। इसके विपरीत शुष्क जलवायु मे भौतिक अपक्षय के कारण चट्टानो का बड़े-बड़े टुकड़ो में विघटन के कारण स्थूल मलवा (Coarse debris) का निर्माण होता है। इनका प्रभाव सर्पण और धुलन के प्रक्रमो पर होना

स्वाभाविक ही है। परन्तु कुछ विद्वानो, जिन्होने स्थलीय अध्ययन किया है, का दावा है कि यह सदैव सम्भव नही होता है कि जलवायु विशेष मे विशिष्ट प्रकार के ढाल बनें। उदाहरण के लिये अवतल ढाल वाले पेडीमेण्ट को शुष्क (उष्ण) मरुस्थलीय स्थलाकृति माना जाता है, जब कि शीतोष्ण कटिबन्धीय क्षेत्रो मे भी उनके उदाहरण मिलते हैं, जहाँ पर उनका निर्माण परिहिमानी प्रक्रमो (Periglacial processes) द्वारा होता है। वास्तव मे हिमानी दशाओ को छोडकर सभी जलवायु मे ढालो के चार प्रमुख तत्त्व (उत्तल, मुक्त पृष्ठ, सरलरेखी तथा अवतल) विभिन्न संयोगो के साथ मिलते है। इसी आधार पर किंग महोदय ने जलवायु एकरूपतावाद (Climatic uniformitarianism) की सकल्पना का प्रतिपादन किया है।

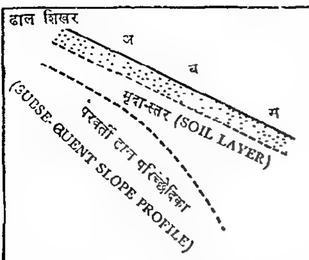
सक्षेप मे यह बताया जा सकता है कि ढालो का रूप किसी विशेष कारक से प्रभावित न होकर कई कारको से प्रभावित होता है, जिनमे प्रमुख है— शैल प्रकार, संरचना, अपक्षय के विभिन्न रूप नतिलम्ब का कोण (Dip-angle), ढाल के निचले भाग मे सरिता-अपरदन की दर, मलवा का सामूहिक स्थानान्तरण (सर्पण, घुलन आदि) के विभिन्न रूप, वानस्पतिक आवरण तथा भू-गतियाँ आदि। इनमे से कोई एक प्रक्रम अन्य की अपेक्षा अधिक सक्रिय हो सकता है परन्तु ढाल का एकमात्र नियन्त्रक नही हो सकता है।

ढाल और प्रक्रम

प्रारम्भ से ही स्वीकार किया गया है कि ढाल के विकास मे तथा उसके रूप-परिवर्तन मे प्रक्रम (Processes) सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। परन्तु सवाल यह है कि ढाल के विकास मे एकाकी प्रक्रम का हाथ होता है ? या कई प्रक्रम मिलकर एक साथ कार्य करते हैं ? यदि 'ढाल प्रक्रम-संकल्पना' के अतीत मे चला जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि प्रारम्भ मे विद्वानो ने निश्चित रूप से ढाल के विकास मे किसी एक ही प्रक्रम को सक्रिय बताया जाता है। मोटे तौर पर 'ढाल-प्रक्रम-सकल्पनाओं' को दो वर्गों मे रखा जा सकता है—1 'एकल प्रकम संकल्पना' तथा 2 'बहुल प्रकम सकल्पना'।

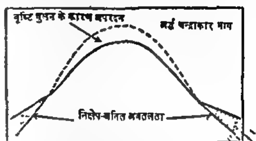
(i) एकल प्रकम सकल्पना (Mono-Process Concept)—प्रारम्भ मे ढालो के सामान्य रूप जैसे उत्तलता या अवतलता के विकास के लिए क्रमश मृदा-सर्पण (Soil creep) तथा वृष्टि घुलन (Rain-wash) को ही अधिक महत्त्वपूर्ण बताया गया था। फेनमन ने 1908 मे 'उत्तल-अवतल-ढाल' (Convexo-concave slope) के विकास मे केवल प्रवाही जल के कार्य का ही अवलोकन किया। ढाल के शीर्ष भाग पर सीमित क्षेत्र के कारण जल की मात्रा कम होने से अपरदन की मात्रा निहायत कम होती है, परन्तु जैसे-जैसे ढाल के निचले भाग की ओर अग्रसर होते हैं, धरातलीय जल और मलवा की मात्रा बढती जाती है। परिणामस्वरूप ढाल के निचले भाग मे अधिकतम अपरदन होने से अवतल ढाल का निर्माण होता है तथा शीर्ष भाग अपरदन से कम प्रभावित होने के कारण उत्तल ढाल मे बदल जाता है। 1945 मे हार्टन ने भी फेनमन से मिलती-जुलती सकल्पना का प्रतिपादन किया, जिसमे उन्होने प्रवाही जल की अपरदनात्मक क्षमता का वैज्ञानिक एव तर्कपूर्ण विश्लेषण किया। फेनमन तथा हार्टन की सकल्पनाओ मे सर्वप्रमुख यह दोष बताया जाता है कि उन्होने ढाल के विकास मे मृदा सर्पण को स्थान नही दिया है। इस कारण आर्द्र प्रदेशो मे जहाँ पर अधिकाश चट्टानो के प्रवेश्य होने से जल रिस कर नीचे चला जाता है और धरातलीय जल की न्यूनता हो जाती है एव मृदा-सर्पण अधिक सक्रिय हो जाता है, ढालो के विकास मे इस सकल्पना का प्रयोग नही हो सकता है।

सर्वप्रथम गिलबर्ट ने 1909 मे ढालो की उत्तलता के विकास मे मृदा-सर्पण के महत्त्व की परख की। उन्होने अपनी सकल्पना के प्रतिपादन-हेतु एक ऐसे ढाल का चयन किया, जिसके ऊपर मिट्टी का आवरण तथा मिट्टी मे निरन्तर नीचे की ओर फिसलन हो रही थी। उन्होने प्रारम्भिक ढाल की अनुदैर्घ्य परिच्छेदिका (Longitudinal profile) मे तीन बिन्दु चुने। (चित्र 197) सबसे ऊपर वाले बिन्दु ('अ') के ऊपरी भाग मे मृदा-सर्पण न्यूनतम सक्रिय होता है। 'ब' बिन्दु तक मृदा-सर्पण की मात्रा बढ जाती है तथा 'स' के नीचे यह सर्वाधिक हो जाती है। इस आधार पर गिलबर्ट ने यह बताया कि जो बिन्दु ढाल के शीर्ष से जितना दूर होगा, उस पर से उतना ही अधिक मलवा स्थानान्तरित होगा। इसके लिये ढाल का रूप उत्तल होगा तथा नीचे की ओर तीव्रता (Steepness) बढती जायेगी ताकि अधिक से अधिक मलवा का सर्पण हो सके। गिलबर्ट की सकल्पना मे भी कई दोष बताये जाते हैं। अधिक मृदा-सर्पण के कारण ढाल के निचले भाग मे मलवा का सचयन इतना अधिक हो जायेगा कि वहाँ पर ढाल का रूप अवतल हो जायेगा। गिलबर्ट का यह स्वीकरण कि ढाल की सतह पर मिट्टी सतत गतिशील रहती है, मान्य नही है।



चित्र 197—मृदा-सर्पण तथा उत्तल ढाल का विकास।

1932 में लासन ने बताया कि ढाल के ऊपरी भाग में उत्तलता के निर्माण में **वृष्टि-धुलन** का सर्वाधिक हाथ रहता है। परन्तु **फेनमन** की संकल्पना के विपरीत **लासन** ने प्रतिपादित किया कि ढाल के शीर्ष भाग पर धरातलीय जल अपरदन का सर्वाधिक सक्रिय साधन होता है, क्योंकि मलवा की मात्रा अधिक नहीं होती है। परन्तु ढाल के निचले भाग की ओर अग्रसर होने पर धरातलीय जल के साथ मलवा का बोझ बढ़ता जाता है, परिणामस्वरूप वृष्टि-धुलन की अपरदनात्मक क्षमता घटती जाती है और अन्तत वह समाप्त हो जाती है। इस तरह ढाल की अनुदैर्ध्य परिच्छेदिका में दो मण्डल होते हैं—**1 अपरदन मण्डल** तथा **2 अपरदन रहित मण्डल**। प्रथम में उत्तल ढाल का विकास होता है तथा दूसरे में अवतल का। इस तरह उत्तलता अपरदन का परिणाम होती है तथा अवतलता निक्षेपण की। **लासन** ने यह भी बताया कि ढाल के विकास के प्रत्येक चरण में **वृष्टि-धुलन** के कारण ढाल के शीर्ष से **अर्द्ध चन्द्राकार मलवा** (Lune shaped mass of materials) का नीचे की ओर स्थानान्तरण हो जाता है तथा उसका निचले भाग पर निक्षेपण हो जाता है। इस तरह ढाल की अनुदैर्ध्य परिच्छेदिका के वक्र की त्रिज्या निरन्तर बढ़ती जाती है। इस प्रकार **लासन** की संकल्पना में स्पष्ट हो जाता है कि समय के साथ-साथ उच्चावच घटता जाता है, जलविभाजक का पतन होता जाता है तथा ढाल का कोण कम होने लगता है। **लासन** की इस संकल्पना के विरोध में यह कहा जाता है कि ढाल के शीर्ष भाग पर अधिकतम अपरदन नहीं हो सकता है क्योंकि एक तो धरातलीय जल की मात्रा कम होती है और दूसरे अपरदनात्मक यंत्र (मलवा) का अभाव रहता है। **लासन** का यह मानना कि ढाल के निचले भाग में अपरदन कम हो जाता है, तर्क संगत नहीं है, क्योंकि जल की मात्रा तथा गति में वृद्धि के कारण अपरदनात्मक क्षमता बढ़ती जाती है। ढाल के निचले भाग की अवतलता सदैव निक्षेपात्मक ही नहीं होती है।



चित्र 198—वृष्टि-धुलन द्वारा जलविभाजक का नीचा होना।

(ii) **बहुल प्रक्रम संकल्पना** (Poly-Process Concept)—**बोलिग** ने 1950 में प्रतिपादित किया कि पहाड़ी ढाल के विकास में कई प्रक्रम सक्रिय होते हैं तथा **एक प्रक्रम, एक ढाल** (One process, one slope) की संकल्पना का खण्डन किया। यह हो सकता है कि ढाल की अनुदैर्ध्य परिच्छेदिका के विभिन्न भागों पर अलग-अलग कोई एक प्रक्रम अन्य की अपेक्षा अधिक सक्रिय हो। इन ढाल निर्माणक प्रक्रमों में इन्होंने **मृदा-सर्पण** तथा **वृष्टि-धुलन** को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बताया है। शीतोष्ण आर्द्र प्रदेशों में 'उत्तल-अवतल ढाल' के ऊपरी भाग में धरातलीय जल की न्यूनता के कारण मृदा-सर्पण अधिक सक्रिय होता है जिस कारण **शीर्ष-उत्तलता** (Summital convexity) का आविर्भाव होता है। ढाल के निचले भाग में जल की अधिकता के कारण क्षुद्र सरितायें (Rills) बन जाती हैं। जिस कारण अपरदन अधिक हो जाता है तथा मृदा-सर्पण शिथिल हो जाता है। इस कारण ढाल के निचले भाग में अवतलता का विकास होता है। समय के साथ इन प्रक्रमों का सापेक्ष महत्त्व बदलता रहता है। अपरदन के अधिक होने के कारण समय के आगे बढ़ने पर उच्चावच का पतन होने लगता है, परिणामस्वरूप मृदा-सर्पण निष्क्रिय होने लगता है, परन्तु वृष्टि-धुलन जारी रहता है। इस कारण अवतलता का विकास उत्तल ढाल वाले भाग पर होने लगता है

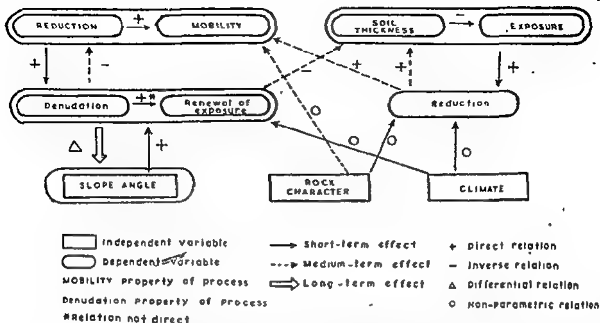
(आकार की विशेषताओं में) परिवर्तन भी लाती है। पेंक ने आकार की सात विशेषताओं तथा प्रक्रमों के कार्य की तीन दरों (Rates) का उल्लेख किया है।

आकार के गुण (Properties of forms)—(i) **न्यूनीकरण की मात्रा** (Degree of Reduction) से तात्पर्य है कि प्रस्तर आवरण (रेगोलिथ) किस मात्रा तक टूट कर बारीक पदार्थों में परिवर्तित होता है। स्मरणीय है कि बारीक गठन वाली मिट्टी (Fine-textured soil) का न्यूनीकरण स्थूल गठन (Coarse-textured) या पथरीली मिट्टी की अपेक्षा अधिक होता है। ढाल के ऊपर स्थित प्रस्तर-आवरण का न्यूनीकरण (Reduction) अपक्षय तथा अनाच्छादन की दर पर आधारित होता है। (ii) **प्रस्तर-आवरण की गतिशीलता** (Mobility) वह गुण है जिससे रेगोलिथ अनाच्छादनात्मक प्रक्रमों द्वारा ढाल के सहारे गतिशील होता है। गतिशीलता जितनी ही अधिक होगी उतना ही रेगोलिथ अनाच्छादनात्मक प्रक्रमों से शीघ्र प्रभावित होगा। गतिशीलता शैल की विशेषता तथा न्यूनीकरण की मात्रा पर आधारित होती है। (iii) **प्रस्तर-आवरण की मोटाई** से तात्पर्य ढाल परिच्छेदिका पर स्थित गतिशील या स्थिर ढीले पदार्थों के आवरण की मोटाई से है। रेगोलिथ की मोटाई न्यूनीकरण की मात्रा से प्रत्यक्ष सीधे रूप में (अर्थात् जितना ही न्यूनीकरण अधिक होगा, रेगोलिथ की मोटाई उतनी ही अधिक होगी) तथा अनाच्छादन की दर से प्रतिलोम रूप (Inverse) में प्रभावित होती है (अर्थात् अनाच्छादन की दर जितनी ही अधिक होगी रेगोलिथ की मोटाई उतनी ही कम होगी)। (iv) **ढाल-सतह का अनावरण** (Exposure of the slope surface) वह मात्रा होती है जिससे यह बोध होता है कि रेगोलिथ के नीचे स्थित शैल न्यूनीकरण के प्रक्रम के लिए अनावृत्त होकर कितनी मात्रा में सुलभ होती है। ढाल-सतह का अनावरण रेगोलिथ की मोटाई पर आधारित होता है। (v) **शैल-गुण** से चट्टानों के उन सभी पहलुओं का बोध होता है जिनका न्यूनीकरण की दर तथा रेगोलिथ की गतिशीलता की दर पर प्रभाव होता है। (vi) **जलवायु** का सम्बन्ध वहाँ तक होता है जहाँ तक वह न्यूनीकरण एवं अनाच्छादन की दर को प्रभावित करती है। (vii) **ढाल का कोण** ढाल-विकास की प्रारम्भिक अवस्था में स्वतन्त्र विचर (Variable) होता है परन्तु आगे चलकर यह अनाच्छादन की दर पर आंशिक रूप में आधारित हो जाता है।

प्रक्रम के गुण (Properties of process)—(i) **न्यूनीकरण** (Reduction) का तात्पर्य रेगोलिथ का बारीक कणों में टूटने से होता है। टूटने की यह क्रिया अपक्षय द्वारा प्रभावित होती है। रेगोलिथ के बारीक कणों में टूटने की दर शैल-गुण, जलवायु तथा अनावरण (Exposure) पर आधारित होती है। (ii) **अनाच्छादन** (Denudation) से तात्पर्य ढाल-सतह से रेगोलिथ पदार्थों के निष्कासन या अपनयन (Removal) से है। अनाच्छादन की दर जलवायु, गतिशीलता (Mobility) एवं ढाल के कोण पर आधारित होती है। (iii) **अनावरण का नवीकरण** (Renewal of exposure) से तात्पर्य रेगोलिथ आवरण के नीचे स्थित शैल-सतह के न्यूनीकरण प्रक्रम (process of reduction) के लिये अनावरण (Exposure) से है। अनावरण के नवीकरण की दर अनाच्छादन की दर पर आधारित होती है)[1]।

पेंक ने उपर्युक्त आकार एवं प्रक्रमों के गुणों में अन्तःसम्बन्धों का वर्णन किया है। यंग (A Young) ने पेंक द्वारा वर्णित आकार एवं प्रक्रमों के गुणों में सम्बन्ध, अन्तःसम्बन्ध एवं पारस्परिक क्रिया (Interaction) में कुछ संशोधन करके पेंक के विचारों का ढाल-विकास के प्रक्रम-अनुक्रिया मॉडल (Process-response model) के रूप में रेखाचित्र की सहायता से प्रदर्शन किया है। प्रथम रूप में आकार एवं प्रक्रम के बीच तथा स्वतन्त्र एवं परतन्त्र विचर (Independent and dependent variables) के बीच अन्तर स्थापित किया है। द्वितीय चरण में पूर्णरूपेण सम्बन्धित 3 गुण-युग्मों (Three closely related pairs of properties) का निर्धारण किया है—(i) न्यूनीकरण की मात्रा एवं गतिशीलता, (ii) रेगोलिथ की मोटाई एवं अनावरण तथा (iii) अनाच-

1. पेंक ने कुछ परम्परागत स्थाकृतिक नामावलियों को असामान्य रूप में प्रयुक्त किया है। अनाच्छादन का सर्व-स्वीकृत अर्थ होता है अपक्षय एवं अपरदन का सम्मिलित रूप परन्तु पेंक ने इसका प्रयोग रेगोलिथ पदार्थों के निष्कासन के लिए किया है, जो उचित नहीं है। इसी तरह अनावरण का नवीकरण अपने आप में कोई प्रक्रम नहीं है अपितु रेगोलिथ के हट जाने के कारण उत्पन्न परिणाम है क्योंकि जब रेगोलिथ का निष्कासन हो जाता है तो नीचे स्थित शैल-सतह स्वयं ऊपर दृष्टिगत होती है तथा उस पर पर्यावरण (Environmental) क्रियायें कार्य करती हैं।

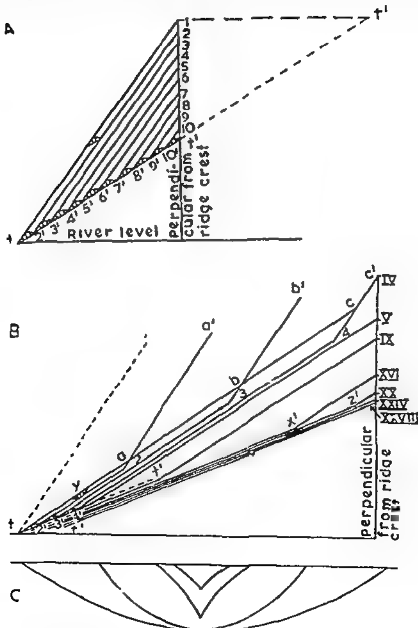


चित्र 205—पेंक द्वारा वर्णित प्रक्रम तथा रूप के गुणो (Properties) के बीच पारस्परिक क्रिया (Interaction) का यंग द्वारा प्रक्रम-रूप अनुक्रिया मॉडल (Process-response model) के रूप में आरेखीय प्रदर्शन।

छादन प्रक्रम एव अनावरण का नवीकरण। प्रक्रमो के कार्य-दर पर होने वाले प्रभाव पूरे एक वर्ष या कम अवधि तक ही प्रचालित (Operational) होते है। इस तरह के प्रभाव को **अल्पकालिक प्रभाव** (Short-term effects) कहते है। रेगोलिथ को प्रभावित करने वाले कारक **मध्यकालिक प्रभाव** (Medium-term effects) होते है। इनका कार्य-काल 1000 से 10,000 वर्ष तक होता है जिस दौरान रेगोलिथ के गुणो मे पर्याप्त परिवर्तन उत्पन्न हो जाते है। ढाल को प्रभावित करने वाले कारको का कार्य-काल 10,000 से 1,00,000 वर्षों तक होता है जिस समय ढालो मे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होते है। इसे **दीर्घकालिक प्रभाव** (Long-term effects) कहते हैं। यंग ने इस प्रक्रम अनुक्रिया मॉडल के मात्रात्मक (Quantification) आधार शिला पर परीक्षण के लिये दो सशोधन सुझाया है। शैल-गुण को दो स्वतन्त्र विचरो मे विभक्त करना होगा—(i) शैल-गुण विचर जो न्यूनीकरण की दर को प्रभावित करता है तथा (ii) जो रेगोलिथ की गतिशीलता को प्रभावित करता है। इसी तरह जलवायु को दो स्वतन्त्र विचरों मे विभक्त करना होगा—(i) जो न्यूनीकरण की दर तथा (ii) जो अनाच्छादन की दर को प्रभावित करते हैं।

पेंक का ढाल-विकास का निगमनिक (अनुमानिक) मॉडल (Deductive model of slope evolution)—पेंक ने ढाल-विकास की व्याख्या के लिये तीव्र ढाल वाले शैल खिलक का चयन किया जिसकी सरचना समाग (Homogeneous) है। ढाल के ऊपर समतल सतह का विस्तार है। ढाल परिच्छेदिका की पदस्थली पर ऐसी नदी की स्थिति है जो ऊपर से नीचे आने वाले सम्पूर्ण पदार्थ का निष्कासन तो करती है किन्तु सक्रिय रूप मे अपरदन नही करती है। एक निश्चित समय मे ढाल परिच्छेदिका के शीर्ष से पदस्थली तक सर्वत्र निश्चित एव समान मोटाई वाला शैल-आवरण ढीला हो जाता है तथा हटा (निष्कासन) लिया जाता है। चट्टान के ढीले कण टूटकर नीचे गिर जाते है। यह तभी सम्भव हो सकता है जबकि ढाल अत्यन्त तीव्र हो अन्यथा मलवा उस पर टिका रह सकता है। पेंक के अनुसार इस तरह की स्थिति ढाल की पदस्थली वाले निचले खण्ड को छोडकर सर्वत्र रहती है। इस कारण समस्त ढाल मे समानान्तर निवर्तन होता जाता है, केवल सबसे नीचे वाला भाग (१-2′ भाग, चित्र 206) स्थिर रहता है क्योकि इसका ढाल-कोण इतना नही रहता है कि इस पर इतनी वांछित गतिशीलता (Mobility) हो जो एकत्रित पदार्थों का निष्कासन

कर सके। द्वितीय समय-अन्तराल (Second time interval) के दौरान उपर्युक्त प्रक्रिया की पुनरावृत्ति होती है अर्थात् ढाल मे समानान्तर निवर्तन होता है (3′-3 की स्थिति) परन्तु 2′-3′ भाग पर गतिशीलता (Mobility) इतनी नही हो पाती है कि पदार्थों का निष्कासन हो सके। इस तरह 3′-3 के नीचे t-3′ तक का भाग मन्द ढाल वाला होता है। तृतीय समय-अन्तराल के दौरान समानान्तर निवर्तन होने से ढाल परिच्छेदिका 4′-4 की स्थिति मे पहुँच जाती है तथा मन्द ढाल का भाग t से 4′ तक विस्तृत हो जाता है। इसी तरह विभिन्न समय-अन्तरालो (Time intervals) मे समानान्तर निवर्तन होता रहता है तथा ढाल-परिच्छेदिका की स्थितियाँ क्रमश 5′-5, 6′-6, 7′-7, 8′-8, 9′-9 तथा 10′-10 के समान होती जाती हैं। निचला मन्द-ढाल



चित्र 206—A तथा B=पेंक के अनुसार ढाल का विकास। C=पेंक के विचारो का साइमन्स (Simons 1962) द्वारा आरेखीय प्रदर्शन।

क्रमश: t-2′, 2′-3′, 3′-4′, 4′-5′, 5′-6′, 6′-7′, 7′-8′, 8′-9′ तथा 9′-10′ तक विस्तृत होता जाता है एवं सभी मिलकर समान प्रवणता (Gradient) वाले अविछिन्न ढाल-परिच्छेदिका (t से 10′ तक) का निर्माण करते है। इसे आधार ढाल (*Basal slope*) कहते हैं। उपर्युक्त विवरण को निम्न सकल्पना के रूप मे सजोया जा सकता है—

"तीव्र चट्टानी अग्रभाग पीछे की ओर ढाल के ऊपरी भाग की तरफ खिसकता जाता है तथा उसकी मौलिक प्रवणता यथावत रहती है तथा उसके स्थान पर कम प्रवणता वाले *आधार ढाल का विस्तार होता है।*"

"A steep rock face left to itself, moves back upslope, maintaining its original gradient, and a basal slope of lesser gradient develops at its expense."

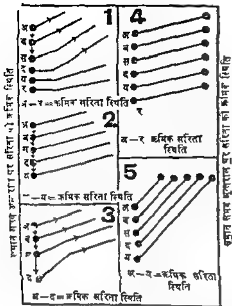
पैंक का ढाल-विकास का उपर्युक्त मॉडल क्षेत्र मे वास्तविकता से सामन्जस्य रखता है। भाण्डेर पठार के पूर्वी स्कार्प (टौस नदी के ऊपरी प्रवाह भाग के समानान्तर) पर इस तरह का ढाल विकास दृष्टिगत होता है (पृष्ठ 69 पर चित्र 15)। ढाल के ऊपरी भाग मे मुक्त पृष्ठ (Free-Face) वाले सीमित कगार (Scarps) मे सतत् समानान्तर निवर्तन हो रहा है तथा नीचे से सरल-रेखी समान प्रवणता वाली अविछिन्न ढाल-परिच्छेदिका का ऊपर की ओर विस्तार हो रहा है। इसी तरह की प्रवृत्ति बेलन बेसिन (मिर्जापुर, रीवा तथा इलाहाबाद जनपद) के दक्षिणी भाग मे कैमूर श्रेणी के उत्तरी ढाल पर देखने को मिलती है। उपर्युक्त क्षेत्रों मे ढाल-विकास विन्ध्यन-बालुप्रस्तर शैल पर हुआ है। रोहतास पठार (द० प० बिहार) के दक्षिणी कगार (सोन नदी की ओर उन्मुख) *का भी समानान्तर निवर्तन हो रहा है।*

पैंक ने उपर्युक्त प्रक्रिया को मलवा-आच्छादित ढाल के लिये भी प्रयुक्त किया है। न्यूनीकरण (Reduction) आधार ढाल (Basal slope) पर प्रारम्भ होती है (चित्र 206 B t-c)। न्यूनीकरण तब तक चलता रहता है जब तक कि आधार-ढाल के समस्त भाग पर इतनी गतिशीलता (Mobility) न आ जाय कि उस पर मलवा गतिशील हो सके। चूंकि इस आधार ढाल का कोण कगार ढाल से अत्यधिक कम होता है अत क्लिफ (कगार) की तुलना मे इस आधार ढाल पर वाछित गतिशीलता (Required mobility) अधिक होती है। इस स्थिति के प्राप्त हो जाने पर सबसे निचले भाग को छोड़कर समस्त ढाल-परिच्छेदिका पर सभी शैल-मलवा ऊपर से नीचे की ओर गतिशील (*खिसकने लगता है*) हो जाता है। सबसे निचले भाग पर पर्याप्त ढाल-प्रवणता (Slope gradient) न होने के कारण ही शैल-मलवा और नीचे *नहीं सरक पाता है। आधार-ढाल अपने पूर्ववत झुकाव* (Inclination) को कायम रखते हुए ऊपर की ओर अग्रसर होता है (लम्बाई मे वृद्धि होती है, चित्र 206 मे t-a से 2′-2 तक पहुँच जाता है)। इस नये ढाल के आधार पर पुन और कम ढाल वाली नई ढाल-इकाई (Slope-unit) का विकास होता है (चित्र 206 मे t-t′)। आगे चलकर इसका भी प्रतिस्थापन (Replacement) और अधिक कम कोण वाले ढाल की तीसरी नयी इकाई से हो जाता है (चित्र 206 मे t-t″)। इस क्रिया की पुनरावृत्ति चलती रहती है तथा प्रत्येक ढाल के नीचे कम कोण वाले ढाल-इकाई का सृजन होता जाता है। इस आधार पर निम्न नियम का प्रतिपादन किया गया है—

'ढाल का चपटापन सदैव नीचे से प्रारम्भ होकर ऊपर की ओर बढ़ता है—Flattening of slopes always takes place from below upwards."

पैंक द्वारा मलवा-आच्छादित (Debris-covered) ढाल-विकास की उपर्युक्त प्रक्रिया मे दो त्रुटियाँ बतायी जाती है। प्रथम, पैंक ने क्लिफ से शैल-पतन (Rock fall) तथा मलवा के तात्कालिक निष्कासन (Instantaneous removal) की प्रक्रिया को मलवा-आच्छादित ढाल पर भी लागू किया है जो कि न्याय सगत नही है। द्वितीय, पैंक का यह मानना कि आधार-ढाल का समस्त भाग या उसके नीचे (आगे चलकर) बाद मे निर्मित प्रतिस्थापन ढालो (Replacement slopes) के समस्त *भाग समान रूप से अपक्षय के लिए अनावृत्त (Equally* exposed to weathering) रहते हैं, त्रुटिपूर्ण है। ज्ञातव्य है कि ढाल के सबसे निचले भाग पर अनावरण की अवधि (Period of exposure) सर्वाधिक होती है तथा ढाल की परिच्छेदिका के सहारे ऊपर की ओर यह अवधि घटती जाती है एवं ऊपरी ढाल के प्रतिच्छेदन बिन्दु (Inter-section point) पर शून्य हो जाती है।

उपर्युक्त दो महत्वपूर्ण अवधारणाओं के अलावा पैंक ने ढाल-विकास के विषय मे कई और मान्यतायें प्रस्तुत की हैं—ढाल के ऊपरी भाग से मिट्टी का नीचे की ओर सरकाव नुकीले शिखर वाले भाग को गोलाकार रूप देकर शिखरीय उत्तलता का निर्माण करता है परन्तु पैंक



चित्र 207—पेंक के अनुसार ढाल विकास। 1 घटती दर से अपरदन करती हुई सरिता द्वारा अवतल ढाल का निर्माण। 2 समान दर से अपरदन करती हुई सरिता द्वारा सरलरेखी ढाल का निर्माण। 3 बढ़ती दर से अपरदन करती हुई सरिता द्वारा उत्तल ढाल का निर्माण। 4-5 ढाल कोण तथा सरिता-अपरदन के बीच सम्बन्ध (पेंक के अनुसार)।

ने यह बताया है कि शिखरीय उत्तलता के नीचे की ओर विस्तृत होने की एक सीमा होती है जिसके आगे ऊपर से नीचे की ओर शिखर का और अधिक चपटापन नहीं हो सकता है।

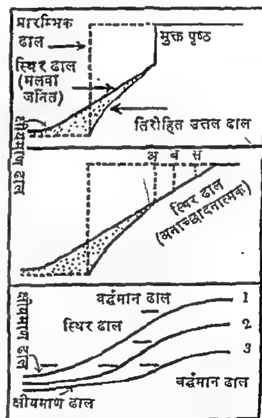
पेंक ने ढाल-विकास में सरिता-अपरदन की दर की कई अवस्थाओं (समान दर से अपरदन, बढ़ती दर से अपरदन, तथा घटती दर से अपरदन) का अध्ययन किया है और बताया है कि इन विभिन्न अवस्थाओं में ढाल का रूप भिन्न-भिन्न होता है। तीव्र गति से अपरदन (Accelerating rate of erosion) में नदी के किनारे पर उत्तल ढाल का विकास होता है जब कि घटती दर से अपरदन की दशा (Decelerating rate of erosion) में अवतल ढाल बनता है। इन दोनों के बीच की दशा अर्थात् स्थिर से अपरदन की दशा (Constant rate of erosion) सरलरेखी ढाल (Rectilinear slope) का निर्माण होता है। तात्पर्य है कि पेंक ने अपनी मौलिक रचना में कहीं भी यह उल्लेख नहीं किया है कि सामान्य रूप में बढ़ती दर से अपरदन की दशा में ढाल की परिच्छेदिका में कोणिक ढाल-भंग (Angular break of slope) का निर्माण होता है। हाँ यह अवश्य होता है कि जब अपरदन अचानक तीव्र गति से सम्पादित होता है तो ढाल-प्रवणता में उत्तल ढाल-भंग (Convex break of gradient) उत्पन्न हो जाता है। इस ढाल भंग के नीचे स्थित तीव्रतर ढाल ऊपर की ओर बढ़ता जाता है तथा ऊपर स्थित मन्द ढाल की इकाई का तीव्र ढाल इकाई द्वारा प्रतिस्थापन (Replacement) हो जाता है।

पेंक की मौलिक रचना के अध्ययन (कुछ लोगों द्वारा) तथा उसके अंग्रेजी रूपान्तर के अवलोकन से यह स्पष्ट नहीं हो पाता है कि ढाल-विकास असतत सरणियों (Discrete stages) में होता है या पेंक ने ऐसी सरणियों का प्रयोग ढाल-विकास की प्रक्रिया के स्पष्टीकरण के लिए किया था। यह भी स्पष्ट नहीं हो पाता है कि ढाल-विकास की प्रक्रिया में कई प्रतिच्छेदन करने वाले सरल-रेखी खण्ड (Intersecting rectilinear segments) होते हैं या निर्माण अवतलता होती है। पेंक की मौलिक रचना के व्याख्याकार दोनों सम्भावनाओं की स्थिति को व्यक्त करते हैं परन्तु यंग (A Young) के अनुसार यही सही प्रतीत होता है कि अन्त में अवतलता का ही विकास होता है। चित्र 206C में साइमन्स (जिन्होंने पेंक की मौलिक रचना का 1962 में विश्वस्त अंग्रेजी रूपान्तर प्रस्तुत किया है) ने पेंक के विचारों को रैखिक आरेख के रूप में प्रस्तुत किया है जिससे अन्त में अवतलता के विकसित होने के तथ्य का ही सत्यापन होता है।

पेंक की संकल्पना में यद्यपि कुछ दोष हैं तथापि इसमें महत्त्वपूर्ण आनुमानिक मॉडल की सारी विशेषतायें निहित हैं। जहाँ पर ढाल परिच्छेदिका पर अनाच्छादनात्मक प्रक्रमों द्वारा मलवा का नीचे की ओर तात्कालिक निष्कासन होता है वहाँ पर पेंक का मॉडल पूर्ण रूपेण उपयुक्त है परन्तु जहाँ पर मलवा का निष्कासन (Removal) कई भाग एवं चरणों में होता है वहाँ पर यह मॉडल गलत प्रमाणित होता है। मार्टेनसेन (Mortensen, H. 1969) ने पेंक द्वारा वर्णित (अपक्षय से प्रभावित) क्लिफ से समानान्तर निवर्तन की सत्यता पर भी सन्देह व्यक्त किया है। यंग ने पेंक के विचारों के निचोड़ को निम्न रूप में व्यक्त किया है—'पेंक की मौलिक रचना की व्याख्या से ढाल के समानान्तरण निवर्तन का आभास नहीं मिलता है। इनकी ढाल-विकास की संकल्पना ढाल-प्रतिस्थापन की है जिसमें तीव्र ढाल के स्थान पर मन्द ढाल का विकास होता है। समानान्तर

निवर्तन केवल मौलिक सरलरेखी ढाल पर ही होता है परन्तु वह भी बाद मे अवतल ढाल में बदल जाता है। इस तरह ढाल मे सतत् प्रतिस्थापन होता रहता है—नीचे से ऊपर की ओर। यदि यह प्रतिस्थापन असतत सरणियो मे न होकर सतत सरणियो (Continuous stages) मे होता है तो अवतल ढाल के किसी भी भाग मे समानान्तर निवर्तन नही होता है'।

3 उड की संकल्पना (Wood's Concept)[1]—उड ने ढालो के विकास म समानान्तर निवर्तन की स्वीकृति के साथ अपक्षय की दर तथा उससे प्राप्त मलवा के परिवहन की दर मे समायोजन की भी पुष्टि की है। इन्होने अपनी सकल्पना के प्रतिपादन-हेतु एक क्लिफ ढाल का चयन किया है, जो कि मुक्त पृष्ठ (Free face) वाला होता है तथा उसका निर्माण या तो अपरदनात्मक प्रक्रम से हुआ है या भ्रशन की क्रिया से। अपक्षय के कारण क्लिफ का निवर्तन प्रारम्भ होता है तथा अपक्षय से प्राप्त मलवा का ढाल के आधार पर एकत्रीकरण प्रारम्भ हो जाता है। इस कारण मुक्त पृष्ठ ढाल का निचला हिस्सा लगातार मलवा के एकत्रीकरण के कारण तिरोहित होने लगता है तथा उसकी (मुक्त पृष्ठ के ऊपरी भाग की) ऊँचाई कम होने लगती है। इस तरह मलवा के निक्षेपण से कारण मुक्त पृष्ठ का निचला भाग स्थिर ढाल (Constant slope) का रूप ले लेता है। स्थिर ढाल के नीचे (Under) एक उत्तल शैल ढाल (Convex rock slope) का निर्माण होता है। इस सामान्य स्थिति में अव्यवस्था उस समय आ सकती है, जब कि मलवा ढेर पर सरिता आदि अपरदनात्मक प्रक्रम भी सक्रिय हो जायें। इस स्थिति मे मलवा का स्थानान्तरण होने लगता है। साधारणीकरण के लिए उड ने मान लिया है कि स्थिर ढाल (मलवा-निर्मित) के ऊपरी भाग पर मुक्त पृष्ठ के अपक्षय से प्राप्त जितना मलवा आता है, उतना ही निचले भाग मे सरिता द्वारा हटा लिया जाता है (साम्यावस्था की स्थिति), जिस कारण स्थिर ढाल (मलवा-निर्मित) की लम्बाई स्थिर रहती है। इस परिस्थिति मे मुक्त पृष्ठ के निवर्तन के चलते रहने से स्थिर ढाल का विस्तार होता है परन्तु इस विस्तृत स्थिर ढाल पर मलवा टिक नही पाता है। इसे अनाच्छादनात्मक ढाल (Denudational constant slope) की संज्ञा प्रदान की जाती है। स्थिर ढाल मे दो तत्त्व होते है—निक्षेपात्मक (निचले भाग मे) तथा अनाच्छादनात्मक (ऊपरी भाग मे)। अनाच्छादनात्मक स्थिर ढाल को परिवहन ढाल भी कहा जाता है तथा सरलरेखी ढाल का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करता है। अन्तत यह स्थिर ढाल जलविभाजक के शीर्ष तक पहुँच जाता है, जहाँ पर मुक्त-पृष्ठ पूर्णतया समाप्त हो जाता है तथा जलविभाजक का शिखर गोलाकार होने लगता है, जिस कारण शिखरीय उत्तलता (Summital convexity) का आविर्भाव होता है। स्थिर ढाल का निचला भाग अवतल हो जाता है। इस तरह से समग्र ढाल की अनुदैर्घ्य परिच्छेदिका (Longitudinal profile) मे तीन तत्त्व होते है—शिखरीय उत्तलता, सरल रेखात्मकता (Reclinearity) तथा अध अवतलता (Basal convexity)



चित्र 208—उड के अनुसार ढाल का विकास। अ—स = मुक्त पृष्ठ के निवर्तन की क्रमिक स्थितियाँ। 1—3 = ढाल विकास की अन्तिम अवस्थायें।

1. Wood, A., 1942 The development of hillside slopes., Proc., Geol. Ass. Lond. 53 pp. 128-40.

चित्र 215—मुक्तपृष्ठ का समानान्तर निवर्तन (I, II, III...H), ढाल के निचले भाग में मलवा का संचयन (I′, II′ III′...H′) तथा शैल कोर का निर्माण (F, A, B, C, H)। B क्लिफ का कोण ∝ मलवा का कोण, h क्लिफ की ऊँचाई (लेहमन के अनुसार)।

शैल-पतन (Rock fall) के आयतन (Vr) तथा एकत्रित होने वाले शैल-मलवा के आयतन (Vs) के अनुपात को निम्न रूप में व्यक्त किया जाता है—

$$Vs = \frac{Vr}{I - C}$$

C को स्थिरांक (Constant) के रूप में लिया गया है। यह दो विचरों से प्रभावित होता है—(i) मलवा में यदि रिक्त स्थान (Void) अधिक है तो शैल-मलवा के आयतन में वृद्धि एवं (ii) यदि शैल-मलवा का कुछ भाग हटा लिया जाता है तो उसके आयतन में ह्रास। इस आधार पर उपर्युक्त सूत्र को निम्न रूप में व्यक्त किया जा सकता है।

$$Vs = \frac{Vr}{1 - C} = Vr\, C_1\, C_2$$

$$C = I - C_2\, C_2$$

जबकि C_1 = शैल-मलवा में समानुपातिक वृद्धि

C_2 = अवशिष्ट शैल-मलवा का भाग

सामान्य दशा में C_1 का मान सदा धनात्मक होता है। जब रेत का प्रारम्भिक संकुलन (Packing) ढीला होता है तो C_1 का मान शून्य के करीब होता है। यदि ढाल के आधार से शैल-मलवा का निष्कासन नहीं (शून्य) होता है तो शैल-मलवा का आयतन (Vs) शैल-पात के आयतन (Vr) से अधिक होता है ($Vs > Vr$)। यदि शैल-मलवा का जरा भी निष्कासन होता है तो C का मान धनात्मक या ऋणात्मक होता है जबकि मलवा के संचयन के समय ढीले संकुलन (Loose packing) के कारण मलवा के आयतन में जो वृद्धि होती है वह हटाये जाने वाले मलवा के बराबर हो। जब मलवा का निष्कासन अत्यधिक होता है तो C का मान ऋणात्मक हो जाता है तथा शैल-मलवा का आयतन (Vs) शैल-मलवा (Rock falling) के आयतन से कम होता है ($Vs < Vr$)। यदि किसी खास स्थिति में सारा मलवा निष्कासित हो जाय तो C_2 शून्य हो जाता है और C का मान ऋणात्मक होता है, $C = -\infty$।

इस मॉडल से यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि क्लिफ के अग्रभाग में निवर्तन (समानान्तर) होता है और उसके आधार पर मलवा का संचयन होता है तो मलवा के नीचे तिरोहित (Buried) भाग (शैलकोर) का रूप उत्पन्न होता है। निम्न सूत्र इस शैल-कोर के रूप को प्रदर्शित करता है।

$$\frac{dx}{dy}=\frac{h \cot\beta-(\cot\alpha-C \cot\alpha-\cot\beta)y}{h-cy}$$

जब कि x = क्षैतिज निर्देशाक (Coordinate)
y = लम्बवत निर्देशाक
c = स्थिराक
(देखिये चित्र 215 तथा 216)

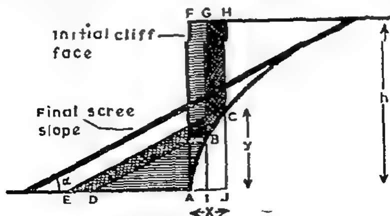
इस तरह स्पष्ट है कि जब क्लिफ का समानान्तर निवर्तन होता है तो मलवा-आच्छादित शैल कोर का रूप उत्तल होता है जिसका निम्नतम बिन्दु (चित्र 215 म F) प्रारम्भिक क्लिफ के कोण (β) पर स्पर्श (Tangent) होता है। जब सम्पूर्ण क्लिफ समानान्तर निवर्तन तथा मलवा-सचयन के कारण समाप्त हो जाता है तो शैल-कोर का उच्चतम बिन्दु (चित्र 215 मे H) शैल-मलवा के कोण (α) पर स्पर्श होता है। β (प्रारम्भिक क्लिफ का ढाल-कोण) मे अन्तर होने पर भी मलवा-आच्छादित शैल-कोर के आकार मे कम ही प्रभाव हो पाता है *अर्थात् उसका रूप उत्तल ही रहता है।* यदि β 90° से कम होता है तो शैल-कोर का निम्नतम भाग अपेक्षाकृत मन्द ढाल का होता है। शैल-मलवा के कोण (α) *मे परिवर्तन होने से शैल-कोर के रूप पर अपेक्षाकृत* अधिक प्रभाव होता ह। जितने ही तीव्र ढाल पर मलवा स्थित होता है शैल-कोर का ढाल उच्चतम भाग पर उतना ही अधिक तीव्र होता है। स्थिराक (C) के धनात्मक एव कम ऋणात्मक मान का शैल-कोर के रूप पर सीमित किन्तु न्यून प्रभाव होता है स्थिराक C का ऋणात्मक मान जितना ही अधिक होगा (यदि मलवा का निष्कामन अत्यधिक होता है तो C_2 का मान *कम होगा एवं C का अत्यधिक ऋणात्मक मान होगा)* तो शैलकोर का वक्र अत्यधिक चपटा होगा। जब स्थिराक C का ऋणात्मक मान अनन्त ($C=-\infty$) होता है *(क्लिफ के समानान्तर निवर्तन के समय उसके* आधार पर से यदि समस्त मलवा का निष्कामन हो जाय) तो क्लिफ के समानान्तर निवर्तन मे जनित अवशिष्ट शैल सतह (बिना मलवा जमाव के) का ढाल सरलरेखी होता है। इसे **अनाच्छादनात्मक ढाल** (Denudation slope) कहा जाता है। इस तरह के सरलरेखी शैल ढाल का अवलोकन रिटर (Richter) ने **आल्प्स** मे किया है। अत इस ढाल को **रिटर अनाच्छादनात्मक ढाल** भी कहते हैं।

क्लिफ का मौलिक ढाल जितना ही अधिक तीव्र होता है, शैल कोर की उत्तलता उतनी ही अधिक तीव्र होती है। चित्र 216 मे क्लिफ का मौलिक ढाल 90° का है। चित्र 216 मे □ A F G I भाग का अपक्षय द्वारा अलगाव होता है तथा क्लिफ के आधार पर उतने ही पदार्थ का जमाव हो जाता है।

△ B I D (मलवा) = □ A F C I (अपक्षय से ह्रास)।

इसी तरह △ C J E (मलवा) = □ A'F H J (अपक्षय मे ह्रास)।

प्रक्रम-अनुक्रिया मॉडलो मे **शीडगर** (A. E Scheidegger, 1960, 1961, 1964), **हिरानो** (M. Hirano, 1968), **कलिंग** (W. E. H Culling, 1963, 1964), **अहर्नट** (F. Ahnert, 1968) आदि के मॉडल उल्लेखनीय हैं।



चित्र, 216—क्लिफ ढाल के विकास का मॉडल, जबकि क्लिफ के आधार पर मलवा का संचयन होता है।

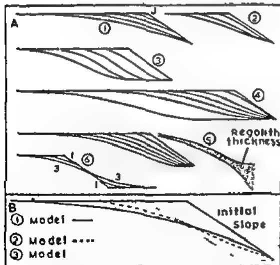
यंग प्रक्रम-अनुक्रिया मॉडल (Process-Response Models of A Young)—यंग (1963) तथा अह्नर्ट (F Ahnert, 1966 तथा 1970) ने ढाल-विकास के **प्रक्रम-अनुक्रिया मॉडल** का निर्माण किया है। ज्ञातव्य है इन दोनों ने विभिन्न कल्पनाओं (Assumptions) पर अलग-अलग स्वतन्त्र रूप में अपने मॉडलों की रचना की है परन्तु उनकी तकनीक (Techniques) एक जैसी ही है। यंग ने अपने मॉडलों की रचना प्रक्रम तथा ढाल-रूप के पारस्परिक क्रिया (Interaction), जिसका परिकलन पुनरावृत्ति की विधि (Method of Interaction) के अनुसार किया गया है, के आधार पर की है। इन्होंने विभिन्न कल्पनाओं के आधार पर 6 मॉडल का निर्माण किया है—

मॉडल 1–(i) ढाल के आधार से मलवा का अबाध गति से निष्कामन होता है परन्तु अध अपरदन (Basal erosion) नहीं होता है।

(ii) ढाल का निवर्तन मलवा निष्कासन के नियन्त्रण पर आधारित होता है।

(iii) शैल मलवा (Regolith) का निष्कामन पूर्णतया धरातलीय परिवहन (Surface transportation) से होता है।

(iv) धरातलीय परिवहन की दर ढाल-कोण के साइन (Sin θ) के समानुपातिक होता है। (चित्र 217 का 1 भाग)।



चित्र 217—ढाल-विकास का प्रक्रम-रूप अनुक्रिया मॉडल (Process response models)। A= माडल 1 से 6 के अनुसार ढाल की विकसित क्रमिक परिच्छेदिकायें। B=मॉडल 1, 2 तथा 3 के अनुसार विकसित परिच्छेदिकाओं की तुलना (यंग के अनुसार)।

मॉडल 2–(i) ढाल के आधार से मलवा का अबाध गति से निष्कासन होता है परन्तु अध अपरदन नहीं होता है।

(ii) ढाल का निवर्तन मलवा-निष्कासन के नियन्त्रण पर आधारित होता है।

(iii) शैल-मलवा का निष्कामन पूर्णतया धरातलीय परिवहन द्वारा होता है।

(iv) धरातलीय परिवहन की दर ढाल-कोण के साइन (Sin θ) तथा ढाल-शिखर से दूरी के समानुपातिक होती है। (चित्र 217 का 2 भाग)।

मॉडल 3 अ-(i) ढाल के आधार से मलवा का अबाध गति से निष्कामन होता है परन्तु अध अपरदन नहीं होता है।

(ii) शैल मलवा का निष्कासन पूर्णतया प्रत्यक्ष निष्कामन (Direct removal) द्वारा होता है।

(iii) शैल-मलवा के प्रत्यक्ष निष्कामन की दर ढाल कोण के साइन (Sin θ) के समानुपातिक होती है।

3 ब–(i) ढाल के आधार से मलवा का अबाध गति से निष्कामन होता है परन्तु अध अपरदन नहीं होता है।

(ii) ढाल का निवर्तन अपक्षय द्वारा नियन्त्रण पर आधारित होता है।

(iii) अपक्षय की दर ढाल-कोण के साइन (Sin θ) के समानुपातिक होती है (धरातलीय परिवहन की दर का कोई महत्त्व नहीं होता है)। (चित्र 217 का 3 भाग)।

मॉडल 4–(i) ढाल के आधार से मलवा का निष्कासन अबाध गति से होता है परन्तु अध अपरदन नहीं होता है।

(ii) ढाल का निवर्तन मलवा-निष्कासन के नियन्त्रण पर आधारित होता है।

(iii) शैल-मलवा का निष्कासन धरातलीय परिवहन तथा प्रत्यक्ष निष्कासन दोनों द्वारा होता है।

(iv) धरातलीय परिवहन एवं मलवा के प्रत्यक्ष निष्कासन की दरें ढाल कोण के **साइन** (Sin θ) के समानुपातिक होती है। (चित्र 217 का 4 भाग)।

मॉडल 5–(i) ढाल के आधार से मलवा का निष्कासन अबाध गति से होता है परन्तु अध अपरदन नही होता है।

(ii) ढाल का निवर्तन मलवा-निष्कासन के नियन्त्रण पर आधारित होता है।

(iii) शैल-मलवा का निष्कासन पूर्णतया धरातलीय परिवहन द्वारा होता है।

(iv) धरातलीय परिवहन की दर ढाल कोण के साइन (Sin θ) तथा शैल-मलवा की मोटाई के समानुपाती होती है।

(v) अपक्षय की दर (शैल का मलवा या रेगोलिथ मे परिवर्तन) ढाल-कोण के **साइन** (Sin θ) के समानुपातिक एवं रेगोलिथ (शैल-मलवा) की मोटाई के व्युत्क्रमानुपातिक (Inversely proportional) होती है।

(vi) ढाल-परिच्छेदिका के किसी बिन्दु पर शैल-मलवा की मोटाई उस बिन्दु के ऊपर अपक्षय से प्राप्त शैल मलवा की कुछ मात्रा के समानुपातिक होती है परन्तु उस बिन्दु से नीचे की ओर परिवहन की दर से व्युत्क्रमानुपातिक होती है। (चित्र 217 का 5 भाग)

मॉडल 6–(i) ढाल के आधार से शैल-मलवा का बाधित निष्कासन (Impeded removal of regolith)।

(ii) जहाँ पर धरातल का ह्रास (Ground loss) होता है वहाँ पर ढाल मलवा के निष्कासन के नियन्त्रण पर आधारित होता है, जहाँ पर धरातल मे वृद्धि (Ground gain) होती है वहाँ पर ढाल मलवा के सचयन के नियन्त्रण पर आधारित होता है।

(iii) शैल-मलवा का निष्कासन पूर्णतया धरातलीय परिवहन द्वारा होता है।

(iv) धरातलीय परिवहन की दर ढाल-कोण के साइन (Sin θ) के समानुपातिक होती है। (चित्र 217 का 6 भाग)।

उपर्युक्त मॉडलो की व्याख्या–ज्ञातव्य है कि **यंग** ने ढाल-परिच्छेदिका के विकास का परिकलन कल्पनाओं के आधार पर किया है न कि वास्तविक प्रक्रमो के परिकलन पर। मॉडल 1 **मृदा-सर्पण** (Soil creep), मॉडल 2 **धरातलीय धुलन** (Surface wash) एवं मॉडल 3 **घोलीकरण ह्रास** (Solution loss) के प्रक्रमो के कार्य-प्रणाली पर आधारित हैं। मॉडल 1 (चित्र 217 मे 1) मे ढाल का विकास मृदासर्पण के अन्तर्गत होगा। यदि मृदासर्पण की दर ढाल कोण के **साइन** (Sin β) के समानुपातिक हो। यदि मृदासर्पण की दर ढाल के नीचे की ओर बढती जायेगी तो मॉडल 3 के अनुसार ढाल का विकास होगा (चित्र 217 मे 3)। **मॉडल** 1 (चित्र मे 1) को देखने से स्पष्ट विदित होता है कि ढाल के प्रारम्भिक रूप मे जो **कोणिक संधि-स्थान** (Angular junction, चित्र 217 मे J बिन्दु) होता है उसका गोलन (Rounding) हो जाता है। परन्तु ढाल के निचले भाग पर धरातल-ह्रास (Ground loss) नही होता है। शनैः-शनैः **शिखरीय उत्तलता** (Summital convexity) का विस्तार ढाल के आधार तक हो जाता है। अधिकतम ढाल कोण कम होता जाता है, उत्तलता की लम्बाई बढती जाती है एव वक्रता (Curvature) घटती जाती है। ज्ञातव्य है कि ढाल-विकास की अन्तिम अवस्था मे भी अवतलता का विकास नही हो पाता है। **मॉडल** 2 मे ढाल के प्रारम्भिक सरलरेखी तत्व मे निवर्तन होता है तथा उत्तलता का विकास होता है। समय के साथ ढाल परिच्छेदिका की लम्बाई बढती जाती है, वक्रता घटती जाती है (मॉडल 1 के ही समान) परन्तु ढाल-विकास के अन्तिम चरण मे अध अवतलता (Basal concavity) का विकास हो जाता है (चित्र 217 मे 2)। **मॉडल** 3 मे ढाल का विकास मुख्यतया समानान्तर निवर्तन द्वारा होता है। **मॉडल** 4 मे मॉडल 1 तथा 3 की कल्पनाओ को सम्मिलित किया गया है तथा यह अनुरूपता (Analogy) इस अवधारणा पर आधारित है कि ढाल का विकास **मृदासर्पण** एवं **घोलीकरण ह्रास** (Solution loss) दोनो द्वारा प्रभावित होता है। परन्तु इसमे एक अतिरिक्त तत्त्व (मलवा का प्रत्यक्ष निष्कासन) के सम्मिलन से ढाल-विकास की प्रक्रिया मॉडल 1 से भिन्न

हो जाती है। मॉडल 1 मे अवतल तत्त्व का विकास नही हो पाता है। परन्तु मॉडल 4 मे पेडीमेण्ट के समान दीर्घ अध अवतलता (Long basal concavity) का निर्माण हो जाता है।

मॉडल 5 मे शैल-मलवा (Regolith) की मोटाई तथा अपक्षय एव परिवहन की दरो के बीच पारस्परिक सम्बन्ध (Interaction) को सम्मिलित किया गया है। उत्तल ढाल पर ऊपर से नीचे की ओर शैल-मलवा की मोटाई मे *सामान्य किन्तु आहिस्ता-आहिस्ता वृद्धि होती* है परन्तु अवतल ढाल पर यह वृद्धि तीव्र गति से होती है। जहाँ पर शैल-मलवा की मोटाई मे वृद्धि के साथ धरातलीय परिवहन (Surface transport) की दर मे वृद्धि की कल्पना की जाती है वहाँ पर इस वृद्धि के कारण *ढाल के निचले भाग मे परिवहन की दर मे वृद्धि* हो जाती है। ऐसी स्थिति मे मॉडल 5 मे ढाल-परिच्छेदिका का विकास मॉडल 2 के अनुरूप ही होता है (चित्र 217 मे 5)। **मॉडल** 6 मॉडल 1 के प्राय समान ही है। अन्तर मात्र इतना है कि मॉडल 6 मे ढाल के आधार से मलवा का निष्कासन अबाध गति से नही होता है, वरन् उसके निष्कासन मे बाधाये उपस्थित होती रहती है जिस कारण मलवा के सचयन से **अध अवतलता** (Basal concavity) का विकास होता है (चित्र 217 मे 6)।

यग ने यद्यपि अपने मॉडल की रचना **परिमाणहीन प्राचलो** (Dimensionless parameters) पर की है तथापि उन्होने दावा किया है कि वास्तविक ढाल परिमाण (Actual slope dimensions) को ढाल-माडल पर लागू किया जा सकता है। प्रक्रमो के कार्य-दर की चाहे कल्पना की गई हो या क्षेत्र म उनका वास्तविक पर्यवेक्षण किया गया हो। इस आधार पर ढाल की प्रत्येक परिच्छेदिका के विकास के लिए *वांछित समय* का परिकलन किया जा सकता है। यग ने माडल 1 तथा 5 के सम्बन्ध मे दो ऊँचाइयो वाले ढालो की परिच्छेदिकाओ के विकास के समय का प्रक्रम की दो कल्पित कार्य-दर के आधार पर परिकलन किया है। माडल 1 के सम्बन्ध मे यदि मौलिक ढाल की ऊँचाई 10 मीटर है और ढाल के नीचे की ओर मलवा के परिवहन की काल्पनिक दर 0 5 cm^3/cm प्रतिवर्ष है तो प्रारम्भिक कोणिक सधि-स्थान (Angular junction) का गोलन (Rounding) तथा उत्तलता का विकास 15 00 000 वर्षों म होगा और यदि मौलिक ढाल की ऊँचाई 100 मीटर है तो 150 000 000 वर्षो मे यह रूप प्राप्त होगा। यदि परिवहन की दर बढाकर 3.0 cm^3/cm प्रतिवर्ष कर दी जाय तो 10 मीटर ऊँचाई वाले ढाल के गोलन तथा उत्तलता म परिवर्तित होने के लिए 2 60 000 वर्ष तथा *100 मीटर की ऊँचाई वाले ढाल के लिए 26 000 000* वर्ष लगेगे। इसी तरह मॉडल 5 के सम्बन्ध मे यदि मलवा के प्रत्यक्ष निष्कासन की काल्पनिक दर 0 005 सेण्टीमीटर प्रतिवर्ष है तो 10 मीटर ऊंचाई वाले मौलिक ढाल का विकास (चित्र 217 म 5) 1 00 000 वर्षो मे तथा 100 मीटर ऊँचाई वाले ढाल का विकास 1,000,000 वर्षो मे होगा। यदि मलवा के निष्कासन की काल्पनिक दर को बढाकर 0.12 सण्टीमीटर प्रतिवर्ष कर दिया जाय तो 10 मीटर की ऊंचाई वाले ढाल के विकास के लिए 25,000 वर्ष तथा 100 मीटर की ऊँचाई वाले ढाल के लिए 2 50 000 वर्ष की आवश्यकता होगी।

निष्कर्ष

ढाल-विकास से सम्बन्धित अनेक परिकल्पनाओ सिद्धान्तो तथा माडलो की कल्पनाएँ की गई है। इनका सत्यापन तब तक नही हो सकता जब तक क्षेत्र म ढाल-परिच्छेदिकाओ पर प्रक्रमो की प्रक्रिया-विधि तथा कार्य-दर एव ढाल के रूपो का मापन तक परिकलन करने पर प्राप्त परिणामो एव माडल म कल्पित परिणामो मे सादृश्य (Matching) स्थापित नही कर लिया जाता। मॉडल का प्रयोग क्षेत्र मे ढाल के रूप के पर्यवेक्षण के आधार पर प्रक्रम की क्रिया विधि एव कार्य-दर की जानकारी के लिए नही करना चाहिए। वास्तव म मॉडल की रचना क्षेत्र मे ढाल के रूप तथा उस पर कार्यरत प्रक्रम के पर्यवेक्षण के आधार पर की जाय तो परिणाम वास्तविकता के अधिक करीब होते है। इस आधार पर (जबकि ढाल-रूप तथा प्रक्रम का पर्यवेक्षण किया गया हो) ढाल-विकास का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

अध्याय 18

प्रवाह-प्रणाली का विकास

(Development of Drainage Pattern)

सामान्य परिचय—प्रवाह-प्रणाली के अन्तर्गत किसी क्षेत्र की नदियां एवं उनकी सहायक नदियों के क्रम का अध्ययन किया जाता है। प्रवाह-प्रणाली या अपवाह-तंत्र के विषय में अलग अलग विचारधारायें है। विवाद केवल प्रवाह-प्रणाली में सम्मिलित किये जाने वाले नदियों के क्षेत्र पर है। कुछ विद्वानों का कहना है कि एक अपवाह-तन्त्र (आगे केवल प्रवाह-प्रणाली नामावली का ही प्रयोग किया जायेगा) में स्थान विशेष की केवल एक नदी एवं उसकी शाखाओं-प्रतिशाखाओं को सम्मिलित करना चाहिए। **थार्नबरी महोदय** इस मत के सर्वप्रमुख प्रवक्ता है। इन्होंने बताया है कि—**"प्रवाह-प्रणाली एक विशेष प्रकार की व्यवस्था होती है जिसका निर्माण एक नदी की धाराओं के सम्मिलित रूप से होता है।"**[1]

एक नदी एवं उसकी सहायक नदियो की धाराओं के क्रम को थार्नबरी ने **"प्रवाह प्रणाली"** (Drainage pattern) नामावली की सज्ञा प्रदान की है। उन्होंने यह भी बताया है कि कई नदियो के स्थान-सम्बन्धी (Spatial relationship) सम्बन्धो का भी अध्ययन महत्वपूर्ण है। जब किसी नदी विशेष की प्रणाली का अध्ययन न करके कई नदियो के स्थान सम्बन्धी सम्बन्धो का अध्ययन किया जाता है तो उसे थार्नबरी ने **'प्रवाह व्यवस्था"** (Drainage arrangement) की संज्ञा प्रदान की है। इस विचारधारा के विपरीत कुछ विद्वानो ने प्रवाह-प्रणाली को आवश्यकता से अधिक व्यापक रूप दे डाला है। इस **अतिवादी-विचारधारा** (Extremist concept) के अनुसार किसी भी क्षेत्र की नदियो के प्रवाह-क्रम अर्थात् धाराओं के क्रम को प्रवाह-प्रणाली कहा जाता है। इस विचारधारा के अनुसार प्रवाह-प्रणाली के अन्तर्गत किसी एक क्षेत्र की एक ही नदी का या उसकी सहायक नदियों का अध्ययन नही किया जाता है वरन् उस क्षेत्र की समस्त जलधाराओ का अध्ययन किया जाता है। निश्चय ही यह विचारधारा भ्रामक है। प्रवाह-प्रणाली का तात्पर्य लेखक के विचारो के अनुसार नदियों की संख्या या उनकी उपजलधाराओ मे नही लेना चाहिए वरन् स्थान विशेष मे एक निश्चित क्रम मे प्रवाहित होने वाली नदियों एव उनकी शाखाओं (यदि हों) के क्रम मे लेना चाहिए। हो सकता है कोई क्षेत्र ऐसा हो जिसमे कुछ नदियाँ उस स्थान की सरचना या ढाल का अनुसरण करती हो जब कि कुछ नदियां ढाल की परवाह न करके प्रवाहित होती हो। इस प्रकार उस स्थान म सभी नदियो के प्रवाह का क्रम एक न होकर दो हो जायेगा। अत वहाँ की सभी नदियो के क्रम को प्रवाह-प्रणाली तो कहा जा सकता है परन्तु उन्हें निश्चित रूप नही दिया जा सकता है।

साधारण अर्थ मे प्रवाह-प्रणाली का अर्थ नदियो के क्रम से ही होता है। उदाहरण के लिए प्राय कहा जाता है—उत्तरी भारत की प्रवाह-प्रणाली, प्रायद्वीपीय भारत की प्रवाह-प्रणाली आदि। उत्तरी भारत अर्थात् हिमालय की नदियो मे कुछ तो संरचना के विपरीत अर्थात् हिमालय को पार करके **पूर्ववर्ती नदियो** (Antecedent rivers) के रूप मे बहती है तो कुछ ढाल के अनुरूप बहकर अनुवर्ती नदियो (Consequent rivers) का रूप प्रस्तुत करती है। इतना ही नही कभी-कभी प्रवाह-प्रणाली का इतना व्यापक अर्थ लिया जाता है कि हम कह उठते हैं—एशिया की प्रवाह-प्रणाली, यूरोप की प्रवाह-प्रणाली आदि। इसका तात्पर्य यह कदापि नही है कि एशिया मे सभी नदियां एक ही निश्चित क्रम मे प्रवाहित होती है। उपर्युक्त विवरण के आधार पर प्रवाह-प्रणाली का तात्पर्य किसी स्थान मे प्रवाहित होने वाली नदियों के क्रम में लेना चाहिए। उसकी संख्या कुछ भी हो सकती है। इस तरह यदि हम केवल प्रवाह-प्रणाली शब्द का प्रयोग करते है तो उसका साधारण अर्थ होगा किसी क्षेत्र की सभी नदियो के प्रवाहित होने का क्रम। यह स्मरणीय है कि नदियो के प्रवाह-क्रम में पर्याप्त परिवर्तन हुआ करता है (कारणो का उल्लेख आगे किया जायेगा), अत कई ऐसी निश्चित विशेषतायें होती हैं जिनके आधार पर प्रवाह-प्रणाली मे विभेद किया जा सकता है। अब इस आधार पर यदि किसी क्षेत्र मे

1. Drainage pattern refers to the particular plan or design, which the individual stream courses collectively form.

नदियों का प्रवाह-मार्ग किसी विशेष व्यवस्था के अनुसार है तो उसे एक निश्चित प्रवाह-प्रणाली की संज्ञा (जैसे पूर्ववर्ती प्रवाह-प्रणाली, पूर्वारोपित प्रवाह-प्रणाली, जाली-नुमा प्रवाह-प्रणाली आदि) प्रदान की जा सकती है। इसके पहले कि प्रवाह-प्रणाली को प्रभावित करने वाले कारण तथा प्रवाह-प्रणाली के प्रकारों का उल्लेख किया जाय यह आवश्यक है कि प्रवाह-प्रणाली का सृजन करने वाली नदियों की कुछ मूलभूत विशेषताओं का उल्लेख कर दिया जाय।

वाही जल एवं जलधारा (Run off and Streams)

यह अनुमान किया गया है कि प्रति वर्ष 36000 घन मील जल वर्षा के रूप में भूपटल पर गिरता है परन्तु इसका केवल 6520 घन मील ही नदियों आदि द्वारा सागर में आ पाता है। इस तरह वर्षा का वह जल जो कि सतह पर नदी-नालों आदि के रूप में बहने के लिए प्राप्त हो जाता है, उसे **वाही जल** या बहता जल (Run off) कहते हैं। वर्षा होते ही जल वाष्पीकरण द्वारा वापस हो जाता है, कुछ भाग चट्टानों द्वारा सोख लिया जाता है। शेष जल धरातल पर बहने लगता है। इसे वाही जल कहा जाता है। नदियों तथा उनकी सहायक नदियों के लिए आवश्यक जल इसी वाही जल से ही प्राप्त होता है। अतः नदियों का स्वभाव एवं उनका प्रकार वाही जल की पूर्ति पर पूर्णतया आधारित होता है। वाही जल दो प्रकार का होता है। 1 **शीघ्र वाही जल** (Immediate run off)—इसमें वर्षा से प्राप्त हुआ जल शीघ्र ही धरातल पर बहने लगता है। 2 **देर से बहा हुआ जल** (Late run off)—इसमें पहले तो वर्षा का जल चट्टानों आदि में रिस जाता है परन्तु बाद में झरनों आदि के रूप में धरातल पर प्रकट होकर बहने लगता है। **भूमिगत जलधारायें** (Underground streams) भी इसी की उदाहरण हैं। वाही जल की गति को प्रभावित करने वाले कई कारण हैं जिनमें प्रमुख हैं (वाही जल की तीव्र गति के कारण)—1 जब वर्षा जोरों से एवं समान तथा देर तक हो। रुक-रुक कर वर्षा होने पर जल का बहाव बहुत कम हो जाता है। 2 स्थल पर वनस्पतियों का अभाव होना चाहिए क्योंकि वनस्पतियाँ जल के बहाव में बाधा उपस्थित करती हैं। 3. स्थल का ढाल तीव्र हो। 4. शैल अपारगम्य हो (Impervious rock) जैसे बलुई मिट्टी पारगम्य होती है एवं जल को सोख लेती है। 5. स्थलभाग या तो बर्फ में आच्छादित हो या पहले ही जलमग्न हो। 6. स्थान की जलवायु आर्द्र हो ताकि जल का पर्याप्त वाष्पीकरण न हो सके। यदि उपर्युक्त कारकों का अभाव होता है तो निश्चित ही जल का बहाव मन्द हो जायेगा। अब हम जलधाराओं की प्रमुख विशेषताओं और उनके प्रकारों का उल्लेख करेंगे। जलधारा या नदी का स्वभाव बहुत कुछ वाही जल की मात्रा तथा उसके स्वभाव पर निर्भर करता है। भूपटल पर सर्वत्र जलधारायें एक समान नहीं है—कहीं पर छोटी नदियाँ हैं तो कहीं पर बड़ी, कहीं पर सतत वाहिनी नदियाँ हैं तो कहीं पर मौसमी आदि। ये सभी बातें वाही-जल द्वारा ही निश्चित होती हैं।

(i) स्थायी जलधारा (Permanent stream)—*इस प्रकार की जलधाराओं को* **सतत वाहिनी** *(perennial streams)* भी कहा जा सकता है क्योंकि इनमें जल का बहाव वर्ष भर चलता रहता है। इस प्रकार की जलधारायें ऐसे स्थानों से निकलती हैं जहाँ पर जल की प्राप्ति इतनी अधिक होती है कि जलधारायें वर्ष भर प्रवाहित हो सकें। उदाहरण के लिए इनके उद्गम स्थान झील, हिमानी घाटियाँ, अधिक वर्षा वाले उच्च पर्वतीय भाग, जलस्रोत आदि हो सकते हैं। कुछ तो प्रत्यक्ष रूप से वर्षा का जल प्राप्त करती हैं, जबकि कुछ जलधारायें हिममण्डित क्षेत्रों में हिम के पिघलने से जल प्राप्त करती हैं। कुछ जलधाराओं ने अपनी घाटी को इतना गहरा कर डाला है कि घाटी की तली भूमिगत जल तल (Ground water-table) से नीची हो गई है। फलस्वरूप उन्हें वर्ष भर भूमिगत जल से जल मिलता रहता है। भारत की गंगा, यमुना, ब्रह्मपुत्र आदि नदियाँ ऐसे पर्वतीय भागों से निकलती हैं जहाँ पर वर्षा के दिनों में पर्याप्त वर्षा के कारण बहुत जल मिल जाता है तथा गर्मियों के समय हिम से पिघला हुआ जल (Melt water) मिलता रहता है, जिस कारण इनमें वर्ष भर जल की पूर्ति होती रहती है।

(ii) आन्तरायिक जलधारा (Intermittent Stream)—आन्तरायिक जलधाराओं को **मौसमी** भी कहा जा सकता है क्योंकि ये साल भर प्रवाहित होने वाली न होकर वर्ष के कुछ खास समय में ही प्रवाहित होती हैं और शेष समय में शुष्क हो जाती हैं। जिन प्रदेशों में मौसमी वृष्टि होती है या मौसमी हिमपात होता है वहाँ पर जलधाराओं के लिए जल की पूर्ति कुछ ही समय तक होती है। आन्तरायिक जलधारायें, इस प्रकार मुख्य रूप से अर्द्धशुष्क प्रदेशों में पाई जाती हैं। इन्हें दो **वर्गों** में

विभाजित किया जा सकता है। 1. **जलस्रोत-पोषित आन्तरायिक जलधारायें (Spring fed intermittent stream)**—चूंकि जलस्रोत का सम्बन्ध भूमिजल तल से होता है अतः इस तल में परिवर्तन के कारण जल की पूर्ति भी घटती-बढ़ती रहती है, जिस कारण जलधाराओं का रूप सतत-वाहि नहीं हो पाता है। उदाहरण के लिए जब भूमिजल-तल नीचे चला जाता है तो उसके ऊपर स्थित जलधारा जल नहीं प्राप्त कर पाती है तथा सूख जाती है। परन्तु जब जल-तल ऊपर होता है तो जल की पूर्ति होने लगती है एवं नदी प्रवाहित हो जाती है। 2. **सतह पोषित आन्तरायिक जलधारा (Surface fed intermittent streams)**—जब जलधाराओं में जल की पूर्ति सतह पर वर्षा के जल या हिम के पिघलने से प्राप्त जल द्वारा होती है तो उसे सतह-पोषित आन्तरायिक जलधारा कहते हैं। जब जल की पूर्ति रुक जाती है तो नदी सूख जाती है। इस तरह की नदियां अचानक जल की पूर्ति के कारण उमड़ पड़ती हैं तथा खतरनाक प्रमाणित होती हैं। रेगिस्तानी भागों में अनायास वर्षा के कारण यह स्थिति प्राय: उपस्थित होती रहती है।

(iii) **अल्पकालिक जलधारा (Iphemeral Stream)**—अल्पकालिक जलधाराओं का केवल सामयिक एवं स्थानीय महत्त्व होता है। स्थलाकृति के निर्माण में इनका महत्त्व नगण्य होता है। ये जलधारायें पूर्ण रूपेण वर्षा पर आधारित होती हैं परन्तु इनके प्रवाहित होने का समय एक मास से अधिक नहीं होना चाहिए। कुछ जलधारायें तो कुछ घण्टों से लेकर कुछ दिन तक ही प्रवाहित होती हैं। इसके बाद समाप्त हो जाती हैं। उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि अल्पकालिक जलधारायें शुष्क एवं अर्द्ध शुष्क रेगिस्तानी भागों में ही पनप सकती हैं, जहां पर अचानक जलवृष्टि से अनिश्चित नदियों का सूत्रपात हो जाता है परन्तु इनके चैनेल एवं प्रवाह-मार्ग में कोई क्रमबद्धता या निश्चितता नहीं होती है। ये किसी भी दिशा में ढाल के अनुरूप प्रवाहित हो सकती हैं।

जलधाराओं की स्थिति एवं प्रवाह-प्रणाली में विभिन्नता (Location of streams and differences in drainage pattern)—प्रत्येक स्थान पर जलधाराओं की स्थिति नहीं पाई जाती है। इतना ही नहीं प्रत्येक स्थान पर नदियों की संख्या या उनके बीच के स्थान समान नहीं होते हैं। अर्थात् नदियाँ बराबर दूरी पर वितरित नहीं होती हैं। किसी स्थान पर एक से अधिक जलधारायें होती हैं एवं अपनी शाखाओं-प्रतिशाखाओं के साथ जाल के रूप में विस्तृत होती हैं तो कहीं पर एक या दो नदियाँ ही प्रवाहित होती हैं। कहीं पर नदियाँ स्थल के ढाल के अनुरूप बहती हैं, अर्थात् वहां की संरचना का अनुसरण करती हैं तो कहीं पर उनका रूप ढाल के विपरीत होता है। कहीं पर नदियाँ एक मध्यवर्ती केन्द्र से निकलकर चतुर्दिक प्रवाहित होती हैं तो कहीं पर चारों दिशाओं से आकर नदियाँ एक मध्यवर्ती केन्द्र पर मिल जाती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि विभिन्न स्थानों में जलधाराओं की स्थिति तथा वहां की प्रवाह-प्रणाली में पर्याप्त अन्तर मिलता है। इसके कई कारण बताये जा सकते हैं परन्तु प्रमुख कारण इस प्रकार हैं—1. जलधारा के लिए पर्याप्त जल की प्राप्ति अर्थात् पर्याप्त वर्षा का होना, 2. जलधारा के मार्ग को बनाने के लिए स्थलखण्ड का ढाल, 3. चट्टान की कठोरता में अन्तर, 4. संरचनात्मक नियंत्रण (Structural control), 5. तात्कालिक पटल-विरूपण (Recent diastrophism) तथा 6. प्रवाह बेसिन का नवीन भूगर्भिक एवं भ्वाकृतिक इतिहास। जलधाराओं एवं प्रवाह-प्रणालियों के कुछ ऐसे भी उदाहरण हैं कि उपर्युक्त कारण उनकी स्थिति एवं वितरण की समस्या को सुलझा पाने में प्रायः असमर्थ से हैं। उदाहरण के लिए **हडसन नदी** एवं **कनेक्टीकट नदी** प्राय: सीधी दिशा में प्रवाहित होती हैं एवं उनके बीच की दूरी नगण्य है (कुछ ही मील) साथ ही साथ उनमें सहायक नदियाँ बहुत ही कम हैं। ये नदियाँ इतनी पास-पास हैं, फिर भी अलग-अलग क्यों प्रवाहित होती हैं? इस प्रश्न का हल आसान नहीं है। इसी तरह **मिसीसीपी** निम्न भाग में मिसीसीपी एवं **मिसौरी** नदियाँ अत्यधिक विस्तृत क्षेत्र में अपनी कई सहायक नदियों के साथ प्रवाहित होती हैं तथा इनकी सहायक नदियाँ प्राय: हर दिशा में अग्रसर होती हैं। इसी तरह कुछ नदियां **हिमालय तथा अप्लेशियन पर्वत** को काट कर उनके आर पार प्रवाहित होती हैं। इस तरह की अनेक समस्यायें हैं, जिनका समाधान यदि *सम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है।*

उपर्युक्त समस्याओं एवं प्रवाह-प्रणाली की जटिलताओं के रहते हुए भी जलधाराओं की स्थिति तथा वितरण को ऊपर वर्णित कारक अवश्य प्रभावित करते हैं। इनमें से वर्षा निश्चय ही सबसे प्रमुख नियंत्रक कारक है। सामान्य रूप में जहां पर वर्षा (जलवर्षा तथा हिमपात दोनों) अधिक होती है वहां पर निश्चय ही

नदियाँ अधिक होती है। इस तरह वृष्टि मुख्य रूप मे नदियो की संख्या तथा स्वभाव को प्रभावित करती है, जबकि ढाल, संरचनात्मक नियंत्रण, भू-हलचल नदियो की दिशा तथा स्थिति को प्रभावित करते हैं। उदाहरण के लिए नदियो का मार्ग भ्रशन, वलन स्थल के बडे पैमाने पर विस्तृत उत्संवलन (Upwarps, ऊपर की ओर वलन) एवं अवसंवलन (Downwarps, नीचे की ओर) आदि द्वारा अधिकतर प्रभावित होता है। **मिसीसीपी-प्रवाह-प्रणाली** का स्पष्टीकरण उपर्युक्त कारको के आधार पर आसानी से किया जा सकता है। मिसीसीपी तथा उसकी सहायक नदियाँ **राकी पर्वत** तथा **अप्लेशियन पर्वत** के मध्य प्रवाहित होती हैं। पश्चिम मे राकी पर्वत एवं उच्च मैदान जलधाराओं को पूर्व दिशा प्रदान करता है जबकि पूर्व मे अप्लेशियन पर्वत एवं अलेघनी पठार उनसे निकलने वाली नदियों को पश्चिम दिशा मे बहने के लिये बाध्य करता है। अन्त मे उत्तर से दक्षिण का सामान्य निम्न ढाल समस्त प्रवाह व्यवस्था को दक्षिण मे मेक्सिको की खाडी मे गिरने के लिये बाध्य करता है। थोड़े समय के लिए यदि यह मान लिया जाय कि मेक्सिको की खाडी-क्षेत्र का उत्संवलन (Upwarping—उत्थान) हो जाता है तथा उत्तरी संयुक्त राज्य अमेरिका का अवसंवलन (Downwarping—नीचे की ओर झुकाव) हो जाता है तो स्थल का सामान्य ढाल दक्षिण मे उत्तर हो जायेगा। फलस्वरूप समस्त मिसीसीपी प्रवाह-प्रणाली दक्षिण मे न गिरकर उत्तर या उत्तर-पूर्व की ओर प्रवाहित होने लगेगी। इस तरह प्रवाह-प्रणाली के विकास पर उपर्युक्त कारको के नियंत्रण को अस्वीकार नही किया जा सकता है।

इसी तरह हिमालय तथा प्रायद्वीपीय भारत के उत्तरी अग्रदेश के मध्य **यमुना-गंगा मैदान** ने प्रवाह-प्रणाली को बडे पैमाने पर प्रभावित किया है। प्रायद्वीपीय भारत के उत्तरी भाग से निकलकर उत्तर दिशा मे प्रवाहित होने वाली नदियाँ उत्तरी कगार से उतरती हुई जल-प्रपात तथा गार्ज बनाने के बाद यमुना-गंगा मैदान मे प्रविष्ट होने पर मियाण्डर तथा बाढ मैदान का निर्माण करती है।

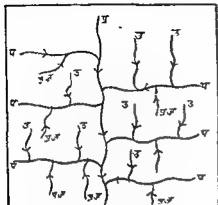
प्रवाह-प्रणाली के प्रकार (Drainage Pattern)

उपर्युक्त विवरणो से स्पष्ट हो गया है कि किसी भी स्थान की प्रवाह-प्रणाली मे नदियो की स्थिति, उनकी संख्या तथा प्रवाह-मार्ग मे वहाँ की स्थलीय बनावट (स्थल का ढाल, संरचनात्मक नियंत्रण चट्टानो की कठोरता आदि) का अत्यधिक प्रभाव होता है। दूसरे शब्दो मे नदियो एवं उनकी शाखाओ का स्वभाव मुख्य रूप मे वहाँ की स्थलीय बनावट के अनुसार हुआ करता है। चूँकि प्रत्येक स्थान की धरातलीय बनावट मे पर्याप्त अन्तर होता है, अतः प्रवाह-प्रणाली के रूप मे भी अन्तर होना अवश्यम्भावी है। यह स्मरणीय है कि किसी नदी विशेष के प्रवाह का प्रभाव भी अन्य नदियो के प्रवाह पर कभी-कभी महत्वपूर्ण होता है। यहाँ तक कि कभी-कभी एक नदी (सरिता-अपहरण द्वारा) अन्य नदियों को आत्मसात करके उनके प्रवाह मार्ग को ही बदल देती है। यद्यपि प्रत्येक स्थान की प्रवाह-प्रणाली मे कुछ नवीन विशेषतायें अवश्य मिल जाती हैं तथा किन्ही दो स्थानो की प्रवाह-प्रणालियाँ एकदम एक सी (Similar but not the same) नही होती हैं तथापि उनमें कुछ ऐसी सामान्य विशेषतायें अवश्य होती हैं, जिनके आधार पर उन्हे एक निश्चित प्रवाह-प्रणाली का रूप प्रदान किया जा सकता है तथा प्रवाह-प्रणाली का कक्षा-विभाजन सम्भव हो सकता है। सामान्य तौर पर भूपटल की प्रवाह-प्रणालियो को निम्न-प्रकारो मे विभाजित किया जा सकता है—1 जालीनुमा प्रवाह-प्रणाली (Trellis drainage pattern), 2 पादपाकार प्रवाह-प्रणाली (Dendritic drainage), 3 आयताकार प्रवाह-प्रणाली (Rectangular drainage), 4 पूर्ववर्ती प्रवाह-प्रणाली (Antecedent drainage pattern) 5 पूर्वारोपित प्रवाह-प्रणाली (Superimposed drainage), 6 अपकेन्द्री या केन्द्र त्यागी या अरीय प्रवाह प्रणाली (Centrifugal or radial drainage pattern) 7. अभिकेन्द्री या केन्द्रोन्मुख प्रवाह-प्रणाली (Centripetal or inland drainage), 8. अनिश्चित प्रवाह-प्रणाली (Indeterminate drainage), 9 आन्तरायिक प्रवाह-प्रणाली (Intermittent drainage), 10. भूमिगत प्रवाह-प्रणाली (Underground drainage) तथा 11. वलयाकार प्रवाह-प्रणाली (Annular drainage)।

जालीनुमा प्रवाह प्रणाली-(Trellis Drainage Pattern)

जालीनुमा प्रवाह प्रणाली को स्वभावोद्भूत प्रवाह-प्रणाली भी कहा जाता है, क्योकि इस प्रणाली के अन्तर्गत जलधारायें पूर्ण रूप से धरातलीय ढाल का अनुकरण करती हैं तथा इसके प्रवाह-मार्ग मे परिवर्तन ढाल मे परिवर्तन के अनुसार हुआ करता है। वास्तव मे इस

प्रणाली मे नदियाँ एक रूप मे आयताकार होती हैं, परन्तु प्रमुख आयताकार प्रणाली के समान इसमे नदियों का क्रम चट्टानों की आयताकार संधियो के अनुसार निश्चित न होकर धरातलीय ढाल के अनुरूप होता है। इस प्रवाह-प्रणाली मे नदियाँ एक जाल के रूप मे फैली होती हैं,



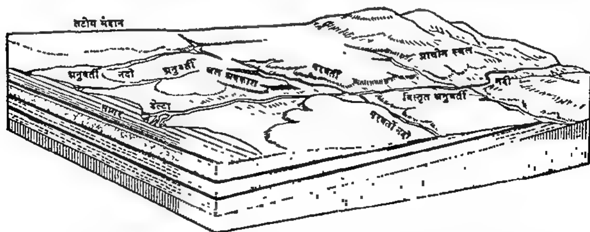
चित्र 218—जालीनुमा प्रवाह-प्रणाली का विकास। प्र—प्रधान अनुवर्ती (Master Consequent), प—परवर्ती जलधारा (Subsequent stream), प्रज—प्रत्यनुवर्ती जलधारा (Obsequent stream), उ—उप अनुवर्ती जलधारा (*Sub-Consequent stream*)।

जैसे कि लताओ का विस्तार एक जाली पर किया जाता है। इस प्रवाह-प्रणाली को प्रभावित करने वाले दो प्रमुख कारण हैं—1. धरातलीय भाग मे प्रारम्भिक अवतलित भाग (निम्न भाग-गर्त) तथा 2 ढाल का स्वभाव। जैसे ही कोई स्थल भाग सतह से ऊपर उठता है, उस पर ऊपरी ढाल मे निचले ढाल की ओर प्रवाहित होने वाली नदियो का विकास हो जाता है। तदन्तर उनकी शाखाओ तथा प्रतिशाखाओ का आविर्भाव हो जाता है एवं थोडे समय के अन्दर ही एक संगठित जालीनुमा प्रवाह-प्रणाली विकसित हो जाती है। इस प्रकार की प्रवाह-प्रणाली मे प्रमुख रूप से तीन प्रकार की जलधाराओ का विकास होता है—जो कि रेखा-चित्र 218 द्वारा स्पष्ट है। स्वभावोद्भूत जलधाराओं का विकास उत्थित गुम्बद, ऊपर उठे नये ब्लाक पर्वत, ऊँचे उठे तटीय मैदान तथा मोड़दार पर्वतों के ऊपर होता है। चित्र 219 मे एक गुम्बदीय पर्वत पर इनका विकास दिखाया गया है।

1. अनुवर्ती जलधारा Consequent stream)—किसी भी स्थलखण्ड मे वास्तविक तथा प्राथमिक ढाल के अनुसार प्रवाहित होने वाली नदी को अनुवर्ती जल-



चित्र 219—गुम्बद के ऊपर जालीनुमा प्रवाह-प्रणाली का विकास।
अ¹—अ⁶ अनुवर्ती जलधारा। प्र—प्रत्यानुवर्ती जलधारा। प¹—प⁴ परवर्ती जलधारा। न—नवानुवर्ती जलधारा (Resequent stream)



चित्र 220—तटीय मैदान पर विस्तृत अनुवर्ती जलधारा (Extended Consequent Stream) का विकास।

धारा कहा जाता है। जलधाराओं का विकास चूंकि पूर्णरूप से स्थलखण्ड के ढाल के स्वभाव के अनुसार होता है, अत इन्हे स्वभावोद्भूत जलधारा भी कहा जाता है। ये जलधारायें जालीनुमा प्रवाह-प्रणाली की मुख्य धारा होती हैं, जिनमे अन्य सहायक नदियाँ आकर मिलती है। ये नदियाँ मुख्य रूप से ढाल की नति (Dip) के सहारे प्रवाहित होती है। अत इन्हें **डिप नदी (Dip stream)** भी कहा जाता है। चित्र 218 मे अ नदी अनुवर्ती जलधारा है।

यदि तटीय मैदान का उदाहरण लिया जाय तो उस पर अनुवर्ती नदियाँ प्राय समानान्तर हुआ करती हैं तथा ये नदियाँ यहाँ पर **समानान्तर प्रवाह-प्रणाली (Parallel drainage pattern)** का सृजन करती हैं, क्योकि प्राय प्रत्येक अनुवर्ती नदी निम्न ढाल की ओर अर्थात् सागर की ओर प्रवाहित होती है। यदि किसी क्षेत्र मे कई अनुवर्ती नदियाँ हैं तो उनमे से एक सर्वाधिक लम्बी होती है, जिसे **प्रमुख अनुवर्ती (Master consequent)** कहा जाता है। तटीय भाग का आन्तरिक हिस्सा स्थलखण्ड के प्राचीन भाग से जुड़ा होता है जिसे **प्राचीन स्थल** कहते हैं। प्राय यह होता है कि तटीय मैदान के आविर्भाव के पहले भी इस प्राचीन स्थल से नदियाँ निकलकर सागर से मिलती हैं। जब तटीय मैदान का **निर्गमन (Emergence ऊपर आना)** होता है तो भी प्राचीन स्थल से निकलने वाली नदियाँ इन तटीय मैदानो के आर-पार बहकर सागर से मिलती है, क्योकि अनुवर्ती नदियाँ प्रादेशिक ढाल (Regional slope) का अनुसरण करती है। इस प्रकार तटीय मैदान की वे नदियाँ, जिनका उद्गम-स्थान प्राचीन स्थल मे होता है, **विस्तृत अनुवर्ती (Extended consequent)** कही जाती है। इस तरह प्राय प्रत्येक विस्तृत अनुवर्ती का प्रवाह-मार्ग, केवल तटीय मैदान पर विस्तृत, अनुवर्ती से अधिक होता है। इस तरह विस्तृत अनुवर्ती किसी क्षेत्र विशेष की प्रधान अनुवर्ती हुआ करती है। यहाँ पर यह स्मरणीय है कि प्राचीन स्थल से निकलने वाली अनुवर्ती के प्रवाह-मार्ग के केवल उसी भाग को विस्तृत अनुवर्ती कहा जाता है जिसका विस्तार तटीय मैदान पर हुआ है। अनुवर्ती नदियो के बीच के स्थान की दूरी यहाँ के प्रारम्भिक धरातलीय ढाल पर आधारित होती है। साथ ही साथ अनुवर्ती की संख्या एव उनका पास-पास होना या दूर-दूर होना सतह की अप्रवेश्यता या प्रवेश्यता पर आधारित होता है। यदि वहाँ की शैल प्रवेश्य है तो अधिकाश जल रिसकर सतह के नीचे चला जायेगा और अनुवर्ती नदियाँ दूर-दूर होंगी एव उनकी सहायक नदियाँ कम होंगी।

2. परवर्ती जलधारा (Subsequent streams)—अनुवर्ती नदियो के निर्माण तथा विकास के बाद उनकी प्रथम सहायक नदियों का विकास होता है जो कि अनुवर्ती नदी से समकोण पर मिलती हैं। इस प्रकार की जलधारा को **परवर्ती या अनन्तरोद्भूत जलधारा** इसलिये कहते हैं कि इनका विकास अनुवर्ती नदियो के बाद होता है। इन नदियों को अनन्तरोद्भूत इसलिए भी कहा जाता है कि ये जलधारायें प्रतिरोधी शैलो वाले भागो को पार नही करती है वरन् ये कमजोर चट्टान वाले स्तर के ऊपर अपना मार्ग बनाती है। इस तरह परवर्ती अपनी संरचना से समायोजित होती है। इस जलधारा का विकास निम्न रूप मे होता है। वलित चट्टानो वाले भाग मे पहले ढाल के अनुरूप प्रधान अनुवर्ती का विकास होता है। इसके बाद जैसे-जैसे अनुवर्ती की घाटी गहरी होती जाती है, वैसे ही उसमे दोनो किनारे मे छोटी-छोटी जलधारायें आकर मिलने लगती हैं। ये सदैव **शीर्ष अपरदन** (Headward erosion) करके बढ़ती जाती है तथा कुछ समय के बाद अनुवर्ती नदी की सहायक जलधाराओं का विकास हो जाता है जो कि मुख्य अनुवर्ती से समकोण पर मिलती है। ये नदियाँ तब तक शीर्ष अपरदन द्वारा लम्बी होती जाती हैं जब तक कि ये ढाल के नति लम्ब (Strike) के समानान्तर न हो जायें। इस प्रकार निर्मित जलधारा परवर्ती होती है। चूंकि यह जलधारा ढाल के नति लम्ब के सहारे या उसके समानान्तर होती है, अत इसे **'नति लम्ब जलधारा'** या **'स्ट्राइक जलधारा'** (Strike stream) भी कहा जाता है। कई समानान्तर नति लम्ब जलधाराओं के बीच कटक (Ridges) होते है जो कि प्रतिरोधी शैल के बने होते हैं। दो समानान्तर स्ट्राइक जलधाराओं के बीच की प्रतिरोधी चट्टानो से निर्मित कटक को **शूकर कटक** (Hogback) या **क्वेस्टा** (Questa) कहा जाता है। चित्र 218 मे 'प' जलधारायें परवर्ती की उदाहरण है।

3 उप-जलधारा (Substreams)—परवर्ती जलधारा के निर्माण के बाद उसमे दोनो दिशाओं से सहायक नदियाँ आकर समकोण पर मिलती हैं। इन्हे परवर्ती की उप-जलधारा कहा जाता है। ये जलधारायें लम्बाई मे बहुत छोटी हुआ करती हैं तथा ढाल के अनुरूप प्रवाहित होती हैं। ये मुख्य रूप से वर्षा के दिनो मे विकसित होती

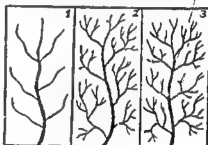
हैं। अनुवर्ती की दिशा के आधार पर जलधाराओं को दो वर्गों में विभाजित किया जाता है—प्रत्यनुवर्ती तथा उप-अनुवर्ती।

(अ) प्रत्यनुवर्ती जलधारा (Obsequent Streams) ये जलधारायें भी संरचना के साथ समायोजित होती हैं तथा ढाल के अनुरूप प्रवाहित होती हैं। इनकी दिशा प्रमुख अनुवर्ती के विपरीत हुआ करती है। चित्र 218 तथा 219 में यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है। प्रत्यनुवर्ती, परवर्ती से समकोण पर मिलती है।

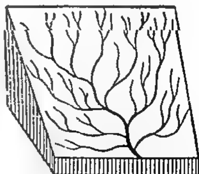
(ब) उप अनुवर्ती जलधारा (Sub Consequent Streams)—परवर्ती जलधारा की उन सहायक जलधाराओं को, जो कि प्रमुख अनुवर्ती के अनुकूल दिशा में बहती है, अनुवर्ती या नवानुवर्ती जलधारा (Resequent streams) कहते हैं क्योंकि ये मुख्य अनुवर्ती की अपेक्षा नवीन होती हैं। नवानुवर्ती जलधारायें परवर्ती जलधाराओं से प्राय समकोण पर मिलती है। इनकी एक सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ये ढाल के निचले भाग में अन्त में प्रकट होती हैं। इस प्रकार अनुवर्ती, परवर्ती, प्रत्यनुवर्ती तथा नवानुवर्ती जलधाराओं के विकास हो जाने पर उनके सम्मिलित रूप को जालीनुमा प्रवाह-प्रणाली कहते हैं। दक्षिणी छोटा नागपुर के वलित पर्वतीय भाग में जालीनुमा प्रवाह-प्रणाली पायी जाती है, जहाँ पर सुवर्णरेखा अनुवर्ती सरिता है और इसकी सहायक कांची, तनेजा आदि परवर्ती सरिताएँ हैं। जालीनुमा प्रवाह-प्रणाली का विकास दामोदर कोयला क्षेत्र में भी हुआ है।[1]

पादपाकार प्रवाह-प्रणाली (Dendritic Drainage Pattern)

इस प्रवाह-प्रणाली को द्रुमाकृति या वृक्षाभ प्रवाह-प्रणाली की भी संज्ञा प्रदान की जाती है। इस प्रकार की जलधाराओं का विकास मुख्य रूप से सपाट तथा चौरस विस्तृत भागों में होता है। ग्रेनाइट शैल वाले भाग में इनका विस्तार सर्वाधिक होता है। ऐसी जलधाराओं वाले प्रवाह-क्रम को पादपाकार प्रवाह-प्रणाली कहा जाता है। इनका आकार देखने पर वृक्ष के तने तथा उसकी शाखाओं के समान दिखाई पड़ता है। जिस प्रकार एक वृक्ष में सर्वप्रमुख उसका तना होता है तथा उसकी प्रमुख शाखायें इससे मिली होती है, इतना ही नहीं शाखाओं की शाखायें एवं प्रतिशाखाएँ होती हैं जो कि प्राय सभी दिशाओं की ओर उन्मुख होती हैं। उसी प्रकार पादपाकार प्रणाली में क्षेत्र की एक मुख्य जलधारा होती है और उसकी सहायक तथा सहायक की सहायक, उपसहायक आदि शाखाएँ सभी दिशाओं से आकर मुख्य जलधारा से मिल जाती है। जिस तरह वृक्ष की छोटी शाखाएँ बड़ी शाखा से मिलती है उसी तरह इस प्रवाह-प्रणाली में छोटी जलधारायें बड़ी जलधाराओं से मिली रहती है। यद्यपि संरचना का पादपाकार प्रवाह-प्रणाली पर कोई खास प्रभाव नहीं पड़ता है तथापि एक ही शैल से निर्मित समतल भू-भाग में इनका विकास शीघ्र एवं स्पष्ट रूप में होता है। इनके विकास की दशायें क्रमिक तथा सरल होती हैं। सर्वप्रथम मुख्य नदी का आविर्भाव एवं विकास होता है। तदन्तर नदी की लम्बाई बढ़ती जाती है एव उसकी सहायक नदियों का विकास होता है। शीर्ष अपरदन (Headward erosion) द्वारा बड़ी जलधारायें छोटी जलधाराओं को आत्मसात् करती



चित्र 221—पादपाकार प्रवाह-प्रणाली के विकास की अवस्थायें।



चित्र 222—पादपाकार प्रवाह-प्रणाली के विकास में ढाल का प्रभाव।

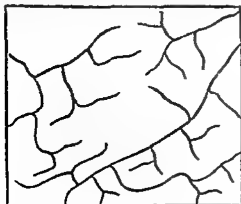
1 Singh, R. P., 1969 · Geomorphological evolution of Chhotanagpur Highlands, NGSI, Varanasi pp 66-67.

रहती है। रेखाचित्र 221 मे पादपाकार प्रवाह-प्रणाली के विकास की अवस्थायें दिखाई गई है।

पादपाकार प्रवाह-प्रणाली मे नदियो के विस्तार तथा उनकी सहायक जलधाराओ की सख्या के ऊपर शैल की प्रवेश्यता तथा ढाल का प्रभाव अवश्य होता है। यदि कोई स्थान सपाट तथा चौरस है, एव ढाल मन्द है, साथ ही साथ यदि चट्टानें अप्रवेश्य (Impervious) हैं तो पादपाकार क्रम अत्यधिक विस्तृत होगा अर्थात् लम्बाई और चौडाई दोनो मे विकास एव विस्तार होगा तथा सहायक नदियो की संख्या अधिक होगी। परन्तु यदि स्थल का ढाल तीव्र है, प्रणाली लम्बाई मे तो अधिक होगी परन्तु चौडाई मे विस्तृत नही हो पायेगी। यह तथ्य चित्र 222 से स्पष्ट हो जाता है। छोटा नागपुर के अधिकाश क्षेत्रो मे समान अवरोध वाली आग्नेय शैल के ऊपर पादपाकार प्रवाह-प्रणाली का विकास हुआ है। पादपाकार प्रवाह-प्रणाली सबसे अधिक क्षेत्र (प्रत्येक महाद्वीप तथा देश मे) पर विकसित हुई है।

आयताकार प्रवाह-प्रणाली
(Rectangular Drainage Pattern)

आयताकार प्रवाह-प्रणाली मे भी सहायक नदियाँ अपनी मुख्य नदी से समकोण पर मिलती हैं परन्तु यह प्रवाह-प्रणाली, अनुवर्ती प्रणाली से भिन्न है, क्योंकि अनुवर्ती प्रणाली मे नदियाँ ढाल के अनुरूप होती है एव उनके मिलने का कोण उस स्थल के नतिलम्ब (Strike) तथा नति (Dip) द्वारा निर्धारित होती है परन्तु आयताकार प्रवाह-प्रणाली मे नदियो के मिलने के स्थान का कोण चट्टान की सन्धियो के स्वभाव द्वारा निर्धारित होता है। अत आयताकार प्रणाली का विकास प्राय उन क्षेत्रो मे होता है, जहाँ पर चट्टानो के जोड तथा सन्धियाँ आयत के रूप मे होती हैं। इस कारण सर्वप्रथम सन्धियो के सहारे चट्टान का अपक्षय द्वारा विघटन एव वियोजन होता है। तदन्तर सन्धियो का विस्तार हो जाता है एव उनमे बाही जल एकत्र होने लगता है। फलस्वरूप छोटे-छोटे नालो का विकास होता है। ये नाले बढकर जलधाराओ का रूप धारण कर लेते हैं। कुछ समय के बाद उस समस्त क्षेत्र मे आयताकार सन्धियो के चारो तरफ जलधाराओ का विकास हो जाता है तथा नदियाँ समकोण पर एक दूसरे से मिलती है। इस प्रकार की जलधाराओ के सामूहिक क्रम को आयताकार प्रवाह-प्रणाली कहा जाता है। पालामऊ तथा शाहाबाद जिले मे प्रवाह-प्रणाली के विकास के ऊपर शैल-सधियो का प्रवाह स्पष्ट परिलक्षित होता है तथा इन सधियो ने आयताकार प्रवाह-प्रणाली को जन्म दिया। रोहतास पठार पर आयताकार प्रवाह-प्रणाली का खूबसूरत उदाहरण देखने को मिलता है।



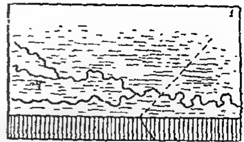
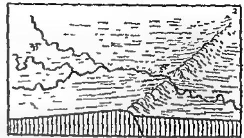
चित्र 223—आयताकार प्रवाह-प्रणाली का विकास।

पूर्ववर्ती प्रवाह-प्रणाली
(Antecedent Drainage Pattern)

पूर्ववर्ती जलधारा उसे कहते हैं जिसका आविर्भाव स्थलखण्ड मे उत्थान के पहले हो चुका होता है। साधारण अर्थों मे पहले से प्रवाहित होने वाली जलधारा को पूर्ववर्ती कहते हैं, जिस पर सरचना या स्थलखण्ड के उत्थान का प्रभाव नही पडता है। यदि नदी की घाटी का विकास किसी स्थान विशेष पर हो जाता है और उसके बाद यदि नदी के मार्ग मे स्थलखण्ड मे उत्थान होता है तो पूर्ववर्ती नदी ऊँचे उठे स्थलखण्ड को काट कर अपने पुराने मार्ग एव घाटी को सुरक्षित रखती है। इस प्रकार परिभाषा के रूप मे पूर्ववर्ती नदियाँ वे जलधारायें हैं जो कि स्थलखण्ड के उत्थान होने पर भी अपने पहले वाले मार्ग को ही अपनाती हैं। इस तरह पूर्ववर्ती नदियाँ अपने धरातलीय ढाल तथा सरचना से समायोजित नही होती हैं। पूर्ववर्ती नदियो को अक्रमवर्ती जलधारा (Insequent streams) भी कहा जा सकता है। चूंकि ये जलधारायें स्थानीय ढाल का अनुसरण नही करती हैं अत. इन्हे विलोम अनुवर्ती या प्रतिअनुवर्ती जलधारा (Ante-consequent) भी कहा जा सकता है। पूर्ववर्ती नदी के लिये उत्थान के स्वभाव का अध्ययन आवश्यक है तथा सभी प्रकार के उत्थान के समय नदी अपने पहले वाले मार्ग का अनुसरण नही कर सकती है। उदाहरण के लिए यदि स्थलखण्ड का उत्थान अचानक

बडे पैमाने पर होता है एवं थोडे ही समय में पूरा स्थल-खण्ड अत्यधिक ऊँचाई को प्राप्त हो जाता है तो पहले वाली जलधारायें नवीन ऊँचे स्थलखण्ड का सामना नही कर पायेंगी और छिन्न-भिन्न हो जायेंगी। इससे स्पष्ट है कि पूर्ववर्ती जलधारा के लिये उत्थान का धीरे-धीरे मन्द गति से होना आवश्यक है ताकि नदी अपनी घाटी को निम्न कटाव द्वारा गहरा करके अपने पहले मार्ग को कायम रख सके। उत्थान के विषय मे दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वह स्थानीय होना चाहिये न कि प्रादेशिक। जब नदी के मार्ग मे किसी सीमित स्थान पर उत्थान होता है तथा नदी यदि उस उठे भाग को काट कर अपना पहला मार्ग कायम रखती है तभी उसे पूर्ववर्ती जलधारा कहा जा सकता है, अन्यथा यदि समस्त भाग, जिससे होकर जलधारा प्रवाहित होती है, ऊपर उठ जाता है तो पूर्ववर्ती जलधारा का विकास नही हो सकेगा। अन्तिम महत्त्वपूर्ण तथ्य उत्थान तथा नदी द्वारा निम्न कटाव के बीच अनुपात से सम्बन्धित है। यदि उत्थान के साथ नदी द्वारा निम्न कटाव इतना अधिक है कि वह उत्थान का अनुसरण कर सके अर्थात् नदी का कटाव यदि उत्थान की दर के बराबर या अधिक है तभी नदी अपनी पहली घाटी को कायम रख सकती है, अन्यथा स्थलखण्ड अधिक ऊपर उठ जायेगा।

रेखाचित्र की सहायता से पूर्ववर्ती नदी के विकास की अवस्थाओं को स्पष्ट किया जा सकता है। चित्र 224 (1) मे "अ" नदी की घाटी तथा प्रवाह-मार्ग का स्थलखण्ड के ऊपर पूर्णतया विकास हो चुका है। चित्र 224 (2) मे "स" स्थान पर स्थलखण्ड मे उत्थान हो जाता है। फलस्वरूप नदी मे नवोन्मेष के कारण उसके कटाव की क्षमता अधिक हो जाती है। इस कारण नदी अपनी घाटी को निम्न कटाव द्वारा गहरा करना आरम्भ कर देती है। यदि घाटी के गहरा होने की दर अर्थात् निम्न कटाव की दर तथा स्थलखण्ड के ऊपर उठने की दर बराबर हो तो नदी का तल वही होता है परन्तु उसके दोनो ओर के किनारे निरन्तर उठते रहते है, अत घाटी की दीवालो की ऊँचाई अधिक होती जाती है जो कि एक निश्चित समय के बाद गार्ज का निर्माण करती है। परन्तु चित्र 224 (2) मे यह स्थिति नही है। यहाँ पर उत्थान के साथ ही नदी का तल भी ऊँचा हो गया है। अत. यदि उत्थान की दर एवं निम्न कटाव की दर समान होगी तो नदी-तल ऊँचा ही रह जायगा। ऐसी स्थिति मे नदी उत्थान की दर से कुछ अधिक कटाव करती है


चित्र 224—पूर्ववर्ती प्रणाली के विकास की प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय अवस्थायें।

ताकि वह उत्थान से पहले वाले तल एव घाटी से होकर ही प्रवाहित हो। चित्र 224 (3) मे नदी ने अपने निम्न कटाव द्वारा अपनी घाटी तथा प्रवाह-मार्ग (चित्र 1 की स्थिति) को प्राप्त कर लिया है। अर्थात् नदी अब पूर्ववर्ती (Antecedent) ("द" स्थान पर) नदी ने अपनी घाटी को इतना गहरा कर रखा है कि गार्ज का निर्माण हो गया है, जिसमे नदी-तल से उसके किनारे की दीवारें अत्यन्त ऊँची है। उपर्युक्त विवरण के आधार पर निष्कर्ष के रूप मे यह कहा जा सकता है कि स्थलखण्ड के उत्थान होने पर भी अपने तल को पूर्ववत् बनाये रखने वाली जलधारा को पूर्ववर्ती कहते है तथा उससे निर्मित घाटी को पूर्ववर्ती घाटी (Antecedent valley) कहते हैं। पूर्ववर्ती जलधाराओ के सामूहिक क्रम को **पूर्ववर्ती प्रवाह-प्रणाली** कहा जाता है।

पूर्ववर्ती नदियो की सहायक नदियाँ भी होती हैं परन्तु ये उतनी तीव्रता से उठे स्थल खण्ड मे निम्न कटाव

नहीं कर पाती है जितनी तीव्रता से मुख्य नदी निम्न कटाव करती है। परिणामस्वरूप सहायक नदियों की घाटियां मुख्य नदी की घाटी से ऊपर रह जाती हैं तथा स्वरूप में लटकती हुई घाटी (Hanging valley) की तरह लगती हैं। यहाँ पर स्मरणीय है कि ये लटकती घाटियाँ, हिमानीकृत लटकती घाटियों से सर्वथा भिन्न होती है। पूर्ववर्ती नदियो के उदाहरण प्राय हर पर्वतीय क्षेत्र मे मिलते है। **हिमालय पर्वत** को काट कर आर-पार प्रवाहित होने वाली **सिंधु** एवं **ब्रह्मपुत्र** नदियाँ निश्चय ही पूर्ववर्ती जलधारा का उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। हिमालय के उत्थान के पहले भी ये नदियाँ वर्तमान थी। हिमालय के उत्थान के साथ ही साथ इन्होंने अपने निम्न कटाव द्वारा अपने प्राचीन मार्ग को अक्षुण्ण किया तथा वर्तमान समय मे ये तंग घाटियों से होकर बहती है। **सिन्धु नदी गिलगित** के पास हिमालय की श्रेणियों को काटकर 17000 फीट गहरे मार्ग से होकर प्रवाहित होती है। यहाँ पर उल्लेखनीय है कि पूर्ववर्ती नदियों के सैद्धान्तिक पक्ष पर तो आपत्ति नही है परन्तु प्रायोगिक पक्ष पर आपत्तियां अवश्य उठ जाती है। ये आपत्तियां मुख्य रूप से नदियों के पूर्ववर्ती होने की पहचान से सम्बन्धित हैं। उदाहरणार्थ सिन्धु नदी को भूगर्भवेत्ताओं का यदि एक वर्ग पूर्ववर्ती बताता है तो दूसरा वर्ग उसे अनुवर्ती बताने से नही चूकता है। इनका कहना है कि हिमालय के उत्थान के बाद उसके दक्षिणी ढालो पर अनुवर्ती नदियो का विकास हुआ होगा। तदन्तर नदियो ने शीर्ष कटाव द्वारा पीछे हटना प्रारम्भ कर दिया होगा। फलस्वरूप उनका जलविभाजक भी निरन्तर उत्तर की ओर पीछे (Backward shifting of divide) खिसकता गया। अन्त मे दक्षिणी ढाल वाली अनुवर्ती नदियो ने हिमालय के उत्तरी ढाल पर बहने वाली सरिताओं का अपहरण कर लिया। फलस्वरूप इनका मार्ग हिमालय के आर-पार हो गया होगा। यद्यपि यह सम्भावना है, तथापि यह मत मान्य नही है। इनकी विशद व्याख्या इसी अध्याय मे **हिमालय की प्रवाह-प्रणाली'** नामक शीर्षक में की गई है।

यही समस्या अप्लेशियन पर्वत की अनुप्रस्थ नदियों (Transverse streams) के विषय में भी उठती है। वहाँ पर ऐसी अनेक नदियाँ हैं जो कि या तो **अप्लेशियन के पूर्वी** ढाल से निकलकर उसे आर-पार काट कर **पश्चिम** दिशा में **मिसीसीपी क्रम** की ओर प्रवाहित होती हैं या अप्लेशियन के पश्चिम से निकलकर, उसे आर-पार काटकर पूर्व दिशा मे **आन्ध्र महासागर** मे गिरती है। ऐसी नदियाँ निश्चय ही पूर्ववर्ती जलधाराओ का उदाहरण प्रस्तुत करती हैं परन्तु यहाँ पर तो विद्वानो मे सर्वाधिक मतभेद है। इनके विचारो मे इतना विभेद है कि क्रम से विद्वानो ने अप्लेशियन की अनुप्रस्थ नदियो को, अनुवर्ती, पूर्ववर्ती, पूर्वारोपित (Superimposed) या **सरिता अपहरण** से उत्पन्न नदियाँ कह डाला है। उदाहरण के लिए **मेयरहाफ-ओमस्टीड महोदय** इन्हे अनुवर्ती नदियाँ बताते ह, **जानसन महोदय** पूर्वारोपित जलधारा और **टामसन महोदय** प्रणाली सरिता अपहरण से उत्पन्न नदी बताते हैं। इस तरह विवादो के गहन जाल मे सुगम मार्ग का बनाना कठिन कार्य है। इन सिद्धान्तो का विशद विवरण इसी अध्याय मे **अप्लेशियन की प्रवाह प्रणाली'** शीर्षक म दिया गया है।

कोलम्बिया नदी (संयुक्त राज्य) को पूर्ववर्ती कहना अनुचित नही होगा क्योंकि इसने उठते हुए **कास्केड पर्वत श्रेणी** को काट कर अपना पुराना मार्ग कायम रखा है। **ओग्डेन नदी** (Ogden River) ने भी **वासाच पर्वत** मे उत्थान होने पर भी उसे काट करके अपने मार्ग को पूर्ववत रखा है। संयुक्त राज्य की **डोलोर नदी** (Dolores River) पूर्ववर्ती नदी का एक सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करती है। सान जुआन पर्वत से निकलकर उत्तर-पश्चिम दिशा मे **डोलोर** नदी ने पूर्वी **ऊटा प्रान्त** मे **कोलोरैडो नदी** के संगम तक अपनी घाटी का विकास कर लिया था। तदन्तर डोलोर नदी के मार्ग के आर-पार **पैराडाक्स अपनति** (Paradox valley Anticline) का उत्थान होने लगा परन्तु नदी ने अपना निम्न कटाव जारी रखा तथा अपने पुराने मार्ग को सुरक्षित कर लिया। न्यूजीलैण्ड मे **वायपारा** (Wripara), **हुरुनुई** (Hurunui) आदि नदियाँ पूर्ववर्ती जलधारा के उदाहरण हैं। कुछ ऐसी भी नदियाँ है जिन्हे पहले पूर्ववर्ती समझा जाता था परन्तु वर्तमान समय मे अब वे पूर्वारोपित जलधारा के रूप मे स्वीकार की जाती हैं। उदाहरण के लिए **यूनिता पर्वत** (Unita mountain) को काट कर **लाडोर कैनियन** (Lador canyon) से होकर प्रवाहित होने वाली **ग्रीन नदी** (green river) को पहले **पूर्ववर्ती** माना गया था परन्तु इस समय उसे पूर्वारोपित या अध्यारोपित माना जाता है। **अरकन्सास नदी** (सं० रा० अमेरिका) को भी अब पूर्वारोपित ही माना जाता है।

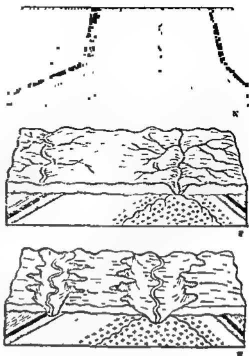
रीवा पठार के दक्षिणी भाग मे **कैमूर श्रेणियों** को काट कर उसके आर-पार बहने वाली **सोन नदी** को

पहले पूर्ववर्ती कहा जाता था परन्तु वर्तमान समय मे इतने यथेष्ट प्रमाण मिल चुके हैं कि इसे पूर्वारोपित प्रमाणित करने मे कोई आशंका नही रह जाती है। इसकी व्याख्या पूर्वारोपित प्रवाह-प्रणाली के अन्तर्गत की गयी है।

पूर्वारोपित प्रवाह-प्रणाली (Superimposed Drainage Pattern)

पूर्ववर्ती जलधारा के समान ही **पूर्वारोपित** या **अध्यारोपित जलधारा** अपने प्रवाह-स्थल की सरचना के साथ समायोजित नही होती है अर्थात् वह स्थलखण्ड के ढाल का अनुसरण नही करती है। इसका तात्पर्य यह नही है कि दोनों जलधारायें समान उत्पत्ति वाली है। इनके विकास के इतिहास मे पर्याप्त विभेद है, जिसका उल्लेख आगे किया जायेगा। यहाँ पर पहले पूर्वारोपित जलधारा के विकास का उल्लेख अन्तर को स्पष्ट करने मे सहायक होगा। यह सदैव आवश्यक नही है कि भूमिगत संरचना का ढाल या भूमिगत शैलो के स्तर का स्वभाव उसके ऊपर बिछे शैल आवरण के समान हो। प्राय ऐसा होता है कि ऊपर का शैल-आवरण अपने नीचे स्थित शैल की सरचना से भिन्न होता है। सर्वप्रथम नदी की घाटी का निर्माण ऊपरी आवरण पर होता है। जब ऊपरी आवरण पर नदी की घाटी का विकास हो चुका होता है तो नदी निम्न कटाव द्वारा अपनी निर्मित घाटी का ही विस्तार एव विकास निचली संरचना पर भी करती है, चाहे वह ऊपरी सरचना मे भिन्न ही क्यो न हो। इस अवस्था मे निचली सरचना को ऊपरी शैल-आवरण मे निर्मित घाटी के आकार एव स्वाभाव को स्वीकार करना ही पडता है, यद्यपि अगर विभिन्न स्वभाव वाली निचली सरचना ऊपर होती तो उसे अपनी इच्छानुसार चुनाव करने का अवसर मिल सकता था, परन्तु यहाँ पर उसके समक्ष कोई चुनाव का प्रश्न नही है। ऐसी अवस्था मे ऊपरी आवरण वाली घाटी का निचली सरचना पर आरोपण कर दिया है। इस तरह की घाटी वाली जलधारा को **अध्यारोपित** या **पूर्वारोपित जलधारा** कहा जाता है। इन जलधाराओ की घाटियाँ स्थानीय सरचना के विरुद्ध होती हैं। इन घाटियो को **माव महोदय** तथा **पावेल महोदय** ने **'Superimposed'** की संज्ञा प्रदान की है जब कि **मेकगी महोदय** ने केवल **'Superposed'** कहा है।

उदाहरण—1. पूर्वारोपित जलधारा एव उसकी घाटी की उत्पत्ति को एक सरल उदाहरण लेकर समझा



चित्र 225—पूर्वारोपित (Superimposed) प्रवाह-प्रणाली के विकास की अवस्थाये।

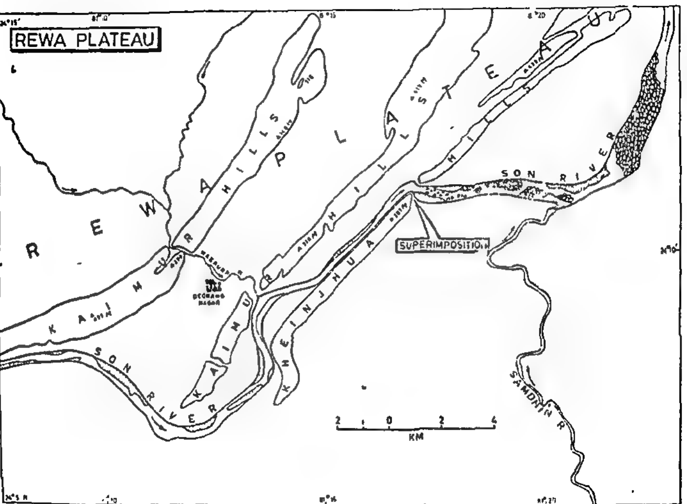
जा सकता है। चित्र 225 मे एक ऐसी सरचना वाला भाग है जिसके ऊपरी भाग पर परतदार शैल का आवरण है जो कि समानान्तर स्तर वाला है। उसके नीचे वाले भाग मे वलित सरचना का एक अपनति वाला भाग है। सर्वप्रथम चित्र अ मे नदी का आविर्भाव ऊपरी परतदार शैल के ऊपर होता है। नदी निम्न कटाव द्वारा अपनी घाटी का विकास ऊपरी परतदार सतह मे पूर्णतया कर लेती है, जैसा कि चित्र ब से स्पष्ट है। अब नदी की घाटी अपनति वाले भाग पर आ जाती है। यहा पर सरचना ऊपरी सरचना से सर्वथा भिन्न है, परन्तु नदी अपनी ऊपरी घाटी के अनुसार ही इस निचली अपनति पर निम्न कटाव करके अपनी घाटी का निर्माण करती है, जैसा कि चित्र स से स्पष्ट है। यहाँ पर नदी की घाटी के विकास मे अपनति का कोई प्रभाव नही है। यदि यह अपनति स्थल के ऊपर रही होती तो घाटी का स्वरूप कुछ और ही रहा होता, परन्तु यहाँ पर चूंकि घाटी का विकास ऊपरी आवरण पर हो चुका है, अत वैसी ही घाटी अपनति पर बनी है अर्थात् ऊपरी आवरण शैल वाली घाटी का आरोपण निचली अपनति पर दिया गया है।

पूर्वारोपित एवं पूर्ववर्ती जलधाराओं में अन्तर यह होता है कि प्रथम अपनी ऊपरी संरचना में निर्मित घाटी का आरोपण निचली संरचना में करती है, चाहे वक्र किसी प्रकार की संरचना क्यों न हो। इसमें उत्थान का समावेश नहीं किया जाता। दूसरी में संरचना का महत्त्व नहीं होता है, वरन् नदी के मार्ग में उत्थान होता है एवं नदी उत्थान के साथ गहरा कटाव करके अपने पूर्ववत् मार्ग का अनुसरण करती है। परन्तु अगर सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो यह अन्तर और सूक्ष्म हो जाता है। उदाहरण के लिए यदि किसी पेनीप्लेन पर जलोढ़ मिट्टी मागरीय मिट्टी की पतली परत बिछी है तथा यदि उस पर नदी का विकास होता है तो घाटी का निचली शैल पर आरोपण हो जाता है। यदि पेनीप्लेन का उत्थान हो जाता है तो नदियों में नवोन्मेष आ जाता है एवं अपने निम्न कटाव द्वारा अपनी घाटी को पूर्ववत बनाये रखती है संरचना चाहे जो हो। यहाँ पर पूर्ववर्ती तथा पूर्वारोपित में अन्तर स्पष्ट करना आवश्यक हो जाता है परन्तु यदि सूक्ष्मता से देखा जाय तो दोनों नदियों के सम्बन्ध में उत्थान के स्वभाव में अन्तर होता है। पूर्ववर्ती नदी के मार्ग में स्थानीय उत्थान होता है, जबकि पूर्वारोपित नदी के मार्ग में (यदि उसका आरोपण पेनीप्लेन पर होता है तो) प्रादेशिक उत्थान होता है क्योंकि *पेनीप्लेन में प्रादेशिक उत्थान ही हुआ करता है।* **कनेक्टीकट नदी (U S A.)** का निचला भाग जो कि **मिडिल टाउन** (Middle Town) से **लांग आइलैण्ड साउण्ड** (Long Island Sound) के बीच है एक पूर्वारोपित घाटी का ही रूप है। यहाँ पर पहले नदी-घाटी का विकास तटीय-मैदान के अवसाद पर हुआ था। तदन्तर उसका आरोपण निचली संरचना पर भी हो गया। **हडसन नदी का गार्ज डिलावेयर-वाटर गेप** (Delaware Water Gap) इत्यादि पूर्वारोपण के ही उदाहरण हैं। **ग्रेटब्रिटेन** में नवीन चट्टानों के ऊपर निर्मित नदियों की घाटियों का कई स्थानों पर निचली पुरानी कठोर संरचना वाले भागों पर आरोपण हो गया है। ग्रेटब्रिटेन में **लेक डिस्ट्रिक्ट** में भी पूर्वारोपित प्रवाह-प्रणाली के उदाहरण मिलते हैं। किसी भी क्षेत्र में, इस प्रकार, पूर्वारोपित जलधाराओं के समूह एवं क्रम को पूर्वारोपित प्रवाह-प्रणाली कहा जाता है। इनकी दो प्रमुख पहचान है—1 घाटियों के ऊपर प्राथमिक आवरण शैल जिसके ऊपर सर्वप्रथम नदी की घाटी का विकास हुआ था, के अवशेष दिखाई पड़ते हैं, तथा 2 इन नदियों की घाटियाँ संरचना के विपरीत भी होती हैं या यों कहिये इनका संरचना से कोई सम्बन्ध नहीं होता। सिंहभूम क्षेत्र में **स्वर्णरेखा** नदी का अध्यारोपण डाल्मा एवं फाइलाइट उच्च भाग एवं श्रेणियों के ऊपर हुआ है।

रीवा पठार के दक्षिणी भाग में **कैमूर श्रेणियों** के आर-पार प्रवाहित होने वाली **सोन नदी पूर्वारोपित नदी** का प्रमुख उदाहरण है (चित्र 226, पृष्ठ 458)। सोन नदी पश्चिम में महानदी के संगम (24°5′ उ० अक्षांश एवं 81° पू० देशान्तर) से उत्तर में स्थित कैमूर श्रेणियों से सटकर 81° 10′ पू० देशान्तर तक उ० पू० दिशा में उक्त श्रेणियों के समानान्तर प्रवाहित होती है तथा 81° 10′ पू० से 81° 15′ पू० देशान्तर के बीच उक्त श्रेणियों से दूर हट जाती है तथा मियाण्डर का निर्माण करती है। यह पुनः कैमूर श्रेणी के पास आ जाती है तथा देवलन्द के पास कैमूर को काटकर द०पू० दिशा की ओर मुड़ जाती है। पुनः बनास नदी के साथ संगम बनाने के बाद उत्तर दिशा की ओर मुड़ जाती है तथा कैमूर श्रेणियों को काट कर अपना मार्ग बनाने के बाद पूर्व की ओर मुड़ जाती है **निचली विन्ध्यन** क्रम की अवसादी चट्टानों के निर्माण के बाद रीवा पठार के इस दक्षिणी भाग में वलन तथा भ्रंशन की क्रियायें हुईं तथा कैमूर श्रेणियों का निर्माण हुआ। इसके बाद **ऊपरी विन्ध्यन** क्रम की चट्टानों का निक्षेपण हुआ जिसमें न्यूनतम विरूपण हुआ है। **क्रीटेसियस** तथा प्रारम्भिक **इयोसीन** युग में **दकन लावा** प्रवाह के कारण कैमूर श्रेणियाँ लावा के नीचे तिरोहित हो गयी। इस नवीन सतह पर सोन नदी का विकास हुआ। सोन ने शनै-शनै इस लावा को काट कर अपनी घाटी का निर्माण किया। बाद में कैमूर श्रेणियों के ऊपर भी पूर्व निर्मित घाटी का अध्यारोपण हो गया। इस तरह सोन घाटी अध्यारोपित घाटी की ही उदाहरण है।

अपकेन्द्री प्रवाह प्रणाली
(Radial or Centrifugal Drainage Pattern)

चूँकि इस प्रकार की प्रणाली में नदियाँ एक स्थान से निकलकर चारों तरफ को प्रसारित होती हैं, अतः इस प्रकार की प्रवाह-प्रणाली को केन्द्र त्यागी या अरीय (Radial) प्रवाह-क्रम भी कहा जा सकता है। इस तरह की प्रवाह-प्रणाली के विकास के लिए आवश्यक दशायें, गुम्बदाकार पर्वत या ज्वालामुखी शंकुओं में मिलती हैं, जहाँ पर ऊपरी केन्द्र से चारों तरफ का प्राय: समान ढाल



चित्र 226—अध्यारोपित सोन घाटी (रीवा पठार)

होता है। नदियाँ ऊपरी केन्द्र से निकलकर चारो दिशाओं की ओर प्रसारित होती हैं। यहाँ पर जलधारायें ढालो का अनुसरण करती है अतः मौलिक रूप मे वे अनुवर्ती जलधारा (Consequent streams) ही होती है। इनका आकार वास्तव मे पहिये के अरो या वृत्त के अर्द्धव्यासो के समान हुआ करता है। **माउण्ट एटना, माउण्ट हुड, माउण्ट रेनियर** आदि ज्वालामुखी पर्वतो एव ऊटा मे हेनरी पर्वत, फ्रान्स के मध्य पठार आदि गुम्बदीय क्षेत्रो मे अपकेन्द्री प्रवाह-प्रणाली विकसित है। **श्री लंका** की प्रवाह-प्रणाली भी अपकेन्द्री या केन्द्र त्यागी ही है।

राँची पठार के मध्यवर्ती उत्थित भाग ने अपकेन्द्री प्रवाह-प्रणाली को जन्म दिया है, जहाँ पर नदियाँ शीर्पवर्ती अपरदन मे व्यस्त हैं। **राँची शहर** म द० प० दिशा मे 13 से 16 किमी० की दूरी पर स्थित उत्थित भाग (762 5 मीटर), जिसे राँची पठार के प्रवाह-क्रम का नाभिक (nucleus) कहा जाता है, से द० कोयल, स्वर्णरेखा **कांची कारो** आदि नदियाँ निकल कर बाहर की ओर प्रवाहित होती हैं। यह **अपकेन्द्रीय या अरीय** (radial) प्रवाह प्रणाली का खूबसूरत उदाहरण है। **हजारी बाग पठार** के उत्थित भाग, **पारसनाथ पर्वत, पचेत पहाडी** तथा **डालमा ज्वालामुखी** पर्वत से ऊपर भी अपकेन्द्री प्रवाह प्रणाली का विकास हुआ है। निचली चम्बल बेसिन म **राम गुम्बद** (450 मीटर) के वृत्ताकार स्कार्प के बाह्य किनारो स नदियाँ निकल कर नति (dip) के सहारे सभी दिशाओं म प्रवाहित होकर **अरीय प्रवाह प्रणाली** का स्वरूप प्रस्तुत करते है।

हजारी बाग पठार क **मोरचा पहाड़** तथा **लुगु पहाड़** केन्द्र त्यागी प्रवाह प्रणाली के खूबसूरत उदाहरण है। राजस्थान का **माउण्ट आबू** भी अरीय प्रवाह-प्रणाली का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करता है। यदि बडे क्षेत्रीय मापक पर देखा जाय तो **रोहतास पठार** (द० प० बिहार) केन्द्र त्यागी प्रवाह-क्रम का ही उदाहरण है। इसी तरह भाण्डर पठार भी केन्द्र त्यागी प्रवाह का उदाहरण है।

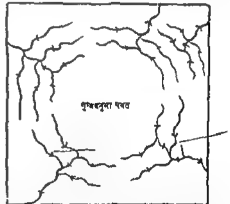
अभिकेन्द्री प्रवाह-प्रणाली
(Centripetal or Inland Drainage Pattern)

अभिकेन्द्री प्रवाह-प्रणाली, **अपकेन्द्री प्रवाह प्रणाली** क एकदम विपरीत होती है क्योंकि इस अवस्था मे नदियाँ चारो तरफ से निकल कर एक केन्द्र की ओर आती हैं। फलस्वरूप इन्हें केन्द्रोन्मुख प्रवाह प्रणाली भी कहा जाता है। इस तरह की व्यवस्था मे नदियाँ प्राय एक झील या गर्त भाग मे आकर गिरती है। उन ज्वालामुखी शकुओं मे, जिनमे क्रैटर झील का आविर्भाव हो जाता है, केन्द्रोन्मुख प्रवाह-प्रणाली का विकास हो जाता है। इसमे ज्वालामुखी क्रैटर की दीवालें ऊँची होती है और उनके बीच मे निम्न भाग या गड्ढा होता है। फलस्वरूप चारो तरफ से नदियाँ उतर कर इस गड्ढे मे गिरने लगती हैं। **तिब्बत** एव **लद्दाख** क्षेत्र की जलधारायें अभिकेन्द्री प्रवाह प्रणाली का स्वरूप प्रस्तुत करती है। इन्हे **अन्तर्देशीय-प्रवाह प्रणाली** (Inland drainage) इसलिये कहा जाता है कि इनका सम्बन्ध सागर से नही हो पाता है।

निचली चम्बल बेसिन मे **रामगढ गुम्बद** (450 मीटर) के शीर्ष पर गर्त का निर्माण हुआ है। अत कगार के आन्तरिक किनारो म नदियाँ निकलकर गर्त के केन्द्र की ओर प्रवाहित होकर अभिकेन्द्री प्रवाह-प्रणाली को जन्म देती है।

वलयाकार प्रवाह प्रणाली
(Annular Drainge Pattern)

वलयाकार प्रवाह-प्रणाली को **चक्राकार क्रम** भी कहा जाता है क्योंकि इसमे जलधारायें एक वृत्त के आकार मे फैली होती है। इस तरह की प्रवाह-प्रणाली



चित्र 227—वलयाकार (Annular) प्रवाह-प्रणाली।

मुख्य रूप स प्रौढ एव घर्षित गुम्बदीय पर्वतो मे विकसित होती है। इन गुम्बदो पर नदियाँ उनकी परिक्रमा करती हुई प्रवाहित होती हैं। यदि गुम्बदनुमा पर्वत कठोर एव मुलायम शैलो का बना है और यदि उसका पर्याप्त अनाच्छादन हो चुका है तो मुख्य **अनुवर्ती** नदियो की सहायक **परवर्ती** (Subsequent) नदियो का विकास इन मुलायम चट्टानो वाले भागो म **गुम्बद के चारो तरफ परिधि के आकार** मे होता है। वलयाकार प्रवाह-प्रणाली मे प्राय. परवर्ती जलधारायें होती हैं, और

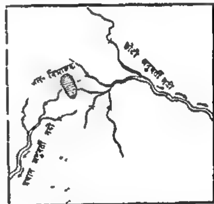
उनकी सहायक जलधाराओं का भी विकास हो जाता है, मुख्य रूप से नवानुवर्ती (Resequent) तथा प्रत्यनुवर्ती (Obsequent) जलधारायें होती हैं। वास्तव में वलयाकार क्रम, जालीनुमा प्रवाह-क्रम का ही एक विशिष्ट रूप होता है। अन्तर केवल इतना ही है कि प्रथम में परवर्ती जलधारायें गुम्बद का चक्कर लगाकर प्रवाहित होती हैं तथा एक वृत्तनुमा या चक्राकार प्रवाह-प्रणाली का निर्माण करती हैं। इस प्रवाह-प्रणाली की जलधारायें संरचना के साथ समायोजित होती हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका के ब्लैक हिल्स गुम्बद में पर्याप्त अनाच्छादन के बाद नदी Cheyene एवं उसकी सहायक जलधाराओं ने चक्राकार प्रवाह-प्रणाली का विकास किया है। इंग्लैण्ड के वेल्ड (Weald) में भी नदियों ने अनाच्छादित गुम्बदों पर वलयाकार प्रणाली का विस्तार किया है। सोनपेत (Sobapet) के प्रौढ घर्षित गुम्बद के ऊपर वलयाकार प्रवाह-प्रणाली का विकास हुआ है, वहाँ पर कठोर तथा कोमल शैल की परतें एकान्तर रूप में वलयाकार रूप में पायी जाती हैं।

कंटकीय प्रवाह-प्रणाली
(Barbed Drainage Pattern)

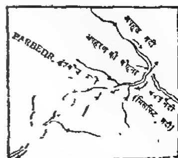
जब मुख्य नदी के ऊपरी भाग में ऐसी (**कंटकीय प्रवाह-प्रणाली को—Barbed Drainage Pattern**) जलधारायें मिलती हैं जिनके प्रवाह की दिशा मुख्य नदी के विपरीत हुआ करती है तो इन सहायक नदियों द्वारा निर्मित प्रवाह-क्रम को **कंटकीय प्रवाह-प्रणाली** कहा जाता है। इस तरह की प्रणाली का विकास प्राय. **सरिता-अपहरण** वाले क्षेत्रों में होता है। अपहरण की जाने वाली सरिता की सहायक नदियाँ होती हैं, जो कि मुख्य नदी की दिशा का अनुसरण करती हैं। इन नदियों की दिशा अपहरण करने वाली सरिता के प्रवाह-मार्ग की उल्टी होती है। जब मुख्य नदी दूसरी का अपहरण कर लेती है तो अपहृत नदी (Captured river) का जल मुख्य नदी से होकर बहने लगता है। परन्तु अपहृत नदी की सहायक नदियाँ, जो कि अब सगठित नदी (Integrated river) की सहायक हो गई हैं, अपनी पहली दिशा में ही प्रवाहित होती हैं। अत इनकी प्रवाह दिशा, मुख्य नदी की प्रवाह-दिशा के विपरीत होती है। इस तरह की प्रवाह-प्रणाली को **कंटकीय प्रणाली** कहा जाता है। **सिन्धु नदी एवं ब्रह्मपुत्र** नदियों के ऊपरी भाग में कई सहायक नदियाँ अपनी मुख्य नदी की विपरीत दिशा में प्रवाहित होकर उपर्युक्त प्रणाली का उदाहरण प्रस्तुत करती हैं।

अनिश्चित प्रवाह-प्रणाली
(Indeterminate Drainage Pattern)

जब किसी स्थान विशेष पर नदियाँ एवं उनकी सहायक नदियाँ एक दूसरे से इतनी गुथी होती हैं कि उनके प्रवाह-मार्ग या प्रवाह-प्रणाली का निश्चय करना कठिन हो जाता है तो उस प्रणाली को अनिश्चित प्रवाह-क्रम या **जटिल प्रवाह या मिश्रित प्रवाह प्रणाली** (Complicated or compound drainage) कहा जा सकता है। ऐसा प्राय उन प्रदेशों में होता है जहाँ पर अनेक छोटी-छोटी झीलें पायी जाती हैं तथा ये जलधाराओं को एक दूसरे से इस प्रकार मिलाये रहती हैं कि किसी निश्चित क्रम, यहाँ तक कि मुख्य जलधारा (master stream) का पता लगाना कठिन हो जाता



चित्र 228—कंटकीय प्रवाह-प्रणाली (Barbed drainage pattern) के विकास की प्रथम अवस्था।



चित्र 229—कंटकीय प्रवाह प्रणाली के विकास की अन्तिम अवस्था।

है। **फिनलेण्ड** की प्रवाह-प्रणाली एक अनिश्चित प्रवाह-प्रणाली का सुन्दर उदाहरण है।

पीलीभीत (उत्तर प्रदेश) मे **गोमर झील क्षेत्र** (कई झीलो तथा तालो-tanks-का समूह) मे, जहाँ से **गगा नदी** की सहायक **गोमती नदी** निकलती है **अनिश्चित प्रवाह-प्रणाली** देखने को मिलती है।

आन्तरायिक प्रवाह प्रणाली
(Intermittent Drainage Pattern)

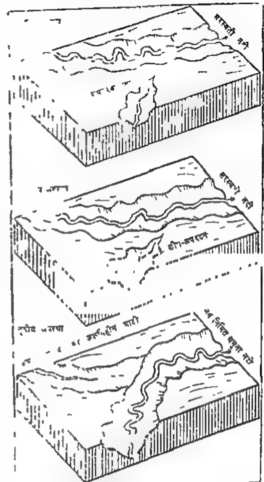
अर्द्धशुष्क मरुस्थलीय भागो मे मौसमी जलधारायें उपर्युक्त प्रवाह-प्रणाली का रूप धारण करती हैं, क्योंकि जल की प्राप्ति वर्ष भर नही हो पाती है। इस प्रवाह-क्रम के अन्तर्गत उन जलधाराओं को भी सम्मिलित किया जाता है जिनका जल थोडे समय के लिए पथरीली एवं बडे-बडे ककड वाली भूमि मे छिप जाता है या लुप्त हो जाता है तथा कुछ दूरी तय करने के बाद पुन स्थल पर प्रकट होता है। हिमालय से निकलने वाली अधिकाश भारतीय नदियो का जल **भाबर** प्रदेश मे लुप्त या विक्षिप्त हो जाता है तथा **तराई प्रदेश** मे पुन दृष्टि-गोचर होता है। इस प्रवाह-प्रणाली को **विशेषात्मक प्रवाह-प्रणाली** भी कहा जाता है।

भूमिगत प्रवाह-प्रणाली
(Under Ground Drainage Pattern)

चूने की चट्टान वाले क्षेत्र मे सतह का जल रिस कर भूमि के अन्दर चला जाता है जहाँ पर छोटे पैमाने पर मन्द गति से चलने वाली जलधाराओ का विकास होता है, जिनसे अनेक प्रकार की स्थलाकृतियो का निर्माण होता है। **युगोस्लाविया के कार्स्ट प्रदेश दक्षिणी फ्रास में काजे डिस्ट्रिक्ट** तथा **इङ्गलैंड के सरे प्रदेश** मे भूमिगत प्रवाह-प्रणाली का विकास हुआ है।

सरिता-अपहरण (River-Capture)

सामान्य परिचय—जब एक सरिता या उसकी सहायक नदी दूसरी या उसकी सहायक नदी के जल का अपहरण कर लेती है तो उस अवस्था को **सरिता-अपहरण** (River capture or piracy) कहा जाता है। अपहरण करने वाली नदी को **अपहरण कर्त्ता (Captor stream)** तथा जिसका अपहरण होता है उसे **अपहृत सरिता (Captured stream)** कहा जाता है। यद्यपि सरिता अपहरण की क्रियायें तरुणावस्था मे अधिक होती हैं तथापि प्रौढावस्था एव वृद्धावस्था मे भी सरिता-अपहरण के उदाहरण मिले हैं। सरिता-अपहरण की क्रिया मे बलवती तथा सक्रिय नदी, कमजोर एव मन्द गति से प्रवाहित होने वाली नदी के ऊपरी जलप्रवाह को हडप कर अपने मे आत्मसात कर लेती है। चित्र 230 मे **सरस्वती** नदी का अपहरण दर्शाया गया है।



चित्र 230—शीर्ष-अपरदन द्वारा सरिता-अपहरण, सरस्वती नदी का अपहरण।

अपहरण के लिए आवश्यक दशायें— प्रत्येक दशा मे सरिता-अपहरण की क्रिया घटित नही होती है वरन् कुछ ऐसी विशेष आवश्यक परिस्थितियाँ होती हैं जिनके रहने पर ही अपहरण सम्भव हो पाता है। उदाहरण के लिये नदी की घाटी की गहराई, नदी के प्रवाह-मार्ग का ढाल, नदी मे जल की मात्रा, सरचना का स्वभाव तथा नदी के अपरदन-चक्र की अवस्था। यदि किसी स्थान मे दो नदियो मे से एक की घाटी दूसरी की अपेक्षा अधिक गहरी है, उसमे जल की मात्रा अधिक है, ढाल भी तीव्र है तथा कमजोर एव मुलायम चट्टानो मे होकर प्रवाहित होती है तो निश्चय ही प्रथम नदी की धारा प्रखर होगी तथा उसके शीर्ष अपरदन की दर अधिक होगी। अत

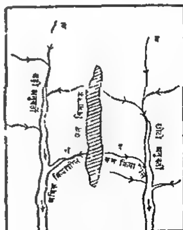
प्रथम नदी दूसरी नदी से बलवती होगी। फलस्वरूप वह दूसरे के जल का अपहरण कर लेगी। उपर्युक्त विवरण के आधार पर अपहरण कर्त्ता नदी के लिए निम्न आवश्यक दशाओं का होना आवश्यक है—1. नदी का ढाल अत्यन्त तीव्र हो अर्थात् ढाल-प्रवणता अधिक हो। 2. घाटी की चौड़ाई कम हो अन्यथा जल दूर तक फैल जायेगा। 3. जल की मात्रा अधिक हो ताकि तीव्र ढाल के साथ प्रवाह-धारा तीव्र हो सके। 4. नदी कमजोर शैल में होकर बह रही हो। 5. नदी की स्थिति अन्य की अपेक्षा नीची होनी चाहिये तथा 6. नदी की धारा में बोझ कम होना चाहिये ताकि अपरदन अबाध गति से चल सके।

अपहरण के रूप (Forms of Capture)—इतना तो निश्चित है कि अपरदन द्वारा नदियों का अपहरण होता है परन्तु यह अपरदन सदैव एक ही रूप में नहीं हुआ करता है। नदियों द्वारा प्राय **शीर्ष अपरदन, निम्न अपरदन (Downward cutting or valley deepening)** तथा **क्षैतिज अपरदन (Lateral erosion or valley widening)** अधिक प्रमुख हैं। इनमें से प्रथम तथा अन्तिम अपरदन के रूप अपहरण में अधिक सहायक होते हैं। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि शीर्ष अपरदन द्वारा अपहरण, नदी की तरुणावस्था में होता है, जब कि क्षैतिज अपरदन द्वारा अपहरण प्रौढावस्था में अधिक होता है। कभी-कभी नदियों के विमर्प के मिल जाने पर एक सरिता का जल दूसरी में चला जाता है। स्पष्ट है कि इस तरह का अपहरण नदी की जीर्णावस्था में हो जाता है। यदि किसी स्थलखण्ड के ऊपरी भाग पर कोई सरिता प्रवाहित होती है तथा दूसरी निचले ढाल पर तो निचले ढाल वाली सरिता ऊपर स्थित नदी का अपहरण कर लेती है। यहाँ अब हम सरिता-अपहरण के तीन रूपों का अलग-अलग उल्लेख करेंगे।

शीर्ष-अपरदन द्वारा अपहरण
(Capture due to Headward Erosion)

अधिकांश सरिता-अपहरण नदी द्वारा **शीर्ष अपरदन** के कारण ही हुआ करते हैं। प्रत्येक नदी तथा उसकी सहायक शाखायें अपने शीर्ष की ओर अपरदन करती हैं। इस तरह जल-विभाजक सदैव पीछे हटता जाता है। इसे **जल-विभाजक का सरकना (Creeping)** या **खिसकना (Shifting of divide)** कहते हैं। जल-विभाजक की ऊँचाई भिन्न-भिन्न हुआ करती है। यह उस स्थान के उच्चावच पर आधारित होता है। यदि **हिमालय पर्वत** अपनी नदियों के लिए अत्यधिक उच्च (चोटी तल) जल-विभाजक का कार्य करता है तो **फिनलैण्ड** में जल-विभाजक अत्यन्त कम ऊँचाई वाले होते हैं। जल-विभाजक के दोनों ढाल समान स्वभाव वाले नहीं होते हैं। यदि एक ढाल दूसरे की अपेक्षा अधिक तेज हो तथा वहाँ की चट्टानें कोमल हों, वर्षा अधिक होती हो और नदी का मार्ग (उद्गम से मुहाने तक की दूरी) छोटा हो तो इस ढाल पर निकलने वाली नदी का तल दूसरे ढाल वाली नदी की अपेक्षा नीचा होता है। परिणामस्वरूप प्रथम नदी की कटाव-शक्ति दूसरी की अपेक्षा अधिक होगी। निम्न तल वाली नदी शीर्ष की ओर अर्थात् जल-विभाजक की ओर अधिक कटाव करती है, जिससे जल-विभाजक पीछे की ओर अर्थात् मन्द ढाल वाली दिशा की ओर सरकने या खिसकने लगता है। एक स्थिति ऐसी आती है, जब प्रथम नदी का उद्गम स्थान दूसरी नदी के शीर्ष से मिल जाता है। चूंकि प्रथम नदी का तल द्वितीय की अपेक्षा नीचा होता है, अत द्वितीय नदी का प्रथम नदी द्वारा अपहरण हो जाता है।

शीर्ष अपरदन द्वारा सरिता-अपहरण को एक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है। किसी नवीन उत्थित या झुके हुए स्थल-खण्ड के ढाल पर **अनुवर्ती** नदियों का विकास होता है। इसमें एक सबसे बड़ी तथा सर्वाधिक



चित्र 231—सरिता-अपहरण की प्रथम अवस्था।

क्रियाशील सरिता होती है, जिसे प्रधान अनुवर्ती कहा जाता है। चित्र 231 में दो अनुवर्ती नदियों **"अ"** तथा **"ब"** को प्रदर्शित किया गया है। इनमे अ नदी सबसे

चित्र 232—सरिता-अपहरण की अन्तिम अवस्था।

अधिक बड़ी तथा ब की अपेक्षा खड़े ढाल में प्रवाहित होती है। अतः निम्न कटाव द्वारा अ नदी ने अपनी घाटी को इतना अधिक गहरा कर लिया है कि वह ब नदी की घाटी के तल से नीची है। इस प्रकार अ नदी प्रधान अनुवर्ती नदी है तथा इसके प्रवाह की गति अधिक तेज है। जल-विभाजक से निकलकर परवर्ती नदियाँ (Subsequent streams) दोनों अनुवर्ती नदियों से समकोण पर मिलती हैं। "स" नदी अ की सहायक तथा "द" नदी ब की सहायक है। ये दोनों नदियाँ एक ही जल-विभाजक से निकलकर विपरीत दिशाओं में अ तथा ब से मिलती हैं। चूँकि अ नदी की घाटी ब की अपेक्षा गहरी है, अतः "स" की घाटी भी "द" की अपेक्षा गहरी होगी। फलस्वरूप "स" द्वारा शीर्ष अपरदन "द" की अपेक्षा अधिक होगा, अतः "स" का ढाल भी 'द' की अपेक्षा अधिक होगा। "स" नदी निरन्तर शीर्ष कटाव करती जाती है, जिससे जल-विभाजक कट कर पीछे की ओर खिसकता जाता है। दूसरे ढाल पर "द" नदी भी शीर्ष अपरदन करती है परन्तु उसकी कटाव-दर कम होती है। एक समय ऐसा आता है जब कि "स" नदी जल-विभाजक को काट करके "द' के शीर्ष से मिल जाती है तथा पुनः कटाव द्वारा 'द" के शीर्ष का अपहरण कर लेती है। चूँकि 'द" की घाटी 'स" की अपेक्षा ऊँची है, अतः "द" का जल "स" से होकर बहने लगता है। द नदी पहले ब नदी से 'प" स्थान पर मिलती थी। अब ब नदी का ऊपरी भाग भी "द" तथा "स" से होकर अ नदी में मिल जाता है। इस प्रकार ब, प, द, स एक जलधारा के रूप में अ नदी से मिल जाती है। यहाँ पर अपहरण की दो अवस्थाएँ हुई हैं। प्रथम अवस्था में अ की सहायक "स" ने ब की सहायक "द" का अपहरण किया है तथा दूसरी अवस्था में "स" "द" ने मिलकर ब नदी के ब-प भाग का अपहरण कर लिया है।

द्वितीय अवस्था (चित्र 231)—ब नदी ब-प भाग अपहृत सरिता का उदाहरण है तथा 'क" नदी को **रुण्डित नदी** या **शीर्ष-कटी नदी** (Beheaded river) कहा जाता है। जहाँ पर नदी का हरण होता है, वहाँ पर **अपहृत नदी** समकोण पर मुड़कर **हरणकर्ता** नदी के साथ मिल जाती है। इस मोड़ या घुमाव को **अपहरण की कुहनी** कहा जाता है। अपहरण की कुहनी तथा **रुण्डित नदी** के ऊपरी भाग के बीच में शुष्क स्थान रह जाता है। इस स्थान को **वात-दर्रा** (Wind gap—विन्ड गैप या वायु अन्तराल) कहा जाता है। रुण्डित नदी में ऊपरी भाग के अपहरण के कारण पहले की अपेक्षा अब जल की मात्रा कम हो जाती है। अतः नदी अपनी पुरानी घाटी में समायोजित नहीं हो पाती है वरन् एक नवीन पतली घाटी का निर्माण करती है। अतः यह घाटी पहले घाटी में फिट नहीं कर पाती है। इस कारण **रुण्डित नदी** की घाटी को **बेमेल घाटी** (Misfit valley) कहा जाता है। यदि रुण्डित नदी में जल स्रोत अपहृत नदी से ही पहले होता था तो अपहरण के बाद रुण्डित नदी सूख जाती है। परन्तु यदि उसकी सहायक नदियों से कुल जल की प्राप्ति हो जाती है तो रुण्डित नदी अपना प्रवाह कायम रखती है। अपहृत नदी के लिए इस प्रकार, दो विशेषतायें हैं, जिनसे उन्हें पहचाना जा सकता है—1 **हरण की कुहनी** तथा 2 **कुहनी के नीचे वात-दर्रा**। इसके विपरीत अ नदी में अपहरण के कारण जल की मात्रा बढ़ जाती है तथा वह गहरा कटाव करके तंग घाटियों में प्रवाहित होने लगती है। अपहरण के पहले "द" नदी तथा ब नदी का जल दूसरी दिशाओं में बहता था परन्तु *अपहरण के बाद दूसरी दिशा में बहने लगता है।* अर्थात् हरणकर्ता नदी की ओर बहता है। इस तरह से उल्टे प्रवाह-मार्ग वाली जलधाराओं को **प्रतिलोमित जलधारा** या **अधोमुखी जलधारा** (Inverted stream) कहा जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में ब्लेक हिल्स में **बेलीफोर्शी** (Bele Fourche) नदी ने **लिटिल मिसौरी** (Little Missouri) नदी की एक सहायक नदी का अपहरण उपर्युक्त विधि के अनुसार ही किया है। वलित अप्लेशियन क्षेत्र में उपर्युक्त विधि के अनुसार अत्यधिक अपहरण हुए हैं। टामसन महोदय ने तो बताया है कि अप्लेशियन क्षेत्र में प्रवाह-मार्ग में व्यतिक्रम का प्रमुख कारण प्रगामी सरिता-अपहरण (Progressive river capture)

ही है। इसका उल्लेख "अप्लेशियन की प्रवाह-प्रणाली" शीर्षक के अन्तर्गत किया जा रहा है।

क्षैतिज अपरदन द्वारा अपहरण

(Capture due to Lateral Erosion)

शीर्ष-अपरदन द्वारा सरिता-अपहरण मुख्य रूप से नदी की तरुणावस्था में होता है। प्रौढ़ावस्था में नदी की घाटी का चौड़ा होना, गहरा होने की अपेक्षा अधिक सक्रिय हो जाता है अर्थात् नदी द्वारा क्षैतिज अपरदन (Lateral erosion) निम्न कटाव की अपेक्षा अधिक होता है। यदि तटीय मैदान में परतदार संरचना वाले भाग में दो अनुवर्ती नदियाँ प्रवाहित होती हैं और एक नदी प्रमुख होती है, जिसमें जल की मात्रा तथा उसका ढाल दूसरी की अपेक्षा अधिक होता है तो प्रमुख नदी द्वारा क्षैतिज कटाव द्वारा उसकी घाटी का निरन्तर विस्तार होता जाता है। दूसरी नदी भी क्षैतिज अपरदन द्वारा अपनी घाटी को चौड़ा करती जाती है। एक समय ऐसा आता है, जब की दोनों नदियों की घाटियाँ एक दूसरे में मिल जाती हैं। परिणामस्वरूप प्रमुख नदी जो कि अधिक क्रियाशील एवं बलवती होती है, दूसरी नदी का अपहरण कर लेती है। इस तरह का अपहरण मुख्य रूप से समतल मैदानी भागों में होता है, जहाँ पर नदियाँ बल खाती हुई प्रवाहित होती है।

नदी-विसर्प के प्रतिच्छेदन द्वारा अपहरण

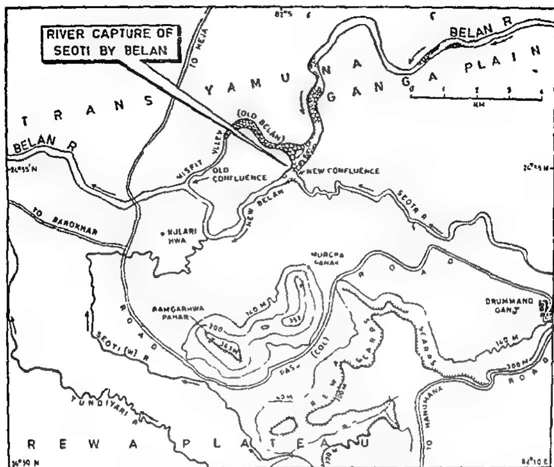
(Capture due to Inter-section of Meanders)

क्षैतिज अपरदन द्वारा अपहरण एवं नदियों के विसर्पों के प्रतिच्छेदन के कारण अपहरण प्रायः एक ही तरह होते हैं, क्योंकि क्षैतिज अपरदन दोनों में सक्रिय रहता है। नदी अपने निचले भाग में जीर्णावस्था में समतल-प्राय भूमि से होकर प्रवाहित होती है, जिस कारण उसमें विसर्प (meanders) का सृजन होता है। इस प्रकार नदियाँ मैदानी भागों में विसर्पों में बल खाती हुई चलती हैं, जैसे-जैसे ये जीर्णावस्था की ओर अग्रसर होती हैं। वैसे-वैसे विसर्पों का आकार बढ़ता जाता है। जब दो नदियों के विसर्प मिल जाते हैं तो उसे **प्रतिच्छेदन** (Intersection) कहा जाता है। इस प्रतिच्छेदन के कारण अधिक क्रियाशील एवं वेगवती नदी दूसरी नदी के जल का अपहरण कर लेती है। बाढ़ के समय भी नदियों के मोड़ों के मिलने से अपहरण हो जाता है, क्योंकि बाढ़ के समय नदी की चौड़ाई बढ़ जाती है तथा एक समय ऐसा आता है कि दो नदियों के बाढ़ के मैदान मिल जाते हैं तथा बड़ी नदी छोटी नदी का अपहरण कर लेती है।

इस तरह के अपहरण का सर्वप्रथम उल्लेख **ईसाया बोमन (Isaiah Bowman)** ने किया था। इसका उदाहरण भी **बोमन** ने **डिट्रायट** के पास हुए सरिता-अपहरण से दिया है। डिट्रायट के कुछ मील पश्चिम ह्यूरन नदी ने अपने विस्तृत विसर्प द्वारा **ओक रन नदी** (Oak Run) के मार्ग का अपहरण कर लिया। यहाँ पर अपहरण दो नदियों के विसर्पों के प्रतिच्छेदन द्वारा ही हुआ है। इस तरह के अपहरण को **सरिता प्रतिच्छेदन का अपहरण (Capture of stream intersection)** कहते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका की रेड नदी प्रायः मिसीसिपी में मिलती है। परन्तु बाढ़ के समय **अटेहाफालया नदी (Atebafalya River)** की विस्तृत घाटी, रेड नदी के कुछ जल का अपहृत कर लेती है। फलस्वरूप रेड नदी का अधिकांश जल अटेहाफालया से होकर मेक्सिको की खाड़ी में गिरता है परन्तु शेष समय में यह रेड नदी मिसीसीपी में मिलती है।

उत्तर प्रदेश के इलाहाबाद जनपद में **देवघाट** के पास **बेलन नदी** विसर्पण की क्रिया द्वारा अपनी सहायक **सेवती** नदी के निचले मार्ग का अपहरण करके उसी के मार्ग से प्रवाहित होती है। परिणामस्वरूप **बेलन-सेवती** का संगम अब पुराने संगम से लगभग 6 किमी० ऊपरी मार्ग की ओर हो गया है। (चित्र 233, पृष्ठ 465) तथा बेलन नदी की पुरानी घाटी अब **बेमेल घाटी** बन गयी है। अवसादी कारण के फलस्वरूप अब यह पतली जलधार के रूप में रह गई है।

ऊपरी भाग पर बहने वाली नदी का अपहरण निचले ढाल पर बहने वाली सरिता द्वारा हो जाता है। इस तरह का उदाहरण संयुक्त राज्य अमेरिका के **कैट्सकिल पठार** (Catskill Plateau) पर हुए सरिता-अपहरण से दिया जा सकता है। पठार के ऊपरी भाग पर **शोहरी नदी** (Schoharie) प्रवाहित होती है। इस पठार के पूर्वी कगार (Scarp) पर **काटरस्किल** (Kaaterskill) नदी प्रवाहित होती है। पठार के शीर्ष एवं एस्कार्पमेन्ट के निचले भाग के बीच 1500 फीट की ऊँचाई का अन्तर है। इस कारण **काटरस्किल** नदी ने शीर्ष-अपरदन द्वारा कई बार **शोहरी** नदी की कई सहायक नदियों का अपहरण कर लिया है। उत्तरी कैरोलिना के **ब्ल्यू रिज (Blue Ridge)** के एस्कार्पमेन्ट तथा **अलेघनी फ्रान्ट (Allegheny Front)** पर इस तरह के सरिता-अपहरण के उदाहरण मिलते हैं।



चित्र 233—बेलन नदी द्वारा सेवती नदी का अपहरण (विमर्पण की क्रिया तथा पार्श्ववर्ती अपरदन द्वारा)।

नदी-अपहरण का सरल उदाहरण यूरोप की म्यूस नदी (Muse) में प्राप्त होता है। इस नदी के पूर्व में मोसेल नदी (Moselle) ने तथा पश्चिम में सीन (Seine) तथा उसकी सहायक नदियों ने म्यूस की कई सहायक नदियों का अपहरण कर लिया है। हिमालय क्षेत्र में भी सरिता-अपहरण के कई उदाहरण मिलते हैं। ब्रह्मपुत्र नदी का वर्तमान रूप सरिता-अपहरण द्वारा ही प्राप्त हुआ है। अरुण नदी द्वारा सतत शीर्ष-अपरदन यह इंगित करता है कि निकट भविष्य में अरुण नदी ब्रह्मपुत्र नदी के कुछ जल को आत्मसात कर लेगी।

हिमालय की प्रवाह-प्रणाली का विकास (Evolution of Himalayan Drainage)

सामान्य परिचय—वर्तमान हिमालय क्षेत्र की प्रवाह-प्रणाली को अनुवर्ती प्रवाह-प्रणाली बताना न्यायोचित नहीं है, क्योंकि कई ऐसी नदियाँ हैं जो हिमालय के उत्तरी ढाल से निकल कर हिमालय की श्रेणियों को काट कर अनुप्रस्थ घाटियों (Transverse valleys) से होकर दक्षिणी ढाल से प्रवाहित होती हैं। इससे यह भी निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है कि हिमालय की सभी नदियाँ हिमालय से पूर्व की अर्थात् पूर्ववर्ती (Antecedent) हैं। डा० डिक्वर के अनुसार हिमालय की वर्तमान नदियों को चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। **प्रथम वर्ग** में—उन नदियों को सम्मिलित किया जाता है जिनका आविर्भाव हिमालय के उत्थान के पूर्व ही हो गया था। इन नदियों को पूर्ववर्ती प्रवाह प्रणाली (Antecedent drainage pattern) के अन्तर्गत रखा जा सकता है। इनमें प्रमुख हैं—सिन्धु, सतलज तथा ब्रह्मपुत्र। **द्वितीय वर्ग** में—वृहत् हिमालय अथवा आन्तरिक हिमालय से निकलने वाली नदियों को सम्मिलित किया जाता है। इनमें प्रमुख हैं—गंगा, काली, घाघरा, गंडक तथा तिस्ता। इनका आविर्भाव मध्य मायोसीन युग के बाद हिमालय के द्वितीय उत्थान के बाद हुआ माना जाता है।

इनमे से कुछ नदियो ने उद्गम की ओर कटाव (Head-ward erosion) करके हिमालय की प्रमुख श्रेणी को भी काट रखा है तथा इन्हें (काली, तिस्ता आदि) अनुवर्ती नदियों के अन्तर्गत रखा जाता है। तृतीय वर्ग मे—लघु हिमालय की नदियाँ आती हैं जिनमे प्रमुख हैं—व्यास, रावी, चिनाव तथा झेलम। चतुर्थ वर्ग मे—शिवालिक श्रेणी से निकलने वाली नदियो जैसे हिडन तथा सोलानी को सम्मिलित किया जाता है। वास्तव मे हिमालय की वर्तमान प्रवाह-प्रणाली को दो वर्गो मे रखा जा सकता है—प्रथम वर्ग मे सिन्धु प्रवाह-क्रम आता है, जिसमे सिन्धु नदी अपनी सहायक नदियो (झेलम, चिनाव, रावी, व्यास तथा सतलज) के साथ पश्चिम की तरफ प्रवाहित होकर दक्षिण-पश्चिम दिशा मे अरब सागर से मिल जाती है। द्वितीय वर्ग मे गंगा-यमुना क्रम है, जिसमे गगा नदी अपनी सहायक नदियो के साथ बगाल की खाडी मे गिरती है। इसी वर्ग के अन्तर्गत ब्रह्मपुत्र नदी मानसरोवर झील से निकलकर हिमालय के उत्तर मे, आन्तरिक हिमालय के समानान्तर प्रवाहित होती हुई, पूर्व दिशा मे चलकर, आसाम मे पुन मुड कर पश्चिम तथा पुन दक्षिण की तरफ मुड़कर गगा से मिलकर बंगाल की खाड़ी मे समाप्त हो जाती है।

इस प्रकार हिमालय की प्रवाह-प्रणाली को दो वर्गो मे विभाजित किया जाता है। प्रथम, अरब सागर मे गिरने वाली नदियो का क्रम तथा द्वितीय, बंगाल की खाड़ी मे समाप्त होने वाली नदियो का क्रम। इन प्रवाह-क्षेत्रों के बीच जल-विभाजक का कार्य अरावली पर्वत करता है। वास्तव मे यह जल-विभाजक अरावली मे लेकर शिमला तक विस्तृत है। इतना ही नही यदि सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन किया जाय तो इन दो प्रवाह-प्रणालियो को अलग करने वाला जल-विभाजक एक सीमित क्षेत्र मे न होकर विस्तृत भाग मे फैला है। वास्तविक जल-विभाजक मानसरोवर झील से प्रारम्भ होकर कामेत पर्वत मे होता हुआ शिमला के पूर्वी भाग मे होकर, अरावली की पहाडियो को सम्मिलित करता हुआ उदयपुर तक फैला हुआ है। हिमालय की जो वर्तमान प्रवाह-प्रणाली है, वह सदैव ऐसी ही नही रही है, अर्थात् ऐतिहासिक काल मे वर्तमान प्रवाह-प्रणाली के प्रतिकूल दशा थी तथा वर्तमान प्रवाह-क्रम का विकास प्राचीन नदियो के मार्ग मे पर्याप्त परिवर्तन तथा सरिता-अपहरण (River piracy or capture) के फलस्वरूप हुआ है। हिमालय की प्रवाह-प्रणाली के विकास का वर्णन यहाँ पर ऐतिहासिक दृष्टिकोण से किया जायेगा।

हिमालय की पूर्ववर्ती प्रवाह-प्रणाली (Antecedent Drainage of the Himalayas)—यद्यपि कुछ विद्वानो ने हिमालय की प्रवाह-प्रणाली को अनुवर्ती (Consequent) बताया है, परन्तु यह तथ्य अब प्रमाणित सा हो चला है कि इस क्षेत्र का मूल प्रवाह-क्रम पूर्ववर्ती या पूर्वगामी (Antecedent) ही है। अर्थात् अधिकाश नदियो का विकास हिमालय के आविर्भाव के पहले ही हो गया था। परन्तु इस तथ्य को भुलाया नही जा सकता कि कुछ नदियो का आविर्भाव हिमालय के उत्थान के बाद ही हुआ है। हिमालय की प्रवाह-प्रणाली के स्पष्टीकरण के लिए उसके प्रमुख अगो तथा विशेषताओं का उल्लेख करना आवश्यक सा जान पड़ता है। प्रथम, यह कि हिमालय की कई नदियाँ (सिंधु, सतलज, गंडक, काली, तिस्ता, ब्रह्मपुत्र आदि) हिमालय की तीनो श्रेणियो को आर-पार काट करके अनुप्रस्थ घाटियों (Transverse valleys) मे होकर प्रवाहित होती है। इनके मार्ग मे ध्यान देने योग्य बातें है—सर्वप्रथम ये नदियाँ हिमालय के उत्तरी ढाल से दूर उत्तर मे निकलती हैं तथा कुछ दूरी तक हिमालय के समानान्तर अनुदैर्ध्य घाटियो (Longitudinal valleys) से होकर प्रवाहित होती है। पुन उनके मार्ग मे अचानक परिवर्तन होता है, जिस कारण ये एकाएक मुड़कर हिमालय की श्रेणियों को अनुप्रस्थ या आडे दिशा मे काटकर तग एव गहरी घाटियो मे होकर प्रवाहित होती है तथा मैदानी भागो मे उतर आती है। इन तथ्यो के आधार पर अनुवर्ती प्रवाह क्रम की विचारधारा असगत प्रतीत होती है तथा कई विद्वानो ने हिमालय की प्रवाह-प्रणाली की पूर्ववर्ती विचारधारा का समर्थन किया है। सन् 1919 ई० मे पैस्को तथा पिलग्रिम विद्वानो ने अपने स्वतन्त्र मतों का प्रतिपादन किया। इसका उल्लेख आगे किया जायेगा।

अब समस्या यह उठती है कि इन नदियों ने हिमालय के उत्थान के बावजूद भी किस प्रकार अपने पहले वाले मार्ग को सुरक्षित रखा? इस प्रश्न के उत्तर मे भूगर्भवेत्ताओं का मत है कि हिमालय के निर्माण के पहले कुछ नदियो ने अपनी घाटियो का निर्माण कर लिया था। हिमालय के उत्थान के समय इन नदियों ने अपने अपरदनात्मक कार्य द्वारा पर्वत श्रेणियो को काटना प्रारम्भ कर दिया तथा अपने मार्ग को सुरक्षित रखने मे

तत्पर हो चली। पर यहां पर स्मरणीय है कि हिमालय का उत्थान तथा निर्माण अचानक तथा एक बार में ही नहीं हो गया वरन् पर्वत निर्माण की क्रिया अत्यन्त मन्द गति से चल रही थी, जिस कारण हिमालय का निर्माण तीन विभिन्न अवस्थाओं में हुआ है। इस प्रकार हिमालय धीरे-धीरे ऊपर उठता रहा। तथा नदियां उसी गति से अपनी घाटी में कटाव करती रहीं। यदि इस बीच उत्थान की क्रिया तीव्र तथा अचानक हुई होती तो सम्भव था कि नदियों का मार्ग अवरुद्ध हो गया होता जैसा कि पोटवार के अचानक ऊपर उठने से शिवालिक नदी के मार्ग में परिवर्तन हुआ था। इस भाग के ऊपर उठने से शिवालिक नदी का मार्ग बदल कर दो क्रमों में विभक्त हो गया। परन्तु इसके विपरीत हिमालय के उत्थान की क्रिया इतनी तेज तथा सक्रिय नहीं रही कि नदियों के मार्ग में अवरोध होने से उनमें परिवर्तन हो जाता। यहां पर एक बात और उल्लेखनीय है कि हिमालय का उत्थान नदियों के उद्गम वाले स्थान पर हुआ था, जिस कारण उनकी कटाव गति में पर्याप्त वृद्धि हो गई थी। फलस्वरूप नदियों ने उत्थान की गति की अपेक्षा अपनी घाटी को नीचे की ओर कटाव तीव्र गति से करना प्रारम्भ कर दिया। इस क्रिया के कारण नदियों ने पर्वत श्रेणियों के आर पार गहरी V आकार की घाटी तथा अनुप्रस्थ मार्ग (Transverse gorge) का निर्माण कर लिया। इन्हीं तंग घाटियों से होकर हिमालय की पूर्ववर्ती नदियां वर्तमान समय में प्रवाहित होती हैं। इसी प्रकार हिमालय की श्रेणियों के अनुप्रस्थ दिशा में स्थित तंग घाटियां तथा गार्ज (17000 फीट की गहराई तक) इस बात के प्रमाण हैं कि हिमालय की प्रमुख नदियां निश्चय ही पूर्ववर्ती प्रवाह प्रणाली के उदाहरण हैं, जिनका आविर्भाव हिमालय के निर्माण के पहले ही हो चुका था। यदि हिमालय की उन अनुप्रस्थ तंग घाटियों (Transverse gorges), जिनसे होकर प्रमुख नदियां प्रवाहित होती हैं, का अध्ययन किया जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि ये आस-पास की पहाड़ियों से हजारों फीट गहरी हैं, जिनके किनारे खड़े ढाल वाले हैं।

पूर्ववर्ती नदियों की तंग घाटियां (Deep Gorges of Antecedent Rivers)—ऊपर यह कई बार बताया जा चुका है कि हिमालय की श्रेणियों को पार करके प्रवाहित होने वाली नदियां संकरी तथा तंग घाटियों (Gorges) से होकर अपना मार्ग बनाती हैं। इन तंग घाटियों में सर्वप्रमुख सिंधु नदी की घाटी है जो कि गिलगित के पास हिमालय की श्रेणियों को काट कर 17000 फीट गहरी घाटी से होकर बहती है। इस घाटी के दोनों किनारों की दीवालें अत्यन्त तीव्र ढाल वाली हैं। इस बात के कि सिन्धु नदी प्रारम्भिक समय में इतनी गहरी घाटी से प्रवाहित नहीं होती थी, कई प्रमाण मिलते हैं। उदाहरण के लिए इस तंग घाटी में वर्तमान नदी-तल (Bed of river) से ऊपर जाने पर कई **नदी वेदिकायें (River terraces)** मिलती हैं जिनमें बजरी (Gravel) तथा रेत के जमाव मिलते हैं। इससे यह प्रमाणित होता है कि पर्वत के उत्थान के साथ ही साथ नदी ने अपना गहरा कटाव जारी रखा। इस प्रकार क्रमिक उत्थान (Successive upheaval) तथा क्रमिक कटाव के कारण क्रमिक नदी वेदिकायें तथा नदी तल के क्रमानुसार कई तल मिलते हैं। जब हिमालय का प्रारम्भिक उत्थान हुआ होगा तो नदी का तल भी ऊपर उठ गया होगा तथा नदी का सबसे ऊपरी तल, ऊपरी भाग पर स्थापित हुआ होगा। परन्तु नदी ने अपने पुराने मार्ग को सुरक्षित रखने के लिए उत्थित भाग का गहरा कटाव किया होगा, तथा अपनी पूर्ववर्ती घाटी को प्राप्त कर लिया होगा। इसके बाद हिमालय का द्वितीय उत्थान हुआ होगा जिस कारण पुनः नदी अपने तल के साथ ऊपर उठ गई होगी तथा नदी के द्वितीय तल का निर्माण हुआ होगा। पुनः नदी ने अपने मार्ग में उत्थित भाग को काटकर अपना पुराना मार्ग अपना लिया होगा। इसी प्रकार तृतीय उत्थान के बाद नदी ने कटाव करके अपनी वर्तमान घाटी का, जो कि 17000 फीट गहरी है निर्माण कर लिया होगा। इसी प्रकार की तंग घाटियों के उदाहरण सतलज, गंडक, कोसी, अलकनन्दा, काली, तिस्ता आदि नदियों की घाटियों में भी मिलते हैं। इन घाटियों की औसत गहराई 6000 से 12000 फीट तक तथा चौड़ाई 6 से 18 मील तक मिलती है। कोसी की सहायक अरुण नदी तिब्बत के उच्च भाग से निकलकर हिमालय की तीनों श्रेणियों को पार करके अनुप्रस्थ तंग घाटियों से प्रवाहित होती है।

हिमालय की तंग घाटियों के निर्माण के विषय में विद्वानों ने कई मत प्रस्तुत किये हैं, यद्यपि यह अधिक विश्वासजनक लगता है कि इन तंग घाटियों का निर्माण नदियों द्वारा निम्न कटाव (Downward cutting) द्वारा हुआ होगा, परन्तु कुछ विद्वान इस मत से सहमत नहीं हैं तथा उन्होंने परस्पर विरोधी मतों का उल्लेख किया है। इन मतों का संक्षिप्त आलोचनात्मक विश्ले-

पण करना आवश्यक जान पड़ता है । 1 विद्वानों के एक वर्ग द्वारा यह प्रतिपादित किया गया है कि हिमालय के निर्माण के समय कई अनुप्रस्थ दरारों (Transverse fissures) तथा भ्रशन (Transverse faults) का निर्माण हो गया था । तदनन्तर जल के कार्य द्वारा इन दरारों का विस्तार हो गया तथा नदियों ने इन्हें अंगीकृत करके अपना मार्ग इन्हीं विस्तृत दरारों से होकर कर लिया । 2. दूसरी विचाधारा के अनुसार हिमालय के उत्थान के कारण पहले प्रवाहित होने वाली नदियों के मार्ग में अवरोध हो गया, जिस कारण इनका जल अवरुद्ध होकर झीलों में बदल गया । इन झीलों के जल ने ऊपर प्रवाहित होकर, कटाव द्वारा तंग घाटियों का निर्माण कर लिया । इस मत के विपरीत सबसे बड़ी कठिनाई यह उपस्थित हो जाती है कि हिमालय की प्रमुख नदियों के उद्गम वाले स्थान पर झीलकृत निक्षेप (Lacustrine deposits) नहीं मिलते हैं । 3. डा० वाडिया के अनुसार कम से कम छोटी-छोटी नदियों की तंग घाटियों का निर्माण नदियों द्वारा पीछे की ओर कटाव होने से अवश्य हुआ होगा । इस प्रकार नदियों ने अपने उद्गम की ओर कटाव (Headward erosion) द्वारा पीछे बढ़ना प्रारम्भ किया जिससे उनका जलविभाजक शनैः-शनैः पीछे अर्थात् उत्तर की ओर खिसकता गया तथा तंग घाटियों का निर्माण हो गया । यदि हिमालय की प्रमुख नदियों, सिन्धु, सतलज, भागीरथी, अलकनन्दा, काली, कार्नाली, गंडक, कोसी तिस्ता तथा ब्रह्मपुत्र के भागों का अध्ययन किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इनका उद्गम-स्थान हिमालय के उत्तर तिब्बत वाले उत्तरी ढाल से प्रारम्भ होता है । इस प्रकार इन नदियों का जलविभाजक आन्तरिक हिमालय या उच्चतम भाग न होकर इसके और अधिक उत्तर वाला भाग है । यहाँ से निकलकर नदियाँ कुछ दूर तक हिमालय के समानान्तर प्रवाहित होती हैं तथा अचानक मुड़ कर हिमालय को काटकर मैदान में आ जाती हैं ।

नदियों के मार्ग में परिवर्तन—ऊपर अब तक जो कुछ बताया गया है व हिमालय की **वर्तमान** प्रवाह-प्रणाली की ही विशेषतायें थीं । परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं लगाया जा सकता कि हिमालय की वर्तमान प्रवाह-प्रणाली भूगर्भिक इतिहास में भी इसी प्रकार थी । इसके विपरीत **टर्शियरी** युग के अन्त में उत्तरी भारत की प्रवाह प्रणाली वर्तमान समय से एकदम भिन्न थी । उस समय वर्तमान गंगा-यमुना क्रम अपने वास्तविक रूप में नहीं था । टर्शियरी युग के अन्त में ही हिमालय की नदियों के मार्ग में पर्याप्त परिवर्तन हुए तथा क्रमिक **सरिता-अपहरण (River piracy)** तथा उनके मार्ग में परिवर्तन के फलस्वरूप वर्तमान प्रवाह-क्रम का विकास हो गया है । **पैस्को** तथा **पिलग्रिम** विद्वानों के मत सराहनीय हैं ।

हिमालय की नदियों के विकास तथा उनके **मार्ग-परिवर्तन** के सम्बन्ध में **पिलग्रिम** तथा **पैस्को** प्रभृति विद्वानों ने सन् 1919 ई० में अपने स्वतन्त्र विचारों का प्रतिपादन किया । इन विद्वानों के अनुसार हिमालय की श्रेणियों के निर्माण के बाद **टेथीज** का जल संकुचित हो गया तथा यह भाग उत्तरी-पूर्वी आसाम तक फैला हुआ था । हिमालय के द्वितीय उत्थान के बाद टेथीज सागर संकुचित होकर हिमालय के दक्षिण में उसके समानान्तर एक सकरी नदी के रूप में बदल गया । इस नदी का नामकरण **पैस्को** ने **इण्डोब्रह्म नदी** तथा **पिलग्रिम** ने **शिवालिक नदी** किया है । यह शिवालिक नदी आसाम के उत्तर-पूर्व में निकलकर उत्तर में उठते हुए हिमालय तथा दक्षिण में गोंडवानालैण्ड (प्रायद्वीपीय भारत) के मध्य में होकर उत्तर-पश्चिम दिशा में प्रवाहित हो रही थी । **सुलेमान** तथा **किरथर** के सहारे नदी दक्षिण-पश्चिम दिशा में मुड़कर **अरब सागर** में गिर जाती थी । यहाँ पर उल्लेखनीय है कि पैस्को तथा पिलग्रिम ने इण्डोब्रह्म नदी तथा सुलेमान किरथर के बीच किसी सम्बन्ध का विवरण उपस्थित नहीं किया है । इन विद्वानों के अनुसार शिवालिक नदी, सिन्धु नदी से होकर अथवा उसके पश्चिम में होकर प्रवाहित होती थी । इसी प्रकार इसका मार्ग गंगा-यमुना क्षेत्र में वर्तमान गंगा के मार्ग से उत्तर की ओर था । अरब सागर का वह भाग, जिसमें कि शिवालिक नदी गिरती थी, **सिन्ध की खाड़ी** के नाम से विख्यात था । प्रारम्भ में इसका विस्तार नैनीताल तथा गढ़वाल एवं कुमायूँ तक था क्योंकि शिवालिक के प्रारम्भिक डेल्टा-जमाव के प्रमाण नैनीताल के पास मिले हैं । चूंकि **सिन्ध की खाड़ी** भी सागर के निम्नगर पीछे हटते जाने से सरक रही थी, इसलिये शिवालिक का डेल्टा भी आगे बढ़ता गया । यही कारण है कि शिवालिक के क्रमिक डेल्टा के जमाव के लक्षण नैनीताल, सोलोन, मुजफ्फराबाद, अटक तथा सिन्ध में मिले हैं । इस प्रकार शिवालिक नदी मार्ग, पर्वत-निर्माण तथा सागर के संकुचन तथा पीछे हटने (*निवर्तन* **Retreat**) की क्रिया द्वारा निर्धारित होता रहा । **प्लीसोसीन** युग में सिंधु नदी का निचला भाग सिन्ध की खाडी (Gulf of Sind) द्वारा आवृत था ।

पैस्को के अनुसार उस समय **गोंडवानालैण्ड अरावली** से लेकर ऊपरी आसाम तक क्रमबद्ध (Continuous) रूप में विस्तृत था। **पिलग्रिम महोदय** ने बताया है कि उस समय तक प्रायद्वीपीय भाग का विस्तार **बंगाल की खाडी** के अधिक भाग पर था। इस प्रकार **शिवालिक नदी** अपनी सहायक नदियों (हिमालय से आने वाली) के साथ पूर्व से पश्चिम दिशा मे प्रवाहित हो रही थी। पिलग्रिम के अनुसार भूहलचल के कारण **पोटावर** का भाग ऊपर उठ गया, जिस कारण शिवालिक नदी के मार्ग मे व्यतिक्रम उत्पन्न हो गया। शिवालिक का पश्चिमी भाग **सिन्धु-क्रम** (Indus System) तथा पूर्वी भाग गगा-ब्रह्मपुत्र क्रम मे बदल गया। पहला क्रम अरब सागर तथा दूसरा क्रम बगाल की खाडी मे समाप्त होने लगा। **शिवालिक नदी** का मार्ग का यह व्यतिक्रम या उल्टा क्रम (Reversal) तथा सिन्धु एव गगा क्रमो का विकास **क्रमिक सरिता अपहरण** (Successive river capture) के कारण सम्पन्न हुआ है। शिवालिक नदी के मार्ग परिवर्तन मे सहायक कारणो के विषय मे **पैस्को** तथा **पिलग्रिम** एकमत नही है। पैस्को के अनुसार नदी के मार्ग का उल्टा होना एक मात्र नदियो द्वारा उद्गम की ओर कटाव तथा सरिता अपहरण द्वारा हुआ है। पोटावर (Potawar) का उत्थान इस विषय मे कम महत्वपूर्ण रहा है। **पिलग्रिम** के अनुसार शिवालिक के मार्ग का व्यतिक्रम (Reversal) भूहलचल द्वारा स्थल से उभार होने तथा उद्गम की ओर कटाव, दोनो क्रियाओं द्वारा हुआ है। **राजमहल-शिलाग** जल-विभाजक से निकलने वाली नदियो ने पीछे की ओर कटाव करके शिवालिक का अपहरण कर लिया तथा उत्तर-पश्चिम मे स्थल के उभार के कारण पूर्व की ओर ढाल हो जाने से पोटावर के पूर्व का शिवालिक वाला भाग पूर्व दिशा मे परिवर्तित होकर बगाल की खाडी मे गिरने लगा। यदि यहाँ पर बगाल की खाडी के भाग (जहाँ पर पठारी भाग का आवरण था) का अवतलन मान लिया जाय (यद्यपि पिलग्रिम ने इसका उल्लेख नही किया है) तो इस अवतलन के कारण **राजमहल-शिलाग जल-विभाजक** से आने वाली नदियो मे नवोन्मेष हो जाता जिस कारण उनकी पीछे की ओर कटाव-शक्ति अधिक हो जाती तथा शिवालिक नदी का मार्ग अपहरण के बाद आसानी से परिवर्तित हो जाता। पोटावर के पूर्व का शिवालिक नदी का भाग गगा नदी मे बदल गया। पोटावर के पश्चिम मे पंजाब की नदियो ने शिवालिक का अपहरण कर लिया तथा शिवालिक नदी सिन्धु तथा उसकी सहायक नदियो के रूप मे बदल गई। पूर्वी भाग मे राजमहल-शिलाग जल-विभाजक क्षेत्र मे विभंजन हो गया, जिस कारण गगा-ब्रह्मपुत्र नदियाँ, बगाल की खाडी मे गिरने लगी। यहाँ पर यह स्मरणीय है कि कुछ विद्वान गंगा का बगाल की खाडी मे गिरना, राजमहल जल-विभाजक से निकलने वाली नदियो द्वारा उद्गम की ओर कटाव करने से सरिता अपहरण द्वारा मानते हैं। इस प्रकार गगा नदी के बंगाल की ओर परिवर्तित होने के कारण उसमे नवोन्मेष (Rejuvenation) हो गया। अत पश्चिम की तरफ शीर्ष भाग वाली सक्रिय नदियो ने यमुना-घाघरा क्षेत्र मे शिवालिक नदी के उत्तरी किनारे वाली सहायक नदियों का अपहरण कर लिया। सबसे अन्त मे यमुना नदी का (जो कि प्रारम्भ मे पश्चिम की ओर राजपूताना से होकर प्रवाहित होती थी, जिसके प्रमाण वर्तमान **घग्घर नदी** की शुष्क घाटी से मिलता है) का अपहरण हो गया तथा यह गगा से मिलकर बहने लगी। इसी प्रकार प्रारम्भ मे सतलज नदी एक स्वतन्त्र नदी के रूप मे घग्घर से मिलकर **कच्छ की खाडी** मे मिलती थी परन्तु बाद मे इसका भी अपहरण हो गया तथा व्यास मे मिलने पर ये दोनो नदियाँ चिनाब मे मिलकर सिन्धु में प्रवाहित होती है।

पैस्को महोदय ने एक और वृहद् नदी का उल्लेख किया है जो कि **तिब्बत नदी** के नाम से हिमालय के उत्तर मे **इण्डोब्रह्म** (**शिवालिक**) के समान ही पूर्व से पश्चिम दिशा मे प्रवाहित होती थी। इस प्रकार पैस्को महोदय ने हिमालय के दोनो ओर **पश्चिम वाहिनी दो** नदियो का उल्लेख किया है। इनके अनुसार **तिब्बत नदी** या तो **ओक्सस** तक जाती थी या इसका प्रवाह मैदानी भाग मे था। पैस्को के अनुसार तिब्बत नदी का मैदान की ओर प्रवाह **कोदू दर्रा**, **दानोसी** नदी, ऊपरी सतलज अथवा ऊपरी सिन्धु नदी द्वारा रहा होगा। पैस्को ने पुन बताया कि मौलिक तिब्बत नदी का ईरावदी-छिन्दविन द्वारा, मेघना नदी द्वारा, काली, गडक, सतलज एव सिन्धु नदी द्वारा विभजन हो गया अर्थात् उपर्युक्त नदियो ने तिब्बत नदी का स्थान-स्थान पर अपहरण कर लिया। ब्रह्मपुत्र नदी के विकास के विषय मे कहा जा सकता है कि शिवालिक नदी के उत्तरी-पूर्वी भाग का अपहरण कर लिया। इस प्रकार **मानसरोवर** के पूर्व वाला भाग **सांपू** ब्रह्मपुत्र के रूप मे हो गया तथा उसके (मानसरोवर)

पश्चिम का भाग सतलज तथा सिन्ध नदी में सम्मिलित हो गया। कुछ विद्वानों ने इस मत के विपरीत **पूर्व दिशा में प्रवाहित होने वाली** तिब्बत नदी का उल्लेख किया है। परन्तु हिमालय के दो किनारों पर विपरीत दिशा में प्रवाहित होने वाली नदियों के विषय में कई आपत्तियाँ आ जाती हैं। इस विषय पर विवाद का समाधान तब तक नहीं हो सकता, जब तक विश्वासजनक प्रमाणों की उपलब्धि नहीं हो जाती।

उपर्युक्त विवेचन से पंजाब की **पंच नदियों** के विकास पर पूरा प्रकाश नहीं पड़ता है। झेलम चिनाव, व्यास तथा सतलज नदियों के पंजाब वाले भाग का पूर्ण विकास शिवालिक श्रेणी के निर्माण तथा सिन्धु एवं गंगा के सम्बन्ध विच्छेद (पोटावर के पास स्थानीय उभार) होने के बाद हुआ है। **पोटावर पठार** के उत्थान के कारण दक्षिणी पंजाब की नदियों में नवोन्मेष प्रारम्भ हो गया, जिस कारण इनकी शीर्ष की तरफ कटाव (Headward erosion) की शक्ति प्रबल हो गयी। फलस्वरूप इन नदियों ने पोटावर से पश्चिम की ओर प्रवाहित होने वाली शिवालिक नदी के भाग का धीरे-धीरे अपहरण कर लिया। तदन्तर इन नदियों के शीर्ष जल (Head-waters) ने हिमालय से आने वाली छोटी-छोटी जल-धाराओं का अपहरण करके उन्हें अपने में मिला लिया। इस प्रकार आकार में इन नदियों का विस्तार होता गया तथा अन्त में पंजाब की वर्तमान पाँच नदियों का आविर्भाव हो गया। इनमें से कुछ नदियों ने शीर्ष की ओर निरन्तर कटाव करते हुए हिमालय की आन्तरिक श्रेणी को भी पार कर लिया। सतलज इसका प्रमुख उदाहरण है, जो कि **कैलाश श्रेणी** की मानसरोवर झील से निकलती है। यदि सतलज के इस **शीर्ष कटाव परिकल्पना** पर विश्वास किया जाय तो उसे एक पूर्ववर्ती नदी मानने में कठिनाई उपस्थित हो जाती है। **डेविस** महोदय के अनुसार सतलज नदी महान् हिमालय की नदियों में सबसे नवीन है। वास्तव में सतलज नदी अब भी एक भूगर्भिक समस्या बनी हुई है।

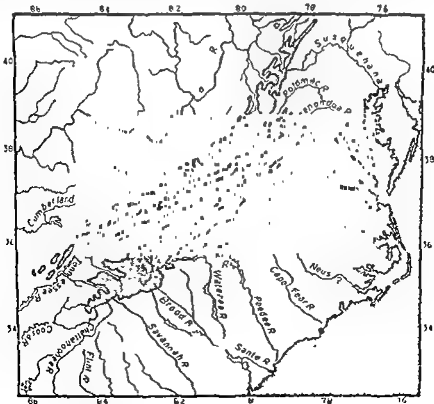
नदियों के मार्ग में नवीन परिवर्तन (Recent Changes in the River System)—नदियों के मार्ग में प्रारम्भिक महान परिवर्तन के बाद भी शनैः-शनैः परिवर्तन होता रहा तथा वर्तमान समय में भी परिवर्तन के कुछ आसार नजर आ रहे हैं। लगभग 200 वर्ष पहले गङ्गा तथा ब्रह्मपुत्र नदियाँ एक दूसरे से 150 मील की दूरी पर अलग-अलग प्रवाहित होती थीं। उस समय ब्रह्मपुत्र नदी बंगला देश से मेघना नदी में हाकर मधुपुर के जंगल के पूर्व से होकर प्रवाहित होती थी परन्तु भू-हलचल के कारण उत्पन्न भू-गर्भिक परिवर्तन के फलस्वरूप मधुपुर के जंगल 100 फीट ऊपर उठ गये तथा ब्रह्मपुत्र का मार्ग इस जंगल के पश्चिम से हो गया। ब्रह्मपुत्र नदी का वर्तमान रूप सरिता अपहरण के द्वारा ही प्राप्त हुआ है। ब्रह्मपुत्र की सहायक नदी आज से 200 वर्ष पूर्व गङ्गा की सहायक नदी थी परन्तु सरिता-अपहरण के कारण इस नदी ने अपना पुराना मार्ग त्याग दिया है तथा अब यह पूर्व में ब्रह्मपुत्र नदी से मिलती है। तिस्ता तथा अरुण नदियों ने शीर्ष-कटाव करके कई अपहरण किये हैं। अरुण नदी के उत्तर की ओर सतत कटाव से यह प्रतीत होता है कि निकट भविष्य में **अरुण** नदी **सांपू नदी** का कुछ जल अपने में आत्मसात कर लेगी। गंगा नदी तथा उसकी सहायक नदियों के मार्ग में भी पर्याप्त परिवर्तन हुए हैं। प्राचीन काल में **मौर्य** तथा **गुप्त राजाओं** की राजधानी **पाटलिपुत्र** (आधुनिक पटना) गङ्गा, सोन, घाघरा, पुनपुन तथा गंडक नदियों के संगम पर स्थित थी। परन्तु इस समय सोन तथा घाघरा नदियाँ पटना से पहले ही गंगा से मिल जाती हैं तथा गंडक पटना से पूर्व में मिलती है। इसी प्रकार आज से 200 वर्ष पहले गंगा नदी की मुख्य धारा पश्चिम बंगाल की **भागीरथी** तथा हुगली नदियों की घाटियों में होकर ही प्रवाहित होती थी परन्तु वर्तमान समय में गंगा की मुख्य धारा **पद्मा** नदी की घाटी से होकर बंगला देश में प्रवाहित होती है।

हिमालय की वर्तमान प्रवाह-प्रणाली—हिमालय से निकलकर नदियाँ अपनी उपशाखाओं सहित या तो अरब सागर में समाप्त हो जाती है या बंगाल की खाड़ी में गिर जाती हैं। हिमालय से निकलने वाली नदियों को तीन क्रमों में विभाजित किया जा सकता है—1. **प्रथम वर्ग** में सिन्धु-क्रम आता है—इस क्रम में सिन्धु, सतलज, व्यास, चिनाव, रावी तथा झेलम आदि नदियाँ प्रमुख हैं। उन्हें पश्चिमी हिमालय का नदी-क्रम भी कहा जा सकता है। इस क्रम की मुख्य नदी सिन्धु है जो कि **कैलाश पर्वत** से निकल कर पश्चिम की ओर प्रवाहित होती हुई **गिलगित** के पास हिमालय को काट कर 17000 फीट गहरी तंग घाटी से होकर दक्षिण दिशा में मुड़ कर कराँची के पास अरब सागर से मिल जाती है। 2 **द्वितीय वर्ग** में गंगा क्रम आता है—इस क्रम की प्रमुख नदी गंगा तथा उसकी सहायक नदियाँ, यमुना, रामगंगा, घाघरा, राप्ती, गंडक तथा कोसी

आदि हैं (यहाँ पर हिमालय से निकलने वाली सहायक नदियों का उल्लेख किया जा रहा है)। गङ्गा नदी इस क्रम की प्रमुख जलधारा है। गङ्गा नदी ऊपरी भाग में अलकनन्दा तथा भागीरथी के सम्मेलन से ही बनी है। गङ्गा नदी (भागीरथी) का मुख्य उद्गम स्थान गङ्गोत्री हिमानी है जो केदारनाथ चोटी के उत्तर में गउमुख नामक स्थान पर 12,800 फीट की ऊँचाई पर स्थित है। 3 तृतीय वर्ग में ब्रह्मपुत्र-क्रम आता है—इस क्रम की प्रमुख नदी ब्रह्मपुत्र तथा इसकी सहायक तिस्ता है। गङ्गा-यमुना क्रम पूर्व की ओर प्रवाहित होकर ब्रह्मपुत्र से मिलकर दक्षिण दिशा में मुड़कर बंगाल की खाडी में समाप्त हो जाती है। प्रारम्भ में गङ्गा-यमुना-क्रम वर्तमान पथ से उत्तर था, परन्तु शिवालिक श्रेणी के निर्माण के कारण तथा हिमालय से आने वाली नदियों के कारण उत्पन्न दबाव से गङ्गा का मार्ग वक्राकार होकर दक्षिण की ओर झुक गया है।

अप्लेशियन क्षेत्र में प्रवाह-प्रणाली के विकास का इतिहास

सामान्य परिचय—इस क्षेत्र की प्रवाह प्रणाली पर चट्टानों की बनावट तथा भौतिक आकृतियों का प्रभाव अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह प्रभाव एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में भिन्न-भिन्न है। जहाँ तक वर्तमान प्रवाह-प्रणाली का सम्बन्ध है अप्लेशियन क्षेत्र के दोनों तरफ अर्थात् पूर्व तथा पश्चिम की ओर नदियों का विकास हुआ है। पूर्व में अप्लेशियन से नदियाँ निकलकर अटलांटिक महासागर में गिर जाती है। जहाँ पर ये नदियाँ पीडमाण्ट से नीचे की ओर सागर-तटीय मैदान में उतरती है, वहाँ पर प्रपात बनाती हैं। इस प्रकार पीडमाण्ट के सहारे उत्तर दक्षिण एक प्रपात रेखा पायी जाती है। अप्लेशियन से निकलकर पश्चिम दिशा में मिसीसीपी क्रम से मिल जाती है। कुल मिलाकर अप्लेशियन क्षेत्र में दो प्रमुख जल-विभाजक क्षेत्र (Water divides) हैं। 1. दक्षिण में ब्लूरिज जहाँ से नदियाँ निकल कर पश्चिम की ओर मिसीसीपी-क्रम से मिल जाती है तथा पूर्व की ओर अटलांटिक महासागर में जा मिलती है 2. उत्तर में प्रमुख जल-विभाजक क्षेत्र अलेघनी अग्रमुख" (Allegheny Front) है, जहाँ से नदियाँ पश्चिम में ओहियो से मिलती है जो पुनः मिसीसीपी नदी में मिलती है तथा पूर्व की ओर बहने वाली नदियाँ अटलांटिक महासागर में गिरती हैं। इस



चित्र 234—अप्लेशियन की प्रवाह-प्रणाली का एक सामान्य चित्र।

प्रकार यदि देखा जाय तो अप्लेशियन क्षेत्र की अधिकाश नदियाँ भौतिक आकृतियो के आर-पार (Across) अथवा आड़ी दिशा (Transverse) मे प्रवाहित होती है।

प्राय., यह विश्वास किया जाता है कि अप्लेशियन क्षेत्र की भौतिक प्रवाह प्रणाली, **अनुवर्ती प्रवाह प्रणाली (Consequent drainage)** थी तथा इसके प्रवाह की दिशा दक्षिण-पूर्व से उत्तर-पश्चिम थी। बाद मे अप्लेशियन क्षेत्र मे अत्यधिक उभार के कारण तथा पूर्व की ओर झुकाव (Tilt) होने से प्राचीन नदियो का झुकाव पूर्व तथा दक्षिण-पूर्व की ओर हो गया और वर्तमान प्रवाह-प्रणाली का सूत्र पात हुआ। परन्तु अप्लेशियन क्षेत्र की प्रवाह प्रणाली का इतिहास इतना सरल नही है। साधारण रूप मे यह बताया जा सकता है कि **पैल्योजोइक युग** के प्रारम्भ मे प्राचीन अप्लेशियन की अनुवर्ती नदियाँ पश्चिम की ओर आतरिक "पैल्योजोइक सागर" मे गिरती थी। **पर्मियन युग मे अप्लेशियन हलचल** (Applachian Revolution) के समय अप्लेशियन भूसन्नति मे दबाव के कारण सर्वाधिक उभार हुआ जिसमे उत्तर-पश्चिम दिशा मे प्रवाहित होने वाली मौलिक प्रधान अनुवर्ती नदियो के आर-पार अथवा आड़े दिशा मे पर्वत-श्रेणियो का निर्माण हुआ। यहाँ पर दो सम्भावनाएँ हो सकती हैं। **प्रथम**—यह कि मौलिक अनुवर्ती नदियो ने अपना दक्षिण-पूर्व से उत्तर पश्चिम वाला मार्ग कायम रखा हो। इनकी प्रवाह दिशा मे पर्वतीय उत्थान का असर नही हुआ हो। हो सकता है कि नदियो ने स्थलीय उभार के साथ ही साथ कटाव द्वारा अपना पूर्ववर्ती मार्ग सुरक्षित रखा हो। यदि अनुवर्ती नदियो ने उभार के बावजूद अपना पहला मार्ग अपनाया हो तो किस रूप मे अपनाया ? इसका समाधान करना अवश्यक है। **द्वितीय**—यह कि **पर्मियन** युग मे सर्वाधिक उभार के कारण नदियो के मार्ग मे परिवर्तन हो गया हो तथा नदियो की दिशा दक्षिण-पूर्व हो गई हो। यह सम्भावना अधिक सरल तथा विश्वासजनक प्रतीत होती है। इन दो समस्याओ तथा सम्भावनाओ के सम्बन्ध मे विद्वानो ने अपने अलग-अलग मत प्रस्तुत किये हैं। इनमे से प्रमुख सिद्धान्तो की व्याख्या नीचे प्रस्तुत की जा रही है।

पूर्ववर्ती सिद्धान्त

(Antecedent Theory of Applachian Drainage)

कुछ विद्वानो का मत है कि प्रारम्भ मे प्राचीन "अप्लेशियन उच्च-भाग" से अनुवर्ती नदियाँ पश्चिम दिशा मे प्रवाहित होती थी। इसके बाद **पर्मियन** युग मे सर्वाधिक उत्थान होने के कारण इन अनुवर्ती नदियो ने पर्वतीय भाग को काटना प्रारम्भ किया तथा अपनी पहली घाटी को सुरक्षित रखा तथा इनकी दिशा उत्तर-पश्चिम की ओर कायम रही। वास्तव मे वर्तमान आड़ी नदियाँ (Transverse streams) पूर्ववर्ती नदियाँ ही हैं, जिन्होंने अपनी मौलिक घाटी को अत्यधिक कटाव द्वारा कायम रखा है। प्रारम्भ मे जबकि उभार नही हुआ था, इन नदियो की दिशा पश्चिम थी। तदन्तर प्रारम्भिक छोटे-छोटे मोड़ पड़ने के कारण चौड़ी अपनतियो का निर्माण हुआ। इन पर नदियो ने कटाव करके अपनी घाटी का निर्माण कर लिया। जब एक बार पश्चिम दिशा में प्रवाहित होने वाली नदियो की घाटी का निर्माण छोटे-छोटे निमित मोड़ो पर हो गया तो आगे चल कर पुन: अधिक उत्थान होने पर भी उनकी घाटियो तथा प्रवाह दिशा मे परिवर्तन नही हुए वरन् उत्थान के साथ ही साथ नदियो ने कटाव करना जारी रखा तथा अपनी पूर्ववर्ती घाटी को सुरक्षित रखा। अपने मत की पुष्टि मे विद्वानो ने दक्षिणी अप्लेशियन क्षेत्र की "**न्यूरुनावा प्रवाह क्रम**" तथा "**फ्रेन्च-ब्राड टेनेसी क्रम**" की पूर्ववर्ती प्रवाह-प्रणाली को उदाहरण स्वरूप उपस्थित किया है। ये नदियाँ **ब्ल्यूरिज पर्वत** के शिखर के पूर्व से निकलती हैं तथा समस्त अप्लेशियन पर्वत तथा अप्लेशियन पठार से प्रवाहित होकर **मिसीसीपी** मे मिल जाती है। वास्तव मे ये दक्षिण पूर्व से उत्तर-पश्चिम दिशा मे प्रवाहित होने वाली पूर्ववर्ती नदियो के ही उदाहरण है। इस प्रकार इस सिद्धान्त के अनुसार अप्लेशियन क्षेत्र के आर-पार प्रवाहित होने वाली नदियाँ का विकास अप्लेशियन क्षेत्र मे उभार होने से प्रारम्भिक अनुवर्ती नदियो के मार्ग मे परिवर्तन होने के कारण नहीं हुआ है वरन् ये प्रारम्भिक अनुवर्ती नदियाँ हीं हैं जो उत्थान के साथ कटाव करके अपनी मौलिक घाटी से होकर बहती हैं।

अनुवर्ती सिद्धान्त

(Consequent Theory of Applachian Drainage)

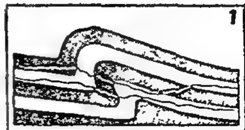
अप्लेशियन क्षेत्र की प्रवाह प्रणाली के विकास से सम्बन्धित "**पूर्ववर्ती प्रवाह सिद्धान्त**" के विषय मे कई कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती है, जिस कारण वर्तमान समय मे उपर्युक्त मकल्पना को मान्यता प्राप्त नही है। यदि प्रारम्भिक अनुवर्ती नदियो (Consequent streams) ने "**अप्लेशियन हलचल**" के बाद भी अपना दक्षिण-पूर्व से उत्तर-पश्चिम का रुख सुरक्षित रखा तथा अप्लेशियन

के आर-पार प्रवाहित होने वाली ये पूर्ववर्ती नदियाँ हैं तो अप्लेशियन के पूर्व की ओर प्रवाहित होने वाली नदियो का विकास कैसे हुआ ? इस प्रश्न का हल **"पूर्ववर्ती प्रवाह-सिद्धान्त"** से नही मिल पाता है। अत कुछ विद्वानो ने **"अनुवर्ती प्रवाह सिद्धान्त"** का प्रतिपादन किया है । इनमे प्रमुख हैं—**डेविस मेयरहोफ** तथा **ओमस्टीड** प्रभृति विद्वान।

सर्वप्रथम डेविस ने 1909 ई० मे अपने **"पेन्सिल-वेनिया की नदियाँ तथा घाटियाँ"** नामक लेख मे यह बताया कि अप्लेशियन क्षेत्र की नदियो का आविर्भाव तथा विकास भौतिक आकृतियो के ढाल के अनुसार हुआ है। इस प्रकार डेविस ने अपने **"अनुवर्ती प्रवाह-सिद्धान्त"** का प्रतिपादन किया। इन्होने वर्तमान प्रवाह-प्रणाली का स्वरूप दो रूपो मे बताया है। सर्वप्रथम **पर्मियन युग** मे 'अप्लेशियन हलचल' के समय मोडदार क्षेत्र म तीव्र गति म अचानक उत्थान हुआ, जिस कारण अप्लेशियन का मध्यवर्ती उच्चतम भाग जलविभाजक बन गया। फलस्वरूप ऊँचाई, बनावट तथा मोडो के अनुसार इस जलविभाजक के दोनो ढालो पर अनुवर्ती नदियों का आविर्भाव हो गया। तीव्र उत्थान के साथ-साथ पश्चिम दिशा म प्रवाहित होने वाली अनेक आडी नदियों की दिशा म व्यतिक्रम (Reversal) हो गया तथा य उत्तर पश्चिम म दक्षिण-पूर्व दिशा मे प्रवाहित होन लगी। इन नदियो की दिशा मे परिवर्तन के कारणो के विषय मे भी **डेविस** न उल्लेख किया है—अप्लेशियन हलचल म पहले **"अप्लेशिया"** स्थल भाग ऊँचा होने के कारण **पश्चिम वाहिनी नदियों** का उद्गम-स्थल था तथा इसकी स्थिति के कारण इसके पूर्व की ओर नदियाँ इसे पार करके प्रवाहित नही हो सकती थीं। धीरे-धीरे *अपरदन के कारण अप्लेशिया उच्चभाग नीचा हो गया* तथा **'अप्लेशियन-हलचल"** के समय अप्लेशियन पर्वत के उत्थान के कारण **"अप्लेशिया"** का अवतलन (Subsidence) हो गया, जिस कारण अप्लेशियन के मोडदार क्षेत्र व पूर्व स्थल का धँसाव होने लगा। फलस्वरूप अप्लेशियन पर्वत म पूर्व की ओर खड़े ढाल का निर्माण हो गया। यह ढाल पर्वत की ओर अधिक तथा अटलाटिक महासागर की ओर शनैः-शनैः मन्द था। इस ढाल के कारण आडी नदियो के मध्यवर्ती भाग मे व्यतिक्रम हो गया जिस कारण अप्लेशियन से पूर्व की नदियाँ अटलांटिक महासागर की ओर प्रवाहित होने लगी तथा पश्चिम की ओर मिसीसिपी क्रम मे।

यद्यपि **डेविस** का मत अधिक विश्वासजनक प्रतीत होता है तथापि इस सिद्धान्त के विषय में भी कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं। प्राय. यह तो सभी विद्वान मानते हैं कि "अप्लेशियन हलचल" के समय अप्लेशियन पर्वत का झुकाव (Tilting) पूर्व की ओर हो गया तथा पूर्व मे अवतलन भी हुआ। परन्तु समस्या यह है कि क्या इस प्रकार का झुकाव पहले से विकसित नदियो के मार्ग मे अचानक व्यतिक्रम उपस्थित कर सकता था। ऐसी परिस्थिति मे प्रायः यही होता है कि उभार होने पर भी पहले की नदियाँ अपनी घाटी को गहरा करके अपने पूर्ववर्ती मार्ग तथा घाटी को सुरक्षित रखती हैं तथा उनके मार्ग मे व्यतिक्रम होने की सम्भावना कम ही रहती है। नदियो के मार्ग मे परिवर्तन प्राय त्वरित एव बडे पैमाने पर पटलविरूपण (Diastrophism) एव उत्थान के कारण ही होता है। डेविस ने इसका उल्लेख नही किया है।

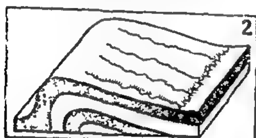
उपर्युक्त समस्याओ को ध्यान मे रखकर प्रसिद्ध विद्वान **मेयरहोफ** तथा **ओमस्टीड** (H A Mayerhoff and E W Olmstead) न सन् 1936 ई० मे नय मत का प्रतिपादन किया, यद्यपि इनके विचार भी **अनुवर्ती प्रवाह-सिद्धान्त"** पर ही आधारित थे। इनके अनुसार **पर्मियन युग** मे **"अप्लेशियन-हलचल"** के समय मोडदार क्षेत्र मे अचानक त्वरित (Rapid) एव अधिकतम उत्थान हुआ, जिस कारण मोडदार अप्लेशियन के उत्तर पश्चिम तथा पश्चिम म नये जल-विभाजक का निर्माण हुआ। इस जल-विभाजक स पूर्व दिशा मे प्रवाहित होन वाली नदियो का आविर्भाव हुआ। मेयरहोफ क अनुसार अप्लेशियन क्षेत्र के पश्चिम तथा उत्तर-पश्चिम दिशा म जल

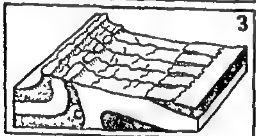


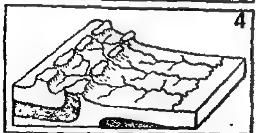
(मेयरहोफ तथा ओमस्टीड के आधार पर)
चित्र 235 – पश्चिम दिशा मे उत्क्रम भ्रंश (Thrust fault) के कारण जल-विभाजन का उ० प० दिशा मे खिसकाव।

विभाजन के खिसकने का एकमात्र कारण पश्चिम की ओर उत्क्रम भ्रंशन (Thrust-faulting) को ही बताया जा सकता है। इस तथ्य को चित्र 235 तथा 236 से भली-भांति समझा जा सकता है।

इस जल-विभाजन के पूर्वी ढाल पर नति (Dip) के सहारे अनुवर्ती नदियों का आविर्भाव हुआ जिनकी दिशा दक्षिण-पूर्व की ओर थी। यह दिशा इस कारण थी कि अप्लेशियन के उत्तर-पश्चिम से झुकाव दक्षिण-पूर्व दिशा में हुआ था। **ससक्वेहना** (Susquehanna), **पोटोमक** (Potomac), **शुइलकिल** (Schuglkill) तथा **डिलावेयर** (Deleware) नदियाँ इसके प्रमुख उदाहरण है।



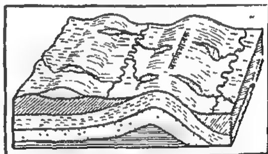


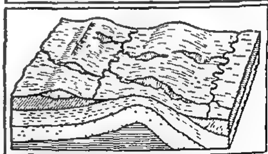


(मेयरहोफ तथा ओमस्टीड के आधार पर)
चित्र 236—जल-विभाजन के पूर्वी ढाल पर नति (Dip) के सहारे अनुवर्ती नदियों का आविर्भाव।

3. टामसन का प्रगामी सरिता-अपहरण सिद्धान्त (Progressive Piracy Theory of Thompson)

सन् 1929 ई० में प्रसिद्ध भूगर्भवेत्ता **टामसन** (H D Thompson) ने बताया कि अप्लेशियन क्षेत्र मे नदियों का वर्तमान दक्षिण-पूर्व दिशा वाला मार्ग नदियों के मार्ग मे उत्थान के कारण व्यतिक्रम (Reversal) होने के फलस्वरूप नहीं हुआ है वरन् नदियों द्वारा **प्रगामी अपहरण** (Progressive capture) के परिणामस्वरूप सम्भव हुआ है। इसी तरह अप्लेशियन जल-विभाजक का पश्चिम की ओर स्थानान्तरण (खिसकाव **Shifting**), उत्क्रम भ्रंश (Thrust fault) तथा वलन (**Folding**) के कारण न होकर इसी सरिता-अपहरण द्वारा हुआ है। **टामसन** के अनुसार दक्षिणी अप्लेशियन मे आड़ी नदियाँ केवल उन्ही भागों में पायी जाती हैं, जहाँ पर ये आन्तरिक भाग में निकलकर कम अवरोध वाले भाग को आसानी से काटकर **अटलाटिक महासागर** की ओर प्रवाहित हो सके। **टामसन** यह भी मानते हैं कि अप्लेशियन क्षेत्र का प्रारम्भिक तथा मौलिक प्रवाह-ढाल (Drainage slope) तथा प्रवाह दिशा उत्तर-पश्चिम थी। *अप्लेशियन हलचल के समय ब्लूरिज के पूर्व में स्थित अप्लेशियन के भाग का अवतलन हो गया,*





(टामसन के आधार पर)

चित्र 237—प्रगामी सरिता-अपहरण (Progressive river capture) द्वारा जल-विभाजक का पश्चिम की ओर खिसकना। ऊपर वाले चित्र में जलविभाजक का पूर्वी ढाल पश्चिम ढाल की अपेक्षा अधिक तीव्र है, अतः उस पर प्रवाहित सरिता ने पश्चिमी ढाल वाली सरिता का अपहरण कर लिया है। इस कारण जल-विभाजक (दूसरे चित्र में) प० की ओर खिसक गया है।

जिस कारण अप्लेशियन का पूर्वी ढाल और अधिक तीव्र तथा सकुचित (विस्तार मे कम) हो गया। अप्लेशियन के दोनो ढाल पर नदियाँ प्रवाहित हो रही थीं, परन्तु चूंकि पूर्वी ढाल अधिक तीव्र था अत पूर्व की ओर प्रवाहित होने वाली नदियो की अपरदन-क्षमता अत्यधिक हो गई। फलस्वरूप इन नदियो ने उद्गम की ओर कटाव करना प्रारम्भ कर दिया जिससे पश्चिमी ढाल पर प्रवाहित होने वाली नदियो का अपहरण प्रारम्भ हो गया। इस क्रमिक सरिता अपहरण के कारण अटलांटिक ढाल पर बहने वाली नदियो का विस्तार होने लगा तथा जल-विभाजक का पश्चिम की ओर स्थानान्तरण या खिसकाव (Migration) होने लगा। एक लम्बे समय तक नदियो का क्रमिक अपहरण तथा जल-विभाजक के पश्चिम की ओर हटने मे दक्षिण-पूर्व की ओर प्रवाहित होने वाली आडी नदियों का विकास हुआ। दक्षिण की अपेक्षा उत्तर मे जलविभाजकों का खिसकाव अधिक हुआ है। इसके दो प्रमुख कारण बताये जाते हैं—1 दक्षिण मे ब्ल्यूरिज का विस्तार अधिक था तथा अपरदन के लिये यह अधिक अवरोधक था। इस कारण दक्षिण मे अपहरण तथा खिसकाव अधिक नही हो पाया। 2. उत्तर मे ढाल का पूर्व की ओर झुकाव दक्षिण की अपेक्षा अधिक था जिस कारण उत्तर म नदियो की अपरदन क्षमता, दक्षिण की अपेक्षा अधिक थी। दक्षिण मे रोनोके (Roanoke) नदी ने पश्चिम की ओर 40 मील, जेम्स नदी ने 75 मील तक कटाव किया है। इसके विपरीत उत्तर मे पोटोमक नदी ने पश्चिम दिशा मे 100 मील का कटाव किया।

4 पूर्वारोपित प्रवाह-सिद्धान्त (Superimposition Drainage Theory of Applachian)

उपर्युक्त तीन सिद्धान्तो के विपरीत कुछ विद्वानो के अनुसार अप्लेशियन क्षेत्र की आडी नदियो का विकास उनकी दिशा मे परिवर्तन के कारण नही हुआ है, वरन् इनका विकास पूर्वारोपण (Superimposition) के कारण हुआ है। इस मत के अनुसार "अप्लेशियन हलचल" के समय अप्लेशियन के उत्थान होने से उसके उत्तरी भाग मे पूर्वी ढाल पर अनुवर्ती नदियो का विकास हुआ, जिनकी दिशा दक्षिण-पूर्व थी। इन नदियो की घाटियों का निर्माण द० पू० की ओर झुके हुए उत्क्षेपित मोड (Overturned folds) तथा उत्क्रम-भ्रंश (Thrust fault) के ढालों पर नति (Dip) के सहारे हुआ था अर्थात् मोडो के ऊपरी भाग पर नदियो ने अपनी घाटी का निर्माण उत्तर-पश्चिम से दक्षिण-पूर्व दिशा मे कर लिया। कटाव के बाद इन नदियों की घाटियो का विकास भली-भांति मोडो के ऊपर हो गया था। जब अपरदन के कारण धरातल नीचा होकर पेनीप्लेन बन गया तथा पुन उसमे उभार हुआ तो पूर्व दिशा की ओर प्रवाहित होने वाली प्रारम्भिक नदियो का आरोपण उत्थित भाग पर हो गया। चूंकि अप्लेशियन हलचल के ठीक बाद ही दक्षिण-पूर्व दिशा मे नदियों की घाटियों का निर्माण हो गया था, अत कई बार पेनीप्लेनशन तथा उत्थान होने के बावजूद भी इन नदियो का मार्ग दक्षिण-पूर्व ही रहा क्योकि इनकी घाटियो का आरोपण निचले मोड पर पहले ही हो गया था। पेन्सलवेनिया की नदियो की व्याख्या के समय डेविस ने भी कुछ हद तक नदियो के पूर्वारोपण को स्वीकार किया है। कुछ विद्वान स्थानीय पूर्वारोपण (Local Superimposition) मानते हैं, जबकि कुछ लोग व्यापक पूर्वारोपण को स्वीकृति प्रदान करते हैं।

अटलांटिक ढाल पर दक्षिण पूर्व दिशा मे प्रवाहित होने वाली नदियों के विषय मे एक और सम्भावना प्रस्तुत की जा सकती है। स्कूली पेनीप्लेन (Schooley Peneplain) के पहले अटलांटिक महासागर का क्रम से कम उत्तरी अप्लेशियन क्षेत्र मे प्रसार अवश्य हुआ होगा। इतना ही नही अप्लेशियन का उत्तरी भाग अधिक समय तक सागर के नीचे रहा होगा, जिस कारण लम्बे समय तक उस भाग पर सागरीय अवसाद (Marine sediments) का जमाव होता रहा। तदन्तर जब सागर पीछे की ओर लौटने लगा होगा तो सागर से मुक्त अप्लेशियन पर (जिस पर अत्यधिक सागरीय अवसाद का जमाव हो गया था) छोटी-छोटी अनुवर्ती नदियों का आविर्भाव हुआ होगा। पुन जबकि अप्लेशियन का पूर्व तथा दक्षिण पूर्व की ओर झुकाव (Tilt) हुआ होगा तो दक्षिण-पूर्व दिशा मे प्रवाहित होन वाली नदियों का विकास हुआ होगा। नदियो ने सागरीय जमाव मे चट्टान के मुलायम होने के कारण अत्यधिक कटाव करके अपनी घाटी का निर्माण कर लिया होगा तथा जब समस्त नवीन तथा मुलायम चट्टान का कटाव हो गया होगा तो नदियों की घाटी का आरोपण (Superimposition) नीचे की मोडदार और कठोर चट्टानों पर हो गया होगा। अप्लेशियन मे पुन उत्थान होने पर भी इनकी दिशा पूर्ववत रही होगी क्योंकि इनकी घाटी का आरोपण निचली चट्टानों पर पहले ही हो गया था। इस प्रकार से अप्लेशियन क्षेत्र की आडी नदियो (पूर्व की ओर प्रवाहित होने वाली)

का आविर्भाव एवं विकास हुआ माना जा सकता है। प्रसिद्ध **भूगर्भवेत्ता जानसन** इस परिकल्पना के प्रमुख प्रवक्ता हैं। वास्तव में यह सम्भावना **"पूर्वारोपण प्रवाह-सिद्धान्त"** का ही एक रूप है। इसमें व्यापक पूर्वारोपण को महत्त्व प्रदान किया गया है।

उपसंहार—लेखक के विचारानुसार अप्लेशियन क्षेत्र की समग्र प्रवाह-प्रणाली को एक ही सिद्धान्त अथवा परिकल्पना द्वारा सिद्ध करना न्यायसंगत नहीं जान पड़ता। यह आवश्यक नहीं है कि अप्लेशियन क्षेत्र की सभी नदियाँ एक ही क्रम के अनुसार तथा नियमानुसार उद्भूत हुई हों। हो सकता है कि कुछ नदियाँ (वास्तव में) पूर्ववर्ती (Antecedent) नदियाँ हों। उदाहरण लिये **फ्रेन्च ब्राड टेनेसी क्रम** (French Broad-Tennessee System) *निश्चय ही एक पूर्ववर्ती नदी का उदाहरण जान पड़ता है।* लेखक की सम्भावना अनुवर्ती प्रवाह-सिद्धान्त के विषय में अधिक है। अप्लेशियन के उत्थान के बाद उसके दोनों ढालों पर अनुवर्ती नदियों का विकास हुआ होगा। उन आड़ी नदियों के विषय में जो कि पर्वत की बनावट के आर-पार अथवा समस्त *अप्लेशियन से होकर बनावट की आड़ी दिशा में प्रवाहित* होती हैं, लेखक कह सकता है कि उनका आविर्भाव सरिता-अपहरण द्वारा हुआ होगा। पूरे अप्लेशियन क्षेत्र में इस प्रकार के अनेक सरिता-अपहरण के लक्षण पाये गये हैं, जिनके प्रमुख प्रमाण विस्तृत **विण्ड गैप** तथा **वाटर गैप** हैं। लेखक इसका एक प्रमाण यह भी उपस्थित कर सकता है कि अधिकांश आड़ी नदियाँ सीधे मार्ग से होकर प्रवाहित नहीं होती हैं वरन् अपने रास्ते में कठोर शैल वाले भागों को बचाकर चलती हैं। ये केवल पर्वत-श्रेणियों के उस भाग को पार करके प्रवाहित होती हैं, जहाँ पर चट्टानें मुलायम हैं तथा जिन्हें ये नदियाँ आसानी से काट सकें। इस प्रकार तीव्र ढाल तथा मुलायम चट्टान वाले भागों की नदियों ने उद्गम की ओर कटाव (Headward erosion) करके कड़ी चट्टान वाली नदियों का अपहरण कर लिया। इस क्रिया के लम्बे समय तक कार्यान्वित होते रहने से वर्तमान आड़ी नदियों का विस्तार हुआ माना जाना चाहिए। लेखक के उपर्युक्त विचार को **"अप्लेशियन की प्रवाह प्रणाली का कम्पोजिट सिद्धान्त"** के रूप में समझना चाहिए।

अध्याय 19

नदी-घाटी का विकास

(Development of a River Valley)

सामान्य परिचय—घाटी शब्द का तात्पर्य शीघ्र ही एक नदी की घाटी से हो जाता है। क्योंकि इसकी स्थिति भूपृष्ठ पर सर्वाधिक है। साधारण तौर पर घाटियों का अर्थ नदी की ही घाटी से लिया जाता है परन्तु सतह पर कई ऐसी भी घाटियाँ हैं जिनका निर्माण या तो नालों आदि से हुआ है या रचनात्मक प्रक्रियाओं खासकर पटल-विरूपण (Diastrophism) द्वारा। सामान्य तौर पर घाटी को हम बहते हुए जल द्वारा निर्मित विभिन्न आकारवाले ऋणात्मक स्थलरूप (Negative land forms) कह सकते हैं। परन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि धरातल की सभी घाटियाँ नदियों द्वारा ही निर्मित हैं। घाटियों के निर्माण में भाग लेने वाले कारण या प्रक्रम के आधार पर उन्हें कई भागों में विभक्त किया जा सकता है। उदाहरण के लिए बहते हुए जल द्वारा निर्मित घाटी को—1 सामान्य घाटी या केवल घाटी या नदी घाटी कह सकते हैं। 2 कुछ घाटियों का निर्माण हिमानी द्वारा भी होता है। इन्हें **हिमानी घाटी** कहा जाता है। 3 कुछ घाटियों का निर्माण भूपृष्ठीय हलचल या पटलविरूपण द्वारा होता है जैसे भ्रंश द्वारा या स्थलखण्ड द्वारा। इन्हें **रचनात्मक घाटी** (Constructional valleys) कहते हैं। उदाहरण के लिए **'डेथ वैली', 'कैलीफोर्निया की महान घाटी'** (The Great Valley), **'जार्डन की घाटी'** तथा **'कश्मीर की घाटी'**। अन्तिम *घाटी का महत्व स्थानीय है तथा उससे किसी अपरदनात्मक* एवं उससे उत्पन्न होने वाली स्थलाकृति का बोध नहीं होता है। द्वितीय प्रकार की घाटी के उल्लेख के समय उसके निर्माणक साधन अर्थात् प्रक्रम का अवश्य उल्लेख होना चाहिए। इसके विपरीत जब कभी सिर्फ 'घाटी' शब्द का अकेले ही प्रयोग होता है तो उसका तात्पर्य निश्चय ही नदी घाटी से होता है। अतः लेखक अगले पृष्ठों में घाटी का इसी अर्थ में प्रयोग करेगा। नदी-घाटी का विभाजन कई रूपों में प्रस्तुत किया जा सकता है परन्तु इसका उल्लेख अगले पृष्ठों में ही सम्भव हो सकेगा। यदि एक नदी विशेष को लिया जाय तो उसकी एकाकी घाटी को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। **प्रथम, अनुदैर्ध्य घाटी** (Longitudinal valley)—इसमें नदी घाटी का उसके मुहाने (Mouth) से लेकर शीर्ष या उद्गम स्थल तक के भाग को सम्मिलित किया जाता है। वास्तव में यह लम्बात्मक मार्ग होता है। **द्वितीय, अनुप्रस्थ घाटी** (Transverse valley)—इसमें नदी की घाटी की चौड़ाई अर्थात् एक दूसरे किनारे तक के भाग का अध्ययन किया जाता है। यदि नदी की घाटी का एक चित्र या पार्श्वचित्र (Cross section) खींचा जाय तो उसे नदी की परिच्छेदिका (Profile of river) कहते हैं। नदी की घाटी के सामान्य रूप के अनुसार परिच्छेदिका भी **अनुदैर्ध्य** तथा **अनुप्रस्थ** (Longitudinal profile and transverse profile) दो प्रकार की होती है। नदी की घाटी के विकास में दोनों परिच्छेदिकाओं का अध्ययन आवश्यक है। वास्तव में अनुदैर्ध्य परिच्छेदिका में नदी के ढाल का अध्ययन किया जाता है। इसके विपरीत अनुप्रस्थ परिच्छेदिकाओं से घाटी की चौड़ाई एवं गहराई का प्रदर्शन होता है।

अपरदन की क्रियाओं द्वारा नदी सतत अपनी घाटी का विकास एवं विस्तार करती रहती है। नदी की घाटी में दो तरह का विस्तार सम्भव हो सकता है। प्रथम रूप में घाटी का **गहरा होना** (Valley deepening) तथा दूसरे रूप में घाटी का **चौड़ा होना** (Valley widening) ये दोनों क्रियायें साथ-साथ भी चल सकती हैं परन्तु दोनों में से एक ही क्रिया एक साथ अधिक सक्रिय रहती है। अब हम घाटी के विकास के सामान्य रूप का अवलोकन करेंगे।

घाटी-विकास के सामान्य रूप (Forms of Valley Development)—घाटी का रूप, जिसे हम वर्तमान समय में देखते हैं (जैसे गंगा की घाटी, यमुना की घाटी) अचानक प्राप्त नहीं हो गया है वरन् कई अवस्थाओं में, कई रूपों में हुआ है। घाटी के विकास में अपरदन के साथ ही साथ अपक्षय का भी पर्याप्त महत्व होता है। धरातल पर जैसे ही वर्षा का जल आता है, वह ढाल के अनुसार बहने लगता है जिसे **वाही जल** (Run off) कहते हैं। यदि समस्त भूपृष्ठीय धरातल एक समान भाग होता तो वाही जल एक चादर के रूप में विस्तृत क्षेत्र में फैलकर बहता तथा किसी नदी घाटी का विकास न हो पाता। परन्तु पृथ्वी का धरातल सर्वत्र एक सा नहीं है वरन् स्थान-स्थान पर असमानतायें मिलती हैं। इस

तरह के असम भाग मे बाही जल क्षुद्र सरिता (Rills) का रूप धारण कर लेता है, जिससे छोटी-छोटी नालियो का विकास हो जाता है। ये ही नालियां अपरदन के विभिन्न रूपो द्वारा कई अवस्थाओ मे होकर नाले तथा छोटी-बड़ी नदियों का रूप धारण कर लेती हैं। प्रारम्भ मे इनकी घाटियाँ अत्यधिक तंग होती हैं परन्तु अन्तिम अवस्था मे अत्यधिक विस्तृत हो जाती है। उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि नदी-घाटी के आविर्भाव के लिये पर्याप्त बाही जल और असमतल अर्थात् ढाल का होना आवश्यक है। नदी एव घाटी का प्रयोग प्राय समानार्थक शब्दो के रूप मे किया जाता है। अर्थात् घाटी से नदी तथा नदी से घाटी का बोध हो जाता है। इसी आधार पर तरुण, प्रौढ़ एवं जीर्ण नदियो के साथ क्रमश. तरुण, प्रौढ एव जीर्ण घाटियों का अर्थ लिया जाता है, परन्तु यह आवश्यक नही है कि तरुण नदी की घाटी तरुण ही होगी और प्रौढ घाटी की नदी प्रौढ ही होगी। कभी-कभी प्राचीन घाटी के अन्तर्गत तरुण अवस्था वाली नदी पायी जाती है। ऐसी स्थिति प्राय. नवोन्मेष के समय (घाटी के अन्दर घाटी) होती है। इस तरह घाटी का सम्बन्ध समय से नही है वरन् उसके विकास की निश्चित अवस्था की प्रमुख विशेषताओ से है। अब घाटियों के विकास के विभिन्न रूपो का विस्तार के साथ उल्लेख किया जायेगा। इस विषय मे तीन तथ्यो को ध्यान मे रखना होगा—**प्रथम**, यह कि घाटी की तली का निम्न कटाव द्वारा विस्तार होता है। **द्वितीय**, यह कि घाटी की चौडाई का क्षैतिज अपरदन (Lateral erosion) द्वारा विस्तार होता है और **अन्तिम**, यह कि नदी के मार्ग का लम्बात्मक रूप मे विस्तार नदी द्वारा **शीर्ष-अपरदन (Headward erosion)** एवं **मुख अपरदन** (Seaward erosion) से होता है। उपर्युक्त आधार पर नदी के विकास के तीन रूपो को अलग किया जा सकता है—

(1) घाटी का गहरा होना
(2) घाटी का चौडा होना
(3) घाटी का लम्बा होना

1. घाटी का गहरा होना (Valley Deepening)

घाटी के निर्माण की प्रारम्भिक अवस्था उसके गहरा होने की होती है, अर्थात् सर्वप्रथम घाटी के विकास की प्रथम अवस्था मे उसका निम्न कटाव द्वारा उसकी गहराई बढ़ती जाती है। इस क्रिया को **'घाटी का गहरा होना'** कहते है। ऊर्ध्वाकार या लम्बवद् अपरदन द्वारा घाटी का तल कट कर निरन्तर गहरा होता जाता है। यह लम्बवत् अपरदन, अपघर्षण (Corrasion), निम्न कटाव तथा अपक्षय की क्रियाओ द्वारा सम्पन्न होता है। घाटी के गहरा होने मे कोणिक पत्थर के टुकडो (Angular stone particles) का महत्त्व कम नही होता है। जिस तरह बढई का वर्मा (Drill) चक्करदार गति के कारण छेद करता जाता है, उसी प्रकार ये कोणिक पत्थर के टुकडे भँवर (Eddy) के रूप मे चक्कर लगाते हुए घाटी की तली मे गड्ढा करते है, जिसे **जलगर्तिका** (Pot holes) कहते है। जलगर्तिका की स्थिति से घाटी की गहराई मे पर्याप्त वृद्धि होती रहती है। इस तरह कुल मिला कर घाटी का गहरा होना—जलगति-क्रिया (Hydraulic action), तली का अपघर्षण (Corrasion of valley floor), जलगर्तिका के रूप मे छेदन (Pot hole drilling), घोलीकरण (Solution) तथा अपक्षय की सम्मिलित क्रियाओ द्वारा होता है। इसके साथ ही साथ कई अन्य कारक भी घाटी के गहरा होने मे सहयोग करते है। उदाहरण के लिये—

1. यदि नदी-मार्ग का ढाल तीव्र होगा तो निम्न कटाव की अधिकता से घाटी गहरी होती जायेगी।

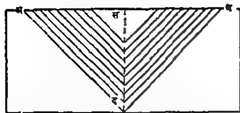
2 यदि धारा-मार्ग की समीपी शैल मुलायम है तो निम्न कटाव अधिक होगा, अन्यथा कड़ी शैल होने पर घाटी का गहरा होना मन्द गति से सम्पन्न होगा।

3 यदि जल की मात्रा अधिक है तो प्रवाह-गति तेज होने से घाटी का निम्न कटाव अधिक होता है।

4. यदि नदी-मार्ग का उत्थान शनै-शनै होता है (उत्थान की दर, अपरदन की दर से कम हो) तो अत्यन्त गहरी घाटी का निर्माण होता है। सिन्धु ने हिमालय को काटकर 17,000 फीट गहरी घाटी का निर्माण किया है।

नदी अपनी प्रारम्भिक अवस्था मे घाटी को इस तरह गहरा करती है कि उसका आकार अंग्रेजी V अक्षर के समान होता है। घाटी के विकास की प्रारम्भिक अवस्था (गहरा होने की प्रारम्भिक अवस्था) मे यह अत्यन्त सकरी होती है। इस प्रकार की घाटी को **कन्दरा या गार्ज (Gorge)** कहा जाता है। जैसे-जैसे निम्न कटाव बढता जाता है, घाटी की गहराई बढती जाती है तथा उसका आकार चौडा होता जाता है। चित्र 238 द्वारा घाटी के क्रमिक गहरा होने की क्रिया को स्पष्ट किया गया है।

उपर्युक्त तथ्यो के आधार पर यह प्रकट होता है कि इस अवस्था मे घाटी का गहरा होना, उसके चौडा होने



चित्र 238—नदी घाटी का गहरा होना।

मे अधिक सक्रिय होता है, परन्तु इसे एक नियम का रूप नही दिया जा सकता है, क्योकि तरुणावस्था मे भी नदी की घाटी का चौडा होना नगण्य नही होता है। अन्तर केवल इतना ही है कि यदि घाटी का गहरा होना अपरदन द्वारा सम्पन्न होता है तो घाटी का चौडा होना अपक्षय अवपातन (Slumping) तथा चादर घुलन (Sheet-wash) द्वारा होता है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि तरुणावस्था मे नदी के गहरा होने का कार्य तीव्र गति से होता है, परन्तु यह घाटी के चौडा होने की दर से अधिक नही होता है। उदाहरण के लिये यदि हम किसी भी V आकार की घाटी का अनुप्रस्थ पार्श्व-चित्र (Transverse cross section) लें तो निश्चय ही उसके ऊपरी भाग पर घाटी की चौडाई, उसकी गहराई से अधिक होती है।

उदाहरण के लिय ग्राण्ड कैनियन को लिया जा सकता है जिसके ऊपर की चौडाई 24 किलोमीटर है और घाटी की गहराई केवल 1 6 किलोमीटर ही है। परन्तु इसे भी एक नियम के रूप मे नही लिया जा सकता है अर्थात् यह सदैव आवश्यक नही है कि तरुणावस्था या पर्वतीय भाग में घाटी की चौडाई उसकी गहराई से अधिक ही होती है। जहाँ पर चट्टानो के लम्बवत् स्तर पाये जाते है एव यदि वे अपक्षय के लिये प्रतिरोधक है तो नदियाँ अत्यधिक गहरी घाटियो का गार्ज के रूप मे निर्माण-कर लेती हैं जिनमें घाटियो की गहराई निश्चय ही उनकी चौडाई से अधिक होती है। पहाडी भागो मे अनेक ऐसे उदाहरण हैं (सिन्धु तथा सतलज नदी का गार्ज) जिनमे नदियों ने कई किमी० गहरे गार्ज का निर्माण किया है। इन गहरी तथा तंग घाटियो मे किनारे वाली दीवालो के ढाल अत्यन्त तीव्र होते है।

2 घाटी का चौडा होना (Valley Widening)

घाटी का चौडा होना यद्यपि प्रारम्भिक अवस्था से ही प्रारम्भ हो जाता है परन्तु यह नदी की प्रौढावस्था मे ही अधिक सक्रिय होता है जब कि नदी की घाटी का गहरा होना कम हो जाता है। नदी की चौडाई का विस्तार दो रूपो मे होता है। प्रथम रूप में घाटी के किनारे कटते जाते है और उसकी ऊपरी चौडाई बढती जाती है। द्वितीय रूप मे घाटी की तली की भी चौडाई बढती जाती है। ये दोनो क्रियायें प्राय साथ-साथ चलती रहती हैं। घाटी के निम्न कटाव मे ह्रास के बाद भी नदी मे इतना मलवा होता है तथा नदी मे इतनी सामर्थ्य होती है कि उसका परिवहन कर सके। यह स्थिति प्रौढावस्था की होती है। नदी का निम्न कटाव मन्द पड जाता है और क्षैतिज कटाव सक्रिय हो जाता है। फलस्वरूप घाटी की चौडाई मे शनै-शनै विस्तार होने लगता है। घाटी के चौडा होने की क्रिया निम्न रूपो मे सम्पन्न होती है 1 क्षैतिज अपरदन घाटी को चौडा करने मे सर्वाधिक सहयोग प्रदान करता है। नदी का बहता हुआ जल घाटी के किनारो के निचले भाग मे अपघर्षण (Corrasion or abrasion) तथा जलगति-क्रिया (Hydraulic action) द्वारा मलवा को अलग करने लगता है। इस क्रिया के कारण घाटी के किनारे तीव्र ढाल वाले हो जाते हैं क्योंकि निचले भाग मे अध -कर्तन (Under cutting) द्वारा दीवालों मे विलफ का निर्माण हो जाता है। इस स्थिति के कारण किनारे टूट-टूट कर गिरते रहते है। इस प्रकार के अवपातन (Slumping) द्वारा निरन्तर घाटी के किनारे टूटते रहते है तथा पीछे हटते रहते है जिससे घाटी की चौडाई मे निरन्तर विकास होता है। यद्यपि इस क्रिया की सक्रियता घाटी के विकास के किसी भी अवस्था मे हो सकती है परन्तु यह प्रौढावस्था एव जीर्णावस्था मे सर्वाधिक सक्रिय होती है, क्योंकि इन अवस्थाओ मे घाटी का निम्न कटाव एक तरह से समाप्त ही हो गया रहता है। अत क्षैतिज पार्श्ववर्ती अपरदन ही अधिक सक्रिय रहता है। 2. बहता हुआ जल बिना किसी अन्य साधन (कंकड-पत्थर आदि) के घाटी के किनारो को घुलाता हुआ चलता है। इस क्रिया के फलस्वरूप घाटी के किनारे कमजोर होकर शनै-शनै कटते रहते हैं। इस क्रिया को चादर-घुलन (Sheet-wash) कहते है। 3 नदी-घाटी के समीपवर्ती भागो से वर्षा का जल घाटी मे एकत्र होता रहता है जिस कारण घाटी के किनारे वाले भाग मे अनेक अवनलिकायें (Gullies) बन जाती है। इन नालियों द्वारा घाटी के किनारे का ढाल कटता जाता है, जिससे घाटी की चौडाई बढती है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि घाटी की चौडाई मे यह कारक कम महत्त्व रखता है। 4 अपक्षय की क्रिया

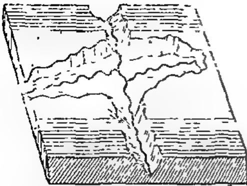
प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से घाटी के चौड़ा होने मे सहयोग देती है। जब घाटी के किनारे खड़े ढाल वाले होते हैं तो अपक्षय द्वारा विघटित तथा वियोजित पदार्थ चट्टान-चूर्ण के रूप मे ढाल के सहारे नीचे सरकते रहते हैं जिससे घाटी का किनारा टूट-टूट कर गिरता रहता है एव घाटी चौड़ी होती रहती है। 5 मुख्य नदी मे उसकी कई सहायक नदियाँ मिलती हैं। इस मिलन स्थल (सगम) पर घाटी की दीवालो पर दो दिशाओ से प्रहार होने है, जिससे किनारे टूट कर गिरने लगते हैं और घाटी की चौडाई बढ़ने लगती है। कभी-कभी मुख्य नदी एव सहायक नदी के दोआब (Interfluves) का क्षैतिज कटाव द्वारा ह्रास होने से दोनो की घाटियाँ मिल जाती हैं और नदी-घाटी अत्यन्त चौड़ी हो जाती है। 6 नदी-विसर्प के द्वारा घाटी के चौड़ा होन का कार्य जीर्णावस्था मे सर्वाधिक सक्रिय होता है। इस अवस्था मे पहुँचने पर ढाल म अत्यन्त कमी आ जाती है, फलस्वरूप नदी की प्रवाह गति एव परिवहन-सामर्थ्य मन्द पड जाती है। नदी विसर्पों मे होकर बल खाती हुई बड़े-बड़े मोडो से होकर प्रवाहित होती है। नदी-मार्ग मे इस तरह कई विसर्प का आविर्भाव हो जाता है जो कि **स्कंध (Spur)** द्वारा अलग होते है। प्रत्येक विसर्प मे दो ढाल या किनारे होते है—**अवतल ढाल वाला किनारा और उत्तल ढाल वाला किनारा**। अवतल किनारे पर अपरदन अधिक होता है क्योंकि नदी की धारायें सीधे अवतल किनारे मे टकराती हैं। फलस्वरूप मिट्टी कट कर गिरती रहती है तथा **क्लिफ (Cliffs)** का निर्माण होता है। इस ढाल को **क्लिफ ढाल (Cliff-slope)** कहते हैं। इसके विपरीत उत्तल किनारे पर नदी की धारायें मन्द गति मे पहुँचती हैं अत अपरदन कम होता है और निक्षेप अधिक होता है। ढाल मन्द होता है। इसे **स्कंध (विसर्पित) ढाल (Slip off-slope)** कहते हैं। अवतल किनारे के तीव्र ढाल के कारण उसे **कगारी ढाल (Escarpment slope)** भी कहा जाता है। धीरे-धीरे विसर्प का आकार बढ़ता जाता है तथा अत्यधिक घुमावदार हो जाता है। अवतल किनारे पर स्पर का कटाव होता रहता है तथा एक समय ऐसा आता है जबकि स्पर अधिक नुकीले हो जाते हैं तथा घाटी के दोनों किनारों पर तीव्र **क्लिफ** का निर्माण हो जाता है। बाढ़ के समय मे किनारे जलमग्न हो जाते हैं जिससे बाढ़ के मैदान का विकास होता है। निश्चय ही इस बाढ़ के मैदान द्वारा घाटी की चौड़ाई बढ़ती जाती है।

इस तरह हम देखते हैं कि घाटी के विकास की कई अवस्थाये होती है, जिनमे निम्न कटाव तथा क्षैतिज कटाव क्रम से अग्रसर होते हैं। परन्तु यह एक सैद्धान्तिक रूप है। अनेक परिस्थितियों मे घाटी के विकास मे सलग्न क्रियाओ के तारतम्य मे अव्यवस्था उपस्थित हो सकती है। उदाहरण के लिये यदि पर्याप्त वर्षा न हो पाये तो नदी के चौड़ा होने की क्रिया रुक सकती है। परिणामस्वरूप नदी-घाटी अपने विकास की तरुणावस्था मे अधिक समय तक रह सकती है। **ग्राण्ड कैनियन** इसका प्रमुख उदाहरण प्रस्तुत करता है। कोलोरेडो नदी अपने उद्गम-स्थल मे वर्षा द्वारा जल पाती है परन्तु रास्ते मे एरिजोना का मरुस्थल पड़ता है जहाँ पर वर्षा से जल नहीं मिल पाता है। अत एक लम्बी दूरी तक नदी की घाटी का चौड़ा होना स्थगित रहता है।

नदी की घाटी की अनुप्रस्थ परिच्छेदिका का सामान्य रूप से बहुत कुछ **संरचनात्मक नियन्त्रण (Structural control)** द्वारा भी निर्धारित होता है। प्राय घाटी की अनुप्रस्थ परिच्छेदिका (Cross profile) मे **असममिति (Asymmetry)** होती है। इसके कई कारण बताये जा सकते हैं।

1 सर्वप्रथम सरचना का प्रभाव (कई रूपों मे) होता है। उदाहरण के लिये यदि कोई स्थलखण्ड कठोर एव मुलायम शैल का बना हुआ है तो कठोर शैल वाले भाग मे घाटी खड़े ढाल वाली तथा अधिक गहरी होगी। इसके विपरीत मुलायम शैल वाले भाग मे घाटी कम ढाल वाली खुली और चौड़ी होगी। यदि यह स्थिति एक साथ (अर्थात् एक कठोर शैल के तुरन्त बाद मुलायम शैल भाग तथा पुन कठोर शैल भाग हो) हो तो घाटी का गहरा तथा सँकरा रूप और खुला तथा विस्तृत रूप एक साथ विकसित हो सकता है। चित्र 239 से यह स्पष्ट हो जाता है।

2 असममित अनुप्रस्थ घाटी मे सरचनात्मक नियन्त्रण का प्रभाव **संरचनात्मक सोपानों (Structural benches)** मे स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। यदि घाटी मे कठोर तथा मुलायम चट्टानो के स्तर क्षैतिज रूप मे **एकान्तर क्रम** से (Alternately) बिछे हों (अर्थात् एक कठोर शैल-स्तर के बाद मुलायम शैल स्तर, पुन कठोर शैल-स्तर आदि) तो मुलायम चट्टाने शीघ्र कट जाती हैं, परन्तु प्रतिरोधी चट्टानें निकली रहती हैं। इस तरह सीढ़ीनुमा घाटी का निर्माण होता है। इसे **घाटी सोपान (Valley benches)** कहते हैं। यह स्थिति



चित्र 239—नदी-घाटी के विकास मे शैल (सरचना) का प्रभाव । समानान्तर रेखायें कठोर शैल को तथा बिन्दुदार भाग कोमल शैल को प्रदर्शित करते है ।

स्थानीय होती है तथा लम्बी दूरी तक सम्भव नही होती है । कभी-कभी ये सोपान घाटी के एक किनारे पर हो सकते है तथा दूसरे पर नही भी हो सकते है । सरचनात्मक सोपानो को जलोढ वेदिकाओं ((Alluvial terraces) से अलग ही समझना चाहिये, क्योकि प्रथम मे एक मात्र सरचना का ही नियन्त्रण रहता है, जबकि दूसरे मे नदी के नवोन्मेष आदि का प्रभुत्व होता है ।

3 भ्रशन की क्रिया द्वारा घाटी के किनारो मे असमानता आ जाती है । उदाहरण के लिये दरार के कारण यदि घाटी के किनारे पर कडी शैल की उपस्थित हो गई है तथा उसके सामने अर्थात् दूसरे किनारे पर मुलायम शैल है तो कठोर शैल वाले किनारे की अपेक्षा मुलायम शैल वाले किनारे का अपरदन अधिक होगा तथा घाटी की अनुप्रस्थ परिच्छेदिका मे असमानता आ जाती है ।

4 जब किसी स्थल-खण्ड मे चट्टानो क स्तर का झुकाव समान कोण पर होता है तो उसे **समनतीय संरचना** (Uniclinal or homoclinal structure) या **एकदिग्नत संरचना** कहते है । इस प्रकार की सरचना का



चित्र 240—सरचनात्मक सोपान (Structural Benches) ।



चित्र 241 – जलोढ वेदिका (Alluvial Terraces)

प्रभाव खासकर जब घाटी सरचना के नति लम्ब (Strike) के समानान्तर होती है तो घाटी की अनुप्रस्थ परिच्छेदिका के रूप पर अधिक होता है । जब ऐसी सरचना पर घाटी का विकास होता है तो निरन्तर घाटी का स्तर की नति (Dip of the beds) के सहारे क्रमश नीचे की ओर स्थानान्तरण होता रहता है । इस प्रकार घाटी का एक किनारा मन्द ढाल वाला तथा दूसरा किनारा तीव्र ढाल वाला होता है । इस क्रिया को (अर्थात् नति के सहारे घाटी के नीचे खिसकने की क्रिया) "समनतीय स्थानान्तरण" या 'एकदिग्नत स्थानान्तरण '[1] (Uniclinal or homoclinal shifting) कहते है ।

5 घाटी की अन्तिम अवस्था मे नदी-विसर्प के ढालो पर असमान अपरदन के कारण अनुप्रस्थ परिच्छेदिका के रूप पर अधिक प्रभाव होता है । उदाहरण के लिए नदी-विसर्प के दो विपरीत किनारो—अवतल तथा उत्तल—पर असमान अपरदन होने स घाटी का स्वरूप असमान होता है ।

6 यदि घाटी का विस्तार पूर्व पश्चिम दिशा मे है अर्थात् यदि एक किनारा दक्षिण दिशा की ओर और दूसरा उत्तर दिशा की ओर है तो जलवायु सम्बन्धी विभिन्नता के कारण दोनो ढालो पर अपरदन तथा अपक्षय असमान होगा जिससे घाटी के दो ढालो मे पर्याप्त असममिति होगी ।

3 घाटी का लम्बा होना (Lengthening of Valley)

उपर्युक्त दो विधियो मे घाटी को गहराई तथा चौडाई मे विकास की विभिन्न प्रक्रियाओ का उल्लेख किया गया है । नदी न केवल अपनी घाटी को गहरा तथा चौडा करती है, वरन् वह अपने मार्ग मे लम्बात्मक

1. समनतीय (Uniclinal or Homoclinal) के लिए केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रकाशित 'विज्ञान शब्दावली" मे "एकदिग्नत" शब्द का प्रयोग किया गया है। समनतीय अर्थात् समान झुकाव वाले, दोनो शब्द समानार्थक ही है ।

विस्तार भी करती है। प्रत्येक वर्तमान नदी अपने आविर्भाव-काल मे इतनी ही लम्बी नही थी। नदियों का वर्तमान रूप उनका विकसित रूप है न कि मौलिक। नदी की घाटी का लम्बात्मक विकास कई रूपो मे सम्पन्न होता है।

(i) घाटी के लम्बा होने की क्रिया नदी द्वारा **शीर्ष-अपरदन** से अधिक प्रभावित होती है। यह तो निश्चित ही है कि नदियाँ ऊँचे ढालो से निकल कर निचले ढाल की ओर प्रवाहित होती है। इस स्थिति के कारण ऊपरी घाटी का ढाल अधिक होता है। इस भाग मे नालो आदि का जल खड्डो (Ravines) से होकर नदी मे आता है। अपक्षय तथा अवपातन (Slumping) के कारण खड्डो का शीर्ष कटकर विस्तृत होता रहता है जिस कारण नदी की लम्बाई पीछे की ओर अर्थात् उद्गम की ओर बढती जाती है। यदि घाटी के शीर्ष भाग पर जलस्रोत या चश्मो का आविर्भाव होता है तो घाटी शीर्ष भाग की ऊपरी शैल जल से सपृक्त हो जाती है। घोलीकरण की क्रिया द्वारा घुलनशील पदार्थ घुलकर अलग हो जाते हैं, जिस कारण चट्टान वियोजित होकर जलस्रोत वाले भाग मे अवपातन के रूप मे नीचे सरकने लगती है। इससे घाटी का शीर्ष ढाल अधिक खडा हो जाता है। परिणामस्वरूप और अधिक अवपातन होने से घाटी का शीर्ष पीछे की ओर हटता जाता है। इसका तात्पर्य यह नही है कि भूपटल की समस्त वर्तमान नदियाँ अपनी प्रारम्भिक छोटी अवस्था से शीर्ष-अपरदन की क्रिया से अपनी वर्तमान लम्बाई को प्राप्त हुई है। यह क्रिया छोटी नदियों के पक्ष मे अधिक लागू होती है। खासकर मुख्य नदी की सहायक नदियाँ शीर्ष-अपरदन द्वारा अपनी लम्बाई का विकास कर लेती हैं।

(ii) शीर्ष अपरदन द्वारा सरिता-अपहरण की क्रियायें प्राय होती रहती है। जब एक सक्रिय नदी या उसकी सहायक नदी दूसरी कम सक्रिय नदी या उसकी सहायक नदी का शीर्ष अपरदन द्वारा अपहरण कर लेती है तो निश्चय ही अपहरणकर्त्ता (Captor) नदी की लम्बाई बढ जायेगी।

(iii) नदी अपनी अन्तिम अवस्था मे अर्थात् पेनीप्लेन पर प्राय समतल भाग होने के कारण बडे-बडे मोडो मे विसर्प बनाकर प्रवाहित होती है। इससे घाटी अत्यन्त घुमावदार हो जाती है। फलस्वरूप घाटी की वास्तविक लम्बाई मे विस्तार हो जाता है। सरसरी निगाह से देखने पर विसर्प वाली नदी की लम्बाई का आभास नही हो सकता है, जब तक कि उसके घुमावों या विसर्पो की लम्बाई का पता न लगाया जाय। नदी की घाटी की चौडाई की अपेक्षा एक विसर्प की त्रिज्या की लम्बाई 15 से 18 गुना अधिक होती है।

(iv) यदि सागर-तट के पास कुछ सागरीय स्थान का निर्गमन हो जाय तो नदी शीघ्र उसे काट करके अपना मार्ग नये सागर तट तक बना लेगी। फलस्वरूप नदी की घाटी की लम्बाई बढ जायेगी। इसे **मुख-अपरदन (Mouthward erosion)** द्वारा घाटी का विकास कहा जा सकता है।

(v) नदियाँ अपने साथ लाये हुए मलवा का सागर या झील (जिसमे भी नदी गिरती है) मे निक्षेप करती हैं तथा डेल्टा का निर्माण करती है। यह डेल्टा निरन्तर सागर की ओर बढता जाता है, जिससे नदी की लम्बाई मे विस्तार होता है। नील नदी ने इस विधि (मुख-प्रसार) द्वारा अपने मार्ग को सैकडो किलोमीटर तक सागर की ओर बढा लिया है। मिसीसीपी नदी ने प्लीस्टोसीन युग से वर्तमान समय तक डेल्टा द्वारा अपने मुहाने का सागर की ओर 200 किलोमीटर तक विस्तार कर लिया है। बंगाल की खाड़ी मे गंगा नदी ने भी डेल्टा द्वारा अपना पर्याप्त विस्तार कर लिया है। उदाहरण के लिये एक समय ऐसा था जब कि कलकत्ता नगर की स्थिति सागर-तट (बंगाल की खाडी) पर थी। गगा तथा ब्रह्मपुत्र नदियो के डेल्टा का निरन्तर सागर की ओर विस्तार होता गया। इसी कारण से वर्तमान समय मे कलकत्ता शहर सागर से 24 से 32 किलोमीटर दूर स्थल की ओर स्थित है।

घाटियों का वर्गीकरण (Classification of Valleys)

सामान्य परिचय—घाटियो का सामान्य अर्थ उन ऋणात्मक स्थलरूपो से होता है, जिनसे होकर नदियाँ प्रवाहित होती है। ऋणात्मक स्थलरूप का तात्पर्य समीपी सतह से निम्न भाग से होता है। कुछ विद्वानो ने खासकर जानसन (1932) ने घाटी तथा सरिता को एक ही अर्थ मे लिया है, परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर घाटी तथा सरिता का एक ही अर्थ मे प्रयोग करना उचित नही होगा। सरिता से हमारा तात्पर्य होता है उसमे बहने वाले जल की मात्रा, जल-बहाव की दिशा, प्रवाह-गति तथा प्रवाहित होने वाले जल के अपरदनात्मक, परिवहन एवं निक्षेपात्मक कार्य, परन्तु घाटी से हम उसकी गहराई, चौडाई, ढाल आदि का अर्थ लेते हैं। साथ ही साथ घाटी एवं उसकी संरचना के सम्बन्ध

का भी अध्ययन करते हैं। घाटियों के कक्षा-विभाजन में जानसन महोदय ने सफल प्रयास किया है, परन्तु स्थान-स्थान पर उनके वर्गीकरण में संशोधन की आवश्यकता है। नीचे घाटियों का वर्गीकरण विभिन्न आधारों पर किया जा रहा है।

1. भ्वाकृतिक चक्र की अवस्था के आधार पर (According to Stages of the Geomorphic Cycle)—नदियों एवं घाटियों का विकास अचानक नहीं होता है वरन् संरचना तथा प्रक्रम के सहयोग से विभिन्न क्रमिक अवस्थाओं में होता है। अपरदन-चक्र की **युवावस्था, प्रौढ़ावस्था** तथा **जीर्णावस्था** की तीन अवस्थाओं के आधार पर घाटियों का विकास भी उपर्युक्त अवस्थाओं में होता है, परन्तु प्रत्येक अवस्था में घाटी का रूप भिन्न होता है। इस आधार पर घाटियों को तीन वर्गों में रख सकते हैं—

(अ) तरुण घाटी—तरुण घाटी, भ्वाकृतिक चक्र की प्रथम अवस्था का परिणाम होती है। इस घाटी का निर्माण नदी द्वारा निम्न कटाव द्वारा होता है। घाटी का आकार V अक्षर के समान होता है और उसके किनारे खड़े ढाल वाले होते हैं। घाटी अत्यन्त गहरी तथा सँकरी होती है तथा पार्श्व ढाल उत्तल होते हैं।

(ब) प्रौढ़ घाटी—प्रौढ़ घाटी भ्वाकृतिक चक्र की प्रौढ़ावस्था में उत्पन्न होती है। इस घाटी का निर्माण नदी द्वारा क्षैतिज अपरदन द्वारा होता है। घाटी का V आकार चौड़ा हो जाता है तथा किनारे वाली दीवालों के ढाल कम हो जाते हैं। घाटी ऊपरी तथा तली वाले दोनों भागों में चौड़ी रहती है। घाटी पार्श्व ढाल सरल-रेखी (rectilinear) होते हैं।

(स) जीर्ण घाटी—यह घाटी भ्वाकृतिक चक्र की अन्तिम अवस्था का परिणाम होती है। इसका निर्माण नदी के विसर्पण-क्रिया तथा क्षैतिज अपरदन द्वारा होता है। घाटियाँ अत्यधिक चौड़ी एवं विस्तृत होती हैं। घाटी-पार्श्व ढाल अवतल होते हैं।

2 **आनुवंशिक वर्गीकरण** (Genetic Classification) सर्वप्रथम पावेल महोदय ने 1875 ई० में ढाल के अनुसार उत्पन्न होने वाली अनुवर्ती घाटी (Consequent valley) का उल्लेख किया। तदन्तर **डेविस** महोदय ने इस विभाजन का क्रमबद्ध विस्तार किया एवं इस विभाजन के अनुसार घाटियों को **अनुवर्ती, परवर्ती, प्रत्यनुवर्ती, नवानुवर्ती, अक्रमवर्ती** आदि प्रकारों में विभाजित किया। इनमें प्रमुख घाटी के निर्माण के बाद अन्य घाटियों का क्रमिक विकास होता है तथा प्रत्येक घाटी प्रमुख घाटी से सम्बन्धित होती है।

(i) अनुवर्ती घाटी (Consequent Valleys)—यह किसी स्थान की प्रमुख घाटी होती है, जिसका आविर्भाव सर्वप्रथम होता है। इस घाटी का विकास ढाल के अनुरूप होता है। इसी से इस घाटी को अनुवर्ती कहते हैं। चूँकि यह घाटी ढाल की नति के सहारे विकसित होती है, अतः इसे **नति घाटी या डिप घाटी** (Dip valley) भी कहते हैं। ढाल के अनुरूप विकसित होने के कारण इसे स्वभावोद्भूत घाटी कहते हैं। नवीन उत्थित भाग, ज्वालामुखी शंकु के ढाल, तटीय मैदान आदि में इन घाटियों का आविर्भाव होता है।

(ii) परवर्ती घाटी (Subsequent Valleys)—अनुवर्ती घाटी के निर्माण के बाद ढाल के नति-लम्ब (Strike) के सहारे उत्पन्न घाटी को परवर्ती इसलिए कहते हैं कि इनका विकास प्रमुख अनुवर्ती के बाद होता है। इसी कारण इन्हें अनन्तरोद्भूत घाटी भी कहते हैं। ढाल के नति-लम्ब के सहारे उत्पन्न होने के कारण इन्हें **नति-लम्ब घाटी या स्ट्राइक घाटी** (Strike valley) भी कहते हैं। परवर्ती घाटियाँ अनुवर्ती घाटियों से प्रायः समकोण पर मिलती हैं। कभी-कभी इन्हें **लम्बात्मक या अनुदैर्ध्य घाटी** (Longitudinal valley) भी कहा जाता है। यह घाटी चौड़ी तथा खुली होती है।

(iii) प्रत्यनुवर्ती घाटी (Obsequent Valleys)—परवर्ती घाटियों के निर्माण के बाद उनमें प्रवाहित होने वाली सरिता की सहायक सरिताओं का निर्माण होता है जिनके कारण परवर्ती घाटी की दो प्रकार की सहायक घाटियों का आविर्भाव होता है। जिस घाटी से होकर नदी का जल मुख्य अनुवर्ती घाटी की सरिता के विपरीत दिशा से होकर प्रवाहित होता है, उसे विलोम या प्रत्यनुवर्ती घाटी कहा जाता है। सरिता-अपहरण द्वारा प्रायः ऐसी घाटियों का निर्माण अधिक होता है। **खण्डित नदी** (Beheaded river) की घाटी इसकी प्रमुख उदाहरण है।

(iv) नवानुवर्ती घाटी (Resequent Valleys)—जिस परवर्ती घाटी की सहायक घाटी से जल प्रमुख अनुवर्ती की दिशा के अनुरूप प्रवाहित होता है, उस घाटी को नवानुवर्ती घाटी इसलिए कहते हैं कि यह घाटी मुख्य अनुवर्ती के बाद उत्पन्न होती है तथा उसी दिशा में होती है। यह घाटी भी परवर्ती घाटी से समकोण पर मिलती है। उपर्युक्त चारों घाटियाँ ढाल के अनुरूप होती हैं।

(v) अक्रमवर्ती घाटी (Insequent Valleys)—उपर्युक्त चार घाटियों के विपरीत जो घाटियाँ न तो स्थल-खण्ड की संरचना से ही प्रभावित होती हैं और न उसके ढाल में, उन्हें अक्रमवर्ती घाटियाँ कहते हैं। इन घाटियों का निर्माण प्राय संयोगवश हुआ करता है। अधिकाश सजातीय परतदार या आग्नेय शैलों (Homogeneous sedimentary or igneous rocks) पर इन घाटियों का विकास होता है। न्यूजीलैंड की वांगानुई नदी (Wanganui) की घाटी इसी प्रकार की है।

3 संरचना के नियन्त्रण के आधार पर वर्गीकरण (According to the Controls of the Structure)—सरचना से यहाँ पर हमारा तात्पर्य भूगर्भिक सरचना के प्रकारों से है। इनमे एकदिग्नत सरचना (Homoclinal structure), अपनति, अभिनति, भ्रंश तथा भ्रंश-रेखा (Fault line) को सम्मिलित किया जाता है। 1 एकदिग्नत सरचना मे चट्टानों के स्तर समान कोण पर एक ही दिशा में झुके रहते हैं। ऐसी सरचना में नदियाँ अपनी घाटी का विकास स्तर के नति-लम्ब के सहारे करती हैं तथा नति के सहारे घाटियाँ नीचे की ओर सरकती जाती हैं। इस क्रिया को एकदिग्नत स्थानान्तरण (Uniclinal shifting) कहते हैं। इस प्रक्रिया द्वारा एकदिग्नत संरचना में उत्पन्न घाटी को एकदिग्नत घाटी (Homoclinal or uniclinal valley) कहते हैं। इस घाटी के दोनों किनारे असमान ढाल वाले होते हैं। इन्हें परवर्ती या नतिलम्ब घाटी (Strike valley) का ही रूप मानना चाहिये। जूरा पर्वत, अप्लेशियन पर्वत और राकी पर्वत में एकदिग्नत घाटियों के अनेक उदाहरण मिलते हैं। 2 अपनतियों के ऊपर अपनति के अक्ष के सहारे निर्मित घाटियों को अपनति घाटी (Anticlinal valleys) कहते हैं। 3 अभिनति के अक्ष के सहारे निर्मित घाटी को अभिनति घाटी (Synclinal valley) कहते हैं। इसी तरह भ्रंशन से उत्पन्न निम्न भागों (Depression) से प्रभावित होने वाली नदी की घाटी को भ्रंश घाटी (Rift valley) तथा भ्रंश रेखा के सहारे निर्मित घाटी को भ्रंशरेखा घाटी (Faultline valley) कहते हैं। कभी-कभी सरचनात्मक संधियों या जोड़ों के सहारे छोटी-छोटी घाटियों का आविर्भाव हो जाता है इन्हें संधि घाटी (Joint valley) की संज्ञा प्रदान की जाती है। दामोदर, सोन, नर्मदा तथा ताप्ती नदियों की घाटियाँ भ्रंश घाटी की उदाहरण हैं।

4 संरचना की दिशा के आधार पर वर्गीकरण (According to Structural Trends)—कभी-कभी घाटियों का विकास स्थलखंड की सरचना की दिशा के आर-पार हो जाता है। इस दशा में घाटियों का विकास ढाल तथा संरचना के अनुप्रस्थ दिशा में हो जाता है। इस प्रकार की घाटियों को अक्रमवर्ती घाटी (Inconsequent valleys) कहते हैं। ये घाटियाँ प्राय वलन या भ्रंशन के आर-पार होती हैं। इनको दो वर्गों में विभाजित किया जाता है—

(i) पूर्ववर्ती घाटी (Antecedent Valleys)—यदि किसी स्थलखंड में वलन या भ्रंशन पड़ने या उत्थान होने से पहले ही घाटी का विकास हो जाता है तथा बीच में स्थानीय उत्थान होने के बाद भी यदि घाटी में बहने वाली नदी उत्थित भाग को काट कर अपने पहले वाले मार्ग का अनुसरण करती है तो इस प्रकार घाटी उत्थान के बाद, वही होती है जो कि उनके पहले थी। ऐसी घाटियों को पूर्ववर्ती घाटियाँ कहते हैं।

(ii) पूर्वारोपित घाटी (Superimposed Valleys)—जब किसी स्थलखंड पर ऊपरी आवरण शैल वाल कर परतदार शैल के क्षैतिज आवरण के नीचे विभिन्न संरचना वाली शैल होती है, उदाहरण के लिए एक कठोर शैलों की अपनति को माना जा सकता है तथा जब ऊपरी संरचना पर घाटी का विकास हो जाता है तो निचली कड़ी चट्टान वाली विभिन्न संरचना पर भी पहले निर्मित घाटी के समान ही घाटी का निर्माण हो जाता है। यहाँ पर घाटी के विकास में संरचनात्मक नियन्त्रण नहीं होता है। यदि विभिन्न सरचना वाली शैल जो कि परतदार आवरण शैल के नीचे है, ऊपर रही होती तो घाटी का स्वरूप भिन्न हो सकता था, परन्तु इस स्थिति में निचली संरचना पर भी घाटी का वही रूप होगा जो कि ऊपरी आवरण शैल पर है अर्थात् ऊपरी आवरण शैल पर निर्मित घाटी का निचली सरचना पर आरोपण कर दिया गया है। इस प्रकार की घाटियों को पूर्वारोपित घाटियाँ कहते हैं।

5. आधार-तल में परिवर्तन के आधार पर वर्गीकरण (Classification according to the changes of base-level)—नदियों की घाटियों का विकास मुख्य रूप से आधार-तल के अनुसार हुआ करता है तथा सागर-तल को नदियों की घाटियों का सामान्य आधार-तल मानते हैं, वैसे झील आदि भी आधार-तल होती हैं। सागर तल में प्रायः परिवर्तन हुआ करता है, अर्थात् सागर-तल में वृद्धि या चढ़ाव (Rise) तथा उतार या ह्रास (Fall) हुआ

अन्तिम सीमा निर्धारित होती है। इसका यह तात्पर्य नही है कि नदी द्वारा उत्पन्न वक्र इस सागर-तल अर्थात् आधारतल के बराबर हो जाय। सागर-तल, आधार-तल का कार्य इस रूप मे करता है कि नदी के मुहाने के पास अर्थात् नदी की निचली घाटी में अपरदन सागर-तल (आधार-तल) के नीचे नही हो सकता। नदी के उद्गम स्थल की ओर अपरदन का तल मुहाने की अपेक्षा ऊँचा होता जाता है, क्योंकि नदी के मार्ग मे ढाल का होना आवश्यक है ताकि जल-प्रवाह अविरल गति से चल सके। नदी का वक्र एक सीधी रेखा मे भी नही होता है, क्योंकि नदी की ऊपरी घाटी मे जल तथा बोझ की कमी के कारण अपरदन कम होता है। इसी तरह नदी के निचले भाग में मन्द गति तथा कम ढाल के कारण अपरदन कम होता है। केवल नदी के मध्यवर्ती मार्ग मे दोनों स्थितियों (पर्याप्त ढाल अत तीव्र प्रवाह तथा पर्याप्त बोझ) के कारण अपरदन सर्वाधिक होता है। इसी कारण से नदी का वक्र एक निम्कोण वक्र होता है। जब नदी अपने मार्ग मे इतना ढाल बना लेती है कि उससे उत्पन्न जलधारा का वेग, नदी-बोझ का परिवहन करने मे समर्थ हो जाय तो उसे प्रवणित या **क्रमबद्ध वक्र** (Graded curve) कहते है। नदी ऐसे वक्र का निर्माण अपने उद्गम से मुहाने तक करना चाहती है ताकि परिवहन किये जाने वाले बोझ और परिवहन सामर्थ्य मे सन्तुलन स्थापित हो जाय।

नदी के क्रमबद्ध वक्र की स्थिति की प्राप्ति की अवस्थाओ के पहले "Grade" "क्रम" शब्द का स्पष्टीकरण करना आवश्यक है। ग्रेड का जब "भू-आकृति-विज्ञान" मे शब्दावली के रूप मे प्रयोग किया जाता है तो उसका तात्पर्य "प्रवणता" (Gradient—ढाल परिवर्तन) या 'ढाल' से नही होता। ग्रेड का तात्पर्य यहाँ पर नदी की तली के अवरोहण के अविछिन्न या क्रमबद्ध वक्र (Continuous curve of descent of a stream floor) से होता है जो कि सर्वत्र इतना ढालू होता है कि नदी का प्रवाह हो सके तथा जलधारा, बोझ का परिवहन कर सके। इस अवस्था मे यह कहा जाता है कि नदी **प्रवणित** या **क्रमबद्ध** (Graded) हो गई है। इस तरह "ग्रेड शब्द" से ढाल की भ्रान्ति नही होनी चाहिये क्योंकि नदी ढाल से होकर प्रवाहित होती है तथा प्रत्येक नदी के मार्ग मे **ढाल प्रवणता** (*Slope gradient*) होती है। इस ढाल प्रवणता को अश मे, प्रतिशत मे या प्रति किलोमीटर पर सेंटीमीटर के रूप मे प्रदर्शित किया जा सकता है।

नदी के मार्ग की क्रमबद्धता
(Grading of the River Channel)

उपर्युक्त विवरण के आधार पर यह स्पष्ट हो गया है कि नदी की क्रमबद्धता या प्रवणता नदी की परिवहन-सामर्थ्य तथा नदी-बोझ के बीच एक पूर्ण सन्तुलन की स्थिति होती है। अर्थात् नदी के प्रत्येक मार्ग मे नदी की सामर्थ्य इतनी होती है कि वह नदी-बोझ का परिवहन कर सके। साधारण तौर पर इसे हम इस रूप में भी कह सकते हैं कि नदी का वेग इतना हो कि अपरदन तथा निक्षेप-कार्य सन्तुलित हो जाय। यदि यह अवस्था नदी के हर भाग मे मिलती हो तो वह नदी **प्रवणित** या **क्रमबद्ध नदी** (Graded river) कही जायेगी। यह स्थिति अचानक नही प्राप्त हो जाती है वरन् धीरे-धीरे क्रमिक रूप मे प्राप्त होती है। नदी के क्रमबद्ध मार्ग की प्राप्ति के लिये केवल ढाल-प्रवणता ही आवश्यक नही होती है वरन् इसके लिए नदी के जल के आयतन, ढाल तथा जलधारा के वेग और बोझ के बीच समायोजन का होना अति आवश्यक है। उदाहरण के लिये नदी-बोझ मे विभिन्नता को लेकर समायोजन की महत्ता को समझा जा सकता है।

यदि नदी-मार्ग के किसी भाग मे बोझ या परिवहन सामग्री की पूर्ति मे कमी आ जाती है तो अपरदन के लिए अधिक शक्ति प्राप्त हो जाती है जिससे घाटी का निम्न कटाव बढ जाता है। परिणामस्वरूप ढाल मे कमी होने लगती है। यह स्थिति तब तक चलती रहती है जब तक कि निम्न कटाव द्वारा प्राप्त बोझ का नदी के निचले भाग मे परिवहन होता रहता है। इस स्थिति को, जब कि अपरदन निक्षेप से अधिक होता है या निम्नीकरण (Degradation) निक्षेप से अधिक होता है, **निम्नीकरण की अवस्था** (Stage of degradation) या **अवनतावस्था** कहते है। इसमे नदी का ढाल सामान्य ढाल से कम हो जाता है। इस स्थिति के विपरीत यदि नदी की परिवहन सामर्थ्य की अपेक्षा बोझ की मात्रा बढ जाय तो नदी समस्त मलवा या बोझ का परिवहन करने में समर्थ नही हो पायेगी। परिणामस्वरूप नदी के वेग की सामर्थ्य से अधिक बोझ का निक्षेप होने लगेगा। इस स्थिति के कारण नदी का ढाल ऊँचा होने लगता है तथा यह ढाल तब तक बढता जाता है जब तक कि यह इतना न हो जाय कि उससे उत्पन्न नदी-वेग समस्त बोझ का परिवहन कर सके। इस अवस्था को, जबकि निक्षेप अपरदन से अधिक होता है, **अधिवृद्धि की अवस्था** या **उन्नतावस्था**

(Stage of aggradation) कहते हैं। अन्त में एक ऐसी अवस्था आ जाती है जब कि ढाल इतना हो जाता है कि समस्त बोझ का परिवहन हो जाता है। इस तरह नदी-वेग या परिवहन-सामर्थ्य तक ढोये जाने वाले बोझ में समायोजन हो जाता है। नदी की परिवहन सामर्थ्य में अन्तर, नदी के जल के आयतन तथा ढाल प्रवणता से भी हो सकता है। परिणामस्वरूप उन्नतावस्था या अवनतावस्था की स्थितियाँ आ सकती हैं। उदाहरण के लिए यदि नदी-बोझ तथा ढाल समान रहें तो जल के आयतन में वृद्धि के कारण नदी का वेग बढ़ जाने से परिवहन सामर्थ्य बढ़ जायेगी, फलस्वरूप अपरदन अधिक होने से अवनतावस्था आ जायेगी परन्तु आयतन कम होने पर नदी का वेग कम हो जायेगा, इसकी परिवहन सामर्थ्य कम हो जायेगी और निक्षेप अधिक होगा। परिणामस्वरूप उन्नतावस्था का आविर्भाव होगा। इसी तरह यदि बोझ तथा आयतन समान रहें तो ढाल अधिक होने पर नदी का वेग बढ़ जायेगा, परिवहन सामर्थ्य में वृद्धि हो जायेगी तथा अपरदन अधिक होने से अवनतावस्था आ जायेगी। परन्तु ढाल कम हो जाने से, नदी का वेग कम हो जायेगा परिवहन-सामर्थ्य घट जायेगी तथा निक्षेप अधिक होने से उन्नतावस्था आ जायेगी। इस तरह निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि जब नदी का वेग या परिवहन-सामर्थ्य तथा परिवहन-सामग्री (Load-बोझ) में समायोजन या सन्तुलन की अवस्था हो जाती है तो नदी का मार्ग प्रवणित या क्रमबद्ध कहा जाता है। इस स्थिति के कारण नदी-मार्ग का ढाल जब उद्गम से शीर्ष तक इतना रहता है कि बोझ का परिवहन हो सके तो नदी-मार्ग के उत्पन्न ढाल को प्रवणित वक्र (Graded curve) कहते हैं। यह क्रमबद्ध वक्र अवतल होता है तथा एक निर्बाध वक्र (Smooth curve) के रूप में होता है। इस प्रकार क्रमबद्ध नदी की दीर्घ या अनुदैर्ध्य परिच्छेदिका को **क्रमबद्ध परिच्छेदिका** (Graded profile) कहते हैं। जब नदी में उद्गम से लेकर मुहाने तक क्रमबद्धता आ जाती है, तो सर्वत्र अपरदन तथा निक्षेप में समायोजन या सन्तुलन हो जाता है। इस प्रकार की क्रमबद्ध नदी की अनुदैर्ध्य परिच्छेदिका को सन्तुलन की परिच्छेदिका या साम्यावस्था की परिच्छेदिका (Profile of equilibrium) कहते हैं।

मैकीन महोदय (1948) ने क्रमबद्ध नदी तथा क्रमबद्ध वक्र के विषय में उपर्युक्त विवरण से मिलते-जुलते विचारों का सम्पादन किया है। मैकीन के अनुसार क्रमबद्ध नदी वह है, जिसमें कुछ समय बाद ढाल इतना हो जाता है कि नदी का वेग, नदी के बोझ को ढोने में समर्थ हो जाता है। क्रमबद्ध नदी साम्यावस्था की एक व्यवस्था *होती है तथा इसे नियन्त्रित करने वाले कारकों* (आयतन, ढाल तथा नदी-वेग एवं बोझ) में थोड़ी भी अव्यवस्था होने से, साम्यावस्था की दशा विक्षुब्ध हो जाती है। नीचे मैकीन के विचार को उन्हीं के शब्दों में उद्धृत किया जा रहा है।

A graded stream is one in which over a period of years, slope is directly adjusted to provide with, available discharge and with prevailing channel characteristics, just the velocity required for transportation of load supplied from the drainage basin. The graded stream is a system in equilibrium, its diagnostic characteristic is that any change in any of the controlling factors will cause a displacement of the equilibrium in a direction that will tend to absorb the effect of change."[1] J. H. Mackin, 1948.

मैकीन महोदय ने पुनः बताया है कि क्रमबद्ध नदी का तात्पर्य अधिक या कम ढाल-प्रवणता से नहीं होता है। नदियाँ क्रमबद्ध हो सकती हैं परन्तु उनकी ढाल-प्रवणता अधिक हो सकती है कम भी हो सकती है। संयुक्त राज्य अमेरिका के वायोमिंग प्रान्त की शोशोन नदी (Shoshon River) एक क्रमबद्ध नदी है जिसकी ढाल प्रवणता प्रति मील 30 फीट है। यह उच्च प्रवणता पर क्रमबद्ध सरिता (Graded stream of a high gradient) का उदाहरण है। इसके विपरीत इलीनोइस नदी की ढाल-प्रवणता प्रति किलोमीटर पर 3 सेण्टीमीटर है। इस तरह यह नदी कम प्रवणता पर क्रमबद्ध सरिता का उदाहरण है। उच्च तथा निम्न प्रवणता के कारण शोशोन नदी 20 से 30 सेण्टीमीटर व्यास वाले गोलाश्म (Boulder) का परिवहन करती है जबकि इलीनोइस नदी केवल बारीक कणों वाली चीका तथा सिल्ट का ही परिवहन कर पाती है।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर क्रमबद्ध नदी तथा क्रमबद्ध वक्र के विषय में कई भ्रमपूर्ण अवधारणायें उठ सकती हैं। क्रमबद्ध नदी वास्तव में अपने परिवहन-सामर्थ्य के अनुसार भारित (Loaded to the capacity)

1 J. H Mackin, 1948 —Concept of the graded river, Geol Soc. Am. bull 82, pp. 463-512.

नही होती है। इसी तरह क्रमबद्ध सरिता ऐसी नदी नही होती है, जिसमे न तो अपरदन होता हो और न तो निक्षेप। वास्तव मे अपरदन-कार्य नदी के एक भाग मे सक्रिय रहता है तथा निक्षेप दूसरे भाग मे। अत: क्रमबद्ध नदी का यह अर्थ कदापि नही होता है कि उसके प्रत्येक स्थान पर अपरदन तथा निक्षेप कार्य बराबर है। केसेली महोदय ने क्रमबद्ध सरिता की "संकल्पना" की आलोचना करते हुए बताया है कि क्रमबद्ध का प्रयोग केवल उस नदी के लिये करना चाहिए जिसमे कि क्षिप्रिका तथा प्रपात (Rapids and waterfalls) की अनुपस्थिति हो। नदी की क्रमबद्धता (Grading) के समय यह ऊपर बताया गया है कि नदी की परिवहन-सामर्थ्य तथा बोझ मे सन्तुलन या समायोजन होना चाहिए। यहाँ पर सवाल उठता है, समायोजन किसमे? शक्ति मे या मात्रा मे?

सामान्य रूप मे इस प्रश्न के उत्तर मे नदी की परिवहन सामर्थ्य या कार्य करने की सामर्थ्य तथा परिवहन किये जाने वाले बोझ के बीच साम्यावस्था को बताया जाता है। इस आधार पर यह विश्वास किया जाता है कि यदि बोझ मे कमी आ जाय तो नदी की शक्ति का कुछ भाग, जो पहले बोझ को ढोने मे नियुक्त था, अब बच जायेगा जिससे अपघर्षण (Corrasion) की मात्रा बढ जायेगी। इस अवधारणा से यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यदि नदी मे ढोने के लिये बोझ की पूर्ण अनुपस्थिति हो तो नदी की अपघर्षण की सामर्थ्य (Corrasive capacity) सर्वाधिक हो जायेगी। परन्तु यह अवधारणा भ्रामक है। केवल नदी का वेग तथा परिवहन-बोझ की मात्रा ही अपरदन या निक्षेप को प्रभावित तथा नियन्त्रित नही करते है। इस तरह परिवहन से बची शक्ति ही अपघर्षण का कारक नही हो सकती है वरन् अपघर्षण मे परिवहन-सामग्री के कणो के आकार तथा स्वभाव का भी पर्याप्त प्रभाव होता है।[1] बोझ के अभाव मे अपरदन नगण्य होता है। नदी के ऊपरी भाग मे बोझ की कमी तथा नदी-वेग की अधिकता के होते हुए भी अपरदन कम होता है। इसी तरह नदी के निचले भाग मे बोझ की अधिकता परन्तु ढाल एवं नदी-वेग मे कमी के कारण अपरदन कम होता है। इन दो दशाओ के विपरीत नदी के मध्यवर्ती भाग मे पर्याप्त नदी-बोझ, पर्याप्त वेग तथा प्रवाह एव परिवहन के लिये आवश्यक ढाल की उपलब्धि के कारण सर्वाधिक अपरदन होता है। इसी कारण नदी का अपरदन-तल एक सीधी रेखा मे न होकर वक्र के रूप मे होता है। चूँकि नदी के निचले भाग से ऊपर की ओर अपरदन बढता जाता है, अतः यह वक्र भी ऊपर की ओर अवतल होता है। बीच का अत्यधिक अपरदन ही इस ढाल को अवतल बनाता है, अन्यथा यह उत्तल (Convex) होता है।

क्रमबद्ध वक्र की प्राप्ति तथा संतुलित परिच्छेदिका (Graded Curve & Profile of Equilibrium)

ऊपर यह स्पष्ट किया जा चुका है कि जब नदी क्रमबद्ध हो जाती है तो उसकी दीर्घ या अनुदैर्घ्य परिच्छेदिका को साम्यावस्था या सन्तुलन की परिच्छेदिका (Profile of equilibrium) कहते हैं। वास्तव मे यह अवस्था नदी के क्रमबद्ध अवतल वक्र (Graded concave curve) को प्रदर्शित करती है, जिसमे उद्गम से मुहाने की ओर वक्र का ढाल शनै-शनै क्रमानुसार कम होता है। यह स्थिति सैद्धान्तिक रूप मे सत्य हो सकती है परन्तु प्रायोगिक रूप मे पूर्णरूपेण सत्य नही हो सकती है। एक नदी का कुछ भाग क्रमबद्ध तथा कुछ भाग अक्रमबद्ध भी हो सकता है। यदि यह मान भी लिया जाय कि नदी की दीर्घ परिच्छेदिका उद्गम से लेकर मुहाने तक क्रमबद्ध हो गई है तो भी इसका वक्र एक निष्कोण वक्र कदापि नही हो सकता तथा यह वक्र मुहाने की ओर निरन्तर गिरने ढाल वाला (Decreasing slope) नही हो सकता। यह आपत्ति आंशिक रूप मे सत्य हो सकती है परन्तु पूर्ण रूप से नही। कई कारणो से नदी के क्रमबद्ध वक्र मे अव्यवस्था उपस्थित हो जाती है परन्तु नदी अन्त तक इस अव्यवस्था को दूर करके अपने निष्कोण वक्र का विकास कर लेती है। यहाँ पर हम इन अव्यवस्थाओ तथा क्रमबद्ध वक्र के विकास की विभिन्न प्रक्रियाओ का उल्लेख करेंगे।

सागर-तल के अनुसार ही नदी की क्रमबद्धता प्रारम्भ होती है। क्रमबद्धता की क्रिया को श्रेणीकरण (Gradation) कहते हैं। सागर-तल, जो कि स्थायी आधार-तल होता है, के अलावा नदी के मार्ग मे कई अस्थायी तथा स्थानीय आधार-तल (Temporary and local base levels) भी होते है। ये आधार तल, रास्ते मे झील, सहायक नदियो के संगम-स्थल तथा प्रतिरोधी

1 Not only the total mass of the load but the size or "calibre" of load are responsible for the corrasive capacity of the stream.

शैलो द्वारा निर्धारित होते हैं। यद्यपि भूतल पर न तो स्थायी आधार-तल सदैव स्थिर तथा निश्चित रहता है न अस्थायी आधार-तल ही, तथापि ये नदी के अन्तिम भाग या मुख भाग मे कटाव की अन्तिम सीमा को प्रदर्शित करते हैं। उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो गया है कि आधार-तल नदी के समस्त भाग के नही वरन् मुख भाग के पास निम्नतम कटाव को निर्धारित करता है। यह तथ्य भी नदी की परिच्छेदिका को वक्राकार रूप देने मे उत्तरदायी है।

उद्गम से मुहाने तक नदी की सामान्य क्रमबद्धता एक लम्बे समय के बाद कई अवस्थाओ म प्राप्त होती है। जब स्थायी सागर-तल समस्त नदी के लिये आधार-तल बन जाता है तथा जब अस्थायी एव स्थानीय आधारतल सक्रिय नही होते हैं तब नदी की **सामान्य क्रमबद्धता** (General grading) का आविर्भाव होता है। इस स्थिति के पहले नदी के कई भागो मे स्थानीय आधार-तल सक्रिय होते है। उदाहरण के लिए यदि पहाडी भाग मे कई नदियो का जल एक झील मे एकत्रित होता है तथा पुन: नदियो एवं झील का जल मिलकर एक जलमार्ग के रूप मे प्रवाहित होता है तो झील-तल उसके ऊपर प्रवाहित होने वाली नदियो के लिये आधार-तल होता है। यह आधार-तल उस समय समाप्त हो जाता है जब झील या तो भर जाती है या निम्न कटाव द्वारा निचली सरिता मे बह जाती है। इसी तरह यदि नदी के मार्ग मे कठोर तथा मुलायम चट्टानो के स्तर क्रम मे मिलते हैं तो नदी मुलायम शैल को शीघ्र काट डालती है परन्तु कठोर एवं प्रतिरोधी शैल बाहर निकली रहती हैं। प्रत्येक निकला हुआ प्रतिरोधी भाग अपने ऊपर वाली जलधारा के लिए अस्थायी आधारतल का कार्य करता है क्योकि इसकी उपस्थिति के कारण निम्न कटाव थोडे समय के लिए स्थगित होता है। जब पर्याप्त समय मे निम्न कटाव द्वारा प्रतिरोधी शैल कट जाती है तो अस्थायी आधार-तल लुप्त हो जाता है। इस तरह के अस्थायी आधार-तल नदी-मार्ग मे हो सकते है। आधार-तल नदी को कई अस्थाई क्रमबद्ध वक्रो (Temporary graded curves) मे विभक्त करते हैं। जब सभी आधार-तलो का पूर्णतया विलयन हो जाता है तो सभी अस्थायी क्रमबद्ध मिलकर एक समकोण वक्र (Smooth curve) का निर्माण करते है।[1] इस रूप मे नदी के क्रमबद्ध वक्र का विकास सम्भव होता है। इस तरह के क्रमबद्ध वक्र वाली नदी की अनुदैर्ध्य परिच्छेदिका को सन्तुलन या **साम्यावस्था की परिच्छेदिका** (Profile of equilibrium) कहते हैं।



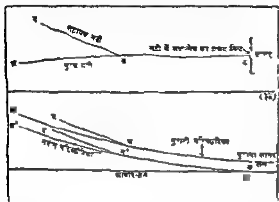
चित्र 242—क्रमबद्ध वक्र का विकास तथा पूर्ण क्रमबद्ध परिच्छेदिका (Graded Profile)।

नदी के क्रमबद्ध वक्र को उद्गम से मुहाने तक प्राय. नियमित (Regular) माना जाता है, जिसका ढाल मुहाने की ओर क्रमश शनै -शनै गिरता जाता है। इस विषय पर विद्वानो मे पर्याप्त मतभेद है। कुछ लोग इसे नियमित नही मानते हैं। मैकीन महोदय ने बताया है कि क्रमबद्ध नदी मे **ढाल-प्रवणता** (Slope gradient) मे पर्याप्त परिवर्तन होता है। क्रमबद्ध नदी की अनुदैर्ध्य परिच्छेदिका एक ही नियमित वक्र वाली नही होती है वरन् कई खण्डो (Segments) से मिलकर बनती है। जहाँ पर दो खण्ड मिलते हैं वहाँ पर उनमे अन्तर आ जाता है परन्तु सभी खण्ड एक प्रणाली के ही व्यवस्थित रूप होते हैं। इनमे से प्रत्येक खण्ड का ढाल इतना होता है कि उसमे उत्पन्न नदी वेग, समस्त बोझ का परिवहन कर सके। इस तरह मैकीन के अनुसार क्रमबद्ध परिच्छेदिका वास्तव मे परिवहन का ढाल होती है। यह परिच्छेदिका न तो नदी की अपघर्षण शक्ति (Corrasive power) से प्रभावित होती है न शैल संस्तर (Bedrock) की कठोरता से। मैकीन ने पुन बताया है कि क्रमबद्ध परिच्छेदिका एक गणितीय वक्र के रूप मे नहीं हो सकती है।

एक वास्तविक क्रमबद्ध नदी का वक्र उसी समय नियमित हो सकता है तथा मुहाने की ओर नियमित रूप से सपाट (Flatten regularly down stream) हो सकता है, जबकि नदी का आयतन तथा बोझ की मात्रा एव

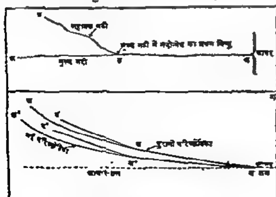
1. यहाँ पर यह स्मरण रखना होगा कि क्रमबद्ध वक्र सर्वप्रथम नदी के मुहाने के पास या आधार-तल-विन्दु के पास सम्पन्न होता है। समय के साथ-साथ यह शीर्ष की ओर अग्रसर होता है तथा एक लम्बी अवधि के बाद समस्त नदी का तल क्रमबद्ध वक्र (Graded curve) हो जाता है। इस तरह नदी की क्रमबद्धता **शीर्ष-अपरदन** (Headward erosion) की क्रिया को भी प्रदर्शित करती है।

जाय। नदी अन्ततः अपरदन द्वारा अधिक ढाल को समाप्त करके प्राथमिक ढाल के साथ समायोजित हो जाती है। चित्र "ख" (244) में अ, ब नदी के प्राथमिक क्रमबद्ध परिच्छेदिका $अ^1$ $ब^1$ वक्र द्वारा प्रदर्शित की गई है। वास्तव में यह स्थिति उपर्युक्त स्थिति (चित्र 243) की ही पुनरावृत्ति है। चित्र ख में अ, ब तथा $अ^1$ $ब^1$ परिच्छेदिकाओं की ढाल-प्रवणता (Slope gradient) में पूर्ण सामंजस्य है। अतः $अ^1$ $ब^1$ वक्र पुनर्समायोजित वक्र (Readjusted curve) को प्रदर्शित करता है।



चित्र 244 नदी के मुहाने में नवोन्मेष तथा पुनर्समायोजित परिच्छेदिका (*Regraded profile after* rejuvenation at the mouth due to fall in sea-level)।

(द) नदी के मध्य भाग में नवोन्मेष (Rejuvenation in the middle course of a stream) जब नदी के मध्य भाग में सहायक नदी द्वारा आवश्यक परिवहन-बोझ (Load) की पर्याप्त पूर्ति नहीं हो पाती है तो सहायक नदी के संगम के नीचे मुख्य सरिता में परिवहन सामर्थ्य के

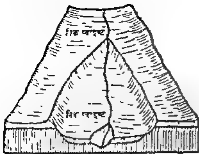


चित्र '4`—नदी के मध्य भाग में नवोन्मेष के कारण क्रमबद्ध वक्र में विक्षुब्धता तथा पुनर्समायोजित परिच्छेदिका (Regraded profile) की प्राप्ति ($अ^1स^1ब$ तथा $द^1स^1ब$)।

अनुरूप बोझ न होने के कारण नवोन्मेष आ जाता है तथा अपरदन की मात्रा बढ़ जाती है। इस स्थिति के कारण संगम (Confluence) के नीचे नदी का तल अपरदन के कारण नीचा हो जाता है, फलस्वरूप संगम के ऊपर वाले (नदी के) भाग का ढाल तीव्र हो जाता है। शीर्ष-अपरदन प्रारम्भ हो जाता है और यह तब तक चलता रहता है जब तक कि नदी के शीर्ष भाग का ढाल पहले ढाल के अनुसार समायोजित नहीं हो जाता है। इस तरह समस्त नदी का मार्ग नीचा हो जाता है तथा पहले वाले ढाल की पुनर्व्यवस्था हो जाती है। इस स्थिति में नदी का ढाल सर्वत्र इतना हो जाता है कि नदी-वेग बोझ का परिवहन कर सके। इस प्रकार नदी का वक्र पुनः क्रमबद्ध (Regraded) हो जाता है। चित्र 245 में पहली अवस्था में मुख्य नदी से एक सहायक नदी स बिन्दु पर मिलती है। नदी की पहली क्रमबद्ध अवस्था में अ, स, ब वक्र मुख्य नदी की क्रमबद्ध परिच्छेदिका को तथा द, स वक्र सहायक नदी की क्रमबद्ध परिच्छेदिका को प्रदर्शित करते हैं। स बिन्दु पर सहायक नदी द्वारा लाये गये बोझ में कमी हो जाने से नदी के स, ब भाग में नवोन्मेष होने से अधिक अपरदन के कारण नदी-तल के नीचा होने से अ, स, ब क्रमबद्ध वक्र विक्षुब्ध हो गया है। नदी शीर्ष-अपरदन द्वारा अ, स भाग को भी काट कर पहले वाले ढाल के अनुसार बनाती है क्योंकि स, ब का भाग नीचा हो गया है। अब $अ^1$ $स^1$, ब वक्र नदी के पुनः क्रमबद्ध वक्र तथा पुनः क्रमबद्ध परिच्छेदिका को प्रदर्शित कर रहा है। इसी तरह सहायक नदी की पुरानी परिच्छेदिका विक्षुब्धता के बाद पुनः $द^1$ $स^1$ वक्र के रूप में पुनः क्रमबद्ध हो गई है। इस तरह नदी के समस्त भाग में नवोन्मेष हो जाता है तथा यथेष्ट अपरदन के बाद नदी पुनः समायोजित हो जाती है। इस स्थिति के कारण जलोढ़ वेदिकाएँ (Alluvial terraces) तथा घाटी के अन्दर घाटियाँ निर्मित हो जाती हैं।

हजारी बाग पठार पर राजरप्पा के पास दामोदर नदी में टर्शियरी युग में उत्थान के कारण नवोन्मेष हो जाने से नदी का मार्ग अब तक विक्षुब्ध है तथा राजरप्पा प्रपात आज भी नवोन्मेष की कहानी का गवाह है। इसी तरह नर्मदा नदी में (जबलपुर के पास) भेड़ाघाट में धुँआधार प्रपात तक का भाग विक्षुब्ध वक्र तथा नवोन्मेष का प्रतीक है।

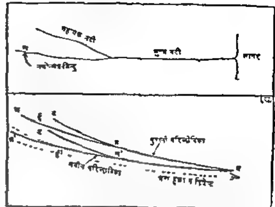
(स) नदी के शीर्ष भाग में नवोन्मेष (Rejuvenation in the headwater of the river)—जब नदी



चित्र 246—निकप्वाइण्ट (Knick-point) तथा जलोढ वेदिकायें (*Alluvial terraces*) ।

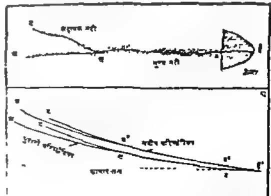
के शीर्ष भाग मे बोझ की पूर्ति कम हो जाती है, अर्थात् परिवहन सामर्थ्य के अनुपात मे बोझ कम हो जाता है तथा यदि यह स्थिति स्थिर (Constant) रहती है तो नदी के शीर्ष भाग मे अपरदन बढ जाता है। परिणामस्वरूप नदी के ऊपरी भाग मे नवोन्मेष की अवस्था आ जाती है, जिस कारण कटाव से ऊपरी भाग मे मन्द ढाल का विकास होता है। चूंकि शीर्ष भाग मे ही बोझ मे कमी आ गई है, अत यह स्थिति नदी के समस्त भाग मे रहेगी। इस कारण नदी का समस्त भाग अपरदन द्वारा नीचा हो जायेगा ताकि अपरदन द्वारा उत्पन्न बोझ, परिवहन-सामर्थ्य के बराबर हो जाय। इस स्थिति मे नदी अपने पहले ढाल के अनुसार ही नवीन ढाल का निर्माण करती है। सहायक नदी भी कटाव द्वारा अपने पुराने ढाल के साथ समायोजन स्थापित करने का प्रयास करती है, क्योंकि प्रमुख सरिता के तल मे कमी के कारण सहायक नदी का मुख (सगम पर) भी नीचा हो जाता है। चित्र 247 मे "स" स्थान पर मुख्य नदी मे बोझ की कमी के कारण नवोन्मेष होता है। फलस्वरूप नदी अपरदन द्वारा अ ई, ढाल के अनुरूप अ, ई' मन्द ढाल का निर्माण करती है। नवोन्मेष के पहले क्रमबद्ध नदी का वक्र अ, स, ब था। अब नदी ने अपने समस्त भाग मे अपरदन द्वारा तल को नीचा करके अ' स', ब क्रमबद्ध वक्र का निर्माण किया है। इस अवस्था मे नदी का ढाल वही है जो कि अ, स, ब के समय था, यद्यपि अ' ई', ब का तल नीचा हो गया है। इस तरह नदी पुन क्रमबद्ध हो गई है।

निक्षेप का प्रभाव (The effects of deposition)-जिस तरह उपर्युक्त दशाओं मे बोझ मे कमी या सागर-तल मे कमी के कारण नदियो मे नवोन्मेष होने से नदियो के क्रमबद्ध वक्र मे विक्षुब्धता आ जाती है, उसी तरह नदी के किसी भी भाग मे जमाव द्वारा नदी का तल ऊँचा हो जाता है, ढाल कम हो जाता है, जिस कारण वक्र विक्षुब्ध हो जाता है। यहाँ पर नदी के मुहाने पर जमाव का उदाहरण लिया जा रहा है—



चित्र 247—नदी के शीर्ष भाग मे नवोन्मेष के कारण क्रमबद्ध वक्र में विक्षुब्धता तथा पुनर्समायोजित परिच्छेदिका (Regrade profile) की प्राप्ति।

(i) यदि नदी ऐसे सागर मे गिरती है जिसमे लहरें अधिक तीव्र नही होती हैं तो नदी निक्षेप करने लगती है फलस्वरूप डेल्टा का निर्माण होने लगता है, जो कि सागर की ओर बढता जाता है। इस स्थिति के कारण नदी का मार्ग लम्बा हो जाता है, फलस्वरूप मार्ग का ढाल कम हो जाता है। पहले वाले ढाल के साथ समायोजन मे लिए नदी को हर भाग मे निक्षेप करना पडता है। जैसे-जैसे डेल्टा बढता जाता है नदी का निक्षेप समस्त भाग मे बढता जाता है। चित्र 248 मे अ, ब, वक्र नदी के पहले क्रमबद्ध वक्र को प्रदर्शित करता है। डेल्टा-निर्माण द्वारा नदी की लम्बाई अ, ब से बढकर अ, ई हो गई है।



चित्र 248—डेल्टा-निक्षेप मे कारण नवोन्मेष तथा विक्षुब्ध परिच्छेदिका का पुनर्समायोजन (Regrading of disturbed profile due to delta formation)।

सर्वत्र अपेक्षित निक्षेप (Wanted deposit) के कारण अ[1], ब[1], ई वक्र पुनः समायोजित वक्र (Readjusted curve) को प्रदर्शित करता है, यद्यपि यह तल पहले वाले तल से ऊँचा हो गया है।

(ii) यदि किसी नदी मे आयतन, ढाल का बोझ स्थिर होता है और यदि डेल्टा का निर्माण नहीं होता है तो क्रमबद्ध नदी का यह रूप स्थायी होता है। इसी बीच यदि कोई युवावस्था वाली सहायक नदी मुख्य नदी से मिलती है तथा अपने साथ पर्याप्त बोझ लाती है तो मुख्य नदी इस अत्यधिक बोझ को परिवहन करने मे असमर्थ होगी। परिणामस्वरूप संगम के निचले भाग मे मलवा का निक्षेप होने लगेगा तथा ढाल तीव्र हो जायेगा। इस कारण नदी का क्रमबद्ध वक्र विक्षुब्ध हो जायेगा। संगम के नीचे निक्षेप के कारण मुख्य नदी के ऊपरी भाग मे ढाल मन्द हो जायेगा। फलस्वरूप ऊपरी भाग मे तब तक निक्षेप होता जायेगा जब तक पहले वाले ढाल के साथ समायोजन नहीं हो जाता है। इस तरह नदी एक नये क्रमबद्ध वक्र का निर्माण करके समायोजित हो जाती है। पुन क्रमबद्ध वक्र का तल पहले की अपेक्षा ऊँचा होता है। चूँकि मुख्य नदी में सर्वत्र निक्षेप हो रहा है, अत. उसमे मिलने वाली सहायक नदियों के मुख का तल ऊँचा हो जायेगा। फलस्वरूप यदि सहायक नदियो मे यथेष्ट बोझ है तो उसका निक्षेप हो जाता है तथा नदी नये पुनः क्रमबद्ध वक्र का निर्माण कर लेती है, अन्यथा झील का निर्माण होता है। इसी तरह जब नदी के शीर्ष भाग मे निक्षेप होने से वक्र में विक्षुब्धता आ जाती है तो निचले भाग मे भी निक्षेप हो जाने के बाद पुन. क्रमबद्ध वक्र (Regraded curve) का निर्माण हो जाता है। इस तरह नदी के क्रमबद्ध वक्र मे अनेक कारणो से अव्यवस्थायें आती रहती हैं परन्तु नदी उन अव्यवस्थाओ को दूर करके पहले वाले ढाल के साथ पुनः समायोजित होकर अपने क्रमबद्ध ढाल का निर्माण कर लेती है। परन्तु यह आवश्यक नही है कि पुनः क्रमबद्ध वक्र का तल प्रारम्भिक वक्र के समान ही होगा। यह पुराने वक्र के तल से ऊँचा भी हो सकता है, नीचा भी।

जलीय स्थलाकृति

(Fluvial Topography)

नदी के कार्य तथा उत्पन्न स्थलाकृति

सामान्य परिचय—भूतल पर समतल स्थापक शक्तियों में बहते हुए जल (नदी) का कार्य सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होता है। वर्षा का जल जो धरातल पर किसी न किसी रूप में बहने लगता है उसे **वाही जल** (Run off) कहते हैं। जब वाही जल एक निश्चित रूप में ऊँचाई से निचले ढाल पर गुरुत्वाकर्षण के कारण प्रवाहित होता है तो उसे नदी या सरिता कहते हैं। अत नदी किसी भी ढाल पर एक निश्चित मार्ग में प्रवाहित होने वाली जलराशि होती है, जिसमे जल धारा के साथ चट्टान-चूर्ण भी बहते हुए चलते हैं। अध्याय 18 में नदियों की उत्पत्ति, उनके विभिन्न प्रकारों तथा नदी-क्रम आदि का विशद विवरण दिया जा चुका है। नदियाँ ऊँचे ढाल से निचले ढाल की ओर बहती हैं तथा यह ढाल क्रमश उद्गम से मुहाने की ओर घटता जाता है। प्रत्येक नदी का ढाल भिन्न-भिन्न हुआ करता है। नदियाँ भूतल पर समतल स्थापना का कार्य तीन रूपो मे करती हैं, जिसे **त्रिकल कार्य या त्रिपथ कार्य** (Three-phase work or threeway work) कहा जा सकता है। ये तीन कार्य हैं—अपरदन, परिवहन तथा निक्षेप। नदियो का बहता हुआ जल घाटी के पार्श्व भाग तथा तली को खरोचता एव कुरेदता हुआ चलता है, जिस कारण चट्टान-चूर्ण को नदी की घाटी से अलग करके अपने साथ ले लेता है। नदी के इस कार्य को **अपरदन** कहा जाता है। *अपरदन से प्राप्त मलवा को* नदियो का जल अपने साथ ढोता हुआ चलता है। नदी के इस कार्य को **परिवहन** (Transportation) कहते हैं। परिवहन किये जाने वाले पदार्थ को सामान्य रूप मे **नदी का भार** या **नदी का बोझ** (River Load) कहते हैं। स्थान-स्थान पर इन पदार्थों का जमाव भी होता रहता है। इस कार्य को *निक्षेप (Deposition)* कहते हैं। निक्षेप नदी के पार्श्ववर्ती भागों मे हो सकता है तथा नदी की तली मे भी। नदी के उपर्युक्त तीनो कार्य परस्पर सापेक्ष होते हैं अर्थात् यह आवश्यक नही है कि नदी के किसी विशेष भाग में केवल अपरदन हो तथा दूसरे भाग में केवल निक्षेप हो। हाँ, *यह अवश्य हो सकता है कि एक* भाग में निक्षेप से *अपरदन अधिक हो या अपरदन से* निक्षेप अधिक हो परन्तु दोनो कार्य साथ-साथ सम्पादित होते हैं। परिवहन का कार्य भी उद्गम से मुहाने तक चलता रहता है, क्यो कि जैसे ही अपरदन द्वारा पदार्थ जल के साथ मिलते हैं, परिवहन का कार्य प्रारम्भ हो जाता है।

अपरदन का कार्य (Erosion)

नदी का सर्वप्रमुख कार्य भूपटल का अपरदन करना है। प्रमुख विद्वान् सैलीसबरी ने बताया है कि—"नदी के प्रमुख कार्यों मे से एक (कार्य) स्थल का सागर तक ले जाया जाना है" ("One of the chief functions of stream is to carry the land to the sea")। *नदियाँ सदैव अपने मार्ग की समीपी चट्टानो को घिसकर* तथा काट कर अपने साथ परिवहन करने मे प्रयत्नशील रहती हैं। नदी द्वारा अपरदन-कार्य मे अपक्षय का भी पर्याप्त योग रहता है। अपक्षय की विभिन्न क्रियाओं द्वारा समीपी चट्टान विघटित तथा वियोजित होकर कमजोर हो जाती है तथा जल के साधारण कार्य से अलग होकर जल के साथ हो लेती है। *नदियाँ अपरदन-कार्य दो* रूप मे करती हैं। एक तो नदी का जल नदी की घाटी की तली तथा किनारे को काटता है और दूसरे नदी के साथ सम्मिलित पदार्थ भी अपरदन का कार्य करते हैं। फलस्वरूप अपरदन के लिये नदी मे बोझ का होना आवश्यक है। नदी के बोझ मे कंकड पत्थर, रेत आदि पदार्थ *सम्मिलित किये जाते हैं।*

नदी-अपरदन का सिद्धान्त (Law of River Erosion)—नदी का अपरदन-कार्य नदी के ढाल तथा वेग एव उसमे स्थित नदी-बोझ पर आधारित होता है। अपरदन के लिये यह आवश्यक है कि नदी के साथ कंकड-पत्थर आदि वर्तमान हो। नदी द्वारा अपरदन न केवल बोझ की मात्रा *द्वारा निर्धारित होता है वरन् उसके आकार* (Size and calibre of load) द्वारा भी निर्धारित होता है। उदाहरण के लिये यदि बोझ के पदार्थ महीन कण वाले हैं तथा आकार मे छोटे हैं तो वे जल के साथ लटक कर (in suspension) चलते हैं और अपरदन कम करते हैं। इसी तरह यदि पदार्थ इतने महीन होते हैं कि वे घुलकर जल के साथ (in solution) चलते हैं तो अपरदन नगण्य होता है। इसके विप-

रीति यदि बोझ के पदार्थ इतने बड़े होते हैं कि वे जल के साथ लुढक कर या कूदते हुए चलते हैं तो उनसे अपदन सर्वाधिक होता है। इसी तरह बोझ की मात्रा का भी अपरदन पर पर्याप्त प्रभाव होता है। प्रायः यह भी कहा जाता है कि नदी मे बोझ की मात्रा जितनी अधिक होगी, उसके द्वारा अपरदन भी उतना ही अधिक होगा परन्तु यह तथ्य सर्वत्र सत्य नही होता है। वास्तव मे प्रत्येक नदी मे अधिकतम भार ग्रहण करने तथा उसे ढोने की एक निश्चित सीमा होती है। इस सीमा से अधिक भार होने पर नदी उसका परिवहन करने मे असमर्थ होती है। यदि नदी अपनी सामर्थ्य के अनुसार भार अर्थात् अधिकतम भार का वहन करती है तो अपरदन का कार्य नगण्य होता है क्योकि अधिक भार के कारण नदी के वेग मे शिथिलता आ जाती है। इस आधार पर अपरदन तथा नदी-भार के बीच निम्न सम्बन्धो का प्रतिपादन किया जा सकता है—

1. नदी में भार या बोझ के अभाव में अपरदन कम होता है।

2. अधिकतम भार या बोझ होने पर भी अपरदन कम होता है।

3. इन दोनों अवस्थाओ के बीच की दशा मे अपरदन सर्वाधिक होता है। इस अवस्था के पूर्व अपरदन बढता है तथा इसके पश्चात् अपरदन घटता है। इसे अपरदन का सामान्य सिद्धान्त कहते हैं।

उपर्युक्त विवरण से ही अपरदन की समस्या समाप्त नही हो जाती है। यहाँ पर केवल नदी के बोझ का ही ध्यान किया गया है। नदी के अपरदन को प्रभावित करने वाले अन्य कारक भी हैं—नदी का वेग (Velocity) तथा नदी मार्ग की ढाल प्रवणता (Slope gradient)। यदि नदी का बोझ यथेष्ट है परन्तु नदी का वेग कम है तो अपरदन अधिक नही हो पायेगा। तीव्र वेग से प्रवाहित होने वाली नदी की अपरदन-शक्ति निश्चय ही अधिक होती है। नदी का वेग दो बातो पर आधारित होता है—नदी के मार्ग का ढाल तथा नदी में जल का आयतन। जब नदी का ढाल तथा आयतन अधिक होता है। तो निश्चय ही नदी-वेग अधिक होता है। यदि तीव्र वेग के साथ अपेक्षित (Required) बोझ भी यथेष्ट मात्रा मे सुलभ है तो नदी द्वारा अपरदन सर्वाधिक होता है। साधारण रूप मे नदी के वेग तथा अपरदन-शक्ति मे वर्ग का अनुपात होता है। इसे निम्न सूत्र द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है—

$$\text{अपरदन शक्ति} \propto (\text{नदी का वेग})^2$$

अर्थात् यदि नदी का वेग दो गुना कर दिया जाय तो उसकी अपरदन-शक्ति चौगुनी हो जायेगी। यदि नदी-वेग चौगुना कर दिया जाय तो उसकी अपरदन-शक्ति 16 गुना हो जायेगी। यह सम्बन्ध उस समय होता है जबकि नदी का बोझ समान रहे क्योकि नदी-बोझ मे परिवर्तन के साथ नदी-वेग तथा अपरदन दोनो मे परिवर्तन हो जाता है। नदी के अपरदनात्मक कार्य पर स्थितिज ऊर्जा (Potential energy) तथा गतिज ऊर्जा (kinetic energy) का पर्याप्त प्रभाव होता है। नदी के उद्गम पर दोनो प्रकार की ऊर्जा बराबर होती है। यदि नदी का मार्ग छोटा है तथा ढाल प्रवणता तीव्र है तो गतिज ऊर्जा सर्वाधिक होती है। परिणामस्वरूप निम्नवर्ती अपरदन (यदि जल के साथ कोणिक आकार वाले बडे-बडे चट्टानी खण्ड हो) अधिक होता है। जैसे-जैसे नदी का मार्ग बढता जाता है, ढाल प्रवणता भी कम होती जाती है। अतः गतिज ऊर्जा मे ह्रास होता जाता है, परिणामस्वरूप अपरदन घटता जाता है (देखिये अध्याय दो के पृष्ठ 57 तथा 58 एव चित्र 5 तथा 6)। नदी के अपरदन-कार्य मे अपरदित होने वाले स्थलखण्ड की संरचना का भी पर्याप्त प्रभाव होता है। यदि स्थलखण्ड की चट्टान अत्यधिक सगठित, सधियो से विहीन तथा अभेद्य एव अप्रवेश्य होती है तो अपरदन सरलता से नही हो पाता है। इसके विपरीत असगठित, मुलायम, सन्धियुक्त, प्रवेश्य तथा भेद्य चट्टान का अपरदन सरलता से तथा सर्वाधिक मात्रा मे मे होता है।

नदी के अपरदन के रूप—नदी द्वारा अपरदन-कार्य मुख्य रूप से दो तरह से होता है— **रासायनिक अपरदन** तथा **यांत्रिक अपरदन**। रासायनिक अपरदन का कार्य सामान्य रूप से घोलीकरण (Solution) द्वारा होता है तथा यांत्रिक अपरदन, अपघर्षण (Corrasion or abrasion), जल गति क्रिया (Hydraulic action) तथा सन्निघर्षण (Attrition) द्वारा सम्पन्न होता है। इनमे से *यांत्रिक अपरदन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होता है।*

(i) **घोलीकरण या संक्षारण** (Solution or Corrosion)—नदी के बहते हुए जल के सम्पर्क मे आने वाली चट्टानो के घुलनशील पदार्थ घुलकर शैल से अलग हो जाते हैं तथा जल के साथ मिल जाते हैं। कार्बोनेशन की क्रिया द्वारा चट्टान का अधिकांश घुलनशील नमक उससे अलग होकर नदी मे बहने लगता है। भूमिगत जल द्वारा भी चट्टान से घुलनशील पदार्थ अलग हो जाते हैं तथा

जलस्रोतो द्वारा ऊपर आकर सरिता से मिल जाते है। घोलन की क्रिया द्वारा प्राप्त पदार्थों की मात्रा निश्चय ही अधिक होती है। मरे ने गणना के आधार पर बताया है कि नदी के प्रत्येक घनमील जल मे लगभग 7,62, 587 टन खनिज पदार्थ होते है तथा इसका आधा भाग कैलशियम कार्बोनेट होता है। यदि यह गणना सत्य मान ली जाय तो भूपटल की समस्त नदियो द्वारा सागर मे लाये गये घुलनशील पदार्थों की मात्रा का अनुमान लगाया जा सकता है। यह विश्वास किया जाता है कि प्राय प्रतिवर्ष समस्त भूपटल की नदियो द्वारा 6500 घनमील जल सागर तक ले जाया जाता है। उपर्युक्त गणना के आधार पर प्रतिवर्ष लगभग 5 000,000 000 टन खनिज पदार्थ घोलीकरण की क्रिया से प्राप्त होता है तथा घोल के रूप मे यह सागर तक पहुँचता है।

(ii) अपघर्षण (Corrasion or Abrasion)—नदी के साथ कंकड, पत्थर आदि भी नदी के भार के रूप मे चलते है। इन पदार्थो के सम्पर्क मे आने वाली चट्टानो की घर्षण तथा टूट-फूट की क्रिया को अपघर्षण की क्रिया कहते है। अपघर्षण की मात्रा तथा रूप नदी-बोझ के पदार्थो के आकार पर आधारित होता है। इनमे गोलाश्म (Boulder), कंकड (Pebbles), पत्थर के टुकडे (Stone particles) सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होते है। इन पदार्थो को छेदन यंत्र (Drilling tools—बर्मा मशीन की तरह छेद करने वाले) कहते है जो कि नदी की घाटी मे लम्बवत तथा क्षैतिज कटाव करते है। इस तरह की क्रिया को अपघर्षण कहते है। उपर्युक्त शैल-कण (टुकडा कहना अधिक उपयुक्त होगा) प्रथम रूप मे जल के साथ मिलकर नदी की घाटी के दोनो पार्श्वों को कुरेद-कर तथा रगड-रगड कर घर्षित करते है। इस क्रिया को क्षैतिज अपघर्षण कहते है। इससे स्पष्ट है कि क्षैतिज अपघर्षण मे नदी के किनारे कट कर चौडे होते है। अत अपरदन का यह रूप नदी की घाटी को चौडा करता है। यह क्रिया यद्यपि नदी के प्रत्येक भाग मे सक्रिय रहती है परन्तु प्रौढावस्था तथा वृद्धावस्था मे यह अपरदन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होता है। यहाँ पर इसे पार्श्ववर्ती या क्षैतिज अपरदन कहते है। दूसरे रूप मे चट्टानो के टुकडे नदी की तली मे घर्षण द्वारा काट-छाँट करके उसे गहरा करते है। इस क्रिया को लम्बवत अपघर्षण (Vertical abrasion) कहते है। नदी के पेटे मे भँवर के साथ पत्थर के नुकीले टुकडे बढई के बर्मा मशीन के समान घुमावदार छिद्र करते रहते हैं जिससे सँकरे परन्तु गहरे गर्त का निर्माण होता है। इसे जलगर्तिका (Pot holes) कहते है। जलगर्तिका लम्बवत अपघर्षण द्वारा निर्मित एक मुख्य स्थलाकृति है। अपघर्षण की इस क्रिया द्वारा नदी की घाटी गहरी होती है। लम्बवत अपघर्षण नदी की तरुणावस्था मे सबसे अधिक होता है।

(iii) सन्निघर्षण (Attrition)—ऊपर यह बताया गया है कि नदी के साथ कंकड पत्थर आदि नदी के भार के रूप मे चलते है। इनका कार्य दो रूपो म होता है। प्रथम रूप मे तो ये नदी की घाटी के किनारे तथा तली का घर्षण करते है। इसका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। दूसरे रूप मे ये टुकडे आपस मे भी टक्कर खाते रहते है, जिसमे उनमे टूट-फूट होती रहती है। इस तरह टुकडो के आपस मे रगड तथा घर्षण द्वारा टूटने की क्रिया को सन्निघर्षण कहते है।[1] इस क्रिया द्वारा टुकडे टूट कर छोटे तथा महीन होते रहते हैं। मुख्य रूप मे टुकडो का आकार गोल होता जाता है। सन्निघर्षण द्वारा नदी भार के पदार्थ अत्यधिक महीन तथा बारीक हो जाते है जिनका परिवहन आसानी से हो जाता है।

(iv) जल गति क्रिया (Hydraulic Action—इस क्रिया द्वारा अपरदन मे केवल जल का ही सहयोग होता है अन्य साधनो का नहीं। बिना कंकड पत्थर आदि के सहायता के तथा बिना रासायनिक क्रिया के जल यान्त्रिक ढग से मार्ग मे पडने वाली चट्टानो के कणो को धक्के द्वारा ढीला तथा कमजोर बना कर तथा उन्हे चट्टान से अलग करके अपने साथ लेकर बहता है।[2] इस क्रिया मे जल का वेग अधिक महत्त्वपूर्ण होता है।

उपर्युक्त नदी-अपरदन के चार प्रकार प्राय एक दूसरे से सम्बन्धित होते है। उदाहरण के लिए हाइड्रेशन की क्रिया से चट्टानो के कण कमजोर हो जाते है। फलस्वरूप सन्निघर्षण द्वारा उनका टूटना अधिक सरल हो जाता है। नदी के अपरदन मे नदी की घाटी के किनारे का ढाल भी अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। यदि ढाल

1 Attrition is the mechanical wear and tear of transported materials in themselves

2 Hydraulic action is the mechanical loosening and removal of materials of rocks by water alone

तीव्र होता है तो गुरुत्व के कारण भूमि स्खलन (Land-sliding), अवपात Slumping), भूमि सर्पण (Soil and land creep) आदि द्वारा घाटी के कगार सरक कर नीचे आते रहते हैं। इस तरह अपक्षय (Weathering) तथा सामूहिक स्थानान्तरण (Mass translocation) भी अपरदन में सहायक होते हैं।

नदी के विभिन्न भागों के अनुसार अपरदन को चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम, **क्षैतिज अपरदन** (Lateral erosion)—इससे नदी की घाटी के किनारों का अपरदन होता है, जिससे घाटी की चौड़ाई सदैव बढ़ती जाती है। नदी की प्रौढ़ावस्था तथा जीर्णावस्था में क्षैतिज अपरदन अधिक सक्रिय होता है। द्वितीय, **लम्बवत अपरदन**—इस क्रिया द्वारा नदी की घाटी की तली का कटाव होता है, जिससे घाटी निरन्तर गहरी होती जाती है। इस क्रिया को *निम्नवर्ती कटाव* कहना अधिक उपयुक्त होगा। यह क्रिया नदी की तरुणावस्था में अधिक सक्रिय होती है। तृतीय, **शीर्ष अपरदन**—प्रत्येक नदी अपने शीर्ष की ओर कटाव करके अपना विस्तार करती है। यद्यपि यह क्रिया अत्यन्त मन्द होती है तथापि भू-आकृति विज्ञान में इसका पर्याप्त महत्त्व है। इस क्रिया द्वारा जल-विभाजक कटते जाते हैं तथा सरिता-अपरदन की क्रियायें अधिक सक्रिय होती है। शीर्ष अपरदन में *अपक्षय तथा सामूहिक स्थानान्तरण (Mass translocation) खासकर* भूमि-स्खलन अवपात तथा भूमि-सर्पण भी सहायक होते हैं। चतुर्थ, **मुख अपरदन** (Mouthward erosion)—यह *अपरदन तब तक चलता है, जब तक कि नदी झील या* सागर में मिल नहीं जाती। इस अवस्था में भी डेल्टा के निर्माण होने पर नदियाँ उसे अपनी शाखाओं द्वारा काट कर कई भागों में विभक्त कर देती हैं। व्यापक रूप में उद्गमस्थल से मुहाने की ओर होने वाले अपरदन को भी मुख अपरदन में सम्मिलित किया जा सकता है। उपर्युक्त अपरदन के चार प्रकारों में क्षैतिज अपरदन अधिक महत्त्वपूर्ण होता है क्योंकि अन्ततः यही अपरदन भूपटल की असमानताओं को दूर करने में समर्थ होता है तथा नदी का समस्त भाग एक समप्राय मैदान (Peneplain) के रूप में बदल जाता है। क्षैतिज अपरदन द्वारा जल-विभाजक तथा दोआब (Interfluves) भी निरन्तर सँकरे होते हैं तथा अन्ततः विलीन हो जाते हैं।

आधार-तल (Base Level)

(नदी द्वारा अपरदन की अन्तिम सीमा)

प्रत्येक नदी के अपरदन की अन्तिम सीमा होती है, जिसके बाद पुनः अपरदन सम्भव नहीं हो सकता है। इस *सीमा को नदी का आधार-तल या निम्न स्तर (Base level)* कहते हैं। आधार-तल, वास्तव में, नदी के लम्बवत अपरदन की अन्तिम सीमा होती है। पावेल ने 1875 ई० में आधार तल पर अपनी विचारधारा का प्रतिपादन किया था, जिसकी आगे चलकर कटु आलोचना की गई। पावेल के अनुसार सागर-तल मुख्य आधार-तल (Grand-base level) को प्रदर्शित करता है जिसके नीचे शुष्क स्थल खण्ड का अपरदन नहीं हो सकता है, परन्तु अस्थायी तथा स्थानीय उद्देश्यों के लिए अपरदन के और भी आधार तल हो सकते हैं, जो कि प्रमुख नदी के तल के बराबर होते हैं। आधार-तल वास्तव में एक काल्पनिक सतह (Imaginary surface) होता है जो कि प्रमुख सरिता के निचले भाग की ओर धीरे-धीरे झुकता जाता है। पावेल के शब्दों को यहाँ पर मौलिक रूप में उद्धृत किया जा रहा है—

"We may consider the level of the sea to be a grand base level below which the dry lands cannot be eroded, but we may also have, for local and temporary purposes, other base levels of erosion, which are the levels of the beds of the principal streams which carry away the products of erosion, (What I have called base level would, in fact, be an imaginary surface, inclining slightly in all its parts toward the lower end of the principal stream draining the area through which the level is supposed to extend, or having the inclination of its parts varied in direction *as determined by tributary streams)* Where such a stream crosses a rock in its course some of which are hard, and other soft, the harder beds form a series of temporary dams, above which the corrasion of channel through the softer beds is checked and thus we may have a series of base levels of

erosion, below which the rock on either side of the river, though exceedingly friable, cannot be degraded."[1]

पावेल के उपर्युक्त कथन का विभिन्न विद्वानों ने अलग-अलग अर्थ लगाया है। सन् 1928 ई० में मैलाट नामक विद्वान् ने पावेल के उपर्युक्त कथन के अनुसार तीन प्रकार के आधार-तलों का संकेत किया है—1. **चरम आधार-तल** (Ultimate base level), 2. **स्थानीय आधार-तल** (Local base level) तथा 3. **अस्थायी आधार-तल** (Temporary base level)। सन् 1902 ई० में डेविस महोदय[2] ने बताया कि पावेल के कथन का तात्पर्य तीन प्रकार के आधार-तल से था—1. प्रमुख या सामान्य आधार-तल (Grand or general base level), 2. काल्पनिक आधार-तल (Imaginary base level), तथा 3. स्थानीय एवं अस्थायी आधार-तल (Local and temporary base level)। पुनः डेविस ने अपने उसी लेख में केवल दो प्रकार के आधार-तल का उल्लेख किया है—1. सामान्य या स्थायी आधार-तल (General or permanent base level) तथा 2. स्थानीय या अस्थायी आधार-तल (Local or temporary base level)। इस तरह पावेल के विचारों के सम्पादन के बाद 110 वर्ष बीत चुके हैं परन्तु आज तक उनके विचारों का अर्थ अलग-अलग ही लगाया जा रहा है तथा आधार-तल को स्थल-खण्ड के अपरदन की सीमा के रूप में बताया है न कि एक समतल सतह के रूप में। सन् 1929 ई० में जानसन महोदय[3] ने बताया कि स्थलखण्ड के अपरदन की चरम सीमा (Ultimate limit) सागर-तल होता है तथा यह चरम आधार-तल (Ultimate base level) सागर की समतल सतह ((Plane surface of the sea) होता है जो कि स्थल के नीचे विस्तृत होता है। इस तरह जानसन महोदय ने आधार-तल को एक रेखा-गणित की सीधी रेखा के रूप में प्रदर्शित करने का प्रयास किया है। यह प्रयास सैद्धान्तिक रूप में सत्य हो सकता है परन्तु प्रयोग में सर्वथा काल्पनिक है। सागर के समीप आधार-तल सागर-तल की समतल सतह के बराबर हो सकता है परन्तु नदी के ऊपरी भाग में अर्थात् सागर के आन्तरिक भाग में यह आधार-तल निश्चय ही सीधी रेखा में न होकर एक वक्र के रूप में होगा। यदि जानसन के विचारों को थोड़े समय के लिये मान भी लिया जाय तो भी सागर-तल अत्यधिक दूर वाले स्थलखण्ड के निम्नीकरण की अन्तिम सीमा इसलिये नहीं बन सकता क्योंकि पटल-विरूपण (Diastrophism) के कारण स्थलखण्ड एक लम्बे समय तक अविचल तथा स्थिर(Stand still) नहीं रह सकता है। जानसन ने भी पावेल के विचारों के आधार पर आधार-तल को दो भागों में ही विभक्त किया है—1. **चरम आधार-तल** तथा 2. **अस्थायी स्थानीय आधार-तल** (Temporary local base level)। यद्यपि वर्तमान समय तक आधार-तल के स्वभाव तथा प्रकारों पर पर्याप्त मतभेद है तथापि लेखक इसे तीन विभिन्न भागों में विभाजित करना उचित समझेगा।

1. सामान्य या चरम या स्थायी आधार-तल (General or Ultimate or Permanent Base level)—अधिकांश नदियाँ प्रायः सागर में रिक्त होती हैं। अतः सागर-तल जल द्वारा अपरदन की अन्तिम सीमा निर्धारित करता है। इसका तात्पर्य सागर-तल के बराबर धरातल के नीचे एक सीधी रेखा से कदापि नहीं होता है। आधार-तल एक निष्कोण वक्र (*Smooth curve*) के रूप में होता है जिसका ढाल नदी के ऊपरी भाग की ओर अवतल होता है। वास्तव में आधार-तल एक ऐसा वक्र होता है जिसका ढाल नियमित रूप से सागर की ओर धीरे-धीरे गिरता जाता है। यही सीमा नदियों द्वारा अपरदन या निम्न कटाव (*Down cutting*) की अन्तिम सीमा होती है। इस तरह आधार-तल केवल सागर के समीपी भाग में तल के बराबर होता है तथा वहाँ पर निम्न कटाव सागर तल के बराबर होता है परन्तु आन्तरिक भाग में जाने पर आधार-तल सागर-तल से ऊपर उठता जाता है। अतः आधार-तल एक ऐसा वक्र होता है, जिस पर सागर-तल एक स्पर्श रेखा के समान होता है। प्रत्येक सरिता का आधार-तल सदैव एक ही नहीं होता है। सागर-तल के उठने तथा नीचे होने के साथ ही साथ यह आधार-तल भी बदलता रहता है। यदि कोई नदी सागर-तल के बराबर (आधार-तल) अपना

1. Powell, J. W. (1875)—Exploration of Colorado River of the West, p 203, Smithsonian Institution, Washington
2. Davis W. M. (1902)—Base-level, grade and peneplain, J. Geol 10, pp 77-111 and also in "Geographical Essays."
3. Johnson, D. W. (1929)—Base level, J. Geol., 37, pp 675-782.

घाटी को गहरा कर लेती है तो यह कहा जाता है कि नदी **"आधार-तल को प्राप्त हो गई है।"**

2 अस्थायी आधार-तल (Temporary Base level)—अस्थायी आधार-तल नदी के मार्ग मे कई कारणो द्वारा उपस्थित होता है। उदाहरण के लिये यदि कई नदियों का जल एक झील मे गिरता है तथा पुन झील का जल एक निकास (Outlet) के रूप मे एक नदी का रूप धारण करता है तो झील का तल ऊपरी नदियो के लिये आधार-तल का कार्य करता है। अर्थात् ऊपरी नदियो के निम्न कटाव की अन्तिम सीमा झील का तल ही होती है। कुछ समय बाद जब नदियाँ झील को या तो भरकर या अपने निम्न कटाव द्वारा बहा ले जाती हैं तो झील का आधार-तल के रूप मे नियन्त्र । समाप्त हो हो जाता है। फलस्वरूप झील द्वारा उत्पन्न आधार-तल लुप्त हो जाता है। चूंकि यह थोड़े समय तक ही रहता है, अत इसे अस्थायी आधार-तल कहते है। नदी के मार्ग मे इस प्रकार के कई अस्थायी आधार-तल हो सकते हैं तथा अन्तत नदी इन सभी अस्थायी आधार-तलो को समाप्त करके, सागर-तल के अनुसार एक स्थायी आधार-तल का विकास कर लेती है। अस्थायी आधार-तल उस समय भी हो जाता है जबकि नदी के मार्ग मे कठोर तथा मुलायम चट्टानो के स्तर पाये जाते है। मुलायम चट्टान का स्तर शीघ्र कट जाता है परन्तु कठोर शैल का स्तर प्रतिरोधी होने के कारण निकला रहता है, जिसके नीचे कटाव नही हो पाता है। इस तरह प्रतिरोधी शैल का निकला हुआ स्तर अपने ऊपरी भाग मे नदी के लिये आधार-तल का निर्माण करता है, जिसके नीचे अपरदन नही हो सकता है। यह स्थिति तब तक रहती है जब तक कि प्रतिरोधी शैल पूर्णतया कट न जाय। इस तरह के अस्थाई आधार-तल नदी के मार्ग मे कई हो सकते है।

3. स्थानीय आधार-तल (Local Base levels)—यदि कोई नदी निम्न कटाव द्वारा अपने आधार-तल को प्राप्त करके क्रमबद्ध हो गई है तो उस सरिता का आधार तल समीपी स्थलखण्ड के निम्न कटाव की अन्तिम सीमा को निर्धारित करता है। इस तरह के आधार-तल को स्थानीय आधार-तल कहा जा सकता है। यदि इस तल के बराबर स्थलखण्ड का कटाव हो गया है तो कहा जा सकता है कि स्थलखण्ड अपने आधार-तल को प्राप्त हो गया है।

आधार-तल मे परिवर्तन या संचलन

(Changes or Movements in Base-level)

आधार-तल मे परिवर्तन का स्थलरूपो के निर्माण, विकास एवं विनाश पर प्रत्यक्ष प्रभाव होता है। सागर-तल चूंकि नदी द्वारा होने वाले निम्नवर्ती अपरदन की अन्तिम सीमा (अत अपरदन के आधार-तल) को निश्चित करता है, अत सामान्य अपरदन-चक्र का कार्यान्वियन सागर-तल की स्थिरता एव अस्थिरता पर निर्भर करता है। सागर-तल मे परिवर्तन होने से अपरदन के आधार-तल मे भी परिवर्तन होता है जिससे अपरदन-चक्र विघ्नित (Interrupt) हो जाता हैं। सागर-तल परिवर्तन प्राय: दो तरह का होता है—**सुस्थैतिक परिवर्तन** (Eustatic change) का प्रभाव विश्वव्यापक होता है तथा **स्थानीय परिवर्तन** (Local change) का प्रभाव सीमित क्षेत्रो मे ही होता है। समय के परिवेश मे यह परिवर्तन भी दो तरह का होता है- **दीर्घकालिक (Long-term)** एव **अल्पकालिक (Short-term)** परिवर्तन। सागर-तल मे परिवर्तन तथा तज्जनित आधार-तल मे परिवर्तन का अर्थ स्थल भाग एवं सागर-तल के सापेक्ष सन्दर्भ मे लिया जाता है। इस दृष्टिकोण से सागर-तल (अत. आधार-तल) में परिवर्तन दो तरह का होता है—**धनात्मक परिवर्तन** (Positive) तथा **ऋणात्मक परिवर्तन** (Negative change)। जब सागर-तल के सन्दर्भ मे स्थलीय भाग मे अधोगति (Subsidence) होती है तो उसे सागर-तल एवं आधार-तल मे **धनात्मक परिवर्तन** कहते हैं। जब स्थलीय भाग मे सागर-तल के सन्दर्भ मे उपरिमुखी गति (Emergence) होती है तो उसे सागर-तल या आधार-तल का **ऋणात्मक परिवर्तन** कहते है। इस तरह सागर-तल मे धनात्मक परिवर्तन (सागर-तल मे वृद्धि) के कारण तटीय भाग का निमज्जन (Submergence) होता है और ऋणात्मक परिवर्तन (सागर-तल मे ह्रास) के समय तटीय भाग का निमज्जन (Submergence) होता है और ऋणात्मक परिवर्तन (सागर-तल मे ह्रास) के समय तटीय भाग का उन्मज्जन (Emergence) होता है। सागर-तल मे परिवर्तन मुख्य रूप मे हिमानीकरण (ऋणात्मक परिवर्तन) एव अहिमानीकरण (Deglaciation—मुख्य रूप से हिम चादरो के पिघलने से प्राप्त जल के सागरो मे वापस जाने से, धनात्मक परिवर्तन) और विवर्तनिक (Tectonic) कारणो से होता है। निम्न पंक्तियो मे आधार तल के धनात्मक एव ऋणात्मक परिवर्तनो के प्रभावो का उल्लेख किया जा रहा है।

आधार-तल में धनात्मक परिवर्तन एवं उसका प्रभाव

आधार-तल मे धनात्मक परिवतन से अपरदन-चक्र विघ्नित तो होता है परन्तु चक्र की अवधि कम भी हो

जाती है। नदी का निम्नवर्ती अपरदन स्थगित हो जाता है तथा निक्षेपण का कार्य तेज हो जाता है। तटीय भागों पर निर्मित स्थलरूपों का लोप हो जाता है। इस तरह के परिवर्तन के निम्न प्रभाव होते हैं—

(i) **रिया तथा एस्चुअरी का निर्माण**—आधार-तल के धनात्मक परिवर्तन का तात्पर्य होता है सागर-तल में वृद्धि। इसका त्वरित प्रभाव यह होता है कि नदियों की घाटियाँ (जहाँ पर तट के पास नदियाँ सागरों में गिरती होती हैं) जलमग्न हो जाती हैं तथा रिया एवं एस्चुअरी का निर्माण होता है। जहाँ पर नदियों के मुहाने (Mouths) तथा उनकी घाटियाँ अधिक उच्चावच वाले भाग में होती हैं तो जलमग्न होने पर रिया का निर्माण होता है परन्तु जहाँ पर उच्चावच नगण्य होते हैं वहाँ एस्चुअरी का निर्माण होता है। पश्चिमी यूरोप के प्रमुख प्रायद्वीपों खासकर द० प० आयरलैण्ड, कार्नवाल, ब्रिटैनी, उ० प० स्पेन आदि में रिया का निर्माण हुआ है। रिया के आकार दो तथ्यों पर निर्भर करते हैं—(i) सागर-तल में धनात्मक परिवर्तन के पूर्व नदी-घाटी के रूप तथा वहाँ की शैल संरचना के बीच सम्बन्ध एवं (ii) शैल संरचना तथा तट रेखा के बीच सम्बन्ध। जहाँ पर नदी

चित्र 249—द० प० आयरलैण्ड का रिया तट।

घाटी का विकास कमजोर शैल-संरचना पर उसकी दिशा में हुआ है (खास कर कमजोर शैल-स्तर पर) वहाँ पर जलमज्जन के कारण लम्बे एवं सँकरे रिया का निर्माण होता है। इसका सर्वोत्तम उदाहरण आयरलैंड के द० प० भाग में देखने को मिलता है (चित्र 249)। इसके विपरीत जहाँ पर नदी-घाटी का विकास शैल-संरचना के अनुप्रस्थ (Transverse) दिशा में होता है वहाँ पर जलमज्जन के बाद निर्मित रिया का आकार अत्यन्त असमान होता है। मुख्य रिया का भाग सीधा न होकर असमान होता है तथा उसकी (रिया) शाखायें भी होती हैं (ये शाखायें उन परवर्ती (Subsequent) नदियों की घाटियों के जलमज्जन से बनती हैं जो जलमज्जन के पहले मुख्य नदी की सहायक थी तथा कमजोर शैल-स्तरों के सहारे निर्मित थी)। इस तरह का उदाहरण कार्क हारबर (Cork Harbour) में मिलता है (चित्र 250)। ऐसे ही रिया का उदाहरण प्लाइमाउथ साउण्ड (Plymouth Sound) में देखने को मिलता है। यदि सागर-तल (अत आधार-तल) में धनात्मक परिवर्तन के पूर्व शैल-संरचना की दिशा तट के समानान्तर होती है तथा कटक (Ridges) का निर्माण हुआ रहता है तो धनात्मक परिवर्तन के कारण नदी-घाटी के जलमज्जन के कारण द्वीपों की कई कतारें बन जाती हैं। इस तरह के उदा-

चित्र 250—कार्क हार्बर का रिया तट।

हरण युगोस्लाविया एवं चिली के तट के सहारे दृष्टिगत होते हैं। चित्र 251 (पृष्ठ 502) में युगोस्लाविया तट के पास जल-मज्जन के कारण निर्मित तट के समानान्तर द्वीपों की पंक्तियों को देखा जा सकता है।

(ii) **नदी-मुख का भरना**—(Filling of river mouths)—ज्ञातव्य है कि आधार-तल में धनात्मक परिवर्तन के कारण जलमज्जन के फलस्वरूप निर्मित रिया का स्थायित्व नदी द्वारा लाये गये अवसाद पर निर्भर करता है। जहाँ पर नदियाँ कमजोर शैल पर प्रवाहित होती हैं वहाँ पर नदियाँ अपने साथ पर्याप्त मात्रा में अवसाद लाती हैं। यदि जलमज्जन के समय नदियाँ

चित्र 251—युगोस्लाविया तट । जलमज्जन के कारण तट के कुछ भाग का डूबना ।

इतना अवसाद लाती है कि उनके निक्षेपण से घाटी के भराव (Filling) एवं जलमज्जन की दर मे बराबरी हो जाय तो रिया का निर्माण ही नही हो पाता है। यदि जल-मज्जन से रिया के निर्मित होने के तुरन्त बाद अवसाद का निक्षेपण अत्यधिक हो जाता है तो रिया शीघ्र ही भर जाता है तथा वह समाप्त हो जाता है। इस तरह की घाटी को **तिरोहित घाटी** या **तिरोहित जलधारा** (Buried valley या Channel) कहते हैं। इस तरह के उदाहरण पूर्वी एवं दक्षिणी इगलैंड की तिरोहित जल-धाराओ मे देखने को मिलता है। इन नदियो का सागर-तटीय वाले भाग का वर्तमान सागर-तल की तुलना मे निम्न आधार-तल पर **श्रेणीकरण** (Grading) हुआ है परन्तु आधार-तल मे धनात्मक परिवर्तन के कारण जल-मज्जन के समय अवसाद के निक्षेपण से इनका भराव (Filling) हो गया है। Adur एवं Ouse घाटियो मे 15 मीटर (50 फीट) तथा Arun घाटी मे 30 मीटर (100 फीट) तक भराव हुआ है।

(iii) **बाढ़-मैदान** (Flood plains) **का निर्माण**—सागर-तल मे उभार (rise) के कारण आधार-तल मे धनात्मक परिवर्तन के कारण नदियो के निचले भाग के जलमज्जन हो जाने के कारण अवसादो के निक्षेपण होने से विस्तृत निक्षेपात्मक मैदानो का निर्माण होता हैं क्योकि आधार-तल के ऊपर उठने से नदियो के जलमार्ग का ढाल कम होने से नदी की परिवहन-सामर्थ्य मे ह्रास होने मे निक्षेपण होता है।

(iv) **निम्न भागो का अवसादीकरण से भराव** (Filling of lowlands by aggradation) —आधार-तल मे धनात्मक परिवर्तन के कारण पहले से निर्मित निम्न भागो का अवसादो द्वारा निक्षेपण होने से भराव हो जाता है तथा अभिवृद्धि (aggradation) की स्थिति आ जाती है। इस तरह की क्रिया का सर्वोत्तम उदाहरण **ब्रिटिश द्वीप के फेनलैण्ड** (Fenland) से प्राप्त होता है जहाँ पर ऊपरी जुरैसिक युग की शैल मे निम्नवर्ती अपरदन-द्वारा निर्मित बेसिन मे प्लीस्टोसीन युग मे हुए सागर-तल मे परिवर्तनो के कारण सागरीय निक्षेपण हुआ है।

(v) **सागरीय द्वीपों का निर्माण**—यद्यपि अधिकाश द्वीपो का निर्माण ज्वालामुखी क्रिया, विवर्तनिक कारणो द्वारा होता है, परन्तु सागरतटीय क्षेत्रो मे कुछ द्वीपो का निर्माण प्लीस्टोसीन युग के हिमकालोपरान्त सागर-तल मे उभार के कारण हुआ है। सागर-तल मे उभार के कारण तटीय क्षेत्रो मे जल के प्रसार (transgression) के कारण तट के पास कटको (ridges) के मध्य घाटियो का जलमज्जन हो जाता है जिस कारण कटको के भाग सागर-तल के ऊपर निकले रहते है और द्वीपो का निर्माण हो जाता है।

आधार-तल मे ऋणात्मक परिवर्तन एवं उसका प्रभाव

सागर तल मे गिरावट या ह्रास (Fall) के कारण आधार-तल मे ऋणात्मक परिवर्तन होता है। इस परि-वर्तन का प्रभाव नदी की अपरदन-सामर्थ्य, स्थलरूपो क निर्माण एवं जलीय अपरदन-चक्र पर अधिक होता है। ऋणात्मक परिवर्तन के कारण अपरदन-चक्र विच्छिन्न हो जाता है तथा नदियो मे नवोन्मेष (rejuvenation) हो जाता है क्योकि नदी के जलमार्ग-ढाल की प्रवणता बढ जाती है एवं नदी के निम्नवर्ती अपरदन की सामर्थ्य मे वृद्धि हो जाती है। इस तरह के परिवर्तन के कारण सागर-तटीय भाग एवं प्रवाह-बेसिन मे कई प्रकार के स्थलरूपो का निर्माण हो जाता है। इनमे प्रमुख है—उत्थित पुलिन एवं उत्थित सागरीय वेदिकाएँ (raised beaches and marine terraces), नदी वेदिकायें, निक प्वाइण्ट, निक प्वाइण्ट जलप्रपात, अध कर्तित विसर्प, स्थलाकृतिक विषम-विन्यास (ऊपर स्थित विस्तृत एवं चौडी प्राचीन घाटी के अन्तर्गत नवीन सकरी तथा गहरी घाटी) आदि। सागर-तल मे ऋणात्मक परि-वर्तन के कारण नदी का प्रारम्भिक प्रवणित वक्र विक्षुब्ध (disturb) हो जाता है तथा मुहाने के पास नवोन्मेष के

कारण नदी नये आधार-तल के सन्दर्भ में निम्नवर्ती अपरदन करके अपने वक्र को पुनः क्रमबद्ध करने का प्रयास करती है। इस तरह जहाँ पर नवीन तथा पुराने वक्र आपस में मिलते हैं वहाँ पर ढाल-भंग (break in slope) होता है एवं निक प्वाइण्ट (नवोन्मेष का शीर्ष) का निर्माण होता है। जैसे-जैसे नदी की क्रमबद्धता (grading) नदी के ऊपरी भाग (upstream) की ओर अग्रसर होती है वैसे-वैसे निक्प्वाइण्ट भी ऊपरी भाग की ओर खिसकता जाता है। जब नदी की अनुदैर्ध्य परिच्छेदिका नये आधार-तल के सन्दर्भ में पूर्णतया क्रमबद्ध हो जाती है तो निक्प्वाइण्ट विलीन हो जाते हैं। अध्याय 14 (अपरदन-चक्र की संकल्पना तथा गतिक सन्तुलन सिद्धान्त) में सागर-तल में ऋणात्मक परिवर्तन के कारण नवोन्मेष द्वारा उत्पन्न स्थलाकृतियों का विशद वर्णन किया जा चुका है। नवोन्मेष के द्वारा नदी की अनुदैर्ध्य परिछेदिका के विक्षुब्ध होने तथा उसके पुनः क्रमबद्ध (regrading) होने की प्रक्रियाओं एवं तज्जनित प्रभावों का उल्लेख अध्याय 19 (नदी-घाटी का विकास) में किया गया है।

नदी का परिवहन कार्य
(Transportation by Stream)

नदियाँ अपरदन द्वारा प्राप्त चट्टान-चूर्ण या मलवा (Debris) का एक स्थान से दूसरे स्थान तक स्थानान्तरण करती हैं। नदी के इस कार्य को परिवहन कहते हैं। अपरदन के अलावा नदियों में अपक्षय द्वारा विघटित एवं वियोजित पदार्थों तथा भूमि स्खलन (Landslide) अवपात (Slumping) तथा भूमि सर्पण (Land creep) द्वारा भी मलवा प्राप्त होता है जिसका परिवहन नदी का जल करता है। नदी द्वारा छोटे-बड़े तथा महीन सभी प्रकार के कणों का परिवहन किया जाता है। नदी की परिवहन शक्ति की एक सीमा होती है जिससे अधिक बोझ होने पर नदी उसे ढोने में असमर्थ हो जाती है और निक्षेप करने लग जाती है। नदी की परिवहन शक्ति को प्रभावित करने वाले दो कारक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। 1. बोझ के पदार्थों का आकार तथा मात्रा और 2. नदी का वेग। महीन कणों वाले बारीक पदार्थों का परिवहन नदी के साथ घोल के रूप में आसानी से हो जाता है। परन्तु बड़े कणों वाले पदार्थों का परिवहन नदी की तली के साथ लुढ़कते हुये होता है। नदी का वेग, जो कि नदी की परिवहन शक्ति को निर्धारित करता है, नदी की घाटी के ढाल, आकार तथा स्वरूप एवं जल के आयतन पर आधारित होता है। यदि नदी मार्ग का ढाल तथा आकार स्थिर है तो *जल के आयतन में वृद्धि होने पर नदी-वेग में वृद्धि होगी* तथा उल्टी अवस्था होने पर नदी-वेग कम हो जाता है। यदि नदी घाटी का आकार तथा जल का आयतन स्थिर है तो अधिक ढाल होने पर नदी का वेग अधिक हो जायेगा। यदि ढाल तथा आयतन स्थिर है तो सीधे जलमार्ग में नदी का वेग अधिक होगा और घुमावदार जलमार्ग में वेग कम होगा। इस तरह यदि नदी का वेग अधिक होगा तो नदी की परिवहन शक्ति निश्चय ही अधिक हो जायेगी। गिलबर्ट महोदय ने नदी के वेग तथा नदी की परिवहन-शक्ति के बीच सम्बन्ध के आधार पर एक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है जिसे गिलबर्ट का "**छठी शक्ति का सिद्धान्त** (**Gilbert's Sixth Power Law**) कहते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार नदी की परिवहन शक्ति नदी के वेग की छठी शक्ति के अनुपात में होती है। अर्थात् यदि नदी के वेग को दोगुना कर दिया जाय तो नदी की परिवहन शक्ति 64 गुनी अधिक हो जायेगी। इस गुण को निम्न सूत्र द्वारा प्रदर्शित कर सकते हैं—

$$\text{परिवहन शक्ति} \propto (\text{नदी का वेग})^6$$

नदियाँ बोझ का परिवहन कई रूपों में करती हैं। इनमें निम्नलिखित रूप अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

(i) **कर्षण द्वारा** (लुढ़क कर—By Traction)—चट्टानों के बड़े-बड़े टुकड़े लुढ़कते हुए चलते हैं। इस क्रिया को कर्षण कहते हैं। इस विधि में चट्टानों के टुकड़े एक ही बार में परिवहित नहीं हो पाते हैं वरन् एक स्थान से दूसरे स्थान पर पुनः वहाँ से तीसरे स्थान पर आदि क्रम से चलते हैं। ये टुकड़े नदी की तली के साथ खिसक कर या लुढ़क कर चलते हैं।

(ii) **उत्परिवर्तन द्वारा** (By Saltation)—इस विधि में चट्टानों के टुकड़े जल के साथ नदी की तली पर उछल-उछल कर स्थानान्तरित होते हैं। उछलने या फुदकने की क्रिया नितान्त मन्द होती है। इस विधि से परिवहन की क्रिया को उत्परिवर्तन कहते हैं।

(iii) **लटक कर** (By Suspension)—यह सामान्य नियम है कि जल में प्रत्येक वस्तु का भार कम हो जाता है। जब महीन-कण चट्टानों से अलग होकर नदी के जल में गिरते हैं तो जल की **प्लवनशीलता** (Buoy-

ancy) के कारण उनके भार मे कमी आ जाती है। इस क्रिया के कारण मध्यम श्रेणी के टुकडे जल मे लटके रहते है तथा जलधारा द्वारा दूर तक बहा लिये जाते है। इस विधि को **लटकन विधि** भी कहा जाता है। अनुमान किया जाता है कि मिसीसिपी नदी के बोझ का 90% भाग लटकन के रूप मे चलता है।

(iv) **घुलकर (By Solution)**—चट्टानो के घुलनशील पदार्थ जल के साथ घुलकर मिल जाते है तथा जल के साथ अदृश्य रूप मे बहते हुये चलते है।

इस तरह नदियाँ अपने साथ उपर्युक्त विधियो से अधिक मात्रा मे पदार्थो को बहा कर सागर मे पहुँचाती रहती है। समस्त भूपटल की नदियो द्वारा प्रतिवर्ष परिवहन द्वारा सागर मे जमा किए जाने वाले पदार्थो की मात्रा निश्चय ही बहुत अधिक होगी क्योकि केवल उत्तरी अमेरिका की नदियाँ प्रतिवर्ष 800,000,000 टन मलवा को परिवहन द्वारा सागर मे पहुँचाती है।

अपरदन द्वारा उत्पन्न स्थलरूप
(Landforms due to erosion)

नदियाँ अपरदन द्वारा अपनी घाटी मे तथा समीपी स्थलखण्ड पर तरह-तरह के स्थलरूपो की रचना करती रहती है। यह आवश्यक नही है कि अपरदन द्वारा निर्मित स्थलरूप सरिता के केवल एक ही भाग मे सीमित हो। चूँकि अपरदन नदी के हर भाग मे किसी न किसी रूप मे अवश्य होता है अत स्थलरूपो का निर्माण भी नदी के हर भाग मे होता है। प्रत्येक स्थलरूप केवल एक ही प्रकार के अपरदन का प्रतिफल नही होता है वरन् सभी प्रकार के अपरदन के सम्मिलित कार्य का प्रतिफल होता है। अपरदन द्वारा निम्न स्थलरूप की रचना नदी के विभिन्न भागो मे होती है —

1 नदी की घाटी का विकास—
   (i) घाटी का गहरा होना (V आकार की घाटी, गार्ज तथा कैनियन)
   (ii) घाटी का चौडा होना (नदी विसर्प का निर्माण जलविभाजक का कटाव तथा खिसकाव)
   (iii) घाटी का लम्बा होना
   (iv) सरिता का अपहरण तथा उससे उत्पन्न स्थलरूप।
2. जल प्रपात का निर्माण।
3. जलगर्तिका (Pot hole)।
4. संरचनात्मक सोपान (Structural Benches)।
5. नदी वेदिकायें (River Terraces)।
6 नदी-विसर्प (Meanders)।
7 क्वेस्टा तथा शूकर कटक (Questa and Hog-back)।
8 समप्राय मैदान (Peneplains)।

घाटी का विकास—अध्याय 19 मे घाटी के विकास का विस्तार से साथ वर्णन किया जा चुका है। यहाँ सक्षिप्त उल्लेख ही वाँछनीय होगा। जैसे ही वाही जल एक निश्चित दिशा मे बहने लगता है, एक सरिता का आविर्भाव हो जाता है। नदी निरन्तर अपरदन द्वारा अपनी घाटी का विकास करने मे लग जाती है। घाटी का विकास तीन रूपो मे होता है। प्रथम रूप मे नदी अपनी घाटी को निम्न कटाव द्वारा गहरा करती है। यह स्थिति नदी के तरुणावस्था की द्योतक है। प्रारम्भ मे नदी मे ढाल की अधिकता तथा अधिक वेग के कारण नदी का गहरा होना ही अधिक सक्रिय होता है। द्वितीय रूप मे नदी क्षैतिज अपरदन द्वारा अपनी घाटी के किनारो को काट करके उसे चौडा बनाती है। तृतीय रूप मे नदी अपने शीर्ष की ओर अपरदन करके तथा मुख की ओर डेल्टा का निक्षेप करके अपनी लम्बाई मे वृद्धि करती है। यहाँ पर हम नदी की घाटी के गहरी होने की प्रक्रिया तथा उससे उत्पन्न स्थलरूपो का सक्षिप्त विवरण उपस्थित करेंगे।

V आकार की घाटी (V shaped Valley)—सर्वप्रथम नदी अपनी तली को काट कर उसे गहरा करती है, जिसके कारण नदी घाटी की गहराई सदैव बढती जाती है तथा घाटी का आकार आग्लभाषा के V अक्षर के समान हो जाता है। इसमे दीवालो का ढाल या तो तीव्र या उत्तल होता है। नदी की घाटी अत्यन्त तग एव सकरी होती है। इन घाटियो का निरन्तर विकास होता है, जिसके गहराई तथा आकार दोनो मे वृद्धि होता है। इसका यह तात्पर्य नही है कि इस घाटी के निर्माण के समय केवल निम्न कटाव द्वारा घाटी गहरी होती है। इसके विपरीत घाटियो मे क्षैतिज अपरदन भी होता है तथा उनकी चौडाई भी बढती है परन्तु गहरा होने का कार्य सर्वाधिक अवश्य होता है। आकार के अनुसार V आकार की घाटियो को दो वर्गो मे विभाजित किया जा सकता है—गार्ज तथा कैनियन।

(अ) **गार्ज (Gorge)**—गार्ज तथा कैनियन दोनो ही V आकार की घाटियो के रूप होते है, जिनमे किनारे की दीवाल अत्यन्त खडे ढाल वाली होती है तथा चौडाई की अपेक्षा गहराई बहुत अधिक होती है। गार्ज तथा

कैनियन में इस प्रकार अन्तर स्थापित करना कठिन कार्य है। सामान्य रूप में बहुत गहरी तथा सँकरी घाटी को गार्ज या कदरा कहते हैं। दोनों में अन्तर केवल आकार का होता है अर्थात् गार्ज के विस्तृत रूप को ही कैनियन कह सकते हैं। गार्ज में दीवालों का ढाल कभी-कभी इतना अधिक होता है कि दीवालें बिल्कुल लम्ब रूप में होती हैं। वास्तव में V आकार की घाटी का ढाल अधिक तीव्र हो जाता है तो गार्ज का निर्माण होता है। गार्ज का निर्माण नदी द्वारा तीव्र गति से निम्न कटाव द्वारा होता है। कभी-कभी प्रपातों के द्रुत गति से पीछे हटने के कारण भी गार्ज का निर्माण होता है।

राँची पठार पर हुण्डरूघाघ जलप्रपात के नीचे स्वर्णरेखा नदी ने, जोन्हा प्रपात के नीचे राढू नदी ने, दासमघाघ प्रपात के नीचे काँची नदी ने तथा फेरूआघाघ (राँची पठार की दक्षिणी सीमा पर) के नीचे कारो नदी ने सकरे गार्ज का निर्माण किया है।

प्रायद्वीपीय भारत के उत्तरी अग्रप्रदेश से जो नदियाँ उत्तर की ओर प्रवाहित होती हुई कगार से उतर कर यमुना तथा गंगा नदियों में मिलती है वे जलप्रपात तथा लम्बे सकरे तथा गहरे गार्ज का निर्माण करती हैं। (देखिए पृष्ठ 73 का चित्र 18)। उदाहरण के लिए टोंस नदी पर पुरवा प्रपात के नीचे पुरवा गार्ज, बीहर नदी पर चचाई प्रपात के नीचे चचाई गार्ज, महानदी पर केवटी प्रपात के नीचे केवटी गार्ज ओड्डा नदी पर ओड्डा प्रपात के नीचे ओड्डा गार्ज (145 मीटर गहरा) आदि। इसी तरह जबलपुर के पास नर्मदा नदी का धुंआधार प्रपात के नीचे भेड़ाघाट गार्ज एवं हजारीबाग पठार पर रजरप्पा के पास दामोदर नदी के गार्ज दर्शनीय हैं।

(ब) कैनियन (Canyons)—गार्ज के विस्तृत रूप को ही कैनियन या सकीर्ण नदी कंदरा कहते हैं। यह आकार में विशाल परन्तु अपेक्षाकृत अधिक सकरा होता है। घाटी के दोनों किनारे की दीवालें खड़े ढाल वाली होती है तथा नदी-तल से अधिक ऊँची होती है। जब कठोर एवं सगठित चट्टानों में होकर नदी अपनी घाटी को अत्यधिक गहरा करके खड़े ढाल वाली बनाती है तथा जब अपक्षय एवं सामूहिक स्थानान्तरण से ये खड़ी दीवालें प्रभावित नहीं हो पाती है तो दीवालों का ढाल सीधा तथा तीक्ष्ण ही बना रहता है तथा कैनियन का निर्माण हो जाता है। जब चट्टानों की कठोरता कहीं कम और कहीं ज्यादा होती है तो कैनियन की दीवालें बिल्कुल लम्ब रूप में न होकर उबड़-खाबड़ ढाल वाली होती हैं। कैनियन की गहराई तथा दीवालों के खड़े ढाल का अनुमान इसी बात से हो जाता है कि ऊपर से देखने पर इस घाटी में बहने वाली नदी एक पतली सफेद रेखा के समान दीखती है।

गार्ज तथा कैनियन के उदाहरण हर महाद्वीप में मिलते हैं। हिमालय पर्वत में सिन्धु, सतलज तथा ब्रह्मपुत्र नदियों के गार्ज दर्शनीय हैं। सिन्धु नदी हिमालय की श्रेणियों को काट कर 17000 फीट गहरे गार्ज से होकर प्रवाहित होती है। संयुक्त राज्य अमेरिका के एरिजोना प्रान्त में कोलोरैडो नदी का ग्राण्ड कैनियन (Grand Canyon) ससार प्रसिद्ध कैनियन का उदाहरण है। कोलोरैडो पठार के प्लायोसीन युग के अन्त में उत्थान के कारण नदी द्वारा निम्न कटाव के फलस्वरूप इस कैनियन का निर्माण हुआ है। यहाँ कैनियन की गहराई 2083 3 मीटर है तथा लम्बाई 482.8 किलोमीटर है। संयुक्त राज्य अमेरिका की येलोस्टोन नदी का कैनियन यद्यपि ग्राण्ड कैनियन से लघु आकार तथा कम गहराई वाला है परन्तु यह दृश्यावली के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यह मनोरम दृश्य उपस्थित करता है। स्वच्छ-जल प्रपात तथा क्षिप्रिकायें और रंगीन दीवालें निश्चय ही इस कैनियन को एक दर्शनीय स्थलाकृति का रूप प्रदान करती हैं। कैनियन का निर्माण लावा पठार में येलोस्टोन नदी द्वारा निम्न कटाव के कारण हुआ है। अरकन्सास नदी का रायल गार्ज (Royal Gorge) एक महत्त्वपूर्ण गार्ज का उदाहरण प्रस्तुत करता है जिसकी गहराई 1100 फीट है। यहाँ पर गार्ज का निर्माण कैम्ब्रियन कल्प से पहले की ग्रेनाइट, क्वार्टजाइट तथा शिस्ट चट्टानों में अरकन्सास नदी द्वारा निम्न कटाव के कारण हुआ है।

जल प्रपात तथा क्षिप्रिका (Water fall and Rapids)

जब किसी स्थान पर नदियों का जल अधिक ऊँचाई से खड़े ढाल अर्थात् क्लिफ के ऊपरी भाग से अत्यधिक वेग से नीचे की ओर गिरता है तो उसे जल प्रपात कहते हैं। इस तरह की स्थिति उस समय आती है जब कि नदी के मार्ग में कठोर तथा मुलायम चट्टानों का स्तर या तो क्षैतिज अवस्था में मिलती है या लम्बवत अवस्था में। नदी का जल मुलायम चट्टान को तो काट डालता है, परन्तु कठोर प्रतिरोधी चट्टान को नहीं काट पाता है। फलस्वरूप जल उसके ऊपरी भाग से नीचे की ओर गिरने लगता है।

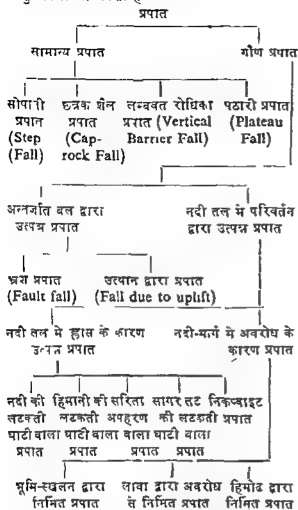
प्रपात तथा क्षिप्रिका मे अन्तर सामान्य होता है। वास्तव में नदी के जिस भाग मे जलधारा का प्रवाह साधारण वेग से अधिक होता है (अर्थात् जल ऊँचे ढाल से गिरने लगता है) तो उसे **प्रपात** या **क्षिप्रिका** कहते है। प्रपात मे ऊँचाई अधिक होती है तथा ढाल खड़ा होता है। प्राय यह विलफ के अग्र भाग से गिरता है। क्षिप्रिका की ऊँचाई प्रपात की अपेक्षा कम तथा ढाल सामान्य होता है। इस तरह क्षिप्रिका को प्रपात का एक छोटा एव सामान्य रूप ही समझना चाहिये। **क्षिप्रिका** की स्थिति प्राय प्रपात के नीचे या ऊपर हुआ करती है, परन्तु यह आवश्यक नही है कि प्रपात के साथ ही क्षिप्रिका होगी। स्वतन्त्र रूप मे भी क्षिप्रिका का विकास हो सकता है। प्रपात के उदाहरण प्रत्येक महाद्वीप मे मिलते हैं तथा देश की आर्थिक उन्नति के लिये प्रपात अत्यधिक महत्त्व वाले होते हैं। यदि ये पर्यटन उद्योग (Tourist industry) के लिए मनोरम दृश्य उपस्थित करते हैं तो जलशक्ति के उत्पादन के लिए सर्वोत्तम स्थिति प्रदान करते हैं। **संयुक्त राज्य अमेरिका** मे अप्लेशियन पर्वत के पूर्वी भाग मे न्यू इग्लैण्ड से लेकर मध्य अलबामा तक पीडमाण्ट तथा तटीय मैदान के मिलन बिन्दुओ के सहारे प्रपातों की एक क्रमबद्ध शृखला मिलती है, जिसे **प्रपात-रेखा (Fall Line)** कहा जाता है। जलशक्ति के विकास मे इस प्रपात-रेखा ने इतनी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है कि वर्तमान समय मे इस प्रपात-रेखा के सहारे औद्योगिक केन्द्रो का पर्याप्त स्थानीकरण हो गया है। इसी तरह सयुक्त राज्य अमेरिका का **नियाग्रा प्रपात** आर्थिक तथा मनोरम दृश्य, दोनो के लिए महत्त्वपूर्ण है। भारत का **नर्मदा** नदी का **धुँआधार प्रपात** मनोहारी दृश्य के लिए कम महत्त्वपूर्ण नही है।

भारत मे भी एक सुनिश्चित **प्रपात रेखा** पायी जाती है जिसकी स्थिति प्रायद्वीपीय पठार के उत्तरी अग्रदेश के सहारे पश्चिम मे **टोस** नदी के **पुरवा प्रपात** से प्रारम्भ होकर पूर्व मे बिहार मे **सासाराम** तक पायी जाती है। इस रेखा के सहारे 15 मीटर से 180 मीटर के मध्य ऊँचाई वाले सैकडो प्रपात अवस्थित हैं। इनमे से प्रमुख हैं - **रीवा पठार** के उत्तरी किनारे पर टोस नदी पर **पुरवा प्रपात** (70 मी०), टोस की सहायक **बीहर नदी** पर **चचाई प्रपात** (127 मी०) तथा **महानदी पर केवटी प्रपात** (98 मी०), बेलन की सहायक **ओडा नदी पर ओडा प्रपात** (145 मी०) आदि। **रोहतास पठार—कर्मनाशा नदी** पर **देवदरी प्रपात** (58 मी०), **पश्चिमी सुरा नदी पर तेल्हार कुण्ड प्रपात** (80 मी०), **पूर्वी सुरा नदी** पर 120 मी० प्रपात, दुर्गावती नदी पर 80 मी० प्रपात, **गोपथ नदी पर ओखरियन प्रपात** (90 मी०), घोवा नदी पर **धुआँकुन्ड प्रपात** (30 मी०), औसाने नदी पर **कुआरीडाह प्रपात** (180 मी०) तथा गयघाट नदी पर **रकौमकुण्ड प्रपात** (168 मी०) आदि। देखिये चित्र 252 (पृष्ठ 507 पर) तथा चित्र 18 (पृष्ठ 73 पर)।

जल प्रपातो के आकार, ऊँचाई तथा विस्तार मे इतना अन्तर होता है कि उनका व्यवस्थित कक्षा-विभाजन सम्भव नहीं हो पाता है। उत्पत्ति के आधार पर प्रपातो को दो प्रमुख भागो मे रखा जा सकता है 1. **सामान्य प्रपात** (Normal water falls)—इस श्रेणी मे हम उन प्रपातो को रख सकते है, जिनका निर्माण नदी के सामान्य जीवन इतिहास मे चट्टानो मे विभिन्नता के कारण होता है, जैसे कडी या मुलायम स्थिति के कारण। वास्तव मे सामान्य प्रपात नदी के प्रथम अपरदन-चक्र की तरुणावस्था के परिचायक होते हैं। नदी के **क्रमबद्ध वक्र** (Graded curve) की प्राप्ति के पहले चट्टानो मे विभेद के कारण उत्पन्न प्रपातों को सामान्य प्रपात के अन्दर रखा जा सकता है। 2. **गौण प्रपात** (Minor water falls)—जब नदी मे विक्षुब्धता या अव्यवस्था (Disturbance), आकस्मिक घटना या नदी के चक्र मे व्यवधान (Interruption), उपस्थित होने के कारण ढाल मे विभिन्नता आने से प्रपात का निर्माण होता है तो उसे गौण प्रपात कह सकते हैं। नदी के मार्ग मे 'व्यवधान दो तरह से हो सकता है 1. अन्तर्जात बल द्वारा (Due to endogenic forces)। उदाहरण के लिए स्थलखण्ड के उत्थान या अवतलन (Upliftment or subsidence) द्वारा सागर-तल मे वृद्धि या ह्रास द्वारा नदियो मे नवोन्मेष आ जाता है तथा नदियाँ कटाव द्वारा ढालो का निर्माण करती है। फलस्वरूप प्रपात तथा क्षिप्रिकाओ का निर्माण होता है। इसमे भ्रंशन द्वारा प्रपात का निर्माण अधिक होता है। 2. नदी के तल मे नदी द्वारा ही वृद्धि या ह्रास द्वारा तथा नदी-मार्ग मे अवरोध द्वारा। उदाहरण के लिये यदि नदी का तल नीचा हो जाता है परन्तु उसकी सहायक नदी का तल पूर्ववत् रहता है तो सहायक नदी की घाटी मुख्य घाटी पर लटकने लगती है, जिससे प्रपात का निर्माण हो जाता है। इसी तरह भूमि स्खलन द्वारा नदी के मार्ग मे अवरोध होने से ढाल का निर्माण होने से प्रपात का निर्माण हो जाता है।

चित्र 252 —रोहतास पठार के कगार तथा जलप्रपात।

उपर्युक्त आधारों पर प्रपात का निम्न कक्षा विभाजन प्रस्तुत किया जा सकता है—



नोयेस[1] महोदय ने विश्व के प्रपातों को ऊँचाई तथा विस्तार की दृष्टि से सारणी के रूप में प्रदर्शित किया है। यहाँ पर नोयेस के वर्गीकरण को ही प्रस्तुत किया गया है। हो सकता है, इस सारणी में दिये गये प्रपातों से भी विस्तृत एवं ऊँचे प्रपात हों, जिनका उल्लेख यहाँ पर नहीं हो पाया हो।

विश्व के महान प्रपात

(अ) उच्चतम प्रपात

प्रपात के नाम	ऊँचाई फीट तथा मीटर में	प्राप्ति स्थान
1. योसेमाइट प्रपात	2525 फीट (841 66)	कैलिफोर्निया (संयुक्त राज्य)
2. सदरलैण्ड प्रपात (Sutherland)	1904 फीट (634.66)	न्यूजीलैण्ड
3 रोरैमा प्रपात (Roraima)	1500 फीट (500.00)	ब्रिटिश गायना
4 कलाम्बो प्रपात (Kalambo)	1400 फीट (466.66)	दक्षिणी अफ्रीका
5. टाकाकू प्रपात (Takkakù)	1346 फीट (448.66)	ब्रिटिश कोलम्बिया
6 मुल्टनोमा प्रपात (Multnomah)	823 फीट (274 33)	ऑरेगन प्रान्त (संयुक्त राज्य)
7 ब्रिडलवेल (Bridalveil)	620 फीट (206 66)	योसेमाइट, कैलिफोर्निया (संयुक्त राज्य)

(ब) अधिकतम आयतन वाले प्रपात

प्रपात के नाम	ऊँचाई फीट तथा मीटर में	प्राप्ति स्थान
1. नियाग्रा प्रपात (Niagra Fall)	167 फीट (55.66)	संयुक्त राज्य तथा कनाडा
2 विक्टोरिया प्रपात (Victoria Fall)	400 फीट (133 33)	दक्षिणी अफ्रीका
3. Iguazu Fall	230 फीट (73 33)	ब्राजील
4. Kaieteur Fall	800 फीट (266.66)	ब्रिटिश गायना
5. Lower Yellow stone Fall	308 फीट (102.66)	वायोमिंग (संयुक्त राज्य)
6 ग्राण्ड प्रपात (Grand Fall)	316 फीट (105 33)	लैब्राडोर (कनाडा)

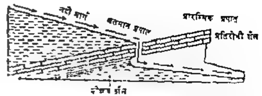
प्रपातों की उत्पत्ति की दशाएँ—भूपटल पर प्रत्येक नदी अपरदन द्वारा क्रमबद्ध या प्रवणित अवस्था (Graded stage) को प्राप्त करने का प्रयास करती है। परन्तु नदी के इस कार्य में रुकावट पड़ जाया करती है। इस रुकावट के कई कारण हो सकते हैं। उदाहरण के लिये कड़ी एवं प्रतिरोधी चट्टानों की स्थिति या भूगर्भिक कारणों द्वारा नदी के मार्ग में उत्थान या अवनलन। प्रपात के निर्माण के लिए नदी के मार्ग में तीव्र तथा खड़े ढाल का होना आवश्यक है। यह दशा कई रूपों में प्राप्त होती है। प्रपात के निर्माण की निम्न दशायें होती हैं—

1. Theodore W Noyes, The World's Great Water Falls, Nat. Geog Mag Vol 50, pp 29-58, 1926.

• **चट्टानों की कठोरता में अन्तर**—स्थलखण्ड की चट्टान के अनुसार निर्मित होने वाले प्रपातों को **सामान्य प्रपात** की संज्ञा प्रदान की जाती है। जब कठोर तथा प्रतिरोधी चट्टान के नीचे मुलायम एवं असंगठित चट्टान की स्थिति होती है तो नदी के जल द्वारा निचली मुलायम चट्टान शीघ्र कट जाती है परन्तु ऊपरी कठोर शैल निकली रहती है। इस तरह एक क्लिफ का निर्माण हो जाता है जिसके खड़े किनारे वाले ढाल से जल के गिरने से प्रपात का आविर्भाव होता है। यदि जल के गिरने वाला भाग कम ढालू होगा तो क्षिप्रिका (Rapids) का निर्माण होता है। प्रायः प्रपात कटता हुआ पीछे की ओर हटता जाता है, जिस कारण क्रमिक रूप में कई क्षिप्रिकाओं का निर्माण होता है। इस तरह क्रमिक क्षिप्रिकाओं को कासकेड (Cascade) कहते हैं। जब प्रपात में तीव्र ढाल से अत्यधिक जल गिरता है तो उस महान प्रपात को कैटरैक्ट (Catract) कहते हैं। चट्टानों की कठोरता कई रूपों में प्रपात बनाने में सहायक होती है। प्रपात का बनाना वास्तव में चट्टानों के स्तरों की स्थिति या दिशा पर आधारित होता है। इस तरह की चार स्थितियों का उल्लेख किया जा सकता है।

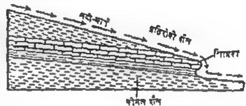
(अ) जब चट्टानों के स्तर उद्गम की ओर झुके हों—यदि नदी के मार्ग में विभिन्न कठोरता वाली चट्टानों की परत नदी के उद्गम की ओर झुकी होती हैं तथा यदि ऊपरी भाग कठोर एवं प्रतिरोधी चट्टानों का बना होता है तो प्रपात का निर्माण इस रूप में होता है—नदी का बहता हुआ जल कठोर चट्टान की अपेक्षा मुलायम चट्टान का अधिक अपरदित करता है। ऊपरी ढाल से जल नीचे गिरने लगता है इसे क्षिप्रिका कहते हैं। यदि प्रतिरोधी शैल का अग्रभाग लम्बवत हो जाता है तो जल उर्ध्वाकार रूप में ऊँचाई से निचले ढाल पर गिरता है। इस स्थिति में प्रपात का निर्माण होता है। धीरे-धीरे कठोर शैल भी कटती रहती है तथा प्रपात पीछे हटता रहता है। जब नदी पूर्णतया क्रमबद्ध हो जाती है तो प्रपात का लोप हो जाता है। चित्र 253 में इस स्थिति को प्रदर्शित किया गया है। इस तरह के प्रपात को **छत्रक शैल प्रपात** (Caprock fall) कहते हैं।

(ब) जब चट्टानों के स्तर मुहाने की ओर झुके हों—यदि चट्टानों की स्थिति इस प्रकार हो कि उनकी नति दिशा (Dip) नदी की दिशा के अनुकूल हो अर्थात् कठोर तथा मुलायम चट्टानों के स्तर नदी की दिशा में झुके हों तथा ऊपरी आवरण कठोर शैल का हो तो



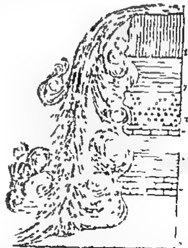
चित्र 253—जलप्रपात का आविर्भाव जब कि शैल स्तर नदी के उद्गम की ओर झुके हों।

निचली कमजोर चट्टानें कट जाती हैं और ढाल इतना हो जाता है कि जल ऊँचाई से गिरने लगता है परन्तु इस अवस्था में केवल क्षिप्रिका का निर्माण हो पाता है क्योंकि प्रतिरोधी शैल के अग्रभाग का ढाल तीव्र नहीं हो पाता



चित्र 254—जलप्रपात का आविर्भाव जब कि शैल स्तर मुहाने की ओर झुके हों।

है। चूँकि इस क्षिप्रिका का निर्माण कठोर आवरण शैल के कारण होता है, अतः इसे **छत्रक शैल क्षिप्रिका** (Caprock rapid) कहते हैं।



चित्र 255—जलप्रपात का आविर्भाव जब कि शैल स्तर क्षैतिज अवस्था में हों। 1 डोलोमाइट 2 शेल (Shale), 3 चूने का पत्थर (Limestone) 4 बालुका पत्थर (Sandstone) 5 बालुका पत्थर तथा शैल 6 बालुका पत्थर तथा 7 शेल।

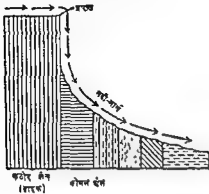
(स) जब चट्टानों की परतें क्षैतिज अवस्था में हों—जब चट्टानों की ऊपरी परतें कठोर तथा प्रतिरोधी शैल की होती है तो उसे **छत्रक शैल या टोपी चट्टान (Caprock)** कहते हैं। यदि टोपी चट्टान बालुका पत्थर, डोलोमाइट, चूने का पत्थर, आग्नेय शैल या कायान्तरित कठोर शैलों की बनी होती है तथा उनके नीचे यदि मुलायम और असंगठित शैलें जैसे शैल, ज्वालामुखी-राख या अनेक संधियों वाली असंगठित चट्टानों की स्थिति हो तो नदी के जल द्वारा निचली मुलायम चट्टान शीघ्र कट जाती है परन्तु ऊपरी कठोर शैल निकली रहती है। यह स्थिति उस समय होती है जब कि चट्टानों की परतें क्षैतिज अवस्था में होती है या थोड़ी सी नदी के ऊपरी भाग की ओर झुकी होती है। इस अवस्था में निचली प्रतिरोधी चट्टान का अग्रभाग (Face) प्रायः खड़े ढाल वाला हो जाता है और नदी का जल ऊर्ध्वाकार रूप में गिरता है, जिससे महान प्रपात का निर्माण होता है। **नियाग्रा प्रपात** इसका प्रमुख उदाहरण है। इस प्रपात की टोपी चट्टान या **छत्रक शैल** (Cap rock) डोलोमाइट चट्टान की बनी हुई है। परन्तु इसके नीचे की चट्टान कोमल शैल तथा चूने के पत्थर में निर्मित है। यहाँ पर ऊपरी कठोर चट्टान का अग्र भाग खड़े ढाल वाला है, जिस कारण **नियाग्रा प्रपात** का जल अधिक ऊँचाई (50.9 मीटर) से नीचे की ओर गिरता है तथा विश्व के महान प्रपात की श्रेणी में आता है। इस प्रपात में चट्टानों के स्तर बिल्कुल क्षैतिज नहीं है वरन् कुछ ऊपरी धारा (Lake Erie की ओर) की ओर झुके हैं। नीचे की कोमल चट्टान के कटने के कारण विनिफ के निर्माण होने से ऊपरी कठोर चट्टान का भाग इतना निकल जाता है कि वह बिना सहारा के टिक नहीं पाता है। फलस्वरूप टूट कर नीचे गिर जाता है। इस क्रिया के कारण नियाग्रा प्रपात प्रतिवर्ष 3 से 4 फीट की दर से पीछे हट जाता है तथा अनुमान किया जाता है कि एक समय ऐसा आयेगा जब कि समस्त प्रपात पीछे हटने के कारण समाप्त हो जायेगा तथा **नियाग्रा नदी** के निकास के नीचा हो जाने के कारण उसमें नवोन्मेष आ जायेगा क्योंकि **ईरी झील** का जल अधिक मात्रा में एक साथ प्रवाहित होने का प्रयास करेगा। ऐसा अनुमान किया गया है कि अब तक नियाग्रा प्रपात 7 मील तक हट चुका है तथा एक गार्ज का निर्माण हो गया है जिसका किनारा नदी की तली से 360 फीट ऊपर है। **केटूर जल प्रपात** (Kaieteur Falls) भी इसी तरह **छत्रक शैल प्रपात** (Cap rock Fall) का सुन्दर उदाहरण है। यहाँ पर ऊपरी चट्टान जिससे होकर प्रपात बनता है, कठोर काग्लोमरेट की है। **पोटारो** (Potaro River) ने इस कठोर काग्लोमरेट के नीचे कोमल बालुका पत्थर की चट्टान को काट कर 225.5 मीटर ऊँचे प्रपात का निर्माण किया है। यह प्रपात ब्रिटिश गायना में स्थित है।

ऊपर वर्णित **रीवा पठार** तथा **रोहतास पठार** के प्रपातों को भी इस श्रेणी में रखा जा सकता है क्योंकि दोनों **पठारों पर छत्रक शैल विन्ध्यन क्रम** की बालुका **प्रस्तर** (शैल स्तर प्रायः क्षैतिज रूप में हैं) की है तथा उसके नीचे मुलायम शेल तथा चूना पत्थर की स्थिति है।

(द) जब चट्टानों की परतें लम्बवत दिशा में हों—जब विभिन्न प्रकार की चट्टानों के स्तर लम्बवत होते हैं तथा कठोर एवं प्रतिरोधी तथा मुलायम चट्टानों की परतें क्रम से मिलती हैं तो कठोर शैल के बाद कोमल शैल-परत शीघ्रता से कट जाती है एवं कठोर शैल अवशिष्ट रह जाती है। फलस्वरूप एक तीव्र ढाल वाले प्रपात का निर्माण होता है। जिस स्थलखण्ड में डाइक का प्रवेश रहता है, वहाँ पर समीपी चट्टान कट जाती है परन्तु डाइक अपनी कठोरता एवं प्रतिरोधी स्वभाव के कारण बची रहती है तथा उसके ऊपरी भाग में जल के नीचे गिरने से प्रपात का निर्माण होता है। इस तरह के प्रपात अपने स्थान पर स्थायी होते हैं एवं इनमें पीछे की ओर खिसकने की प्रवृत्ति नहीं होती है। इनका ह्रास ऊँचाई में अवश्य होता है, क्योंकि अपरदन द्वारा कठोर शैल धीरे-धीरे ऊपर कटती जाती है और अन्त में प्रपात बिल्कुल नीचा हो जाता है। इस तरह के प्रपातों को **लम्बवत् रोधिका प्रपात** (Vertical barrier falls) कहते हैं। एलोस्टोन नेशनल पार्क (संयुक्त राज्य) में **येलोस्टोन नदी का वृहत् प्रपात** (Great Fall) इसी तरह एक सुन्दर उदाहरण है। इस प्रपात का विकास नदी के ऊपरी भाग में लावा के लम्बवत् जमाव के कारण हुआ है। नदी के ऊपरी भाग में कठोर तथा संगठित एवं टिकाऊ लावा की परत है तथा नदी के निचले भाग में असंगठित लावा की परत है। नदी ने असंगठित लावा को काट करके लम्बवत् प्रपात का निर्माण किया है। **पोटमक नदी की पोटमक क्षिप्रिका** (Potomac Rapids) का निर्माण अप्लेशियन पीडमाण्ट के पूर्वी किनारे पर हुआ है। जहाँ पर नदी ने पीडमाण्ट की कठोर शैल के

बाद अटलांटिक तटीय मैदान की कोमल चट्टान को काट डाला है।

इस तरह के कई प्रपात रांची पठार के पाट प्रदेश मे पाये जाते हैं परन्तु इनकी ऊँचाई 3 मीटर से 30 मीटर के बीच ही है। इनका निर्माण संरचनात्मक नियंत्रण एव अपरदन के कारण हुआ है।

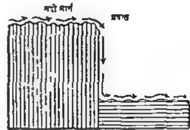


चित्र 256—जलप्रपात का आविर्भाव जब की शैल-स्तर लम्बवत (Vertical) दिशा मे हो

हजारीबाग पठार पर बोकारो नदी पर तृतीयरना प्रपात इस तरह के प्रपात का प्रमुख उदाहरण है। इसका निर्माण डाइक के कारण हुआ है।

(य) सोपानी प्रपात (Step Falls)—जब असमान सरचना वाली चट्टानों वाले भाग में विभेदक अपरदन (Differential erosion) होता है तो एक ही क्रम में नदी के ऊपरी भाग से नीचे की ओर कई प्रपात या क्षिप्रिकाओं का निर्माण हो जाता है। चूंकि ये सोपान (Benches) की तरह होते हैं, अत इन्हें सोपानाकार प्रपात या क्षिप्रिकायें कहते हैं। रीवा पठार की ओड़ा नदी के प्रमुख ओड़ा प्रपात (145 मीटर) के पहले कई लघु सोपानी क्षिप्रिकायें पायी जाती हैं।

(व) पठारी प्रपात (Plateau Falls)—जिस स्थान पर पठार का किनारा समीपी भाग से निकला होता है तथा ढाल अधिक होता है तो उस पर से नदियों को अचानक नीचे उतरना पड़ता है, जिससे प्रपात का निर्माण होता है। कांगो नदी अफ्रीका के पठार से उतरते समय लिविंगस्टन प्रपात (Livingston Falls) का निर्माण करती है जो कि 275 मीटर ऊँचा है। आरेन्ज नदी भी पठार के किनारे से 140.2 मीटर नीचे उतरकर 'Aughrabies Falls" का निर्माण करती है। उपर्युक्त प्रपातों को सामान्य प्रपात की श्रेणी मे रखा जा सकता है क्योंकि इनका निर्माण एक मात्र सरचना में विभेद तथा विभेदक अपरदन द्वारा ही होता है। रांची पठार की दक्षिणी सीमा पर कारो नदी द्वारा निर्मित फेरुआघाघ प्रपात (17 मीटर) इसका उदाहरण है। माण्डेर पठार (मध्य प्रदेश) के प्रपात (30 मीटर से 60 मीटर) इसी श्रेणी मे आते हैं।



चित्र 257—पठार के किनारे पर जल प्रपात की स्थिति।

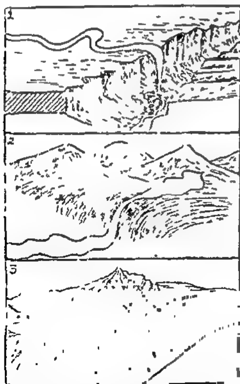
2.—भ्रंश प्रपात (Fault Falls)—नदी के मार्ग मे भ्रंशन (Faulting) की क्रिया होने से जब कठोर तथा प्रतिरोधी चट्टान का भाग नदी के ऊपरी भाग म ऊपर रह जाता है तथा अपेक्षाकृत कम कठोर चट्टानी भाग नीचे धँसक जाता है तो कगार भ्रंश (Fault scarp) के सहारे नदी का जल कठोर चट्टान से होकर ऊँचाई से निचली कम कठोर चट्टान पर गिरने लगता है। फलस्वरूप प्रपात का निर्माण होता है। तरह के भ्रंशन में कठोर चट्टान वाला ऊँचा भाग पीछे की ओर (Up stream) तथा कम कठोर चट्टान वाला भाग आगे की ओर (Down stream) रहता है। जेम्बजी नदी द्वारा निर्मित विक्टोरिया प्रपात प्राय इसी तरह बना है। यह 110 मीटर की ऊँचाई पर निर्मित है। यद्यपि इस प्रपात के निर्माण मे पठार का भी सहयोग है परन्तु इसे आंशिक रूप मे भ्रंश प्रपात कहा जा सकता है।

3 उत्थान द्वारा निर्मित प्रपात (Fall due to upliftment)—जब नदियों के मार्ग म स्थानीय उत्थान हो जाता है तो ढाल मे अचानक परिवर्तन के कारण ऊंचे स्थानों से जल निचले भाग मे गिरने लगता है तथा प्रपातों का आविर्भाव होता है। नदियाँ जब अपरदन द्वारा अपने को पुराने मार्ग तथा ढाल के साथ समायोजित कर लेती हैं तो ये प्रपात लुप्त हो जाते हैं।

दक्षिणी पलामू उच्चभाग को छोड़ कर जब नदियाँ उत्तर की ओर मध्य निम्न मैदान में प्रविष्ट होती हैं तो टर्शियरी युग में उत्थान के कारण निर्मित एस्कार्पमेंट के सहारे प्रपात बनाती हैं जैसे —(1) रोरो से एक किना

मीटर पूर्व साफी नदी पर 6.09 तथा 4.57 मीटर ऊँचे प्रपात, (ii) चोरहट से एक किमी० पूर्व गोबरदहा नदी पर 21.33 मीटर एवं 6.09 मीटर ऊँचे प्रपात, (iii) बरवाडिह से 6 किमी० पूर्व घरघारी नदी पर 21.33 एवं 18.28 मीटर ऊँचे प्रपात, (iv) अमदिहा ग्राम के पास 7.62 मीटर ऊँचे प्रपात, (v) मंडरिया अचल में हरिहरगंज के इनातूटोली ग्राम के निकट पाटम नदी पर पाटम (45.72 मीटर) एवं डाटम (30.45) प्रपात आदि। उत्तरी कोयल नदी की सहायक बूढ़ा नदी का बूढाघाघ प्रपात (148 मीटर) पलामू पठार का सर्वोच्च प्रपात है।

4 नदी की लटकती घाटी वाला प्रपात—(Fall due to hanging valley of a stream)—जब किसी मुख्य नदी में उसकी सहायक नदी मिलती है तथा यदि मुख्य नदी का ढाल सहायक नदी की अपेक्षा थोड़ा ही अधिक होता है तो सहायक नदी का सगम स्थान (Junction) लगभग नदी के तल के बराबर ही होता है। इस



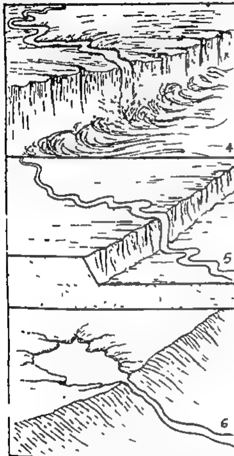
चित्र 258—1. लटकती सहायक नदी (Hanging tributary stream) द्वारा प्रपात, 2. लावा बाँध द्वारा निर्मित प्रपात तथा 3. हिमनदीय लटकती घाटी वाला प्रपात।

तरह के सगम को संगत संगम (accordant junction) कहते हैं। परन्तु यदि किसी कारण से (सागर तल में गिरावट या नदी के निचले भाग में अवतलन आदि) मुख्य नदी का ढाल उसकी सहायक की अपेक्षा अधिक हो जाता है तो मुख्य नदी अपनी सहायक की अपेक्षा अत्यधिक कटाव करके अपनी घाटी को अत्यधिक गहरी कर लेती है, अत मुख्य नदी का तल अधिक नीचा हो जाता है। इसके विपरीत सहायक नदी, मुख्य नदी के तल नीचा होने पर भी अपनी घाटी को अधिक गहरा नहीं कर पाती है क्योंकि उसमें जल के आयतन और अपरदन के लिये आवश्यक बोझ की कमी होती है। फल यह होता है कि मुख्य नदी की घाटी, सहायक की घाटी से अधिक नीची हो जाती है। इस तरह के सगम को विसंगत संगम या प्रतिकूल सगम-(Discordant junction) कहते हैं। ऐसे सगम पर सहायक की घाटी मुख्य नदी की घाटी पर टगी हुई नजर आती है। इस घाटी को लटकती घाटी या निलम्बी घाटी (Hanging valley) कहते हैं। ऐसी परिस्थिति में सहायक नदी का जल ऊँचाई से गिरने के कारण प्रपात बनाता है। सतत् प्रवाहित होने वाली नदियों की कुछ ऐसी सहायक नदियाँ होती हैं जो कि अर्द्धशुष्क भागों में आती हैं, जहाँ पर वर्षा मौसमी होती है। उपर्युक्त विधि द्वारा मुख्य नदी की घाटी सहायक की अपेक्षा अधिक गहरी हो जाती है। शुष्क मौसम में, जब कि सहायक नदी के प्रदेश में वर्षा नहीं होती है तो जल के अभाव में उसकी घाटी शुष्क हो जाती है। इस तरह की लटकती घाटी को शुष्क निलम्बी घाटी (Dry hanging valley) कहते हैं। इस घाटी होकर केवल वर्षा के मौसम में नदी जल प्रपात बनाते हैं, अन्यथा शुष्क मौसम में प्रपात निष्क्रिय रहता है।

गंगा नदी (पूर्वी राँची पठार) जोन्हा के पास राढ़ू नदी में मिलती है। यहाँ पर गगा नदी का मुख राढ़ू नदी पर लटकता हुआ है तथा 25.9 मीटर ऊँचे जोन्हा प्रपात का निर्माण हुआ है। हजारीबाग पठार पर राजरप्पा के पास दामोदर नदी की पुनर्युवनित घाटी के साथ उसकी सहायक भेड़ा नदी लटकती घाटी वाला प्रपात बनाती हुई दामोदर में गिरती है।

5—हिमानी की लटकती घाटी वाला प्रपात (Fall due to glacial hanging valley)—हिमयुग के समय अनेक नदियों की घाटियों को हिमनद अंगीकृत कर लेते हैं। मुख्य घाटी में प्रवाहित होने वाला हिमानी

सहायक घाटी वाले हिमानी की अपेक्षा अधिक अपरदन द्वारा घाटी को गहरा कर देता है। इस कारण विसंगत तल उत्पन्न हो जाते हैं। हिमयुग के बाद जब हिम पिघल जाती है तो घाटियाँ पुन नदियो के अधिकार मे आ जाती हैं। सहायक घाटियां, अब मुख्य घाटी के साथ लटकती रहती हैं। फलस्वरूप उनके साथ आने वाला जल मुख्य घाटी के साथ प्रपात बनाता हुआ गिरता है।



चित्र 259—4 तरंग-जनित क्लिफ द्वारा निर्मित प्रपात, 5, भ्रश कगार (Fault scarp) वाला प्रपात तथा 6 उत्थान द्वारा निर्मित प्रपात।

इस क्रिया द्वारा बने योसेमाइट घाटी (Yosemite Valley) मे अनेक लटकती घाटियाँ तथा प्रपात पाये जाते है। हिमानीकृत लटकती घाटियो वाले प्रपात नार्वे स्वीडन, फिनलैण्ड, कनाडा आदि में अधिक मात्रा मे मिलते हैं।

6. सरिता अपहरण वाला प्रपात (Fall due to river capture)—ऐसे भागो मे जहाँ पर किसी ऊँचे भाग के ऊपरी सपाट भाग पर बहने वाली सरिता का अपहरण, उस स्थल के निचले भाग अर्थात् नति (Dip) के सहारे बहने वाली सरिता द्वारा कर लिया जाता है तो अपहृत नदी अधिक ऊँचाई से अपहरणकर्त्ता नदी से मिलती है, फलस्वरूप प्रपात का निर्माण होता है। इस तरह के प्रपात का निर्माण कैट्सकिल पठार (Catskill plateau) पर हुआ है। पठार के पूर्वी ढाल पर बहने वाली काटरस्किल क्रीक नदी (Kaaterskill Creek River) ने पठार के ऊपर बहने वाली शोहरी क्रीक (Schoharie Creek) नदी की कई सहायक नदियो का अपहरण कर लिया, जिससे हेन्स प्रपात (Haines Fall) तथा काटरस्किल प्रपात (Kaaterskill) नामक दो प्रपातो का निर्माण हुआ है। सरिता-अपहरण की हर स्थिति मे प्राय प्रपात या क्षिप्रिकाओ का आविर्भाव होता है क्योंकि अपहरणकर्त्ता नदी की घाटी निश्चय ही अपहृत नदी की घाटी से नीची होती है। अत अपहृत नदी अपहरण के बाद प्रपात बनती हुई अपहरण करने वाली नदी से मिलती है।

7 सागर-तरंग की लटकती घाटी का प्रपात (Fall of hanging valley due to sea waves)—जिस स्थान पर सागरीय लहरें अधिक वेगवती होती है, वहाँ पर ये सागरीय किनारे को काटकर उसे खड़ा करके क्लिफ का निर्माण करती है। लहरो के अपरदन के कारण ये क्लिफ पीछे हटते जाते हैं। नदियो की घाटी को गहरा करने की दर इतनी कम रह जाती है कि शीघ्र ही वे इस उठे हुए कगार को काट कर समतल नही बना पाती हैं। परिणामस्वरूप विसगत तल का आविर्भाव होने से नदियो की घाटियाँ सागरीय तट से लटकने लगती हैं तथा उनका जल प्रपात बनाता हुआ सागर मे गिरता है। हवाई द्वीप मे व्यापारिक पवनें इतनी तीव्र होती हैं कि सागरीय किनारो को तीव्रता से काटकर विसगत तल का निर्माण करती है जिससे होकर प्रपातो का निर्माण हुआ है।

8 निकप्वाइन्ट प्रपात (Knickpoint Fall)—नदियाँ अपरदन द्वारा अपनी क्रमबद्ध अवस्था को प्राप्त कर लेने के बाद क्रमबद्ध वक्र (Grade curve) का निर्माण करती हैं। इसके बीच जब सागर-तल पहले से नीचा हो जाता है तो नदियो के निचले भाग मे नवोन्मेष आ जाता है जिससे नदियो में अपरदन (निम्न कटाव) की शक्ति बढ़ जाती है। प्रत्येक नदी नये सागर तल के अनुसार अपने को पुन क्रमबद्ध करना चाहती है। इस

अवस्था में जहाँ पर नये सागर-तल के अनुसार निर्मित नयी परिच्छेदिका या नया वक्र नदी की पुरानी परिच्छेदिका या पुराने वक्र मे मिलता है, वहाँ पर ढाल में अन्तर आ जाता है। पहले वाला ढाल, नये ढाल से ऊँचा होता है। फलस्वरूप नदियाँ प्रपात बनाती हुई नीचे उतरती हैं। यह प्रपात सदैव नवोन्मेष-शीर्ष (Head of rejuvenation—निकप्वाइन्ट को नवोन्मेष का शीर्ष कहते हैं, क्योंकि वह नदी मे नवोन्मेष की ऊपरी सीमा को इंगित करता है) पर होता है तथा सदैव पीछे हटता जाता है। जब नदी पुन क्रमबद्ध हो जाती है तो निकप्वाइण्ट समाप्त हो जाते हैं तथा प्रपात का विलयन हो जाता है।

राँची पठार की स्वर्णरेखा नदी पर हुण्डरूघाघ प्रपात (76.67 मीटर), जोन्हा के पास गंगा तथा रारू नदियो के संगम पर जोन्हा या गौतमधारा प्रपात (25.9 मीटर), काँची नदी पर दासमघाघ प्रपात (39 62 तथा 15 24 मीटर), पलामू पठार पर उत्तरी कोयल नदी की सहायक बूढ़ा नदी का बूढ़ाघाघ प्रपात (148 मीटर), जबलपुर के पास नर्मदा नदी का धुंआधार प्रपात, रीवा पठार पर टोंस नदी का पुरवा प्रपात, बीहर नदी पर चचाई प्रपात (127 मीटर), महानदी पर केवटी प्रपात (98 मीटर), ओडा नदी पर ओडाप्रपात (145 मीटर) आदि नवोन्मेष के कारण निर्मित निकप्वाइण्ट प्रपात के उदाहरण हैं।

9 नदी मार्ग मे अवरोध के कारण उत्पन्न प्रपात (Fall due to blocking of river course)—कई कारणो से नदी के मार्ग मे अवरोध उत्पन्न हो जाते हैं जिस कारण नदी के मार्ग मे असमानतायें उपस्थित हो जाने से प्रपातो का निर्माण होता है। ऐसे प्रपात निम्न रूपो मे बनते है—

(अ) लावा द्वारा अवरोध—जब नदी के मार्ग मे किसी स्थान पर लावा जम कर कठोर तथा गहरी पट्टी बना लेता है तो उसके नीचे की ओर की चट्टान कट जाती है परन्तु कठोर लावा अपनी ऊँचाई को बनाये रखता है। इस मार्ग से नदी का जल नीचे गिरकर प्रपात का निर्माण करता है। इस तरह के प्रपात प्रायः स्थायी हुआ करते हैं परन्तु इनकी ऊँचाई मे ह्रास होता रहता है।

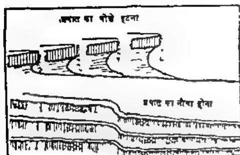
(ब) भूमिस्खलन द्वारा (Due to Landslide)—प्रायः नदी की ऊपरी घाटी में चट्टानो का विघटित एवं वियोजित भाग टूट कर नीचे गिरता रहता है, जिस कारण नदी के मार्ग तथा तल में असमानताएँ उत्पन्न हो जाती हैं। इस तरह ऊँचे ढाल से नदी का जल नीचे की ओर गिरकर अनेक प्रपातो तथा क्षिप्रिकाओं का निर्माण करता है। ये प्रपात अस्थायी होते हैं।

(स) हिमोढ़ निक्षेप द्वारा (Due to Morainic Deposit)—कभी-कभी नदियों के मार्ग में हिमोढ के निक्षेप से ढाल मे अन्तर आ जाता है, जिस कारण नदियाँ प्रपात का निर्माण करती हैं। इन हिमोढों के जमाव से नदियो का मार्ग अवरुद्ध हो जाता हैं। नदियाँ इन्हे पार करते समय प्रपात बनाती हैं।

प्रपातों का लुप्त होना (Disappearance of Falls)—प्रपात तथा क्षिप्रिकायें स्थायी स्थलरूप नही होते हैं। नदियो की क्रमबद्ध अवस्था (Graded stage) की प्राप्ति के पहले ही इन स्थलरूपो की उपस्थिति रहती है। नदियाँ अपरदन द्वारा अपने मार्ग की असमानताओ को दूर करने का निरन्तर प्रयास करती हैं तथा अपने आधार-तल को प्राप्त करना चाहती हैं। जैसे ही नदियाँ अपने आधार-तल को प्राप्त करके क्रमबद्ध हो जाती हैं, उनके मार्ग की असमानतायें समाप्त हो जाती हैं तथा प्रपात आदि समाप्त हो जाते हैं। परन्तु नदियो द्वारा आधार-तल को प्राप्त करना एक विवादास्पद समस्या है। इस अवस्था के लिये लम्बे समय की आवश्यकता होती है, जिस समय स्थलखण्ड स्थिर (Stand still) हो। परन्तु वास्तव मे इस दशा का प्राप्त होना काल्पनिक ही है, क्योंकि पृथ्वी इतनी अस्थिर (Unstable) है कि उसमे परिवर्तन होते रहते हैं। इन परिवर्तनो के कारण नदियो के क्रमबद्ध अवस्था को प्राप्त करने मे व्यवधान उपस्थित होते रहते हैं तथा नदियो मे नवोन्मेष के कारण पुनः प्रपातो का विकास होता रहता है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यद्यपि प्रपात भूपटल पर कहीं न कही सदैव मिलते है तथा इनकी स्थिति व्यापक होती है परन्तु प्रपात विशेष अस्थायी होते हैं। हो सकता है उनके समापन के बाद दूसरे प्रपात का विकास हो जाय परन्तु यह प्रपात स्थायी नही होता है। वह नश्वर होता है। प्रपातो के नष्ट होने तथा लुप्त होने की दो विधियाँ होती हैं—1. *प्रपातो का क्षैतिज रूप में पीछे हटना तथा लुप्त होना तथा* 2. *प्रपातो का लम्बवत रूप मे घिस कर नीचा होना।*

(i) **प्रपातों का पीछे हटना** (Receding of waterfalls)—जब प्रपात का निर्माण ऐसी चट्टानों पर होता है, जिनकी नति (Dip) उद्गम की ओर होती है (अर्थात् चट्टानों का स्तर नदी के ऊपरी भाग की ओर झुका हो) तो कठोर चट्टानो का, जिनपर होकर प्रपात बनता है,

निकला हुआ भाग टूट कर नीचे गिरता रहता है तथा प्रपात शनै:-शनै: पीछे हटता जाता है। नियाग्रा प्रपात इसका प्रमुख उदाहरण है जो कि प्रतिवर्ष 3 से 4 फीट की दर से पीछे हटता है। अब तक यह 7 मील तक पीछे हट चुका है। जब नदी क्रमबद्ध (Graded) हो जाती है



चित्र 260—प्रपातो का पीछे हटना तथा नीचा होना।

तो प्रपात बिल्कुल समाप्त हो जाता है। निकप्वाइण्ट प्रपात भी इसी तरह शीर्ष-अपरदन द्वारा पीछे हटता जाता है।

(ii) प्रपातो का नीचा होना (Lowering of falls) जब प्रपातों का निर्माण चट्टानों के लम्बवत स्तरो के सहारे होता है तो प्रपात इस माने मे स्थायी होते हैं कि पीछे नही हटते हैं परन्तु नदियो द्वारा अपरदन के कारण उनकी ऊँचाई शनै-शनै घटती जाती है तथा एक निश्चित समय के बाद प्रपात इतने नीचे हो जाते हैं कि नगण्य होते है।

3 जल गर्तिका (Pot holes)—नदी की तली मे जल-भँवर (Eddies) के साथ छोटे-छोटे पत्थर के टुकडे तेजी से चक्कर लगाते हुए छोटे-छोटे गर्तों का निर्माण करते है। इस तरह के टुकडो को छेदक या घर्षण यत्र (Grinding tools) कहते हैं। जिस तरह बढई अपनी वर्मा मशीन को तेजी से घुमाकर लकडी मे छिद्र करता है। उसी तरह जल भँवर के साथ तेजी से चक्कर लगाते हुए ये छेदक यत्र नदी की तली मे सुराख तथा छिद्र बनाते है। धीरे-धीरे इनका आकार बढता जाता है तथा उत्पन्न स्थलरूप को जल गर्तिका (Pot holes) कहते है। एक स्थलरूप के रूप मे जल-गर्तिका महत्त्वपूर्ण नही होती है। इसके द्वारा नदी को अपनी तली को गहरा करने की सामर्थ्य प्रकट होती है। नदियों की ऊपरी घाटी मे इस क्रिया द्वारा नदी की घाटी की गहराई मे पर्याप्त वृद्धि होती है। मुलायम चट्टानों (जैसे शेल) मे जल गर्तिका का निर्माण शीघ्र हो जाता है परन्तु ये अधिक समय तक स्थायी नही रह पाती है। इसके विपरीत कठोर चट्टानो (जैसे बेसाल्ट, ग्रेनाइट, क्वार्टजाइट आदि) पर निर्मित जलगर्तिका अधिक समय तक सुरक्षित रहती है। जल-गर्तिका का आकार उस समय अण्डाकार होता है, जब ये कम गहरी होती हैं। इनका व्यास कुछ सेण्टीमीटर से लेकर कई मीटर तक होता है। व्यास की अपेक्षा गहराई अधिक होती है। जब जलगर्तिका की गहराई तथा व्यास अधिक होती है तो उसे अवनमन कुण्ड (Plunge pool) कहते हैं।

4 संरचनात्मक सोपान (Structural Benches)—नदी के मार्ग मे कभी-कभी कठोर तथा मुलायम चट्टानो की परतें क्रम मे एक दूसरे के बाद क्षैतिज अवस्था मे मिलती है। इस परिस्थिति मे नदी द्वारा विभेदक अपरदन (Differential erosion) द्वारा कठोर तथा मुलायम चट्टानो का कटाव विभिन्न दर से होता है। कठोर चट्टानो की अपेक्षा कोमल चट्टानें शीघ्र कट जाती है तथा कठोर एव प्रतिरोधी चट्टानें निकलती रहती हैं। इस तरह विभेदक अपरदन द्वारा सोपानाकार सीढियों का नदी की घाटी के दोनो ओर निर्माण हो जाता है। प्राय इन्हें सोपान (Benches) कहा जाता है। परन्तु इन सोपानो को नदी वेदिकाओ से अलग करने के लिए संरचनात्मक सोपान की संज्ञा प्रदान की जाती है, क्योंकि इनके निर्माण मे एकमात्र चट्टान की कठोरता एव कोमलता का हाथ रहता है जबकि नदी वेदिकायें चट्टानो की कठोरता या कोमलता से सम्बन्धित नही होती है। देखिये चित्र 240।

नदी वेदिका (River Terrace)

नदी की घाटी की दोनो ओर सोपानाकार-वेदिकायें मिलती है, जो कि नदी के प्रारम्भिक तल को प्रदर्शित करती है। वास्तव मे नदी वेदिकायें प्रारम्भिक बाढ-मैदान के अवशिष्ट चिह्न होती हैं। कभी-कभी नदियो की घाटियों मे इन वेदिकाओ का क्रम सीढीनुमा होता है तथा एक के बाद एक वेदिकायें नीचे की ओर उतरती चली जाती हैं। नदी-वेदिकायें एक रूप मे नदी के नवोन्मेष या पुनर्युवन की परिचायक होती है। वेदिकायें कई की संख्या मे हो सकती है या एकाकी हो सकती है। कोई वेदिका सँकरी भी हो सकती है साथ ही कई किलोमीटर की चौडाई मे भी हो सकती है। दो वेदिकाओं के बीच की ऊँचाई कुछ मीटर से लेकर कुछ सौ

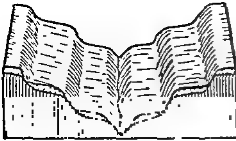
मीटर तक हो सकती है। नदी-वेदिकाओ की उत्पत्ति अत्यधिक सरल है। नदी अपनी क्रमबद्ध अवस्था के बाद बाढ का मैदान बनाती है। यह बाढ का मैदान निश्चय ही एक विस्तृत भाग होता है। इस विस्तृत भाग मे जलोढ मिट्टी तथा बजरी (Gravel) का निक्षेप होता है। अचानक सागरतल मे परिवर्तन के कारण नदी मे नवोन्मेष (पुनर्युवन-Rejuvenation) आ जाता है, जिससे नदी के निम्न कटाव की सामर्थ्य बढ जाती है। परिणामस्वरूप घाटी का गहरा होना प्रारम्भ हो जाता है। अब नदी पुरानी चौडी घाटी के अन्तर्गत नवीन एव सकरी घाटी का निर्माण करती है। कुछ समय बाद यह नवीन घाटी क्षैतिज अपरदन (Lateral erosion) द्वारा विस्तृत होती है परन्तु नदी अपनी पहले वाली घाटी के बराबर नही हो पाती है। परिणामस्वरूप नदी एक दूसरे बाढ के मैदान का निर्माण करती है। प्राचीन घाटी नवीन घाटी से एक सीढी या सोपान द्वारा अलग होती है। इसी सोपान नदी को वेदिका (River Terrace) कहते हैं। नदी मे पुन द्वितीय बार नवोन्मेष आने के कारण दूसरे बाढ के मैदान मे पुन तीसरी सकरी घाटी का निर्माण होता है तथा द्वितीय बाढ के मैदान का अवशिष्ट भाग सोपान के रूप मे बदल कर द्वितीय नदी वेदिका को जन्म देता है। इस क्रिया की पुनरावृत्ति होने से नदी की घाटी मे कई क्रमिक वेदिकायें निर्मित हो जाती हैं। वास्तव मे प्रत्येक पुराना बाढ मैदान, नवीन बाढ के मैदान के तल से ऊँचा हो जाता है तथा सीढीनुमा सोपानो की रचना होती है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि नदी के दोनो ओर पुराने बाढ के मैदान के अवशेष भाग नदी वेदिकायें कहे जा सकते ह। दूसरे शब्दो मे यदि घाटी के दोनो ओर के निर्मित सोपान (Benches) के ऊपरी भाग पहली घाटी के **जलोढ़ फर्श** या तल (Alluvial floor) रह चुके हों तो उन्हें **"नदी वेदिकायें"** कहते हैं।

कुछ वेदिकाओ पर जलोढ, बजरी आदि का अभाव होता है, जबकि कुछ वेदिकायें या तो जमाव के हल्के आवरण से आवृत होती हैं या बिल्कुल खुली होती हैं। इस आधार पर वेदिकाओ को दो भागो मे विभक्त किया जाता है। 1. **शैल संस्तर वेदिका (Bedrock terrace)** तथा 2. **जलोढ़ वेदिका (Alluvial terrace)**। शैल संस्तर वेदिका पर जलोढ या बजरी का हल्का आवरण हो सकता है परन्तु प्राय. ये आवरण विहीन होती हैं। वास्तव मे ये घाटी-वेदिका (Valley feats) के अवशेष मात्र होती हैं जिनका निर्माण क्रमबद्ध नदी द्वारा क्षैतिज अपरदन से हुआ रहता है। परन्तु इन वेदिकाओं को संरचनात्मक सोपानो (Structural benches) से अलग ही समझना चाहिए, क्योंकि इनका निर्माण चट्टान की कठोरता या कोमलता के कारण नही होता है। **जलोढ़ वेदिकाओं पर** बजरी तथा जलोढ (Gravel and alluvium) का आवरण होता है। इनमे से पुरानी वेदिकाओ से बारीक मिट्टी कट कर बह जाती है परन्तु बजरी रह जाती है। इसके विपरीत नवीन वेदिकाओ पर बजरी तथा बारीक मिट्टी दोनो रहती हैं।

नदी-वेदिका की उत्पत्ति

नदी वेदिकाओ पर बजरी तथा जलोढ मिट्टी के आवरण को लेकर उनके निर्माण के विषय मे विद्वानो मे पर्याप्त मतभेद है। कुछ लोग नदी वेदिका को नदी द्वारा निक्षेप का परिणाम बताते हैं तो दूसरे लोग इसे अपरदन द्वारा उत्पन्न हुई बताते हैं। **गिलबर्ट महोदय** ने 1877 ई० मे बताया कि नदी वेदिकायें नदी के अपरदन द्वारा उत्पन्न होती हैं न कि उसके निक्षेप द्वारा। वास्तव मे नदी वेदिकायें निक्षेप के ही अवशिष्ट भाग होती हैं, परन्तु उनका सोपानाकार रूप नदी के अपरदन द्वारा ही बनता है अर्थात् पुराने बाढ के मैदान मे नदी द्वारा नवोन्मेष के कारण दूसरी घाटी के निर्माण के फलस्वरूप वेदिका का निर्माण होता है। सन् 1940 ई० मे **काटन महोदय** ने बताया कि नदी वेदिकायें नदी के नवोन्मेष के विभिन्न समयो को प्रदर्शित करती हैं। अत उनको दो वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है—

1 **चक्रीय वेदिका** (Cyclic terrace), 2. **अचक्रीय वेदिका** (Non-cyclic terrace)। चक्रीय वेदिकायें मुख्य रूप से युग्मित वेदिकायें होती हैं अर्थात् इनमे वेदिकाओ के दोनों किनारो पर जोडे (Pairs) या युग्म पाये जाते हैं। इन वेदिकाओ का निर्माण उस समय होता है जब कि उत्थान रुक-रुक कर होता है तथा इनकी रचना आंशिक **अपरदन-चक्र** (Partial cycle of erosion) के समय होती है। युग्मित वेदिकाओ से घाटी के दोनो किनारो पर स्थित एक युग्म या जोडे की दो वेदिकाओ मे समानता होती है। यह **युग्मित वेदिका** की प्रमुख पहचान है। वास्तव मे चक्रीय या युग्मित वेदिका प्रारम्भिक बाढ के मैदान के तल की द्योतक है, जिसका (बाढ के तल) निर्माण नदी के क्षैतिज अपरदन द्वारा हुआ था। नदी वेदिका तथा निचले बाढ के मैदान के बीच या दो वेदिकाओ (ऊपर तथा नीचे) के बीच की



चित्र 261—जलोढ वेदिकायें (Alluvial Terraces)।

लम्बवत् दूरी नवोन्मेष के बाद नदी की घाटी के निम्न कटाव को प्रदर्शित करती है। काटन के अनुसार अचक्रीय वेदिकायें (Non-cyclic terraces) आयुग्मित (Non-paired) या युग्म रहित होती है। इनका निर्माण उस समय होता है जब कि स्थलखण्ड का उत्थान क्रमिक तथा लगातार होता है। घाटी मे नदी-विसर्प की पेटी के इस किनारे से उस किनारे पर खिसकने के कारण उत्पन्न वेदिकायें विभिन्न ऊँचाइयो पर होती हैं अत इनमे जोडे नही पाये जाते है।

नदी-विसर्प (River Meander)

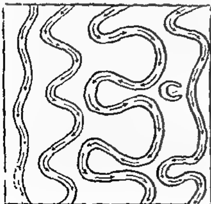
प्रौढ नदी जब मैदानी भाग का निर्माण करती है तो निम्न कटाव की अपेक्षा क्षैतिज अपरदन अधिक सक्रिय होता है। परिणामस्वरूप नदी अपनी घाटी को गहरा करने के बजाय चौडा करने लगती है। इस अवस्था मे नदी का मार्ग न तो समतल होता है न एक समान चट्टानो का ही बना होता है। अत नदियाँ सीधे मार्ग से न प्रवाहित होकर बल खाती हुई टेढे-मेढे रास्ते से होकर चलती है। इस कारण नदी के मार्ग मे छोटे-बडे मोड (Bends) बन जाते हैं। इन मोडो को ही नदी विसर्प (River meander) कहते हैं। एशिया माइनर की मियाण्डर नदी (Meander River) इसी तरह के बडे-बडे मोडो से होकर प्रवाहित होती है। इसी नदी के नाम पर नदी के मोडो को मियाण्डर या विसर्प कहते है। विसर्प के प्रत्येक मोड में दो प्रकार के किनारे होते हैं। एक का अवतल ढाल होता है। इस ढाल पर नदी की धारा सीधे टकराती है तथा कटाव अधिक करती है। इस कारण अवतल किनारे पर क्लिफ या कूट (cliff) का निर्माण होता है। इसी आधार पर अवतल किनारे को कूट ढाल या क्लिफ ढाल (Cliff slope) कहते हैं। इस किनारे के दूसरी ओर उत्तल ढाल वाला किनारा होता है। इस किनारे पर अपरदन के बजाय निक्षेप होता है। इस किनारे का ढाल मन्द होता है। इसे स्कन्ध (विस्तारित ढाल (Slipoff slope) कहते हैं। विसर्प का आकार अर्द्धवृत्ताकार तथा कभी-कभी वृत्ताकार भी होता है। एक विसर्प की लम्बाई, नदी की चौडाई द्वारा ज्ञात की जा सकती है। सामान्य रूप से एक विसर्प की लम्बाई, नदी की चौडाई से 15 से 18 गुना अधिक होती है। मियाण्डर आंशिक रूप मे निक्षेप तथा अधिकांश रूप मे क्षैतिज अपरदन तथा लम्बवत अपरदन (अध कर्तित विसर्प के सम्बन्ध मे) का परिणाम होता है।

विसर्प के प्रकार (Kinds of Meanders)—विसर्प, प्रौढ सरिता के क्षैतिज अपरदन का एक सामान्य रूप है। प्रत्येक नदी किसी न किसी रूप मे (यदि वह प्रौढावस्था को प्राप्त हो गई है) मैदानी भागों मे विसर्प बनाती हुई चलती है। विसर्प का कक्षा विभाजन तो कठिन कार्य है परन्तु अपरदन-चक्र की अवस्था के हिसाब से विसर्पों को कम से कम दो प्रमुख भागो मे विभक्त किया जा सकता है प्रथम, **सामान्य विसर्प**—जिसका निर्माण नदी के प्रथम चक्र मे होता है। द्वितीय **अधःकर्तित विसर्प**—जिसका निर्माण नदी मे नवोन्मेष के कारण होता है। इन्हें नदी मे अपरदन के अनुसार भी दो रूपो मे विभक्त कर सकते हैं—1 क्षैतिज अपरदन द्वारा—सामान्य विसर्प तथा 2 लम्बवत अपरदन द्वारा निर्मित विसर्प—अध कर्तित विसर्प। एक तीसरा प्रकार भी बताया जा सकता है—बेमेल विसर्प (Misfit or unfit meander)।

(i) सामान्य विसर्प—जब नदी अपने प्रथम अपरदन चक्र के समय विसर्प का निर्माण करती है तो उसे सामान्य विसर्प कहा जाता है। इनका निर्माण मुख्य रूप से नदी के क्षैतिज अपरदन द्वारा होता है। सामान्य विसर्प के निर्माण के लिये कुछ आवश्यक दशायें होती हैं जिनके सुलभ होने पर ही विसर्प का निर्माण हो सकता है। यदि कोई नदी अपने बोझ से अत्यधिक भारित हो तो उसकी सारी शक्ति बोझ के परिवहन मे खर्च हो जाती है तथा केवल निक्षेप का कार्य होता है। इस स्थिति मे विसर्प का निर्माण नहीं हो सकेगा। तरुण नदियाँ भी जो कि केवल निम्न अपरदन मे व्यस्त होती है विसर्प का निर्माण नहीं कर सकती है। विसर्प के निर्माण के लिए प्रौढ नदी मे इतना बोझ होना चाहिये कि नदी निक्षेप के साथ कुछ क्षैतिज अपरदन भी कर सके। बाढ के मैदान मे प्रवाहित होने वाली नदी मे जरा सी अव्यवस्था आ जाने से उसमे छोटे-छोटे सामान्य मोड पड

जाते हैं। इस तरह के घुमाव के आन्तरिक भाग (उत्तल किनारे पर) निक्षेप तथा बाह्य भाग (अवतल किनारे) के कटाव के कारण घुमाव बढता जाता है तथा विसर्प का निर्माण हो जाता है। विसर्प के निर्माण तथा विकास के लिए निक्षेप तथा कटाव दोनो कार्य महत्त्वपूर्ण है। यदि नदी मे बोझ की कमी के कारण उत्तल किनारे वाले आन्तरिक भाग मे निक्षेप सम्भव नही हो पाता है तो नदी के अवतल किनारे वाले बाह्य भाग को काटने की क्रिया सक्रिय नही हो पाती है। परिणामस्वरूप विसर्प का विकास नही हो पाता है। नदी-विसर्प की चौडाई, नदी की चौडाई की अपेक्षा 15 से 18 गुनी अधिक होती है। विसर्प की चौडाई पर नदी के जल के आयतन तथा जल की गहराई का कोई प्रभाव नही पडता है। उदाहरण के लिए मिसीसीपी नदी मे अनेको विसर्प की व्यास 9 मील तक होती है जब कि नदी की चौडाई केवल ½ मील तक है। विसर्प के विकास के साथ उसका नदी के निचले भाग की ओर स्थानान्तरण होता जाता है।

सामान्य विसर्प का विकास—प्रारम्भ मे नदी मे सामान्य मोड मिलते है। नदी-विसर्प द्वारा नदी की घाटी की चौडाई तथा लम्बाई दोनो मे विकास होता है। कछारी मैदान वाले भाग मे विसर्प का आविर्भाव तथा विकास सर्वाधिक होता है नदी की धारा अवतल किनारे से सीधी टकराती है तथा उसे काटकर घुमाव और अधिक बडा कर देती है। इस अवतल किनारे पर **अधोरदित ढाल** (Undercut slope) का निर्माण करती है। दूसरे वाले उत्तल किनारे पर निक्षेप होने से धारायें और तेजी से अवतल किनारे से टकराती है। इस तरह शनै-शनै विसर्प का वक्र बढता जाता है तथा नदी की

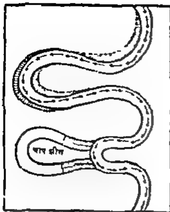


चित्र 262—सामान्य विसर्प का विकास।

दो घाटियाँ एक स्थान पर निकट आने लगती है। इसे **विसर्प ग्रीवा** (Meander neck) कहते हैं। धीरे-धीरे घुमाव बढ़ता जाता है तथा विसर्प ग्रीवा संकरी होती जाती है। चित्र 262 मे विसर्प के विकास की क्रमिक अवस्थाओ को दिखाया गया है।

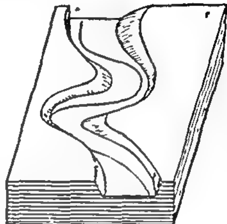
जब विसर्प के वक्र का अत्यधिक विस्तार हो जाता है तो **विसर्प ग्रीवा** बिल्कुल सँकरी हो जाती है, जिस कारण नदी की दो घाटियाँ मिलकर एक सीधे रूप मे बहने लगती है। इस प्रकार नदी अपने घुमाव को छोड कर छोटे मार्ग से प्रवाहित होने लगती है। नदी अपने पहले वक्र या मोड को त्याग देती है। बाढ के समय इस वक्र मे जल भर जाता है जिससे झील का निर्माण होता है। इस प्रकार की झील को **चाप झील या गोखुर झील** (Oxbow lake) कहते है। बाढ के समय विसर्पों के किनारे जलमग्न हो जाते हैं, जिससे घाटी विस्तृत हो जाती है। कभी-कभी विसर्प वाली दो नदियाँ अपने क्षैतिज अपरदन द्वारा दोआब (Interfluves) या जलविभाजक को काटकर कम करती रहती है। अन्त मे जलविभाजक समाप्त हो जाता है तथा दो नदियो के विसर्प मिलकर विस्तृत बाढ के मैदान का निर्माण करते है। विसर्पों द्वारा क्षैतिज अपरदन के कारण जब दो विसर्प एक दूसरे का प्रतिच्छेदन (Intersection) करते है तो अधिक सक्रिय नदी दूसरी नदी को अपने मे आत्मसात कर लेती है। इस तरह विसर्प के विकास से सरिता-अपहरण भी होता रहता है।

(ii) **अधः कर्तित विसर्प** (Incised Meanders)—अध.कर्तित विसर्प निश्चय ही नदी के नवोन्मेष के परिचायक है तथा इनका निर्माण नदी के निम्न कटाव (Down Cutting) द्वारा होता है। जब प्रथम चक्र के समय क्षैतिज अपरदन द्वारा निर्मित सामान्य विसर्प मे नदी के नवोन्मेष के कारण निम्न कटाव द्वारा गहरे तथा सकरे विसर्प का निर्माण होता है तो उसे अध कर्तित विसर्प कहते है। अध कर्तित विसर्प के लिये भू-आकृति विज्ञान मे विद्वानो ने अलग-अलग कई शब्दो का प्रयोग किया है। फलस्वरूप इस विसर्प के वास्तविक स्वरूप के विषय मे पर्याप्त मतान्तर है। शैल संस्तर (Bedrock) मे कटाव द्वारा निर्मित विसर्प के लिय अग्रेजी मे 5 शब्दो का प्रयोग किया जाता है, जो इस प्रकार है—1. **Incised meanders** (अध कर्तित), 2. **Entrenched meanders** (गभीरीभूत विसर्प), 3. **Intrenched meanders**, 4. **Inclosed meanders** (घिरा हुआ विसर्प) तथा



चित्र 263—विसर्प में विकास होने से चाप झील (Oxbow lake) का निर्माण।

5. Ingrown meanders (अन्त.कर्तित विसर्प)। यद्यपि इन शब्दावलियों का प्रयोग कई अर्थों में किया गया है, परन्तु जटिलता से बचने के लिये इनके सामान्य अर्थ को व्याख्या निम्न रूप में दी जा सकती है। Inclosed तथा Incised विसर्पों का तात्पर्य उन विसर्प से होना चाहिये जो चट्टानी दीवाल से घिरे हों। इस आधार पर Incised or Inclosed विसर्पों का प्रयोग समानार्थक शब्दावली के रूप में होगा। हिन्दी में इनके लिये अध-कर्तित शब्द का प्रयोग सुरक्षित रखा जायेगा। अध-कर्तित का अर्थ सामान्य रूप में पुराने विसर्प से लिया जायेगा (अधः=नीचे की ओर, कर्तित=कटा हुआ)। पुन विसर्प की अनुप्रस्थ परिच्छेदिका (Cross profile of meander) के ढालों तथा किनारों के स्वरूप के आधार पर अध कर्तित विसर्प को दो वर्गों में रखा जा सकता है। प्रथम श्रेणी में उन विसर्पों को रखा जायेगा जिनके वक्र के दोनों ढाल प्राय समान होंगे। इनके लिये गभीरीभूत विसर्प (Entrenched or intrenched meanders) का प्रयोग होगा। जैसा कि मौलिक शब्द "गभीरीभूत' (गहरा हुआ) से स्पष्ट है, इस तरह के विसर्प अधिक गहरे होते हैं। द्वितीय श्रेणी के अन्तर्गत उन विसर्पों को सम्मिलित किया जायेगा जिन्होंने अपने वक्र के अवतल किनारे (Concave side) पर अधिक कटाव द्वारा अधोरदित ढाल (Undercut slope) का निर्माण कर लिया हो तथा उत्तल किनारे (Convex side) पर निक्षेप द्वारा स्खण्ड (विस्तारित) ढाल (Slip-off-Slope) का निर्माण किया हो। इस तरह के विसर्प की अनुप्रस्थ परिच्छेदिका के दोनों किनारे के ढाल निश्चय ही असममित (Asymmetrical) होंगे। इस तरह के विसर्प को 'Ingrown meander" या अन्तः कर्तित विसर्प की संज्ञा प्रदान की जायेगी। अन्त कर्तित का तात्पर्य यहाँ पर विसर्प की तली के निम्न कटाव से नहीं लिया जायगा वरन् उसके किनारे वाली दीवालों से अन्दर की ओर अपरदन से लिया जायेगा, जिससे प्राय क्लिफ का निर्माण हो जाता है। उपर्युक्त आधार पर अध कर्तित विसर्प को निम्न रूप से वर्गीकृत किया जा सकता है।



चित्र 264—अध कर्तित विसर्प (Incised meander)।

अध कर्तित विसर्प (Incised or Inclosed Meanders)	1 गभीरीभूत विसर्प (Entrenched or intrenched meanders) (इनमें विसर्प की तली में निम्न कटाव होता है) (ये गहराई में बढ़ते हैं)
	2 अन्त कर्तित विसर्प (Ingrown meanders) (इनमें तली की अपेक्षा दीवालों का कटाव अधिक होता है और ये आकार में बढ़ते हैं)

अध कर्तित विसर्पों की उत्पत्ति—प्राय ऐसा माना जाता है कि अपरदन के प्रथम चक्र के दौरान निर्मित गहरे तथा सँकरे सामान्य विसर्प में नदी द्वारा नवोन्मेष (द्वितीय चक्र) के कारण निम्न कटाव द्वारा निर्मित गहरे तथा सँकरे नवीन विसर्प, अध कर्तित विसर्प होते हैं। इस तरह अध कर्तित विसर्प मुख्य रूप से अपरदन के द्वितीय चक्र के स्वरूप होते हैं तथा नदी के नवोन्मेष (Rejuvenation) के परिचायक होते हैं। परन्तु इस विचारधारा पर अनेक विद्वानों ने विरोध ही नहीं वरन्

रोप भी प्रकट किया है। उदाहरण के लिये ब्लाश[1] तथा कोल[2] ने उपर्युक्त मत का खण्डन किया है तथा बताया है कि कुछ अध कर्तित विसर्प द्वितीय चक्र के लक्षण हो सकते है परन्तु यह सबके लिये आवश्यक नही है। मूरी महोदय ने कोलोरेडो पठार की नदियो के Inclosed meanders की उत्पत्ति को बताते समय गभीरीभूत तथा अन्तः कर्तित विसर्पो मे विभेद स्थापित करते हुए बताया है कि गभीरीभूत विसर्प (Entrenched meander) का निर्माण कठोर चट्टानो वाले भाग मे होता है, जबकि अन्तःकर्तित विसर्प (Ingrown meander) का आविर्भाव एव विकास कमजोर चट्टान वाले भाग मे होता है। इन्होने बताया कि अधिक बोझ वाली नदी निम्न कटाव करेगी, अत गभीरीभूत विसर्प का निर्माण होगा, जबकि कम बोझ वाली नदी क्षैतिज अपरदन करेगी, अत अन्त-कर्तित विसर्प बनेंगे। इससे स्पष्ट हो गया है कि गभीरीभूत विसर्प गहरे तथा सँकरे एव अन्त कर्तित विसर्प खुले तथा विस्तृत होते है। विसर्प के विषय मे प्रस्तुत जटिलताओ के घने जाल मे न जाकर सरलीकरण के लिये लेखक यहाँ पर केवल उन विसर्पो का उल्लेख करना चाहता है, जिनका निर्माण नदी मे नवोन्मेष के कारण होता है। इनके लिये लेखक एक सामान्य शब्दावली "अध कर्तित" (Entrenched or incised) का प्रयोग चाहता है। प्रथम चक्र के समय नदी अपने सामान्य विसर्प का जब अधिक विस्तार कर लेती है तो विस्तृत तथा अधिक चौडाई वाले विसर्प का निर्माण होता है। किसी भी कारण से जब नदी मे नवोन्मेष आ जाता है तो उसका क्षैतिज अपरदन समाप्त हो जाता है तथा निम्न कटाव (Down cutting) प्रारम्भ हो जाता है। इस कारण पुराने विसर्प की गहराई बढने लगती है और अन्तत. एक सँकरे तथा गहरे विसर्प का निर्माण होता है। इसे अध कर्तित विसर्प की संज्ञा प्रदान की जा सकती है। इसके ढाल समान भी हो सकते है, असमान भी। यह खुला भी हो सकता है तथा संकरा एव गहरा भी। जबलपुर के पास नर्मदा नदी का धुआँधार प्रपात के नीचे भेडाघाट का गार्ज तथा राजरप्पा (हजारीबाग, विहार) के पास दामोदर नदी का गार्ज नवोन्मेष द्वारा जनित अधःकर्तित विसर्प के प्रमुख उदाहरण है।

(iii) बेमेलविसर्प (Misfit or unfit meander)—एक विस्तृत नदी अपनी प्रौढावस्था मे विस्तृत बाढ़ के मैदान का निर्माण करती है, जिसमे उसके विसर्प भी अत्यधिक विस्तृत होते हैं। किसी कारणवश जब नदी मे जल का आयतन कम हो जाता है तथा नदी सँकरी हो जाती है तो उसके द्वारा निर्मित विसर्प पहले की अपेक्षा कम चौडे होते हैं। इस तरह नवीन विसर्प के वक्र की अर्धव्यास, पहले वाले विसर्प के वक्र की अर्धव्यास से छोटी रह जाती है। ऐसे विसर्प को बेमेल विसर्प कहते है, क्योकि नवीन विसर्प प्रारम्भिक विसर्प मे पूर्णतया मेल नही खाते।

पेनेप्लेन (Peneplain)

समप्राय मैदान (Peneplain) का निर्माण उस समय होता है जबकि नदी की अन्तिम अवस्था मे क्षैतिज अपरदन द्वारा सतह की असमानतायें दूर हो जाती है। इस समय क्षैतिज अपरदन तथा निक्षेप दोनो मिलकर समप्राय मैदान का निर्माण करते है। प्रतिरोधी शैलो के भाग अपरदन-अवशेष (Erosion-remnants) के रूप मे यत्र-तत्र सामान्य सतह से ऊपर दिखाई पड़ते हैं। इन्हे मोनाडनाक (Monadnocks) कहते है। विशेष अध्ययन के लिये देखिये अध्याय "समप्राय मैदान"।

नदी का निक्षेपात्मक कार्य (Depositional Work of Stream)

यदि नदी का अपरदन-कार्य विनाशात्मक होता है तो निक्षेप का कार्य रचनात्मक होता है। अपरदन के समय नदियाँ स्थलखण्ड को काट कर, घिस कर या चिकना बनाकर विभिन्न स्थलरूपो का निर्माण करती है। इसके विपरीत निक्षेपात्मक कार्य मे तरह-तरह के मलबा को विभिन्न रूपो मे जमा करके विचित्र भू-दृश्यो (Landscapes) की रचना करती है। भू-आकृति विज्ञान मे अपरदन से उत्पन्न स्थलरूपों को अधिक महत्त्व प्रदान किया जाता है, क्योकि ये स्थल की सामान्य सतह से ऊँचे होते हैं तथा आसानी से देखे जा सकते है। इसका तात्पर्य यह नही है कि निक्षेपात्मक

1. Blache, Jules (1939)—Le probleme des meanders encaisses et les riviers Lorraines, J. Geomorph. 2. pp 201-212.
2. Cole, W. S. (1930)—The interpretation of intrenched meanders, J. Geol., 38, pp. 423–436.

कार्य नगण्य है। निक्षेपात्मक स्थलरूप भी मानव के लिये अत्यधिक आर्थिक महत्त्व वाले होते हैं। उदाहरण के लिये डेल्टा आदि कृषि की दृष्टि से उपजाऊ होते हैं। बाढ़ के समय बिछायी गई जलोढ़ मिट्टियाँ कृषि के लिये सर्वोत्तम मानी जाती हैं। निक्षेप द्वारा उत्पन्न स्थलरूपों की व्याख्या के पहले निक्षेप के कारण, निक्षेप के उचित स्थान आदि का उल्लेख आवश्यक है।

निक्षेप के कारण - नदी के ढाल, आयतन तथा वेग मे वृद्धि के कारण अपरदन अधिक होता है। इन स्थितियों के विपरीत दशाओं मे निक्षेप होता है। जब नदी मे इतना बोझ हो जाता है कि वह इसका परिवहन नही कर पाती है तो परिवहन-सामर्थ्य से अधिक पदार्थ का निक्षेपण होने लगता है। निक्षेपण का तात्पर्य सामान्य व्यक्ति नदी के डेल्टा से लगाता है तथा इसे नदी की वृद्धावस्था का प्रतिफल जानता है। यद्यपि नदी अपनी वृद्धावस्था मे जमाव अधिक करती है परन्तु इसका तात्पर्य यह नही है कि अन्य अवस्थाओं मे जमाव होता ही नही। अपरदन तथा निक्षेप मे अनन्य सम्बन्ध होता है। जैसे ही अपरदनहोने लगता है, यद्यपि नगण्य मात्रा मे ही सही निक्षेपण प्रारम्भ हो जाता है। जलोढ़ पंखों का निर्माण इस बात का परिचायक है क्योंकि इनकी रचना नदी की तरुणावस्था के अन्तिम चरण मे उस स्थान पर होती है, जहाँ पर नदी पहाड़ी से उतर कर मैदानों मे प्रवेश करती है। नदी द्वारा निक्षेपण मुख्य रूप से दो कारणों से होता है। प्रथम, नदी की परिवहन सामर्थ्य मे कमी तथा द्वितीय अत्यधिक बोझ के कारण नदी द्वारा समस्त पदार्थों को परिवहन करने की असमर्थता। नदी की परिवहन सामर्थ्य मुख्य रूप से नदी के वेग पर आधारित होती है तथा नदी का वेग, नदी के मार्ग के ढाल नदी के जल के आयतन तथा नदी के जलमार्ग के रूप पर आधारित होता है। यदि ढाल अधिक होगा, जल पर्याप्त होगा तथा नदी का जलमार्ग सीधा होगा तो नदी का वेग निश्चय ही अधिक होगा और जब नदी का वेग अधिक होगा तो उसकी परिवहन-शक्ति भी अधिक होगी। इसके विपरीत दशा मे उसकी परिवहन-शक्ति घटेगी। प्रयोगो के आधार पर यह बताया गया है कि यदि नदी का वेग दो गुना कर दिया जाय तो नदी की परिवहन शक्ति 64 गुना अधिक हो जाती है। अत. नदी के वेग म कमी ही निक्षेपण का प्रधान कारण है। नदी की परिवहन-शक्ति मे कमी (जिसके कारण जमाव सम्भव होता है) के निम्न कारण हो सकते हैं—

1. नदी के वेग में कमी—नदी के वेग मे कमी कई कारणों मे होती है—

(अ) नदी के ढाल में कमी—नदी के ढाल मे कमी के कारण नदी के बहने की गति मे निश्चय ही कमी आ जाती है। ढाल मे कमी के कई कारण होते हैं। उदाहरण के लिए 1 पटल-विरूपण के कारण (Due to diastrophism) नदी के मार्ग मे स्थल का नीचा होना या उसका एक तरफ झुक जाना। 2. मुख्य नदी के डेल्टा मे विस्तार। 3 नदी के ऊपरी भाग से नीचे की ओर पदार्पण। 4 नदी के मार्ग मे अधिक घुमाव का होना तथा 5 अधिक अपरदन के कारण नदी का क्रमबद्ध अवस्था की ओर पदार्पण।

(ब) नदी के जल मे अधिक विस्तार—जब नदी का जल अधिक दूरी मे विस्तृत होकर प्रवाहित होता है तो निश्चय ही नदी का वेग क्षीण हो जाता है। सकरे मार्ग से प्रवाहित होने वाले जल का वेग अधिक होता है परन्तु जब वही जल अधिक विस्तृत भाग पर फैल कर बहता है तो नदी का वेग कम होता है। नदी के जल का विस्तृत होना कई बातो पर आधारित होता है—1 जब नदी पर्वतीय भाग स उतर कर निचले भाग मे आती है तो ढाल की कमी के कारण जल अधिक दूरी मे फैल जाता है। 2 बाढ़ के समय सरिता का जल नदी के किनारो के ऊपर से होकर विस्तृत भागो मे फैल जाता है।

(स) नदी के मार्ग मे अवरोध—जब नदी के मार्ग मे अवरोध उत्पन्न हो जाता है तो नदी का वेग कम हो जाता है। यह अवरोध कई रूपो मे होता है। उदाहरण के लिये—1. भूमि-स्खलन (Landslide) के कारण चट्टानो का भाग खिसक कर नदी के मार्ग मे आकर बाँध के रूप मे अस्थायी अवरोध उत्पन्न कर देता है। 2 कभी-कभी नदियों के मार्ग मे बालुका स्तूपों (Sand-dunes) के निर्माण मे अवरोध हो जाता है। 3 नदी के साथ बहते हुए लकड़ी के टुकड़े जब नदी की प्रवाह-दिशा (Transverse) मे हो जाते है तो मार्ग म साधारण अवरोध हो जाता है। 4. अचानक अधिक निक्षेपण से प्रवाह अवरुद्ध हो जाता है।

(द) नदी के जल के आयतन मे कमी—जब अचानक या धीरे-धीरे नदी मे जल की पूर्ति कम हो जाती है तो आयतन मे कमी आ जाने से नदी का वेग कम हो जाता है। यह सामान्य तथ्य है कि अधिक आयतन वाली नदी, तीव्र ढाल के साथ तीव्र वेग वाली होती है। नदी के आयतन में कमी अग्रलिखित कारणों से होती है—

1. जलवायु में परिवर्तन के कारण वर्षा में कमी के कारण वाही जल (Runoff) मे कमी। 2. शुष्क भागो मे वाष्पीकरण द्वारा जल का विनाश। 3. निस्यन्दन (Seepage-जल का नीचे रिसना) के कारण नदी के जल में ह्रास। 4. सरिता-अपहरण द्वारा नदी की सहायक नदियों के जल का अपहरणकर्त्ता नदी मे चला जाना या मुख्य नदी के कुछ भाग का अपहरण द्वारा अपहरणकर्त्ता नदी मे मिल जाना। 5. मानव द्वारा नहर आदि के लिये नदी के जल का बड़े पैमाने पर उपयोग। 6. मुख्य नदी की मुख्य जलधारा का कई जलधाराओ मे बट जाने के कारण प्रत्येक जलधारा के आयतन मे कमी तथा 7. बाढ़ के चले जाने पर आयतन में अस्थायी कमी।

2. **नदी में बोझ की वृद्धि**—जब नदी में परिवहन किये जाने वाली पदार्थों की मात्रा नदी की परिवहन सामर्थ्य से अधिक हो जाती है तो नदी को **अतिभारित नदी** (Overloaded stream) कहते हैं। ऐसी अवस्था मे नदी अपने अतिरिक्त पदार्थों का निक्षेपण करना प्रारम्भ कर देती है। नदी के भार मे वृद्धि निम्नलिखित रूपो मे होती है।

(अ) नदी के शीर्ष भाग मे अपरदन के कारण निचले भाग मे भार की वृद्धि।

(ब) हिमानी जलोढ (Glaciofluviatile) द्वारा नदी के भार मे वृद्धि। जब हिमानी पिघल जाता है तो उसके अपरदन द्वारा प्राप्त मलवे को हिमानी जलोढ कहते है।

(स) मुख्य नदी की सहायक नदियो द्वारा अत्यधिक मलवे का लाया जाना।

(द) वनस्पति-आवरण की कमी के कारण नदी के मार्ग मे अधिक अपरदन द्वारा मलवा का आना। प्रायः ऐसा होता है कि उच्च ढाल से आने वाली नदियाँ अपने साथ इतना अधिक मलवा ला देती हैं कि नदी उसे ढोने मे समर्थ नही हो पाती है। फलस्वरूप मुख्य नदी द्वारा अतिरिक्त पदार्थों का निक्षेपण प्रारम्भ हो जाता है।

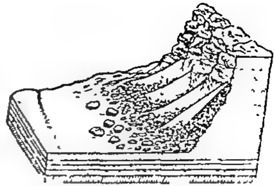
उपर्युक्त विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जब नदी के वेग मे कई कारणो से अत्यन्त कमी आ जाती है तथा नदी में भार की अधिकता हो जाती है तो निक्षेप होने लगता है। यह निक्षेप कहाँ होगा और कहाँ अधिक तथा कहाँ कम होगा? आदि नदी के वेग मे कमी की मात्रा तथा नदी-भार की मात्रा पर आधारित होता है। नदी की निचली घाटी में वेग में निहायत कमी तथा भार मे अधिकता के कारण जमाव अधिक होता है। बाढ के मैदान, डेल्टा आदि नदी की निचली घाटी के जमाव के उदाहरण हैं। निक्षेपण की मात्रा भार के पदार्थों के आकार पर भी आधारित होती है। उदाहरण के लिये नदी की तीव्र धारा के साथ यदि बड़े-बड़े टुकडे चल रहे हो तो नदी के वेग मे साधारण कमी आने पर ही इन टुकडो का जमाव हो जाता है, जब कि महीन कण नदी के वेग मे अत्यधिक कमी आने पर भी अधिक दूरी तक चलते रहते हैं। नदी का जमाव तीन स्थानो पर होता है—1. नदी की तली मे 2. नदी के किनारे वाले स्थलीय भाग मे तथा 3. जल भाग में (सागर या झील, जिसमें नदी भी गिरती है)। नदी की तली मे उस समय निक्षेप होता है जब कि नदी **अतिभारित** (Over loaded) हो जाती है, अर्थात् अपनी परिवहन-शक्ति से अधिक पदार्थ प्राप्त कर लेती है। इस स्थिति मे नदी के पेटे मे कई मीटर मोटे जलोढ का निक्षेप हो जाता है तथा नदी की तली ऊपर उठ आती है। परिणाम स्वरूप नदी की गहराई कम हो जाती है परन्तु चौड़ाई बढने लगती है। ऐसी अवस्था मे नदी कई शाखाओ मे बँट जाती है तथा देखने मे जीर्ण नजर आती है, जब कि वास्तव मे वह तरुण होती है। नदी की तली मे बड़े टुकड़ो का भी जमाव होता है परन्तु यह एक स्थान पर स्थायी नही रहता है। इन्हे नदी लुढका कर स्थानान्तरित करती रहती है।

निक्षेप द्वारा उत्पन्न स्थलरूप (Landforms resulting from stream-deposition)—नदी के निक्षेप द्वारा विभिन्न प्रकार के स्थलरूपो का निर्माण होता है, जिन्हे रचनात्मक भूदृश्य (Landscape) कहते हैं। प्रमुख निक्षेपात्मक स्थलरूप निम्नलिखित हैं—

1. जलोढ पंख (Alluvial Fans),
2. जलोढ शंकु (Alluvial cones),
3. बालुका पुलिन या बालुका तट (Sand Bank—सैकत तट),
4. प्राकृतिक तटबन्धन (Natural levees) या प्राकृतिक बाँध (Natural embankment),
5. बाढ़ का मैदान (Flood plains) तथा
6. डेल्टा (Delta)।

जलोढ़ पंख (Alluvial Fans)

जलोढ पख सरिता द्वारा रचनात्मक स्वरूपो में महत्त्वपूर्ण होता है। नदियाँ अधिक बोझ के साथ जब पर्वतीय ढाल के सहारे नीचे उतरकर समतल भाग मे प्रवेश करती है तो उनके वेग मे अचानक कमी आ जाती है। इस कारण चट्टानो के बडे-बडे टुकडे से लेकर बारीक टुकड़े भी पर्वतीय ढाल के आधार (Fcot) पर पद के पास जमा हो जाते हैं, क्योकि नदी की परिवहन शक्ति मे कमी हो जाने के कारण इन पदार्थों का परिवहन नही किया जा सकता है। परिणामस्वरूप पर्वतीय ढाल के आधार-तल के पास अर्द्धवृत्ताकार रूप मे पदार्थों का निक्षेप हो जाता है, जिसे जलोढ पख कहते हैं। इन पखो की संरचना इस प्रकार की होती है, कि बारीक कणो का निक्षेप पख के किनारे वाले भाग मे होता है तथा बडे कणो का जमाव पिछले भाग अर्थात् ढाल के पास होता है। दूसरे शब्दो मे जैसे-जैसे पर्वतीय ढाल से दूर हटते जाते है। निक्षेपित पदार्थ बारीक होते जाते हैं। जब अधिक ऊँचे ढाल से नदी के नीचे आने पर ऊँचे पख का निर्माण होता है तो उसका ढाल अधिक होता है। इस प्रकार के पख को **जलोढ शंकु** (Alluvial cones) कहते है। यहाँ पर **टालस शंकु** (Talus cone) तथा **जलोढ शकु** मे अन्तर स्थापित करना अति आवश्यक है। ये दोनो स्थलरूप विभिन्न प्रकार की क्रियाओ द्वारा निर्मित होते है। टालस शकु का निर्माण अपक्षय के कारण भग्नाश्म चट्टानों (Rock waste) के सामूहिक स्थानान्तरण (Mass translocation) के अन्तर्गत भूमि सर्पण या मृदा सर्पण (Land creep and soil creep) के कारण होता है तथा जल का हाथ बहुत कम होता है। इसके विपरीत जलोढ शकु का निर्माण जल की क्रिया द्वारा होता है। इसका निर्माण नदी के पहाडी ढाल के नीचे उतरने पर ढाल मे कमी आने के कारण मलवा के निक्षेप द्वारा होता है। टालस शकु मे बडे टुकडे शकु की परिधि के पास होते है तथा बारीक कण सबमे पीछे अर्थात् ढाल के पास होते हैं। इसके विपरीत जलोढ़ शंकु मे महीन कण परिधि के पास तथा बडे टुकडे ढाल के पास होते हैं। टालस शकु के निर्माण मे गुरुत्व शक्ति बिना जल की सहायता के पदार्थों को ऊपरी ढाल से नीचे की ओर लाती है, जबकि जलोढ़ शकु की रचना मे गुरुत्व शक्ति जल की सहायता से पदार्थों को नीचे लाती है। अर्द्धशुष्क भागो मे जलोढ़ शंकु के निर्माण के लिये अधिक सुविधाजनक परिस्थि-



चित्र 265—जलोढ शकु (Alluvial Cone)।

तियाँ मिलती हैं। वर्षा की अनिश्चितता के कारण कभी-कभी *जब अचानक भारी वर्षा हो जाती है तो अल्पकालिक* नदियाँ अपने साथ तीव्र अपरदन के कारण अधिक मात्रा मे मलवा का एकत्रीकरण ऊपरी ढाल से नीचे की ओर करती हैं, जिस कारण बडे शकुओ का निर्माण होता है।

जलोढ़ पंख की उत्पत्ति तथा संरचना—जलोढ पख वास्तव मे जलोढ शकु ही होते है, अन्तर केवल इतना होता है कि शकु की अपेक्षा पख का ढाल मन्द होता है। दोनो के निर्माण की प्रक्रिया मे भी सामान्य अन्तर अवश्य होता है। अधिक ढाल वाले तथा ऊँचे शकु का निर्माण



चित्र 266—जलोढ-पंख (Alluvial Fan)।

उस समय होता है, जबकि पर्वतीय ढाल, जिसमे होकर नदी उतरती है, अधिक होता है ताकि मलवा अधिक दूर तक न फैलकर सीमित क्षेत्र मे ही एकत्रित हो जाय। इसके निर्माण के लिये जल की कमी तथा मलवा की आवश्यकता होती है। इसके विपरीत पख की रचना उस समय होती है, जबकि पर्वतीय ढाल अधिक तीव्र न हो, जल की मात्रा मलवे की अपेक्षा अधिक हो। ऐसी परिस्थिति मे मलवा दूर तक फैलकर अर्धवृत्ताकार रूप धारण कर लेता है। जलोढ़ पख की सरचना सामान्य होती है। नदी अपने शीर्ष क्षेत्र के अपरदन द्वारा अप-

धिक मलवा प्राप्त कर लेती है। जब वह पहाड़ी ढाल के नीचे उतरती है तो ढाल मे अचानक कमी के कारण नदी का वेग कम हो जाता है। परिणामस्वरूप परिवहन शक्ति मे कमी के कारण ढाल के निचले भाग पर नदी इसलिये निक्षेप करने लगती है कि उसका ढाल ऊँचा हो जाय ताकि अधिक मलवा का परिवहन हो सके। इस परिस्थिति मे बड़े-बड़े टुकड़े ढाल के निचले भाग मे छूट जाते हैं तथा पंख का निर्माण होता है। एक समय आता है जबकि नदी अपने शीर्ष भाग का पर्याप्त अपरदन करके उसे नीचा कर देती है। इस स्थिति के कारण नदी के ऊपरी भाग मे मलवा की कमी हो जाती है, जिससे पूर्वनिर्मित पंख से होकर प्रवाहित होने वाली नदी उस पंख का कटाव करना प्रारम्भ कर देती है। इस तरह बिना किसी उत्थान के ही पख मे प्रवाहित होने वाली नदी मे नवोन्मेष आ जाता है तथा पख के कटाव के कारण नदी मे पुन मलवा की अधिकता हो जाती है। पुराने पख की परिधि के पास नदी अतिभारित (Over Loaded) हो जाती है। फलस्वरूप पंख की परिधि के पास पहले की अपेक्षा अधिक मलवा का निक्षेप करती है, जिससे द्वितीय पंख का निर्माण होता है। उपर्युक्त क्रिया की पुनरावृत्ति के कारण द्वितीय पख के कटाव से उसकी परिधि के पास निक्षेप होने मे तृतीय पंख का निर्माण हो जाता है। इस तरह के क्रमिक जलोढ पखो की स्थिति मे ढाल मे अचानक क्रमिक परिवर्तन का भ्रम नही करना चाहिए। जलोढ पख की सतह के ऊपर से प्रवाहित होने वाली नदी की स्थिति मे पर्याप्त अन्तर होता रहता है। पंख की चोटी या शीर्ष (Head or apex of fan) के पास नदी कई शाखाओ मे विभाजित हो जाती है। कुछ दूरी के बाद यह पख की बजरी मे लुप्त हो जाती है तथा कई किलोमीटर की दूरी तय करके निचले ढाल पर स्रोत या झरने के रूप मे प्रकट होती है। इस प्रकार नदी को **गुम्फित नदी** (Braided River) कहते हैं। वर्ष के अधिकतम समय तक ये गुम्फित नदियाँ शुष्क रहती हैं। केवल तेज वर्षा के समय जलमग्न रहती हैं। जलोढ पखो का निर्माण निम्न स्थानो पर हो सकता है—1 पहाड़ी ढाल के निचले भाग मे (At the foot of hill slopes); 2. ब्लाक पर्वत के अग्रभाग के सहारे जहाँ नदियाँ ऊपर से उतर कर सपाट मैदान पर प्रकट होती हैं और 3. **हिमानीकृत द्रोणी** (Glacial trough) के किनारे पर जहाँ लटकती घाटियो से नदियाँ सपाट मैदान मे उतरती हैं।

जलोढ पख में शनैः-शनैः विस्तार तथा विकास होता रहता है। यह विकास दो रूपो मे होता है। प्रथम रूप मे पख का क्षेत्रीय विस्तार होता है और द्वितीय रूप मे लगातार मलवा के ऊपर मलवा के निक्षेप के कारण पंख की ऊँचाई बढ़ती जाती है तथा पंख के ढाल मे भी वृद्धि होती है। अन्ततः ढाल में अधिक वृद्धि होने पर पख, जलोढ शंकु मे बदल जाता है। पर्वतीय ढालो के निचले भाग पर कई नदियो तथा नालो द्वारा अलग-अलग पंखो का निर्माण होता है तथा इन पंखो मे पार्श्ववर्ती विस्तार होने से एक से अधिक पंख मिल जाते हैं तथा एक विस्तृत पख का निर्माण करते हैं, जिसे **संयुक्त जलोढ़ पंख** (Compound alluvial fan) कहा जाता है। इन पंखो के मिलने से एक विस्तृत निक्षेप के मैदान का सृजन होता है, जिसे **गिरिपदीय जलोढ़ मैदान** (Piedmont alluvial plain) कहा जाता है। इस तरह के पख खासकर पर्वत श्रेणियो के आधारो पर मिलते हैं। इस तरह के पख मे जलोढ की गहराई सैकड़ो मीटर तक हो जाती है। इस गिरिपदीय जलोढ मैदान मे पंख की चोटी से परिधि की ओर ढाल कम हो जाता है तथा नदी कई शाखाओ मे बट कर गहरे खड्ड बनाकर बहती है।

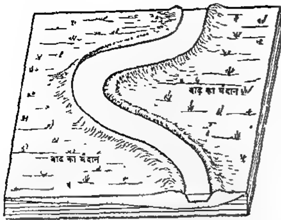
जलोढ़ पंख का रूप—जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि जलोढ पख का आकार प्रायः अर्द्धवृत्ताकार या धनुषाकार होता है, जिसकी चोटी उस कन्दरा के मुख पर होती है, जहाँ से नदी निकलकर निचले ढाल के निचले भाग पर आती है। यदि पख के अनुदैर्ध्य परिच्छेदिका (Longitudinal profile) पर दृष्टिपात किया जाय तो वह चोटी की ओर अवतल होती है। पंख की अनुप्रस्थ परिच्छेदिका, जो कि पर्वतीय अग्रभाग के समानान्तर होती है। उत्तल होती है। यह स्थिति प्रत्येक एकाकी पख मे होती है, पंखो का क्षेत्रीय विस्तार अलग-अलग होता है, परन्तु सामान्य रूप से पंखो का अर्द्धव्यास कुछ किलोमीटर से सैकड़ो किलोमीटर तक हो सकता है। उदाहरण के लिए कैलीफोर्निया की मरसीड नदी (Marced River) का जलोढ पख 40 मील (64 किलोमीटर) के व्यास वाला है। जलोढ पंखो के कई उदाहरण भारत मे हिमालय पर्वत के गिरिपदीय क्षेत्रों मे मिलते हैं, जहाँ पर नदियाँ ऊँचे ढाल से अचानक कम ढाल पर आने के कारण विशाल पंखो का निर्माण करती हैं।

जलोढ़ पंख का महत्त्व—जलोढ़ पंख भौगोलिक तथा आर्थिक दोनो दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण होते हैं। गिरिपदीय

जलोढ मैदान (Piedmont alluvial plain) जब अधिक विस्तृत तथा सगठित हो जाते हैं तो उनकी परिधि के समीप मानव-आवास बन जाते हैं तथा उनमे क्रमिक विकास के कारण नगरो तक का विकास हो जाता है। उदाहरण के लिए रोन नदी की ऊपरी घाटी मे जलोढ पंखो के पास कई नगर बन गये हैं। जलोढ पखो मे ऊपर बजरी मे जल रिस कर निचली परत मे चला जाता है। शुष्क मौसम मे जब ऊपर का जल लुप्त हो जाता है तो कम गहराई वाले कुएँ खोदकर इनसे जल आसानी से प्राप्त किया जा सकता है। कृषि की दृष्टि से जलोढ पंख अत्यधिक महत्व वाले होते हैं। पख की परिधि के पास महीन कणो वाली जलोढ मिट्टी (कछारी मिट्टी) का विस्तार होता है। यह मिट्टी खेती के लिए अधिक उपजाऊ होती है। इन पखो मे चोटी से लेकर परिधि तक कई झरने मिलते हैं, जिनसे सिंचाई के लिए आवश्यक जल मिल जाता है। अर्द्धशुष्क प्रदेशो मे जलोढ पख खेती के लिए उत्तम स्थल होते हैं।

तट-बन्ध (Levees)

नदी के दोनो किनारो पर मिट्टियो के जमाव द्वारा बने लम्बे-लम्बे बन्धो को जो कि कम ऊचाई वाले कटक (Low ridges) के समान होते है तटबन्ध कहते है। चूंकि ये बन्ध प्रकृति द्वारा बनाये जाते हैं तथा इनसे बाढ के समय सुरक्षा होती है, अत इन तटबन्धो को प्राकृतिक तट-बन्ध (Natural levees) कहते हैं। जलोढ पंख तथा डेल्टा के समान तटबन्ध नदी के सामान्य रचनात्मक स्थलरूप नहीं होते अर्थात् ये प्रत्येक नदी मे सदैव नही मिलते हैं। इस कारण जहाँ कहीं भी प्राकृतिक तटबन्ध निर्मित हो जाते हैं, वास्तव मे ये विशिष्ट स्थलरूप का प्रदर्शन करते हैं। तटबन्ध का निर्माण नदी द्वारा मलवा के निक्षेप के कारण होता है तथा इसकी उत्पत्ति सरल है। प्रत्येक नदी की घाटी के दोनो ओर किनारे होते है, जिनके बीच से होकर नदी प्रवाहित होती है। जब तक नदी अपने किनारो के बीच से होकर प्रवाहित होती है, वह अपने भार का वहन करती हुई सीधे रूप मे चलती है। जब नदी अपने किनारो को पार कर लेती है (बाढ के समय) तो उसका जल फैल कर दूर तक बहने लगता है। फलस्वरूप नदी के वेग मे कमी के कारण निक्षेप होने लगता है। इस निक्षेप के कारण नदी के दोनो ओर कम ऊँचाई वाले बाँध के रूप मे लम्बे-लम्बे कटक (Long ridges) का निर्माण हो जाता है। इन बन्धों का निर्माण नदी के किनारे के सहारे होता है। बडे कणों का जमाव नदी की घाटी की ओर होता है तथा महीन कणों का निक्षेप बन्ध के बाह्य भाग की ओर होता है। तटबन्धो की ऊँचाई नदी के जल-तल से कई मीटर तक होती है परन्तु सामान्य ऊँचाई 10 मीटर के अन्दर ही होती है। मिसीसीपी नदी के प्राकृतिक तटबन्ध की ऊँचाई 6 से 7 6 मीटर तक पायी जाती है। तटबन्ध, विस्तृत तथा भयानक बाढ़ों को छोडकर, नदी के जल के पार्श्विक फैलाव की सीमा निर्धारित करते हैं। अत सुदृढ एव ऊँचे तटबन्धों पर बाह्य ढाल की ओर मानव-आवास तथा बस्तियों का विकास हो जाता है। ये तटबन्ध कृषि के लिये भी प्रयोग किये जाते हैं, क्योकि इनमे जल-तल (Water table) ऊँचा रहता है, अत पर्याप्त नमी मिलती रहती है। सामान्य रूप से तटबन्ध नदी के बाढ की रोक थाम करते हैं परन्तु अचानक उनके बीच से टूट जाने पर भयकर बाढें आ जाती हैं जिनसे अपार धन-जन की हानि होती है। तटबन्धों के कारण नदी सामान्य रूप से उनके बीच से होकर ही प्रवाहित होती है, जिससे उसका मलवा तली मे जमता जाता है। परिणामस्वरूप नदी की तली भर कर ऊपर उठती जाती है तथा सामान्य दशाओ मे भी नदी अपने बाढ के मैदान के तल की अपेक्षा ऊँचे तल से होकर प्रवाहित होती है। ऐसी परिस्थिति मे जब नदी विस्तृत बाढ के समय इन बन्धो के ऊपर से होकर बहने लगती है या अचानक बन्धो को तोड कर बहने लगती है तो अचानक भयकर बाढ आ जाती है क्योकि नदी के जल का तल बाढ मैदान के तल से ऊँचा रहता है। चीन की ह्वांग हो नदी अपनी तली मे लोयस की पीली मिट्टी का जमाव करके अपनी तली को अधिक ऊँचा करती रहती है तथा उसके तटबन्ध के टूट जाने से प्रायः भयकर बाढ आ जाती है। इसी कारण से ह्वागहो को चीन का शोक (Sorrow of China) कहा जाता है। इसी कारण से 1852 तथा 1938 ई० मे ह्वागहो की बाढ अपार धन-जन की हानि कर चुकी है। बाढ के कारण तटबन्ध के बाह्य ढाल पर विकसित बस्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। खेती का कार्य अव्यवस्थित हो जाता है तथा मानव को अपने जीवन से हाथ धोना पडता है। जिन नदियो द्वारा प्राकृतिक तटबन्धों की रचना नहीं हो पाती है वहाँ पर बाढ से बचाव के लिए मानव कृत्रिम बन्धो की रचना करता है। ये कृत्रिम बन्ध भी नदी को अपनी तली को ऊँचा करने के लिये बाध्य



चित्र 267—प्राकृतिक तटबन्ध (Natural Levees)।

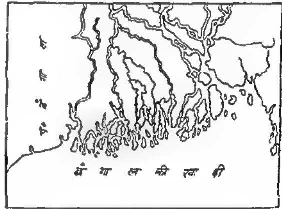
करते है, क्योंकि नदी को बाँध के अन्दर ही होकर प्रवाहित होना पडता है। फलत नदी को अपनी तली को छोडकर अन्यत्र निक्षेप का स्थान नहीं मिल पाता है। इस कारण नदी की तली ऊँची हो जाती है। जब कृत्रिम बाँध टूट जाते है तो भयंकर बाढ का सामना करना पडता है। 1975 मे बाँध के टूट जाने से **पटना** नगर अप्रत्याशित बाढ का शिकार हो गया।

इलाहाबाद शहर की रक्षा के लिए भी गंगा नदी के दाये किनारे एवं यमुना नदी के बायें (left) किनारे पर कृत्रिम तटबन्ध बनाये गये हैं। इस कारण गगा तथा यमुना नदियो मे सिल्ट के जमाव के कारण उनकी तली ऊपर उठ रही है।

नदी-डेल्टा (Delta)

सामान्य परिचय—नदी द्वारा निर्मित रचनात्मक स्थलरूपो मे डेल्टा का सर्वाधिक महत्त्व है। प्रत्येक नदी जब सागर या झील मे गिरती है तो उसके प्रवाह मे अवरोध एव वेग मे निहायत कमी के कारण नदी के मलवा का निक्षेपण होने लगता है, जिससे एक विशेष प्रकार के स्थलरूप का निर्माण होता है। इस स्थलरूप को डेल्टा कहा जाता है। इसका **डेल्टा नामकरण** ग्रीक अक्षर △ (डेल्टा) के आधार पर किया गया है क्योंकि इस रचनात्मक स्थलरूप का आकार प्राय △ अक्षर से मिलता है। सर्वप्रथम डेल्टा शब्द का प्रयोग **नील** नदी के मुहाने पर हुए निक्षेपात्मक स्थलरूप के लिए किया गया था। बाद मे सभी नदियो के मुहाने पर निक्षेप द्वारा निर्मित स्थलरूपो के लिये डेल्टा शब्द का प्रयोग किया गया। **छोटे या बड़े** आकार मे प्रायः प्रत्येक नदी डेल्टा का **निर्माण करती है**। कभी-कभी डेल्टा का विस्तार बहुत अधिक होता है तथा यह हजारो वर्ग किलोमीटर तक होता है। इसके विपरीत कुछ नदियो का डेल्टा निहायत छोटा होता है। डेल्टा का जमाव तथा छोटा-बड़ा होना कई बातो पर आधारित होता है। इसका आगे उल्लेख किया जायेगा। डेल्टा मे तलछट की गहराई मे भी पर्याप्त अन्तर होता है। अनेक डेल्टाओ मे तलछट की गहराई हजारो मीटर तक होती है। उदाहरण के लिए **मिसीसीपी** के डेल्टा की औसत मोटाई 2000 फीट तक है। डेल्टा के आकार मे भी अन्तर होता है। कुछ **धनुषाकार** या **चापाकार** होने है तो कुछ **पक्षियों के पजे** मे समान होते हैं। कुछ अधिक लम्बे तथा सँकरे होते तो कुछ अधिक चौड़े होते हैं। डेल्टा नदी के अन्तिम भाग का वह समतल मैदान होता है, जिससे ढाल सागर की ओर होता है।

डेल्टा के निर्माण की आवश्यक दशायें—अधिकांश नदियाँ यद्यपि सागर मे गिरती हैं, परन्तु प्रत्येक नदी



चित्र 268—गगा का डेल्टा।

डेल्टा का निर्माण नही करती है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि डेल्टा-निर्माण के लिये कुछ विशेष आवश्यक दशायें होती है जिनके होने पर ही डेल्टा का निर्माण सम्भव हो सकता है। साधारण रूप मे डेल्टा का निर्माण दो तथ्यो पर आधारित होता है। **प्रथम** नदी से सम्बन्धित तथ्य, जिसमे नदी के भार, उसका ढाल, गति आदि का महत्त्व होता है। **द्वितीय** उस भाग से सम्बन्धित तथ्य, जिसमे नदियाँ गिरती हैं। उदाहरण के लिये सागर या झीलें—इनमे सागर की सामान्य दशायें उसकी स्थिति, गहराई, सागरीय लहरो तथा ज्वार-भाटा आदि के स्वरूपो का ध्यान रखा जाता है। नदी के भार मे न केवल उसकी

मात्रा का ही महत्त्व होता है वरन् उसके पदार्थों के आकार आदि का भी महत्त्व होता है। उदाहरण के लिये महीन पदार्थों का परिवहन दूर तक आसानी से हो जाता है परन्तु बड़े कणो वाले पदार्थों का परिवहन नदी के वेग मे कमी के कारण अधिक दूरी तक नहीं किया जा सकता है। सर्वप्रथम हम यह देखेंगे कि डेल्टा का निर्माण होता क्यो है ? यह सर्वविदित तथ्य है कि नदियाँ अपने ऊपरी भाग मे अत्यधिक अपरदन द्वारा अपने साथ अधिक मात्रा मे भार ग्रहण कर लेती हैं तथा इनका अधिक दूरी तक परिवहन करती रहती हैं। जैसे ही नदियाँ झील या सागर मे गिरती है, अपने साथ लाये हुए मलवा पदार्थों का निक्षेप प्रारम्भ कर देती है। नदी के मुहाने पर पदार्थों का डेल्टा के रूप मे निक्षेपण कई कारणो से होता है, जिनमे प्रमुख अग्रलिखित हैं—1. अपने मार्ग मे अपरदन द्वारा नदी इतना अधिक भार ग्रहण कर लेती है कि अन्तत वह उनका परिवहन करने मे समर्थ नही हो पाती है। इस तरह **अतिभारित नदी** (Overloaded river) पदार्थों का कुछ जमाव तो मुहाने के पास किनारो के सहारे करती है परन्तु अधिकाश पदार्थों का जमाव मुहाने के के पास सागर या झील मे होता है (जहां भी वह गिरती हो) 2 यदि नदियो का वेग ऊपरी घाटी के समान रहता तो नदी अधिक भार का भी परिवहन कर सकती थी परन्तु चूंकि ढाल मे निरन्तर ह्रास के कारण नदी का वेग इतना कम हो जाता है कि नदी अपने भार को ढोने मे अपने को पूर्णतया असमर्थ पाती है, अन्तत उसे अपने मुहाने के पास अपने लाये पदार्थों का निक्षेप करना ही पड़ता है। 3 नदी जब झील या सागर मे प्रवेश करती है तो झील या सागर के जल के कारण रगड़ (Friction) द्वारा नदी के वेग मे अवरोध होता है। इस कारण नदी का वेग कम हो जाता है अत पदार्थों का निक्षेप नदी के मुहाने पर डेल्टा के रूप मे हो जाता है। 4. सागरीय जल नमकीन (Saline) होता है। जब नदी द्वारा लाये गये महीन कणो का सम्पर्क इस सागरीय जल से होता है तो सागर का नमकीन जल, बारीक कणो को भारी बना देता है। इस कारण पदार्थ आसानी से नीचे बैठने लगते हैं। अगर यह शुद्ध जल होता तो ऐसे महीन कण जल के ऊपर ही तैरते रहते। अब हम उन आवश्यक परिस्थितियो का उल्लेख करेंगे जिनके द्वारा डेल्टा का निक्षेप प्रभावित होता है—

1 डेल्टा के निक्षेप के लिये उचित स्थान का होना आवश्यक है। अर्थात् नदी यदि झील या सागर में गिरती हो तभी अन्य परिस्थितियो के वर्तमान रहने पर डेल्टा का निर्माण सम्भव हो पाता है। यही कारण है कि आन्तरिक देशो की नदियाँ जो कि स्थल मे ही रह जाती है, झील या सागर का दर्शन नही कर पाती हैं, डेल्टा नही बनाती है। सागर की अपेक्षा, झीलें डेल्टा के लिये अधिक सुविधाजनक होती हैं, क्योकि इनमे सागरीय लहरो आदि का भय नही रहता है। चूंकि विश्व की महानतम नदियाँ सागर मे ही गिरती है, अत विश्व के बड़े डेल्टा सागर मे ही बनते हैं।

2 नदी का आकार तथा आयतन अधिक हो तथा उसका मार्ग भी लम्बा हो ताकि यह अपने साथ अधिक मात्रा मे पदार्थों को परिवहन करके अपने साथ मुहाने तक ला सके। भार की मात्रा के साथ ही साथ उसके पदार्थों की बनावट तथा आकार भी महत्त्वपूर्ण होते हैं, क्योकि यदि महीन एव बारीक कणो की ही अधिकता होगी तो वे नदी के वेग के साथ दूर तक सागर मे चले जायेंगे तथा सागरीय जल के साथ ऊपर ही तैरते रहेंगे। इसके विपरीत यदि पदार्थ बड़े कणो वाले होगे तो नदी के सागर मे प्रवेश करते ही नीचे बैठने लगते हैं तथा डेल्टा के निर्माण मे अधिक सहायक होते हैं।

3 मुहाने के पास नदी का वेग अत्यन्त मन्द होना चाहिए ताकि समस्त पदार्थ मुहाने के पास ही जमा होकर सुविस्तृत डेल्टा का निर्माण कर सकें। यदि नदी का वेग अधिक होगा तो उसकी धारा के साथ अधिकांश पदार्थ सागर मे बहुत दूर तक चले जायेंगे। वहाँ पर जल की गहराई इतनी अधिक होती है कि उनके नीचे बैठने पर भी डेल्टा के निर्माण मे कोई सहायता नहीं मिल पाती है।

4. जिस सागर मे नदी गिरती है, वहाँ पर सागरीय लहरो का वेग शान्त होना चाहिए। अन्यथा वेगवती लहरें निक्षेपित पदार्थ को काट कर अपने साथ बहा ले जाती है तथा डेल्टा का निर्माण नहीं हो पाता है।

5. मुहाने के पास ज्वार की तरगें निर्बल होनी चाहिए, ताकि निक्षेपित पदार्थ को वे लौटते समय बहाकर न ले जा सकें।

6 सागरीय तट या सागरीय पेंदे को स्थायी होना चाहिए। यदि सागर की दशायें परिवर्तनशील होती हैं तो डेल्टा का निर्माण नहीं हो सकता है। यदि सागर का निमज्जन (Submergence) होता है तो निमज्जन के साथ ही निक्षेपित पदार्थ भी नीचे चले जायेंगे तथा डेल्टा लुप्त हो जायेगा। कुल मिलाकर सक्षेप में यह कहा जा

सकता है कि सागरीय लहरों द्वारा तथा ज्वारीय तरंगों द्वारा पदार्थों को बहाकर ले जाने की अपेक्षा नदियो द्वारा पदार्थों के निक्षेप की दर अधिक होनी चाहिए। यदि इसके विपरीत दशा होगी तो डेल्टा का निर्माण नही हो सकेगा।

डेल्टा का निर्माण (Formation of Delta)—उपर्युक्त परिस्थितियो के सुलभ (अत्यधिक नदी-भार, मंद ढाल, मन्द नदी-वेग, सागर या झील का होना, सागरीय लहर तथा ज्वारीय लहरो का कम सक्रिय होना, सुस्थिर सागर तट आदि) होने पर सागर मे नदी के मुहाने पर अत्यधिक पदार्थों का निक्षेप होने लगता है। यह निक्षेप नदी के मुहाने पर नदी के किनारे वाले भाग, नदी की तली तथा नदी के मुख के अग्रभाग मे होता है। इस तरह एक विस्तृत पंख का निर्माण हो जाता है जो कि सागर की ओर ढालुआं होता है। नदी के मुहाने पर इस तरह के कई पंखों (Fans) का निर्माण होता है जो कि सागर की ओर बढते जाते हैं। ये पख विस्तृत होने पर मिल जाते हैं। इनसे होकर बहने वाली नदी के मार्ग मे ढाल के कारण अवरोध उत्पन्न हो जाता है, जिस कारण नदी एक ही धारा के रूप मे अपने समस्त जल को सागर तक नही ले जा पाती है। परिणामस्वरूप नदी कई शाखाओ मे बट जाती है। इस क्रिया को नदी का **द्विशाखन** (Bifurcation) कहते हैं। इस क्रिया की पुनरावृत्ति के कारण नदियाँ कई जलधाराओ से होकर डेल्टा को कई भागो मे विभाजित करके सागर मे मिलती हैं। नदी के द्विशाखन द्वारा उत्पन्न मुख्य धारा की कई उपधाराओ को **जलवितरिका** (Distributaries) कहते हैं तथा इस तरह की जलवितरिकाओ वाली नदी को **गुम्फित नदी** (Braided stream) कहते हैं। इन जलवितरिकाओ द्वारा प्रमुख डेल्टा कई भागो मे विभक्त हो जाता है। इस तरह डेल्टा की निम्न परिभाषा प्रस्तुत की जा सकती है—"**नदी द्वारा सागर या झील में पदार्थों के निक्षेपण द्वारा उस स्थलरूप को डेल्टा कहा जाता है जो कि नदी की जलवितरिकाओ द्वारा कई तिकोनाकार भागों में विभक्त हो जाता है।**" ऐसे ही आकार के लिये **हेरोडोटस** ने नील नदी के मुहाने के निक्षेपात्मक स्थलरूप का नामकरण ग्रीक अक्षर △ के आधार पर डेल्टा का प्रयोग किया था। ग्रीक अक्षर △ निश्चय ही तिकोनाकार होता है।

डेल्टा की संरचना (Structure of Delta)—डेल्टा मे पदार्थों का निक्षेपण एक निश्चित प्रक्रिया के अनुसार होता है। बडे कण स्थल के पास होते हैं तथा महीन कण सागर की ओर होते हैं। जैसे-जैसे सागर की ओर बढ़ते जाते हैं, बारीक कणो की अधिकता होती जाती है, यहाँ तक कि अधिक दूर जाने पर महीन कण जल पर ही तैरते रहते हैं। डेल्टा मे मुख्य रूप से तीन स्तर पाये जाते हैं। डेल्टा के सबसे ऊपरी स्तर (Bed) को **उच्चनिक्षेप या ऊपरी स्तर** (Top set bed) कहते हैं। यह चौडा तथा मन्द ढाल वाला समतल मैदान होता है। यह सागर-तल से थोडा ही ऊँचा होता है। दूसरा स्तर **अग्रस्तर** (Fore set bed) कहा जाता है। यह डेल्टा का सागर की ओर निकला हुआ भाग होता है। यह भाग खड़े ढाल वाला होता है तथा सागर की ओर निकला रहता है। अन्तिम स्तर को **निम्न स्तर** (Bottom set bed) कहते हैं। यह डेल्टा का सबसे निचला भाग होता है जो कि सागर की तली पर बिछा होता है तथा दूर तक सागर मे निकला रहता है। डेल्टा के इन तीनो स्तरो का भली प्रकार विकास झील मे निर्मित डेल्टा मे ही हो पाता है। सागरीय भागो मे सागरीय लहरों, धाराओ आदि के कारण उनमे अव्यवस्था आ जाती है। सागरीय भागो मे अग्रस्तर तथा निम्नस्तर प्राय एक दूसरे मे मिल जाते हैं तथा इनको अलग करना कठिन होता है। बडे कणो से निर्मित नवीन डेल्टा के अग्रभाग का ढाल औसतन 30° से 35° तक होता है परन्तु दीर्घ सागरीय डेल्टा के अग्र भाग का ढाल मन्द होता है। उदाहरण के लिये **रोन नदी** (Rhone River) के डेल्टा का ढाल केवल ½° का ही है।

डेल्टा के पदार्थों की गहराई मे भी पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। वास्तव मे डेल्टा की मोटाई उस सागर या झील के जल की गहराई पर आधारित होती है जिसमे डेल्टा का निक्षेप होता है। डेल्टा की गहराई स्थल के पास कम होती है तथा सागर की ओर जाने पर बढती जाती है। तलछटीय निक्षेप के साथ-साथ डेल्टा की गहराई बढती जाती है, क्योंकि जमाव तथा धँसाव (Sedimentation and subsidence) साथ-साथ चलते हैं परन्तु यह क्रिया मन्द गति से अग्रसर होती है। मिसीसीपी नदी के डेल्टा मे 2000 फीट तक बोरिंग की जा चुकी है परन्तु अब तक उसकी वास्तविक गहराई का पता नही लगाया जा सका है।

डेल्टा का विस्तार (Growth of Delta)—डेल्टा का विस्तार कई बातो पर आधारित होता है। यदि नदी

का वेग कम होता है तो अधिकांश मलवा नदी के मुहाने के पास ही बिछा दिया जाता है तथा डेल्टा की सागर की ओर बढ़ने की गति मन्द होती है। इसके विपरीत यदि नदी का वेग अधिक होता है तो डेल्टा का आकार पतला किन्तु लम्बा होता है तथा बहुत दूर तक सागर में बढ़ता जाता है। डेल्टा के विस्तार पर सागरीय लहरों का भी पर्याप्त प्रभाव होता है। जहाँ पर लहरें अधिक सक्रिय होती हैं वहाँ पर डेल्टा का अधिकांश मलवा लहरों द्वारा बहा लिया जाता है और डेल्टा का विस्तार मन्द गति से हो पाता है। ये लहरें डेल्टा के आकार को भी प्रभावित करती हैं। सागरीय धारायें, यदि नदी के मुहाने पर प्रवाहित होती हैं तो डेल्टा के निकले भागों को अपनी दिशा की ओर मोड़ देती है। डेल्टा का सागर की ओर फिसलन द्वारा भी विस्तार होता है। यदि डेल्टा का ढाल अधिक हो जाता है तथा डेल्टा यदि अधिक ऊँचा हो जाता है तो सागर की ओर वाले भाग फिसल कर सागर की ओर बढ़ते हैं, जिससे डेल्टा का सागर की ओर विस्तार होता है। प्रायः प्रत्येक नदी के डेल्टा में विस्तार होता है, परन्तु प्रत्येक डेल्टा के बढ़ने की गति में पर्याप्त अन्तर होता है। यह अन्तर इतना अधिक होता है कि डेल्टा के बढ़ने के विषय में किसी सामान्य नियम का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता है। **चापाकार डेल्टा** (Arcuate delta) का विस्तार उसके परिधि के सहारे सागर की ओर समान रूप में होता है, परन्तु उसका विस्तार इस रूप में होता है कि उसके चाप का आकार सुरक्षित रहता है। **नील नदी** का डेल्टा, जो कि चापाकार डेल्टा का ही उदाहरण है, औसत रूप में प्रतिवर्ष 12 फीट की दर से सागर की ओर बढ़ता है। यदि पो नदी के डेल्टा के पिछले 830 वर्षों के इतिहास का अवलोकन किया जाय तो यहाँ पर प्रतिवर्ष डेल्टा का विस्तार 80 से 200 फीट के बीच रहा है। **कैस्पियन** सागर में गिरने वाली **टेरेक नदी** (Terek River) प्रतिवर्ष अपने डेल्टा में 1000 फीट का विस्तार कर लेती है। **गंगा के डेल्टा** में भी पर्याप्त विस्तार हो चुका है। **कलकत्ता** का बन्दरगाह पहले सागर तट पर था परन्तु वर्तमान समय में यह कई किलोमीटर[1] तट से दूर आतरिक भाग में है। इस कारण बड़े-बड़े जलयान सागर तट पर ही रुक जाते हैं तथा पुनः सामान को छोटे-छोटे जलयानों में भरकर कलकत्ता तक पहुँचाया जाता है। सागरीय लहरें तथा धारायें डेल्टा की दिशा में परिवर्तन करके उनके निकले भागों को मोड़ती रहती हैं। इस कारण कभी-कभी तट तथा डेल्टा के बीच या मुख्य डेल्टा तथा उसके मुड़े हुए भाग के बीच सागर का जल बन्द हो जाता है, जिसमें झील या लैगून का निर्माण हो जाता है। इस प्रकार की झीलों को **डेल्टा झील** (Delta lake) कहा जाता है। **ट्रिनिटी नदी** (Trinity River) के मुहाने पर **टर्टिल बे** (Turtle Bay) एक डेल्टा झील का ही उदाहरण है। इसी तरह **मिसीसीपी राइन** आदि नदियों के डेल्टाई भागों में कई झीलों का निर्माण हो गया है।

डेल्टा का वर्गीकरण—वास्तव में भूपटल पर नदियों का प्रत्येक डेल्टा एक दूसरे से भिन्न होता है। अतः डेल्टा को निश्चित रूप में वर्गीकृत करना यदि असम्भव नहीं तो कठिन कार्य अवश्य है। यदि समस्त नदियों के डेल्टा का अध्ययन किया जाय तो उनमें आकार सम्बन्धी, विस्तार सम्बन्धी तथा संरचना सम्बन्धी कई ऐसी सामान्य विशेषताएँ होती हैं, जिनके आधार पर उनका वर्गीकरण किया जा सकता है। यहाँ पर हम विभाजन के दो आधारों का चयन करेंगे—

1. आकृति के अनुसार डेल्टा का वर्गीकरण—

1 चापाकार डेल्टा (Arcuate Delta)
2 पंजाकार डेल्टा (Bird foot Delta)
3 ज्वारनद मुखी डेल्टा (Estuarine Delta)
4 रुण्डित डेल्टा (Truncated Delta)
5 पालियुक्त डेल्टा (क्षोणाकार डेल्टा) (Lobate Delta)

2. विस्तार के अनुसार डेल्टा का विभाजन—

1 प्रगतिशील डेल्टा (Growing Delta)
2 अवरोधित डेल्टा (Blocked Delta)

1 **चापाकार डेल्टा** (Arcuate Delta)—इस प्रकार के डेल्टा का आकार वृत्त के चाप या धनुष के समान होता है। इसी से इसे धनुषाकार डेल्टा भी कहा जाता है। इसका विस्तार बीच में सर्वाधिक होता है तथा दोनों किनारों की ओर यह कम होता जाता है।

---

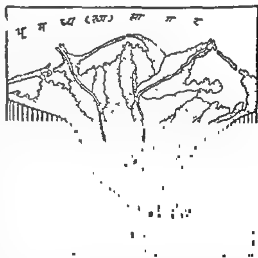
1. एक समय ऐसा था जब कि कलकत्ता सागर तट पर स्थित था परन्तु इस समय तट से 15 से 20 मील दूर आन्तरिक भाग में स्थित है।

चापाकार डेल्टा का निर्माण उस समय होता है जबकि नदी की मुख्य धारा द्वारा पदार्थों का निक्षेप बीच मे अधिक हो ताकि बीच का भाग निकला रहे एवं किनारे के भाग सँकरे रहे। इस तरह की आकृति निश्चय ही एक धनुष के समान या पखा के समान होती है, जिसका आकार अर्द्धवृत्ताकार होता है। चापाकार डेल्टा की लम्बाई बीच में सर्वाधिक होती है तथा किनारे की ओर कम होती जाती है, जैसा कि एक अर्द्धवृत्त का स्वभाव होता है। चापाकार डेल्टा को अर्द्धवृत्ताकार रूप सागरीय लहरो तथा धाराओ द्वारा भी प्राप्त होता है। चापाकार डेल्टा का सर्वोत्तम उदाहरण **नील नदी का डेल्टा** प्रस्तुत करता है, अतः इस प्रकार के डेल्टा को **नील डेल्टा** भी कहा जाता है। चापाकार डेल्टा का निर्माण बड़े कणो वाले पदार्थों से होता है, जिसमे बजरी, रेत तथा सिल्ट की अधिकता होती है। इस तरह के पदार्थ पारगम्य या सरंध्र होते हैं। इस कारण नदी का जल इन पदार्थों मे रिस कर नीचे चला जाता है तथा नदी कई शाखाओ में विभक्त होकर प्रवाहित होती है। इन शाखाओ को **जल-वितरिका** (*Distributaries*) कहते है। इनकी तली अत्यधिक उथली होती है, अत बाढ के समय ये अपना मार्ग बदलती रहती हैं। **चापाकार डेल्टा** का निर्माण मुख्य रूप से अर्द्धशुष्क जलवायु वाले प्रदेशो मे अधिक होता है। **नील नदी का डेल्टा** इस तथ्य को भली प्रकार प्रमाणित करता है। प्रमुख चापाकार डेल्टा के उदाहरण अग्रलिखित डेल्टा हैं—**गंगा का डेल्टा, राइन डेल्टा, नाइजर-डेल्टा, ह्वांगहो-डेल्टा, ईरावदी-डेल्टा, वोल्गा-डेल्टा, सिन्धु डेल्टा, डेन्यूब-डेल्टा, मीकांग-डेल्टा, पो-डेल्टा, रोन-डेल्टा, लीना डेल्टा,** आदि। चापाकार डेल्टा की नदियाँ गुम्फित (Braided) होती हैं। चापाकार डेल्टा एक **प्रगतिशील डेल्टा** का उदाहरण होता है जो कि प्रतिवर्ष सागर की ओर बढता जाता है। इसके बढने की गति भिन्न-भिन्न डेल्टा मे अलग-अलग होती है। नील नदी का डेल्टा, चापाकार डेल्टा का वास्तविक उदाहरण है जो कि ग्रीक अक्षर Δ से मिलता है। नील नदी का डेल्टा तट से अपने शीर्ष तक **200** मील की लम्बाई मे सागर मे विस्तृत है। इसका सागर की ओर ढाल प्रति मील पर एक फुट है जो कि **ह्वांगहो** के डेल्टा के ढाल का आधा परन्तु **मिसीसीपी डेल्टा** का तीन गुना अधिक है। डेल्टा मे नदी दो मुख्य शाखाओ मे विभक्त है तथा ये शाखायें पुन कई जलवितरिकाओ (*Distributaries*) मे विभक्त हो गई हैं।

2. पंजा डेल्टा (Bird-foot Delta)—पंजा डेल्टा का निर्माण उन बारीक कणों से होता है, जो कि जल के साथ घोल के रूप मे मिले रहते हैं तथा जिनमे चूने की मात्रा अधिक होती है। इनके निर्माण के लिये नदी का वेग कुछ अधिक होना चाहिये। नदी अपने साथ बारीक



चित्र 269—राइन नदी का डेल्टा (चापाकार डेल्टा)।

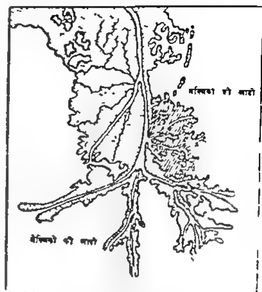


चित्र 270—नील नदी का डेल्टा (चापाकार डेल्टा)।

कणो वाले पदार्थों को लिये सागर में अधिक दूरी तक प्रवेश कर जाती है तथा सागरीय खारे जल के सम्पर्क मे आने के कारण नदी के साथ लाये गये घोल के रूप में बारीक कण भारी होकर नदी के दोनो किनारो पर बैठने लगते हैं तथा कुछ समय बाद एक लम्बे डेल्टा का निर्माण करते हैं। इस डेल्टा के पदार्थ बहुत ही बारीक कण और रंध्रहीन (Non-porous) होते हैं, अतः नदी का

जल रिस कर नीचे नही जा पाता है। परिणामस्वरूप नदी सागर मे अधिक दूरी तक एक ही धारा के रूप मे चलती है तथा अन्त मे कुछ विभाग हो जाते हैं। परन्तु विचित्र तथ्य यह है कि प्रमुख धारा की शाखायें भी लम्बाई मे ही अपने दोनो किनारो पर बारीक कणो वाले पदार्थों का निक्षेप करती हैं, जो कि मनुष्य के हाथ की अंगुलियों के समान निकले रहते हैं। इसी से इस प्रकार के डेल्टा को अंगुल्याकार डेल्टा भी कहा जाता है। पंजाकार डेल्टा (Bird foot delta) इसलिये भी कहते है कि इनका आकार पक्षियो के पैरो के पंजे से मिलता है। पंजाकार डेल्टा का सर्वोत्तम उदाहरण मिसीसिपी का डेल्टा है। मिसीसिपी नदी अत्यधिक विस्तृत चूने के पत्थर एवं बारीक कणो वाली परतदार चट्टानो वाले प्रदेश से होकर बहती है, अतः अपने साथ अधिक मात्रा मे चूनेदार पदार्थों को बहाकर लाती है, जो कि निक्षेपित होकर पंजाकार डेल्टा के निर्माण मे सहायता प्रदान करते है। मिसीसिपी डेल्टा मे निक्षेपित पदार्थों के कण 1/10 मिलीमीटर के या उससे कम व्यास वाले होते हैं। मिसीसिपी नदी मेक्सिको की खाड़ी मे कुछ दूरी तक एकाकी धारा के रूप मे चलने के बाद चार उपशाखाओं मे विभक्त हो जाती है तथा इन चार शाखाओं के किनारे पर पदार्थों के अलग-अलग निक्षेपण, इस डेल्टा को पक्षी के पंजा का आकार प्रदान करते है। डेल्टा की इन निकली हुई अंगुलियों द्वारा कई खाड़ियों (Bays) का निर्माण हो गया है। मिसीसिपी नदी तथा इनकी निचली चार शाखायें अपने किनारो पर लम्बाई मे जो जमाव करती हैं, वह तटबन्ध (Levees) के समान होता है। कभी-कभी मिसीसिपी या उसकी कोई शाखा (जलवितरिका) तट-बन्ध को तोड कर खाड़ी मे नये परन्तु छोटे डेल्टा का निर्माण करती है। मिसीसिपी-डेल्टा निरन्तर सागर की ओर बढ रहा है।

3 ज्वारनद मुखी डेल्टा (Esturine Delta)—नदियो की एस्चुअरी (Estuary ज्वारनद-मुख) के भर जाने से निर्मित लम्बे तथा सकरे डेल्टा को ज्वारनद मुखी डेल्टा कहा जाता है। नदी के उस मुहाने को एस्चुअरी कहा जाता है जो कि जलमग्न होता है तथा जहाँ पर सागरीय तथा ज्वारीय लहरें नदी द्वारा निक्षेपित पदार्थों को बहा ले जाती हैं। यह मुहाना प्राय चौड़ा होता है। इस मुहाने मे नदियाँ अपने मलवा का निक्षेपण करके उसे भरने का प्रयास करती हैं। फलस्वरूप एक लम्बे किन्तु संकरे डेल्टा का निर्माण होता है। इस तरह एस्चुअरी के भरने से उत्पन्न डेल्टा को ज्वारनद मुखी डेल्टा कहा जा सकता है। भारत मे नर्मदा तथा ताप्ती



चित्र 271 —मिसीसिपी नदी का पंजा डेल्टा।

नदियाँ इस तरह का डेल्टा बनाती हैं। ज्वारनद मुखी डेल्टा के अन्य उदाहरण मैकेन्जी ओडर, विश्चुला एल्ब, सेन, ओब हडसन आदि नदियों के डेल्टा हैं। इस तरह के डेल्टा मे निमज्जित मिट्टी की शलाकायें (Submerged Bars) बाढ के मैदान या दलदली भाग मिलते हैं।

4 रुण्डित डेल्टा (Truncated Delta)—नदी द्वारा निर्मित डेल्टा के आकार आदि मे सागरीय लहरें परिवर्तन करती रहती हैं। कभी-कभी लहरें डेल्टा को काट-छाँट कर उसे बहा ले जाती है। इस कारण डेल्टा कटे-फटे रूप मे ही रह जाता है। इसी तरह के डेल्टा को भग्नाकार या रुण्डित डेल्टा कहते हैं।

5 पालियुक्त डेल्टा (Lobate Delta) —जब एक नदी की कई शाखायें अलग-अलग डेल्टा का निर्माण करती हैं तो मुख्य नदी द्वारा निर्मित डेल्टा का विस्तार रुक जाता है। इसके विपरीत शाखायें लोब (पालि) के आकार मे डेल्टा का निर्माण करती हैं। इन्हे पालियुक्त डेल्टा कहते हैं। मुख्य नदी के अवरुद्धगति वाले डेल्टा को क्षीणाकार कहा जाता है।

6 प्रगतिशील डेल्टा (Growing Delta) जब डेल्टा का सागर की ओर निरन्तर विस्तार होता है तो

उसे प्रगतिशील डेल्टा कहते हैं। वर्तमान समय की अधिकांश नदियों के डेल्टा प्रगतिशील ही हैं—जैसे गंगा का डेल्टा, मिसीसीपी का डेल्टा आदि।

7. अवरोधित डेल्टा (Blocked Delta)—जब डेल्टा का विस्तार रुक जाता है तो उसे अवरोधित डेल्टा कहते हैं। यह अवरोध सागरीय लहरों या धाराओं द्वारा उपस्थित हो सकता है।

8. परित्यक्त डेल्टा (Abandoned Delta)—जब नदी अपने पहले डेल्टा को छोड़कर अन्यत्र डेल्टा का निर्माण करती है तो पहले वाले डेल्टा को परित्यक्त डेल्टा कहते हैं। ह्वांगहो नदी इस तरह के कई डेल्टा का निर्माण कर चुकी है। ह्वांगहो ने अपने प्रारम्भिक डेल्टा का निर्माण शान्टुन्ग प्रायद्वीप के दक्षिण में किया था। परन्तु इसका वर्तमान डेल्टा शान्टुन्ग के उत्तर में है।



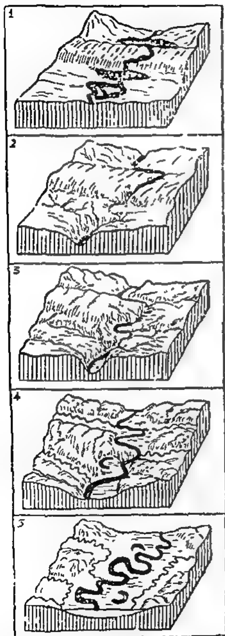
जलीय अपरदन-चक्र

(Fluvial Cycle of Erosion)

अपरदन का सामान्य चक्र (Normal Cycle of Erosion)

सामान्य परिचय—अपरदन तथा अपरदन-चक्र के विषय में पिछले अध्यायों में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। यहां पर उसका पुन: वर्णन करना मात्र पुनरावृत्ति होगी। नदी द्वारा उत्पन्न होने वाले स्थलरूपों की विषद व्याख्या पिछले पृष्ठों में की जा चुकी है परन्तु इन स्थलरूपों का विवरण अपरदन तथा निक्षेपात्मक कार्यों के साथ दिया गया है, अपरदन की अवस्थाओं के साथ नहीं। अत: नदी के अपरदन-चक्र की विभिन्न अवस्थाओं की विशेषताओं का उल्लेख एक अलग एवं स्वतन्त्र शीर्षक के अन्तर्गत आवश्यक है। पुनरावृत्ति से बचने के लिए नदी की विभिन्न अवस्थाओं की विशेषताओं का संक्षिप्त उल्लेख मात्र ही किया जायेगा, क्योंकि विभिन्न स्थलरूपों का विशद वर्णन पीछे प्रस्तुत किया जा चुका है। नदी द्वारा अपरदन-चक्र को "अपरदन का सामान्य चक्र" कहा जाता है। इसे सामान्य चक्र इसलिए कहा जाता है कि बहते हुए जल का कार्य अन्य अपरदन के साधनों से अधिक व्यापक तथा महत्त्वपूर्ण होता है। इसकी व्यापकता का पता इसी बात से चल जाता है कि पवन तथा हिमानी के कार्यों में भी जल का आंशिक हाथ रहता है। अपरदन के सामान्य चक्र का प्रारम्भ सागरतल से किसी भी स्थलखण्ड के उत्थान के साथ हो जाता है। जैसे ही स्थलखण्ड धरातल से ऊपर उठता है, उस पर नदी द्वारा अपरदन का कार्य प्रारम्भ हो जाता है। परन्तु प्रारम्भ में उत्थान की दर अपरदन की दर से अधिक होती है, फलत: स्थलखण्ड की ऊँचाई तथा उच्चावच बढ़ते हैं। कुछ समय बाद स्थल का उत्थान रुक जाता है तथा अपरदन अधिक सक्रिय हो जाता है। यहाँ पर यह अनुमान करना होगा कि स्थलखण्ड एक लम्बे समय तक स्थिर (Stand still) है। एक निश्चित अवधि के बाद अपरदन द्वारा उत्थित भाग कट कर अपने आधार-तल को प्राप्त हो जाता है तथा अपरदन का एक सामान्य चक्र पूर्ण हो जाता है। इस तरह प्रारम्भ से लेकर स्थलखण्ड के आधार-तल तक पहुँचने पर स्थलखण्ड को कई अवस्थाओं से होकर गुजरना पड़ता है तथा इन अवस्थाओं के अन्तर्गत भिन्न-भिन्न स्थलरूपों का निर्माण होता है। डेविस महोदय ने सामान्य अपरदन-चक्र में तीन अवस्थाओं—**तरुण, प्रौढ़ तथा जीर्ण** को बताया है। इस तरह सामान्य अपरदन-चक्र के दौरान प्रारम्भ में स्थलाकृतियाँ तरुण होती हैं, समय के साथ प्रौढ़ हो जाती हैं और अन्त में आधार-तल की प्राप्ति के साथ ही जीर्ण हो जाती हैं। जिस तरह स्थलरूप का विकास तीन अवस्थाओं में होता है उसी तरह नदियों की भी तीन अवस्थायें होती हैं, अर्थात् तरुण नदी, प्रौढ़ नदी तथा जीर्ण नदी। नदियों का प्रधान कार्य सतह के ऊपर विषमताओं को दूर करके समतल स्थापना करना है। इस कार्य की पूर्ति के लिए वह उत्थित स्थल-खण्ड को काट करके उसे नीचा करके आधार-तल तक लाने का प्रयास करती है। अन्तत: वह अपने कार्य में सफल हो जाती है या नहीं यह विवाद का विषय है। इसके विषय में पिछले अध्याय में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। यहाँ पर यही मान लिया जायेगा कि नदी अन्तत: स्थल-खण्ड को अपरदन द्वारा आधार-तल तक ला देती है। अपने इस कार्य की पूर्ति के लिए नदी जब अपना अपरदन प्रारम्भ करती है तथा जब केवल थोड़ा ही कार्य सम्पन्न हुआ रहता है तो नदी तथा सहायक नदियाँ तरुणावस्था में होती हैं। जब अपने कार्य का आधा भाग पूर्ण कर लेती हैं तो प्रौढ़ावस्था में होती हैं तथा जब समस्त कार्य पूर्ण हो जाता है अर्थात् स्थल-खण्ड अपरदित होकर आधार-तल को प्राप्त हो जाता है तो नदियाँ अपनी जीर्णावस्था में होती हैं। अपरदन चक्र की विभिन्न अवस्थायें— तरुणावस्था, प्रौढ़ावस्था तथा जीर्णावस्था —परस्पर एक दूसरे से सम्बन्धित होती हैं तथा इन्हें वर्षों में प्रकट नहीं किया जा सकता है। यह कोई आश्चर्य नहीं है कि यदि दो स्थानों पर अपरदन-चक्र एक साथ प्रारम्भ होते हैं तो दोनों एक साथ समाप्त भी होंगे। एक चक्र अपनी तरुणावस्था में ही हो सकता है जब कि दूसरा चक्र प्रौढ़ावस्था में हो सकता है। वास्तव में अपरदन-चक्र की अवधि को प्रभावित करने वाले उपादानों में स्थल-खण्ड की ऊँचाई तथा विस्तार, सागर से दूरी, वर्षा की मात्रा, नदियों का ढाल, स्थल-खण्ड की संरचना आदि महत्त्वपूर्ण हैं* जो कि

किसी चक्र विशेष को अवधि को कम या अधिक कर सकते हैं। अब हम अपरदन के सामान्य चक्र की विभिन्न अवस्थाओ की विशेषताओ का उल्लेख एक आदर्श चक्र का उदाहरण लेकर करेंगे।



चित्र 272—नदी के जीवन-इतिहास की अवस्थाएँ। 1. प्रारम्भिक तरुणावस्था (झील, प्रपात), 2. तरुणावस्था, 3. प्रारम्भिक प्रौढ़ावस्था, 4. प्रौढ़ावस्था तथा 5. जीर्णावस्था।

चक्र का प्रारम्भिक रूप—अपरदन का सामान्य चक्र किसी भी उत्थित स्थलखण्ड पर प्रारंभ हो सकता है, परन्तु यहाँ पर सरलीकरण के लिए हम मान लेते हैं कि स्थलखण्ड का सागर से उत्थान होता है। स्थलखण्ड का उत्थान अपरदन के साथ-साथ कुछ समय तक चलता है परन्तु एक निश्चित अवधि के बाद उत्थान समाप्त हो जाता है। स्थलखण्ड की भूगर्भिक संरचना सामान्य तथा सरल है। इसका निर्माण विभिन्न कठोरता वाली परतदार चट्टान से हुआ है। उत्थित स्थलखण्ड आर्द्र प्रदेश मे है, जहाँ पर पर्याप्त वर्षा के कारण बाह्य जल (Run off) नदियो को साल भर मिलता रहता है। स्थलखण्ड सागर-तल के सम्बन्ध मे दीर्घ काल तक स्थिर (Stand still) रहता है ताकि अपरदन का चक्र अबाध गति से पूर्ण हो सके। उपर्युक्त परिस्थिति मे उत्थित स्थलखण्ड पर नदी द्वारा अपरदन प्रारम्भ हो जाता है तथा स्थलखण्ड तीन अवस्थाओ से होकर गुजरता है। नीचे तीनो अवस्थाओ की विशेषताओं का उल्लेख किया जा रहा है।

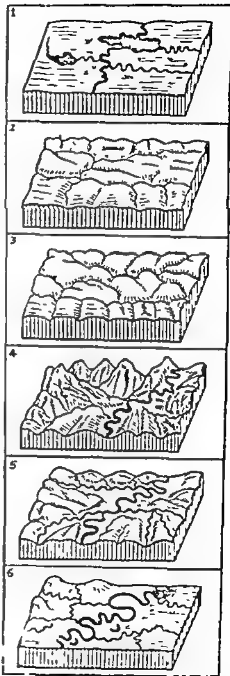
1 **तरुणावस्था (Youthful Stage)**—सर्वप्रथम ढाल के अनुसार अनुवर्ती नदियो का आविर्भाव होता है। प्रारम्भ मे ये नदियाँ संख्या मे निहायत कम तथा लम्बाई मे छोटी होती है। इनकी सहायक नदियाँ संख्या मे कम होती है। नदियो की अपेक्षा ढालो पर असंख्य अवनलिकाएँ (Gullies) तथा छोटी-छोटी सरिताएँ होती है। ये जलधाराये शीर्ष अपरदन द्वारा (By Headward Erosion) अपना विस्तार करती है। धीरे-धीरे मुख्य नदियाँ अपनी घाटी को गहरा करना प्रारम्भ कर देती हैं तथा उनकी सहायक नदियो का भी विकास हो जाने पर वृक्षाकार प्रवाह प्रणाली (Dendritic drainage pattern) का विकास होता है। इस अवस्था मे निम्न कटाव द्वारा (By downward cutting) नदियो की घाटी अत्यन्त गहरी होती जाती है जिससे नदियाँ संकरी तथा गहरी कन्दराओ से होकर बहती है। इन कन्दराओ को गार्ज (Gorge) तथा कैनियन (Canyon) कहते है। इनकी गहराई, चौड़ाई की अपेक्षा बहुत अधिक होती है। किनारे की दीवालें खडी होती हैं। इन घाटियो का आकार अंग्रेजी के V अक्षर के समान होता है। घाटियो की गहराई स्थलखण्ड के सागर-तल से ऊँचाई पर आधारित होती है।

नदियो के बीच के **दोआब** (Interstream Areas-अन्तरसरिता क्षेत्र) तथा **जलविभाजक** अत्यधिक विस्तृत तथा चौडे होते हैं, क्योंकि इस अवस्था मे केवल निम्न कटाव ही अधिक होता है, **क्षैतिज अपरदन** (Lateral

erosion) नगण्य होता है। जहाँ पर नदियाँ प्रतिरोधी एव शैल से होकर कमजोर चट्टान वाले भाग मे गिरती हैं, वहाँ पर प्रपात तथा क्षिप्रिकाओं (Falls and rapids) का निर्माण हो जाता है। प्रपात तथा क्षिप्रिकाएँ तरुणावस्था के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थलरूप होती हैं। जैसे-जैसे अपरदन अधिक होता जाता है तथा चक्र आगे की ओर बढता है, प्रपात तथा क्षिप्रिकाएँ पीछे की ओर (Upstream) हटती जाती हैं तथा तरुणावस्था के अन्त तक इनका अधिकाश रूप मे लोप हो जाता। नदी मे उसकी परिवहन सामर्थ्य के अनुसार बोझ या भार नहीं होता है। अत ढाल की तीव्रता तथा कम भार के कारण नदी प्रखर वेग से प्रवाहित होती है। नदी की तली मे छेदक यन्त्रों (Grinding tools—बडे-बडे पत्थर के टुकडे) द्वारा जल गर्तिकाओं (Pot holes) का निर्माण होता है।

सरिता-अपहरण अपरदन-चक्र की तरुणावस्था की प्रमुख घटना है। नदियाँ अपने शीर्ष अपरदन द्वारा दूसरी सरिताओं एव उनकी सहायक नदियों के जल का अपहरण करके उन्हें अपने मे आत्मसात कर लेती हैं। जलविभाजक इतने चौडे तथा विस्तृत होते हैं कि सरसरी निगाह से देखने पर उनका निर्धारण नहीं किया जा सकता है। इस तरह अपरदन-चक्र की तरुणावस्था मे अपरदन सर्वाधिक होता है परन्तु इस अवस्था मे सम्पन्न हुए समस्त अपरदन कार्य की मात्रा अधिक नही हो पाती है, क्योंकि अब भी स्थलखंड अपने आधार-तल से अधिक ऊँचा रहता है। घाटी का पार्श्वढाल उत्तल होता है जिससे होकर मलवा नीचे आसानी से सरक जाता है जिसे नदी शीघ्र बहा ले जाती है। नदी की जलधारा (Channel) घाटी को स्पर्श करती हुई प्रवाहित होती है।

2 प्रौढ़ावस्था (Mature stage)—जैसे ही नदी अपनी तरुणावस्था को समाप्त करके प्रौढ़ावस्था मे पदार्पण करती है, स्थलरूपों मे पर्याप्त अन्तर होने लगता है। नदी के ढाल मे कमी के कारण नदी का वेग बहुत कम हो जाता है, अपरदन की अपेक्षा निक्षेप का कार्य अधिक सक्रिय होता है। घाटी का गहरा होना नगण्य हो जाता है तथा घाटी का चौड़ा होना अधिक सक्रिय होता है। अर्थात् निम्न कटाव कम हो जाता है तथा क्षैतिज अपरदन प्रारम्भ हो जाता है। जैसे ही नदी उग्र ढाल से मैदान में बहने लगती है, वैसे ही ढाल के निचले भाग मे जलोढ़ पंख (Alluvial fans) तथा जलोढ़ शंकुओं (Alluvial cones) का निर्माण होने लगता है। धीरे-धीरे कई जलोढ पंख विस्तृत होकर एक दूसरे से मिल जाते हैं तथा एक विस्तृत गिरिपदीय जलोढ मैदान (Piedmont Alluvial Plain) की रचना होती है। प्रमुख नदी तथा उसकी सहायक नदियों का इतना अधिक विकास हो जाता है कि



चित्र 273—सामान्य अपरदन-चक्र (Normal Cycle of Erosion) की अवस्थायें, 1 प्रारम्भिक अवस्था 2 प्रारम्भिक तरुणावस्था, 3 अन्तिम तरुणावस्था, 4 प्रौढ़ावस्था, 5 अन्तिम प्रौढ़ावस्था तथा 6 जीर्णावस्था।

प्रवाह-प्रणाली का भली प्रकार विकास हो जाता है। नदियो द्वारा क्षैतिज अपरदन तथा घाटी की चौड़ाई के विस्तार के कारण अन्तर सरिता क्षेत्र (Inter-stream areas) कटकर सँकरे हो जाते हैं और कटक का रूप धारण कर लेते है। जलविभाजक नुकीले होते हैं। प्रमुख नदी अपरदन द्वारा अपने आधार-तल को प्राप्त करके क्रमबद्ध हो जाती है। इस तरह मुख्य नदी की अनुदैर्घ्य परिच्छेदिका भी क्रमबद्ध हो जाती है जिसे साम्यावस्था की परिच्छेदिका (Profile of equilibrium) कहते हैं। अर्थात् दोनो के अपरदन तथा निक्षेप सम्बन्धी कार्यो मे सन्तुलन हो जाता है। यदि तरुणावस्था के कुछ प्रपात या झीलें नदी के मार्ग मे रह गई थी तो वे प्रौढावस्था के समय नदी के क्रमबद्ध वक्र (Graded curve) की प्राप्ति के साथ ही लुप्त हो जाती हैं। नदियाँ समतल भाग मे प्रवाहित होने के कारण बल खाती हुई बड़े-बड़े विसर्पों (Meanders) से होकर बहती हैं। निक्षेप द्वारा बाढ के मैदानों का सृजन होता है, विसर्पों की स्थिति बदलती रहती है। मोड़ो के अधिक घुमावदार हो जाने के कारण नदी अपने घुमाव को छोडकर सीधे रूप मे प्रवाहित होने लगती है। इस तरह परित्यक्त घुमाव मे जल एकत्रित हो जाता है तथा चाप झील या गोखुर झील (Oxbow lake) का निर्माण होता है। नदियो के किनारो पर तलछटीय जमाव के कारण कहीं-कहीं पर तटबन्धों (Levees) का निर्माण हो जाता है। चूँकि ये प्राकृतिक रूप में बाढो से रक्षा करते है, अत: इन्हे प्राकृतिक तटबन्ध कहा जाता है। घाटी-पार्श्व ढाल (Valley side slopes) सरलरेखी (Rectilinear) होता है। घाटी अत्यन्त चौडी होती है। केवल वर्षा के दिनो मे ही जलधारा घाटी के किनारो का स्पर्श करती है। वर्ष के अधिकांश समय में नदी का जल सँकरी जलधारा मे बदल जाता है जो विस्तृत शुष्क घाटी मे घूमती हुई बहती है। जलमार्ग ढाल (Channel gradient) भी कम हो जाता है।

3 जीर्णावस्था (Old Stage)—प्रौढावस्था से जीर्णावस्था मे प्रवेश करते ही नदी की सामान्य स्थिति मे पर्याप्त अन्तर आ जाता है। प्रौढावस्था की सहायक नदियो की संख्या इस अवस्था मे कम हो जाती है परन्तु तरुणावस्था की अपेक्षा अधिक रहती है। मुख्य नदी की सहायक नदियाँ भी आधार-तल को प्राप्त हो जाती हैं तथा साम्यावस्था की परिच्छेदिका का निर्माण करती हैं। क्षैतिज अपरदन सर्वाधिक होता है, जिससे घाटी अत्यन्त चौड़ी हो जाती है। इस अवस्था मे घाटी की चौडाई विसर्प की चौडाई से अधिक हो जाती है। निम्न कटाव पूर्णतया समाप्त हो जाता है। अपक्षय का कार्य अधिक सक्रिय रहता है। क्षैतिज अपरदन तथा अपक्षय (Lateral erosion and weathering) मिलकर स्थलखण्ड को नीचा करने मे सतत सक्रिय रहते हैं। नदी बाढ का मैदान अत्यधिक विस्तृत हो जाता है, जिसमे नदियाँ बल खाती हुई स्वतन्त्रता-पूर्वक प्रवाहित होती हैं। "अन्तर सरिता क्षेत्र" की ऊँचाई कम हो जाती है। वे निम्न भाग (Low regions) हो जाते हैं परन्तु समीपी सतह से कुछ ऊँचे ही रहते है। बाढ के मैदानो मे झीलो तथा दलदलों का आविर्भाव हो जाता है परन्तु "अन्तर सरिता क्षेत्र" मे इनका विकास नही हो पाता है। नदी के वेग मे निहायत कमी हो जाने के कारण उनकी परिवहन शक्ति कम हो जाती है। इसके विपरीत इस अवस्था मे नदी-बोझ (Load) की अधिकता होती है। परिणामस्वरूप नदी समस्त भार का परिवहन नही कर पाती है, इस कारण निक्षेप अधिक होता है। इस तरह समस्त क्षेत्र अपने आधार-तल को प्राप्त हो जाता है, परन्तु कठोर तथा प्रतिरोधी शैलो के कुछ भाग "विभेदक अपरदन" (Differential erosion) के कारण सामान्य सतह से ऊँचे उठे रहते हैं। ये समूह मे न होकर छिट-पुट रूप मे होते है। इन्हे सयुक्त राज्य अमेरिका (अप्लेशियन क्षेत्र मे) के मोनाडनाक[1] पर्वत के आधार पर मोनाडनाक (Monadnock) कहते है। उपर्युक्त सभी स्थितियाँ समप्राय मैदान (Peneplain) के विकास मे सहायक होती हैं। इस स्थिति के प्राप्त हो जाने पर अपरदन-चक्र समाप्त हो जाता है, क्योकि जहाँ से स्थलखण्ड ऊपर उठा था, अपरदन द्वारा पुन: वही पर आ गया है।

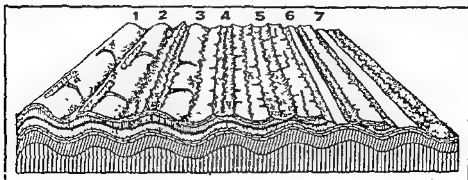
ऊपर वर्णित स्थिति एक आदर्श चक्र की स्थिति है, जिसमे वास्तविकता कम होती है, कल्पना अधिक। ऊपर यह मान लिया गया है कि स्थलखण्ड एक लम्बी अवधि तक स्थिर (Standstill) रहता है परन्तु यह दशा केवल कल्पना मात्र ही है, क्योकि पृथ्वी इतनी अस्थिर है कि एक चक्र की पूर्ति के लिये आवश्यक समय मिलना असम्भव है। पृथ्वी मे अनेक कारणो से अव्यवस्था होती रहती है। जिससे चक्र मे अव्यवस्था आ जाती है तथा

1. मोनाडनाक पर्वत की पेनीप्लेन सतह पर कुछ पहाड़ियाँ जो कि ऊँचाई मे कम हैं, सामान्य सतह से ऊपर उठी हैं।

मे अपरदन के कारण अपनति के स्थान पर अभिनति तथा अभिनति के स्थान पर अपनति के निर्माण की प्रक्रिया को ही **उच्चावच- प्रतिलोमन** या **व्युत्क्रम** (Inversion of relief) कहा जाता है। अप्लेशियन पर्वत के दक्षिणी-पश्चिमी भाग मे इस तरह के अनेक प्रतिलोमन के उदाहरण मिलते हैं। वलित पर्वतीय भाग मे नदी द्वारा अपरदन-चक्र की प्रमुख विशेषता उच्चावच-प्रतिलोमन है। इसका विशद विवरण अगली पंक्तियो मे दिया जा रहा। रेखा-चित्र 274 मे उच्चावच्च-प्रतिलोमन की स्थिति को विभिन्न अवस्थाओ मे दिखाया गया है।

चक्र का प्रारम्भिक रूप—यहाँ पर वलित पर्वत का अर्थ उन साधारण तथा सामान्य वलित पर्वतो से लिया जायेगा जिनमे परतदार चट्टानें सम्पीडन के कारण सामान्य तथा खुले हुए साधारण वलन (मोड) मे परिवर्तित हो जाती हैं। इनमे **प्रतिवलन** (Recumbent folding), **अधिक्षिप्त वलन** (Overthrust folds), **ग्रीवाखण्ड** (Nappes) तथा **उत्क्रम** (Thrust) का सर्वथा अभाव होता है। अपनतियाँ तथा अभिनतियाँ क्रम से मिलती हैं, जिनमे सामान्य श्रेणीकरण (Gradation) होता है। ये अपनतियाँ तथा अभिनतियाँ क्षैतिज अवस्था मे होती हैं तथा उनमे झुकाव या जटिलतायें नही होती है। विभिन्न कठोरता वाली परतदार चट्टानो की परतें वलन के कारण अपनति तथा अभिनति के रूप मे हो जाती हैं। इस सामान्य स्थिति के साथ (यहाँ स्मरण रखना होगा कि जैसे ही साधारण वलित पर्वत का निर्माण होता है, उस पर नदी द्वारा अपरदन-चक्र प्रारम्भ हो जाता है) नदियो का विकास तथा उनके द्वारा अपरदन प्रारम्भ हो जाता है। यह वलित पर्वत अपरदन चक्र की विभिन्न अवस्थाओ से होकर गुजरता है तथा विभिन्न अवस्थाओं मे उसके स्थलरूपो मे पर्याप्त अन्तर होता है। यहाँ पर पुन कल्पना करनी होगी कि वलित पर्वत वाला स्थलखण्ड लम्बे समय तक स्थिर रहता है ताकि अपरदन-चक्र भली प्रकार सम्पादित हो सके।

1 **तरुणावस्था** (Youthful Stage)—वलित पर्वत के वलन (Folds) पर सर्वप्रथम **अनुवर्ती नदियों** (Consequent streams) का विकास होता है। मुख्य अनुवर्ती (Main consequent) अभिनति वाले भाग मे विकसित होती है जिसे **अनुदैर्ध्य अनुवर्ती** की संज्ञा प्रदान की जाती है। इसके प्रवाह की दिशा अभिनति के ढाल द्वारा निर्धारित होती है। अपनति के ढाल पर भी अनुवर्ती नदियो का आविर्भाव होता है जो कि महराब (Arch) के नति (*Dip*) के सहारे बहकर मुख्य अनुवर्ती मे उसकी सहायक के रूप मे मिल जाती है। अनुवर्ती की इन सहायक नदियो को जो कि अनुवर्ती ही होती हैं, **अनुप्रस्थ या पार्श्ववर्ती अनुवर्ती** (Transverse or lateral consequent) कहते हैं। ये सभी नदियाँ वास्तविक ढाल के अनुसार प्रवाहित होती है। इसी से इन्हे स्वभावोद्भूत नदियाँ भी कहा जा सकता है। चित्र 276 मे "अ" प्रमुख अनुवर्ती नदी को प्रदर्शित करता है तथा ब, स अनुप्रस्थ अनुवर्ती नदियाँ हैं। अपरदन-चक्र के प्रारम्भ होते ही नदियाँ अपना कार्य प्रारम्भ कर देती हैं। सामान्य नियम के अनुसार प्रमुख अनुवर्ती की अपेक्षा उसकी सहायक अनुवर्ती ब तथा स अधिक अपरदन करती हैं, क्योकि वे ऊँचे ढाल से प्रवाहित होती हैं। ब तथा स नदियाँ अपने शीर्ष- अपरदन (Headward erosion) द्वारा अपनति के ऊपरी भाग मे अपनी घाटी का विस्तार करती हैं तथा गार्ज का निर्माण करती हैं। स की अपेक्षा ब नदी अधिक अपरदन करती है। अन्तत सहायक अनुवर्ती नदियाँ शीर्ष अपरदन द्वारा अपनति के शीर्ष पर पहुँच जाती हैं तथा वहाँ पर अपनति के अक्ष (Axis) अर्थात् अपनति के ऊपरी भाग पर नतिलम्ब



चित्र 276—वलित पर्वत पर अपरदन-चक्र का विकास।

मुलायम चट्टान के स्तर को काट करके उसे नीचा करती है। चूँकि परवर्ती की घाटी का विकास कोमल चट्टान पर हो चुका है, अत वह निचले स्तर वाले भाग मे भी अपरदन करना प्रारम्भ कर देती है। इस तरह उच्चावच-प्रतिलोमन परवर्ती नदी की घाटी के अध्यारोपण या **पूर्वारोपण** (Superimposition) मे सहायक होता है, अर्थात् परवर्ती नदी (प) की घाटी का अपनति-घाटी के ऊपर अध्यारोपण या पूर्वारोपण हो जाता है। इस तरह के उच्चावच-प्रतिलोमन के अनेक उदाहरण **अप्लेशियन पर्वत और जूरा पर्वत** मे मिलते है।

परवर्ती नदी (प) की सहायक नदियो का भी विकास होता है और ये सहायक नदियाँ परवर्ती से समकोण पर मिलती है। इन्हे **प्रत्यनुवर्ती** (Obsequent) नदी कहते है। जब परवर्ती नदी अपरदन द्वारा अपनति-घाटी में कठोर चट्टान वाली स्तर पर पहुँचती है (वलन 5) तो उसका निम्न कटाव स्थगित हो जाता है। इस अवस्था मे वह अपनति घाटी की सभी कोमल चट्टानो का अपरदन करके अपने मार्ग से हटा देती है। अब परवर्ती एक प्रतिरोधी चट्टान वाले कटक पर पहुँचती है। इस अवस्था मे नदी प्रतिरोधी कटक पर अपरदन न करके **एकदिग्नत स्थानान्तरण** (Uniclinal shifting) द्वारा प्रतिरोधी कटक के नति के सहारे नीचे की ओर खिसकती जाती है। चूँकि **अभिनति कटक** (Synclinal ridge) की संरचना कोमल चट्टान वाली स्तर की है, अत परवर्ती नदी इसे आसानी से काट करके अपना मार्ग बनाती जाती है। धीरे धीरे "एकदिग्नत स्थानान्तरण" द्वारा परवर्ती नदी (प) सरक कर अभिनति कटक वाले भाग मे आकर उसे काट करके अपनी घाटी का निर्माण कर लेती है। यह नदी प्रारम्भिक मौलिक अनुदैर्घ्य अनुवर्ती नदी (Original longitudinal r,--अ) के समान होती है तथा अब यह प्रारम्भिक अभिनति (जो कि हाल मे ही अपनति बन गई थी) मे प्रवाहित होती है। इस नवीन नदी को **नवानुवर्ती** (Resequent) कहते है क्योकि इसका निर्माण मुख्य अनुवर्ती के विकास के एक लम्बे समय के बाद हुआ है। इसका साधारण अर्थ नवीन (Recent) अनुवर्ती (Consequent) होता है। यहाँ स्मरण रखना होगा कि नवानुवर्ती पहले वाली अनुवर्ती से कई सौ मीटर नीचे वाले स्तर मे प्रवाहित होती है, क्योकि अपरदन द्वारा ऊपरी स्तर कट चुके हैं। इस स्थिति के आ जाने पर नदियाँ अपनी प्रौढावस्था को समाप्त कर लेती हैं।

3 **जीर्णावस्था (Old Stage)**—जीर्णावस्था के आते ही नदियो का अपरदन-कार्य समाप्तप्राय हो जाता है और उच्चावच अदृश्य हो जाते हैं। समस्त वलित क्षेत्र एक **समप्राय मैदान** के रूप मे परिवर्तित हो जाता है। नदियाँ स्थलखड की संरचना का बिना विचार किये प्रवाहित होती है अर्थात् इस अवस्था मे नदियो मे प्रवाह के ऊपर संरचना का प्रभाव नही पडता है, क्योकि नदियाँ स्थलखंड के ऊपर काप मिट्टी की परत का आवरण बिछा देती हैं। परिणामस्वरूप स्थलखड का वास्तविक संरचनात्मक भाग आच्छादित हो जाता है।

वलित स्थलखड के समप्राय मैदान मे परिवर्तित हो जाने के बाद उसमे पुन उत्थान हो सकता है। यदि यह घटना घटित हो जाती है तो नदियो मे नवोन्मेष (Rejuvenation-पुनर्युवन) आ जाता है और अपरदन की मात्रा बढ जाती है क्योकि नदियाँ पुन तरुणावस्था में आ जाती हैं। पुनर्युवन के कारण द्वितीय अपरदन-चक्र प्रारम्भ हो जाता है तथा समानान्तर कटक (Parallel ridges) और घाटियो का क्रमानुसार विकास हो जाता है।

वलित-पर्वतीय क्षेत्र मे अपरदन के सामान्य चक्र (नदीय चक्र-Fluvial cycle) के विषय मे परस्पर विरोधी मतो का प्रचलन किया गया है। कुछ विद्वान नवानुवर्ती सरिता (Resequent stream) का जन्म एवं विकास द्वितीय चक्र के समय मानते है। उदाहरण के लिये वूलरिज तथा मार्गन (S W. Wooldridge and R. S Morgan, 1960) ने इस तरह का उल्लेख अपनी पुस्तक मे किया है। प्रथम चक्र मे अपनति-घाटी तथा अभिनति कटक के बाद ही स्थलखंड का समप्राय मैदान मे परिवर्तन हो जाता है तथा उसके पुनरुत्थान के बाद द्वितीय चक्र प्रारम्भ होता है। इस मत के प्रवर्तको के अनुसार परवर्ती नदी, अपनति-घाटी के नीचे अवरोधक शैल-स्तर के आ जाने के कारण, उत्पन्न अवरोधक शैल वाले कटक की नति (Dip) के सहारे एकदिग्नत स्थानान्तरण (Uniclinal shifting) द्वारा, अभिनति कटक की कोमल चट्टान को काट करके प्रारम्भिक अभिनति मे अपना मार्ग बना लेती है। इसके विपरीत विद्वानो के द्वितीय वर्ग ने नवानुवर्ती सरिता का जन्म नदी द्वारा अपरदन के प्रथम चक्र मे ही बताया है। इतना ही नही, नवानुवर्ती सरिता का जन्म तथा विकास प्रथम चक्र की प्रौढावस्था के समय ही हो जाता है। लोबेक महोदय ने इस विचारधारा का स्पष्ट उल्लेख अपनी पुस्तक "Geomorphology" मे किया है। इन्होने बताया है कि परवर्ती नदी, अपनति-घाटी के नीचे प्रतिरोधी शैल स्तर के आ जाने से निर्मित कटक को एक स्थान पर काट देती है तथा उस पर अध्यारोपित हो जाती है। इस समय नदी

पहले नवीन प्रतिरोधी कटक के एक ओर प्रवाहित होती है तथा बाद में दूसरी ओर। **नवीन प्रतिरोधी कटक** (New resistant ridge) के ऊपरी भाग से निकलकर नदियाँ परवर्ती से मिलती हैं। इन्हे **लोबेक** ने नवानुवर्ती (Resequent) की संज्ञा प्रदान की है। इसके विपरीत **क्लरिज तथा मार्गन** के अनुसार परवर्ती नदी एकदिग्नत स्थानान्तरण के कारण अभिनति-कटक को काट करके, मौलिक अभिनति मे चली जाती है तथा यह नवानुवर्ती होती है।

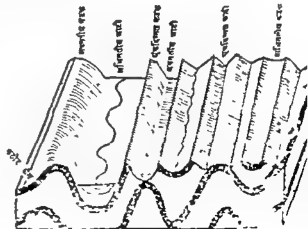
उपर्युक्त अपरदन-चक्र की व्याख्या के समय लेखक ने नवानुवर्ती का विकास **लोबेक** के विचारो के आधार पर प्रथम चक्र के समय ही माना है तथा उसका प्रदर्शन चित्र 276 के सातवें वलन पर किया गया है। वास्तव मे **नवानुवर्ती सरिता** (Resequent Stream) का आविर्भाव प्रथम अपरदन-चक्र के समय होगा या द्वितीय चक्र के समय ? यह वलन की चट्टानो की कठोरता पर आधारित होगा। यदि प्रथम चक्र के समय ही **अपनतीय घाटी** (Anticlinal Valley) के नीचे कठोर परत आ जाती है तो परवर्ती नदी उस कठोर परत वाले कटक के नति के सहारे **एकदिग्नत स्थानान्तरण द्वारा अभिनतीय कटक** (Synclinal Ridge) मे पहुँच कर उसकी मुलायम शैल को काट कर अपनी घाटी बना लेती है। इस स्थिति का उल्लेख उपर्युक्त चक्र मे किया गया है। इसके विपरीत यदि प्रथम चक्र की समाप्ति अभिनतीय कटक तथा अपनतीय घाटी के बाद ही हो जाती है और समप्राय मैदान की उत्पत्ति हो जाती है तो स्थलखड के पुन उठने के बाद नदियाँ पूर्ववत् अपरदन करेंगी तथा यदि समप्राय मैदान के नीचे सरचना पहले जैसी ही होगी तो पुन अपनतीय घाटी तथा अभिनतीय कटक का निर्माण होगा। परन्तु यदि समप्राय मैदान मे अपनतीय घाटी के नीचे एक हल्के आवरण के बाद प्रतिरोधी शैल है तो अपनतीय घाटी की परवर्ती सरिता **एकदिग्नत स्थानान्तरण** द्वारा अभिनतीय कटक को काट कर अपना स्थान मौलिक अभिनति घाटी मे बना लेगी।

वलित पर्वत पर अपरदन चक्र से उत्पन्न स्थलरूप—वास्तव मे अपनति तथा अभिनति वाले विभिन्न कठोरता वाली शैलो मे निर्मित साधारण वलीय पर्वत पर नदी द्वारा अपरदन-चक्र मे उत्पन्न सबसे महत्त्वपूर्ण स्थलाकृतिक क्रिया **उच्चावच का प्रतिलोमन** (Inversion of relief) है। इसके अन्तर्गत अपरदन के कारण ऊँचे उठे भाग (Anticlines अपनतियाँ), निम्न भाग (अभिनति Syncline) बन जाते है तथा निम्न भाग, ऊँचे भाग। कुल मिलाकर वलित पर्वत पर अपरदन-चक्र द्वारा तीन प्रकार की घाटियो तथा तीन प्रकार के कटक (Ridges) का आविर्भाव होता है। चित्र 277 मे स्पष्ट रूप से प्रदर्शित किया गया है।

(i) **अपनतीय कटक** (Anticlinal Ridges)—वलित पर्वत की मौलिक अपनति अर्थात् ऊँचे उठे भाग को अपनतीय कटक कहा जाता है। इसके अलावा इनका निर्माण अधिक अपरदन के बाद अपनति के कठोर शैल वाले स्तर के ऊपर आने तथा समीपवर्ती कोमल शैल के कट जाने के बाद भी होता है। चित्र 277 म 1 मौलिक अपनति को तथा अन्तिम भाग अपरदन के बाद अपनतीय कटक को प्रदर्शित करता है।

(ii) **अभिनतीय कटक** (Synclinal R[illegible] इनका निर्माण एक-मात्र अपरदन द्वारा ही होता [illegible] अपनतीय भाग के अधिक कट जाने के कारण [illegible] वाला भाग कम अपरदन के कारण ऊँचा रह [illegible] इसका ऊपरी भाग सँकरा होता है। 6 अभिनतीय कटक को प्रदर्शित करता है।

(iii) **एकदिग्नत कटक** (Homoclinal Ridges) - इनका निर्माण कठोर शैल वाले एकदिग्नत स्तर [illegible] होता है। इनके दोनो किनारो के ढाल बराबर होते हैं [illegible] द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है।



चित्र 277—अपनति तथा अभिनति पर अपरदन द्वारा उत्पन्न विभिन्न स्थलरूप।

(iv) **अभिनतीय घाटी** (Synclinal Valley)—मौलिक अभिनति के अक्ष (Axis) के सहारे बनी घाटी को अभिनति घाटी कहते है (2)। इसके अलावा अभिनति कटक के अपरदित हो जाने पर पुन उस स्थान पर अभिनति घाटी का निर्माण हो जाता है। इस दशा को

चित्र में अंकित नहीं किया गया है। इसके लिये देखिये चित्र संख्या 276 का अन्तिम भाग। इस तरह की (अपरदन के बाद) घाटी को नवानुवर्ती घाटी भी कहा जा सकता है क्योंकि इसमें नवानुवर्ती नदी का विकास हो जाता है।

(v) अपनतीय घाटी (Anticlinal Valley)—मौलिक अपनति के ऊपर परवर्ती नदी द्वारा अपरदन के कारण निर्मित घाटी को अपनतीय घाटी कहते है। यह उच्चावच प्रतिलोमन की परिचायिका होती हैं (4)।

(vi) एकदिग्नत घाटी (Homoclinal Valley)—अपरदन के बाद एकदिग्नत कटक तथा अपनति के कठोर स्तर के बीच निर्मित घाटी को एकदिग्नत घाटी कहते हैं। वास्तव में दो प्रतिरोधी शैल की स्तरो के बीच स्थित कोमल चट्टान की स्थिति के कारण इस तरह की घाटी का निर्माण होता है (5)।

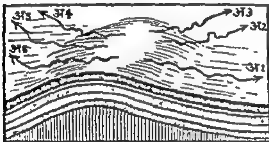
गुम्बदाकार पर्वत पर नदीय अपरदन-चक्र (Fluvial Cycle of Erosion on a Dome Mountain)

सामान्य परिचय—जब पृथ्वी के धरातलीय भाग में चाप के आकार में उभार होने से धरातलीय भाग ऊपर उठ जाता है तो उसे गुम्बदनुमा या गुम्बदाकार पर्वत कहते है। वास्तव में गुम्बद का ऊपरी भाग गोलाकार होता है। छोटे-छोटे ढेर से लेकर ऊँचे-ऊँचे और विस्तृत गुम्बद मिलते है। संयुक्त राज्य अमेरिका का सिनसिनाती उत्थान (Cincinnati Uplift) एक लघु और निम्न गुम्बद का प्रमुख उदाहरण है। इसमे चट्टानो के स्तरो की नति (Dip) केवल 9° का कोण बनाती है। इनके विपरीत ब्लैक हिल्स तथा बिगहार्न्स (Black Hills and Big-horns) विस्तृत गुम्बदों के उदाहरण हैं। आकार मे भी गुम्बदाकार पर्वतो मे पर्याप्त अन्तर मिलते है। कुछ सौ मीटर से लेकर इन पर्वतों का विस्तार कई किलोमीटर तक होता है। उच्चावच का आविर्भाव और विकास की दृष्टि से गुम्बदाकार पर्वतो को तरुण, प्रौढ तथा जीर्ण, तीन प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है। वर्तमान समय मे विस्तृत तरुण गुम्बदो का उदाहरण मिलना कठिन होता है। अधिकाश गुम्बद अपरदन द्वारा घिस कर प्रौढ रूप (Mature dome) मे ही दृष्टिगत होते हैं। अन्य स्थलखण्ड के समान गुम्बदाकार पर्वतो के निर्माण होते ही उन पर अपरदन के साधन अपना कार्य प्रारम्भ कर देते है तथा अपरदन-चक्र की विभिन्न अवस्थाओ से होते हुए गुम्बद अपरदित होकर अन्तत. समप्राय मैदान (Peneplain) के रूप मे परिवर्तित हो जाते हैं। अधिकाश गुम्बदो में अपरदन द्वारा उनके समप्राय मैदान मे बदल जाने पर निक्षेप के आवरण के कारण ये अन्तर्हित गुम्बद (Buried Dome) के रूप मे बदल जाते हैं तथा उन पर विकसित प्रवाह-प्रणाली को **पश्चजात प्रवाहक्रम** (Epigenetic drainage system) कहते हैं, क्योकि गुम्बदो के निर्माण के काफी समय बाद इसका (प्रवाह-क्रम) आविर्भाव हुआ है। गुम्बदाकार पर्वत की संरचना कई तरह की हो सकती है। उसके पार्श्वों (Flanks) के सहारे कई प्रकार की सरचनात्मक अव्यवस्थायें हो सकती है। चट्टानो के स्तर साधारण कोण पर झुके रहते हैं, वे उल्टे हो सकते हैं या प्रतिवलित (Overturned) हो सकते है। स्तरो मे भ्रंश के कारण टूटन (Breaking) हो सकती है या पार्श्वों पर एकदिग्नत वलन (Monoclinal folds) हो सकते हैं। गुम्बद की सरचना एक जैसी चट्टानो की हो सकती है, कठोर तथा मुलायम चट्टानों के स्तर एकान्तर क्रम (Alternate) से हो सकते हैं या ऊपर मुलायम तथा आन्तरिक भाग मे रवेदार हो सकती हैं। इस तरह विभिन्न संरचना वाले गुम्बद में अपरदन-चक्र से उत्पन्न स्थलरूप भिन्न-भिन्न होगे। निचली पंक्तियो मे नदी द्वारा अपरदन-चक्र की विभिन्न अवस्थाओ का उल्लेख किया जा रहा हैं।

चक्र का प्रारम्भिक रूप—चूँकि वर्तमान समय के विस्तृत गुम्बदाकार पर्वत या तो एक से अधिक अपरदन-चक्र से होकर गुजर चुके हैं या प्रथम चक्र की प्रौढावस्था को प्राप्त हो चुके है। इस तरह कई गुम्बदो के उच्चावच बहुचक्रीय उच्चावच (Multicyclic reliefs) को प्रदर्शित करते हैं। इस स्थिति के कारण गुम्बदाकार पर्वतो पर अपरदन-चक्र द्वारा स्थलाकृतियो के विकास के लिये वास्तविक दशा का उल्लेख करना कठिन कार्य है। दूसरे शब्दो मे, यह बताना कठिन है कि किस अवस्था मे तथा किस रूप मे गुम्बदो पर अपरदन-चक्र प्रारम्भ होता है। अत यहाँ पर गुम्बदाकार पर्वत का नदीय अपरदन-चक्र एक आदर्श अपरदन-चक्र (An ideal cycle of erosion) अथवा परिकल्पित चक्र (Hypothetical cycle) के रूप मे ही प्रदर्शित किया जा सकेगा। चक्र प्रारम्भ होने के पहले हम मान लेंगे कि एक गुम्बद का निर्माण होता है, जिसकी सरचना मे प्रतिरोधी (Resistant) तथा कोमल चट्टानो की परतें एकान्तर क्रम से होगी। गुम्बद का अन्तरतम या कोर भाग (Core) रवेदार आग्नेय (Crystalline Igneous) चट्टान का बना है जो कि प्रतिरोधी (Resistant) है। गुम्बद के पार्श्व पर चट्टानो के स्तर सामान्य रूप में हैं

तथा उनमे भ्रंश या प्रतिवलन नहीं है। इस तरह के गुम्बद पर अपरदन-चक्र प्रारम्भ होता है तथा निम्न अवस्थाओं से होकर गुजरता है :

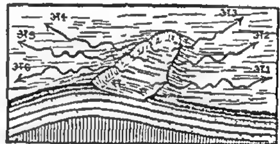
1. **युवावस्था (Youth Stage)**—गुम्बद के धरातल से ऊपर उठते ही उस पर नदियों का आविर्भाव होने लगता है। सर्वप्रथम नदियाँ ढालों के अनुरूप विकसित होती हैं। अत इन्हें **स्वभावेद्भूत सरिता** कहा जा सकता है। चूँकि ये नदियाँ ढालों का अनुकरण करती हैं, अत इन्हें **अनुवर्ती सरिता (Consequent stream)** भी कहा जाता है। गुम्बद का भाग गोलाकार होता है, अत ऊपरी भाग से नदियाँ निकलकर चारों तरफ निचले ढालों पर प्रवाहित होती हैं। चूँकि इस व्यवस्था में नदियाँ एक केन्द्र से निकलकर चारों तरफ बाहर की ओर प्रवाहित होती हैं, अत गुम्बद पर प्रथमावस्था में उत्पन्न प्रवाह-प्रणाली, अरीय या केन्द्रत्यागी प्रवाह-प्रणाली (Radial



चित्र 278—गुम्बदाकार पर्वत पर अपरदन-चक्र की प्रारम्भिक अवस्था।

drainage pattern) या (अपकेन्द्री प्रणाली के रूप में होती हैं। अरीय प्रवाह-प्रणाली वास्तव में तरुण गुम्बदों की प्रमुख विशेषता है। विशेषकर यदि भूपटल के तटीय भागों के छोटे-छोटे तरुण गुम्बदों का पर्यवेक्षण किया जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि इनके ऊपर अरीय प्रवाह-प्रणाली का ही विकास होता है। यदि छोटा गुम्बद बनाकर प्रयोगशाला में उस पर जल गिरा कर प्रयोग किया जाय तो उपर्युक्त निष्कर्ष की ही पुष्टि होती है।

तरुणावस्था की अनुवर्ती नदियाँ गुम्बद के पार्श्व भाग (Flanks) पर स्तर के नति के सहारे ऊँचे भाग से निचले भाग की ओर प्रवाहित होती हैं। इस अवस्था में इनकी सहायक नदियों का विकास नगण्य होता है। नदी कटाव (Downward cutting) द्वारा अपनी घाटी को गहरा करने में सतत् प्रयत्नशील रहती है। इस अवस्था में नदियों का शीर्ष अपरदन (Headward erosion) अधिक सक्रिय होता है। चित्र 279 में चक्र की तरुणावस्था की प्रारम्भिक अवस्था को दिखाया गया है। अ,- अनुवर्ती नदियों को प्रदर्शित करता है अत कुल अनुवर्ती नदियों की संख्या 6 है। नदियाँ अपने शीर्ष अपरदन द्वारा गुम्बद के ऊपर पहुँचने का प्रयास करती हैं। शीर्ष अपरदन में अपक्षय (Weathering), अवपातन (Slumping) तथा सामूहिक स्थानान्तरण (Mass translocations) का पर्याप्त हाथ रहता है। अन्तत शीर्ष अपरदन करके अनुवर्ती नदियाँ गुम्बद के शीर्ष भाग पर पहुँच जाती है तथा वहाँ पर अपरदन द्वारा बेसिन का निर्माण करती हैं। पहले यह बेसिन निहायत छोटे आकार की होती है, परन्तु अपरदन के साथ इसका आकार बढता जाता है। गुम्बद का ऊपरी स्तर प्रतिरोधी शैल का बना हुआ है। नदियों ने इसे काट करके निचले कोमल स्तर पर अपनी बेसिन का विकास कर लिया है। इस अवस्था को चित्र 279 में चित्रित किया गया है।

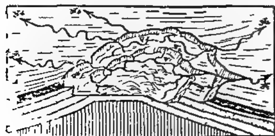


चित्र 279—गुम्बदाकार पर्वत पर अपरदन-चक्र का तरुणावस्था।

नदियाँ अपरदन द्वारा जब प्रतिरोधी शैल के स्तर को काट कर अपनी बेसिन का विकास करती हैं तो कटा हुआ प्रतिरोधी शैल-भाग कगार (Scarp, चित्र में स) का निर्माण करता है। जैसे-जैसे नदियों का अपरदन बढता जाता है, यह कगार भी पीछे की ओर हटता जाता है, जिससे गुम्बद के शीर्ष भाग पर बेसिन का विस्तार होने से उसका आकार बढता जाता है। बेसिन के आकार में विस्तार के साथ ही साथ उसकी गहराई भी बढ़ती जाती है, क्योंकि नदियाँ निरन्तर एक के बाद, दूसरी निचली परत का अपरदन करके उन्हें काटती रहती हैं। मुलायम चट्टानों के स्तर तो अधिक मात्रा में शीघ्र कट जाते हैं, परन्तु प्रतिरोधी स्तर का भाग कगार के रूप में निकला

रहता है। प्रतिरोधी स्तरों का कगार (Scarp) तीव्र ढाल वाला होता है, परन्तु कोमल स्तरो का कगार मन्द ढाल वाला होता है। चित्र 279 मे यह स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। तरुणावस्था मे तब तक निम्न कटाव द्वारा बेसिन का गहरा होना चलता रहता है, जब तक कि रवेदार चट्टान वाले कोर (Core) के ऊपर स्थित सभी चट्टानी स्तरो का कटाव न हो जाय। अब नदियों का ऊपरी भाग रवेदार चट्टानो वाले कोर के ऊपर आ जाता है।

2 प्रौढ़ावस्था (Maturity)—तरुणावस्था की समाप्ति और प्रौढ़ावस्था के आते ही बेसिन का गहरा होना स्थगित हो जाता है, क्योंकि अब तक कोर के ऊपर की सभी परतो का **निष्कासन** (Removal) हो जाता है। नदियाँ अपनी घाटी को लम्बा करके **कोर** के ऊपर हो जाती हे। इस अवस्था मे उच्चावच सर्वाधिक होता है। अनुवर्ती नदियाँ अपनी सहायक नदियो को जन्म देने लगती है। सहायक नदियो का आविर्भाव मुख्य रूप से कोमल चट्टान वाले स्तरो मे होता है। ये सहायक नदियाँ वास्तव मे **परवर्ती** (Subsequent) ही होती है, जो कि अपनी अनुवर्ती से समकोण पर मिलती है। ये सहायक नदियाँ भी **शीर्ष अपरदन** द्वारा अपनी घाटी का विकास करती है। इस अवस्था मे **सरिता अपहरण** प्रमुख रूप मे सक्रिय रहता है। निचले स्तरो पर प्रवाहित होने वाली परवर्ती नदियाँ शीर्ष अपरदन द्वारा अनुवर्ती नदियों के शीर्ष-जल (Headwater) का अपहरण कर लेती है। चित्र 280 मे प्रथम अनुवर्ती की सहायक प¹ नदी ने अ³ के शीर्ष जल तथा प² ने अ⁴ के शीर्ष जल का अपहरण करके अपने मार्ग का विस्तार कर लिया है। इस तरह परवर्ती नदियो द्वारा शीर्ष अपरदन एव सरिता-अपहरण के कारण **वलयाकार प्रवाह प्रणाली** (Annular drainage pattern) का विकास होता है, जिसके अन्तर्गत परवर्ती



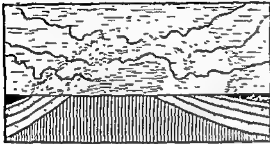
चित्र 280—गुम्बदाकार पर्वत पर अपरदन-चक्र की प्रौढ़ावस्था।

नदियाँ कोमल चट्टानो के स्तर मे गुम्बद के चारो तरफ वृत्ताकार रूप मे अपने प्रवाह-क्रम का विकास एवं विस्तार करती हैं, सरिता-अपहरण के कारण कटको के ऊपरी भाग मे **वात दर्रा** (Windgap) का आविर्भाव होता है।

प्रौढ़ावस्था एकान्तरक्रम से स्थित कठोर तथा कोमल चट्टानो वाले स्तरो पर **विशेषक अपरदन** (Differential erosion) के कारण कठोर शैल वाली परत का भाग ऊपर की तरफ निकला रहता हे, जिसमे पतले तथा सँकरे कटक (Ridges) का निर्माण होता है। यदि इन कटकों का ढाल तीव्र तथा दोनो ओर समान होता है तो उन्हें **शूकर कटक** (Hogback-हाक बैक) कहते है। इसके विपरीत यदि इनका ढाल मन्द होता है तो उन्हे **क्वेस्टा** (Questa) कहते हैं। **हाग बैक** उस लम्बी, पतली व सँकरी श्रेणी को कहते है, जिसका आविर्भाव अपरदन द्वारा होता है, और जिसके दोनो ओर नति (Dip) तीव्र होती है अर्थात् ढाल खडे होते है। जब अपरदन द्वारा उत्पन्न इन प्रतिरोधी चट्टानो के स्तरो का भाग कटक के रूप मे एक दिशा मे झुका होता है तो उसे **एकदिग्नत कटक** (Homoclinal Ridges) कहते है। **हाग बैक तथा एकदिग्नत कटक के बीच नतिलम्ब घाटियाँ** (Strike Velleys) होती है, जिनका विकास कोमल चट्टान की परतो के ऊपर होता है। इन नतिलम्ब घाटियो को **स्ट्राइक घाटियाँ** भी कहते है। इन घाटियो के अन्तर्गत परवर्ती नदियाँ **वलयाकार** (Annular) रूप मे प्रवाहित होती है। हागबैक स निकलकर सहायक नदियाँ दो दिशाओ मे प्रवाहित होती हैं। एक तो मुख्य अनुवर्ती के विपरीत दिशा मे प्रवाहित होकर परवर्ती नदी से समकोण पर मिलती है। इसे **प्रत्यनुवर्ती सरिता** (Obsequent Stream) कहते है। चित्र 280 मे प्र प्रत्यनुवर्ती नदी को प्रदर्शित करता है। दूसरी नदी गुम्बद स्तरो की नति (Dip) की दिशा मे प्रवाहित होकर परवर्ती नदी से समकोण पर मिलती है। इस प्रकार की सरिता को **नवानुवर्ती** (Resequent) कहते हैं। यह मुख्य अनुवर्ती की दिशा मे ही बहती है।

सभी स्तरो के कट जाने पर गुम्बद का मध्यवर्ती **रवेदार कोर** (Crystalline Core) अब खुला रहता है, जिस पर नदियाँ अपरदन का कार्य प्रारम्भ करती हैं। धीरे-धीरे कोर (Core) कटता जाता है। इस कोर का अपरदित स्थलरूप उसके आकार तथा संरचना पर आधारित होता है। यदि गुम्बद का आकार छोटा है तो

अधिक अपरदन के बाद गुम्बद का मध्यवर्ती भाग एक चौड़ी बेसिन के रूप मे बदल जाता है। दक्षिणी पूर्वी इंगलैंड के वेल्ड गुम्बदीय क्षेत्र (Weald) मे इस तरह के स्थलरूप का विकास हुआ है। यदि कोर मे अत्यधिक प्रतिरोधी चट्टान के स्तर हैं तो अपरदन कम होगा एवं ऊपरी सतह उबड-खाबड होगी और मध्यवर्ती भाग एक पठार के रूप मे होगा। यह विशेषता गुम्बद पर्वत पर अपरदन चक्र के पूर्ण प्रौढावस्था को परिचायिका होती है।



चित्र 281—गुम्बदाकार पर्वत पर अपरदन-चक्र की जीर्णावस्था।

3. जीर्णावस्था (Old Stage)—प्रौढावस्था के बाद नदियाँ अपना क्षैतिज या पार्श्ववर्ती अपरदन (Lateral erosion) अधिक कर देती हैं फलस्वरूप प्रौढावस्था के उच्चावच (Reliefs) कट कर घटने लगते हैं। इस अवस्था में गुम्बद के मध्यवर्ती भाग (जो कि प्रतिरोधी रवेदार शैल का बना है) का भी अपरदन होने लगता है। एक निश्चित समय के बाद हागबैक, एकदिग्नत कटक तथा क्वेस्टा आदि लुप्त हो जाते हैं। प्रौढावस्था की वलयाकार प्रवाह-प्रणाली का सर्वथा लोप हो जाता है। समग्र गुम्बद कट कर एक सपाट मैदान के रूप मे परिवर्तित हो जाता है। जीर्णावस्था के अन्तिम चरण मे गुम्बद एक समप्राय मैदान (Peneplain) के रूप मे बदल जाता है और नदीय अपरदन चक्र (Fluvial cycle of erosion) का एक चक्र समाप्त हो जाता है। यहाँ पर यह स्मरण रखना होगा कि यह चक्र पूर्णतया तभी सम्पन्न हो सकता है जबकि गुम्बद एक लम्बे समय तक स्थिर (Standstill) रहेगा, अन्यथा उत्थान आदि के कारण चक्र में व्यवधान (Interruption) उपस्थित हो सकता है।

भूमिगत जल तथा कार्स्ट स्थलाकृति

(Underground Water and Karst Topography)

भूमिगत जल का तात्पर्य—पृथ्वी की ऊपरी सतह से नीचे भूपृष्ठीय चट्टानो के छिद्रो तथा दरारो मे स्थित जल को भूमिगत जल (*Underground water*) की सज्ञा प्रदान की जाती है। धरातलीय सतह के नीचे भूमिगत जल की स्थिति के अनेक प्रमाण हैं, जैसे कुएँ, गेसर (Geyser), जलस्रोत (Spring) आदि। चूंकि यह जल ऊपरी सतह के नीचे मिलता है अतः इसे अध तल-जल (Sub-surface water) भी कहते है। वर्षा का जल विभिन्न रूपो मे धरातल की ऊपरी सतह से रिस करके नीचे चला जाता है तथा पारगम्य चट्टानो के रिक्त स्थानो मे एकत्र होकर भूमिगत जल का रूप धारण करता है। भूमिगत जल का कार्य सतह के ऊपर तथा नीचे दोनो स्थानो पर होता है, क्योकि ऊपरी सतह पर भी जल के रिसते समय कुछ अपरदन का कार्य (घोलीकरण Solution) होता है, जिनसे छोटे-छोटे गर्त तथा कटक का निर्माण होता है। ऊपरी सतह के नीचे जब पारगम्य शैल की स्थिति होती है तो ऊपरी जल रिस कर नीचे चला जाता है, जहाँ पर अपरदन तथा निक्षेप द्वारा स्थलरूपो का सृजन तथा विकास करता है। भूमिगत जल के अन्तर्गत जब तक गति नही होती है तब तक उसका भूगर्भ-शास्त्र एवं भू-आकृति विज्ञान की दृष्टि से महत्व नही होता है, क्योकि इस परिस्थिति मे भूमिगत जल स्थलरूप के निर्माण मे निष्क्रिय होता है। गतिशील भूमिगत जल (यद्यपि गति सामान्य ही होती है) का ही सम्बन्ध भूगोल तथा भू-गर्भ शास्त्र के विद्यार्थियो से होता है। भूमिगत जल की समग्र मात्रा का ठीक पता लगाना तो कठिन है क्योकि यह अदृश्य तथा अलभ्य स्थान पर होता है। प्राय ऐसा अनुमान किया जाता है कि यदि समस्त भूमिगत जल को धरातल की सतह पर ला दिया जाय तो पृथ्वी की ऊपरी सतह पर सर्वत्र 500 फीट की ऊँचाई तक जल का विस्तार हो जायेगा। Slitcher महोदय के अनुमान के अनुसार भूमिगत जल इतना अधिक होता है कि उसे सतह पर लाने से सर्वत्र 3,000 से 3,500 फीट ऊँची जल की सतह का विस्तार हो जायेगा।

भूमिगत जल के स्रोत (Sources of Underground water)—भूमिगत जल की प्राप्ति के विषय मे साधारण व्यक्ति यही सोचता है कि सागरीय जल रिस करके धरातल के नीचे पहुँच जाता है। यद्यपि सागर द्वारा भूमिगत जल की प्राप्ति होती है परन्तु भूमिगत जल के स्रोत का यह एक सामान्य साधन है। भूमिगत जल प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप मे कई स्रोतो से प्राप्त होता है। 1. सर्वप्रमुख स्रोत जलवर्षा तथा हिम हैं। धरातलीय भागों पर स्थित तालाबो, झीलो, नदियों, वनस्पतियो तथा सागरो से वाष्पीकरण द्वारा प्राप्त जल, वर्षा तथा हिमपात के रूप मे धरातल पर चला आता है। इस तरह जलवर्षा तथा हिम के पिघलने से प्राप्त जल को उल्का-जल तथा आकाशी जल (Meteoric water) कहते है। आकाशी जल जैसे ही धरातल के ऊपरी भाग पर आता है वह चट्टानो की सधियो, छिद्रो (Pores), दरारो तथा चट्टानो से सस्तरण तल (Bedding plane) से होकर रिसने लगता है और अन्तत सतह के नीचे अपारगम्य चट्टानी सतह पर पहुँच कर रुक जाता है तथा भूमिगत जल का रूप धारण कर लेता है। भूमिगत जल मे आकाशी जल की प्रधानता इसी बात से प्रमाणित हो जाती है कि वर्षा के कम होने या शुष्क मौसम मे कुओ मे जल-तल नीचा हो जाता है, जलस्रोत सूख जाते हैं, तथा गड्ढो मे नीचे से रिस कर आने वाला जल बन्द हो जाता है। 2 सहजात जल (Connate water) भूमिगत जल का द्वितीय महत्वपूर्ण साधन है। सागर या झीलो मे निक्षेपित परतदार चट्टानो के छिद्रो तथा सुराखो मे स्थित जल को तलछट जल या सहजात जल कहते हैं। जब सागरो या चट्टानो की स्तरो का जमाव होता है तो सागरीय जल पारगम्य स्तरो के मध्य रुक जाता है तथा चारो तरफ से यह अपारगम्य शैल से घिरा रहता है। जब उत्थान द्वारा यह शैल ऊपर उठ आती है तो उसका जल भूमिगत जल से मिल जाता है। इस तरह के जल को सहजात जल कहते हैं। इस तरह के जल मे यथेष्ट गति नही होती है। 3. पृथ्वी के अन्तर्गत ज्वालामुखी-क्रिया के कारण तप्त मैगमा चट्टानों मे प्रवेश

(ii) सम्पृक्त या संतृप्त मण्डल (Saturated Zone)-- असंतृप्त मण्डल से अधिकांश जल रिस कर मध्यवर्ती मण्डल मे पहुँच जाता है, जहाँ पर चट्टानो के छिद्र पूर्णतया जलपूर्ण होते हैं। इस मण्डल को **संतृप्त मण्डल** (Zone of saturation) कहते हैं। स्थिरता की दृष्टि से इस मण्डल को पुनः दो उप भागो में विभाजित करते है---

(अ) आन्तरायिक संतृप्त मण्डल (Zone of Intermittent Saturation)---भूमिगत जल की मात्रा सदैव एक सी नही रहती है। इसका प्रमुख कारण जल-पूर्ति की भिन्नता होती है। जलपूर्ति की भिन्नता के साथ ही साथ भूमिगत-जल का तल भी बदलता है। वर्षा के समय यह अधिक ऊँचा हो जाता है परन्तु शुष्क समय मे नीचा हो जाता है। इस तरह वर्षा के समय सबसे ऊँचे जल-तल तथा शुष्क मौसम के सबसे निचले **भौमजलस्तर** के बीच वाले भाग को **आन्तरायिक संतृप्त मण्डल** (Intermittent zone of saturation) कहते हैं, क्योकि यह सतृप्त मण्डल वढता घटता रहता है। इस मण्डल के अन्तर्गत खोदे गये कुएँ या नल-पम्प भौमजलस्तर के शुष्क मौसम मे नीचा हो जाने पर सूख जाते हैं।

(ब) स्थायी संतृप्त मण्डल (Zone of Permanent Saturation)---आन्तरायिक संतृप्त मण्डल के नीचे स्थित मण्डल को स्थायी सतृप्त मण्डल कहते हैं तथा इसका ऊपरी तल अर्थात् स्थायी भौम-जलस्तर सदैव स्थिर रहता है। इस मण्डल की वास्तविक गहराई का पता लगाना कठिन कार्य है। साधारण तौर पर 2,000

चित्र 283---लटकता भौम जलस्तर (Perched Water Table)।

से 3,000 फीट तक भूमिगत जल की स्थिति का पता लगाया गया है। परन्तु विशेष परिस्थितियो मे जल की पाइप की बोरिंग 1800 फीट तक की गई है तथा वहाँ तक जल का पता चला है, किन्तु यहाँ पर जल की मात्रा अत्यन्त अल्प होती है। जहाँ कही भी यह स्थायी संतृप्त मण्डल धरातलीय सतह से ऊपर होता है (यह स्थिति खास कर उस समय होती है जब कि स्तरो मे वलन तथा भ्रंशन पड़े हो) वहाँ पर निस्यन्दन (Seepages), जल-स्रोत (Spring), दलदल, झील या सरिताओ का आविर्भाव हो जाता है।

(iii) चट्टान प्रवाह-मण्डल (Rock Flowage Zone)---भूपटल के नीचे कुछ निश्चित गहराई पर चट्टानो का भार इतना अधिक हो जाता है कि चट्टानो के छिद्र तथा रध्र बन्द हो जाते हैं और जल उसके नीचे नही जा सकता है। इस मण्डल को **प्रवाह-मण्डल** कहते है। यह मण्डल प्रायः धरातलीय सतह से 16 किलोमीटर की गहराई पर होता है।

कभी-कभी भूमिगत जल अपारगम्य चट्टानो के स्तरो की स्थिति के कारण कई मण्डलो मे विभक्त हो जाता है। उदाहरण के लिये यदि चीका या मृत्तका की परत के ऊपर भूमिगत जल का सचय हो गया है तो उस चीका की स्तर से जल रिस कर नीचे नही जा सकता। इसके विपरीत यदि उस चीका की स्तर के नीचे पुनः द्वितीय भूमिगत जल का मण्डल है तो सबसे ऊपरी भूमिगत जल-मण्डल के ऊपरी जल-तल या दूसरे शब्दो मे सबसे ऊपरीभौम-जलस्तर को **'लटकाहुआजलस्तर'** (Perched Water Table) कहते हैं। इस तरह के दो या अधिक सतृप्त मण्डलो के बीच प्रायः शुष्क भाग रहता है। जिन चट्टानों के भागसे होकर भूमिगत जल प्रवाहित होता है; उसे **जलभरा** (Aquifer) कहते हैं। रेत, बजरी या मलवे के ढेर जलभरे के लिये अधिक उपयुक्त होते हैं।

भूमिगत जल के कार्य
(The Work of Under Ground Water)

नदी, हिमानी, पवन आदि की तुलना मे भूमिगत जल का कार्य अधिक महत्त्वपूर्ण नही होता है। इसका प्रमुख कारण भूमिगत जल के प्रवाह की मन्थर गति ही है। भूमिगत जल द्वारा उत्पन्न स्थलरूप निश्चित रूप से अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। जहाँ तक यान्त्रिक अपरदन का सम्बन्ध है, भूमिगत जल का यह कार्य नगण्य होता है। परन्तु इसके द्वारा चट्टानो को घुलाकर

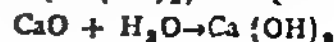
कमजोर कर देना अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। यही कारण है कि भूमिगत जल का कार्य चूने के पत्थर वाले क्षेत्रों में अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। यद्यपि सामान्य रूप में ही सही, भूमिगत जल ऊपरी सतह के नीचे मन्द गति से प्रवाहित होता हुआ अपने रासायनिक तथा यांत्रिक कार्यों द्वारा अन्य अपरदन के कारकों के समान चट्टान को अपरदित करके उससे प्राप्त मलवा का कुछ हद तक परिवहन (घोल रूप में) करता है तथा अन्त में उसका निक्षेपण कर देता है। भूमिगत जल का परिवहन कार्य अत्यन्त नगण्य होता है क्योंकि इसके प्रवाह की गति बहुत कम होती है। अपरदनात्मक और निक्षेपात्मक कार्य अवश्य महत्त्वपूर्ण होते हैं। आर्द्र प्रदेशों में जल पूर्ति की अधिकता के कारण भूमिगत जल अपरदन के लिए अधिक क्रियाशील हो जाता है। चूने के पत्थर के अलावा डोलोमाइट, जिप्सम तथा खड़िया (Chalk) मिट्टी वाले भागों में भूमिगत जल का कार्य अधिक महत्त्वपूर्ण होता है।

अपरदनात्मक कार्य (Erosional Work)—भूमिगत जल का अपरदनात्मक कार्य भी कई रूपों में सम्पन्न होता है। अपक्षय के साथ विघटित तथा वियोजित चट्टानों के सामूहिक स्थानान्तरण (Mass translocation) में भूमिगत जल का महत्त्व अत्यधिक होता है। अपक्षय के कारण चट्टानें जब विघटित तथा वियोजित होकर ढीली पड़ जाती हैं तो भूमिगत जल चट्टानों की भग्नराशि (Rock Waste) को सामूहिक रूप में खिसकने में चिकनाहट या स्नेहन (Lubrication) का कार्य करता है। जल से चट्टानें संतृप्त (Saturated) होकर ऊँचे ढालों से निचले भागों में सामूहिक रूप से सरकने लगती हैं। इस क्रिया को "भग्न-राशि का सामूहिक स्थानान्तरण" (Mass translocation of rockwaste) कहते हैं। इसके अन्तर्गत उच्च पहाड़ी भागों में हिम के पिघलने से प्राप्त जल द्वारा जब हिम-खण्ड सरक कर नीचे गिरते हैं तो उसे एवालांश (Avalanche) कहते हैं। आर्द्र भागों में जल से संतृप्त चट्टानों के जब बड़े-बड़े टुकड़े पहाड़ी ढालों या ऊँची नदियों की तंग एकरी घाटियों के ऊपरी भाग से नीचे की ओर सरकते हैं तो उसे **भूमि-स्खलन** कहते हैं। इसके अलावा चट्टानों के चूर्ण ऊपरी ढाल पर मन्द गति से या तीव्र गति से विभिन्न रूपों में सरकते हैं। इस क्रिया को सर्पण (Creep) कहते हैं। इसमें प्रमुख हैं—**भूमिसर्पण** (Land creep), मृदा-सर्पण (Soil creep or solifluction), पंकवाह (Mudflow), अवपात (Slumping) आदि। इस प्रकार के चट्टानों के सामूहिक स्थानान्तरण से तरह-तरह के स्थलरूपों का आविर्भाव तथा विकास होता है। सामूहिक स्थानान्तरण का "अपक्षय" वाले अध्याय में विशद विवरण दिया जा चुका है। भूमिगत जल का वास्तविक अपरदनात्मक कार्य निम्न रूपों में सम्पन्न होता है—

(अ) घुलने की क्रिया (Solution)—शुद्ध जल रासायनिक दृष्टि से असक्रिय होता है क्योंकि इसमें रासायनिक पदार्थों के घुलाने की सामर्थ्य नहीं होती है। परन्तु जब यह जल कार्बन-डाई-आक्साइड गैस के सम्पर्क में आ जाता है तो यह एक सक्रिय घोलक कारक (Active solvent agent) हो जाता है। चूंकि भूमिगत जल का अधिकांश भाग वर्षा द्वारा प्राप्त होता है और यह जल भूमि के ऊपरी सतह से होकर आता है, अतः इसमें पर्याप्त कार्बन डाई-आक्साइड गैस मिल जाती है जिससे यह जल घोलक हो जाता है। भूमिगत जल का कार्य सर्वप्रथम धरातल की ऊपरी सतह से प्रारम्भ होता है। जब वर्षा का जल सतह पर पहुँचता है तो उसके साथ कार्बन-डाई-आक्साइड गैस मिल जाती है। परिणामस्वरूप धरातलीय जल चूने की चट्टान वाले भाग में ऊपरी सतह पर घुलनशील खनिजों को चट्टान से अलग कर लेता है जिस कारण ऊपरी सतह में छोटे-छोटे छिद्र बन जाते हैं। इन छिद्रों से होकर जल नीचे प्रविष्ट होता है। इस घोलक जल का सम्पर्क जब घुलनशील पदार्थों वाली चट्टानों से होता है तो घुलनशील पदार्थ चट्टान से अलग होकर भूमिगत जल के साथ हो लेते हैं। इस क्रिया के कारण चट्टान ढीली पड़ कर वियोजित हो जाती है तथा अपक्षय के कारण ढीली चट्टानें गिरने लगती हैं। परिणामस्वरूप ऊपरी सतह के नीचे तरह-तरह की कन्दराओं का निर्माण होता है। घुलने की क्रिया द्वारा कमजोर चट्टानें अपरदन के अन्य साधनों द्वारा भी अधिक अपरदित होती हैं। ऊपरी सतह के नीचे चूने की चट्टान वाले प्रदेश में स्थलाकृति के निर्माण में भूमिगत जल का घोलक कार्य सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होता है।

चूना पत्थर (Limestone) की विलयन प्रक्रिया (solution procees) को निम्न रूप में व्यक्त किया जा सकता है—

(i) कैल्शियम आक्साइड (CaO) की जल (H_2O) के साथ अभिक्रिया (reaction) होने पर कैल्शियम हाइड्रोक्साइड ($Ca(OH)_2$) बनता है—



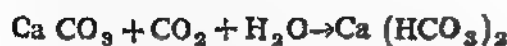
$$CaO + H_2O \rightarrow Ca(OH)_2$$

(ii) कैल्सियम हाइड्रोक्साइड की कार्बन डाई-आक्साइड (CO_2) से अभिक्रिया होने पर कैल्सियम कार्बोनेट ($CaCO_3$) बनता है—



$$Ca(OH)_2 + CO_2 \rightarrow CaCO_3 + H_2O$$

(iii) कैल्सियम कार्बोनेट ($CaCO_3$) की कार्बन डाई-आक्साइड तथा जल से अभिक्रिया होने पर कैल्सियम बाईकार्बोनेट—$Ca(HCO_3)_2$ बनता है—



$$CaCO_3 + CO_2 + H_2O \rightarrow Ca(HCO_3)_2$$

(iv) कार्बन डाई-आक्साइड (CO_2) की अनुपस्थिति मे कैल्सियम कार्बोनेट का जल मे सीमित मात्रा मे विघटन (dissociation) होता है—



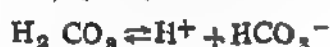
$$CaCO_3 \rightleftharpoons Ca^{++} + CO_3^{--}$$

(v) कार्बन डाई-आक्साइड (CO_2) जब जल मे घुलती (dissolve) है तो कार्बोनिक एसिड (H_2CO_3) बनता है—



$$CO_2 + H_2O \rightleftharpoons H_2CO_3$$

(vi) कार्बोनिक एसिड का धनात्मक हाइड्रोजन आयन तथा ऋणात्मक बाईकार्बोनेट आयन मे विघटन (dissociation) होता है—



$$H_2CO_3 \rightleftharpoons H^+ + HCO_3^-$$

स्मरणीय है कि समीकरण iv से vi तक की अभिक्रिया उत्क्रमणीय (reversible reaction) होती है। जल मे कार्बन डाई-आक्साइड की कुल घुलने वाली मात्रा (जो घुलने पर कार्बोनिक एसिड बनती है तथा पुन बाईकार्बोनेट मे वि टित होती है) वायुमण्डल मे स्थित कार्बन डाई-आक्साइड के आंशिक दाब (Partial pressure) तथा तापमान पर निर्भर करती है। कार्बन डाई-आक्साइड की घुलनशीलता दाब से सीधे रूप मे तथा तापमान से विलोम रूप मे सम्बन्धित होती है। अर्थात् यदि दाब अधिक होगा एव तापमान कम होगा तो घुलनशीलता बढ़ेगी जबकि दाब कम होने एव तापमान अधिक होने पर घुलनशीलता घटती है। इसके विपरीत ठोस की घुलनशीलता तापमान से सीधे रूप मे सम्बन्धित होती है। अर्थात् तापमान बढने पर घुलनशीलता बढती है तथा तापमान कम होने पर घटती है।

ट्राम्बे (Trombe, 1952) ने चूना पत्थर ($CaCO_3$) के घोलीकरण की प्रक्रिया को ग्राफ के माध्यम से (जिसे ट्राम्बे वक्र—curve कहते है) स्पष्ट करने का प्रयास किया है। इस ग्राफ मे निश्चित तापमान पर pH तथा कैल्सियम कार्बोनेट (मिलीग्राम प्रतिलीटर या ppm = part per million) के आधार पर वक्र रेखाये खीची जाती है (चित्र 284, पृष्ठ 551)।

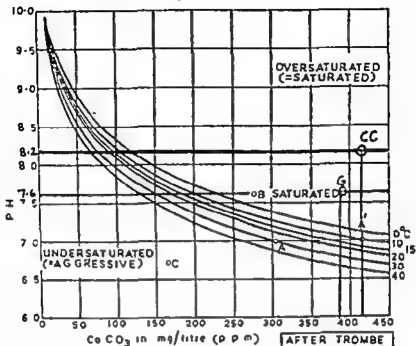
ट्राम्बे वक्र के अनुसार यदि किसी प्रदेश की शैल के pH तथा चूनापत्थर की मात्रा के सगत मूल्य (corresponding values) के बिन्दु उस प्रदेश के तापमान वक्र पर पडते है तो कैल्सियम कार्बोनेट का जल मे घोल सतृप्त होता है, अगर ये बिन्दु वक्र के ऊपर पडते है तो घोल अतिसंतृप्त (Oversaturated) होता है तथा जब बिन्दु वक्र के नीचे पडते है तो घोल (चित्र 284 मे C) अवसतृप्त (undersaturated) या आक्रामक (aggressive) होता है। इस तरह अतिसंतृप्त की दशा मे कैल्सियम कार्बोनेट का अवक्षेप (जमना) होता है, अवसतृप्त की दशा मे कैल्सियम कार्बोनेट का घुलन बढता है तथा सतृप्तावस्था मे न तो अवक्षेप होता है और न ही आगे घोलीकरण होता है।

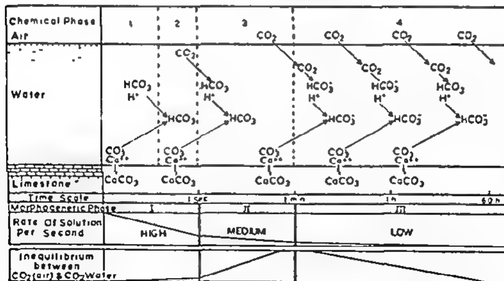
बोग्ली (1960) ने कार्स्ट स्थलाकृतियो के निर्माण के लिए समस्त रासायनिक क्रियाओ को **चार प्रावस्थाओ** मे विभक्त किया है (चित्र 284 का निचला भाग)—

प्रथम प्रावस्था—जब घोलक/विलायक (solvent) जल शुद्ध होता है तो चूना पत्थर का बहुत ही कम विघटन (dissociation) होता है। यद्यपि इस प्रावस्था मे जो भी घुलन/विलयन होता है, वह तीव्र गति से होता है परन्तु विलयन की कुल मात्रा नगण्य होती है (चित्र 284)।

द्वितीय प्रावस्था—इस प्रावस्था मे चूनापत्थर का कैल्सियम आयन (Ca^{++}) तथा कार्बोनेट आयन (CO_3^{--}) मे कार्बोनिक एसिड का हाइड्रोजन आयन एव बाईकार्बोनेट आयन मे विघटन (dissociation) होता है (चित्र 284)। इस प्रावस्था मे विलयन यद्यपि तेज होता है (प्रथम प्रावस्था से मन्द) परन्तु विलयन की कुल मात्रा कम होती है।

तृतीय प्रावस्था—इसमे भौतिक रूप से विलयित (physically dissolved) कार्बन डाई-आक्साइड का कुछ भाग आयोनाइज्ड कार्बोनिक एसिड मे बदल जाता है जो अभिक्रिया (reaction) के बाद बाई,कार्बोनेट आयन बनाता है जबकि रासायनिक रूप से विलयित (chemically dissolved) कार्बन डाई-आक्साइड हाइड्रोजन आयन तथा कार्बोनेट आयन के साथ होने





चित्र 284—ऊपर—ट्राम्बे द्वारा प्रस्तुत कैल्सियम कार्बोनेट के घोल का समस्थिति वक्र (Equilibrium curve)।
नीचे—बोग्ली द्वारा प्रस्तुत चूना पत्थर के घोल की सामान्य प्रक्रिया।

पर बाई कार्बोनेट आयन में बदल जाती है। इस तरह विलयन की दर प्रथम तथा द्वितीय प्रावस्थाओं से कम होती है।

चतुर्थ प्रावस्था—जब कुछ कार्बन डाई-आक्साइड भौतिक रूप से विलयित होने पर आयोनाइज्ड कार्बोनिक एसिड में रूपान्तरित होती है तो तरल अवस्था में विलयित कार्बन डाई आक्साइड तथा वायुमण्डल में वर्तमान कार्बन डाई आक्साइड में असतुलन (disequilibrium) हो जाता है। इसमे सतुलन की स्थिति तब आती है जबकि वायुमण्डलीय कार्बन डाई आक्साइड का जल में विसरण (diffusion) हो जाता है परन्तु इसमे समय लगता है क्योंकि इस प्रक्रिया का कार्यान्वयन प्रथम तीन प्रावस्थाओं के द्वारा **शृंखला अभिक्रिया** *(chain reaction)* होने से होता है। विलयन की दर यद्यपि अत्यन्त मन्द होती है परन्तु चूनापत्थर का अधिकाधिक विलयन होता है।

उपर्युक्त आधारों पर बोग्ली ने चूना पत्थर के विलयन को तीन आकारजनक प्रावस्थाओं (morphogenetic phases) मे विभक्त किया है—

प्रथम आकारजनक प्रावस्था—इसमे विलयन की दर अत्यन्त तेज होती है यद्यपि विलयन की कुछ मात्रा नगण्य होती है। चित्र 284 की रासायनिक क्रिया की प्रथम तथा द्वितीय प्रावस्थाये इसके अन्तर्गत आती है।

द्वितीय आकारजनक प्रावस्था—यह प्रावस्था रासायनिक प्रावस्था तीन (चित्र 284) को प्रदर्शित करती है जिसमे विलयन दर मध्यम होती है। अभिक्रिया एक मिनट में पूर्ण हो जाती है।

तृतीय आकारजनक प्रावस्था—रासायनिक प्रावस्था चार को प्रदर्शित करती है। विलयन दर अत्यन्त मन्द होती है। अभिक्रिया 60 घण्टे में पूर्ण होती है।

(ब) जलगति क्रिया (Hydraulic Action)—जलगति क्रिया के अन्तर्गत भूमिगत जल बिना किसी अन्य साधन के जलभरे (Aquifers) मे प्रवाहित होते समय चट्टानों के ढीले पदार्थों को अपने साथ बाहर ले लेता है। जहाँ पर भूमिगत जल का प्रवाह अधिक संधियो वाली चट्टानो से होकर होता है, वहाँ पर यह जल आसानी से ढीले पदार्थों को धुलन (Washing) द्वारा अलग कर लेता है तथा उसे अपने साथ बहा लेता है। यदि सरध्र चट्टानों में भूमिगत जल की मात्रा बहुत अधिक होती है तो संधियों के सहारे चट्टानों के बड़े-बड़े टुकडे टूटकर जल के साथ हो लेते हैं। यह स्मरणीय है कि जलगति क्रिया के अन्तर्गत अपरदन में केवल जल का ही योग रहता है, उसके साथ चलने वाले पदार्थों का नहीं। वास्तव मे भूमिगत जल उछाल द्वारा किनारे वाली चट्टानों को घुलाता हुआ चलता है। चूंकि भूमिगत जल का वेग अत्यन्त धीमा होता है, अतः जलगति क्रिया भी अपरदन मे अधिक कार्य नहीं कर पाती है क्योंकि जलगति क्रिया तीव्र वेग से बहते हुए जल के साथ ही अधिक सक्रिय होती है। नदी के बहते हुए जल द्वारा यह अपरदनात्मक रूप अधिक तीव्रता के साथ सम्पन्न होता है।

(स) अपघर्षण (Corrasion or Abrasion)—भूमिगत जल के साथ चलने वाले छोटे-छोटे टुकड़े, कंकड-पत्थर आदि यांत्रिक अपरदन के महत्त्वपूर्ण यंत्र होते हैं। भूमिगत जल इन यंत्रों की सहायता से अपने प्रवाह के समय चट्टानों को रगड कर, घिस कर तथा घर्षण द्वारा अपरदन करता है, जिससे चट्टानों के मुलायम भाग अपरदित होकर भूमिगत जल के साथ हो लेते है। इस क्रिया के अन्तर्गत भूमिगत जल धरातल की निचली सतह मे ऊपर नीचे तथा किनारों पर अपरदन करता है। जलगति क्रिया तथा अपघर्षण की क्रियाओं मे अन्तर यह होता है कि प्रथम केवल जल द्वारा सम्पन्न होती है तथा दूसरी क्रिया जल के साथ मिले हुए कंकड-पत्थर आदि पदार्थों से सघर्षण द्वारा होती है। पुनः यह ध्यान मे रखने योग्य बात है कि भूमिगत जल का वेग अत्यन्त मन्द होने के कारण अपघर्षण क्रिया नगण्य होती है। बिना तीव्र वेग के कंकड-पत्थर वाले पदार्थ अपरदन करने के बजाय नीचे बैठ जाते हैं।

(द) रगड़ या सन्निघर्षण (Attrition)—भूमिगत जल द्वारा सन्निघर्षण या रगड का कार्य सबसे कम महत्त्वपूर्ण होता है, क्योंकि मन्द वेग के कारण छोटे या बड़े कण शीघ्र ही नीचे बैठ जाते हैं।

भूमिगत जल के अपरदन के उपर्युक्त चार कार्यों मे केवल **घुलने की क्रिया तथा जलगति क्रिया** (Hydraulic Action) ही अधिक महत्त्वपूर्ण होती है। इन दो क्रियाओं द्वारा चट्टानें अत्यन्त ढीली तथा वियोजित हो जाती है जिन्हे भूमिगत जल शीघ्र ही बहा लेता है। भूमिगत जल के अपरदनात्मक कार्य अलग-अलग नहीं बल्कि सम्मिलित रूप से सम्पन्न होते हैं। यद्यपि घुलन-क्रिया अत्यन्त मन्द गति से सम्पादित होती है, परन्तु एक लम्बे समय मे सतह के नीचे अत्यन्त विचित्र तथा वृहद आकार वाले

स्थलरूपो का निर्माण हो जाता है। चूने की चट्टान वाले क्षेत्रो मे यह रूप दर्शनीय होता है। अपरदन द्वारा निर्मित स्थलरूपो मे घोलरंध्र (Sink holes), विलयन रंध्र (Swallow holes), डोलाइन (Doline), पोलिये (Polje), युवाला (Uvalas), लैपीज (Lapies), कन्दरायें (Caves), प्राकृतिक पुल (Natural bndge) आदि प्रमुख हैं। अपरदनात्मक कन्दरायें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थलरूप होती हैं। सयुक्त राज्य अमेरिका के केन्टुकी प्रान्त की मैमथ कन्दरा (Mammath Cave) 48 किलोमीटर की लम्बाई मे विस्तृत है। न्यू मेक्सिको प्रान्त की कार्लबाद कन्दरा 1219.2 मीटर लम्बी, 91 4 मीटर ऊँची तथा 190.5 मीटर चौड़ी है। द० प० बिहार के रोहतास पठार की गुप्ताधाम कन्दरा 1500 मीटर लम्बी है। इन कन्दराओं के अन्दर भी अपरदन तथा निक्षेप द्वारा गौण स्थलरूपो का विकास होता है। इनका आगे उल्लख किया जायगा।

परिवहन कार्य (Transportational Work)— भूमिगत जल का परिवहन कार्य सबसे कम महत्त्वपूर्ण होता है। वास्तव मे भूमिगत जल द्वारा परिवहन होता ही नही। इसका प्रमुख कारण भूमिगत जल के वेग का अत्यन्त मन्द होना है। जैसे ही चट्टानो का अपरदन होता है, अपरदित पदार्थ नीचे बैठने लगते हैं। केवल महीन तथा बारीक कणो का ही परिवहन हो पाता है। परन्तु यह परिवहन भी अधिक दूरी तक नही होता है। छोटे-छोटे कुछ टुकडे लुढक कर चलते हैं परन्तु इस परिवहन की गति अत्यन्त मन्द होती है। भूमिगत जल के परिवहन की असामर्थ्य के कारण ही इस अपरदन-कारक न कहकर चट्टानो को घोलने वाला ही कहना अधिक उचित होता है।

निक्षेपात्मक कार्य (Depositional Work)— अपरदनात्मक कार्य मे घोलीकरण के समान ही भूमिगत जल का निक्षेपात्मक कार्य अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। घुलन क्रिया के कारण भूमिगत जल मे कई प्रकार के रासायनिक खनिज पदार्थ मिल जाते है। इस तरह एक निश्चित सीमा के बाद भूमिगत जल अवसाद से परिपूर्ण हो जाता है तथा और अधिक पदार्थ को समाविष्ट करने की सामर्थ्य उसमे नही रह जाती है। परिणामस्वरूप अतिरिक्त पदार्थ का निक्षेपण प्रारम्भ हो जाता है। ऊपर यह स्पष्ट किया जा चुका है कि भूमिगत जल का वेग अत्यन्त ही मन्द होता है। अतः जैसे ही अपरदन होता है, बडे-बडे टुकडे नीचे बैठने लगते हैं। इस तरह अपरदन तथा निक्षेपण साथ-साथ चलते हैं। इसके अतिरिक्त घोल के रूप में मिला हुआ बारीक पदार्थ अन्य कई कारणो से निक्षेपित होने लगता है। भूमिगत जल के मार्ग मे थोडा भी अवरोध आने पर उसका वेग स्थगित हो जाता है जिससे घुलित पदार्थ नीचे बैठने लगता है। 2. जब किसी कारण से भूमिगत जल का ताप बढ जाता है तो उसका कुछ जल भाप बन जाता है। इस कारण जल के कुल आयतन मे कमी के कारण जल की घोलन-शक्ति कम हो जाती है। फलस्वरूप शेष जल समस्त घुले हुए पदार्थ को धारण नही कर सकता है। अत अतिरिक्त पदार्थ नीचे बैठने लगता है। 3 उपर्युक्त स्थिति के विपरीत यदि भूमिगत जल का ताप कम हो जाता है तो उस जल की घोलन-शक्ति भी कम हो जाती है। परिणामस्वरूप पहले से घुले हुए पदार्थ का कुछ भाग निक्षेपित होने लगता है। 4. भूमिगत जल की घुलने की सामर्थ्य अधिक दबाव के कारण बढ जाती है, परन्तु जैसे ही दबाव कम होने लगता है, घुले हुए पदार्थ का निक्षेपण होने लगता है, क्योकि दबाव मे कमी के कारण घोलन शक्ति मे भी कमी आ जाती है। 5 भूमिगत जल की घोलन सामर्थ्य बहुत कुछ कार्बन डाई-आक्साइड गैस की मात्रा पर आधारित होती है। इसकी बढती हुई मात्रा के साथ घुलन क्रिया बढ़ती जाती है परन्तु जब किसी कारण से भूमिगत जल मे इस गैस की कमी हो जाती है तो घुलन-सामर्थ्य मे कमी के कारण निक्षेपण होने लगता है। 6 जब भूमिगत जल के मार्ग मे शैवाल (Algae) आदि आ जाते हैं तो घुलित पदार्थ इनके साथ रुक जाता है तथा नीचे बैठने लगता है। उपर्युक्त कारणो की व्याख्या के बाद यह निष्कर्ष निकलता है कि जल की घोलन-सामर्थ्य मे कमी होने पर निक्षेपण होता है। जल की घोलन-सामर्थ्य मे कमी, उपर्युक्त विवरण के आधार पर ताप मे कमी, वाष्पीकरण, दबाव मे कमी कार्बन-डाई-आक्साइड गैस की मात्रा मे कमी आदि कारणो से होती है। भूमिगत जल द्वारा पदार्थों का निक्षेपण कई रूपो मे होता है। कन्दराओं के अन्तर्गत यह निक्षेप कन्दरा की छत तथा फर्श (Floor) दोनो पर होता है। कन्दराओं मे निक्षेपण द्वारा निर्मित स्टैलैक्टाइट स्टैलगमाइट तथा कन्दरा-स्तम्भ आदि स्थलरूप अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। इनका उल्लेख आगे विशद रूप मे किया जायगा।

भूमिगत जल द्वारा उत्पन्न स्थलाकृति Topography produced by Underground Water)

भूमिगत जल का कार्य आर्द्र प्रदेशो मे सर्वाधिक महत्वपूर्ण होता है। इसके अतिरिक्त अर्द्ध-शुष्क भागो मे इसका कार्य कम महत्वपूर्ण नही होता है। वैसे भूमिगत जल का कार्य कोमल सरचना वाली कई प्रकार की चट्टानो वाले प्रदेशो मे सम्पन्न होता है। परन्तु खड़िया मिट्टी वाले भाग, डोलोमाइट तथा चूने के पत्थर वाले चट्टानी प्रदेशो मे यह कार्य अधिक सक्रिय होता है। कहने का तात्पर्य यह कि जिन चट्टानो मे घुलनशील पदार्थ अधिक होते है उन पर भूमिगत जल की क्रिया का प्रभाव सर्वाधिक होता है। धरातल की ऊपरी सतह तथ निचले भाग, दोनो पर ही भूमिगत जल का कार्य होता है, जिससे अपरदनात्मक एव निक्षेपात्मक स्थलरूपो का विकास होता है। धरातल की ऊपरी सतह पर का कार्य भूमिगत जल का प्रारम्भिक कार्य होता है क्योकि आकाशी जल (Meteoric water) सर्वप्रथम ऊपरी सतह पर सुराख तथा छिद्र बनाता है, तत्पश्चात् उन छिद्रो मे होकर यह जल सतह के नीचे पहुँचता है। भूमिगत जल के कार्यों द्वारा कार्स्ट क्षेत्रो मे उत्पन्न स्थलरूपो का यहाँ पर उल्लेख किया जायेगा। वास्तव मे कार्स्ट क्षेत्र चूने की चट्टान से ही निर्मित होते हैं। युगोस्लाविया के कार्स्ट क्षेत्र मे मिलने वाले चूने की पत्थर वाली चट्टानो पर निर्मित स्थलाकृति के आधार पर ही अन्य क्षेत्रो की चूने की चट्टान वाले स्थलरूप को कार्स्ट स्थलाकृति (Karst Topography) कहते हैं।

कार्स्ट स्थलाकृति (Karst Topography)

सामान्य परिचय—चूने के पत्थर वाली चट्टानो के क्षेत्र मे भूमिगत जल के द्वारा सतह के ऊपर तथा नीचे विचित्र प्रकार के स्थलरूपो का निर्माण घोल द्वारा होता है। ये स्थलरूप अन्य प्रकार की चट्टानो पर अपरदन के अन्य कारको द्वारा उत्पन्न स्थलरूपो से सर्वथा भिन्न होते हैं। इस तरह लाइमस्टोन शैल पर निर्मित स्थलरूप को कार्स्ट स्थलाकृति कहा जाता है। कार्स्ट शब्द, युगोस्लाविया देश के पश्चिमी तट पर पूर्वी एड्रियाटिक सागर-तट के सहारे स्थित कार्स्ट प्रदेश से लिया गया है। यहां पर लाइमस्टोन शैल अत्यधिक वलित अवस्था मे है। इस लाइमस्टोन वाले कार्स्ट प्रदेश की ऊपरी सतह पर जल ने घोल द्वारा तथा निचले भाग मे भूमिगत जल ने अपने अपरदनात्मक (मुख्य रूप से घुलन की क्रिया) तथा निक्षेपात्मक कार्य द्वारा विचित्र प्रकार की स्थलाकृति का विकास कर रखा है। यह कार्स्ट प्रदेश लगभग 480 किलोमीटर की लम्बाई तथा 80 किलोमीटर की चौड़ाई मे विस्तृत है। कार्स्ट प्रदेश सागर-तल से 2,600 मीटर की ऊँचाई पर स्थित है। सतह के ऊपर जल की घुलनक्रिया ने असंख्य रध्र (Holes), बीहड खड्ड (Ravines), अवनलिकाओ (Gullies) तथा छोटी-छोटी घाटियो का निर्माण कर रखा है। इस कारण ऊपरी सतह इतनी ऊबड़-खाबड तथा असमान हो गई है कि उस पर नगे पाँव चलना निहायत कठिन कार्य हो जाता है। सतह के नीचे अनेक कन्दराओ तथा निक्षेपात्मक स्थलरूपो का विकास हो गया है। इस मतह से कार्स्ट प्रदेश मे अन्य स्थलाकृतियो से बिल्कुल अलग इस विचित्र स्थलाकृति को कार्स्ट स्थलाकृति की सज्ञा प्रदान की गई है। भूपटल के उन सभी भागो के लाइमस्टोन तथा डोलोमाइट क्षेत्रो मे निर्मित स्थलाकृतियो को कार्स्ट स्थलाकृति कहा जाता है जिनमे युगोस्लाविया के कार्स्ट के (लगभग) समान स्थलरूप मिलते है। यद्यपि प्रत्येक देश के लाइमस्टोन या डोलोमाइट क्षेत्र मे स्थलरूप सम्बन्धी कुछ विभिन्नतायें अवश्य मिलती हैं, परन्तु कुछ ऐसी मूलभूत उभयनिष्ठ विशेषतायें अवश्य होती है, जो प्रात. हर कार्स्ट-क्षेत्र मे मिलती हैं। प्रत्ये॰ देश के कार्स्ट क्षेत्र मे विकसित स्थलरूपो का नामकरण प्राय वहाँ की क्षेत्रीय भाषा के शब्दो मे किया गया है परन्तु इसका यह तात्पर्य नही है कि ये स्थलरूप एक दूसरे से अलग होते है।

कार्स्ट-क्षेत्र का वितरण—कार्स्ट क्षेत्रो का विकास प्राय उन क्षेत्रो मे होता है, जहाँ पर सतह के नीचे (हल्के आवरण के ही नीचे) लाइमस्टोन चट्टान अधिक मोटी स्तरो के रूप मे विद्यमान होती है। लाइमस्टोन के अलावा डोलोमाइट, डोलोमाइट लाइमस्टोन तथा चाक (खड़िया) वाले क्षेत्रो मे कार्स्ट स्थलाकृति का विकास होता है, परन्तु अधिक व्यवस्थित रूप मे विकास नही हो पाता है। कार्स्ट के समान घुलन क्रिया द्वारा उत्पन्न कुछ स्थलरूपो का विकास जिप्सम तथा नमक शैल पर भी हो जाता है, परन्तु इन्हे कार्स्ट स्थलाकृति के अन्तर्गत नही रखा जा सकता है। यद्यपि लाइमस्टोन का वितरण भूपटल पर अत्यधिक विस्तृत रूप मे पाया जाता है, परन्तु कार्स्ट स्थलाकृति का विकास कुछ सीमित

क्षेत्रों में ही हो पाया है। इसका कारण कार्स्ट के विकास के लिए लाइमस्टोन के अलावा अन्य आवश्यक परिस्थितियों का सुलभ न होना है। युगोस्लाविया के वास्तविक कार्स्ट प्रदेश के अलावा विश्व में कार्स्ट स्थलाकृति का विकास दक्षिणी फ्रान्स के कासेस क्षेत्र, ग्रीस, स्पेनिश अण्डालूसिया, उत्तरी पोर्टोरिको, जमैका, पश्चिमी क्यूबा

चित्र 285—युगोस्लाविया का कार्स्ट-क्षेत्र।

तथा संयुक्तराज्य अमेरिका के दक्षिणी इण्डियाना, पश्चिमी मध्य केन्टुकी, वर्जीनिया टेनेसी तथा मध्यवर्ती फ्लोरिडा प्रान्तों में हुआ है। उपर्युक्त क्षेत्रों को प्रमुख कार्स्ट क्षेत्र कहते हैं, क्योंकि इन क्षेत्रों में कार्स्ट स्थलाकृति का पूर्णतया विकास हुआ। इनके अलावा कुछ ऐसे भी क्षेत्र हैं जहाँ पर कार्स्ट स्थलाकृति के सदृश कुछ स्थलरूपों का विकास हुआ है। इन क्षेत्रों को गौण कार्स्ट क्षेत्र कहा जाता है। इनमें से प्रमुख गौण कार्स्ट क्षेत्र हैं—संयुक्त राज्य अमेरिका के न्यूमेक्सिको का कार्ल्सबाद क्षेत्र इंगलैण्ड का चाक क्षेत्र फ्रांस के चाक क्षेत्र, जूरा पर्वत के भाग आल्प्स तथा एपीनाइन्स पर्वतों के कुछ भाग आदि।

कार्स्ट स्थलाकृति के विकास के लिए आवश्यक दशायें—साधारण तौर से अग्रलिखित दशायें कार्स्ट के लिए अधिक आवश्यक होती हैं।

(i) सर्वप्रथम कार्स्ट स्थलाकृति के आविर्भाव के लिए विस्तृत किन्तु शुद्ध लाइमस्टोन शैल होनी चाहिये। वास्तव में इस स्थलाकृति के लिए सतह के नीचे घुलनशील चट्टान होनी चाहिए जिसमें जल अपने रासायनिक कार्य द्वारा विभिन्न स्थलरूपों का विकास कर सके। लाइमस्टोन के अलावा डोलोमाइट शैल भी कुछ सीमा तक सहायक हो सकती है। लाइमस्टोन शैल ऊपरी सतह के नीचे (करीब) ही रहनी चाहिये। अधिक गहराई पर होने से घुलन क्रिया अधिक सक्रिय नहीं हो पाती है। लाइमस्टोन शैल की परत या स्तर किसी भी रूप में हो सकते हैं। उदाहरण के रूप में युगोस्लाविया के कार्स्ट क्षेत्र की शैल अत्यधिक वलित अवस्था में मिलती है। दक्षिणी फ्रान्स के कासेस क्षेत्र में इस शैल को परतें भ्रंशित हो गई है तथा यह क्षेत्र एक भ्रंशित पठार के रूप में है। भ्रंशित तथा वलित अवस्था के अलावा कहीं-कहीं पर लाइमस्टोन की परतें क्षैतिज अवस्था में भी मिलती हैं। उदाहरण के लिये संयुक्त राज्य अमेरिका के इण्डियाना, टेनेसी, केन्टुकी और कार्ल्सबाद क्षेत्र में शैल की परत क्षैतिज अवस्था में मिलती है। संरचना सम्बन्धी सर्वप्रथम आवश्यक दशा यह है कि कोमल शैल के हल्के आवरण के नीचे लाइमस्टोन शैल का विस्तार अधिक मोटाई में होना चाहिये।

(ii) घुलनशील चट्टान में सन्धियों का विकास अच्छी तरह होना चाहिये। इस कारण जल शैल की सन्धियों तथा छिद्रों में होकर चट्टानों को शीघ्र घुलाने लग जाता है। चट्टानों की पारगम्यता उसी सीमा तक अनुकूल मानी जाती है जब तक कि जल उसकी सन्धियों में अधिक मात्रा में समाविष्ट हो जाय परन्तु जल का सामूहिक स्थानान्तरण न हो सके। यदि शैल अधिक पारगम्य होती है तो जल शीघ्रता से उसे पार करके नीचे आधार में पहुँच जाता है। इस स्थिति में चट्टानों में घुलन-क्रिया ठीक ढङ्ग से नहीं हो पाती है।

(iii) कार्स्ट क्षेत्र में विस्तृत तथा गहरी घाटियाँ होनी चाहिये तथा उनके समीप उच्च स्थल स्थित हों जिसमें ऊपरी सतह के नीचे अधिक विस्तृत रूप में लाइमस्टोन शैल की स्थिति हो। इस दशा में उच्च भाग की ऊपरी सतह से जल रिस कर लाइमस्टोन में पहुँचता है तथा वहाँ से नीचे उतर कर ढाल के अनुसार नदी की घाटी में पहुँचने का प्रयास करता है। इस प्रक्रिया के दौरान जल रासायनिक कार्य द्वारा लाइमस्टोन शैल में घुलन प्रक्रिया के कारण तरह-तरह के छिद्रों तथा कन्दराओं का निर्माण करता है।

(iv) चूँकि कार्स्ट स्थलाकृति का निर्माण जल की रासायनिक क्रिया द्वारा होता है अतः क्षेत्र में भूमिगत जल की पूर्ति के लिए पर्याप्त जल होना चाहिये। भूमिगत जल की पूर्ति मुख्य रूप से वर्षा द्वारा होती है। अतः कार्स्ट क्षेत्र पर्याप्त वर्षा वाले प्रदेशों में स्थित होना चाहिये। साधारण रूप से सामान्य वर्षा कार्स्ट स्थला

कृति के विकास के लिए अधिक अनुकूल होती है। यदि भूपटल के समस्त कार्स्ट प्रदेशो का अवलोकन किया जाय तो अधिकाश कार्स्ट प्रदेश सामान्य वर्षा वाले क्षेत्रो मे ही स्थित हैं।

अपरदनात्मक स्थलरूप (Erosional Landforms)

वास्तव में भूमिगत जल द्वारा लाइमस्टोन क्षेत्र मे सतह के ऊपर तथा नीचे, दोनों स्थानों पर अनेक ऐसी छोटी-छोटी तथा गौण आकृतियाँ होती हैं कि उन्हें स्थलरूप की संज्ञा प्रदान करना उचित नही लगता। कुछ आकृतियाँ तो ऐसी होती हैं कि उनका लोप या विलयन शीघ्र हो जाता है तथा आकृतियाँ निरन्तर परिवर्तनशील रहती हैं। इनके विपरीत कुछ आकृतियाँ ऐसी भी अवश्य होती हैं, जिनका क्षेत्रीय विस्तार तथा महत्व, दोनों होते है। इन्हे स्थलरूप के अन्तर्गत अवश्य रखा जा सकता है। कार्स्ट स्थलाकृति के निम्न स्थलरूप उल्लेखनीय हैं—

लैंपीज (Lapies)—सर्वप्रथम जब जल रिस कर सतह के नीचे जाने का प्रयास करता है तो लाइमस्टोन शैल से ऊपर आवरण शैल (Rock mantle) पर घुलन-क्रिया द्वारा लाल तथा मृत्तिकायुक्त मिट्टियो के अवशेष छूट जाते हैं। इस तरह के अवशेष सतह पर तथा खुले हुए जोडो मे रुक जाते हैं। इन्हें टेरारोसा कहते है। इनकी स्थिति सामान्य ढाल वाले भाग पर होती है, परन्तु तीव्र ढाल वाले भाग पर नही होती है। कभी-कभी टेरारोसा पूर्णरूप से शैल के ऊपरी सतह को आच्छादित किये रहती है। यद्यपि टेरारोसा, लेटराइट मिट्टी से मिलती-जुलती है परन्तु इसे लेटराइट का एक अंग नहीं समझना चाहिये। जहाँ पर टेरारोसा का आवरण लाइमस्टोन की शैल पर नहीं होता है वहाँ पर चट्टान के नगेपन के कारण विशेषक अपरदन (Differential erosion) के फलस्वरूप ऊपरी सतह अत्यधिक ऊबड-खाबड तथा असमान हो जाती है। इस तरह की स्थलाकृति को लैंपीज कहते हैं।

सामान्य रूप मे लैंपीज की रचना अत्यधिक सरल होती है। लाइमस्टोन ही खुली सतह पर जल चट्टान की सधियो को अपनी घुलन-क्रिया द्वारा विस्तृत करने लगता है, जिस कारण छोटी-छोटी शिखरिकाओं (Ridges and pinacles) का निर्माण हो जाता है। इनकी दीवालें खडी होती हैं। इस तरह के खड़े किन्तु पतले तथा नुकीले कटक स्तम्भ के रूप में एक दूसरे के समानान्तर होते हैं तथा एक-दूसरे से संकरे विदर (Cleft-दरार) द्वारा अलग किये जाते हैं। इस तरह की आकृति को ही लैंपीज कहा जाता है। लैंपीज के कारण लाइमस्टोन क्षेत्र की ऊपरी सतह इतनी असमान हो जाती है कि उसे नंगे पाँव पार करना कठिन हो जाता है। विभिन्न कार्स्ट क्षेत्रो में लैंपीज को अलग-अलग नामो से सम्बोधित किया जाता है। उदाहरण के लिए इंग्लैंड मे इसे **क्लिट**, जर्मनी मे **करेन**, साइबेरिया में **बोगाज** तथा डालमेशियन क्षेत्र मे **लैंपीज** कहते हैं। लैंपीज के निर्माण के विषय मे मतैक्य नही है। कई विद्वानो ने लैंपीज के उदाहरण अन्य प्रकार की चट्टानो से भी दिये हैं। सन् 1924 मे **स्विजिक महोदय**[1] ने लैंपीज के सम्बन्ध मे बताया कि लैंपीज का विकास मुख्य रूप से नंगी चट्टान (Bare rock) को ऊपरी सतह पर चट्टान के संगठन, कणो की बनावट, चट्टान की संरचना, सतह के ढाल तथा चट्टान की सतह पर मिलने वाली वनस्पति के आवरण के अनुसार होता है। लैंपीज का निर्माण क्षैतिज स्तरों वाली चट्टान पर नही होता है। इसके निर्माण के लिए सतह पर ढाल का होना आवश्यक है। यदि सतह समतल तथा क्षैतिज होती है तो उस पर लैंपीज का निर्माण न होकर घोल रंध्र (Solution Holes) का निर्माण होता है। लैंपीज का अर्थ विद्वानो ने विस्तृत रूप मे लिया है तथा इनके अनुसार लैंपिज का निर्माण कई तरह की चट्टानो की खुली सतह पर हो सकता है। पामर नामक विद्वान ने हवाईलैण्ड की बेसाल्ट चट्टान पर घोल द्वारा निर्मित छोटी-बडी नालियो (Groves & furrows) को भी लैंपीज ही बताया है। स्मिथ तथा अलब्रिटन महोदयो ने सयुक्त राज्य अमेरिका के टेक्सास प्रान्त के सियरा ब्लैंका क्षेत्र में विभिन्न ढालो पर विकसित विभिन्न प्रकार के गर्त (Pits), फलक (Facet) तथा विस्तृत एव गहरी नालियो (Furrows) को लैपीज बताया है। कुछ विद्वानों (डेनीस Danes, J, V. 1914 तथा जुटोव Zotov, V. D, 1941) ने तो नदी द्वारा अपरदन से लैंपीज की उत्पत्ति की भी कल्पना की है। यहाँ पर उल्लेखनीय है कि सामान्य रूप मे लैंपीज के अर्थ को खीच कर बढ़ाने की आवश्यकता नही है। लैंपीज निश्चय ही कार्स्ट स्थलाकृति का एक महत्त्वपूर्ण स्थलरूप है, जो कि घुलन की

1 Cvijic Jovan (1942)—The evolution of lapies, Geog. Rev., 14, pp. 26-49.

विभिन्नता तथा चट्टान की संरचना की भिन्नता का परिणाम है।

कभी-कभी ऊपरी सतह से जल रिस कर लाइमस्टोन क्षेत्र में सतह के नीचे कई **घोल रंध्रों** (Solution holes) का निर्माण कर लेता है। जब ऊपरी सतह इन छिद्रों के ऊपर अधिक पतली हो जाती है तो नीचे से सहारा न मिलने के कारण नीचे ध्वस्त हो जाती है। इस कारण ऊपरी सतह अत्यन्त ऊबड़-खाबड़ तथा असमान हो जाती है। इस तरह घुलन द्वारा ऊपरी तल के नीचे धँस जाने की क्रिया को **विलयन अवतलन** (Solution Subsidence) कहते हैं।



चित्र 286—लैपीज (Lapies)

घोल रंध्र तथा उससे सम्बन्धित रूप (Solution holes and associated forms)—चूने की चट्टान वाले प्रदेश में ऊपरी सतह पर जब वर्षा का जल आता है तो कार्बन डाई-आक्साइड गैस के साथ मिलकर वह सक्रिय घोलक बन जाता है। चट्टान की सन्धियों में जल घुल कर उसके घुलनशील तत्त्वों को घुलाकर निकाल लेता है। इस घुलन क्रिया के कारण सन्धियों का विस्तार हो जाने से असंख्य छिद्रों का विकास हो जाता है। छोटे-छोटे छिद्रों को **घोल रंध्र** (Sink holes) कहा जाता है। किसी भी विस्तृत कार्स्ट क्षेत्र में घोल रंध्र कई सौ से लेकर हजारों की संख्या में मिलते हैं। मैलाट महोदय के अनुसार दक्षिण इण्डियाना प्रान्त के कार्स्ट क्षेत्र में लगभग 3,00,000 की संख्या में घोल रंध्र मिलते हैं। वास्तव में घोल रंध्र चूने की चट्टान की ऊपरी सतह पर निर्मित गड्ढे होते हैं, जिनकी गहराई कुछ मीटर से लेकर 20 मीटर तक होती है। परन्तु सामान्य तौर पर इनकी गहराई 3 से 10 मीटर तक होती है। क्षेत्रफल कुछ वर्ग गज से लेकर कुछ एकड़ तक होता है। आकार की दृष्टि से घोल रंध्र (sink holes) को दो वर्गों में रखा जाता है—1. कीपाकार घोल रंध्र (Funnel shaped sink holes) तथा 2. बेलनाकार घोल रंध्र (Cylindrical sink holes)। घोल द्वारा जब छिद्रों का विस्तार होता है तो घोल रंध्र आकार में अधिक बड़े हो जाते हैं। इस तरह के विस्तृत घोल रंध्र को **विलयन छिद्र** (swallow holes) कहते हैं। निर्माण की प्रक्रिया के आधार पर विलयन रंध्रों को दो वर्गों में रखा जाता है—1. घुलन-क्रिया के कारण विस्तृत रंध्र। इस प्रकार के छिद्रों के विकास तथा सम्वर्द्धन में चट्टान की भौतिक अव्यवस्था (Physical disturbance—चट्टान का ध्वस्त होना, मुड़ना, भ्रंशित होना आदि) का हाथ कदापि नहीं होता है। घोलीकरण के फलस्वरूप इनका नीचे की ओर निरन्तर विकास होता जाता है। इस तरह के विलयन रंध्र को घोल द्वारा निर्मित छिद्र कहते हैं। जब इन छिद्रों का अत्यधिक विस्तार हो जाता है तो उन्हें डोलाइन कहते हैं। युगोस्लाविया के कार्स्ट क्षेत्र में इन विस्तृत छिद्रों को डोलाइन तथा सर्बिया (Serbia) में डोलिनास (Dolinas) कहते हैं।

2. ऊपरी सतह के नीचे रिक्त स्थान के कारण सतह के कुछ भाग के धँस जाने या ध्वस्त हो जाने से निर्मित विलयन रंध्र को ध्वस्त रंध्र (Collapse Sinks) कहते हैं। इनका निर्माण ऊपरी सतह के अकस्मात् ध्वस्त हो जाने से होता है। इन ध्वस्त छिद्रों के किनारे खड़े हुआ करते हैं।

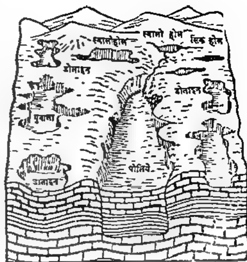
डोलाइन में कुछ भिन्न छिद्र भी होता है, जिसे घोल-पटल (Solution Pan) कहा जाता है। डोलाइन की अपेक्षा घोलपटल उथला (कम गहरा) परन्तु आकार में अधिक विस्तृत होता है। संयुक्त राज्य अमेरिका के इण्डियाना प्रान्त के लास्ट नदी क्षेत्र (Lost River Region) का एक घोलपटल इतना अधिक विस्तृत है कि उसका क्षेत्रफल 30 एकड़ तक है। कभी-कभी मृत्तिका (Clay) द्वारा डोलाइन का निचला छिद्र बन्द हो जाता है, जिससे जल रिस कर नीचे नहीं जा पाता है। इस कारण डोलाइन में जल का संचयन हो जाने से छोटी-छोटी झीलों का निर्माण हो जाता है। इन झीलों को कार्स्ट झील की संज्ञा प्रदान की जाती है। कुछ समय बाद छिद्र को बन्द करने वाला मलवा हट जाता है, जिस कारण झील का जल नीचे चला जाता है और झील सूख जाती है। संयुक्त राज्य अमेरिका के फ्लोरिडा प्रान्त की अलाचुआ झील सन् 1871 ई० में एक डोलाइन के रूप में थी। उसी साल डोलाइन का निचला भाग मलवा

द्वारा बन्द हो गया जिस कारण डोलाइन में जल संचयन के कारण 12.8 किलोमीटर लम्बी और 6.4 किलोमीटर चौड़ी अलाशुआ झील का निर्माण हो गया। 20 वर्ष बाद निचले छिद्र को बन्द करने वाले मलवा का कटाव हो गया, जिससे वह कट गया। फलस्वरूप झील का समस्त जल नीचे चला गया तथा झील अब तक एक शुष्क डोलाइन के रूप मे विद्यमान है। वर्षा के समय अधिकाश छिद्रो मे इतना जल भर जाता है कि उनका नीचे की ओर प्रवाह नही हो पाता है। इस तरह असंख्य मौसमी झीलो का निर्माण होता है। स्थलरूप की दृष्टि से ये महत्त्वहीन होती है।

कार्स्ट खिड़की (Karst Window)—जब डोलाइन या विलयन रध्र के ऊपरी सतह के ध्वस्त हो जाने से बृहद् छिद्र का निर्माण होता है तथा जब उसका ऊपरी भाग खुला होता है तो उसे **कार्स्ट खिड़की** कहते हैं, क्योंकि इसके द्वारा भूमिगत जल प्रवाह तथा अन्य स्थल रूपो का अवलोकन किया जा सकता है। इन खिडकियो का आकार छोटे रूप से बृहद् रूप तक होता है।

युवाला (Uvalas)—युवाला के लिए हिन्दी मे प्रायः "**सकुण्ड**" शब्दावली का प्रयोग किया जाता है। युवाला का निर्माण कई रूपो मे होता है। निरन्तर घोलीकरण के फलस्वरूप कई **डोलाइन** मिलकर एक वृहदाकार गर्त का निर्माण करते हैं। इस विस्तृत गर्त को युवाला कहा जाता है। इसका निर्माण ऊपरी छत के ध्वस्त हो जाने पर भी होता है। असख्य घोल रध्र भी विस्तार के कारण परस्पर मिलकर युवाला का निर्माण करते है। इन्हे सयुक्त या मिश्रित घोल रध्र (Compound sink holes) भी कहा जाता है। युवाला की व्याप्त एक किलोमीटर तक भी मिलती है। युवाला इतने विस्तृत होते है कि इनमे धरातलीय नदियाँ लुप्त हो जाती हैं, जिनसे उनकी धरातलीय घाटियाँ सूख जाती हैं। छोटे-छोटे युवाला को जामा (Jama) की सज्ञा प्रदान की जाती है। जामा की गहराई 100 मीटर तक मिलती है। युवाला की दीवाले प्राय खडी होती हैं, जो कि ऊपरी सतह से सलग्न होती है। युवाला की तली मे प्राय काँप मिट्टी का निक्षेप मिलता है। परन्तु तली या फर्श समतल होता है।

पोलिये (Polje)—पोलिय को हिन्दी मे "**राजकुण्ड**" के नाम से अभिहित किया जाता है। **युवाला** से अधिक विस्तृत गर्त को पोलिये कहते है। इनके निर्माण के विषय



चित्र 287—युवाला तथा पोलिये (Uvala and Polje)

मे विद्वानो मे मतैक्य नही है। इसकी तली या फर्श समतल होती है तथा दीवाले खडी होती हैं। इसके निर्माण के विषय मे ऐसा बताया जाता है कि लाइमस्टोन शैल वाले क्षेत्र मे नीचे की ओर भ्रंशित (Down faulted) तथा अव-वलित (Down Folded) भागो मे वलन-क्रिया द्वारा कुछ परिवर्तन हो जाने पर पोलियो का निर्माण हो जाता है। देखने मे एक युवाला तथा पोलिये समान लगते हैं, परन्तु उत्पत्ति तथा आकार की दृष्टि से इनमे पर्याप्त अन्तर होता है। युवाला का क्षेत्र कुछ एकड तक ही होता है, परन्तु पोलिये का क्षेत्रफल कई वर्ग किलोमीटर तक होता है। पश्चिम बालकन क्षेत्र (यूरप) का सर्वाधिक विस्तृत पोलिये '**लिवनो पोलिये**' (Livno Polje) है, जिसकी लम्बाई 40 मील (64 किलोमीटर) तथा चौडाई 3 से 7 मील (5 किलोमीटर से 11 किलोमीटर) तक है।

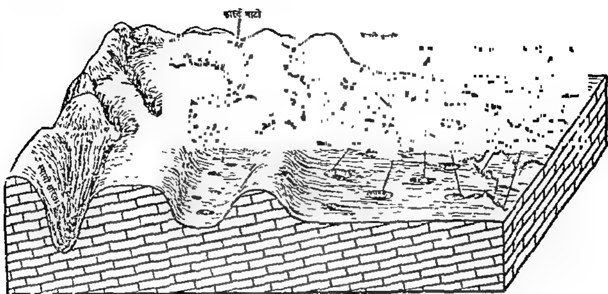
कार्स्ट प्रदेश की घाटियां (Valleys of Karst Region)—क्षैतिज स्तर वाले या झुके हुए स्तर वाले चूने के क्षेत्र मे ऊपरी सतह पर निर्मित विभिन्न प्रकार के रध्र या छिद्र वाले स्थलखण्ड को **कार्स्ट मैदान** (Karst plain) कहा जाता है। इस कार्स्ट मैदान पर धरातलीय प्रवाह-प्रणाली द्वारा तरह-तरह के गौण घाटियो तथा स्थलरूपो का विकास होता है। परन्तु इन सभी घाटियो का सम्बन्ध घोल रध्र (Sink holes) या विलयन छिद्र (Swallow holes) से अवश्य होता है। इनमे से निम्न स्थलरूप अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं—

(अ) **धँसती निवेशिका (Sinking Creek)**—कार्स्ट मैदान की ऊपरी सतह पर इतने अधिक घोल छिद्र (Sink holes) होते हैं कि समूची सतह एक छलनी (Sieve) के समान दीखती है, जिसके घोल छिद्र कोष का कार्य करते हैं अर्थात् इन्ही छिद्रो से होकर ऊपरी सतह की सरिताओ का जल नीचे जाकर भूमिगत जल का कार्य करता है। इस तरह कार्स्ट मैदान के छिद्रो का, भूमिगत जल तथा उसके द्वारा उत्पन्न स्थलरूपो के लिए अधिक महत्त्व है। यदि छोटी-छोटी सरिताओ का जन्म कार्स्ट मैदान के ऊपर ही होता है तो इन छिद्रो के कारण अधिक दूरी तक सतह के ऊपर प्रवाहित नही हो पाती है क्योकि छिद्रो से होकर उनका जल सतह के नीचे चला जाता है। इसके विपरीत दूसरे भागो से निकल कर आने वाली कार्स्ट मैदान की बडी नदियाँ कुछ दूरी तक सतह पर अवश्य प्रवाहित होती हैं। इनके प्रवाह-मार्ग की लम्बाई छिद्रो मे रिसने वाले जल तथा नदी के जल के अनुपात पर आधारित होती है। जब छिद्रो या विदरो स होकर नदी का जल नीचे चला जाता है तो उसे धँसती निवेशिका (sinking creek) कहते हैं तथा जिस बिन्दु पर जल नीचे प्रविष्ट होता है उसे सिन्क (sink) कहते हैं। नदी का जल प्राय. विलयन छिद्र (swallow holes) म ही अदृश्य होता है तथा यह सिन्क बिन्दु दिखाई पडता है। परन्तु, कुछ सरिताओ का जल उनकी तली मे स्थित रूप से होकर अदृश्य हो जाता है जिससे सिन्क दिखाई नही पडता है। छोटी नदियो का जल एक ही विलयन छिद्र द्वारा अदृश्य हो सकता है जब कि लम्बी नदियो का जल कई विलयन छिद्रो से होकर नीचे प्रविष्ट होता है। इन धँसती निवेशिकाओ का अधिक महत्त्व इस बात मे है कि उनके द्वारा सतह का जल सतह के नीचे पहुँच कर विभिन्न प्रकार की कन्दराओ का निर्माण करता है। धँसती निवेशिका का जल सतह के नीचे कुछ दूरी तक प्रवाहित होता है तथा कुछ दूरी के बाद पुन प्रकट हो जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका के दक्षिण इण्डियाना प्रान्त की लास्ट नदी सतह के नीचे 13 किलोमीटर की दूरी तक प्रवाहित होती है। रे महोदय के अनुसार रेका नदी (Trieste) सतह के नीचे 18 मील (21 किलोमीटर) की लम्बाई मे प्रवाहित होती है।

(ब) **अन्धी घाटी (Blind Valley)**—जिस स्थान पर (सिन्क-sink) नदी का जल सतह के नीचे चला जाता है, उसके आगे सतह पर नदी की घाटी शुष्क रहती है, क्योकि इनका प्रयोग नदी अपने प्रवाह मार्ग के लिये इसलिय नहीं करती है कि इसका जल सतह के नीचे प्रवाहित होने लगता है। अत ऊपरी शुष्क भाग को नदी का **शुष्क नदी तल** (Dry river bed) कहते हैं। बाढ के समय मे जब जल अधिक हो जाता है तथा जब विलयन छिद्र का समस्त जल सतह के नीचे पहुँचाने मे समर्थ नही हो पाता है तो इस शुष्क तल पर अल्पकालिक प्रवाह होने लगता है अन्यथा, यह शुष्क ही रहता है। जब नदी एक विलयन छिद्र पर समाप्त हो जाती है तथा यह स्थिति जब एक लम्बे समय तक रहती है तो सिन्क के ऊपर (अर्थात् सिन्क बिन्दु से उद्गम की ओर) नदी अपनी घाटी को कार्स्ट मैदान से अधिक नीचा कर लेती है। इस अवस्था मे नदी की घाटी का अन्त एक **विलयन छिद्र** पर समाप्त हो जाता है। इस घाटी को **अन्धी घाटी** (Blind valley) कहते हैं। दूसरे शब्दो मे **अन्धी घाटी** उस घाटी को कहते हैं जिसका जल **विलयन छिद्र** (Swallow hole) मे समाप्त हो जाता है तथा घाटी शुष्क नजर आती है। अधिक जलपूर्ति के समय जब विलयन छिद्र समस्त पानी का समाविष्ट नही कर पाते हैं तो अंधी घाटी मे थोडे समय तक जल भर जाने के कारण अल्पकालिक झील का निर्माण हो जाता है। इन झीलो का जीवन-काल कुछ दिनो से कई हफ्ते तक होता है। कुछ लोगो के अनुसार अन्धी घाटी का निर्माण पोलिये की तली पर होना।

(स) **कार्स्ट घाटी (Karst Valley)**—अधिक वर्षा के समय पृष्ठीय नदियाँ (Surface streams) कुछ दूरी तक प्रवाहित होती हैं तथा अपनी चौडी तथा U आकार की घाटी का निर्माण कर लेती हैं। इन घाटियो को **घोल घाटी** (Solution valley) या **कार्स्ट घाटी** कहते हैं। इनका रूप अस्थायी होता है क्योंकि जैसे ही जल का आयतन कम हो जाता है शेष जल या विलयन रध्रो द्वारा नीचे चला जाता है।

अपरदन अवशेष (Erosional Remnants)—कार्स्ट क्षेत्र मे अधिक घोल द्वारा चूने की चट्टान के विनाश के समय अधिकाश भाग कट जाता है परन्तु कुछ भाग अवशिष्ट रह जाता है। ये सामान्य सतह से कुछ ऊपर उठे रहते हैं। ये उठे भाग अवशिष्ट पहाडी या टीले (Residual hills or mounds) के रूप म होते हैं। इनकी समता सतह पर नदी द्वारा उत्पन्न मोनाडनाक से की जा सकती है। युगास्लाविया के कार्स्ट-क्षेत्र म पानिय के फर्श पर इस तरह के अवशिष्ट भाग का हृस्स या



चित्र 288—कार्स्ट मैदान पर विलयन रंध्र (Sink holes), घोल रंध्र, युवाला, धँसती निवेशिका (Sinking Creek), अन्धी घाटी (Blind Valley) तथा कार्स्ट घाटी (Karst Valley) का विकास।

चूर्णकूट (Huma) कहते हैं। पोर्टोरिको में इसे पेपिनो पहाड़ी (Pepino hills), क्यूबा में 'Mogotes'[1] तथा फ्रांस में Buttes termoines कहते हैं।

कन्दरा या गुफा (Caves or Caverns)—भूमिगत जल के अपरदन द्वारा निर्मित कन्दरायें कार्स्ट प्रदेश की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थलाकृति होती हैं। कन्दरायें ऊपरी सतह के नीचे एक रिक्त स्थान के रूप में होती हैं जिनकी रचना भूमिगत जल की घुलन-क्रिया तथा अपघर्षण (Solution and corrasion) द्वारा होती है। इनका रूप तथा आकार भिन्न-भिन्न होता है। छोटे आकार से लेकर वृहदाकार वाली कन्दरायें देखने को मिलती हैं। कुछ कन्दरायें कई वर्ग किलोमीटर के क्षेत्रफल में फैली होती हैं। वास्तव में ऊपरी सतह के नीचे खोखला स्थान ही कन्दरा होता है। यह आवश्यक नहीं है कि कन्दराओं के अन्दर जल-प्रवाह हो। अनेक शुष्क कन्दराओं के उदाहरण भी मिले हैं। कन्दराओं का निर्माण लाइमस्टोन के अलावा अन्य चट्टानों में भी होता है। उदाहरण के लिए सतह के नीचे **लावा-कन्दरा**, तट के पास सागरीय लहरों द्वारा उत्पन्न कन्दरा तथा बालुका पत्थर की चट्टान में अपक्षय द्वारा सन्धियों के विस्तार से निर्मित कन्दरायें। परन्तु यहाँ पर कन्दरा का तात्पर्य एकमात्र **कार्स्ट** प्रदेश के **चूने की चट्टान** से निर्मित कन्दरा से ही है। अत्यधिक विस्तृत कन्दरायें निश्चय ही शुद्ध तथा मोटी परतों वाले चूने की चट्टान के क्षेत्रों में निर्मित होती हैं। इस तरह चूने के पत्थर की घुलनशीलता ही कार्स्ट प्रदेशों में कन्दराओं के निर्माण का मूर्त्त कारण है।

कन्दराओं का वितरण—चूंकि चूने के पत्थर का वितरण भूपटल पर अत्यधिक विस्तृत है, अतः इन कन्दराओं का वितरण भी अत्यधिक विस्तृत है परन्तु स्थानाभाव के कारण केवल उन्हीं क्षेत्रों का संक्षिप्त विवरण उपस्थित किया जायेगा जहाँ पर कन्दराओं का निर्माण बड़े पैमाने पर हुआ है। 1. युगोस्लाविया कार्स्ट प्रदेश इस दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। **ट्रिस्टी** (Trieste) से **मान्टेनेग्रो** (Montenegro) तक 480 किलोमीटर की लम्बाई तथा 80 किलोमीटर की चौड़ाई में कार्स्ट जिले में कन्दराओं की संख्या अनेक है। 2. दक्षिणी फ्रांस का कासेस (Causses) क्षेत्र। 3 संयुक्त राज्य अमेरिका—दक्षिणी इण्डियाना, केन्टुकी, वर्जीनिया, फ्लोरिडा, यूकाटन आदि क्षेत्र; विश्व की अत्यधिक

1. Bennet, H. H. (1928)—*Some Geographic Aspects of Cuban Soils*, *Geog Rev.*, 18, pp. 62-82.

विस्तृत कन्दराओं में कार्ल्सबाद (Carlsbad) तथा मैमथ (Mammoth) का नाम लिया जा सकता है। संयुक्त राज्य अमेरिका के न्यूमेक्सिको प्रान्त में 300 मीटर मोटी परत वाले लाइमस्टोन क्षेत्र में कार्ल्सबाद कन्दरा का निर्माण हुआ है। वर्तमान धरातल की सतह से 300 मीटर की गहराई तक विस्तृत कार्ल्सबाद कन्दरा 1219 मीटर लम्बी तथा 190 5 मीटर चौड़ी है। इस कन्दरा के अन्तर्गत कई कक्ष (Chambers) मिलते हैं, जिनके छतों की ऊंचाई 83 3 मीटर तक है। सबसे बड़ा कक्ष बिग रूम (Big Room) के नाम से विख्यात है। यह कक्ष आधा मील (0 8 किलोमीटर) लम्बा तथा 66 6 मीटर चौड़ा है। केन्टुकी प्रान्त की मैमथ कन्दरा 48 2 किलोमीटर लम्बी है। इसका निर्माण कई कन्दराओं के सम्मिलन से हुआ है। कन्दराओं के तलों में होकर भूमिगत जल का प्रवाह होता है परन्तु यह सदैव आवश्यक नहीं है। भारत में द० प० बिहार के रोहतास पठार, मध्य प्रदेश के बस्तर जिले उत्तर प्रदेश में देहरादून आदि में चूना पत्थर में निर्मित कन्दरायें मिलती हैं।

कन्दराओं की उत्पत्ति (Formation of Caves)—कार्स्ट प्रदेश के स्थलरूपों में कन्दरा का निर्माण सबसे अधिक विवादग्रस्त है। यही कारण है कि इस समस्या को लेकर परस्पर विरोधी मतों का प्रतिपादन किया गया है। कन्दरा के निर्माण के विषय में घुलन-क्रिया (Solution) तथा सन्निघर्षण-क्रिया (Corrasion) तथा भौमजलस्तर (Water table) का आधार मानकर कई मतों का प्रचलन किया गया है। कुछ विद्वान कन्दरा के निर्माण में सर्वाधिक महत्व सन्निघर्षण क्रिया को देते हैं जब कि विद्वानों का दूसरा वर्ग घुलन-क्रिया को ही कन्दरा के निर्माण का प्रमुख कारण बताता है। कुछ विद्वानों के अनुसार कन्दरा का निर्माण भौमजलस्तर के ऊपर होता है तथा अन्य विद्वानों ने (इनमें प्रमुख है—डेविस महोदय) कन्दरा का निर्माण भौमजलस्तर के नीचे भी बताया है। निम्न पंक्तियों में कन्दरा निर्माण की कुछ परिकल्पनाओं (Hypotheses) तथा सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवरण उपस्थित किया जा रहा है। स्थानाभाव के कारण प्रमुख सिद्धान्तों का संक्षिप्त सामान्य उल्लेख ही सम्भव हो सकेगा। उनका आलोचनात्मक विवरण उपस्थित करना विषय को दुरूह ही बनायेगा। कन्दरा निर्माण से सम्बन्धित सिद्धान्तों की व्याख्या के पहले कार्स्ट प्रदेश में भौमजलस्तर का स्पष्टीकरण आवश्यक है, क्योंकि कन्दरा निर्माण से सम्बन्धित विचारों में विभिन्नता इसी भौमजलस्तर को लेकर ही है। कुछ विद्वानों के अनुसार लाइमस्टोन क्षेत्र में अन्य भागों के समान कोई भी सुनिश्चित भौमजलस्तर नहीं होता है, अर्थात् कोई ऐसी निश्चित रेखा नहीं होती है जो कि संतृप्त (Saturated) तथा असंतृप्त (Non-saturated) मंडलों को अलग कर सके। भूमिगत जल चट्टान के छिद्रों, सन्धियों तथा संस्तरण-तल (Bedding planes) में हो रहता है न कि सामूहिक रूप में। इस विचारधारा के विपरीत अधिकांश विद्वानों का (जो कि कन्दरा निर्माण की समस्या से सम्बन्धित हैं) मत है कि लाइमस्टोन क्षेत्र में भी स्थायी तथा सुनिश्चित भौमजलस्तर अवश्य होता है। कुछ विद्वानों का कहना है कि घुलन क्रिया इस भौमजलस्तर के ऊपर ही होती है, जबकि दूसरा वर्ग भौमजलस्तर के नीचे भी घुलन-क्रिया को मानता है। नीचे कुछ सिद्धान्तों की व्याख्या दी जा रही है—

(i) **अपघर्षण सिद्धान्त (Corrasion Theory)**—सन् 1910 ई० से पहले जो कुछ भी विवरण कन्दरा के निर्माण के विषय में उपस्थित किये गये थे उनमें अपघर्षण को ही अधिक महत्व प्रदान किया गया है। इस विचार-धारा को पुरानी विचारधारा भी कहा जाता है। इसके अनुसार कन्दरा का निर्माण भूमिगत जल द्वारा अपघर्षण के कारण भौमजलस्तर के ऊपर ही होता है। सतह का जल सतह के नीचे परिवर्तित होकर ही अपने अपघर्षण द्वारा कन्दरा निर्माण में सहायता करता है। यद्यपि यह जल भौमजलस्तर के नीचे भी प्रवाहित होता है परन्तु इसका कन्दरा निर्माण से कोई सम्बन्ध नहीं होता है। सतह का जल चट्टानों की सन्धियों में प्रविष्ट होकर अपघर्षण द्वारा उन्हें विस्तृत करता है तथा धीरे धीरे कन्दरा का निर्माण प्रारम्भ हो जाता है। कन्दरा का आकार तथा विस्तार चट्टान की सन्धियों द्वारा निश्चित होता है। इसी सिद्धान्त के समर्थकों में प्रमुख हैं सायरेस्ट मर्तोनी, मार्तेल, वेलर तथा मैलाट आदि। इस सिद्धान्त के समर्थकों ने अपघर्षण द्वारा निर्मित कन्दराओं में अपघर्षण के अनेक लक्षण बताये हैं—कन्दराओं में मृत्तिका (Clay), सिल्ट (Silt) तथा बजरी (Gravel) की उपस्थिति इस तथ्य को प्रमाणित करती है कि ऊपरी सतह का जल जब विलयन छिद्र (Swallow holes) में होकर नीचे पहुंचता है तो अपने साथ ऊपर से लाये हुए कंकड़-पत्थर द्वारा

चट्टान के छिद्रों को अपघर्षण द्वारा काट-पीट कर विस्तृत करता रहता है । इस तरह अनेक विस्तृत छिद्र मिलकर एक विस्तृत खोखले स्थान का निर्माण करते है जो कि कन्दरा का रूप ले लेता है । ऊपरी सतह मे जल के साथ आयी हुई मृत्तिका, सिल्ट तथा बजरी का यत्र-तत्र निक्षेप हो जाता है । कन्दराओं की तली तथा किनारों पर जल के प्रवाह के कारण अपघर्षण (Corrasion) मे उत्पन्न जलगर्तिका (Pot holes), छोटे-छोटे छिद्र तथा खरोच आदि यांत्रिक अपरदन (Mechanical erosion), को ही प्रमाणित करते है । इस सिद्धान्त की कटु आलोचना की गई है । खास कर डेविस महोदय ने इसे असगत तथा वास्तविकता से दूर बताया है क्योकि इस सिद्धान्त मे अपघर्षण को आवश्यकता से अधिक महत्त्व प्रदान किया गया है ।

(ii) डेविस का द्वि-चक्र सिद्धान्त (Two-Cycle Theory of Davis)—सन् 1930 मे डेविस महोदय ने अपने 'Origin of Limestone Cavern" नामक पेपर मे उपर्युक्त अपघर्षण सिद्धान्त की कटु आलोचना की है । उनके अनुसार कन्दराओ का निर्माण मुख्यरूप से घुलनक्रिया (Solution) द्वारा होता है, यद्यपि अपघर्षण शून्य नही होता है । डेविस के अनुसार कन्दरा का निर्माण दो अवस्थाओ म होता है जिस कारण उनके सिद्धान्त को 'द्वि-चक्र सिद्धान्त' की सज्ञा प्रदान की गई है । डेविस के अनुसार कन्दरा के निर्माण की प्रथम क्रिया भौमजलस्तर के नीचे प्रारम्भ होती है । यहाँ पर जल चूने की चट्टानों को घुला कर पदार्थों को अपने साथ ले लेता है । प्रथमावस्था मे कन्दरा का निर्माण भौमजल (Phreatic water) द्वारा घुलन-क्रिया के कारण होता है । इसके बाद द्वितीयावस्था का आगमन होता है जिसके अन्तर्गत भौमजलस्तर नीचा हो जाता है जिस कारण कन्दरा का भौम जल बह जाता है । फलस्वरूप कन्दरा मे अधिभौम-जल (Vadose water) तथा वायु का प्रवेश हो जाता है । इस द्वितीय चक्र के समय के साथ कन्दरा मे निक्षेप तथा निक्षेपित स्थलरूपो का विकास होता है । ब्रेट्ज महोदय (J H Bretz) ने डेविस के विचारो का अनुमोदन किया तथा समय समय 1938, 1942, 1949, 1953) से इस विचार का विस्तार भी किया । ब्रेट्स ने बताया है कि उत्थान तथा भौमजलस्तर के नीचा होने मे ही कन्दरायें भौमजलस्तर के ऊपर मिलती है परन्तु उनका निर्माण निश्चित रूप से भौमजलस्तर के नीचे ही हुआ रहता है । मनीमेकर महोदय (B C. Moneymaker) ने 1941 ई० मे बताया कि यद्यपि कन्दरा का निर्माण भौमजलस्तर के नीचे ही प्रारम्भ होता है परन्तु उसका अधिकांश विस्तार तथा विकास भौम-जलस्तर के ऊपर होता है । कन्दराओं मे प्रवाहित होने वाली सरिताये अपने साथ ऊपर से सिल्ट तथा मृत्तिका लाती है और वर्षा के समय विलयन छिद्रो (Swallow holes) से होकर टेरारोसा (Terarossa) भी कन्दरा म पहुँच जाती है ।

(iii) स्विनर्टन का भौमजलस्तर सिद्धान्त (Water Table Theory of Swinnerton)--यद्यपि स्विनर्टन (A. C. Swinnerton, 1929, 1932) का सिद्धान्त डेविस के सिद्धान्त मे मिलता है, परन्तु कुछ अन्तर के कारण इसका अलग उल्लेख आवश्यक है । इनके अनुसार कंदरा के निर्माण मे भौमजलस्तर नियत्रक उपादान (Controlling factor) का कार्य करता है । इन्होने कन्दरा का निर्माण जल की घुलन-क्रिया द्वारा ही बताया है परन्तु कन्दरा का निर्माण भौमजलस्तर के ऊपर ही होता है । भौमजलस्तर के नीचे महत्त्वहीन कन्दरा का ही निर्माण हो सकता है । वर्षा का जल ऊपरी सतह से होकर चट्टानो की सधियो, छिद्रो आदि से होकर नीचे की ओर भौमजलस्तर तक पहुँचता है । वहाँ पर पहुँच जाने पर यह जल भौमजलस्तर के ऊपरी भाग पर क्षैतिज रूप (Laterally) मे प्रवाहित होता है तथा चट्टानो को घुल-घुला कर कन्दरा की रचना करता है । वास्तव मे यह सिद्धान्त पुरानी विचारधारा (अपघर्षण सिद्धान्त) मे सशोधन मात्र है । अपघर्षण के स्थान पर घुलन क्रिया को महत्त्व दिया गया है ।

(iv) गार्डनर का स्थैतिक जल-मण्डल सिद्धान्त (Static Water Zone Theory of Gardner)—सन् 1935 ई० मे गार्डनर महोदय (J H. Gardner) ने अपने "स्थैतिक जल-मण्डल सिद्धान्त" का प्रतिपादन चूने की चट्टान वाले क्षेत्र मे कन्दरा के निर्माण की समस्या के निदान के लिए किया था । इन्होने बताया कि शैल-नति (Rock dip)[1] भौमजल (Ground water) के प्रवाह को नियत्रित करता है । कन्दराओं का निर्माण सरचनात्मक उत्थित भागो (Structural uplift) के

---

1 चट्टानो के स्तरो के क्षैतिज तल के साथ झुकाव या कोण को नति (Dip) कहते है ।

पार्श्वो (Flanks) पर होता है। कन्दरा के निर्माण के विषय में गार्डनर ने दो अवस्थाओं का उल्लेख किया है-- प्रथम अवस्था कन्दरा के निर्माण में पूर्व की अवस्था होती है। इस अवस्था में भौम जल स्थिर या स्थैतिक रूप में रहता है। इसका प्रथम कारण यह है कि धरातलीय नदियों की घाटियां कटाव द्वारा इतनी गहरी नहीं हो पाती हैं कि स्थैतिक भौम जल को बहा सकें। द्वितीय अवस्था में घाटियां गहरी हो जाती हैं। परिणाम स्वरूप प्रथम स्थैतिक जलमण्डल को नदियां बहा लेती हैं। अधिभौम जल (Vadose Water) तथा आकाशी जल (Meteoric water) नीचे जाकर चट्टानों की सन्धियों तथा छिद्रों में घुलन क्रिया द्वारा कन्दरा का निर्माण करने लगता है। पुनः गम्भीरो घाटी के गहरी होने से निचला स्थैतिक जल मण्डल भी बहा लिया जाता है तथा वृहद कन्दरा का निर्माण हो जाता है। गार्डनर महोदय ने बताया है कि भौमजलस्तर (Water Table) के नीचे कुछ घुलन क्रिया हो सकती है परन्तु कन्दरा के निर्माण में इसका कोई महत्त्व नहीं होता है।

(v) मेलाट का सिद्धान्त (Invasion Theory of Malott) संयुक्त राज्य अमेरिका के इण्डियाना तथा केन्टुकी प्रान्तों में लाइमस्टोन क्षेत्रों में कन्दराओं के 25 वर्षों के अध्ययन के बाद मेलाट (C A Malott) महोदय ने सन् 1937 ई० में बताया कि अधिकांश बड़ी कन्दराओं का निर्माण सतह के नीचे धरातलीय जलधारा के परिवर्तित होकर आने से होता है। अर्थात् जब सतह की जलधारा सतह के नीचे प्रवाहित होती है तो वह अपने भूमिगत मार्ग के साथ कन्दरा का निर्माण करती है। मेलाट के अनुसार धरातलीय नदियाँ निश्चित स्थानों पर विलयन छिद्रों (Swallow holes) से होकर सतह के नीचे चली जाती है तथा कुछ दूरी तक भूमिगत जल-धारा के रूप में बह कर पुनः निश्चित स्थानों पर सतह पर कार्स्ट स्रोत (Karst spring) आदि के रूप में प्रकट होती है। इस तरह धरातलीय नदियों के वे भाग जो कि सतह के नीचे भूमिगत मार्ग के रूप में होते हैं अपने अपघर्षण (Corrasion) द्वारा कन्दरा का निर्माण करते हैं अर्थात् सतह की सरिताएं या भूमिगत जल-मार्ग (Subterranean or underground routes) कन्दराओं का निर्माण करता है न कि वह पहले से निर्मित कन्दरा में होकर बहता है। यहाँ पर डेविस के विचारों से मेलाट का विचार सर्वथा भिन्न है। डेविस महोदय के अनुसार कन्दरा का निर्माण भौम जलस्तर के नीचे घुलन-क्रिया (Solution) द्वारा होता है। इसके बाद सतह का जल परिवर्तित होकर भूमिगत जल-धारा के रूप में इन कन्दराओं में होकर प्रवाहित होता है। मेलाट के अनुसार भौमजलस्तर के नीचे कुछ घुलन-क्रिया हो सकती है परन्तु इससे केवल चट्टानों की सन्धियों तथा छिद्रों का ही विस्तार होता है। परन्तु कन्दरा का निर्माण भौम-जलस्तर पर या उसके समीप परिवर्तित धरातलीय जलधारा (Diverted surface stream—अर्थात् भूमिगत जलधारा) द्वारा इन सन्धियों के विस्तार तथा सम्मिलन से होता है। सन् 1952 ई० में मेलाट महोदय ने दक्षिणी इण्डियाना की लास्ट नदी द्वारा निर्मित कन्दरा को अपने सिद्धान्त के पक्ष में प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया। इस नदी के तीन भाग हैं—ऊपरी निचला तथा ऊपरी भाग में यह नदी सतह के ऊपर प्रवाहित होती है, परन्तु मध्यवर्ती भाग में यह सतह के नीचे भूमिगत जलधारा के रूप में प्रवाहित होती है। इस भाग में नदी का ऊपरी भाग शुष्क तल (Dry bed) के रूप में है। इस मध्यवर्ती भाग में लाइमस्टोन की मोटी परत का विस्तार है जिस पर नदी का 22 मील लम्बा शुष्क विसर्प (Meanders) है। इस क्षेत्र में हजारों विलयन छिद्र तथा घोल छिद्र वर्तमान हैं। नदी का जल पांच विलयन छिद्रों से होकर सतह के नीचे जाता है परन्तु बाढ़ के समय ही पांचवें विलयन छिद्र तक जल (सतह पर) पहुंच पाता है। अन्यथा नदी का जल प्रथम छिद्र या छिद्रों पर निर्गमित होता है तथा अन्त में पुनः सतह पर प्रकट होता है।

(vi) कन्दरा निर्माण का सामान्य सिद्धान्त —उपर्युक्त सिद्धान्तों की संक्षिप्त व्याख्या के पश्चात् यह स्पष्ट होता है कि भौमजलस्तर को लेकर कन्दरा निर्माण के विषय में अनावश्यक खींचातानी की गई है। कोई भी सिद्धान्त जो कि या तो एकमात्र अपघर्षण को ही महत्त्व देता है या केवल घुलन क्रिया को, सत्यता से दूर ही चला जाता। कन्दरा के निर्माण की प्रारम्भिक क्रिया घुलन-क्रिया द्वारा प्रारम्भ होती है परन्तु कन्दरा के विस्तार के लिये भूमिगत जल का अपघर्षण आवश्यक है। इस तरह कन्दरा के निर्माण में अपघर्षण तथा घुलन-क्रिया दोनों का महत्त्व होता है। विवादों से बचकर कन्दरा निर्माण की निम्न प्रक्रिया का उल्लेख किया जा सकता है --

कन्दरा का निर्माण उन भागों में ही सम्भव होता है जहां पर चूने की चट्टान की गहरी तथा मोटी परतें

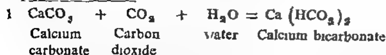
का विस्तृत क्षेत्र मे विस्तार होता है। इस तरह लाइमस्टोन की घुलनशीलता ही कन्दरा निर्माण का मूर्त्त कारण है। कन्दरा निर्माण के लिए लाइमस्टोन अधिक सघन तथा अपारगम्य (Impervious) होना चाहिए। लाइमस्टोन का सर्वप्रमुख तत्त्व कैल्शियम कार्बोनेट होता है। यह तत्त्व शुद्ध जल के लिये बहुत ही कम घुलनशील होता है। जल का सयोग जब कार्बन डाई-आक्साइड गैस से होता है तो वह जल लाइमस्टोन मे क्रिया करके कैल्सियम बाई-कार्बोनेट[1] (Calcium-bicarbonate) उत्पन्न करता है। यह कैल्सियम बाई-कार्बोनेट कैल्सियम कार्बोनेट की अपेक्षा 30 गुना अधिक घुलनशील[2] होता है। इस तरह कार्बन डाई-आक्साइड गैसयुक्त जल एक सक्रिय घोलक हो जाता है। यह जल जब सतह में रिस कर नीचे की ओर लाइमस्टोन मे प्रवेश करता है तो यह कार्य दो रूपों मे होता है—चट्टान के छिद्रो तथा सधियो से होकर और चट्टान के संस्तरण-तल (Bedding planes) से होकर। प्रायः सभी लाइमस्टोन शैल की परतो मे सधियाँ लम्बवत् रूप मे मिलती है। जैसे ही जल नीचे प्रविष्ट होता है, घुलन-क्रिया द्वारा सधियो तथा छिद्रो का विस्तार होता है। इस तरह कई छिद्र बडे होकर मिलते रहते है तथा बडे छिद्र अर्थात् कन्दरा का निर्माण प्रारम्भ हो जाता है। इन छिद्रो का विस्तार नीचे की ओर तब तक चलता है जब तक भौमजलस्तर का कोई अपारगम्य शैल-स्तर नीचे नही मिल जाती है। इस स्थिति में जल की गति नीचे न होकर भौम जल तल के ऊपर क्षैतिज रूप (Lateral) मे होती है, जिसमे कन्दरा का क्षेतीय विस्तार होता है। इस अवस्था तक कन्दरा विस्तृत हो जाती है तथा सतह का जल विलयन छिद्र से होकर इसमे प्रवेश करता है तथा अपने अपघर्षण द्वारा कन्दरा का विस्तार करता है। जिन कन्दराओ मे जल का प्रवाह नही मिलता है, तो इसका तात्पर्य यह नही है कि उनका विस्तार अपघर्षण द्वारा नही हुआ है। यह होना स्वाभाविक है कि कन्दरा की तली मे छिद्र द्वारा जल नीचे चला जाय तथा कन्दरा जलरहित शुष्क हो जाय।



चित्र 289 —कन्दरा तथा पोनोर[3] (Caves and Ponor)।

गुप्ताधाम कन्दरा का विशिष्ट अध्ययन

गुप्ताधाम कन्दरा की स्थिति रोहतास पठार पर **दुर्गावती नदी** तथा **गोम्या/गुप्ता** नाला के मध्य **गुप्तेश्वर** पहाडी के नीचे है (देखिये अध्याय 20 का चित्र 252)। इस पहाडी के उत्तर मे **गोम्या नदी**, पूर्व मे **सुग्गी नाला** तथा पश्चिम में **मसुरवा नाला** (जिसके सामने कन्दरा का द्वार है) की स्थिति है। प्रमुख शैलिकी (lithology) **विन्ध्यन** क्रम की (ऊपर से नीचे क्रम मे) बालुका पत्थर, शेल, चूना पत्थर तथा शेल चट्टानो की है। गुप्तेश्वर पहाडी के ऊपर (जो बालुका पत्थर की आवरण शैल से युक्त है) **घोल रंध्रो** (solution holes) का पूर्णतया अभाव है। कन्दरा का निर्माण **रोहतास स्टेज** के चूना पत्थर मे हुआ जिसकी रचना इस प्रकार है— $CaCO_3 = 84\%$, $MgCO_3 = 3\%$, $SO_2 = 10\%$ तथा अन्य गौण सघटक भी मिलते है। औसत वार्षिक वर्षा 850 मिलीमीटर है जिसका 80% से अधिक भाग मानसून महीनो मे प्राप्त होता है। कन्दरा की लम्बाई 1500 मीटर बतायी जाती है परन्तु इसका मात्र 500 मीटर तक ही अध्ययन किया जा सका है। यह कन्दरा



1 $CaCO_3 + CO_2 + H_2O = Ca(HCO_3)_2$
Calcium carbonate, Carbon dioxide, water, Calcium bicarbonate

2. शुद्ध जल से, कार्बन डाइ-आक्साइड गैस से युक्त जल मे और घुलनशीलता होती है।

3 पोनोर, क्रूपक (नलिका) को कहते है, जो लम्बवत् या कुछ झुकी होती है। यह कन्दरा को विलयन छिद्र (Swallow holes) से या सीधे सतह से मिलाता है। पोनोर द्वारा कन्दरा को जल मिलता है। सर्बिया में इसे पोनोर तथा फ्रान्स मे अवेन्स (Avens) कहते हैं।

गैलरी प्रकार की है। मसपुरवा नाला के पास कन्दरा के द्वार के चौखट (threshold) का तल उक्त नाले के तल से 4.5 मीटर ऊँचा है परन्तु कन्दरा के अन्दर जाते ही उसके फर्श का तल मसपुरवा नाला की तली (bed) से मात्र 0.5 मीटर ही ऊँचा है। कन्दरा की दिशा का निर्धारण प्रिज्मेटिक कम्पस से किया गया है अतः यह चुम्बकीय उत्तर के सन्दर्भ में है।

कन्दरा द्वार से 6 मीटर अन्दर जाने पर दिशा उत्तरी-पूर्वी (70°) हो जाती है जबकि 11 मीटर (80°) तथा 21 मीटर (85°) पर यह प्रायः पूर्वी हो जाती है। 66 मीटर की दूरी पर दिशा पूर्ण पूर्वी (90°) हो जाती है। 82 मीटर की दूरी पर दिशा पुनः उत्तरी-पूर्वी (65°) हो जाती है जहाँ से यह उत्तर की ओर मुड़ जाती है। द्वार से 82 मीटर की दूरी तक कन्दरा की फर्श असमान तथा ऊबड़-खाबड़ है। द्वार के पास चौड़ाई 2.1 मीटर है तथा आगे चलने पर चौड़ाई 1.0 मीटर से 6 मीटर के बीच बदलती रहती है। कहीं-कहीं पर यह इतनी संकरी हो जाती है कि लेट कर ही आगे बढ़ा जा सकता है।

82 मीटर की दूरी पर कन्दरा कई शाखाओं में विभक्त हो जाती है तथा चौराहे का निर्माण हुआ है। मुख्य शाखा द० पू० (145°) की ओर मुड़ जाती है। इसी शाखा में आगे चलने पर इसकी चौड़ाई सर्वाधिक हो जाती है तथा यहीं पर स्टैलेग्माइट की शिवलिंग के रूप में पूजा की जाती है। **कन्दरा चौराहा** (Cave crossing) के आगे जाने पर कन्दरा को पातालगंगा कहते हैं। कन्दरा की अन्य शाखाओं (galleries) को कुंज गली, महायोनि और गुम्हा (गुफा) कहा जाता है। जहाँ पर पाँच स्टैलेग्माइट की स्थिति है उसे पंचपाण्डव कहते हैं। यहाँ पर कन्दरा चौड़ी हो गयी है। इसके आगे वाले भाग को **घोड़चौरा** कहते हैं। यह भाग चौड़ा तथा विस्तृत है एवं कन्दरा की फर्श असमान है जिस पर अपरदन के कारण छोटे-छोटे गर्त (pits) बन गये हैं जो घोड़े की खुर (hoofs) के निशान जैसी दीखती है। कन्दरा चौराहे से उत्तर की ओर जाने वाली गैलरी को तुलसी चौरा कहते हैं। इसे नाच घर भी कहा जाता है।

कन्दरा की आकारिकी

गुप्तधाम कन्दरा गैलरी कैवर्न (galleried cavern) के रूप में है। फर्श ऊबड़-खाबड़ (undulating) है। बरसात के समय कहीं-कहीं पर घुटने तक पानी इकट्ठा हो जाता है। फर्श पर कैल्सियम कार्बोनेट ($CaCO_3$) के जमाव के अलावा लाल रंग की मिट्टी तथा मृत्तिका (clay) के जमाव भी मिलते हैं। ये पदार्थ कन्दरा के सबसे ऊपर स्थित लौहयुक्त बालुका पत्थर से रिसते जल द्वारा लाए गये हैं। कन्दरा का आकार प्रायः मेहराब जैसा है जिसकी दीवालें असमान तथा नालीदार या लहरनुमा (corrugated) हैं जो जल के विलयन कार्य (*solution work*) के कारण निर्मित हुई हैं। फर्श पर विभिन्न आकार तथा ऊँचाई वाली स्टैलेग्माइट (कुछ इंच से लेकर 12 फीट तक) का निर्माण हुआ है। छत से असंख्य सूचिका (needle) के आकार से लेकर 3 फीट की लम्बाई वाली स्टैलेक्टाइट लटकती हैं। कन्दरा चौराहे के पास 12 फीट की ऊँचाई वाली वृहदाकार स्टैलेग्माइट का निर्माण हुआ है जो कि छत से लटकती स्टैलेक्टाइट के करीब हो गयी है। निकट भविष्य में कन्दरा स्तम्भ के निर्मित हो जाने की सम्भावना है। फर्श के पास किनारे की दीवालों में चूनापत्थर के मोटे स्तर प्रायः क्षैतिज अवस्था में मिलते हैं यद्यपि ऊपरी भाग में ये स्तर झुके हुए हैं।

कन्दरा की उत्पत्ति

कन्दरा की दीवाल से लिए गये चट्टान के नमूने का हाइड्रोक्लोरिक एसिड (HCl) टेस्ट करने के बाद पता चला कि इसमें कैल्सियम कार्बोनेट ($CaCO_3$) की मात्रा अपेक्षाकृत कम है तथा और पदार्थों की मात्रा अधिक है। इसका कारण यह हो सकता है कि दीवार में से कैल्साइट का अंश घुलने के कारण अलग हो गया है। छत से लटकने वाली स्टैलेक्टाइट के सैम्पुल का HCl टेस्ट के बाद ज्ञात हुआ कि यह शुद्ध कैल्साइट ($CaCO_3$) है जिसमें CaO की मात्रा 56% तथा CO_2 की मात्रा 44% है। HCl टेस्ट के समय निम्न ऊष्मा उत्सर्जी अभिक्रिया (exothermic) होती है–



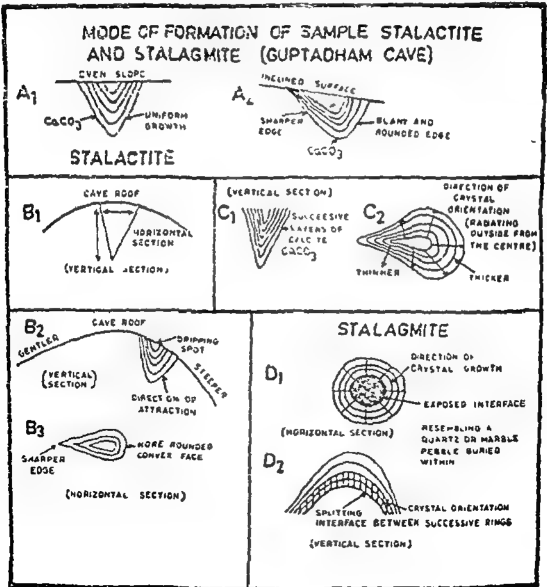
$$CaCO_3 + HCl \rightarrow CaCl_2 \downarrow + CO_2 \uparrow + H_2O$$

कैल्साइट के अलावा सिलिका तथा फेरिक तत्त्वों की अशुद्धियाँ भी मिली हैं। स्टैलेग्माइट के HCl टेस्ट के बाद ज्ञात हुआ कि यह भी स्टैलेक्टाइट के समान ही शुद्ध कैल्साइट है (CaO = 56% तथा CO_2 = 44%) परन्तु खनिज संघटन (composition) में इसका अन्तर पाया गया। कन्दरा की छत से रिसते जल के रासायनिक विश्लेषण से पता चला (सितम्बर मास में लिया गया सैम्पुल) कि उसमें $CaCO_3$ 419 ppm तथा pH

8 2 है जबकि फर्श से लिये गये जल मे $CaCO_3$, 390 ppm तथा pH, 7 6 है।

गुप्ताधाम कन्दरा का निर्माण वास्तविक कार्स्ट प्रदेशो की कन्दराओ के समान नहीं हुआ है क्योंकि इस कन्दरा के सबसे ऊपरी भाग पर बालुका पत्थर की मोटी परत का आवरण है जिस पर किसी भी तरह के सिंक या विलयन रंध्र की पूर्ण अनुपस्थिति है। गुप्तेश्वर पहाड़ी (जिसके नीचे कन्दरा निर्मित हुई है) के ऊपर कोई सरिता भी नहीं है। पहाड़ी के ऊपरी भाग पर वर्षा के जल का कुछ भाग के बालुका पत्थर की संधियो के सहारे रिसकर नीचे जाने तथा शेल की पतली परत को घुलाने के बाद नीचे स्थित चूना पत्थर की मोटी परत के घुलने के कारण इस कन्दरा का निर्माण हुआ है। यह प्रक्रिया अब भी जारी है जिस कारण कन्दरा का निरन्तर विस्तार हो रहा है। ऊपर स्थित बालुका प्रस्तर के मोटे आवरण के कारण छत के ध्वस्त होने की फिलहाल कोई सम्भावना नहीं है।

छत से लटकते स्टैलेक्टाइट छत के पास मोटे है तथा नीचे की ओर नुकीले होते जाते है (चित्र 290, C1 तथा C2)। कन्दरा की छत कही भी समान नही



चित्र 290—गुप्ताधाम कन्दरा मे स्टैलक्टाइट तथा स्टैलेग्माइट के निर्माण तथा विकास का आरेखीय प्रदर्शन।

है बल्कि इसका एक ओर का भाग तीव्र तथा दूसरा मन्द ढाल वाला है (चित्र 290, A2 तथा B2)। सम्पृक्त घोल (saturated solution) कन्दरा की असमान छत से बूंद के रूप में चूता (drip) है।

कन्दरा की छत का अधिक झुका हुआ भाग (तीव्र ढाल) छत से चूने वाली घोल बूंदों (solution drops) में झुकाव कर देता है। परिणामस्वरूप ये बूंदें गुरुत्व खिंचाव (gravity pull) के कारण तीव्र ढाल वाली छत की ओर झुकने के कारण लम्बी (elongate) होती हैं। इस तरह $Ca\,CO_3$ के जमाव के कारण स्टैलैक्टाइट का सकेन्द्रीय छल्लों (Concentric rings) के रूप में निर्माण होता है जिसका मन्द ढाल वाली छत की ओर वाला भाग तेज (sharp) तथा तीव्र ढाल की ओर वाला भाग गोलाकार होता जाता है (चित्र 290, A2 तथा B2)। यदि कन्दरा की छत समान (even) होती तो चित्र 290 की A1 तथा B1 की स्थिति होती। परन्तु गुलाधाम कन्दरा में यह स्थिति नहीं है। सामान्य रूप में यह कहा जा सकता है कि सम्पृक्त घोल कन्दरा की छत से बूंद के रूप में चूता (drip) है जो जल में कमी होने तथा वाष्पीकरण के फलस्वरूप अतिसतृप्त (super saturated) हो जाता है तथा अन्त में रवीकरण (crystallize) होने पर ठोस हो जाता है तथा स्टैलैक्टाइट का निर्माण प्रारम्भ हो जाता है। इस तरह स्टैलैक्टाइट के बन जाने पर सपृक्त घोल की बूंदें उसके किनारों से सरक कर उसके निचले नुकीले भाग पर रवीकृत होकर जम जाती है तथा स्टैलैक्टाइट का विस्तार (लम्बाई तथा मोटाई में) होता जाता है। छत से चूने वाली कैल्सियम बाई-कार्बोनेट की बूंदें फर्श पर आ गिरती हैं तथा वहां जमकर रवीकरण के बाद स्टैलैग्माइट का निर्माण करती हैं। इस कन्दरा में निर्मित स्टैलैग्माइट में सकेन्द्रीय छल्ले (concentric rings) पाये जाते हैं जो विभिन्न वर्षों में अपने विकास की अवस्थाओं को प्रदर्शित करती हैं (चित्र 290 D1 तथा D2)।

प्राकृतिक पुल (Natural Bridges)—प्राकृतिक पुल का निर्माण भी एक विवादग्रस्त समस्या है परन्तु स्थानाभाव के कारण इससे सम्बन्धित सिद्धान्तों का उल्लेख यहाँ पर नहीं किया जा सकता है। सामान्य रूप में प्राकृतिक पुलों का निर्माण दो रूपों में होता है—1 कन्दरा की छत ध्वस्त हो जाने पर उसका कुछ अवशिष्ट भाग एक पुल के रूप में बचा रहता है। 2 लाइमस्टोन क्षेत्र में नदी विलयन छिद्र (Swallow holes) में होकर जब लुप्त हो जाती है तो वह नीचे आन्तर अपघर्षण तथा घुलन-क्रिया द्वारा कन्दरा का निर्माण करती हुई पुन सतह पर प्रकट होती है। जब इस कन्दरा की छत नीचे धसक जाती है तो उस छत का शेष भाग, जो कि कन्दरा के दो पार्श्वों को जोड़ता है प्राकृतिक पुल कहा जाता है। प्राकृतिक पुल का निर्माण अपरदन के कई कारकों द्वारा कई रूपों में होता है।[1] अत लाइमस्टोन-क्षेत्र में घुलनक्रिया द्वारा निर्मित इस प्रकार के पुल को कार्स्ट पुल (Karst bridge) कहा जाता है। सयुक्त राज्य अमेरिका के वर्जीनिया प्रान्त का नेचुरल ब्रिज (Natural bridge) प्राकृतिक पुल का सर्वोत्तम उदाहरण है। प्राकृतिक पुल के निर्माण के विषय में मैलकाट महोदय का सिद्धान्त उडवर्ड महोदय का 'भूमिगत सरिता-अपहरण सिद्धान्त" (Subterranean Stream Piracy Theory) तथा मैलाट एव श्राक का 'भूमिगत सरिता छाड़न सिद्धान्त" (Subterranean stream cut off Theory) अधिक प्रचलित है। प्राकृतिक सुरंग (Natural tunnel) तथा प्राकृतिक पुल में सामान्य अन्तर यह है कि नदी का मार्ग जब भूमिगत हो जाता है तो प्राकृतिक सुरंग का निर्माण होता है। इस सुरंग का प्रयोग प्राय भूमिगत रूपों के लिए किया जाता है। जब प्राकृतिक सुरंग इतनी छोटी हो जाती है कि वह कन्दरा के दोनों पार्श्वों का मात्र जोड़ती है तो उसे



चित्र 291 —प्राकृतिक पुल के निर्माण की अवस्थायें।

1 टामस जेफरसन ने बताया है कि प्राकृतिक पुल प्रकृति के प्रकम्पन (Convulsion) का परिणाम है अर्थात् इसका निर्माण अचानक हो जाता है। इस तरह जेफरसन आकस्मिकवाद (catastrophism) से प्रभावित दीखते हैं। गिलमर ने इसका विरोध किया तथा बताया कि प्राकृतिक पुल का निर्माण जल की घुलन क्रिया द्वारा होता है। गिलमर के विचार को निम्न पेपर में देखा जा सकता है—Gilmer, F. W (1818) – On the geological formation of the Natural Bridge of Virginia, Amer Phil Soc, Trans 1, pp. 178-192

प्राकृतिक पुल कहते हैं। सड़कों के लिये ये प्राकृतिक पुल, पुल का कार्य करते हैं।

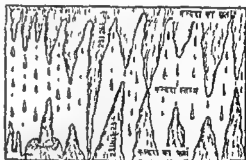
निक्षेपात्मक स्थलरूप (Depositional Land forms)

भूमिगत जल द्वारा निक्षेपात्मक कार्य का विवरण ऊपर दिया जा चुका है। कार्स्ट प्रदेश में निक्षेप द्वारा कन्दराओं में विचित्र प्रकार के स्थलरूपों का निर्माण होता है। कन्दराओं के अन्तर्गत जब जल का वाष्पीकरण होने लगता है, या उसमें मिश्रित कार्बन डाइ-आक्साइड गैस अलग होने लगती है तो जल की घोलक शक्ति में कमी आ जाने के कारण कैलसियम कार्बोनेट का निक्षेप होने लगता है। निक्षेप द्वारा निर्मित स्थलरूपों में स्टैलेक्टाइट (Stalactite) तथा स्टैलेग्माइट (Stalagmite) अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। कन्दराओं में चूनेदार अथवा कैलसियम युक्त निक्षेप (Calcareous deposites) को ट्रैवर्टाइन (Travertine) कहते हैं।

स्टैलेक्टाइट (Stalactite)—भूमिगत कन्दराओं में जब या तो समस्त जल तिरोहित हो जाता है या भौम-जलस्तर के नीचे हो जाने से जल तल नीचा हो जाता है तो कन्दरा की ऊपरी छत से जल रिस कर नीचे टपकने लगता है। यह जल अपने साथ घुलन क्रिया द्वारा प्राप्त पदार्थों को भी समाविष्ट किये रहता है। परन्तु जब अधिक ताप के कारण वाष्पीकरण के फलस्वरूप जल सूखने लगता है या उससे कार्बन डाई-आक्साइड गैस मुक्त हो जाती है तो जल की घुलन-शक्ति तथा पदार्थों को धारण करने की शक्ति घट जाती है। परिणाम-स्वरूप कन्दरा की छत के निचले स्तर पर पदार्थों का निक्षेप होने लगता है। यह निक्षेप लम्बे किन्तु पतले स्तम्भों के रूप में होता है जो कि कन्दरा की फर्श की ओर बढ़ते जाते हैं। इन लटकते हुये स्तम्भों को **स्टैलेक्टाइट** या **आश्चुताश्म** कहा जाता है। चूंकि ये स्तम्भ ऊपर से नीचे की ओर लटकते रहते हैं, अत इनको **आकाशोस्तम्भ** की भी संज्ञा प्रदान की जाती है। ये स्तम्भ कन्दरा की छत के पास मोटे तथा चौड़े किन्तु नीचे की ओर पतले होते जाते हैं। इन्हें **अयस्तंभ** भी कहते हैं।

स्टैलेग्माइट (Stalagmite)—कन्दरा की छत से रिसने वाले जल की मात्रा यदि कुछ अधिक होती है तो वह सीधे टपक कर कन्दरा के फर्श पर पहुँच जाता है। इस तरह कन्दरा के फर्श पर निक्षेपात्मक स्तम्भ का निर्माण प्रारम्भ हो जाता है। धीरे-धीरे निक्षेप द्वारा इन स्तम्भों की ऊँचाई ऊपर की ओर बढ़ती जाती है। इस प्रकार के स्तम्भों को **स्टैलेग्माइट** या **निश्चुताश्म** कहते हैं। आधार पर ये मोटे तथा विस्तृत होते हैं परन्तु ऊपर की ओर पतले तथा नुकीले होते हैं। इनकी ऊँचाई निरन्तर ऊपर की ओर बढ़ती जाती है।

कन्दरा स्तम्भ (Cave pillars)—स्टैलेग्माइट की अपेक्षा स्टैलेक्टाइट अधिक लम्बे होते हैं। निरन्तर लम्बाई में वृद्धि के कारण स्टैलेक्टाइट बढ़ कर कन्दरा की फर्श पर पहुँच जाते हैं। इस तरह एक ऐसे स्तम्भ का निर्माण हो जाता है जो कि कन्दरा की छत को उसकी फर्श से मिलाता है। इस स्तम्भ को **कन्दरा स्तम्भ** कहते हैं। कन्दरा स्तम्भ का निर्माण अन्य रूप में भी होता है। स्टैलेक्टाइट तथा स्टैलेग्माइट निरन्तर बढ़ते रहते हैं तथा एक दूसरे से मिलकर एक हो जाते हैं। परिणामस्वरूप कन्दरा स्तम्भ का निर्माण होता है। स्टैलेक्टाइट तथा स्टैलेग्माइट के मिलने से कन्दरा स्तम्भों का निर्माण



चित्र 292—स्टैलेक्टाइट तथा स्टैलेग्माइट का निर्माण।

अधिक स्वाभाविक होता है। संयुक्त राज्य अमेरिका के न्यूमेक्सिको प्रान्त की कार्ल्सबाद कन्दरा में हजारों की संख्या में कन्दरा स्तम्भ मिलते हैं। इस कन्दरा में एक स्टैलेग्माइट का आधार 60 मीटर तथा ऊँचाई 30 मीटर तक है। यदि स्टैलेग्माइट अधिक मोटे होते हैं तो उनकी अपेक्षा स्टैलेक्टाइट अधिक लम्बे किन्तु पतले होते हैं।

कार्स्ट प्रदेश में अपरदन-चक्र (कार्स्ट-चक्र) (Cycle of Erosion in Karst Region or Karst Cycle)

सामान्य परिचय— अन्य अपरदन के कारकों के समान चूने की चट्टान वाले प्रदेश में भी भूमिगत जल के अपरदन-चक्र का अध्ययन किया गया है। अधिकांश विद्वानों ने कार्स्ट प्रदेश में अपरदन-चक्र के पक्ष में सह-

मति प्रकट की है। इस अपरदन-चक्र मे सबसे प्रमुख बात यह है कि एक ही प्रकार की संरचना वाली चट्टान (लाइमस्टोन) पर अपरदन के एक ही प्रमुख रूप (घुलन-क्रिया) तथा गौण रूप मे अपघर्षण (Corrasion) द्वारा अपरदन होता है, अतः चक्र की विभिन्न अवस्थाओं एवं उनमे उत्पन्न स्थलरूपों की पहचान तथा अध्ययन सरल होता है। सर्वप्रथम 1911 मे अमेरिकन विद्वान **बीडो** ने चूने की चट्टान वाले भाग मे अपरदन चक्र के विचारों को एक "पेपर" के रूप मे प्रकाशित किया परन्तु इस "पेपर" के पूर्णतया प्रकाश मे न आने के कारण विद्वानों का ध्यान उधर नहीं जा सका। पुनः सात वर्ष बाद **स्वीजिक महोदय** (Cvijic Jovan) ने सन् 1918 मे सर्वप्रथम कार्स्ट प्रदेश मे चक्रीय व्यवस्था का विवरण "Hydrographic souterraine et evolution morphlogique du karst" नामक एक लेख मे प्रकाशित किया। इस तरह स्वीजिक महोदय को ही कार्स्ट प्रदेश मे 'अपरदन चक्र' की विचारधारा का प्रतिपादक स्वीकार किया जाना चाहिए। **डेविस महोदय** (1930) ने इस चक्रीय व्यवस्था को बहुत ही कम महत्त्व प्रदान किया है। डेविस ने कार्स्ट चक्र को 'सामान्य अपरदन चक्र' (Normal cycle of erosion) की ही एक अवस्था प्रौढावस्था माना है तथा इनके अनुसार इस अवस्था का विकास विशेष रूप मे एक विशेष प्रकार की संरचना वाले (चूने का पत्थर) भाग मे होता है। इस विचारधारा के पक्ष मे प्रमुख तर्क यह है कि कार्स्ट-चक्र 'पृष्ठीय अपवाह' (Surface drainage) मे प्रारम्भ होता है तथा पृष्ठीय अपवाह के साथ समाप्त भी हो जाता है। इस तरह कार्स्ट-चक्र को अपरदन के सामान्य चक्र की ही एक अवस्था मानना चाहिए। चक्र का प्रारम्भ वास्तव मे पृष्ठीय नदियों के भूमिगत होने से प्रारम्भ होता है तथा उसका अन्त पुनः भूमिगत नदियों के सतह पर प्रकट होने मे होता है। यद्यपि डेविस के कथन मे सत्यता है परन्तु 'कार्स्ट' अपरदन चक्र को अलग ही समझना चाहिए।

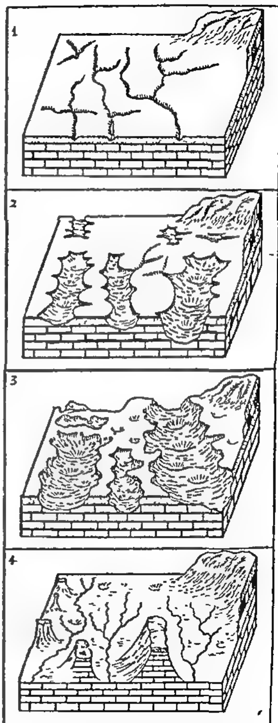
कार्स्ट-चक्र की सामान्य दशायें कार्स्ट-चक्र का आरम्भ किस रूप मे हो यह भी विवादग्रस्त समस्या है। कार्स्ट-चक्र दो प्रकार की संरचना वाले भागों मे प्रारम्भ हो सकता है—1 जिस भाग मे सतह पर तथा सतह के नीचे लाइमस्टोन की मोटी परत का विस्तार होता है। इस तरह की संरचना वाले भाग मे चक्र शीघ्र प्रारम्भ हो जाता है। इस तरह की संरचना वाले भाग मे शीघ्र प्रारम्भ हो जाता है तथा वह सरल होता है। पृष्ठीय अपवाह के साथ ही **विलयन छिद्र** (Swallow holes) तथा डोलाइन का निर्माण होता है जिनमे होकर **पृष्ठीय नदियों** (Surface streams) का जल नीचे जाकर भूमिगत जल का रूप धारण करता है। 2 जिस भाग मे लाइमस्टोन चट्टान के ऊपर शैल, बालुका पत्थर आदि अपारगम्य चट्टानों का मोटा आवरण होता है तो पृष्ठीय नदियों के लिए शीघ्रता से नीचे पहुचना कठिन होता है। इस क्षेत्र मे **कार्स्ट-चक्र** के लिए आवश्यक है कि उस भाग का उत्थान जिससे नदियां पुनर्युवनित होकर (Rejuvenated) लाइमस्टोन शैल के ऊपर स्थित **क्लैस्टिक चट्टान** (Clastic rock) के आवरण को काट कर समाप्त कर दें। इसके बाद ही पृष्ठीय नदियां लाइमस्टोन शैल पर पहुँचती हैं जहां पर असंख्य विलयन छिद्र (Swallow holes) डोलाइन आदि का निर्माण होता है तथा चक्र का प्रारम्भ **कार्स्ट घाटी** से होता है। इन घाटियों के विस्तार के साथ **सिंक मैदान** या **कार्स्ट मैदान** का विकास होता है जिनमें असंख्य विलयन छिद्र तथा डोलाइन से होकर पृष्ठीय जल भूमिगत जल का रूप धारण करता है। उपर्युक्त स्थिति मे केवल सामान्य संरचना अर्थात् क्षैतिज अवस्था मे स्थित लाइमस्टोन की परतों वाली संरचना की ही कल्पना की गई है। इसके विपरीत कार्स्ट चक्र का विकास अन्य दो प्रकार की संरचना पर भी होता है 1 वलित स्तर वाला लाइमस्टोन क्षेत्र तथा 2 भ्रंशित स्तर वाला लाइमस्टोन क्षेत्र। इनमें से प्रथम प्रकार की संरचना पर कार्स्ट चक्र का विकास युगोस्लाविया मे तथा द्वितीय संरचना पर चक्र का विकास दक्षिणी फ्रान्स मे हुआ है।

बीडो का कार्स्ट चक्र बीडो महोदय (J W Beede) ने सन् 1911 ई० मे कार्स्ट चक्र पर अपने विचारों को एक लेख के रूप मे प्रकाशित किया। [illegible] ने अपने कार्स्ट चक्र को अन्य चक्रों के समान चार अवस्थाओं मे विभक्त किया है—1 तरुणावस्था [illegible] डोलाइन तथा विलयन छिद्रों द्वारा पृष्ठीय जल (Surface water) सतह के नीचे जाकर भूमिगत जल (Subterranean water) का रूप धारण करता है। 2 प्रौढ़ावस्था या प्रौढ़ावस्था [illegible] विलयन छिद्र [illegible] इन आदि का अधिक संख्या मे [illegible] गहरी घाटियों का [illegible] पृष्ठीय [illegible]

गत अपवाह का रूप धारण कर लेता है। धसती निवेशिकायें (Sinking creeks), विलयन छिद्र, अधी घाटी (Blind valley), डोलाइन आदि का निर्माण हजारो की सख्या मे होता है। 3 जीर्णावस्था—भूमिगत जलधारा पुन सतह पर प्रकट हो जाती है। कार्स्ट खिडकी (Karst window), प्राकृतिक पुल (Natural Bridges), कार्स्ट सुरग (Karst tunnels), हम्स (Hums) आदि का विकास होता है, जो कि चक्र की समाप्ति के परिचायक होते हैं।

स्वीजक का कार्स्ट-चक्र (Karst Cycle of Cvijic)—स्वीजिक महोदय ने 1918 ई० में अपने व्यवस्थित कार्स्ट चक्र का प्रतिपादन किया। **सैण्डर्स महोदय** (E W Sanders) के अनुसार स्वीजिक ने अपने कार्स्ट-चक्र मे चार अवस्थाओ का उल्लेख किया है—1 **तरुणावस्था** चक्र की प्रथमावस्था उन स्थलखण्ड पर प्रारम्भ होती है जिस पर या तो शुद्ध लाइमस्टोन की शैल का आवरण सतह पर तथा सतह के नीचे हो या तो जिस पर लाइमस्टोन के ऊपर **क्लैस्टिक** शैल का आवरण हो परन्तु अपरदन द्वारा कट गया होता या लाइमस्टोन शैल ऊपर आ गई हो। इस प्रकार के स्थलखण्ड पर सर्वप्रथम पृष्ठीय अपवाह (Surface drainage) का विकास होता है। धीरे-धीरे-पृष्ठीय जल रिस करके सतह के नीचे भूमिगत जल का रूप धारण करने लगता है। घोलछिद्र (Sink holes), विलयन छिद्र (Swallow holes) डोलाइन आदि का निर्माण छिट-पुट रूप मे होता है। लैपीज (Lapies) का निर्माण इस अवस्था की मुख्य विशेषता है। यद्यपि इस अवस्था मे कन्दरा का निर्माण प्रारम्भ हो जाता है परन्तु किसी भी बडी कन्दरा का निर्माण नही हो पाता है। सतह की जलधारा पूर्ण रूप से भूमिगत जल धारा का रूप धारण नही कर पाती है। **स्वीजिक** महोदय ने तरुणावस्था को एक ही इकाई के रूप मे प्रस्तुत किया है। परन्तु **लोबेक महोदय** ने तरुणावस्था को दो भागो मे विभक्त किया है—प्रारम्भिक तरुणावस्था तथा अन्तिम तरुणावस्था।

2 **प्रौढ़ावस्था** (Maturity)—तरुणावस्था के समय का पृष्ठीय जल इस अवस्था मे अधिकाश रूप मे भूमिगत रूप धारण कर लेता है। पृष्ठीय जलधारायें इस सीमा तक सतह के नीचे तिरोहित हो जाती हैं कि सतह पर उनका जल धँसती निवेशिकाओ के रूप में ही रह जाता है। इन निवेशिकाओं का अन्त एक विलयन छिद्र पर हो



(लोबेक के आधार पर)

चित्र 293—कार्स्ट अपरदन-चक्र की क्रमिक अवस्थायें

जाता है, जहाँ पर अधो घाटियों का निर्माण होता है। कन्दराओं का निर्माण बड़े पैमाने पर होता है। वास्तव मे इस अवस्था मे कार्स्ट स्थलाकृति का सर्वाधिक विकास होता है।

3 **अन्तिम प्रौढ़ावस्था** (Late maturity)-प्रौढावस्था के समय सर्वाधिक विकसित कार्स्ट स्थलरूपो का इस अवस्था मे विनाश प्रारम्भ हो जाता है। कन्दराओं का कुछ भाग नीचे धँस जाता है, जिससे कार्स्ट खिडकी का निर्माण होता है। कार्स्ट खिडकियो से भूमिगत जलधारा आंशिक रूप मे दृष्टिगोचर होती है। कार्स्ट खिडकियाँ आकार में बढ कर युवाला (Uvalas) का रूप धारण कर लेती हैं। कन्दराओं के धँसाव हो जाने तथा युवाला के परस्पर मिल जाने के कारण पोलिये (Polje) का निर्माण हो जाता है तथा स्थलखण्ड समप्राय भूमि (Peneplain) के रूप मे आने लगता है। विभेदक अपरदन (Differential erosion) के फलस्वरूप लाइमस्टोन के कुछ भाग अवशिष्ट रह जाते है। इन्हे हुम्स (Hums) कहते है। इनका निर्माण खास कर पोलिये की फर्श पर होता है।

4. **जीर्णावस्था** (Old Stage)--स्वीजिक के अनुसार जीर्णावस्था मे स्थलखण्ड अपने आधार तल (Base level) तक कट कर नीचा हो जाता है। सतह पर धँसती निवेशिकायें तथा अधो घाटियाँ तिरोहित हो जाती है। भूमिगत जलधारायें सतह पर प्रवाहित होने लगती है। यत्र-तत्र चूने की शैल के कुछ अवशिष्ट भाग हुम्स (Hums) के रूप मे दिखाई पड़ते है।

यह आवश्यक नही है किसी कार्स्ट प्रदेश के समस्त भाग तरुणावस्था प्रौढावस्था तथा जीर्णावस्था मे साथ-साथ अग्रसर हो। एक स्थान पर यदि तरुणावस्था है तो उसी के पास दूसरे स्थान पर प्रौढावस्था हो सकती है। यह भी आवश्यक नहीं है कि कोई भी भाग चक्र की तीनो अवस्थाओं से होकर गुजरे हो। तरुणावस्था के बाद जीर्णावस्था भी आ सकती है। चक्र की अवस्थायें तथा उनका स्वभाव लाइमस्टोन शैल तथा भूमिगत जल के स्वभाव पर आधारित होता है।

अध्याय 23

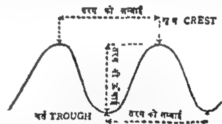
तटीय भू-आकारिकी

(Coastal Geomorphology)

(सागरीय जल का कार्य तथा तटीय दृश्यावली)

सामान्य परिचय—सागरीय जल का कार्य कई कारकों द्वारा सम्पन्न होता है—उदाहरण के लिये सागरीय लहर (Sea waves), धारायें (Currents), ज्वारीय तरंग (Tidal waves) तथा सुनामिस (Tsunamis—सागर-स्थित भूकम्पीय तरंग)। यद्यपि सागर-तटीय दृश्यावली के सृजन में सागरीय लहरों का सर्वाधिक महत्त्व होता है परन्तु सभी कारकों का सामान्य परिचय आवश्यक है। सागरीय लहरें सागर-तटीय भाग पर अपरदनात्मक कार्य में सबसे अधिक सहयोग प्रदान करती हैं। सागर या झीलों में लहरों का आविर्भाव कई कारणों से होता है परन्तु इनमें पवन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। पवन सागरीय जल की सतह पर रगड़ (Friction) द्वारा लहरों का सृजन करती है। इतना ही नहीं पवन द्वारा उत्पन्न लहरों में गति का भी संचार होता है। लहरें सागरीय जल की सतह के समानान्तर नहीं होती हैं वरन् उनका कुछ भाग ऊपर उठ जाता है तथा कुछ भाग नीचा हो जाता है। इस तरह लहरों का सबसे ऊँचा उठा हुआ भाग शीर्ष (Crest) कहलाता है तथा सबसे नीचे का दबा भाग गर्त (Trough) कहलाता है। दो शीर्षों के बीच या दो गर्तों के बीच की क्षैतिज दूरी को लहर की लम्बाई (Length of waves) कहते हैं। लहर के आगे बढ़ने की गति को **लहर वेग** (Wave Velocity) तथा दो क्रमबद्ध शीर्षों या गर्तों (Two consecutive crests or troughs) के गुजरने के समय को लहर-अवधि (Wave period) कहते हैं। क्रेस्ट को शीर्ष की अपेक्षा शृंग का कहना अधिक श्रेयस्कर होगा। लहर की लम्बाई, ऊँचाई आदि जल की गहराई, पवन-वेग, जलविस्तार आदि तथ्यों पर आधारित होती है। यद्यपि पवन-वेग द्वारा लहरों का आकार निर्धारित होता है, परन्तु अधिक गहरे जल में लहरों का आकार सर्वाधिक होता है। 16 मीटर तक की ऊँचाई वाली लहरों का अध्ययन किया गया है। विशेष परिस्थितियों में इससे ऊँची भी लहरें हो सकती हैं। सागरीय जल के विस्तार द्वारा भी लहरों का आकार निश्चित होता है। जिस जलस्तर पर होकर लहरें अग्रसर होती हैं उसे फेच (Fetch) कहते हैं। अधिक विस्तृत फेच पर विस्तृत आकार वाली लहरों का आविर्भाव होता है। प्रयोगशाला में किये गये प्रयोग के अनुसार यदि 1500 किलोमीटर की दूरी तक विस्तृत फेच पर पवन का प्रवाह 105 किलोमीटर प्रति घण्टे के हिसाब से 50 घण्टे तक है तो 20 मीटर ऊँची लहर का सृजन (सैद्धान्तिक रूप में) हो सकता है।

लहरें कई प्रकार की होती हैं—1. **दोलन या दोलायमान लहर** (Waves of oscillation)—इन लहरों का सृजन अधिक गहरे जल वाले फेच में होता है। इस प्रकार की लहरों में जल की प्रत्येक बूंद वृत्ताकार रूप में गतिशील होती है। इस लहर में जल की गति, लहर शृंग पर आगे की ओर, अग्रभाग में ऊपर की ओर, लहर-गर्त में पीछे की ओर तथा पृष्ठ भाग में नीचे की ओर होती है। सैद्धान्तिक रूप में दोलन लहरें स्थिर होती हैं, परन्तु वास्तव में इनमें भी आगे की ओर कुछ गति अवश्य होती है। पवन वेग के साथ पवन-दिशा में ये लहरें

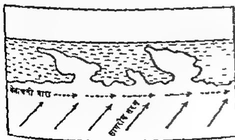


चित्र 294—सागरीय तरंग के सामान्य रूप।

निश्चय ही आगे की ओर बढ़ती है। अन्य रूप में भी इन लहरों में आगे की ओर गति होती है। उदाहरण के लिये लहर के जल की बूंद अपने कक्ष का एक चक्कर पूरा कर लेने पर अपने पहले वाले स्थान से कुछ आगे पहुँच जाती है। इसी तरह गर्त की अपेक्षा शृंग में जल की गति आगे की ओर अधिक होती है। प्रस्तुत अध्याय में तरंग तथा लहर को समानार्थक रूप में प्रयुक्त किया जा रहा है। 2. **स्थानान्तरणी तरंग** (Waves of translation)—इसे **एकशृंगी तरंग** (Solitary wave) भी कहा जाता है। यह दोलन तरंग से कई माने में

भिन्न होती है। इस तरंग मे जल-गति, तरंग संचरण-दिशा (Wave propagation) मे होती है। इस तरंग के अन्तर्गत ऊपरी सतह से लेकर सागर तली तक का समस्त जल एक ही दिशा (तरंग-सचरण दिशा) मे गतिशील होता है। इस कारण स्थानान्तरणी तरंगे दोलन तरंगो से अपरदनात्मक कार्य मे अधिक महत्त्वपूर्ण होती हैं।

सागरीय तरंगें प्रायः सागरीय तट की ओर अग्रसर होती हैं। जैसे जैसे ये तट के निकट होती जाती है, जल की गहराई कम होती जाती है। इस कारण निचले जल मे तरंग का निचला भाग तली मे रगड़ खाकर आगे बढ़ता है, परन्तु इस अग्रिम गति मे रगड़ के कारण रुकावट होती है। इस कारण लहरो की ऊँचाई अधिक तथा लम्बाई कम होने लगती है। तरंग-शृंग की ऊँचाई अधिक हो जाने से वह टूट कर आगे गिरता है तथा तट की ओर चलता है। इस टूटी हुई जल की तरंग को सर्फ (Surf), ब्रेकर (Breaker) या स्वास (Swash) कहते हैं। तट मे टकरा कर जल पीछे की ओर लौटता है, परन्तु यह जल तट की ओर आने वाली तरंग के नीचे होकर पीछे लौटता है। इस तरंग-प्रवाह को अधः प्रवाह (Undertow or back wash) कहते हैं, क्योंकि इसमे जल पीछे की ओर लौटता है। यह अधः प्रवाह तटीय भाग पर अपरदन द्वारा उत्पन्न कंकड़-पत्थर आदि पदार्थों को अपने साथ बहाकर सागर की ओर लाता है। इस तरह अधः प्रवाह (Undertow) तरंग-निक्षेपात्मक कार्य मे बाधक होता है। तट से जिस दूरी पर समान ऊँचाई वाली तरंगो के शृंग टूटते है तथा सर्फ के रूप मे बदलते है, उस दूरी से यदि तट के समानान्तर एक रेखा खींची जाय तो उसे प्रतोडन रेखा (Plunge line) कहते है। इस तरह प्रतोडन रेखा पर पहुँच कर तरंगे सर्फ का रूप धारण कर लेती है। सर्फ द्वारा ही तटीय भाग मे काट-छाट का कार्य होता है।



चित्र 295—वेलाचली धारा (Littoral current)।

तरंगो के अलावा धाराये भी तटीय दृश्यावली के सृजन मे सहायता करती है। तरंगो की अपेक्षा धाराओ मे आगे की ओर गति अधिक तेज तथा सुनिश्चित होती है। यहाँ पर सागरीय धाराओ से केवल उन्हीं प्रकारो से तात्पर्य है, जिनका सम्बन्ध तटीय-दृश्यावली के सृजन मे सर्वाधिक होता है। इनमे से सर्वप्रमुख है 1 **वेलाचली धारा (Littoral current or longshore current)** – वेलाचली धारा तट के समानान्तर प्रवाहित होती है तथा अपरदित पदार्थों के परिवहन मे अत्यधिक सहायता करती है। इसकी उत्पत्ति दो रूपो मे होती है (i) जब पवन वेग से प्रभावित होकर जल तट से टकरा जाता है तो वह मुड़कर तट के समानान्तर वेलाचली धारा के रूप मे प्रवाहित होने लगता है। (ii) पवनवेग के कारण जब सागरीय तरंगे तट से तिरछे रूप मे टकराती है तो अधिकाश जल तट के समानान्तर वेलाचली धारा के रूप मे प्रवाहित होने लगता है। 2 **तरंगिका (Rip current)**—पवन के द्वारा सागरीय लहरों का जल जब सर्फ के रूप मे तट से टकराता है तो उसका जल कई रूपो मे बट जाता है। कुछ जल **वेलाचली धारा** के रूप मे प्रवाहित हो जाता है, कुछ जल **अधः प्रवाह (Undertow)** के रूप मे प्रवाहित हो जाता है तथा [illegible] जल तट से लौटकर जल की सतह पर तरंग के रूप मे सागर की ओर वापस लौट जाता है। इस तरंग को **तरंगिका (Rip current)** कहते है। **ज्वारीय तरंगो (Tidal waves)** तथा सागरीय भागो मे उत्पन्न भूकम्पो की **सुनामिस तरंगो (Tsunamis)** द्वारा भी तटीय भाग की दृश्यावली मे विकास या ह्रास होता है।



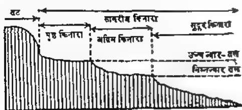
चित्र 296—तरंगिका (Rip current)।

सागरीय तट तथा किनारा (Sea coast and shore) सामान्य अर्थ मे तट तथा किनारे [illegible] समानार्थक रूप मे समझा जाता है, [illegible] पर्याप्त अन्तर होता है। सागरीय किनारा (Sea [illegible]

सागर के उस भाग को कहते है, जो कि सबसे कम तथा सबसे अधिक ज्वारीय जल की सीमा के मध्य होता है। **सागरीय किनारे की रेखा** (Shore line) उसे कहते है, जो कि किसी भी समय जल-तल की सीमा को निर्धारित करती है। अर्थात् किनारे की रेखा उच्च तथा निम्न ज्वार से मध्य सागरीय जल की स्थल की ओर अन्तिम सीमा को प्रदर्शित करती है। इस तरह उच्च तथा निम्न **ज्वार** के समय किनारे की रेखा बदलती रहती है। इस सामान्य अन्तर को महत्त्व न देकर **सागरीय किनारे** तथा **किनारे की रेखा** (*Shore and shore line*) को समानार्थक ही समझना चाहिये। सागरीय किनारे के तीन भाग होते है—1 जहाँ पर सागरीय तरगे आगे बढकर पहुँचती हैं, उसे **पृष्ठ किनारा** (Bock shore) कहते है। किनारे का यह भाग स्थल की ओर की अन्तिम सीमा होती है। 2. सागरीय जल जहाँ पर सदैव रहता है, उसे **अग्रिम किनारा** (Fore shore) कहते है। 3 महाद्वीपीय ढाल का शेष उथला-भाग, जो कि सागरीय जल द्वारा आवृत्त रहता है, **बाहरी किनारा या सुदूर किनारा** (Off shore) कहा जाता है। पृष्ठ किनारे पर सागरीय जल सदैव नही पहुँच पाता है।

सागरीय किनारे मे स्थल की ओर का भाग तट कहा जाता है[1]। वास्तव म **तट रेखा** उसे कहते है, जो कि तट की सागर के ओर की अन्तिम सीमा निर्धारित करती है तथा इस रेखा से स्थल की ओर का भाग सदैव सागरीय जल से अधिक अप्रभावित (कुछ विशेष परिस्थितियो को छोडकर) रहता है। दूसरे शब्दो मे **क्लिफ** से सागर की ओर का वह थल भाग, जो कि शुष्क रहता है, तट कहा जाता है। यहाँ पर तट तथा किनारे का प्रयोग समानार्थक रूप मे ही किया जायेगा।

सागरीय अपरदन (Marine Erosion)—सागरीय तरगे सुनामिस आदि सागरीय तट के अपरदन के प्रमुख



चित्र 297—सागरीय तट व किनारे के भाग।

साधन है। अपरदन का सामान्य रूप प्राय: **सर्फ** (Surf) की तरगो द्वारा होता रहता है, परन्तु **तूफानी तरगें** (Stormy waves) अपरदन के सर्वाधिक सक्रिय कारक है। यद्यपि तूफानी तरगे सदैव उत्पन्न नही होती है, परन्तु इनका अल्पकालिक कार्य सामान्य तरगो के दीर्घकालिक अपरदन के बराबर होता है। ऊपर वर्णित तरगो तथा धाराओ के विभिन्न प्रकार—अपरदन, परिवहन तथा निक्षेपण कार्यों मे अलग-अलग सहयोग देते है तथा प्रत्येक का अपना अलग महत्त्व होता है। उदाहरण के लिए **सर्फ की तरगें** खासकर ***स्थानान्तरणी तरंगे*** (*Waves of translation*) सीधे तट से टकरा कर अपरदन का कार्य करती है, जबकि **तरंगिकायें** (Rip currents) तथा **वेलाचली धारायें** (Littoral currents) अपरदित पदार्थो के परिवहन तथा निक्षेपण में सहायता करती हैं। इस तरह यदि सागरीय तरगे (कुछ अपवादो को छोडकर) तट पर अपरदन का कार्य करती हे तो सागरीय धारायें अवसादो के परिवहन का कार्य करती हे। वास्तव मे सागरीय तरगे अत्यधिक शक्तिशाली अपरदनात्मक कारक होती है तथा तट के पास प्राकृतिक दृश्यावली के सृजन मे सतत् प्रयत्नशील रहती है। सागरीय तरगो का कार्यस्थल सागरीय तट होता है। सागरीय तटो तक ही तरगो का अपरदन सीमित होने के कारण यह पवन तथा नदी द्वारा अपरदन एव उससे उत्पन्न स्थलाकृति के समान अधिक महत्त्वपूर्ण नही होता है, तथापि तटीय भागो के अधिक विस्तृत होने के कारण अपरदनात्मक तथा निक्षेपात्मक तटीय दृश्यावली निश्चय ही आकर्षक होती है। सागरीय तरगो द्वारा अपरदन चार रूपो मे सम्पन्न होता है।

(i) **जलगति क्रिया द्वारा** (By hydraulic action)—सागरीय तरगें तीव्र गति से तटो से सीधे टकराती है, जिस कारण जल मे दाब से तट की चट्टानें टूट कर बिखरने लगती हे। इस क्रिया को टूटन-क्रिया (Shattering) भी कहा जाता है। सागरीय तरगें तट की शैलो पर बढई के हथौडे के समान भीषण प्रहार करती है। इस क्रिया मे केवल जल का ही योग रहता हे, उसके साथ मिले पदार्थों का नही।

(ii) **अपघर्षण क्रिया द्वारा** (By Corrasion or Abrasion)—जब सागरीय तरगों के साथ ककड-पत्थर

1 The coast in an intermediate zone that extends landward from the shore and the boundary between the coast and shore is known as coast line.

अधिक मात्रा में मिले रहते हैं तो उन्हें अपरदनात्मक यन्त्र (Erosive tools) कहते हैं। इन यन्त्रों से युक्त तरंगें तट के क्लिफ से टकरा कर चट्टानों को तोड़-फोड़ कर उन्हें वहां से ले जाती हैं। सागरीय तरंग का यह कार्य सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होता है। इतना ही नहीं तरंगों के बड़े-बड़े टुकड़े अग्रिम किनारे तथा पृष्ठीय किनारे (Fore-shore and back shore) की तली पर आगे-पीछे होते रहते हैं, जिस कारण उनकी तली का भी अपरदन साथ-साथ चलता रहता है।

(iii) सन्निघर्षण क्रिया द्वारा (By Attrition)—इस क्रिया के अन्तर्गत तरंगों के साथ चलने वाले टुकड़े आपस में ही टकरा कर टूट कर महीन एवं बारीक होते रहते हैं। यह क्रिया मुख्य रूप से अधःप्रवाह (Undertow) तथा तरंगिकाओं (Rip currents) द्वारा अधिक होती है। ये धारायें तट से सागर की ओर चलती हैं। अतः अपने साथ तट पर अपरदित पदार्थों को सागर की ओर लाती हैं। इस दौरान पदार्थों के टुकड़े आपस में रगड़ खा कर टूटते रहते हैं। अपघर्षण के समय भी टुकड़े स्वयं टूट कर छोटे होते रहते हैं।

(iv) घुलन क्रिया द्वारा (By Solution)—जब तटीय भागों पर घुलनशील चट्टानों (लाइमस्टोन, चाक, डोलोमाइट, जिप्सम आदि) की स्थिति होती है, तो वहां पर सागरीय तरंगें घुलनशील पदार्थों को घुलाकर अलग कर लेती हैं। अपरदन का यह रूप अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं होता है, क्योंकि घुलन-क्रिया मुख्य रूप से लाइम-स्टोन तटीय भागों में ही सीमित रहती है।

सागरीय लहरों द्वारा तटीय भाग के अपरदन में अपक्षय (Weathering) के विभिन्न रूप भी सहायक होते हैं। अपक्षय के कारण तट की चट्टानों में विघटन तथा वियोजन हो जाने से वह कमजोर हो जाती है। शक्तिशाली सागरीय तरंगें इन कमजोर तथा ढीली चट्टानों को आसानी से अपरदित कर देती हैं।

(v) जल दाब की क्रिया द्वारा (By Water Pressure)—सागरीय तरंगें तीव्रता के साथ तट से टकराती हैं। तरंगों के साथ टकराने वाला जल तट की चट्टानों पर भयंकर दाब डालता है। यदि तट की चट्टानों में सन्धियों तथा छिद्रों का विकास अच्छी तरह हुआ रहता है तो जब अचानक, तीव्रता से तरंगें तट से टकराती हैं तो चट्टानों की सन्धियों में स्थित वायु सम्पीडित (Compressed) हो जाती है। इस अचानक तथा भयानक रूप से दबी वायु के कारण चट्टानों की सन्धियों पर तीव्र दाब पड़ता है। जब तरंगें पीछे हटने लगती हैं तो जल के पीछे हट जाने से अचानक दबाव घट जाता है, जिस कारण चट्टानों की सन्धियों तथा छिद्रों की दबी हवा शीघ्रता से बाहर आने का प्रयास करती है। इस प्रयास के कारण चट्टानों का आयतन, जो कि पहले दाब के कारण घट गया था, अब अचानक फैल जाता है, जिससे चट्टानें विस्फोट के साथ टूटने लगती हैं। इस क्रिया के फलस्वरूप तटीय भाग की चट्टानों से हजारों पौंड के टुकड़े टूट कर अलग हो जाते हैं। सामान्य रूप से तरंगों का जल-दाब 4 टन प्रतिवर्ग मीटर होता है। जानसन महोदय (D W Johnson 1919) ने स्काटलैंड के तट पर डायनमो मीटर द्वारा प्रतिवर्ग फुट पर 6000 पौण्ड जल-दाब का मापन किया है। विशेष परिस्थितियों में यह जल दाब 60 000 पौण्ड प्रतिवर्ग मीटर तक भी सम्भव हो जाता है। इस भयंकर दाब के कारण 100 टन से अधिक भार वाले टुकड़े तट से टूट कर अलग हो जाते हैं।

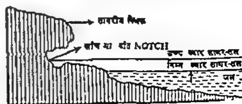
सागरीय अपरदन को प्रभावित करने वाली दशाएं—1. सागरीय जल द्वारा तटीय भाग के अपरदन में सागरीय तरंगों की लम्बाई, उनका वेग आदि अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। तरंग-अवधि भी अपरदन की मात्रा को निश्चित करती है। यदि अधिक लम्बी तरंग लम्बी अवधि (Long enduring) वाली तथा अत्यधिक वेगवती है तो उसके द्वारा निश्चित रूप से अपरदन अधिक होगा। 2. तटीय भाग की चट्टान की बनावट तथा संरचना अपरदन की मात्रा को प्रभावित करती है। यदि चट्टानें अधिक सन्धियों वाली तथा असंगठित हैं तो अपघर्षण क्रिया और जलदाब के कारण अपरदन अत्यधिक होता है। चट्टानों के प्रकार तथा उनका स्थायित्व (Durability) पर अपरदन का स्वभाव आधारित होता है। उदाहरण के लिए परतदार चट्टान आग्नेय तथा रूपान्तरित शैलों की अपेक्षा शीघ्र कट जाती है। 3. यदि तट रेखा स्थिर होती है तो अपरदन अविच्छिन्न रूप से चलता है। 4. यदि जल की गहराई अधिक होती है तथा तट का ढाल खड़ा होता है तो वहां पर तरंगों का अधिकांश जल पीछे की ओर परावर्तित हो जाता है तथा तरंगों का प्रहार अधिक सक्रिय नहीं हो पाता है। इसके विपरीत यदि ढाल मन्द होता है तथा जल उथला होता है तो तरंग अधिक तीव्रता से तट से टकराती है तथा अपरदन तीव्र गति से होता है। 5. अपरदन का समय भी अपरदन की मात्रा को प्रभावित करता है। 6. यदि जल अपरदनात्मक यन्त्रों

से रहित है, तो वह सामान्य अपरदन ही कर पाता है। शुद्धजल खासकर रेत, हिमानी, ड्रिफ्ट तथा शैल जैसी असगठित चट्टानो का ही अपरदन कर पाता है। परन्तु यदि प्रतिरोधी आग्नेय चट्टाने, रूपान्तरित तथा पूर्णरूप से सगठित परतदार चट्टाने है तो शुद्ध जल का प्रभाव उन पर नही हो पाता है। यदि इस जल के साथ ककड-पत्थर मिल जाते है तो वह शक्तिशाली अपरदन का कारक हो जाता है। **जानसन महोदय** के अनुसार **दोलन तरगे** (Oscillatory waves) 600 फीट की गहराई तक अपरदन कर सकती हैं। इस गहराई तक अपरदन सामान्य ही रह जाता है। सक्रिय अपरदन 200 फीट की गहराई तक ही होता है। इसके विपरीत **शेपर्ड महोदय** के अनुसार सागरीय तरगों का अपरदन 30 या 40 फीट से अधिक गहराई तक नहीं होता है।

अपरदनात्मक स्थलाकृति

तरग द्वारा अपरदित तट रेखा (Wave-cut Shorelines)—सागरीय तरगो द्वारा अपरदनात्मक तथा निक्षेपात्मक स्थलरूपो को अलग करना कठिन होता है, क्योकि कुछ तो ऐसे भी स्थल रूप होते है जिनके निर्माण मे अपरदन तथा निक्षेप दोनो का हाथ रहता है। वास्तव मे *सागरीय अपरदन तथा निक्षेप की प्रक्रियायें एक दूसरे से इतनी सम्बन्धित होती है कि उनके द्वारा निर्मित स्थलरूपो का अलग निर्धारण नही हो पाता है।* कुछ स्थलरूपो को छोडकर अनेक ऐसे भी स्थलरूप होते है जिनमे अपरदन या निक्षेप का प्रभुत्व स्पष्ट झलकता है। सर्वप्रथम हम उन स्थल रूपो का उल्लेख करेंगे, जिनका निर्माण सागरीय तट पर स्थित चट्टानो मे सरचनात्मक विभिन्नता के कारण सागरीय तरगो के अपरदन से होता है। यदि *सागरीय तट की चट्टाने विभिन्न स्वभाव वाली अर्थात्* कोमल तथा कठोर सरचना वाली होती है एव इनकी स्थिति तट के सहारे अधिक लम्बाई मे होती है तो **विभेदक अपरदन** (Differential erosion) द्वारा कोमल चट्टाने शीघ्र कट जाती है तथा कठोर या प्रतिरोधक शैल कम कट पाती है। इस असमान अपरदन के कारण तट रेखा भी असमान हो जाती है। प्रतिरोधी शैल कम अपरदित होने के कारण बाहर निकली रहती है, जिन्हे **अन्तरीप** (Head lands) कहते है। कोमल चट्टानो के अधिक कट जाने के कारण तट मे छोटी-छोटी खाडियाँ (Bays) तथा **अन्त:प्रविष्ट आकारों** (Re-entrants) का निर्माण होता है। तट-रेखा के विकास की प्रथमावस्था मे इन अपरदनात्मक स्थलरूपो का विकास होता है। धीरे-धीरे विभेदक अपरदन द्वारा तट की असमानता बढती जाती है।

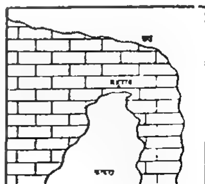
तटीय क्लिफ (Coastal Cliffs)—सागरीय तरगो के अपरदन द्वारा उत्पन्न क्लिफ सागर-तटीय दृश्यावली का एक प्रमुख किन्तु विचित्र स्थलरूप होता है। क्लिफ को हिन्दी शब्दावली के अन्तर्गत 'भृगु' कहते है। क्लिफ का निर्माण चूंकि तरग द्वारा अपरदन के कारण तट-रेखा के सहारे होता है, अत इसका निर्माण चट्टान के प्रकार, सरचना तथा स्वभाव और सागरीय अपरदन तथा भू-पृष्ठीय अनाच्छादन (Subaerial denudation) के सापेक्षिक रूप पर आधारित होता है। उदाहरण के लिये सागर की ओर झुकी हुई परतो वाली चट्टान, स्थल की ओर झुकी हुई स्तरो वाली शैल, क्षैतिज स्तर वाली शैल तथा तटरेखा के सहारे लम्बवत् स्तरो वाली चट्टानो मे निर्मित क्लिफ एक दूसरे से भिन्न होते हैं। इतना ही नही विभिन्न प्रकार की शैलो (ग्रेनाइट बेसाल्ट, लाइमस्टोन, बालुका पत्थर, रूपान्तरित शैल आदि) मे निर्मित क्लिफ भी आकार, विस्तार आदि मे भिन्न होते है। कोमल चट्टान तथा खडे ढाल वाली चट्टान मे निर्मित क्लिफ शीघ्रता से पीछे हटता है। क्लिफ का निर्माण सरल होता है। तटीय मैदान के ढलुआ तट पर **सर्फ धाराये** (Surf) या तरगे अपने अपरदन द्वारा चट्टान को तट के आधार पर (निचले भाग पर) प्रहार करके काटती है, जिस कारण तट का भाग सीधा खडा हो जाता है तथा उसका ढाल तीव्र हो जाता है। क्लिफ के आधार (Base) पर तरगे स्थल की ओर अधिक कटाव कर देती है। इस तरह क्लिफ के आधार पर या निचले भाग पर **खाँच या दाँता** (Notch) का निर्माण हो जाता है। इस खाँच के कारण क्लिफ का शीर्ष भाग सागर की ओर लटका रहता है तथा निचला भाग स्थल की ओर घुसा रहता है। जब खाँच (Notch) का विस्तार स्थल की ओर अधिक हो जाता है तो क्लिफ का ऊपर लटकता हुआ शीर्ष भाग (Overhanging the notch) नीचे से सहारा न मिलने के कारण टूट कर नीचे गिरता रहता है, जिस कारण



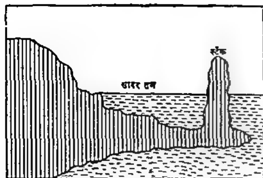
298—सागरीय क्लिफ का निर्माण।

क्लिफ निरन्तर स्थल की ओर खिसकता जाता है। कभी-कभी क्लिफ से टूट कर गिरा हुआ मलबा उसे आश्रय भी प्रदान करता है तथा क्लिफ का पीछे हटना अल्पकाल के लिये स्थगित हो जाता है। परन्तु तरंग-अपरदन के अलावा क्लिफ के लटकते हुए भाग के टूटने तथा उसके पीछे हटने मे अपक्षय (Weathering), भूमिस्खलन (Landslide) और अवपातन (Slumping) का भी सहयोग रहता है। क्लिफ के खाँच का अधिक कटाव के कारण स्थल की ओर विस्तार होने से अवतल आकार (Concave shape) हो जाता है, परन्तु क्लिफ का ऊपरी भाग या तो खडे ढाल पर सागर की ओर लटका रहता है या बिलकुल तीव्र ढाल का निर्माण करता है। *अधिक संधियों वाली तटीय चट्टानों पर क्लिफ का* निर्माण सरलता से होता है।

तटीय कन्दरा तथा उससे सम्बन्धित रूप (Coastal caves and associated features)—सागर तटीय भाग की चट्टानो में जब संधियो का पूर्णतया विकास हुआ रहता है तो सागरीय तरंगे इन संधियो में घुस कर अपरदन करने लगती हैं। जल इस तरह की संरचना वाली कठोर शैल में कोमल शैल की स्थिति होती है तो तरंगें उन्हें शीघ्र काट कर एक छोटी कन्दरा का निर्माण कर लेती है। धीरे-धीरे अपरदन चलता रहता है तथा कन्दरा की गहराई तथा आकार दोनो में विस्तार होता रहता है। एक निश्चित समय में पूर्ण विकसित तटीय कन्दरा का निर्माण हो जाता है, परन्तु इसका रूप स्थायी नही रहता है, क्योंकि तरंगो के काट-छाँट के कारण इसका रूप बदलता रहता है। भूमिगत जल द्वारा चूने की चट्टान मे घुलन-क्रिया (Solution) द्वारा निर्मित कन्दरा से तटीय कन्दरा कई माने में भिन्न होती है। प्रारम्भिक अवस्था में कन्दरा अदृश्य होती है क्योकि यह ऊपरी सतह से नीचे रहती है तथा जब तक इसके ऊपरी भाग (छत) का कुछ हिस्सा ध्वस्त नही हो जाता है तब तक कार्स्ट खिडकी (Karst window) के अभाव में यह दिखाई नहीं पडती है। इसके विपरीत तटीय कन्दरा का एक भाग (सागर की ओर वाला भाग) सदैव खुला रहता है। तटीय कन्दरा में निक्षेपात्मक स्थलरूप छत पर नहीं होते है, परन्तु कार्स्ट प्रदेश की कन्दरा की छत तथा फर्श दोनो पर स्टैलक्टाइट तथा स्टैलग्माइट आदि निक्षेपात्मक स्थलरूपों का निर्माण होता है। तटीय कन्दरा का निर्माण सरल होता है। सागरीय तरंगो के तीव्र वेग के कारण जल जब चट्टानो की संधियो में पहुँचता है तो तीव्र जल-दाब के कारण संधियो की पवन सिकुडती है, जिस कारण चट्टान पर दाब पडने से वह कमजोर हो जाती है। इसके विपरीत जब तरंग लौटती है तो जल-दाब मुक्ति के कारण सिकुडी पवन तीव्रता से फैलती है। परिणामस्वरूप चट्टानें विघटित तथा वियोजित होकर टूटने लगती हैं। वेलावर्ती धारायें (Littoral Currents) अधः प्रवाह (Undertow) इन अपरदित पदार्थों को बहा ले जाते हैं। उपर्युक्त क्रिया की पुनरावृत्ति के कारण छिद्र बढ कर कन्दरा का रूप धारण कर लेते है। जब कन्दरा की ऊपरी छत का कुछ भाग नीचे गिर (ढहना) जाता है तो कन्दरा का सम्बन्ध ऊपरी सतह से हो जाता है। इसे प्रवेश-द्वार कहते हैं। जब तरंगो के जल दाब के *कारण कन्दरा की पवन सिकुडती है तो दाब के कारण* कुछ पवन कन्दरा की छत को तोड कर छिद्र करके ऊपर निकलने मे समर्थ हो जाती है। इन छिद्रों से पवन सीटी की आवाज करती हुई निकलती है। इस तरह के छिद्र को प्राकृतिक चिमनी (Natural chimney) या वात छिद्र (Blow holes) कहते हैं। कन्दरा की छत जब ध्वस्त होकर गिर जाती है तो सकरी तथा छोटी-छोटी खाडियों का निर्माण होता है। इस तरह के प्रवेश-द्वार या निवेशिका (Inlet) को स्काटलैंड में ज्यों (Geo) कहते हैं। जब सागर तट से जल की ओर निकले हुए शीर्षस्थल (Headland) के दोनो पार्श्वों पर कन्दरा का निर्माण होता है तो दोनों कन्दरायें विस्तृत होकर एक दूसरे से मिल जाती है तथा उनके आर-पार जल बहने लगता है। इस तरह की आकृति को प्राकृतिक महराब (Natural Arch) कहते है। परन्तु यह महराब स्थिर नही होता है। अपरदन के कारण ऊपरी छत कमजोर हो जाने के कारण टूट



चित्र 299—तरंग अपरदन द्वारा निर्मित कन्दरा तथा महराब (Arch)।

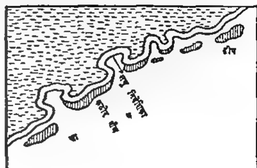


चित्र 300—स्टैक का निर्माण।

कर नीचे गिर जाती है, जिस कारण शीर्षस्थल (Head-land) का सागर की ओर वाला भाग तट से अलग हो जाता है तथा एक स्तम्भ के रूप मे खडा रहता है। इस तरह की आकृति को **स्टैक या सागरीय स्तम्भ (Stacks)** कहते हैं। स्टैक का निर्माण उस समय भी होता है जब कि तट के पास निकले भाग के आस-पास की कोमल चट्टाने कट कर या घुलकर अलग हो जाती हैं तथा कठोर शैल तट से दूर स्टैक के रूप मे छूट जाती है। स्टैक को **चिमनी शैल (Chimney rock)** या **स्केरी (Skerry)** भी कहा जाता है।

अण्डाकार कटान तथा लघुनिवेशिका (Cove)—जब तट के समानान्तर क्रमश कठोर तथा कोमल चट्टानो की परतो का विस्तार होता है तो तरग का जल कठोर चट्टान की सधियो मे प्रविष्ट होकर भीतर की ओर घुसता है। चूंकि इस कठोर शैल के पीछे कोमल शैल है—अत प्रविष्ट जल कोमल शैल का भीतर ही भीतर अपरदन करके उसे खोखला बनाता है। इस तरह कोमल चट्टान वाले भागो मे ही अण्डाकार कटान तथा उससे निर्मित आकृति को लघु निवेशिका (Cove-लघुखाडी) कहा जाता है। जब लघु निवेशिका के पीछे समीपवर्ती कोमल चट्टान पूर्ण रूप से कट जाती है तो कठोर चट्टानो के भाग छोटे-छोटे टापुओं के रूप मे जल मे तट से थोडी दूरी पर शेष रह जाते हैं। इस तरह की दो लघु खाडियो के बीच का निकला स्थलखण्ड **शीर्ष स्थल (Head land)** कहा जाता है।

तरंग घर्षित वेदी (Wave-cut Platform)—क्लिफ से सागरीय तरगें टकरा कर उसके आधार पर **दांता या खांच (Notch)** का निर्माण करती हैं। धीरे-धीरे खाच के विस्तृत होने पर क्लिफ का ऊपरी लटकता भाग टूट कर गिरने लगता है तथा क्लिफ निरन्तर पीछे हटता जाता है। इस क्रिया के कारण क्लिफ के सामने तटीय भाग पर जल के अन्दर एक मैदान का निर्माण होता है, जिसे **तरंग घर्षित मैदान (Wave-cut plain)** या **तरंग घर्षित प्लेटफार्म या वेदी (Wave-cut platform)** कहा जाता है। सागरीय तरंगो द्वारा क्लिफ का निचला भाग कटता रहता है, जिससे अपरदित पदार्थों को तरंगे परिवहन द्वारा सागर की ओर ले जाती हैं। इस तरह **तटीय वेदी (Coastal Platform)** का स्थल की ओर विस्तार होता जाता है। निम्न ज्वारतल के समय यह प्लेटफार्म खुला रहता है, परन्तु उच्च ज्वार-तल के समय जलमग्न हो जाता है। क्लिफ के पद के पास (At the foot of cliff) छोटे-छोटे गड्ढो मे रेत तथा ककड आदि का ढेर एकत्र हो जाता है। शनै-शनै लहरें इन पदार्थों को रगड-रगड कर बारीक कर देती हैं तथा उनको अन्यत्र वहा ले जाती हैं। प्लेटफार्म का भी लहरो के साथ परिवहन किये जाने वाले पदार्थों द्वारा अपघर्षण (Abrasion) होता है। प्रारम्भिक रूप मे प्लेटफार्म का ढाल सागर की ओर तीव्र रहता है परन्तु प्लेटफार्म के वाह्य भाग का अपरदन आन्तरिक भाग की अपेक्षा अधिक समय तक होता है। अतः प्लेटफार्म का सागर की ओर मन्द ढाल हो जाता है। जैसे-जैसे क्लिफ पीछे की ओर हटता जाता है, प्लेटफार्म अधिक चौडा तथा विस्तृत हो जाता है। इस कारण सागरीय तरगो को उथले जल के विस्तृत भाग पर यात्रा करनी पडती है तथा जब ये तरगें क्लिफ के पास तक पहुँचती है तो उनकी अपरदनात्मक क्षमता घट जाती है। अतः तट का अपरदन तीव्र गति से नही हो पाता है। यह स्थिति उस समय होती है जबकि प्लेट-फार्म का निर्माण कठोर शैलो पर होता है। तट के कटने तथा क्लिफ के पीछे हटने के साथ ही साथ प्लेटफार्म पर स्टैक, छोटे-छोटे द्वीप बन जाते हैं जो कि कठोर चट्टानो के अपरदनात्मक अवशिष्ट भाग ही होते हैं। इनके निर्माण



चित्र 301—लघु निवेशिका (Cove) तथा द्वीप।



चित्र 302—तरग घर्षित प्लेटफार्म तथा निक्षेप जनित वेदिका (Wave cut platform and wave-built terrace)।

मे तरगो का असमान बल भी उत्तरदायी होता है। तरग-घर्षित प्लेटफार्म के आगे अर्थात् सागर की ओर तरग-निक्षेपित मैदान या वेदिका (Wave built plain or terrace) का निर्माण होता है। यद्यपि यह स्थलरूप तरग द्वारा निक्षेप से निर्मित होता है परन्तु इसका अपरदन तथा प्लेटफार्म से इतना अधिक सम्बन्ध होता है कि इसका यहाँ पर उल्लेख आवश्यक हो जाता है। क्लिफ तथा तट के अपरदन से प्राप्त मलवा को लहरें तथा धारायें वहाँ से हटाकर अपने साथ परिवहन करके प्लेटफार्म के आगे ढाल पर जमा कर देती हैं और इस तरह से एक मैदान या वेदिका का निर्माण हो जाता है। इसका सागर तथा स्थल दोनो ओर विस्तार होता है। इसका कुछ भाग सरक कर सागर के भीतरी भाग मे भी जाता रहता है। तरग-निक्षेपित मैदान प्राय जलमग्न रहते है परन्तु सागरीय तट के निर्गमन (उन्मज्जन) के कारण ऊपर भी आ जाते है।

परिवहन-कार्य (Transportational Work)

सागरीय तरगें तथा धारायें अपरदित पदार्थों का परिवहन या अपनयन करती हैं परन्तु अन्य अपरदन के कारकों के विपरीत इनके द्वारा अपनयन या परिवहन-कार्य विचित्र रूप मे सम्पन्न होता है। कभी मलवा का परिवहन स्थल या तट की ओर होता है तो कभी सागर की ओर। कभी तट के समानान्तर परिवहन होता है तो कभी गुरुत्व के कारण तट से अधिक दूर गहरे सागर की ओर। इसका प्रमुख कारण तरगो का तट की ओर आना तथा पुन पीछे लौट जाना तरगो का तट के साथ तिरछे रूप मे टकराना तथा पुन वेलाचली धारा (Littoral currents) का रूप धारण करना ही है। तरग द्वारा अपरदित पदार्थों मे रेत, गोलाश्म (Boulder) कंकड़ तथा चट्टानो के बड़े-बड़े टुकड़े सम्मिलित रहते हैं। वास्तव मे सागरीय परिवहन दो रूपो मे होता है—तट की ओर तथा तट से दूर सागर की ओर। इस तरह के परिवहन को अपतट परिवहन (Off shore transportation) या तट का अनुप्रस्थ परिवहन (Transportation transverse to the shore) कहते हैं। सागर की ओर प्रवाहित होने वाली तरगें सामान्य ढाल वाले भाग पर तट के पास अपरदित पदार्थों को निक्षेपित करके पुलिन (Beach) का निर्माण करती हैं। तूफान के समय या उच्च ज्वार के समय अत्यधिक वेगवती तरगें प्रारम्भिक पुलिन को पार करके स्थल की ओर मलवा को पहुँचा देती हैं। यहाँ तक साधारण तरगें तथा ज्वारीय तरगें नही पहुँच पाती है। इस तरह से निर्मित पुलिन को तूफान पुलिन (Storm beach) कहते हैं। निक्षेपण जब साम्यावस्था (Equilibrium) को प्राप्त कर लेता है तो अतिरिक्त पदार्थ या तो सागर की ओर आने वाली तरगो या पवन द्वारा हटा लिया जाता है। उपर्युक्त प्रक्रिया मे केवल तट की ओर चलने वाली तरगो को ही ध्यान मे लिया गया है। तरगें तट के पास पहुँच कर या तो सतह तरंग (Surface wave) या अध प्रवाह (Undetow or back wash) के रूप मे सागर की ओर लौट आती हैं। ये लौटती हुई तरगें तट के पास एकत्रित मलवा का परिवहन करके सागर की ओर लाती हैं। कभी-कभी प्रचण्ड झञ्झा (Strong gale) के कारण तट की ओर जल अधिक ऊँचाई के साथ पहुँचता है। इस कारण प्रचण्ड अध:प्रवाह (Powerful undertow) *का आविर्भाव होता है। पीछे लौटता हुआ* ज्वार (भाटा) भी सागर की ओर प्रबल धाराओ का सृजन करता है। इस तरह की धारायें *(अधः प्रवाह तथा सतह की धारा) तट के पास निक्षेपित पुलिन को अपर*दित करके तथा अन्य अपरदित पदार्थों को परिवहन करके सागर की ओर लाती है। यदि झञ्झा (Gale) की दिशा तट से सागर की ओर होती है तो अध प्रवाह (Undertow or back wash) की दिशा झञ्झा की दिशा के विपरीत तट की ओर हो जाती है। तट की ओर चलने वाला अध प्रवाह मलवा का परिवहन तट की ओर करने लगता है तथा उस पुलिन का जिसका अपरदन तट की ओर चलने वाले झञ्झा से उत्पन्न सागर की ओर अध प्रवाह के कारण हो गया था पुन निर्माण हो जाता है। इस विवरण से यह स्पष्ट है कि पवन (तू न या झञ्झा) की दिशा के विपरीत अधःप्रवाह (Undertow) का आविर्भाव होता है तथा यह सदैव पवन की दिशा के

विपरीत दिशा मे मलवा का परिवहन करता है। यदि तट से दूर ढाल अधिक हो जाता है या तट से दूर खुदाई (Dredging) की जाती है तो अधःप्रवाह की गति अधिक तीव्र हो जाती है, जिस कारण तट से सागर की ओर पदार्थो का परिवहन तीव्र हो जाता है।-सागर की ओर अधिक ढाल के कारण गुरुत्व शक्ति भी पदार्थो को सागर की ओर ले जाने मे सहायता करती है। शनै-शनै जब यह पदार्थ तट से दूर सागर के गहरे भाग में चला जाता है तो वहाँ से यह किसी भी अवस्था मे तट की ओर वापस न आकर वही पर नीचे बैठने लगता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि गुरुत्व द्वारा पदार्थो का सागर की ओर परिवहन सरल होता है परन्तु वहाँ से इनका ऊपर की ओर (ढाल के सहारे तट की ओर) परिवहन नही हो पाता है क्योंकि गुरुत्व इसमे बाधक होता है। जल की गहराई बढते जाने से तरंगो की सामर्थ्य घटती जाती है तथा वे कमजोर होती जाती है। इस कारण जो टुकडे इतने बडे होते हैं कि उनका तट की ओर पुन परिवहन नही किया जा सकता, वे नीचे बैठने लगते है। जैसे-जैसे सागर की गहराई बढती जाती है, बैठने वाले टुकडो का आकार भी घटता जाता है।

उपर्युक्त विवरण मे केवल तट से लम्बवत दिशा (या तो सागर की ओर या सागर से तट की ओर) मे ही तरंगो द्वारा पदार्थों के परिवहन का उल्लेख किया गया है। इसके विपरीत तट के सहारे भी तरंगे खासकर **वेलाचली धाराओ (Littoral currents)** द्वारा भी परिवहन होता है। इस तरह के परिवहन को वेलाचली प्रवाह (Longshore drift) कहते हैं। पदार्थो का वेलाचली प्रवाह मुख्य रूप से दो प्रकारो मे सम्पन्न होता है—1 तिरछी तरङ्गो द्वारा पुलिन प्रवाह (Beach drifing) तथा 2. वेलाचली धाराओ द्वारा (By longshore currents)। जब सागरीय तरंगे प्रचण्ड पवन के प्रभाव के कारण तट से तिरछे रूप मे टकराती हैं तो मलवा भी तरङ्ग के साथ ही तिरछे रूप मे तट की ओर प्रवाहित होता है। जब तरङ्ग वापस लौटती है तो अधः प्रवाह (Back wash) के कारण मलवा भी पीछे चलता है परन्तु दूसरी तटाभिमुख तरङ्ग इस मलवा को प्राप्त कर लेती है तथा उसे पुनः तिरछे रूप मे तट तक ले जाती है। जब दूसरी तरङ्ग वापस लौटती है तो मलवा पुनः वापस लौटने लगता है परन्तु अगली तरङ्ग उसे ले लेती है तथा पुन. तिरछे रूप मे तट तक पहुँचा देती है। इस क्रिया की पुनरावृत्ति के कारण मलवा टेढे-मेढे रूप मे तट के सहारे प्रवाहित होता है। इस तरह के परिवहन को वेलाचली प्रवाह या परिवहन (Longshore drift or transportation) कहते है। यह प्रवाह साधारण तौर पर तट के सहारे होता है। इस प्रवाह को प्रभावित करने वाले कारणो मे प्रचलित पवन (Prevailing wind) का सर्वाधिक महत्त्व होता है अर्थात् प्रचलित पवन की दिशा मे ही वेलाचली परिवहन होता है।



चित्र 303—तिरछी तरङ्गो द्वारा मलवा का वेलाचली प्रवाह (Longshore transportation by oblique waves)।

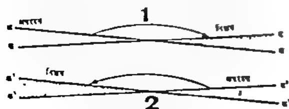
उपर्युक्त दो प्रकार के परिवहन क दौरान मलवा के निक्षेपण से विभिन्न प्रकार के स्थलरूपो का सृजन होता है इनका उल्लेख आगे किया जायेगा।

तट परिच्छेदिका तथा साम्यावस्था की परिच्छेदिका (Shore Profile and Profile of Equilibrium)

सागरीय तटो पर तरङ्गो द्वारा अपरदन होता है तथा अपरदित पदार्थो का तरंगें परिवहन करती है एवं उनका निक्षेपण भी करती है। अपरदन तथा निक्षेपण द्वारा तरंग घर्षित प्लेटफार्म (Wave-cut platform) तथा तरंग निक्षेपित वेदिका (Wave built terrace) का निर्माण होता है परन्तु इन दोनो के निर्माण तथा विकास मे अपरदन तथा निक्षेपण दोनो का सापेक्षिक महत्त्व होता है। यह स्मरणीय है कि निक्षेपण तथा अपरदन की मात्रा सदैव समान नही रहती है। इनमे से प्रत्येक क्रिया समय-समय से बदलती रहती है। निक्षेपण मे भिन्नता का कारण यह है कि जिन स्रोतो से मलवा प्राप्त होता है (नदी के मुहाने पर सागर मे जमाव से, तरङ्गो से, क्लिफ के अपरदन मे तथा प्लेटफार्म के अपघर्षण मे) वे परिवर्तनशील होते है। अत. निक्षेप अनियमित-रूप मे (कभी अधिक तो कभी कम) होता है। इसी तरह मलवा का परिवहन तथा वितरण करने वाले साधनो मे भी भिन्नता होने से निक्षेपण समान नही हो पाता है। तट का ढाल यदि सागर की ओर अधिक है तो मलवा का स्थानान्तरण

सागर की ओर अधिक होने से तरङ्ग-घर्षित प्लेटफार्म के आगे निक्षेपण होने से तरङ्ग-निक्षेपित वेदिका का निर्माण होता है। यदि मूल ढाल सागर की ओर अधिक होता है तो मलवा का स्थानान्तरण तट से सागर की ओर अधिक होता है जिस कारण ढाल मन्द होने लगता है। इसके विपरीत मूल ढाल यदि मन्द है तो तट की ओर निक्षेपण अधिक होता है जिससे सागर की ओर ढाल तीव्र होने लगता है। तट पर इस तरह अपरदन तथा निक्षेपण की क्रियायें सदैव ऐसी स्थिति की प्राप्ति का प्रयत्न करती हैं जिसके अन्तर्गत ढाल इतना हो कि जितना निक्षेप उस पर होता है उतना ही उससे हट जाय अर्थात् तट की ओर आने वाली तरंगों द्वारा जितना मलवा निक्षेपित होता है उतना ही मलवा यदि लौटती हुई तरंगों द्वारा या अधःप्रवाह द्वारा हटा लिया जाय तो निक्षेपण तथा अपरदन की क्रियाओं में सन्तुलन हो जाता है। जब इस प्रकार की दशा का विकास समस्त तट की परिच्छेदिका पर हो जाता है तो उसे साम्यावस्था या सतुलन की परिच्छेदिका (Profile of equilibrium) कहते हैं। यह परिच्छेदिका निश्चित रूप से एक आदर्श परिच्छेदिका (Ideal Profile) होती है जो सदैव बनती तथा बिगड़ती रहती है। तेज तूफान (Storm) या झञ्झा (Gale) के समय सतुलन ढाल प्रायः अव्यवस्थित (Disturbed) या विक्षुब्ध हो जाता है परन्तु तूफान की समाप्ति के बाद पुनः अपरदन तथा निक्षेपण की क्रियायें ऐसे ढाल की रचना कर लेती हैं कि जितने मलवा का निक्षेपण हो उतना ही मलवा अपरदन द्वारा हटा लिया जाय।

साम्यावस्था की परिच्छेदिका को एक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है। यदि सागरीय तट जलमग्न तट (Shoreline of submergence) है तो उसकी सतह का मूल ढाल (Initial slope) आदर्श ढाल अर्थात् सतुलित परिच्छेदिका से अधिक ढाल (Steep) या कम ढालू (Gentle) हो सकता है। दोनों ही दशाओं में



चित्र 304—सतुलित परिच्छेदिकायें (Profiles of equilibrium)—स, द तथा स¹, द¹।

अपरदन तथा निक्षेपण की क्रियायें सम्मिलित रूप से सतुलित परिच्छेदिका के निर्माण में प्रयत्नशील हो जाती हैं तथा अन्ततः प्राप्त भी कर लेती हैं। चित्र 304.1 में वास्तविक ढाल, आदर्श ढाल से अधिक ढालू है। अ, ब मूल ढाल (Initial slope) अत्यधिक ढालू है। इस अवस्था में तरंग सतुलन की परिच्छेदिका स, द की प्राप्ति के लिये प्लेटफार्म तथा क्लिफ का अपरदन करके उससे प्राप्त मलवा का निक्षेपण तटाभिमुख वेदिका (Shoreface terrace) के रूप में करेंगी जिस कारण ढाल आदर्श हो जाय। चित्र 304.1 में स, द रेखा सतुलित परिच्छेदिका को प्रदर्शित करती है। इसके विपरीत यदि (चित्र 304) अ¹ ब¹ परिच्छेदिका, सतुलित परिच्छेदिका स¹द¹ की अपेक्षा कम ढालू है तो सतुलित परिच्छेदिका की प्राप्ति के लिये मूल परिच्छेदिका अ¹ ब¹ (चित्र 304.2) के निचले भाग में अपरदन तथा ऊपरी भाग में निक्षेपण होगा ताकि आदर्श ढाल की प्राप्ति हो जाय। यदि यह स्थिति प्राप्त हो जाती है तो उक्त परिच्छेदिका सतुलित हो जाती है। चित्र 304.1 में स, द तथा चित्र 304.2 में स¹द¹ सतुलित या साम्यावस्था की परिच्छेदिकायें हैं।

निक्षेपात्मक स्थलाकृति (Depositional Topography)

सागरीय तरंगों द्वारा अपरदित पदार्थों का जल के सहारे या तट से दूर सुदूरवर्ती किनारे (Offshore) तक निक्षेप होता है। तटाभिमुख तरंगें मलवा को अपने साथ तट की ओर लाती हैं परन्तु यह पदार्थ ढालू तट के सहारे गुरुत्व के कारण सरक कर सागर की ओर चला आता है। अधःप्रवाह (Undertow) द्वारा भी पदार्थ तट से दूर सागर में निक्षेपित होता है। तूफानी तरंगों द्वारा बड़े बड़े टुकड़े तट के पास पहुँचा दिये जाते हैं, जहाँ तक सामान्य तरंगें नहीं पहुँच पाती हैं। वेलांचली धाराओं द्वारा तट के सहारे निक्षेप होता है। इस तरह विविध रूपों में होने वाले निक्षेप के कारण तट के पास तथा उससे दूर (अग्रिम किनारा, पृष्ठ किनारा तथा सुदूर किनारा तक) भी तरह-तरह की आकृतियों का निर्माण होता है। सागरीय जल के कार्य में निक्षेपात्मक स्थलरूप अपरदनात्मक से अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। तरंग-घर्षित प्लेटफार्म (Wave cut platform) के आगे निक्षेप द्वारा वेदिका का निर्माण होता है, जिसको तरंग निक्षेपित वेदिका (Wave built terrace) कहते हैं। इसका आगे उल्लेख किया

चुका है। अन्य निक्षेपात्मक स्थलरूपो मे प्रमुख हैं—पुलिन (Beach), कस्प पुलिन (Cusp beach), रोधिका (Bars), रोध (Barriers), अपतट रोधिका (Offshore bar), तटीय रोधिका (Long shore bar), स्पिट (Spits), हुक (Hook), लूप (Loop), संयोजक रोधिका (Connecting bars), छल्लेदार रोधिका (Looped bars), टोम्बोलो (Tombolo), रोधी द्वीप (Barrier island), ज्वारीय प्रवेश द्वार (Tidal inlets), पंखयुक्त शीर्षस्थल (Winged headlands), समुद्रोन्मुखी तटीय प्रसार (Progradation) आदि।

पुलिन (Beach) सागरीय तट के सहारे मलवा के निक्षेप से बने स्थलरूप को पुलिन कहा जाता है। पुलिन का निर्माण वास्तव मे उच्च ज्वार-तल तथा निम्न ज्वार-तल के नीचे वाले स्थानो मे होता है। सागरीय जल द्वारा अपरदित पदार्थों का कुछ भाग तट के सहारे जमा हो जाता है जिससे तट का भाग कुछ उथला हो जाता है। जलमग्न तट का यह उथला भाग ही **बीच** या **पुलिन** कहलाता है। पुलिन का निर्माण एक जटिल प्रक्रिया है। यदि तटाभिमुख तरंगें निक्षेप मे प्रयत्नशील रहती हैं तो **अधःप्रवाह** (Undertow) एव सागराभिमुख तरंगें उसे हटाने तथा अपरदित करने मे लगी रहती हैं। यदि तरंग घर्षित प्लेटफार्म सँकरा तथा अधिक ढालुआँ होता है तो अधः प्रवाह निक्षेपित पदार्थों को आसानी से बहाकर सागर की ओर गहरे भाग मे ले जाता है। जैसे-जैसे तरंग घर्षित प्लेटफार्म विस्तृत होता जाता है, **स्थानान्तरणी तरंगें या एकशृंगी तरंगें** (Waves of translation or solitary waves) अपने साथ पदार्थों को तट के पास लाकर जमा करने लगती हैं। धीरे-धीरे पुलिन का विस्तार होता है, जिससे तट सागर की ओर बढता जाता है। पुलिन एक स्थायी तथा अल्पकालिक निक्षेपजनित स्थलरूप होता है जोकि बनता-बिगड़ता रहता है। इनका विस्तार तट के सहारे लम्बाई मे अधिक होता है। सामान्य दशाओ में पुलिन का विस्तार तट के सहारे कई सौ किलोमीटर तक हो जाता है।

पुलिन के निर्माण मे कई प्रकार के पदार्थों का योग रहता है जो कि विभिन्न स्रोतो से प्राप्त होते हैं। अधिकाश पदार्थ नदियो द्वारा स्थल से आता है। नदियाँ स्थलीय भागों से अपने मलवा को सागर तक लाती हैं। लहरें इन पदार्थों को प्राप्त करके उन्हे तट के सहारे निक्षेपित करने लगती हैं। तटीय भाग के भूमिस्खलन (Landslide), अवपतन (Slumping), तटीय क्लिफ के अपक्षय के कारण विघटन तथा वियोजन से प्राप्त पदार्थ, तरंगो द्वारा क्लिफ के अपरदन आदि साधनो से प्राप्त मलवा का कुछ अश पुलिन के निर्माण के काम आता है।

पुलिन का आकार तथा विस्तार तट के स्वरूप तथा निक्षेप किये जाने वाले स्थानो के रूप पर आधारित होता है। यदि तट समान रूप से लम्बी दूरी तक सीधी रेखा के रूप मे विस्तृत है तो पुलिन अधिक लम्बाई मे निर्मित होता है। सैकड़ो किलोमीटर की लम्बाई हो सकती है। परन्तु यदि तट असमान है तथा खाडियो, लघु निवेशिकाओ (Coves), शीर्षस्थल (Head lands) आदि से युक्त है तो पुलिन विभिन्न रूप मे होते हैं तथा उनका रूप भी भिन्न-भिन्न होता है। खाडियो से शीर्ष भाग पर बने पुलिन को **खाड़ी शीर्ष पुलिन** (Bay head beach) कहते हैं। लघु निवेशिकाओ के सामने निर्मित पुलिन को **लघु पुलिन** (Pocket beach) कहा जाता है। शीर्ष-स्थलखण्ड के अग्रभाग पर निक्षेपित पुलिन को **शीर्ष-स्थलखण्ड पुलिन** (Head land beach) कहते हैं। यह स्मरणीय है कि खाडियो तथा लघु निवेशिकाओ (Coves) के सहारे शीर्ष-स्थलखण्ड की अपेक्षा पुलिन के निर्माण की अधिक सम्भावनायें रहती हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि तरंगें शीर्ष-स्थलखण्ड के अग्रभाग पर अभिसरित (Converge) होती हैं, जिस कारण यहाँ अपरदन अधिक होता है। इसके विपरीत तरंगें खाड़ियो मे अपसरित (Diverge) होती हैं, जिस कारण तरंग-अपरदन कम होता है।

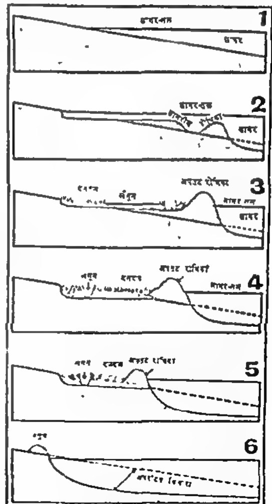
पुलिन का विनाश भी साथ-साथ चलता रहता है क्योकि ये अस्थायी स्थल रूप होते हैं। विक्षुब्ध जल के समय पुलिन का विनाश तथा शान्त जल के समय विकास होता है। भूकम्पीय सुनामिस तरंगो, हरीकेन तथा प्रचण्ड झझा (Gale) के कारण उत्पन्न तटाभिमुख तरंगें तीव्रता से चलने के कारण तट से टकरा कर पुलिन के अपरदन मे प्रयत्नशील हो जाती हैं। कभी-कभी तूफानी तरंगें (Stormy waves) पुलिन के सागरवर्ती भाग को काट कर उसे तट की ओर एकत्रित करके पुलिन को ऊँचा कर देती है। इस तरह के पुलिन को **तूफान पुलिन** (Storm beach) कहते हैं। इसका सागरवर्ती ढाल तटवर्ती ढाल की अपेक्षा कम ढालू होता है। इसके विपरीत कभी-कभी तूफानी तरंग पुलिन को अपरदित करके पूर्ण रूप से बहा ले जाती हैं। स्थल की ओर पीछे हटते हुए तट के सहारे निर्मित पुलिन पूर्ण रूप से स्थायी

तथा अल्पकालिक होती है परन्तु सागर की ओर बढ़ते हुए तट पर निर्मित पुलिन अर्द्धस्थायी (Semi permanent) होती है।

कस्प पुलिन (Cusp Beach)—अधिकांश पुलिन के सागरवर्ती भाग में रेत, गोलाश्म (Boulder) तथा बजरी (Gravel) का तरंगों द्वारा इस तरह निक्षेप हो जाता है कि पतले-पतले कटकों (Narrow ridges) का निर्माण हो जाता है, जो कि सागर की ओर निकले रहते हैं। इस तरह निकले हुए कटकों के बीच की दूरी प्रायः समान होती है। उन निकले हुए कटकों को कस्प कहते हैं। कस्पयुक्त पुलिन कस्प पुलिन कहा जाता है। जब कस्प छोटे-छोटे रहते हैं तो धाराओं तथा तरंगों द्वारा उनका आसानी से अपरदन हो जाता है परन्तु तूफानी तरङ्गों के हटते ही नये कस्प का निर्माण हो जाता है। कस्प का निर्माण कुछ विशेष प्रकार के तटों के सहारे ही होता है, सदैव सभी तटों के सहारे नहीं।

रोधिका तथा रोध (Bars and Barriers)—तरङ्गों तथा धाराओं द्वारा निक्षेप के कारण निर्मित कटक (Ridge) या बाँध (Embankment) को रोधिका कहा जाता है। इनका रूप कई तरह का होता है। इसी कारण नामकरण भी अलग-अलग रूपों में किया जाता है। ये बाँध जल से ऊपर या नीचे दोनों रूपों में हो सकते हैं। बाँधों का निर्माण मुख्य रूप से तरंग घर्षित प्लेटफार्म (Wave-cut platform) पर तट से दूर या पास, तट से संलग्न लम्बवत् रूप में या तट के समानान्तर निक्षेपण द्वारा बाँधों का निर्माण विभिन्न रूपों में तथा विभिन्न स्थानों पर होता है। रोध तथा रोधिका में सामान्य अन्तर यह है कि रोधिका या तो जल के नीचे रहती है या उच्च ज्वार के समय अवश्य डूब जाती है परन्तु रोध ऊँचा होने के कारण जल से ऊपर ही रहते हैं। इनके कुछ महत्त्वपूर्ण रूपों का नीचे उल्लेख किया जा रहा है –

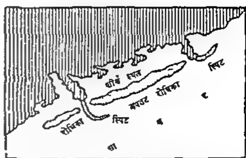
अपतट रोधिका (Off Shore Bars)—जब रोधिकाओं का निर्माण तट से दूर इस तरह होता है कि वे तट के प्रायः समानान्तर होती हैं परन्तु तट से सम्बन्धित नहीं होती हैं तो उन्हें अपतट रोधिका या तटीय रोधिका (Long shore bars) कहते हैं। वास्तव में प्रतोड़न रेखा के आगे सर्फ तरङ्ग के क्षेत्र में नीचे तरंग घर्षित प्लेटफार्म पर अवसादों का तट के आगे समानान्तर कटक (Ridges) के रूप में निक्षेपण हो जाता है। धीरे-धीरे ये कटक लम्बाई तथा ऊँचाई, दोनों में बढ़ते रहते हैं तथा जल के ऊपर आ जाते हैं। इस तरह के कटक को तटीय रोधिका या अपतट रोधिका (Long shore bars or offshore bars) उस समय कहते हैं, जब कि वे जल में डूबी रहती हैं। जल से ऊपर आते ही उन्हें अपतट रोध (Offshore barriers) कहते हैं। अपतट रोधिकायें तट के समानान्तर एक दूसरे के पीछे बनती चली जाती हैं तथा दो अपतट रोधिकाओं का अलगाव या विभाजन छिछले गर्तों में होता है। अपतट रोधिकाओं के निर्माण के विषय में अब तक किसी भी निश्चित मत का प्रतिपादन नहीं किया जा सका है। सन् 1845 ई० में डी ब्यूमाण्ट (De Beaumount) ने बताया कि रोधिकाओं का निर्माण सागर-तली से आने वाले पदार्थों से होता है। सन् 1890 ई० में गिलबर्ट महोदय ने बोनविली झील (Lake Bonneville) के स्थलरूपों की



चित्र 305—अपतट रोधिका (Off shore bar) के विकास की अवस्थायें।

व्याख्या के समय बताया कि अपतट रोधिकाओं का निर्माण तट से दूर वेलाचली धाराओ (Longshore currents) द्वारा मलवा के निक्षेपण के कारण होता है। सन् 1909 ई० मे डेविस ने इस विचारधारा का विस्तार किया तथा बताया कि अपतट रोधिकाओ के निर्माण के लिये आवश्यक पदार्थ तरङ्गो के प्रहार से सागर की तली[1] से प्राप्त होता है। सन् 1919 ई० मे जानसन महोदय ने भी ब्युमाण्ट तथा डेविस के सिद्धातो को स्वीकार करते हुए बताया कि मलवा के निक्षेपण से तट से दूर पहले छोटे-छोटे द्वीपो का निर्माण होता है, जिन्हे अपतट द्वीप (Offshore island) कह सकते है। ये द्वीप शनै-शनै आकार, ऊँचाई, लम्बाई तथा सख्या मे बढते जाते हैं। कुछ समय बाद कई द्वीप मिल कर तट के समानान्तर परन्तु दूर रोधिका का निर्माण करते हैं। तट स दूर इन रोधिकाओ को ही अपतट रोधिका (Off shore bars) कहते हैं। ये जल से नीचे भी हो सकते है तथा बाहर भी। जल से नीचे स्थित अपतट रोधिकाओ द्वारा जलयानो को अधिक क्षति उठानी पडती है, क्योकि अज्ञानतावश जलयान अदृश्य अपतट रोधिकाओं से टक्कर खाकर नष्ट हो जाते है।

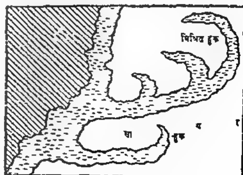
स्पिट (Spits)—जब सागरीय मलवा (ककड पत्थर आदि) का निक्षेप इस तरह होता है कि वह रोधिका के रूप मे जल की ओर निकला रहता है तो उसे स्पिट या भूजिह्वा कहते है। स्पिट का एक भाग तट से या शीर्ष-स्थल (Head land) से सलग्न होता है तथा दूसरा सिरा सागर की ओर निकला तथा खुला होता है। सन 1942 ई० मे ईवान्स महोदय (O. F Evans), ने स्पिट को रोधिका का ही एक विशिष्ट रूप बताया "जो कि एक कटक या बाँध" (Ridge or embankment) के समान होता है जिसका एक सिरा स्थल से जुटा रहता है तथा दूसरा सिरा सागर की ओर खुला रहता है। स्पिट के निर्माण के विषय मे सामान्य रूप से यह बताया जाता है कि इनकी रचना तट से सीधी दिशा मे आने वाली धाराओ के निक्षेपण से होती है। स्पिट का निर्माण वेलांचली धाराओ (Littoral currents) द्वारा माना जाता है। लेविस महोदय (W. V. Levis 1931) तथा स्टीयर्स (J. A. Steers, 1948) ने स्पिट के निर्माण के विषय मे अपने विभिन्न मतो का उल्लेख किया है। स्थानाभाव के कारण



चित्र 306—अपतट रोधिका (Off shore bar) तथा स्पिट (Spit)

इनके सिद्धान्तो का उल्लेख यहाँ पर नही किया जा रहा है।

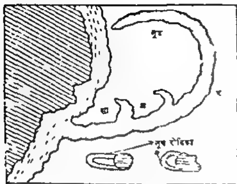
हुक (Hook)—तूफानी तरगे (Storm waves) स्पिट के आकार मे परिवर्तन लाती रहती हैं। एक ओर स्पिट के निर्माण मे भाग लेने वाली तरगे उसके सिरे या अग्र भाग पर पदार्थों को जमा करके उसे (स्पिट) सागर की ओर बढाने का प्रयास करती है तो दूसरी ओर अन्य धारायें तथा तरगे स्पिट को अपने बल द्वारा मोडकर उसकी दिशा मे परिवर्तन लाने का प्रयास करती हैं। जब मोडने वाली तरंग या धारा अधिक प्रबल हो जाती है तो स्पिट का अग्र भाग तट की ओर मुड जाता है। धीरे-धीरे यह मोड बढता जाता है तथा कुछ समय बाद यह अकुश के आकार का हो जाता है। इस तरह तट की ओर मुडी हुई स्पिट को हुक कहते हैं। एक हुक के बाद पुन स्पिट लम्बाई मे बढने लगती है तथा उपर्युक्त क्रिया की पुनरावृत्ति के कारण द्वितीय हुक का निर्माण होता है। जब कि स्पिट मे कई हुक का निर्माण हो



चित्र 307—हुक तथा मिश्रित हुक।

1. सागर की तली का तात्पर्य यहाँ पर सुदूर किनारे (off shore) की तली से है।

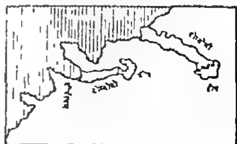
जाता है तो उसे **मिश्रित हुक** (Compound hook) कहते हैं। जब निक्षेप करने वाली तथा उसे नष्ट करने वाली तरङ्गों में सतुलन हो जाता है तो हुक की स्थिति स्थायी हो जाती है।



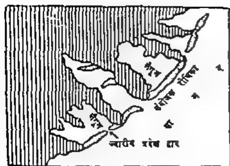
चित्र 308—लूप (Loop) तथा लूप रोधिका (Looped Bar)।

लूप या छल्ला (Loop)-जब विरोधी धाराएं (Opposing currents) वेलाचली धाराओं (Littoral currents) से अधिक प्रबल हो जाती है तो कभी कभी स्पिट इतना अधिक मुड़ जाता है कि वह तट से जाकर मिल जाता है। इस तरह एक पूर्ण छल्ले का निर्माण हो जाता है जिसके अन्दर सागर का जल बन्द हो जाता है। इस तरह की आकृति को **लूप या छल्ला** कहते हैं। जब किसी द्वीप के चारों तरफ स्पिट का विकास होता है तो उसे **लूप रोधिका या छल्लेदार रोधिका** (Looped bar) कहते हैं।

सयोजक रोधिका (Connecting bars and associated features)—जब तट के सहारे रोधिका का इतना अधिक विस्तार हो जाता है कि वह दो शीर्ष स्थलों (Head lands) को या दो द्वीपों को जोड़ देती है या किसी द्वीप का सम्बन्ध तट से कर देती है तो उस रोधिका को सयोजक रोधिका कहते हैं। सयोजक रोधिका के विभिन्न रूपों को अलग-अलग शब्दावलियों से सम्बोधित किया जाता है। उदाहरण के लिए दो शीर्ष-स्थलों को मिलाने वाली रोधिका को **सयोजक रोधिका** (Connecting bar) कहते हैं, परन्तु तट से किसी द्वीप या शीर्षस्थल से किसी द्वीप को मिलाने वाली रोधिका को **टोम्बोलो** (Tombolo) कहते हैं। जब ज्वारीय धाराएँ तीव्र हो जाती हैं तो सयोजक रोधिका को स्थान-स्थान पर तोड़ देती हैं। टूटे हुए भागों में सयोजक रोधिका तथा तट के बीच रुके जल का सम्पर्क सागर से होता है। इस तरह के प्रवेश मार्ग को **ज्वारीय प्रवेश मार्ग** (Tidal inlets) कहते हैं। जब भी रेत आदि द्वारा यह द्वार बन्द हो जाता है तो ज्वारीय तरगें उन्हें हटा कर द्वार को सर्वदा खुला रखती हैं। टोम्बोलो द्वारा जिन द्वीपों का सम्पर्क स्थल (तट) से हो जाता है उन द्वीपों को बँधे हुए द्वीप (Tied islands) कहते हैं। इस तरह टोम्बोलो, तट तथा द्वीप के बीच पुल का कार्य करता है। कभी-कभी वेलाचली प्रवाह (Long shore drift) द्वारा शीर्षस्थल (Head lands) के दोनों ओर कङ्कड़ पत्थर का जमाव हो जाता है, जिससे स्थल के दोनों ओर पख के समान आकृति का निर्माण हो जाता है। इस तरह के शीर्षस्थल को **पखयुक्त शीर्षस्थल** (Winged head land) कहते हैं। रोधिकाओं का रूप स्थिति के अनुसार अलग-अलग होता है—1 यदि खाड़ी के मुहाने पर रोधिका का निर्माण होता है तो उसे **खाड़ी मुख रोधिका** (Bay mouth bar) 2 खाड़ी के मध्य में स्थित रोधिका को **मध्य खाड़ी रोधिका** (Mid bay bar) तथा 3 खाड़ी के शीर्ष पर स्थित रोधिका को **खाड़ी शीर्ष रोधिका** (Bay head bar) कहते हैं। जब रोधिका का विस्तार खाड़ी या लघु निवेशिका के सामने इस तरह होता है कि तट तथा रोधिका के बीच सागरीय जल बन्द हो जाता है तो उसे **लैगून** (Lagoons) कहते हैं। वास्तव में लैगून एक लम्बी किन्तु सकीर्ण खारे जल की झील होती है। भारत के पूर्वी तट पर चिल्का (उड़ीसा) झील तथा पुलीकट (मद्रास तट) झील लैगून झील के ही उदाहरण हैं। जब यह लैगून रोधिका द्वारा पूर्ण रूप से बन्द हो जाती है तो स्थल से आनेवाली नदियाँ अपने साथ मलबा लाकर उसे भर कर उथली बना देती हैं जिससे झील दलदल में बदल जाती है। परन्तु सामान्य रूप से ज्वारीय तरगें रोधिकाओं को



चित्र 309—लैगून।



चित्र 310—I—खाड़ी शीर्ष रोधिका, II—मध्य खाड़ी रोधिका, III—खाड़ी मुख रोधिका तथा IV—पखयुक्त शीर्षस्थल।

स्थान-स्थान पर तोड़ कर लैगून मे निक्षेपित पदार्थों को वहा ले जाती हैं। केरल तट पर अनेक लैगून झीलें मिलती हैं, जिनके किनारो पर नारियल के वृक्ष उगे होते हैं।

तट तथा किनारे का वर्गीकरण
(*Classification of Coasts and Shorelines*)

सामान्य परिचय—तट तथा किनारो के व्यवस्थित तथा सुनिश्चित वर्गीकरण के विषय में अत्यधिक मतान्तर है। इतना ही नही, विद्वत्समाज मे तट तथा किनारो के विषय मे अनेक प्रकार के भ्रम भी हैं। कुछ लोग तट तथा किनारो को अलग-अलग मानते हैं तथा किनारो को एक ही रूप प्रदान करते हैं। लेखक भी अन्तिम विचारधारा का ही समर्थक है, क्योंकि तट तथा किनारे मे इतना सूक्ष्म अन्तर होता है कि उनको महत्त्व नही दिया जा सकता है। वर्तमान समय तक तट तथा किनारो के जितने भी वर्गीकरण प्रस्तुत किये गये हैं वे परस्पर विरोधी ही हैं, क्योंकि प्रत्येक वर्गीकरण के आधार भिन्न-भिन्न हैं। तट तथा किनारो के वर्तमान वर्गीकरणो मे भ्रम के अनेक कारण हैं—1. तट तथा किनारो के वर्गीकरण अलग-अलग किये गये हैं। 2. वर्तमान समय मे जितनी भी तट रेखायें हैं, वे सामान्य न होकर अत्यन्त जटिल हैं। अत: उनका वास्तविक रूप जानना कठिन है। 3 वर्गीकरण का आधार सागर-तल भी सुनिश्चित नही है क्योंकि प्रायः प्रत्येक तट तथा किनारे पर उन्मज्जन तथा निमज्जन अर्थात् सागर-तल में उभार तथा पतन (Rise and fall) के लक्षण मिलते हैं। इस तरह से वर्तमान समय तक तटो का वर्गीकरण विवादास्पद समस्या है। जहाँ पर केवल तट का प्रयोग हो वहाँ पर इसका तात्पर्य तट तथा किनारे, दोनो से लेना चाहिये। सर्व प्रथम हम जानसन महोदय के वर्गीकरण का उल्लेख करेंगे। यह स्मरणीय है कि जानसन ने केवल किनारे (Shore lines) का वर्गीकरण प्रस्तुत किया है।

जानसन का वर्गीकरण (Classification of Shorelines by Johnson)—जानसन महोदय ने सन् 1919 ई०[1] मे किनारे का **आनुवंशिक वर्गीकरण** (Genetic classification) प्रस्तुत किया, जिसके अनुसार किनारो को चार भागो मे विभक्त किया गया है। इस विभाजन के दो प्रमुख आधार हैं—1. सागर-तल *के परिवर्तन से पहले किनारे वाले स्थल की प्रकृति या स्वभाव*, अर्थात् सागर तल के परिवर्तन के पहले किनारा *उच्च भाग था या निम्न भाग, तथा 2. सागरीय तल के* परिवर्तन के कारण किनारे का जलमज्जन (Submergence) तथा *उन्मज्जन (Emergence)*। उपर्युक्त आधार पर जानसन ने किनारो का वर्गीकरण निम्न रूप मे प्रस्तुत किया है—

1 उन्मग्न सागरीय किनारे (Shorelines of Emergence)।

2. जलमग्न सागरीय किनारे (Shorelines of Submergence)।

3. उदासीन सागरीय किनारे (तटस्थ किनारे—Neutral Shorelines)।

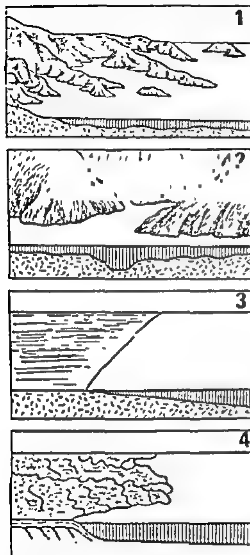
4. मिश्रित सागरीय किनारे (Compound Shorelines)।

(i) **उन्मग्न सागरीय किनारा**—(Shorelines of Emergence)—इसका *निर्माण उस समय होता है जब* कि सागर या झील की तली ऊपर को उठती है। उन्मग्न किनारे का दो रूपों मे विकास हो सकता है। या तो सागर-तल किनारे की अपेक्षा नीचा हो जाय या किनारे का भाग ही सागर-तल से ऊपर उठ जाय। हिमचादर के निर्माण के समय सागरो का अधिकाश जल खर्च हो जाता है जिस कारण सागर-तल नीचे गिर जाता है। इसी हिमचादर के स्थल खण्डों से हटते समय भार कम हो जाने से सागर-तल की अपेक्षा स्थल भाग ऊपर उठते हैं।

(ii) **जलमग्न सागरीय किनारा** (Shorelines of Submergence)—जब किनारे का भाग सागर-तल

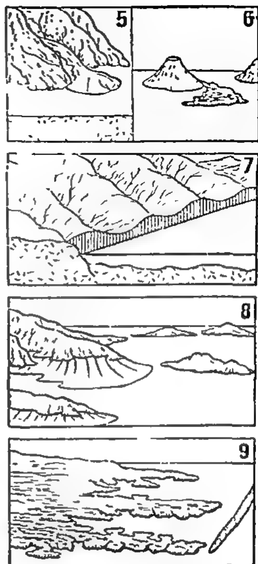
1. Johnson, D W., 1919 : Shore Processes and Shorelines Development. John Wiley and Sons, New York, p. 584.

की अपेक्षा नीचा हो जाता है तथा उसका कुछ भाग डूब जाता है तो उसे जलमग्न किनारा कहते हैं। इस तरह के किनारे का निर्माण दो रूपों में हो सकता है, या तो स्थल भाग नीचे चला जाय या सागर-तल उठ जाय। हिमचादर के पिघलने से प्राप्त जल के कारण सागर-तल ऊँचा हो जाता



चित्र 311—सागरीय किनारों (Shore lines) के प्रकार—1 रियातट (जलमग्न) 2 फियोर्डतट (जलमग्न), 3 तटीय मैदानवाला तट (जलमग्न) तथा 4. डेल्टाई-किनारा (उदासीन तटस्थ तट-Neutral)।

है, जिससे किनारा जलमग्न हो जाता है। इसी तरह हिमानीकरण के समय हिमाच्छादन के कारण स्थल भाग



चित्र 312—सागरीय किनारों के प्रकार 5. जलोढ़ मैदान-तट, 6 ज्वालामुखी जनित किनारा, 7 भ्रंश (Fault) जनित किनारा, 8 मिश्रित किनारा (Shoreline of Submergence followed by Emergence) तथा 9. मिश्रित किनारा (Shoreline of Emergence followed by Submergence)

भार के कारण नीचा हो जाता है जिससे किनारा जलमग्न हो जाता है। जानसन महोदय ने जलमग्न किनारे के अन्तर्गत दो उपविभागों का उल्लेख किया है -(अ) रिया किनारा (Ria shorelines) —इसका निर्माण भूपृष्ठीय अपरदन (Subaerial erosion) द्वारा प्रभा-

वित स्थल के आंशिक रूप से जलमग्न होने से होता है। वास्तव में नदियों की एस्चुअरी (Estuary) के जलमग्न हो जाने से रिया का निर्माण होता है। रिया किनारा कीपाकार (Funnel shaped) होता है तथा स्थल की ओर सकरा होता है। इस तरह रिया के शीर्ष भाग पर नदी का मुहाना तथा दूसरे सिरे पर खुला सागर होता है। (ब) फियोर्ड किनारा (Fiord shorelines)—हिमानी-कृत द्रोणी (Glacial troughs) के जलमग्न हो जाने से फियोर्ड किनारे का निर्माण होता है। हिमानीकरण के समय हिम नदियाँ (Glaciers) तट के पास गहरी घाटियों का निर्माण करती हैं। बाद में हिम के पिघलने के कारण प्राप्त जल से सागर-तल के ऊपर उठने से ये घाटियाँ जलमग्न हो जाती हैं तथा फियोर्ड का निर्माण होता है।

(iii) उदासीन किनारा या तटस्थ किनारा (Neutral Shorelines)—इस तरह के सागरीय किनारे का निर्माण न तो उन्मज्जन द्वारा होता है और न निमज्जन द्वारा ही, क्योंकि उदासीन किनारों के पास उन्मग्न या जलमग्न होने का कोई भी प्रमाण नहीं मिलता है। वास्तव में उदासीन किनारे का निर्माण मलवा के निक्षेपण से होता है। इस किनारे के अन्तर्गत जानसन ने छ प्रकार के किनारों का उल्लेख किया है 1. डेल्टा किनारा (Delta shorelines), 2. जलोढ मैदान किनारा (Alluvial plain shorelines), 3. हिमनद अवक्षेप किनारा (Outwash plain shorelines), 4. ज्वालामुखी किनारा (Volcanic shorelines), 5. प्रवाल-भित्ति किनारा (Coralreef shorelines) तथा 6. भ्रंश किनारा (Fault shorelines).

(iv) मिश्रित किनारा (Compound shorelines)—जहाँ पर उन्मज्जन तथा जलमज्जन (Emergence and submergence) दोनों के प्रमाण मिलते हैं, वहाँ पर मिश्रित किनारा होता है। प्लीस्टोसीन हिमानीकरण के समय हिमचादर के पिघलने के कारण प्राप्त जल से सागर तल में उभार के कारण किनारों का जलमज्जन होने लगा, परन्तु स्थल भाग से हिमचादर के हट जाने के कारण भार में कमी आ जाने से थल भाग के ऊपर उठने से किनारों में पुनः उन्मज्जन प्रारम्भ हो गया। इस तरह के प्रभाव वाले किनारों को मिश्रित किनारा (Compound shorelines) कहते हैं। युरोप के नार्वे तथा स्वीडन का मध्यवर्ती भाग तो अब भी ऊपर उठ रहा है।

जानसन के वर्गीकरण का मूल्यांकन (Evaluation of Johnson's Classification)—जानसन के वर्गीकरण में कई गुणों के होते हुए भी उसकी आलोचना भी की गई है। जानसन के कई समर्थकों ने इस वर्गीकरण को आलोचना के प्रहार से बचाने का प्रयास भी किया है। जानसन महोदय ने स्वयं भी अनेक आलोचनाओं तथा आशंकाओं का समाधान करने का भरसक प्रयास किया है। लक महोदय (J. B. Lucke, 1938) ने जानसन के वर्गीकरण का घोर समर्थन किया है तथा इस वर्गीकरण में कई गुण बताये है—1. जानसन का वर्गीकरण साधारण तथा बोधगम्य है। 2. यह एक पूर्ण तथा सुनिश्चित वर्गीकरण है। 3. यह एक आनुवंशिक (Genetic) वर्गीकरण है; 4. इसे आसानी से व्यवहार में लाया जा सकता है तथा 5 यह अन्य वर्गीकरणों से अधिक व्यवस्थित है। समर्थन के अलावा इस वर्गीकरण की आलोचना भी की गई है। प्रमुख आलोचकों में शेपर्ड महोदय (F. P. Shepard, 1937 तथा 1938) उल्लेखनीय हैं। चूँकि प्रायः प्रत्येक किनारे पर जलमज्जन के लक्षण मिलते हैं, अतः शेपर्ड के अनुसार जानसन का किनारों का उन्मग्न, तथा जलमग्न, दो रूपों में वर्गीकरण न्यायोचित नहीं है। प्रत्येक किनारे, इस तरह मिश्रित हो सकते हैं। शेपर्ड ने बताया कि जानसन के विचारों से यह झलकता है कि अपतट रोधिकायें (Off shore bars) उन्मग्न किनारों (Shore line of emergence) की परिचायिका होती हैं परन्तु यह सत्य नहीं है। यहाँ पर उल्लेखनीय है कि शेपर्ड का यह विरोध असंगत है, क्योंकि जानसन ने अपने मौलिक वर्गीकरण में इस तरह का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है। इनके समर्थकों ने बाद में अज्ञानतावश इस तरह का उल्लेख कर दिया है। अतः इसे जानसन का दोष नहीं मानना चाहिए। शेपर्ड ने डेल्टा किनारे को उदासीन किनारे का रूप मानने से असहमति प्रकट की है, क्योंकि डेल्टाई भागों में भी जलमज्जन या अवतलन (Submergence or subsidence) के उदाहरण मिलते हैं। उदाहरण के रूप में इन्होंने मिसीसिपी डेल्टा को प्रस्तुत किया है। इस तरह 'डेल्टा किनारा' उदासीन किनारा नहीं हो सकता है। शेपर्ड के अनुसार जानसन ने अपने वर्गीकरण में हिमानीकरण (Glaciation) के समय हिमाच्छादन के पिघलने के कारण सागरतल में होने वाले सुस्थैतिक परिवर्तनों (Eustatic changes in sea level due to glaciation and deglaciation) को ध्यान

मे नहीं रखा है। जानसन महोदय (D W Johnson 1948) ने अपने दो लेखो मे अपने वर्गीकरण से सम्बन्धित आलोचनाओ के निराकरण का सफल प्रयास किया है। उन्होंने बताया कि अपतट रोधिकायें (Offshore bars) कई प्रकार के तटो की विशेषतायें हो सकती है, परन्तु उन्ही के आधार पर किनारो का वर्गीकरण नही किया जा सकता है। इस तरह "विशेषता" (Characteristics) तथा "कसौटी (Criterion) को स्पष्ट रूप से समझना चाहिए। वास्तव मे जानसन ने कुछ विचित्र आकृतियो को विशिष्ट प्रकार के तट या किनारे की विशेषता के रूप मे बताया था परन्तु आलोचको ने उन उल्लिखित विशेषताओ को किनारे के वर्गीकरण का आधार (कसौटी) समझ लिया। जानसन ने पुनः बताया कि किनारो का वर्गीकरण सामान्य-तल के परिवर्तनो को पूर्णतया ध्यान म रख कर किया गया था। सागर-तल का परिवर्तन जानसन के अनुसार हिमानी नियंत्रण (Glacial control) के कारण ही होता है।

शेपर्ड का वर्गीकरण (Shepard's Classification of Coasts)—सर्वप्रथम सन् 1937 ई० म शेपर्ड महोदय (F P. Shepard) ने केवल तटो (Coasts) का वर्गीकरण प्रस्तुत किया था, जिसकी लक महोदय द्वारा कटु आलोचना की गई। शेपर्ड के 1937 के वर्गीकरण मे लक ने चार प्रमुख दोष बताये थे—1 शेपर्ड का वर्गीकरण किनारे का न होकर केवल तट का ही वर्गीकरण है। 2. शेपर्ड के वर्गीकरण का मुख्य आधार तटीय चार्ट (Coastal charts) है, जो कि तटों या किनारों के वर्गीकरण के लिए समर्थ नही है। 3 यह वर्गीकरण तट के विकासीय परिवर्तनों (Evolutionary changes) के विषय मे विवरण प्रस्तुत करने मे असमर्थ है। 4. इस तरह कुल मिलाकर शेपर्ड का वर्गीकरण अधूरा है। सन् 1938 ई० मे शेपर्ड ने अपने वर्गीकरण के विरोध मे बताई गई आलोचनाओ का निराकरण एक लेख द्वारा किया।[1] सन् 1948 ई० मे शेपर्ड ने, अपने पहले वाले वर्गीकरण मे सुधार करके एक ऐसे नवीन वर्गीकरण का प्रतिपादन किया, जिसमे तट तथा किनारो, दोनों को सम्मिलित किया गया था। इस तरह अपने संशोधित वर्गीकरण द्वारा शेपर्ड ने अपनी अनेक आलोचनाओ का निराकरण स्वय कर लिया। नीचे शेपर्ड के संशोधित वर्गीकरण के मूलस्वरूप को प्रस्तुत किया जा रहा है—शेपर्ड ने अपने इस नवीन वर्गीकरण का मुख्य आधार तट के विकास की अवस्था तट के निर्माण तथा विकास मे सलग्न कारक आदि को बनाया है। सर्वप्रथम तट की आकृतियो के निर्माण म सहायक साधनो के आधार पर तट तथा किनारे को दो मुख्य भागो म विभाजित किया गया है—1 **प्राथमिक तट तथा किनारे**—जिनकी रचना गैर सागरीय शक्तियो (Non marine agencies) द्वारा हुई है।

2 *द्वितीयक या गौण तट तथा किनारे*—जिनकी रचना सागरीय शक्तियों द्वारा हुई है। पुन इनका उपविभाजन अपरदन निक्षेप, निमज्जन उन्मज्जन उत्थान (Upwarping) अवतलन (Down warping) ज्वाला मुखी क्रियाँ आदि आधारो पर किया गया है।

(अ) प्राथमिक या तरुण तट तथा किनारे (Primary or Youthful Coasts and Shorelines)—इनकी रचना मे गैर सागरीय शक्तिया अर्थात् स्थलीय शक्तियो का ही हाथ रहता है। इनको पुन: चार उपविभागों तथा 12 गौण भागो म विभाजित किया जाता है।

1 स्थल पर अपरदन द्वारा निर्मित तथा हिमचादर के हटने या अवतलन (Down warping) के कारण तल मे उभार (Rise) के कारण जलमग्न तट तथा किनारे।

i जलमग्न नदी तट (रिया तट) (Drowned river coasts)।

ii *हिमानीकृत जलमग्न तट* (Drowned glaciated coasts—फियोर्ड)।

2 स्थलपर निक्षेप द्वारा निर्मित तट।

अ—नदी निक्षेप द्वारा बने तट।

1 डेल्टा तट।

2 जलमग्न या डूबे हुए जलोढ मैदान तट (Drowned alluvial plain coasts.)

ब—हिम-निक्षेप द्वारा निर्मित तट।

1 आंशिक रूप मे निमज्जित (Submerged) हिमोढ़ तट।

1. Shepard, F. P., 1937 –Revised Classification of marine shorelines, J Geol 45 pp 602-624.

3. आंशिक रूप से निमज्जित डुमिलन तट ।

स—वायु निक्षेप-जनित तट ।

द—वनस्पति जनित तट (Vegetation extended coasts) ।

4. ज्वालामुखी-क्रिया द्वारा रचित तट (Coasts Shaped by Volcanic activity) ।

1. अभिनव-लावा-प्रवाह पर रचित तट (Coasts on recent lava flows) ।

2. ज्वालामुखी के कारण ध्वस्त होने या ज्वालामुखी के विस्फोट होने या फटने से निर्मित किनारा ।

5. पटल विरूपण द्वारा रचित तट (*Coasts Shaped* by Diastrophism) ।

1. भ्रंश कगार तट (Fault scarp coasts) ।

2. वलित शैल पर रचित तट—(Coasts on folded rocks) ।

(ब) द्वितीयक या प्रौढ़ावस्था के तट तथा किनारे—इनकी रचना में सागरीय शक्तियों (Secondary or Mature Coasts and Shorelines) का ही हाथ रहता है ।

1. सागरीय अपरदन द्वारा रचित किनारा (Shorel-ines shaped by marine erosion) ।

1. सागरीय अपरदन द्वारा सीधा किया हुआ किनारा (Shorelines straightened by marine *erosion*) ।

2. सागरीय अपरदन द्वारा असमान या टेढ़ा-मेढ़ा किनारा (Irregular shorelines by marine erosion) ।

2. सागरीय निक्षेप द्वारा रचित तट तथा किनारा ।

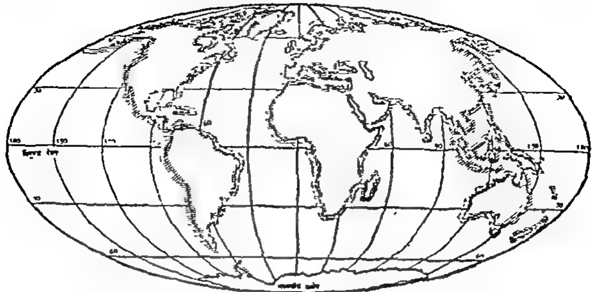
1. सीधे किनारे (Straightened shorelines) ।

2. *समुद्रोन्मुखी तटीय प्रसार द्वारा निर्मित किनारा* (Prograded shorelines) ।

3. अपतट रोधिकायें तथा वेलाचली स्पिट युक्त किनारा । (Shorelines with offshore bars and long shore spits) ।

4 प्रवाल भित्ति द्वारा रचित तट (Coralreef coasts) ।

निष्कर्ष (Conclusion—ऊपर जिन दो प्रमुख वर्गीकरणों का उल्लेख किया गया है, वे यद्यपि अभिनव वर्गीकरण (Recent classification) ही माने जाते है तथापि उनको पूर्ण समर्थन प्राप्त नही है । **स्वेस** ने तटों को **प्रशान्त-तुल्य तट** (Pacific-type coasts) तथा **अटलांटिक-तुल्य तट** (Atlantic-type coasts) इस तरह दो प्रकारों में विभाजित किया है । प्रशान्त-तुल्य तट वलित पर्वतों के समानान्तर होते है तथा अटलांटिक तुल्य तट, महाद्वीपीय संरचना से स्वतन्त्र रूप में होते हैं, खासकर संरचना के अनुप्रस्थ (Transverse) होते है । Von Richtchofen नामक विद्वान् ने तटों को पाँच प्रकारों में विभाजित किया है । 1. **अनुदैर्ध्य तट** (*Longitudinal coast*)—*यह तट स्थलीय संरचना के* समानान्तर होता है । 2. **अनुप्रस्थ तट** (Transverse coast)—यह तट स्थलीय संरचना की आड़ी दिशा में होता है । 3. **डूबी हुई या जलमग्न बेसिन के तट** (Coasts *of the margines of foundered basins*), **पश्चिमी** रूम सागर के किनारे के तट इस व्यवस्था मे आते हैं । 4. **ब्लाक तट** (Block coasts)—वास्तव में ये पठार के किनारे वाले तट होते है । 5. **प्रादेशिक जलोढ़ तट** (*Regional alluvial coasts*) *। यदि इस वर्गीकरण को* ध्यान से देखा जाय तो प्रथम तथा तृतीय प्रकार के तट स्वेस *के पैसेफिक-तुल्य तट के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं तथा* ब्लाक तट तथा द्वितीय प्रकार के तटों को स्वेस द्वारा *बताये गये अटलांटिक-तुल्य तट के अन्तर्गत सम्मिलित* किया जा सकता है । काटन महोदय ने सन् 1942 ई० मे तटों का वर्गीकरण प्रस्तुत किया । परन्तु अपनी पुस्तक 'Geomorphology' (1945) इन्होंने उन्मग्न तथा जलमग्न तटों का ही उल्लेख किया है । इन्होंने उदासीन (तटस्थ) तथा मिश्रित तटों का उल्लेख नही किया है । इस तरह हम देखते हैं कि तटों तथा किनारों का यदि अलग-अलग वर्गीकरण किया जाता है तो उनमे अतिव्यापन (Overlaping) ही होता है । अत तट तथा किनारे को अलग-अलग न समझ कर एक ही समझना चाहिये तथा इनका वर्गीकरण एक ही होना चाहिये ।



चित्र 313—सागरीय तट के प्रकार ।

सागरीय किनारों का विकास तथा अपरदन-चक्र (Development of Shorelines and Cycle of Erosion)

सामान्य परिचय—सागरीय तटों तथा किनारों का विकास निश्चित रूप से एक चक्रीय व्यवस्था के अन्तर्गत होता है। सरिताओं के समान ही सागरीय किनारों पर स्थलरूपों का विकास विभिन्न अवस्थाओं में होता है। चूंकि तट तथा किनारे आपस में पर्याप्त भिन्न होते हैं, अतः उनका अपरदन-चक्र भी पर्याप्त भिन्न होता है। सागरीय किनारों के उन्मग्न किनारे (Shorelines of emergence) तथा जलमग्न किनारे (Shorelines of submergence) दो रूपों के साथ अपरदन-चक्र का विकास अलग-अलग होता है तथा दोनों में पर्याप्त भिन्नता होती है। इसी कारण से दो विभिन्न प्रकार के किनारों के अपरदन-चक्र का अध्ययन अलग-अलग किया जाता है। सागरीय किनारों के अपरदनचक्र में यद्यपि सागरीय तरंगों तथा धाराओं का हाथ सर्वाधिक रहता है परन्तु अपक्षय (Weathering) तथा उससे प्रभावित भूमिस्खलन (Land slides) एवं अव-पतन (Slumping) और कुछ सीमा तक सरिताओं का भी हाथ रहता है। कुल मिलाकर सागरीय जल के प्रभुत्व के कारण किनारों के अपरदन-चक्र को "सागरीय अपरदन चक्र" (Marine cycle of erosion) की ही संज्ञा प्रदान की जाती है। जिस तरह नदी द्वारा अपरदन-चक्र बीच ही में अव्यवस्थित तथा बाधित (Interrupted) हो जाता है तथा पुनः नवीन चक्र प्रारम्भ होता है उसी तरह सागरीय किनारों के चक्र में भी व्यवधान उपस्थित हो जाता है। सागरीय चक्र का व्यवधान मुख्य रूप से भूपटलीय संचलन (Crustal movements—उत्संवलन upwarping, अवसंवलन – downwarping, उत्थान—upliftment अवतलन—subsidence वलन—folding, भ्रंशन—faulting आदि) से ही उपस्थित होता है। तट तथा किनारे के स्थलरूपों का विकास वहाँ की संरचना, उसकी प्रकृति तट के विन्यास या स्वरूप (Configuration of coasts) तथा तरंगों एवं धाराओं की शक्ति तथा प्रकृति पर आधारित होता है। सैद्धान्तिक रूप में सागरीय अपरदन-चक्र तरुणावस्था प्रौढ़ावस्था तथा जीर्णावस्था से गुजरता है परन्तु 'जीर्णावस्था' के तट के उदाहरण बहुत ही कम मिलते हैं। सागरीय किनारों के अपरदन-चक्र के पूर्ण रूप में सम्पन्न होने के लिये आवश्यक है कि किनारा एक लम्बे समय तक स्थिर रहे। यह दशा केवल सैद्धान्तिक रूप में ही सुलभ है, प्रयोग में नहीं, क्योंकि अस्थिर पृथ्वी के अन्तर्जात बलों (Endogenetic forces) के कारण पटलविरूपणकारी संचलनों (Diastrophic movements) के कारण सागर-तल में परिवर्तन तथा स्थलखण्ड में उत्थान तथा अवतलन प्रायः नित होते रहते हैं। सागरीय अपरदन-चक्र की अवस्थायें

किनारे की च न तथा सागरीय तरङ्गो की शक्ति पर आधारित होने से एक ही किनारे पर कभी-कभी अलग-अलग रूप मे सम्पादित होती है। अर्थात् एक ही किनारे के सहारे कहीं पर युवावस्था तो कहीं पर प्रौढावस्था का विकास ो सकता है। अब उन्मग्न तथा जलमग्न किनारो पर अपरदन-चक्र का अलग-अलग उल्लेख किया जायेगा।

जलमग्न किनारे पर अपरदन-चक्र (Cycle of Erosion of Shorelines of Submergence)

प्रारम्भिक अवस्था—जलमग्न किनारे के चक्र की प्रारम्भिक अवस्था किनारे के जलमज्जन से प्रारम्भ होती है। अर्थात् किनारे सागर-तल से नीचे चले जाते हैं जिससे अधिकाश किनारा डूब जाने के कारण जलमग्न हो जाता है। जलमग्न दो रूपो मे हो सकता है—या तो सागर-तल मे उभार (Rise) हो जाय, जिस कारण सागरीय किनारा जलमग्न हो जाय, या सागरीय किनारा का ही अवतलन हो जाय, जिससे वह वास्तविक सागर-तल से अधिक नीचा हो जाने से जलमग्न हो जाय। जलमज्जन के कारण निर्मित जलमग्न किनारे का चक्र से पहले का प्रारम्भिक रूप अत्यन्त असमान होता है। नदियो द्वारा निर्मित घाटी या हिमानीकृत घाटियो के जलमज्जन के कारण जलमग्न किनारो पर अनेक निकले हुए शीर्षस्थल (Head lands), खाड़ियाँ (Bays), प्रायद्वीप (Peninsulas) तथा असख्य द्वीपो का आविर्भाव होता है। यदि सपाट जलोढ़ मैदान, डेल्टा या हिम मैदान का जलमज्जन होने से जलमग्न किनारे का आविर्भाव होता है तो किनारा अधिक असमान नही हो पाता है। जलमग्न किनारा या तो **रिया तट** (Ria coast) होता है या **फियोर्ड**। जलमज्जन के कारण नदियो का निचला भाग (जो कि सागर मे गिरता है) विच्छिन्न (Dismember) हो जाता है। सयुक्त राज्य अमेरिका की **चेसापीक खाड़ी** (Chesapeak Bay) के जलमज्जन के कारण सस्क्वेहना नदी (Susquehanna River) की सहायक नदियाँ जेम्स, पोटमक आदि विच्छिन्न (Dismembered) हो जाने के कारण वर्तमान समय मे अलग-अलग प्रवाहित होती हैं तथा प्रत्येक स्वतन्त्र नदी हो गई है। अन्तर्सरिता कटक (Inter-stream ridges) जलमज्जन के बाद सागर की ओर **शीर्षस्थल** (Head lands) के रूप मे निकले रहते है। जलमज्जन के पूर्व स्थित तट की स्थलाकृति तथा उस भाग की शैल-सरचना के अनुसार जलमग्न किनारे की प्रारम्भिक अवस्था भिन्न-भिन्न हो सकती है, परन्तु कुछ को छोड़कर जलमग्न तट का प्रारम्भिक रूप अत्यन्त असमान होता है। इस प्रारम्भिक अवस्था के साथ ही सागरीय तरगो तथा धाराओ द्वारा तट तथा किनारे पर अपरदन प्रारम्भ हो जाता है तथा किनारा चक्र की तरुण, प्रौढ तथा जीर्ण अवस्थाओ से होकर गुजरने लगता है। विभिन्न अवस्थाओ मे उत्पन्न स्थलाकृतियो तथा उनकी विशेषताओ का नीचे सक्षिप्त उल्लेख किया जा रहा है—

तरुणावस्था (Youthful stage)—जलमग्न तट के आविर्भाव के साथ ही प्रारम्भिक युवावस्था या तरुणावस्था का श्रीगणेश होता है तथा तरगें तट के पास अपरदन करना प्रारम्भ कर देती है, जिस कारण **'विशेषक अपरदन'** (Differential erosion) द्वारा सागरीय किनारा अत्यन्त टेढा-मेढा एव असमान हो जाता है। प्रारम्भिक तरङ्ग-अपरदन के कारण तट के सहारे कोमल चट्टानें शीघ्र कट जाती है तथा अपेक्षाकृत कठोर चट्टानें सागर की ओर निकली होती है। इस तरह तट के पास लघु निवेशिकायें (Coves) बनती है। स्थल का सागर की ओर निकला हुआ भाग **"शीर्षस्थल"** (Head land) का रूप धारण कर लेता है। इन आकारो के कारण सागरीय किनारा **सूक्ष्मदन्ती** (Crenulate) हो जाता है, अर्थात् कुछ भाग निकला रहता है तथा कुछ भाग स्थल की ओर घुसा रहता है। सागरीय तरगे तट से टकरा कर क्लिफ का निर्माण करती हैं परन्तु प्रारम्भिक तरुणावस्था मे क्लिफ सामान्य ऊँचाई वाला तथा अविकसित रूप वाला ही होता है। तरगें धीरे-धीरे तट की ओर अपरदन करके **तरङ्ग घर्षित प्लेटफार्म या वेदिका** (Wave-cut platform) का निर्माण करती हैं। ये प्लेटफार्म प्रारम्भिक अवस्था मे सँकरे तथा कम विस्तृत होते हे परन्तु अपरदन के साथ-साथ इनका विस्तार होता रहता है। यद्यपि प्रारम्भिक तरुणावस्था मे अपरदन का ही प्रभुत्व रहता है, परन्तु कुछ निक्षेपण द्वारा अस्थायी स्थलरूपो का भी विकास हो जाता है। उदाहरण के लिये पृष्ठ किनारे (Back shore) पर अस्थायी **पुलिन** (Beach) का निर्माण हो जाता है। **तरङ्ग घर्षित प्लेटफार्म** पर अपरदन के कारण **महराब** (Arch), **स्टेक** (Stack), कन्दरा (Caves) तथा **प्राकृतिक चिमनी** (Natural chimneys) का विकास होता है। वास्तव मे ये आकृतियाँ अपरदन के अवशिष्ट भाग ही होती हैं।

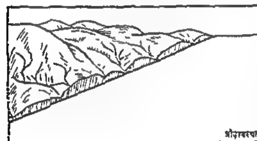
सागर की ओर निकले हुये शीर्षस्थलों (Head-lands) में अपरदन द्वारा तरंगें कन्दरा का निर्माण करती हैं। जब एक शीर्षस्थल के दो किनारों पर निर्मित कन्दरायें विस्तार द्वारा आपस में मिल जाती हैं तो जल उनमें आर-पार होकर बहने लगता है। इस तरह **महराब** (Arch) का निर्माण होता है। महराब की छत जब ढह जाती है तो शीर्षस्थल का सागर की ओर का भाग किनारे से दूर हो जाता है, जिस कारण छोटे-छोटे द्वीपों का निर्माण होता है। प्रारम्भिक तरुणावस्था में ये द्वीप आकार में बड़े होते हैं किन्तु संख्या में कम होते हैं।

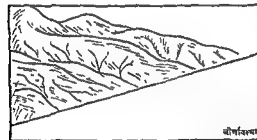
पूर्ण या अन्तिम तरुणावस्था के समय तरङ्ग घर्षित प्लेटफार्म (Wave-cut platform) अत्यधिक विस्तृत हो जाते हैं। अपरदन के कारण शीर्षस्थलों का लोप होने लगता है तथा इस अवस्था के अन्त तक अधिकांश शीर्षस्थल लुप्त हो जाते हैं। निक्षेप का कार्य प्रगति पर होता है। सागरीय किनारे के सहारे पुलिन (Beaches) का बड़े पैमाने पर निर्माण हो जाता है। किनारे के पास तथा दूर विभिन्न स्थानों पर तरह-तरह की रोधिकाओं (Bars) का निर्माण होता है। अपतट रोधिका (Off shore bars), संयोजक रोधिका (Connecting bars), स्पिट (Spit), हुक (Hook), छल्ले या लूप (Loop), लूप या छल्लेदार रोधिका (Looped bars) तथा टाम्बोलो (Tombolo), का निर्माण हो जाता है। खाड़ियों के विभिन्न भागों में विभिन्न प्रकार की रोधिकाओं का निर्माण होता है। उदाहरण के लिए खाड़ी के शीर्ष भाग में **खाड़ी शीर्ष रोधिका** (Bayhead bars), खाड़ी के मध्य भाग में **मध्य खाड़ी रोधिका** (Mid bay bars) तथा खाड़ी के मुख पर **खाड़ी मुख रोधिका** (Bay mouth bars) का निर्माण होता है। सागरीय किनारे के सहारे तरङ्ग घर्षित प्लेटफार्म के ऊपरी भाग (किनारे के पास) पर निर्मित विस्तृत पुलिनों (Beaches) के अलावा शीर्षस्थल के सहारे **शीर्षस्थल पुलिन** (Headland beach) खाड़ी के शीर्ष भाग के सहारे **खाड़ी शीर्ष पुलिन** (Bay head beach) का निर्माण हो जाता है। जब खाड़ी मुख रोधिकायें खाड़ी के अग्रभाग को बन्द कर देती हैं तो किनारे तथा खाड़ी मुख रोधिकाओं के बीच बन्द जल **लैगून** (Lagoons) का रूप धारण कर लेता है। जब लैगून का सम्पर्क सागरीय भाग से नहीं हो पाता है तो नदियों द्वारा निक्षेप के कारण लैगून उथला होता [illegible] है तथा कभी-कभी तलछट भरकर दलदल में बदल जाता है। परन्तु प्रायः ऐसा होता है कि ज्वारीय तरंग खाड़ी मुख रोधिकाओं को स्थान-स्थान पर तोड़ कर लैगून में पहुँच जाती हैं, जिससे लैगून का सम्बन्ध सागर से हो जाता है। जिन मार्गों से होकर ज्वारीय तरंगें लैगून में प्रविष्ट होती हैं उन्हें **ज्वारीय प्रवेशद्वार** (Tidal inlets) कहते हैं। **अपतट रोधिकाओं** (Off shore bars) के पीछे तथा सागरीय किनारों के मध्य (रोधिका तथा किनारे के मध्य) भी लैगून का निर्माण हो जाता है। इस अवस्था में क्लिफ (Cliff) का पूर्ण विकास हो जाता है, जिस कारण किनारे का ढाल तीव्र तथा खड़ा रहता है। क्लिफ का ऊपरी भाग सागर की ओर इतना अधिक निकला रहता है कि नीचे अर्थात् आधार में आश्रय न मिलने के कारण वह टूट कर सागर की ओर गिरने लगता है जिससे क्लिफ पीछे की ओर अर्थात् स्थल की ओर सरकने लगता है। इस क्रिया के कारण "तरङ्ग घर्षित प्लेटफार्म" का अधिक विस्तार होता रहता है। द्वीपों के किनारे पर भी क्लिफ का निर्माण होता है। शीर्षस्थल (Headland) तथा द्वीपों के दोनों किनारों पर स्पिट (Spit) का निर्माण इस तरह होता है कि वे पंख के सदृश लगते हैं। इन्हें **पंखयुक्त शीर्षस्थल** (Winged headlands) कहते हैं। द्वीपों की संख्या अधिक हो जाती है, किन्तु उनका आकार अधिक छोटा होता है।

प्रौढ़ावस्था (Maturity) प्रौढ़ावस्था के आने से तरुणावस्था के अधिकांश स्थलों का लोप होने लगता है। तरङ्गों द्वारा अपरदन तथा निक्षेप के कारण किनारे के विभिन्न भागों का ढाल अलग हो जाता है। जहाँ पदार्थ अधिक होता है वह नीचे की ओर सरक जाता है या उसको तरङ्गों द्वारा परिवहन हो जाता है, अर्थात् अपरदन तथा निक्षेप के पूर्ण सामञ्जस्य हो जाने के कारण **साम्यावस्था की परिच्छेदिका** (या सन्तुलित परिच्छेदिका Profile of equilibrium) का विकास हो जाता है। तट के पास क्लिफ तथा खाड़ियों के मुख पर अब भी रोधिकायें दिखाई पड़ती हैं, परन्तु क्लिफ का अपरदन तथा अपक्षय (Weathering) अधिक होने से वह निरन्तर पीछे हटते जाते हैं। ज्वारीय तरंग रोधिकाओं को स्थान-स्थान पर तोड़कर **प्रवेश मार्ग** (Inlets) से होकर लैगून में प्रवेश करती हैं। वायु तथा नदियों द्वारा लैगून धीरे-धीरे भर कर दलदल









चित्र 314—जलमग्न किनारे पर अपरदन-चक्र का विकास (Development of Cycle of Erosion on Shoreline of Submergence)।

मे बदल जाती है, जिनका तल ज्वारीय जल-तल के बराबर होता है। ज्वार के समय ज्वारीय तरंगें इन दलदलो को जलप्लावित कर देती हैं। प्रौढावस्था की अन्तिम अवस्था मे निक्षेप जनित विभिन्न प्रकार की रोधिकायें, स्पिट, हुक, टोम्बोलो आदि का लोप हो जाता है। शीर्षस्थलो (Head lands) का अधिक अपरदन हो जाने से तट या किनारा प्रायः सीधा हो जाता है। यद्यपि प्रौढावस्था के समय तक किनारा पूर्ण रूप मे सीधा तथा समान (Straight and regular) नही हो पाता है फिर भी तरुणावस्था के असमान किनारे की अपेक्षा अधिक सीधा तथा समान हो जाता है। क्लिफ तीव्र गति से अपरदित होकर पीछे हटता है, जिससे उसकी ऊँचाई तथा ढाल दोनो मे कमी आती जाती है। खाडी के मुख पर स्थित रोधिकायें खाडी को भरकर किनारे तथा तट को सीधा बनाने मे सतत् प्रयत्नशील रहती हैं। प्रौढावस्था के अन्तिम चरण तक समस्त निक्षेपजनित स्थलाकृतियाँ अदृश्य हो जाती हैं। वर्तमान समय मे प्रौढावस्था को प्राप्त सागरीय किनारो के उदाहरण बहुत ही कम हैं। सुदूर दक्षिणी इटली का पश्चिमी तट तथा दक्षिणी-पूर्वी इंग्लैंड के किनारे प्रौढावस्था को प्राप्त हो चुके है।

जीर्णावस्था (Old stage)—यदि तट तथा किनारा दीर्घकाल तक स्थिर रहता है तो जीर्णावस्था का भी सैद्धान्तिक रूप में (कम से कम) विकास हो जाता है। तट के स्थलीय भाग के अपरदन के कारको (नदी, पवन, भूमिगत जल तथा हिमानी) द्वारा अत्यधिक अपरदन द्वारा तट तथा किनारा अधिक नीचा हो जाता है। समीपी स्थलखण्ड अपरदित होकर सागर-तल के बराबर हो जाता है। सागरीय तरंगें भी तट तथा किनारे का इतना अधिक अपरदन कर देती है कि तट तथा किनारा सागर की ओर अत्यन्त मन्द ढाल वाला हो जाता है। इस कारण सागरीय तट तथा किनारे, दोनो पर उच्चावच (Reliefs) अत्यन्त निम्न हो जाते है। जल तथा थल का सगम एक सरल रेखा के रूप मे दृष्टिगोचर होता है। तट रेखा भी एक सीधी रेखा के रूप मे हो जाती है। वास्तव मे इस तरह के तट तथा किनारे का रूप केवल सिद्धान्त मे ही सम्भव होता है। वर्तमान समय में जीर्णावस्था को प्राप्त किनारे तथा तट का एक भी उदाहरण सुलभ नही है। इनका प्रमुख कारण यह है कि पृथ्वी की अस्थिरता के फलस्वरूप पटलविरूपणी संचलनों (Diastrophic movement) के कारण अवतल तथा उत्थान होते रहते है। तट तथा किनारे अधिक समय तक स्थिर नही रह जाते हैं।

उन्मग्न किनारे पर अपरदन चक्र
(Cycle of Erosion on Shorelines of Emergence)

सामान्य परिचय—जलमग्न तट तथा किनारे का सागरीय तरङ्गो तथा धाराओ द्वारा जब पूर्ण विकास हो जाता तो किनारे प्राय. सीधे हो जाते हैं। इस आधार पर यह विश्वास किया जाता है कि उन्मग्न तट

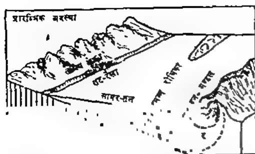
तथा किनारे भी प्रारम्भिक अवस्था (Initial stage) में सीधे होंगे। यद्यपि यह सम्भव हो सकता है, परन्तु यह सर्वदा नहीं हो सकता है। शेपर्ड महोदय[1] ने यह बताया कि कई तटीय भागों में जलमग्न महाद्वीपीय चबूतरों (Continental shelves) पर अत्यधिक असमानतायें होती हैं। जब उन्मज्जन (Emergence) द्वारा तट या किनारा ऊपर उठता है तो उसका आकार भी असमान होता है। इस तरह उन्मग्न तट या किनारे की प्रारम्भिक विशेषतायें स्थान पर उन्मज्जन के पहले किनारे तथा महाद्वीपीय चबूतरे की विशेषताओं पर आधारित होती है। उन्मग्न तटों का आविर्भाव दो रूपों में होता है—तट तथा किनारे का सागर-तल की अपेक्षा ऊँचा उठ जाना या सागर-तल का ही तट तथा किनारे की अपेक्षा नीचा हो जाना।

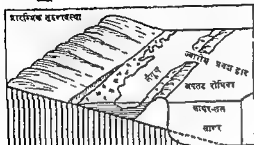
प्रारम्भिक अवस्था (Initial stage)—उन्मग्न सागरीय तट तथा किनारे पर स्थलाकृति का विकास मुख्य रूप से सुदूर किनारे (Off shore) के ढाल पर आधारित होता है। जानसन महोदय ने उन्मग्न तट पर स्थलरूपों के विकास का उल्लेख मन्द ढाल वाले सुदूर किनारे को आधार मान कर ही किया है। सागरीय किनारे के पीछे सागर तटीय मैदान हो सकता है जिसका विस्तार मन्द ढाल के साथ सागर की ओर होता है तथा इसका विस्तार जल के अन्तर्गत अधिक दूरी तक होता है। फ्लोरिडा (संयुक्त राज्य अमेरिका) के पश्चिमी तट से दूर 13 किलोमीटर तक तटीय मैदान का सागर में जल के अन्तर्गत विस्तार पाया गया है, जिस पर जल की गहराई केवल 6 मीटर तक ही है। इस तरह उन्मग्न तट की प्रारम्भिक दशा की निम्न विशेषतायें होती हैं—तट तथा किनारा प्रायः सीधे होते हैं, तट तथा किनारे से संलग्न तटीय मैदान का विस्तार अधिक दूरी तक होता है परन्तु इसका ढाल अत्यन्त मन्द होता है, इस मन्द ढाल वाले सुदूर किनारे (Off shore) पर जल की गहराई नितान्त कम होती है, उन्मग्न तट के सहारे स्थलाकृति सम्बन्धी विषम विन्यास (Unconformity) मिलता है क्योंकि उन्मज्जन के पहले नदियाँ तटीय मैदान तथा तट को अधिक काट कर पूर्ण तरुण या प्रौढ़ावस्था की घाटियों का निर्माण किए रहती हैं परन्तु उन्मज्जन के समय कुछ स्थलखण्ड के सागरीय जल से ऊपर आ जाने पर नदियों की ढालें बढ़ जाती हैं, जिस कारण नदियाँ नवोदित (नव उदित) स्थल भाग पर अपरदन द्वारा नवीन घाटी का निर्माण करने लगती हैं, इस कारण तट के पास नदी के ऊपरी भाग में पुरानी घाटियाँ तथा निचले भाग में (सागर के करीब) तरुण घाटियाँ मिलती हैं।

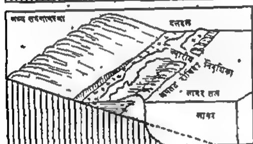
किनारे का जल के अन्तर्गत ढाल इतना मन्द होता है कि उसके सुदूर किनारे (Off shore) पर ही अधिकांश तरङ्गें टूटने लगती हैं। तरङ्गों का टूटना जल की गहराई तथा तरङ्गों की ऊँचाई पर आधारित होता है। ऊँची-ऊँची तरङ्गें तट-रेखा से कई किलोमीटर दूर ही सुदूर किनारे पर टूट जाती हैं। जिस रेखा पर ये तरङ्गें टूटती हैं उसे प्रतोडन रेखा (Plunge line) कहते हैं। कम ऊँची तथा छोटी छोटी तरङ्गें किनारे तथा तट तक भी पहुँच जाती हैं। इस तरह तट रेखा तक पहुँचने वाली तरङ्गें सर्वप्रथम तट की चट्टानों में अपरदन द्वारा खाँच या खाँत (Notches) तथा छोटे किन्तु कम ऊँचाई वाले क्लिफ का निर्माण करती हैं। इस तरह तट के आधार पर निर्मित क्लिफ निप (Nip) कहलाता है। ऊँची ऊँची लहरें तट रेखा से दूर सुदूर किनारे (Off shore) पर ही टूट जाती हैं। इन टूटने वाली तरङ्गों के कारण उत्पन्न अधः प्रवाह (Undertow) के कारण मलवा का कुछ भाग तट से दूर गहरे जल के अन्दर जलमग्न मैदानों पर निक्षेपित हो जाता है, जिस कारण अन्तःसागरीय रोधिकाओं (Submarine bars) का निर्माण हो जाता है। ये रोधिकायें इस प्रारम्भिक अवस्था तक जल के अन्दर ही विकसित होती रहती हैं। धीरे-धीरे इन रोधिकाओं की ऊँचाई में वृद्धि होती जाती है। ये अन्तःसागरीय रोधिकायें प्रायः सागर तट के समानान्तर होती हैं। परन्तु जैसे ही ये रोधिकायें स्थान-स्थान पर जल के ऊपर दिखने लगती हैं वैसे ही अपरदन-चक्र की तरुणावस्था प्रारम्भ हो जाती है।

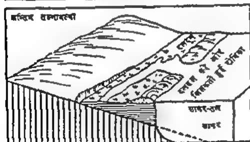
तरुणावस्था (Youthful Stage)—उन्मग्न तट के तरुणावस्था का विकास विभिन्न विद्वानों ने दो या तीन चरणों में बताया है। उदाहरण के लिए जानसन महोदय ने तरुणावस्था को प्रारम्भिक तथा अन्तिम दो चरणों में विभाजित किया है। [illegible] तरुणावस्था के प्रारम्भ का लक्षण [illegible] है कि अन्तःसागरीय रोधिकायें जल के ऊपर आ जाती हैं परन्तु ये रोधिकायें क्रमबद्ध नहीं होती हैं। इनका [illegible]

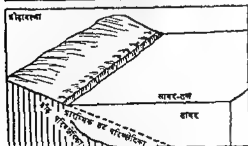
1. Shepard, F. P. 1948—Submarine Geology, Harper and Brothers, New York, p. 348











चित्र 315—उन्मग्न किनारे (shoreline of Emergence) का विकास ।

ही भाग स्थान-स्थान पर जल के ऊपर दृष्टिगत होता है । धीरे-धीरे ये रोधिकायें विस्तृत होकर आपस मे मिल जाती है तथा एक सुव्यवस्थित **अपतट रोधिका** (Off shore bar or barrier) के रूप मे परिवर्तित हो जाती हैं । इस तरह अपतट रोधिकाओ द्वारा किनारे का वाह्य भाग और **निपतट रेखा** (Nipped coast line) द्वारा आन्तरिक भाग का निर्धारण होता है । जब तक अपतट रोधिकाओ का पूर्ण विकास नही हुआ रहता है, तब तक निपतट-रेखा का छोटी-छोटी सागरीय तरङ्गो द्वारा अधिक अपरदन होता है, परन्तु अपतट रोधिकाओ के निर्मित हो जाने तथा उनके जल के ऊपर आ जाने पर निपतट-रेखाओ का अपरदन नही हो पाता है, क्योंकि अपतट रोधिकाये निपतट रेखाओ को तरङ्ग-अपरदन के विपरीत सरक्षण प्रदान करती है । निपतट रेखा तथा अपतट रोधिकाओ के बीच स्थित जल **लैगून** (Lagoon) का रूप धारण कर लेता है । तरुण उन्मग्न तट की सबसे बडी विशेषता इन्ही लैगून की स्थिति है । अपतट रोधिकाओ के निर्माण के लिए प्राप्त सामग्री के स्रोत-स्थल के विषय मे विद्वानो मे पर्याप्त मतभेद है । सन् 1890 मे **जी० के० गिलबर्ट** महोदय ने बताया कि अपतट रोधिकाओ का निर्माण उन पदार्थों से होता है, जो निपतट रेखा से क्लिफ के अपरदन से प्राप्त होते है तथा इन पदार्थों को **वेलांचली धारायें** (Long shore currents) परिवहन करके लाती है । इसके विपरीत ब्यूमाण्ट, डेविस तथा जानसन ने बताया कि अपतट रोधिका का निर्माण **सुदूर किनारे की तली** (Off shore bottom) के अपरदन से प्राप्त पदार्थों से होता है । वास्तव म जानसन महोदय ने निर्णायक के रूप में बताया कि अपतट रोधिका का पदार्थ गहरे भाग से ही आता है । इसका सबसे बडा प्रमाण यह है कि अपतट रोधिका के सागरवर्ती किनारे की ओर सागर-तली का निम्न कटाव (Deepening) अधिक होता है । आकार तथा विस्तार मे अपतट रोधिकाओ मे पर्याप्त अन्तर मिलता है । रेत की एक संकरी पट्टी से लेकर इनका विस्तार 3 से 5 किलोमीटर तक होता है । यदि अपतट रोधिकाओ मे तलछट के स्तरीकरण को देखा जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि इन रोधिकाओ का निर्माण विभिन्न चरणो मे सम्पन्न होता है । धीरे-धीरे अपतट रोधिकाओ का आकार इतना विस्तृत होता जाता है कि उनके किनारो पर **पुलिन कटक** (Beach ridges) का निर्माण हो जाता है । धीरे-धीरे जब अपतट रोधिका का अत्यधिक विस्तार हो जाता है तो पवन द्वारा बालुका **स्तूपों** या **टिब्बों** (Sand dunes) का निर्माण हो जाता है ।

अपतट रोधिकायें प्रायः लगातार या क्रमबद्ध नहीं होती हैं, बल्कि उनमें स्थान-स्थान पर खुला मार्ग होता है जिसके सहारे सागर का जल ज्वार के साथ लैगून में पहुँच जाता है। इन खुले मार्गों को ज्वारीय प्रवेश मार्ग (Tidal inlets) कहते हैं। वेलाचली धारायें (Littoral currents) मलवा के निक्षेप द्वारा इन प्रवेश मार्गों को बन्द करने का प्रयास करती हैं। कभी कभी ये द्वार बन्द हो जाते हैं तथा एक क्रमबद्ध (Continuous) अपतट रोधिका का निर्माण हो जाता है। इस तरह वेलाचली धारायें मार्गों को बन्द करने का तथा ज्वारीय तरङ्गें उन्हें सुरक्षित रखने का प्रयास करती हैं। इस प्रकार प्रवेश मार्गों की संख्या तथा आकार वेलाचली धारा तथा ज्वारीय तरङ्ग के सापेक्षिक सम्बन्ध पर आधारित होता है। यदि प्रवेश मार्गों (Inlets) की संख्या अधिक है, तो ज्वारीय तरङ्गों द्वारा लैगून तथा सागरीय जल में बराबर सम्पर्क बना रहता है तथा ज्वारीय तरङ्गों द्वारा अधिक मात्रा में लैगून में दलदली घासें उत्पन्न होती रहती हैं तथा लैगून का भराव इन घासों द्वारा होता रहता है।

लैगून की भी स्थिति अपरदन चक्र के साथ बदलती रहती है। यदि स्थल भाग से आने वाली नदियाँ लैगून में पर्याप्त मलवा जमा करती हैं तो धीरे धीरे लैगून भर जाती है। पवन भी रेत को उड़ाकर लैगून में जमा करती रहती है। कभी-कभी लैगून में वनस्पतियों के आने के कारण वह दलदल में बदल जाती है। ज्वारीय तरङ्गें प्रवेश-मार्ग (Inlet) द्वारा लैगून में प्रविष्ट होती हैं तथा पुनः उससे बाहर भी आती हैं। इस दौरान ज्वारीय तरङ्गें मलवा का परिवहन लैगून तथा पुनः सागर दोनों में करती हैं। तरङ्गें तथा धारायें तूफान के समय रोधिका के सागरवर्ती भाग पर टकरा कर उस अपरदित पदार्थ मलवा का निक्षेप रोधिका के सहारे लैगून में करती हैं जिस कारण रोधिका (Bars) के लैगून वाले किनारे के सहारे कई डेल्टा का निर्माण हो जाता है। इस डेल्टा के कारण रोधिका का लैगून वाला किनारा सूक्ष्मदन्ती (Crenulate) होता है, परन्तु सागरवर्ती किनारा साधारण तथा सीधा होता है।

तरुणावस्था के अन्तिम चरण में अपतट रोधिकाओं (Off shore bars) का तट की ओर खिसकाव होने लगता है। जब अपतट रोधिकायें अत्यधिक विस्तृत हो जाती हैं तो अवरोध के कारण सागरीय तरङ्गों का उन पर सर्वाधिक प्रहार होने लगता है। अपरदन के कारण रोधिका का सागरवर्ती किनारा नीचा होता जाता है तथा अपरदित पदार्थ दूसरे वाले किनारे पर जमा होने लगता है। इस तरह शनैः-शनैः रोधिकायें स्थल की ओर खिसकती जाती हैं। इस कारण रोधिका का आकार तथा विस्तार दोनों घटता जाता है, क्योंकि इनके अपरदन से प्राप्त अधिकांश मलवा का अधःप्रवाह (Undertow) द्वारा स्थानान्तरण हो जाता है। अपतट रोधिकाओं के पीछे हटने के कारण लैगून सँकरी होती जाती है तथा अन्त तक लैगून समाप्त हो जाती है।

प्रौढ़ावस्था (Maturity)—उन्मग्न तट के अपरदन चक्र की प्रौढ़ावस्था के समय तथा उसके दौरान अपतट रोधिका, लैगून, दलदल, ज्वारीय प्रवेश द्वार, निप (Nip-small cliff) आदि नष्ट प्रायः हो जाते हैं। इस अवस्था में तरङ्गें सागरीय चट्टान के उस भाग को जो कि जलमग्न रहता है तरङ्ग आधार (Wave base) तक काट डालती हैं। तरङ्ग आधार वह गहराई होती है, जिसके बाद तरङ्ग निक्षेप को विडालित नहीं कर सकती है, अर्थात् उसका परिवहन नहीं कर सकती। तरुणावस्था के अन्तगत तट तथा किनारे के सहारे उत्पन्न असमानतायें नष्ट हो जाती हैं तथा सागरीय किनारा साधारण हो जाता है। वास्तव में ऊपर से देखने पर चक्र की प्रारम्भिक अवस्था (Initial stage) तथा तरुणावस्था के अन्तिम चरण प्रायः समान लगते हैं परन्तु दोनों में महान अन्तर होता है। यदि प्रारम्भिक अवस्था में किनारे की ओर विस्तृत मन्द ढाल वाले तटीय मैदान पर जल की गहराई कम होती है तो प्रौढ़ावस्था के समय किनारे के आगे तटीय मैदान का अपरदन द्वारा ढाल अधिक तीव्र हो जाता है तथा जल की गहराई अधिक हो जाती है। इस अन्तर को चित्र 315 द्वारा समझा जा सकता है।

जीर्णावस्था (Old Stage)—सैद्धान्तिक रूप से जीर्णावस्था की कल्पना की जा सकती है परन्तु व्यावहारिक रूप में यह अवस्था सम्भव नहीं है। वर्तमान समय में जीर्णावस्था को प्राप्त उन्मग्न तट का उदाहरण मिलना कठिन है। यदि इस अवस्था को सैद्धान्तिक रूप से मान लिया जाय तो जीर्णावस्था एवं अन्तिम तरुणावस्था में बहुत कम अन्तर होगा। लगातार अपरदन द्वारा तट शनैः-शनैः पीछे हटता जाता है। इस अपरदन द्वारा प्राप्त मलवा का धाराओं द्वारा गहरे जल तक परिवहन एवं निक्षेप होता है।

मरुस्थलीय स्थलाकृति

(Arid Topography)

सामान्य परिचय—पवन भी अपरदन तथा निक्षेपण का एक प्रमुख कारक है परन्तु हिमानी या सरिताओं के परिवहन-कार्य से पवन का कार्य सर्वथा भिन्न होता है। पवन की प्रवाह-दिशा में भिन्नता तथा अनिश्चितता के कारण उसका परिवहन भी किसी भी रूप में किसी भी दिशा में हो सकता है। वैसे पवन का कार्य अत्यधिक विस्तृत होता है परन्तु अर्द्धशुष्क (Semi-arid) तथा शुष्क (Arid) मरुस्थलीय भागों में पवन, अपरदन का एक सक्रिय कारक होता है। यद्यपि अर्द्धशुष्क तथा शुष्क मरुस्थलों में अन्तर स्थापित करना कठिन कार्य है परन्तु वर्षा के आधार पर वे भाग अर्द्धशुष्क रेगिस्तान होते हैं जहाँ पर वार्षिक वर्षा 10 से 20 इंच तक होती है तथा मरुस्थलीय भागों में वर्षा 10 इंच से भी कम होती है। यदि आर्द्र प्रदेशों में बहते हुए जल अर्थात् नदियों के कार्य की प्रधानता होती है तो मरुस्थलीय भागों में पवन का कार्य सर्वाधिक सक्रिय होता है। परन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि आर्द्र भागों में पवन तथा मरुस्थलीय भागों में सरिता के कार्य होते ही नहीं। मरुस्थलीय भागों में भी अचानक वृष्टि के कारण अल्प-कालिक तथा आन्तरायिक नदियाँ (Ephemeral and intermittent streams) का आविर्भाव हो जाता है जिससे अपरदन का कार्य महत्त्वपूर्ण हो जाता है। मरुस्थली भागों की प्रवाह-प्रणाली (Drainage pattern) मुख्य रूप से आन्तरिक होती है तथा नदियों का विकास मरुस्थलों के अन्दर होता है तथा सागर से उनका सम्पर्क नहीं हो पाता है। इसी आधार पर प्रायः यह कहा जाता है कि मरुस्थल वे भाग होते है, जिनकी नदियाँ सागर तक नहीं पहुँच पाती हैं। मरुस्थलों के निर्धारण का यह आधार यद्यपि पूर्णरूपेण सत्य नहीं है तथापि यह महत्त्वपूर्ण विशेषता अवश्य है।

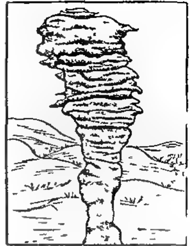
यद्यपि पवन का कार्य अन्य भागों में भी होता है परन्तु अन्य कारणों से उसकी सक्रियता रुक जाती है परन्तु उष्ण मरुस्थलीय भागों में पवन का कार्य अबाध गति से सम्पादित होता है। इस प्रकार प्रस्तुत अध्याय में केवल उन्हीं स्थानों में पवन के कार्य का अध्ययन किया जायेगा जहाँ पर वर्षा की अपेक्षा वाष्पीकरण अधिक होता है, तापक्रम अधिक रहता है, स्थल भाग वनस्पति के आवरण से या हिम के आवरण से स्वतन्त्र होता है तथा रेत का प्रसार इतना अधिक होता है कि पवन द्वारा उस पर विभिन्न प्रकार के स्थलरूपों का विकास हो सके। इस दृष्टि से उष्ण मरुस्थल पवन के कार्य के लिये सर्वाधिक उपयुक्त स्थल होते हैं, यद्यपि अर्द्धशुष्क रेगिस्तानी भागों में भी पवन का कार्य कम महत्त्वपूर्ण नहीं होता है। ध्रुवीय क्षेत्रों को छोड़कर भू-पटल का 30 प्रतिशत भाग अर्द्धशुष्क तथा शुष्क मरुस्थल के रूप में है। उष्ण रेगिस्तानी भागों में रेत की आँधियाँ अधिक दूरी तक रेत लिये चलती है तथा न केवल रेगिस्तानी भागों में वरन् उनसे काफी दूर अन्यत्र इन रेतों का निक्षेपण होता देखा गया है। सहारा रेगिस्तान में रेत की आँधियाँ रूम सागर को पार करके इटली तथा जर्मनी तक पहुँचती है। लाल रंग के रेत कण, सहारा के रेगिस्तान में आँधियों के रूप में इटली में जब नीचे उतरने या बैठने लगते है तो लगता है कि रक्त की वर्षा हो रही है। इटली में इस तरह के लाल रेत की वर्षा को रक्त वृष्टि (Blood rain) कहते है। मरुस्थलों में स्थलरूपों की उत्पत्ति तथा उनका विकास अपक्षय (मुख्य रूप से यांत्रिक अपक्षय), बहते हुए जल तथा पवन के सम्मिलित कार्यों द्वारा होता है। मरुस्थलीय भागों में स्थलरूपों के विकास का अध्ययन विद्वानों द्वारा अलग-अलग रूपों में किया गया है। उदाहरण के लिये उत्तरी अफ्रीका के मरुस्थलों में जे० वाल्टर तथा फ्रेन्च तथा ब्रिटानी भूगर्भवेत्ताओं द्वारा, कालाहारी के रेगिस्तान में पसर्जे (Passarge) द्वारा तथा उत्तरी अमेरिका में डेविस तथा उसके अनुयायियों द्वारा किया गया अध्ययन मरुस्थलीय स्थलाकृति के विषय में अत्यधिक महत्त्व का है। वर्तमान समय में किंग महोदय ने दक्षिणी अफ्रीका में स्थलाकृतिक स्थलरूपों का अध्ययन किया है (इसमें शुष्क स्थलाकृति के अलावा अन्य स्थलाकृतियों का भी अध्ययन सम्मिलित है)।

पवन का कार्य (The Work of Wind)—पवन अपने विभिन्न अपरदनात्मक कार्यों द्वारा स्थलीय भाग

(ii) अपघर्षण (Abrasion or Corrasion)—जब तीव्र वेग से बहती हुई पवन के साथ रेत तथा धूलि-कणो की मात्रा पर्याप्त होती है तो ये कण पवन के अपरदनात्मक यत्र (Erosional tools) हो जाते है। इन अपरदनात्मक यत्रो (रेत के कण) की सहायता से पवन मार्ग मे पडने वाली चट्टानो को रगडकर, घिस कर तथा चिकना करके अपरदित करती है। पवन का अपघर्षण कार्य पवन-वेग तथा रेत कणो की मात्रा पर आधारित होता है। रेत-कणो से युक्त पवन चट्टानो को इस तरह घिसती तथा कुरेदती है, जिस तरह कि रेगमाल (Sand paper) से लकडी घिस जाती है। अपघर्षण का प्रभाव चट्टानो की सरचना के अनुसार भिन्न-भिन्न होता है। प्रतिरोधी तथा कठोर शैल पर रेत-कणो से युक्त तीव्र पवन जोरो से टकरा कर उसे केवल घिस कर चिकना ही करती है, परन्तु कोमल तथा कम प्रतिरोधी शैल को धीरे-धीरे काटती जाती है तथा कुछ समय बाद उसे पूर्णतया घिस डालती है। अपक्षय द्वारा विघटित तथा वियोजित शैलो पर अपघर्षण द्वारा अपरदन शीघ्र होता है क्योकि पवन के थपडे द्वारा ढीले शैल-कण आसानी से शैल से अलग हो जाते है। पवन जिस स्थान पर एक दिशा मे बहती है, वहा पर अपघर्षण का कार्य दर्शनीय होता है। ऐसे स्थानो पर न केवल लकडी के तार के खम्भे घिस जाते है वरन् लोह या अन्य धातु के बने तार के या बिजली के खम्भे भी अपघर्षण के कारण घिस जाते है। अपघर्षण का कार्य सतह से थोडी ऊचाई पर परन्तु 6 फीट के नीचे ही अधिक सक्रिय होता है। न तो सतह पर ही अपघर्षण हो पाता है, न अधिक ऊचाई पर ही।

(iii) सन्निघर्षण (Attrition)—तीव्र पवन के साथ उडने वाले रेत कण तथा धूलि-कण मार्ग मे पडने वाली चट्टानो के रगडने तथा घिसने के अलावा स्वय आपस मे टकरा कर रगड खाकर टूटते-फूटते रहते है। इस कारण कणो का आकार छोटा तथा गोल होने लगता है। अधिक रगड होने के कारण कण बारीक हो जाते है। इस तरह रेत-कणो के आपस मे रगड खाकर यात्रिक ढग से टूटने की क्रिया को सन्निघर्षण कहते है।

पवन-अपरदन को प्रभावित करने वाली दशायें—वायु द्वारा अपरदन मुख्य रूप से यात्रिक या भौतिक अपरदन के रूप मे होता है। यह यात्रिक अपरदन कई बातो पर आधारित होता है। शुष्क मरुस्थलो मे पवन का यह यात्रिक अपरदन दो कारको (Factors) से अधिक नियत्रित होता है—वनस्पति के आवरण का अभाव तथा वर्षा की अपेक्षा अधिक वाष्पीकरण। यदि वनस्पति का आवरण अधिक होता है तो उसकी जडो द्वारा मिट्टियो आदि को सरक्षण प्राप्त होता है तथा पवन के कार्य मे व्यवधान उपस्थित हो जाता है। इसके विपरीत वनस्पति के अभाव मे पवन अबाध गति से बहती हुई अपरदन कार्य करती है। वनस्पतियो द्वारा पवन का प्रवाह भी अवरुद्ध हो जाता है तथा वेग शिथिल पड जाता है। इन दो मूल कारणो के अलावा पवन-वेग के साथ रेत तथा धूलि-कणो की मात्रा तथा जलवायु का भी पवन-अपरदन की मात्रा तथा रूप पर पर्याप्त असर होता है।



चित्र 316—पवन द्वारा शैल का अपघर्षण (Abrasion)। शैल का आधार अधिक अपरदित होता है, जबकि ऊपरी भाग कम प्रभावित हो पाता है।

(i) पवन-वेग (Wind Velocity)—मरुस्थलीय भागो का अपरदन मुख्य रूप से प्रचलित पवन के वेग पर आधारित होता है। मन्द गति से चलने वाली पवन का अपरदन कार्य नगण्य होता है। इसके दो प्रमुख कारण है। प्रथम यह कि मन्द पवन के मार्ग मे पडने वाली चट्टानो से टकर कर प्रभावशाली नही हो पाता है तथा दूसरा यह कि मन्द वेग से चलने वाली पवन के साथ उडकर चलने वाली रेत तथा धूलि-कणो की मात्रा कम होती है, क्योकि कम वेग के कारण पवन अधिक कणो का परिवहन नही कर सकती है। इस तरह मन्द पवन के अपघर्षण तथा सन्निघर्षण, दोनो कार्य नगण्य होते है। इसके विपरीत तीव्र वेग से चलने वाली पवन द्वारा चट्टानो का अपरदन अधिक होता है, क्योकि प्रथम रूप मे तो तीव्र पवन तेजी से मार्ग मे पडने वाली शैलो से

टकरा करके उनके कमजोर तथा असगठित पदार्थों को अलग करके उन्हे उडा ले जाती है और द्वितीय रूप मे तीव्र वेग से चलने वाली पवन के साथ रेत-कण अधिक मात्रा मे होते है, जिस कारण अपघर्षण (Abrasion) तथा सन्निघर्षण (Attrition), दोनो कार्य अधिक होते है। प्रचण्ड आँधियो के समय रेत के अलावा बहुत बडे-बडे धूलि-कण तथा छोटे-छोटे ककड-पत्थर की सख्या इतनी अधिक हो जाती है कि प्राय अंधेरा हो जाता है तथा मार्ग का अवलोकन नही किया जा सकता है। इस तरह की प्रचण्ड आँधियो के समय पवन का अपरदन कार्य सर्वाधिक होता है। गर्मी के महीनो म राजस्थान के रेगिस्तान से चलने वाली ऐसी आँधियो को पश्चिमी उत्तर प्रदेश मे "काली आँधियाँ (Black storms) कहा जाता है। पवन का वेग भी कई बातो पर आधारित होता है। यदि रेगिस्तानी भाग वनस्पति विहीन है, मार्ग मे जल भाग नही है, दीवारो आदि का अभाव है तो पवन अबाध गति से चलती है परन्तु यदि उपर्युक्त अवरोध पवन के मार्ग मे पड जाते है तो पवन का वेग निश्चय ही कम हो जाता है।

(ii) रेत तथा धूलि-कणो की मात्रा तथा स्वभाव—पवन के अपरदन का कार्य अपरदनात्मक यत्र (Erosional tools) द्वारा ही सम्पादित होता है। इन यन्त्रों मे रेत-कण धूलिकण, ककड-पत्थर आदि सम्मिलित किय जाते है। इन पदार्थों की मात्रा पर ही अपरदन की मात्रा आधारित होती है। यदि पवन तीव्र वेग वाली होती है तो उसके साथ अपरदन की सामग्री अधिक होती है, परन्तु तीव्र पवन म ऊँचाई के अनुसार इन पदार्थों की मात्रा म भिन्नता होती है। पवन के निचले स्तर अर्थात् धरातलीय सतह के पास रेत तथा धूलि-कण न केवल अधिक मात्रा म होते है वरन् उनका आकार भी बडा होता है। जैसे-जैसे सतह के ऊपर जाते है, रेत तथा धूलि-कणों की मात्रा तथा आकार दोनों में ह्रास होने लगता है। इस कारण पवन के निचले स्तर अर्थात् धरातलीय सतह के पास 6 फीट की ऊँचाई तक अपरदन अधिक होना है परन्तु ऊँचाई के साथ यह क्रिया घटती जाती है। इसका सबसे सुलभ प्रमाण यह है कि आँधियो के समय यदि खुले भाग म चला जाय तो पैरो म ककडियो की चोट अधिक लगती है तथा शरीर के ऊपरी भाग मे धूल का प्रकोप अधिक होता है। यदि मरुस्थलो मे पवन के मार्ग म चट्टानो का कुछ भाग लम्बवत् रूप मे खडा होता है तो उसका निचला भाग अधिक अपरदन के कारण कट कर पतला हो जाता है जबकि ऊपरी भाग कम अपरदन के कारण अधिक प्रभावित न हो सकने के फलस्वरूप चौडा ही रह जाता है। इस तरह छत्रीनुमा स्थलरूपो का आविर्भाव हो जाता है। यदि पवन केवल एक ही दिशा मे चलती है तो खडी शैल के निचले भाग का पवनोन्मुखी भाग ही कटता है, परन्तु यदि पवन कई दिशाओ से होकर चलती है तो खडी शैल का निचला भाग चारो तरफ से अपरदित होकर अत्यन्त सँकरा तथा पतला हो जाता है।

(iii) शैलो की सरचना—तीव्र पवन के साथ उड कर चलने वाले पत्थर के कण अधिक नुकीले तथा प्रखर धार वाले एव कठोर होते है। यदि चट्टान की बनावट विभिन्न प्रतिरोध वाली चट्टानो की है तो ये नुकीले पत्थर के टुकडे कोमल तथा कम प्रतिरोधी शैलो का अधिक अपरदन करके उन्हे चट्टानो से अलग कर लेते है, परन्तु प्रतिरोधी शैल अप्रभावित रहती है। इसी कारण एक जालीदार शैल की रचना हो जाती है। यदि चट्टानों के स्तर लम्बवत् रूप मे धरातल पर खडे होते हैं तो अपरदन अधिक होता है।

(iv) जलवायु (Climate)— उच्च तापक्रम वाले मरुस्थलीय भागो मे वर्षा की अपेक्षा वाष्पीकरण अधिक होता है। अत स्थल पर जल का सचय अधिक समय तक न होने के कारण स्थल शुष्क बना रहता है, जिस कारण पवन का अपवाहन या उडाव (Deflation) अधिक सक्रिय हो जाता है। रेगिस्तानी भागो म दिन के अधिक तापक्रम तथा रात के अपेक्षाकृत कम ताप के कारण शैलो म क्रमशः विस्तार तथा सकुचन होता रहता है, जिस कारण शैल विघटित होकर असगठित हो जाती है तथा बडे-बडे टुकडो मे टूटने लगती है। ये टुकडे पुन बारीक हो जाते पर पवन द्वारा उडा लिये जाते है। अचानक वृष्टि के कारण तप्त चट्टानो पर जब जल की छीटे पडती है तो शैल चटक जाती है। इस तरह रेगिस्तानी भागो म यात्रिक अपक्षय (Mechanical weathering) पवन के अपरदन कार्य को सरल बना देता है। आर्द्र भागो म जल के कारण स्थल भाग नमी के कारण भारी हो जाता है तथा पवन का कार्य उस पर नही हो पाता है।

अपरदनात्मक स्थलरूप (Erosional Landforms)

पवन का अपरदन-कार्य मुख्य रूप से **अपवाहन** तथा **अपघर्षण (Deflation and abrasion)** द्वारा सम्पन्न होता है तथा इन दो प्रकार के स्थलरूपों का विकास होता है। प्रारम्भ में पवन के अपरदनात्मक कार्य को आवश्यकता से अधिक महत्त्व प्रदान किया गया था, परन्तु पर्यवेक्षणों तथा अध्ययन के आधार पर यह प्रमाणित हो चुका है कि अपरदन द्वारा मरुस्थलों में बड़े स्थलरूपों की अपेक्षा छोटे तथा महत्त्वहीन स्थलरूपों का निर्माण अधिक होता है। Bagnold, R A (1941) महोदय ने बताया है कि पवन द्वारा अपघर्षण सतह से केवल 18 इन्च (45 सेण्टीमीटर) की ऊँचाई तक सक्रिय होता है तथा यह कार्य 6 फीट से अधिक ऊँचाई पर कदापि सम्भव नहीं हो सकता है। इससे प्रकट होता है कि मरुस्थलों में अपघर्षण द्वारा स्थलरूपों का निर्माण सतह से कुछ ऊँचाई अर्थात् पवन के निचले स्तर में ही सम्भव होता है। **ब्लैक वेल्डर** (Eliot Black Welder, 1928) के अनुसार अपघर्षण का कार्य तीन रूपों में सम्पादित होता है—चट्टानों का पालिश तथा गर्तन (Polishing and pitting) द्वारा अपघर्षण (गर्तन का तात्पर्य छिद्र करने से है), खरोंच द्वारा अपघर्षण (By grooving) तथा फलक द्वारा अपघर्षण (Faceting)। अपवाहन (Deflation) द्वारा असंगठित रेत कणों को उड़ा लिये जाने पर विभिन्न प्रकार के गर्तों तथा बेसिनों का निर्माण होता है।

अपरदन द्वारा उत्पन्न गौण स्थलरूप (Minor landforms)—धरातल की ऊपरी सतह पर अपवाहन या उड़ाव के कारण बारीक कण आसानी से उड़ा लिये जाते हैं, परन्तु बड़े-बड़े टुकड़े छूट जाते हैं। इस क्रिया की पुनरावृत्ति के कारण महीन कण उड़ जाते हैं तथा बड़े-बड़े कंकड़ पत्थर सतह पर अधिक संख्या में एकत्रित होते रहते हैं। धीरे-धीरे इन कंकड़ पत्थरों का संचय इतना अधिक हो जाता है कि ये एक परत के रूप में निचली भूमि के ऊपर आच्छादित हो जाते हैं। इस तरह के कंकड़-पत्थर की परत द्वारा निचली भूमि के अपवाहन के लिये संरक्षण प्राप्त होता है। इस कारण इस परत को **अपवाहन कवच** (Deflation armour) कहते हैं। अपवाहन कवच के कंकड़-पत्थर जब एक दूसरे से इतने अधिक सट जाते हैं कि निचली परत की लेशमात्र उड़ान नहीं हो पाती है तो उसे **मरुस्थली जड़ीफर्श (Desert pavement)**—मरुकुट्टिम कहते हैं। पवन अपघर्षण (Abrasion) द्वारा चट्टानों पर रेगमाल (Sand paper) के समान रगड़ द्वारा चमक उत्पन्न करती रहती है। इस कारण शैल, खास कर क्वार्टजाइट शैल अधिक चमकने लगती है। इस क्रिया को पालिश (Polish) कहते हैं। पवन के अपघर्षण द्वारा शैल के पवनोन्मुखी भाग पर तरह-तरह की खरोंचें (Grooves) पड़ जाती है। ये खरोंचें प्रायः समानान्तर हुआ करती है।

अपरदन द्वारा उत्पन्न मुख्य स्थलरूप (Major land forms due to erosion)—प्रमुख अपरदनात्मक स्थलरूपों में अपवाहन द्वारा उत्पन्न गर्त तथा बेसिन एवं अपघर्षण द्वारा उत्पन्न इन्सेलबर्ग (Inselberg), छत्रक शिला (Mushroom rock) या गारा (Gara) भूस्तम्भ (Demoiselle), ज्यूजेन (Zeugen), यारडंग (Yardang), ड्राइकान्टर (Dreikanter), जालक या जालीदार शिला (Stone lattice) पुल तथा मरुस्थलीय गुम्बद अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

अपवाहन बेसिन या वात गर्त (Deflation Basin or Blow Out)—सतह के ऊपर असंगठित तथा कोमल शैलों को पवन अपने अपवाहन या उड़ाव की क्रिया से प्रभावित करके उनके ढीले कणों को उड़ा ले जाती है, जिस कारण अनेक छोटे-छोटे गर्तों का आविर्भाव होता है। शनैः-शनैः इन गर्तों का आकार तथा गहराई दोनों बढ़ती जाती है, परन्तु इन गर्तों की गहराई की अन्तिम सीमा भौम जलस्तर (Ground water table) द्वारा निर्धारित होती है। चूंकि मरुस्थलों में या तो भूमिगत जल होता ही नहीं यदि होता भी है तो वह अधिक गहराई पर मिलता है। यही कारण है कि अपवाहन के कारण इन गर्तों का निर्माण सागर-तल से कई मीटर नीचे तक हो जाता है। पवन द्वारा असंगठित तथा ढीले कणों के उड़ा लिये जाने से निर्मित गर्त को **अपवाहन बेसिन** (Deflation basin) कहते हैं। चूंकि इन गर्तों का निर्माण पवन द्वारा होता है, अतः उन्हें **पवन गर्त या** वात गर्त (Blow out) भी कहते हैं। इनका आकार प्रायः तश्तरीनुमा होता है। सहारा के रेगिस्तान, कालाहारी, मंगोलिया तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के पश्चिमी शुष्क भागों में पवन निर्मित अनेक गर्तों के उदाहरण पाये गये है। **काहिरा** से **जराबब** (Jarabub) तक पश्चिम तरफ अनेक ऐसी अपवाहन बेसिन मिलती है। जिनकी तली निश्चित रूप से सागर तल से नीची है। इनमें से कुछ गर्तों में नीचे जल मिल जाने के कारण या वर्षा के जल के कारण जल का संच-

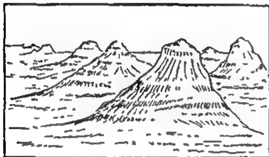
यन हो जाता है जिससे वे झीलों के रूप में परिवर्तित हो जाती हैं। इस तरह की जलपूर्ण अपवाहन बेसिन मरुस्थलीय भागों में मरुद्यान (Oasis) के रूप में हो जाती हैं। मिस्र के **बहरिया** (Baharia), **फराफरा** (Farafra), **दाखला** (Dakhla) तथा **खार्गा** (Kharga) मरुद्यानों का निर्माण उपर्युक्त रूप में ही हुआ है। मिस्र की कतारा गर्त (Qattara) 420 फीट सागर-तल से गहरी है। संयुक्त राज्य अमरिका के **उच्च मैदानी भाग** (High plain Region) में हजारों की संख्या में उथली गर्तों का अवलोकन किया जा सकता है। इस क्षेत्र में सतह के ऊपरी टर्शियरी युग की प्राचीन जलोढ़ मिट्टी (Older alluvial soil) की परत का आवरण है। यह शैल आसानी से पवन के अपरदन का शिकार हो जाती है जिस कारण कई छोटी बड़ी बेसिनों का निर्माण हुआ है। **जडसन महोदय** (Sheldon Judson) ने 1950 ई० में इन बेसिनों के विषय में बताया कि इनका निर्माण मुख्य रूप से पवन के अपवाहन कार्य (Deflation) द्वारा हुआ है। परन्तु इस साधारण विचारधारा के विपरीत उपर्युक्त बेसिनों के निर्माण में सम्बन्धित कई कारणों का उल्लेख किया गया है उदाहरण के लिए—1 सतह की गहराई पर घुलन-क्रिया (Solution) के कारण सतह के अवतलन के कारण इन बेसिनों का निर्माण हुआ है। 2 कुछ लोगों के अनुसार इनका निर्माण **विभेदक अपक्षय** (Differential weathering) तथा अपवाहन (Deflation) के सामूहिक कार्यों द्वारा हुआ है। 3 ढोरों की खुर द्वारा सतह पर छिद्र बन जाने तथा उनके विस्तृत हो जाने से *भी वात गर्त (Blow out) का निर्माण माना गया है।* 4 **जडसन महोदय** ने इनका निर्माण अन्तराहिमनदीय शुष्क काल (Dry interglacial period) के समय पवन द्वारा अपवाहन के कारण माना है। **बर्की तथा मोरिस** (C P Berkey and F K. Morris, 1927) ने भी गर्तों के निर्माण के **अपवाहन सिद्धान्त** (Deflation theory) को ही समर्थन दिया है। इन्होंने बताया है कि मंगोलिया की पांग कियांग गर्त (Pang Kiang Hollow) का निर्माण एकमात्र पवन द्वारा असंगठित एवं ढीले पदार्थों के उड़ा लिए जाने के कारण ही हुआ। संयुक्त राज्य अमरिका के वायोमिंग प्रान्त की 9 मील लम्बी, 3 मील चौड़ी तथा 150 फीट गहरी **बिग हालो** (Big Hollow) का भी निर्माण पवन के अपवाहन-कार्य द्वारा ही माना जाता है।

इन्सेलबर्ग (Inselberg)—इन्सेलबर्ग जर्मन भाषा का पारिभाषिक शब्द है, जिसका तात्पर्य पर्वत, द्वीप या द्वीपीय पर्वत होता है। वास्तव में विस्तृत रेगिस्तानी क्षेत्रों में कठोर चट्टानों की सामान्य सतह से ऊँचे-ऊँचे टीले इस तरह लगते हैं मानो सागर-स्थित द्वीप हों। मरुस्थलों में शैलों के अपक्षय तथा अपरदन के कारण कोमल शैल आसानी से कट जाता है परन्तु कठोर शैल के अवशेष भाग ऊँचे-ऊँचे टीलों के रूप में रह जाते हैं। इस तरह के टीलों या टापुओं को इन्सेलबर्ग कहा जाता है। इन्सेलबर्ग के पार्श्व (Sides) तिरछे ढाल वाले होते हैं। **बोर्नहार्ट** नामक विद्वान ने इस प्रकार के इन्सेलबर्ग के निर्माण की क्रिया का पता लगाने का कार्य प्रारम्भ किया था। इस कारण इन्सेलबर्ग को **बोर्नहार्ट** भी कहा जाता है। इन्सेलबर्ग प्रायः गुम्बदाकार हुआ करता है। इन्सेलबर्ग का निर्माण ग्रेनाइट या नीस नामक चट्टान के अपरदन तथा अपक्षय द्वारा होता है। इनका ढाल तीव्र होता है तथा इनके आधार पर मिट्टी आदि का निक्षेप नहीं मिलता है। **बेली विलीस** (Bailey Willis) के अनुसार इन्सेलबर्ग अनावरित या खुले (Exposed) गुम्बद के समान होते हैं। इन्सेलबर्ग के विषय में पर्याप्त मतभेद है। कई विद्वानों ने इन्सेलबर्ग को **मोनाडनाक** का रूप बताया है क्योंकि इन्सेलबर्ग का निर्माण उन्हीं शैलों में हुआ है जिनसे कि उस समस्त मैदान या पठार का हुआ है जिसमें कि इन्सेलबर्ग स्थित होते हैं। यह स्मरणीय है कि मोनाडनाक 'अपरदन-चक्र' की समाप्ति के परिचायक होते हैं। अतः यदि इन्सेलबर्ग को मोनाडनाक का रूप मान लिया जाय तो समीपी मैदान को मरुस्थल के अन्तर्गत पेनीप्लेन के रूप में नहीं माना जा सकता है। अतः इन्सेलबर्ग को मोनाडनाक का रूप बताना सार्थक नहीं है।

पसर्गे (S Passarge) तथा **डेविस** ने **कालाहारी** रेगिस्तान में स्थित इन्सेलबर्ग तथा समीपी सतह के अध्ययन के आधार पर यह बताया कि इन्सेलबर्ग से युक्त समीपी समतल भाग '**मरुस्थलीय अपरदन-चक्र**' का अन्तिम रूप है। डेविस का यह मत भी मान्य नहीं है क्योंकि इन्सेलबर्ग की स्थिति न केवल मरुस्थली भागों में ही पायी जाती है वरन् आर्द्र भागों में भी मिलती है। **किंग महोदय** ने सन् 1948 ई० में इन्सेलबर्ग का निर्माण सरिता-अपरदन के कारण कठोर शैल वाला जलविभाजक घिस कर मोड़ ढाल बन जाता है जो कि इन्सेलबर्ग का उदाहरण होता है। वर्तमान समय तक



चित्र 317—इन्सेलबर्ग (Inselberg)।

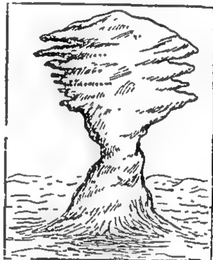


चित्र 318–अपरदित इन्सेलबर्ग (Froded inselberg)।

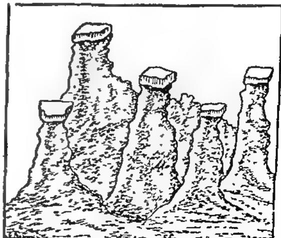
इन्सेलबर्ग के निर्माण के विषय मे किसी भी निश्चित मत का प्रतिपादन नही किया जा सकता है। विवाद से बचते के लिये अन्य प्रदेशो के इन्सेलबर्ग को छोडकर मरुस्थलीय भागो के इन्सेलबर्ग के विषय मे कहा जा सकता है कि इनका निर्माण अपक्षय तथा अपरदन द्वारा होता है।

छत्रक शिला (Mushroom Rock)—मरुस्थलीय भागो मे यदि कठोर शैल के ऊपरी आवरण के नीचे कोमल शैल लम्बवत् रूप मे मिलती है तो उस पर पवन के अपघर्षण (Abrasion) के प्रभाव से विचित्र प्रकार के स्थलरूप का निर्माण होता है। जैसा कि ऊपर बताया गया है कि तीव्र पवन के साथ रेत तथा धूलि-कणो की प्रचुरता पवन के निचले स्तर मे अर्थात् सतह से 6 फीट की ऊँचाई तक ही होती है। ऊपर जाने पर इनकी मात्रा कम होती जाती है। इस कारण पवन द्वारा चट्टान के निचले भाग मे अत्यधिक अपघर्षण द्वारा उसका आधार कटने लगता है, जब कि उसका ऊपरी भाग अप्रभावित रहता है। यदि पवन एक ही दिशा से चलती है तो चट्टानो का कटाव केवल एक ही दिशा मे हो पाता है, परन्तु यदि पवन कई दिशाओ से चलती है तो चट्टान का निचला भाग चारो तरफ से अत्यधिक कट जाने के कारण पतला हो जाता है, जबकि ऊपरी भाग अप्रभावित रहने के कारण अधिक विस्तृत रहता है। इस तरह एक छतरीनुमा स्थलरूप का निर्माण होता है, जिसे **छत्रक शिला** (Mushroom Rock) कहते है। छत्रक शिला को सहारा के रेगिस्तान मे **गारा** (Gara) कहा जाता है। जर्मनी मे इसे **पिटजफेल्सन** (Pitzfelsen) नाम से सम्बोधित करते हैं।

भूस्तम्भ (*Demoiselles*)—शुष्क प्रदेशों मे जहाँ पर असगठित तथा कोमल शैल के ऊपर कठोर तथा प्रतिरोधी शैल का आवरण होता है, वहाँ पर इस आवरण के कारण नीचे की कोमल शैल का अपरदन नही हो पाता है, क्योकि ऊपरी कठोर शैल के आवरण से निचली कोमल शैल को सरक्षण प्राप्त होता है। परन्तु समीपी कोमल चट्टान का अपरदन होता रहता है, जिस कारण अगल-बगल की शैल



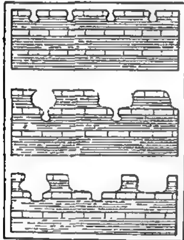
चित्र 319—छत्रक शिला (Mushroom Rock) या गारा (Gara)।



चित्र 320—भूस्तम्भ (Demoiselles)।

कट कर हट जाती है और कठोर शैल के आवरण वाला भाग एक स्तम्भ के रूप में सतह पर दिखाई पड़ता है। इसे भूस्तम्भ कहा जाता है।

ज्यूजेन (Zeugen)—मरुस्थलीय भाग में यदि कठोर तथा कोमल शैलों की परतें ऊपर-नीचे एक दूसरे के समानान्तर होती हैं तो अपक्षय (Weathering) तथा वायु द्वारा अपरदन के कारण विचित्र प्रकार के स्थल-रूपों का निर्माण हो जाता है, जो ढक्कनदार दावात के समान होते हैं अर्थात् इनका ऊपरी भाग कम चौड़ा तथा निचला अधिक चौड़ा होता है। परन्तु इन स्थल-रूपों के ऊपरी भाग पर कठोर शैल का आवरण होता है तथा इनका ऊपरी भाग समतल होता है। ऐसे स्थलरूपों



चित्र 321—ज्यूजेन या ज्यूगन (Zeugen)।

को ज्यूजेन (Zeugen) कहा जाता है। इनका निर्माण प्राय ऐसे मरुस्थलीय भागों में होता है, जहाँ पर रात के समय तापमान कम हो जाने से शैलों की सुराखों में स्थित जल जम जाता है। ज्यूजेन के निर्माण की क्रिया अत्यन्त सरल है। यदि मरुस्थलीय भाग में कठोर तथा कोमल चट्टानों की परतें क्षैतिज दिशा में समानान्तर रूप में क्रम से मिलती हैं, अर्थात् कठोर शैल की परत के नीचे कोमल परत का विस्तार होता है तो ऊपरी कठोर शैल की परत की संधियों तथा छिद्रों में ओस भर जाती है जो दिन में सूर्य की किरणों से सुरक्षित रहती है। रात के समय यह ओस हिम के रूप में बदल जाती है। इस कारण इस प्रकार होने से शैल की संधियों पर दाब पड़ने से वे विस्तृत हो जाती हैं तथा ऊपरी कठोर शैल का कुछ भाग विघटित होकर टूट-फूट जाता है। पवन इस घिसा चूर्ण को अपने अपवाहन कार्य द्वारा उड़ा ले जाती है। इस क्रिया के कारण स्थान-स्थान पर निचली कोमल शैल की परत उघड़ जाती है, जिस पर पवन अपरदन द्वारा उसे घिस करके घिसा-चूर्णों को उड़ाती रहती है। जब कोमल शैल की परत कट जाती है तो उसके नीचे की कठोर शैल उघड़ जाती है। इस कठोर शैल की संधियों पर पुनः तुषार की क्रिया होती है जिससे नीचे की ओर छिद्र का विस्तार होता जाता है। उपर्युक्त क्रिया की पुनरावृत्ति के कारण ज्यूजेन नामक स्थलरूप का विकास हो जाता है। इस तरह ज्यूजेन का निर्माण अपक्षय (Weathering) तथा विभेदक अपरदन (Differential erosion) के फलस्वरूप होता है। ज्यूजेन की ऊँचाई 90 से 150 फीट तक मिलती है।

यारडंग (Yardang)—यारडंग की रचना ज्यूजेन के विपरीत होती है। जब कोमल तथा कठोर चट्टानों के स्तर लम्बवत् दिशा में मिलते हैं तो पवन कठोर शैल की अपेक्षा मुलायम शैल को शीघ्र अपरदित करके उड़ा ले जाती है। इस प्रकार कोमल शैलों के अपरदित होकर उड़ जाने के कारण कठोर चट्टानों के भाग खड़े रह जाते हैं। इन शैलों के पार्श्व में पवन द्वारा कटाव व नालियाँ बन जाती हैं। इस तरह के स्थलरूप को यारडंग कहते हैं। यारडंग प्राय पवन की दिशा में समानान्तर रूप में होते हैं। इनकी ऊँचाई 20 फीट तक तथा चौड़ाई 30 से 120 तक होती है। यारडंग का निर्माण निश्चित रूप से पवन के अपघर्षण (Abrasion) कार्य द्वारा होता है।

ड्राइकान्टर (Dreikanter)—पथरीले मरुस्थलों में सतह पर पड़े शिलाखण्डों पर पवन से अपरदन द्वारा खरोंचे पड़ जाते हैं जिस कारण शिलाखण्ड या पत्थर के टुकड़ों पर तरह-तरह की नक्काशी हो जाती है। यदि पवन कई दिशाओं से होकर चलती है तो इन



चित्र 322—यारडंग (Yardang)।

शिलाखण्डो की आकृति चतुष्फलक जैसी हो जाती है, जिसका एक फल या फलक भूपृष्ठ पर होता है तथा शेष तीन फल बाहर की ओर होते है। इस प्रकार बाहर की ओर निकले तीन फलक या पार्श्वों वाले टुकडो को त्रिकोणाकार कंकड़ या ड्राइकान्टर कहते हैं। इन टुकडो पर पवन के थपेडो से उत्पन्न खरोंचे स्पष्ट नजर आती है।

जालक या जालीदार शिला (Stone Lattice)—मरुस्थलीय भागो मे जब सशक्त पवन के सामने ऐसी शिलाये पड जाती है, जिनकी संरचना विभिन्न स्वभाव वाली चट्टानों से हुई होती है अर्थात् जिनके विभिन्न भागो मे कठोरता मे पर्याप्त भिन्नता होती है तो पवन रेत-कणों की सहायता से अपघर्षण द्वारा शैल के कोमल भागो को अपरदित करके उडा ले जाती है, परन्तु कठोर भाग यथास्थान स्थिर रहते है। इस प्रकार के अपरदन के कारण शैल भाग म जाली का निर्माण हो जाता है। इस तरह की शैल को जालीदार शैल या अश्मिक जालक कहते है।

पुल तथा खिड़की (Bridge and window)—जालीदार शिला मे पवन के अपरदन द्वारा पवनोन्मुखी भाग मे छिद्र हो जाता है। पवन धीरे-धीरे इस छिद्र के विघटित पदार्थों को उडा-उडा कर उसे विस्तृत करती जाती है। एक लम्बे समय तक अपरदन के कारण यह छिद्र शैल के आर-पार हो जाता है। शैल के इस आर-पार छिद्र को पवन-खिड़की या पवन-वातायन (*Wind-window*) कहा जाता है। इस खिडकी से होकर अपरदन द्वारा चट्टान का शनै-शनै नीचे तक कटाव हो जाता है परन्तु ऊपरी भाग छत के रूप मे वर्तमान रहता है। इस तरह एक महराब (Arch) की आकृति का निर्माण होता है। इसे पुल भी कहा जाता है।

पवन द्वारा परिवहन-कार्य
(Transportational Work of Wind)

पवन का परिवहन कार्य अपरदन के अन्य कारको के समान सुनिश्चित नही होता है। इसका प्रमुख कारण पवन के चलन की दिशा की अनिश्चितता है। इस कारण पवन का परिवहन आगे-पीछे, ऊपर-नीचे कई रूपो मे हो सकता है। पवन, चूंकि सतह के ऊपर चलती है, अत अपरदित पदार्थों का बड़े पैमाने पर परिवहन नही कर पाती है, क्योकि पदार्थों को सतह से उठा कर उड़ाने के लिए अधिक शक्ति की आवश्यकता होती है। यद्यपि बारीक कणो वाले पदार्थों खासकर धूल का परिवहन अधिक दूरी तक हो जाता है किन्तु भारी पदार्थों का परिवहन मन्द गति से ही सम्भव हो पाता है। अन्य अपरदन के साधनो की अपेक्षा पवन के परिवहन-कार्य का अध्ययन अधिक नही किया जा सकता है। इस क्षेत्र मे बैगनाल्ड (R A. Bagnold 1941) का कार्य सराहनीय है। इन्होने पवन द्वारा होने वाले परिवहन-कार्य को तीन रूपों मे विभाजित किया है—1 पवन अपने साथ महीन तथा बारीक पदार्थों को लटका कर ले चलती है (Suspension) 2 पवन छोटे-छोटे टुकडो का उछाल कर या आगे-पीछे खिसका कर ले चलती है। इस क्रिया को उत्परिवर्तन (Saltation) कहते है, तथा 3 पृष्ठीय सर्पण (Surface creep) के अन्तर्गत पदार्थ कई बार उठ-उठ कर आगे बढते है। सामान्य रूप से पवन का परिवहन-कार्य तीन रूपो मे सम्पन्न होता है। 1 बारीक धूलिकण वायु द्वारा उठा लिये जाते है तथा पवन के साथ लटकते हुए चलते है। पवन के परिवहन का यह रूप अधिक महत्वपूर्ण नही है, क्योकि इस क्रिया मे केवल धूल ही चलती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि पवन भारी पदार्थों को ऊपर उठाने मे तथा उसे सम्हालने मे असमर्थ होती है। 2. बडे-बडे तथा भारी टुकडे पवन के साथ सतह के सहारे लुढकते हुए चलते है। 3 मध्यम आकार तथा भार वाले टुकडे कुछ दूरी तक लटक कर तथा कुछ दूरी तक लुढक कर चलते है। सामान्य दशाओं मे पवन के परिवहन द्वारा पदार्थों का स्थानान्तरण अधिक दूरी तक नही हो पाता है, परन्तु आधी तथा तूफान के समय हजारो किलोमीटर की दूरी तक पवन द्वारा अपरदित पदार्थों को पहुँचा दिया जाता है। रेगिस्तानी भागो मे भयंकर आँधियो तथा तूफानो के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते है। सहारा के रेगिस्तान मे चलने वाली तूफानी सिराको पवन (Sirocco) सहारा के रेत आदि को उडा करके रूमसागर के पार इटली तथा जर्मनी तक पहुँचा देती है। इटली की 'रक्त वृष्टि" (Blood rain) इसका प्रमुख उदाहरण है। संयुक्त राज्य अमेरिका के मरुस्थलीय प्रदेशो मे रेत भरी आँधियो द्वारा पदार्थों का परिवहन देश के दूसरे छोर तक हो चुका है। उदाहरण के लिये सन् 1923 ई० मे नेब्रास्का तथा उत्तरी एव दक्षिणी डेकोटा प्रान्तो से उठने वाली धूल भरी आँधी द्वारा पदार्थों का परिवहन न्यूयार्क प्रान्त तक हुआ था, जिसमे पवन की औसत प्रति घण्टे चाल 43 मील थी। इस आँधी ने लगभग 6,00,000 वर्गमील क्षेत्र पर भ्रमण किया तथा आधी की ऊँचाई

9,000 फीट थी। चीन में लोयस का जमाव मध्य एशिया से आने वाली आँधियों द्वारा लाये गये पदार्थों के निक्षेपण से ही हुआ है। इस तरह पवन के परिवहन की कई विशेषतायें होती हैं—1. पवन द्वारा परिवहन की दिशा निश्चित नहीं होती है। अतः परिवहन किसी भी दिशा में हो सकता है। 2. पवन का परिवहन अधिक दूरी तक विस्तृत होता है। इस तरह अपरदन के अन्य कारकों की तरह पवन का परिवहन अपरदन के स्थान तक ही नहीं सीमित रहता है। उदाहरण के लिये नदी अपने अपरदित पदार्थों का परिवहन अपनी घाटी वाले मार्ग में ही करती है। केवल बाढ़ के समय परिवहन क्षेत्र कुछ विस्तृत हो जाता है। परन्तु पवन द्वारा परिवहन कई हजार किलोमीटर से दूरस्थ स्थानों तक होता है। सहारा की रेत का जर्मनी में निक्षेपित होना इसका प्रमुख उदाहरण है। 3. अन्य अपरदन के कारकों द्वारा परिवहन का कार्य सतह पर या सतह के नीचे (भूमिगत जल के सम्बन्ध में) ही होता है। परन्तु पवन द्वारा परिवहन सतह पर तथा सतह के ऊपर वायुमण्डल के निचले स्तर में भी होता है। 4. केवल बारीक कणों का ही परिवहन एक बार में हो पाता है अन्यथा अधिकांश पदार्थों का परिवहन रुक-रुक कर कई बार में होता है, अर्थात् कुछ दूरी तक उड़ाये जाने के बाद पदार्थ सतह पर बैठ जाते हैं। पुनः पवन उनका परिवहन करके कुछ दूरी तक ले जाकर उन्हें छोड़ देती है। इसका प्रमुख कारण पवन की गति या वेग में परिवर्तन का होना ही है अर्थात् पवन के वेग में वृद्धि तथा ह्रास होता रहता है। अधिकांश पदार्थों का परिवहन लुढ़का कर (By rolling) ही होता है।

पवन का निक्षेपण कार्य (Depositional Work of Wind)

पवन का निक्षेपण कार्य अधिक महत्त्वपूर्ण होता है, क्योंकि इस कार्य द्वारा बालुका स्तूपों (Sand dunes) तथा लोयस (Loess) जैसे महत्त्वपूर्ण स्थल रूपों का निर्माण होता है। पवन का निक्षेप कई बातों पर आधारित होता है। तीव्र वेग से चलने वाली पवन की परिवहन सामर्थ्य अधिक होने से उसके साथ अधिक मात्रा में पदार्थों का परिवहन होता है। जैसे ही पवन के वेग में कमी आ जाती है, उसकी परिवहन-सामर्थ्य घट जाती है, जिस कारण अतिरिक्त पदार्थ नीचे बैठने लगते हैं। इसके अलावा निक्षेपण के लिए पवन-मार्ग में अवरोध का होना आवश्यक होता है। पवन-मार्ग में अवरोध, वनों, झाड़ियों, दलदलों, नदियों, जलाशय तथा दीवालों आदि में उपस्थित हो जाते हैं। इन अवरोधों के कारण पवन का वेग कम हो जाने से पदार्थों का विभिन्न रूपों में निक्षेप होने लगता है। आँधियों के साथ चलने वाले पदार्थों का जब अचानक निक्षेप होता है तो अनेक नगर पदार्थों से भर जाते हैं। पूर्वी एशिया में पवन द्वारा निक्षेप में दबे अनेक प्राचीन नगरों के उदाहरण पाये गये हैं। पवन द्वारा निक्षेप-जनित स्थलरूपों में स्तूप या टिब्बे (Dunes) लोयस आदि अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। निक्षेप-जनित निम्न स्थलरूपों का संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है—

तरंग चिह्न (Ripple Marks)—उन रेगिस्तानी भागों में, जिनमें कि रेत की मात्रा अधिक होती है, पवन द्वारा निक्षेप के कारण मरुस्थलीय सतह पर सागरीय तरंगों के समान लहरदार चिह्न बन जाते हैं, जिन्हें ऊर्मि चिह्न या तरंग चिह्न कहते हैं। इन्हें **ऊर्मिका** भी कहा जाता है। इन ऊर्मिकाओं की ऊँचाई कुछ सेण्टीमीटर तक ही होती है। ऊर्मिकाओं का निर्माण पवन की दिशा के समकोण पर होता है। पवन की दिशा में परिवर्तन के कारण इनका स्वरूप भी बदलता रहता है।

बालुका स्तूप (Sand Dunes)

पवन द्वारा रेत या बालू के निक्षेप से निर्मित टिब्बे या स्तूपों को बालुका स्तूप कहा जाता है। इन स्तूपों के आकार में तथा स्वरूप में पर्याप्त अन्तर मिलता है। यद्यपि बालुका स्तूप रेगिस्तानी भागों के प्रमुख स्थलरूप हैं परन्तु इनका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि उनका विस्तार केवल रेगिस्तानी भागों तक ही सीमित है। जहाँ कहीं भी शुष्क रेत सुलभ होती है तथा पवन इतनी शक्तिशाली होती है कि उनको निक्षेपित करके स्तूप का निर्माण कर सके वहाँ पर बालुका स्तूपों का निर्माण हो जाता है। इस तरह बालुका स्तूपों का निर्माण शुष्क तथा अर्धशुष्क भागों के अलावा सागर तटीय भागों, झीलों के रेतीले तटों पर, रेतीले प्रदेशों में होकर प्रवाहित होने वाली सरिताओं के बाढ़ के क्षेत्रों में, प्लीस्टोसीन हिमानीकृत क्षेत्रों की सीमा के पास वाले भागों में, बालुका प्रस्तर वाले कुछ मैदानी भागों में जहाँ पर बालुका प्रस्तर से रेत अधिक मात्रा में सुलभ हो सके आदि स्थानों में भी होता है। बालुका स्तूपों के स्वरूप तथा आकार में पर्याप्त अन्तर होता है। इनका आकार गोल, नवचन्द्राकार तथा अनुदैर्घ्याकार होता है। बैगनाल्ड ने स्तूपों की परिभाषा इस प्रकार प्रस्तुत की है — स्तूप रेत के गतिशील ढेर होते हैं जिनका अस्तित्व तथा स्वरूप

धरातलीय रूप से स्वतन्त्र होता है" [1]। वास्तव मे बालुका स्तूपों का स्वरूप, धरातलीय रूप, पवन की दिशा तथा उसमें परिवर्तन, रेत की मात्रा, जलवायु तथा वनस्पति के अनुसार भिन्न-भिन्न होता है। बालुका स्तूपों की लम्बाई तथा ऊँचाई में भी भिन्नता होती है। इनकी ऊँचाई कुछ मीटर से लेकर 20 मीटर तक औसत रूप मे होती है परन्तु सामान्य रूप में सैकड़ों मीटर ऊँचे तथा 5·6 किलोमीटर लम्बे बालुका स्तूप भी होते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका के कोलोरेडो प्रान्त की लुई घाटी (Luis Valley) में 1,000 फीट से भी अधिक ऊँचे बालुका स्तूपों के उदाहरण देखे गये हैं। बालुका स्तूपों के दोनों तरफ के ढालों में भी अधिक अन्तर होता है। इन स्तूपों का पवनाभिमुखी ढाल (पवन की दिशा के सम्मुख वाला ढाल—onward slope) मन्द तथा हल्का (5^o से 15^o) होता है, परन्तु पवन विमुखी ढाल (Leeward slope) तीव्र (20^o से 30^o) होता है। बालुका स्तूप के दो ढालों का यह अन्तर पवन के कारण ही होता है। जिस दिशा से पवन आती है, उधर से पवन रेत को लुढ़का कर ऊपर की ओर शिखर तक ले जाती है। वहाँ से रेत दूसरी ओर नीचे सरकने लगती है। पवन विमुखी ढाल पर पवन में भँवर (Eddies) उत्पन्न हो जाते हैं, जिस कारण नीचे की रेत भी ऊपर चढ़ने लगती है तथा ऊपर से नीचे सरकने वाली रेत में बाधा उपस्थित हो जाती है। इस स्थिति के कारण स्तूप का पवन विमुखी ढाल तीव्र हो जाता है। इस तरह यदि पवन की दिशा का ज्ञान नहीं हो पाता हो तो बालुका स्तूपों के ढाल के अनुसार दिशा का ज्ञान किया जाता है अर्थात् स्तूप का मन्द ढाल पवन के चलने की दिशा को इंगित करता है। मन्द ढाल वाले भाग में पवन के कारण **ऊर्मिका चिन्ह** (Ripple marks) भी मिलते हैं।

बालुका स्तूपों का बनना (The formation of sand dunes)— बालुका स्तूपों का बनना एक सामान्य प्रक्रिया होती है, क्योंकि पवन द्वारा लायी गयी रेत जैसे ही बैठने लगती है, वैसे ही छोटे-छोटे बालू के ढेर का निर्माण होने लगता है। रेत का निक्षेपण पवन-दिशा में बाधा उपस्थित होने से होता है। जब कुछ रेत का ढेर या टीले के रूप में जमाव हो जाता है तो यह ढेर स्वयं एक बाधा का कार्य करने लगता है। धीरे-धीरे रेत का जमाव होता रहता है तथा रेत के ढेर बढ़ कर बालुका स्तूप का रूप धारण कर लेते हैं। परन्तु यह स्मरण रखना होगा कि बालुका स्तूप स्थिर स्थलरूप न होकर गतिशील या चलायमान स्थलरूप (Mobile landforms) होते हैं। बालुका स्तूपों के निर्माण के लिये कुछ आवश्यक दशायें होती हैं, जिनमें चार प्रमुख दशाओं का नीचे उल्लेख किया जा रहा है—

(i) **रेत की अधिकता**—बालुका स्तूपों का निर्माण एक मात्र रेत द्वारा होता है, अतः इनके निर्माण के लिए रेत प्रचुर मात्रा में सुलभ होनी चाहिए। यही कारण है कि बालुका स्तूपों का निर्माण रेगिस्तानी भागों के अलावा उन आर्द्र भागों में भी हो जाता है, जहाँ पर रेत प्रचुर मात्रा में सुलभ होती है। रेत सर्वाधिक मात्रा में शुष्क रेगिस्तानी भागों में सुलभ होती है। रेत की सुलभता के अलावा अन्य कई आवश्यक दशायें होती हैं जिनके रहने पर ही स्तूपों का निर्माण हो सकता है। यही कारण है कि सहारा में रेत की अपार राशि रहते हुए भी बालुका स्तूपों का निर्माण सर्वत्र नहीं हो पाता है। समस्त सहारा के केवल 11 प्रतिशत भाग पर ही बालुका-स्तूपों का निर्माण हो पाया है।

(ii) **तीव्र पवन वेग**—यदि पवन मन्द गति वाली है तो वह अपने साथ स्वल्प मात्रा में ही रेत का परिवहन कर पायेगी। अतः मन्द पवन के द्वारा केवल **ऊर्मिका चिह्न** (Ripple marks) का ही निर्माण हो सकता है। अधिक से अधिक छोटे-छोटे रेत के ढेरों का आविर्भाव होता है। यदि पवन अधिक वेगवती है तो वह अपने साथ अधिक मात्रा में रेत को उड़ाकर उसे दूर ले जाकर निक्षेप करके बालुका स्तूपों का निर्माण करती है। मरुस्थलीय भागों में तथा रेतीले सागर तटीय भागों में पवन वेग प्रायः अधिक रहता है, जिस कारण इन स्थानों पर बालुका स्तूपों की भरमार होती है।

(iii) **पवन-मार्ग में अवरोध**—पवन चाहे कितनी भी वेगवान क्यों न हो तथा उसके साथ रेत की मात्रा चाहे कितनी भी अधिक क्यों न हो बालुका स्तूपों का निर्माण तब तक नहीं हो सकता है, जब तक कि पवन के मार्ग में ऐसी कोई बाधा न उपस्थित हो जाय, जिससे कि पवन वेग कम हो जाय या अवरुद्ध हो जाय तथा रेत नीचे बैठने लगे। पवन के मार्ग में अवरोध, उसके मार्ग में स्थित झाड़ियों, वृक्षों के कुञ्ज, सघन वन, ऊँची उठी चट्टानें, दीवालें, बड़े-

---

1 Dune is mobile heap of sand whose existence is independent of either ground form or fixed wind obstruction" Bagnold, R A., 1933, A further journey through the Lybian Desert, Geog. J., 82, pp. 103-129.

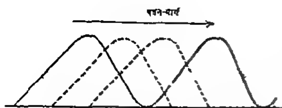
बड़े शिलाखण्ड, घास आदि द्वारा उपस्थित हो जाता है। उपर्युक्त साधनों द्वारा सामान्य सी बाधा भी उपस्थित हो जाने पर रेत जमने लगती है तथा थोडे ही समय के अन्दर निर्मित रेत का ढेर स्वय एक अवरोध बनकर रेत के निक्षेप मे सहायक हो जाता है।

(iv) निर्माण के लिए उचित स्थान—उपर्युक्त तीनो दशाओ के सुलभ होने पर भी बालुका स्तूपो का निर्माण तभी हो सकता है जब कि रेत के जमने के लिए प्रचुर उचित स्थान सुलभ हो। उदाहरण के लिय यदि अवरोध उपस्थित करने वाले वृक्षो या झाड़ियो के पीछे झील या विस्तृत जल भाग हो तो रेत झील मे निक्षेपित हो जायगी तथा बालुका स्तूप का निर्माण नही हो पायेगा। *इससे स्पष्ट है कि अवरोध वाले स्थान के आस-पास जल* भाग या विस्तृत गर्त भाग नही होना चाहिये।

उपर्युक्त दशाओ के सुलभ होन पर बालुका स्तूपो का निर्माण अत्यन्त सरल विधि से हो जाता है। पहले रेत का सामान्य सचयन होता है। इसके बाद अचानक या धीरे-धीरे रत के जमते रहने से बालुका स्तूपो का निर्माण हो जाता ह। बालुका स्तूपो के निर्माण की अवधि पवनवेग तथा रेत की मात्रा पर आधारित होती है। यदि पवन तीव्र वेग वाली है तथा उसके साथ रेत की मात्रा भी पर्याप्त है तो उसके मार्ग मे अचानक अवरोध हो जाने से सतह पर रेत की तीव्र वर्षा होने लगती है तथा कुछ घण्टो के अन्दर ही विस्तृत बालुका स्तूप का निर्माण हो जाता है। बालुका स्तूप प्राय समूह मे मिलते हैं। इस तरह के स्तूपों को समूह (Dune complex or dune colony) या स्तूप माला या श्रृंखला (Dune chain) कहते हैं। बालुका स्तूपों की सरचना म सामान्य अन्तर मिलता है। अधिकाश स्तूपो मे क्वार्ट्ज रेत की ही प्रधानता होती है। यदि पवन की दिशा निश्चित होती तो स्तूपो मे रेत की परतो का जमाव एक ही दिशा मे होता। परन्तु अध्ययन के आधार पर यह पता चलता है कि स्तूपो म रेत की परत विभिन्न दिशाओं म होती हैं। इसका प्रमुख कारण पवन की दिशा मे परिवर्तन ही है।

बालुका स्तूपों का खिसकना या पलायन (Migration of Sand Dunes)—अधिकाश बालुका स्तूप अपने निर्माण स्थान पर स्थिर नही रहते है अपना स्थान परिवर्तन करते रहते है। स्तूपो का स्थान परिवर्तन, जो कि पवन की दिशा मे आगे की ओर होता है, **स्तूपों का खिसकना या पलायन कहलाता है।** पलायन के समय स्तूपो के आकार मे ह्रास होता रहता है तथा कुछ स्तूप इस क्रिया के दौरान अपना अस्तित्व भी खो बैठते हैं। स्तूपो का पलायन एक सामान्य प्रक्रिया के अन्तर्गत होता है। पवन, बालुका स्तूप के **पवनाभिमुखी** ढाल (**Onward or windward slope**) से रेत को लुढ़का कर उसे स्तूप के शिखर तक ले जाती है। वहाँ से रेत **पवन विमुखी ढाल (Leeward slope**) के सहारे नीचे सरकने लगती है। इस कारण पवन विमुखी ढाल तीव्र हो जाता है। इस क्रिया की पुनरावृत्ति के कारण स्तूप के पवनाभिमुखी ढाल की रेत आगे स्थानान्तरित होती रहती है तथा *बालुका स्तूप धीरे-धीरे पवन की दिशा म* आगे की ओर बढता जाता है। इसे स्तूप का पलायन कहते है। बालुका स्तूपो के पलायन या खिसकने की दर सर्वत्र समान नही होती है। स्तूपो का खिसकना स्थानीय दशाओ पर आधारित होता है। यदि जलवायु अत्यन्त शुष्क है तो तीव्र वायु के साथ शुष्क रेत वाले स्तूपो का पलायन तीव्रता से होता है परन्तु आर्द्र जलवायु मे या मन्द पवन वाले भागो मे इनका पलायन मन्थर गति से सम्पन्न होता है। विभिन्न स्थानो मे पलायन की गति भी भिन्न-भिन्न होती है। सामान्य रूप से स्तूपो का पलायन कुछ गज प्रतिवर्ष की दर से होता है परन्तु कहीं-कहीं पर इनका पलायन 100 फीट तक भी होता है। व्यक्तिगत पर्यवेक्षण के आधार पर प्रसिद्ध विद्वान **वाल्टर** ने बताया है कि **किज़िलकुम** (Kizylkum) के रेगिस्तान मे एक दिन मे 65 फीट का पलायन हो जाता है, परन्तु पलायन की वार्षिक दर 20 फीट तक ही है। **कॉब** *(Cobb) महोदय क अनुसार बड़े-बड़े अर्द्धचन्द्राकार (चापाकार या नवचन्द्राकार—cressentric* **shape)** स्तूपो का पलायन उत्तरी कैरोलिना प्रान्त म 20 वर्षों के अन्तर्गत प्रतिवर्ष 200 फीट क हिसाब से हुआ है। यह स्मरणीय है कि प्रत्यक स्तूप का पलायन नही होता है। जहाँ पर पवन एक दिशा म प्रवाहित न होकर विभिन्न दिशाओ मे चलती है, जहाँ पर वर्षा के जल क कारण स्तूपो क रेत की स्थिति अत्यधिक नम या जलसिक्त पर हो गई हो, वहाँ पर स्तूप गतिहीन होते है। एम गतिहीन तथा स्थिर बालुका स्तूप कई दृष्टियो से लाभकारी होते है। इनक विपरीत पलायन करन वाले स्तूप आर्थिक दृष्टि स हानिकारक होते है।

बालुका स्तूपो का पलायन कई दृष्टियो से हानिप्रद होता है। इनक पलायन द्वारा मरुस्थलो का विस्तार होता है। इतना ही नही आर्द्र प्रदेशों मे भी खिसकते हुए

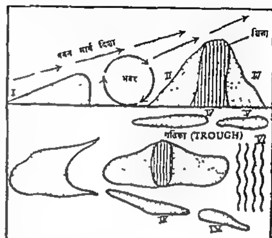


चित्र 323—बालुका स्तूपो का पलायन (Migration of Sand dunes)।

स्तूपो के मार्ग मे पड़ने वाले वन, खेत आदि रेत से भर जाते हैं। शुष्क मरुस्थलो मे स्तूपो के पलायन से गाँव, शहर आदि रेत के अन्दर दब जाते हैं। मध्य एशिया मे रेत के अन्दर दबे हुए अनेक प्राचीन शहरो के उदाहरण मिले हैं। Pumpley महोदय ने तुर्किस्तान मे स्तूपो की रेत के अन्दर दबे हुए नगरो का मनोरंजक विवरण उपस्थित किया है। मिस्र तथा सीरिया मे अनेक आबाद इलाके इन पलायन करते हुए बालुका स्तूपो के शिकार हो चुके हैं। भारत मे थार के रेगिस्तान का प्रतिवर्ष पश्चिमी उत्तर प्रदेश की ओर विस्तार हो रहा है। वहाँ पर रेगिस्तान के विस्तार को रोकने के लिए पश्चिमी उत्तर प्रदेश की सीमा के सहारे एक चौडी पट्टी मे वृक्षारोपण किया गया है। बालुका स्तूपो के पलायन से यदि एक ओर हानि होती है तो स्थिर तथा गतिहीन स्तूपो से कई लाभ भी होते है। यदि स्तूप वाले भाग मे जल वर्षा होती है तो ये स्तूप जल सोख कर उन्हें अपने अन्दर समाविष्ट कर लेते हैं। इस कारण बालुका स्तूपो मे जल-भण्डार की स्थिति हो जाती है। इस जल के कारण स्तूपो मे भौम जल स्तर (Water table) ऊँचा हो जाता है, जिस कारण इन स्तूपो पर कुएँ आदि खोद कर जलप्राप्ति आसानी से की जा सकती है। जल की सुलभता हो जाने से इन स्तूपो पर या उनके समीपी भाग मे आबादी हो जाती है तथा इन स्तूपो का प्रयोग कृषि के लिये किया जाता है। इस तरह स्थिर बालुका स्तूप मरुस्थलीय भागो मे मरुद्यान (Oasis) बन जाते हैं।

बालुका स्तूप के विभिन्न रूप
(Features associated with dunes)

पवन के मार्ग मे किसी भी प्रकार के अवरोध उपस्थित हो जाने पर बालुका स्तूप का निर्माण हो जाता है। यहाँ पर ऐसे स्तूप का उदाहरण लिया जा रहा है जिसका निर्माण पवन के मार्ग मे खडी शैल के अवरोध के कारण होता है। जब पवन के मार्ग मे शिला का अवरोध हो जाता है तो उस शिला के पवनोन्मुखी ढाल के सहारे रेत का निक्षेपण होने मे स्तूप का निर्माण होता है। इसे संलग्न स्तूप (Attached dune) या शीर्ष स्तूप (Head dune) कहते हैं। कुछ रेत का निक्षेप शिला के पवन विमुखी ढाल (Leeward slope) के सहारे भी हो जाता है। यहाँ पर निर्मित स्तूप को शृंगपुच्छ स्तूप (Crag and tail dune) कहते हैं। शीर्ष स्तूप से कुछ दूर पवनोन्मुखी दिशा (Windward



चित्र 324—बालुकास्तूप के विभिन्न रूप—(i) अग्रगामी स्तूप (Advanced-dune), (ii) शीर्ष स्तूप (Head-dune), (iii) पुच्छ स्तूप (Tail-dune), (iv) पार्श्विक स्तूप (Lateral-dune), (v) वेक स्तूप (Wake-dune), (vi) उर्मिका (Ripples)।

side or direction) में एक लघु स्तूप का निर्माण हो जाता है। यह स्तूप मुख्य शीर्ष स्तूप से पवन-भंवर (Eddies) द्वारा अलग किया जाता है, अर्थात् शीर्ष स्तूप (Head dune) तथा अग्रगामी या प्रगामी स्तूप (Advanced dune) के मध्य रिक्त स्थान होता है, जिसमें वायु-भंवर चलता है। अवरोधक शिला के किनारे या बगल मे कुछ रेत के निक्षेप हो जाने से निर्मित स्तूपो को पार्श्व स्तूप (Lateral dunes) कहते हैं। इन पार्श्ववर्ती स्तूपो को आगे की ओर अन्य पुच्छ स्तूपो द्वारा विस्तार होता है। इस तरह के स्तूपो को वेक स्तूप (Wake dune) कहते हैं। मुख्य स्तूप तथा पार्श्विक स्तूपो (Lateral dunes) के मध्य रिक्त स्थान होते हैं। इन रिक्त स्थानो को गर्तिका (Trough) कहते हैं।

स्तूपो का वर्गीकरण (Classification of Sand Dunes)—बालुका स्तूपो मे रेत की मात्रा, धरातल की बनावट, अवरोध उत्पन्न करने वाले साधन के स्वरूप, पवन की दिशा के आधार पर पर्याप्त भिन्नता होती है। इसी कारण बालुका स्तूपो का वर्गीकरण कई

रूपों में किया जाता है। **बैगनाल्ड महोदय** ने वास्तविक वालुका स्तूपों को केवल दो प्रकारों में विभाजित किया है—1. **बरकान** (Barchan), तथा 2. **सीफ** (Sief)। **हैक महोदय** (J. T Hack, 1941) के अनुसार (एरीजोना प्रान्त के स्तूपों के अध्ययन के आधार पर) स्तूपों को तीन वर्गों में रखा जा सकता है—1. **अनुप्रस्थ स्तूप** (Transverse Dune) 2. **परवलयिक स्तूप** (Parabolic dune), तथा 3 **अनुदैर्घ्य स्तूप** (Longitudinal dune)। **मेल्टन महोदय** (Melton F A, 1960) के अनुसार स्तूपों को तीन समूहों में रखा जा सकता है—

(i) एक ही दिशा में प्रवाहित होने वाली पवन द्वारा निर्मित **सामान्य स्तूप** (Simple dunes), (ii) वनस्पति के अवरोध द्वारा उत्पन्न स्तूप (Dunes formed by wind in conflict with vegetation) तथा (iii) **जटिल स्तूप** (Complex dunes)—जिनका निर्माण विभिन्न दिशाओं से बहने वाली पवनों द्वारा होता है।

उपर्युक्त वर्गीकरण के अलावा वालुका स्तूपों का निम्न रूपों में भी विभाजित किया जा सकता है—

1 **स्थिति के आधार पर वर्गीकरण**

(i) सागर तटीय वालुका स्तूप (Coastal sand dunes),

(ii) मरुस्थलीय वालुका स्तूप (Inland or desert sand dunes)

(iii) नदी-तट के वालुका स्तूप (Riverine sand dunes)

2 **आकार के आधार पर वालुका स्तूपों का वर्गीकरण**

(i) अनुदैर्घ्य या पवनानुवर्ती वालुका स्तूप (Longitudinal dunes),

(ii) अनुप्रस्थ या आड़े वालुका स्तूप (Transverse sand dunes)

(iii) परवलयिक वालुका स्तूप (Parabolic sand dunes).

(1) **स्थिति के आधार पर वर्गीकरण** वालुका स्तूपों का निर्माण उन सभी स्थानों पर हो सकता है, जहाँ पर पर्याप्त रेत हो, पवन बलवती हो, पवनवेग में अवरोध उत्पन्न करने वाले साधन हों तथा स्तूप के निर्माण के लिए सुविधाजनक पर्याप्त स्थान हो। इस प्रकार उपर्युक्त दशाओं के सुलभ होने पर स्तूपों का निर्माण मरुस्थलों में, मरुस्थलों के किनारे पर, सागरीय तटों पर या नदी तथा झील के वालुकामय किनारों पर हो सकता है। इस आधार पर (स्थिति) मुख्य रूप से वालुका स्तूपों को दो भागों में रखा जा सकता है

(अ) **आन्तरिक वालुका स्तूप** (Inland Sand Dunes)—सागरीय तटों पर निर्मित वालुका स्तूपों को छोड़कर किसी भाग के स्तूप को इस श्रेणी में रखा जा सकता है। सुविधा के लिए आन्तरिक वालुका स्तूपों को पुन तीन उपविभागों में रखा जाता है 1. **रेगिस्तानी वालुका स्तूप** (Desert sand dunes), 2. **नदी-तटीय वालुका स्तूप** (Riverine sand dunes), तथा 3 **झील तटवर्ती वालुका स्तूप** (Lake shore sand dunes)। इनमें से मरुस्थली स्तूप ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं क्योंकि वालुका स्तूपों के निर्माण के लिए यहाँ पर सभी आवश्यक दशायें प्राप्त हैं। वास्तव में वास्तविक स्तूपों का निर्माण बड़े पैमाने पर शुष्क मरुस्थलीय भागों में ही होता है। यहाँ पर कई प्रकार के स्तूप (पवनानुवर्ती अनुप्रस्थ, बरकान, परवलयिक आदि) मिलते हैं तथा रेगिस्तानों के स्तूप मुख्य रूप से पलायन करने वाले होते हैं।

(ब) **तटीय वालुका स्तूप** (Coastal Sand Dunes)—रेतीले सागरीय तटों पर स्थल की ओर (सागर से तट की ओर) चलने वाली पवन द्वारा रेत का ढेर के रूप में संचयन होता रहता है तथा स्तूपों का निर्माण यहाँ पर, एक सामान्य प्रक्रिया है। आर्द्र प्रदेशों में पवन की दिशा में परिवर्तन तथा वनस्पतियों की अधिकता के कारण स्तूपों का निर्माण एक जटिल प्रक्रिया के अन्तर्गत सम्पादित होता है। वर्षा तथा वनस्पतियों के कारण स्तूपों में स्थिरता आती है तथा उनका पलायन कम होता है। परन्तु यह स्मरणीय है कि सभी तटीय स्तूप पूर्णतया स्थिर नहीं होते हैं। प्रबल तूफान तथा झंझा (Strong storm and gales) के समय ये स्तूप प्रायः नष्ट हो जाया करते हैं। प्रबल पवन स्तूपों के पवनानुवर्ती ढाल पर गर्तों का निर्माण कर देती है जिसे वातगर्त या पवन गर्त (Blow out) कहते हैं। तट से एक स्तूप आगे की ओर अर्थात् स्थल की ओर बढ़ता है तो उसके स्थान पर दूसरे स्तूप का निर्माण हो जाता है। इस तरह स्तूपों की एक शृंखला सी बन जाती है। इस प्रक्रिया के फलस्वरूप तटीय स्तूपों का स्थल के आन्तरिक भाग की ओर पलायन होने से रेत का स्थलीय भाग में विस्तार होता है जिस कारण भूमि का उजाड़पन जाता रहता है। हॉलैण्ड तथा जर्मनी में इस तरह के तटीय स्तूपों के स्थल की ओर पलायन के कारण पर्याप्त क्षति हुई है।

(ii) आकार के आधार पर वर्गीकरण —कुछ स्तूप पवन की दिशा में लम्बी-लम्बी श्रेणियो के रूप मे फैले रहते हैं तो कुछ पवन की दिशा मे लम्बवत् रूप मे होते हैं, कुछ स्तूपो का आकार गोल, कुछ का लम्बा तथा कुछ का नवचन्द्राकार होता है। इस तरह विभिन्न आकार तथा स्वरूपो को देखते हुए स्तूपो को निम्न रूप मे विभाजित किया जाता है :

(अ) पवनानुवर्ती बालुका स्तूप (Longitudinal Sand Dunes)—पवन की दिशा म उनके समानान्तर निर्मित लम्बे-लम्बे स्तूपो को पवनानुवर्ती या अनुदैर्घ्य स्तूप कहा जाता है । स्तूपो का पवनोन्मुखी ढाल (Windward slope) मन्द तथा पवनविमुखी ढाल (Leeward slope) तीव्र होता है। पवनानुवर्ती स्तूपो की उत्पत्ति के विषय मे पर्याप्त मतभेद है। सामान्य रूप मे ये स्तूप आन्तरिक मरुस्थलीय भागो मे निर्मित होते हैं। आस्ट्रेलिया, लीबिया तथा सहारा के मरुस्थलो मे इन स्तूपो के अनेक उदाहरण मिलते हैं। इनके निर्माण के विषय मे प्रायः यह माना जाता है कि इनका निर्माण अधिक रेत वाले उन आन्तरिक रेगिस्तानो मे होता है, जहाँ पर पवन अधिक वेग वाली तथा लगभग एक ही दिशा मे प्रवाहित होती हो। इसके विपरीत कुछ विद्वानो का कथन है कि इनका निर्माण उस समय होता है जबकि प्रचलित पवन का क्रास पवनों (Cross winds) द्वारा कभी अवरोध होता है। बैगनाल्ड महोदय ने पवनानुवर्ती या अनुदैर्घ्य बालुका स्तूपो के निर्माण की सामान्य विचारधारा (कि इनका निर्माण एक दिशा मे प्रवाहित होने वाली पवनो द्वारा होता है) का खण्डन किया है। यद्यपि इनका निर्माण मुख्य रूप से प्रचलित पवन के द्वारा उसकी दिशा के समानान्तर होता है, परन्तु उनकी ऊँचाई तथा चौड़ाई का विस्तार प्रचलित पवन की दिशा मे चलने वाली क्रास पवनो (Cross winds) द्वारा ही होता है। पवनानुवर्ती स्तूपो को सीफ (Seif) भी कहा जाता है। सीफ की लम्बाई का विस्तार निश्चित रूप से एक दिशा मे चलने वाली प्रचलित पवन द्वारा होता है। बैगनाल्ड के अनुसार सीफ का निर्माण प्रचलित पवन के समकोण दिशा मे चलने वाली क्रास पवन द्वारा बरकान (Barchan) के वास्तविक रूप मे परिवर्तन के कारण ही होता है। इन स्तूपो का शिखर आरे के दाँत के समान या चाकू के समान नुकीला होता है। मिस्र के रेगिस्तान मे अनेक सीफ (Seif) की ऊँचाई 300 फीट तक होती है। ईरान मे कुछ सीफ की ऊँचाई 210 फीट तक मिलती है। बैगनाल्ड महोदय के अनुसार सीफ की चौडाई, ऊँचाई की अपेक्षा 6 गुना अधिक होती है। सीफ प्राय लम्बी-लम्बी शृङ्खलाओ मे मिलते हैं, जिनकी लम्बाई 300 किलोमीटर (188 मील) तक बताई जाती है। दो स्तूप शृङ्खलाओ के मध्य प्राप्त रिक्त स्थान होता है, जिनमे नग्न रेगिस्तानी भाग दृष्टिगत होता है। पवनानुवर्ती स्तूपो के समानान्तर चलने वाली पवनें दो स्तूपो की शृङ्खलाओ के मध्य की रेत को उड़ाकर उस स्थान को खुला छोड देती हैं। इस तरह के रिक्त भाग को कारिडर (Corridor) या सहारा मे गासी (Gassi) कहते हैं। गासी, वास्तव मे बालुका स्तूपो के मध्य रेत मुक्त मार्ग होते हैं। रेत मुक्त मार्ग या गासी का निर्माण सामान्य रूप से सम्पन्न होता है। यदि सीफ के मध्य प्रबल पवन प्रवाहित होती है तो उसके कारण भँवर का आविर्भाव हो जाता है। ये भँवर (Eddies) स्तूपो के किनारे की ओर रेत का सचयन करते हैं, जबकि स्तूपो के मध्य भाग तीव्र पवन द्वारा रेत रहित हो जाते हैं। चित्र 325 मे इस प्रक्रिया को स्पष्ट किया गया है। स्तूपो के पार्श्व भाग में क्षीण पवन तथा मध्य भाग मे प्रबल पवन होती है। भँवर का झुकाव स्तूपो की ओर होता है। ये भँवर स्तूपो के पार्श्व भाग पर रेत का एकत्रीकरण करते हैं।

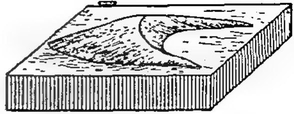


चित्र 325—सीफ स्तूप (Seif-dunes)।

(ब) अनुप्रस्थ बालुका स्तूप (Transverse Sand Dunes)—जब बालुका स्तूपो का निर्माण प्रचलित पवन की दिशा के समकोण पर होता है तो उसे आड़े बालुका स्तूप या अनुप्रस्थ बालुका स्तूप कहते हैं। इनका निर्माण रेगिस्तानो की सीमा पर तथा रेतीले सागरीय तटो पर होता है। इनका निर्माण हल्की या क्षीण पवन द्वारा अधिक रेत वाले भागो मे होता है। अनुप्रस्थ बालुका स्तूप प्राय लहरदार होते हैं।

(स) बारखन या बरकान (Barkhans or Barchan or Barchane)—बरकान, वास्तव मे अनुप्रस्थ बालुका स्तूप के ही विशिष्ट रूप होते हैं। इनका आकार चापाकार या नवचन्द्राकार होता है तथा तुर्किस्तान मे ये अधिक सख्या मे मिलते हैं। बरकान मुख्य रूप मे प्रचलित

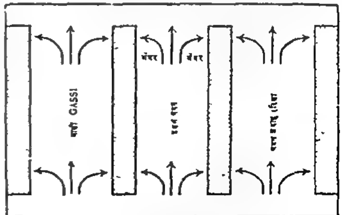
पवन के अनुप्रस्थ दिशा अर्थात् समकोण पर निर्मित होते हैं। इनका पवनोन्मुखी ढाल उत्तल तथा पवनविमुखी ढाल (Leeward slope) अवतल होते हैं। इनके शिखर की ओर पूर्ण विकसित दो सींगें (Two horns) होती हैं, जो कि पवन के चलने की दिशा में निकली रहती हैं। बरकान मध्य मे सर्वाधिक ऊँचे होते है। इनका निर्माण उस समय होता है, जबकि रेत की पूर्ति तथा पवन का वेग दोनो सामान्य हो। यदि रेत की पूर्ति पर्याप्त होती है तो बरकान शृंखलाओ मे तथा सघन रूप में निर्मित होते हैं परन्तु यदि पूर्ति सामान्य या उससे भी कम होती है तो ये छोटे-छोटे तथा बिखरे हुए होते हैं। बरकान प्रायः शृंखला में स्थित होते हैं तथा इनकी शृंखलायें पवन की दिशा मे होती है। प्रचलित पवन तथा भँवर द्वारा बरकान का शीर्ष भाग पवन की दिशा मे (जिस दिशा की ओर पवन चलती है) दो नुकीले सिरो मे विभक्त हो जाता है। पवन-भँवर, बरकान के पवन विमुखी ढाल मे गर्त बना कर उसका ढाल अवतल कर देता है तथा रेत को बीच से हटा कर किनारे पर जमा करता रहता है जिस कारण नुकीले सिरो का आविर्भाव होता है। प्रचलित पवन उन सिरो को पवन की दिशा मे विस्तृत करती है। परिणामस्वरूप बरकान का रूप अर्द्धचन्द्राकार या चापाकार हो जाता है। बरकान के निर्माण का प्रारम्भ अत्यन्त सरल होता है। इसके निर्माण के लिये किसी विस्तृत अवरोध की आवश्यकता नही होती है। समतल तथा खुली हुई बालुका मय सतह पर जैसे थोड़ा भी अवरोध होता है या पवन मे परिवर्तन होता है, वैसे ही रेत का जमाव लघु ढेरों के रूप में प्रारम्भ हो जाता है। यह ढेर स्वय बरकान के निर्माण मे सहायक होता है। बरकान ऊँचाई तथा लम्बाई दोनों म भिन्नता रखते हैं। बरकान की औसत ऊँचाई 100 फीट तक होती है। इनकी चौड़ाई, लम्बाई की अपेक्षा लगभग 12 गुना अधिक होती है। प्रचलित पवन के साथ बरकान के पवनोन्मुखी ढाल की ओर की रेत उड़कर पवन विमुखी ढाल की ओर गिरती है इस क्रिया के कारण बरकान निरन्तर आगे की ओर पलायन करता है। बरकान के इस पलायन द्वारा रेगिस्तान का निरन्तर विस्तार होता है जिस कारण रेगिस्तान के समीपवर्ती आबाद क्षेत्रों तथा रेगिस्तान के मध्य स्थित मरुद्यानों (Oasis) को पर्याप्त क्षति उठानी



चित्र 326—Barkhans।

पड़ती है। बरकानों के आकार आदि पर प्रचलित पवन का इतना अधिक प्रभाव पड़ता है कि मौसमी पवनो के साथ साथ उनकी दिशा भी बदलती रहती है। उदाहरण के लिए तुर्किस्तान में एक मौसम मे पवन दक्षिण दिशा मे तथा दूसरे मौसम मे उत्तर दिशा मे प्रवाहित होती है। पवन के इस क्रमश मौसमी परिवर्तन के साथ-साथ बरकान मे दिशा परिवर्तन होता है। जब बरकान समूह मे तथा शृंखलाओ में स्थित होते हैं तो रेगिस्तान को पार करना कठिन हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में बरकान की दो श्रेणियो के मध्य स्थित रेत-मुक्त कारिडर (Sand-free corridor) या गासी (Gassi) द्वारा रास्ता बनाया जाता है। इसी गासी से होकर मरुस्थलो मे ऊँटो के काफिला चलते है। इस कारण गासी को कारवाँ मार्ग (Caravan route) कहते है।

भारत मे प्राय सभी प्रकार के बालुका स्तूपों की स्थिति मिलती है। राजस्थान के थार के रेगिस्तान के पश्चिमी भाग मे लम्बे-लम्बे पवनानुवर्ती या अनुदैर्ध्य स्तूप (Longitudinal sand dunes) अधिक संख्या मे मिलते हैं जिनकी ऊँचाई 200 फीट तक होती है। अन्य प्रकार के स्तूपो के उदाहरण भी यहाँ मिलते हैं।



चित्र 327—रेतमुक्त कारिडर (Sandfree Corridor) या गासी (Gassi)।

तटीय बालुका स्तूपों का विकास मलाबार तट, उड़ीसा तट, कच्छ व तिन्नेवाली तटों के सहारे पर्याप्त रूप में हुआ है। यहाँ पर भी मुख्य रूप से पवनानुवर्ती स्तूप ही मिलते हैं। गंगा, यमुना, कृष्णा तथा गोदावरी नदियों के तटों के उन भागों में, जहाँ पर रेत की अधिकता होती है, अनुप्रस्थ बालुका स्तूपों (Transverse sand dunes) का निर्माण सामान्य प्रक्रिया है। ये बालुका स्तूप मौसमी होते हैं। वर्षा के समय जब बाढ़ आती है तब ये जलमग्न हो जाते हैं। फरवरी के बाद से इनका निर्माण पुनः प्रारम्भ हो जाता है तथा अगली वर्षा तक ये कायम रहते हैं।

स्तूप-चक्र (Dune Cycle)

स्तूप से युक्त मरुस्थलों या अन्य स्थानों में विकास में कुछ विद्वानों ने चक्रीय व्यवस्था का प्रतिपादन किया है, अर्थात् स्तूपों का निर्माण, विकास तथा विनयन निश्चित अवस्थाओं से होकर सम्पन्न होता है। इस विचारधारा के प्रथम प्रतिपादक Aufrere, L. माने जाते हैं, जिन्होंने अपने विचारों का प्रतिपादन सन् 1931 ई० में 'Le cycle morphologique des dunes' नामक लेख में किया है। सहारा के एर्ग (Erg) का अध्ययन करने के बाद इन्होंने बताया कि मरुस्थलों में रेत का स्तूपों के रूप में संचयन बदलता रहता है तथा उनका विकास चक्रीय व्यवस्था के अन्तर्गत सम्पन्न होता है। स्तूपों के मध्य वाले रिक्त तथा गहरे भागों को Aufrere ने गासी (Gassi) की संज्ञा प्रदान की। इन्होंने बताया कि सर्वप्रथम सामान्य अवरोध के कारण ढेरों के रूप में रेत का संचयन हो जाता है, जिनमें वृद्धि होने से स्तूप शृंखलाओं (Dune chians) का आविर्भाव होता है। इन शृंखलाओं का विस्तार गासी से पवन-भंवर (Wind-eddy) द्वारा रेत की प्राप्ति से होता है। इन्होंने बालुका स्तूप के विकास में तरुणावस्था, प्रौढ़ावस्था तथा जीर्णावस्था, इन तीन अवस्थाओं की कल्पना की है—

1. तरुणावस्था में स्तूप वाले भागों में प्रारम्भिक अवस्था में स्तूप बिखरे तथा छिट-पुट अवस्था में मिलते हैं। स्तूपों की स्थिति पवन की अनुप्रस्थ दिशा में होती है। अतः अधिकांश स्तूप मरुस्थलीय भागों में बरकान (Barchan) का रूप धारण कर लेते हैं। परन्तु जहाँ पर वनस्पतियाँ होती हैं, वहाँ पर निर्मित स्तूपों का स्वरूप परवलयिक स्तूप (Parabolic dunes) होता है। 2 प्रौढ़ावस्था में अधिक स्तूप के निर्माण के कारण क्षेत्र विशेष रूप से भर जाता है। स्तूप शृंखलाओं का आविर्भाव हो जाता है। अर्थात् स्तूप समूह में मिलते हैं। पवन के समानान्तर स्थित स्तूपों की ऊँचाई अनुप्रस्थ स्तूप (Transverse dunes) की अपेक्षा अधिक हो जाती है। 3 जीर्णावस्था के प्रारम्भिक चरण में स्तूप शृंखलाओं का सर्वाधिक विकास होता है, परन्तु धीरे-धीरे पवन द्वारा रेत के उड़ा लिए जाने पर इनका आकार घटने लगता है। जीर्णावस्था के अन्तिम चरण में स्तूप शृंखलाओं के आकार में ह्रास होने लगता है तथा गासी (Gassi) का विस्तार होता है। कुल मिलाकर गासी का क्षेत्रफल स्तूपों के क्षेत्र से अधिक हो जाता है। जीर्णावस्था का अन्त उस समय होता है, जबकि गासी का विस्तार और अधिक हो जाता है तथा उसकी खुली आधार शैल (Bed rock) समप्राय मैदान (Peneplain) का रूप धारण कर लेती है। यद्यपि स्तूप के विकास की इस चक्रीय व्यवस्था की सराहना की गई परन्तु कर्क आयन महोदय ने इसकी आलोचना करते हुए बताया कि सहारा के मरुस्थलीय भाग में, जहाँ पर Aufrere ने स्तूप-चक्र की व्यवस्था का प्रयोग किया है, पवन-दिशा में परिवर्तन, वनस्पतियों की स्तूपों को स्थायी बनाने की प्रवृत्ति तथा हिमानी तथा हिमानी के बाद जलवायु के परिवर्तनों के प्रभाव द्वारा स्तूपों की चक्रीय व्यवस्था में उत्पन्न होने वाली जटिलताओं का समाधान इस विचारधारा के अन्तर्गत नहीं हो पाता है अर्थात् स्तूपों के विकास की चक्रीय व्यवस्था उपर्युक्त कठिनाइयों के कारण सम्भव नहीं हो सकती है।

स्मिथ महोदय (H. T. U. Smith, 1939-40) ने संयुक्त राज्य अमेरिका के वनस्पतियों द्वारा स्थायी स्तूपों के क्षेत्र में चक्रीय व्यवस्था का प्रतिपादन किया है। इन्होंने स्तूपों की चक्रीय व्यवस्था में दो अवस्थाओं का उल्लेख किया है—1 वायुकृत अवस्था (Eolian phase) इस अवस्था में वनस्पतियों का नियंत्रण कम रहता है तथा स्तूपों का विकास तथा विस्तार तीव्र गति से होता है। वनस्पतियों से अवरोध द्वारा रेत के निक्षेपण से रेत चादर (Sand sheet), रेत कटक (Sand ridges) तथा रेत-ढेर (Sand mounds) का निर्माण होता है। वनस्पतियों के अवरोध के अनुसार रेत का निक्षेप तीन रूपों में होता है—1 जब रेत का जमाव वनस्पतियों के पीछे अर्थात् वनस्पतियों के पवनोन्मुखी भाग में होता है तो उसे पृष्ठ संस्तर (Back set bed) कहते हैं। 2 वनस्पतियों के ऊपर निक्षेपित संस्तर को शीर्ष संस्तर (Top set bed) तथा 3 वनस्पतियों के आगे (पवन की दिशा में—जिस ओर पवन आ रही हो) वाले भाग में निक्षेपित स्तर को अग्र संस्तर (Fore set

beds) कहते हैं। स्मिथ के अनुसार स्तूपों का विकास इन्हीं सस्तरों में से एक या कई की अभिवृद्धि (Accretion सम्मिश्रण) के कारण होता है। कन्सास के स्तूप क्षेत्र में पृष्ठ सस्तर सर्वाधिक होता है। जब रेत की पूर्ति की अपेक्षा वनस्पतियों की वृद्धि अधिक होती है तो वनस्पतियाँ इन्हें अवरुद्ध करके अपने पवनोन्मुखी भाग पर एकत्रित करके स्तूपों का निर्माण करती हैं। कन्सास में, स्मिथ के अनुसार, अधिकांश स्तूपों का विस्तार पीछे की ओर तथा ऊपर की ओर होता है। आगे की ओर इनका विस्तार नगण्य होता है। इनका प्रमुख कारण वनस्पतियों द्वारा इनका स्थायित्व ही है। प्रारम्भ में ही वनस्पतियों द्वारा इन स्तूपों की स्थितियाँ स्थिर कर दी जाती हैं।

2. अनुद्र अवस्था (Eluvial Phase)—इस में बालुका स्तूपों के विस्तार के स्थान पर विनाश होने लगता है। जब वनस्पतियाँ अधिक हो जाती हैं तो पवन द्वारा अपवाहन तथा उड़ाव (*Deflation*) का कार्य मन्द पड़ जाने से रेत की प्राप्ति नहीं हो पाती है। स्तूपों की स्थिति स्थायी हो जाती है। क्षेत्र के सामान्य उच्चावच (Reliefs) में ह्रास होने लगता है। क्षेत्र की स्थलाकृति, स्तूपीय स्थलाकृति (Dunal topography) में परिवर्तित हो जाती है। इस तरह स्तूप के विकास की चक्रीय व्यवस्था का अन्त हो जाता है। परन्तु जैसे ही वनस्पति-आवरण में ह्रास होने लगता है वैसे ही पुन वायूढ़ृत अवस्था (Eolian phase) का पदार्पण हो जाता है तथा स्तूपों का विस्तार होने लगता है। इस दशा की पुनरावृत्ति (Repetition) होने से स्तूप वाले क्षेत्रों में बहुचक्रीय स्तूपीय स्थलाकृति (Multi cyclic *dunal topography*) का विकास हो जाता है।

लोयस (Loess)

पवन द्वारा उड़ायी गयी धूलों के निक्षेप से निर्मित स्थलरूप को लोयस कहा जाता है। लोयस का सर्वप्रथम अध्ययन एक जर्मन विद्वान Von Richtchofen द्वारा उत्तरी-पश्चिमी चीन में किया गया था। लोयस का नामकरण फ्रांस के अलसस प्रान्त (Alsace) के लोयस (Loess) नामक ग्राम के आधार पर किया गया है क्योंकि यहाँ पर लोयस के समान ही मिट्टी का निक्षेप पाया गया है। लोयस का जमाव रेगिस्तानों से दूरस्थ भागों में होता है इसमें मिट्टियों के कण इतने बारीक होते हैं कि इनमें परतें (Strata) नहीं मिलती हैं। परन्तु लोयस अत्यन्त पारगम्य (Porous) होती है। मिट्टी मुलायम होती है। लोयस का निर्माण उस समय होता है जबकि पवन के साथ मिली हुई धूल नीचे बैठ कर एक स्थान पर बड़े पैमाने पर निक्षेपित हो जाती है। *धूल का नीचे बैठना तीन कारणों द्वारा होता है—1* जहाँ पर वनस्पतियाँ होती हैं वहाँ पर धूल उनमें रुक कर बैठने लगती है। 2 वर्षा का जल पवन के साथ मिली धूल को नीचे बैठा देता है। 3 धूल के कण आपस में सम्बद्ध होकर नीचे बैठने लगते हैं। लोयस में सिल्ट (Silt), मृत्तिका (Clay) तथा कुछ रेत की मात्रा रहती है। लोयस के निर्माण के लिए आवश्यक सामग्री (धूल आदि) मरुस्थलीय भागों की रेत, नदियों के बाढ़ क्षेत्र तथा रेतीले तटों तथा हिमनदीय अपक्षेप (Glacial outwash) से प्राप्त होती है। लोयस के जमाव से सतह की उच्चावच सम्बन्धी असमानतायें प्रायः समाप्त हो जाती हैं परन्तु ऊँची-ऊँची चोटियाँ कभी-कभी लोयस की सतह के ऊपर भी निकली रहती हैं। *लोयस का* जमाव सागर-तल से लेकर 5,000 फीट तक मिलता है। प्रारम्भ में कुछ स्थानों पर नदियों के मैदानी भाग में स्थित लोयस के जमाव को कम ऊँचाई पर होने के कारण नदी-कृत बताया गया था, परन्तु जब इनकी *स्थिति का 1500 मीटर की ऊँचाई तक पता चला तो* यह विश्वास हो गया कि लोयस का निर्माण अधिक व्यापक होता है। लोयस में क्वार्ट्ज् (Quartz), फेल्सपार (Felspar) अभ्रक तथा कैलसाइट आदि खनिजों का मिश्रण पाया जाता है। लोयस का रंग प्रायः पीला होता है जिसका प्रमुख कारण आक्सीकरण की क्रिया का होना है। अन्य अपक्षय (Weathering) का प्रभाव *लोयस पर नहीं हो पाता है। लोयस की मोटाई 900* फीट से लेकर 3 फीट तक पाई जाती है।

लोयस के प्रकार लोयस के निर्माण में सहायक सामग्री के प्राप्ति-स्थान के आधार पर लोयस को मरुस्थलीय लोयस तथा हिमनदीय लोयस दो प्रकारों में विभाजित किया जाता है। मरुस्थलीय भागों से उड़कर आने वाली धूल के जमाव से निर्मित लोयस को मरुस्थलीय लोयस कहा जाता है। चीन में लोयस का मैदान इसका प्रमुख उदाहरण है। *अन्तर्हिमनदीय युगों* *(Interglacial Periods* दो हिमयुगों के बीच का शुष्क समय) के समय हिमानीकृत निक्षेपों से पवन द्वारा *उड़ाकर* के दूरस्थ भागों में निक्षेपण के कारण लोयस का जब निर्माण होता है तो उसे हिमनदीय लोयस (Glacial Loeses) कहते हैं।

लोयस का वितरण – लोयस का सर्वाधिक विस्तार चीन के उत्तरी-पश्चिमी भाग में हुआ है तथा इस भाग

कि लोयस की उत्पत्ति के विषय मे किसी भी प्रकार का विवाद नहीं है। यहां पर लोयस का निर्माण मध्य एशिया के रेगिस्तानो से उडाकर लायी गई धूल के बैठने से हुआ है। चीन के स्टेपी भाग की घासे लोयस के निक्षेप मे अत्यन्त सहायक होती है। यहां पर लोयस का विस्तार लगभग 3 लाख वर्गमील क्षेत्र मे सागर-तल से लेकर 8,000 फीट की ऊँचाई तक पाया जाता है तथा लोयस की गहराई 300 से 1,000 फीट तक है। चीन की लोयस मिट्टी का रङ्ग पोला है तथा यह अत्यन्त कोमल तथा अपारगम्य है। इस भाग मे नदियो ने लोयस को काट करके खड्ड (Ravines) मे विभक्त करके **उत्खात् स्थलाकृति (Badland tapography)** को जन्म दिया है। नदियाँ आसानी न लोयस को काट करके उसका परिवहन करके अपनी घाटियो मे जमा करती रहती है, जिस कारण नदियो का तल-ऊपर उठता जाता है तथा दोनो तटो पर **प्राकृतिक तटबन्ध (Natural levees)** का निर्माण हो जाता है। इस क्रिया के कारण नदी का तल समीपी सतह से अधिक ऊँचा हो जाता है। जब अचानक तटबन्ध टूट जाते है तो समीपी भाग मे भयकर बाढे आ जाती है। **ह्वागहो** नदी इस घटना की प्रमुख, उदाहरण है। यही कारण कि ह्वागहो को **'चीन का शोक'** कहते है।

यूरोप महाद्वीप मे लोयस का विस्तार जर्मनी के **बोर्डे (Borde)** वाले भाग, मध्य बेल्जियम के निम्न पठारी भाग तथा पूर्वी फ्रास मे मिलता है। बेल्जियम तथा फ्रान्स मे लोयस को **लिमन (Limon)** कहते है। चीन की लोयस की तरह यूरोप की लोयस रेगिस्तानी धूल से नहीं बनी है, वरन् यह अन्तराहिमनदीय युगो मे हिमानीकृति-निक्षेप मे पवन द्वारा उडाये गय अवशाद के निक्षेपण मे बनी है। इसी कारण यूरोप की लोयस, **हिमनदीय लोयस (Glacial loess)** है। यूरोप की लोयस के निर्माण के विषय मे थोडा मतभेद है, कही-



चित्र 328—उत्तरी चीन का लोयस-क्षेत्र।

कही पर लोयस का विस्तार नदियों की वेदिकाओ (Terraces) पर भी मिलता है। साथ ही साथ लोयस का निक्षेप सामान्य ऊँचाई से लेकर 5,000 फीट की ऊँचाई तक मिलता है। इतना ही नही प्लीस्टोसीन हिमयुग की अन्तिम हिमचादर द्वारा आवृत्त क्षेत्र से अधिक दूरस्थ भागो मे लोयस का विस्तार हुआ है। इसके विषय मे यही निर्णय दिया जा सकता है कि हिमनदीय लोयस का निर्माण प्रारम्भ मे निश्चित रूप से पवन द्वारा हुआ होगा परन्तु बाद मे जल द्वारा इनका पुनर्वितरण हो गया होगा। सयुक्त राज्य अमेरिका के अर्द्ध-शुष्क भागो मे तथा मिसीसिपी एवं मिसौरी नदियो की घाटियो मे लोयस के समान मिट्टी का जमाव मिलता है। इस जमाव को सयुक्त राज्य अमेरिका मे **एडोब (Adobe)** कहते है। सरचना तथा अन्य गुणो मे **एडोब** यूरोप तथा एशिया की लोयस से पूर्णतया साम्य रखती है। लोयस का विस्तार इल्लिनोयस, आयोवा तथा नेब्रास्का प्रान्तों मे अधिक मिलता है तथा लोयस का विस्तार दक्षिण मे मेक्सिको की खाडी तक चला गया है, परन्तु लोयस मिसीसिपी नदी के पूर्व नही मिलती है। यूरोप के समान ही अमेरिका की लोयस की वास्तविक उत्पत्ति के विषय मे पर्याप्त मतभेद है। प्रायः ऐसा विश्वास किया जाता है कि अन्तराहिमनदीय शुष्क समय मे लोयस का निक्षेप पवन द्वारा हुआ होगा। तदन्तर नदियो आदि द्वारा पुनर्वितरण कर दिया गया होगा। पश्चिमी अर्द्ध शुष्क रेगिस्तानो से भी पवन द्वारा लायीं गयी धूल के निक्षेपण से लोयस का निक्षेप हुआ है। इस तरह अमेरिका की लोयस आशिक रूप मे हिमनदीय लोयस तथा आशिक रूप मे मरुस्थलीय लोयस है। अर्जेनटाइना के पम्पास मे भी लोयस का विस्तार मिलता है। आर्थिक दृष्टिकोण से लोयस मिट्टी महत्त्वपूर्ण होती है। जहाँ पर सिचाई की सुविधाये प्राप्त हो जाती है, वहाँ सफलतापूर्वक कृषि की जाती है। उदाहरण के लिये उत्तरी चीन, दक्षिणी रूस तथा मध्य सयुक्त राज्य अमेरिका के लोयस भागो मे कृषि की जाती है। लोयस मिट्टी का उपयोग ईट बनाने के लिय भी किया जाता है। चीन की लोयस वाले भाग मे मिट्टी को खोद कर मकान भी बना लिये जाते है, क्योकि इसम मिट्टी को काटने से दीवाले खडी रहती है परन्तु भूहलचल या भूकम्प के समय इनके गिर जाने से भयकर क्षति उठानी पडती है। चीन के कान्सू प्रान्त मे सन् 1920 तथा 1927 ई० मे भयकर भूकम्प के कारण लोयस के मकानो के गिर जाने से क्रमश 2,00,000 तथा 1,00,000 व्यक्ति कालकवलित हो गये।

शुष्क प्रदेशों में अपरदन-चक्र
(Cycle of Erosion in Arid Regions)

सामान्य परिचय—शुष्क प्रदेशों में अपरदन-चक्र की व्यवस्था का प्रतिपादन सर्वप्रथम डेविस द्वारा सन् 1905 ई० में किया गया। आगे चलकर इस विषय में और अधिक अन्वेषण तथा फील्ड रिसर्च के परिणामस्वरूप **शुष्क प्रदेशीय स्थलाकृति चक्र** (And Geomorphic Cycle) को कई विद्वानों द्वारा मान्यता प्राप्त हुई। डेविस की आर्द्र प्रदेशों में अपरदन-चक्र की व्यवस्था उस समय (1905) सीमित उपकरणों पर आधारित थी। अतः आगे चलकर इनको अपरदन-चक्र की व्यवस्था में अनेक विद्वानों ने संशोधन प्रस्तुत किये। यद्यपि शुष्क प्रदेशों में अपरदन-चक्र की विचारधारा को वर्तमान समय तक पर्याप्त समर्थन प्राप्त है परन्तु अब तक उसके सामने से लगे प्रश्नवाचक चिह्न को हटाया नहीं जा सका है अर्थात् अब तक इस प्रश्न का, कि क्या रेगिस्तानी शुष्क भागों में अपरदन चक्र सम्भव है? पूर्णतया निराकरण नहीं हो पाया है। डेविस की चक्रीय व्यवस्था मूलरूप में सैद्धान्तिक ही है। उसका प्रायोगिक रूप पूर्णरूपण सम्भव नहीं है। **शुष्क अपरदन-चक्र** (The Arid-cycle of erosion) के विषय में यह जान लेना आवश्यक है कि शुष्क रेगिस्तानी भागों में अपरदन का प्रमुख साधन पवन है परन्तु यहाँ पर अपरदन चक्र एकमात्र पवन द्वारा ही सम्पन्न नहीं होता है वरन् उसमें जल के कार्य का भी सहयोग होता है। इसीलिए रेगिस्तानी भागों में नदियों तथा अनके कार्यों का संक्षिप्त उल्लेख आवश्यक है। शुष्क रेगिस्तानी भाग प्रायः वर्षा-विहीन होते हैं। यद्यपि शुष्क मरुस्थलों के लिये औसत वार्षिक वर्षा 5″ (12.5 सेमी) तक मानी जाती है परन्तु कभी-कभी रेगिस्तानी भाग वर्षा की एक बूँद भी नहीं प्राप्त कर पाते है। इसके विपरीत कभी-कभी कुछ ही घण्टों में अचानक रूप से कई सेण्टीमीटर तक वर्षा हो जाती है। इस तरह शुष्क मरुस्थलीय भागों में नदियाँ **अल्पकालिक** (Ephemeral) होती हैं। इनका सम्बन्ध सागरों से नहीं हो पाता है। मरुस्थल के अन्तर्गत ही इनका आविर्भाव होता है तथा उसी के अन्दर लोप भी हो जाता है। अचानक वृष्टि के साथ छोटी-छोटी किन्तु वेगवती नदियाँ उमड़ पड़ती है परन्तु कुछ ही घण्टों बाद उनका जीवन समाप्त होने लगता है। आर्द्र प्रदेशों के विपरीत शुष्क प्रदेशों की नदियों में अपरदन में प्राप्त मलवा इतना अधिक होता है कि कभी-कभी नदियाँ पूर्णतया पंक (Mud) से भरी रहती है तथा **पंक प्रवाह** (Mud flow) का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। रेगिस्तानी भागों को पार करने वाली केवल वे नदियाँ होती है जिनका उद्गम स्थान किसी आर्द्र प्रदेश के पर्याप्त वर्षा वाले भाग में होता है अन्यथा रेगिस्तानी भागों की सभी नदियाँ, जो कि मरुस्थलों में ही जन्म लेती हैं, अत्यन्त छोटी-छोटी होती हैं। आर्द्र प्रदेशों के विपरीत रेगिस्तानों की नदियाँ उच्चावच (Reliefs) में वृद्धि न करके उनका ह्रास ही करती है, क्योंकि अधिक मलवा के कारण निक्षेप, अपरदन की अपेक्षा अधिक सक्रिय होता है। रेगिस्तानों की नदियाँ प्रायः एक बेसिन में गिरती है। अतः यहाँ पर प्रवाह-प्रणाली **केन्द्रोन्मुखी** (Centripetal) या **आन्तरिक** (Inland) होती है। इस तरह की प्रवाह-प्रणाली विश्व के प्रमुख रेगिस्तानों, अटाकामा, सहारा, अरब, पश्चिमी आस्ट्रेलिया, गोबी, तकला मकान तथा कालाहारी में मिलती है। इस तरह **शुष्क अपरदन चक्र** पवन तथा जल के पारस्परिक क्रिया-कलापों का परिणाम होता है। नीचे **शुष्क अपरदन चक्र** की आलोचनात्मक व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है।

चक्र की प्रारम्भिक अवस्था—शुष्क अपरदन-चक्र के प्रारम्भ के लिये सर्वप्रथम आवश्यक दशा शुष्क होनी चाहिए तथा औसत वार्षिक वर्षा 10 इंच (25 सेण्टीमीटर) से किसी भी रूप में अधिक नहीं होनी चाहिए। चक्र के प्रारम्भ होने के पहले यह मान लिया जाता है कि मरुस्थलीय भाग का वलन या भ्रंशन के कारण उत्थान हो जाता है। स्थल भाग की संरचना किसी भी प्रकार की हो सकती है। परन्तु मुख्य रूप से बालुका प्रस्तरों की अधिकता होती है। भूसंचलन के कारण पर्वतों में या पहाड़ियों से घिरी हुई बेसिन (Intermontane basins—अन्तरा पर्वतीय बेसिन) का आविर्भाव होता है, जिसमें केन्द्रोन्मुखी सरिताओं (Centripetal streams) का विकास होता है। ये बेसिन एक दूसरे से पर्वतों द्वारा अलग की जाती हैं। केन्द्रोन्मुखी प्रवाह-प्रणाली की प्रायः सभी नदियाँ **अनुवर्ती** (Consequent) होती हैं। प्रत्येक बेसिन में केवल स्थानीय सरितायें ही पहुँचती है। इस तरह से अलग-अलग बेसिन के कारण अलग-अलग प्रवाह-प्रणालियाँ होती हैं। सरिताओं द्वारा एक बेसिन से दूसरी बेसिन का सम्बन्ध नहीं हो पाता है। प्रत्येक बेसिन अपनी सरिताओं के लिए अपरदन का आधार तल होती है। नदियों की लम्बाई

तथा उनकी घाटियो के आकार मे पर्याप्त भिन्नता होती है। प्रत्येक नदी अपनी बेसिन की तली तक नही पहुँच पाती है। कुछ रास्ते मे ही वाष्पीकरण के कारण सूख जाती हैं तथा कुछ रेत मे अदृश्य हो जाती हैं। शुष्क रेगिस्तानो मे अपरदन के आधार-तल के विषय मे विद्वानो मे पर्याप्त मतभेद हैं। सामान्य रूप से भौम जलस्तर को अपरदन की अन्तिम सीमा माना जाता है। उपर्युक्त परिस्थितियो के साथ शुष्क रेगिस्तानो मे अपरदन-चक्र प्रारम्भ होता है। अपक्षय के विभिन्न रूपो (उदाहरण के लिये ताप द्वारा शैलो का विघटन, तप्त चट्टानो पर वर्षा की छीटो द्वारा चटकन आदि) द्वारा भी अपरदन मे पर्याप्त सहायता मिलती है। शुष्क अपरदन-चक्र की विभिन्न अवस्थाओ का उल्लेख करने के पूर्व इसका, आर्द्र प्रदेशो मे अपरदन-चक्र से अन्तर स्थापित करना आवश्यक है। डेविस महोदय के अनुसार दोनो चक्रो मे निम्न अन्तर स्थापित किये जा सकते है।

(i) शुष्क अपरदन-चक्र मुख्य रूप से शुष्क जलवायु (25 सेण्टीमीटर से कम वार्षिक वर्षा) मे तथा अपरदन का सामान्य चक्र (Normal cycle of erosion) आर्द्र जलवायु अर्थात् दो चक्र दो विभिन्न प्रकार की जलवायु मे सम्पन्न होते हैं।

(ii) आर्द्र प्रदेशो तथा शुष्क प्रदेशो के वाही-जल (Run off) तथा सरिताओ मे पर्याप्त अन्तर होता है। यदि प्रथम मे कई प्रकार की प्रवाह-प्रणालियाँ, सतत वाहिनी सरितायें तथा अधिक जल वर्षा होती है तो अन्तिम मे केन्द्रोन्मुखी प्रवाह-प्रणाली तथा अल्पकालिक सरिताओ का ही प्राधान्य रहता है। यहाँ की नदियाँ वास्तव मे नदियाँ नही कही जा सकती है।

(iii) शुष्क अपरदन चक्र मे तरुणावस्था मे उच्चावच का पर्याप्त ह्रास होता है जब कि सामान्य चक्र मे उच्चावच की वृद्धि होती है। यहाँ पर उच्चावच का ह्रास प्रौढावस्था मे होता है।

(iv) जैसे-जैसे अपरदन-चक्र आगे की ओर बढता जाता है, उच्चावच निरन्तर घटते हैं।

(v) केन्द्रोन्मुखी प्रवाह-प्रणाली के साथ अनुवर्ती नदियों (Consequent streams) की प्रधानता होती है।

(vi) यदि तरुणावस्था मे उच्चभागो की तीव्र गति से निम्नीकरण (Degradation) होता है तो साथ ही साथ बेसिन की अधिवृद्धि (Aggradation) भी होती रहती है।

(vii) सर्वत्र अपरदन का आधार-तल एक ही नही होता है वरन् अलग-अलग बेसिन के कारण वे कई की सख्या मे होते हैं। जैसे-जैसे बेसिन मलवा से भरती जाती है, स्थानीय आधार-तल (Local Base levels) भी ऊँचे उठते जाते हैं।

(viii) प्रौढावस्था मे उच्चावच का ह्रास अधिक हो जाता है, जिस कारण समीपी बेसिन की सरिताओ में समाकलन (Integration—समन्वय अर्थात् नदियाँ एक दूसरे से सम्बन्धित होने लगती है) होने लगता है।

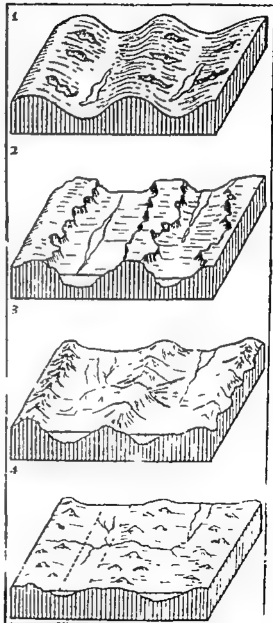
(ix) अन्त मे जीर्णावस्था के समय पवन द्वारा रेत के अपवाहन या उडाव (Deflation) द्वारा मरुपेनीप्लेन (Desert peneplain) का आविर्भाव होता है, जिसमे इन्सेलबर्ग (Inselberg), मोनाडनाक के समान होता है।

तरुणावस्था—तरुणावस्था मे अपरदन तथा निक्षेप दोनो साथ-साथ चलते हैं। उच्च भाग अपरदित होते हैं तथा नदियाँ पर्वतीय ढालो पर अपनी घाटियो का विकास करती हैं। ऊपरी ढाल से अपरदित पदार्थ बेसिन मे जमा होने लगता है, जिस कारण बेसिन की तली उथली होने लगती है। इस क्रिया के कारण प्रत्येक स्थानीय आधार तल ऊँचे होने लगते हैं। तरुणावस्था मे दो क्षेत्रो को स्पष्ट रूप से निर्धारित किया जा सकता है—1 **निम्नीकरण का क्षेत्र** (Zone of Degradation)—यह उच्च भागो से ढालो पर अपरदन द्वारा बनता है। 2. **जमाव या अधिवृद्धि का क्षेत्र** (Zone of accumulation or aggradation)—इस क्षेत्र का आविर्भाव बेसिन मे मलवा के निक्षेप होने से होता है। बेसिन के मलवा से भरने तथा उच्च भागो के अपरदित होने से उच्चावच (Relief) नीचे होते हैं। घाटियो के मुख के पास **जलोढ़ पंखो** (Alluvial fans) का निर्माण होता है। बेसिन मे जल के एकत्र होने से **प्लेया झील** (Playa lake) का आविर्भाव होता है। वास्तव मे प्लेया सिल्ट या नमकयुक्त बेसिन होती है। रिस कर आये हुए जल तथा नदियो द्वारा लाये गये जल के साथ नमक के अंश भी प्लेया मे आ जाते हैं। इस कारण प्लेया का जल खारा हो जाता है। यदि प्लेया झील के कुछ जल का वाष्पीकरण हो जाता है तो झील के किनारो पर नमक का निक्षेप हो जाता है। यदि झील के जल का या तो वाष्पीकरण द्वारा या जल के रिस जाने के कारण पूर्णतया लोप हो जाता है तथा झील सूख जाती है तो प्लेया मे सिल्ट तथा नमक के मिश्रित जमाव हो जाते है। सरिता अपरदन के अलावा जहाँ कही भी शुष्क रेत सुलभ होती है, पवन का अपवाहन कार्य (Deflation-उडाव) प्रारम्भ हो जाता है। यदि प्लेया मे नमक की मोटी परत का जमाव हुआ रहता है तो वह अपवाहन के लिये बाधक

होता है। परन्तु यदि नमक की परत पतली होती है तो पवन के अपवाहन (उड़ाव) द्वारा प्लेया में (यदि सभी जल का वाष्पीकरण हो गया है) छोटे-छोटे खोखले गर्त (Hollows) निर्मित हो जाते हैं। प्लेया में यत्र-तत्र बालुका स्तूपों का निर्माण होने लगता है। तरुणावस्था के अन्तिम चरण में उच्च भागों के अपरदित होने पर दो बेसिन को अलग करने वाले अवरोधों (Barriers) के नीचा हो जाने के कारण एक बेसिन का दूसरी बेसिन द्वारा अपहरण होने लगता है। इस क्रिया के कारण प्रवाह-प्रणाली में समकेन (Integration– समन्वय) होने लगता है। यह दशा तरुणावस्था के अन्त तथा प्रौढ़ावस्था के प्रारम्भ की परिचायिका होती है।

प्रौढ़ावस्था—प्रौढ़ावस्था के समय उच्चावच में ह्रास तीव्र गति से होता है। परन्तु यह स्मरणीय है कि तरुणावस्था से प्रौढ़ावस्था में पदार्पण मंद गति से होता है क्योंकि वर्षा अत्यन्त सीमित होती है। पर्वतों का अग्रभाग अपरदन द्वारा पीछे की ओर हटता है, जलविभाजक संकरे होने लगते हैं तथा मध्यवर्ती बेसिन अधिक विस्तृत होने के साथ ही साथ मलवा के निक्षेप के कारण ऊँची भी होती जाती है। बेसिन के मुख पर निर्मित कई जलोढ़ पंख (Alluvial fans) मिलकर बाजाडा (Bajada) का रूप धारण कर लेते हैं। पर्वतीय अग्रभाग तथा बाजाडा के बीच अपरदन द्वारा निर्मित पेडिमेण्ट (Pediment) का विकास हो जाता है। प्रौढ़ावस्था के अन्तिम चरण में जल का कार्य तथा निम्नीकरण कम होने लगते हैं। इसके दो कारण हैं। प्रथम यह कि अधिक अपरदन के कारण ऊँचाई तथा ढाल प्रायः समाप्त हो गये रहते हैं। दूसरा यह कि अपरदन द्वारा ऊँचाई में कमी हो जाने के कारण वर्षा में कमी हो जाने से आवश्यक जल की प्राप्ति नहीं हो पाती है। अधिक ऊँचाई के कारण ही भाप से भारी पवनों का घनीभवन (Condensation) कम होने से वर्षा कम हो जाती है। इस कारण प्रौढ़ावस्था के अन्तिम चरण में पवन का कार्य सर्वाधिक महत्वपूर्ण हो जाता है। अपरदन की क्रिया (Deflation) द्वारा पवन का उड़ाव अधिक प्रबल हो जाता है। बेसिन के किनारों पर स्थित जलोढ़ के हल्के आवरण को पवन उड़ाकर नग्न सतह को प्रकट कर देती है। स्थान-स्थान पर पवन द्वारा गर्त का निर्माण हो जाता है।

जीर्णावस्था—जीर्णावस्था के समय सभी उच्च भाग अपरदित होकर निम्न सतह के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। कुछ प्रतिरोधी शैल, अपरदन के अवशेष के रूप में सामान्य सतह से ऊँचे रह जाते हैं। इन्हें **इन्सेलबर्ग** (Inselberg) कहा जाता है। इन्सेलबर्ग वास्तव में द्वीप तुल्य पर्वत या पहाड़ियाँ होते हैं। कुछ विद्वानों ने इन्सेलबर्ग को शुष्क अपरदन चक्र का अन्तिम रूप माना है तथा



चित्र 329 शुष्क मरुस्थलीय भागों में अपरदन चक्र की अवस्थायें 1 प्रारम्भिक अवस्था 2 तरुणावस्था 3 प्रौढ़ावस्था तथा 4 जीर्णावस्था।

इन्हे सामान्य अपरदन चक्र के मोनाडनाक (Monadnock) के रूप मे स्वीकार किया है। यह विचारधारा अत्यन्त विवादग्रस्त है। इसका संक्षिप्त उल्लेख आगे किया जायेगा। चक्र के अन्त मे अपवाहन (Deflation) इतना अधिक हो जाता है कि समस्त रेगिस्तानी भाग एक समप्राय मैदान के रूप से परिवर्तित हो जाता है। मरुस्थलीय भाग मे अपरदन की अन्तिम सीमा या आधार-तल जल स्तर द्वारा निर्धारित होता है। अत चक्र के अन्त मे निर्मित मरुस्थलीय मैदान सागर तल से ऊपर भी हो सकता है, नीचे भी। कुछ विद्वानो ने 'शुष्क अपरदन चक्र' के अन्त मे निर्मित स्थलरूप को मरु पेनीप्लेन की सज्ञा प्रदान की है तथा इसकी समता 'अपरदन के सामान्य चक्र' के पेनीप्लेन से की है।

शुष्क प्रदेशीय रेगिस्तानो मे मरुस्थनो क सम्बन्ध मे अनेक विद्वानो ने पेडीमेण्ट के निर्माण तथा उसके विकास की विभिन्न अवस्थाओ का उल्लेख किया है। चक्र की अन्तिम अवस्था में पेडीमेण्ट के विस्तार तथा कई पेडीमेण्ट के मिल जाने से विस्तृत 'मरु पेनीप्लेन' (Desert peneplain) का विकास होता है, जिस पर यत्र तत्र उठे हुए इन्सेलबर्ग मोनाडनाक के समान होते है। वास्तव मे चक्र की अन्तिम अवस्था मे पेडीमेण्टेशन (Pedimentation) के कारण एक क्रमबद्ध सतह (Graded surface) का निर्माण होता है। इस क्रमबद्ध सतह का नामकरण विभिन्न विद्वानो ने अलग-अलग किया है। लासन महोदय (A C Lawson, 1915) ने शुष्क अपरदन चक्र' की अन्तिम अवस्था के स्थलरूप को पैनफैन (Panfan) की सज्ञा प्रदान की है। लासन ने पैनफैन की समता, "अपरदन के सामान्य चक्र" के पेनीप्लेन से की है। परन्तु लासन की यह विचारधारा अमान्य है, क्योकि पैनफैन का शाब्दिक अर्थ (समस्त पख) भ्रामक है। क्योकि 'फैन' या पख का प्रयोग तीव्र ढाल के आधार पर निर्मित जलोढ़ पंख के लिये किया जाता है। इसके विपरीत 'शुष्क अपरदन-चक्र' की अन्तिम स्थलाकृति 'अपरदित आधार शैल' वाली होती है। अत: लासन की 'पैनफैन' की नामावली अमान्य है। डेविस महोदय (1933) ने संयुक्त राज्य अमेरिका के कैलिफोर्निया प्रान्त के मोजावे रेगिस्तान (Mojave Desert) मे शुष्क अपरदन-चक्र की अन्तिम अवस्था मे उत्पन्न स्थलरूप को क्रमश. 'ग्रेनाइट गुम्बद' तथा 'मरु-गुम्बद' की सज्ञा प्रदान की है। डेविस की इस नामावली पर सबसे बडी आपत्ति यह है कि यह आवश्यक नही है कि शुष्क अपरदन की अन्तिम स्थलाकृति गुम्बदीय होती है।

सन् 1935 ई० मे पेडीमेण्ट के सम्मिलन से उत्पन्न (अपरदन से निर्मित) जलोढ निर्मित सतह के लिये मैक्सन तथा एण्डर्सन (J. H. Maxon and G. H. Anderson, 1935) ने 'पेडीप्लेन' (Pediplain) अर्थात्—'पदस्थली' नामावली का प्रयोग किया है। पदस्थली या पेडीप्लेन का निर्माण, इन विद्वानो के अनुसार, कई पेडीमेण्ट के मिल जाने से होता है तथा इस पर यत्र तत्र मरुगुम्बद भी मिलते हैं। सन् 1942 मे होवर्ड (A. D. Howard) ने इसके लिये पेडीप्लेन (Pediplane) शब्द का प्रयोग किया।

सन् 1950 ई० मे प्रसिद्ध भू-आकृति विज्ञान वेत्ता किंग (L C. king) ने पेडीप्लेनेशन-चक्र (Cycle of Pediplanation) की विचारधारा का प्रतिपादन किया। डेविस द्वारा प्रतिपादित 'शुष्क अपरदन-चक्र' की व्यवस्था की अपेक्षा किंग महोदय की इस नवीन विचारधारा को अधिक समर्थन मिल रहा है। किंग की व्यवस्था ने अपरदन द्वारा कगार के पीछे हटने (Scarp retreat) तथा पेडीमेण्ट के निर्माण की क्रिया को अधिक महत्त्व दिया गया है। अपरदन-चक्र की तरुणावस्था मे नदियो के अपरदन द्वारा पर्वतीय ढालो पर तीव्र ढालो वाली सतहो का निर्माण होता है। जिससे छोटे-छोटे पेडीमेण्ट का निर्माण होता है। पेडीमेण्ट वास्तव मे पर्वतीय भागो पर अपरदन द्वारा निर्मित अवतल ढाल वाले स्थलरूप होते है। इनके ऊपर जलोढ या काप का हल्का आवरण हो सकता है। प्रारम्भ मे ये पेडीमेण्ट विस्तार मे सीमित होते हैं। परन्तु जैसे-जैसे उच्च भाग अपरदित हो जाते है, तथा कगार (Scarps) पीछे को ओर हटते जाते है, पेडीमेण्ट अत्यधिक विस्तृत होते जाते है तथा मरुस्थल के ये सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थलरूप होते हैं। ऊँचे-ऊँचे भाग अपरदित होकर इन्सेलबर्ग मे परिवर्तित हो जाते हैं। जीर्णावस्था के समय पेडीमेण्ट का विस्तार इतना अधिक हो जाता है कि कई पेडीमेण्ट मिल जाते है जिससे पेडीप्लेन का निर्माण होता है। इस पेडीप्लेन की विस्तृत सतह पर इन्सेलबर्ग ऊँचे उठे रहते हैं। किंग महोदय ने अफ्रीका से अनेक पूर्णतया विकसित पेडीप्लेन के उदाहरण प्रस्तुत किये है।

शुष्क मरुस्थलो के विशिष्ट स्थलरूप (Peculiar Land forms of Arid Regions)—शुष्क मरुस्थलीय भागो मे पवन तथा जल के सम्मिलित कार्य द्वारा कुछ ऐसे विशिष्ट प्रकार के स्थलरूपो (यद्यपि इनका संक्षिप्त उल्लेख ऊपर किया जा चुका है) का निर्माण होता है, जिनका अलग-अलग उल्लेख आवश्यक है। इनमे से प्रमुख

हैं—उत्खात भूमि तथा उत्खात स्थलाकृति (Bad lands and badland topography), प्लेया (Playas) बाजाडा तथा पेडीमेण्ट (Pediments)।

उत्खात स्थलाकृति (Badland Topography)

जिन अर्द्धशुष्क तथा शुष्क रेगिस्तानी भागो मे परतदार शैल के स्तर क्रमश एक दूसरे के बाद होते हैं, वहाँ पर असामयिक वर्षा के कारण सतह पर छोटी-छोटी जलधारायें (Channels) बन जाती हैं, जल की पूर्ति के साथ छोटी-छोटी सरिताओ का आविर्भाव होने लगता है। इन सरिताओ द्वारा अपरदन के कारण खड्ड (Ravines) तथा गहरी घाटियो का निर्माण होता है। खड्डो तथा घाटियो को अलग करते हुए असमान तथा ऊबड़-खाबड़ कटक (Ridges) निर्मित हो जाते हैं। स्थान-स्थान पर विभेदक अपरदन (Differential erosion) द्वारा प्रतिरोधी शैल कम अपरदित होने के कारण अपरदन के अवशिष्ट भाग के रूप म दृष्टिगत होती है। इस तरह खड्डो, घाटियो, कटको तथा शिखरो के कारण समस्त धरातलीय सतह अत्यन्त उबड-खाबड तथा असमान हो जाती है। इस तरह की सतह को पार करना अत्यन्त कठिन होता है। इस तरह की स्थलाकृति को उत्खात स्थलाकृति (Badland topography) कहते हैं। इस स्थलाकृति का निर्माण उस समय भी होता है जब कि मरस्थलीय भागो म चट्टानो की सरचना सम्भवत स्तरो वाली होती है। यात्रिक अपक्षय तथा आंशिक रूप मे रासायनिक अपक्षय के कारण शैल म विघटन होता है, जिस कारण पवन विघटित ढीले पदार्थ को उडा ले जाती है। परिणामस्वरूप एक असमान (ऊँची-नीची सतह वाली) सतह का निर्माण होता है, जिसमे नुकीले ऊँचे भाग ऊपर की ओर उठे होते हैं तथा उनके बीच मे खड्ड तथा गर्त होती है। अलवर्टा (कनाडा), मोण्टाना, वायोमिंग, उत्तरी तथा दक्षिणी डैकोटा, न्यूमेक्सिको, ऊटा (Utah) कोलोरैडो एरिजोना, नेवादा तथा कैलिफोर्निया प्रान्तो म उत्खात स्थलाकृति का विकास हुआ है। इसी तरह के उदाहरण प्राय सभी शुष्क तथा अर्द्ध-शुष्क रेगिस्तानो मे मिलते हैं। यह स्मरणीय है कि किसी भी दो मरुप्रदेशो की उत्खात स्थलाकृति यद्यपि समान होती है परन्तु एक भी नही होती है। वास्तव मे प्रत्येक मरस्थल की उत्खात स्थलाकृति की अपनी अलग-अलग विशेषता होती है। शुष्क तथा अर्द्ध शुष्क रेगिस्तानी भागो की इस उत्खात स्थलाकृति को आर्द्र-प्रदेशो के लाइमस्टोन शैल वाले भागो की कार्स्ट स्थलाकृति से अलग ही समझना चाहिए। यद्यपि दोनो स्थलाकृतियाँ देखने मे समान लगती हैं परन्तु दोनो के निर्माण की प्रक्रिया मे पर्याप्त अन्तर होता है। सक्षेप मे यह स्थलाकृति मरुस्थली भागो मे पवन तथा सरिता-अपरदन और यांत्रिक अपक्षय द्वारा निर्मित होती है। इसके विपरीत कार्स्ट स्थलाकृति का निर्माण लाइमस्टोन शैल वाले आर्द्र भागो मे सतह के ऊपर सरिता द्वारा तथा सतह के नीचे भूमिगत जल के अपरदन द्वारा होता है। कार्स्ट स्थलाकृति के निर्माण मे रासायनिक अपक्षय, खासकर घुलन-क्रिया का सर्वाधिक योग रहता है। चूने की चट्टान की ऊपरी सतह पर घुलन-क्रिया द्वारा छोटे-छोटे कटक, शिखरिका (Pinnacles), गड्ढे आदि का निर्माण होने से वह (सतह) असमान हो जाती है। इस तरह की स्थलाकृति को लैपीज (Lapies) कहते ह। लैपीज को नंगे पाँव पार करना कठिन कार्य होता है।

प्लेया (Playas)

मरस्थलीय भागो मे प्राय बालसन प्लेया तथा सैलिनास का प्राय समान अर्थों मे प्रयोग किया जाता है। परन्तु इनमे पर्याप्त अन्तर किया जा सकता है। रेगिस्तानी भागो म पर्वतो से घिरी हुई बेसिन को बालसन (Bolsons—सयुक्त-राज्य अमेरिका तथा मेक्सिको मे खासकर) कहा जाता है। चारो तरफ स छोटी-बडी नदियाँ निकल कर बालसन मे जाती हैं। यह आवश्यक नही है कि सभी नदियाँ बालसन म पहुँचे ही। कुछ नदियाँ तो मार्ग म ही वाष्पीकरण के कारण सूख जाती हैं तथा कुछ रेत म लुप्त हो जाने के कारण बीच मे ही समाप्त हो जाती हैं। जब बेसिन या बालसन मे जल का सचयन हो जाता है तो अल्पकालिक (Ephemeral) झीलो का निर्माण हो जाता है। जल के सूखते ही य झीलें समाप्त हो जाती हैं। नदियो द्वारा सिल्ट तथा नमक का बालसन की तली म निक्षेप होते रहने म वह समतल तथा ऊँची होती जाती है। इस तरह के बालसन के मध्य के सिल्ट तथा नमक के समतल भाग को प्लेया या प्लाया कहते हैं। दूसरे शब्दो म प्लाया अल्पकालिक रेगिस्तानी झीलो के जल को प्रदर्शित करती है। प्लेया प्राय शुष्क होती है परन्तु असामयिक वृष्टि के कारण कभी-कभी जल स भर जाती है। पुन वाष्पीकरण द्वारा प्लेया सूख जाती है तथा उसकी तली म सिल्ट और नमक की परत का निक्षेप हो जाता है। प्लेया का आकार तथा क्षेत्रीय विस्तार भिन्न-भिन्न होता है तथा यह भिन्नता बेसिन के आकार तथा विस्तार एव उसम

स्थित अस्थायी झील के स्वभाव पर आधारित होती है। इस तरह कुछ वर्ग किलोमीटर से लेकर सैकड़ो वर्ग किलोमीटर क्षेत्रफल वाली प्लेया होती है। प्लेया में निक्षेपित नमक के प्रकार तथा उसकी मात्रा में भी पर्याप्त अन्तर होता है। अधिक नमक वाली प्लेया को **सेलीनास** (Salinas) कहा जाता है। **चमकीले नमक** (Glistening salt) वाली प्लेया को **अलकली फ्लैट्स** (Alkali flats) कहते हैं। अधिकांश प्लेया में सिल्ट तथा नमक की परतें क्रमशः एक दूसरे के बाद निक्षेपित होती हैं। प्लेया मुख्य रूप से अधिक विस्तृत तथा सपाट एवं उथली तली वाली होती है। यदि प्लेया में नमक की परत अधिक मोटी है तो प्लेया की सतह अधिक कठोर तथा पवन के अपवाहन (Deflation) कार्य के लिए प्रतिरोधी होती है परन्तु हल्की परत वाली प्लेया में पवन ढीले पदार्थों को आसानी से उड़ाकर **वात गर्तों** (Blow out) का निर्माण करती है। किनारे वाले भागों में यत्र-तत्र बालुका स्तूपों (Sand dunes) का भी निर्माण हो जाता है। यदि प्लेया-सतह के करीब ही **भौम जलस्तर** (Water table) होता है तो प्लेया की सतह कोमल होती है। भूमिगत जल प्लेया की सतह में घुलन क्रिया (Solution) द्वारा नमक को घुला कर अलग कर लेता है जिससे **घोल छिद्र** (Solution hollows) का निर्माण हो जाता है। कभी-कभी प्रवाह-प्रणाली में परिवर्तन हो जाने के कारण नदियाँ प्लेया की सतह को विच्छेदित (Dissection) करके उसे असमान तथा ऊबड़-खाबड़ बना देती हैं। इस कारण प्लेया की सतह में **उत्खात स्थलाकृति** (Badland topography) का आविर्भाव होता है। संयुक्त राज्य अमेरिका के उटा प्रान्त (Utah) की '**ग्रेट साल्ट लेक**' व दक्षिण पश्चिम में स्थित 3000 वर्गमील क्षेत्र में **साल्ट लेक**, प्लेया की एक प्रमुख उदाहरण हैं।

बाजाडा (Bajada)

प्लेया तथा उच्च पर्वतीय भागों के मध्य दो प्रकार के महत्त्वपूर्ण मरुस्थलीय स्थलरूप होते हैं। वास्तव में प्लेया को पर्वतीय भाग से मिलाने वाले ये भाग मन्द ढाल वाले मैदान होते हैं। प्रारम्भ में इस समस्त मैदान को निक्षेप जनित (Aggradational) बताया गया था परन्तु वर्तमान समय में निर्माण की प्रक्रिया के आधार पर इनमें अन्तर होता है। उसमें से मैदान का वह भाग, जो कि **प्लेया** से मिला रहता है, मलवा के निक्षेप से बनता है। इसे **बाजाडा** कहते हैं। मैदान का ऊपरी भाग जो कि पर्वतीय भाग से मिला रहता है, अपरदन द्वारा निर्मित होता है। इसे **पेडीमेण्ट** (*Pediment*) कहते हैं। पेडीमेण्ट तथा बाजाडा सम्मिलित रूप से पर्वतीय भाग तथा प्लेया के बीच मन्द ढाल वाले तथा निष्कोण वक्र वाले (Smooth curve) स्थलरूप होते हैं। बाजाडा का निर्माण पेडीमेण्ट के नीचे तथा प्लेया के किनारे पर जलोढ पंखों (Alluvial fans) के सम्मिश्रण तथा सम्मिलन से होता है। अचानक वर्षा के समय नदियाँ पर्वतीय भाग को अपरदित कर पेडीमेण्ट का निर्माण ढाल पर करती हैं। पेडीमण्ट के निर्माण के समय अपरदन द्वारा प्राप्त मलवा का निक्षेपण निचले ढाल पर प्लेया के सामने **जलोढ पंख** (Alluvial fans) के रूप में होने लगता है। प्रारम्भ में प्रत्येक नदी अलग-अलग पंख का निर्माण करती है। **पंकवाह** (Mudflows) तथा **चादरी बाढ़** (Sheet flood) के कारण भी जलोढ पंखों का निर्माण होता है। धीरे-धीरे ये जलोढ पंख आकार में विस्तृत होते जाते हैं तथा एक दूसरे से मिलकर बढ़ने लगते हैं। जब कई जलोढ पंख एक दूसरे से मिल जाते हैं तो एक विस्तृत निक्षेप-जनित क्रमिक ढाल वाले मैदान का निर्माण होता है। इस मैदान को बाजाडा कहते हैं। बाजाडा, इस प्रकार **मिश्रित जलोढ पंख** (Compound alluvial fans) ही होते हैं। बाजाडा के ढाल में पर्याप्त अन्तर होता है। पर्वत के पास इसका ढाल 8° से लेकर 10° तक होता है। परन्तु प्लेया के पास यह एक अंश से भी कम होता है। बाजाडा की संरचना बड़े तथा महीन कणों वाले पदार्थों (खास कर कांप) से होती है। ये पदार्थ नदी-बाढ़ तथा पंकवाह से प्राप्त होते हैं। बाजाडा की विभिन्न परिच्छेदिकाओं (Profiles) में पर्याप्त अन्तर होता है। बाजाडा के आर पार तथा पर्वतीय भाग के समानान्तर उसकी परिच्छेदिका तरंगित (Undulating—लहरदार) होती है, परन्तु पर्वतीय भाग से दूर जाने पर अर्थात् प्लेया के पास बाजाडा की अनुप्रस्थ परिच्छेदिका (Transverse profile) बहुत कम लहरदार (तरंगित) होती है। जैसे ही बाजाडा का निर्माण होता है, उस पर छोटी-छोटी जलधाराओं का आविर्भाव हो जाता है। ये जलधारायें निश्चित रूप से अल्पकालिक तथा आन्तरायिक (Ephemeral and intermittent) होती हैं। ये आन्तरायिक धारायें बाजाडा को कई भागों में विभक्त कर देती हैं। यह स्मरणीय है कि आन्तरायिक सरिताओं का मार्ग बाजाडा की सतह पर निश्चित न होकर अनिश्चित होता है, क्योंकि प्रत्येक बाढ़ के समय इनमें स्थान परिवर्तन होता रहता है। बाढ़ के समय बाजाडा के ऊपर स्थित जलधाराओं में सिल्ट तथा बजरी (*Gravel*) भर

जाती है। बाढ़ की समाप्ति के बाद नदियाँ लुप्त हो जाती हैं तथा उनकी घाटियों में, जिनमें की बजरी तथा सिल्ट भर गया रहता है, जल रिसने लगता है। जल पर्याप्त मात्रा में रिस कर नीचे चला जाता है तो कभी-कभी बाजाडा के नीचे भूमिगत जल का प्रवाह (Underground flow) होने लगता है। यह जल सतह के नीचे जाकर आर्टीजियन वेल (Artesian well) के निर्माण में सहायक होता है। कुछ जल प्लेया तक पहुंच जाता है। बाजाडा के समस्त भाग में मलवा की मोटाई समान नहीं होती है। ऊपरी भाग में ढाल के कारण मलवा की मोटाई कम तथा निचले भाग में अधिक होती है। कुओं की खुदाई तथा बोरिंग द्वारा बाजाडा में मलवा को 800 फीट तक की गहराई का पता लगाया जा चुका है।

पेडीमेण्ट (Pediment)

पर्वतीय अग्र भाग (Mountain front) तथा बाजाडा के मध्य अपरदित शैल सतह वाले, सामान्य ढाल वाले मैदान का विस्तार होता है जो कि पर्वतीय अग्रभाग की ओर अधिक ढालवाला तथा प्लेया की ओर कम ढाल वाला होता है। इस तरह के अपरदन द्वारा निर्मित शुष्क तथा अर्द्धशुष्क रेगिस्तानी भागों के स्थलरूप को पेडीमेण्ट की संज्ञा प्रदान की जाती है (Pediments are smooth rock cut plains of arid and semi arid regions, extending between mountain fronts and Bajadas)। पर्वतीय अग्रभाग में इस चट्टानी मैदान का विस्तार कई किलोमीटर तक होता है। पेडीमेण्ट का निर्माण अपक्षय तथा सरिता-अपरदन द्वारा विभिन्न संरचना वाली चट्टानों के कट जाने से होता है। पेडीमेण्ट तथा बाजाडा ढाल की दृष्टि से इतने मिले होते हैं कि उनके सम्मिलन बिन्दु को निर्धारित करना प्रायः कठिन होता है। वास्तव में पर्वतीय अग्रभाग से प्रारम्भ होकर प्लेया (Playa) तक पेडीमेण्ट तथा बाजाडा एक स्थलरूप के समान होते हैं, जिनका ढाल क्रमशः प्लेया की ओर घटता जाता है। यही कारण है कि दूर से देखने पर बाजाडा तथा पेडीमेण्ट एक से लगते हैं तथा उन्हें अलग करना कठिन होता है। परन्तु यदि करीब से एवं सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो दोनों स्थलरूपों में पर्याप्त अन्तर होता है। दोनों के निर्माण की प्रक्रिया में भिन्नता होती है। पेडीमेण्ट का निर्माण पर्वतीय अग्रभाग के निम्नीकरण (Degradation) द्वारा होता है। अतः पेडीमेण्ट को **निम्नीकरण का मैदान (Plain of degradation)** कहते हैं। इसके विपरीत बाजाडा का निर्माण, जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है, अपरदित पर्वतीय भाग से निकले ढाल पर मलवा के निक्षेप के कारण होता है। इसी कारण बाजाडा को **निक्षेप या अधिवृद्धि का मैदान (Plain of aggradation)** कहते हैं। स्थिति के विचार से भी दोनों में अन्तर होता है। बाजाडा प्लेया के समीप किन्तु पर्वतीय अग्रभाग से दूर और पेडीमेण्ट पर्वतीय अग्रभाग के समीप किन्तु प्लेया से दूर होता है। पेडीमेण्ट का विस्तार अपक्षय तथा अपरदन द्वारा पर्वतीय अग्रभाग के पीछे हटने से होता है, जबकि बाजाडा का विस्तार पेडीमेण्ट के निचले भाग पर मलवा के निक्षेप द्वारा होता है। इस तरह पेडीमेण्ट तथा बाजाडा दोनों पर्वतीय अग्रभाग की ओर बढ़ते जाते हैं। कभी-कभी पर्वतीय अग्रभाग के पीछे हटने की प्रवृत्ति इतनी अधिक होती है कि वह अपने शीर्ष भाग तक पहुंच जाता है। पर्वत के दोनों पार्श्व के अग्रभाग के पीछे हटने से पर्वत का शीर्ष भाग अपरदित हो जाता है तथा पेडीमेण्ट एक-दूसरे से मिल जाते हैं। पेडीमेण्ट के विकास में **किंग महोदय** ने चक्रीय व्यवस्था का प्रतिपादन किया है। पेडीमेण्ट के विकास की प्रक्रिया को पेडीमेण्टेशन (Pedimentation) की संज्ञा प्रदान की है। अपने विकास की अन्तिम अवस्था को छोड़ कर, पेडीमेण्ट तथा पर्वतीय अग्रभाग की मिलन-रेखा के सहारे ढाल अत्यन्त तीव्र होता है। कभी-कभी तो पेडीमेण्ट की सतह से पर्वतीय अग्रभाग अचानक इतना खड़ा होता है कि ढाल 90° तक हो जाता है। पर्वतीय अग्रभाग से दूर पेडीमेण्ट का ढाल मन्द होता है तथा यह क्रमशः घटता जाता है। पर्वतीय भाग के समानान्तर पेडीमेण्ट की परिच्छेदिका बाजाडा के समान लहरदार (Undulating) न होकर सपाट होती है। पेडीमेण्ट के ऊपरी भाग में अनुदैर्ध्य तथा अनुप्रस्थ परिच्छेदिकाओं (Longitudinal and transverse profiles) के ढाल अवतल होते हैं। ब्लैकवेल्डर महोदय (1931) ने संयुक्त राज्य अमेरिका के दक्षिणी-पश्चिमी रेगिस्तानों के पेडीमेण्ट का अध्ययन करते हुए बताया है कि इनका ढाल 1° से लेकर 7° तक होता है तथा उनका औसत ढाल $2\frac{1}{2}$° होता है। अधिकांश पेडीमेण्ट अपरदित चट्टानों के नग्न भाग होते हैं, जिन पर मलवा का आवरण नहीं होता है। परन्तु कुछ विशिष्ट प्रकार के पेडीमेण्ट पर मलवा की एक हल्की चादर या हल्का आवरण अवश्य होता है। बारसेस्टर महोदय (1956) ने पेडीमेण्ट के विकास के इतिहास के विषय में बताया है कि पेडीमेण्ट के निर्माण के बाद यदि जलवायु में परिवर्तन हो जाता है तथा जलवायु

अधिक आर्द्र हो जाती है तो नदियो की स्थिति मे परिवर्तन हो जाने से पेडीमेण्ट की सतह पर जलोढ पखो (Alluvial fans) का निर्माण हो जाता है। इस तरह से 'Fantopped pediments' (जलोढ पख वाले पेडीमेण्ट) का निर्माण होता है। कुछ समय बाद 'Pedimentation' की प्रक्रिया द्वारा इन जलोढ पखो का लोप हो जाता है तथा पुन. **वास्तविक पेडीमेण्ट** (True pediment) का आविर्भाव हो जाता है। इस तरह **बारसेस्टर** ने कोलोरैडो प्रान्त के **फ्रन्ट रेन्ज** (Front Range) के पेडीमेण्ट के विकास के अध्ययन के आधार पर इनके निर्माण तथा विकास की तीन रोचक अवस्थाओ का उल्लेख किया है। 1 सर्वप्रथम विभिन्न संरचना तथा संगठन वाली शैल पर पेडीमेण्ट का निर्माण, 2. जलवायु के अधिक आर्द्र होने से अधिक सरिताओ के कारण पेडीमेण्ट पर बडे कणो वाली कॉप (Coarse alluvium) का निक्षेप, तथा 3 अन्त मे जलोढ पख युक्त पेडीमेण्ट पर वास्तविक पेडीमेण्ट का निर्माण।

पेडीमेण्ट के निर्माण सम्बन्धी सिद्धान्त (Theories of the Origin of Pediments)

सामान्य परिचय—यद्यपि पेडीमेण्ट तथा बाजाडा शुष्क मरुस्थलीय एव अर्द्धशुष्क मरुस्थलीय भागो के प्रमुख स्थलरूप हैं तथा ये प्राय हर मरुस्थल (शुष्क तथा अर्द्धशुष्क) मे पाये जाते हैं, परन्तु इनके निर्माण के विषय मे वर्तमान समय तक किसी भी निश्चित तथा ग्राह्य मत का प्रतिपादन नही किया जा सका है। पेडीमेण्ट के निर्माण मे सबसे बडी समस्या जलवायु सम्बन्धी है। पेडीमेण्ट प्राय: शुष्क जलवायु वाले भागो के स्थलरूप माने जाते हैं, जिनका निर्माण शुष्क अपरदन द्वारा हुआ है। परन्तु वर्तमान समय मे अर्द्धशुष्क तथा आर्द्र जलवायु वाले भागो मे भी पेडीमेण्ट के निर्माण के कई उदाहरण मिले हैं। इस आधार पर क्या यह माना जा सकता है कि इन अर्द्धशुष्क भागो के पेडीमेण्ट के निर्माण के समय जलवायु शुष्क रही हो तथा बाद मे परिवर्तन के कारण वह अर्द्धशुष्क हो गई? वास्तव मे यह प्रश्न देखने मे सरल लगता है परन्तु इसका समाधान सरल नही है क्योकि वर्तमान समय तक इन क्षेत्रो की जलवायु मे परिवर्तन के प्रमाण प्राप्त नही किये जा सके हैं। दूसरी समस्या पेडीमेण्ट के निर्माण मे सहायक प्रक्रिया से सम्बन्धित है। पेडीमेण्ट का निर्माण पवन-अपरदन द्वारा होता है या सरिता द्वारा, क्षैतिज अपरदन द्वारा या चादरी बाढ (Sheet floods) द्वारा या अपक्षय तथा अपरदन के कारण पर्वतीय अग्रभाग (Mountain front) के पीछे हटने से, निश्चित रूप से कुछ नही कहा जा सकता है। कुछ विद्वानो ने उपर्युक्त प्रक्रियाओ मे से किसी एक ही को पेडीमेण्ट के निर्माण का प्रमुख कारण बताया है, जबकि कुछ लोगो ने सभी प्रक्रियाओ के सम्मिलित सहयोग द्वारा पेडीमेण्ट का निर्माण बताया है। उपर्युक्त तथ्यो को ध्यान मे रख कर पेडीमेण्ट की उत्पत्ति से सम्बन्धित विभिन्न विद्वानो के सिद्धान्तो को चार वर्गों मे रखा जा सकता है—

(i) पर्वतीय अग्रभाग के पीछे हटने से पेडीमेण्ट का निर्माण—**लासन**।

(ii) चादरी बाढ सिद्धान्त (**Sheet flood theory**) —**McGee, W. J.**

(iii) पार्श्विक या क्षैतिज अपरदन सिद्धान्त (Lateral erosion theory)—**बर्की मौरिस, पेज, ब्लैकवेल्डर तथा जानसन**।

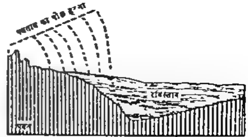
(iv) मिश्र सिद्धान्त (Composite theory) **ब्रायन, डेविस, शार्प, गिलुली, रिच, ब्रं डले, किंग तथा फेयर**।

सर्वप्रथम **गिलबर्ट महोदय** ने पेडीमेण्ट के समान स्थलरूप का अध्ययन सयुक्त राज्य अमेरिका के ऊटा प्रान्त के हेनरी पर्वत मे किया था तथा उसके निर्माण सम्बन्धी विचारो का प्रतिपादन किया था। यद्यपि गिलबर्ट के विचार वर्तमान समय मे मान्य नही है, परन्तु उन्होने पेडीमेन्ट के निर्माण के विषय मे पथप्रदर्शक का काम अवश्य किया है। गिलबर्ट के पश्चात् पेडीमेण्ट सदृश स्थलरूपो का अध्ययन एरिजोना, सोनोरा (Sonora) तथा न्यूमेक्सिको मे किया गया, जिसके आधार पर यह निश्चय हो गया कि पेडीमेण्ट, मरुस्थलीय भाग का एक प्रमुख स्थल रूप है। निम्न पक्तियो मे पेडीमेण्ट से सम्बन्धित प्रमुख सिद्धान्तो का सक्षिप्त उल्लेख किया जा रहा है—

पर्वताग्र के पीछे हटने से पेडीमेण्ड का निर्माण (Formation of Pediments due to Recession of Mountain Front)

पेडीमेण्ट के निर्माण से सम्बन्धित विचारो को ऊपर चार वर्गों मे विभाजित किया जा चुका है। इनमे से विद्वानो का प्रथम वर्ग पेडीमेण्ट को पर्वतीय भाग की "**पुनरुज्जीवित सतह**' (Resurrected surface) मानता है। इस वर्ग के अनुसार पेडीमेण्ट का निर्माण शुष्क मरुस्थलो मे पर्वतीय अग्रभाग के सामान्य रूप से पीछे हटने से होता है। इस विचारधारा के अनुसार मरुस्थलीय

अपरदन की सामान्य प्रक्रिया के अनुसार पर्वताग्र अपक्षय तथा अपरदन द्वारा धीरे-धीरे हटते जाते हैं तथा चट्टानी सतह का निर्माण हो जाता है जो कि पेडीमेण्ट का रूप धारण कर लेती है। इस विचारधारा के सर्वप्रमुख प्रतिपादक लासन महोदय (A C Lawson, 1915) हैं। यदि मरुस्थलीय भाग में एक ऐसा पर्वत है जो कि समान संरचना वाला है तथा जिसका तीव्र ढाल बेसिन की तरफ है तो उस पर अपक्षय की क्रिया द्वारा विघटन तथा वियोजन प्रारम्भ हो जाता है। इस तरह विघटन के कारण ढीले शैल-चूर्ण को छोटी-छोटी सरितायें परिवहन करके बेसिन तक पहुँचाती रहती हैं। परिणामस्वरूप ढाल के निचले भाग में मलवा के संचयन से जलोढ़ पंख का निर्माण होता है। अपक्षय के लम्बे समय तक सक्रिय रहने से पर्वत का अग्रभाग शनैः-शनैः पीछे हटने लगता है तथा निम्नीकरण या अपरदन द्वारा निर्मित ढाल पर जलोढ़ पंख का विस्तार ऊपर की ओर अर्थात् पीछे हटते हुए पर्वताग्र की ओर वेज (Wedge-फन) के रूप में हो जाता है। पंख का आकार पर्वत की ओर सकरा तथा बेसिन की ओर चौड़ा तथा विस्तृत होता है। पंख का निचला भाग (बेसिन की ओर का भाग) काँप की मोटी परत से युक्त होता है तथा पर्वताग्र के पीछे हटने एवं पंख के विस्तार के साथ साथ उसके निचले भाग पर काँप की परत निरन्तर मोटी होती जाती है। पर्वताग्र के पीछे हटने की क्रिया चलती रहती है, और अपरदित चट्टानी ढाल (Rock cut slope) पर काँप का आवरण (Veneer of alluvium) चढ़ता जाता है। इस क्रिया की पुनरावृत्ति (Repetition) के कारण पर्वतीय भाग अपक्षय तथा अपरदन द्वारा नीचा हो जाता है तथा निचला भाग मलवा के निरन्तर निक्षेप के कारण पर्वत के शीर्ष भाग (अपरदन तथा अपक्षय द्वारा नीचा शीर्ष भाग) के बराबर हो जाता है। इस तरह पर्वताग्र तथा शीर्ष भाग निम्नीकरण के कारण नीचे होते जाते हैं तथा पंख वाले भाग अभिवृद्धि (Aggradation) के कारण ऊँचे होते हैं। जब दोनों क्रियाओं में सामञ्जस्य हो जाने से समस्त सतह समान ऊँचाई वाली हो जाती है तो जल द्वारा निम्नीकरण तथा अभिवृद्धि (Degradation and aggradation) स्थगित हो जाते हैं। इस तरह से उत्पन्न अन्तिम सतह को लासन महोदय ने पेनफैन (Panfan) बताया



(लासन के आधार पर)

चित्र 330—पर्वताग्र के पीछे हटने से पेडीमेण्ट का निर्माण

है। यह स्थिति उस समय ही सम्भव हो सकती है, जब कि स्थल भाग दीर्घ काल तक स्थिर रहे तथा पुनर्युवन (Rejuvenation-नवोन्मेष) न हो। अतः इस स्थिति का सम्भव होना विशेष प्रकार की परिस्थिति में ही सुलभ हो सकता है। प्रायः ऐसा होता है कि अपक्षय द्वारा जब पर्वताग्र पीछे हटने लगता है तथा उसके ढालों पर जलोढ़ पंख का विस्तार हो जाता है तो किसी पटलविरूपिणी (Diastrophic) या जलवायु सम्बन्धी परिवर्तन के कारण पर्वतीय ढाल पर स्थित मलवा का कुछ भाग सरिता द्वारा नीचे सरक जाता है तथा ढाल का कुछ भाग मलवा रहित हो जाता है। इस तरह पर्वताग्र तथा जलोढ़ पंख (बाजाडा) के मध्य मलवा-रहित चट्टानी सतह पेडीमेण्ट के रूप में परिवर्तित हो जाती है। इस आधार पर लासन महोदय ने 'काँप के हट जाने या सरक जाने से उत्पन्न पुनरुज्जीवित सतह को पेडीमेण्ट बताया है।"[1] लासन के विचारों में यह प्रकट होता है कि पेडीमेण्ट के प्रारम्भिक इतिहास में उस पर मलवा का आवरण अवश्य रहता है। बाद में उसके सरक कर हट जाने पर पेडीमेण्ट दृष्टिगत होता है। डेविस ने लासन के सिद्धान्त का अनुमोदन किया परन्तु उसमें सुझाव के रूप में कुछ अपने विचारों का भी समावेश किया है।

चादरी बाढ़ द्वारा पेडीमेण्ट का निर्माण
(Formation of Pediments due to Sheetfloods)

W J McGee (1897) महोदय ने संयुक्त राज्य अमेरिका के दक्षिणी-पश्चिमी एरिजोना प्रान्त के सोनोरन मरुस्थल (Sonoran Desert) में पेडीमेण्ट के अध्ययन के समय बताया कि इनका निर्माण आकस्मिक बाढ़ के समय

1. 'Pediments are resurrected surfaces due to the stripping of the alluvium which once rested upon them"

अपरदन तथा अपक्षय की सम्मिलित क्रियाओं द्वारा होता है। आगे चलकर कई विद्वानों ने इस मत का समर्थन किया। इस वर्ग के विद्वानों के अनुसार मरुस्थली भागों में आकस्मिक रूप से आने वाली **चादरी बाढ़ों** में अपरदन करने तथा अपरदित मलवा को परिवहन करने की अपार शक्ति होती है। पर्वतीय भागों पर अपक्षय के कारण चट्टानों में विघटन तथा वियोजन होने से वे ढीली तथा असंगठित हो जाती है जिस कारण वे टूटने लगती हैं। **आकस्मिक बाढ़** के समय जल पर्वतीय ढालों पर अपरदन द्वारा सामान्य ढाल वाली सतह का निर्माण करता है तथा साथ ही साथ अपक्षय तथा अपरदन द्वारा प्राप्त मलवा को पीछे हटते हुए पर्वताग्र की चट्टानी सतह से सरकाकर या हटाकर निचले ढाल पर निक्षेपित करता है। इस तरह **नग्न शैल-सतह** वाले **पेडीमेण्ट** का निर्माण पर्वताग्र तथा निचले ढाल पर स्थित मलवा युक्त भाग (बाजाडा) के मध्य होता है। इस वर्ग के विद्वानों के अनुसार ये पेडीमेण्ट **लावन के पंखफैन** के समान होते हैं परन्तु उन पर काँप का आवरण नहीं होता है। पार्श्विक या क्षैतिज अपरदन (Lateral erosion) को इस सिद्धान्त के अनुसार, पेडीमेण्ट के निर्माण में जरा भी महत्त्व प्रदान नहीं किया गया है। समर्थकों का कहना है कि पेडीमेण्ट का ढाल अवतल होता है। अवतल ढाल का निर्माण क्षैतिज अपरदन द्वारा कदापि नहीं हो सकता है। **डेविस** ने भी पेडीमेण्ट के निर्माण में क्षैतिज अपरदन का विरोध करते हुए बताया है कि यदि पेडीमेण्ट का निर्माण क्षैतिज अपरदन द्वारा होता है तो सामान्य सतह पर पर्वतीय कटक (Mountain-ridges) के तीव्र ढाल या खड़े ढाल वाले आधार के सामने अपरदन के अवशिष्ट भाग उच्च रूप में स्थित नहीं होने चाहिये। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो **डेविस** का यह मत भ्रामक है, क्योंकि नदी के अपरदन-चक्र की जीर्णावस्था में क्षैतिज अपरदन होता है तथा **मोनाडनाक** (Monadnocks) अपरदन के अवशिष्ट भाग के रूप में सामान्य सतह से ऊपर उठे रहते हैं।

क्षैतिज अपरदन द्वारा पेडीमेण्ट का निर्माण
(Formation of pediments due to Lateral Erosion by Streams)

पेडीमेण्ट के निर्माण के विषय में सर्वप्रथम गिलबर्ट महोदय ने क्षैतिज अपरदन को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बताया। इनके बाद अनेक विद्वानों ने सरिता द्वारा क्षैतिज अपरदन के कारण मरुस्थलीय भागों में पेडीमेण्ट के निर्माण की प्रक्रिया को अंगीकृत किया है। इनमें से प्रमुख हैं, **पेज, ब्रर्को, मोरिस, ब्लैकवेल्डर** तथा **डगलस जानसन**। **पेज महोदय** (Sidney Paige) ने सन् 1912 ई० में पेडीमेण्ट के निर्माण के विषय में बताया कि मरुस्थलीय भागों में नदियों के क्षैतिज अपरदन द्वारा पर्वतीय भाग पर मन्द ढाल वाली चट्टानी सतह का निर्माण होता है, जिसके निचले भाग अर्थात् बेसिन के पास वाले भाग पर बजरी का आवरण रहता है। जैसे-जैसे अपरदित चट्टानी सतह वाला पेडीमेण्ट पर्वताग्र (Mountain front) के पीछे हटते जाने से बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे बजरी का आवरण भी पर्वत की ओर बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे बजरी का आवरण भी पर्वत की ओर बढ़ता जाता है। **पेज महोदय** ने बताया कि **चादरी बाढ़** अपरदन (Sheet flood erosion) पेडीमेण्टेशन का परिणाम होता है न कि उसके निर्माण का कारण। **पेज** ने अपने मत के पक्ष में बताया है कि पेडीमेण्ट तथा पर्वतीय अग्रभाग जहाँ पर मिलते हैं, वहाँ पर पर्वताग्र खड़े ढाल वाला होता है। यह खड़ा ढाल सरिता द्वारा क्षैतिज अपरदन का ही परिणाम है।

सन् 1931 ई० में **ब्लैकवेल्डर महोदय** (Eliot Blackwelder) ने भी पेडीमेण्ट के निर्माण के विषय में सरिता द्वारा क्षैतिज-अपरदन सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इसके अनुसार रेगिस्तानों में अल्पकालिक सरिताओं द्वारा पर्वतों पर कई अपरदित **क्रमबद्ध मैदानों** (Graded plains) का निर्माण होता है। इन मैदानों का निर्माण सरिताओं द्वारा क्षैतिज अपरदन के कारण होता है। जब अपरदन द्वारा निर्मित चट्टानी सतह वाले ये मैदान आपस में मिलकर विस्तृत हो जाते हैं तो पेडीमेण्ट का निर्माण होता है।

पेडीमेण्ट के निर्माण से सम्बन्धित **क्षैतिज अपरदन-सिद्धान्त**' के सबसे बड़े समर्थक **जानसन महोदय** (D. W. Johnson, 1932) है। इन्होंने सन् 1932 ई० में अपने दो लेखों में पेडीमेण्ट के निर्माण की समस्या के निदान के लिये सफल प्रयास किया, यद्यपि इनके विचारों की कटु आलोचना की गई है तथा अधिकांश विद्वान **जानसन** के विचारों से सहमत नहीं है। इन्होंने बताया कि रेगिस्तानी भागों में पर्वतीय ढालों पर नदियों द्वारा क्षैतिज अपरदन के कारण ही पेडीमेण्ट का निर्माण होता है। यद्यपि पवन तथा अपक्षय (weathering) का भी हाथ रहता है। जानसन महोदय के अनुसार मरुस्थलीय भाग में जहाँ पर बेसिन के पास ही पर्वत की स्थिति होती है या

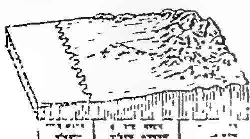
जहाँ पर बेसिन के चारों तरफ पर्वत होते हैं, वहाँ पर तीन स्पष्ट मण्डल होते हैं।

(i) आन्तरिक मण्डल (Inner Zone)—यह पर्वताग्र का वह भाग होता है, जहाँ पर नदियों द्वारा निम्न कटाव (Down cutting) या लम्बवत् अपरदन (Vertical erosion) अपेक्षाकृत अधिक सक्रिय रहता है। 'इसे निम्नीकरण मण्डल' (Zone of degradation) भी कहा सकता है।

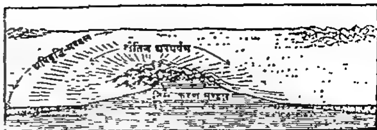
(ii) वाह्य मण्डल (Outer Zone)—यह मण्डल पर्वतीय ढाल का निचला भाग होता है, जो कि बेसिन की सीमा पर फैला होता है। वास्तव में यह बाजाडा वाला मण्डल होता है, जहाँ पर मलवा का निक्षेप सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होता है। इस मण्डल को 'अभिवृद्धि मण्डल' (Zone of aggradation) भी कहा जा सकता है।

(iii) मध्यवर्ती मण्डल (Intermediate Zone)—यह मण्डल प्रथम तथा द्वितीय के मध्य स्थित होता है जहाँ पर सरिता द्वारा क्षैतिज अपरदन (Lateral erosion) सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होता है। इसी मण्डल को पेडीमेण्ट मण्डल (Zone of pediment) भी कहा जाता है।

पहले प्रथम मण्डल अर्थात् पर्वतीय भागों में लम्बवत् अपरदन (Vertical erosion) सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होता है। इस कारण पर्वतीय अग्रभाग तीव्रता से अपरदित होता है। नदियों की इस प्राथमिक अवस्था में परिवहन-शक्ति (Transporting power) सर्वाधिक होती है। परिणामस्वरूप पर्वतों के अपरदन से प्राप्त मलवा को नदियाँ बेसिन में जमा करने लगती हैं जिस कारण बेसिन के पास निचले ढाल पर जलोढ पंख का निर्माण होता है तथा कई पंख मिलकर बाजाडा का रूप धारण कर लेते हैं। धीरे-धीरे नदियाँ अपने निचले भाग में क्रमबद्ध



चित्र 351—जानसन के अनुसार पेडीमेण्ट का निर्माण।



(जानसन के आधार पर)

चित्र 352—पेडीमेण्ट का निर्माण।

(Graded) हो जाती हैं। इस स्थिति के कारण मध्यवर्ती मण्डल में मलवा के कारण नदियाँ कई शाखाओं में बिखर जाती हैं (Streams are braided) तथा उनका मार्ग बदलता रहता है। इस कारण नदियाँ मध्यवर्ती मण्डल में क्षैतिज अपरदन द्वारा शैल पंख (Rock fans) का निर्माण करती हैं। इन शैल पंखों के विस्तृत होने से पेडीमेण्ट का निर्माण होता है। क्षैतिज अपरदन के कारण पेडीमेण्ट मण्डल के कटक लुप्त हो जाते हैं तथा पर्वताग्र एवं पेडीमेण्ट के मिलन भाग में अवतल परिच्छेदिका (Concave profile) का विकास हो जाता है। स्थलाकृतिक चक्र की अन्तिम अवस्था (Last stage of geomorphic cycle) में पर्वतीय भाग पूर्णतया कट जाता है तथा विस्तृत पेडीमेण्ट का निर्माण हो जाता है।

पेडीमेण्ट-निर्माण के मिश्र सिद्धान्त (Composite Theory of Pediment Formation)

ऊपर तीन सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है, जिनमें से प्रथम सिद्धान्त में पेडीमेण्ट के निर्माण में एकमात्र पर्वताग्र के पीछे हटने की क्रिया, द्वितीय में चादरी-बाढ़ द्वारा अपरदन की क्रिया तथा तृतीय में सरिता द्वारा क्षैतिज अपरदन की क्रिया को महत्त्व प्रदान किया गया है। परन्तु कई ऐसे विद्वान् हैं जिनके मतानुसार पेडीमेण्ट का निर्माण उपर्युक्त क्रियाओं में से केवल एक द्वारा नहीं वरन् कई के सम्मिलित कार्य द्वारा होता है। इनमें से प्रमुख हैं। ब्रायन, डेविस, शार्प, गिमूली रिच, ब्लैकवेल्डर, किंग और फेयर। चूँकि इन विद्वानों में से प्रत्येक ने पेडीमेण्ट का निर्माण कई प्रक्रियाओं के सम्मिलित रूप से माना है, अतः इनके सिद्धान्त को मिश्र सिद्धान्त कहा जाता है।

1. सन् 1923 में ब्रायन (Kirk Bryan) ने बताया कि मरुस्थलीय भागों में पेडीमेण्ट का निर्माण तीन रूपों में होता है। (अ) पर्वतीय भाग के कैनियन में निकमन

वाली सरिताओं द्वारा क्षैतिज अपरदन, (व) पर्वतीय ढालों के आधार पर क्षुद्र सरिताओं (rills) द्वारा कटाव तथा (स) अपक्षय के कारण पर्वतीय भाग का विघटित होकर टूटना। क्षुद्र सरितायें अपक्षय द्वारा प्राप्त मलवा का परिवहन करके उन्हें स्थानान्तरित करती है। ब्रायन के अनुसार पेडीमेण्ट के निर्माण की अन्तिम अवस्था में क्षैतिज अपरदन नगण्य हो जाता है तथा अपक्षय एवं क्षुद्र सरिताओं द्वारा शैल का घुलन कार्य अधिक महत्त्वपूर्ण होता है।

2 डेविस (1938) ने 'Sheet Floods and Stream Floods' नामक लेख में पेडीमेण्ट के निर्माण के विषय में प्रकाश डाला है। डेविस के अनुसार अपक्षय द्वारा पर्वताग्र विघटित होकर टूटता है तथा उसमें प्राप्त चट्टान-चूर्ण को चादरी बाढ़ स्थानान्तरित करती रहती है। इस प्रकार अपक्षय द्वारा पर्वतीय अग्रभाग सदैव पीछे हटता जाता है और अपरदित चट्टान सतह वाले पेडीमेण्ट का निर्माण हो जाता है। डेविस के अनुसार पेडीमेण्ट के निर्माण में क्षैतिज अपरदन का बहुत कम महत्त्व होता है। डेविस ने, इस प्रकार 'McGee' महोदय के 'चादरी बाढ़ सिद्धान्त' (Sheet flood theory) तथा 'लासन' के पर्वताग्र के पीछे हटने की विचारधारा का समान रूप से समर्थन किया है, परन्तु पेडीमेण्ट का निर्माण इन दोनों क्रियाओं के कारण होता है।

3. शार्प महोदय (R P. Sharp, 1940) के अनुसार पेडीमेण्ट के निर्माण में क्षैतिज अपरदन, अपक्षय तथा क्षुद्र सरिता-घुलन (Rill wash), तीनों का सापेक्षिक महत्त्व रहता है। परन्तु भूगर्भिक बनावट, जलवायु एवं स्थलाकृति की विभिन्नताओं के साथ इन क्रियाओं के सापेक्षिक महत्त्व में भी अन्तर होता है। उदाहरण के लिए स्थायी सरिताओं वाले क्षेत्रों में क्षैतिज अपरदन (Lateral erosion) अधिक सक्रिय होता है, परन्तु कठोर शैल वाले अल्पकालिक सरिता के क्षेत्रों में क्षुद्र सरिता घुलन (Rill wash), वृष्टि घुलन (Rain-wash) तथा अपक्षय की क्रियायें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होती हैं। शार्प के अनुसार नेवादा प्रान्त में पेडीमेण्ट के निर्माण का 40 प्रतिशत भाग क्षैतिज अपरदन द्वारा तथा शेष 60 प्रतिशत अपक्षय तथा वृष्टि घुलन द्वारा सम्पन्न हुआ है।

4. गिलूनी महोदय (James Gilluly, 1937) ने भी पेडीमेण्ट के निर्माण में सभी क्रियाओं को महत्त्वपूर्ण बताया है परन्तु सबका सहयोग प्रत्येक स्थान पर बराबर नहीं होता है। कहीं पर क्षैतिज अपरदन अधिक सक्रिय होता है तो कहीं पर चादरी बाढ़ (Sheet floods); कहीं पर अपक्षय अधिक महत्त्वपूर्ण होता है तो कहीं पर वृष्टि घुलन या क्षुद्र सरिता घुलन (Rill wash), परन्तु किसी रूप में सभी सक्रिय अवश्य रहते हैं। रिच (J. L. Rich, 1958) के अनुसार पेडीमेण्ट का निर्माण अपक्षय द्वारा चट्टान के विघटित होकर टूटने, पर्वताग्र के पीछे हटने तथा चादर घुलन (Sheet wash) द्वारा होता है। निर्माण के लिये सरिता द्वारा क्षैतिज अपरदन आवश्यक नहीं होता है।

इस प्रकार पेडीमेण्ट के निर्माण के विषय में अनेक मत प्रचलित किये गये हैं। इनमें से कुछ का ऊपर स्थानाभाव के कारण केवल संक्षिप्त उल्लेख ही किया जा सका है। मरुस्थलीय स्थलरूपों में पेडीमेण्ट के निर्माण की समस्या, वास्तव में सबसे अधिक जटिल है। अब तक इसके निर्माण के विषय में किसी भी सर्वग्राह्य मत का प्रतिपादन नहीं किया जा सका है। इतना तो निश्चित है कि पेडीमेण्ट का निर्माण केवल एक क्रिया द्वारा नहीं होता है। कम से कम अपक्षय तथा जल द्वारा अपरदन का सहयोग अवश्य रहता है।

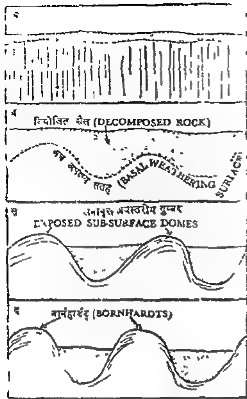
सवाना अपरदन-चक्र
(The Cycle of Savanna Erosion)

अफ्रीका के सवाना प्रदेश के स्थलरूपों के आकृतिक विकास के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। प्रारम्भिक विद्वानों ने सवाना-स्थलरूपों के विकास का सम्बन्ध 'शुष्क स्थलाकृति चक्र' के साथ ही जोड़ा था, परन्तु हाल ही में कुछ विद्वानों ने सवाना-स्थलरूपों को आम शुष्क (गर्म) मरुस्थलीय स्थलरूपों से अलग करने का प्रयास किया है, क्योंकि इस प्रदेश के उच्च वार्षिक तापक्रम के साथ शुष्क और आर्द्र ऋतुयें होती हैं। सवाना प्रदेश में विस्तृत 'अपरदन-सतह' मिलती है, जिनके ऊपर छिट-पुट इन्सेलबर्ग तथा कैसिल कापीज (Castle koppies) मिलते हैं। काटन (1942) ने बताया कि इन अपरदन-सतहों का निर्माण तीव्र पार्श्ववर्ती अपघर्षण (Powerful lateral corrasion) से होता है, जैसा कि क्रिकमे के 'पैनप्लेनेशन चक्र' से विदित होता है। किंग ने 1948 में काटन के इन विचारों का (उपर्युक्त भी) कि सवाना प्रदेश में शैल पेडीमेंट (Rock pediments) नहीं मिलते हैं, बल्कि वे इन्सेलबर्ग-मैदान स्थलाकृति (Inselberg and plain landscape) के उदाहरण हैं, का खण्डन करते हुए बताया कि सवाना प्रदेश में अपरदन-सतहों का निर्माण

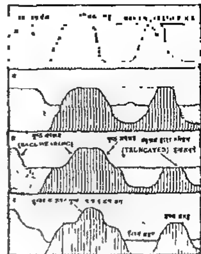
पेडीप्लेनेशन चक्र (Pediplanation cycle) द्वारा होता है, जिसमे दो प्रक्रम कार्यरत होते हैं—(i) पेडीमेण्टेशन तथा (ii) कगार-निवर्तन (Scarp retreat) वर्तमान समय में कुछ विद्वान किंग के विचारों से भी सहमत नही है क्योंकि इन लोगों ने सवाना प्रदेश में अधिक गहराई तक 'रासायनिक अपक्षय' के प्रक्रम की सक्रियता का भी अवलोकन किया है। इस सक्रिय रासायनिक अपक्षय के लिए दो आदर्श दशायें जिम्मेदार बतायी गई है—(i) उच्च तापमान तथा (ii) वर्षा काल में धरातलीय तथा भूमिगत जल की अधिकता। पर्यवेक्षणों के आधार पर बताया गया है कि इन 'रासायनिक अपक्षय' की गहराई 100 से 150 फीट तक होती है। युगान्डा में इतनी गहराई तक रासायनिक अपक्षय का स्पष्ट अवलोकन किया गया है। हाल ही में नाइजीरिया के जास पठार (Jos Plateau) में 200 फीट की गहराई तक रासायनिक अपक्षय के प्रमाण मिले है। इस व्याख्या के आधार पर यह बताया गया है कि प्रारम्भ में वर्षा काल में ऊँचे तापमान पर पर्याप्त जल के कारण अधिक गहराई तक रासायनिक अपक्षय के कारण चट्टानों में वियोजन होता है, जिस कारण वह दो रूपों में बदल जाती है। (i) या तो अपक्षय से प्रभावित सभी भाग एक निश्चित गहराई तक वियोजित मण्डल का रूप ले लेती है जिनमें असंख्य गोलाकार प्रस्तर (Rounded core stones) अथवा ऊनसंवल (Woolsacks) मिलते है (ii) या समस्त अपक्षय मण्डल वियोजित बारीक पदार्थों का हो जाता है जिसके नीचे संस्तर शैल (Bed rock) का आवरण होता है। इसे अधः अपक्षय सतह (Basal weathering surface) कहते है। इस अधः अपक्षय सतह का रूप कई प्रकार का हो सकता है। यदि अधः शैल पूर्णतया संधियुक्त है तो बेसिन का निर्माण होता है और यदि शैल पूर्णतया संधियुक्त नहीं है तो गुम्बद का निर्माण होता है। अब कभी भी इन गुम्बदों के ऊपर स्थित वियोजित मलवा का अनावरण हो जाता है तो वे ऊपर दृष्टिगत होते है तथा इन पर अपदलन (Exfoliation) की क्रिया होने लगती है जिस कारण पतली-पतली परत उपड़ने लगती है। इस तरह यदि देखा जाय तो सवाना प्रदेश में सतह के ऊपर तथा सतह के नीचे भिन्न-भिन्न गुम्बदों तथा बोर्नहार्डट् (इन्सेलबर्ग) में पर्याप्त समता दृष्टिगोचर होती है। इस तरह सवाना स्थलरूपों का अधः अपक्षय (Down weathering) का प्रतिफल बताया गया है।

प्रारम्भ मे तीव्र रासायनिक अपक्षय होता है, जिस कारण पर्याप्त गहराई तक चट्टान सडकर वियोजित हो जाती है। वर्षा काल में इस वियोजित सतह का जल द्वारा परिवहन कर लिया जाता है। यह परिवहन स्थानीय अथवा प्रादेशिक 'आधार-तल' में गिरावट और जलवायु परिवर्तन के कारण और तीव्र हो सकता है। इस तरह ऊपरी वियोजित सतह के परिवहन के बाद 'अधः अपक्षय सतह' (Basal weathering surface) का अनावरण हो जाता है जिस कारण गुम्बदाकार आकृति दृष्टिगत होने लगती है। इन्हे प्रारम्भिक इन्सेलबर्ग (Incipient inselbergs) कहा जाता है। अपदलन अपक्षय (Exfoliation weathering) के कारण इनका रूप और स्पष्ट हो जाता है। समय के साथ-साथ इनका आकार और विकसित होता जाता है। इन गुम्बदों पर जल-वर्षा होती है तो जल शीघ्रता से इन गुम्बदों की नग्न सतह से होकर नीचे चला आता है, जिस कारण उनका रासायनिक अपक्षय नही हो पाता है। इन गुम्बदो के आस-पास जहाँ से वियोजित पदार्थों का परिवहन नही हो पाता है की सतह में जल रिसने लगता है, जिस कारण अधः अपक्षय प्रारम्भ हो जाता है, परिणामस्वरूप रैखिक सीमान्त गर्त (Linear or marginal depressions) का निर्माण हो जाता है। इस क्रिया की पुनरावृत्ति के कारण इन्सेलबर्ग (गुम्बद) की ऊँचाई निरन्तर बढ़ती जाती है। फलस्वरूप इनका उत्थान में निरन्तर विकास होता है न कि विनाश जैसा कि प्रारम्भिक विद्वानों ने माना था।

J C Pugh महोदय ने 1966 में 'सवाना-मरुस्थलों' के नवीन विकास का विधिवत उल्लेख किया है। Pugh का सवाना अपरदन चक्र की प्रारम्भिक सतह से प्रारम्भ होता है जिसका निर्माण अपक्षयित (Weathered) तथा अपक्षय से अप्रभावित दोनों प्रकार की शैलों के ऊपर होता है। धीरे-धीरे ऊपरी शैल की नीचे की ओर सरकन होने लगती है, जिस कारण वह वियोजित हो जाती है। आधार तल (सागर तल) में गिरावट के कारण वियोजित शैल का आंशिक अनावरण हो जाता है। यह अनावरण सरिता द्वारा अधः कर्तन (Incision) तथा अधः अपक्षय के कारण होता है। परिणामस्वरूप अधः अपक्षय-सतह (Basal weathering surface) स्थान-स्थान पर दृष्टिगत होने लगती है जिस कारण प्रारम्भिक इन्सेलबर्ग गुम्बद के आकार में दिखाई पड़ता है (चित्र 333) । इस तरह प्रथम प्रारम्भिक मैदान (Incipient



चित्र 333—सवाना प्रदेश में अध: अपक्षय (Deep weathering) तथा गुम्बद निर्माण।



चित्र 334—J C Pugh के अनुसार गुम्बद के ऊपर गुम्बद इन्सेलबर्ग का निर्माण।

plain) का निर्माण होता है। तदन्तर इस मैदान में पार्श्विक (Lateral) विस्तार होने लगता है। यह पार्श्विक विस्तार मुख्य रूप से कगार-निवर्तन (Scarp retreat) द्वारा होता है, जो कि वियोजित शैल पर अधिक सक्रिय होता है। इस कारण कुछ छोटे-छोटे इन्सेलबर्ग (बोर्नहार्ड्ट) विलीन हो जाते हैं (चित्र 333स)। इसके बाद स्थलीय भाग में उत्थान हो जाता है, जिस कारण अध: अपक्षय (Down weathering) का द्वितीय चक्र प्रारम्भ हो जाता है, जिस कारण निचले भाग पर द्वितीय मैदान का निर्माण होता है और 'बहु चक्रीय' या 'गुम्बद के ऊपर गुम्बद' (Dome on dome) वाले इन्सेलबर्ग का निर्माण होता है (चित्र 333 द)। Pugh ने बताया है कि सवाना स्थलरूपों के विकास में पेडीमेण्टेशन की प्रक्रिया का महत्त्व बहुत कम होता है। वास्तव में सवाना में मिलने वाले पेडीमेण्ट वास्तविक शुद्ध शैल पेडीमेण्ट नहीं होते क्योंकि इनके ऊपर मलबा का मोटा आवरण होता है।

टामस (M. F. Thomas) ने 1966 ई० में बताया कि नाइजीरिया सवाना के पेडीमेण्ट अध: ढाल (Basal slope) नहीं है, जिनका निर्माण निवर्तन शील कगार (Retreating scarps) के नीचे पेडीप्लेनेशन सिद्धान्त (किंग) के आधार पर होता है, वरन् ये 'धुलन अवतल ढाल' (Concave wash slope) हैं जो कि अध: अपक्षय के कारण वियोजित शैल के अनावरण की अवस्थाओं के द्योतक हैं। टामस के अनुसार सवाना स्थलरूपों का निर्माण कगार-निवर्तन के कारण न होकर निक्षारण (Etching), निक्षारण द्वारा प्राप्त मलबा के सरिता तथा धुलन (Wash) के कारण परिवहन तथा अपक्षय के कारण होता है। इन प्रक्रमों के लम्बे समय तक कार्यरत होने पर जो स्थलाकृति बनती है वह निक्षारण मैदान (Etchplain) होती है न कि पेडीप्लेन।

निष्कर्ष के रूप में यह बताया जा सकता है कि सवाना प्रदेश के स्थलरूपों में कुछ ऐसी विशेषताएं अवश्य हैं जो कि अन्य उष्ण शुष्क मरुस्थलीय स्थलरूपों में दृष्टिगत नहीं होती हैं। अत: इन सवाना स्थलरूपों के निर्माण की प्रक्रिया में अध: अपक्षय के कार्य को झुठलाया नहीं जा सकता।

अध्याय 25

हिमनद के कार्य तथा हिमानीकृत स्थलाकृति

(The Work of Glaciers and Glaciated Topography)

सामान्य परिचय—हिमनद भी भूपृष्ठ पर समतल स्थापना के कार्य में तत्पर रहता है। यद्यपि हिमनद का अपरदनात्मक कार्य विवादग्रस्त है तथापि इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि भूपृष्ठ पर स्थलाकृतियों के सृजन में इसका पर्याप्त महत्त्व होता है। हिमनद द्वारा उत्पन्न स्थलरूप, अपरदन के अन्य कारकों द्वारा उत्पन्न स्थलरूपों से अधिक भिन्न होते हैं। इस कारण हिमनद के विभिन्न कार्यों तथा उनसे उत्पन्न स्थलाकृतियों का अध्ययन आवश्यक हो जाता है। हिमनद के विभिन्न कार्यों के विश्लेषण के पहले उसके सामान्य रूपों का उल्लेख करना अति आवश्यक है। हिमनद धरातल पर सरिताओं के समान ही हिम-युक्त नदियों के रूप होते हैं यद्यपि इनकी गति बहुत कम होती है। हिमनद वास्तव में हिम के समूह होते हैं, जो कि **हिमक्षेत्र (Snow-fields)** से गुरुत्व के कारण प्रवाहित होते हैं। हिमनद का निर्माण सामान्य प्रक्रिया के अन्तर्गत सम्पन्न होता है। हिम-क्षेत्र की निचली सीमा को **हिमरेखा (Snow-line)** कहते हैं। यह वह रेखा होती है जिसके ऊपर वर्ष भर हिमावरण रहता है तथा बर्फ पिघल नहीं पाती है। हिमरेखा की ऊँचाई भूपृष्ठ के समस्त भागों पर समान न होकर अलग-अलग होती है। भूमध्य रेखा से ध्रुवों की ओर चलने पर हिमरेखा की ऊँचाई कम होती जाती है। ध्रुवों के पास तो हिम-रेखा प्रायः सागर-तल के बराबर होती है। दक्षिणी ग्रीनलैण्ड तथा दक्षिणी चिली में हिमरेखा 666 मीटर, दक्षिणी नार्वे तथा दक्षिणी अलास्का में 1 666 मीटर, आल्प्स में 3 000 मीटर, हिमालय पर्वत में 4,300 मीटर से 5 300 मीटर, तथा भूमध्य रेखा पर उच्च पर्वतों में 5 600 मीटर से 6,000 मीटर तक की ऊँचाई पर स्थित होती है। इस तरह यह स्पष्ट है कि हिमरेखा पर ऊँचाई का सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है। इस हिम-रेखा के ऊपर स्थित भाग, जो कि सदैव हिम से परिपूर्ण रहते हैं, हिमक्षेत्र कहे जाते हैं। ऋतुवत् परिवर्तन के साथ हिम-क्षेत्रों के विस्तार में भी परिवर्तन होता रहता है। परन्तु भूपृष्ठ पर कुछ ऐसे भी भाग हैं, जहाँ पर सदैव बर्फ जमी रहती है। ऐसे भागों को स्थायी हिमक्षेत्र कहते हैं। आस्ट्रेलिया को छोड़कर सभी महाद्वीपों पर स्थायी हिम-क्षेत्र मिलते हैं। ग्रीनलैण्ड तथा अण्टार्कटिका भूपृष्ठ के दो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थायी हिम-क्षेत्र हैं। इन दोनों हिमक्षेत्रों का सम्मिलित क्षेत्रफल 1,30,00,000 वर्ग किलोमीटर है। हिम की औसत मोटाई लगभग 2,438 मीटर से अधिक है। हिमक्षेत्र का विकास तथा विस्तार कई बातों पर आधारित होता है। निम्न तापक्रम के साथ ही साथ जाड़े के मौसम में हिमपात इतना अधिक होना चाहिये कि ग्रीष्मकाल में वह पिघल न सके। इसके अलावा स्थान का ढाल सामान्य होना चाहिये, तीव्र पवन से बचाव एवं सूर्य से सुरक्षा होनी चाहिये। उपर्युक्त परिस्थितियों के अन्तर्गत हिम का सघनन होता रहता है तथा जब अधिक हिम एकत्रित हो जाता है तो गुरुत्व के कारण हिम का समूह निचले ढाल की ओर जिह्वाकार में नदी रूप में प्रवाहित होने लगता है। इसे **हिमनद** या **हिमानी** या **ग्लेशियर** कहते हैं। धीरे-धीरे जब हिमनद, हिमरेखा के नीचे अधिक दूरी तक चले जाते हैं तो उनका वाष्पीकरण द्वारा तथा अधिक ताप द्वारा अन्त होने लगता है, हिम पिघलने लगती है और हिमनद एक जल की सरिता में बदल जाता है। कभी-कभी हिमनद स्थल भाग पर प्रवाहित होकर सागर में विलीन हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में हिम के समूह बड़े-बड़े टुकड़ों में विभक्त होकर जल में तैरने लगते हैं। जल में तैरते हुए इन टुकड़ों को **प्लावी हिमशैल (Icebergs)** कहते हैं। सैद्धान्तिक रूप से यदि हिम शुद्ध होता है तो उसका 9/10 वाँ भाग जल में डूबा रहता है। परन्तु हिम की शुद्धता के आधार पर यह अनुपात बदलता रहता है।

हिमनद के प्रकार (Types of Glaciers)—हिमनद के आकार, स्वरूप उत्पत्ति की प्रक्रिया आदि की दृष्टि से उनमें पर्याप्त अन्तर मिलता है। इस कारण हिमनदियों के कई नाम रखे गये हैं। यद्यपि सभी प्रकार के हिमनद कुछ उभयनिष्ठ (Common) सामान्य विशेषतायें अवश्य रखते हैं तथापि उनमें इतना अन्तर अवश्य होता है कि उनका अलग-अलग नामकरण किया जाय। हिमनद का वर्गीकरण कई विद्वानों ने किया है तथा उनके विभाजनों में कुछ विषमताओं को छोड़कर समता अवश्य दिखाई पड़ती है। रूप तथा आकार के आधार पर हिमनदों को चार प्रकारों—हिमटोपियों (Ice caps), महाद्वीपीय

हिमनद या हिमचादर, गिरिपदीय हिमनद तथा पर्वत हिमनद या घाटी हिमनद—में विभाजित किया जा सकता है।

(i) हिमटोपियां (Icecaps)—कुछ विद्वानों ने हिम टोपियो को **हिमचादर (Ice-sheet)** का ही लघु रूप माना है तथा इनके अनुसार हिमटोपियो को लघु महाद्वीपीय हिमनदो के रूप मे स्वीकार किया जा सकता है। परन्तु इसके विपरीत अन्य विद्वानो के अनुसार पर्वतो की चोटियो पर स्थित हिमचादर को **हिम टोपी** कहते हैं। वास्तव में हिमटोपियां अधिक ऊँचाई पर होती है, जहाँ से कई हिमनदो का सृजन होता है। चूंकि हिमटोपियो से हिमनदो का आविर्भाव होता है, अतः इस आधार पर कुछ लोगों ने हिमटोपियो को हिमनद मानने में असहमति प्रकट की है। यदि हिमटोपियो को हिमनद के रूप म स्वीकार किया जाता है तो इनका आविर्भाव या तो एकाकी पर्वत चोटी या पर्वत पर होता है या पर्वत-श्रेणियो पर सामूहिक रूप से होता है। जब इन हिमटोपियो से गुरुत्व के कारण हिम निचले ढालो पर हिमनद के रूप में सरकने लगता है तो उसे **हिमनद घाटी** कहते है।

(ii) **महाद्वीपीय हिमनद (Continental Glacier)**—जब किसी विशाल क्षेत्र मे हिम के लगातार सचयन के कारण हिम की विस्तृत चादर का विकास होता जाता है तो उस भाग में अलग-अलग हिमनद न होकर समस्त भाग एक हिमनद के रूप म होता है। इस तरह के हिमनद का विस्तार सर्वाधिक होता है। इसी कारण से इन्हे **महाद्वीपीय हिमनद** कहते है। महाद्वीपीय हिमनद को हिमचादर (Ice-sheet) भी कहा जाता है। महाद्वीपीय हिमनदीय क्षेत्र के उच्चतम भाग स चारो तरफ अरीय (Radial) रूप म हिमराशि सरकने लगती है। परन्तु उसके सरकने की गति बहुत मन्द होती है। प्लीस्टोसीन हिम युग के समय महाद्वीपीय हिमनद का प्रवाह हिम चादर का विस्तार उत्तरी अमेरिका मे **लेब्राडोर** तथा **कीवाटिन (Keewatin)** क्षेत्रो से हुआ था, जिससे उत्तरी अमेरिका का लगभग आधा भाग हिमाच्छादित हो गया था। लेब्राडोर ग्लेशियर ने जेम्स की खाडी के आस-पास 3,000 मीटर मोटी हिमचादर के साथ समीपी भाग को पूर्णतया हिम से आच्छादित कर लिया था। इसी हिमनद का विस्तार न्यू इग्लैंड क्षेत्र मे भी हुआ था, जहाँ पर 2,000 मीटर मोटी हिमचादर मे समस्त **व्हाइट** तथा **ग्रीन पर्वत** आच्छादित हो गये। वर्तमान समय मे सर्वाधिक विस्तृत महाद्वीपीय ग्लेशियर या हिमचादर का विस्तार ग्रीनलैण्ड तथा अण्टार्कटिका महाद्वीप पर पाया जाता है।

(iii) **पर्वत हिमनद या घाटी हिमनद (Mount or Valley Glaciers)**—पर्वतीय भागो मे ऊँचे स्थानो पर स्थित **हिम टोपी** या **हिमक्षेत्र** (Snow fields) से हिम-राशि जब गुरुत्व (Gravity) के कारण निचले ढाल की ओर सरिता के रूप म प्रवाहित होती है तो उसे पर्वतीय हिमनद कहते हैं। पर्वतीय हिमनद मुख्य रूप से पर्वतीय घाटियों से होकर प्रवाहित होते है, अतः इन्हे प्राय **घाटी हिमनद** (Valley-glaciers) भी कहते है। पर्वतीय हिमनदो का सर्वप्रथम अध्ययन आल्पस पर्वत म होने के कारण इन्हे **अल्पाइन हिमनद (Alpine Glaciers)** भी कहते है। अपने उद्गम स्थान पर घाटी हिमनद अधिक चौडा होता है। परन्तु जैसे-जैसे नीचे उतरता जाता है वैसे-वैसे सँकरा होने लगता है। आधार की दृष्टि से घाटी हिमनदो मे अधिक अन्तर होता है। इनकी लम्बाई कुछ मीटर से लेकर 2,000 किलोमीटर तक होती है। घाटी हिमनद **हिमरेखा** से प्राय ऊपर ही स्थित होते है। नीचे उतरने पर इनका विनाश होने लगता है।

(iv) **गिरिपद हिमनद (Piedmont Glaciers)**—जब पर्वतीय भाग से कई घाटी हिमनद नीचे उतर कर पर्वत के आधार (Base) या तली (Foor) पर एक दूसरे मे मिल जाते हैं तो उस विस्तृत हिमनद को **गिरिपद हिमनद** (Piedmont Glacier) कहा जाता है। इस तरह के हिमनद प्राय ठंडे भागों में ही मिलते है, क्योंकि गर्म भागो मे नीचे उतरने पर उनके पिघल जाने की सम्भावनाये अधिक रहती है। नीचे उतरने पर गिरिपद हिमनदो की गति मन्द हो जाती है। अलास्का का **मेलास्पिना ग्लेशियर (Melaspina Glacier)** इसका प्रमुख उदाहरण है।

H W Ahlmann महोदय ने सन् 1948 ई० मे हिमनदों का आकृति के आधार पर विधिवत वर्गीकरण किया। इस वर्गीकरण को **आकृतिक वर्गीकरण** (Morphological Classification) कहा जाता है। वास्तव मे **Ahlmann** महोदय न हिमनद क प्रमुख तीन प्रकारो—**महाद्वीपीय हिमनद**, घाटी हिमनद तथा **गिरिपद हिमनद** को स्वीकार किया है तथा उन्हें पुनः 11 उप विभागो मे विभक्त किया है—

(क) विस्तृत हिमचादर वाले वे हिमनद, जिनसे हिम चारो दिशाओ मे गतिशील होता है। इस प्रकार के

विस्तृत हिमनदों को तीन भागों में विभाजित किया जाता है—

1 महाद्वीपीय हिमनद (Continental glaciers)।
2 हिम-टोपी (Glacier caps)—ये महाद्वीपीय हिमनद से छोटे होते हैं।
3 उच्चस्थलीय हिमनद (Highland glaciers) — ये हिमनद पर्वतों के मध्यवर्ती उच्चतम भागों में मिलते हैं।

(ख) निश्चित मार्ग वाले हिमनद (Glaciers confined to more or less marked courses)—इनमें कुछ स्वतन्त्र हिमनद होते हैं तथा कुछ प्रथम वर्ग (क) के हिमनदों के हिम से बने होते हैं-

4 अल्पाइन प्रकार के घाटी हिमनद (Valley glaciers of Alpine type)।
5 समस्त घाटी को पूर्ण रूप से आवृत करने वाले हिमनद (Transection glaciers)।
6 सर्क हिमनद।
7 Wall sided Glaciers।
8 Glaciers tongues afloat तैरता हुआ (तैरता हुआ) जिह्वाकार हिमनद।

(ग) समतल सतह पर फैलने वाले, पतली तथा सीमित हिमचादर वाले हिमनद—
हिमतल सतह पर फैलने वाले पतली तथा सीमित

9 गिरिपदीय हिमनद (Piedmont glaciers)।
10 पदीय हिमनद (Foot glaciers)।
11 शेल्फ हिमनद (Shelf ice)।

हिमालय पर्वत के हिमनद
(Glaciers of the Himalayas)

हिमालय पर्वत में अनेक प्रकार के हिमनद मिलते हैं परन्तु उनमें से अधिकांश पर्वतीय हिमनद या घाटी हिमनद (Valley glaciers) के ही रूप हैं। हिमालय का दक्षिणी ढाल अधिक गर्म है, अतः हिमरेखा ऊँचाई पर 3 800 मीटर तक पायी जाती है परन्तु उत्तरी ढाल हल्का होने के कारण निम्नतर को ओर हिमनद 5,000 मीटर तक उतर जाते हैं। ध्रुवीय क्षेत्रों को छोड़कर संसार के अधिकांश विशालतम हिमनद यहीं मिलते हैं। हिमालय के अनेक हिमनदों से अनेक बड़ी नदियाँ निकलती हैं। गंगा तथा यमुना प्रमुख उदाहरण हैं। हिमालय के हिमनदों के आकार तथा गति में पर्याप्त विभिन्नतायें मिलती हैं। सामान्य रूप से हिमालय के हिमनदों में पार्श्वों की और दैनिक गति 7-10 सेण्टीमीटर तथा बीच में एक फुट (30 सेण्टीमीटर) तक होती है। कराकोरम श्रेणी के बाल्टोरो हिमनद (Baltoro) के आगे बढ़ने की अधिकतम गति 12 मीटर प्रतिदिन है। आकार में भी पर्याप्त भिन्नता होती है। सामान्य रूप से इनकी लम्बाई 4 5 किलोमीटर तक होती है परन्तु कराकोरम के हिस्पार (Hispar) तथा बातुरा (Batura) हिमनद 58 से 60

हिमनद का नाम	क्षेत्र	लम्बाई मील/किमी०	प्रकार
	काश्मीर		
1 रूपल (Rupal)		10/16	आड़ा (Transverse)
2 पुनमा (Punmah)		16 6/27	आड़ा (Transverse)
3 रिमो (Rimo)		25/40	लम्बवत या अनुदैर्घ्य (Longitudinal)
4 हिमार्चो (Himarche)		—	आड़ा (Transverse)
5 बार्चे (Barche)	,	—	अनुदैर्घ्य (Longitudinal)
6 मिनापिन (Minapin)		—	आड़ा (Transverse)
7 हिस्पार Hispar	कराकोरम	38 60	लम्बवत या अनुदैर्घ्य
8 बियाफो (Biafo)		39/62	,
9 बाल्टोरो (Baltoro)	,	36/58	,, ,,
10 सियाचेन (Siachen)	,	45/72	
11 बातुरा (Batura)	,	36 58	
12 सासाईनी (Sasaini)		99/158 4	आड़ा Transverse
13 मोहिल यज (Mohil Yaz)		18/28 8 .	,
14 यजघिल (YazGhil)	,,	18/28 8 ,	,
15 खुरदोपिन (Khurdopin)	.	26/41 6	,
16. चिरजो गेव		24/38 4	
17 मिलाम (Milam)	कुमायूँ	12 19	अनुदैर्घ्य (Longitudinal)
18 केदारनाथ (Kedarnath)	,	8 8/14	आड़ा Transverse
19 गंगोत्री (Gangotri)		13 1/25	
20 कोसा (Kosa)	.	6 1 11	
21 जेमू (Zemu)	सिक्किम	13 1/25	
22 कंचनजंघा (Kanchenjunga)		1 1/16	.

किलोमीटर तक लम्बे है। हिमनदो मे हिम की मोटाई भी सर्वत्र समान नही होती है। हिम की मोटाई औसत रूप मे 125 से 800 मीटर तक होती है। परन्तु **फेडचेन्को** (Fedchenko) मे हिम की मोटाई 600 मीटर, **बालटेरो** मे 166 मीटर तथा **जेमू** (Zemu) मे 220 मीटर तक है। हिमनदो ने अपने अपरदन द्वारा हिमालय पर्वत मे कई प्रकार के स्थलरूपो का निर्माण कर रखा है।

हिमनदों का गतिशील होना
(Movement of Glaciers)

हिमनदो की गतिशीलता के विषय मे प्रारम्भ मे गलत धारणाये थी। प्राचीन काल मे प्राय यह माना जाता था कि हिमनद प्राय स्थिर होते है अर्थात् हिमक्षेत्र की हिम-राशि मे कोई गति नही होती है। हिमनद की गति बहुत मन्द होने के कारण सम्भवतः इस विचारधारा का प्रचलन किया गया था। परन्तु प्रयोगो के आधार पर प्राचीन विचारधारा को गलत साबित कर दिया गया है तथा कुछ विद्वानो ने न केवल हिमनदो की गतिशीलता पर ही विश्वास किया है वरन् उन्हे नदी के रूप मे माना है, जो कि नदियो के समान अपनी घाटियो से होकर प्रवाहित होते है। सर्वप्रथम स्विटजरलैण्ड के निवासी प्रोफेसर **ह्यूजी** (Hugi) ने व्यक्तिगत पर्यवेक्षण के आधार पर हिमनदो की गतिशीलता को प्रमाणित किया। इन्होने **आल्पस प्रदेश** के आर नामक ग्लेशियर पर एक स्थान पर एक कुटी बनाई जो कि चौदह वर्ष के बाद अपने प्रारम्भिक स्थान से 4200 फीट आगे बढ गई थी। इसके बाद स्विटजरलैण्ड के एक अन्य विद्वान **लुई अगासीज** ने हिमनदो की गति की एक अनोखे ढग से प्रमाणित किया। उन्होने एक हिमनद के आर-पार एक किनारे से दूसरे किनारे तक एक सीधी रेखा मे कई खूटियाँ गडवा दी। कुछ समय बाद निरीक्षण करने से पता चला कि किनारे की खूटियो की अपेक्षा बीच की खूटियाँ अधिक आगे बढ गई थी। इतना ही नही सभी खूटियाँ घाटी के ढाल की ओर झुकी थी। इस प्रकार अगासीज ने हिमनद की गति के विषय मे कई दिलचस्प तथ्यो का प्रतिपादन किया — 1 हिमनद मे गति होती है। अर्थात् यह अपने उत्पत्ति केन्द्र से आगे की ओर बढता है। 2. उसके मार्ग के विभिन्न भागो मे समान गति नही होती है। किनारे की अपेक्षा मध्य भाग मे अधिक गति होती है। 3. हिमनद की गति तली की अपेक्षा सतह पर अधिक होती है। वर्तमान समय मे हिमनदो की गतिशीलता के विषय मे पर्याप्त प्रमाण सुलभ हो गये है। अब यह सर्वमान्य है कि हिमनद मे गति होती है, परन्तु **जलभरी नदी** के समान यह गति नही होती है। प्रत्येक हिमनद मे गति भिन्न-भिन्न होती है। इतना ही नही एक ही हिमनद मे जाडे की ऋतु तथा गर्मी की ऋतु मे गति मे पर्याप्त अन्तर होता है। सामान्य रूप से गर्मी मे जाडे की अपेक्षा हिमनद की गति अधिक होती है। विश्व के सबसे अधिक रफ्तार वाले हिमनद ग्रीनलैण्ड मे पाये जाते है। यहाँ के कुछ हिमनद गर्मी की ऋतु मे 20 मीटर प्रतिदिन के हिसाब से आगे बढते है। सामान्य रूप मे ग्रीनलैण्ड के हिमनद प्रतिदिन 3 मीटर की दर से आगे बढते है। अण्टार्कटिका का Beardmore Glacier, जो कि विश्व का सबसे बडा हिमनद है, प्रतिदिन एक मीटर से भी कम की दर से आगे बढता है। स्विटजरलैण्ड मे **मेर दी ग्लास** हिमनद की दैनिक गति किनारो पर 2 5 सेण्टीमीटर से 50 सेण्टीमीटर तथा बीच मे 50 सेण्टीमीटर से 67 5 सेण्टीमीटर और हिमालय के **रोंगबुक हिमनद** की दैनिक गति किनारो पर 7 5 से 12.5 सेण्टीमीटर तथा मध्य मे 20 से 30 सेण्टीमीटर है।

हिमनदों मे गति के कारण

यद्यपि हिमनदो की गतिशीलता को सभी विद्वानो ने स्वीकार किया है, परन्तु उनकी गतिशीलता के सम्भावित कारणो के विषय मे पर्याप्त मतभेद है। कुछ विद्वान हिमनद मे गति का प्रधान कारण गुरुत्व (Gravity) को बताते है। हिम के सचयन होते रहने से उनके भार मे वृद्धि के कारण निचले ढाल की ओर हिम सरकने लगता है। यदि हिमनद की घाटी की **ढाल प्रवणता** (Gradient of slope) इतनी है कि उनसे होकर हिम फिसलकर आगे बढ सके परन्तु टूट कर गिरे नही तो हिम के भार के कारण ढाल के सहारे हिमनद की गति प्रारम्भ हो जाती है। इस मत के विरोध मे कुछ विद्वानो का कहना है कि यदि हिम राशि के भार तथा दबाव के कारण अर्थात् गुरुत्व शक्ति के कारण हिमनदो मे गति होती है तो जाडे के मौसम मे हिमनदो की आगे बढने की गति सर्वाधिक होनी चाहिए, क्योकि जाडे मे अधिक हिमपात के कारण हिम का सचयन अत्यधिक होता है, परन्तु इसके विपरीत गर्मी के मौसम मे हिमनद की गति सर्वाधिक होती है। इस प्रकार द्वितीय वर्ग के विद्वानो के अनुसार हिमनदो मे गति जल से हिम बनते समय उसके आयतन मे विस्तार के कारण होती है। जब जल हिमनद मे परिवर्तित होता है तो उसके आयतन

में वृद्धि होती है, जिस कारण हिमराशि में प्रसार होता है। यह प्रसार प्रतिवर्ग इंच 2,000 पौंड के लगभग होता है। यदि उपर्युक्त दोनों विचारधाराओं में सामञ्जस्य स्थापित कर दिया जाय तो हिमनद की वास्तविक गति की समस्या का निदान हो सकता है। अर्थात् हिमनद में गति गुरुत्व शक्ति तथा जल के हिम में परिवर्तित होने के कारण प्रसार द्वारा होती है। हिमनद की गति कई तथ्यों पर आधारित होती है। यदि हिमनद की घाटी का ढाल अधिक है हिम की मोटाई अधिक है तो उसकी गति अधिक होती है परन्तु हिमनद में मलवा की मात्रा अधिक है, ढाल कम है तो गति मन्द होती है। जब हिमनद आगे बढ़ता है तो उसे "हिमनद का बढ़ना" (Advancement of glaciers) तथा पीछे हटने की क्रिया को हिमनद का निवर्तन (Retreat of Glaciers) कहते हैं। हिमनद का अगला भाग जब वाष्पीकरण या पिघलन के कारण नष्ट हो जाता है तो हिमनद पीछे सरकते प्रतीत होते हैं। इस क्रिया को अपक्षरण (Ablation) कहते हैं। यदि हिम बनने की क्रिया की अपेक्षा नष्ट होने की क्रिया तीव्र होती है तो हिमनद पीछे हटने लगता है। इस हिमनद का निवर्तन कहते हैं।

हिमनद का अपरदनात्मक कार्य
(Erosional Work of Glacier)

सामान्य परिचय—सामान्य रूप से हिमनद, अपरदन के अन्य साधनों के समान मार्ग में आने वाली शैल का अपरदन करता है उससे प्राप्त पदार्थों का परिवहन करता है तथा उनका यथास्थान निक्षेपण भी करता है। परन्तु हिमनद के अपरदनात्मक कार्य के विषय में विद्वानों में दो प्रकार के मत प्रचलित हैं। ये दोनों विचार परस्पर विरोधी हैं। प्रथम वर्ग के विद्वानों के अनुसार हिमनद शैल को संरक्षण प्रदान करता है, क्योंकि यह ऊपर से शैल को ढके रहता है। अतः हिमनद का अपरदनात्मक कार्य नगण्य होता है। इस विचारधारा को संरक्षणात्मक संकल्पना (Protection concept) तथा इसके समर्थकों को संरक्षणवादी कहा जाता है। इसके विपरीत विद्वानों का एक वृहद् समूह हिमनद के अपरदनात्मक सामर्थ्य में विश्वास करता है। रमजे तथा डिक्सन नामक विद्वानों के अनुसार हिमनद अपरदन का एक सक्षम कारक होता है तथा इसके अपरदन द्वारा विभिन्न प्रकार के स्थलरूपों का आविर्भाव तथा विकास होता है। हिमनद न केवल अपने अपरदन द्वारा पूर्व निर्मित स्थलरूप में परिवर्तन लाता है वरन् नवीन स्थलरूपों का भी सृजन करता है। इस वर्ग के विद्वानों ने प्लीस्टोसीन हिमानीकरण द्वारा उत्पन्न तथा परिवर्तित स्थलरूपों के अनेक उदाहरण प्रस्तुत करके अपने मत की सत्यता सिद्ध करने का सफल प्रयास किया है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो दोनों मत अतिशय की ओर उन्मुख हैं। इतना तो निश्चयपूर्वक अवश्य कहा जा सकता है कि हिमनद अपरदन करता है परन्तु यह अपरदन सदैव नहीं होता है तथा नदियों के समान हिमनद का अपरदन सम्पन्न नहीं होता है। जब तक हिमनद स्थायी होता है, निश्चयपूर्वक वह शैल का रक्षण प्रदान करता है। परन्तु यदि वह गतिशील होता है तो किसी न किसी रूप में अपरदन अवश्य प्रारम्भ हो जाता है। इस तरह हिमनद अपरदन का एक प्रभावशाली साधन होते हुए भी शैलों का कुछ सीमा तक रक्षक भी है।

अपरदन के सामान्य रूप—हिमनद का अपरदनात्मक कार्य अनेक रूपों में सम्पन्न होता है। उनमें से प्रमुख हैं—अपघर्षण (Abrasion) उत्पाटन (Plucking) आदि। यदि हिमनद का हिम शुद्ध होता है तो उसमें अपरदनात्मक सामर्थ्य नहीं के बराबर होती है, परन्तु जब हिमनद में छोटे छोटे कंकड़-पत्थर तथा शैल चूर्ण पर्याप्त मात्रा में होते हैं तो हिम अपरदन का सक्रिय कारक हो जाता है। ये पदार्थ अपरदन के यंत्र होते हैं। जिनकी सहायता से हिमनद अपनी घाटी की तली तथा किनारों को अपरदित करता रहता है। इस क्रिया को अपघर्षण कहते हैं। हिमनद की गति के कारण उसके यंत्र (कंकड़ पत्थर आदि) भी आगे की ओर बढ़ते हैं जो निचले भाग में पड़ने वाली शैलों पर रेगमाल (Sand Paper) का कार्य करते हैं। इन यन्त्रों की सहायता से हिमनद की घाटी की तली तथा किनारे घिसकर चिकने (Smooth) होते रहते हैं। वास्तव में आगे बढ़ते हुए हिमनद के साथ चलने वाले पदार्थ धरातल को खुरचते हुए चलते हैं, जिस कारण प्रभावित शैल पर कई प्रकार की धारियाँ (Strains) बन जाती हैं। ये धारियाँ अपघर्षण की परिचायिका होती हैं। उत्पाटन की क्रिया (उखाड़ना या तोड़ना Plucking) में हिमनद चट्टानों के बड़े-बड़े टुकड़ों को तोड़ कर उन्हें अपने साथ कर लेता है। वर्षा तथा हिम के पिघलने से प्राप्त जल शैल की सन्धियों में प्रविष्ट हो जाता है तथा ताप के कमी के कारण जम कर हिम का रूप धारण करके फैलता है, जिस कारण शैल कमजोर हो जाता है। इस तरह की कमजोर शैल के बड़े-बड़े टुकड़े

(Blocks) टूट कर अलग होते रहते है। घाटी हिमनद द्वारा इस तरह की उत्पाटन क्रिया अधिक होती है। उत्पाटन के रूप मे अपरदन द्वारा हिमनद अपने शीर्ष की ओर अपरदन (Headward erosion) करता है। पहाडी भागो मे इस क्रिया द्वारा आराम कुर्सी के समान सर्क या कोरी (Cirque or corrie-हिमगह्वर) का निर्माण होता है। हिमनद के अपरदनात्मक तथा निक्षेपात्मक कार्यों को सम्मिलित रूप मे **हिमानीकरण या ग्लेश्वरीकरण** (Glaciation) कहते है। हिमानी के क्षेत्र, उच्च पर्वतीय भाग होते है, अत दुर्गम होने के कारण हिमनद के अपरदन का पूर्णतया अध्ययन नही किया जा सकता सका है।

हिमनद-अपरदन सिद्धान्त
(Law of Glacial Erosion)

यद्यपि हिमनद अपरदन करता है, परन्तु उसका अपरदनात्मक कार्य सदैव महत्त्वपूर्ण नही होता है अपितु कुछ विशेष परिस्थितियो मे ही वह अधिक सक्रिय होता है। हिमनद के अपरदन सम्बन्धी कार्य मे हिम के साथ ही साथ हिम से पिघला हुआ जल तथा उसके साथ चलते हुए कंकड़-पत्थर आदि भी सहायता प्रदान करते है। हिम के पिघलने से प्राप्त हुआ जल हिमनद की घाटी की तली मे **नालीदार अपरदन** (Gully Erosion) करता हुआ चलता है। इस तरह हिमनद का हिम, उससे प्राप्त जल तथा कंकड़-पत्थर आदि हिमनद के मार्ग मे **अपघर्षण** (Abrasion) तथा उत्पाटन (Plucking) द्वारा अपरदन करते है, जिस कारण हिमनद की तली तथा उसके पार्श्व-भाग (Sides) अपरदित होते है। हिमनद द्वारा अपघर्षण कार्य उस समय अधिक सक्रिय होता है, जब कि ढाल इतना हो कि हिमनद के आगे बढने की गति तीव्र हो परन्तु हिम टूट कर गिरने न पाये, हिम तथा शिलाखण्डो का दबाव अधिक हो तथा ये पदार्थ हिमनद की तली को स्पर्श करते हुए चले। इस स्थिति मे तली या पार्श्व भागो मे कई प्रकार की खरोंचे पड जाती है। हिमनद की तली असमान होती है। इस कारण उसमे सर्वत्र अपरदन समान नही होता है। इस तथ्य को ध्यान मे रख कर दी मार्तोनी (Demartonne) महोदय ने हिमनद के अपरदन सम्बन्धी एक सिद्धान्त या नियम का प्रतिपादन किया है, जिसे **हिमनदीय अपरदन का सिद्धान्त** कहते है। हिमनद की तली मुख्य रूप मे ऊँची-नीची होती है अर्थात् उसमे अवतल तथा उत्तल ढाल होते हैं। जहाँ पर हिमनद की तली समतल होती है, वहाँ पर यद्यपि हिम तथा मलवा का दबाव अधिक होता है तथा ये पदार्थ तली को स्पर्श करते हुए चलते है तथापि मन्द गति होने के कारण अपरदन अधिक नही हो पाता है। इसके विपरीत असमान तली मे ढाल के समीप मलवा तथा हिम का दबाव कम होता है एव इनका हिमनद की तली मे न्यूनतम सम्पर्क रहता है तथापि हिमनद की तीव्र गति के कारण अपरदन अधिक होता है। सामान्य नियमानुसार जब हिमनद अवतल ढाल की ओर बढता है तथा उसमे होकर जब अग्रसर होता है तो उसकी ऊपरी सतह मे दबाव तथा खिंचाव के कारण दरारें (Crevasses) पड जाती है। इस कारण ढाल मे नीचे उतरते समय हिम राशि के बडे बडे टुकडे खण्ड-खण्ड होकर नीचे सरकने लगते है जिस कारण उसकी (हिमनद) गति अधिक तीव्र हो जाती है। परिणामस्वरूप जब हिमनद उत्तर ढाल की ओर बढता है तथा उसे पार करके दूसरी ओर नीचे उतरता है तो दोनो भागो मे अधिक अपरदन होता है। इस तरह उत्तल ढाल के दोनो किनारो पर सर्वाधिक अपरदन होता है, जब कि अवतल ढाल पर न्यूनतम अपरदन होता है। दी मार्तोनी के इस सिद्धान्त को ही **हिमनदीय अपरदन का सिद्धान्त** (Law of glacial erosion) कहा जाता है। दी मार्तोनी के सिद्धान्त को निम्न पक्तियो मे उद्धृत किया जा सकता है— **"यदि हिमनद की तली का ढाल समान नहीं है, जो कि एक तथ्य है, तो दरार क्षेत्रो के दोनो ओर के ऊपर और नीचे सर्वाधिक अपरदन होता है।"**

हिमनद के अपरदनात्मक कार्य के विषय मे एक और महत्त्वपूर्ण बात है। हिमनद को अपरदन का एक सक्रिय साधन बताने वाले लोगो के अनुसार भी हिमनद म सर्वत्र अपरदन नही होता है वरन् उसम कुछ ऐसे मण्डल होते है, जहाँ पर अपरदन होता है अन्य भागो मे निक्षेप होता है। इस तरह हिमावरण मे आच्छन्न भाग मे तीन मण्डलो का निर्धारण किया गया है—1 केन्द्रीय भाग जो कि एक **सुरक्षित मण्डल** होता है (Protected central zone)- वहाँ पर अपरदन तथा निक्षेप दोनो नगण्य होते है। 2 **मध्यवर्ती मण्डल** (Intermediate zone)—इस भाग मे हिम द्वारा अपरदन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होता है। 3. **परिधीय मण्डल** (Peripheral zone)—इस भाग मे निक्षेपात्मक कार्य अधिक महत्त्वपूण होता है। उपर्युक्त विवरण के आधार पर यह स्पष्ट हो गया है कि हिमनद के अपरदनात्मक तथा निक्षेपात्मक कार्य अवश्य महत्त्वपूर्ण होते हैं। अन्य अपरदन के साधनो के समान ही हिमनद

द्वारा होने वाला अपरदन भी "विभेदक अपरदन" (Differential erosion) होता है।

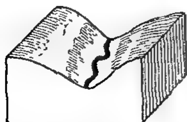
पर्वतीय हिमनद या घाटी हिमनद के अपरदनात्मक स्थलरूप (*Erosional Landforms of Mountain or Valley Glaciers*)

भूतल के अधिकांश पर्वतीय भागों की वर्तमान स्थलाकृतिक दृश्यावली (Topographice scenery) का आविर्भाव घाटी हिमनद द्वारा प्रारम्भिक स्थलरूपों म अपरदन के कारण परिवर्तन द्वारा ही हुआ है। आगे बढ़ता हुआ हिमनद अपने मार्ग में अपघर्षण तथा उत्पाटन (Abrasion or corrasion and plucking) द्वारा कुछ नये स्थलरूपों का सृजन करता है और पूर्वस्थित स्थलरूपों में संशोधन तथा परिवर्तन लाता है। कहीं-कहीं पर तो घाटी हिमनदों ने प्रारम्भिक नदियों को इतना अधिक परिवर्तित कर दिया है कि उनका आकार ही सर्वथा बदल गया है, अर्थात् अधिकांश नदियों की घाटियाँ U आकार की हो गई हैं। हिमनद नुकीले कटक (Sharp ridges) चोटियों आदि को अपरदित तथा चिकना करके दांतेदार बना देता है। इस तरह हिमानीकृत भागों में पर्याप्त अन्तर स्थापित किया जा सकता है। यदि अप्लेशियन पर्वत को लिया जाय तो उसका मध्यवर्ती तथा दक्षिणी भाग नदी द्वारा अपरदित हुआ है। जब कि उत्तरी भाग हिमानी द्वारा अपरदित हुआ है। हिमानीकरण से प्रभावित भागों में कटक, चोटियाँ तथा उच्च भाग नुकीले होते हैं तथा समस्त भाग दांतेदार (Serrate in general forms) होता है। प्रवाह प्रणाली में सामञ्जस्य नहीं होता है, वरन् सम्पूर्ण प्रवाह-प्रणाली विसंगत (Discordant) होती है। मुख्य घाटी की सहायक घाटियाँ उस पर लटकती रहती है, जिन्हे लटकती घाटियाँ या निलम्बित घाटियाँ (Hanging valleys) कहते हैं। ढालों पर चट्टान-चूर्ण का आवरण नहीं होता है। इसके विपरीत हिमानीकरण से अप्रभावित (Non glaciated) क्षेत्रों में, जहाँ पर सरिता अपरदन अधिक सक्रिय रहा है, उच्चावच (Reliefs) गोलाकार तथा समस्त भाग घर्षित होने के कारण अधिक नीचा होता है। ढालों पर चट्टान-चूर्ण का मोटा आवरण रहता है। मुख्य सरितायें तथा उनकी सहायक नदियाँ (Graded) होती हैं एवं अनेक बाधाओं-प्रतिबाधाओं में विभक्त हो जाती है। घाटी हिमनद द्वारा उत्पन्न स्थलरूपों में महत्वपूर्ण है—हिमानीकृत घाटियाँ (Glaciated valleys), सर्क या हिमगह्वर (Cirque), अरेत या नोकीला कटक (Arete), गिरिशृंग (Horn), कॉल (Col), रुण्डित स्पर (Truncated spurs), एल्ब (Elb), भेड़ पीठ शैल (Roche moutonnees), शृंग-पुच्छ (Carg and Tail), दैत्याकार सोपान (Giant staircase or cyclopean stairs) नुनाटक (Nunatak) फियोर्ड आदि। संक्षेप में यहाँ पर हिमनद की घाटी की परिच्छेदिकाओं का उल्लेख कर देना आवश्यक है। हिमनद की अनुप्रस्थ परिच्छेदिका (Transverse Profile) अंग्रेजी के U अक्षर के समान होती है जिसके किनारे खड़े ढाल वाले होते हैं परन्तु तली चौरस तथा सपाट होती है। इसके विपरीत हिमनद की अनुदैर्घ्य परिच्छेदिका (Long Profile) प्रायः सोपानाकार (Step like) होती है। इसका प्रमुख कारण हिमनद की तली का ऊँचा-नीचा होना तथा विभिन्न स्थानों पर अपरदन में भिन्नता का होना है।

'U' आकार की घाटी (U Shaped Valleys)

पर्वतीय भागों में जहाँ हिमनद जिन घाटियों में होकर प्रवाहित होते हैं, जिनके किनारे खड़े ढाल वाले होते हैं तथा तली सपाट तथा चौरस होती है। हिमनदों की ये घाटियाँ अंग्रेजी के U अक्षर से मिलती हैं, इसी आधार पर इन्हें 'U' आकार की घाटियाँ कहते हैं। यह स्मरणीय है कि घाटी की अनुप्रस्थ परिच्छेदिका सब जगह पर U आकार की नहीं होती है। कभी-कभी इन घाटियों की सहायक घाटियाँ ऊपर लटकती रहती हैं। इस तरह की लटकती घाटियों वाली मुख्य घाटी को "लटकती घाटी से युक्त U आकार की घाटी" कहते हैं। पर्वतीय उच्च भागों में हिमनद अपनी कोई नवीन घाटी का स्वयं निर्माण नहीं करता है अपितु पहले से ही नदियों द्वारा निर्मित घाटियों को परिवर्तित एवं संशोधित करता है। हिमनद के अपघर्षण (Abrasion) तथा उत्पाटन (Plucking) की क्रियाओं द्वारा वे घाटियाँ जिनमें होकर हिमनद प्रवाहित होता है कट कर चौड़ी होती रहती हैं तथा उनके किनारे लम्बवत् होते जाते हैं। घाटी की तली सपाट तथा चौरस हो जाती है। कभी-कभी इनके तल में मलवा का निक्षेपण भी हो जाता है। इस प्रकार से निर्मित U आकार की घाटियों के लम्बवत् किनारे प्रवलन द्वारा बने होते हैं। U आकार की घाटी का विकास तथा आकार शैलों की रचना तथा हिमनद के अपरदन के स्वभाव पर आधारित होता है। यदि तली असमान अवरोध वाली है तो घाटी के किनारे सोपानाकार (Step like) हो जाते हैं। U आकार की घाटी के निर्माण के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। विद्वानों

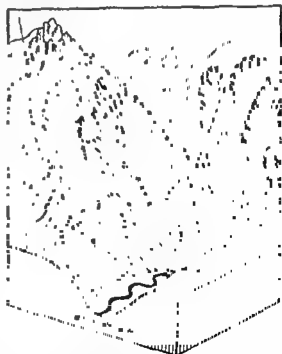
के विचारों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—प्रथम वर्ग के विद्वानों के अनुसार हिमनद स्वयं किसी घाटी का निर्माण नहीं करता है वरन् नदियों द्वारा निर्मित घाटियों में होकर प्रवाहित होता है तथा उसे अपने अपरदन द्वारा परिवर्तित करके U आकार का रूप प्रदान करता है। इस विचारधारा की स्पष्ट व्याख्या ऊपर दी जा चुकी है। विद्वानों का द्वितीय वर्ग हिमनद को अपरदन का एक सक्रिय साधन बताता है। इस वर्ग के अनुसार हिमनद अपने अपरदन द्वारा स्वयं अपनी घाटी का निर्माण करता है। **टिण्डल महोदय** इस मत के सबसे बड़े समर्थक हैं। इनका कहना है कि U आकार की घाटियों के निर्माण में जल का हाथ नहीं रहता। हिमनद अपने अपघर्षण तथा उत्पाटन क्रियाओं द्वारा पूर्णरूप से इन घाटियों का निर्माण करता है। यदि आलोचनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो द्वितीय वर्ग अतिशयोक्ति के करीब है। यदि U आकार की घाटियों की गहराई तथा चौड़ाई पर दृष्टिपात किया जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि इतनी विशाल घाटियों का निर्माण केवल हिमनद द्वारा सम्भव नहीं हो सकता है। यह तो निश्चित ही है कि प्रत्येक पर्वतीय भाग में (सदैव हिमाच्छादित भागों को छोड़कर) सरिताओं का विकास होता है जो कि अपनी घाटियों का विकास करती हैं। ऊपरी भाग से जब हिमनद प्रवाहित होता है तो वह आसानी से पूर्व-निर्मित नदियों की घाटियों का अनुसरण करता है। उसे परिवर्तित करके U आकार प्रदान करता है। इस तरह प्रथम विचारधारा सत्यता के अधिक करीब है। इस तथ्य को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि हिमनद सदैव पूर्व-निर्मित नदियों की घाटियों से ही होकर प्रवाहित नहीं होते हैं।



चित्र 335—'U' आकार की घाटी।

लटकती या निलम्बित घाटी (Hanging Valleys)

जब हिमनद की मुख्य घाटी के तल से उसमें मिलने वाली सहायक नदियों के तल अधिक ऊँचे होते हैं तो सहायक घाटियाँ, मुख्य घाटी पर लटकती हुई प्रतीत होती है। इसी कारण इन्हें लटकती घाटियाँ या निलम्बित या बहिर्लम्बी घाटियाँ (Hanging valleys) कहते है। हिम के पिघल जाने पर जब इन लटकती घाटियों से जल निचली घाटी में गिरता है तो प्रपात का निर्माण होता है। इस कारण लटकती घाटियों को **प्रपाती घाटियाँ** भी कहा जाता है। लटकती घाटी के निर्माण के विषय में भी दो मत प्रचलित हैं। प्रथम मत के अनुसार लटकती घाटियों का निर्माण पूर्ण रूप से हिमानी द्वारा अपरदन के कारण होता है। इस मत के अनुसार लटकती घाटी का निर्माण हिमनद की मुख्य घाटी तथा सहायक घाटी के विभिन्न तल के कारण होता है। दूसरे शब्दों में इन घाटियों का निर्माण मुख्य हिमनद तथा उसकी सहायक शाखाओं द्वारा असमान अपरदन के कारण होता है। मुख्य हिमनद निश्चित रूप से अपनी सहायक हिमनदियों की अपेक्षा अधिक लम्बा, चौड़ा तथा विस्तृत होता है। अतः मुख्य ग्लेसियर अपनी घाटी को सहायक हिमनदियों की अपेक्षा अधिक गहरा तथा चौड़ा करता है। इस कारण सहायक घाटियों की अपेक्षा मुख्य घाटी अधिक गहरी होती जाती है। परिणामस्वरूप सहायक घाटियों का तल मुख्य घाटी के तल से अधिक ऊँचा रह जाता है। इस स्थिति में उच्च तल वाली सहायक घाटियाँ, लटकती घाटियाँ होती हैं।



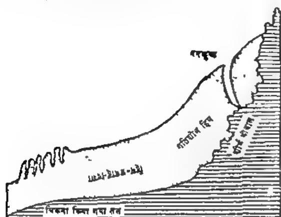
चित्र 336—लटकती या निलम्बित घाटी (Hanging Valley)।

विद्वानो का द्वितीय वर्ग, जो कि हिमनद को शैलो के सरक्षक के रूप मे मानता है, उपर्युक्त विधि के विपरीत लटकती घाटियो के निर्माण मे विश्वास करता है। इस वर्ग के अनुसार मुख्य घाटी मे नदी का विकास होना है तथा उसकी सहायक नदियाँ पर्वतो के अधिक ऊँचे भागो से आकर मुख्य घाटी मे मिलती हैं। अधिक ऊँचाई से आने के कारण सहायक नदियाँ हिम से भरी रहती हैं। ये हिमनदियाँ मुख्य नदी मे निचले भाग मे मिलती हैं। चूंकि मुख्य घाटी मे जल होता है, अत यह जल द्वारा अपरदन के कारण तीव्र गति से अधिक गहरी तथा चौडी होती हैं। इसके विपरीत सहायक घाटियाँ हिम से भरी रहने के कारण कम अपरदन के कारण अधिक गहरी नहीं हो पाती हैं। परिणाम यह होता है कि सहायक नदियाँ, जहाँ मुख्य घाटी से मिलती हैं, वहाँ पर मुख्य घाटी का तल सहायक घाटियो के तल से अधिक नीचा हो जाता है, अत मुख्य घाटी पर लटकती सी नजर आती है। इस परिकल्पना (*Hypothesis*) के पक्ष मे अनेक प्रमाण प्रस्तुत किये जाते हैं — 1 सभी सहायक घाटियाँ मुख्य घाटी से समान रूप से नही लटकती है। 2. घाटी हिमनद के क्षेत्र में *सर्वत्र लटकती घाटी नही मिलती है।* यदि हिमनद के अपरदन द्वारा लटकती घाटियों का निर्माण होता तो पर्वतीय भागो मे, जहाँ पर घाटी हिमनदो का *विस्तार है, सर्वत्र लटकती घाटियो के उदाहरण* मिलने चाहिये परन्तु वास्तव मे ऐसे उदाहरण सर्वत्र नही मिलते है। 3 मुख्य घाटी की प्रत्येक सहायक घाटी लटकती घाटी नही होती है। 4 लटकती घाटियाँ सामान्य रूप से सूर्य विमुखी ढाल पर मिलती हैं। लटकती घाटियाँ आर्थिक दृष्टिकोण से अधिक महत्त्वपूर्ण होती हैं, क्योंकि जब हिम के पिघल जाने पर उनमे जल का समावेश हो जाता है तो जल प्रपातो का निर्माण होता है। इनसे जल विद्युत पैदा की जाती है, जिसका प्रयोग विभिन्न रूपो में किया जाता है।

सर्क या हिमगह्वर (Cirque or Corrie)

पर्वतीय क्षेत्रो मे घाटी हिमनद द्वारा उत्पन्न स्थलरूपों मे सर्क सर्वाधिक *महत्त्वपूर्ण होता है तथा यह प्राय.* प्रत्यक हिमानीकृत पर्वतीय भाग मे मिलता है। सर्क हिमनद की घाटी के शीर्ष भाग पर एक अर्द्धवृत्ताकार *या कटोरे के आकार का विशाल गहरा गर्त होता है,* जिसका पार्श्व या किनारा खडे ढाल वाला (लम्बवत्) होता है। देखने पर सर्क अर्द्ध गोल रंगमच (Ampitheatre) के समान लगते हैं। सर्क का आकार गहरी सीट वाली आरामकुर्सी (Arm chair) से मिलता-जुलता है। सर्क प्राय हिम से भरे रहते हैं। इसी कारण इन्हे 'हिमगह्वर', 'हिम सागर' या हिम गर्त' कहते हैं। परन्तु यह आवश्यक नही है कि सर्क सदैव हिम से भरे रहते है। हिम के पिघल जाने पर ये खुले गर्त के रूप मे होते हैं, जिनमे कभी-कभी जल भर जाने से झील का निर्माण हो जाता है। सर्क को विभिन्न स्थानो पर अलग नामो *Corrie, Kar (German), Cwm (Welsh), Botnaid Kjedel (Scandinavian) etc* से अभिहीत किया जाता है। आकार की दृष्टि स सर्क मे पर्याप्त भिन्नता होती है। यही कारण है कि विभिन्न विद्वानो न सर्क को अलग-अलग रूपो म व्यक्त किया है। उदाहरण के लिय सर्क के निम्न रूप बताये गय हैं —साधारण सर्क (Simple cirques), मिश्र सर्क (compound cirques), लटकते सर्क (Hanging cirques) तथा निवेशन सर्क (Nivatione cirque)। खुले हुये या रिक्त सर्क (Empty cirques) मे तीन मुख्य भाग होते है—1 शीर्ष दीवाल (Head wall)—यह सर्क की बेसिन मे ऊपर की ओर सम्बवत् होती है। सर्क की यह तीव्र ढाल वाली दीवाल 2,000 से 3,000 फीट तक ऊँची हो सकती है। इसके आधार पर मलवा, टालस (Talus) आदि का सचयन कदापि नही होता है। यहाँ पर टालस (चट्टान-चूर्ण के ढेर) की अनुपस्थिति से यह प्रमाणित होता है कि सर्क के निर्माण म अपक्षय (Weathering) का महत्वपूर्ण हाथ नहीं रहता है, ,वरन् इसका निर्माण हिमनद के अपरदन द्वारा ही होता है। सर्क के निर्माण तथा सर्वाधिक विकास के लिये निम्न दशायें अधिक उपयुक्त होती है। *(अ) हिमानीकरण से पहले निर्मित घाटियाँ पास-*पास न होकर दूर-दूर होनी चाहिये। इस स्थिति मे बढते हुये सर्क का प्रतिच्छेदन (Intersection) शीघ्र नही *हो पायेगा। यदि घाटियाँ पास-पास होती हैं तो विकास* के समय सर्क ही एक दूसरे स मिल जाते है तथा उनका अवसान, पूर्ण विकास के पहले ही हो जाता है। (ब) *हिमपात इतना अधिक होना चाहिय कि विस्तृत हिम* क्षेत्र (Snow fields) तथा हिमनद का निर्माण हो सके, परन्तु इतना अधिक नही होना चाहिये कि उसके सचयन से हिम-टोपी या हिम चादर (Ice cap) का निर्माण हो जाय। (स) जहाँ पर सर्क का निर्माण होना है, वहाँ की शैल समान सरचना वाली हो ताकि सर्क का विस्तार *बराबर गति से सम्भव हो सके। 2 सर्क का द्वितीय भाग*

उसकी बेसिन के रूप मे होता है। यह सर्क की तली को प्रदर्शित करता है। शीर्ष दीवाल के आधार पर बेसिन अधिक गहरी तथा अन्दर की ओर प्रविष्ट रहती है। हिम के पिघल जाने पर सर्क की बेसिन मे जल संचित हो जाने पर झील का निर्माण हो जाता है। 3 सर्क नीचे की ओर जहाँ पर समाप्त होता है, उसे सर्क का **चौखट (Threshold)** कहते है।



चित्र 337—सर्क (Cirque) तथा उसके विभिन्न भग।

सर्क का निर्माण—यदि सर्क हिमनद द्वारा उत्पन्न सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थलरूप है तो उनकी निर्माण की प्रक्रिया भी सर्वाधिक जटिल तथा विवादास्पद है। सामान्य रूप मे यह कहा जाता है कि प्रारम्भ मे ढाल पर **तुषार खोरण (Frost wedging)** द्वारा हिमनद की सतह पर छिद्र बन जाता है। गर्मी के समय मे हिम के पिघलने से प्राप्त जल इन छिद्रो से होकर नीचे की ओर प्रवेश करता है एवं रात के समय कम तापक्रम के कारण जमकर ठोस होता है तथा फैलता है, जिस कारण छिद्रो मे दबाव पडता है। परिणामस्वरूप छिद्र टूट-टूट कर बडे होते जाते है। उनके टूटने से प्राप्त अवसाद को हिमनद शीघ्र स्थानान्तरित कर देता है। धीरे-धीरे हिमनद द्वारा ये छिद्र अत्यधिक विस्तृत कर दिये जाते है तथा अत मे **पूर्ण विकसित सर्क** का निर्माण हो जाता है। इस सामान्य विचारधारा के विपरीत या उससे मिलते-जुलते अनेक सिद्धान्तो का प्रतिपादन विभिन्न विद्वानो द्वारा किया गया है। इसमे से **जानसन, गारवुड, हाब्स, लेविस** तथा **बोमन** के विचार उल्लेखनीय हैं।

1. गारवुड की परिकल्पना (Hypothesis of Garwood, E. J., 1910)—गारवुड महोदय हिमनद द्वारा होने वाले अपरदन मे विश्वास नही करते है। इनके अनुसार हिमनद पूर्वनिर्मित स्थलरूपो तथा चट्टानो को रक्षण (Protection) प्रदान करता है। इसी कारण से **गारवुड को रक्षणवादी (Protectionist)** कहा जाता है। गारवुड के अनुसार हिमनद के पहले उस स्थल मे गड्ढे निर्मित हो जाते है। हिमनद इन गड्ढों को हिम द्वारा आंशिक रूप मे परिवर्तित करके सर्क का निर्माण करता है। वास्तव मे हिमनद सर्क के हिम के आवरण द्वारा रक्षा करता है। गारवुड की यह **'रक्षणवादी परिकल्पना'** निश्चित रूप मे अतिशयोक्ति से ओत-प्रोत है। हिमनद अपरदन का एक सक्रिय साधन होता है। अत उसकी अपरदनात्मक सामर्थ्य को अस्वीकार नही किया जा सकता।

2. जानसन का बर्गश्रुण्ड सिद्धान्त (Bergschrund Theory of Johnson)—जानसन महोदय ने सन् 1904 ई० मे सर्क के निर्माण मे **हिमविदर (Crevasses)** को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया। हिमविदर के आधार पर **अध खनन (Basal sapping)** द्वारा उसका विस्तार होने से बडे-बडे विदर को **बर्गश्रुण्ड (Bergschrund)** कहते है। बर्गश्रुण्ड मुख्य रूप से घाटी हिमनद के शीर्ष भाग पर मिलता है। हिम के पिघलने से प्राप्त जल इन बर्गश्रुण्ड के नीचे पहुँच कर रात मे ठडा होकर जमकर ठास होता है, जिस कारण उसके आयतन मे वृद्धि होने से शैल पर दबाव पडता है। परिणामस्वरूप शैल टूटने लगती है। हिमनद इन टूटे हुये भागो को आसानी से अलग करके स्थानान्तरित कर देता है। इस क्रिया के बार-बार घटित होते रहने से बर्गश्रुण्ड बडा होता जाता है तथा **अध खनन (Basal sapping)** के कारण उसका आधार गहरा होता रहता है। अन्त मे एक पूर्ण विकसित अर्द्ध वृत्ताकार सर्क का निर्माण हो जाता है। जानसन के इस सिद्धान्त की कटु आलोचना की गई है। इस सिद्धान्त के विपरीत यह बताया जाता है कि यदि वर्तमान समय मे किसी भी पूर्ण विकसित बर्गश्रुण्ड की ऊँचाई को ध्यान मे रखा जाय तो यह ऊँचाई सर्क की **शीर्ष दीवाल (Headwall)** से बहुत ही कम होती है। दूसरी आपत्ति यह है कि सर्क का निर्माण बर्गश्रुण्ड के विस्तार के कारण होता है तो अधिकांश हिमनदो मे बर्गश्रुण्ड मिलने चाहिये, परन्तु कई हिमनदो मे बर्गश्रुण्ड नही मिलते है। सन् 1916 ई० मे **बोमन महोदय** ने जानसन के इस सिद्धान्त की आलोचना करते हुये बताया कि प्राय: बर्गश्रुण्ड हिमनदो मे

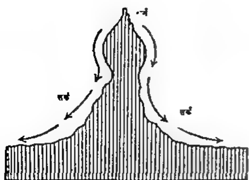
बहुत कम मिलते है तथा सर्क की शीर्ष दीवाल का आविर्भाव तथा विकास बिना बर्गश्रुण्ड की स्थिति के हो सकता है। आगे बढते हुए हिमनद के हिम के नीचे हिमनद के अपघर्षण (Abrasion) तथा उत्पाटन (Plucking) द्वारा सर्क की दीवारो का निर्माण आसानी से हो सकता है। सन् 1938-40 मे लेविस महोदय (W. V Levis) ने जानसन के सिद्धान्त मे संशोधन प्रस्तुत किया। लेविस महोदय के अनुसार सर्क के निर्माण मे हिम के पिघलन से प्राप्त जल (Melt water) का सर्वाधिक योगदान होता है। गर्मी के समय धीरे-धीरे हिमनद शीघ्र स्थानान्तरित कर देता है। जब हिमनद की सतह का कुछ हिम पिघलता है तो वह जल ढाल के सहारे नीचे रिसता रहता है। यह जल शैलो की सन्धियों मे पहुँच कर रात मे कम ताप के कारण जम कर ठोस होता है जिसमे आयतन मे वृद्धि के कारण *सन्धियाँ तथा दरारें अधिक चौडी होने लगती है।* बार-बार हिम के पिघलन तथा जमन के कारण शिलायें टूट-टूट कर गिरती रहती है। ये शिला-खण्ड हिमनद के साथ हो लेते है तथा हिमनद की तली को घिसकर विशाल गर्त मे परिवर्तित कर देते है। इस तरह सर्क के निर्माण के लिये **बर्गश्रुण्ड** की स्थिति का होना आवश्यक नही है।

3 **हाब्स की संकल्पना**—हाब्स (W H Hobbs) ने सन् 1910 ई० मे सर्क के विकास के विषय मे अपने विचारों का प्रतिपादन किया। इन्होंने बताया कि सर्क विभिन्न आकार वाले होते है तथा उनकी विभिन्नताये मुख्य रूप से पर्वती हिमानीकरण के चक्र की विभिन्न अवस्थाओ की प्रगति के अनुसार होती है। हाब्स महोदय ने '**हिम अपरदन सिद्धान्त**' को अधिक महत्त्व प्रदान किया है तथा सर्क का निर्माण हिमनद के अपरदन द्वारा ही होता है। हाब्स महोदय ने सर्क के निर्माण तथा विकास मे चक्रीय अवस्था का उल्लेख किया है। सर्वप्रथम एक खोखला छिद्र बनता है। इसके बाद जानसन के **बर्गश्रुण्ड सिद्धान्त** (Bergschrund theory) के अनुसार अपरदन द्वारा खोखला भाग बढता जाता है। धीरे-धीरे सर्क की दिवाल पीछे की ओर हटती जाती है तथा अर्द्धवृत्ताकार सर्क का निर्माण होता है। आगे चलकर अपरदन के कारण सर्क का रूप आयताकार हो जाता है। पर्वतीय भाग मे इस तरह के अनेक छोटे-बडे सर्को का निर्माण होता है, जिनके **विकास-चक्र** के साथ ही साथ पर्वतीय भाग का अपरदन होता रहता है। प्रत्येक सर्क का निरन्तर विकास होता है। यदि एक पर्वतीय भाग के दोनो ओर सर्क का निर्माण होता है तो दोनो सर्क विकसित होकर अपनी पीठ को एक दूसरे की ओर बढाते जाते हैं। इस क्रिया के कारण पर्वतीय भाग कट कर नुकीला होता जाता है। जब अधिक अपरदन द्वारा दोनो सर्क पास-पास आ जाते है तो एक दूसरे से मिल जाते है, जिस कारण दर्रा (Col) का निर्माण होता है। धीरे-धीरे समस्त उच्च भाग कट-पिट कर घर्षित उच्च भाग (Fretted upland) मे परिवर्तित हो जाता है। इस तरह सर्क के विकास का अवसान (जिर्णावस्था) हो जाता है। यद्यपि हाब्स का सिद्धान्त देखने मे अधिक आकर्षक लगता है परन्तु प्रचुर प्रमाणो के अभाव मे यह सर्वमान्य नही हो सका है।

टार्न (Tarn)—सर्क की बेसिन मे अधिक हिम के दबाव तथा हिम की अधिक गहराई के कारण चट्टानी तली मे अपरदन द्वारा गड्ढे बन जाते है। इस तरह सर्क की बेसिन मे एक **शैल बेसिन** (Rock basin) का निर्माण होता है। जब हिम पिघलकर अदृश्य हो जाता है तो उस शैल बेसिन मे जल भर जाता है जिससे एक *छोटी झील का निर्माण हो जाता है। इस झील को* **सर्क झील** (Cirque lake) या टार्न (Tarn) कहते है।

अरेत या तीक्ष्ण कटक—(Arete)—पर्वतीय भागो मे जब किसी पहाडी के दोनो ओर अर्द्धवृत्ताकार गर्त (सर्क) एक दूसरे की ओर सरकने लगते है तो उनके मध्य का भाग अपरदित होकर नुकीला होने लगता है। धीरे-धीरे पूर्ण विकसित चोटी का निर्माण होता है जिसका ऊपरी भाग अत्यधिक नुकीला होता है। इसका आकार कघी या आरे (Saw) के दाता के समान होता है। इस तरह के नुकीले तीक्ष्ण कटक को अरेत या एरेटी कहते है। अमेरिकन भाषा मे एरेटी को सिरेटी **कटक या सिरेट कटक** (Serrate ridge) कहते है। एरेटी का निर्माण प्राय दो आमने सर्क के सटे होकर पीछे हटने से माना जाता है। हाब्स का सिद्धान्त भी इस विचारधारा का समर्थन प्रदान करता है परन्तु उलरिच तथा मार्गन (1937) के अनुसार सर्क अपने स्थान पर स्थिर होते है। चोटियो का पतला तथा नुकीला होना सर्क के पीछे हटने से नही वरन् अपक्षय (Weathering) की सामान्य प्रक्रिया द्वारा होता है। इस मत का अभी भी समर्थन प्राप्त नही है।

हार्न या गिरिशृंग (Horn)—जब किसी पहाडी के पार्श्वों पर कई सर्क बन जाते है तथा जब निरन्तर अपघर्षण द्वारा वे पीछे हटते जाते है तो उनके मिल जाने



चित्र 338—हार्न या गिरिशृंग (Horn)।

पर एक पिरामिड के आधार की चोटी का निर्माण हो जाता है। इस तरह की नुकीली चोटी को **हार्न या गिरिशृंग** कहते है। स्विटजरलैण्ड में आल्पस पर्वत पर स्थित **मैटर हार्न (Matter Horn)** इसका प्रमुख उदाहरण है। जब एक पहाड़ी के दोनो ओर सर्क विकसित होकर मिल जाते है तो एक गड्ढा बन जाता है। इस तरह टीले के आर-पार मार्ग खुल जाता है। इस तरह के मार्ग को **कॉल (Col)** या **हिमानी दर्रा** कहते हैं। आल्पस पर्वत मे हिमानी द्वारा निर्मित अनेक कॉल मिलते हैं।

नुनाटक (Nunatak)—विस्तृत हिमक्षेत्र या हिमनदी के बीच मे ऊँचे उठे टीले, जो कि चारो तरफ से हिम से घिरे होते है, नुनाटक कहे जाते हैं। नुनाटक, वास्तव मे, हिमक्षेत्र या हिमनद की विशाल हिमराशि के बीच बिखरे हुए द्वीप के समान लगते है। इसी कारण से नुनाटक को **हिमान्तर द्वीप** भी कहते है। हिमनद द्वारा क्षैतिज अपरदन (Lateral erosion) के फलस्वरूप तथा तुषार-क्रिया (Frost action) तथा घर्षण द्वारा अपरदित होकर नुनाटक छोटा होता रहता है। अधिक अपरदन के बाद नुनाटक अवशेष शैल-मात्र ही रह जाता है। कभी-कभी घर्षण तथा अपरदन के कारण नुनाटक घिस कर पूर्णतया विलीन हो जाता है।

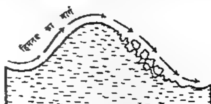
शृंग पुच्छ (Crag and Tail)—जब किसी हिम प्रभावित स्थल भाग मे बेसाल्ट या ज्वालामुखी प्लग (Volcanic plug) ऊपर गाठ के रूप मे निकला रहता है तो जिस ओर से हिमनद आता है उस ओर प्लग या बेसाल्ट के उठे भाग पर स्थित मुलायम मिट्टी का हिमनद द्वारा अपरदन हो जाता है तथा ढाल ऊबड-खाबड तथा खडा हो जाता है। ढाल से होकर हिमनद जब बेसाल्ट के उठे भाग या प्लग को पार करके दूसरी ओर उतरने लगता है तो प्लग के साथ सलग्न दूसरी ओर की मुलायम शैल



चित्र 339—शृंग-पुच्छ (Crag and Tail)।

का कम अपरदन होता है, क्योंकि हिमनद द्वारा यहाँ पर शैल को सरक्षण प्राप्त होता है। इस कारण दूसरी ओर का ढाल हल्का तथा मन्द हो जाता है। यह हल्का ढाल दूर तक विस्तृत रहता है तथा देखने मे बेसाल्ट की ग्रीवा या शृंग के पीछे सलग्न एक लम्बी पूँछ के समान लगता है। इस तरह बेसाल्ट या प्लग वाले ऊँचे भाग को शृंग तथा उसके पीछे वाले भाग को पुच्छ कहते है।

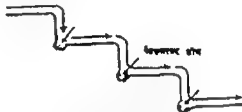
भेंड पीठ शैल या रॉश मुटोने (Roche Moutonnee)—हिमानीकृत क्षेत्रो में कुछ ऐसी हिम अपरदित शिलायें होती है जो कि दूर से देखने पर ऐसी प्रतीत होती है मानो कोमल ऊन वाली भेडें बैठी हो। सन् 1804 ई० मे **डी सासर महोदय** ने इस प्रकार के टीलो को रॉश मुटोने नाम प्रदान किया। हिन्दी मे इसे मेष शिला या भेड़ पीठ शैल कहते हैं। हिमनद जब आगे बढता है तो उसके मार्ग मे कभी-कभी कठोर चट्टानो के टीले पड जाते है। ये टीले हिमनद के मार्ग मे अवरोध उत्पन्न करने का प्रयास करते हैं। परन्तु हिमनद अपने अपघर्षण द्वारा इन टीलो को अपरदित करके अपना मार्ग बना लेता है। इन टीलो पर जिस ओर से हिमनद चढते है उस ओर हिमनद के अपघर्षण (Abrasion) द्वारा टीले का भाग घर्षित होकर चिकना तथा हल्के ढाल वाला हो जाता है। परिणामस्वरूप हल्के ढाल के सहारे हिमनद आसानी से टीले पर चढ जाता है। परन्तु दूसरी ओर उतरते समय हिमनद द्वारा अपरदन कम



चित्र 340—भेडपीठ शैल या रॉश मुटोने (Roche (Moutonnee)।

होता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि उतरते समय हिम तथा शिलाखण्ड का सम्पर्क शैल से बहुत ही कम रह जाता है। इस दूसरे ढाल पर उत्पाटन (Plucking) द्वारा खरोंचें पड़ जाती हैं तथा ढाल तीव्र किन्तु उबड़-खाबड़ हो जाता है। इस तरह से चट्टानी टीले का हिमनद के सामने वाला भाग मन्द ढाल वाला तथा दूसरा ढाल तीव्र होता है। इस तरह के टीले को **भेड़ पीठ शैल** कहते हैं।

हिमसोपान (Glacial Stairway)—घाटी हिमनद के अपरदन द्वारा उत्पन्न स्थलरूपों में सर्क के बाद सर्वाधिक चित्ताकर्षक किन्तु आश्चर्यचकित करने वाला स्थलरूप हिमसोपान (Glacial stairway) होता है। इनके वृहदाकार के कारण इन सोपानों को **दैत्याकार सोपान** (Giant stairways or cyclopean stairs) कहते हैं। देखने में ये सोपान इस तरह लगते हैं जैसे कि दैत्यों द्वारा प्रयोग की जाने वाली ये सीढ़ियाँ हैं। इसी कारण से इन्हें **दैत्याकार सोपान** कहते हैं। प्रत्येक सोपान की लम्बाई कई मीटर से कई किलोमीटर तक होती है। सोपान एक दूसरे से लम्बवत् भिलफ द्वारा अलग होता है। इन सोपानों को अलग करने वाले भिलफ की ऊँचाई 100 से 1000 फीट तक होती है। हिम-सोपानों की उत्पत्ति कई रूपों में होती है। जब हिमनद के मार्ग में भ्रंश (Faults) के कारण (मुख्य रूप से सोपानाकार भ्रंश Step Faults) कई कगार (Scarps) बन जाते हैं तो इनसे होकर उतरता हुआ हिमनद सोपानों का निर्माण अपघर्षण (Abrasion) तथा उत्पाटन (plucking) द्वारा करता है। उत्पाटन की क्रिया कगार के पद (Foot) या आधार (Base) के पास होती है जिस कारण वहाँ पर लम्बवत् भिलफ बन जाते हैं। हिम-सोपानों का निर्माण हिमनद के मार्ग में स्थित शैलों की संरचना तथा संगठन में भिन्नता के कारण भी होता है। यह स्मरणीय है कि हिमनद शैलों पर **वरणात्मक अपरदन** (Selective erosion—कठोर शैल की अपेक्षा कोमल शैल का अधिक तथा शीघ्र अपरदन होता है।) करता है। अतः यदि हिमनद के मार्ग में विभिन्न अवरोध वाली शैल होती है तो कोमल एवं संधियों वाली शैल **उत्पाटन** (Plucking) की क्रिया द्वारा शीघ्र कट जाती है। इस कारण हिमनद के मार्ग में ढाल प्रवणता (Slope gradient) में विभिन्नता हो जाती है। धीरे-धीरे अपरदन द्वारा कई सोपानों का निर्माण हो जाता है। हिम-सोपानों में भिलफ के पास सिरे गहरे होते हैं। हिम के पिघल जाने पर इन गर्तों में जल एकत्र हो जाता है तथा छोटी-छोटी झीलों का निर्माण हो जाता है। इन झीलों को **पैटरनास्टर झीलें** (Paternoster lakes) कहते हैं। सोपानों के साथ ये झीलें भी सीढ़ीनुमा होती हैं तथा देखने में ऐसा लगता है कि ये झीलें किसी माला में पिरोई गई हैं।



चित्र 341—हिम-सोपान (Glacial stairway) तथा पैटरनास्टर झील।

फियोर्ड (Fiords)

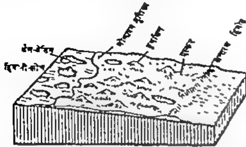
उच्च अक्षांशों में जलमग्न हिमानीकृत घाटियों को **फियोर्ड** कहा जाता है। फियोर्ड एक प्रकार का तट तथा किनारा होता है। फियोर्ड दोनों गोलार्द्धों में मिलते हैं परन्तु ये मुख्य रूप से न्यूजीलैण्ड, चिली, अलास्का, ब्रिटिश कोलम्बिया, लेब्राडोर, ग्रीनलैण्ड, नार्वे आदि में अधिकता से मिलते हैं। फियोर्ड गहरे जल के सागरीय भाग होते हैं जिनकी दीवालें खड़े ढाल वाली होती हैं तथा इनमें अनेक सहायक लटकती घाटियाँ मिलती हैं। फियोर्ड किनारे के पास (स्थल की ओर) गहरा होता है तथा सागर की ओर कुछ दूर जाने पर उथला हो जाता है। इसके बाद सागर पुनः गहरा होने लगता है। इस तरह फियोर्ड तथा सागर के मध्य एक उथला भाग होता है जिसे **फियोर्ड का चौखटा** (Threshold) कहते हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार यह चौखटा वास्तव में जलमग्न अन्तिम हिमोढ़ का ही रूप होता है। यदि किसी कारण से सागर-तल इतना नीचा हो जाय कि फियोर्ड का चौखटा सागर-तल से ऊपर आ जाय तो फियोर्ड का सम्पर्क सागर से समाप्त हो जायगा तथा फियोर्ड एक मात्र जलपूर्ण बेसिन के रूप में ही रह जायगी जिसे **फियोर्ड झील** या **पीडमाण्ट झील** कहा जा सकता है। फियोर्ड के निर्माण के विषय में कई परस्पर विरोधी मतों का प्रतिपादन किया गया है। इस विषय में दो परस्पर मतों का उल्लेख किया जा रहा है। प्रथम मत के समर्थकों का कहना है कि हिमनद द्वारा घाटियों का निर्माण

सागर-तल के ऊपर हुआ। तदन्तर इन हिमानीकृत घाटियों का जलमज्जन हो गया जिस कारण फियोर्ड तटों का निर्माण हुआ। द्वितीय मत के अनुसार फियोर्ड का निर्माण सागर-तल से हिमनदियों द्वारा अपरदन के कारण हुआ माना गया है। हिमयुग के समय सागर-तल अत्यन्त नीचा हो गया था। हिमनदों ने पूर्व स्थित जलघाटियों को अपरदन द्वारा अधिक गहरा कर दिया। हिमयुग के बाद सागर-तल के ऊपर उठने के कारण हिमनदों द्वारा निर्मित घाटियों में जल भर जाने से फियोर्ड का निर्माण हो गया। चूंकि ये घाटियाँ पहले से ही (हिम-अपरदन द्वारा) गहरी थीं अतः सागर-तल के ऊपर उठने पर जल से भर जाने पर और अधिक गहरी हो गईं। इन दो मतों के विपरीत विद्वानों का तृतीय वर्ग फियोर्ड के **विवर्तनिक उत्पत्ति** (Tectonic origin) में विश्वास करता है। इस वर्ग के विद्वानों के अनुसार तटीय भाग में भ्रंशन (Faulting) के कारण ग्राबेन (Graben) के जलमग्न हो जाने के कारण फियोर्ड का निर्माण हुआ है। यद्यपि कुछ फियोर्ड इस तरह निर्मित हो सकते हैं परन्तु इसे फियोर्ड के निर्माण के सामान्य सिद्धान्त के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है। इतना तो प्रायः सभी विद्वान (कुछ को छोड़ कर) मानते हैं कि फियोर्ड का निर्माण हिमनद द्वारा हुआ है तथा होता है।

हिमनद का परिवहन तथा निक्षेपात्मक कार्य
(Transportational and Depositional Work of Glaciers)

हिमनद भी, अपरदन के अन्य कारकों (नदी, पवन, *सागरीय तरंग आदि) के समान अपरदन द्वारा प्राप्त* मलवा का परिवहन विभिन्न रूपों में करता है। जल-सरिता तथा हिमनद द्वारा पदार्थों के परिवहन में कुछ विभिन्नतायें भी होती हैं। उदाहरण के लिए जल-सरिता में विभिन्न आकार तथा भार वाले पदार्थ विभिन्न भागों में होकर चलते हैं। जैसे, महीन तथा बारीक कण घोल के रूप में, औसत दर्जे के पदार्थ नदी के जल के साथ लटक कर (By suspension) तथा बड़े बड़े टुकड़े नदी की तली में लुढ़क कर चलते हैं। इसके विपरीत हिमनद में सभी प्रकार के पदार्थ हिमनद के हिम के साथ आगे बढ़ते हुए चलते हैं। जल-सरिता की अपेक्षा हिमनद द्वारा अधिक भार वाले टुकड़े ढोये जाते हैं। कभी-कभी तो कई टन के टुकड़े लुढ़क कर हिमनद के *साथ चलते हैं।* हिमनद द्वारा परिवहन किये जाने वाले पदार्थों में शिलाखण्ड, कंकड़ पत्थर, रेत-कण, मिट्टी आदि सम्मिलित किये जाते हैं। इन पदार्थों को सम्मिलित रूप से हिमोढ (Moraines) कहते हैं। इनका कुछ भाग हिमनद के पार्श्व भागों से होकर, कुछ उसकी तली से होकर तथा कुछ उसके अग्र-भाग से होकर स्थानान्तरित होता रहता है। हिमनद के पार्श्वों के सहारे हिमोढ प्रायः पंक्तिबद्ध रूप में चलता है। आगे बढ़ता हुआ हिमनद अपने अग्रभाग (Snout) द्वारा कुछ पदार्थों को ठेल कर आगे बढ़ाता है। हिमनद *की सतह के सहारे भी कई छोटे-बड़े टुकड़े (शिलाखण्ड)* आगे चलते हैं। दिन के समय छोटे टुकड़े सूर्य की गर्मी के कारण तप जाते हैं जिस कारण उन शिलाखंडों के नीचे हिम भी तप्त होकर पिघल जाती है। परिणाम-स्वरूप शिलाखंड धीरे-धीरे हिम में धँसकते जाते हैं। इस क्रिया के कारण हिमनद की सतह पर गड्ढे बन जाते हैं। इन गड्ढों में दिन के समय हिम के पिघलने से प्राप्त जल भर जाता है। इस तरह से हिमनद की सतह पर बने गड्ढों को **'धूलि-कूप'** (Dustwell) कहते हैं। रात्रि के समय इन गड्ढों का जल पुनः हिम में परिवर्तित हो जाता है। इस तरह आयतन में विस्तार के कारण गड्ढों में दरार हो जाती है। परिणामस्वरूप शिलाखंड निरन्तर नीचे धँसते जाते हैं तथा गड्ढों की गहराई बढ़ जाती है। हिमनद की सतह पर बड़े-बड़े शिलाखंड भी होते हैं। दिन में सूर्य-ताप के कारण इन शिलाखंडों के आस-पास का हिम पिघल जाता है परन्तु उसके नीचे का हिम इसलिये नहीं पिघल पाता है कि उनके ऊपर बड़े शिलाखंड हिमनद की ऊपरी सतह पर हिम के ऊपर टंगे रहते हैं। इस प्रकार से टंगे हुए शिलाखंडों को **हिमनदीय चबूतरे** (Glacial tables) कहते हैं। यह स्मरणीय है कि इनकी स्थितियाँ स्थायी नहीं होती है, क्योंकि आस-*पास के हिम के पिघल जाने पर ये शिलाखंड लुढ़क जाते* हैं। हिमनद द्वारा ढोये जाने वाले पदार्थ विभिन्न स्रोतों से प्राप्त होते हैं। महाद्वीपीय हिमनद अपने पदार्थों की प्राप्ति उन स्थानों से करता है जिस पर से होकर वह आगे बढ़ता है। घाटी हिमनद के पदार्थ दो स्रोतों से प्राप्त होते हैं। हिमनद की घाटी से पार्श्व *(Sides) तथा* तली के अपरदन से तथा हिमनद के ऊपर के अपरदन से तथा हिमनद के ऊपर स्थित ढालों से। इसके अलावा ढालों से **हिम-स्खलन** (Snow slides) एवालांस, (Avalanche) तथा जल-सरिताओं द्वारा भी हिमनद में पदार्थ लाये जाते हैं। जब हिम पिघल जाता है तो अधिकांश पदार्थ वहीं पर छूट जाते हैं। इसको निक्षेपण कहते

है । हिमनद द्वारा बारीक तथा मोटे कणों वाले पदार्थों का निक्षेप अलग-अलग न होकर मिश्रित रूप में होता है । यही कारण है कि हिमनद द्वारा जमा किये गये



चित्र 342—हिमानी द्वारा निक्षेप-जनित स्थलरूप ।

पदार्थों में स्तरीकरण (Stratifcation) नहीं होता है अर्थात् स्तर (Beds) या परतें (Strata) नहीं मिलती हैं। हिमनद द्वारा जमा किये पदार्थों में **हिमड्रिफ्ट** (Glacial drift) तथा उनसे बने हिमोढ़ (Moraines) अधिक महत्त्वपूर्ण हैं । हिमानी द्वारा जमा किये गये समस्त तलछट को सम्मिलित रूप से **टिल** (Till) कहते हैं । टिल में कणों के आकार के अनुसार पदार्थों में वर्गीकरण (Assortment) नहीं होता है । अतः छोटे-बड़े सभी प्रकार के कण एक साथ मिश्रित रूप में निक्षेपित होते हैं । हिम ड्रिफ्ट वास्तव में हिमनद द्वारा निक्षेपित पदार्थ होता है । टिल ड्रिफ्ट का एक रूप होता है ।

निक्षेप-जनित स्थलाकृति
(Topography due to Deposition)

हिमोढ़ (Moraines)—हिमनद अपने साथ बारीक कणों वाले पदार्थों से लेकर बड़े-बड़े शिलाखण्डों का परिवहन करता है । इन पदार्थों को जब हिमनद बहाकर नहीं ले जा पाता है तो उनका निक्षेप हो जाता है । हिमनद द्वारा पदार्थों के निक्षेप को हिमोढ़ कहते हैं जिसमें टिल की मात्रा सर्वाधिक होती है । हिमोढ़ का निक्षेप हिमनद के विभिन्न भागों में होता है । हिमोढ़ वास्तव में टिल (Till) के जमाव के स्थलरूप होते हैं, जो कि लगभग 100 फीट या उससे भी ऊँचे होते हैं । हिमोढ़ लम्बे-लम्बे कटक के रूप में निक्षेपित होते हैं । हिमोढ़ का वर्गीकरण उनके निक्षेप के स्थान के आधार पर चार प्रकारों में किया जाता है —1. **अन्तिम या अन्तस्थ हिमोढ़**, 2. **पार्श्विक हिमोढ़**, 3. **मध्यवर्ती हिमोढ़** तथा 4. **तलीय या तलस्थ हिमोढ़** ।

(i) अन्तिम या अन्तस्थ हिमोढ़ (Terminal Moraines)—जब हिमनद का अन्तिम भाग पिघल जाता है तो हिमनद का आगे बढ़ना रुक जाता है । यदि हिमनद का आगे बढ़ना तथा हिम का पिघलना समान गति से हो तो हिमनद की गति रुक जाती है । परिणामस्वरूप हिमनद के साथ लाये गये पदार्थ उसके अग्रभाग में एकत्रित हो जाते हैं जिस कारण एक घोड़े की नाल या अर्द्धचन्द्राकार कटक का निर्माण हो जाता है जिसका हिमनद की घाटी की ओर का ढाल अवतल होता है । इस तरह हिमनद के अग्रभाग पर टिल के निक्षेपण से बने स्थलरूप को अन्तिम हिमोढ़ या अन्तस्थ या अग्रान्तस्थ हिमोढ़ (Terminal moraines) कहते हैं । यदि हिमनद क्रमिक रूप से पीछे की ओर हटता जाता है तो एक के बाद एक अन्तस्थ हिमोढ़ का निर्माण होता जाता है । उत्तरी जर्मनी में प्लीस्टोसीन हिमयुग में हिमनद के नियमित रूप से निरन्तर पीछे हटते जाने से अनेक अन्तस्थ हिमोढ़ कटक (Ridges) के रूप में निर्मित हो गये थे, जो कि वर्तमान समय में मनोहारी दृश्य उपस्थित करते हैं । अन्तिम हिमोढ़ के पीछे जल के एकत्रित हो जाने से झीलों का निर्माण हो जाता है । जब कभी हिमोढ़ टूट जाते हैं तो अचानक बाढ़ का सामना करना पड़ता है । उपर्युक्त स्थिति के विपरीत जब हिमनद नियमित रूप से एक ही दिशा में पीछे नहीं हटता है वरन् कभी आगे बढ़ता है तो कभी पीछे हटता है तो अनियमित अन्तिम हिमोढ़ का निर्माण होता है । इस तरह से निर्मित अनियमित हिमोढ़ के समुदाय को स्टैडियल हिमोढ़ (Stadial moraines) भी कहते हैं । अनियमित अन्तिम हिमोढ़ वाले भागों में अनेक टीले तथा बेसिन बन जाती हैं । इस तरह के स्थलरूपों वाले भाग को नाब और बेसिन स्थलाकृति (Knob and Basin Topography) वाला प्रदेश कहते हैं । बेसिन में जल भर जाने से झीलें तथा दलदल बन जाते हैं । कभी-कभी हिमोढ़ वाले भागों में हिम के पिघलने के बाद निर्मित जल सरिताओं द्वारा अन्तिम हिमोढ़ का अपरदन हो जाता है जिससे वह आंशिक रूप से नष्ट हो जाता है ।

(ii) पार्श्विक हिमोढ़ (Lateral moraines) – हिमनद अधिकांश पदार्थों का परिवहन अपने पार्श्वों या किनारे के सहारे करता है । जब या तो हिमनद का हिम पिघल जाता है या हिमनद संकुचित होने के कारण

सागर-तल के ऊपर हुआ। तदन्तर इन हिमानीकृत घाटियों का जलमज्जन हो गया जिस कारण फियोर्ड तटों का निर्माण हुआ। द्वितीय मत के अनुसार फियोर्ड का निर्माण सागर-तल से हिमनदियों द्वारा अपरदन के कारण हुआ माना गया है। हिमयुग के समय सागर-तल अत्यन्त नीचा हो गया था। हिमनदों ने पूर्व स्थित जलघाटियों को अपरदन द्वारा अधिक गहरा कर दिया। हिमयुग के बाद सागर-तल के ऊपर उठने के कारण हिमनदों द्वारा निर्मित घाटियों मे जल भर जाने से फियोर्ड का निर्माण हो गया। चूंकि ये घाटियाँ पहले से ही (हिम-अपरदन द्वारा) गहरी थी, अत सागर-तल के ऊपर उठने पर जल से भर जाने पर और अधिक गहरी हो गई। इन दो मतों के विपरीत विद्वानो का तृतीय वर्ग फियोर्ड के विवर्तनिक उत्पत्ति (Tectonic origin) मे विश्वास करता है। इस वर्ग के विद्वानों के अनुसार तटीय भाग में भ्रंशन (Faulting) के कारण ग्रावेन (Graben) के जलमग्न हो जाने के कारण फियोर्ड का निर्माण हुआ है। यद्यपि कुछ फियोर्ड इस तरह निर्मित हो सकते हैं परन्तु इसे फियोर्ड के निर्माण के सामान्य सिद्धान्त के रूप मे स्वीकार नही किया जा सकता है। इतना तो प्राय सभी विद्वान (कुछ को छोड कर) मानते है कि फियोर्ड का निर्माण हिमनद द्वारा हुआ है तथा होता है।

हिमनद का परिवहन तथा निक्षेपात्मक कार्य (Transportational and Depositional Work of Glaciers)

हिमनद भी, अपरदन के अन्य कारकों (नदी, पवन, सागरीय तरंग आदि) के समान अपरदन द्वारा प्राप्त मलवा का परिवहन विभिन्न रूपों मे करता है। जल-सरिता तथा हिमनद द्वारा पदार्थों के परिवहन मे कुछ विभिन्नतायें भी होती हैं। उदाहरण के लिए जल-सरिता मे विभिन्न आकार तथा भार वाले पदार्थ विभिन्न भागों मे होकर चलते है। जैसे, महीन तथा बारीक कण घोल के रूप मे, औसत दर्जे के पदार्थ नदी के जल के साथ लटक कर (By suspension) तथा बडे बडे टुकडे नदी की तली मे लुढक कर चलते है। इसके विपरीत हिमनद मे सभी प्रकार के पदार्थ हिमनद के हिम के साथ आगे बढते हुए चलते हैं। जल-सरिता की अपेक्षा हिमनद द्वारा अधिक भार वाले टुकडे ढोये जाते हैं। कभी-कभी तो कई टन के टुकडे लुढक कर हिमनद के साथ चलते हैं। हिमनद द्वारा परिवहन किये जाने वाले पदार्थों मे शिलाखण्ड, कंकड पत्थर, रेत-कण, मिट्टी आदि सम्मिलित किये जाते हैं। इन पदार्थों को सम्मिलित रूप से हिमोढ (Moraines) कहते हैं। इनका कुछ भाग हिमनद के पार्श्व भागों से होकर, कुछ उसकी तली से होकर तथा कुछ उसके अग्र-भाग से होकर स्थानान्तरित होता रहता है। हिमनद के पार्श्वों के सहारे हिमोढ प्राय पंक्तिबद्ध रूप मे चलता है। आगे बढता हुआ हिमनद अपने अग्रभाग (Snout) द्वारा कुछ पदार्थों को ठेल कर आगे बढाता है। हिमनद की सतह के सहारे भी कई छोटे-बडे टुकडे (शिलाखण्ड) आगे चलते है। दिन के समय छोटे टुकडे सूर्य की गर्मी के कारण तप जाते हैं जिस कारण उन शिलाखडो के नीचे हिम भी तप्त होकर पिघल जाती है। परिणाम-स्वरूप शिलाखड धीरे-धीरे हिम मे धँसकते जाते हैं। इस क्रिया के कारण हिमनद की सतह पर गड्ढे बन जाते हैं। इन गड्ढो मे दिन के समय हिम के पिघलने से प्राप्त जल भर जाता है। इस तरह से हिमनद की सतह पर बने गड्ढो को 'धूलि-कूप' (Dustwell) कहते है। रात्रि के समय इन गड्ढो का जल पुन' हिम मे परिवर्तित हो जाता है। इस तरह आयतन मे विस्तार के कारण गड्ढो मे दरार हो जाती है। परिणामस्वरूप शिलाखड निरन्तर नीचे धँसते जाते है तथा गड्ढो की गहराई बढ जाती है। हिमनद की सतह पर बडे-बडे शिलाखड भी होते है। दिन मे सूर्य-ताप के कारण इन शिलाखडो के आस-पास का हिम पिघल जाता है परन्तु उसके नीचे का हिम इसलिये नही पिघल पाता है कि उनके ऊपर बडे शिलाखड हिमनद की ऊपरी सतह पर हिम के ऊपर टगे रहते हैं। इस प्रकार से टगे हुए शिलाखडो को **हिमनदीय चबूतरे** (Glacial tables) कहते हैं। यह स्मरणीय है कि इनकी स्थितियाँ स्थायी नही होती है, क्योकि आस-पास के हिम के पिघल जाने पर ये शिलाखड लुढक जाते है। हिमनद द्वारा ढोये जाने वाले पदार्थ विभिन्न स्रोतो से प्राप्त होते हैं। महाद्वीपीय हिमनद अपने पदार्थों की प्राप्ति उन स्थानो से करता है जिन पर से होकर वह आगे बढता है। घाटी हिमनद के पदार्थ दो स्रोतो से प्राप्त होते हैं। हिमनद की घाटी से पार्श्व (Sides) तथा तली के अपरदन से तथा हिमनद के ऊपर के अपरदन से तथा हिमनद के ऊपर स्थित ढालो से। इसके अलावा ढालो से **हिम-स्खलन** (Snow slides) एवालांश, (Avalanche) तथा जल-सरिताओं द्वारा भी हिमनद मे पदार्थ लाये जाते हैं। जब हिम पिघल जाता है तो अधिकांश पदार्थ वहीं पर छूट जाते हैं। इसको निक्षेपण कहते

है । हिमनद द्वारा बारीक तथा मोटे कणो वाले पदार्थों का निक्षेप *अलग-अलग न होकर मिश्रित रूप मे* होता है । यही कारण है कि हिमनद द्वारा जमा किये गये



चित्र 342—हिमानी द्वारा निक्षेप-जनित स्थलरूप ।

पदार्थों मे स्तरीकरण (Stratifcation) नही होता है अर्थात् स्तर (Beds) या परते (Strata) नही मिलती हैं । हिमनद द्वारा जमा किये पदार्थों मे **हिमड्रिफ्ट** (Glacial drift) तथा उससे बने हिमोढ (Moraines) *अधिक महत्त्वपूर्ण है । हिमानी द्वारा जमा किये गये* **समस्त तलछट को सम्मिलित रूप से टिल (Till)** कहते हैं । टिल मे कणो के आकार के अनुसार पदार्थों मे वर्गीकरण (Assortment) नही होता है । अत छोटे-बडे सभी प्रकार के कण एक साथ मिश्रित रूप मे निक्षेपित होते हैं । हिम ड्रिफ्ट वास्तव मे हिमनद द्वारा निक्षेपित पदार्थ होता है । टिल ड्रिफ्ट का एक रूप होता है ।

निक्षेप-जनित स्थलाकृति
(Topography due to Deposition)

हिमोढ़ (Moraines)—हिमनद अपने साथ बारीक कणो वाले पदार्थों से लेकर बडे-बडे शिलाखण्डो का परिवहन करता है । इन पदार्थों को जब हिमनद बहाकर नही ले जा पाता है तो उनका निक्षेप हो जाता है । हिमनद द्वारा पदार्थों के निक्षेप को हिमोढ कहते है जिसमे टिल की मात्रा सर्वाधिक होती है । हिमोढ का निक्षेप हिमनद के विभिन्न भागो मे होता है । हिमोढ वास्तव म टिल (Till) के जमाव के स्थलरूप होते हैं, जो कि लगभग 100 फीट या उसमे भी ऊँचे होते हैं । हिमोढ लम्बे-लम्बे कटक के रूप म निक्षेपित होते हैं । हिमोढ़ का वर्गीकरण उनके निक्षेप के स्थल के आधार पर चार प्रकारो मे किया जाता है—**1. अन्तिम या अन्तस्थ हिमोढ़, 2. पार्श्विक हिमोढ़, 3** मध्यवर्ती हिमोढ तथा **4.** तलीय या तलस्थ हिमोढ ।

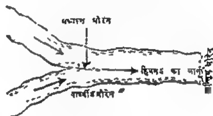
(i) अन्तिम या अन्तस्थ हिमोढ़ (Terminal Moraines)—*जब हिमनद का अन्तिम भाग पिघल जाता* है तो हिमनद का आगे बढना रुक जाता है । यदि हिमनद का आगे बढना तथा हिम का पिघलना समान गति से हो तो हिमनद की गति रुक जाती है । परिणामस्वरूप हिमनद के साथ लाये गये पदार्थ उसके अग्रभाग मे एकत्रित हो जाते हैं जिस कारण एक घोडे की नाल या अर्द्धचन्द्राकार कटक का निर्माण हो जाता है जिसका हिमनद की घाटी की ओर का ढाल अवतल होता है । *इस तरह हिमनद के अग्रभाग पर* **टिल के** *निक्षेपण से बने स्थलरूप को अन्तिम हिमोढ या अन्तस्थ या अग्रान्तस्थ* **हिमोढ (Terminal moraines)** कहते है । यदि हिमनद क्रमिक रूप से पीछे की ओर हटता जाता है तो एक के बाद एक अन्तस्थ हिमोढ का निर्माण होता जाता है । उत्तरी जर्मनी मे प्लीस्टोसीन हिमयुग मे हिमनद के नियमित रूप से निरन्तर पीछे हटते जाने से अनेक अन्तस्थ हिमोढ कटक (Ridges) के रूप मे निर्मित हो *गये थे, जो कि वर्तमान समय मे मनोहारी दृश्य उप*स्थित करते है । अन्तिम हिमोढ के पीछे जल के एकत्रित हो जाने से झीलो का निर्माण हो जाता है । जब कभी हिमोढ टूट जाते हैं तो अचानक बाढ का सामना करना पडता है । उपर्युक्त स्थिति के विपरीत जब हिमनद नियमित रूप से एक ही दिशा मे पीछे नही हटता है, वरन् कभी आगे बढता है तो कभी पीछे हटता है तो अनियमित अन्तिम हिमोढ का निर्माण होता है । *इस तरह से निर्मित अनियमित हिमोढ के समुदाय को* **स्टैडियल हिमोढ़** *(Stadial moraines) भी कहते हैं ।* अनियमित अन्तिम हिमोढ वाले भागो मे अनेक टीले तथा बेसिन बन जाती हैं । इस तरह के स्थलरूपो वाले भाग को "**नाब और बेसिन स्थलाकृति**" (Knob and Basin Topography) वाले प्रदेश कहते हैं । बेसिन मे जल भर जाने से झीलें तथा दलदल बन जाते है । कभी-कभी हिमोढ वाले भागो मे हिम के पिघलने के बाद निर्मित जल सरिताओ द्वारा अन्तिम हिमोढ का अपरदन हो जाता है, जिससे वह आशिक रूप म नष्ट हो जाता है ।

(ii) पार्श्विक हिमोढ़ (Lateral moraines)—हिमनद अधिकाश पदार्थों का परिवहन अपने पार्श्वों या किनारे के सहारे करता है । जब या तो हिमनद का हिम पिघल जाता है या हिमनद सकुचित होने के कारण

अपने किनारो से हट जाता है तो टिल किनारे के सहारे छूट जाती है। इस प्रकार हिमनद के किनारों पर टिल का निक्षेप लम्बे किन्तु पतले कटक (Ridge) के रूप मे हो जाता है। इन्हें पार्श्विक हिमोढ कहते है। पार्श्विक हिमोढ सकरे, लम्बे तथा खडे ढाल वाले कटक होते है जो कि हिमनद की घाटी की दीवाल के समानान्तर होते हैं। घाटी की ओर का ढाल एकसम तथा निष्कोण (Smooth) होता है। इनकी ऊँचाई सैकडो मीटर तक होती है। अलास्का मे पार्श्विक हिमोढ की ऊँचाई 300 मीटर तक मिलती है। जब पाविश्क हिमोढ अन्तस्थ हिमोढ से मिल जाते है तो वहाँ घोडे की नाल के समान कटक (Ridgs) का निर्माण हो जाता है।

(iii) **मध्यस्थ हिमोढ** (Medial Moraines)—जब दो हिमनद मिलते है तो उनके भीतरी पार्श्विक हिमोढ परस्पर मिल जाते है। इस तरह से निर्मित हिमोढ को मध्यवर्ती या मध्यस्थ हिमोढ कहते है। मध्यस्थ हिमोढ की पहचान करना प्राय कठिन होता है। परन्तु जहाँ पर इनका पूर्णतया विकास हो जाता है, वहाँ पर घाटी के मध्य मे उठे हुए कटक के रूप मे ये सरलता से पहचान लिये जाते है।

(iv) **तलीय या तलस्थ हिमोढ** (Ground Moraines)—हिमनद की तली मे होकर भी मलवा आगे चलता है। यह मलवा तली के सहारे खिसकता हुआ चलता है। परिणामस्वरूप तली का अपघर्षण भी करता है जिससे और अधिक पदार्थ प्राप्त होते रहते है। जब इनकी मात्रा इतनी अधिक हो जाती है कि हिमनद उनका परिवहन नही कर सकता तो अधिकाश पदार्थ हिमनद की तली के साथ चलने वाला मलवा यथास्थान निक्षेपित हो जाता है। वास्तव मे हिमनद अवसान के बाद ही उसकी तली का निक्षेप ढेर के रूप मे दृष्टिगोचर होता है। हिमनद की तली या आधार पर एकत्रित हुए टिल को "**तलीय या तलस्थ हिमोढ़**" कहते है। तलस्थ हिमोढ मे रेत के महीन कणो से लेकर शिलाखण्डो के बडे-बडे टुकडे भी रहते हैं। इन शिलाखण्डो के हिमनद की सतह से तली तक पहुँचने की प्रक्रिया का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। तलस्थ हिमोढ की सरचना बिना किसी नियम तथा पद्धति के होती है। कणो मे वर्गीकरण (Assortment) नाममात्र को भी नही होता है। छोटे-बडे कण, सभी एक साथ मिश्रित रूप मे मिलते है। तलस्थ हिमोढ का तल समान तथा ढाल सामान्य होता है, परन्तु स्थान-स्थान पर इसमे छोटे-छोटे ढेर टीले के रूप (Knoll) मे बन जाते हैं जो कि छोटी-छोटी बेसिन द्वारा एक दूसरे से अलग किये जाते है। इस तरह की स्थलाकृति को **नाव तथा बेसिन स्थलाकृति** कहते है। सरचना की दृष्टि से तलस्थ तथा पार्श्विक हिमोढ मे अन्तर नही होता है, परन्तु तलस्थ हिमोढ पार्श्विक हिमोढ की अपेक्षा पतले (कम मोटे) होते है तथा उनकी सतह पर उच्चावच कम ऊँचे होते हैं। तलस्थ हिमोढ़ वाले क्षेत्रो मे बेसिन मे जल के सचयन के कारण छोटी-छोटी असख्य झीले बन जाती है।



चित्र 343—मोरेन के विभिन्न प्रकार।

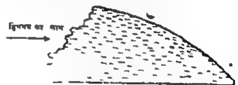
ड्रमलिन (Drumlins)—हिमनद के निक्षेप द्वारा स्थलरूपो मे ड्रमलिन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होता है। ड्रमलिन, गोलाश्म मृत्तिका (Boulder clay) द्वारा निर्मित एक प्रकार के ढेर या टीले होते है, इनका आकार उल्टी नौका (Inverted Boat) या कटे हुए उलटे अण्डे के समान होता है। ड्रमलिन का ढाल असमान होता है। हिमनद के मुख के ओर का भाग खडे ढाल वाला तथा खुरदरा होता है परन्तु दूसरा पार्श्व मन्द ढाल वाला होता है। ड्रमलिन की अक्षरेखा सामान्य रूप मे हिमनद की दिशा के समानान्तर होती है। आकार तथा विस्तार मे ड्रमलिन मे पर्याति अन्तर होता है। इसकी ऊँचाई 6.6 से 40 मीटर तक तथा कभी-कभी 66.6 से 100 मीटर तक होती है। लम्बाई मे ड्रमलिन 8 किलोमीटर से 3.2 किलोमीटर तक होते है। ड्रमलिन की सरचना मुख्य रूप से गोलाश्म मृत्तिका मे हुई रहती है। इनके मध्य मे छोटे-छोटे गड्ढे तथा बेसिन पाये जाते है। ये निचले भाग प्राय दलदल के रूप मे होते है। ड्रमलिन मुख्य रूप से समूह मे मिलते हैं। सैकडो की सख्या मे पाया जाना सामान्य बात है। इसी कारण से ऐसी स्थलाकृति को **अण्डे की टोकरी की स्थलाकृति** (Basket of egg topography) कहते है। उत्तरी आयरलैण्ड तथा सयुक्त राज्य अमेरिका के विसकान्सिन तथा पश्चिमी एव मध्य न्यूयार्क और फिनलैंड मे इस तरह की स्थलाकृति देखने को मिलती है। दक्षिणी-पूर्वी विसकान्सिन मे ड्रम-

लिन तो 10,000 की संख्या में मिलते हैं। दक्षिणी मिशिगन में भी ड्रमलिन समूह में मिलते हैं। ड्रमलिन वाले क्षेत्र का भौगोलिक महत्त्व भी अधिक होता है। यहाँ पर प्रवाह-प्रणाली अनियमित तथा अनिश्चित होती है। ड्रमलिन के मध्य में अनेक दलदल तथा जलक्षेत्र मिलते हैं। ड्रमलिन के ढाल तथा ऊपरी भाग में मानव बस्तियों का विकास होता है। कभी-कभी ड्रमलिन इतने अधिक विस्तृत होते हैं कि उनके ऊपर सड़कों आदि का भी निर्माण कर लिया जाता है। यहाँ पर ड्रमलिन तथा **भेड़ पीठ शैल** (Roche moutonnees) में अन्तर स्थापित कर लेना आवश्यक है। निर्माण की प्रक्रिया के अनुसार दोनों स्थलरूपों में पर्याप्त अन्तर होता है। ड्रमलिन का निर्माण हिमनद द्वारा मलवा के निक्षेप तथा उसमें आंशिक परिवर्तन के कारण होता है तथा इसके निर्माण में भाग लेने वाले पदार्थ असंगठित होते हैं। इसके विपरीत **भेड़ पीठ शैल** (रॉश मुटोने) का निर्माण कठोर तथा स्थायी संरचना वाली शैल के हिमनद द्वारा अपरदन के कारण होता है। आकार की दृष्टि से ड्रमलिन का हिमनद के मुख की ओर का भाग खड़े ढाल वाला तथा खुरदरा होता है, परन्तु दूसरा ढाल अर्थात् जिस ढाल से होकर हिमनद उतरता है, वह मन्द तथा सम होता है। इसके विपरीत भेड पीठ शैल का हिमनद के सामने का ढाल मन्द तथा सम एवं विपरीत ढाल खड़ा तथा खुरदरा होता है।

ड्रमलिन के निर्माण की दृष्टि से विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। अधिकांश विद्वान ड्रमलिन को निक्षेप जनित स्थल-रूप ही बताते हैं परन्तु कुछ विद्वान इसे जल द्वारा अपरदन के कारण निर्मित स्थलरूप मानते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि ड्रमलिन का निर्माण हिम के नीचे विशेष दशाओं में होता है तथा कुछ विद्वानों के अनुसार इसका निर्माण प्राचीन ड्रिफ्ट के अपरदन द्वारा होता है। यहाँ पर विभिन्न मतों का संक्षिप्त उल्लेख करना आवश्यक है—

(i) कुछ विद्वानों का कथन है कि ड्रमलिन का निर्माण अन्तस्थ या अग्रान्तस्थ हिमोढ में हिमनद द्वारा परिवर्तन के कारण होता है। जब हिमनद पीछे हटने लगता है तो उसके अग्र भाग में अन्तस्थ हिमोढ का निर्माण हो जाता है। हिमनद के धीरे-धीरे पीछे हटने से कई क्रमिक अन्तस्थ हिमोढों का निर्माण हो जाता है। जब किसी भी कारण से हिमनद पुन आगे बढ़ने लगता है तो वह पूर्व निर्मित हिमोढ के ऊपर से होकर गुजरता है। इस क्रिया के दौरान हिमनद हिमोढ के सम्मुख वाले भाग के पदार्थों को जपरदित करके उन्हें विमुखी ढाल (Leeward slope) पर बिछाने लगता है। इस कारण हिमोढ का हिमनद के सामने वाला ढाल खड़ा हो जाता है तथा हिमनद के अपघर्षण के कारण उसमें खरोंचें पड़ जाती हैं। इसके विपरीत विमुखी ढाल पर मलवा के निक्षेप के कारण हल्की तथा समान सतह का आविर्भाव होता है। इस प्रकार ड्रमलिन का सम्मुख वाला पार्श्व तीव्र ढाल तथा विमुखी पार्श्व सामान्य ढाल वाला होता है। ड्रमलिन का यह आकार, रॉश मुटोने से सर्वथा विपरीत होता है।

(ii) अधिकांश विद्वान यह मानते हैं कि ड्रमलिन का निर्माण हिम के नीचे विशेष परिस्थितियों में होता है। इस मत के समर्थकों का कहना है कि हिमनद के साथ जब अधिक मलवा हो जाता है तो वह हिमनद के अग्र-भाग (Front) तक पतली हिम चादर होने के कारण नहीं पहुँच पाता है बल्कि विभिन्न कारणों से बीच में ही हिम के नीचे बैठ जाता है, जिससे छोटे-छोटे ढेर का निर्माण होने लगता है। मलवा के ये निक्षेप-जनित ढेर बाद में हिमनद की गति में व्यवधान (Obstacles) उत्पन्न करने लगते हैं, जिस कारण उनके पास और अधिक पदार्थों का संचय होने लगता है। हिम के नीचे मलवा के ढेर के रूप में जमा होने के कई कारण बताये जाते हैं। हिमनद की सतह में स्थान-स्थान पर दरारें



चित्र 344—ड्रमलिन (Drumlin)।

(Crevasses) पड़ जाती हैं। इन दरारों के कारण वहाँ की हिम के हट जाने से दबाव कम हो जाता है, जिस कारण हिमनद की गति मन्द हो जाती है और **टिल** (Till) का निक्षेप ढेर के रूप में हो जाता है। कभी कभी हिमनद की तली असमानता के कारण अवरोध होने में से भी मलवा का निक्षेप ड्रमलिन के रूप में हो जाता है।

(iii) कुछ विद्वानों के अनुसार ड्रमलिन का निर्माण जल अपरदन द्वारा होता है। इस मत के समर्थकों के अनुसार हिमानीकरण के समय गोलाश्म मृत्तिका (Boulder clay) का निर्माण बड़े पैमाने पर हो जाता है।

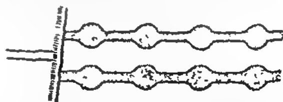
हिमयुग के अवसान के बाद सामान्य अपरदन (Normal erosion जल द्वारा) निक्षेपित गोलाश्म वाले भाग में परिवर्तन होने लगता है। जल गोलाश्म के टीलों को अपरदित करके मलवा को दूसरे ढाल पर जमा कर देता है, जिस कारण उसका समुख वाला ढाल खड़ा तथा विमुखी ढाल सामान्य होता है। यह मत वर्तमान समय में मान्य नहीं है क्योंकि अन्य स्थानों में, जहाँ पर मृत्तिका वाले भागों में सरिता-अपरदन हुआ है या हो रहा है, ड्रमलिन स्थलरूपों का सर्वथा अभाव है।

(iv) लेवरेट महोदय (Frank Leverett, 1915) के अनुसार ड्रमलिन का निर्माण हिमनदों द्वारा मलवा के निक्षेप से होता है। ड्रमलिन की संरचना विभिन्न प्रकार के कणों वाले मिश्रित टिल द्वारा होती है। इन्होंने हिमनद द्वारा प्रभावित शैल पहाड़ी (Shale hills) की तुलना ड्रमलिन से की है। वरसेस्टर महोदय (1948) ने लेवरेट के मतों का अनुमोदन करते हुए बताया है कि ड्रमलिन का निर्माण मलवा के निक्षेप द्वारा उस समय होता है जब कि एक गतिशील हिमनद, मलवा से युक्त गतिहीन हिम के ऊपर से गुजरता है। इस तरह बाधा होने के कारण मलवा का जमाव ड्रमलिन के रूप में हो जाता है।

हिमानी-जलोढ निक्षेप तथा स्थलरूप
(Glacio-Fluvial Deposits and Landscape)

घाटी हिमनद प्रवाहित होने के बाद जब ऐसे स्थल में पहुँच जाता है, जहाँ पर ताप इतना होता है कि हिम अपने रूप में नहीं रह सकता, तो हिमनद का अग्रभाग पिघलने लगता है। इस क्रिया को **हिमनद का अवसान या अब्लेशन** (Ablation) कहते हैं। हिम के पिघलने से प्राप्त जल हिम के अग्रभाग (Snout) से जलधारा के रूप में निकल पड़ता है। इनमें कुछ हिम भी हो सकता है। यह जलधारा अपने साथ हिमनद के मलवा को दूर तक परिवहन करती है तथा उसे यथास्थान जमा करती है। इस तरह से हिमनद तथा जल के सम्मिलित रूप से निक्षेपण की क्रिया को **हिमानी जलोढ** (Glacio-fluvial deposit) कहते हैं। इस तरह के निक्षेप द्वारा कई प्रकार के स्थलरूपों का निर्माण होता है, जिन्हें **"जल तथा हिमनद द्वारा बने स्थलरूप"** कहते हैं। हिमनद के अग्रभाग से निकलने वाली जलधारा मार्ग में पड़ने वाले सामान्य स्थलरूपों (हिमनद द्वारा निर्मित) में परिवर्तन भी करती है। हिमानी जलोढ-निक्षेप द्वारा बने स्थलरूपों में **एस्कर** (Eskers), केम (Kame), केम वेदिका (Kame terrace), हिमनद अपक्षेप (Outwash plain), केटेल (Kettle), तथा जलज गर्तिका (Kettle holes) अधिक महत्त्वपूर्ण है।

एस्कर (Esker)—हिमानी-जलोढ़-निक्षेप द्वारा निर्मित स्थलरूपों में एस्कर सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। हिम के पिघलने से प्राप्त जलधाराओं द्वारा मलवा के निक्षेपण में निर्मित एस्कर लम्बे, सकरे (कम चौड़े) तथा सर्पिलाकार (Sinous लहरदार) कटक (Ridges) होते हैं जिनके किनारे तीव्र ढाल वाले होते हैं। एस्कर की संरचना बजरी (Gravel), रेत (Sand) तथा कंकड़-पत्थर द्वारा होती है। एस्कर का निर्माण घाटी में पहाड़ों, दलदल, निचले भाग आदि सभी के ऊपर होता है अर्थात् एस्कर के निर्माण में उच्चावच की असमानता का प्रभाव नहीं होता है। इस तरह कहीं पर एस्कर ढाल के सहारे ऊँचे होते हैं तो कहीं पर नीचे उतरते हैं। एस्कर का विस्तार हिमनद तथा जलधारा कि दिशा के समानान्तर होता है। एस्कर प्राय लगातार अधिक लम्बाई में फैले होते हैं। परन्तु कभी-कभी इनका विस्तार अविच्छिन्न रूप में भी होता है। इनकी ऊँचाई 66 6 से 100 मीटर तक होती है तथा लम्बाई कई सौ मीटर से कई किलोमीटर तक होती है। कभी-कभी 32 किलोमीटर की लम्बाई वाले एस्कर भी देखने को मिलते हैं। अनेक स्थानों पर एस्कर यातायात की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं (स्वीडन तथा फिनलैण्ड में)। चूंकि एस्कर का विस्तार घाटी, दलदल, झील तथा ऊँची-नीची भूमि में एक कटक (Ridge) के रूप में होता है, अत.



चित्र 345—मालाकार एस्कर (Beaded Esker)।

इनके सहारे सड़कों तथा रेलों का निर्माण किया जाता है। वास्तव में एस्कर की स्थिति से मार्ग में बाँध तथा पुल बनाने की आवश्यकता नहीं होती है।

हिमानी द्वारा उत्पन्न अन्य स्थलरूपों के समान ही एस्कर का निर्माण भी सरल नहीं है। इसके निर्माण के विषय में भी कई परिकल्पनाओं (Hypotheses) का प्रतिपादन किया गया है—

1 प्राय ऐसा विश्वास किया जाता है कि हिमनद के पिघलने के कारण प्राप्त जल द्वारा हिमनद के अग्रभाग (Snout) से जलधारा का विकास होता है। यह जलधारा अपने साथ मलवा का परिवहन करती हुई ऊपरी ढाल से निचले ढाल की ओर प्रवाहित होती है। जब कभी इस जलधारा के मार्ग मे अवरोध आ जाता है तो जलधारा की गति रुक जाती है। परिणामस्वरूप घाटी के मध्य मे लम्बाई मे जलधारा की दिशा के समानान्तर मलवा का निक्षेप हो जाता है तथा एस्कर का निर्माण हो जाता है। 2 इस सामान्य विचारधारा में कुछ परिवर्तन करके कई सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया गया है। हिमनद की सतह पर पिघले हुए जल की जलधारा बन जाती है। मलवा का जमाव हिमनद की सतह पर होता है। जब हिम पिघल जाती है तो एस्कर भी नीचे होकर घाटी की तली मे पहुँच कर अपनी वास्तविक स्थिति को प्राप्त होते है 3 तीसरे मत के अनुसार हिम के पिघलने से प्राप्त जल हिमनद की सतह के नीचे खोखला मार्ग बना लेता है। इस तरह की हिम की सतह के नीचे सँकरी सतह किन्तु लम्बी जलधारा का विकास हो जाता है। इस जलधारा के मार्ग मे अवरोध पडने से मलवा का निक्षेप सर्प के आकार म एक लम्बे लहरदार कटक क रूप मे हो जाता है। ऊपर के हिम पिघल जाने पर एस्कर दृष्टिगोचर होते है। कभी-कभी कुछ अन्तर से एस्कर की मोटाई अधिक हो जाती है। ये चौडे भाग एस्कर मे ऐसे लगते है जैसे किसी रस्सी या धागे मे दाने या मणियाँ पिरोई गई हो। इस तरह के एस्कर को मालाकार एस्कर या मणिका एस्कर (Beaded eskers) कहते है।

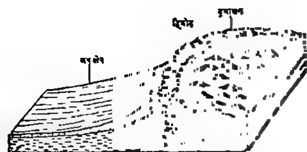
केम (Kame)—हिमनद के अग्रभाग पर हिम के पिघलन के कारण कुछ मलवा का निक्षेप ढेर के रूप या रूप टीले के रूप म हो जाता है। इस तरह के टीलो को **केम** कहा जाता है। केम के किनारे तीव्र ढाल वाले होते हैं। केम की रचना रेत तथा बजरी (Gravel) द्वारा होती है। **केम मोरेन** के सदृश होता है परन्तु मोरेन मे छोटे बडे सभी प्रकार के पदार्थ होत है जबकि केम मे रेत तथा बारीक कण वाले पदार्थ (मिट्टी) ही होते हैं। हिमनद के पिघलने पर **टिल (Till)** के निक्षेप से निर्मित टीलो तथा पहाडियो के लिये **केम** शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम **जेमिसन महोदय** ने 1874 ई० मे किया था परन्तु **कुक महोदय** (J H. Cook) न 1946 ई० मे इस नामावलि का विरोध किया तथा रेत एव बजरी (Sand, and gravel) से निर्मित टीलो के लिए **छिद्र निक्षेप** (Perforation deposit) तथा ऊँचे-नीचे भागो (Sag and swell topography) क लिये **केम काम्प्लेक्स** (Kame complex) नामावलियो का प्रयोग किया। लेखक के विचार मे केम को खीच तान कर विस्तृत नही करना चाहिय वरन् **जेमिसन** के अनुसार केम शब्द का प्रयोग हिम के पिघलने मे प्राप्त जल द्वारा निक्षेपित टीलो के लिये सुरक्षित रखना चाहिये। केम के निर्माण की समस्या भी कम जटिल नहीं है। सामान्य रूप में यह बताया जा सकता है कि ग्लेशियर के किनारों पर दरारो (*Cravasses*) का निर्माण हो जाता है। हिम के पिघलने से निर्मित जलधारायें इन छिद्रो मे मलवा का निक्षेप करती है। जब हिम पिघल जाता है तो असमान तथा अनियमित ढेरो तथा टीलो का निर्माण केम के रूप मे हो जाता है। जब कई केम आपस मे जुट जाते है तो **केम कटक** (Kame ridge) **केम हिमोढ़** (Kame moraines) *तथा केम वेदिकाआ (Kame terraces) का निर्माण* हो जाता है।

केटिल एव हमक (Kettles and Hummocks)—केम के विपरीत केटिल, गर्त (Deprsssions) होते है। हिम के बडे-बडे टुकडो के पिघल जाने पर केटिल का निर्माण होता है। केटिल के मध्य मे कई छोटे-छोटे टीले होते है जिन्हे **हमक** (Hummock) कहते है। इन टीलो का निर्माण प्राय केम के समान ही होता है। इनकी सरचना पार्श्विक तथा तलस्थ हिमोढ के समान होती है।



चित्र 346—*हिमानी द्वारा निक्षेप जनित-स्थलरूप* केम वेदिका (Kame terrace), एस्कर (Esker) तथा केम (Kame)।

हिमनद अपक्षेप (Outwash)—जब हिमनद का अग्रभाग (Snout) पिघलता है तो उसमे प्राप्त जल सरिता के रूप मे आगे बढता है। रास्ते म अन्तिम हिमोढ (Terminal moraines-अग्रान्तस्थ हिमोढ) की स्थिति के कारण समस्त जल हिमोढ के पीछे एकत्र हो



चित्र 347—मोरेन, ड्रमलिन तथा अपक्षेप ।

जाता है । जब जल अधिक हो जाता है तो वह हिमोढ को पार करके दूसरी ओर उतरता है । इस बार जल किसी धारा (Channel) के रूप मे नही होता है वरन् विस्तृत रूप मे आगे फैलकर चलता है । इस कारण अग्रान्तस्थ हिमोढ का कुछ मलवा, हिमोढ के सामने बिछा दिया जाता है जिससे एक मैदान का निर्माण होता है । इस मैदान को **हिमनद अपक्षेप मैदान** (Outwash plain) कहते हैं । इस मैदान मे मलवा के निक्षेप मे वर्गीकरण (Assortment बडे कण वाले टुकडे पहले तथा महीन कण बाद मे) पूर्ण रूप से विकसित होता है । जब पिघला हुआ जल, किसी निश्चित धारा से होकर प्रवाहित होता है तो अपक्षेप-मैदान का निर्माण नही होता है वरन् उसकी घटना मे मलवा के भर जाने से **घाटी हिमोढ़** (Valley train) का निर्माण होता है । **अपक्षेप मैदान** का क्षेत्रीय विस्तार, सतह का ढाल तथा मलवा की गहराई उस धरातलीय भाग के स्वभाव पर आधारित होती है, जिसके ऊपर मलवा का निक्षेप होता है । जिस हिमोढ से होकर जल आता है, यदि वह अधिक मोटा तथा विस्तृत होता है तो अपक्षेप मैदान मे मलवा की गहराई अधिक होती है । प्रति 1.6 किलो-मीटर पर 3 मीटर का ढाल होता है ।

हिमानी भ्वाकृतिक चक्र
(Glacial Geomorphic Cycle)

सामान्य परिचय—अपरदन के कारको के समान हिमनद द्वारा भी 'अपरदन-चक्र' की व्यवस्था का प्रति-पादन कुछ विद्वानो ने किया है । अर्थात् किसी भी क्षेत्र का हिमनद द्वारा होने वाला अपरदन **'चक्रीय व्यवस्था'** के अन्तर्गत सम्पादित होता है। दूसरे शब्दो मे अपरदन विभिन्न अवस्थाओ से होकर गुजरता है। **अपरदन के सामान्य चक्र** (Normal cycle of erosion-नदी द्वारा), कार्स्ट चक्र या "तटीय अपरदन-चक्र" के समान हिमनद द्वारा अपरदन-चक्र के सिद्धान्त का प्रतिपादन भली प्रकार नही किया जा सका है । जो कुछ भी हिमनदीय अपरदन-चक्र के विषय मे विवरण प्रस्तुत किया गया है वह सैद्धान्तिक रूप मे कल्पित है, उसका प्रायोगिक रूप सम्भव नही है । इसका सर्व प्रमुख कारण यह है कि अधिकतर हिम-अपरदित क्षेत्र या तो दुर्गम स्थानो मे है या आच्छन्न (Obscured) हैं । हिमनद द्वारा होने वाला अपरदन सागर तल से प्रभावित नही होता है, जैसा कि नदी के अपरदन मे होता है । अत हिमनद के अपरदन-चक्र की अन्तिम अवस्था मे प्रभावित क्षेत्र को **"सामान्य चक्र"** (नदी द्वारा) के **पेनीप्लेन** के समान सागर-तल के बराबर लाने का प्रयास नही करना चाहिए। यद्यपि हिमनद की अन्तिम अवस्था मे भी पेनीप्लेन की स्थिति आ सकती है, परन्तु इस अवस्था मे भी स्थल भाग अधिक ऊँचा हो सकता है । चूंकि घाटी हिमनद, हिम रेखा के ऊपर उच्च पर्वतो पर होते है, अत कुछ विद्वानो का कथन है कि हिमनद के अपरदन की अन्तिम अवस्था की प्राप्ति कठिन है । इसके समाधान के लिए यह सुझाया जा सकता है कि हिमनद अपरदन द्वारा पर्वतीय भाग को काट कर इतना नीचा कर सकता है कि समस्त पर्वतीय भाग (या आंशिक रूप मे) का तल या सतह हिम रेखा से नीची हो जाती है। पर्वतीय भाग के प्रारम्भिक उच्चावच घिस कर समप्राय होने लगते हैं। ऐसी अवस्था मे जबकि अपरदित भाग हिम रेखा से नीचा हो जाता है, हिम के पिघल जाने पर (अधिक तापक्रम के कारण) हिमनद का अवसान हो जाता है तथा अपर-दन का एक दौर (चक्र) समाप्त (या पूर्ण) होता है । यद्यपि हिमनद के "अपरदन चक्र" के विपरीत कई विद्वानो ने आवाज बुलन्द की है तथापि हिम-अपरदित क्षेत्रों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि हिमनद द्वारा होने वाला अपरदन कुछ मिश्रित अवस्थाओ से होकर गुजरता है । यहाँ पर उल्लेखनीय है कि अगली पक्तियो मे अपरदन-चक्र की अवस्थाओ के लक्षणो पर ही प्रकाश डाला जायेगा तथा विभिन्न अवस्थाओ मे निर्मित एव विकसित होने वाले स्थलरूपो के केवल नाम ही लिये जायेंगे, *क्योकि उसका विस्तृत विवरण पहले ही प्रस्तुत किया जा चुका है ।*

तरुणावस्था अपरदन-चक्र का प्रारम्भ उस समय होता है जब कि उच्च पर्वतीय भागो मे घाटी हिमनद का आविर्भाव होता है । हिम क्षेत्र से दबाव, गुरुत्व तथा

प्रसार के कारण हिमनदों का आविर्भाव होता है, जो कि विभिन्न गतियों से आगे बढ़ते हैं। प्रारम्भ में हिम, पहले से निर्मित गड्ढों में एकत्रित होता है। हिम अपरदन तथा अपक्षय द्वारा इन गड्ढों का विस्तार होता है, जिससे **सर्क (Cirques)** का निर्माण होता है। सर्क अर्द्धवृत्ताकार गहरे भाग होते हैं, जिनकी दीवाल खड़े ढाल वाली होती है। दीवाल के आधार पर अधिक अपरदन होने से सर्क में गड्ढा बन जाता है। सर्क का विस्तार होता रहता है तथा कई सर्क मिलकर **मिश्र या संयुक्त सर्क (Compound cirques)** का रूप धारण कर लेते हैं। सर्क के विस्तार के कारण पर्वत-चोटियाँ घिसकर नुकीली होने लगती हैं, जिससे **अरेत (Arete)** तथा **हार्न (Horn)** का निर्माण होता है। इस अवस्था में मुख्य हिम-घाटियों की अनेक सहायक हिम-घाटियाँ होती हैं परन्तु लटकती घाटियों का निर्माण पूर्णरूप से नहीं हो पाता है।

प्रौढ़ावस्था—तरुणावस्था का अन्त तथा प्रौढ़ावस्था का प्रारम्भ उस समय होता है जब कि हिमनद अधिक विस्तृत तथा सुव्यवस्थित हो जाते हैं। पर्वतीय भाग की मुख्य हिमनद-घाटियाँ मिलकर बड़े-बड़े हिमनदों (Trunk glacier) में बदल जाती हैं। अपनी विभिन्न विशेषताओं (ढाल, हिम की मात्रा, मलवा की मात्रा, तापक्रम आदि) के अनुसार विभिन्न हिमनदों द्वारा अपरदन समान रूप से नहीं होता है। मुख्य हिमनद का अपरदन सहायक हिमनद की अपेक्षा अधिक होता है जिस कारण सहायक घाटियों का तल, मुख्य घाटी के तल से ऊँचा रहता है। इस प्रकार लटकती घाटियों का निर्माण होता है। इस अवस्था में हिम का विस्तार तथा सर्क का विकास इतना अधिक हो जाता है कि केवल चोटियों को छोड़कर समस्त भाग हिमाच्छादित रहता है। हिम के ऊपर निकली हुई इन शिला-चोटियों को **नुनाटक** कहते हैं। हिम क्षेत्र में नुनाटक शैल-द्वीप (Rock island) के समानल गते हैं। सर्क की दीवारें तीव्रता से पीछे हटने लगती हैं जिस कारण हार्न (Horn) और अधिक नुकीले होने लगते हैं। **तीक्ष्ण कटक (Arete)** का विकास होता है। विभिन्न अवरोध वाली शैलों वाले भाग में **हिम सोपान (Glacial staircase)** या **दैत्याकार सोपानों (Giant stairs)** का निर्माण होता है। इसके आधार पर विलफ का निर्माण होता है जिसमें जल भरने से **पेटरनास्टर झील (Paternoster lake)** का विकास होता है। हिमनद की घाटी तथा सर्क की शीर्ष दीवालें निरन्तर पीछे हटती जाती हैं। तरुणावस्था में सर्क की शीर्ष दीवाल (Head wall) घाटी शीर्ष दीवाल की अपेक्षा अधिक तेजी से पीछे हटती है। अन्त में दोनों की शीर्ष दीवालें एक दूसरे से मिल जाती हैं। इस स्थिति में चक्र की प्रौढ़ावस्था का अवसान हो जाता है।

जीर्णावस्था—जीर्णावस्था के प्रारम्भ होते ही पर्वतीय भाग के ऊँचे भाग घिस कर नीचे होने लगते हैं तथा गड्ढे भरकर समतल रूप धारण करने लगते हैं। पर्वत-श्रेणियाँ कटकर तथा घिसकर तीक्ष्ण कटक के रूप में बदल जाती हैं। हिमोढ़ का निक्षेप विभिन्न रूपों में हो सकता है। टिल का निक्षेप होने से समतल मैदान का निर्माण होता है जिसका ढाल 5° के लगभग होता है। इस अवस्था में पहुँचने पर हिमनद पिघलकर पीछे हटने लगते हैं तथा चक्र की समाप्ति हो जाती है।

हिमकाल के कारण (Causes of Ice Ages)

यदि हिमानीकृत स्थलाकृतियों से युक्त प्रदेश का अध्ययन किया जाय तो स्पष्ट पता चलता है कि हिमानीकरण एक विचित्र तथा आकस्मिक घटना नहीं है वरन् व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध घटना (Systematic phenomena) है। यदि पृथ्वी के भूगर्भिक इतिहास का अध्ययन किया जाय तो ज्ञात होता है कि कैम्ब्रियन युग के पहले से लेकर प्लीस्टोसीन युग तक कई बार हिमावरण का प्रसार तथा निवर्तन (Retreat) हो चुका है। यद्यपि हिमकालों के आगम की चक्रीय व्यवस्था को (अर्थात् हिमकालों का आविर्भाव तथा विनाश चक्र के रूप में निश्चित समय पर होता है) मानने में कुछ कठिनाइयाँ अवश्य होती हैं परन्तु यह तो स्वीकार किया ही जाता है कि हिमकालों का कई बार आगमन हो चुका है। दो हिमकालों के बीच में एक **अन्तराहिमिक हिमकाल (Interglacial Period)** होता है। प्रायः ऐसा विश्वास किया जाता है कि वर्तमान समय में हम लोग अन्तर्हिमकाल (Interglacial Period) के मध्य रह रहे हैं। अभी तक तीन मुख्य हिमकालों का विवरण प्राप्त किया जा सका है— 1 कैम्ब्रियन युग से पूर्व का हिम काल (Precambrian Ice Age), 2 पर्मोकार्बोनीफेरस हिमकाल (Permo-Carboniferous Ice Age), तथा 3 प्लीस्टोसीन (चतुर्थक) हिमकाल। कुछ विद्वानों का मत है कि हिमकाल निश्चित समय के बाद आते रहते हैं इनके अनुसार प्रत्येक 250 000 000 से 300 000 000 वर्षों के बाद हिमकालों का आगमन होता रहता है। प्रारम्भ के दो हिमकालों के स्थलाकृतिक चिह्न विभिन्न कारणों से वर्तमान समय में प्राप्य

नही हैं परन्तु प्लीस्टोसीन हिमकाल के अधिकाश लक्षण देखने को मिलते है। अब समस्या उठती है कि हिमकालों का आविर्भाव क्यों और कैसे होता है? इस समस्या के निदान के लिए कई विद्वानों ने भूगर्भिक इतिहास में कई बार जलवायु के परिवर्तनो का उल्लेख किया है। जलवायु परिवर्तन से सम्बन्धित अनेक परिकल्पनाओ का प्रतिपादन किया गया है। इतना तो प्रायः सभी विद्वान मानते है कि भूगर्भिक इतिहास मे जलवायु-चक्र मे पर्याप्त परिवर्तन हुए है (इसका पूर्णरूपेण उल्लेख "स्थलाकृतिक संकल्पनायें" के अध्याय मे किया जा चुका है) परन्तु किन कारणों से जलवायु मे परिवर्तन हुए? इस प्रश्न पर विद्वानो मे पर्याप्त मतभेद है। जलवायु-परिवर्तन के अलावा हिमकाल के आविर्भाव के लिए अन्य परिकल्पनाओ का प्रतिपादन किया गया है। हिमकाल के आगमन के लिए इतना तो अवश्य होगा कि हिमकाल के समय तापक्रम अत्यधिक नीचा हो गया होगा, जिस कारण हिम क्षेत्रो का विकास आसानी से सम्भव हुआ होगा। यद्यपि हिमकाल के कारणो की व्याख्या के लिये कई परिकल्पनाओ तथा सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है तथापि वर्तमान समय तक कोई भी मत सर्वमान्य नही हो सका है। यह कहना अनुचित नही होगा कि हिमकाल के कारणों की व्याख्या एक ही आधार पर नही की जा सकती। इसके विपरीत कई कारणो को मिला कर हिमकाल की समस्या का निदान करना चाहिए। नीचे कुछ महत्त्वपूर्ण मतों का उल्लेख किया जा रहा है।

1 स्थलाकृतिक उच्चावच मे परिवर्तन (Changes in topographic reliefs)—यदि पृथ्वी के भूगर्भिक इतिहास का अध्ययन किया जाय तो पता लगता है कि पृथ्वी ने इतिहास मे बड़े पैमाने पर कई पर्वतीकरण (Mountain building) की क्रियाये घटित हो चुकी हैं (1. प्रीकैम्ब्रियन पर्वतीकरण, 2. कैलिडोनियन पर्वतीकरण, 3 हर्सीनियन पर्वतीकरण तथा 4. टर्शियरी पर्वतीकरण)। इन पर्वतीकरण की घटनाओ के कारण धरातल का कुछ भाग पर्वतो के रूप मे ऊपर उठ जाता है। तापक्रम के लम्बवत वितरण के साधारण नियम के अनुसार सागर-तल मे ऊपर जाने पर तापक्रम घटता जाता है। इस तरह पर्वतीकरण के फलस्वरूप स्थलीय भाग मे उत्थान होता है तथा प्रति 1000 फीट पर 3.6° फा० तापक्रम घट जाता है। इस आधार पर कुछ विद्वानो का कहना है कि पर्वतीकरण के परिणामस्वरूप ऊँचे उठे पर्वत, हिमरेखा (Snow line) से ऊँचे उठ जाते है। वहाँ पर तापक्रम की कमी के कारण हिम का निर्माण होता है। यह हिम मात्रा तथा आयतन मे धीरे-धीरे बढ़ता जाता है जिस कारण विस्तृत हिम-क्षेत्रो का आविर्भाव होता है। इस तरह से निर्मित कई विशाल हिम-क्षेत्रो मे गुरुत्व, भार तथा दबाव एव प्रसार के कारण हिम की चादर का या हिमनद का चारो तरफ फैलाव या प्रसार होता है। फलस्वरूप स्थल का अधिकाश भाग हिमाच्छादित हो जाता है एव हिमकाल का सूत्रपात होता है। यद्यपि यह सिद्धान्त देखने मे रोचक लगता है परन्तु इसकी कड़ी आलोचना की गई है। यदि हिमकालों तथा पर्वतीकरण के युगो का अध्ययन किया जाय तो दोनो मे सहसम्बन्ध (Correlation) स्थापित नही किया जा सकता। टर्शियरी युग के पर्वतीकरण के विषय मे उपर्युक्त सिद्धान्त कुछ हद तक सही उतरता है, क्योंकि इस युग मे वर्तमान समय के नवीन मोड़दार उच्च पर्वतो (हिमालय, आल्प्स, राकीज, एण्डीज आदि) का निर्माण हुआ था तथा इनके निर्माण के समय से ही हिम का सचयन प्रारम्भ हो गया था। आगे चलकर प्लीस्टोसीन काल मे तो हिमकाल का पूर्ण रूपेण पदार्पण हो गया। राकीज पर्वत तथा आल्पस पर्वत क्रमश उत्तरी अमेरिका तथा यूरोप मे हिमचादर के प्रसार के लिये उद्गम स्थल रह चुके हैं। परन्तु यदि पर्वतीकरण के अन्य युगो को देखा जाय तो उपर्युक्त सिद्धान्त निराधार प्रमाणित होता है। उदाहरण के लिये पर्मोकार्बानिफरस हिमकाल के समय कोई पर्वतीकरण नही हुआ। इसके विपरीत हिमचादर का विस्तार निचले भाग पर हुआ था। इसी तरह कैलीडोनियन तथा हर्सीनियन पर्वतीकरण के समय स्थलभाग के पर्वतो के रूप मे ऊपर उठने पर भी हिमकाल का आगमन नही हो सका। इस तरह यह निर्णय दिया जा सकता है कि पर्वतीकरण, हिमकाल के लिये एक कारक (Factor) बन सकते है न कि एकमात्र कारण।

2. ध्रुवो का स्थान-परिवर्तन (Wandering of Poles)—अनेक विद्वानो ने बताया है कि ध्रुवो की स्थिति मे परिवर्तन होता रहता है। उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुव, जहाँ पर वर्तमान समय मे है, वहाँ पर सदैव नही रहे है वरन् उनमे पर्याप्त परिवर्तन होता रहता है। ध्रुवो के स्थान मे परिवर्तन के कारण जलवायु मे भी परिवर्तन होता रहता है। इस तरह जलवायु मे परिवर्तन के आधार पर हिमकाल की समस्या का निदान किया जा सकता है। प्लीस्टोसीन हिमकाल की समस्या का स्पष्टीकरण अनेक विद्वानो ने उपर्युक्त आधार पर करने की चेष्टा की

है। इन विद्वानों के अनुसार क्रीटेशियस युग के अन्त तक या ईयोसीन युग तक उत्तरी ध्रुव आर्कटिक सागर तक नहीं पहुँच पाया था। इसी तरह दक्षिणी ध्रुव भी उपर्युक्त समय तक अण्टार्कटिका तक नहीं जा सका था। इस कारण ध्रुवीय क्षेत्रों में कम तापक्रम के कारण हिम क्षेत्रों से हिमचादर का प्रसार टर्शियरी युग के बाद प्लीस्टोसीन काल में प्रारम्भ हो गया। इस परिकल्पना की भी कटु आलोचना की जाती है क्योंकि ध्रुवों के स्थान-परिवर्तन के विषय में ही विरोध प्रकट किया जाता है। आलोचकों का कहना है कि अब तक किसी ऐसी शक्ति (Force) का पता नहीं लगाया जा सका है जो ध्रुवों के स्थान में परिवर्तन ला सके। यदि ध्रुवों की स्थिति में परिवर्तन को मान भी लिया जाय तो भी यह परिवर्तन इतना नगण्य होगा कि इसके आधार पर हिमकालों का आगमन नहीं हो सकता है। इस तरह यह मत अमान्य है।

3 महाद्वीपों का विस्थापन (Continental drift)—इस सिद्धान्त के समर्थकों (मुख्य रूप से वेगनर) तथा प्लेट विवर्तन सिद्धान्त के अनुसार पृथ्वी का ऊपरी भाग (सियाल) निचले आन्तरिक भाग (Sima) पर स्वेच्छा से किसी भी दिशा में भ्रमण करता है। यदि यह मान लिया जाय तो जलवायु सम्बन्धी परिवर्तन एवं हिमकालों की समस्या हल की जा सकती है। वेगनर के अनुसार प्राचीन काल में सभी महाद्वीप एक साथ पंजिया (Pangaea) के रूप में मिले थे तथा एक ही महासागर पैन्थालसा (Panthalasa) द्वारा घिरे थे। दक्षिणी ध्रुव, अफ्रीका के वर्तमान नैटाल के पास था तथा भूमध्य रेखा इंगलैण्ड से होकर गुजरती थी। इस स्थिति के कारण हिमचादर का विस्तार दक्षिणी अमेरिका, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, अण्टार्कटिका तथा दक्षिणी भारत के अधिकांश भागों पर हो गया था। यदि इस सिद्धान्त को मान भी लिया जाय तो इसके आधार पर केवल कार्बानिफरस युग के हिमानीकरण को ही समझा जा सकता है। प्लीस्टोसीन हिम-युग को यह सिद्धान्त स्पष्ट नहीं कर सकता है। महाद्वीपों तथा महासागरों के स्थायित्व के समर्थकों के अनुसार कोई ऐसी यथेष्ट शक्ति नहीं है जिसके द्वारा महाद्वीपों का विस्थापन हो सके। यद्यपि अधिकांश विद्वान महाद्वीपीय विस्थापन को मानते हैं परन्तु यह सिद्धान्त हिमानीकरण की समस्या का हल नहीं कर सकता है।

4 कार्बन डाइ-ऑक्साइड परिकल्पना (Carbon dioxide Hypothesis)--वायुमण्डल में कार्बन डाइ-आक्साइड गैस का पर्याप्त महत्त्व होता है। यह गैस पृथ्वी से परावर्तित ताप का कुछ भाग ग्रहण कर लेती है। इस क्रिया के कारण वायु का ताप कम नहीं होने पाता है अपितु बढ़ता ही है। यदि वायुमण्डल में कार्बन डाइ-आक्साइड की कमी हो जाय तो पृथ्वी से बाहर जाने वाला ताप बिना किसी रोक-टोक के चला जायेगा। परिणामस्वरूप वायु का तापक्रम कम हो जायेगा। टी० सी० चैम्बरलिन के अनुसार यदि वायुमण्डल में इस गैस की मात्रा में वृद्धि हो जाय तो पृथ्वी के ऊपर तापक्रम में पर्याप्त वृद्धि हो जाती है परन्तु इसकी मात्रा में कमी हो जाती है तो तापक्रम तेजी से कम हो जाता है। जब तापक्रम में अत्यधिक कमी हो जाती है तो हिम क्षेत्र के विस्तार होने से हिम काल का सूत्रपात होता है। कार्बन डाइ-आक्साइड गैस की कमी के अनेक कारण बताये गये हैं। उदाहरण के लिए चट्टानों के अत्यधिक अपक्षय तथा उसके बाद स्थलखण्ड में उत्थान के कारण वायुमण्डल में कार्बन डाइ-आक्साइड गैस की कमी हो जाती है। इस स्थिति के कारण जलवायु ठंडी हो जाती है तथा हिमकाल प्रारम्भ हो जाता है। जब वायुमण्डल में पुनः यह गैस अधिक मात्रा में आ जाती है तो हिमकाल का समापन हो जाता है एवं अन्तर्हिमकाल (Interglacial period) प्रारम्भ हो जाता है। वायुमण्डल में यह गैस कई रूपों में आ जाती है—महासागरों से वायु में कार्बन डाइ-आक्साइड का प्रत्यक्ष रूप से आना। हिमचादर के कारण शैलें ढक जाती हैं, जिस कारण उनके अपक्षय में कमी हो जाने से कार्बन डाइ-आक्साइड गैस की वृद्धि तथा सागरीय जीवों द्वारा चूने के अधिक उपभोग के कारण यह गैस प्राप्त होती है। कुछ विद्वानों ने इस परिकल्पना के विरोध में बताया है कि कार्बन डाइ-आक्साइड गैस के अनुपात में परिवर्तन के कारण तापक्रम इतना कम या अधिक नहीं हो सकता कि हिमकाल तथा अन्तर्हिमकाल का सूत्रपात हो सके। हम्फ्रे (Humphreys) नामक विद्वान के अनुसार वर्तमान समय में वायुमण्डल में उपस्थित कार्बन डाइ-आक्साइड गैस की मात्रा में 100 प्रतिशत की वृद्धि या 50 प्रतिशत की कमी होने से पृथ्वी के तापमान पर कोई महत्त्वपूर्ण प्रभाव नहीं पड़ सकता है। अन्य कारणों के साथ यदि कार्बन डाइ-आक्साइड गैस की मात्रा में पर्याप्त कमी हो जाय तो ठंडी जलवायु होने के कारण हिमकाल का आविर्भाव हो सकता है।

ज्वालामुखी-राख परिकल्पना (Volcanic dust Hypothesis)—वायुमण्डल में धूल की भी मात्रा रहती

है। यह धूल सूर्य से पृथ्वी की ओर आने वाले ताप को कुछ मात्रा को परावर्तित (Reflect) कर देती है, कुछ का विकिरण कर देती है तथा कुछ ताप को ग्रहण कर लेती है। धूल के कारण सूर्य-ताप के परावर्तित हो जाने से वायु का ताप कम हो जाता है। इसी तरह धूलिकण वर्षा तथा हिमपात में भी सहायता करके ताप को नीचा कर देते है। इस तरह धूलिकणो मे आधिकता के कारण हिमकाल के लिये सुविधाजनक जलवायु का अविर्भाव हो जाता है। कुछ विद्वानो का कथन है कि ज्वालामुखी विस्फोट के समय अधिक मात्रा मे राख वायुमण्डल मे परत के रूप मे छा जाती है। यह राख सूर्य ताप के पूर्णरूप मे पृथ्वी तक पहुँचने मे बाधक होती है। परिणामस्वरूप पृथ्वी को बहुत कम सूर्य-ताप प्राप्त हो पाता है। सूर्य द्वारा कम ताप मिलने के कारण पृथ्वी पर ताप कम हो जाता है तथा जलवायु शीतल हो जाने के कारण हिमकाल का आविर्भाव होता है। कई विद्वानो ने **पर्मियन** तथा **प्लीस्टोसीन हिमयुगो** के समय ज्वालामुखी विस्फोट के उदाहरण तथा प्रमाण प्रस्तुत किये है। यह स्मरणीय है कि एक हिमकाल मे भी कई बार हिमचादर का प्रसार तथा कई बार निवर्तन (Retreat) होता है। उदाहरण के लिए **प्लीस्टोसीन हिमकाल** मे बार-बार हिमचादर का प्रसार हुआ था। हिमचादर के प्रसार के दो कालो मे एक **अन्तर्हिमकाल** होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि हिमकाल मे कई **उप-हिमकाल** तथा **उप-अन्तर्हिमकाल** भी होते है। यदि ज्वालामुखी विस्फोट को हिमकाल का एक प्रमुख कारण मान लिया जाय तो प्लीस्टोसीन हिमकाल के समय हिमचादर के निवर्तन के विभिन्न समय मे ज्वालामुखी विस्फोट की अनुपस्थिति होनी चाहिए तथा हिमचादर के प्रसार के समय विस्फोट बड़े पैमाने पर होना चाहिए। परन्तु इस तरह के प्रमाण अभी तक उपस्थित नही किये जा सके है। हिमकाल तथा अन्तर्हिमकाल और ज्वालामुखी विस्फोट के युग मे कोई स्पष्ट सम्बन्ध स्थापित नही किया जा सका है। इस आधार पर उपर्युक्त परिकल्पना हिमकाल के कारणो की स्पष्ट व्याख्या करने मे समर्थ नही है। इसे, अन्य कारणो के साथ एक सहायक कारण माना जा सकता है।

6 **सागरीय गर्म धाराओ के मार्ग मे अवरोध**—कुछ विद्वानो के अनुसार सागरीय गर्म धाराओ के मार्ग मे जो कि ध्रुवो की ओर अग्रसर होती है, अवरोध उपस्थित हो जाने से वे ध्रुवो की ओर अधिक दूरी तक नही जा पाती हैं। इस कारण ध्रुवीय क्षेत्रो मे ताप गिर जाता है तथा हिमचादर का विस्तार होने लगता है। प्रायः ऐसा विश्वास किया जाता है कि उस समय जब कि अफ्रीका, दक्षिणी अमेरिका, दक्षिणी भारत, 'स्थल-सेतुओ (Land bridges) द्वारा परस्पर जुड़े थे, गर्म धारायें दक्षिण मे नही जा सकी। परिणामस्वरूप अन्टार्कटिका मे अत्यधिक हिम के सचयन के कारण हिम-चादरो का प्रसार उत्तर की ओर प्रारम्भ हो गया। इस आधार पर अफ्रीका, दक्षिणी अमेरिका, दक्षिणी भारत तथा आस्ट्रेलिया के **कार्बोनिफरस हिमानीकरण** (Carboniferous glaciation) की समस्या हल हो जाती है परन्तु अन्य हिमकालो के विषय मे जानकारी प्राप्त नही हो पाती है।

7. **पृथ्वी की अक्ष का पुरस्सरण** (Precession of Earth's Axis)—पृथ्वी अपने अक्ष के साथ एक निश्चित मार्ग मे सूर्य की परिक्रमा करती है। वैज्ञानिकों ने गणना के आधार पर बताया है कि पृथ्वी अपने मार्ग का अनुसरण पूर्णरूप से नही करती है, बल्कि अपने निश्चित मार्ग से कुछ हट कर परिक्रमा करती है। इस कारण यह कभी सूर्य से दूर हो जाती है तो कभी सूर्य के पास रहती है। जब पृथ्वी सूर्य से दूर चली जाती है तो सूर्य से पृथ्वी को मिलने वाला ताप कम हो जाता है। तापक्रम की इस कमी के कारण हिम का विस्तार होता है तथा हिमकाल का श्रीगणेश होता है। यदि पृथ्वी के अपने मार्ग से हटने की गणना की जाय तो पता चलता है कि यह प्रत्येक 13000 वर्ष बाद अपने वास्तविक मार्ग से विचलित हो जाती है। इस गणना के आधार पर प्रत्येक 13000 वर्ष बाद हिमकाल का सूत्रपात होना चाहिए, परन्तु यह गणना वास्तविकता से परे है क्योंकि इस आधार पर अब तक अनेक हिमकालो का आगमन हो जाना चाहिए था परन्तु अब तक केवल तीन बड़े हिमकालो का ही पता लग पाया है।

सूर्य विकिरण मे परिवर्तन (Variation in solar Radiation)- अनेक विद्वानो ने विभिन्न आधारो पर सूर्य से निकलने वाले ताप की मात्रा मे परिवर्तन बताया है अर्थात् विकिरण द्वारा सूर्य से जो ताप निकलता है उसकी मात्रा घटती-बढ़ती रहती है। इस विषय मे अनेक मत हैं। कुछ विद्वानो के अनुसार सूर्य मे धब्बे (Spots) पड़ते रहते है। इन धब्बो के कारण सूर्य से निकलने वाले ताप की मात्रा मे कमी होती रहती है। जब इन धब्बो

की मात्रा सर्वाधिक होती है तो सौर विकिरण मे पर्याप्त कमी आ जाती है। परिणामस्वरूप हिमकाल का आगमन होता है। सूर्य मे धब्बे का होना 11 वर्ष के अन्तर पर होता रहता है। इसके विपरीत कुछ विद्वानो ने हजारो वर्षों का अन्तर बताया है। हम्फ्रे (Humphreys) ने सौर विकिरण मे वृद्धि तथा ह्रास का उल्लेख अनोखे ढग से किया है। इनके अनुसार समय-समय पर सूर्य के वायुमण्डल (*Sun's Atmosphere*) मे धूल की परत इतनी मोटी हो जाती है कि सूर्य से ताप के कम विकिरण के कारण पृथ्वी पर तापक्रम घट जाने से ठंडी जलवायु का आविर्भाव हो जाता है। धीरे-धीरे हिम क्षेत्रो के विकसित हो जाने पर हिमानीकरण (Glaciation) प्रारम्भ हो जाता है। यह स्थिति (धूल की परत का आवरण) अधिक लम्बे काल तक नही रहती है। शनै-शनै सूर्य के वायुमण्डल से धूल की परत छटने लगती है और सौर विकिरण की मात्रा बढने लगती है। परिणामस्वरूप हिमचादर के पिघलने से हिमकाल का अवसान हो जाता है तथा उष्ण जलवायु के आ जाने से **अन्तर्हिमकाल** (Interglacial period) का आविर्भाव होता है।

कुछ विद्वानो ने बताया है कि सूर्य का अन्तरतम (core-कोर) घटता बढता रहता है। इस कारण सूर्य-विकिरण मे लाखो वर्षों के अवकाश के बाद पडे पैमाने पर अन्तर होता रहता है। ओपिक महोदय के अनुसार *लम्बे-लम्बे मध्यावकाश के बाद सूर्य का अन्तरतम बढता* है। इस क्रिया मे सूर्य उस ऊर्जा (Energy) का जिसका *कि विकरण होता है, उपभोग करके अपनी बाहरी परत* मे प्रसार करता है। इस प्रक्रिया मे सूर्य की अधिकाश ऊर्जा का उपभोग हो जाने से सौर विकिरण कम हो *जाता है। सौर विकिरण मे कमी आ जाने के कारण* पृथ्वी का तापक्रम घट जाता है, जिससे हिमकाल (Ice Age) का आगमन होता है। पुन सूर्य का अन्तरतम सिकुडने लगता है, जिससे सौर विकिरण बढ जाने से पृथ्वी का तापक्रम बढ जाता है। परिणामस्वरूप हिमकाल का अवसान तथा अन्तर्हिमकाल का आविर्भाव होता है।

सिम्पसन की परिकल्पना (Simpson's Hypothesis)—सन् 1938 ई० मे सर जार्ज सिम्पसन ने सौर विकिरण मे परिवर्तन से सम्बन्धित एक अनोखी परिकल्पना का प्रतिपादन किया, जिसके अन्तर्गत सौर विकिरण के परिवर्तन की चक्रीय व्यवस्था का उल्लेख किया गया है अर्थात् **सिम्पसन** के अनुसार सूर्य से विकि*रण द्वारा निकलने वाले ताप की मात्रा मे वृद्धि तथा* ह्रास एक निश्चित समय के बाद क्रमानुसार होता रहता है। सिम्पसन ने अपनी इस परिकल्पना द्वारा **प्लीस्टोसीन हिमानीकरण** की व्याख्या करने का सफल प्रयास किया है। परन्तु हिमकालो की समस्या का निदान इस परिकल्पना के द्वारा नही हो पाता है। **सिम्पसन** की परिकल्पना के अनुसार जल और विकिरण धीरे-धीरे बढने लगता है। परिणामस्वरूप वायुमण्डल पवन-संचार, वाष्पीकरण तथा बादलो मे वृद्धि होती है। इन कारणो से सूर्य की कुछ ऊष्मा (Heat) पृथ्वी तक नही आ पाती है। अयनवर्तीय प्रदेशो (Tropics) मे अधिक सौर विकिरण के फलस्वरूप वर्षा अधिक होती है परन्तु *ध्रुवो के पास हिम-पात अधिक होने लगता है।* इस कारण उच्च अक्षाशो तथा अन्य पर्वतीय भागो पर हिमनदो का सूत्रपात होता है। परिणामस्वरूप हिमकाल का आगमन होता है। जैसे जैसे सौर विकिरण बढता जाता है, वैसे-वैसे ताप की अधिकता के कारण उच्च अक्षाशो मे वर्षा (precipitation), जलवर्षा (*Rain*) के रूप मे होने लगती है, अधिक वाष्पीकरण के कारण हिम का पिघलना प्रारम्भ हो जाता है, हिम का सचय कम होने लगता है तब हिमकाल का अवसान हो जाता है और अधिकतम सौर विकिरण के समय एक 'उष्णार्द्र अन्तर्हिमकाल" (Warm and wet interglacial period) आ जाता है। इसके बाद से सौर विकिरण घटने लगता है तो पुन द्वितीय हिमकाल का आविर्भाव होता है। न्यूनतम सौर विकिरण के समय एक लम्बा शीतल तथा शुष्क अन्तर्हिमकाल आ जाता है। इस तरह सौर विकिरण के दो पूर्ण चक्र द्वारा प्लीस्टोसीन हिमकाल के समय हिमचादर के चार बार प्रसार (गुंज, मिण्डेल रिस तथा वर्म-यूरोप) तथा तीन अन्तर्हिमकालो की स्पष्ट व्याख्या हो जाती है। पर्मियन तथा प्लीस्टोसीन युगो के मध्य एक लम्बे मध्यावकाश का स्पष्टीकरण यह परिकल्पना नही कर पाती है।

साराश—हिमकालो के आगमन तथा अवसान के विषय मे ऊपर कई सिद्धान्तो तथा परिकल्पनाओ की व्याख्या प्रस्तुत की गई है परन्तु इन पक्तियो के लिखते समय भी लेखक यही आभास कर रहा है कि उसकी लेखनी इतना लिखने पर भी उसी स्थान पर पहुँच गयी है,

जहाँ से वह प्रारम्भ हुई थी, अर्थात् हिमकालो के आगमन के किसी भी ऐसे कारण का प्रतिपादन नही किया जा सका जो कि एकाकी रूप मे समस्या का निदान कर सके। यदि कोई परिकल्पना प्लीस्टोसीन हिमकाल के कारणो का उल्लेख करती है तो वह अन्य पिछले हिमकालो की समस्या का स्पष्टीकरण नही कर पाती है। लेखक के अनुसार ऐसी वृहद समस्याओ का हल एक ही कारण द्वारा ढूँढना विडम्बना मात्र है। कई कारणो के आकस्मिक रूप मे मिल जाने से हिमकालो का आविर्भाव हो सकता है। येल विश्वविद्यालय के प्रोफेसर फ्लिन्ट ने भी ऐसी ही सम्भावना व्यक्त की है। फ्लिन्ट का कथन है कि जिस समय सूर्य से पृथ्वी न्यूनतम ताप (ऊष्मा Heat) ग्रहण करती है, उस समय यदि महाद्वीपो के विभिन्न भागो की ऊँचाई भी अधिक हो जाय तो विस्तृत हिम-क्षेत्र के कारण हिमकाल का आविर्भाव हो जाता है। अन्त मे यही कहा जा सकता है कि जब तक हिमकाल के कारणो का वैज्ञानिक पद्धति से हल नही निकाला जाता तब तक उपर्युक्त परिकल्पनाओ तथा सिद्धान्तो मे उल्लिखित एक से अधिक कारणो द्वारा हिमकाल का आगमन समझना चाहिए।

प्लीस्टोसीन हिमकाल तथा हिमानीकरण (Pleistocene Ice Age and Glaciation)

सामान्य परिचय— नवीनतम हिमकाल, प्लीस्टोसीन हिमकाल माना जाता है, जिस समय उत्तरी अमेरिका का लगभग आधा भाग, समस्त उत्तरी यूरोप महाद्वीप, ग्रीनलैंड, अण्टार्कटिका, पैटागोनिया का अधिकाश भाग और सायबेरिया का अधिकतर भाग हिमचादर से आच्छादित था। यह स्मरणीय है कि प्लीस्टोसीन काल, जो कि आज से लगभग 10,00,000 वर्ष पहले प्रारम्भ हुआ था तथा लगभग[1] 10,00,000 वर्ष तक रहा, के समस्त चरणो मे उपर्युक्त स्थलभाग तथा सागरीय भाग सदैव हिमचादर के नीचे नही थे, वरन् कई बार हिमावरण का विस्तार (प्रसार) हुआ तथा कई बार निवर्तन (Retreat)। प्राय यह अनुमान लगाया जाता है कि प्लीस्टोसीन हिमकाल मे समस्त भूपटल का 1/5 भाग हिमचादर से प्रभावित था। यद्यपि प्लीस्टोसीन काल के बाद हिमचादर का प्राय लोप हो गया है परन्तु हिमाच्छादित सभी भागो मे आज तक हिमचादर का पूर्णतया निवर्तन नही हो सका है। यह विश्वास किया जाता है कि अण्टार्कटिका का 50,00,000 वर्गमील तथा ग्रीनलैंड का 60,00,000 वर्गमील क्षेत्र अब भी हिमाच्छादित है। प्लीस्टोसीन हिमकाल की पूर्ण अवधि तथा उसके निवर्तन के समय के विषय मे पर्याप्त मतभेद है। सामान्य रूप मे यह विश्वास किया जाता है कि प्लीस्टोसीन हिमकाल का प्रभाव लगभग 10,00,000 वर्ष तक था तथा प्लीस्टोसीन हिमचादर का अन्तिम निवर्तन (Retreat) आज से लगभग 25,000 वर्ष पूर्व प्रारम्भ हो गया था। हिमचादर का निवर्तन 16000 वर्ष तक चलता रहा तथा आज से लगभग 9000 वर्ष पहले अन्तिम हिमचादर का पूर्णतया निवर्तन हो गया था। प्लीस्टोसीन हिमकाल के बाद होलोसीन (Holocene) काल प्रारम्भ हुआ। यह एक अन्तर्हिमकाल है। वर्तमान समय मे हम लोग होलोसीन काल या पोस्टप्लीस्टोसीन काल मे रह रहे हैं। यद्यपि अधिकाश विद्वान होलोसीन काल को अन्तर्हिमकाल (Interglacial period) मानते हैं परन्तु यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि वर्तमान समय के बाद जलवायु उष्ण होगी या शीतल।

प्लीस्टोसीन हिमकाल की अवस्थायें या चरण (Stages of Pleistocene Ice Age)—प्लीस्टोसीन हिमकाल मे कई बार हिमचादर का प्रसार (Advancement of ice-sheet) हुआ तथा कई बार निवर्तन (Retreat) जिस समय हिमचादर का प्रसार होता है उस काल को **'हिमकाल की अवस्था'** (Glacial stage) कहते हैं तथा दो हिमकाल की अवस्थाओ के उस समय को जब कि हिमचादर पिघलकर लुप्त हो जाती है, **'अन्तर्हिमकाल की अवस्था'** (Interglacial stage) कहते हैं। कई हिमकाल की अवस्थाओ तथा अन्तर्हिमकाल की अवस्थाओ के सम्मिलित समय या काल को **हिमकाल** (Ice Age) कहते है। **क्वाटरनरी** युग (Quaternary Epoch) के अन्तर्गत प्लीस्टोसीन तथा होलोसीन काल आते है। चूँकि अभी तक प्लीस्टोसीन हिमकाल के अन्तिम रूप का निर्धारण नही हो सका है (अर्थात् यह निश्चित नही हो पाया है कि वर्तमान समय के बाद गर्म जलवायु आयेगी या शीतल), अत वर्तमान समय को एक अन्तर्हिमकाल ही माना जाता है। इसी कारण से प्लीस्टोसीन हिमकाल और वर्तमान अन्तर्हिमकाल को सम्मिलित रूप से **क्वाटरनरी हिमकाल** (Quaternary Ice Age) कहा

1 करीब 9,91,000 वर्ष तक।

जाता है। उत्तरी अमेरिका, ब्रिटेन तथा उत्तरी यूरोप मे अन्तिम हिमोढ (Terminal moraines) गोलाश्म मृत्तिका (Boulder clays) के जमाव तथा **हिम अप-क्षेप बजरी (Out wash gravel)** के आधार पर हिम-चादर के चार बार प्रसार तथा चार बार निवर्तन के प्रमाण मिले है। **पेन्क तथा ब्रूकनर** ने यूरोप महाद्वीप में हिमचादर के चार क्रमिक प्रसार का उल्लेख किया है। इनके नाम है—गुंज (Gunz), मिण्डेल (Mindel) रिस (Riss) तथा वर्म (Wurm)। इन चार हिमकालो की अवस्थाओं के मध्य चार अन्तर्हिमकाल की अवस्थाओ का भी उल्लेख किया गया है। उत्तरी अमेरिका में भी हिमचादर के चार क्रमिक प्रसार के प्रमाण मिले हैं—1 नेब्रास्कन (Nebraskan) 2 कन्सान (Kansan), 3. इल्लीन्वायन (Illinoin) तथा 4 विसकांसिन (Wisconcin)। ये चार हिमकाल चार अन्तर्हिमकालो (Interglacial periods) द्वारा अलग किये जाते है—1 अफ्टोनियन (Aftonion), 2 यारमाउथ (Yarmouth), 3. सगमन (Sangman) तथा 4 पोस्ट हिम काल (Postglacial Period)।

प्लीस्टोसीन हिमानीकरण का स्थलाकृति पर प्रभाव (Effect of Pleistocene Glaciation on Topography)

प्लीस्टोसीन युग के विभिन्न समय मे स्थल का अधिकाश भाग हिमचादर द्वारा आच्छादित हुआ था। परिणाम स्वरूप हिमनद के अपरदन तथा निक्षेप द्वारा कई नय-नये स्थलरूपो का विकास हुआ, पूर्व निर्मित स्थलरूपो मे परिवर्तन तथा सुधार हुए, सागर-तल म महान परिवर्तन हुए, स्थल भागो मे अवतलन (Subsidence) तथा उत्थान हुए तथा सागरीय जीव भी पर्याप्त रूप मे प्रभावित हुए। वास्तव मे प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप मे प्लीस्टोसीन हिमानीकरण ने भूपटल के अधिकाश भागो मे वहा की स्थलाकृति को नूतन तथा अन्तिम रूप प्रदान किया है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि **'प्लीस्टोसीन हिमकाल मे भूगर्भिक तथा जलवायु सबन्धी परिवर्तनो प्रभाव के अध्ययन के बिना वर्तमान स्थलाकृति की स्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत नहीं की जा सकती है।**[1] यद्यपि हिमानीकरण का प्रत्यक्ष प्रभाव 1,20,00,000 वर्गमील क्षेत्र पर ही था परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से पवन आदि द्वारा हिमानीकरण द्वारा उत्पन्न पदार्थों का निक्षेपण हिमानीकरण से अप्रभावित दूरस्थ प्रदेशो तक हुआ है। प्लीस्टोसीन हिमकाल के समय जलवायु सम्बन्धी परिवर्तनो का प्रभाव पूरे विश्व पर व्यापक रूप मे पड़ा था, यद्यपि मध्य अक्षाशो मे जलवायु का प्रभाव सर्वाधिक था। वर्तमान समय के शीतोष्ण जलवायु वाले कितने प्रदेश प्लीस्टोसीन युग म स्थायी हिमचादर से आच्छादित थे। उत्तरी अमेरिका तथा यूरेशिया के उप-ध्रुवीय भाग इसके साक्षात् प्रमाण है। अगली पंक्तियो मे प्लीस्टोसीन हिमानीकरण के विभिन्न प्रभावो का सक्षिप्त उल्लेख किया जा रहा है—

1 **सागर-तल मे उतार-चढ़ाव** (Fluctuation in Sea-level)—अनेक उदाहरणों तथा प्रमाणो के आधार पर अब यह सिद्ध हो गया है कि प्लीस्टोसीन युग मे भूपटल क विभिन्न स्थानो मे **हिमकाल** (Glacial periods) तथा **अन्तर्हिमकाल** (Inter-glacial periods) समकालीन (Contemporary) थे। इस कारण प्लीस्टोसीन हिमानीकरण का प्रभाव भी व्यापक माना जाता है। इसका सर्वाधिक प्रभाव स्थल तथा सागर-तलो पर हुआ। अर्थात् सापेक्ष तलो मे पर्याप्त अन्तर हुए है। हिमकाल के समय स्थलीय भागो पर हिमचादर के आच्छादन के कारण, यद्यपि स्थलभाग पर भार के कारण उसका कुछ अवतलन होता है, सागर-तल मे पर्याप्त गिरावट (Fall) इसलिए हो जाती है कि सागर का अधिकाश जल हिम के रूप म स्थलभागो पर हिमचादर के रूप मे छा जाता है। इसी तरह जब हिमचादर पिघलने लगती है तथा जब हिमकाल का अवसान होने लगता है तो हिमचादर क पिघलने से प्राप्त जल सागरो म चला जाता है जिससे सागर-तल पुन ऊपर उठने लगता है। चूंकि समस्त हिमचादर पूर्णतया नही पिघल पाती है अत हिमकाल के बाद अन्तर्हिम काल का सागर तल, हिमकाल से पहले के सागर-तल के बराबर नही हो पाता है, वरन् कुछ नीचा ही रह जाता है। प्राय यह अनुमान किया जाता है कि यदि वर्तमान समय मे ग्रीनलैण्ड तथा अण्टार्कटिका की हिमचादर पूर्णतया पिघल जाय तथा उसका जल सागर मे

1. 'No proper interpretation of present day topography can be made unless the influences of geologic and climatic changes during the pleistocene period are properly studied'

लौट जाय तो वर्तमान सागर-तल मे 150 से 200 फीट की वृद्धि हो जायेगी। इस गणना के आधार पर यह विश्वास किया जाता है कि अधिकतम हिमाच्छादन के समय, जब कि 1,20,00,000 वर्गमील क्षेत्र पर 3600 फीट मोटी हिमचादर का आवरण व्याप्त था, सागर तल मे 300 से 350 फीट की गिरावट (Fall) हुई होगी। सागर-तल मे गिरावट के कारण सागरीय भागों के विभिन्न स्वरूपों पर अत्यधिक प्रभाव होता है। सागर-तल के नीचा हो जाने पर सागरीय लहरो के अपरदन द्वारा तरंग अपरदित प्लेटफार्म (Wavecut Platform) का निर्माण कर दिया था। इस तरह के स्थलरूपो के प्रमाण अनेक स्थानो पर पाये गये हैं। हिमकाल के अवसान के बाद जब सागर-तल मे चढाव या वृद्धि (Rise) हुई तो ये तरङ्ग अपरदित प्लेटफार्म जलमग्न (Submerged) हो गये। अनेक विद्वानो ने कई प्रमाणो के आधार पर इस निष्कर्ष का प्रतिपादन किया है कि प्लीस्टोसीन हिमकाल मे प्रत्येक बार जब कि हिमचादर पिघल जाती थी, सागर-तल अपने पहले वाले तल को प्राप्त नहीं कर पाता था। अर्थात् हिम के पिघलने पर भी सागर-तल प्रारम्भिक तल के बराबर नही हो पाता था। प्लीस्टोसीन हिमानीकरण, तथा सागर-तल मे क्रमिक उतार-चढाव (fall-rise) का प्रभाव प्रवाल-पालिप (Coral polyps) पर भी कम महत्त्वपूर्ण नही था। हिमानीकरण के समय अधिकाश प्रवाल-पालिप मर गये थे तथा जब हिमचादर पिघल गई तो बचे हुए प्रवाल-पालिप तरङ्ग-कृत प्लेटफार्म पर प्रवाल भित्ति (Coral reefs) का निर्माण करना प्रारम्भ कर दिया। सागर-तल मे गिरावट या उतार (fall) को ध्यान मे रखकर प्रसिद्ध विद्वान **डेली** ने कोरल रीफ (प्रवाल-भित्ति) के निर्माण से सम्बन्धित 'हिमानीनियंत्रण सिद्धान्त' (Glacial control Theory) का प्रतिपादन किया है।

2. हिम के आकर्षण द्वारा सागर-तल मे परिवर्तन—यह सामान्य नियम है कि सागरीय तटो पर स्थित उच्च पर्वतीय भाग सागर-तल को आकर्षण शक्ति के कारण कुछ ऊपर उठा देते हैं। उदाहरण के लिए चिली तथा अर्जेनटाइना लगभग समान अक्षाशीय विस्तार वाले हैं। चिली के तट पर एण्डीज पर्वत की स्थिति के कारण वहाँ के सागर-तल अर्जेनटाइना-तट के सागर-तल की अपेक्षा ऊँचा है। इससे यह प्रमाणित होता है कि उच्च भाग जल तल को प्रभावित करता है। इस सामान्य नियम के आधार पर प्लीस्टोसीन हिमकाल मे हिमाच्छादन उत्तरी गोलार्द्ध मे सर्वाधिक था। परिणामस्वरूप उत्तरी गोलार्द्ध के महाद्वीपो के उत्तरी भाग हिमावरण से अधिक ऊँचे हो गये थे। इस स्थिति के कारण दक्षिणी गोलार्द्ध का सागरीय जल उत्तरी गोलार्द्ध की ओर आकर्षित हुआ। फलस्वरूप दक्षिणी गोलार्द्ध के सागर तल मे उत्तरी गोलार्द्ध की अपेक्षा 15 से 30 फीट की गिरावट हो गई थी

3. स्थलभाग में अवतलन तथा उत्थान (Subsidence and upliftment of land)—प्लीस्टोसीन हिमकाल के स्थलीय भागो पर हिमावरण के कारण भार अधिक होने से स्थलीय भाग का धँसाव/अवतलन (Subsidendce) होने लगा। जब हिमचादर पिघल गई तो स्थल भाग मे उत्थान होने लगा अर्थात् प्लीस्टोसीन हिमानीकरण के समय प्रभावित क्षेत्रो मे सतुलन मे व्यवधान (Disturbance in isostasy) उपस्थित हो गया था। इस तथ्य के अनेक प्रमाण उत्तरी अमेरिका तथा उत्तरी यूरोप से प्रस्तुत किये जा सकते हैं। हिमानीकरण के समय हिमाच्छादन के कारण स्थलभाग मे अवतलन तथा हिम के पिघल जाने पर पुनरुत्थान (Re-elevation) की वास्तविक मात्रा का पता लगाना अत्यन्त कठिन है। परन्तु कई विद्वानो ने गणना के आधार पर बताया है कि हिमकाल के समय सुपीरियर झील के आस-पास 1500 फीट का अवतलन हो गया था तथा हिमचादर के पिघल जाने पर पुनः 1500 फीट तक स्थल भाग ने ऊपर उठकर अपने प्रारम्भिक तल को प्राप्त कर लिया। यह स्मरणीय है कि हिमाच्छादित भागो की सीमाओ पर भी अवतलन हुआ था, परन्तु इसकी मात्रा बहुत कम थी। यह स्मरणीय है कि अवतलन या उत्थान की गति अत्यन्त मन्द थी। यह क्रिया एक लम्बे समय मे घटित हुई थी। इन्हे आकस्मिक क्रिया नही मानना चाहिए। **ग्रेट लेक्स क्षेत्र** (Great Lakes Region) के पूर्वी भाग मे भी हिमचादर के कारण स्थलभाग मे अवतलन के प्रमाण मिले हैं। प्लीस्टोसीन युग के अन्त मे हिमचादर के कारण ग्रेट लेक्स के पूर्वी भाग मे अवतलन हो जाने से सागरीय भुजा (An arm of sea) का विस्तार **सैण्ट लारेन्स की घाटी** से लेकर **ओण्टारियो झील** तक हो गया। **चैम्पलेन झील** (Champlain Lake) भी इस सागर के अन्तर्गत हो गयी थी। वास्तव मे सागर का यह विस्तार लेब्राडोर हिमचादर के भार के कारण स्थलभाग मे अवतलन के कारण ही हुआ था। आगे चलकर हिमचादर पिघल गई तो स्थल भाग धीरे-धीरे ऊपर उठने लगा, जिस कारण नवनिर्मित सागर पीछे

हटने लगा तथा वर्तमान प्रवाह प्रणाली (Drainage pattern) का विकास हुआ। प्लीस्टोसीन हिमकाल के समय स्थलीय भागों के अवतलन तथा उत्थान के प्रमाण ऊँचाई पर स्थित फासिल्स (Fossils) द्वारा भी मिलते हैं। वर्तमान समय में अन्तिम प्लीस्टोसीन युग के सागरीय फासिल्स न्यूइङ्गलैंड क्षेत्र के मेन प्रान्त के तटीय भाग में वर्तमान सागर-तल से 200 फीट की ऊँचाई पर, चैम्पलेन झील के उत्तरी भाग पर सागर-तल से 500 फीट की ऊँचाई पर तथा जेम्स की खाड़ी के तट पर 600 फीट की ऊँचाई पर पाये गये हैं। इन प्रमाणों से यह परिलक्षित होता है कि हिमानीकरण के समय हिमचादर के भार के कारण उपर्युक्त स्थानों पर अवतलन हो गया था तथा उस तल पर सागरीय जीवावशेषों का सचयन हुआ था। बाद में हिमचादर के पिघल जाने पर अवलित भाग ऊपर उठ गये जिस कारण जीवावशेष भी उतनी ही ऊँचाई पर उठ गये जितना कि अवतलन हुआ था।

उत्तरी यूरोप में हिमचादर के भार के कारण स्थलीय भाग में अवतलन तथा हिमचादर के पिघलने पर उनमें (स्थल भाग) उत्थान के अनेक प्रमाण मिले हैं। अधिकतम हिमाच्छादन के समय फेनो-स्कैण्डिया (Fenno Scandia) क्षेत्र में भी व्यापक रूप से स्थलीय भाग का अवतलन (Subsidenece) हुआ था। हिमचादर के पिघलने के बाद धीरे-धीरे अवतलित भाग ऊपर उठ गये। यह विश्वास किया जाता है कि फेनो-स्कैण्डिया का मध्यवर्ती भाग सतुलन की स्थापना के अन्तर्गत वर्तमान समय में ऊपर उठ रहा है। बाल्टिक-सागर का आविर्भाव तथा पूर्ण विकास प्लीस्टोसीन हिमकाल के विभिन्न चरणों में अवतलन तथा उत्थान के कारण ही हुआ है।

4. वर्तमान स्थलाकृति पर प्रभाव (Effect on Present topography)—जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि वर्तमान स्थलाकृति का अन्तिम रूप प्लीस्टोसीन हिमानीकरण द्वारा ही सम्भव हो सका है। प्लीस्टोसीन हिमचादर के पिघलने के बाद स्थलखण्ड में जो उत्थान प्रारम्भ हुआ उस कारण अनेक सरिताओं में नवोन्मेष (*rejuvenation*) हो गया जिस कारण नदियों ने प्लीस्टोसीन हिमानीकरण द्वारा प्रभावित स्थलीय भागों में गहरे गार्ज का निर्माण कर डाला। कनाडा के क्यूबेक के पठार पर इस तरह नदियों में नवोन्मेष के कारण अनेक गार्ज का निर्माण हुआ है। स्थलीय भागों में उत्थान के कारण तरङ्गकृत सागरीय वेदिकायें (Marine benches) भी ऊपर उठ गयी, जिन पर प्लीस्टोसीन हिमकाल के सागरीय जीवावशेषों (fossils) के लक्षण इस समय भी देखे जा सकते हैं। अधिकांश क्षेत्रों में अन्त. सागरीय कैनियन (Submarine canyons—अन्त. सागरीय महाखण्ड) का निर्माण हुआ। प्लीस्टोसीन हिमकाल में सागर-तल के नीचे गिरने के कारण तरङ्गों द्वारा निर्मित प्लेटफार्म पर हिमचादर के बाद सागर-तल में वृद्धि के समय प्रवाल-पालिप (Coral-polyps) ने प्रवाल-भित्तियों (Coral-reafs) का बड़े पैमाने पर निर्माण किया। स्थलीय भागों पर महाद्वीपीय हिमकर (Continental ice sheets) के प्रसार तथा निवर्तन (Advancement and retreat) के परिणामस्वरूप विस्तृत रूप में हिमोढ का निक्षेप लम्बे-लम्बे तथा समानान्तर कटक (Ridges) के रूप में हुआ। वर्तमान समय में जर्मनी, पोलैण्ड, उत्तरी सयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा तथा स्वीडन में इस तरह के हिमोढ कटक (Moranic ridges) के अनेक प्रमाण मिलते हैं। हिमचादर के पिघलने तथा क्रमश पीछे हटने से अन्तिम हिमोढ (Terminal moraines) का जमाव इस तरह हुआ है कि कई समानान्तर हिमोढ कटक का निर्माण हो गया है। इन हिमोढों के मध्य जल के एकत्रित हो जाने के कारण अनेक दलदल तथा अनुपजाऊ निम्न भागों का निर्माण हो गया है। स्थान-स्थान पर अन्तिम हिमोढ के पीछे निचले भागों में जल के सचय हो जाने से छोटी-छोटी झीलों का विकास हो गया है। सोवियत रूस तथा पोलैण्ड की अन्तर्राष्ट्रीय सीमा पर प्रिपेट दलदल (Pripet Marsh) प्लीस्टोसीन हिम काल की ही देन है। हिमोढ के अलावा हिमानीकृत क्षेत्रों में अनेक एस्कर ड्रमलिन, रॉसमुटोन (Roche moutonnees) आदि स्थलरूपों का सृजन हुआ है। प्लीस्टोसीन हिमानीकरण का सर्वाधिक प्रभाव हिमानीकृत क्षेत्रों की हजारों की सख्या में स्थित झीलों में परिलक्षित होता है। हिमचादर के प्रसार के समय अपरदन तथा निवर्तन के समय निक्षेप के कारण प्रायः सभी प्रभावित क्षेत्रों में अनेकों की सख्या में हिम-झीलों (Glacial lakes) का निर्माण हुआ है। इन हिमकृत झीलों की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि ये एक साथ सैकड़ों की सख्या में पाई जाती हैं। फिनलैंड इसका प्रमुख उदाहरण है। यहाँ पर हिमकृत झीलें इतनी अधिक हैं कि मुख्य प्रवाह प्रणाली का निर्धारण करना कठिन ही नहीं असम्भव कार्य है। इसी कारण फिनलैंड की प्रवाह-प्रणाली

को अनिश्चित प्रवाह प्रणाली (Indeterminate drainage pattern) की संज्ञा प्रदान की जाती है। झीलों को अधिक संख्या के कारण फिनलैण्ड को "झीलों की वाटिका" (Garden of Lakes) कहा जाता है। स्वीडन की अनेक झीलों का निर्माण प्लीस्टोसीन हिमानीकरण के फलस्वरूप ही सम्भव हुआ है। वैटर्न (Vatern) तथा वेनर्न (Vanern) झीलें हिमानीकरण द्वारा ही निर्मित है। बाल्टिक सागर का विकास प्लीस्टोसीन हिमयान के विभिन्न चरणों में कई अवस्थाओं में हुआ है। उत्तरी अमेरिका में ग्रेट लेक्स (Great Lakes) का आविर्भाव तथा विकास निश्चित रूप से प्लीस्टोसीन हिमकाल के समय हिमनदों के बार-बार प्रसार (Advancement or dispersal) तथा निवर्तन (Retreat) के कारण ही हुआ है। पर्वतीय भागों में हिमनदों ने नदियों द्वारा निर्मित घाटियों को अपरदन द्वारा U आकार की घाटियों में बदल दिया। समस्त पर्वतीय उच्चावच घिस कर नीचा तथा तीक्ष्ण (Sharp) हो गया। स्थान-स्थान पर अनेक सर्क, लटकती घाटियों आदि का निर्माण हो गया। तटीय भागों से, जब कि सागर-तल नीचा था, हिमनदों ने गहरी घाटियों का निर्माण कर दिया। बाद में, जब कि सागर-तल ऊपर उठा तो ये भाग जलमग्न हो गये, जिससे फियोर्ड तटों का निर्माण हुआ। नार्वे तथा स्वीडन के फियोर्ड त- इसी तरह निर्मित हैं।

उत्तरी अमेरिका का हिमानीकरण (प्लीस्टोसीन) तथा ग्रेटलेक्स का आविर्भाव एवं विकास

सामान्य परिचय—प्लीस्टोसीन युग में उत्तरी अमेरिका का अधिकांश भाग हिमचादर (Ice sheet) द्वारा आच्छादित था। इस युग में हिमानीकरण के समय केवल



चित्र·348—उत्तरी अमेरिका का हिमानीकरण (प्लीस्टोसीन हिमकाल)। C कार्डिलेरिन हिमचादर, K. कीवाटिन हिमचादर, L लेब्राडोर हिमचादर।

एक ही बार हिमचादर का बड़े पैमाने पर प्रसार (Advancement) नही हुआ था वरन् कई बार प्रसार तथा निवर्तन (Retreat) हुए थे। उत्तरी अमेरिका मे विद्वानो ने चार क्रमिक हिमचादरीय प्रसार तथा चार-बार निवर्तन का उल्लेख किया है। प्रत्येक बार शीतल जलवायु के कारण जब हिम का सचयन अधिक हो जाता था तो हिम क्षेत्रो (Icefields) से हिम,चादर के रूप मे चारो दिशाओ मे बढने लगता था। परन्तु बीच मे ही जलवायु के उष्ण हो जाने के कारण हिमचादर पिघलने लगती थी तथा उसका निवर्तन अर्थात् पीछे हटना प्रारम्भ हो जाता था। इस तरह प्रत्येक हिमकाल के बाद एक अन्तर्हिमकाल (Interglacial period) का आगमन होता था। उत्तरी अमेरिका के हिमकालो तथा अन्तर्हिमकालो को निम्न रूप मे व्यक्त किया जा सकता है—

हिमकाल (Glacial Periods)	अन्तर्हिमकाल (Interglacial Periods)
1. नेब्रास्कान (Nebraskan)	→अफ्टोनियन (Aftonian)
2. कन्सान (Kansan)	→यारमाउथ (Yarmouth)
3. इलीनोइन (Illinoin)	→सगमन (Sngman)
4. विसकान्सिन (Wisconcin)	→पोस्ट ग्लैसियल (Post glacial)

उत्तरी अमेरिका मे हिमचादर का प्रसार तीन प्रमुख हिमक्षेत्रो (Snow fields) से हुआ माना जाता है। 1. लेब्राडोर हिम चादर (Labrador ice sheet), 2 हडसन खाड़ी हिमचादर या कीवाटिन हिमचादर (Hudson bay or Keewatin ice sheet) तथा 3. राकी हिमचादर (Rocky ice sheet)। पर्याप्त विस्तार के बाद आगे चलकर लेब्राडोर तथा कीवाटिन हिमचादरें आपस मे मिल गईं, जिससे विस्तृत लारेन्टाइड हिमचादर (Laurentide ice sheet) का विकास हुआ। उत्तरी भाग मे चलने वाली हिमचादर ने हिमानीकरण मे पूर्व की सेन्ट लारेन्स की बेसिन को पूर्णतया ढक लिया था तथा दक्षिण मे मध्यवर्ती निम्न मैदान (Central lowland) मे इस चादर ने सेण्टलारेन्स तथा मिसीसिपी नदियो के प्राचीन जल विभाजक के आगे तक अपना विस्तार कर लिया था। पूर्व मे हिमचादर ने उत्तरी-पूर्वी अप्लेशियन क्षेत्र को पूर्णतया प्रभावित किया है। यहाँ पर हिमानीकरण के फलस्वरूप अनेक अपरदनात्मक तथा निक्षेपात्मक स्थलरूपो का विकास हुआ है। पर्वतीय भागों का रूप नुकीली श्रेणियो तथा शृंग के रूप मे बदल दिया गया है। यह स्मरणीय है कि विसकान्सिन प्रान्त के दक्षिण-पश्चिम म लगभग 10,000 वर्गमील का क्षेत्र हिमानीकरण से अप्रभावित था, यद्यपि यह अधिकतम हिमानीकरण से अप्रभावित था यद्यपि यह अधिकतम हिमानीकरण के समय हिम चादर की दक्षिणी सीमा से

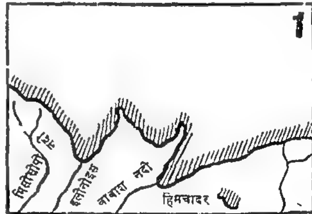


चित्र 349—यूरोप महाद्वीप का हिमानीकरण (प्लीस्टोसीन हिमकाल)।

उत्तर मे स्थित था। इस क्षेत्र को **"हिमानीकरण से अप्रभावित क्षेत्र** (Non glaciated region) **या ड्रिफ्ट विहीन क्षेत्र** (Driftless region) कहते हैं। प्लीस्टोसीन हिमानीकरण का प्रभाव उत्तरी अमेरिका के प्रभावित क्षेत्र की स्थलाकृति पर कई रूपो मे हुआ है। कई स्थानों पर तो नये स्थलरूपों का निर्माण हो गया है, जबकि अन्य स्थानो पर पूर्व निर्मित स्थलरूपो मे सुधार तथा परिवर्तन हुए हैं। **मध्यवर्ती निम्न भाग** (Central lowland) के उत्तरी भाग की सतह की आकृतियों का विकास निश्चित रूप से हिमानीकरण के परिणाम-स्वरूप ही हुआ है। हिमचादर ने लौटते समय विस्तृत क्षेत्र मे रेत, बजरी (Gravel) तथा गोलाश्ममृत्तिका (Boulder clay) का निक्षेप बड़े पैमाने पर किया है। यदि ये निक्षेप अधिक पथरीले तथा दलदली नही हैं तो उनका प्रयोग कृषि-क्षेत्रों के रूप मे किया जाता है। परन्तु यदि गोलाश्म की मात्रा अधिक हो जाती है तो समस्त भाग एक अनुपजाऊ क्षेत्र मे परिवर्तित हो जाता है। यही कारण है कि हिमानीकरण द्वारा बिछायी गई पथरीली मिट्टियों के कारण न्यूइंग्लैंड क्षेत्र तथा कनाडा के अटलांटिक प्रान्तों मे कृषि का कार्य नगण्य हो गया है।

ग्रेट लेक्स के विकास की अवस्थायें
(Stages of Development of Great Lakes)

उत्तरी अमेरिका के भौतिक रंगमंच पर **प्लीस्टोसीन हिमानीकरण** द्वारा निर्मित स्थलरूपों मे ग्रेट लेक्स सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। ग्रेट लेक्स के अन्तर्गत **सुपीरियर** (Superior), **मिशिगन** (Michigan), **ह्यूरन** (Huron), **ईरी** (Erie) तथा **ओण्टारियो** (Ontario) झीलों को सम्मिलित किया जाता है। ग्रेट लेक्स का वर्तमान रूप हिमानीकरण के समय अन्तिम हिमचादर के पूर्णतया हट जाने के बाद ही प्राप्त हो सका था। प्राय ऐसा विश्वास किया जाता है कि प्लीस्टोसीन हिमकाल के पहले, वर्तमान ग्रेट लेक्स के स्थान पर एक निम्न बेसिन थी जो कि कई नदी-घाटियों से मिलकर बनी थी। इस बेसिन की प्रवाह प्रणाली अटलांटिक सागर की ओर थी। सम्पूर्ण क्षेत्र वर्तमान समय की अपेक्षा ऊँचा था तथा निम्न बेसिन चारो तरफ से उच्च भागो से घिरी थी। प्लीस्टोसीन हिमकाल के समय जब **लेब्राडोर** तथा **कीवाटीन हिमकेन्द्रों** से हिमचादर का प्रसार दक्षिण की ओर होने लगा तो इस बेसिन मे हिम के सचय के कारण **उसका** अटलाण्टिक सागर की ओर का प्रवाह-मार्ग अवरुद्ध हो गया। इस हिमयुक्त बेसिन के दक्षिण मे वह प्राचीन जलविभाजक (Watershed) था, जो कि प्राचीन सेन्ट लारेन्स की घाटी को मिसीसीपी क्रम से अलग करता था। **हिमचादर का** प्रसार इस जलविभाजक के दक्षिण तक हो गया था। इस समय हिमचादर के अग्रभाग से हिम के पिघलने से प्राप्त जल का निकास दक्षिण की ओर **ओहियो** तथा **मिसौरी** नदियों से होकर मिसीसिपी क्रम से सम्बन्धित था। जैसे-जैसे हिमचादर पिघल कर पीछे हटती गयी, उससे पिघला हुआ जल विभिन्न मार्गों से जलविभाजक से होकर मिसीसीपी प्रवाह-क्रम से मिल जाता था। धीरे-धीरे हिमचादर पीछे हटती गयी तथा झीलों का विकास होता गया। हिमचादर जब पूर्णतया पीछे हट गयी तो सेन्टलारेंस का मुहाना खुल गया। चूंकि प्रारम्भ मे निम्न बेसिन का निकास अटलांटिक महासागर की ओर था, अत सेंटलारेंस के मुहाने के खुलते ही ग्रेट लेक्स को अटलांटिक महासागर मे बह



चित्र 350—महान झीलो के विकास की प्रथमावस्था।

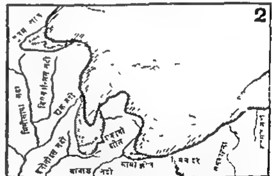
जाना चाहिये था परन्तु ऐसा नही हो पाया, क्योंकि सेण्टलारेंस के मुहाने के पास स्थल भाग धीरे-धीरे ऊपर उठने लगा। इस कारण ग्रेट लेक्स का अधिकाश जल गड्ढो मे अवरुद्ध हो गया। परिणामस्वरूप ग्रेट लेक्स तथा सेण्टलारेंस के वर्तमान रूप प्राप्त हुए। ग्रेट लेक्स के विकास, जैसा कि ऊपर बताया गया है, एक ही अवस्था मे नही हुए हैं वरन् कई अवस्थाओं मे हुए हैं। ग्रेट लेक्स के विकास की अवस्थाओं पर दो तथ्यों का सर्वाधिक प्रभाव हुआ है। 1 हिमानीकरण से पहले की निम्न बेसिन तथा पुराना जल विभाजक (मिसीसिपी तथा प्राचीन सेण्ट लारेंस नदियों के बीच) एवं 2. महाद्वीप के उत्तरीपूर्वी भाग मे मन्द किन्तु अनियमित

उत्थान ; हिमचादर के पूर्णतया हट जाने पर भी झीलें अदृश्य नही हो पायी। इसके तीन प्रमुख कारण बताये जाते हैं—1 हिमानीकरण के बाद स्थल भाग अपनी प्रारम्भिक ऊँचाई या तल को प्राप्त नही कर सका, 2. हिमानीकरण के समय निक्षेप द्वारा हिमोढ के कटक के रूप मे जमाव के कारण झीलों के जल मे अवरोध तथा 3. उत्तरी-पूर्वी भाग का उभार। विभिन्न प्रमाणो तथा पर्यवेक्षणो के आधार पर ग्रेट लेक्स के विकास मे सात अवस्थाओ का प्रतिपादन किया गया है।

प्रथम अवस्था— सर्वाधिक हिम-प्रसार के समय हिम चादर का विस्तार, मिसीसिपी तथा सेण्ट लारेंस के अग्रभाग से निकले हुए जल का निकास मिसीसिपी प्रवाह क्रम मे होकर मध्यवर्ती निम्न भाग (Central lowland) की ओर था। वर्तमान ग्रेट लेक्स का समस्त भाग हिम-चादर से आच्छादित था।

द्वितीय अवस्था—उपर्युक्त अवस्था के बाद हिमचादर का पिघलना तथा पीछे हटना प्रारम्भ हो गया। हिम-चादर के पिघलने से प्राप्त जल, हिमचादर द्वारा छोड़े गये अन्तिम हिमोढ (Terminal moraines) तथा हिम-चादर के मध्य एकत्रित होकर झील के रूप मे परिवर्तित होने लगा। हिमचादर का जब निवर्तन (Retreat) होने लगा तो स्थान-स्थान पर हिमचादर का रूप हिम के भार के कारण लोब (Lobe-लटकता हुआ गोलाकार भाग) के समान होने लगा। हिमचादर, पिघलने के कारण जब प्राचीन जलविभाजक (Old watershed) के उत्तर खिसक गई तो जलविभाजक तथा हिमचादर के मध्य जल अवरुद्ध होकर एक विस्तृत जल-क्षेत्र या बेसिन मे परिवर्तित हो गया। इस बेसिन मे स्थित जल का तल जलविभाजक के गर्तो तथा कॉल (Cols) के बराबर हो गया जिस कारण अतिरिक्त जल, जलविभाजक को पार करके छोटी-छोटी सरिताओ से होकर मिसीसिपी क्रम मे मिलने लगा। पूर्व मे न्यूयार्क के पहाड़ी भाग मे अवरुद्ध जल के निकास का सम्बन्ध थोड़े समय के लिए (अस्थायी रूप मे) ससक्वेहना (Susquehanna) नदी की उत्तरी शाखा से हो गया था।

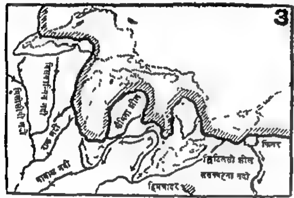
तृतीय अवस्था—पुन हिमचादर के पिघलने तथा उत्तर की ओर सरकने के कारण हिमयुग से पूर्व की निर्मित सेण्टलारेंस की घाटी की सहायक घाटियो का दक्षिणी भाग हिमचादर मे अनाच्छादित (Uncovered) हो जाने से छिछली बेसिन के रूप मे बदल गया। उत्तर की ओर सरकती हुई हिमचादर लोब (Lobe) के रूप मे परिवर्तित होने लगी। परिणामस्वरूप वर्तमान सुपीरियर झील के दक्षिणी भाग मे डुलुथ झील (Duluth lake), मिशिगन के दक्षिण मे शिकागो झील (Lake Chicago) तथा ईरी झील के दक्षिण-पश्चिम मे मामी झील (Lake Maumee) का निर्माण हो गया। इन नवनिर्मित झीलो की प्रवाह-दिशा दक्षिण की ओर मिसीसीपी क्रम मे थी। डुलुथ झील St Croix नदी से होकर दक्षिण मे मिसीसीपी से सम्बन्धित थी। इसी तरह शिकागो झील का जल इलीनोइस नदी (Illinois river) से होकर एव मामी झील का जल वाबाश नदी (Wabash) से होकर मिसीसीपी क्रम से मिलने लगा। स्पष्ट है कि इस अवस्था तक नवनिर्मित तीन झीलो का जल स्वतंत्र रूप मे प्रवाहित होकर मिसीसीपी क्रम मे मिलता था। जैसे-जैसे हिमचादर उत्तर की ओर हटती गई, इन झीलो का विस्तार होता रहा। इस अवस्था मे प्रवाह-क्रम की दो दिशायें थी। झीलो का जल तो मिसीसीपी क्रम से होकर प्रवाहित होता था, परन्तु पूर्व मे हिमचादर के पिघलन से प्राप्त जल का निकास ससक्वेहना तथा हडसन नदियो से होकर होता था, देखिये चित्र 351। जब मिशिगन के दक्षिणी भाग मे अधिकाश हिम पिघल कर लुप्त हो गया तो सैगिना की खाड़ी (Saginaw Bay) मे एक लोब (Lobe) का निर्माण



चित्र 351—डुलुथ, शिकागो तथा मामी झील के विकास की अवस्था।

हुआ। इस लोब के अग्रभाग मे सैगिना झील (Lake Saginaw) का विकास हो गया। सैगिना झील का जल (वर्तमान) ग्रैण्ड नदी (Grand river) से होकर शिकागो झील मे जाने लगा। इसी समय मामी झील का जल एक नवीन मार्ग द्वारा सैगिना झील से मिल गया। परिणाम-स्वरूप मामी झील ने वाबाश नदी के निकास (Outlet) का परित्याग कर दिया। अब मामी झील का जल

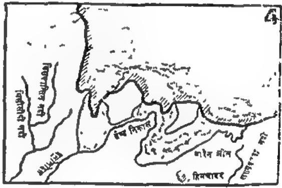
नवीन विकास द्वारा सैंगिना झील से होकर पुन ग्रैण्ड नदी से होकर शिकागो झील मे जाने लगा। यहाँ पर एकत्रित जल इलीनोइस नदी (Illinois river) से होकर मिसीसीपी क्रम मे मिल जाता था। हिमचादर के क्रमश: उत्तर हटते जाने के साथ ही साथ मामी झील का भी विस्तार होता रहा। इस समय तक समस्त (वर्तमान) ईरी से हिमचादर हट चुकी थी। परिणामस्वरूप पूर्व तथा उत्तर-पूर्व की ओर मामी झील के विस्तार होने से एक विस्तृत नवीन झील का विकास हुआ जिसे **ह्विटिलसी झील** (Whittlesey Lake) के नाम से जाना जाता है। इस झील का जल उत्तर की ओर सैंगिना झील से होकर, पुन पश्चिम दिशा मे होकर



चित्र 352—ह्विटिलसी झील की अवस्था।

शिकागो झील से मिल जाता था, जहाँ से समस्त जल इलीनोइस नदी से होकर मिसीसीपी क्रम से मिल जाता था। इस अवस्था को '**ह्विटिलसी झील की अवस्था**' कहते है (देखिये चित्र 352)। इसी समय न्यूयार्क प्रान्त मे **फिंगर झील** (Finger Lake) का निर्माण हुआ, जिसका जल कुछ समय तक ससक्वेहना नदी से होकर प्रवाहित होता रहा। हिमचादर के पुन: उत्तर की ओर हट जाने से वर्तमान ईरी झील का समस्त भाग तथा ओण्टारियो का कुछ भाग हिम से अनाच्छादित (Uncovered) हो गया। परिणामस्वरूप सैंगिना झील तथा ह्विटिलसी झील मिल कर एक विस्तृत झील मे बदल गयी। इस नवीन झील का नामकरण **वारेन झील** (Warren Lake) किया गया। पूर्व मे इस झील का इतना अधिक विस्तार हो गया है कि इसने न्यूयार्क प्रान्त की **फिंगर झील** (Finger Lake) को भी अपने अन्तर्गत कर लिया। वारेन झील का जल **ग्रैण्ड निकास** (Grand Outlet) से होकर शिकागो झील तथा पुनः इलीनोइस नदी से होकर मिसीसीपी क्रम से मिलने लगा। इस अवस्था को **वारेन झील की अवस्था** (Stage of Lake Warren) की संज्ञा प्रदान की जाती है (देखिये चित्र 353)।

चतुर्थ अवस्था—हिमचादर के पुन: उत्तर की ओर सरकने पर **झील लुण्डी** (Lake Lundy) का निर्माण हुआ। पश्चिम की ओर इसका विस्तार सैंगिना झील तक तथा पूर्व की ओर ह्यूरन झील के दक्षिणी भाग तक हो गया। ओण्टारियो के उत्तर मे किर्कलैण्ड के पास भी इस झील का विस्तार हो गया। इस तरह लुण्डी झील का विकास, सैंगिना झील, दक्षिणी ह्यूरन तथा समस्त ईरी के जल के सम्मिलित भागो द्वारा हुआ। इस अवस्था मे लुण्डी झील का निकास, **मोहक निकास** (Mohawk outlet) द्वारा हडसन से होकर अटलाण्टिक महासागर मे हो गया। सैंगिना झील के ग्रैण्ड नदी द्वारा पश्चिम की ओर के निकास की समाप्ति हो गई।



चित्र 353—वारेन झील की अवस्था।

शिकागो झील का निकास वर्तमान मिशिगन के लगभग हो गया था तथा डुलुय झील, वर्तमान सुपिरियर के आधे भाग मे विस्तृत थी। डुलुय तथा शिकागो झीलो का सम्बन्ध अब भी मिसीसीपी क्रम से था। हिमचादर के पुन उत्तर की ओर सरकने से ओण्टारियो झील का अधिकाश भाग अनाच्छादित हो गया, जिसमे **इरोक्विस झील** (Lake Iroquis) का विकास हुआ (चित्र 354).।

पचम अवस्था—पचम अवस्था के आगमन के समय वर्तमान झीलो की बेसिन से हिमचादर का पूर्णतया लोप हो गया था। सुपीरियर, मिशिगन तथा ह्यूरन झीलो का जल सम्मिलित होकर एक विस्तृत झील के रूप मे परिवर्तित हो गया। इस झील का नामकरण **अलगानिकन झील** (Lake Algonikan) किया गया। हिमचादर के उत्तर की ओर हटने के कारण जार्जिया की खाड़ी तथा इरोक्विस झील (वर्तमान ओण्टारियो) के बीच का गर्त

भाग अनाच्छादित हो गया, जिस कारण अलगानिकन झील (सुपीरियर, मिशीगन तथा ह्यूरन का सम्मिलित रूप) का जल ट्रेन्ट नदी के निकास (Trent R. outlet) से होकर इरोक्विस झील में पहुँचने लगा। ईरी का जल भी इरोक्विस मे पहुँचने लगा। यहाँ से समस्त जल मोहक निकास से होकर हडसन नदी द्वारा अटलांटिक महासागर मे पहुँचने लगा। हिमचादर के सरकने के साथ ही ईरी तथा ओण्टारियो झील के बीच एस्कर्पमेन्ट (Escarpment) अनाच्छादित हो गया था। अत ईरी का जल इस एस्कार्पमेन्ट से होकर इरोक्विस मे जाते समय प्रपात बनाता था। नियाग्रा प्रपात का प्रारम्भ यही से होता है। इस समय तक सेण्टलारेन्स मार्ग हिम से अवरुद्ध था। आगे चलकर ह्यूरन का कुछ जल सेण्ट क्लेयर निकास (St Clair Outlet) से होकर ईरी में जाने लगा। शिकागो निकास (Chicago outlet) भी बन्द हो गया (देखिये चित्र 355)।



चित्र 354-लुण्डी झील तथा इरोक्विस झील की अवस्था।



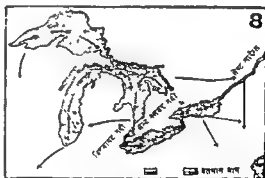
चित्र 355-अलगानिकन झील की अवस्था।

षष्ठम अवस्था—हिमचादर के और अधिक उत्तर की ओर सरकने पर सेण्टलारेन्स की घाटी से हिम पूर्णतया हट गया। परिणामस्वरूप सागरीय जल का विस्तार



चित्र 356-चैम्पलेन सागर तथा ओटावा निकास की अवस्था।

चैम्पलेन सागर (Champlain Sea) के रूप मे समस्त सेण्टलारेन्स की घाटी (ओण्टारियो तक) और हडसन मोहक द्वार (Hudson-Mohawk Gap) तक हो गया इसी समय ओटावा निकास (Ottawa outlet) खुल गया जिस कारण सुपीरियर, मिशिगन तथा ह्यूरन झीलो का जल ओटावा निकास से होकर चैम्पलेन सागर मे जाने लगा।



चित्र 357—वृहद् झीलो के पूर्ण विकास की अवस्था तथा उनका वर्तमान रूप।

ईरी झील का जल नियाग्रा प्रपात से होकर ओण्टारियो झील से होकर चैम्पलेन सागर तक पहुँचता था। इस प्रकार इस अवस्था तक नियाग्रा प्रपात से होकर केवल ईरी का जल ही प्रवाहित होता था (देखिये चित्र 356)।

सप्तम अवस्था—अन्तिम अवस्था मे हिमचादर का पूर्णतया निवर्तन हो गया था। हिमचादर के हट जाने से भार में कमी होने से महाद्वीप का उत्तरी-पूर्वी भाग ऊपर उठने लगा, जिस कारण ऊपरी सेण्टलारेन्स तथा हडसन

चैम्पलेन निम्न भाग मे सागरीय जल का निवर्तन हो गया। प्रत्येक झील के आकार मे ह्रास हुआ जिससे उनका वर्तमान रूप प्राप्त हो चुका। **ओटावा निकास (Ottawa outlet)** की समाप्ति हो गई। सुपीरियर, मिशिगन तथा ह्यूरन झीलों का जल सेण्ट क्लेयर नदी मे होकर ईरी झील मे जाने लगा। वहां से पुनः नियाग्रा नदी मे होकर ओण्टारियो झील तथा अन्त मे सेण्टलारेन्स नदी द्वारा अटलाण्टिक महासागर मे जाने लगा। इस तरह ग्रेट लेक्स का वर्तमान रूप तथा उनकी प्रवाह प्रणाली का अन्तिम रूप प्राप्त हुआ (देखिये चित्र 357)।

अध्याय 26

परिहिमानी स्थलाकृति

(Periglacial Landscape)

सामान्य परिचय

'परिहिमानी' का शाब्दिक अर्थ **'हिमानी के आस-पास'** (Around the ice) होता है परन्तु इसका प्रयोग **'परिहिमानी स्थलाकृति'** तथा **'परिहिमानी जलवायु'** दोनों रूपों में किया जाता है। परिहिमानी जलवायु उसे कहते हैं, जहाँ पर तापक्रम इतना नीचा होता है कि हिमपात तो होता है परन्तु उसमें हिमागार (Snow fields) तथा हिमानी (Glaciers) का आविर्भाव नहीं हो पाता है। हिमानी के समीपी भाग में भी, जहाँ पर धरातल जम जाता है, परन्तु उसमें गति नहीं हो पाती है, परिहिमानी वातावरण देखने को मिलता है। वर्तमान समय में परिहिमानी स्थलाकृति पर अधिकांश विद्वानों का ध्यान टिका हुआ है परन्तु परिहिमानी स्थलाकृति पर प्राप्त आधुनिक विवरण के पीछे एक लम्बा इतिहास छिपा हुआ है। उन्नीसवीं सदी में ही कुछ विद्वानों (James Geikie, 1874) को शीत जलवायु में हिमानी से अलग कुछ विशिष्ट स्थलरूपों के निर्माण का आभास मिल गया था, परन्तु वे किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाये थे। सन् 1900 ई० में F E Matthes ने निवेशन (Nivation) नामक प्रक्रम (Process) का उल्लेख किया जो कि ऐसी जलवायु में सक्रिय होता है, जिसमें तापक्रम के उतार-चढ़ाव होने से क्रमशः **हिमीकरण-हिम-द्रवण** (Freeze thaw) तो होता है परन्तु **पूर्ण हिमानीकरण** (Glaciation) नहीं हो पाता है। 1906 में **एण्डर्सन** (J G. Anderson) ने **'उप हिमानी जलवायु'** (Sub-glacial climate) का उल्लेख किया जिसमें **मृदासर्पण** (Solifluction) प्रक्रम अधिक सक्रिय होता है। 1909 में सबसे पहले **लूजिन्स्की** (W Lozinski) ने परिहिमानी Periglacial' शब्द का प्रयोग किया, परन्तु ये परिहिमानी को एक सुनिश्चित परिभाषा में नहीं रख सके और इन्होंने इसके अन्तर्गत केवल **तुषार-अपक्षय** (Frost-weathering) को ही प्रभावशाली प्रक्रम के रूप में स्वीकार किया। इसके बाद परिहिमानी प्रक्रम के अध्ययन का सिलसिला प्रारम्भ हो गया तथा उसमें **सपाटीकरण** (Equiplanation—D. D Cairnes, 1912), **तुंग सपाटीकरण** (Altiplanation—H. M. Eakin, 1916), **तुषार-उत्क्षेपण** (Frost heaving — B Hogbom, 1914) आदि प्रक्रमों को सम्मिलित किया गया।

वर्तमान समय में 'परिहिमानी' नामावलि का प्रयोग विस्तृत रूप में किया जाता है, जिसका तात्पर्य उस मण्डल से होता है जो कि मृत या वर्तमान हिमानी के चारों तरफ समीपी भागों में पाया जाता है।

परिहिमानी जलवायु (Periglacial Climate)—किसी निश्चित परिहिमानी जलवायु का निर्धारण करना कठिन कार्य है, क्योंकि एक स्थान से दूसरे स्थान की परिहिमानी जलवायु सम्बन्धी दशाओं में पर्याप्त अन्तर होता है। इतना ही नहीं, परिहिमानी मण्डल भी परिवर्तनशील होते हैं। 1950 में पेल्टियर (L.C. Peltier) ने परिहिमानी मार्फोजिनेटिक प्रदेश की सकल्पना प्रस्तुत की जिसमें औसत वार्षिक तापक्रम, — 15° से० से 1° से०; औसत वार्षिक वर्षा 120 से 1400 मि० मि० (हिम के रूप में) होती है तेज वायु चला करती है और बहता जल अधिक सक्रिय नहीं होता है। परन्तु इस तरह का साधारणीकरण मान्य नहीं हो सकता है। परिहिमानी जलवायु **आइसलैण्ड तुल्य** (सागरीय आर्कटिक) हो सकती है जिसमें औसत वार्षिक तापक्रम नीचा होता है परन्तु 0° से० से ऊपर होता है तथा वर्षा अधिक होती है, (अधिकांश भाग शरदकालीन हिमवर्षा के रूप में प्राप्त होता है) या **साइबेरिया तुल्य** (महाद्वीपीय आर्कटिक) हो सकती है जिसमें तापक्रम अत्यन्त कम होता है तथा जाड़े में — 60° से 0° तक हो जाता है और वर्षा हल्की होती है। परन्तु ग्रीष्मकाल में जल वर्षा के रूप में ही होती है। सामान्य रूप में परिहिमानी जलवायु की निम्न विशेषतायें बतायी जा सकती हैं। जाड़े का मौसम लम्बा होता है, तापक्रम कम होता है और यह 0° से० से नीचा होता है। इस मौसम में धरातलीय जल तथा भूमिगत जल का हिमीकरण (Freezing) हो जाता है, जिस कारण अपक्षय एवं अपरदन के कार्य का स्थगन हो जाता है। ग्रीष्मकाल में तापक्रम इतना अवश्य हो जाता है कि रात में तुषारपात नहीं होता है और धरातलीय हिम का पिघलना प्रारम्भ हो जाता है, जिस कारण नदियाँ अपरदनात्मक कार्य में सक्रिय हो जाती हैं तथा मृदासर्पण (Soil creep) प्रारम्भ हो जाता है, परन्तु यह स्थिति

लम्बी अवधि तक नही रह पाती है, क्योकि जल शीघ्र ही सूख जाता है। ग्रीष्म एवं शीतकाल के मध्यान्तर समय (Transitional period) परिहिमानी स्थलाकृति के विकास के लिये सर्वाधिक प्रेरक होते हैं, क्योकि इस समय दिन मे हिम का द्रवीकरण (Thawing) तथा रात में जल का हिमीकरण होता रहता है, जिससे दैनिक हिमीकरण-हिम द्रवीकरण चक्र (Diurnal freeze-thaw cycle) प्रारम्भ हो जाता है, जो कि चट्टानों के यांत्रिक विघटन मे सहायक होता है।

परिहिमानी क्षेत्र—ऊपर यह बताया गया है कि परिहिमानी क्षेत्र स्थायी नही होते हैं। यही कारण है कि प्लीस्टोसीन काल मे जो क्षेत्र परिहिमानी क्षेत्र थे अब उनके अधिकांश भाग उससे मुक्त हो चुके हैं। वर्तमान समय मे भूपटल का लगभग पांचवा भाग परिहिमानी जलवायु के अन्तर्गत स्थित है, जिसका अधिकांश भाग उत्तरी गोलार्द्ध मे है। इनमे से अलास्का और कनाडा का टुण्ड्रा प्रदेश, उत्तरी यूरोप का भाग तथा साइबेरिया का अधिकांश भाग परिहिमानी जलवायु के अन्तर्गत आता है। सोवियत रूस के समस्त क्षेत्रफल का लगभग आधा भाग परिहिमानी जलवायु के अन्तर्गत आता है। निम्न अक्षांशो के उच्च पर्वतीय भागो मे ऊँचाई पर भी परिहिमानी क्षेत्र मिलते है। भारत मे पूर्वी हिमालय प्रदेश मे परिहिमानी क्षेत्र मिलते हैं। परिहिमानी क्षेत्र का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भाग परमाफ्रास्ट क्षेत्र (स्थायी तुषार भूमि—Permafrost) के रूप मे होता है। इसके अलावा गतिशील हिमानी के चारो तरफ भी परिहिमानी क्षेत्र मिलता है। अन्य क्षेत्र छिटपुट रूप मे होते हैं, जैसे हिमखण्ड (Snow patch) आदि।

परमाफ्रास्ट क्षेत्र (Permafrost Areas)

सामान्य परिचय—मूलर (S. W. Muller) ने 1947 मे भूपटल के उस भाग के लिये, जिसका तापक्रम वर्षों तक हिमांक के नीचे रहता है तथा वह भाग हिमीकरण अवस्था मे रहता है, सर्वप्रथम परमाफ्रास्ट शब्द का प्रयोग किया, यद्यपि इस तरह के भाग की पहचान 1806 मे लीना डेल्टा मे ऐडम्स द्वारा कर ली गई थी तथा ट्रान्स साइबेरियन रेलवे के निर्माण के समय जमे हुए (Frozen) धरातलीय भाग के अध्ययन का सिलसिला चल पड़ा था। आधुनिक परिभाषा के अनुसार परमाफ्रास्ट वह क्षेत्र होता है 'जो कि धरातलीय सतह से नीचे विभिन्न गहराइयो तक स्थित होता है तापक्रम हजारो वर्ष तक हिमांक के नीचे रहता है। जल आदि जमी अवस्था में होते हैं, धरातलीय सतह पर स्थायी हिमचादर नही होती है तथा इस भाग के ऊपरी हिस्से मे एक सक्रिय सतह (Active layer) होती है, जिसके ऊपर बदलते मौसम के साथ तापक्रम मे परिवर्तन होता रहता है।' ब्रायन (Krik Bryan) ने 1946 मे परमाफ्रास्ट नामावली को भ्रामक बताया तथा सतत जमे हुए धरातलीय भाग के लिये (लैटिन भाषा) परजेलीसोल (Pergelisol) शब्द का प्रयोग किया, जिसका तात्पर्य होता है—'सतत जमा हुआ धरातल' (Per = सतत या सदैव, gelare = जमना, हिमीकरण, Solum = मिट्टी या भूमि)। परन्तु वर्तमान समय मे परमाफ्रास्ट का ही प्रयोग अधिक प्रचलित है।

परमाफ्रास्ट की गहराई—परमाफ्रास्ट की गहराई में एक स्थान से दूसरे स्थान मे पर्याप्त अन्तर होता है, क्योकि यह कई कारको—स्थान विशेष की जलवायु, धरातलीय बनावट, जल-सम्बन्धी दशायें आदि-पर आधारित होती है। महाद्वीपीय जलवायु वाले भागों में शरदकालीन न्यून तापक्रम के कारण इसकी गहराई अधिक होती है। अधिक गहराई के लिये धरातल के ऊपर हिमचादर की अनुपस्थिति आवश्यक है क्योकि हिमचादर धरातलीय भाग को कम तापक्रम प्राप्त करने से बाधा उपस्थित करती है। सागरीय जलवायु वाले भाग मे परमाफ्रास्ट छिटपुट रूप से मिलता है, क्योकि यह केवल ढालो के छाया वाले भागो तथा घाटियो के तलस्थ भागो मे ही सम्भव हो पाता है। परमाफ्रास्ट के विकास के लिये 1° से 4° सें० का औसत वार्षिक तापक्रम आदर्श होता है। वर्तमान परमाफ्रास्ट मण्डल मे साइबेरिया के उत्तरी भाग (नार्डविक) मे 600 मीटर की अधिकतम गहराई का पता लगाया गया है। इसके अलावा साइबेरिया के तायमीर प्रायद्वीप (Taymyr Peninsula) मे 500 मीटर, उत्तरी अलास्का (Cape Simpson) मे 314 मीटर तथा उत्तरी कनाडा मे 450 मीटर तक गहराई वाले परमाफ्रास्ट का पता लगाया गया है।

परमाफ्रास्ट के प्रकार—जल की मात्रा के आधार पर परमाफ्रास्ट को 'शुष्क' और 'आर्द्र' या 'हिमकृत' दो प्रकारो मे रखा जाता है। जब धरातलीय भाग मे (नीचे) भूमिगत जल की मात्रा निहायत कम होती है तो तापक्रम के हिमांक से कम होने पर भी हिमीकरण नही (जल के अभाव मे) हो पाता है। इस तरह के मण्डल को 'शुष्क परमाफ्रास्ट' कहते हैं। परन्तु भूमिगत जल की मात्रा पर्याप्त होती है तो उसका हिमीकरण बड़े पैमाने पर होता है। इसे 'आर्द्र' या 'हिमकृत परमाफ्रास्ट' कहते हैं

क्षेत्रीय विस्तार के आधार पर रे (L L Ray) ने 1951 मे परमाफास्ट मण्डल को तीन प्रकारो में विभा- किया है (i) **अविच्छिन्न परमाफ्रास्ट** (Continuous permafrost)—इसमे वह समस्त भाग, जहाँ पर परमा- फ्रास्ट के लिये आदर्श दशायें पाई जाती हैं, हिमकृत अवस्था मे होता है। केवल बड़ी-बडी झीलो, नदियो या आन्तरिक सागरो के निचले भाग ही परमाफ्रास्ट-रहित हो सकते हैं। कनाडा तथा साइबेरिया की वर्तमान जल- वायु-दशाओ मे इसका अधिकतम वितरण पाया जाता है, (ii) **विच्छिन्न परमाफ्रास्ट** (Discontinous permafrost) —इस प्रकार का परमाफ्रास्ट मण्डल वह होता है, जिसमे बीच-बीच मे कुछ ऐसे क्षेत्र होते हैं, जिनका हिमीकरण नही हो पाता है; तथा (iii) **विकीर्ण परमाफ्रास्ट** (Sporadic permafrost)—उसे कहते हैं जो कि उन क्षेत्रो मे, जहाँ पर हिमीकरण की दशाये नही मिलती हैं और हिमीकरण नही होता है, छिट-पुट रूप मे प्रारम्भिक परमाफ्रास्ट के अवशिष्ट रूप मे मिलते हैं। वास्तव मे ये क्षेत्र प्लीस्टोसीन 'हिमानीकरण के समय उद्भुत परमा- फ्रास्ट के अवशेष मात्र ही है तथा शनै-शनै अब इनका ह्रास हो रहा है। कनाडा एवं अलास्का के धरातलीय क्षेत्र के लगभग 50 प्रतिशत भाग तथा सोवियत रूस के 47 प्रतिशत भाग पर अविच्छिन्न एव विच्छिन्न परमा- फ्रास्ट का विस्तार पाया जाता है।

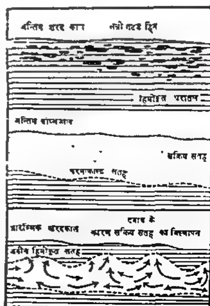
परमाफ्रास्ट का वितरण—ऐसा विश्वास किया जाता है कि समस्त भूमण्डल के लगभग 20-30 प्रतिशत भाग पर विशुद्ध परमाफ्रास्ट का विस्तार पाया जाता है। परमाफ्रास्ट का सर्वाधिक क्षेत्रफल सोवियत रूस मे पाया जाता है, जहाँ पर इसका विस्तार 47 प्रतिशत भाग पर मिलता है, परन्तु अनेक विद्वानो ने इस वितरण पर अपने अलग-अलग मतो का प्रतिपादन किया है। सुमगिन के अनुसार सोवियत रूस मे परमाफ्रास्ट का विस्तार 100 लाख वर्ग कि० मी० (47% क्षेत्रफल), येमेरोव के अनुसार 10,767,000 वर्ग कि० मी० (लगभग 48.1%), K. Kudryavtsev के अनुसार 10,609,900 वर्ग कि० मी० तथा गुलनेवा के अनुसार 11,115,000 वर्ग कि० मी० (49.7% क्षेत्रफल) बताया गया है। मगोलिया मे 8,00,000 वर्ग कि० मी०, चीन मे 4,00,000 वर्ग कि० मी०, अलास्का मे 1 500 000 वर्ग कि० मी०, और कनाडा मे 57,00,000 वर्ग कि० मी० क्षेत्र मे परमाफ्रास्ट का वितरण पाया जाता है। इसके अलावा ग्रीनलैण्ड, अन्टार्कटिका तथा उच्च पर्वतीय भागो मे भी परमाफ्रास्ट का विस्तार पाया जाता है।

परमाफ्रास्ट की उत्पत्ति—परमाफ्रास्ट के विषय मे सबसे विवादास्पद समस्या उसकी उत्पत्ति तथा वर्तमान जलवायु सम्बन्धी दशाओ के बीच सम्बन्ध से सम्बन्धित है। कुछ विद्वानो ने वर्तमान जलवायु को परमाफ्रास्ट उत्पन्न करने तथा उसे सुरक्षित रखने की सामर्थ्य मे सन्देह प्रकट किया है। ब्राउन (R. J. E Brown, 1960) के अनुसार जिन क्षेत्रो मे वर्तमान समय मे परमा- फ्रास्ट पाये जाते है वहाँ की तापक्रम सम्बन्धी दशायें उनकी उत्पत्ति के लिये पूर्णरूपेण समर्थ हैं। कनाडा मे विच्छिन्न परमाफ्रास्ट क्षेत्रो की दक्षिणी सीमा—4° से० समताप रेखा से पूर्णतया सामञ्जस्य रखती है, परन्तु यूकान मे 1 सें० समताप रेखा के दक्षिण मे परमाफ्रास्ट नहीं मिलता है और 4° से० समताप रेखा के उत्तर मे इसका वितरण विस्तृत रूप मे मिलता है। इस तरह यदि देखा जाय तो कनाडा मे परमाफ्रास्ट के निर्माण के लिये आवश्यक तापक्रम एव परमाफ्रास्ट क्षेत्र मे पूर्णतया समन्वय है। अर्थात् कनाडा मे अधिकाश परमाफ्रास्ट का निर्माण वर्तमान जलवायु की ही देन है। एशिया मे स्थिति कुछ अलग है। यहाँ पर 2° से० समताप रेखा के बहुत दक्षिण मे भी परमाफ्रास्ट देखने को मिलता है, यद्यपि यहाँ का वर्तमान तापक्रम परमाफ्रास्ट के निर्माण के लिये प्रेरक नही है। इसके विषय मे कहा जा सकता है कि ऐसे परमाफ्रास्ट का निर्माण **प्लीस्टोसीन काल** मे हुआ था तथा ये उन्ही के अवशेष मात्र हैं। इन परमा- फ्रास्ट क्षेत्रो मे निरन्तर ह्रास हो रहा है। यदि सोवियत रूस मे परमाफ्रास्ट क्षेत्रो पर दृष्टिपात किया जाय तो वहाँ पर इनके तीन सुनिश्चित मण्डल देखने को मिलते हैं। सबसे दक्षिण भाग मे परमाफ्रास्ट का **क्षीयमाण मण्डल** (Waning zone) है, सबसे उत्तरी भाग मे **वर्धमान मण्डल या वृद्धि मण्डल** (Waxing zone or aggrading zone) है। इन दो मण्डलो के बीच एक ऐसा **अवान्तर मण्डल** (Transitional zone) है, जिसमे न तो ह्रास हो रहा है और न ही वृद्धि, बल्कि वह समवत अवस्था मे है। सक्षेप मे कहा जा सकता है कि कुछ प्लीस्टोसीन काल के अवशिष्ट परमाफ्रास्ट क्षेत्रो को छोड़कर अधिकाश क्षेत्रो की वर्तमान जलवायु सम्बन्धी दशायें न केवल पूर्व-निर्मित परमाफ्रास्ट क्षेत्रो को सुरक्षित रखने मे समर्थ हैं, बल्कि नये परमाफ्रास्ट के निर्माण की भी सामर्थ्य रखती हैं।

परमाफ्रास्ट और सक्रिय सतह (Active Layer)— जिन क्षेत्रो मे विशुद्ध परिहिमानी जलवायु पाई जाती है और परमाफ्रास्ट का पूर्ण विकास हुआ रहता है वहाँ भी

धरातल की ऊपरी सतह का वर्ष भर हिमीकरण (Freezing) नहीं हो पाता है। इस तरह **परमाफ्रास्ट स्तर** (**Permafrost table**-परमाफ्रास्ट की ऊपरी सीमा) के ऊपर एक ऐसी सतह होती है, जिसमे मौसम के साथ तापक्रम मे परिवर्तन होता रहता है। ग्रीष्मकाल के आगमन के साथ जैसे ही तापक्रम 0° से० से ऊपर उठने लगता है, हिमीकृत ऊपरी सतह पिघलने लगती है (दिन मे) और रात मे पुन जमने लगती है, परन्तु गर्मी बढते जाने से ऊपरी सतह दिन रात पिघली अवस्था मे होती है। शरद काल के आगमन के साथ यह सतह पुन जमने लगती है। इस तरह की सतह को **सक्रिय सतह** (**Active layer**) कहा जाता है। **ब्रायन** ने इस सतह के लिये लैटिन शब्द **'मोलीसोल'** (Mollisol—moller=कोमल बनाना, Solum=मिट्टी या धरातल) का प्रयोग किया है, परन्तु यह नामावलि मान्य नही है। यह स्मरणीय है है कि ग्रीष्मकाल मे पिघली सक्रिय सतह का जब शरद काल मे हिमीकरण प्रारम्भ होता है तो यह ऊपर मे सम्पन्न होता है तथा नीचे की ओर तब तक अग्रसर होता रहता है, जब तक कि वह परमाफ्रास्ट स्तर से मिल नही जाता है। इस तरह ग्रीष्म काल के अन्त और शरदकाल के प्रारम्भ मे **सक्रिय सतह** के जमे हुये ऊपरी भाग एव **परमाफ्रास्ट** स्तर के बीच एक पिघली सतह होती है, जिसका निरन्तर सकुचन होता रहता है। परमाफ्रास्ट मण्डल के बीच भी छिट-पुट रूप मे कुछ भाग पिघली अवस्था मे रहता है। इस तरह के भाग (Unfrozen) को **टालिक्स** (**Taliks**) कहते है। **टालिक्स** प्रारम्भिक जलवायु के परिवर्तनो के परिचायक होते है। स्मरणीय है कि परमाफ्रास्ट एक निश्चित गहराई तक ही मिलता है। उसके नीचे भी पिघला भाग मिलता है। सक्रिय सतह की मोटाई मे एक स्थान से दूसरे स्थान पर पर्याप्त भिन्नता होती है, क्योकि सक्रिय सतह की मोटाई का सम्बन्ध वायु, तापक्रम, सूर्य-ताप की प्राप्ति की मात्रा, मिट्टी की सचालकता (Conductivity), हिमचादर या वनस्पति आवरण द्वारा **अवरोधन** (**Insulation**) की मात्रा आदि कारको पर आधारित होता है। सामान्य रूप मे सक्रिय सतह की गहराई 1.5 मीटर से 3 मीटर तक होती है। भ्वाकृतिक दृष्टिकोण से परमाफ्रास्ट की तुलना मे सक्रिय सतह का अत्यधिक महत्त्व होता है, क्योकि मौसमी परिवर्तन के साथ **हिमीकरण हिम-द्रवीकरण** (**Freeze thaw**) के कारण इस सक्रिय सतह के अन्तर्गत ही **तुषार अपक्षय** (**Frost weathering**) या **कांजीलीफ्रैक्शन** Congelifraction—conge lare लैटिन =हिमीकरण या जमना to freeze, fractare=टूटना to break), **मृदा-सर्पण** (**Solifluction**) या **कांजीलीटर्बेशन** (**Congeliturbation**—लैटिन turbare=गतिशील करना to stir up) या **क्रायोटर्बेशन** (**Cryoturbation—Cryo**=तुषार frost) आदि प्रक्रम सर्वाधिक सक्रिय होते है। उल्लेखनीय है कि अपक्षय के लिये परमाफ्रास्ट का महत्त्व नगण्य होता है, क्योकि सतत हिमीकरण के फलस्वरूप **हिमीकरण-हिम द्रवीकरण** चक्र से प्रेरित चट्टानो मे फैलाव तथा सकुचन नही हो पाता है। अत अपक्षय एव स्थलरूपो के निर्माण मे **सक्रिय सतह** का ही महत्त्व होता है।

परमाफ्रास्ट के हिम के रूप (**Forms of Permafrost Ice**)—परमाफ्रास्ट में चट्टानें हिमीकृत (Frozen) अवस्था मे होती हैं। वास्तव मे परमाफ्रास्ट का लगभग 80 प्रतिशत भाग हिम का होता है। **ब्लैक** (**R. F. Black**) ने 1954 मे हिम की मात्रा के आधार पर परमाफ्रास्ट की चट्टानो को तीन वर्गों मे रखा। प्रथम, **अति संतृप्त शैल** (**Super saturated rock**)—इसमे चट्टानो मे स्थित रिक्त स्थानो की अपेक्षा हिम की मात्रा अधिक होती है। द्वितीय, **संतृप्त शैल** (**Saturated rock**)—इसमे हिम का आयतन चट्टानो मे स्थित रिक्त स्थानो के आयतन के बराबर होता है। तृतीय, **अवसंतृप्त शैल** (**Under-saturated**



चित्र 358—परमाफ्रास्ट और सक्रिय सतह।

rock)—इसमे अवसादो के मध्य हिम तो होता है, परन्तु वह हिम कण के रूप में परिलक्षित नही हो पाता है। इस तरह की हिमीकृत शैलो के मण्डल को स्थलमण्डल का हिमीकृत मण्डल (Frozen zone) या क्रायोलिथिक मण्डल (Cryolithic zone) कहते है और परमाफ्रास्ट के अध्ययन करने वाले विज्ञान को 'Geocryology' कहते हैं। परमाफ्रास्ट मण्डल में हिम विभिन्न रूपो मे पाया जाता है। भूमिगत हिम का वर्गीकरण P A Shumskiy द्वारा 1959 मे किया गया था जिसमे आगे चलकर सशोधन करके उसे छ भागो मे विभाजित किया गया। इनमे से कुछ (पृथक् कृत हिम शिरा हिम, आभ्यान्तरित हिम, वाह्य हिम आदि) का विधिवत अध्ययन किया गया है तथा उनके स्थाकृतिक महत्त्वो का विश्लेषण भी किया गया है।

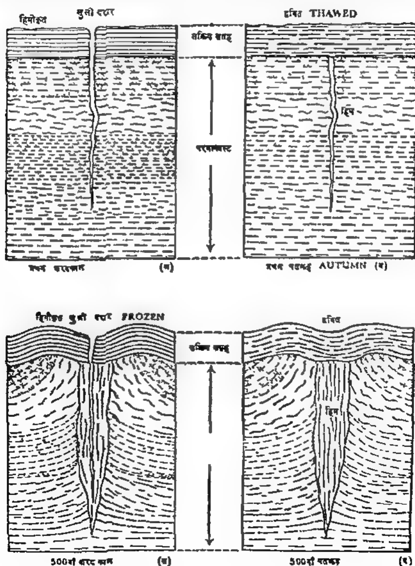
भूमिगत हिम का वर्गीकरण

1. मृदा हिम (Soil ice)
   (i) सूचिका हिम (Needle ice)
   (ii) पृथक् कृत हिम (Segregated ice)
   (iii) छिद्र हिम (Pore ice)
2. शिरा हिम (Vein ice)
   (i) एकल शिरा हिम (Single vein ice)
   (ii) बहुल शिरा हिम (Multiple vein ice) या हिम वेज (Ice wedge)
3. आभ्यान्तरिक हिम (Intrusive ice)
   (i) पिन्गो हिम (Pingo ice)
   (ii) चादर-हिम (Sheet ice)
4. वाह्य हिम (Extrusive ice)
5. ऊर्ध्वपातन हिम (Sublimation ice)
   (i) कन्दरा हिम (Cave ice)
6. तिरोहित हिम (Buried ice)
   (i) तिरोहित प्लावी हिम (Icebergs)
   (ii) तिरोहित हिमनदीय हिम (Glacial ice)

सेग्रीगेटेड हिम का प्रारम्भिक अध्ययन **टेबर** महोदय (S. Taber, 1929, 1933, 1943) ने किया अत. इसे 'टेबर हिम' भी कहा जाता है। टेबर ने क्षेत्र मे पर्यवेक्षण तथा प्रयोगशाला मे लम्बे अध्ययन के बाद बताया कि सेग्रीगेटेड हिम का निर्माण वरणात्मक (Selective) होता है अर्थात् यह कुछ निश्चित आकार वाले कणो मे ही हो सकता है। उन्होने बताया कि 0 01 मी० मी० या उसके छोटे कणो मे हिम का पृथक्कीकरण आसानी से सम्पन्न होता है। सेग्रीगेटेड हिम कई रूपो मे मिलता है परन्तु उसके दो रूप—**हिम लेन्स** (Ice lens) या **हिम परत** (Ice layer) जो कि धरातलीय सतह के समानान्तर होती है, अधिक महत्त्वपूर्ण या व्यापक होते है। हिम लेन्स की मोटाई कभी-कभी कुछ मीटर (**टेबर** 4 मीटर) तक भी हो जाती है। **क्रेसी** ने ईगार्का (यनीसी नदी पर) सेग्रीगेटेड हिम की मोटाई 7.6 मीटर तक बतायी है (1939)। सेग्रीगेटेड हिम का सर्वाधिक स्थाकृतिक महत्त्व यह होता है कि इसके कारण धरातल मे विभेदक उत्क्षेपण (Defferential heaving) होने लगता है जिस कारण धरातलीय सतह असमान हो जाती है, और जब यह पिघलने लगता है तो धरातलीय सतह मे धँसाव (विशेपक) होने लगता है और कई सतह के गड्ढो का निर्माण हो जाता है। इस तरह की प्रक्रिया द्वारा निर्माण सम्बन्धी (मानवीय) कार्यों मे पर्याप्त व्यवधान होता है।

हिम शिरायें और वेज (Ice veins and wedges)—परमाफ्रास्ट हिम के महत्त्वपूर्ण अग है। हिम शिरायें परमाफ्रास्ट क्षेत्र की सक्रिय सतह तथा सतत मण्डल मे लम्बवत नलिकायें होती है जिनमे हिम का सचय होता है। हिमशिरा तथा वेज मे अन्तर यह होता है कि हिम शिराये लम्बी किन्तु सँकरी नलिकायें होती हैं, जब कि वेज ऊपर की ओर चपटा तथा नीचे की ओर नुकीला होता है। हिम शिराये कई मि० मी० मोटी होती हैं तथा कभी-कभी 10 मीटर तक की गहराई (लम्बी) तक पहुँच जाती हैं। हिम वेज की ऊपरी मोटाई 10 मीटर तक हो सकती है। हिम वेज का प्रारम्भिक वैज्ञानिक अध्ययन **लिफिगवेल** (Lefingwell) द्वारा 1915 मे अलास्का के उत्तरी किनारे पर किया गया। वर्तमान समय मे हिम वेज की उत्पत्ति से सम्बन्धित कई सिद्धान्त प्रचलित है परन्तु अब तक लिफिगवेल का **'सकुचन फटन सिद्धान्त'** (Contraction crack theory) ही अधिक युक्तिसगत माना जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार शरदकाल मे सक्रिय सतह तथा उसके नीचे परमाफ्रास्ट का ऊपरी भाग जम जाता है। हिमीकरण के फलस्वरूप सकुचन के कारण ऊपरी सतह मे एक लम्बवत् नली (दरार) का निर्माण हो जाता है। इसे लिफिगवेल ने **'संकुचन फटन'** बताया है। आगे चलकर इस फटन मे हिम-कण भर जाते हैं, जिसमे हिम शिरा (Ice vein) का निर्माण हो जाता है। अगले जाडे मे यह शिरा पुन खुल (तनाव के कारण) जाती है तथा और चौडी हो जाती ह और उसमे अधिक हिम भर जाती है।

इन्होने बताया कि एक शरदकाल मे चौड़ाई मे अधिकतम विस्तार 8-10 मि० मी० तक हो पाता है। इस क्रिया की पुनरावृत्ति से (1000 वर्षों तक) विस्तृत वेज का निर्माण हो जाता है। आगे चलकर T. L, Pewe (1962), वाशबर्न, (A. L. Washburn), स्मिथ (D. D. Smith), तथा गोवार्ड (R. H. Goddard) के सम्मिलित कार्यों (1963) से भी लिफिंगवेल के सिद्धान्त को स्वीकृति मिली। 1963 मे टेबर ने हिम शिरा तथा वेज के निर्माण-सम्बन्धी अलग परिकल्पना का प्रतिपादन किया। इन्होंने बताया कि हिमीकरण द्वारा सक्रिय सतह मे सकुचन मे फटन अवश्य होती है परन्तु उससे हिम शिरा और वेज का निर्माण नही हो सकता। टेबर के अनुसार इसका निर्माण हिम पृथक्कीकरण (Ice segregation) का ही प्रतिफल होता है, परन्तु यह मत मान्य नही है। ब्लैक (R.F.Black, 1963) ने बताया कि टेबर का कार्य स्थल विच्छिन्न परमाफ्रास्ट (Discontinous permafrost) मण्डल था, जहाँ पर सकुचन फटन के कम अवसर होते हैं। पीवी (Pewe) ने 1966 मे बताया कि हिमवेज का निर्माण केवल उन्ही भागो मे होता है, जहाँ पर औसत वार्षिक तापक्रम वर्षो तक



चित्र 359—संकुचन-फटन (Contraction crack) सिद्धान्त के अनुसार हिम शिराओ तथा वेज (Wedges) का निर्माण।

—6° से० से भी कम होता है। जब कभी हिम वेज की हिम पिघल जाती है तो उस रिक्त स्थान में मलवा आदि भर जाता है जिस कारण वह सुरक्षित रहता है। इसे फासिल हिम वेज (Fossil ice wedge) कहते हैं। चीका (Clay) और सिल्क हिम वेज आसानी से सुरक्षित रहते हैं परन्तु रेत तथा ग्रैवेल में अवपातन (Slumping) के कारण उनका विनाश हो जाता है। जानसन (G Johnson) (1959) ने इस तरह के हिम वेज का दिलचस्प विवरण उपस्थित किया है। इन्होंने (1926) द० स्वीडन में ऐसे हिम वेज का पता लगाया है जिनकी गहराई 6 मीटर तथा ऊपरी भाग में चौड़ाई 75 से० मी० है। गैलोवे (R. W Galloway, 1961) ने स्काटलैण्ड में 100 हिम वेज का पता लगाया है तथा कई हिम शिराओं का भी अवलोकन किया है जिनकी गहराई 3 मीटर तक बतायी गई है।

परिहिमानी प्रक्रम (Periglacial Processes)

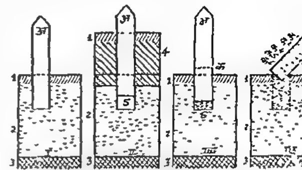
परिहिमानी क्षेत्रों में क्रियाशील प्रक्रमों के विषय में पर्याप्त विवरण का अभाव है। इसके दो प्रमुख कारण बताये जा सकते हैं। प्रथम परिहिमानी जलवायु तथा स्थलाकृति का अध्ययन देर से प्रारम्भ हुआ है। द्वितीय वैज्ञानिक विषय के कारण तथा परिहिमानी क्षेत्रों के दुर्गम (हिम तथा न्यून ताप के कारण) स्थानों में स्थित होने के कारण पर्याप्त अध्ययन का अभाव। इसके होते हुए भी क्षेत्र में पर्यवेक्षण तथा प्रयोगशालाओं में प्रयोग सम्बन्धी अनेक कार्य वैज्ञानिकों द्वारा किये गये हैं। परिहिमानी क्षेत्रों में अपक्षय (Weathering) का महत्त्व ही सबसे अधिक होता है। इस तरह तुषार-अपक्षय (Frost weathering) के अलावा मृदासर्पण (Solifluction) या कान्जेलीफ्लक्शन (Congelifluction) तुषार-उत्क्षेपण (Frost heaving and thrusting) निवेशन (Nivation), सरिता एवं पवन आदि प्रक्रम भी अपना उल्लेखनीय महत्त्व रखते हैं।

तुषार-अपक्षय (Frost weathering or Congelifraction)—सम्भवतः परिहिमानी क्षेत्रों में तुषार-अपक्षय अर्थात् हिमीकरण-हिम द्रवीकरण (Freeze thaw) को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रक्रम समझा जाता है यद्यपि इसकी महत्ता में कई विद्वानों ने सन्देह प्रकट किया है। तुषार-अपक्षय के लिये 'परिहिमानी शब्दावली' के अन्तर्गत कान्जेलीफ्रेक्शन (Congelifraction) नामावली का प्रयोग किया जाता है। इस प्रक्रिया के अन्तर्गत दिन में हिमद्रवीकरण (Thaw पिघलना) तथा रात में हिमीकरण (Freeze) की लगातार पुनरावृत्ति के कारण चट्टानों में टूटन (Shattering) होने लगती है, जिस कारण वह टूट कर बिखर जाती है। इस तरह के "दैनिक हिमीकरण-हिमद्रवीकरण चक्र" द्वारा प्रेरित अपक्षय निश्चित रूप से यांत्रिक होता है। परन्तु यह प्रक्रिया इतनी सामान्य नहीं है जैसा कि उपर्युक्त विवरण में दिखायी गयी है। सबसे पहले ग्राव (O R. Graw, 1936) ने सन्देह प्रकट किया कि मात्र जल के हिम में परिवर्तन से उत्पन्न फैलाव चट्टानों में टूटन (Shattering) पैदा कर सकता है। उन्होंने बताया कि हिमीकरण-हिमद्रवीकरण एक जटिल प्रक्रिया है जिसमें केवल जल का जमना तथा पिघलना ही महत्त्वपूर्ण नहीं होता है वरन् उसका सम्बन्ध 'दाब-तापक्रम में सम्बन्ध', हिमीकरण की सक्रियता तथा उसकी अवधि तथा हिमीकरण की दर आदि कारकों से भी होता है। फ्रेसर (J K Fraser, 1959) ने हागबाम तथा लिकिनवेल के इस मत को, कि 'उच्च-अक्षांशों की जलवायु हिमीकरण-हिमद्रवीकरण अपक्षय (कान्जेलिफ्रेक्शन) के लिए उपयुक्त नहीं होती है' की कनाडा में हिमीकरण हिमद्रवीकरण चक्र' के अध्ययन के आधार पर पूर्ण समर्थन प्रदान किया है। कुक तथा रेश (F A Cook and V G Raiche, 1962) ने भी आर्कटिक क्षेत्रों में अध्ययन के बाद यही बताया कि यहाँ पर हिमीकरण-हिमद्रवीकरण का प्रभाव नगण्य होता है। ट्राल (C Troll, 1944) ने विश्व सर्वेक्षण के आधार पर बताया कि हिमीकरण-हिमद्रवीकरण' निचले अक्षांशों के उच्च भागों (एण्डीज पर्वत) में उच्च अक्षांशों की अपेक्षा अधिक सक्रिय होता है। कुछ विद्वानों ने प्रयोगशालाओं में शैल-स्थित नमी के हिमीकरण की विभिन्न दरों (तेज rapid तथा मन्द) के महत्त्व का भी अध्ययन किया है (ट्रिकार्ट-J Tricart, 1956 तथा विमन-S Wiman 1963) परन्तु किसी निश्चित मत का प्रतिपादन नहीं किया जा सका है क्योंकि दोनों के निष्कर्ष परस्पर विरोधी निकले।

परिहिमानी क्षेत्रों में शैलों के अपक्षय की अन्य विधियों पर विद्वानों ने बहुत कम ध्यान दिया है। टेबर ने 1943 में बताया कि तापक्रम में अचानक बड़े पैमाने पर गिरावट हो जाने से भी चट्टानें टूटकर बिखरने लगती हैं। A Cailleux ने 1963 तथा Z. Czeppe ने 1964 में यह स्वीकार किया कि परिहिमानी क्षेत्रों में रासायनिक अपक्षय भी अवश्य होता है। लेकिन इस सम्बन्ध में और अध्ययन तथा शोध की आवश्यकता है।

तुषार-उत्क्षेपण (Frost Heaving)—तुषार-उत्क्षेपण प्रक्रम वास्तव मे हिमीकरण-हिमद्रवीकरण का ही प्रतिफल होता है। इसे एक अलग अस्तित्व इसलिये दिया जाता है कि इस प्रक्रम द्वारा चट्टानो मे टूटन न होकर धरातलीय सतह मे उत्क्षेपण या उभार होता है तथा कई प्रकार के विशिष्ट स्थलरूपो का निर्माण होता है। कुमनिन ने 1947 मे बताया कि "तुषार-उत्क्षेपण धरातल में उठाव तथा धँसाव (Buldging and sudsidence) होता है।" रात के समय चट्टानो मे स्थित जल का हिमीकरण हो जाता है तथा दिन मे वह पिघल जाता है। हिमीकरण के फलस्वरूप जल के आयतन मे 9 से 10 प्रतिशत तक वृद्धि हो जाती है। कभी-कभी कुछ जल वाह्य श्रोत से भी इन चट्टानो मे पहुँच जाता है जो कि जम जाता है, इस तरह हिमीकरण से आयतन वृद्धि के कारण उस शैल परत का विस्तार होता है, जिस कारण उसके ऊपरी धरातल से उठाव होने लगता है। दिन मे जमी परत पिघल जाती है, जिस कारण उसके ऊपर वाला भाग नीचे धँसक जाता है, जिस कारण गढ्ढो का निर्माण हो जाता है। परन्तु यह प्रक्रिया इतनी सरल न होकर अत्यन्त जटिल होती है। तुषार-उत्क्षेपण मे धरातल मे उठाव ऊर्ध्वाधार या लम्बवत संचलन के कारण होता है। इसी से मिलती-जुलती उठाव की एक और प्रक्रिया होती है, जिसमे उत्क्षेपण क्षैतिज संचलन के कारण होता है। उत्क्षेपण का कार्य सेग्रीगेटेड हिम द्वारा भी होता है। यदि सक्रिय सतह मे पत्थरो के टुकडे तथा ककड आदि होते हैं तो रात मे उनके नीचे हिमीकरण अधिक होता है क्योंकि ये ताप के सुचालक होते है। हिमीकरण के समय आयतन मे वृद्धि के साथ पत्थर के टुकडे आदि ऊपर उठ जाते है, और जब दिन मे वह पिघलता है तो ये पत्थर अपने मौलिक स्थान तक नही पहुँच पाते क्योंकि उनके नीचे स्थित रिक्त स्थान (Cavity) मे आस-पास से मिट्टियाँ आकर भर जाती है। इस क्रिया के पुनरावृत्ति से पत्थर के टुकडे निरन्तर ऊपर उठते जाते हैं तथा धरातल के ऊपर प्रकट हो जाते है। शीत प्रधान देशो मे पुरानी कहावत कि "मिट्टी से पत्थर पैदा होते हैं—Stones grow in the soil" के पीछे यही वैज्ञानिक तथ्य छिपा है।

तुषार-उत्क्षेपण की प्रक्रिया को बेलोक्रायलोव (Belokrylow, I) के उदाहरण द्वारा भली-भाँति समझा जा सकता है। चित्र 360 मे बेलोक्रायलोव के प्रयोग को प्रस्तुत किया गया है, जिसमे उत्क्षेपण द्वारा लकडी का एक लट्ठा जो कि सक्रिय सतह मे गाड दिया गया था, अन्तिम अवस्था मे पूर्णतया ऊपर निकल आया है तथा उसके स्थान पर एक लम्बी कोटर (Cavity) बन गई है, जिसमे मलवा (सिल्ट) भर गया है।



चित्र 360—तुषार उत्क्षेपण द्वारा लकडी के लट्ठे का ऊपर उठना तथा कोटर का निर्माण। (अ) मिट्टी मे गडा लकडी का लट्ठा, I IV उत्क्षेपण की अवस्थायें, 1. ह्यूमस मिट्टी की तह, 2 आर्द्र रेतीली दोमट मिट्टी, 3. परमाफ्रास्ट की ऊपरी सतह, 4 मौसमी हिमीकृत सतह, 5. हिमीकरण के समय लट्ठे के ऊपर उठने के कारण कोटर का निर्माण, 6 कोटर का सिल्ट से भराव तथा क¹—क⁴ उत्क्षेपण की क्रमिक अवस्थायें।

[बेलोक्रायलोव के आधार पर।]

मृदा-पर्पण (Solifluction)—यदि परमाफ्रास्ट परिहिमानी क्षेत्रो का सबसे चमत्कारी अग होता है तो सम्भवतः मृदासर्पण सबसे महत्त्वपूर्ण और विशिष्ट स्थाकृति प्रक्रम होता है—"Permafrost may be regarded with justice as the most striking phenomenon of periglacial areas but solifluction is probably the most important and characteristic geomorphological process" (R J. Small, 1970)। मृदासर्पण का कार्य-स्थल केवल सक्रिय सतह (Active layer) मे ही सीमित होता है। मृदासर्पण वह प्रक्रिया होती है जिसके अन्तर्गत जलमिश्रित मिट्टियो का समूह या मिश्रित मलवा का समूह ढाल के निचले भाग की ओर गुरुत्व के कारण सरकता है, यद्यपि जल का स्नेहन (Lubrication) कार्य भी इसमे सहायक होता है। मृदासर्पण के लिये परमाफ्रास्ट क्षेत्र सर्वाधिक आदर्श होते हैं। परन्तु मौसमी या दैनिक रूप से हिमिकृत क्षेत्रो (Toll, 1944) मे भी यह प्रक्रिया सम्पन्न होती है। परमाफ्रास्ट क्षेत्र मे वसन्त काल मे सक्रिय सतह पिघल जाती है परन्तु यह जल परमाफास्ट की स्थिति के कारण

नीचे नहीं जा पाता है, अतः वह मृदासर्पण में सहायक होता है। परमाफ्रास्ट के ऊपर जलमिश्रित मलवा का भार बढ़ जाता है, आन्तरिक रगड़ कम हो जाती है, *परिणामस्वरूप गुरुत्व से प्रेरित होकर मलवा नीचे की* ओर सरकने लगता है।

मृदासर्पण की प्रक्रिया अत्यन्त जटिल है। शरदकाल में परमाफ्रास्ट के ऊपर स्थित सक्रिय सतह का हिमीकरण हो जाता है, जिस कारण उसमें पर्याप्त प्रसार एवं विस्तार हो जाता है। इस जमी सतह में अनेक छिद्र कोटर (Cavity), शिरायें (Veins) आदि निर्मित हो जाती हैं, जिस कारण शैल-कण ढीले पड़ जाते हैं और समस्त-शैल परत का सगठन शिथिल पड़ जाता है। ग्रीष्मकाल के आगमन के साथ ही सक्रिय सतह में हिम-द्रवीकरण (Thawing) प्रारम्भ हो जाता है। मिट्टी के प्रत्यक कण (ढेले) अपने ही जल से आवृत्त हो जाते हैं। यह जल उसमें स्नेहल (Lubrication) का कार्य करता है। इस तरह मृदा-सर्पण ढाल के निचले भाग की ओर प्रारम्भ हो जाता है। स्मरणीय है कि मृदासर्पण ग्रीष्म-काल के प्रारम्भिक चरण में ही सर्वाधिक सक्रिय होता है। अधिक ताप के कारण जल सूख जाने पर सर्पण स्थगित हो जाता है। यदि इसके बाद जल-वर्षा भी हो तो पुनः सर्पण नहीं हो पाता है, क्योंकि सूखने के कारण मिट्टी सगठित हो गई रहती है। इस तरह ग्रीष्मकाल के अन्त में समस्त सक्रिय सतह के पिघल जाने से तथा जल-वर्षा से जल की मात्रा इतनी अधिक हो जाती है कि मृदासर्पण का स्थान सरितायें ले लेती है। धरातलीय हिम (शिरा हिम, वेज हिम आदि) का निर्माण भी मलवा के सर्पण में सहायक होता है। उदाहरण के लिये पिपक्रैकर (Pipkraker—सूचिका हिम) के निर्माण से छोटे-छोटे प्रस्तर-कण ढाल के समकोण पर ऊपर उठा दिये जाते हैं। जब इनका (पिपक्रैकर) हिमद्रवीकरण होता है तो उत्क्षेपित प्रस्तर-कण लम्बवत रूप में नीचे गिरने लगते हैं तथा एक 'हिमीकरण-हिमद्रवण चक्र' के अन्तर्गत ढाल के निचले भाग की ओर ये प्रस्तर-कण विस्थापित हो जाते हैं। स्पष्ट है कि इस तरह का सर्पण अत्यन्त मन्द होता है।

परिहिमानी क्षेत्रों में मृदासर्पण के दो प्रकार बताये जाते हैं—प्रथम, **'मिश्रित मलवावाह'** (Flow of water-soaked debris)—सक्रिय सतह के ग्रीष्मकाल में हिम-द्रवण (Thaw) के कारण सम्पन्न होता है। द्वितीय, **तुषार सर्पण** (Frost creep)—ढाल पर स्थित मलबा के क्रमशः जमने और पिघलने से प्रेरित होता है। प्रथम में जल तथा द्वितीय में तुषार-उत्क्षेपण (Frost heaving) सर्पण को प्रेरित करते हैं।

मृदासर्पण की वास्तविक गति पर मलवा का स्वभाव, ढाल का कोण (यद्यपि 2°-3° के मन्द ढाल पर भी परिहिमानी क्षेत्र में मृदासर्पण होता है, वनस्पति आवरण (वनस्पति का आवरण मृदासर्पण में अवरोध उत्पन्न करता है), मिट्टी में जल की मात्रा, मृदासर्पण के प्रकार आदि कारकों का प्रभाव होता है। 10°-15° वाले ढालों पर मृदासर्पण की गति 2-5 से० मी० प्रति वर्ष देखी गई है। यही सर्पण आर्द्र शीतोष्ण भागों (जहाँ पर परिहिमानी क्षेत्र नहीं होते हैं) में कई गुनी गति से सम्पादित होता है। स्मरणीय है कि मृदासर्पण से समस्त *सक्रिय सतह प्रभावित नहीं होती है वरन् केवल* 50-60 से० मी० तक की गहराई तक ही सर्पण सक्रिय होता है।

परिहिमानी क्षेत्रों में मृदासर्पण परिवहन का कार्य करता है, जिसके दौरान **तुषार-अपक्षय** (Gongelifraction) से प्राप्त मलवा का ढाल के निचले भाग की ओर सामूहिक स्थानान्तरण किया जाता है। इसी दौरान *मृदासर्पण अपरदन (Congeliturbation) का भी कार्य* करता है, जिससे पहाड़ियों की चोटियाँ घिसकर नीची हो जाती हैं। मृदासर्पण का आकृतिक (Morphological) महत्त्व भी अधिक होता है, क्योंकि सर्पण की गति में भिन्नता के कारण कई प्रमुख तथा गौण स्थलाकृतियाँ बन जाती हैं। उनमें उल्लेखनीय हैं—प्रस्तर तट युक्त लोब (Stone banked lobe) प्रस्तर वेदिका (Stone *terrace), सतृण तटीय लोब तथा वेदिका (Turf-ban*ked lobes and terraces), प्रस्तर सरिता (Stone stream), भू-सिकुड़न (Earth-wrinkle) आदि।

निवेशन (Nivation)—निवेशन एक विवादास्पद प्रक्रम है, जिसका सम्बन्ध हिमखण्ड (Snow patch) से होता है जो कि या तो स्थायी होता है या अर्द्धस्थायी (Semi-stationary)। स्थायी हिम-खण्ड के अपरदना-कार्य के लिए निवेशन शब्दावली का प्रयोग सर्वप्रथम F. E. Matthes ने 1900 में किया। वर्तमान परि-हिमानी क्षेत्रों में स्थित गहरे कोटरों (Deep hollows) जिनमें कि हिम खण्ड स्थित है, का निर्माण निवेशन द्वारा बताया गया है। प्रारम्भ में किसी सामान्य कोटर में हिम का सचयन हो जाता है जो **'हिम-खण्ड अपरदन'** (Snow-patch erosion-Nivation) द्वारा निरन्तर बढ़ता जाता

है। परन्तु निवेशन की प्रक्रिया अत्यन्त जटिल है जिसमे कई उपक्रम मिश्रित रूप से कार्य करते हैं। चूंकि हिम-खण्ड मे गति नहीं होती है, अतः उससे किसी भी प्रकार के अपघर्षण (Corrasion) का आभास नही मिलता है। परिणामस्वरूप **'हिम-खण्ड अपरदन'** नामावली उपयुक्त नही है।

निवेशन मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रक्रम हिमीकरण-हिमद्रवण (Freeze-thaw) होता है। **लेविस** (W V Levis) ने 1935 तथा 1936 मे आइसलैण्ड मे हिम-खण्ड के अध्ययन के बाद बताया कि ग्रीष्मकाल में हिम के निचले भाग मे हिम-द्रवण (Melting) प्रारम्भ हो जाता है और शरदकाल मे समस्त हिमखण्ड जम जाता है। इस हिमीकरण-हिमद्रवण का प्रभाव हिम-खण्ड के नीचे स्थित धरातलीय सतह के सबमे ऊपरी भाग पर होता है। इस कारण धरातलीय सतह की कमजोर शैल मे टूटन होने से बारीक पदार्थ बन जाते हैं जिनका परिवहन हिम के पिघलने से प्राप्त जल से होता रहता है। इस क्रिया की पुनरावृत्ति के कारण हिम खण्ड के नीचे कोटर का निर्माण हो जाता है, जिसकी गहराई निरन्तर बढती जाती है, जिसमे हिम-खण्ड अपने को समायोजित (Adjust) करता है। स्मरणीय है कि हिम निचले धरातल को सरक्षण प्रदान करता है। अत हिम खण्ड उसी समय निवेशन के लिए प्रेरक हो सकता है जबकि परमाफ्रास्ट के ऊपर हिम का हल्का आवरण हो या बिना जमे हुए धरातल के ऊपर हल्का हिमावरण हो। हिम-खण्ड क्षेत्र मे हिमीकरण-हिमद्रवण की प्रक्रिया हिमखण्डो के सीमावर्ती भागो मे सर्वाधिक सक्रिय होती है और उसके नीचे कुछ सीमित गहराई तक ही सक्रिय होती है। अब धरातल का अपरदनात्मक (हिमखण्ड द्वारा निवेशन) कार्य तभी सम्भव हो सकता है जबकि कांजेलीफ्रैक्शन से प्राप्त मलवा का परिवहन हो जाय। विद्वानो ने पदार्थो के स्थानान्तरण (Removal of weathered materials) के लिये हिम-द्रवित जल (Meltwater) तथा मृदासर्पण (Solifluction) को प्रभावशाली बताया है। **एकब्ला** (W. E Ekblaw) ने 1918 मे हिम के नीचे पदार्थो के परिवहन मे मृदा-सर्पण को पूर्ण समर्थ बताया। **लेविस** ने भी 1936 मे मृदासर्पण को प्रमुख परिवहनकर्त्ता माना परन्तु 1939 मे **हिमद्रवण जल** को स्वीकृति प्रदान की। इसी तरह **पैटर्सन** (T T. Paterson) ने 1951 मे तथा **बाघ** ने 1946 मे मृदासर्पण को ही हिमद्रवण जल की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली बताया।

विलियम्स (J. E. Williams) ने 1949 मे निवेशन के साथ रासायनिक अपक्षय का भी नाता जोड दिया। उन्होंने कैलीफोर्निया के सन गैब्रियल पर हिम-खण्ड (Snow-patch) के अध्ययन के आधार पर बताया कि हिम-खण्ड के नीचे हिमीकरण-हिमद्रवण (Freeze-thaw) सम्भव नही हो सकता है। इन्होने बताया कि हिम-खण्ड मे कार्बन डाइ-आक्साइड का सचयन बहुत अधिक होता है, जिससे रासायनिक अपक्षय मे तेजी आ जाती है। विलियम्स का मत निश्चय ही अतिशयोक्ति पूर्ण है। कुछ रासायनिक अपक्षय ऐसे क्षेत्रो मे अवश्य होता है। जहाँ पर हिम-खण्ड के नीचे चूनेदार (Calcareous) चट्टानें स्थित होती हैं।

निवेशन के साथ **हिमद्रवण जल** (Melt-water) के अपरदनात्मक कार्य का भी सम्बन्ध **राकी** (W A. Rockie) द्वारा 1951 मे, **निकोल्स** (R L. Nichols) द्वारा 1963 मे बताया गया है। राकी ने बताया कि हिम-खण्ड के पिघलने से प्राप्त जल आगे बढता है तो अपघर्षण द्वारा अवनलिकाओ (Rills) तथा नलिकाओ (Gullies) का रूप धारण कर लेता है। परन्तु **लेविस** ने हिमद्रवण जल को परिवहनकर्त्ता (Transporting agent) के रूप मे स्वीकार किया है।

कुछ विद्वानो ने हिमखण्ड मे कुछ गति का प्रतिपादन किया है तथा बताया है कि इससे कुछ अपरदन सम्भव हो जाता है। **कोस्टिन, जेनिंग्स, ब्लैक तथा टाम** (A. B. Costin, J N Jennings, H P Black and B. G Thom) ने सम्मिलित रूप से 1964 मे बताया कि हिम-खण्ड मे मन्द गति द्वारा धरातलीय अपघर्षण (Abrasion) अवश्य होता है, परन्तु बडे पैमाने पर नही। परन्तु Matthes ने हिम खण्ड मे किसी भी प्रकार की गति का अवलोकन नहीं किया था, यद्यपि कोस्टिन आदि का कार्य Matthes से 64 वर्ष आगे का है। कुछ अतिशयवादी विद्वानो ने तो निवेशन को पूर्णतया अस्वीकार कर दिया है। M Boye ने तो यहाँ तक कह डाला है कि यदि हिम स्थायी होता है तो उससे अपरदन की बात ही क्यो की जाती है? परन्तु निवेशन प्रक्रिया... इस तरह उपसहार समीचीन नही जान पडता। कम से कम हिमखण्ड के किनारो पर तो **'हिमीकरण—हिमद्रवण'** का प्रभाव अवश्य होता है तथा यदि हिम का पिघलना सतोषजनक हो जाता है तो उसका बहाव (अल्पकालिक ही सही) धरातलीय सतह पर सुरच कर कुछ अपघर्षण अवश्य कर सकता है। निवेशन के अपरदनात्मक कार्य

द्वारा **निवेशन कोटर** (Nivation hollow) तथा निक्षेपण से **मृदासर्पण वेदिका तथा प्लेटफार्म** (Solifluction terraces and platforms) तथा **निवेशन कटक** (Nivation ridge) प्रमुख है।

जलीय प्रक्रम (Fluvial Process)—परिहिमानी क्षेत्रों मे सरितायें सामयिक होती है। वसन्तकाल मे ताप में वृद्धि के कारण हिम के पिघलने से अचानक जल की पूर्ति होती है, जिससे सरितायें बह निकलती है। परन्तु **कांजिलीफ्रैक्शन** द्वारा प्राप्त मलवा इतना अधिक होता है। कि सरिता अतिभारित (Over loaded) हो जाती है। उसकी घाटी चौड़ी हो जाती है जिसमे मलवा फैल जाता है। यही कारण है कि सरिता की अपरदनात्मक सामर्थ्य नगण्य हो जाती है और वह परिवहन कारक (Transporting agent) बन कर रह जाती है। उल्लेखनीय है कि यदि परिहिमानी सरितायें मलवा का परिवहन करती हैं और उनमे गति होती है तो उनमें होने वाले अपघर्षण को झुठलाया नही जा सकता। समस्या ने अब नया मोड़ ले लिया है। आइये, अब देखा जाय कि इस क्षेत्र मे माहिर विद्वान् लोग क्या कहते है। **पेल्टियर** कहते हैं कि सरिताओं का अपरदनात्मक कार्य नगण्य होता है। ये केवल अपक्षय तथा मृदासर्पण से प्रदान किये गये मलवा का परिवहन मात्र करती हैं। **जेनीस** (J L. Jenes, 1952) के सोचने का ढग निराला है। आप सरिताओं द्वारा अपघर्षण को मान्यता दे बैठे है तथा अपने प्रमाण मे आर्कटिक कनाडा से 61 से 91 मी० गहरे बीहड (Ravines) खोज निकाले है। इन बीहड़ों का निर्माण निश्चय ही परिहिमानी सरिताओं द्वारा लम्बवत (Vertical) अपघर्षण द्वारा हुआ है। **फ्रेन्च विद्वान कार्बल** (J. Corbel, 1961) इन दोनो के बीच समन्वय स्थापित करते हुए लिखते हैं कि सरिता द्वारा अपघर्षण का होना या न होना परिहिमानी जलवायु की विशेषता पर आधारित होता है। सागरीय आर्कटिक जलवायु मे भारी वर्षा के कारण नदियो का वेग बढ़ जाता है, जिस कारण वह अपक्षय आदि से प्राप्त मलवा का परिवहन करते हुए वेग से प्रवाहित होती है, जिस कारण लम्बवत अपघर्षण होने से नदियो की घाटियाँ V आकार की हो जाती हैं। महाद्वीपीय आर्कटिक जलवायु म अपक्षय से मलवा अधिक प्राप्त होता है सरिता म जल का आयतन कम होता है परिणामस्वरूप सरिता अतिभारित हो जाती है और अपघर्षण नहीं हो पाता है।

पवन का कार्य (Wind Action)—परिहिमानी क्षेत्रो मे पवन के अपरदनात्मक एव निक्षेपात्मक कार्य का स्वीकरण प्राय एक विद्वान द्वारा किया गया है। परन्तु पवन कुछ निर्दिष्ट दशाओं मे ही कार्य करती है। इसके लिए शुष्क शीत परिहिमानी जलवायु होनी चाहिए। पेल्टियर ने बताया कि पवन का कार्य 'परिहिमानी चक्र' (Periglacial cycle) की अन्तिम अवस्था म सक्रिय होता है, क्योंकि इस समय **कांजिलीफ्रैक्शन** एव मृदासर्पण के कारण तीव्र ढाल घिसकर मन्द (5°) हो जाते हैं तथा मलवा बारीक हो जाता है, जिसे पवन आसानी से उड़ा सकती है। परिहिमानी क्षेत्रों मे पवन के अपघर्षण से **खाँचेदार स्तरशैल सतह** (Grooved bedrock surface) तथा त्रिपहल (Ventifacts) एव जमाव द्वारा लोयस बालुका स्तूप आदि स्थलरूपो का निर्माण होता है।

निष्कर्ष—यदि परिहिमानी प्रक्रमो के अपक्षय (कांजिलीफ्रैक्शन) तथा अपरदनात्मक (**कांजिलीटर्बेशन**) कार्यों की क्षमता को उपर्युक्त विवरण के परिवेश मे देखा जाय तो साफ स्पष्ट हो जाता है कि विद्वानो का बहुमत पक्ष मे ही पड़ता है। कुल मिलाकर परिहिमानी प्रक्रम प्रभावित क्षेत्र के उच्चावच को निम्नीकरण (Degradation) तथा अभिवृद्धि (Aggradation जमाव) द्वारा नीचा एव सपाट करने का प्रयास करते हैं। Cairnes का **तुषार-सपाटीकरण** (Cryoplanation -1912) या सपाटीकरण (Equiplanation , उष्ण तथा शीतोष्ण आदि प्रदेशो मे पेनीप्लेनेशन (Peneplanation) से पूर्णतया साम्य रखता है, तभी तो **पेल्टियर** ने **परिहिमानी चक्र** (Periglacial cycle) का प्रतिपादन कर डाला है। परन्तु परिहिमानी प्रक्रमो के सपाटीकरण की सामर्थ्य मे सन्देह रह ही जाता है।

परिहिमानी स्थलरूपों का जननिक वर्गीकरण (Genetic Classification of Periglacial Landforms) —लेखक

वर्गीकरण के आधार—परिहिमानी स्थलरूपों का एक जननिक वर्गीकरण' (Genetic classification) प्रस्तुत किया जा सकता है यद्यपि अभी तक विद्वानगण उनक निर्माण की प्रक्रिया पर एक मत नहीं हो सके है। इतना ही नहीं कुछ स्थलरूपों की परिहिमानी उत्पत्ति के विषय मे सन्देह भी प्रकट किया गया है (उन क्षेत्रों के स्थलरूप जो कभी परिहिमानी जलवायु के अन्तर्गत थे, परन्तु अब शीतोष्ण जलवायु क्षेत्र मे आ गये है)। सच तो यह है कि किसी भी स्थलरूप के निर्माण म, कुछ अपवादों को छोड़ कर, एक से अधिक प्रक्रम सक्रिय होते हैं। ऐसी स्थिति

मे स्थलरूपो का वर्गीकरण उस प्रक्रम के नाम पर किया जायेगा, जिसका प्रभुत्व सर्वाधिक होता है। दूसरी कठिनाई इन स्थलरूपो की प्रादेशिक असमानता की है, क्योंकि परिहिमानी जलवायु की परिभाषा इतनी विस्तृत है तथा परिहिमानी क्षेत्र मे इतने विभिन्न है कि इन स्थल रूपो (एक ही कोटि के) मे समानता का न होना आश्चर्य जनक बात नही रह जाती। यह असमानता उत्पत्ति सम्बन्धी, आकार सम्बन्धी तथा रूप सम्बन्धी हो सकती है। इन असमानताओ पर परमाफ्रास्ट, सक्रिय, सतह, हिमावरण, भूवैज्ञानिक सरचना, वानस्पतिक आवरण तथा परिहिमानी प्रक्रमो की सक्रियता का प्रभाव पडता है। मुख्य विभाजन यथासम्भव निर्माणक प्रक्रम के आधार पर किया जायेगा। गौण विभाजन के आधार आवश्यकतानुसार अलग-अलग स्थानो पर अलग-अलग होगे, जैसे आकार, रूप, प्रणाली, अवस्था, अपरदन, निक्षेप आदि। जहाँ पर किसी स्थलरूप के निर्माण मे जो प्रक्रम सक्रिय होते हैं उन्हे साकेतिक अक्षरो द्वारा इगित किया गया है। जैसे C—Congelifraction, F H—Frost Heave, S—Solifluction तथा N—Nivation.

जननिक वर्गीकरण
(लेखक का वर्गीकरण)

1. तुषार-अपक्षय-जनिक स्थलरूप।
   (Congelifractate Landforms)
   i. अन्तर्वलन FH, C
      (रूप के आधार पर)
      अ. वलित अन्तर्वलन (Fold Invultion)
      ब. स्तम्भाकार अन्तर्वलन (Pillar Invultion)
      स. अस्फाट अन्तर्वलन (Amorphous Invultion)
   ii गिरिका (Hummock) C
      (रूप के आधार पर)
      अ. भू-गिरिका (Earth Hummock)
      ब तृण गिरिका (Turf Hummock)
      स. (Mima Mound—उ० प० उत्तरी अमेरिका)
   iii पिन्गो (Pingo) C
      क—(रूप के आधार पर)
         अ. वर्तुल शिखरीय पिन्गो (Rounded Top Pingo) या
            अवरुद्ध (बन्द) पिन्गो (Closed Pingo)
         ब. क्रेटर युक्त पिन्गो (Crater-Pingo) या
            अनावरुद्ध पिन्गो (Open Pingo)
      ख—प्रादेशिक विशेषता के आधार पर।
         अ. मेकेन्जी तुल्य पिन्गो।
         ब. पूर्वी ग्रीनलैंण्ड तुल्य पिन्गो।
      ग—फासिल (पुरातन) पिन्गो।
         अ वृत्ताकार।
         ब अर्द्ध वृत्ताकार।
   iv थर्मोकार्स्ट (Themokarst) C
      क—वृहदाकार स्थलरूप (Macro-landforms)
         (सतह से नीचे धँसकने के कारण)
         अ थर्मोकार्स्ट झील या हिमद्रवण झोल,
            (Thermokarst or Thaw Lakes)
         ब कुन्डावतरण अवतलन (Cauldron-Subsidence) या
            अवतलन बेसिन (Subsidence Basin)
         स शुष्क घाटियाँ।
         द कन्दरायें (सतह के धँसकन के पूर्व)
      ख—लघ्वाकार स्थलरूप (Micro-landforms)
         (सतह मे धँसकन के कारण)
         अ कीपाकार कुन्ड और गर्त।
            (Funnel shaped sink and pit)
         ब अवतरण रन्ध्र (Sink Holes)
      ग—फासिल थर्मोकार्स्ट।
   v. तुषार-जनित क्लिफ (Frost-riven cliff)
   iv तुषार जनित बहुभुज (Frost polygons)
2 प्रणालीकृत या क्रमिक धरातल FH, S
   (Patterned Ground)
   (रूप के आधार पर)
   क – मन्द ढाल पर स्थित।
      अ प्रस्तर वृत्त (Stone Circles . sorted and unsorted)
      ब प्रस्तर जाल (Stone Nets . sorted and unsorted)
      स प्रस्तर बहुभुज (Stone Polygons : sorted and unsorted)
   ख—तीव्र ढाल पर स्थित।
      अ. प्रस्तर माला (Ssone Garlands : sorted and unsorted)
      ब. प्रस्तर पट्टी (Stone Stripes : sorted and unsorted)
3 विकृत धरातल FH, C
   (Contorted Surface)
   अ. तुषार-उत्क्षेपण-जनित विकृत सतह।

ब हिमीकरण-हिमद्रवण (Freeze-thaw) जनित विकृत सतह।

4 मृदासर्पण-जनित स्थलरूप
(Solifluctate landforms)

i मृदासर्पण की गति मे भिन्नता के कारण जनित स्थलरूप।
क— मृदा सर्पण वेदिका
अ प्रस्तर तट-वेदिका (Stone-banked Terrace)
ब. सतृण तट-वेदिका(Turf-banked Terrace)
ख—मृदासर्पण लोब।
अ प्रस्तर-तट (Stone-banked Lobe)
ब सतृण-तट लोब (Turf-danked Lobe)
ग· विकृत सतह (Plication)

ii. निक्षेप-जनित स्वरुप।
अ भग्नाश्म राशि (Talus or Scree)
ब स्तरीकृत भग्नाश्म राशि (Stratified Scree)

iii प्रस्तर सरिता (Stone stream)

5. तुग सपाटीकरण-जनित स्थलरूप S, N, FH, C
(Altiplanation Landforms)
(उच्चस्थ स्थलरूप-High altitude landforms)
i तुषार अपरदन-जन्य किन्तु गतिशील मृदा-आवरण
अ तुग सपाटीकरण वेदिका (Altiplanation Terraces)
ii. विशेषक अपक्षय (Differential Weathering) जनित।
अ (Tors)
ब क्लिफ (Frost-riven cliffs)
iii निक्षेप-जनित स्थलरूप
अ शैल खण्डागार या ब्लाक फील्डस् (Block Fields)
ब प्रस्तर सरिता (Stone Streams)
स गोलाश्म क्षेत्र (Boulder Fields)

6 नाइवेशन जनित स्थलरूप
(Nivation-Landforms)
(हिम-खण्ड सम्बन्धित (Snow-patches) स्थलरूप)
अ. अपरदनात्मक स्थलरूप।
क—नाइवेशन कोटर (Nivation Hollows)
हिम खण्ड के आकार के आधार पर)
अ अनुदैर्घ्य (Longitudinal) कोटर।
ब. अनुप्रस्थ (Transverse)
स वृत्ताकार स्थलरूप।

ii. निक्षेप जनित स्थलरूप।
अ नाइवेशन वेदिका।
ब नाइवेशन चबूतरा (Platform)
स कटक (Ridges)
द. नाइवेशन पख (Fans)

7 पवनकृत स्थलरूप (Eolian Landforms)
i. अपरदनात्मक स्थलरूप।
अ. खाँचेदार स्तरशैल सतह (Grooved-bedrock Surface)
ब. तिपहल (Ventifacts)
ii निक्षेपात्मक स्थलरूप।
क—विकीर्ण या अव्यवस्थित निक्षेप।
(Disseminated deposits)
अ रेत (Sand)
ब सिल्ट (Silt)
ख—व्यवस्थित निक्षेप।
अ परिहिमानी लोयस।
ब परिहिमानी बालुका स्तूप।

8 सरिता जन्य स्थलरूप
अ. असममित घाटियाँ।
(Asymmetrical Valleys)

अन्तर्वलन (Invultions)—परमाफ्रास्ट क्षेत्रों मे सतह के नीचे असगठित पदार्थों वाले स्तरीकृत जमाव मे जब आकुञ्चन या मरोड़ उत्पन्न हो जाता है तो एक जमाव का दूसरे मे प्रवेश हो जाता है, जिस कारण उनका रूप विकृत (Contortion) हो जाता है। इस तरह की आकृति के लिय अन्तर्वलन या इन्वल्यान नामावली का प्रयोग किया जाता है। कभी-कभी इन स्तरो का अन्तर्वेधन (Interpenetration) इतना अधिक हो जाता है कि उनका रूप इतना विरूत हो जाता है कि उनके मौलिक रूप की पहचान करना कठिन हो जाता है। ए० जान (1956) ने अन्तर्वलन को दो प्रकारो—वलित स्तम्भ तथा अनियमित सरचना (Amorphous structures)—मे विभाजित किया है। अन्तर्वलन की उत्पत्ति से सम्बन्धित दो परिकल्पनायें उल्लेखीय हैं। (i) परमाफ्रास्ट तल तथा उसके ऊपर स्थित नवीन हिमीकृत सतह के बीच स्थित प्लास्टिक सतह (लोचदार या मुलायम सतह का आकुञ्चन होने से अन्तर्वलन का निर्माण होता है। परमाफ्रास्ट तल (Table) जितना ही धरातलीय सतह से नीचा होगा तथा सक्रिय सतह की

चित्र 361— परिहिमानी स्थलाकृति (सविन्द्र सिंह)।

गहराई अधिक होगी, अन्तर्वलन की क्रिया उतनी ही अधिक गहराई तक सम्पन्न होगी। (ii) शार्प (1942) के अनुसार अन्तर्वलन का निर्माण सक्रिय सतह में सेग्रेगेटेड हिम के निर्माण के समय होता है। सक्रिय सतह में जब तुषार-ग्राही (Forst susceptible) सिल्ट्स तथा मृत्तिका का हिमीकरण होता है तो उनके आकार में प्रसार होता है, जिस कारण आस-पास स्थित बिना जमे पदार्थों का आकुंचन होता है तथा विभिन्न स्तरों (Layers) का एक दूसरे में प्रवेश हो जाता है।

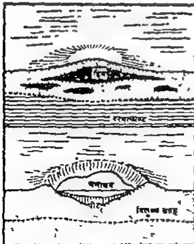
सतृण गिरिका (Turf Hummocks)—परमाफास्ट क्षेत्रों में सतह पर छोटे-छोटे टीले होते हैं। इन्हें भू-गिरिका कहा जाता है। जब इन पर वनस्पतियों का आवरण हो जाता है तो उन्हें सतृण गिरिका कहते हैं। इस तरह के टीलों का वर्णन हागबाम द्वारा 1914 में तथा ट्राल द्वारा 1944 में किया गया है। शार्प ने भी 1942 में यूकान क्षेत्र में इनका अवलोकन किया। शार्प के अनुसार इन टीलों का निर्माण हिमीकृत धरातलीय भाग के प्रसार के कारण धरातलीय सतह में आकुंचन (Squeezing) होने से छोटी-छोटी गांठें (Knots) बन जाने से होता है। टेबर ने 1952 में भू-गिरिका का निर्माण 'तुषार उत्क्षेपण' (Frost heaving) द्वारा बताया, परन्तु हापकिंस ने 1954 में टेबर के मत को अस्वीकार करते हुए शार्प की परिकल्पना को स्वीकृति प्रदान की। इसी आकार से मिलता-जुलता माइमा माउण्ड्स (Mima mounds) उत्तरी अमेरिका के पश्चिमी भाग में मिलता है।

पिंगो (Pingo)—पिंगो एक एस्किमो शब्द है, जिसका प्रयोग बिखरी हुई गुम्बदाकार छोटी-छोटी पहाड़ियों तथा टीलों के लिये किया जाता है। इस नामावली का प्रयोग पोर्सिल्ड ने 1938 में उत्तरी अमेरिका के उ० प० भाग में परिहिमानी क्षेत्रों में फैले टीलों के लिये किया। पिंगो अविच्छिन्न और विच्छिन्न दोनों प्रकार के परमाफास्ट क्षेत्रों में मिलते हैं। अलास्का, कनाडा, ग्रीनलैण्ड तथा साइबेरिया के आर्कटिक प्रदेशों में पिंगो बहुत मात्रा में पाये गये हैं। इनके आकार में पर्याप्त अन्तर होता है। ऊंचाई कुछ से० मी० से लेकर 60

चित्र 362—अन्तर्वलन।

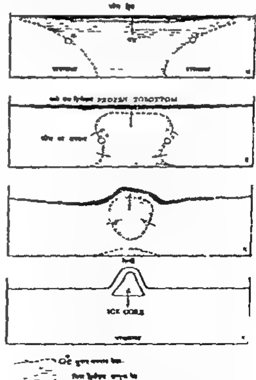
मीटर तक तथा व्यास कुछ मीटर से 300 मीटर तक होती है। छोटे पिंगो का ऊपरी भाग गोलाकार होता है, परन्तु बड़े पिंगो के ऊपरी भाग में टूटन के कारण क्रैटर बन जाते हैं, जिसमे जलाशय बन जाया करता है। क्षेत्रीय विशेषताओ के आधार पर पिंगो को (i) **मेकेन्जी तुल्य** तथा (ii) **पूर्वी ग्रीनलैण्ड तुल्य**, दो प्रकारो मे विभाजित किया जाता है। मूलर (1959) ने इन्हे क्रमश **बन्द पिंगो** तथा **खुले पिंगो** नामकरण प्रदान किया है। पिंगो की उत्पत्ति के विषय मे पर्याप्त मतभेद है। सामान्य रूप मे कहा जा सकता है कि इनका निर्माण परमाफ्रास्ट या झील के हिम के नीचे घिरे जल के जमने के कारण उभार होने से होता है। पिंगो के निर्माण सम्बन्धी निम्न परिकल्पनाओ का उल्लेख आवश्यक है।

(i) तुषार-उत्क्षेपण-परिकल्पना (Frost Heaving Hypothesis)—इस परिकल्पना के अनुसार पिंगो का निर्माण दो रूपो मे होता है। प्रथम, शरदकाल के आगमन के साथ ही परमाफ्रास्ट के ऊपर स्थित सक्रिय-सतह (Active layer) का ऊपरी भाग जमने लगता है तथा यह हिमीकरण नीचे की ओर अग्रसर होता रहता है। परन्तु इस समय परमाफ्रास्ट तथा ऊपरी जमी सतह के बीच मे एक ऐसी सतह होती है जो बिना जमी अवस्था मे होती है तथा गतिशील होती है। इस परत पर ऊपर स्थित जमी परत के कारण लगातार दबाव बढ़ता जाता है जिस कारण उसमें स्थित पदार्थों मे पार्श्विक उत्क्षेपण (Lateral thrust) होने से ऊपरी सतह में (जहाँ पर हिम चादर पतली होती है) उभार हो जाता है और पिंगो का निर्माण हो जाता है। द्वितीय, परमाफ्रास्ट मे हिम लेन्स का निर्माण होता है। कैपीलरी क्रिया द्वारा आस-पास का जल इस हिम लेन्स के पास आकर जमता रहता है। जिस कारण उनका आकार बढ़ता जाता है। इसे हिम का पृथक्कीकरण (Ice seggregation) कहते है। इस कारण (हिम बनने से उसके आयतन मे प्रसार होने से) से सेग्रीगेटेड हिम के ऊपर स्थित सतह मे गुम्बदनुमा उभार हो जाता है, जो पिंगो कहलाता है।



चित्र 363—पिन्गो का निर्माण तथा विकास।

(ii) **मैके का सिद्धान्त** (Mackay's theory)—मैके ने मेकेन्जी डेल्टा में पिंगो के अध्ययन के बाद बताया कि उनका निर्माण तुषार-उत्क्षेपण के कारण नहीं हुआ है। क्योकि जिन पदार्थों से इन पिंगो का निर्माण हुआ है, उनमे से 95 प्रतिशत पदार्थों के कणो की व्यास 0.1 से 0.5 मि० मी० तक है, अत ये कण तुषारग्राही (Frost susceptible) नही है, क्योकि 0 01 मि० मी० या उमसे कम आकार वाले कणो मे ही हिमीकरण होता

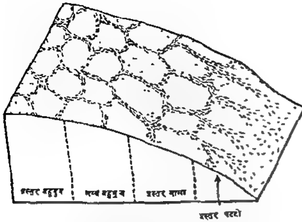


चित्र 364—मैके के अनुसार मेकेन्जी डेल्टा-क्षेत्र मे पिंगो के निर्माण की अवस्थाएँ।

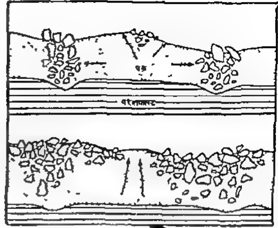
है। प्रारम्भ मे एक विस्तृत हिमाच्छादित झील होती है जो कि परमाफ्रास्ट से घिरी होती है। झील के मध्यवर्ती भाग के नीचे बिना जमा हुआ भू-भाग होता है। झील की तल मे अब भी कुछ जल रहता है। परन्तु धीरे-धीरे झील की तली तक का समस्त भाग जम जाता है। अब झील के हिम तथा परमाफ्रास्ट के मध्य बिना जमा भू-भाग घिर जाता है; जिस पर बढते परमाफ्रास्ट का दबाव बढता जाता है। इस घिरे भू-भाग से जल का निकास नही हो सकता है। परमाफ्रास्ट मे लगातार वृद्धि के कारण बिना जमे भू-भाग मे स्थित जल मे दबाव बढ जाता है। इस दबाव को कम करने के लिये उसके ऊपर स्थित धरातल मे उठाव हो जाता है और अन्ततः घिरा हुआ जल हिम मे बदल जाता है जो कि उठाव के नीचे एकत्रित हो जाता है। जब समस्त भाग परमाफ्रास्ट से आच्छादित हो जाता है तो उठाव स्थगित हो जाता परन्तु तब तक यह उठाव एक पिंगो का रूप धारण कर लेता है।

थर्मोकार्स्ट (Thermokarst)—थर्मोकार्स्ट, आर्द्र-शीतोष्ण प्रदेशो मे विकसित कार्स्ट स्थलाकृति के समान ही होते हैं (देखने मे), परन्तु दोनो मे इतना अन्तर अवश्य होता है कि उन्हे एक दूसरे से अलग किया जा सके। कार्स्ट का निर्माण लाइमस्टोन, डोलोमाइट आदि शैल-क्षेत्रो मे जल के रासायनिक कार्यों द्वारा होता है, जब कि थर्मोकार्स्ट का निर्माण आर्कटिक क्षेत्रो मे परमाफ्रास्ट मण्डल मे भौतिक प्रक्रमो द्वारा होता है। वास्तव मे थर्मोकार्स्ट परमाफ्रास्ट क्षेत्रो मे ऋणात्मक स्थलरूपो (Negative landforms) का सामूहिक रूप होता है, जिसका निर्माण धरातलीय सतह के हिम के पिघल जाने पर धँसकने के कारण होता है। थर्मोकार्स्ट नामावली का प्रयोग रूसी विद्वान आर्मोलयेव द्वारा 1932 मे किया गया तथा 1962 मे कचूरिन (S. P. Kachurin) ने थर्मोकार्स्ट मे मिलने वाले विभिन्न स्थलरूपो का विवरण उपस्थित किया। थर्मोकार्स्ट के विकास के लिये परमाफ्रास्ट की ऊपरी सीमा पर (किन्तु धरातलीय सतह के नीचे) हिम की एक मोटी परत होनी चाहिए ताकि इन हिम परत के पिघलने पर ऊपरी सतह का धँसाव विधिवत हो सके। साथ मे चट्टानो के तापक्रम मे परिवर्तन होते रहना चाहिए। यह परिवर्तन दो रूपो मे हो सकता है—(i) धरतल के ऊपर स्थित वनस्पति का आवरण, खेतो की जुताई तथा जलाशयो का निर्माण (अप्राकृतिक विधि) तथा (ii) जलवायु मे परिवर्तन। थर्मोकार्स्ट मे भूपृष्ठीय गर्त (Surface pits), बेसिन, सिंक (Sink), कीपाकार छिद्र (Funnel sink), सिंक गर्त (Sink holes), कोटर (Hollows), बीहड़ (Ravines), शुष्क घाटियाँ (Dry valleys), कन्दरा (Caves), थर्मोकार्स्ट झील (हिमद्रवण झील-Thaw lakes) आदि स्थलरूप उल्लेखनीय होते हैं। कचूरिन ने सोवियत रूस मे थर्मोकार्स्ट के तीन मण्डलो का पता लगाया है। सबसे दक्षिणी भाग मे थर्मोकार्स्ट का सर्वाधिक विकास (प्लीस्टोसीन हिम-कालीन) हुआ है, परन्तु वर्तमान समय मे उसका विनाश हो रहा है। सबसे उत्तरी भाग मे थर्मोकार्स्ट का विकास वर्तमान जलवायु मे हुआ है तथा उसमे निरन्तर विकास हो रहा है। इन दोनो के मध्य सामान्य थर्मोकार्स्ट प्रदेश है, जहाँ पर न तो विस्तार हो रहा है और न ही विनाश। वैलास तथा हाप्किन्स (1949) ने अलास्का मे भी थर्मोकार्स्ट का अवलोकन किया है। इन लोगो ने हिमद्रवण झील (Thaw lakes) तथा निपात बेसिन (Collapse basins) का सविस्तार वर्णन किया है। वैलास तथा हाप्किन्स के अनुसार (अलास्का मे) पहले तुषार-उत्क्षेपण के कारण धरातलीय सतह मे उभार होने मे उस पर स्थित वनस्पति का विस्थापन हो जाता है, परिणामस्वरूप उसके नीचे स्थित हिम पिघल जाती है और सतह नीचे धँसक कर एक गड्ढे का रूप ले लेती है। इसमे जल एकत्रित हो जाता है। धीरे-धीरे इन गड्ढो मे विस्तार होता है तथा उनका आकार गोल होने लगता है। प्रारम्भ मे ये झीलें छोटी-छोटी तथा बिखरी होती हैं। परन्तु आगे चलकर कई छोटी झीलें मिल जाती हैं और एक विस्तृत हिमद्रवण झील का निर्माण हो जाता है। इन झीलो का क्षेत्रफल एक वर्ग किलोमीटर से कई वर्ग कि० मी० तक होता है।

पैटर्न्ड भूतल (Patterned Ground)—परिहिमानी क्षेत्रो मे कई स्थलरूप ज्यामिति के विभिन्न आकारो (बहुभुज, वृत्त, पट्टी आदि) मे इस तरह मिलते है, लगता है उन्हे एक प्रणाली के अन्तर्गत सजोया गया हो। इन आकृतियो का वर्गीकरण वाशबर्न (1956) ने उनके आकार (Shape) तथा श्रेणीकरण (Sorting-छँटाई) के आधार पर पाँच प्रकारो—बहुभुज, वृत्त, जाल (Net), सोपान (Steps) तथा पट्टी (Stripe)—मे विभाजित किया। पुन प्रत्येक को श्रेणीकृत (Sorted) और अश्रेणीकृत (Unsorted), दो प्रकारो मे रखा गया है। ढाल-प्रवणता (Slope gradient) के आधार पर इन आकृतियो को दो पैटर्न (Pattern) मे रखा जा सकता है। बहुभुज तथा वृत्त का आविर्भाव चपटे तथा



चित्र 365—पैटर्न्ड भूतल (Patterned ground) के विभिन्न रूप ।

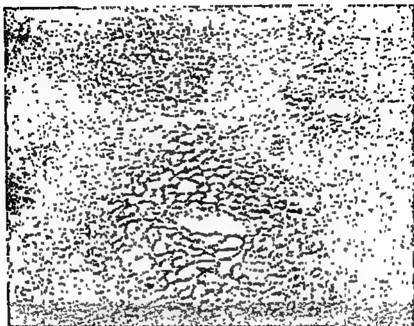


चित्र 366—प्रस्तर बहुभुज का निर्माण तथा विकास ।

कम ढालू भागो पर होता है, जबकि सोपान, प्रस्तर माला (Stone garlands), पट्टी आदि का आविर्भाव अधिक ढालू भागो पर होता है । स्मरणीय है कि जब ढाल 30° से अधिक हो जाता है तो उस पर किसी भी प्रकार का पैटर्न नही बन पाता है । 2°-6° के ढाल पर बहुभुज, वृत्त तथा 6°-30° के ढाल पर अन्य आकारो (सोपान, माला पट्टी आदि) का निर्माण आसानी से होता है । यदि किसी आदर्श ढाल की अनुदैर्ध्य परिच्छेदिका (Longitudinal profile), जिसमे कि ढाल प्रवणता नीचे की ओर बढती जाती है, पर पैटर्न का अवलोकन किया जाय तो सबसे ऊपर बहुभुज और वृत्त मिलते है । पुन नीचे जाने पर उनका आकार लम्बा (Elongated) हो जाता है तथा वह प्रस्तर माला मे बदल जाता है और नीचे जाने पर वह प्रस्तर पट्टी का रूप धारण कर लेता है ।

यद्यपि पैटर्न्ड भूतल की विभिन्न आकृतियो के निर्माण की प्रक्रिया अलग-अलग है तथापि सामान्य रूप मे पैटर्न्ड भूतल के निर्माण मे **तुषार-उत्क्षेपण** (Frost heaving) तथा **मृदासर्पण** (Solifluction) को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बताया जा सकता है । प्रत्येक आकृति का संक्षिप्त उल्लेख करना सम्भवत. वाछनीय होगा ।

(i) **प्रस्तर बहुभुज** (Stone Polygons)—पैटर्न्ड भूतल के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थलरूप होते हैं । बहुभुज का निर्माण शुद्ध परमाफ्रास्ट तथा मौसमी तुषार क्षेत्रो मे होता है, यद्यपि इनका निर्माण उष्ण अर्द्धशुष्क प्रदेशो मे भी होता है । परन्तु यहाँ पर आर्कटिक बहुभुजो पर ही ध्यान दिया जायेगा । आर्कटिक बहुभुजो को श्रेणीकृत (Sorted) और टुण्ड्रा बहुभुज, दो प्रकारो म विभाजित किया जाता है । टुण्ड्रा बहुभुजो को निर्माण की प्रक्रिया के आधार पर **हिम वेज बहुभुज** (Icewedge polygon) भी कहा जाता है । बहुभुज का आकार, ऊँचाई, मिट्टी की गहराई, प्रस्तर के टुकडो का आकार, विकास की अवस्था आदि कारको पर आधारित होता है । **श्रेणीकृत बहुभुज** (Sorted polygons) के निर्माण मे **फिलबर्थ** (K. Philberth, 1974) ने तुषार उत्क्षेपण की प्रक्रिया को जिम्मेदार बताया है । **हागबाम** (1910) ने बताया कि सक्रिय सतह मे बारीक पदार्थों (तुषार ग्राही) के हिमीकरण होने से उनमे विस्तार होता है, जिस कारण बड़े-बड़े टुकडे ऊपर उठा दिये जाते है । साथ ही साथ कुछ पदार्थ किनारे की ओर सरका दिये जाते है । सतह मे, इस तरह, तुषार-उत्क्षेपण के कारण उठाव होने से ऊपर स्थित प्रस्तर कण भी किनार की ओर सरक कर ढेर के रूप म एकत्रित हो जाते है । इन प्रस्तर बहुभुजो मे अगर कुछ बारीक पदार्थ रह जाते है तो हिमद्रवण जल (Meltwater) द्वारा बहा लिय जाते है । **हेम्बर्ग** (A. Hamberg) ने 1915 मे बताया कि यदि सतह पर प्रस्तर का आवरण होता है तथा उसके नीचे बारीक पदार्थ होते हैं तो उत्क्षेपण (Heaving) के कारण बारीक पदार्थ उठाव (Bulge) के रूप मे सतह पर आ जाते है । तथा प्रस्तर सरक कर किनारो पर एकत्रित होकर बहुभुज का रूप ले लेते हैं । इनके अलावा श्रेणीकृत बहुभुजो के निर्माण मे **टेबर** (1943) ने विभेदक उत्क्षेपण (Differential heaving), **नानसेन** (F Nansen, 1922) ने अपक्षय को सक्रिय प्रक्रम बताया है । Nordenskjold



चित्र 367—प्रस्तर-वृत्त का निर्माण ।



चित्र 368 — प्रस्तर तट युक्त वेदिका तथा माला (Stone banked terraces and garlands) नीचे इनका पार्श्व-चित्र है ।

(1909) ने सम्पाहन सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है । यदि उपर्युक्त मतो को निचोडा जाय तो स्पष्ट होता है कि सभी मत तुपार (Frost) से किसी न किसी रूप मे अवश्य सम्बन्धित हैं । अर्थात् हिमीकरण से पदार्थों मे प्रसार (Expansion) और हिमद्रवण (Thaw) के कारण सकुचन मे उत्पन्न दबाव को श्रेणीकृत बहुभुजो के निर्माण मे आधार बनाया गया है ।

टुण्ड्रा या हिमवेज बहुभुज का निर्माण अत्यधिक शीलता के कारण सकुचन होने से सतह मे फटन होने से होता है । इस मत मे अधिक मतभेद नही है । इस तरह बहुभुज के प्रस्तर के टुकडो का होना आवश्यक नही होता है । वास्तव मे ये तुपार बहुभुज उष्णार्द्र प्रदेशो मे निर्मित **पंकफटन बहुभुज** (Mud crack polygons) के समान हो (केवल देखने मे) होते है ।

(ii) प्रस्तर वृत्त (Stone circles)—मे प्रस्तर टुकडों की सजावट इस तरह होती है कि मध्य मे बारीक कण होते हैं तथा उसके चारो ओर पत्थर के टुकड़े मुद्रिका के रूप मे फैले होते है। इनका व्यास (स्पट्स-बर्जन में) 0.8 से 3 मीटर तक देखा गया है । इनका निर्माण परमाफ्रास्ट के अलावा ध्रुवीय क्षेत्रो तथा उच्च पर्वतीय भागो मे भी होता है । इनका निर्माण भी तुषार-उत्क्षेपण (Frost heaving) द्वारा होता है ।

(iii) जाल (Nets) जब पैटर्न न तो वृत्ताकार होता है और न ही बहुभुजाकार तो उसे जाल कहते हैं। इसमे बिना श्रेणीकृत पदार्थों से भू-गिरिकाओ (Earth hummocks टीले) के समूह को सम्मिलित किया जाता है। जाल का वितरण साइबेरिया, स्कैण्डिनेविया, आइसलैण्ड तथा कनाडा मे मिलता है परन्तु ये गैर परमाफ्रास्ट क्षेत्रो मे भी मिलते हैं। इनका व्यास 1 से 2 मीटर तक होता है।

(iv) प्रस्तर माला (Stone garlands)—ढाल अधिक होने पर गुरुत्व तथा पदार्थों के भार के कारण बहुभुज लम्बे हो जाते है तथा उनका आकार **लोब (Lobe)** के समान हो जाता है। किनारे पर पत्थर के बडे-बडे टुकडे होते हैं तथा बीच मे बारीक पदार्थ होते हैं। इस प्रकार की आकृति को **प्रस्तर माला** कहते हैं। इसके निर्माण मे मृदासर्पण का हाथ अधिक होता है।

(v) प्रस्तर पट्टी (Stone Stripes)—ढाल के और अधिक होने पर (परन्तु 30° से कम) प्रस्तर माला के अग्रिम भागो मे जलयुक्त पंक (Mud) पंक्ति तोडकर आगे निकल जाती है जिसके किनारो पर पत्थर के टुकडे होते है। इस प्रकार समानान्तर लम्बी-लम्बी पट्टियो का निर्माण हो जाता है, जिनके मध्य मे पंक तथा किनारो पर प्रस्तर के टुकडे होते हैं। जब ढाल 30° से अधिक हो जाता है तो पट्टियाँ समाप्त हो जाती हैं तथा पंक और प्रस्तर एक दूसरे से मिल जाते है और पैटर्न समाप्त हो जाता है।

यहाँ पर स्पष्ट करना आवश्यक है कि **प्रस्तरतटीय लोब (Stone banked lobes)**, **प्रस्तरतटीय वेदिका (Stone banked terraces)** आदि पैटर्न्ड भूतल के प्रस्तरमाला तथा प्रस्तर सोपान के ही रूप होते हैं। चूंकि इनके निर्माण मे मृदासर्पण का हाथ अधिक रहता है, अत. इनको अलग अस्तित्व तब प्रदान किया जाता है, जब कि ये अन्य आकृतियो के साथ समूह मे नही मिलते हैं। प्रस्तर-तटीय वेदिकाओ का निर्माण मृदासर्पण की गति मे विभिन्नता (Differential rates of movement) के कारण होता है।

प्रस्तर हिमानी (Stone Glacier)—इसे **शैल हिमानी** भी कहा जाता है जिसका प्रयोग सर्वप्रथम कैप्स (Capps, S. R.) ने 1910 म किया। शैल हिमानी मे दो परतें होती हैं। ऊपरी परत मे पत्थर के बडे-बडे टुकडे होते हैं तथा निचली परत (तली) म बारीक पदार्थ (सिल्ट, रेत, पक आदि) होत हैं। इन दो विभिन्न परतो का आविर्भाव, तुषार उत्क्षेपण (Frost heaving) के कारण होता है। तुषारग्राही बारीक पदार्थों मे हिमानीकरण के फलस्वरूप फैलाव होने से बडे पदार्थ ऊपर उठा दिये जाते ह तथा उनके नीचे निर्मित रिक्त स्थानो मे ऊपर स्थित बारीक पदार्थ आकर भर जाते हैं। शैल हिमानी की सतह के ऊपर हिम का कोई प्रमाण नही मिल सकता है परन्तु ऊपरी सतह मे एक मीटर तक की गहराई तक कणो के बीच रिक्त स्थानो मे हिम की स्थिति का अवलोकन कई विद्वानो ने किया है। शैल हिमानी की गति मे भी मतभेद है। निश्चय ही सभी शैल हिमानी गतिशील नही होते है क्योकि कुछ के अग्रभाग के विषय मे वनस्पति का आवरण उनकी स्थिरता को प्रमाणित करता है। यदि कुछ शैल हिमानी गतिशील होते भी है तो गति की दर बहुत कम होती है। **चेबस** (1923 1943) ने 25 वर्षों के अध्ययन के आधार पर बताया कि शैल हिमानी का ऊपरी भाग 1 से 1.5 मीटर प्रतिवर्ष तथा निचला भाग 0 3 से 1 मीटर प्रतिवर्ष की दर से गतिशील होता है। इस तरह **चेबस** ने ग्लेशियर की तरह ही शैल हिमानी मे भी गति का प्रतिपादन किया है यद्यपि अन्तिम प्रथम की अपेक्षा अत्यन्त मन्द गति से आगे बढता है। शैल-हिमानी मे किनारे की दीवालो मे अपक्षय मे टूटन से प्राप्त पदार्थ भी आते रहते हैं।

ब्लाक फील्डस् (Block Fields)

परिहिमानी क्षेत्रो के उच्च भागो पर, खासकर पर्वतो की चोटियो पर जो कि या तो सपाट होती है या मन्द ढाल वाली बडे-बडे टुकडो वाले पदार्थों के समूह को ब्लाक फील्डस कहते हैं। इनके लिये दूसरी नामावली **ब्लाकमीर (Blockmeer)** है। इन पदार्थों का निर्माण स्थानीय चट्टानो मे टूटन (कांजेलिफैक्शन द्वारा) के कारण होता है। ये टुकडे कोणिक (Angular) अर्थात् टेढे-मेढे होते हैं। पदार्थों की विशेषतायें वहाँ की चट्टान के स्वभाव पर आधारित होती है।

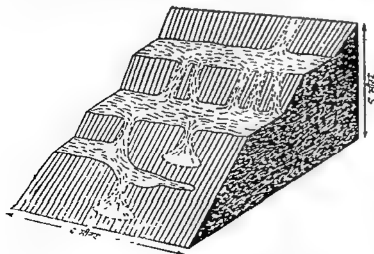
प्रस्तर-सरिता (Stone Stream)

शैल-मलवा (जिसमे बडे तथा बारीक, सभी प्रकार के कण होते हैं) के समूह को जो कि घाटी मे एकत्रित होकर ढाल के अनुसार अग्रसर होता है, प्रस्तर-सरिता कहते हैं। परन्तु यह आवश्यक नही है कि प्रस्तर-सरिता सदैव घाटियो से होकर ही प्रवाहित हो। कभी-कभी उत्तल ढाल मे शैल मलवा (Rock debris) का भी सरिता के रूप म प्रवाह होता है। प्रस्तर सरिता मे पदार्थों के आकार के अनुसार उनका विधिवत श्रेणीकरण (Sorting) होता है। ऊपरी भाग मे बडे-बडे टुकडे होते हैं तथा तली

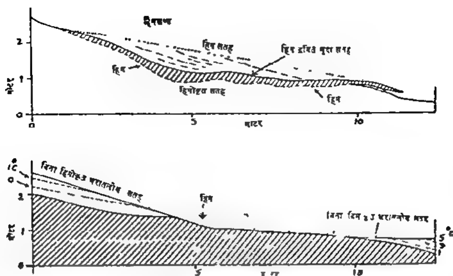
मे बारीक कण वाले पदार्थ होते है। घाटी की दीवाल तथा प्रस्तर-सरिता अथवा घाटी की दीवाल तथा प्रस्तर-समूह के मध्य गर्मियो मे जल-सरिता का आविर्भाव हो जाता है। प्रस्तर-सरिता मे पदार्थों का श्रेणीकरण तुषार-उत्क्षेपण (Frost heaving) के कारण होता है।

तुंग सपाटीकृत वेदिका (Altiplanation Terraces)

परिहिमानी क्षेत्रो के पर्वतीय भागो मे ऊँचाई पर सोपानाकार वेदिकायें पाई जाती है, जो कि कगार (Scarp) द्वारा एक दूसरे से अलग की जाती है, परन्तु ये रेगुलर रूप मे नही पाई जाती है। इनके ऊपर मलवा आवरण भी होता है। इन वेदिकाओ के कुछ विशिष्ट अंग होते है, जिनका उल्लेख आवश्यक है। ये विभिन्न ऊँचाइयो पर पाई जाती हैं तथा इनके निर्माण मे कोई आधार-तल (Base level) नही होता है। अत इनके विभिन्न तल और उस क्षेत्र के अनाच्छादन कालानुक्रम (Denudation chronology) मे कोई सम्बन्ध नही होता है। वाटर्स (R S. Waters, 1962) के अनुसार इनकी लम्बाई (ढाल के नीचे की ओर या ढाल के समानान्तर) 10 से 90 मीटर, चौडाई 800 मीटर तक, एक वेदिका से दूसरी वेदिका मे ऊँचाई का अन्तर 2 से 12 मीटर (इसे कगार की ऊँचाई भी कह सकते है), कगार (Scarp) का ढाल 15° से 22° तथा वेदिका के ऊपरी भाग का ढाल (Slope of treads) 3° से 8° तक होता है। वेदिका के ऊपर 3 मीटर तक मोटी मलवा की परत हो सकती है परन्तु मलवा-आवरण तथा उसके नीचे स्थित शैलस्तर (Bedrock) की सरचना मे कोई सम्बन्ध नही होता है। कगार के आधार पर तुषार निर्मित (Frost riven) विलफ भी हो सकते है। इस तरह की वेदिकाओ को **तुंग सपाटीकृत वेदिकायें** कहते है। इन वेदिकाओ के निर्माण मे सहायक प्रक्रम के सम्मिलित रूप को **तुंग सपाटीकरण (Altiplanation)** कहा जाता है, जिसका प्रयोग सर्वप्रथम ईकिन द्वारा 1916 मे किया गया था। **ईकिन** के अनुसार वेदिकाये रचनात्मक (Constructional) होती है। इनके निर्माण के लिये आवश्यक मलवा की प्राप्ति स्थानीय शैलस्तर के **कांजिलीफ्रैक्शन** द्वारा होती है तथा उनका नान्तरण तुषार-उत्क्षेपण द्वारा होता है। ईकिन की परिकल्पना के विपरीत **वाटर्स** (1962) ने **शैलस्तर अपरदन-सिद्धान्त** (Bedrock-erosion theory) का प्रतिपादन किया है। सबसे पहले वेदिका का निर्माण पहाडी ढालो पर एक छोटे गर्त मे हिम के एकत्रीकरण से प्रारम्भ होता है। इस हिम के अपक्षयात्मक (**कांजिलीफ्रैक्शन**) कार्य से धरातल मे टूटन (Shattering) होने से मलवा का निर्माण होता है जो कि मृदासर्पण द्वारा नीचे की ओर हटा लिया जाता है। इस तरह तुषार अध: खनन (Forst sapping) तथा मृदासर्पण द्वारा मलवा के स्थानान्तरण की प्रक्रियाओं की पुनरावृत्ति के कारण वेदिकाओ का निर्माण हो जाता है। मलवा का वहन एक वेदिका से दूसरी वेदिका पर होता हुआ पहाडी ढाल के निचले भाग पर पहुँच कर इतना अधिक हो जाता है कि शैलस्तर उससे ढँक जाती है, परन्तु ऊपरी भाग खुला ही रहता है। स्पष्ट है कि इन वेदिकाओ पर मलवा का आवरण तो होता है, परन्तु वह स्थिर न होकर गतिशील होता है। लगता है इसी भ्रम के कारण ईकिन ने इन वेदिकाओ को निक्षेप जनित बता दिया था। आगे चलकर चेकोस्लोवाकिया के बोहेमियन पठार पर कार्य करने के बाद डेमेक (J Damek) तथा जुडेक ने (1964) ने वाटर्स के सिद्धान्त को समर्थन प्रदान किया। यदि वाटर्स के



चित्र 369—गतिशील हिम—मलवा द्वारा पैटर्न (Pattern) का निर्माण तथा ढाल का विकास।



चित्र 371—अनुप्रस्थ निवेशन कोटर।

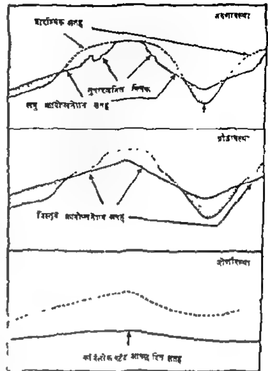
verse), अनुदैर्घ्य (Longitudinal) तथा वृत्ताकार (Circular), तीन प्रकारो मे विभाजित किया है। अनुप्रस्थ कोटर ढाल की समोच्च रेखाओ के समानान्तर होते हैं। इनके निर्माण मे धरातलीय संरचना का अधिक महत्त्व होता है, अर्थात् पूर्व निर्मित छोटे-छोटे गर्तों मे हिम-खण्डो द्वारा अपरदन तथा मृदासर्पण द्वारा मलवा निष्कासन से इनका निर्माण तथा विकास होता है। इन कोटरो द्वारा पहाडी ढालो पर वेदिकायें (Altiplanation terraces) बन जाती हैं। जब कोटरों की स्थिति ढाल (पहाडी ढाल) की दिशा मे होती है तो उसे अनुदैर्घ्य कोटर कहते है। इन कोटरो का निर्माण जल-अपरदित घाटियो या बीहड (Ravines) मे हिम-खण्ड की स्थिति द्वारा अपरदन से होता है। वृत्ताकार कोटरो के निर्माण मे धरातलीय संरचना का कोई हाथ नही होता है। इनकी व्यास कुछ मीटर से एक किलोमीटर तक होती है। इनका निर्माण मन्द ढाल वाली सतह पर होता है, ताकि मलवा का निष्कासन (गुरुत्व के कारण) आसानी से हो सके। इन कोटरो मे निरन्तर विस्तार होने से हिम-खण्ड (Snow-patch) के हिम की मोटाई निरन्तर बढती जाती है। यहाँ पर हिमानी सर्क (Glacial cirque) तथा निवेशन कोटर में भ्रान्ति हो सकती है, क्योकि निवेशन कोटर मे हिम इतनी अवश्य हो जाती है कि उसका कोटर से बहाव होने लगे। कई विद्वानो ने इनमे अन्तर स्थापित करने का प्रयास किया है। रसेल (1933) तथा वाटर्स (1966) ने इन विस्तृत कोटरो को निवेशन सर्क (Nivation Cirque) बताया है। परन्तु निवेशन सर्क से ग्लेशियर का आविर्भाव नही हो सकता है। इन दोनो को तली के आधार पर अलग किया जा सकता है। हिमनदी सर्क की तली बेसिन के आकार की होती है परन्तु उसके अग्रभाग मे उभरा चौखटा होता है। निवेशन कोटर मे इस तरह का आकार नही होता है, क्योकि उभरे चौखटे के कारण कोटर से मृदासर्पण द्वारा मलवा के निष्कासन मे बाधा हो जायेगी।

परिहिमानी घाटियाँ—परिहिमानी क्षेत्र की घाटियाँ असममित (Asymmetrical) होती हैं, जिनका एक किनारा खडे ढाल वाला होता है तथा दूसरा मन्द ढाल वाला। इन असममित ढालो के विकास के सम्बन्ध मे दो सम्भावनायें व्यक्त की जाती हैं। या तो एक किनारे का तीव्रीकरण (Steepening) हो या दूसरे का पतन (Decline), परन्तु इसका पता लगाना कठिन कार्य है। इतना तो बताया जा सकता है कि घाटी के दो किनारों पर प्राप्त होने वाली सूर्यताप (Insolation) की मात्रा की विभिन्नता तुषार-अपक्षय (Frost weathering) तथा मृदासर्पण को अवश्य प्रभावित करती है। जो घाटी उ० प० से द० पू० दिशा (उ० गो०) मे होती है तो उसके द० प० ढाल पर सूर्यताप अधिक प्राप्त होता है, जिस कारण दिन मे हिमद्रवण (Thaw) हो जाता है परन्तु रात मे पुन: हिमीकरण हो जाता है। इस कारण हिमीकरण हिमद्रवण-चक्र के फलस्वरूप इस ढाल पर कॉजिली-फ्रैक्शन द्वारा टूटन होने लगती है। दिन के समय विघटित मलवा का मृदासर्पण द्वारा नीचे की ओर परिवहन

हो जाता है। इस तरह ढाल मे निवर्तन (Retreat) होने से ढाल तीव्र होता जाता है। इस ढाल को **सक्रिय ढाल** (Active slope) कहते है। इसके विपरीत उ० पू० दिशा वाले ढाल पर छाया के कारण दिन-रात हिमीकरण की अवस्था रहती है। इसमे यह ढाल निष्क्रिय (Inactive) होता है। हिम-चादर इसको संरक्षण प्रदान करती है। इस प्रक्रिया के कारण असमान ढाल वाली घाटी का विकास होता है। कुछ लोगो का कहना है कि द० प० ढाल मन्द हो जायगा, क्योंकि सतत अपक्षय के कारण उसमे पतन होते रहने से कोण घटता जाता है। उ० प० दिशा वाला ढाल यथावत रहने से द० पू० दिशोन्मुख ढाल की अपेक्षा तीव्र हो जायेगा, क्योंकि इसमे हिम-चादर से संरक्षण मिलने से ढाल पतन नहीं हो पाता है। विद्वानो का तीसरा वर्ग कहता है कि दक्षिणी ढाल अधिक तीव्र होगा क्योंकि द० प० दिशोन्मुख ढाल पर दिन मे अधिक ताप के कारण जल (Melt water) सूख जायेगा परिणामस्वरूप मृदासर्पण का स्थगन हो जायगा। इसके विपरीत उ० पू० दिशोन्मुख ढाल पर कम ताप के कारण हिमीकरण मन्द गति मे सम्पादित होता है अतः मृदा-सर्पण मे स्थगन नहीं हो पाता है। इन मतो से बिल्कुल विपरीत कुछ लोगो ने बताया है कि घाटी के दोनो ढालो पर विभिन्न मोटाई वाली हिम-चादर का निर्माण सूर्यताप की प्राप्त होने वाली मात्रा मे विभिन्नता के कारण न होकर प्रचलित पवन द्वारा होता है। पवनोन्मुखी ढाल (Windward slope) पर से पवन हिम को हटा देती है जबकि पवनविमुखी ढाल (Leeward slope) पर हिम का सचयन करती है। इस तरह दोनो ढालो पर **विभेदक मृदासर्पण** (Differential solifluction) के कारण असममित घाटियो का निर्माण होता है। इन परस्पर विरोधी मतो का प्रमुख कारण यह बताया जा सकता है कि प्रत्येक असममित घाटी का निर्माण एक कारण द्वारा बताने का प्रयास किया गया है। अलग-अलग क्षेत्रो मे इनके निर्माण के लिए अलग-अलग कारण खोजना होगा।

परिहिमानी अपरदन-चक्र

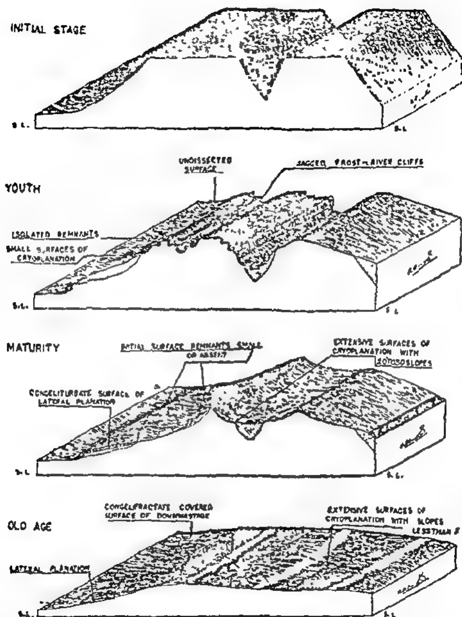
पेल्टियर (L C Peltier) ने 1950 मे परिहिमानी क्षेत्रो मे अपक्षय तथा अपरदन के प्रभावो से अवगत होकर '**परिहिमानी अपरदन चक्र**' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया तथा डेविस के भौगोलिक चक्र के समान ही स्थलरूपो का विकास तरुणावस्था, प्रौढ़ावस्था तथा जीर्णावस्था के अन्तर्गत बताया है। प्रो० आर० पी० सिंह



चित्र 372—पेल्टियर के अनुसार परिहिमानी अपरदन चक्र।

(1971) ने भी परिहिमानी क्षेत्रो मे स्थलरूपो के विकास मे चक्रीय प्रक्रिया को ही स्वीकृति प्रदान की है। पेल्टियर के अनुसार परिहिमानी अपरदन चक्र का सम्पादन **तुषार-सपाटीकरण** (Cryoplanation) की प्रक्रिया द्वारा होता है जिसमे दो प्रक्रम सक्रिय होते है - (i) **कांजेलिफ्रैक्शन** (Congelifraction) तथा (ii) **कांजिलीटर्बेशन** (Congeliturbation)। मृदासर्पण (सविन्द्र सिंह 1972) भी परिहिमानी चक्र मे तुषार-सपाटीकरण मे पर्याप्त सहायता करता है। यद्यपि अधिकांश लोगो ने परिहिमानी अपरदन चक्र की वैज्ञानिकता को अस्वीकार कर दिया है, परन्तु पेल्टियर ने अनेक स्थलाकृति प्रमाणो के बाद दावा किया है कि यह परिहिमानी-चक्र एक वास्तविकता है।

तरुणावस्था परिहिमानी जलवायु के साथ ही प्रारम्भ होता है। प्रारम्भ मे **कांजिलीफ्रैक्शन** (तुषार-अपक्षय) अधिक सक्रिय होता है जिस कारण पहले वाले ढाल नग्न शैल वाले खड़े ढालो मे बदल जाते है, जिनका ढाल 15° –30° का होता है। इन ढालो मे समानान्तर **निवर्तन** (Parallel retreat) होता है। इन ढालो के



चित्र 373—प्रो० आर० पी० सिंह के अनुसार परिहिमानी चक्र की अवस्था (1971)।
[नेशनल ज्योग्राफर के सम्पादक के सौजन्य से]

आधार पर तुषार-जनित क्लिफ (Frost cliffs) का निर्माण होता है। तुषार-जनित ढालों के निचले भाग पर 15°—20° ढाल वाली 'क्रायोप्लनेशन लघु सतह' (Small cryoplanation surfaces) का निर्माण होता है। ये सतह, शुष्क रेगिस्तानी भागों के पेडीमेण्ड के समान होती है, जिनके ऊपर से होकर मलवा का काँजिलीफ्लक्शन (Congelifluction, मृदासर्पण solifluction) द्वारा स्थानान्तरण होता रहता है, जिस कारण मलवा नीचे सरक कर घाटियों में जमा होने लगता है। कुछ मलवा का जमाव क्रायोप्लनेशन सतह के निचले भाग में भी हो जाता है, क्योंकि नदियाँ मौसमी होने के कारण सभी मलवा का परिवहन नहीं कर पाती हैं।

प्रौढ़ावस्था—तुषार जनित ढालों में समानान्तर निवर्तन के कारण जलविभाजक नष्ट होने लगते हैं तथा

तरुणावस्था के कुछ स्थलरूप (बिखरे हुए शैल अवशेष, क्लिफ, गोलाकार चौड़े उच्च भाग आदि) लुप्त हो जाते हैं, परन्तु क्रायोप्लनेशन सतह में निरन्तर विस्तार होता रहता है। यह विस्तार मुख्य रूप से ढालों में समानान्तर निवर्तन के कारण होता है। घाटियों में मलवा का अभाव होने लगता है। पहाड़ियों के चौड़े शिखरों का ढाल 20°-30° तक हो जाता है। कांजिलीफ्रैक्शन तथा कांजिलोट-र्बेशन के कारण अत्यन्त विस्तृत क्रायोप्लनेशन सतह का निर्माण हो जाता है।

जीर्णावस्था-तुषार-अपक्षय (कांजिलीफ्रैक्शन तथा मृदासर्पण (कांजिलोफ्लक्शन) के प्रक्रमों के लगातार सक्रिय रहने के कारण पहाड़ियाँ पूर्णतया नष्ट हो जाती हैं तथा ढाल घट कर 5° या उससे कम हो जाता है। मलवा तुषार-अपक्षय के कारण घिसकर अत्यन्त बारीक हो जाते हैं। जिन पर पवन का कार्य सक्रिय हो जाता है। स्थान-स्थान पर लोयस तथा बालुका स्तूप बन जाते हैं तथा पवन बारीक पदार्थों को ,अपवाहन (Deflation) द्वारा उड़ाकर त्रिपहल (Ventifacts) का निर्माण करती है। नदियाँ भी सक्रिय होती हैं जो कि तुषार-अपक्षय में प्राप्त मलवा का परिवहन कर देती है। जीर्णावस्था के अन्तिम समय में अपक्षय तथा अपरदन सागर-तल द्वारा ही निर्धारित होता है। अन्तत 5° से कम ढाल वाली क्रायोप्लनेशन सतह का निर्माण होता है।



अध्याय 27

प्रादेशिक भू-आकारिकी

(Regional Geomorphology)

1. बेलन बेसिन[1]—(The Belan Basin)

भौगोलिक स्थिति

बेलन नदी जो कि विन्ध्यन पहाड़ियों से निकल कर मिर्जापुर रीवाँ तथा इलाहाबाद जिलों में होकर मेजा तहसील (इलाहाबाद) में टोंस नदी, जो स्वयं गंगा की सहायक नदी है, से मिल जाती है। बेलन प्रवाह-बेसिन का अक्षांशीय-विस्तार 24° 35′ से 25° 2½′ उ० अक्षांश तथा देशान्तरीय विस्तार 81° 45′ पू० से 83° 15′ पू० देशान्तर तक है। इस तरह प्रवाह बेसिन का आकार अण्डाकार है। बेलन प्रवाह-बेसिन द० में सोन-घाटी, पूर्व में छोटा नागपुर के पठार, उत्तर में मिर्जापुर पहाड़ी तथा पश्चिम में टोंस नदी एवं दक्षिण में रीवाँ पठार से आवृत्त है। दक्षिणी भाग 300 मीटर, पूर्वी भाग 150 से 300 मीटर द० प० भाग 300 से 450 मीटर तथा उत्तरी एवं उ० प० भाग 150 मीटर से कम ऊँचा है। बेलन नदी अपना मार्ग मुख्यतया चट्टानी क्षेत्र से होकर तय करती है तथा अपने दोनों किनारों को काटकर घाटी का निर्माण किया है, जहाँ पर घाटी की दीवालें कहीं-कहीं पर 20 मीटर से अधिक हो जाती है। यह घाटी शैलों के मन्धि स्तरों से प्रभावित सीढ़ीनुमा ढालों से युक्त पहाड़ियों से घिरी है, जिसके शिखर-तल पठार प्रकार के हैं।

बेलन की कई सहायक सरितायें सममित घाटियों *से होकर प्रवाहित होती हैं अथवा नदी समप्राय क्षेत्र से* होकर प्रवाहित होती हैं। इस प्रदेश में छोटे-छोटे टीले समप्राय वेदिकाओं से ऊपर उठे दृष्टिगत होते हैं। अवदा-*घाटी के पश्चिम में ऊपरी विन्ध्यन-क्रम की रीवाँ श्रेणी* से बने 'मेसा' और बुटी' परिलक्षित होते हैं। कुल मिलाकर बेलन तथा उसकी सहायक नदियों ने दीर्घकाल तक अनाच्छादन के कारण समप्राय मैदान का निर्माण कर डाला है। केवल कुछ सहायक नालों ने मिट्टी के आवरण को गहराई तक काटकर विसर्पों का निर्माण किया है।

*विगत 30 वर्षों के आँकड़ों के अनुसार बेलन प्रवाह-*बेसिन की औसत वार्षिक वर्षा 44.4″ है। प्रवाह-बेसिन के ऊपरी भाग (विन्ध्यन पहाड़ियों के समीप) में वर्षा अधिक होती है, परन्तु निचले भाग में (मेजा तहसील) इसकी मात्रा अधिक घट जाती है बेलन नदी पर निर्मित मेजा बाँध से ऊपर की ओर लगभग 780 वर्गमील का अपवाह-क्षेत्र बेलन नदी को मिलता है, जिसमें से लग-भग 232 वर्ग मील अपवाह-क्षेत्र का जल सिरसी जलाशय को प्राप्त होता है। शेष 548 वर्ग मील का **'बाही जल'** बाकी क्षेत्र के लिये उपलब्ध होता है।

भू-वैज्ञानिक संरचना

बेलन-बेसिन में मुख्यतः महीन तथा मध्यम कणों वाले क्वार्टज् युक्त बालुका प्रस्तर पाये जाते हैं, जो कि ऊपरी विन्ध्यन के **'कैमूर-क्रम'** के बालुका प्रस्तर अवस्था से सम्बन्ध रखते हैं। इस चट्टानों का रंग हल्का गुलाबी है, परन्तु कहीं-कहीं पर जैसे 'नडोला-नाला' में जो बेलन *नदी के बायें तट पर स्थित सवाई ग्राम से आधा मील* पहले है, गहरे रंग की चट्टान भी दृष्टिगोचर होती है। दाहिने तट पर खरिहाट के पश्चिम में एक छोटे नाले के निकट में शैल-क्रम में सफेद क्वार्टज् की पट्टी पायी जाती है। अधिकांश चट्टानें तरंग चिह्नित सस्तरों वाली हैं, जब कि कुछ शैलें ऊर्मिका चिह्नित सस्तरों वाली भी हैं। घोरो नाला' के अनावृत क्वार्टजाइट बालुका प्रस्तर में तरंग-चिह्नित सस्तरण के उदाहरण मिलते हैं। *कुछ शैल दृश्यांशों में तरंग-चिह्नित सस्तरण कई दिशाओं* में देखे गये है, जिससे यह आभास होता है कि अवसादों के निक्षेपण के समय जल-धाराओं की दिशा में परिवर्तन होता रहा है। शैल गठन अर्द्धगोलाकार से गोलाकार है, जिससे स्पष्ट होता है कि अवसादों के परिवहन के समय

---

1. Singh, Savindra and Renu Srivastava, 1974 A Morphometric Study of the Tributary Basins of Upper Reaches of the Belan Basin, National Geographer, Vol. IX, pp 31-44.

उनमे पर्याप्त श्रेणीकरण तथा चयन हुआ है। सिरसी बाँध के पास सूक्ष्म कणो वाली श्वेत क्वार्टजाइट चट्टानें अनावृत्त शैलदृश्यांशो मे दृष्टिगत होती हैं। इन अनावृत्त क्वार्टजाइट का सम्बन्ध ऊपरी विन्ध्यन क्रम की कैमूर श्रेणी के 'घघरौल क्वार्टजाइट अवस्था' मे बताया जा सकता है।

बेलन-घाटी मे दादरी ग्राम से कोटा ग्राम के बीच 6 मील की दूरी मे जलकुण्ड का निर्माण हुआ है जिसकी अधिकतम गहराई 19′ है। इस जलकुण्ड का निर्माण सम्भवतः इस क्षेत्र मे घटित भ्रंशन के कारण हुआ है। पटपार नाला-क्षेत्र मे भ्रंशन के कारण चट्टानों के संस्तर अव्यवस्थित मे हो गये हैं। महादेव गॉव म पटपार नाला के मुख के बीच द्वितीय कुण्ड' पाया जाता है।

अनावृत्त चट्टानों के संस्तरों के नतिलम्ब की दिशा पूर्व पश्चिम तथा नमन की दिशा उत्तर की ओर है। बेलन की सहायक घोरी मे नमन 15 उ० प० है। नहोला नाला क्षेत्र में नमन 35° उ० है। देवघाट ग्राम से दो फर्लांग नीचे नदी मे नमन की दिशा म विलोमता दृष्टिगत होती है। अनाच्छादन के कारण अनेक स्थानों मे शैलो का अनावरण हो गया है जिस कारण शैल दृश्यांश भौमिकीय स्वरूप का पूर्ण प्रदर्शन करते है। जहा पर जलकुण्डो का विकास हुआ है वहाँ पर चट्टानें बहुत कम दिखाई देती है : परन्तु नदी के बाये तट पर खरिहाट ग्राम के समीप की चट्टानें विशेष रूप से अनावृत्त हो गई है। इसी तरह अनाच्छादन के कारण शैल दृश्यांश दाहिने किनारे पर खरिहाट ग्राम के दक्षिण भी दृष्टिगत होते है। यहाँ पर नदी का मार्ग उत्तर-पश्चिम के स्थान पर उत्तर दक्षिण हो गया है। धूरिया ग्राम के आस-पास के क्षेत्र मे नदी के बायें किनारे पर भी शैल का अनावरण हो गया है जहाँ पर नमन की दिशा उत्तर के स्थान पर दक्षिण हो गई है। घोरी, महोला तथा बेलन नदी के संगम-स्थलो के आस-पास आवरणहीन चट्टानें दृष्टिगत होती है। यहाँ पर नदी सीधे मार्ग मे प्रवाहित होती है तथा दोनो किनारो पर रिगोलिथ' को 50 फीट की गहराई तक काटकर अपनी घाटी का निर्माण करती है।

शैल-स्तरो मे विसंगति तथा नदी-मार्ग म जल कुण्डो के निर्माण के विषय मे भ्रंशन की सम्भावना व्यक्त की जा सकती है। इस सम्भावना की पुष्टि पातवार नाले के अनुप्रस्थ काट से हो जाती है। विस्तृत भूवैज्ञानिक सर्वेक्षण के अभाव में यह तो निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि बेलन घाटी की विन्ध्यन शैलें भ्रंशन से ही प्रभावित है, परन्तु मस्तरो की असम्बद्धता, तीव्र नमन, बेलन-नदी के पास अचानक शैल दृश्यांशो का अदृश्य होना तथा जल मार्ग के सहारे जलकुण्डो का निर्माण आदि इस क्षेत्र मे भ्रंशन-क्रिया के अस्तित्व का समर्थन करते है।

बेलन-प्रवाह क्षेत्र की चट्टानो मे मुख्य खनिज क्वार्टज है, जो गोलकणो के रूप मे मिलता है। कुछ स्थानो पर अभ्रक की परतें भी दृष्टिगोचर होती है। 8 फीट से 11 फीट की गहराई पर पीलापन लिए हुए चीका मिट्टी प्रकार का खनिज भी प्राप्त होता है। शैल मस्तरो का सामान्य नतिलम्ब (Strike) पूर्व-पश्चिम है तथा नति (नमन Dip) उत्तर की ओर है। नदी-मार्ग मे गहरे जलकुण्ड उच्छलिका (Rapids) प्रपात (Falls) नति कोणो मे विभिन्नता आदि से यह प्रकट होता है कि इस भाग मे विवर्तनिक कारणो से प्रादेशिक तथा स्थानीय-स्तर पर भ्रंशन की क्रियाएँ घटित हुई है। सर्वत्र आधारभूत ऊपरी चट्टानो के ऊपर क्वाटर-नरी युग के विभिन्न प्रकार के जलोढ जमाव पाये जाते है। बेलन ने 60 फीट तक इन जमावो को जगह-जगह पर काट रखा है, जिससे चट्टानो के क्रमिक रूप को भली-भाँति देखा जा सकता है।

प्रवाह प्रणाली

बेलन तथा उसकी सहायक नदियो ने आयताकार प्रवाह-क्रम का निर्माण किया है। चट्टान की संरचना, मुख्य-रूप से शैल-सन्धि तथा भ्रंशन, ने प्रवाह क्रम को पूर्ण रूप से प्रभावित किया है। बेलन की लगभग 120 सहायक नदियाँ है इनमे से 58 सहायक नदियाँ दाहिने किनारे तथा 62 बाये किनारे से बेलन मे मिलती हैं। बेलन की दाहिनी ओर मे मिलने वाली प्रमुख नदी भाकर है। भाकर की प्रमुख सहायक नदियाँ जगिया दरदा, करौंदिया, गुथिहवा चकनवा करम्हा आदि है। इस दिशा की अन्य प्रमुख सहायक तनेहवा तथा खमवा है। बाँये किनारे मे मिलने वाली प्रमुख नदियाँ अदवा सिपोतो तथा ग्लना है। इस तरह यह स्पष्ट है कि बेलन को अधिकाश जल कैमूर पहाड़ियो से निकलकर आने वाली सरिताओ से ही मिल पाता है। प्रवाह गठन (Drainage texture) अत्यन्त स्थूल (Very Coarse) म स्थूल (Coarse) तथा प्रवाह-आवृत्ति (Drainage Frequency) कम से सामान्य (Poor to moderate) है।

उच्चावच

बेलन बेसिन समप्राय अवस्था मे है अत यहाँ पर निरपेक्ष उच्चावच (Absolute relief) तथा आपेक्षिक



चित्र 374—बेलन बेसिन ।

उच्चावच (Relative relief) दोनों अत्यन्त कम है। सामान्य ऊँचाई 225-315 मीटर तक है तथा समस्त बेसिन का 95% भाग 1000 फीट (305 मीटर) से कम ऊँचा है। सापेक्षिक उच्चावच 0′ से 400′ के अन्दर आता है (Extremely low to moderate), 68% क्षेत्र पर अत्यन्त निम्न आपेक्षिक उच्चावच (0′—50′) पाया जाता है। समप्राय अवस्था के कारण अधिकांश भाग (लगभग 90%) समतल हो गया है जिस कारण घर्षण सूची (Dissection index) निम्न है। लगभग 78% क्षेत्र निम्न घर्षण सूची (Low dissection index) के अन्तर्गत आता है। लगभग 90% भाग पर ढाल 3° से कम पाया जाता है।

बेलन नदी संकरी घाटी से प्रवाहित होती है जिसकी गहराई लगभग 60 फीट तक है। जगह-जगह पर बेलन ने प्रपात तथा गार्ज का निर्माण भी किया है। मुखा प्रपात (55′) इसका प्रमुख उदाहरण है। बखार नदी के संगम तक बेलन की घाटी अत्यन्त तंग है। सामान्य उच्चावच एक पहाड़ी प्रदेश जैसा है। चारो तरफ घर्षित छोटी-छोटी पहाड़ियाँ मिलती हैं। बेलन घाटी से लगी पहाड़ियाँ पठार जैसी हैं तथा उनमें सोपान पाये जाते हैं। अदवा नदी के पश्चिम में गोलाकार छोटे-छोटे टीले मिलते हैं। रीवाँ श्रेणी की चट्टानों में अपरदन तथा अपक्षय द्वारा निर्मित मेसा तथा बुटी सामान्य सतह से निकली दृष्टिगत होती है।

अनाच्छादन कालक्रम (Denudation Chronology)

यदि बेलन बेसिन में अवसादीकरण (Sedimentation) की क्रिया को पर्मियन युग तक पूर्ण मान लिया जाय तो क्रीटैसियम युग तक अनाच्छादन के कारण यह क्षेत्र प्रथम अपरदन-चक्र पूर्ण करके समप्राय मैदान में बदल गया होगा, जबकि कैमूर अपरदन सतह (1350′-1400′, 420 मीटर) का निर्माण हुआ होगा। इसी बीच कार्बोनिफरस युग में हिमानीकरण के कारण हिमानी आवरण के फलस्वरूप चट्टानों को अपरदन में संरक्षण मिला जिस कारण प्रथम अपरदन-चक्र का समय बढ़ गया। टर्शियरी युग में विभिन्न उत्थान तथा संचलनों (Movement) का बेलन बेसिन में पर्याप्त प्रभाव पड़ा था। सोन के दक्षिण में दो भ्रंशन के निश्चित प्रमाण मिले हैं। इस भ्रंशन के कारण सोन का मार्ग कुछ उत्तर की ओर सरक गया तथा बेलन बेसिन का उत्तर की ओर झुकाव (Tilt) हो गया, जिस कारण अभिनति का निर्माण हुआ, जिससे होकर वर्तमान बेलन प्रवाहित होती है।

ऊपरी विन्ध्यन चट्टानों के ऊपर क्वाटरनरी युग के जलोढ़ जमाव से अनेक जलवायु सम्बन्धी परिवर्तनों का आभास मिलता है। प्लीस्टोसीन हिमकाल की शीतल जलवायु से प्रारम्भ होकर कई बार उष्णार्द्र, उष्ण-शुष्क, आर्द्र शुष्क, आर्द्र जलवायु का चक्र चलता रहा, जिस कारण वर्तमान स्थलाकृति का निर्माण सम्भव हो पाया बेलन बेसिन में चार अपरदन सतहें निश्चित की जा सकती

हैं। 1. कैमूर सतह (1350′-1500′) 2 पन्ना सतह (1000′), 3. रीवां सतह (800′) तथा ट्रान्स यमुना गंगा सतह (500′)। अपरदन सतह के विस्तृत विवरण के लिए देखिए इस पुस्तक का अध्याय सोलह तथा चित्र 191.

2 निचली सोन घाटी[1] (Lower Son Valley

सामान्य परिचय

सोन नदी भारत की प्राचीनतम नदियों में से एक है, जो जबलपुर के द० पू० में 200 कि० मी० दूर अमरकण्टक पहाड़ी से निकलकर पहले उ० प० दिशा में प्रवाहित होती है परन्तु कुछ दूर जाकर अचानक उ० पू० की ओर मुड़ जाती है तथा इसी दिशा में 500 कि० मी० प्रवाहित होने के बाद पटना के पास गंगा में मिल जाती है। अपने ऊपरी प्रवाह-मार्ग में सोन गोण्डवाना क्रम की चट्टानों को काट कर प्रवाहित होती है लेकिन जहाँ से इसकी दिशा उ० पू० हो जाती है, निचले विन्ध्यन क्रम की चट्टानें आ जाती है तथा निचले भाग (Lower Course near the confluence) में नूतन जलोढ़ जमाव का आधिक्य हो जाता है। सोन अपना अधिकांश मार्ग मध्य भारत के पठारी भाग (300 से 600 मीटर) में तय करती है। सम्पूर्ण घाटी में संरचनात्मक जटिलता के कारण विभिन्न प्रकार के स्थलरूपों का निर्माण हुआ है। निचली सोन घाटी सोन नदी के सुदूर पूर्वी भाग को प्रदर्शित करती है जिसके अन्तर्गत रोहतास पठार जो कि विन्ध्यन पठार का पूर्वी छोर है, को सम्मिलित किया जाता है। रोहतास पठार सोन के उत्तर में स्थित है तथा बिहार के शाहाबाद जिले के पश्चिमी भाग को प्रदर्शित करता है परन्तु भौतिक दृष्टिकोण से इसका विस्तार उत्तर प्रदेश तथा मध्य प्रदेश तक है। वास्तव में विन्ध्यन पठार के तीन भाग हैं - रीवां पठार भाण्डेर पठार तथा रोहतास पठार। ये पठार एक दूसरे से कगार (Scarp) द्वारा अलग होते है। यदि कैमूर से भाण्डेर की ओर चला जाय तो मकान की सीढ़ियों की तरह क्रमश ऊपर चढ़ने जाना होगा। रोहतास पठार इनमें से सबसे पूर्वी भाग है। इसका दक्षिणी किनारा सोन घाटी से अचानक 150-250 मीटर दीवाल के रूप में ऊपर उठा है। यह कगार नदियों से विच्छेदित नहीं हो पाया है परन्तु उत्तरी कगार पर्याप्त विच्छेदित है।

भूगर्भिक सरचना

निचली सोन घाटी में आधारभूत चट्टानें आर्कियन ग्रेनाइट तथा नीस है जिनके ऊपर असम विन्यास (Unconformity) के बाद बिजावर क्रम की ग्रेनाइट तथा नीस चट्टानें पायी जाती है जिनके ऊपर पुनः असम विन्यास पाया जाता है। इस असम विन्यास के ऊपर निचले विन्ध्यन क्रम की सेमरी श्रेणी की चट्टानें पायी जाती हैं। समरी श्रेणी की चट्टानों की बनावट तथा उत्पत्ति के विषय में पर्याप्त मतभेद है। अहमद नरायन तथा साहनी के अनुसार ये चट्टानें सागरीय उत्पत्ति की हैं। सेमरी श्रेणी में मुख्य रूप से चूने का पत्थर तथा बालुका पत्थर पाये जाते हैं। इस श्रेणी के सबसे नीचे काग्लोमरेट तथा बालुका प्रस्तर मिलते हैं जिनके ऊपर शेल तथा मोटी परत वाला चूने का पत्थर (कजरहट चूनाप्रस्तर 603 मीटर मोटा) पाया जाता है। इसके बाद पुनः शेल, बालुका प्रस्तर बजरी (Grit) शेल आदि संस्तर (Beds) मिलते हैं जिनमें आतपफटन (Suncracks) तथा तरंग चिन्ह (Ripple marks) आदि पाये जाते हैं, जो कि उत्थान को इंगित करते हैं। निचले विन्ध्यन क्रम के ऊपर पुन असम विन्यास के बाद ऊपरी विन्ध्यन क्रम की चट्टानें मिलती हैं जिनमें नीचे से ऊपर कैमूर रीवां तथा भाण्डेर श्रेणी की शैलें दृष्टिगत होती है जिनमें बालुका प्रस्तर चूना प्रस्तर शेल आदि प्रमुख चट्टानें पायी जाती है। सबसे ऊपर क्वाटरनरी युग के जलोढ़ जमाव मिलते हैं। सोन घाटी की चट्टानें अभिनति प्रकृति (Synclinal nature) की हैं। यह विश्वास किया जाता है कि विन्ध्यन क्रम की चट्टानों का जमाव एक भूसन्नति में हुआ जो कि एक आन्तरिक जलभाग के रूप में थी।

क्वाटरनरी जमाव

× × ×

गोण्डवाना क्रम

अ स म वि न्या स

ऊपरी विन्ध्यन क्रम	भाण्डेर श्रेणी	ऊपरी अवस्था
		निचली अवस्था
	रीवां श्रेणी	ऊपरी अवस्था
		निचली अवस्था
	कैमूर श्रेणी	ऊपरी अवस्था
		निचली अवस्था

[1] Dutt G K 1968 - Evolution of landforms in the lower Son Valley, India in Selected Papers, Vol I (Physical Geography) I G. U 1968, India, pp 43-50.

अ स म वि न्या स ?

निचला विन्ध्यन क्रम	सेमरी श्रेणी	रोहतास अवस्था
		खेनजुआ अवस्था
		चीनी-मिट्टी-अवस्था (Porcellanite Stage)
		आधार अवस्था (Basal Stage)

अ स म वि न्या स

बिजावर श्रेणी—नीस, ग्रेनाइट आदि

अ स म वि न्या स

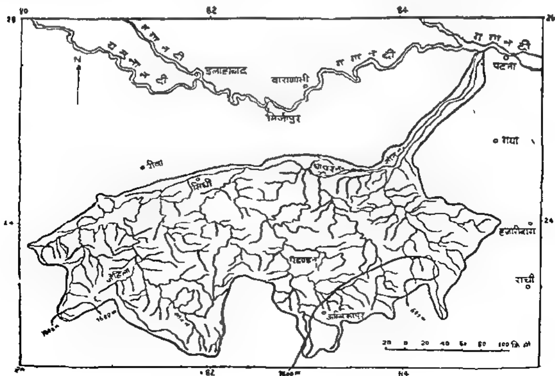
आर्कियन क्रम—ग्रेनाइट, नीस आदि

विवर्तनिक इतिहास (Tectonic History)

चट्टानो के संस्तर तल, नति कोण (*Dip angles*) आदि को देखने से पता चलता है कि इस क्षेत्र में उत्थान तथा भ्रशन की क्रियायें अधिक सक्रिय रही है। टर्शियरी युग में विभिन्न उत्थानों का प्रभाव इस क्षेत्र मे प्रादेशिक तथा स्थानीय दोनो रूपो मे अवश्य पडा है, यदि उत्तर से दक्षिण अवलोकन किया जाय तो इस क्षेत्र में कम से कम दो भ्रशन के प्रमाण (पूर्व-पश्चिम) अवश्य मिलते हैं। इनमे से एक भ्रशन बिली, कजरहट, हल्दी, हर्रा आदि बस्तियो के दक्षिण से होकर गुजरती है, जबकि दूसरी जमोल, मेड़ा गाँव, गरदा के दक्षिण तथा मरकुण्डी गांव के उत्तर से गुजरती है। दोनो भ्रशन व्युत्क्रम (Reverse) प्रकार की है। इस भ्रशन के कारण सोन के उत्तर स्थित भाग का उत्तर की ओर झुकाव (Tilting) हो गया। भ्रशन के कारण सोन का उत्तर की ओर खिसकाव (Shifting) हो गया। प्रमाण मे बताया जा सकता है कि सोन का दाहिना तट मन्द ढाल वाला है जबकि उत्तरी तट कगार (Scarp) युक्त है तथा ढाल वाला है। सोन के उत्तरी कगार (कैमूर श्रेणी) से घघर के अलावा कोई भी मुख्य नदी सोन मे नहीं मिलती है परन्तु इसके उत्तरी ढाल से नदियां निकल कर बेलन तथा कर्मनाशा नदियो से मिलती है।

प्रवाह-प्रणाली

सोन नदी के दोनो ओर प्रवाह-प्रणाली मे पर्याप्त भिन्नता है। सोन के उत्तर मे कगार इतना तीव्र ढाल वाला है कि कोई प्रमुख नदी सोन मे नही मिल पाती है। केवल छोटे-छोटे बरसाती नाले जलप्रपातो के रूप मे नीचे तक आ पाते हैं। कगार के उत्तर से कई नदियाँ निकल कर गंगा क्रम मे मिल जाती है। सोन के दक्षिण मे कई नदियाँ आकर सोन मे मिलती है, जिनमे प्रमुख है रिहन्द, कन्हार तथा उत्तरी कोयल। मध्य प्रदेश वाले भाग मे गोपद तथा बनास नदियाँ सोन से मिलती है।



चित्र 375—सोन घाटी।

अधिकांश भाग में पादपाकार (Dendritic) का समानान्तर प्रवाह-क्रम का विकास हुआ है। सोन के दक्षिण भाग में आयताकार (Rectangular) प्रकार का प्रवाह-क्रम देखने को मिलता है। नदियों की तरुणावस्था को देखने से लगता है कि इनकी प्रतिस्थापना (superimposition) प्राचीन सरचना पर हाल ही में हुई है। प्रायः सभी प्रमुख नदियां भौतिक बाधाओं को काट कर प्रवाहित होती हैं, जिससे प्रगट होता है कि उनका निचली सरचना पर अध्यारोपण (Superimposition) हो गया है। नदियों की अनुदैर्ध्य परिच्छेदिकाओं (Longitudinal profiles) को देखने से इस क्षेत्र में क्रीटेसियस युग से क्वाटरनरी युगों तक हुए महादेशजनक संचलनों (Epeirogenic movements) के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं।

सामान्य उच्चावच

निचली सोन घाटी की सामान्य ऊँचाई 150-660 मीटर (500'-2200') के बीच पाई जाती है। सोन घाटी एक नाव (Trough) से होकर गुजरती है जिसकी सागर-तल से ऊँचाई 150-225 मीटर (500'-750') है। सोन के बांये तट के सहारे फैली कैमूर श्रेणी की सामान्य ऊँचाई 200-450 मीटर (1000'-1500') तक है। सोन के दाहिने तट की ओर भी कगार की ऊँचाई 450 मीटर तक पहुँच जाती है। विजयगढ़ उच्च-भाग में भी 450 मीटर तक की ऊंचाई मिलती है। सोन के उत्तरी तथा दक्षिणी किनारे पर विकसित उच्चावच में पर्याप्त भिन्नता देखने को मिलती है। उत्तरी किनारा उच्च शिखर-कटक (Ridge) तुल्य कगार के समान दृष्टिगत होता है। विभिन्न ऊँचाई पर फैले पठारी भाग पाये जाते हैं। दक्षिण से देखने पर उत्तरी भाग एक दीवाल के समान दिखाई पड़ता है। इसके विपरीत दक्षिणी किनारा अत्यधिक विच्छेदित (Dissected) है।

सामान्य भू-आकारिकी (General Geomorphology)

रोहतास पठार की सबसे बड़ी विशेषता इसके सपाट तल के रूप में है। इस पठार के ऊपर भी जो सतह है या छिट पुट पहाड़ी भाग है उनका ऊपरी भाग भी सपाट एवं चौड़ा है। यह सपाट एवं चौड़ापन मुख्य रूप से कैमूर बालुका-प्रस्तर की प्रतिरोधी चट्टानों के कारण ही सम्भव हो पाया है। स्थान-स्थान पर नदियों ने ऊपरी-बालुका-प्रस्तर को काट दिया है जिस कारण निचला चूना-प्रस्तर अनावृत हो गया है और उस पर विशिष्ट प्रकार की स्थलाकृति (Limestone topography) विकसित हो गयी है। जहाँ पर दुर्गावती तथा बनजारी नदियाँ कगार से नीचे उतर कर मैदान की ओर अग्रसर होती हैं वहाँ पर चूनाप्रस्तर का अनावृत भाग देखने योग्य है। रोहतास पठार के दक्षिणी कगार पर खुले चूनाप्रस्तर-सस्तर (Exopsed limestone beds) पर घुलन की क्रिया द्वारा कन्दरायें तथा छिद्र निर्मित हो गये हैं। इन्हें यहाँ पर स्थानीय भाषा में खोह (Khoh) कहा जाता है। गुप्तेश्वर कन्दरा या गुप्ताधाम कन्दरा इसका प्रमुख उदाहरण है। (देखिये अध्याय 20 का चित्र 252 अध्याय 22 व चित्र 284 तथा 290)। नदियों ने रोहतास पठार को अपनी गहरी घाटियों द्वारा कई भागों में विभक्त कर रखा है। सुरा नदी ने पठार की ऊपरी परत को काटकर इस पठार के उत्तरी भाग को विच्छेदित कर दिया है। इसके द्वारा निर्मित मकरी-खोह गार्ज अत्यधिक प्रसिद्ध है। कर्मनाशा नदी के पश्चिम में मिलने वाले स्थलरूप अन्य क्षेत्रों से अलग विशेषता रखते हैं। उच्च सतह अधिक विस्तृत नहीं है परन्तु उनकी ऊँचाई 500 600 मीटर तक है। ये सतह सदा से कई हैं तथा उनका एक दूसरे से अलगाव तीव्र कगारों (Steep Scarps) द्वारा होता है। पूर्ण भाग विच्छेदित है जिस कारण यहाँ की स्थलाकृति पथित एवं पहाड़ी तुल्य (Ruggeld and hilly) है।

अपरदन सतह (Erosion Surfaces)

(सोन के उत्तरी भाग में उत्तर से दक्षिण की ओर अर्थात् शाहबाद जिले की भभुआ सहसील से सोन घाटी तक निम्न अपरदन सतह क्रम से मिलती हैं)।

1 200 मीटर सतह—यह मैदानी भाग है जो कि रोहतास पठार के उत्तरी कगार के उत्तर में विस्तृत है।

2 250 मीटर सतह— यह उच्च भाग है जो कि छोटे-छोटे टीले जैसा दृष्टिगत होता है ये टीले सपाट सतह वाले होते हैं जो कि मन्द ढाल वाले कगारों से घिरे हैं। कैमूर पठार से आने वाली नदियां इन अपने साथ लाये मलवा के जमाव से इनका निर्माण (सम्भवतः) किया होगा।

3 300-350 मीटर सतह– यह पठार का बाह्य भाग है। जिसे बाह्य पठार (Outer plateau) कहा जा सकता है। उत्तरी कगार के ऊपर से मैदानों के बीच में थोड़े शिखर वाली पहाड़ियां वाली यह सतह 250 मीटर सतह से ऊँची है। इनका निर्माण कैमूर बालुका प्रस्तर से हुआ है। इनके चारों ओर भी कगार पाए जाते हैं। सम-

वानपुर के पास गरवा पहाड़ी पर इस तरह की सतह का अच्छा उदाहरण मिलता है।

4 400 मीटर सतह—यह सतह मुख्य पठार पर मिलती है तथा सबसे अधिक विस्तृत है। यह चारो ओर से तीव्र कगार से घिरी है, जिस कारण पठार दुर्गम बन गया है। कैमूर श्रेणी की चट्टानो से निर्मित होने के कारण यह भाग कैमूर पठार के नाम से जाना जाता है। सोना, करसोथा, दुर्गावती आदि नदियो ने कगार से उतरते समय अनेक जलप्रपातो का निर्माण किया है (देखिये अध्याय 20 का चित्र 252)।

5. 450 मीटर सतह—मुख्य पठार की ऊपरी सपाट सतह पर कुछ अधिक ऊँचाई वाले छोटे-छोटे बिखरे पठार मिलते हैं, जिनकी सामान्य ऊँचाई 500 मीटर है। ये सतह भी चारो ओर से कगार से घिरी हैं, जिस कारण आसानी से अलग हो जाती है।

सोन के दक्षिणी किनारे वाले भाग में निम्न तीन सतहे मिलती है, जो कि क्रमश दक्षिण की ओर कम ऊँची होती जाती हैं—

1 450 मीटर सतह—गढवा नगर के उ० प० मे इस सतह का रूप देखा जा सकता है जहाँ पर विजावर संरचना के बहिष्क (Outlier) के ऊपर इसका विकास हुआ है। मिर्जापुर जिले मे दुधी नगर के पास भी इस सतह का अवलोकन किया जा सकता है।

2. 400 मीटर सतह—यह सतह सम्पूर्ण भाग मे व्यापक रूप से पायी जाती है तथा इसका निर्माण प्रत्येक प्रकार की संरचना के शैल दृश्यांश (Outcrops) पर हुआ है।

3 300 मीटर सतह—यह सतह सबसे अधिक पायी जाती है तथा प्रत्येक प्रकार की बनावट पर इसका विकास हुआ है।

निचली चम्बल घाटी[1] (Lower Chambal Valley)

सामान्य परिचय

चम्बल नदी, यमुना की एक प्रमुख सहायक नदी है, जो विन्ध्यन पठार के उ० प० लोब तथा अरावली पर्वत के मध्य जलोढ संरचना से होकर प्रवाहित होती है। कोटा के पास सामान्य ऊँचाई 200 से 250 मीटर है तथा सगम की ओर यह ऊँचाई शनै-शनैः घटती जाती है। यमुना के साथ सगम के पास यह ऊँचाई घट कर 125 मीटर ही रह जाती है। चम्बल द्वारा निर्मित स्थलाकृतियो मे बीहड़ (Ravines) सर्वप्रमुख स्थान रखते हैं। लगभग 50,000 हेक्टेयर भूमि मे बीहडो का निर्माण हुआ है जो कि कृषि की दृष्टि से हानिप्रद तो हैं ही, साथ ही सुरक्षा के लिए सिर दर्द बने हुए हैं। ये बीहड अनेको डाकुओ के शरण-स्थल बन गये है, जिस कारण चम्बल घाटी तथा उसके समीपी भागो मे अनेक सामाजिक समस्यायें उठ खडी हुई है। बीहडो का विस्तार कोटा से प्रारम्भ होकर यमुना के सगम तक 480 कि० मी० की लम्बाई मे पाया जाता है। कोटा से धोलपुर तक बून्की-करौली पहाडी श्रेणी तथा धोलपुर के आगे छोटी परबती तक उत्तरी सीमा फैली है। दक्षिण मे इनकी सीमा काली सिन्द, परबती तथा कुवारी नदियो द्वारा निश्चित होती है। चम्बल के दोनों किनारो पर बीहडो का विकास 10 कि० मी० की चौडाई मे हुआ है।

कोटा के आगे चम्बल उ० पू० दिशा मे अध कर्तित विसर्पों (Incised meanders) से होकर प्रवाहित होती है, जिसमे नवोन्मेष (Rejuvenation) का आभास मिलता है। कोटा से आगे सगम तक चम्बल घाटी की गहराई निरन्तर बढती जाती है।

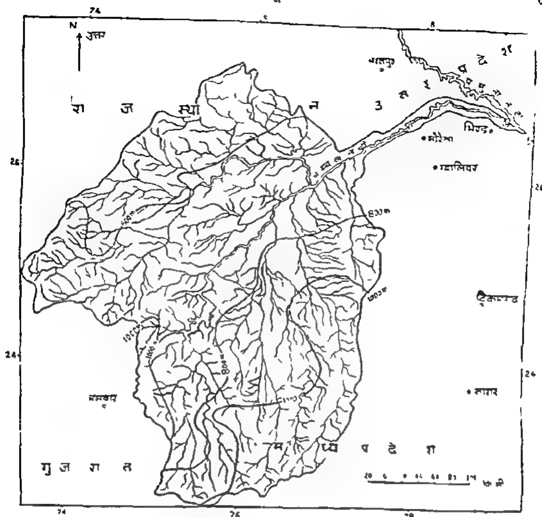
जलवायु

चम्बल घाटी की जलवायु अर्द्धशुष्क है। वार्षिक वर्षा 30″ से कम होती है परन्तु वर्षा का अधिकांश भाग मानसून के दो तीन महीने मे ही प्राप्त हो जाता है। कोटा तथा धोलपुर मे वर्षा की दैनिक सक्रियता (वर्षा-काल-Daily intensity) क्रमश 21 तथा 19 मि० मी० तक हो जाती है, परिणाम स्वरूप मूसलाधार वृष्टि के कारण वर्षा काल मे अत्यधिक जल की प्राप्ति के कारण नदियो के जल का आयतन अधिकतम हो जाता है। नदियो का वेग बढ जाता है, जिस कारण अपरदन अत्यधिक सक्रिय हो जाता है। शरदकाल तथा ग्रीष्म काल पूर्णतया शुष्क हो जाते हैं, जल की पूर्ति शून्य हो जाती है, परिणामस्वरूप आयतन न्यूनतम हो जाने से नदियो का वेग शिथिल हो जाता है। ग्रीष्मकाल मे औसत तापक्रम 90° फा० से ऊपर उठ जाता है परन्तु शरदकाल मे यह 50° फा० तक पहुँच जाता है।

सामान्य उच्चावच

यदि हवाई जहाज से निचली चम्बल घाटी का सर्वेक्षण किया जाय तो सर्वत्र एक जैसी स्थलाकृति—कटक

1. Sharma, H. S, 1968-Genesis of Ravines of the Lower Chambal Valley, India, in Selected Papers (Physical Geography), IGU 1968, India, pp. 144-158.



चित्र 376—चम्बल घाटी ।

तथा गर्त (Ridges & clefts) के दर्शन होते हैं । घाटी के उ० प० भाग में बैडलैण्ड स्थलाकृति का निर्माण हुआ है । *बैडलैण्ड तथा बीहड़ स्थलाकृति में सामान्य अन्तर* होता है । वास्तव में बैडलैंड तथा कार्स्ट स्थलाकृतियाँ देखने में समान लगती हैं परन्तु उनके स्वभाव में (प्रथम का विकास जलोढ, मृत्तिका शैल आदि पर अर्द्धशुष्क जलवायु में होता है तो दूसरी का विकास तर जलवायु में चूनाप्रस्तर पर होता है) पर्याप्त अन्तर होता है । बैडलैंड में बीहड़ कम गहरे होते हैं ।

आकार तथा गहराई में बीहड़ों में पर्याप्त भिन्नता पायी जाती है । *गहराई, चौड़ाई तथा ढाल के आधार* पर शर्मा[1] ने चम्बल के बीहड़ों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया है—

बीहड़ के प्रकार	*गहराई* (मीटर)	*चौड़ाई* (मीटर)	*पार्श्व* ढाल	*शीर्ष* ढाल
G_1	0 1 तक	18 तक	45°-80	मन्द
G_2	1-5	18-25	50°-90°	अनिश्चित
G_3	5 40	25से अधिक	50 -90	तीव्र

बीहड़ों की गहराई, चौड़ाई तथा आकार मुख्य रूप से मिट्टी के प्रकार तथा उसकी गहराई पर निर्भर करता है । शर्मा ने इस क्षेत्र में दो तरह के आकारों का अवलोकन किया है—*1 U आकार तथा 2 V आकार* ।

1. Sharma, H.S , 1968—Genesis of Ravines of the lower Chambal Valley, India, in Selected Papers (*Physical Geography*), *I. G. U. 1968, India, pp 144-158*

V आकार के बीहड का निर्माण उन भागों मे हुआ है, जहाँ पर मिट्टी के नीचे महीन कणों वाली मृत्तिका (clay) शैल परत पायी जाती है। मृत्तिका का अपरदन तीव्र गति से न हो पाने के कारण बीहड उन भागो मे पाये जाते हैं जहाँ पर मिट्टी तथा उसके नीचे स्थित परत कमजोर तथा मुलायम होती है।

शर्मा ने निचली चम्बल घाटी मे बीहडो की प्रति इकाई क्षेत्र (41 वर्ग किमी० या 16 वर्ग मील) मे आवृत्ति (Frequency) का परिकलन किया है। यह आवृत्ति कोटा से सगम तक बदलती जाती है। कोटा के पास यह आवृत्ति 1 से 5 तक है जबकि परबती नदी के सहारे 5-10 के बीच है (यहां पर कुछ छिट-पुट भाग मे आवृत्ति 10-15 भी मिलती है)। कोटा मे आगे आवृत्ति निरन्तर बढती जाती है। बीहडो के प्रकारो की भी आवृत्ति का परिकलन (शर्मा 1968) किया गया है। **सामान्य बीहड** (G_1 प्रकार) की आवृत्ति कोटा तथा बनास जलद्वार (Watergap) के मध्य अधिकतम पायी जाती है। बनास जलद्वार के आगे **अति गहरे बीहड़** (G_3 प्रकार) की आवृत्ति बढती जाती है। धौलपुर से आगे G_3 प्रकार के बीहड की आवृत्ति अन्य बीहडो की तुलना मे अधिक हो जाती है। इस विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि बीहडो की गहराई तथा आकार कोटा से सगम की ओर बढते जाते हैं।

इन बीहडो की उत्पत्ति के विषय मे दो सुझाव (शर्मा, 1968) दिए जा सकते है—(i) आधार-तल मे उत्थान के कारण अवनयन (Lowering) तथा (ii) अपरदन मे नवोन्मेष। चम्बल तथा उसकी सहायक नदियो मे इस समय नवोन्मेष देखने को मिलता है। हिमालय प्रदेश मे टर्शियरी हलचल के कारण मध्य प्लीस्टोसीन युग मे चम्बल घाटी मे उत्थान हो गया जिस कारण टर्शियरी अपरदन-चक्र विघ्नित हो गया एवं नदियो मे नवोन्मेष आ गया जिस कारण निम्नवर्ती अपरदन के तीव्र हो जाने से गहरे बीहडो का निर्माण सम्भव हो पाया। चम्बल के मुहाने के पास अत्यधिक गहरे बीहडो की स्थिति के दो कारण बताये जा सकते हैं—(i) जब नवोन्मेष होता है तो नदी मुहाने से प्रारम्भ होता है तथा नवोन्मेष का शीर्ष नदी के ऊपरी भाग की ओर खिसकता जाता है। अत नदी के मुहाने के पास निम्नवर्ती अपरदन सर्वाधिक होता है तथा ऊपरी भाग की ओर घटता जाता है। (ii) नदी के निचले भाग की ओर जलोढ की गहराई अधिक होती है। चम्बल के सन्दर्भ मे ये दोनो बातें मिलती हैं।

बीहडो के विकास मे चार क्रमिक अवस्थायें (शर्मा, 1964) बतायी जा सकती हैं—

1 **जलगर्तिका अवस्था** (Pothole stage)—प्रारम्भिक अवस्था मे नदी के दोनो किनारो पर सपाट धरातल पर जल तथा मिट्टी के कणो के सम्मिलित कार्य द्वारा छोटे-छोटे छिद्र बन जाते हैं।

2. **सुरगीकरण अवस्था** (Tunnelling Stage)—धीरे-धीरे छिद्र बढते जाते हैं तथा जल अन्दर-अन्दर या तो दूसरे छिद्र के नीचे तक पहुँच कर सुरग का निर्माण करता है या अन्दर ही अन्दर निकटवर्ती बीहड के नीचे चला जाता है। धीरे-धीरे इस सुरग का विस्तार होता जाता है।

3 **अवपतन अवस्था** (Collapsing Stage)—जब सुरग अधिक विस्तृत हो जाती है तथा ऊपरी छत अधिक पतली रह जाती है तो वह नीचे ध्वस्त हो जाती है तथा बीहड ऊपर दृष्टिगत होने लगता है।

4 **निवर्तन अवस्था** (Recession Stage)—बीहड का शीर्ष तथा पार्श्व भाग धीरे-धीरे विस्तृत होने लगता है तथा शुष्क समय मे मलवा बीहड की तली मे बैठ जाता है। उसकी गहराई कम हो जाती है। वर्षा-काल मे ये वहा लिये जाते है। इस तरह बीहडो के शीर्ष तथा किनारो के पीछे हटते जाने से समस्त भाग शक्वाकार भाग मे बदल जाता है। चौडाई अधिकतम हो जाती है।

गिरनार पहाड़ी प्रदेश[1]

सामान्य परिचय

गिरनार पहाडियाँ गुजरात प्रान्त के काठियावाड़ प्रायद्वीप मे जूनागढ नगर के पूर्व मे 21°30′ उ० अक्षाश तथा 70° 30′ पू० देशान्तर के बीच स्थित है। काठियावाड मे मिलने वाली चौरस शिखर वाली ट्रैप पहाडियो (Flat topped trap hills) से सर्वथा भिन्न हैं। गिरनार पहाडियो के विशिष्ट रूप तथा उनके स्थलरूपो के विकास मे वहां की भूगर्भिक सरचना ने महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। पहाडियाँ प्राय गोलाकार हैं तथा लगभग 125 वर्ग किमी० के क्षेत्र मे फैली है।

भूगर्भिक संरचना

गिरनार क्षेत्र की आधारभूत (Basal) चट्टानें प्रायद्वीपीय भारत की तरह अति प्राचीन हैं जिनके अन्तर्गत

1. Subba Rao, S., 1968 : Physical features of Girnar Hills in Kathiawar, India, in Selected Paper, Vol. I, (Physical Geog), I. G. U. India 1968, pp. 158-161.

लावा का प्रवेश हुआ है। लावा-प्रवाह **दरारी उद्भेदन (Fissure flow)** द्वारा हुआ। प्रारम्भ में बेसाल्ट का जमाव अधिक हुआ परन्तु बाद में लैकोलिथ-निर्माण के साथ गैब्रो आग्नेय शैल का प्रवेश भी हुआ। गैब्रो के प्रवेश के कारण स्थानान्तरण की क्रियायें भी हुईं जिस कारण बेसाल्ट में वर्णों का विनाश हो गया। गैब्रो के प्रवेश के साथ मौलिक चट्टान में तनाव के कारण फटन (Cracks) तथा दरारें (Fissures) बन गयीं जिनमें लावा के भर जाने से ऑलिविन डोलेराइट का निर्माण हुआ। लैकोलिथ के निर्माण के बाद अम्ल प्रधान लावा के प्रवेश के कारण **मुद्रिका डाइक (Ring dike)** का निर्माण हुआ। आगे चलकर निम्न भागों के ऊपर सागरीय अतिक्रमण के कारण चूनापत्थर का निर्माण हो गया।

प्रवाह-प्रणाली

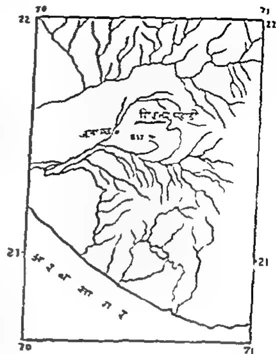
गुम्बदाकार पहाड़ियों से चारों ओर अनुवर्ती नदियाँ (Consequent streams) निकलकर ढाल का अनुसरण करती हैं तथा अरीय (Radial) प्रवाह का रूप धारण करती हैं। इनकी सहायक परवर्ती (Subsequent) नदियाँ पहाड़ियों की परिक्रमा करती हुई **वलयाकार प्रवाह प्रणाली (Annular patterns)** का सृजन करती हैं। इस क्षेत्र की सभी नदियाँ मौसमी हैं अतः कोई भी सरिता सततवाहिनी (Perennial) नहीं है। मानसून काल में चार-पाँच महीने तक जल मिलने के कारण इनका जीवन रहता है। शेष समय में ये सूख जाती हैं।

जलवायु

यहाँ की जलवायु मानसूनी है परन्तु औसत वार्षिक तापक्रम में पर्याप्त परिवर्तन होते रहते हैं। अधिकतम तापक्रम मई महीने में 43° से॰ ग्रे॰ तक तथा न्यूनतम तापक्रम जनवरी महीने में 12° से॰ ग्रे॰ तक पहुँच जाता है। वर्षा अरब सागरीय मानसून-शाखा से जून या जुलाई में प्रारम्भ होती है तथा अगस्त या सितम्बर के प्रथम पखवारे तक समाप्त हो जाती है। औसत वार्षिक वर्षा जूनागढ़ में 86 सें॰ मी॰ तथा गिरनार पर्वत पर 130 सें॰ मी॰ तक अंकित की जाती है।

सामान्य उच्चावच

अधिकांश पहाड़ियाँ गोलाकार तथा शंक्वाकार शिखर वाली हैं। गिरनार पर्वत की ऊँचाई 1117 मीटर (सागर तल) है जो कि इस क्षेत्र का सर्वोच्च भाग है। गिरनार का गुजराती भाषा में अर्थ सर्वोच्च पर्वत होता है। लगता है इस आशय पर इस पहाड़ का



चित्र 377—गिरनार पहाड़ी क्षेत्र।

नामकरण गिरनार किया गया है। इस केन्द्रीय पर्वत के चारों ओर एक वलयाकार कटक (Ridge) फैला है जो कि चार अरीय कटकों (Radial ridges) द्वारा गिरनार पर्वत से जुड़ा है। इन कटकों के मध्य मैदानों का निर्माण हुआ है। नदियों ने गिरनार पहाड़ को काट कर गहरे गार्ज बना डाला है, जिस कारण ऊपर कई चोटियाँ बन गयी हैं, जिनमें प्रमुख हैं—गोरखनाथ (1117 मी॰), दातातारी, अम्बादेवी कालिका चोटी (1004 मी॰) आदि। गिरनार पर्वत के चतुर्दिक विस्तृत वृत्ताकार कटक के बाह्य तथा आन्तरिक किनारे विपरीत स्वभाव वाले हैं। आन्तरिक किनारे खड़े ढाल वाले हैं जिस कारण एस्कार्पमेंट का निर्माण हो गया है परन्तु बाह्य किनारे मन्द ढाल वाले हैं। इसके ऊपर भी कुछ छिट-पुट शिखर (चोटियाँ) पाये जाते हैं जैसे दातारटोर (847 मी॰)।

प्रमुख स्थलाकृतियाँ

लावा निर्मित चट्टानों पर भूपृष्ठीय अपरदन (Sub-aererial erosion) ने कई तरह की स्थलाकृतियों का निर्माण किया है जिनमें निम्न प्रमुख हैं

1 बेसाल्ट स्थलाकृति—गिरनार पर्वत के पूर्व तथा दक्षिण में वृत्ताकार कटक का निर्माण बेसाल्ट आग्नेय

शैल से हुआ है। वास्तव में यह भाग "दकन ट्रैप" के पश्चिमवर्ती विस्तार को प्रदर्शित करता है। बेसाल्ट पर शक्वाकार पहाड़ियों तथा कटकों का निर्माण अपरदन तथा अपक्षय के कारण हुआ है।

2 **लावा मैदान**—गिरनार के पूर्व, उत्तर तथा दक्षिण में वृत्ताकार कटक से घिरा लावा मैदान पाया जाता है। पश्चिम में लावा के ऊपर चूना प्रस्तर का जमाव हो गया है। बेसाल्ट के त्वरित अपक्षय के कारण इस सपाट तथा उर्मिल पृष्ठ (Undulating Surface) वाले मैदान का निर्माण हुआ है। वृत्ताकार कटक के आगे भी लावा मैदान का विस्तार पाया जाता है, खास कर इसके (वृत्ताकार कटक) उ० पू० में सोपानाकार मैदान का अवलोकन किया जा सकता है।

बेसाल्ट सतह में रूपान्तरण के कारण कहीं-कहीं पर कठोरता आ जाने से *विभेदक अपक्षय (Differential Weathering)* द्वारा छोटी-छोटी पहाड़ियों का निर्माण हुआ है।

3 **गैब्रो स्थलाकृति**—गैब्रो चट्टान यहाँ पर दो रूपों में पायी जाती है—(i) मोटे कणों वाली (Coarse grained) तथा (ii) मध्यम कणों वाली। मोटे कणों वाली गैब्रो, जिसमें ऑलविन खनिज वर्तमान है, में अपक्षय के कारण (ऑलविन आसानी से हटा लिया जाता है) गर्तयुक्त एवं उभरी (Pitted and knoby) सतह का विकास हुआ है। मध्यम कणों वाली गैब्रो प्रदेश में सपाट घर्षित सतह देखने को मिलती है। गैब्रो के ऊपर जहाँ कहीं भी रूपान्तरित बेसाल्ट का आवरण (Capping) है वहाँ पर टीलों तथा पहाड़ियों का निर्माण हुआ है। यदि यह आवरण न होता तो गैब्रो का रासायनिक अपक्षय द्वारा शीघ्र लोप हो जाता तथा इन टीलों तथा पहाड़ियों का निर्माण न हो पाता।

4. **डायोराइट-मोनजोनाइट स्थलाकृति**—मध्यवर्ती गुम्बदाकार पहाड़ी मुख्य रूप से डायोराइट-मोनजोनाइट की बनी है। जब डायोराइट-मोनजोनाइट का प्रवेश हुआ तो उभार के कारण प्रारम्भिक प्रवाह विच्छिन्न हो गया तथा अनवरत अनाच्छादन (Denudation) के कारण ऊपरी आवरण के हट जाने से अन्तरतम (Core) का अनावरण (Exposed) हो गया। डायोराइट के अपदलन (Exfoliation) के कारण मध्यवर्ती पहाड़ को गुम्बदाकार रूप प्राप्त हुआ। आगे अधिक अपक्षय तथा अपरदन के कारण तंग घाटियों के निर्माण होने से विभिन्न चोटियों तथा अरीय (Radial) नदी-घाटियों का निर्माण हुआ।

5 **माइक्रोग्रेनाइट स्थलाकृति**—अपने कठोरपन तथा *अवरोधक स्वभाव* के कारण माइक्रोग्रेनाइट ने मुद्रिका **डाइक तथा एस्कार्पमेण्ट** का निर्माण किया है। इस चट्टान का अपक्षय नगण्य होता है। इसका प्रमुख उदाहरण इस क्षेत्र में मिलने वाले इसी शैल के बने **अशोक सम्राट** के शिला-लेख हैं, जो अब भी पाठ्य हैं। इनके कठोरपन का प्रमाण इसी बात से चल जाता है कि जहाँ कहीं भी इनका प्रवेश हुआ है, आस-पास की चट्टानें कट गयी हैं तथा ये कटक के रूप में ऊपर निकली हुई दृष्टिगत होती हैं।

6. **डोलेराइट स्थलाकृति**—डोलेराइट मुख्य रूप से डाइक के रूप में मिलती है तथा गिरनार पहाड़ी के पूर्व में अरीय रूप में फैली है। इन डाइक ने लम्बे-लम्बे कटकों का सृजन किया है जो मुख्य रूप से सीधे रेखा में पाये जाते हैं परन्तु कुछ कटक टेढ़े-मेढ़े रूप में भी पाये जाते हैं। अपक्षय के लिए वे अवरोधक होते हैं तथा अपरदन एवं प्रवाह के लिए नियन्त्रक कारक होते हैं।

7 **चूना प्रस्तर स्थलाकृति**—गिरनार पहाड़ी के पश्चिम में लावा जमाव के ऊपर अतिनूतन चूना प्रस्तर का आवरण पाया जाता है। अवपतन (Slumping) के कारण चूना प्रस्तर के संस्तरों (Beds) में 20° से 25° का नमन (Dip) पाया जाता है। घोलीकरण (Solution) के फलस्वरूप छिट-पुट लैपीज (Lapies) का निर्माण हो गया है।

5 कुमायूँ हिमालय प्रदेश[1]

सामान्य परिचय

प्रस्तुत विवरण कुमायूँ हिमालय के एक भाग से सम्बन्धित है, जो कि 39° 30′ उ० से 29° 45′ उ० अक्षांश तथा 79° 15′ पू० से 79° 45′ पू० देशान्तरों के मध्य स्थित है, इस भाग का क्षेत्रफल 900 वर्ग कि० मी० (364 वर्ग मील) है जो उत्तर प्रदेश के अलमोड़ा जिले के अन्तर्गत आता है। इस क्षेत्र में पर्वत-श्रेणियों की दिशा उ० पू० से द० प० है। रामगंगा क्रम प्रमुख प्रवाह-क्रम है परन्तु इस भाग के पूर्व में सरयू क्रम का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। दोनों नदियाँ अनुवर्ती

1. Singh R L, 1967 : Morphometric analysis of terrain, Bulletin No. 2. NGSI, Varanasi-(1947), Originally Presidential address to Geology and Geography Section, 5th Indian Science Congress, Hyderabad, 1967.

(Consequent) हैं जो ढाल के अनुसार उत्तर से दक्षिण दिशा में प्रवाहित होती है।

सामान्य उच्चावच

इस भाग की औसत ऊँचाई 750 से 2250 मीटर (2500′ से 7500′) के बीच पायी जाती है। **सियाही देवी** (7184′), ऐरोदेव (6924′), **घनियाघर** (6616′) आदि प्रमुख चोटियाँ हैं। प्रमुख पर्वत श्रेणियाँ 6000′ से अधिक ऊँची हैं परन्तु अपरदित श्रेणियों की ऊँचाई 4000′ तक ही पायी जाती है। 4000′-4000′ ऊँचाई के अन्तर्गत इस भाग का लगभग 65% भाग आता है।

जलवायु

यद्यपि इस भाग की जलवायु निचले मैदानी भाग में मिलने वाली जलवायु के ही समान है तथापि ऊँचाई का प्रभाव तापक्रम तथा वर्षा दोनों पर परिलक्षित होता है। अलमोड़ा का औसत वार्षिक तापक्रम 55° फा० (15° सें० ग्रे०) तथा वर्षा 53″ (135 सें०-मी०) है। अधिकतम ग्रीष्मकालीन तापक्रम शायद ही 84° फा० (29° सें० ग्रे०) से अधिक हो पाता है। जनवरी में दिन का तापमान 40° से 50° फा० (4.5° से 10° सें० ग्रे०) के मध्य रहता है। रातें अत्यधिक सर्द हो जाती हैं तथा कभी-कभी हिम- पात भी हो जाता है परन्तु यह सतह पर कुछ घण्टों से अधिक नहीं टिक पाता है। वर्षा का समय 15 जून से 30 सितम्बर तक रहता है जबकि अप्रैल मई शुष्क होते हैं। दक्षिणी ढालों पर उत्तरी ढालों की अपेक्षा अधिक वर्षा होती है।

सापेक्षिक उच्चावच (Relative Relief)

इस भाग में औसत सापेक्षिक उच्चावच 60 मीटर (200′) से 570 मीटर (1900′) के बीच पायी जाती है। सामान्य रूप से इस प्रदेश को दो उच्चावच भागों में विभक्त किया जा सकता है। विभाजक रेखा **सियाही देवी** रानीखेत श्रेणी है। उत्तर का भाग अपेक्षाकृत कम उच्चावच वाला है, जहाँ पर सापेक्षिक उच्चावच 60-300 मीटर (200′-1000′) है, जबकि दक्षिण में यह 300-570 मीटर (1000′-1900′) है। सर्वाधिक उच्च सापेक्षिक उच्चावच **सियाही देवी** के दक्षिणी भाग तथा **घनियाघर** श्रेणी के पास मिलते हैं।

घर्षण सूची (Dissection Index)

कुमायूँ हिमालय प्रदेश अपरदन की तरुणावस्था में है क्योंकि अधिकांश भागों में घर्षण सूची 16 से 20% तथा कहीं-कहीं पर इससे भी अधिक है। अधिक ऊँचाई पर घर्षण की मात्रा कम है। 4000′ की ऊँचाई पर **कोसी घाटी** में घर्षण सूची 15% से कम है परन्तु उसी ऊँचाई पर **गागास नदी घाटी** में **घर्षण** सूची 16 से 20% तक पायी जाती है। गागास की सहायक घाटियों में घर्षण की मात्रा अधिक है। **नौरार गधेरा** (गागास की सहायक) घाटी में सर्वाधिक घर्षण सूची मिलती है। 4000′ से 5000′ (1250 से 1500 मीटर) की ऊँचाई के बीच घर्षण सूची न्यूनतम है। कुछ चोटियों के ऊपर निहायत कम घर्षण-सूची देखने को मिलती है।

प्रवाह घनत्व (Drainage Density)

प्रवाह घनत्व के अन्तर्गत प्रति इकाई क्षेत्र (प्रतिवर्ग मील या प्रति वर्ग कि० मी०) में सरिताओं की लम्बाई को सम्मिलित किया जाता है। नदियों की संख्या तथा लम्बाई मुख्य रूप से वर्षा की मात्रा पर आधारित होती है। उच्च-पर्वत श्रेणियों (6000′) के उत्तरी ढाल वृष्टि छाया में आते हैं, अतः वहाँ पर वर्षा कम होने से **निम्न प्रवाह घनत्व** का विकास हुआ है। दक्षिणी ढालों पर वर्षा अधिक होने पर उच्च प्रवाह घनत्व का विकास हुआ है। **घनियाघर श्रेणी** तथा **रानीखेत चौबुटिया** कटक के उत्तरी ढाल निम्न तथा दक्षिणी ढाल उच्च प्रवाह घनत्व वाले हैं।

ढाल

औसत ढाल 8° से 40° के मध्य पाये जाते हैं। पश्चिमार्द्ध भाग में 25°-30° ढाल वाली एक मेखला पायी जाती है। कुछ नदी-घाटियों तथा नुकीले शिखर-वाली चोटियों के सहारे तीव्र ढालों का विकास होता है, **सियाही देवी**, एरा देव **बिनसार** क्षेत्र में तीव्र ढाल (30°-40°) पाये जाते हैं। मध्यवर्ती क्षेत्र के दक्षिणी ढाल के सहारे तीव्र ढाल तथा उत्तर की ओर सामान्य ढाल मिलते हैं।

आकृतिक प्रदेश (Morphological regions)

सापेक्षिक उच्चावच, प्रवाह घनत्व, घर्षण सूची तथा निरपेक्ष ऊँचाई के आधार पर कुमायूँ हिमालय प्रदेश को निम्न आकृतिक प्रदेशों में बाँटा जा सकता है (प्रो० राम लोचन सिंह, 1967)।

प्रथम श्रेणी	द्वितीय श्रेणी
1. हिमालय घाटियाँ	
	(i) कोसी-सुयाल घाटी
	(ii) गागास घाटी
2. हिमालय की विभाजक श्रेणियाँ	
	(iii) कोसी-गागास-विभाजक
	(iv) कोसी गुआल विभाजक
	(v) कोसी-सरयू विभाजक

कोसी-सुआल तथा गगास रामगंगा की सहायक नदियाँ हैं। कोसी घाटी में घर्षण सूची 60% है। सुआल घाटी का 90% भाग 60 से ऊपर घर्षण सूची वाला है। कोसी घाटी का प्रवाह-गठन सूक्ष्म है जबकि सुआल का स्थूल है। गगास घाटी कोसी घाटी की अपेक्षा अधिक ऊँचाई पर है। इसमें सापेक्षिक उच्चावच उच्च, घर्षण सूची मध्यम तथा प्रवाह-गठन सूक्ष्म (fine) है। विभाजक श्रेणियों के अन्तर्गत कोसी-गगास विभाजक, कोसी - सुआल विभाजक तथा कोसी-सरयू विभाजक को सम्मिलित किया जाता है। प्रायः सभी विभाजक श्रेणियों पर संगत शिखर-तल (Accordant summit levels) पाये जाते हैं। इनमें ढाल तीव्र तथा प्रवाह-गठन सूक्ष्म है।

आकृति विकास (Morphogenetic Evolution)

प्रारम्भ में तीन समान्तर श्रेणियाँ ऐरा-देव-बिन्सार-श्रेणी, सियाही देवी-रानीखेत श्रेणी, तथा घनियाधर श्रेणी का विकास हुआ। इन पर दो अनुवर्ती नदियों—पश्चिम में रामगंगा तथा पूर्व में सरयू—का आविर्भाव हुआ, जिन्होंने इन श्रेणियों को काट कर अपना मार्ग बनाया आगे चलकर रामगंगा की दो परवर्ती (Subsequent) सहायक—गगास तथा कोसी एवं सरयू की परवर्ती सहायक कछगाद एवं कोसी का निर्माण हुआ।

द्वितीय अवस्था में इस क्षेत्र में दो भ्रंशन का निर्माण हुआ, जिस कारण कोसी तथा काली गाद नदियों के मार्ग में परिवर्तन हो गया। इन भ्रंशनों का निर्माण सम्भवतः शिवालिक उत्थान के साथ हुआ होगा। अभी तक इस क्षेत्र में प्रथम अपरदन चक्र पूर्ण नहीं हो पाया है। नदियाँ अब भी निम्नवर्ती अपरदन में व्यस्त हैं। तंग घाटियाँ तथा गार्ज पाये जाते हैं। परन्तु बीच-बीच में बाढ़ मैदान का भी निर्माण हुआ है।

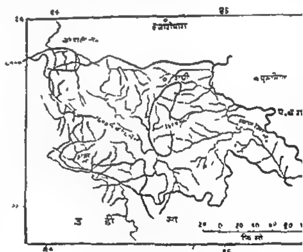
6 राँची पठार
(सविन्द्र सिंह, 1978)

सामान्य परिचय

राँची पठार मुख्य रूप में बिहार प्रान्त के राँची जिले में व्याप्त है जिसका अक्षांशीय तथा देशान्तरीय विस्तार क्रमशः 22° 21′ उ० से 23° 43′ उ० एवं 84° पू० से 85° 54′ पूर्व तक है। इसके दक्षिण में उड़ीसा राज्य का गंगपुर जिला, पश्चिम में मध्य प्रदेश राज्य के जशपुर तथा सरगुजा जिले, उत्तर में बिहार राज्य के पलामू तथा हजारीबाग जिले, पूर्व में मानभूमि एवं द० पू० में सिंहभूमि जिले आते हैं। पठार चारों ओर से खड़े एस्कार्पमेंट द्वारा घिरा है। वास्तव में राँची पठार, छोटानागपुर पठार का दक्षिणी भाग है। गंगाक्रम तथा प्रायद्वीपीय भारत के प्रवाह-क्रमों को अलग करने वाले विस्तृत जल विभाजक (पश्चिम-पूर्व) का पूर्वी भाग ही राँची है। इस पठार से उत्तरी कोयल तथा दामोदर की सहायक (दाहिने किनारे) नदियाँ निकल कर उत्तर की ओर प्रवाहित होती हैं। दक्षिण की ओर प्रवाहित होने वाली सरिताएँ शंख तथा दक्षिण कोयल हैं। पश्चिम की ओर पठार की ऊँचाई शनैः-शनैः ही नहीं बढ़ती है अपितु सोपानाकार रूप में बढ़ती है। उत्तर में उच्च तीव्र ढाल वाला एस्कार्पमेण्ट मिलता है जो कि एक दीवाल सदृश दीखता है। दक्षिण तथा पूर्व में ढाल क्रमशः गिरता जाता है।

सामान्य उच्चावच

पश्चिमी सीमान्त भाग में औसत ऊँचाई 3500 फीट पायी जाती है। अन्य भागों में औसत ऊँचाई



चित्र 378—राँची पठार।

1000′ है। मध्यवर्ती भाग में ऊँचाई 2250 फीट है। इस तरह पश्चिमी एस्कार्पमेण्ट मध्यवर्ती भाग के साथ एक उच्च कगार के रूप में दृष्टिगत होती है। पठार की सामान्य सतह मन्द ढाल वाली तथा तरंगित (Undulating) है। बाह्य भाग में अर्थात् सीमान्त क्षेत्रों में खड़े कगार मिलते हैं। इन एस्कार्पमेण्ट से स्पर लम्बे कटक के रूप में बाहर की ओर निकले हैं। ये स्पर नदी-घाटियों द्वारा अलग किये जाते हैं तथा पर्वत जैसे दृष्टिगत होते हैं। पठार के ऊपर अनेक छोटे-छोटे टेबुललैण्ड पाये

जाते हैं जो गहरे गार्ज द्वारा एक दूसरे से अलग किए जाते हैं। पर्वत-शिखर चौड़ी सतह वाली तथा तीव्र ढाल युक्त हैं परन्तु नदियों की अनुदैर्घ्य परिच्छेदिकाएँ (Longitudinal Profile) मन्द ढाल इंगित करती हैं। इस तरह समस्त उच्चावच रांची पठार को एक प्रौढ वलित पठार की श्रेणी में रखते हैं। जैसे ही नदियाँ सीमान्त भागों में एस्कार्पमेण्ट से नीचे उतरती हैं, ढाल में अचानक तीव्रता आती है तथा गहरे गार्ज तथा जल प्रपातों का निर्माण हो गया है। प्रमुख प्रपातों में शख पर सदनीघाघ प्रपात (200′), फेरुघाघ प्रपात, उ० कोयल की सहायक नदी पर जालिमघाघ तथा हिन्दीघाघ प्रपात (120′ एवं 150′), स्वर्णरेखा पर हुण्डरू प्रपात (253′), जोहना एवं कांची नदियों के क्रम से जोनम धारा तथा दासमघाघ प्रपात आदि ख्याति प्राप्त हैं।

भूगर्भिक संरचना

रांची पठार भूपटल के प्राचीनतम दृढ़ भूखण्ड (Rigid mass) को प्रदर्शित करता है जिसमें विश्व की प्राचीनतम चट्टानें पायी जाती हैं। आधारभूत चट्टानें आर्कियन तथा आर्कियन समूह की हैं जिनके ऊपर दक्कन ट्रैप का आवरण पाया जाता है। रांची पठार पर क्रीटेशियस युग के बाद जमाव नहीं पाये जाते हैं। आर्कियन समूह में ग्रेनाइट-नीस जमाव तथा धारवार क्रम प्रमुख हैं। रांची पठार में धारवार ग्रेनाइट-नीस के ऊपर है या नीचे? इसे लेकर दो मत हैं—प्रथम मत के अनुसार ग्रेनाइट तथा नीस चट्टानें आधारभूत चट्टानें हैं जिनके ऊपर धारवार अवसाद का निक्षेपण हुआ है, द्वितीय मत के अनुसार धारवार आधारभूत चट्टानें हैं तथा ग्रेनाइट एवं नीस का उसमें अन्दर प्रवेश (Intrusion) हुआ है। इसके दो प्रमाण दिए जा सकते हैं—(i) आर्कियन पर्वतीकरण का प्रभाव धारवार क्रम की चट्टानों पर अत्यधिक है जबकि ग्रेनाइट तथा नीस चट्टानें इससे अप्रभावित हैं (ii) ग्रेनाइट तथा नीस धारवार से नये जमाव हैं। समस्त धारवार क्रम में दक्कन ट्रैप का प्रवेश हुआ है। ग्रेनाइट तथा नीस एवं धारवार के ऊपर गोंडवाना जमाव पाये जाते हैं, जिनका निक्षेपण ऊपरी कार्बोनिफरस से जुरैसिक युगों तक होता रहा। क्रीटेसियस युग में आग्नेय क्रिया (Igneous activity) के कारण बेसाल्ट की एक मोटी परत का जमाव हो गया, जिसे दक्कन ट्रैप (Deccan trap) कहा जाता है। यद्यपि दक्कन ट्रैप का पूर्वी विस्तार अमरकण्टक तक ही निश्चित रूप से पाया जाता है परन्तु रांची पठार के पश्चिमी भाग में भी इनका आवरण मिलता है। अधिकांश क्षेत्रों में ग्रेनाइट-नीस आधारभूत शैल के ऊपर लेटराइट आवरण ही मिलता है। सबसे ऊपरी भाग में जलोढ़ जमाव मिलता है।

जलवायु

रांची पठार की जलवायु उष्ण कटिबन्धीय (मानसूनी तुल्य) प्रकार की है। ग्रीष्मकाल अत्यन्त गर्म होता है। अप्रैल, मई तथा जून में तापक्रम 100° फा० से ऊपर रहता है। मानसून के आगमन के साथ तापक्रम में कुछ गिरावट तथा आर्द्रता में वृद्धि होने लगती है। शरद-काल में तापक्रम कम हो जाता है। जनवरी, फरवरी तथा मार्च महीनों में न्यूनतम मासिक तापक्रम क्रमशः 43.9°, 46 4°, 54 7° फा० रहता है। मई तथा जनवरी मास में तापान्तर क्रमशः 38.8° फा० तथा 57° फा० तक पहुँच जाता है। औसत वार्षिक वर्षा 37 6″ होती है। अत्यधिक वर्षा जून से सितम्बर तक (47″) होती है। लोहारदगा, रांची, सिल्ली, पालकोट, बानो, तमार, कुरडेग, गुमला, चैनपुर तथा खुण्टी की औसत वार्षिक वर्षा क्रमशः 47 15, 58.11, 51.55, 6 17, 45 07, 40 26, 66.10, 52.51, 60 60, तथा 50 30 इंच है। उच्च तापमान तथा वर्षा द्वारा अपक्षय तथा अपरदन दोनों प्रक्रम अनाच्छादन में सक्रिय रहे हैं। रांची पठार के उत्तरी-पूर्वी तथा दक्षिणी एस्कार्पमेण्ट वाले भाग में विस्तृत अपक्षय हुआ है। पश्चिमी उच्च भाग पर अपक्षय के कारण मेसा तथा बुटी का निर्माण हुआ है जिनके ढाल दीवाल के समान खड़े हैं। मध्यवर्ती भाग पर टार उच्चभाग तथा मेज के आकार वाले शिखर युक्त पठारों (पाट) का निर्माण अपक्षय के ही कारण हो पाया है।

प्रवाह प्रणाली

मध्यवर्ती रांची पठार से नदियाँ निकलकर प्रायः हर दिशा की ओर प्रवाहित होती हैं, अतः केन्द्र त्यागी या अरीय (Centrifugal or radial) प्रवाह प्रणाली का विकास हुआ है। सीमान्त भागों में समानान्तर, पादपाकार तथा जालीनुमा प्रवाह-प्रणालियों का सृजन हुआ है। प्रमुख नदियाँ स्वर्णरेखा, उत्तरी कोयल, दक्षिणी कोयल, शंख, कांची, कारो आदि हैं। मध्यवर्ती पठार तथा पश्चिमी उच्च भाग की तुलना में सीमान्त भागों में सूक्ष्म प्रवाह-गठन (Fine) पाया जाता है।

उच्चावच तथा अनाच्छादन कालक्रम

रांची पठार एक प्रौढ़ वलित पठार है जिस पर [illegible] अप-[illegible] [illegible] [illegible] हैं। जिसमें प्रमाणित

होता है कि इस भाग मे कई अपरदन-चक्र पूर्ण हो चुके है । अनवरत अपक्षय तथा अपरदन के कारण एस्कार्पमेण्ट, स्पर, स्कन्ध (Shoulder), मेसा, बुटी, सपाट एवं चौड़े शिखर वाली चोटियाँ, अपनतीय घाटियाँ (Anticlinal valleys), अभिनतीय कटक (Synclinal ridges), टार्स (Tors) आदि विशेष प्रकार के स्थलरूप पाये जाते हैं । जहाँ पर नदियाँ पठार के सीमान्त भाग से नीचे उतरती हैं वहाँ पर प्रपात बनाती है । प्रमुख प्रपात निम्न हैं—

प्रपात	नदी	ऊँचाई
1 हुण्डरू प्रपात	स्वर्णरेखा	246′
2. गोतम धारा (जोहना प्रपात)	जोहना (स्वर्णरेखा की सहायक)	85′
3. दसामघाघ प्रपात	कांची (स्वर्णरेखा की सहायक)	150′
4 हिरनी प्रपात	हिरनी (कारो की सहा०)	200′
5 पेरुआघाघ प्रपात	कारो (द० कोयल की सहा०)	60′
6 धनगढ प्रपात	धनगढ (दामोदर की सहा०)	70′

राँची पठार की वर्तमान स्थलाकृति, संरचना, प्रक्रम एव अवस्था का प्रतिफल है । प्रक्रम मे जलीय प्रक्रम का हाथ सबसे अधिक रहा है । धारवार पर्वतीकरण से लेकर टरशियरी पर्वतीकरण के बीच एक लम्बे समय तक राँची का पठार स्थिर अवस्था (Stand still) में रहा है । जिस कारण प्रथम अपरदन चक्र के पूर्ण होने के लिये पर्याप्त समय सुलभ था । परिणामस्वरूप प्रथम अपरदन सतह एवं समप्राय मैदान (Peneplain) का निर्माण हुआ । जिसके उदाहरण आज भी देखे जा सकते हैं । टरशियरी एव क्वाटरनरी युगो में उत्थान की क्रियाओ के कारण राँची पठार मे कई बार उत्थान हुये । परिणामस्वरूप नदियों में नवोन्मेष हो जाने से कई तरह के स्थलाकृतियों का विकास हुआ । नूतन भू-हलचल के कारण नदियो मे नवोन्मेष के कारण तरुणावस्था की स्थलाकृतियाँ खासकर पठार के सीमान्त भागो मे देखने को मिलती हैं । इसके प्रमुख प्रमाण नदियो की गहरी एवं सकरी घाटियों द्वारा मिलते हैं । इन घाटियो के ऊपरी भाग मे प्रौढरूप (Mature form) तथा निचले भाग में तरुण रूप की स्थिति से स्थलाकृति विषम विन्यास (Topographic Discordance) का आभास मिलता है । अधिकाश नदियों के ऊपरी भाग मे प्रौढ घाटियाँ तथा निचले भाग मे तरुण घाटियाँ मिलती हैं । बड़ी नदियाँ जैसे कि स्वर्णरेखा, दक्षिणी कोयल कारो इत्यादि विसर्प (Meanders) बनाकर बाढ़ मैदानो मे होकर प्रवाहित होती है तथा इनकी अनुप्रस्थ परिच्छेदिकायें (Cross Profiles) अन्तिम प्रौढावस्था से जीर्ण अवस्थाओं को इंगित करती हैं । पहाड़ी क्षेत्रो मे नदियाँ अधः कर्तित विसर्पो (Incised meander) से होकर प्रवाहित होती हैं । इस तरह के विसर्प प्राय. हर नदियो के मार्ग मे पठार के सीमान्त क्षेत्रो मे मिलते हैं । नदियो के किनारे पर ढलुवा सतह के ऊपर असख्य टार (Tors) तथा छोटी-छोटी पहाड़ियाँ एवं टीले दृष्टिगत होते हैं जो प्रारम्भिक अपरदन सतह के द्योतक है । नदियो के किनारे पर सोपानाकार वेदिकायें पायी जाती हैं जो कि विभिन्न उत्थानों को प्रमाणित करती हैं । जैसे-जैसे मध्यवर्ती पठार से सीमान्त भागो की ओर (उत्तर, दक्षिण या पूर्व) अग्रसर होते हैं उच्चावच मे वृद्धि एव एस्कार्पमेण्ट के दर्शन होते है । विस्तृत नदी-घाटियाँ सुनिश्चित स्पर द्वारा अलग होती है । जैसे ही ये नदियाँ एस्कार्पमेण्ट के नीचे उतरती हैं, जलप्रपातो का निर्माण करती है । ये जल प्रपात भी उत्थान को इंगित करते हैं । ये प्रपात धीरे-धीरे पीछे की ओर हट रहे है । अनेक स्थानो पर उच्चावच प्रतिलोम (Inversion of relief) के उदाहरण मिलते हैं जहाँ पर अपनतीय घाटियाँ एव अभिनतीय कटक देखने को मिलते है । वास्तव मे अभिनतियो मे डालमाट्रैप का जमाव हुआ । आगे चलकर अपनतियो का अपरदन हो गया जिस कारण अभिनतियों में स्थित डालमाट्रैप अपरदन के लिये अवरोधक होने के कारण कटक के रूप मे बच रहे । इस तरह की स्थिति राँची पठार के दक्षिणी ढाल पर पायी जाती है ।

राँची पठार के पश्चिमी उच्च भाग की प्रौढ स्थलाकृतियो के मध्य तरुण स्थलाकृतियाँ पायी जाती है जिससे उत्थान एवं नदियो मे नवोन्मेष की झलक मिलती है । इस भाग मे दो तरह की नदियाँ देखने को मिलती हैं । 1. वे छोटी-छोटी सरितायें (Rivulets) जो कि मेसा एस्कार्पमेण्ट के सहारे प्रवाहित होती हैं । इनकी घाटियाँ पूर्व स्थापित नहीं है परन्तु ये अत्यन्त वेग से प्रवाहित होकर तीव्र अपरदन मे सलग्न हैं । ये नदियाँ निश्चय ही तरुण है । 2. वे प्रमुख एवं उनकी सहायक नदियाँ जैसे शख, उत्तरी कोयल, सेन नदी, बासा नदी, सफी नदी, कोठारी नदी, बन्दी कोयल, फूलझर नदी, जोरी नदी, चौपट नदी, धसा नदी, जो पूर्ण स्थापित घाटियो से होकर प्रवाहित होती हैं तथा मेसा के शीर्ष के ऊपर से होकर अपना मार्ग बनाती हैं ।

राँची पठार की अपरदन सतह तथा अनाच्छादन कालक्रम का उल्लेख अध्याय 16 मे किया गया है (चित्र 192) ।

अध्याय 28

व्यावहारिक भू-आकारिकी

(Applied Geomorphology)

सामान्य परिचय

प्रत्येक विज्ञान के अध्ययन के दो पहलू हुआ करते है—**क्रमिक** एवं **सैद्धान्तिक** पहलू (Systematic and theoretical aspect) और **व्यावहारिक पहलू**। विज्ञान या विषय विशेष की उपादेयता इसी बात मे है कि उसके क्रमिक ज्ञान तथा सिद्धान्तो का मानव-जीवन मे फलदायी प्रयोग हो। इस दृष्टिकोण से यदि भू-आकारिकी का अवलोकन किया जाय तो पिछले पृष्ठो मे उल्लिखित विवरणो तथा सिद्धान्तो के प्रयोग से मनुष्य की कई समस्याओ का समाधान हो सकता है। अब तक स्थाकृतिक प्रक्रमो से सम्बन्धित सिद्धान्तो को केवल पुस्तक के पृष्ठों तक ही सीमित रखने का प्रचलन था क्योंकि उनके प्रायोगिक महत्त्व की ओर ध्यान कम दिया गया था। परन्तु अब भू-आकारिकी के विभिन्न विषयो मे विशद अध्ययन के कारण भू-आकारिकी से सम्बन्धित अन्य विद्वानो तथा विषयो की समस्याओ के समाधान मे भी स्थाकृतिक सिद्धान्तो का प्रयोग प्रारम्भ हो गया है। स्थलरूपो के अध्ययन के समय भू-वैज्ञानिक संरचना (Geologic structure) तथा स्तर-शैल विज्ञान (Stratigraphy) का अध्ययन किया जाता है। साथ ही साथ क्षेत्र विशेष के अनाच्छादन-कालक्रम (Denudation Chronology) के अध्ययन के समय भूगर्भिक गतिविधियो (Geological events) से सम्बन्धित किया गया अध्ययन खनिज सम्पदा के निर्धारण तथा विदोहन मे पर्याप्त सहायता प्रदान कर सकता है। यदि व्यावहारिक भू-आकारिकी के ऐतिहासिक पक्ष की ओर ध्यान दिया जाय तो सयुक्त राज्य अमेरिका मे उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ मे ही भू-आकारिकी की ओर लोगो का ध्यान आकृष्ट हो गया था। **पावेल** (जे० डब्ल्यू० पावेल) तथा **गिलबर्ट** (जी० के० गिलबर्ट) आदि को सयुक्त राज्य अमेरिका के पश्चिमी भाग के सर्वेक्षण का कार्य-भार सौंपा गया था। सौभाग्य का विषय है कि आज भी प्रसिद्ध अमेरिकी भू-आकृति विज्ञानवेत्ता स्ट्रालर (ए० एन० स्ट्रालर) की सेवायें अमेरिकी जल सेना द्वारा अमेरिका के तटीय सर्वेक्षण एव अन्य महत्त्वपूर्ण कार्यों के सम्पादन मे ली जा रही है। **आकारमिति** (Morphometry) के प्रयोग से अब भू-आकारिकी मे और अधिक जान आ गई है तथा मानव एव उच्चावच के अन्तर्सम्बन्धो का विधिवत विवरण मिलने लगा है। सक्षेप मे भू-आकारिकी का प्रयोग **प्रादेशिक नियोजन एव विकास** (Regional planning and development) राजनैतिक सीमाओ का निर्धारण, बाँधो के निर्माण तथा बाढ़-नियन्त्रण, खनिज पदार्थों के निर्धारण तथा विदोहन, हवाई अड्डे का निर्धारण, सैन्य विभाग, जलविज्ञान आदि मे किया जा सकता है।

प्रादेशिक नियोजन मे भू-आकारिकी का प्रयोग (Application of Geomorphology in Regional Planning)

प्रादेशिक नियोजन इस समय प्रत्येक विकासशील राष्ट्र की प्रमुख समस्या है। नियोजन (Planning) के लिए प्रदेश (Region) का चयन किस आधार पर होना चाहिए? नियोजकों के सामने यह जटिल प्रश्न है। अब तक राजनैतिक इकाइयो को प्रादेशिक नियोजन के लिए आधार माना जाता रहा है परन्तु 1933 मे सयुक्त राज्य अमेरिका मे प्रादेशिक नियोजन तथा विकास के लिए **टेनेसी घाटी परियोजना** (Tennessee Valley Authority) के कार्यान्वयन मे गतिक भू-आकारिकी की ओर नियोजको का ध्यान आकर्षित हुआ है और प्रादेशिक नियोजन के लिए आदर्श इकाई के रूप मे नदी की प्रवाह बेसिन (Drainage basin) का चयन किया जा सकता है और किया भी जा रहा है। सयुक्त राज्य मे टेनेसी घाटी परियोजना की सफलता के बाद मिसौरी घाटी परियोजना तथा भारत मे **दामोदर घाटी परियोजना** आदि का कार्यान्वयन इस बात के प्रमाण है। वास्तव मे प्रवाह बेसिन एक **स्थाकृतिक इकाई** (Geomorphic unit) को प्रदर्शित [illegible] उच्चावच जमीन-प्रयोग तथा मानव के साथ [illegible] सम्बन्ध होता है। स्थाकृतिक समरूपता के कारण उस क्षेत्र मे समस्याये भी समान ही होती है। उदाहरण लिए **चम्बल प्रवाह-बेसिन** मे बीहड़ों (Ravines) के निर्माण तथा चम्बल की भयानक बाढ़

के कारण अनेक ऐसे सामाजिक दुर्गुण (Social evils) उत्पन्न हो गये हैं कि वे राष्ट्र के लिए सिर दर्द बन गये हैं। बीहड़ के कारण अधिकांश क्षेत्र कृषि के लिए अनुपयुक्त हो गये हैं। वर्षा-काल में बाढ़ के कारण कृषि तो नष्ट होती ही है, बीमारियों का प्रकोप भी बढ़ जाता है। इस तरह भरण-पोषण के लिए आवश्यक सामग्री न मिल पाने के कारण अधिकांश लोग चोरी तथा डकैती जैसे जघन्य अपराधो के लिए बाध्य हो जाते हैं। प्रकृति द्वारा निर्मित बीहड़ उनको छिपने के लिये आमन्त्रण देते हैं। अब यदि बीहड़ निर्माण सम्बन्धी प्रक्रियाओ की सम्यक ज्ञानकारी प्राप्त करके उनकी रोक-थाम तथा विरायन के लिये प्रयास किये जा सकते है तथा समस्त घाटी-क्षेत्र का विधिवत विकास किया जा सकता है।

उत्तरी भारत की गंगा, यमुना, गोमती घाघरा, कोसी आदि नदियो मे तीव्र तथा व्यापक बाढ़ के कारण संकट (hazards) तथा पर्यावरण अवनति (environmental degradation) होती जा रही है। प्रवाह-बेसिन के जलीय अध्ययन (hydrological study) द्वारा (प्रवाह-बेसीन जलीय चक्र-पृष्ठ 137-139, बाही जल, भूमिगत जल आदि) क्षेत्र विशेष के जल संसाधन का विधिवत विवरण प्राप्त हो जाता है जिससे प्रादेशिक नियोजन मे सहायता मिलती है।

भू-आकारिकी का इंजीनियरी परियोजनाओं मे प्रयोग (Application of Geomorphology to Engineering Projects)

राष्ट्रीय विकास के लिए कई प्रकार की परियोजनायें कार्यान्वित की जाती हैं, जैसे सड़क-निर्माण, बाँध-निर्माण, हवाई-अड्डे का निर्माण आदि। इन परियोजनाओ मे अन्य कारको (आर्थिक, राजनैतिक, तकनीकी, के अलावा स्थलाकृति की विशेषताएँ तथा भू-वैज्ञानिक संरचना आदि की जानकारी अत्यावश्यक होती है, और यह जानकारी निश्चय ही भू-आकारिकी से अधिक मिलती है।

1. सड़क-निर्माण

सड़क-निर्माण तथा स्थलाकृति मे सीधा सम्बन्ध होता है। विश्व के विभिन्न भागो तथा राष्ट्रो मे विभिन्न प्रकार की स्थलाकृतियाँ पायी जाती है तथा ये कई प्रकार की समस्यायें उपस्थित करती हैं। अत सड़क-निर्माण के समय धरातल को भूगर्भिक संरचना (चट्टान की प्रकृति), चट्टान का स्वभाव, अश्मविज्ञान (Lithology) तथा स्तर शैल विज्ञान (Stratigraphy) की जानकारी अति आवश्यक होती है। उस स्थलाकृति के भ्वाकृतिक इतिहास (Geomorphic history) तथा धरातलीय सतह के नीचे चट्टान के स्वभाव (चट्टान की रन्ध्रता—porosity, भेद्यता permeability, संधि joints, शक्ति strength, सम्पीडनात्मकता-compressibility) आदि जानकारी आवश्यक होती है, और यह जानकारी भू-आकृति विज्ञान से मिलती है।

(i) सड़क-निर्माण मे परिहिमानी क्षेत्रो (Periglacial regions) मे परमाफ्रास्ट की स्थिति अत्यधिक खतरनाक होती है। धरातल के नीचे का भाग सतत जमी अवस्था मे होता है तथा ऊपर वनस्पतियो का आवरण होने से ऊपरी भाग ठोस अवस्था मे रहता है। परन्तु जैसे ही वनस्पति कट जाती है, धरातल सूर्यातप के लिये खुल जाता है, सतह के नीचे परमाफ्रास्ट (Permafrost) के ऊपर स्थित सक्रिय सतह (Active Layer) पिघल जाती है, जिस कारण धरातलीय सतह नीचे ध्वस्त (collapse) हो जाती है और थर्मोकार्स्ट झील (Thermokarst lakes) आदि का निर्माण हो जाता है और उस क्षेत्र मे बनायी गई सड़क तथा रेल लाइन का पता ही नही चल पाता है। इस तरह की समस्या सबसे पहले उस समय आयी जब साइबेरिया मे ट्रांस साइबेरियन रेल लाइन बिछायी जा रही थी। जंगलो को साफ करके पहले तो पटरियाँ बिछा दी गई परन्तु बाद मे सक्रिय-सतह के पिघल जाने के कारण पटरियाँ नीचे धँस गईं। अभियन्ता-समाज को यह एक जादू का करिश्मा नजर आया परन्तु निचले भाग का विधिवत अध्ययन किया गया तो बात स्पष्ट हुई। तभी से सोवियत रूस मे व्यावहारिक भू-आकारिकी का महत्त्व बढ़ गया। परिहिमानी भू-आकारिकी (Periglacial geomorphology) नामक शाखा का विकास किया गया और अब तो परिहिमानी वातावरण तथा स्थलाकृति के अध्ययन के लिए ज्योक्रायोलोजी (Geocryology) नामक अलग विज्ञान का विकास कर लिया गया है। कनाडा मे भी परिहिमानी प्रक्रमो तथा स्थलरूपो का बड़े पैमाने पर अध्ययन किया जा रहा है। अब जहां पर सड़क निर्माण करना होना है, रेल-पटरी बिछानी होती है या बस्तियाँ बसानी होती है, वहाँ पर पहले क्षेत्र को वनस्पति विहीन करके लम्बे समय तक परीक्षण के लिए छोड़ दिया जाता है और बोरिंग द्वारा परमाफ्रास्ट की वास्तविक जानकारी प्राप्त की जाती है।

(ii) चूना-प्रस्तर प्रदेश (Limestone region) भी सड़क आदि के निर्माण के लिए समस्या होते हैं। ऐसे क्षेत्रों में भू-आकृति विज्ञान वेत्ताओं की सहायता ली जा सकती है, जिनके पास भूमिगत-प्रवाह, कार्स्ट स्थलाकृति आदि की विशद जानकारी होती है। चूना-प्रस्तर वाली सतह के नीचे कई कन्दरायें होती हैं। यदि इन क्षेत्रों में सड़कें बनायी जाती है या रेल की पटरियां बिछायी जाती है तो जब कन्दरा की छत ध्वस्त होती है तो सड़क आदि नष्ट हो जाती है। इसी तरह सिंक, छिद्र, धँसती निवेशिकायें (Sinking creeks), अंधी घाटियाँ (Blind Valleys) आदि सड़क निर्माण के लिये हानिकारक होती हैं। सड़क बनाने के पहले इनकी विधिवत जानकारी हासिल कर लेनी चाहिए। इस दिशा में उस क्षेत्र के **आकारजनक मानचित्र** (Morphological maps) का प्रयोग सड़क-निर्माण में अभियन्ताओं की विशेष सहायता कर सकता है।

(iii) हिमानीकृत (Glaciated) प्रदेश सड़क-निर्माण में कम बाधक नहीं होते हैं। हिमानीकृत क्षेत्र में कई तरह के **हिमोढ़ कटक** (Morainic ridges—अन्तिम हिमोढ़), एस्कर, ड्रमलिन, केटिल, भेड़ पीठ शैल (Rochmouttonee) आदि पायी जाती है, जिनसे होकर सड़क बनाने के लिए अधिक काट-छांट करनी होती है। पुनः इस कार्य-हेतु उस प्रदेश का **आकार जनक मानचित्र** (Morphological maps) अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकता है। टिल मैदान (Till plain), जो प्रायः चौरस हुआ करता है, से होकर सड़क-निर्माण अधिक सुविधा-जनक होता है।

(iv) स्तर शैल विज्ञान (Stratigraphy) की विशद जानकारी सड़क-निर्माण के लिए परमावश्यक होती है। कई क्षेत्रों में धरातल के नीचे प्रारम्भिक झीलें जो कि अब लचीले पदार्थों से भर गयी है, पायी जाती हैं। इन क्षेत्रों में सड़क निर्मित करने पर बाद में सड़क के धसक जाने का डर रहता है। ऐसे स्थानों से होकर सड़कें नहीं बनानी चाहिए। यदि वहाँ पर सड़क बनाना जरूरी ही हो तो सड़क के नीचे झीलकृत जमाव (Lacustustine deposits) को हटाकर भारी पदार्थ भरकर उसे मजबूत कर देना चाहिए। यह जानकारी भू-आकारिकी से प्राप्त की जा सकती है।

(v) उच्च पहाड़ी क्षेत्रों में सड़क-निर्माण और अधिक खतरनाक तथा खर्चीला होता है। यदि ऐसे कार्य के लिए भू-आकारिकी के जानकारों की सहायता ली जाय तो समस्या हल हो सकती है क्योंकि उनको यह ज्ञात होता है कि कहाँ पर ढाल का स्वभाव कैसा है तथा भूमिस्खलन (Landslide), पंकवाह (Mudflow) भूमिवाह (Earth flow) आदि की सम्भावनायें क्या हैं।

2 बाँध निर्माण

इन्जीनीयरी तकनीकी के अलावा भूगर्भशास्त्र तथा भू-आकारिकी से बाँध-निर्माण का निकट का सम्बन्ध है। आर्थिक तथा राजनैतिक कारकों के अलावा बाँध-निर्माण के लिए कई कारक उत्तरदायी होते हैं—(i) नदी की अनुप्रस्थ घाटी का रूप, (ii) नदी की अनुदैर्घ्य घाटी (Longitudinal Valley) की प्रकृति, (iii) नदी का प्रवणता-ढाल, (iv) नदी-घाटी की चट्टानों की सापेक्ष कठोरता (v) नदी में जल की मात्रा, आयतन तथा वेग, (vi) बाँध के ऊपर जल-आवाह क्षेत्र (Catchment area) तथा वाही जल (Run off) की मात्रा (vii) जलागार (Reservoir) वाले स्थान पर चट्टान की प्रवेश्यता तथा पारगम्यता, (viii) नदी में तलछट की मात्रा तथा उसकी गति, (ix) जल का विसर्जन (Discharge) आदि। इन कारकों की सम्यक जानकारी **प्रवाह-बेसिन** (Drainage basin) के आकारमिती (Morphometric) अध्ययन से हासिल हो जाती है।

प्रवाह-बेसिन के जलीय आकारमिति (Fluvial morphometry) के अध्ययन के समय नदियों के श्रेणीकरण (Ordering) के समय जब विभिन्न नदी शाखाओं के आर्डर निश्चित हो जाते हैं तो यह अच्छी तरह ज्ञात हो जाता है कि किस स्थान पर कितनी सरितायें मिलती हैं, उनका प्रवाह-क्षेत्र कितना है, वे कितना जल प्रति सेकेण्ड विसर्जित करती हैं आदि। इस तरह के अध्ययन से नदी के किसी खास बिन्दु पर जल की मात्रा आयतन, वेग (घनफीट प्रति सेकेण्ड), अवसाद (Sediments) की मात्रा तथा गति का पता लग जाता है। अब बाँध का क्षेत्र ऐसा होना चाहिए जहाँ पर (i) नदी की घाटी अत्यन्त सँकरी हो ताकि बाँध की लम्बाई कम हो (ii) चट्टानें कड़ी हों (iii) बाँध-क्षेत्र से नदी के ऊपरी भाग का जलवाह क्षेत्र (Catchment area) विस्तृत हो ताकि वाही जल की अधिकता से अधिक जल मिल सके (iv) जल के साथ अवसाद कम हो जिससे जलागार भरने न पाये, (v) जलागार की तली अपारगम्य हो ताकि जल रिसकर नीचे न आ सके। जहाँ पर धरातल पारगम्य

होता है वहाँ पर जलागार की तली सीमेण्ट तथा कांक्रीट से बनानी पड़ती है।

3. हवाई अड्डे का निर्माण

हवाई अड्डे के निर्माण के समय अभियन्ताओं को भू-आकृति विज्ञान वेत्ताओ से पर्याप्त सहयोग मिल सकता है क्योंकि यह कार्य पूर्ण रूप से स्थलाकृति के स्वभाव पर आधारित होता है। हवाई अड्डे के निर्माण के लिए आवश्यक होती है—(i) विस्तृत सपाट मैदान की, जिस पर चारो ओर हवाई पट्टी (Runway) का निर्माण हो सके, (ii) प्रवाह दशायें, (iii) ढाल का प्रतिरूप, (iv) नदी का स्वभाव, बाढ से मुक्तता, (v) कुहरे का अभाव तथा (vi) जल की आपूर्ति। उस क्षेत्र के आकारजनक मानचित्र (Morphological maps) से धरातल के गुणो की सम्यक जानकारी मिल सकती है और अभियन्ता हवाई अड्डे के निर्माण के लिए आदर्श क्षेत्र चुन सकता है। नीचे दर्शायी गई सारिणी विभिन्न प्रकार की स्थलाकृतियो पर हवाई अड्डे के निर्माण सम्बन्धी सूचनायें प्रस्तुत करती हैं।

जलविज्ञान में भू-आकारिकी का प्रयोग
(Application of Geomorphology to Hydrology)

मानव-जीवन में उपयोग आने वाले जल विशेषकर सरिताजल, झील, जलस्रोत, कुएँ, तालाब आदि के जल की प्राप्ति, उपयोग तथा गुण के सम्बन्ध मे स्थलाकृति के अध्ययन का अच्छा खासा प्रयोग किया जा सकता है क्योंकि जल की मात्रा, उसकी प्राप्यता तथा विदोहन का सम्बन्ध स्थलाकृति के स्वभाव से होता है।

(i) चूना प्रस्तर क्षेत्र मे जल तथा चट्टान की प्रकृति के बीच प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। चूनाप्रस्तर सरध्र (Porous) तथा प्रवेश्य (Permeable) होता है। यह प्रवेश्यता दो रूपो मे विकसित होती है—प्रारम्भिक प्रवेश्यता चूना प्रस्तर के निर्माण के समय उत्पन्न संधियो तथा छिद्रो के कारण हो जाती है जबकि द्वितीय (Secondary) प्रवेश्यता पटलविरूपणी (Diastrophic) घटनाओ तथा घोलीकरण के कारण विकसित हो जाती है। चूना प्रस्तर क्षेत्र मे अपरदन-चक्र की प्रारम्भिक अवस्था मे सतह पर वाही जल (Run off) की मात्रा अधिक होती है तथा धरातलीय सरिताएँ (Surface straems) पर्याप्त होती हैं परन्तु चक्र के आगे बढने के साथ ही घोलीकरण (Solution) की क्रिया के कारण धरातलीय सतह पर घोलपटल (Solution Pits), सिंक होल, स्वालोहोल आदि के निर्मित हो जाने से वाही जल उनसे होकर नीचे चला जाता है तथा धरातलीय सरिताएँ अदृश्य होती हैं। ऐसी स्थिति मे धरातल पर जल की आपूर्ति घट जाती है। परिणामस्वरूप जल की प्राप्ति के लिए कार्स्ट जलस्रोतों (Karst Springs) पर आधारित होना पड़ता है। इन जलस्रोतो का जल लाभकर तथा हानिकर दोनों हो सकता है। इसका सही पता तभी चल सकता है, जबकि वहाँ की स्थलाकृति की सम्यक जानकारी हो।

वर्षा के समय धरातल पर जल गदला हो जाता है तथा उसमे अनेक अस्वास्थ्यकर तत्व मिल जाते है। जब यह जल घोल छिद्र से होकर नीचे जाता है और यदि जल का छनना (Filtering) नही हो पाता है तो यही गंदा जल, जिसमे बैक्टिरिया आदि के कारण दूषणता (Contamination) आ जाती है, जल स्रोत के रूप मे ऊपर आ जाता है। ऐसे जल का प्रयोग नही करना चाहिए। इनका पता लगाना आसान है। जल स्रोत के पास जिस घोल छिद्र से जल रिस कर नीचे जाने की

(i) स्थलाकृतिक प्रकार	(ii) हवाई-पट्टी	(iii) ढाल की क्रमबद्धता	(iv) प्रवाह दशा	(v) बाढ तथा कुहरे की सम्भावना	(vi) जल-आपूर्ति
1. टिल मैदान	लम्बी हवाई पट्टी सम्भव	सरल	अव्यवस्थित अपवाह क्रम	कोई समस्या नही	पर्याप्त जल
2 बाढ मैदान	हवाई पट्टी मैदान की चौडाई पर आधारित	सरल	समस्या	भयकर बाढ का खतरा, कुहरे की सम्भावना	पर्याप्त
3. कार्स्ट मैदान	लम्बी हवाई-पट्टी सम्भव	कठिन	समस्या	कोई खास समस्या नही	जल का अभाव
4. हिमनदकृत मैदान	आदर्श दशा	सरल	समस्या	कोई खास समस्या नहीं	समस्या
अवक्षेप मैदान	आदर्श दशा	सरल	आदर्श	कोई समस्या नही	पर्याप्त पूर्ति

सम्भावना होती है, उसमें कोई रंग छोड देते हैं, यदि वही रंग जलस्रोत से होकर बाहर निकलता है तो उस जलस्रोत के उद्‌गम का निर्धारण हो जाता है।

चूनाप्रस्तर क्षेत्र में कुआँ खोदते समय स्थाकृतिक सिद्धान्तों की सहायता ली जा सकती है। जहाँ पर चूना प्रस्तर में प्रवेश्यता पर्याप्त हो और चूनाप्रस्तर के ऊपर बालुका प्रस्तर (*Sand stones*) की स्थिति हो तो जल प्रचुर मात्रा में तो मिलेगा ही, साथ ही बालुकाप्रस्तर से छन जाने के कारण दूषित नहीं हो पायेगा। द०पू० बिहार के रोहतास पठार पर ऐसी स्थिति पायी जाती है।

(ii) हिमानीकृत क्षेत्रों में जल की स्थिति तथा सम्भाव्यता की जानकारी में वहाँ की स्थलाकृति का इतिहास तथा विभिन्न प्रकार के हिमानी जमावों तथा स्थलाकृतियों के अध्ययन से पर्याप्त सहायता मिल सकती है। अवक्षेप मैदान (Outwash plains), घाटी ट्रेन (Valley trains) तथा अन्तर्टिल बजरी (Intertill gravels) प्रभृति जमावों में पर्याप्त भूमिगत जल समाहित रहता है। शुद्ध टिल में जल का संचय कम हो पाता है क्योंकि टिलयुक्त जलभरा (Aquifer) आदर्श नहीं होता है। धरातलीय सतह के नीचे दबी परिहिमानी एवं अन्तरहिमानी (Preglacial and interglacial) घाटियाँ भूमिगत जल के विस्तृत भंडार हुआ करती हैं। इनकी जानकारी तभी मिल सकती है जब कि उस स्थान का स्थाकृतिक इतिहास सुलभ हो। मध्य उत्तरी संयुक्त राज्य अमेरिका में इस तरह की कई स्थितियाँ प्राप्त की गई हैं। जर्मनी में भी इस सम्बन्ध में खोज की गई है। दबी घाटियों का पता उस स्थान की आधारशैल (Bed-rock) की स्थलाकृति का मानचित्र तैयार कर के किया जाता है। दबी घाटी में जल की मात्रा मुख्य रूप से उसमें निक्षेपित अवसादों (Sediments) पर निर्भर करती है। यदि जमाव टिल, मृत्तिका (Clay), सिल्ट आदि का होता है तो जल की मात्रा कम होती है। इन घाटियों में जल के निर्धारण के लिए हिमानी प्रवाह की दिशा तथा हिमानी अवक्षेप की दिशा का सही ज्ञान आवश्यक होता है।

खनिज संसाधनों के निर्धारण एवं विदोहन में भू-आकारिकी का प्रयोग

खनन भू विज्ञान (Mining Geology) के क्षेत्र में स्थाकृतिक स्थलाकृतियों एवं स्थाकृतिक इतिहास का महत्व किसी से छिपा नहीं है। यद्यपि कुछ भू-विज्ञान-विदों ने भू-आकारिकी के प्रयोग को नकारने का असफल प्रयास भी किया है। खनिज पदार्थों का भू-वैज्ञानिक संरचना (Geologic structure) से सीधा सम्बन्ध होता है। इस संरचना की जानकारी उस क्षेत्र की स्थलाकृतियों की विशेषताओं से हासिल की जा सकती है। कुछ खनिज पदार्थों की तो कुछ विशिष्ट स्थलाकृतियों में स्पष्ट झलक मिलती है। क्षेत्र विशेष के अनाच्छादन कालक्रम (*Denudation chronology*) से उस क्षेत्र के स्थलाकृतिक विकास तथा उन तमाम जलवायु परिवर्तनों तथा दशाओं का ज्ञान हो जाता है जिनके अन्तर्गत खनिज पदार्थों का निर्माण सम्भव होता है।

(i) कुछ खनिज-पदार्थों का निर्धारण उनकी विशिष्ट अभिव्यक्ति के आधार पर की जा सकती है क्योंकि ये कुछ निर्दिष्ट रूपों में ही मिलते हैं। उदाहरण के लिए धरातलीय शिराओं (Veins) में स्थित स्फटिक खनिज (Quartz) धरातल पर कटक (Ridge) के रूप में दृष्टिगत होता है क्योंकि दो शिराओं के बीच स्थित क्षेत्र का अपरदन हो जाने से विदर (Clefts) या नाले (Arroyos) बन जाते हैं। इसी तरह शीशा-जस्ता युक्त शिरायें भी कटक के रूप में सामान्य सतह से उठी दिखाई पड़ती हैं। इसके विपरीत कुछ खनिज पदार्थ ऋणात्मक स्थलाकृतियों (गर्त, बेसिन आदि) के रूप में भी मिलते हैं। रासायनिक अपक्षय के समय खनिजों के आक्सीकरण (Oxidation) के फलस्वरूप उनके आकार में सिकुड़न होने से उनके ऊपर स्थित जमाव में नीचे की ओर धसकन (Subsidence) हो जाती है जबकि अगल-बगल वाला भाग जहाँ पर खनिज अनुपस्थित होने हैं स्थिर रहता है। इस अभिव्यक्ति द्वारा खनिजों का निर्धारण आसानी से किया जा सकता है।

(ii) अपक्षय (Weathering) तथा खनिजों के बीच गहरा सम्बन्ध देखा गया है क्योंकि खनिज अपक्षय के अवशेष हुआ करते हैं तथा ये खनिज पदार्थ प्रारम्भिक अपरदन-सतह के ऊपर पाये जाते हैं। इस तरह अपरदन-चक्र के ज्ञान से खनिजों की खोज तथा निर्धारण में पर्याप्त सहायता मिलती है। कुछ लोह धातु मृत्तिका खनिज कैलिगे बाक्साइट, मैंगनीज तथा निकल धातुएं अपक्षय के अवशेष के रूप में मिलती हैं। अपरदन-चक्र की युवावस्था तथा प्रारम्भिक प्रौढ़ावस्था में खनिज पदार्थों का एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानान्तरण तथा एकत्रीकरण होता रहता है परन्तु अन्तिम अवस्था में ये अवशेष (Residues) के रूप में बने रहते हैं तथा समप्राय या प्राचीन अपरदन-सतह (Erosion surface) के ऊपर

अपने स्थान पर ही मिलते है। संयुक्त राज्य अमेरिका के अरकन्सास प्रान्त मे **इयोसीन अपरदन-सतह** पर नेफलीन साइनाइट के अपक्षय से उत्पन्न बाक्साइट का जमाव पाया गया है। चट्टानो के अपक्षय मे निर्मित खनिजो पर जलवायु का प्रभाव भी देखा गया है। शीतोष्ण जलवायु मे आग्नेय शैल के अपक्षय से उत्पन्न अवशेष मृत्तिका खनिज के रूप मे होता है, जबकि बाक्साइट का निर्माण उष्ण कटिबन्धीय जलवायु के अन्तर्गत होता है। 1910 मे **हैरिसन** ने बताया कि लेटराइट तथा मृत्तिका दोनो का निर्माण उष्ण कटिबन्धीय जलवायु के अन्तर्गत होता है। पश्चिमी द्वीप समूह मे अलुमिना युक्त लेटराइट का निर्माण चूनाप्रस्तर तथा डोलोमाइट मे स्थित अलुमिना के अपक्षय से एकत्रीकरण से हुआ माना गया है तथा यह धातु प्लायोसीन सतह के ऊपर पायी जाती है। इसी तरह बाक्साइट का विस्तृत जमाव हंगरी मे निचली क्रीटैसियस सतह के ऊपर द्वियासिक युग के डोलोमाइट के अलुमिना के एकत्रीकरण के फलस्वरूप हुआ है। इस तरह उपर्युक्त सिद्धान्तो का प्रयोग बाक्साइट की खोज मे किया जा सकता है।

(iii) **प्लेसर निक्षेप** (Placer deposits) के निर्धारण मे भ्वाकृतिक सिद्धान्त अधिक सहायक होते है। प्लेसर भारी धातुओं के मिले-जुले जमाव को कहते हैं जो कि रासायनिक अपक्षय तथा अपरदन के कारण प्राप्त पदार्थों के सामूहिक रूप मे एकत्रित होने से बन जाता है। प्लेसर जमाव से बहुमूल्य धातुएँ जैसे सोना, हीरा, चाँदी आदि प्राप्त होती हैं। अब तक 9 प्रकार के प्लेसर निक्षेप का पता लगाया जा सका है—(i) अवशिष्ट प्लेसर, (ii) जलोढ प्लेसर, (iii) पवन कृत प्लेसर (iv) बाजाडा प्लेसर (v) पुलिन (Beach) (vi) हिमानी प्लेसर (vii) तिरोहित प्लेसर, तथा (viii) प्राचीन प्लेसर। अवशिष्ट प्लेसर का निर्माण अपक्षय द्वारा चट्टान के स्थान पर ही हो जाता है। यह अधिक महत्वपूर्ण नहीं होता है। जब अपक्षय-अवशिष्ट ढाल के सहारे सरक कर जमा हो जाते हैं तो उसे **कोलूवियम प्लेसर** कहते हैं। इस तरह प्लेसर जमाव मे कैलिफोर्निया, न्यूजीलैण्ड, आस्ट्रेलिया आदि मे सोना पाया जाता है। जब अपक्षय तथा अपरदन-अवशेष जल के सहयोग से जमा कर दिए जाते हैं तो उन्हें **जलोढ़** (Alluvial) प्लेसर कहते हैं। रूस, कोलम्बिया आदि मे विश्व का अधिकाश प्लेटिनम जलोढ प्लेसर मे पाया जाता है। जलोढ प्लेसर मे सोना, टिन, हीरा आदि भी पाये जाते हैं। आस्ट्रेलिया तथा मैक्सिको मे पवनकृत प्लेसर से पर्याप्त सोना प्राप्त होता है। **बाजाडा प्लेसर** का जमाव पर्वताग्र के निचले ढाल के आधार के पास पाया जाता है। **पुलिन प्लेसर** मे कई तरह के खनिज पाये जाते है—कैलिफोर्निया तथा अलास्का मे सोना, द० अफ्रीका मे हीरा, भारत, ब्राजील तथा आस्ट्रेलिया मे जिरकन आदि। पहले के निर्मित प्लेसर अब ऊपरी सतह के नीचे दबे पाये जाते है। अपरदन तथा निक्षेप सम्बन्धी सिद्धान्तो की जानकारी के आधार पर बहुमूल्य खनिजो का पता लगाया जा सकता है।

(iv) **खनिज तेल की खोज** मे भ्वाकृतिक सिद्धान्तो का प्रयोग होता है। खनिज तेल मुख्य रूप से सरन्ध्र तथा पारगम्य (Porous and permeable) शैलो मे पाया जाता है। इसके लिए बालुका प्रस्तर तथा चूना प्रस्तर अधिक आदर्श होते हैं। खनिज तेल की उत्पत्ति से सम्बन्धित दो सिद्धान्त प्रचलित है—कार्बनिक तथा अकार्बनिक। इनमे से कार्बनिक सिद्धात के अनुसार खनिज तेल का निर्माण जैविक पदार्थों के सडन-गलन से होता है। खनिज तेल को सचित करने के लिए दो तरह की ट्रैप चट्टानें चाहिए—1 सरचनात्मक ट्रैप तथा 2 स्तरकारक ट्रैप (Stratigraphic trap)। वलन के कारण परतदार चट्टानें अपनति तथा अभिनति मे बदल जाती हैं। परिणामस्वरूप पारगम्य तथा अपारगम्य चट्टानें मिल जाती हैं और तेल का खिसकना रुक जाता है। अधिकाश तेल अपनति के सहारे पाया जाता है। तेल पट्टी के नीचे अपारगम्य तथा ऊपर पारगम्य शैल होती है। इस सरचना मे जब तेल के कुएँ खोदे जाते है तो **द्रव स्थैतिक दाब** (Hydrostatic pressure) के कारण तेल स्वत ऊपर प्रगट हो जाता है। **मध्यपूर्व** (Middle East) तथा संयुक्त राज्य के अप्लेशियन क्षेत्र मे अधिकाश तेल इस तरह अपनति के सहारे सरचनात्मक ट्रैप मे पाया जाता है। गुम्बद के सहारे भी तेल मिलता है। यह जानकारी भ्वाकृतिक सिद्धान्त के अध्ययन से मिल जाती है।

कोयले की खोज मे भी भू आकारिकी से सहायता मिल सकती है। कोयले का निर्माण दलदली भागो मे वनस्पतियों के दब कर दाब के कारण रूप परिवर्तन होने मे होता है। कोयला प्राय परतो (Coal seams) के रूप मे पाया जाता है। जेम्स हटन के **एकरूपता वाद** तथा **वर्तमान भूत की कुञ्जी है** आदि सिद्धान्तो के आधार पर कोयला निर्माण की प्रक्रिया की जानकारी के आधार पर नये कोयला क्षेत्रो की खोज की जा सकती है।